# ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

हिन्दीव्याख्यासहितभामतीसंवलितम्

## द्वितीयो भागः

२

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

194

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्दर्शनप्रकाशनग्रन्थमालायाः अष्टमं पुष्पम्

# ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

तस्य व्याख्या

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीवाचस्पतिमिश्रप्रणीता

## भामती

तस्या व्याख्या

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्ऋषिरामस्वामिशिष्य-
स्वामियोगीन्द्रानन्दकृता

## भामती व्याख्या

२

## द्वितीयो भागः

प्रकाशक :

षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्

उदासीनसंस्कृतविद्यालय

सी० के० ३६/१९ ढुण्ढिराजगली

वाराणसी

१९८४ ई०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक—

स्वामी योगीन्द्रानन्द

न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

के० ३७/२ ठठेरीबाजार

वाराणसी

*

प्रकाशक—

मन्त्री, षड्दर्शनप्रकाशन प्रतिष्ठान

उदासीन संस्कृत विद्यालय

ढुण्ढिराजगली, वाराणसी

*

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

*

मूल्य Rs.१५०/-

*

प्रथम संस्करण

१०००

*

मुद्रक—

मोहनलाल यादव

सविता प्रेस

भैरोनाथ, वाराणसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# भूमिका

## १. भामती—

केरली किशोर प्रज्ञा यदि अपनी मौलिक सूझ-बूझ में लोकोत्तर और अप्रतिम थी, तो मैथिली प्रौढ़ प्रतिभा उसके विशदीकरण में बेजोड़। शाङ्कर भाष्य एक स्वर्णिम कर्णिकार कुसुम है और भामती उसकी सुरभि। इसे ही सोने में सुगन्ध कहते हैं। अपने जिस अद्भुत [1]वक्ता को पाकर सरस्वती कृतकृत्य हुई थी, उसके द्वारा आविष्कृत गम्भीर भावों की सटीक व्याख्या कोई पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीण पुरुष ही कर सकता था। श्री कल्पतरुकार ने वाचस्पतिमिश्र में इस महती अर्हता का दर्शन किया था[2]। मिश्रवर की यह भामती व्याख्या साधारण नहीं, अपितु इसे वार्तिक[3] की सार्थक संज्ञा से अलंकृत किया जा सकता है। इसका कोई भी अंश केवल कल्पना पर आधृत नहीं, अपितु पूर्ण कलेवर प्रामाणिक महामहिम आचार्यों के वचःसंचयन का मूर्तिमान आदर्श है। इस तथ्य पर प्रकाश डालने के लिए ही इस ग्रंथ के प्रथम भाग की प्रस्तावना में प्रयत्न आरम्भ किया गया था। वहाँ केवल शांकर भाष्य के आलोचक भास्कर-भाष्य की संक्षिप्त चर्चा की गई थी, अब भामती के स्वच्छ धवलित पटल पर प्रतिफलित अन्यान्य शास्त्रों का परिचय प्रस्तुत किया जाता है—

---

१. श्री सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने संक्षेपशारीरक में भाष्यकार की वन्दना करते हुए यही कहा है कि यद्यपि वैदिकविग्रहा सरस्वती नित्य परिपूत और निरवद्या है, तथापि समय-समय पर दुर्जनों का सम्पर्क उसे अपनी दुर्भावनाओं के कलङ्क से परिलिप्त कर दिया करता है, उसका परिमार्जन सर्वतः सक्षम, पदवाक्यप्रमाणावली के मर्मज्ञ वक्ताओं पर निर्भर रहता है। आचार्य शङ्कर वैसे ही कठोक्त अद्भुत वक्ता थे—

वक्तारमासाद्य यमेव नित्या
सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का
नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्॥ (सं० शा० १।७)

२. प्रकटार्थकार ने वाचस्पति पर आरोप लगाया है कि उनको 'कुश' शब्द और उसके अर्थ का ज्ञान ही नहीं था—"कुंश शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वापरिज्ञानात् छन्द एवाच्छन्द इति पदं चिच्छेद वाचस्पतिः" (प्रकटार्थ. पृ. ८५६)। उसका करारा उत्तर देते हुए कल्पतरुकार ने ये उद्गार प्रकट किए हैं कि श्री वाचस्पति मिश्र पदशास्त्र (व्याकरण), वाक्यशास्त्र (मीमांसा) और प्रमाणशास्त्र (न्यायादि) के पारंगत महापुरुष थे। उन पर किसी पद-पदार्थ की अनभिज्ञता का आरोप अत्यन्त दुःसाहसिक कार्य है—

पदवाक्यप्रमाणाब्धेः परं पारमुपेयुषः।
वाचस्पतेरित्यर्थेऽप्यबोध इति साहसम्॥ (कल्पतरु पृ० ८०६)

३. कल्पतरुकार ने भामती व्याख्या को वार्तिक कहा है—"ननु टीकायां दुरुक्तचिन्ता न युक्ता, वार्तिके हि सा भवति, तर्हि वार्तिकत्वमस्तु, न हि वार्तिकस्य शृङ्गमस्ति" (कल्पतरु. पृ० ६४९)। वस्तुतः भामती में उक्त (भाष्योक्त) अनुक्त (भाष्यानुक्त) और भाष्य के दुरुक्त पदार्थों पर पूर्ण प्रकाश डालना आदि सभी वार्तिक-लक्षण विद्यमान हैं—

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥ (पराशरोप.)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. भामती और ब्रह्मसिद्धि—

यद्यपि प्रकटार्थकार ने वाचस्पति मिश्र को मण्डन मिश्र का "पृष्ठसेवी" कहा है, तथापि कलाकारुकार ने इस आक्षेप का समुचित प्रतिक्षेप[५] करते हुए यह रहस्य प्रकट किया है कि वाचस्पति मिश्र ने मण्डनमिश्र के अनुचित वक्तव्यों का प्रतिवाद कड़े शब्दों में किया है, किन्तु उनकी उचित वचनावली का सम्मान करने में आत्म-गौरव का अनुभव भी किया था, जैसे कि—

(१) वेदान्तशास्त्रों की पुनरुक्त पदावली की सार्थकता बताते हुए भामती (पृ० ९) में कहा है—[६]"अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथाहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति, न न्यूनत्वम्, प्रागेवोपचरितत्वम्"। ब्रह्मसिद्धि (पृ० ६) में यही पदावली है—अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, यथा—अहो दर्शनीया, अहो दर्शनीया इति, न न्यूनत्वम्, दूरत एवोपचरितत्वम्"।

(२) असत्य से सत्यार्थ की प्रतिपत्ति ब्रह्मसिद्धि में प्रतिपादित है—"नायं नियमः—असत्यं न कस्मैचित् कार्याय भवतीति, भवति हि माया प्रीतेर्भयस्य च निमित्तम्, असत्यं च सत्यप्रतिपत्तेः, यथा रेखागवयो लिप्यक्षराणि च" (ब्र० सि० पृ० १३-१४)। भामती में इसी की व्याख्या प्रस्तुत है—"अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यवहारिकप्रमाणेभ्यस्तत्त्व-ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। तथा च वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि" (भामती पृ. १०)।

(३) कर्मों की उपयोगिता में मत-मतान्तरों का जो प्रदर्शन ब्रह्मसिद्धि (पृ. २६-२८) में किया गया है, लगभग वही भामती (पृ. ६२-६४) में प्रदर्शित हुआ है।

(४) अखण्डाकार वृत्ति की स्व-स्वेतर निखिल प्रपञ्चोपशामकता में भामती ने निदर्शन प्रस्तुत किया है—"यथा पयः पयोऽन्तरं जरयति, स्वयं च जीर्यति। यथा विषं विषान्तरं शमयति, स्वयं च शाम्यति। यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति" (भामती. पृ. ६९)। ब्रह्मसिद्धि में भी कहा है—"यथा रजःसम्पर्ककलुषितमुदकं द्रव्यविशेषचूर्णरजः प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि संहरत् स्वयमपि संह्रियमाणं स्वच्छां स्वरूपावस्थामुपनयति। यथा वा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति। यथा च विष विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति" (ब्रह्मसि. पृ. १२-१३)

(५) निषेधार्थक वेदान्त-वाक्यों की ब्रह्मपरता का भाष्य-प्रतिपादित प्रकार ही मण्डन मिश्र को अभिमत था यह दिखाने के लिए ही ब्रह्मसिद्धि का वाक्य उद्धृत किया है—"भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणम्"[७]।

---

४. "वाचस्पतिस्तु मण्डमपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थानभिज्ञः" (प्रकटार्थ. पृ. ९८९)

५. यण्डन यिश्र मे स्थितप्रज्ञ को साधक पुरुष की कोटि में रखा है—स्थितप्रज्ञस्तान्न विशलित निखिलाविद्यः सिद्धः किन्तु साधक एव" (ब्र. सि. पृ. १३० मद्रास)। इसका खण्ड वाचस्पति मिश्र मे किया है—"स्थितप्रज्ञश्च न साधकः तस्योत्तरोत्तरध्यानोत्कर्षेण पूर्वप्रत्ययानवस्थित्वात्। निरतिशयस्तु स्थितप्रज्ञः, स च सिद्ध एव" (भामती. ४।१।१५)।

६. यद्यपि इसका मूलस्रोत निरुक्त है—"अभ्यासे भूयसवयर्थस्य मन्यन्ते" (निरु. १०।४२)। तथापि भामतो—उद्धृत आनुपूर्वी ब्रह्मसिद्ध से मिलती है।

७. ब्रह्मसिद्धि का पूरा श्लोक इस प्रकार है—

आम्नायतः प्रसिद्धिं च कवयोऽस्य प्रचक्षते।
भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणम्॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) श्रीमण्डन मिश्र ने जीव को ही अविद्या का आश्रय माना है—"यत्तु कस्याविद्येति ? जीवानामिति ब्रूमः" ( ब्र. सि. पृ. १० )। 'अविद्या की आश्रयता होने पर जीवभाव और जीवभाव होने पर अविद्याश्रयता'—इस प्रकार प्रसक्त अन्योऽन्याश्रयः दोष का परिहार भी किया है—"अनादित्वादुभयोरविद्याजीवयोर्बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वम्" ( ब्र. सि. पृ १० )।

वाचस्पति मिश्र ने इसी मत का समर्थन किया है—"नाविद्या ब्रह्माश्रया, किन्तु जीवे सा तु अनिर्वचनीयेत्युक्तम्" ( भामती पृ. १५० )। भाष्यकार ने जो "परमेश्वराश्रया माया" (ब्र. सू. १।४।३) में कहा है, उसका आशय है—जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया वेश्वरमाश्रयत इतीश्वराश्रयेत्युच्यते" ( भामती पृ. ४६४ )। इसी तथ्य के बल पर कल्पतरुकार ने विरोधियों को मुँहतोड़ उत्तर दिया है—"स चेश्वरमाश्रयते विषयीकरोतीति ईश्वराश्रया। तस्माद् वाचस्पतिमतं भाष्यविरुद्धमिति कश्चिदयुक्तमुक्तम्" ( कल्पतरु. १।२।२२ )। भाष्य और श्रुतिवाक्यों का सामञ्जस्य इसी अर्थ में सम्भव है—

जीवस्थाया अविद्याया विषयं ब्रह्म शुक्तिवत्।
ऊचे बाचस्पतिर्भाष्यश्रुत्योर्हृदयवेदिता ॥ (कल्पतरु १।४।११)

(७) मण्डन मिश्र ने शब्द-जन्य ज्ञान को परोक्ष ही माना है—"परोक्षरूपं शाब्दज्ञानम्, प्रत्यक्षरूपः प्रपञ्चावभासः, तेन तयोरविरोधेन, उपासनादिना साक्षात्कृतात्मतत्त्वस्य तु विरोधात्" ( ब्र. सि. पृ. ३४ )।

भामतीकार भी ऐसा ही मानते हैं—"साक्षाद्रूपो हि विपर्यासः साक्षात्काररूपेणैव तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते, न तु परोक्षावभासेन" ( भामती पृ. ६७ )। निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकाहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयति" ( भामती पृ. ६७ )। कल्पतरुकार ने इसी का स्पष्टीकरण कर दिया है—

वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजाऽपरोक्षधीः।
मूलप्रमाणदार्ढ्येव न भ्रमत्वं प्रपद्यते ॥

**३. भामती और शाबर भाष्य—**

अन्य वेदान्तियों के समान वाचस्पति मिश्र की मीमांसाचार्यों के लिए उपेक्षात्मक भावना नहीं, अपितु सम्मानपूर्वक शबरस्वामी आदि का उल्लेख करते हैं—"यथाहुः शास्त्रविदः—चोदना हि भूतं भवन्तम्" ( शाबर पृ. १३ )। इतना ही नहीं, ब्र. सू. ३।३।१५ ३।४।३३, ४।१।४ की भामती में शबरस्वामी के भाष्य को आनुपूर्वी उद्धृत कर अपनी, व्याख्या को सम्पन्न कर रखा है।

**४. भामती और मीमांसा-वार्तिक—**

(१) प्रतिबिम्ब-ग्रहण की प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है कि चाक्षुष रश्मियाँ दर्पणादि उपाधियों से टकराकर बिम्ब की ओर मुड़ जाती हैं और बिम्ब का ही ग्रहण करती हैं किन्तु यह प्रत्यावर्तन की क्रिया यह भान करा देती है कि दर्पणादि में ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है—

अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौरेण तेजसा।
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम् ॥
स्वदेश एव गृह्णाति सवितारमनेकधा। (श्लो. वा. पृ. ७७)

यही प्रक्रिया वाचस्पति ने अपनाई है—विज्ञातृपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुषं तेजो लग्नमपि बलीयसा सौर्येण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयद् दोषवशात्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्देशतामनभिमुखतां च मुखस्याग्राह्यत्, पूर्वदृष्टाभिमुखदर्शोदकदेशतामाभिमुख्यं च मुखस्यारोपयति" ( भामती पृ. २० )।

( २ ) विज्ञानवादियों के तीखे तर्कप्रहारों से बचने के लिए वाचस्पति मिश्र ने जिस अनैकान्तवाद का सहारा लेकर वस्तु के सत्त्व और असत्त्वात्मक दो रूपों की व्यवस्था को, वह अनैकान्तवाद कुमारिल भट्ट का ही है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किंचिद्रूपं कैश्चित्कदाचन ॥ (श्लो. वा. पृ. ४७६)

इसी प्रक्रिया ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को जन्म दिया, जिसके आधार पर पारमार्थिकत्वेन व्यावहारिक प्रपंच का अभाव माना जाता है ।

(३) वाचस्पति मिश्र ने शबरस्वामी के समान ही श्री कुमारिल भट्ट को शास्त्रविद् कहकर पूर्ण सम्मान दिया है, "यथाहुः शास्त्रविदः—

साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥ (श्लो. वा. ९४२)

शाब्द बोध की परिपाटी कुमारिल भट्ट की ही वाचस्पति मिश्र ने मानी है, (ब्र. सू. ३।३।२८) की व्याख्या में श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक के उद्धरण प्रस्तुत कर उसी प्रणाली का प्रदर्शन किया है ।

प्रभाकर मिश्र की बृहती ब्र. सू. १।१।४ और ब्र. सू. २।२।२८ की व्याख्या में उद्धृत है केवल प्राभाकर मत की आलोचना के लिए ।

**५. भामती और बौद्ध ग्रन्थ—**

(१) बौद्धग्रन्थों में सर्वाधिक धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक का वाचस्पति मिश्र ने उपयोग किया है । केवल आलोचना के अवसर पर ही नहीं, अपनी स्थापना के समर्थन में भी उसे साक्ष्यरूपेण प्रस्तुत किया है, "तदुक्तं बाह्यैरपि—

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ (प्र. वा. पृ. १४४)

धर्मकीर्ति ने इसमें कहा है कि यद्यपि सत्यज्ञान, और मिथ्याज्ञान दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं, तथापि मिथ्याज्ञान से सत्य ज्ञान का बाध न होकर तत्त्वज्ञान से अतत्त्व ज्ञान का ही बाध होता है, फलतः नैरात्म्य-निश्चय से सात्मज्ञान का ही बाध होता है । बहुत सम्भव है कि इसीलिए वाचस्पति ने इस पद्य को आत्मज्ञान से अनात्मज्ञान की बाधकता में प्रस्तुत किया हो कि बौद्धों का वही प्रमाण उनके विपरीत अर्थ का साधक है ।

( २ ) इतनी विशेषता अवश्य है कि बौद्धमत-निराकरण के अवसर पर धर्मकीर्ति का एकवचनान्त पद से ही निर्देश किया गया है, 'यथाह धर्मकीर्तिः—

तस्मान्नार्थे न च ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।
एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः ॥ (प्र. वा. ३।२१२)

घट की स्थूलता परमाणुरूप है ? अथवा परमाणु-समूहरूप ? प्रत्येक परमाणु में स्थूलत्व प्रतिषिद्ध है, अतएव बहुत परमाणुओं में भी सम्भव नहीं, विषय में असम्भावित होने से ज्ञान में भी सम्भव नहीं, अतः आलयविज्ञान में भी उसका भान क्योंकर होगा ? इस बाण के द्वारा भी विज्ञानवादी ही मारा जाता है ।

( ३ ) (न्या. वि. पृ. ७१) में चर्चित आचार्य धर्मोत्तर की ग्राह्य और अध्यवसेयरूप द्विविध विषय की व्यवस्था भी ब्र. सू. २।२।२५ की व्याख्या में उद्धृत है । उसका भी उसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


व्यवस्था से ही निशास किया गया है।

(४) दिङ्नाग की आलम्बन परीक्षा का २।२।२८ के भाष्य में उद्धृत पद्य है—

यदन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्वदवभासते।
सौऽर्थो विज्ञानरूपत्वात्तत्प्रत्ययतापि च॥

जो आन्तरिक ज्ञान ज्ञेय है, वही बाहर विषयरूप में अवभासित होता है। वह विषय वस्तुतः विज्ञानरूप होने पर भी बहिर्वदवभासता को लेकर विज्ञान का प्रत्यय (आलम्बनप्रत्ययरूप कारण) बन जाता है। वहाँ भाष्यकार का कहना है कि जब बाह्य पदार्थ कोई है ही नहीं, तब बहिर्वत् ऐसा कहना ही सम्भव नहीं।

(५) शालिस्तम्बसूत्र का तो बहुत-सा भाग जैसे का तैसा ब्र. सू. २।२।१९ की भामती में उद्धृत कर रखा है। मध्यगकशास्त्र पृ. २४५ पर भी व्याख्याकार ने उसे उद्धृत किया है। राजगृह में अवस्थित गृध्रकूट पर्वत पर बिराजमान भगवान् बुद्ध ने शालिस्तम्ब (धान की पूली) को देखकर प्रतीत्यसमुत्पाद का जो उपदेश किया था, वही शालिस्तम्बसूत्र के नाम से अभिहित हुआ। महायानसूत्रसंग्रह के प्रथम भाग में पृ० १०० से लेकर १०६ तक मिथिला, दरभंगा से प्रकाशित है।

(६) प्रश्न-उत्तर की शैली में भाष्यकार कहते हैं—

कश्यापमप्रबोध ?
यस्त्वं पृच्छसि, तस्य ते।
नन्वहमीश्वरः
यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि, नास्ति कस्यचिदप्रबोधः।

अर्थात् अज्ञानादि प्रपञ्च की सत्ता अपारमार्थिक दृष्टि की एक कल्पना है, परमार्थतः न अज्ञान है और न उसकी निवृत्ति। इस तथ्य में साक्ष्य प्रस्तुत किया गया है—"अन्येऽप्याहुः—"यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति"। यह जिस पद्य का अंश है, वह पद्य है प्रज्ञाकर गुप्त का—

यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वथा।
वर्तते व्यवहारश्चेत् परलोकोऽपि चिन्त्यताम्॥ (प्र. वा. पृ. ५७)

वसुबन्धु के अभिधर्मकोश और उसकी स्फुटार्था व्याख्या का आभास तो भाष्य में भी कहीं-कहीं होता है। विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि से भी कई उद्धरण तर्कपाद में प्रस्तुत किए गए हैं। लङ्कावतार सूत्रादि सूत्र-ग्रन्थों से वाचस्पति भली भाँति परिचित थे।

**६. भामती और जैन ग्रन्थ—**

(१) श्री वाचस्पति मिश्र ने जीवास्तिकाय की जो नित्यसिद्ध कोटि मानी है, वह सम्भवतः श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पञ्चास्तिकाय की परम्परा है, अतः 'पञ्चास्तिकाय' ग्रन्थ से मिश्रवर परिचित थे। तत्त्वार्थसूत्र की रीति से संवर आदि पदार्थों की व्याख्या की गई है, अतः तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके वार्तिकादि परिवार का परिज्ञान मिश्र जी को अवश्य था। भामती में आप्तमीमांसा के कई श्लोक उद्धृत हैं। आप्तमीमांसा श्रीसमन्तभद्र की महत्त्वपूर्ण पद्यात्मक कृति है। इस प्रकार उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य और समन्तभद्र—इन तीन पुरातन जैनाचार्यों की रचनाओं से पूर्ण परिचय मिश्र जी का था। भट्ट अकलङ्क की भी शैली कहीं-कहीं अपनाई हैं।

**७. भामती और आगम—**

वाचस्पति मिश्र ने ही तत्त्ववैशारदी (१।७) में 'आगम' शब्द की व्युत्पत्ति की है—"आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपाया., स आगमः"। दार्शनिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य तर्कप्रचुर है, अत एव सर्वज्ञात्म मुनि ने वेदान्त दर्शन के प्रणेता महर्षि व्यास को एक ऐसा महासागर माना है, जिसमें तर्क-प्रकार ही रत्न हैं—"रत्नानि तर्कप्रसरप्रकाराः, पुनात्वसौ व्यासपयोनिधिर्नः" ( सं. शा. १।६ )। दार्शनिक चक्राचौंध के समय उपदेशप्रधान आगमों के प्रचार में मन्दता का आ जाना स्वाभाविक था, अतः भामती में आगमिकों के भेद और कतिपय प्रमेय पदार्थों का नाम गिना देना ही पर्याप्त समझा गया है—"माहेश्वराश्चत्वार" इत्यादि ।

**८. भामती प्रस्थान—**

ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य के पारिवारिक ग्रंथों में श्री वाचस्पति मिश्र की 'भामती' और श्री प्रकाशात्ममुनि का 'पञ्चपादिका-विवरण'—इन दो निबन्धों ने अद्वैत वेदान्त के ऐसे मौलिक सिद्धान्तों की सर्जना की कि इनके नाम पर प्रस्थान-भेद प्रचलित हो गया—भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान भामती प्रस्थान । का विवरण प्रस्थान से अन्तर इस प्रकार है—

**(१) श्रवणादि में विधि का अभाव —**

भामतीकार का कहना है कि "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" ( बृह. २।४।५) इत्यादि वाक्य न तो मोक्ष के लिए "ब्रह्मसाक्षात्कार का विधान कर सकते हैं और न ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए श्रवणादिका, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मरूप होने से नित्य है, उसमें विधेयत्व (कृतिसाध्यत्व) सम्भव नहीं । क्योंकि श्रवणादि में श्रोतव्यार्थ के साक्षात्कार की हेतुता लोक-प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक से ही अधिगत हो जाती है, अतः वेदान्त-वाक्य बोध के विधायक नहीं होते—"तस्मान्न बोधविधिपरा वेदान्ताः" (भामती पृ. ८२)। इसके विपरीत विवरणकार ने आत्मसाक्षात्कार के उद्देश्य से श्रवण का विधान माना है—"अमृतत्वसाधनमात्मदर्शनं द्रष्टव्य इत्यनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नाम अङ्गि विधीयते" ( पं. वि. पृ. ३० )।

**(२) अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद—**

भामतीकार अवच्छेदवाद के अनुयायी हैं जैसा कि स्वयं कहते हैं—अविद्योपधानकल्पितावच्छदो जीवः' ( भामती. पृ. ६४३ ) । किन्तु विवरणकार ने पंचपादिकोक्त प्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया है—"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (कठ. २।२।९) "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" ( ब्र. बि. १२ ), "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्" (ब्र. सू. ३।२।१८) इति च श्रुतिस्मृतिसूत्रैः जीवस्य प्रतिनिम्बभावस्य दर्शितत्वात्" (पं. वि, पृ. २८९)। इसी पृष्ठ में अवच्छेदवाद का खण्डन भी किया है।

**(३) अविद्या का आश्रय और विषय—**

भामती में अविद्या का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म माना है—"नाविद्या ब्रह्माश्रया किन्तु जीवे, सा तु अनिर्वचनीयेत्युक्तम्" (भामती. पृ. १५०) । "जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया वा ईश्वरमाश्रयते" ( भामती. पृ. ४६४ )। विवरणकार ने आश्रय और विषय के भेद का निराकरण करके एकत्व का समर्थन किया है—"न तावदज्ञानमाश्रयविषयभेदापेक्षम् , किन्वेकस्मिन्नेव वस्तुनि आश्रयत्वमावरणं चेति कृत्यद्वयं सम्पादयति" (पं. वि. पृ. २१०)।

**(४) यज्ञादि कर्मों का उपयोग—**

भामतीकार ने यज्ञादि कर्मों का उपयोग विविदिषा में माना है—"यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुञ्जानः" (भामती पृ. ११६७-६८)। विवरण उन्हीं कर्मों का विनियोग ज्ञान में करता है—"यज्ञादीनि ब्रह्मानुभवसाधनान्यवगतानि" (पं. वि. पृ. ५४३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

**(५) ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण—**

भामतीकार ने अन्तःकरण को ब्रह्म-साक्षात्कार का कारण माना है—"निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थतामनुभावयति" (भामती पृ. ६७)। इसी अवसर पर शब्द में साक्षात्कार की हेतुता का निरास किया है। विवरणकार ने शब्द को ही साक्षात्कार का निमित्त बताया है—"एवं च तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" (बृह. ३।९।२६) इति तद्धितप्रत्ययेन ब्रह्मावगतितुहेत्वं शब्दस्य दर्शितमुपपन्नं भवति" (पं. वि. पृ. ४०८)।

**(६) अविद्या की अनेकता और एकता—**

वाचस्पति मिश्र जीवाश्रित अविद्या को नाना मानते हैं—"न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे" (भामती पृ. ४६३)। विवरणकार ब्रह्माश्रित अविद्या को अनेक न मान कर एक ही मानते हैं—"ब्रह्मैव स्वमायया अविद्यया विवर्तते" (पं वि. ६९३)।

**(७) अखण्डाकार वृत्ति का विषयीभूत ब्रह्म—**

भामतीकार शुद्ध ब्रह्म को अखण्डाकार वृत्ति का विषय नहीं मानते—"न चान्तःकरणवृत्तावपि अस्य साक्षात्कारे सर्वोपाधिविनिर्मोकः, तस्यैव तदुपाधेः विनश्यदवस्थस्य स्वपरोपाधिविरोधिनः विद्यमानत्वात्" (भामती. पृ. ६८) विवरणकार ने शुद्ध ब्रह्म में ही विषयता मानी है—"न च स्वयं प्रकाशमाने अज्ञानसंसर्गविरोधः क्वचिद् दृष्टः, विषयाणामेव परप्रकाश्यानां तत्संसर्गविरोधात्" (पं. वि. पृ. २२४)। अर्थात् ज्ञान और अज्ञान का समानविषयत्वेन ही विरोध होता है, अतः शुद्धब्रह्मविषयक अखण्डाकार वृत्ति ही अज्ञान की निवर्तिका हो सकती है।

**(८) अध्ययनविधि वेदार्थ ज्ञानफलक है—**

मीमांसाशास्त्र की आवश्यकता बताते हुए पूर्वमीमांसकों ने कहा है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत. ब्रा. ११।५।७।२) इस विधि-वाक्य का परम प्रयोजन वेदार्थज्ञान है, असन्दिग्ध वेदार्थ-ज्ञान मीमांसा के बिना सम्भव नहीं। श्रीवाचस्पति मिश्र ने भी ऐसा ही माना है—"कर्मविधिनिषेधानामिव वेदान्तानामपि स्वाध्यायशब्दवाच्यानां फलवदर्थावबोधपरत्वम्" (भामती. १।१।१)। विवरणकार केवल अक्षर-ग्रहण को ही अध्ययनविध का प्रयोजन मानते हैं—"सा अधीयमानावाप्तिफलत्वाद् अक्षरग्रहणान्ता" (पं. वि. पृ. २२२)। इसी प्रकार के दोनों प्रस्थानों में अवान्तर मत-भेद बहुत से पाए जाते हैं। विवरणकार ने उन्हीं मत-भेदों की आलोचना तत्तत्स्थान पर की है।

श्री वाचस्पति मिश्र और श्रीप्रकाशात्मयति दोनों ही समकक्ष के योद्धा हैं। वाचस्पति मिश्र ने मण्डन मिश्र के मतवादों का अधिकतर समर्थन करते हुए विरोधी मतों की आलोचना की है। आलोच्य मतवादों में पञ्चपादिका की भी आलोचना सम्मिलित हैं, जिसका रहस्योद्घाटन कल्पतरुकार ने किया है—"पञ्चपादीकृतस्तु वाजसनेयिवाक्यस्यापि आत्मोपक्रमत्वलाभे किं शास्त्रान्तरालोचनयेति पश्यन्तः पुरुषमनूद्य वैश्वानरत्वं विधेयमिति व्याचक्षते, तद् दूषयति" (कल्पतरु. १।२।२६)। बहुत सम्भव है कि इसी की प्रतिक्रिया प्रकाशात्मयति के मन में हुई है, जिससे प्रकाशात्म यति वाचस्पति मिश्र के घोर आलोचक बन गए। विवरण में सर्वाधिक वाचस्पति के पक्ष का प्रतिक्षेप पाया गया है किन्तु उससे भामती में किसी प्रकार की कुण्ठा न आकर उत्तरोत्तर निखार होता गया है।

**धवल धारा—**

भामती आचार्य वाचस्पति के यशःपुञ्ज की एक वह धवल धारा है, जिसकी धवलिमा न कभी धूमिल हुई है और न होगी। आचार्य वाचस्पति की रचनाओं के मूल में घोर श्रम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कठिन साधना निहित होती है : वे स्वयं ही क्रूरकर्मा, परकीय कृति के दूषक मानवों से कातरस्वर में प्रार्थना करते हैं कि हे क्रूर मनुष्यो ! विद्वान् ग्रंथ-निर्माण में महान् श्रम करता है, शरीर को सुखा डालता है, रचना उसकी एकमात्र कीर्ति नदी है, उसको गन्दला नहीं करना चाहिए—

क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेव दत्तः,
कायो मया प्रहरतात्र यथाभिलाषम् ।
अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षैः,
मा माऽविलीकुरुत कीर्तिनदीः परेषाम् ॥ (ता. टी. पृ. ७२६)

**भामती की व्याख्याएँ—**

(१) वाचस्पति मिश्र की दीर्घजीवन-संचित अनुभूतियों का निचोड़ भामती है। इसके अनुरूप पूरी व्याख्या तो एक मात्र कल्पतरु है। कल्पतरु के प्रणेता श्रीअमलानन्द सरस्वती (१२५० ई०) सम्भवतः नासिक के रहनेवाले थे त्र्यम्बक के ब्रह्मगिरि और उससे निकलनेवाली गोदावरी का (पृ० १३८ पर) मनोरम वर्णन किया है। प्रकटार्थकार श्री अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने भामती का जहाँ-जहाँ आलोचन किया है, वहाँ-वहाँ कल्पतरुकार ने बड़े कड़े शब्दों में उसका खण्डन कर भामती का समर्थन युक्तिपूर्ण शैली में किया है। कुछ लोगों का कहना है कि शास्त्रदीपिका के रचयिता पार्थसारथिमिश्र ने ही सन्यास लेकर अमलानन्द के रूप में भामती की व्याख्या की है, अत एव भामती के कट्टर भक्त थे।

कल्पतरु की दो व्याख्याएँ इस समय प्रकाशित हैं—(१) अप्पयदीक्षित (१५५० ई०) की कल्पतरुपरिमल और (२) श्री लक्ष्मीनृसिंह (१७०० ई०) के द्वारा विरचित आभोग। जहाँ कहीं भामती और कल्पतरु की भाष्य से असमानान्तरता प्रतीत हुई है, वहाँ अप्पय-दीक्षित वे उनकी आलोचना कर भाष्य का दृष्टिकोण व्यवस्थित किया है। आभोगकार ने वहाँ परिमल की व्यवस्था का निरास तीखे शब्दों में किया है।

(२) भामती की एक दूसरी व्याख्या ऋजुप्रकाशिका कलकत्ता से प्रकाशित हैं। यह चतुःसूत्री-पर्यन्त भी नहीं है। इसके प्रणेता ने अपना परिचय दिया है—

स कल्पकतरोरर्थमभिधाय क्वचित् क्वचित् ।
करोत्यखण्डयतिराड् व्याख्यां वाचस्पतेः कृतेः ॥

भामती की अन्य व्याख्याएँ भी पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हैं, किन्तु प्रायः अधूरी होने के कारण ही प्रकाशित नहीं हो सही हैं। यह एक निश्चित तथ्य है कि ब्रह्मसूत्र-परिवार में भामती का अपना विशिष्ट स्थान है। ऐसी बहुतन्त्रसूक्तिभरिता नितान्तगभीरभावा भामती की हिन्दी व्याख्या सरल कार्य नहीं, इसमें पूरा परिश्रम किया गया है, किन्तु कहाँ तक मुझे सफलता मिली है, यह विद्वानों का हृदय ही जान सकेगा।

के० ३७/२ ठठेरीबाजार,
वाराणसी
२५-२-१९७४

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# शोधनिका

| पृ० | पं० | अशुद्धं | शुद्धं |
|---|---|---|---|
| १ | १४ | प्रक्किरति | प्रकिरति |
| ८६ | २८ | अपां सोममृता | अपाम सोममृता |
| ८६ | २९ | अथर्वशि० | शत० ब्रा० २।५।४।१ |
| ८६ | ३७ | तद्यथेह | तद्यथेह |
| ८६ | ३९ | अपां | अपाम |
| ८७ | ३४ | भविष्यन्ति | भविष्यन्ति महाभाष्य. २।१।३६) |
| ९५ | ३९ | प्रामाण्बपादियों | प्रामाण्यवादियों |
| ९६ | ५ | तिःश्रेयस | निःश्रेयस |
| १०४ | २ | नुभाव | नुभव |
| ११८ | १८ | जुरोति | जुहोति |
| १४४ | २३ | वायवदि | वायुर्वाव |
| १९६ | १३ | अनवगत्योपदेश | अनवगतात्मोपदेश |
| २७६ | २६ | (१ २।२४) | (१।२।२५) |
| ३१३ | १५ | प्राणोत्क्रण | प्राणोत्क्रमण |
| ३२७ | २४ | छा. ६।८८ | छा. ६।८।६ |
| ३३४ | ४० | माच्छेंत्यै | माच्छेंदित्यै |
| ३५५ | १२ | श्रवणमनम | श्रवणमननम |
| ३६७ | १७ | ३।८।७ | ३।८।९ |
| ३६६ | १६ | नापहपा | नापहतपा |
| ४१० | ५ | म० मा० शां० १२।८५ | विष्णुपु० १.५।६० |
| ४१० | ७ | यः भा० शां० २५।७ | विष्णुपु० १।५।६१ |
| ४२९ | ३० | तै० ब्रा० १।१।२।६।७ | १।१।२।६ |
| ४५५ | १८ | श्वेता० ४५ | श्वेता० ४।५ |
| ४५६ | १ | १६ | १ |
| ४५६ | २९ | पाक्य | वाक्य |
| ४५८ | ३७ | २।२।१–९ | ३।२।१–९ |
| ४६९ | ११ | २।३।३५ | २।३।१५ |
| ४७० | ३१ | २।२।६ | २।५।६ |
| ४७७ | २२ | तेजावन्नक्ष | तेजोऽबन्नलक्ष |
| ४७७ | ३६ | २।४।२।९ | २।४।६ |
| ४८० | १२ | पुरन्य | पुनरन्य |
| ४९३ | १५ | सद्वचो | सद्वचो |
| ४९४ | ३ | तै० २१ | तै० २।१ |
| ५०९ | २५ | आर्द्रेधा | आर्द्रेधो |
| ५२१ | २ | २।६ | २।१ |
| ५३१ | २१ | यक्ष्ममाणे | लक्ष्यमाणे |

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५४७ | २४ | विरुद्धं | विशुद्धं |
| ६०५ | ३४ | द्धनक | जनक |
| ६१४ | ३१ | संयोगेन | सयोगेन |
| ६१८ | ११ | ब्र० सि० पृ० २० | ब्र० सि० पृ० १० |
| ६४६ | १९ | शतस्त | प्रशस्त |
| ६५१ | ३८ | ७७१ | ७७३ |
| ६७९ | ३२ | विशं | विशि० |
| ७९५ | ३३ | माश्य | भाष्य |
| ८०२ | ३ | चक्षुषो | चक्षुष्टे |
| ८१० | २३ | १।४।७ | १।४।१० |
| ८१७ | २६ | १।३।१२ | ३।१२ |
| ८५६ | १५ | अहंश्रेयसि | अहंश्रेयसे |
| ८७० | ३२ | दानम् | दार्तम् |
| ९५४ | १९ | वः सर्बाणि | यः सर्वाणि |
| १००७ | १८ | ऐ० १।९ | ऐ० ४।१।२ |
| १०११ | १५ | श्रेत्रिया | श्रोत्रिया |
| १०२६ | ३० | सामर्थम | सामर्थ्यम |
| १०७१ | २० | भा० १२।३४९ | भारत० १२।३४९।४२,४३ |
| १०७३ | ३१ | ज्ञाते | जाने |
| १०९९ | १४ | जगार | जागार |
| ११७५ | ६ | आत्मने वायं | आत्मने वा यजमानस्य वायं |
| १२९४ | ४ | तावानस्य | एतावानस्य |

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# विषय-सूची

## अविरोधाख्यद्वितीयाध्यायस्य

(२) द्वितीये पादे—

१. रचनानुपपत्त्यधिकरणम् ६१९
प्रतिपक्षनिराकरणोपक्रमः ६१९
सांख्यदर्शननिरासः ६२०
प्रधानस्य जगद्रचनानुपपत्तिः ६२०
प्रधानस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तिः ६२६
पयोऽम्बुदृष्टान्तनिरासः ६३०
परस्परविरोधोद्भावनम् ६३८

२. महद्दीर्घाधिकरणम् ६४४
वैशेषिकी प्रक्रिया ६४४

३. परमाणुकारणवादाभावाधिकरणम् ६५१
परमाणुकारणवादनिरासः ६५१
समवायसम्बन्धनिरासः ६५५
परमाणुत्वानुपपत्तिः ६५८
परमाणुवादस्यावैदिकत्वम् ६६३

४. समुदायाधिकरणम् ६७३
बौद्धमतनिरासप्रसङ्गः ६७६
पञ्चस्कन्धास्तन्निरासः ६८०
प्रतीत्यसमुत्पादनिरासः ६८४
संघातासिद्धिः ६९५
प्रतिसंख्यानिरोधादिनिरासः ६९२
अभावाद्भावोत्पत्त्यनुपपत्तिः ७०९

५. अभावाधिकरणम् ७११
निरालम्बसाकारज्ञानवादनिरासः ७११
स्वप्नादिदृष्टान्तनिरासः ७३१
क्षणिकत्ववादनिरासः ७३७

६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् ७३९
जैनदर्शनं तन्निरासश्च ७३९
सप्तभङ्गीनयनिरासः ७४६
जैनात्मस्वरूपनिरासः ७४९

७. पत्यधिकरणम् ७५४
ईश्वरस्वरूपे मतभेदाः ७५५
केवलाधिष्ठानवादनिरासः ७६०

८. उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् ७६२
पाञ्चरात्रमतनिरासः ७६२

(३) तृतीये पादे

१. वियदधिकरणम् ७६७
सृष्टिश्रुतीनां परस्परविरोधनिरासः ७६७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. मातरिश्वाधिकरणम् ७८१
आकाशोत्पत्तिवद्वायोरपि ७७२
३. असम्भवाधिकरणम् ७८२
सतो ब्रह्मण उत्पत्त्यसम्भवः ७८३
४. तेजोऽधिकरणम् ७८५
तेजस उत्पत्त्युपपादनम् ७८६
५. अबधिकरणम् ७८७
जलोत्पत्त्युपपत्तिः ७८७
६. पृथिव्यधिकरणम् ७८७
पृथिव्या उत्पत्तिः ७८७
७. तदभिध्यावाधिकरणम् ७७९
स्रष्टृत्वमीश्वरस्यैव ७८९
८. विपर्ययाधिकरणम् ७९०
आकाशादीनां लयक्रमः ७९०
९. अन्तराविज्ञाधिकरणम् ७९२
बुद्ध्यादीनामुत्पत्तिक्रमः ७९२
१०. चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् ७९३
शरीरस्यैव जन्मादि जीव उपचर्यते ७९४
११. आत्माधिकरणम् ७९५
जीवात्मन उत्पत्तिप्रतिषेधः ७९७
९२. ज्ञाधिकरणम् ७९८
जीवस्य नित्यचैतन्यरूपत्वम् ७९९
१३. उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् ८००
जीवस्याणुत्वसाधनम् ८०१
जीवस्याणुत्वनिरासः ८०७
१४. कर्त्रधिकरणम् ८१३
जीवस्य कर्तृत्वसाधनम् ८१३
१५. तक्षाधिकरणम् ८१७
जीवस्य कर्तृत्वमौपाधिकम् ८१८
१६. परायत्ताधिकरणम् ८२५
ईश्वरस्य जीवप्रवर्तकत्वम् ८१५
ईश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यानापत्तिः ८२६
१७. अंशाधिकरणम् ८२८
जीवस्य ईश्वरांशत्वसाधनम् ८२८
जीवेश्वरयोरंशांशिभावः काल्पनिकः ८३०

(४) चतुर्थे पादे—

१. प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् ८३९
इन्द्रियाणामनादित्वम् ८३९
इन्द्रियाणां सादित्वम् ८४०
२. सप्तगत्यधिकरणम् ८४३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रियाणां संख्याविवादः ८४४
इन्द्रियाणामेकादशत्वम् ८४६
३. प्राणाणुत्वाधिकरणम् ८५०
इन्द्रियाणामणुत्वमविवक्षितम् ८५१
४. प्राणश्रेष्ठचाधिकरणम् ८५२
मुख्यप्राणस्यापि सादित्वम् ८५२
४. न वायुक्रियाधिकरणम् ८५३
चक्षुरादिवत्प्राणस्य स्वातन्त्र्यम् ८५४
६. श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् ८५८
प्राणस्य परिच्छिन्नत्वम् ८५८
७. ज्योतिद्यधधिकरणम् ८५९
अग्न्यादिदेवानां वागद्याधिष्ठातृत्वम् ८६०
८ इन्द्रियाधिकरणम् ८६२
मुख्यप्राणस्येन्द्रियेभ्यो भेदः ८६२
९. संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् ८६६
नामरूपव्याकरणकर्तृत्वसंशयः ८६६
त्रिवृत्कर्तृत्वमीश्वरस्यैव ८६७
वैशेष्यात्तेज आदिव्यवहारः ८७०

## साधनाख्यतृतीयाध्यायस्य

(१) प्रथमे पादे
१. तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् ८७३
सूक्ष्मशरीरयुक्तजीवः परलोकमेति ८७४
परलोकगमनप्रकारः ८७६
२. कृतात्ययाधिकरणम् ८८७
स्वर्गादागतस्य सानुशयता ८८७
३ अनिष्टादिकार्याधिकरणम् ८९६
इष्टापूर्तकारिणामेव चन्द्रप्राप्तिः ८९६
४. साभाव्यापत्त्यधिकरणम् ९००
जीवानामाकाशादिसारूप्यम् ९०१
५. नातिचिराधिकरणम् ९०२
सूक्ष्मशरीरस्य तीव्रा गतिः ९०५
६. अन्याधिष्ठिताधिकरणम् ९०३
सानुशयानां व्रीह्यादिभिः संसर्गमात्रम् ९०४
(२) द्वितीये पादे— ९०९
१. सन्ध्याधिकरणम्
स्वाप्नसृष्टेर्मायामात्रत्वम् ९१२
२. तदभावाधिकरणम् ९१८
सुषुप्तस्य स्थानं ब्रह्म ९१९
३. कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् ९२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुषुप्तोत्थित एक एव ९२९
४. मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरणम् ९३१
मूर्च्छावस्था पञ्चमी ९३२
५. उभयलिङ्गाधिकरणम् ९३४
ब्रह्मणो निर्विशेषत्वम् ९३५
६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् ९४५
उपाधेरभावे नोपहितस्याभावः ९४९
७. पराधिकरणम् ९५६
जगद्विधारकत्वाद् ब्रह्मणः सेतुत्वम् ९५८
८. फलाधिकरणम् ९६२
ईश्वर एव स्वर्गादिफलं ददाति ९६१

(३) तृतीये पादे—
१. सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ९७२
शाखाभेदेऽपि नोपासनाभेदः ९७४
२. उपसंहाराधिकरणम् ९८७
शाखान्तरोक्तगुणानामुपसंहारः ९८७
३. अन्यथात्वाधिकरणम् ९८९
वाजसनेयछान्दोग्ययोर्विद्याभेदः ९९१
४. व्याप्त्यधिकरणम् ९९८
उद्गीथोंकारयोर्विशेषणविशेष्यभावः ९९०
५. सर्वाभेदाधिकरणम् ९९९
सर्वगुणोपसंहार १००१
६. आनन्दाद्यधिकरणम् १००१
आनन्दादयो वस्तुधर्माः सर्वत्रगाः १००३
७. अध्यानाधिकरणम् १००३
पुरुषपरत्वमात्रं विवक्षितम् १००५
८. आत्मगृहीत्यधिकरणम् १००६
आत्मशब्देन परमात्मनो ग्रहण म् १००७
९. कार्याख्यानाधिकरणम् १०११
अप्राप्तवासोदृष्टिर्विधेया १०१४
१०. समानाधिकरणम् १०१५
उपासनैक्यं गुणोपसंहारश्च १०१६
११. सम्बन्धाधिकरणम् १०१७
अहरादीनां व्यवस्था १०१८
११. संभृत्यधिकरणम् १०१९
ब्रह्मविद्यासु विभूतीनामनुपसंहारः १०२०
१३. पुरुषविद्याधिकरणम् १०२१
पुरुषयज्ञे धर्मानुपसंहारः १०२२
१४. वेधाद्यधिकरणम् १०२४
असंगतकर्मानुपसंहारः १०२९

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुतिलिङ्गादीनां विरोधविस्तरः १०३२
१५. हान्यधिकरणम् १०५०
हानोपायनाश्यां विद्यास्तुतिः १०५१
१६. सांपरायाधिकरणम् १०६०
मरणसमये सुकृतादिहानम् १०६१
१७. गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् १०६४
सुकृतादिहान्यै देवयानानपेक्षा १०६४
१८. अनियमाधिकरणम् १०६६
सर्वासु सगुणविद्यासु देवयानप्राप्तिः १०६६
१९. यावदधिकाराधिकरणम् १०६९
तत्त्वज्ञस्य देहान्तराप्राप्तिः १०७१
२०. अक्षरध्यधिकरणम् १०७५
प्रतिषेधानां सर्वत्रोपसंहारः १०७६
२१. इयदधिकरणम् १०७८
विद्यानानात्वम् १०७८
२२. अन्तराधिकरणम् १०८०
विद्याभेदः १०८१
२३. व्यतिहाराधिकरणम् १०८२
जीवे ब्रह्मभावनमात्रम् १०८२
२४. सत्याद्यधिकरणम् १०८४
सत्यविद्यैकत्वम् १०८५
२५. कामाद्यधिकाराधिकरणम् १०८७
उभयत्र गुणोपसंहारः १०८८
२६. आदरादिकरणम् १०८९
प्राणाग्निहोत्रस्यालोपः १०९०
२७. तन्निर्धारणाधिकरणम् १०९५
अङ्गोपासना कादाचित्की १०९५
२८. प्रदानाधिकरणम् १०९८
वायुप्राणपदयोर्भिन्नार्थत्वम् ११००
२९. लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् ११०१
क्रियाप्रवेशानपेक्षोपासना ११०९
३०. ऐकात्म्याधिकरणम् १११९
आत्मनो देहाद्भेदः १११४
३१. अङ्गावबद्धाधिकरणम् १११९
उद्गीथविद्याया सर्वत्रोपसंहारः ११२०
३२. भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ११२२
समस्तोपासना ज्यायसी ११२४
३३. शब्दादिभेदाधिकरणम् ११२५
उपासनानां शब्दभेदाद्भेदः ११२६
३४. विकल्पाधिकरणम् ११२८

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहंग्रहोपासनासु विकल्पः ११२८
१५. काम्याधिकरणम् ११२९
प्रतीकोपासनासु नियमाभावः ११२९
३६ यथाश्रयभावाधिकरणम् ११२९
प्रतीकोपासनासु असहभावः ११३२
(४) चतुर्थे पादे—
१. पुरुषार्थाधिकरणम् ११३३
आत्मज्ञाने कर्मानङ्गता ११३६
२. परामर्शाधिकरणम् ११४१
सन्यासाश्रमविधानम् ११५०
३. स्तुतिमात्राधिकरणम् ११५१
उपासनार्थं रसतमत्वादि
४ पारिप्लवाधिकरणम् ११५४
वेदान्तेषूपाख्यानानि विद्यास्तुतये ११५५
५. अग्नीन्धनाधिकरणम् ११५६
ब्रह्मविद्यायाः पुरुषार्थत्वम् ११५६
६. सर्वापेक्षाधिकरणम् ११५७
ज्ञानोत्पत्तौ कर्माद्यपेक्षा ११५८
७. सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ११६१
सर्वान्नग्रहणं विद्यास्तुत्यर्थं ११६२
८. आश्रमकर्माधिकरणम् ११६४
अमुमुक्षणापि कर्तव्यान्याश्रमकर्माणि ११६५
९. विधुराधिकरणम् ११६८
विधुरादीनामपि विद्यायामधिकरः ११६८
१०. तद्भूताधिकरणम् ११७०
सन्यासो न कदापि त्याज्यः ११७१
११. अधिकाराधिकरणम् ११७१
नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तमस्ति ११७२
१२. बहिरधिकरणम् ११७३
कृतप्रायश्चित्तैरपि सह न व्यवहर्तव्यम् ११७४
१३. स्त्राम्यधिकरणम् ११७४
ऋत्विजामेवाङ्गोपासनाकर्तृत्वम् ११७५
१४. सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ११७६
मौनमपि विधेयम् ११७८
१५. अनाविष्काराधिकरणम् ११७९
बाल्येनार्जवमभिप्रेति ११८०
१६. ऐहिकाधिकरणम् ११८०
श्रवणादीनां फलानियमः ११८१
१७. मुक्तिफलाधिकरणम् ११८३
मुक्तेरनतिशयत्वम् ११८३

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## फलाख्यचतुर्थाध्यायस्य

(१) प्रथमे पादे—


१. आवृत्त्यधिकरणम् ११८५
श्रवणादीनामावृत्तिः ११८६
२. आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ११९४
अभेदनिश्चयस्तात्त्विकः ११९५
३. प्रतीकाधिकरणम् ११९७
प्रतीकोपासनेषु अहंग्रहो न कार्यः ११९८
४. ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् १२००
प्रतीकेषु ब्रह्मदृष्ट्यारोपः १२०२
५ आदित्यादिमत्याधिकरणम् १२०२
उद्गीथादिष्वादित्यादिदृष्टिः १२०६
६. आसीनाधिकरणम् १२०७
उपविष्टस्य सुकरं ध्यानम् १२०८
७. एकाग्रताधिकरणम् १२०८
उपासनासु देशाद्यनियमः १२०९
८. आप्रायणाधिकरणम् १२०९
मरणपर्यन्तं प्रत्ययावर्तनम् १२१०
९. तदधिगमाधिकरणम् १२११
ब्रह्माधिगमे दुरतिक्षयः १२१४
१०. इतरासंश्लेषाधिकरणम् १२१५
विदुषः पुण्यमपि क्षीयते १२१६
११ अनारब्धाधिकरणम् १२१६
सञ्चितस्यैव ब्रह्मज्ञानात्क्षयः १२१९
१२. अग्निहोत्राद्यधिकरणम् १२२०
विदुषो नित्यकर्मक्षयः १२२१
१३. विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् १२२२
परविद्यार्थिन यज्ञाद्यनुष्ठेयम् १२२३
१४. इतरक्षपणाधिकरणम् १२२४
विदुषः कैवल्यावश्यंभावः १२२४


(२) द्वितीये पादे—


१. वाग्धिकरणम् १२२५
वाग्वृत्तेर्लयः १२२६
२. मनोऽधिकरणम् १२२७
मनोवृत्तिलयः १२२८
३. अक्ष्यक्षाधिकरणम् १२२९
जीवे प्राणवृत्तिलयः १२२९
४. आमृत्युपक्रमाधिकरणम् १२३२
उपासकानुपासकयोरुत्क्रान्तिः समा १२३३
५. संसारव्यपदेशाधिकरणम् १२३४


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविदुषो भूतानां सावशेषलयः १२३४
६. प्रतिषेधाधिकरणम् १२३७
विदुषः शरीरात्प्राणोत्क्रान्तिर्न भवति १२३८
७. वागादिलयाधिकरणम् १२४०
विदुषो वागादीनां ब्रह्मण्येव लयः १२४०
८ अविभागाधिकरणम् १२४१
कलानां निरवशेषो लयः १२४१
९. तदोकोऽधिकरणम् १२४१
उपासकस्यैव मूर्धदेशादुत्क्रान्तिः १२४२
१०. रश्म्यधिकरणम् १२४३
रात्रावपि मृतस्य रश्म्यनुसारित्वं १२४३
११. दक्षिणायनाधिकरणम् १२४५
दक्षिणायनेऽपि ब्रह्मलोकप्राप्तिः १२४५

(३) तृतीये पादे—
१. अर्चिराद्यधिकरणम् १२४८
ब्रह्मलोकप्राप्तिरर्चिरादिनैव १२४९
२. वाय्वधिकरणम् १२५०
आदित्यात्पूर्वं वायोः प्रवेशः १२५२
३. तडिदधिकरणम् १२५३
तडितः परो वरुणः १२५३
४. आतिवाहिकाधिकरणम् १२५४
अर्चिरादीनां वाहकत्वम् १२५५
५. कार्याधिकरणम् १२५९
कार्यं ब्रह्मेति बादरिः १२५९
६. अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् १२७१
कतिपयानेवामानवो नयति १२७२

(४) चतुर्थे पादे—
१. सम्पद्याविर्भावाधिकरणम् १२७५
ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरं स्वरूपाविर्भावः १२७६
२. अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् १२७८
मुक्तो ब्रह्माभिन्नो भवति १२७८
३. ब्राह्माधिकरणम् १२७९
धर्मधर्मिभावो व्यावहारिकः १२८२
४. संकल्पाधिकरणम् १२८२
संकल्पादेव पित्राद्युपस्थितिः १२८४
५. आभावाधिकरणम् १२८५
ब्रह्मलोकप्राप्तस्य शरीराद्यभावः १२८६
६. प्रदीपाधिकरणम् १२८८
अन्यानि शरीराणि निरात्मकानि १२८९
७. जगद्व्यापाराधिकरणम् १२९१
जगत्सर्जनवर्जमैश्वर्यम् १२९१

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri


## द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

[ अत्र पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम् । ]

### ( १ रचनानुपपत्त्यधिकरणम् । सू० १--१० )

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदंपर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तं, न तर्कशास्त्रवत्केवलाभिर्युक्तिभिः कंचित्सिद्धान्तं साधयितुं दूषयितुं वा प्रवृत्तम्; तथापि वेदान्तवाक्यानि व्याचक्षाणैः सम्यग्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि सांख्यादिदर्शनानि निराकरणीयानीति तदर्थः परः पादः प्रवर्तते । वेदान्तार्थनिर्णयस्य च सम्यग्दर्शनार्थत्वात्तन्नि-

भामती

स्यादेतद्—ईह हि पादे स्वतन्त्रा वेदनिरपेक्षाः प्रधानादिसिद्धिविषयाः सांख्यादियुक्तयो निराकरिष्यन्ते, तदयुक्तमशास्त्राङ्गत्वात् । नहीदं शास्त्रमुच्छृङ्खलतर्कशास्त्रवत् प्रवृत्तमपि तु वेदान्तवाक्यानि ब्रह्मपराणीति पूर्वपक्षोत्तरपक्षाभ्यां विनिश्चेतुं, तत्र कः प्रसङ्गः शुष्कतर्कवत्स्वतन्त्रयुक्तिनिराकरणस्येत्यत आह ❀ यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानाम् इति ❀ । नहि वेदान्तवाक्यानि निर्णेतव्यानीति निर्णीयन्ते, किन्तु मोक्षमाणाद्वां तत्त्वज्ञानोत्पादनाय । यथा च वेदान्तवाक्येभ्यो जगदुपादानं ब्रह्मावगम्यते, एवं सांख्याद्यनुमानेभ्यः प्रधानाद्यचेतनं जगदुपादानमवगम्यते । न चैतदेव चेतनोपादानमचेतनोपादानं चेति समुच्चेतुं शक्यं, विरोधात् । न च व्यवस्थिते वस्तुनि विकल्पो युज्यते । न चागमबाधितविषयतयानुमानमेव

भामती—व्याख्या

श्रीबादरायणविधेर्मुखतोऽभिजातः,
आचार्यशङ्करवचस्पतिभिः समिद्धः ।
नानाकुतन्त्रकुहनावनरौद्रदावः,
प्रावर्ततेह बहुचर्चितकर्कपादः ॥

संगति—इस तर्क-पाद में जो प्रधानादि की साधिका वैदिक वाक्य-निरपेक्ष सांख्यादि-प्रदर्शित युक्तियों का निराकरण किया जाता है, वह संगत नहीं, क्योंकि इस वेदान्त-शास्त्र का परपक्ष-निरास करना उद्देश्य ही नहीं। यह वेदान्त-शास्त्र वह वाद कथा है, जो कि उच्छृङ्खल तर्क-शास्त्र के समान किसी तैर्थिक मतवाद पर कुठाराघात करने के लिए प्रकाश में नहीं आई, अपितु वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य-निश्चय कराने के लिए यह शास्त्र केवल पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की शैली अपना रहा है, तब नीरस तर्क-तन्त्र के समान विभिन्न दर्शनों की स्वतन्त्र युक्तियों के निराकरण का क्या प्रसङ्ग ? इस शङ्का का अनुवादपूर्वक समाधान भाष्यकार कर रहे हैं—"यद्यपीदं वेदान्तवाक्यानामैदम्पर्यं निरूपयितुं शास्त्रं प्रवृत्तम्"। वेदान्त-वाक्य विचारणीय हैं—इतना ही उद्देश्य लेकर यह विचार-शास्त्र प्रवृत्त नहीं हुआ, अपितु मुमुक्षु पुरुषों को तत्त्व-ज्ञान कराने के लिए प्रणीत हुआ है। जैसे वेदान्त-वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में जगत् की उपादानता अवगत होती है, वैसे ही युक्तियों (अनुमानों) के द्वारा अचेतन प्रकृति तत्त्व में प्रपञ्च की उपादानता सिद्ध होती है। 'चेतन भी जगत् का उपादान कारण रहे और अचेतन भी'—ऐसा समुच्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि परस्पर-विरोध है। समुच्चय के समान ही दोनों पक्षों का विकल्प भी नहीं अपनाया जा सकता, क्योंकि विकल्प सदैव क्रिया में होता है, वस्तु में नहीं, जैसे घट वस्तु 'कभी घट हो और कभी अघट'—ऐसा नहीं हो सकता, वैसे ही जो वस्तु उपादान है, वह कभी अनुपादान नहीं हो सकती। 'उपादानत्वेन प्रधानादि का अनुमान आगम से बाधित है'—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्णयेन स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतं, तदध्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानादिति। ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्तुं युक्तं, किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण? बाढमेवम्; तथापि महाजनपरिगृहीतानि महान्ति सांख्यादितन्त्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषांचिन्मन्दमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्तिगाढत्वसंभवेन सर्वज्ञभाषि-

भामती

नोदीयत इति साम्प्रतम्। सर्वज्ञप्रणीततया सांख्याद्यागमस्य वेदागमतुल्यत्वात् तद्भावितस्यानुमानस्य प्रतिकृतिसिंहतुल्यतयाऽबाध्यत्वात्। तस्मात्तद्विरोधान्न ब्रह्मणि समन्वयो वेदान्तानां सिध्यतीति न ततस्तत्त्वज्ञानं सेद्धुमर्हति। न च तत्त्वज्ञानादृते मोक्ष इति स्वतन्त्राणामप्यनुमानानामाभासीकरणमिह शास्त्रे सङ्गतमेवेति। यद्येवं ततः परकीयानुमाननिरास एव कस्मात्प्रथमं न कृत इत्यत आह-ॐ वेदान्तार्थनिर्णयस्य च इति ॐ। ननु वीतरागकथायां तत्त्वनिर्णयमात्रमुपयुज्यते न पुनः परपक्षाधिक्षेपः, स हि सरागतामावहतीति चोदयति ॐ ननु मुमुक्षूणाम् इति ॐ। परिहरति ॐ बाढमेवं तथापि इति ॐ। तत्त्वनिर्णयावसाना वीतरागकथा, न च परपक्षदूषणमन्तरेण तत्त्वनिर्णयः शक्यः कर्तुमिति तत्त्वनिर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते, न तु परपक्षतयेति न वीतरागकथात्वव्याहतिरित्यर्थः। पुनरुक्तां परिचोद्य समाधत्ते

भामती—व्याख्या

ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त अनुमान का उपोद्बलक सांख्य शास्त्र भी सर्वज्ञ महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत है, अतः उसका बाध वेदान्त के द्वारा वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे एक सिंह का बाध उसकी प्रतिकृतिभूत (समान बलवाले) अन्य सिंह के द्वारा नहीं होता, फलतः कापिल आगम से उद्भावित अनुमान का भी बाध वेद से नहीं हो सकता। ऐसे प्रधानगत उपादानत्व के साधकीभूत अनुमान का विरोध उपस्थित होने के कारण उपादानत्व-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता। अनुपादानभूत ब्रह्म 'तत्' पद से गृहीत नहीं हो सकता, फिर तो "तत्त्वमसि" इत्यादि वेदान्त-वाक्यों के द्वारा ब्रह्मात्मता का बोध नहीं होगा और तत्त्वावबोध के विना मोक्ष का लाभ क्योंकर होगा? अतः वेदान्त-विरोधी सांख्योद्भावित स्वतन्त्र अनुमानों का आभासीकरण (दूषित करना) इस पाद में अत्यन्त संगत है। यदि ऐसा है तब इन विरोधी अनुमानों का निरास वेदान्त-समन्वय से पहले ही क्यों नहीं कर दिया? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वपक्षस्थापनं प्रथमं कृतम्, तद् हि अभ्यर्हितं परपक्षप्रत्याख्यानात्"। यहाँ एक शङ्का यह होती है कि यह वेदान्त-विचार शास्त्र वादात्मक कथा है, वाद विजिगीषुओं की कथा नहीं कि विपक्ष का निरास आवश्यक हो। वाद कथा तो राग-द्वेष से रहित तत्त्व-बुभुत्सु पुरुषों की कथा है, इसमें तो तत्त्वार्थ का निर्णय करना ही उपयोगी है, वीतराग पुरुष के लिए किसी के पक्ष का खण्डन करना शोभा नहीं देता, क्योंकि खण्डन-मण्डन करना राग-द्वेष-युक्त पुरुष का ही काम है, वीतराग का नहीं। यही शङ्का भाष्यकार प्रस्तुत कर रहे हैं—"ननु मुमुक्षूणां मोक्षसाधनत्वेन"। उक्त शङ्का का परिहार करते हैं—"बाढमेवम्, तथापि महाजनपरिगृहीतानि"। आशय यह है कि वीतराग पुरुषों की कथा (शास्त्र-चर्चा) का पर्यवसान तत्त्व-निर्णय में हुआ करता है, पर-पक्ष-निरास के विना असन्दिग्ध बोध नहीं हो सकता, अतः तत्त्व-निर्णयार्थ वीतराग पुरुष के द्वारा भी पर पक्ष का निराकरण करना आवश्यक है। 'परकीय पक्ष परकीय है'—एतावता यदि उसका निरास किया जाता, तब अवश्य ही पर व्यक्ति से द्वेष सिद्ध होता, किन्तु ऐसा नहीं, अपितु वेदान्त-पक्ष का विरोधी होने के कारण निराकरणीय है, अतः कोई दोष नहीं। सांख्यादि-मतों के निराकरण में पुनरुक्ति की शङ्का की जाती है—

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Jagadguru Rambhadracharya Handicapped University Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्वाच्च श्रद्धा च तेषु, इयतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते। ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र० सू० १।१।५), 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' (ब्र० सू० १।१।१८) 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२८) इति च पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः, किं पुनः कृतकरणेनेति? तदुच्यते - सांख्यादयः स्वपक्षस्थापनाय वेदान्तवाक्यान्यप्युदाहृत्य स्वपक्षानुगुण्येनैव योजयन्तो व्याचक्षते, तेषां यद्व्याख्यानं तद्व्याख्यानाभासं न सम्यग्व्याख्यानमित्येतावत्पूर्वं कृतम्, इह तु वाक्यनिरपेक्षः स्वतन्त्रस्तद्युक्तिप्रतिषेधः क्रियत इत्येष विशेषः। तत्र सांख्या मन्यन्ते—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनाऽन्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः, तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयाऽन्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति। यत्सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत् त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना

भामती

ऽनन्वीक्षतेः इति ऽ। ऽ तत्र सांख्या इति ऽ। यानि हि येन रूपेणास्थौल्यादा च सौक्ष्म्यात्समन्वीयन्ते तानि तत्कारणानि दृष्टानि, यथा घटादयो रुचकादयश्चास्थौल्यादा च सौक्ष्म्यान्मृत्सुवर्णान्विितास्तत्कारणास्तथान्चेदं बाह्यमाध्यात्मिकञ्च भावजातं सुख-दुःखमोहात्मनान्वितमुपलभ्यते, तस्मात्तदपि सुखदुःखमोहात्मसामान्यकारणकं भवितुमर्हति। तत्र जगत्कारणस्य यैयं सुखात्मता तत्सत्त्वं, या दुःखात्मता तद्रजः, या च मोहात्मता तत्तम इति त्रैगुण्यकारणसिद्धिस्तथा हि प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते। यथा मैत्रदारेषु पद्मावत्यां मैत्रस्य सुखं तत्कस्य हेतोस्तं प्रति सत्त्वगुणसमुद्भवात्, तत्सपत्नीनाञ्च दुःखं तत्कस्य हेतोस्ताः प्रत्यस्या रजोगुणसमुद्भवात्, चैत्रस्य तु स्त्रैणस्य तामविन्दतो मोहो विषादस्तत् कस्य हेतोस्तं प्रत्यस्यास्तमोगुणसमुद्भवात्, पद्मावत्या च सर्वे भावा व्याख्याताः। तस्मात्सर्वं सुखदुःखमोहान्वितं जगत्तत्कारणं गम्यते। तच्च त्रिगुणं प्रधानं प्रधीयते क्रियतेऽनेन जगदिति प्रधीयतेऽस्मिन्

भामती—व्याख्या

"ननु 'ईक्षतेर्नाशब्दम्', 'कामाच्च नानुमानापेक्षा', 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' इति पूर्वत्रापि सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपः कृतः"। उक्त शङ्का का समाधान है—"तदुच्यते"।

**पूर्वपक्ष**—"तत्र सांख्या मन्यन्ते" इत्यादि भाष्य का आशय यह है कि यह निश्चित व्याप्ति है कि जो पदार्थ अपनी स्थूलावस्था से लेकर सूक्ष्मावस्था तक जिस रूप से समन्वित होते हैं, वे पदार्थ उसी कारण के कार्य होते हैं, जैसे घटादि पदार्थ और रुचकादि भूषण अपनी स्थूलावस्था से लेकर चूर्णावस्था तक क्रमशः मृत्तिका और सुवर्ण से समन्वित होने के कारण मृत्तिका और सुवर्ण के कार्य होते हैं। यह बाह्य और आध्यात्मिक जगत् सुख, दुःख और मोहात्मक त्रैगुण्य से समन्वित है, अतः यह त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य है। जगत् की कारणीभूत प्रकृति में जो सुखरूपता है वह सत्त्वगुण है, जो दुःखात्मता है, वह रजोगुण और जो मोहात्मकता है, वह तमोगुण है। इस प्रकार जगत् में त्रैगुण्यकारणकत्व सिद्ध हो जाता है—'जगत् त्रैगुण्यकारणकम्, त्रैगुण्यसमन्वितत्वात्'। जगत् की प्रत्येक वस्तु में त्रिगुणता अनुभूत होती है, जैसे मैत्र नाम के व्यक्ति की पद्मावतीसंज्ञक स्त्री अपने पति के प्रति सुखरूप है, क्योंकि वह अपने पति के प्रति सत्त्व-गुणरूपेण समुद्भूत हुई है। वही स्त्री अपनी सपत्नियों की दृष्टि में दुःखरूप है, क्योंकि उनके प्रति वह रजोगुण के रूप में समुद्भूत हुई है और वही स्त्री चैत्रादि कामुक पर पुरुषों की दृष्टि में मोहरूप है, क्योंकि उनके लिए वह तमोगुण के रूप में आविर्भूत हुई है। इस पद्मावती के द्वारा सभी पदार्थों की त्रिगुणता ध्वनित हो जाती है। फलतः त्रैगुण्य-समन्वित जगत् में त्रैगुण्यकारणकत्व पर्यवसित हो जाता है। वह त्रिगुण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवर्तत इति । तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते ।

तत्र वदामः—यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत, नाचेतनं लोके चेतनाधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद्विशिष्टपुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान्विकारान्विरचयद् दृष्टम् । गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोके प्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथाकालं सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते । तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोग्ययोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयवविन्यासमनेककर्मफलानुभवाधिष्ठानं दृश्यमानं प्रज्ञावद्भिः संभाविततमैः शिल्पिभिर्मनसाप्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत् ? लोष्टपाषाणादिष्वदृष्टत्वात् । मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत्प्रधानस्यापि चेतनान्तरा-

भामती

प्रलयसमये जगदिति वा प्रधानम् । तच्च मृत्सुवर्णवदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्य भोगापवर्गलक्षणमर्थं साधयितुं स्वभावत एव प्रवर्त्तते, न तु केनचित्प्रवर्त्यते । तथा ह्याहुः—"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" इति । पारिमाणादिभिरित्यादिग्रहणेन "शक्तितः प्रवृत्तेश्च कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य"—इत्यव्यक्तसिद्धिहेतवो गृह्यन्ते । एते चोपरिष्टाद्व्याख्याय निराकरिष्यन्ते इति ।

तदेतत्प्रधानानुमानं दूषयति ॐ तत्र वदामः इति ॐ । यदि तावदचेतनं प्रधानमनधिष्ठितं चेतनेन प्रवर्त्तते स्वभावत एवेति साध्यते, तदयुक्तं, समन्वयादेर्हेतोश्चेतनानधिष्ठितत्वविरुद्धचेतनाधिष्ठितत्वेन मृत्सुवर्णादौ दृष्टान्तधर्मिणि व्याप्तेरुपलम्भेविरुद्धत्वात् नहि मृत्सुवर्णवार्वादयः कुलालहेमकाररथकारादिभि-

भामती-व्याख्या

ही सांख्य-सम्मत प्रधानतत्त्व है, क्योंकि प्रपूर्वक डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय "करणाधिकरणयोश्च" ( पा. सू. ३।३।११७ ) इस सूत्र के द्वारा किया गया है, अतः 'प्रधीयते क्रियतेऽनेन जगत्' अथवा 'प्रधीयते निधीयतेऽस्मिन् प्रलयकाले जगत्'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रधान में ही जगत् के विधान की साधनता और निधान की आधारता सिद्ध होती है ।

वह प्रधानतत्त्व मृत्तिका और सुवर्णादि के समान अचेतन ( जड़ ) होकर भी चेतन पुरुष को भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ प्रदान करने के लिए स्वतः ही प्रवृत्त होता है, किसी अन्य प्रेरक के द्वारा प्रेरित नहीं होता, जैसा कि कहा है—"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" (सां. का. ३१) । भाष्यकार ने जो कहा है—"तथा परिणामादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते" । वहाँ 'आदि' पद के द्वारा शक्यत्वादि अन्य हेतुओं का संग्रह किया गया है, सभी हेतु इस प्रकार प्रदर्शित हैं—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाच्च वैश्वरूप्यस्य ॥ (सां. का. १५)

इन सभी हेतुओं का आगे चलकर ( इसी पाद के द्वितीय सूत्र में ) व्याख्यानपूर्वक निराकरण किया जायगा ।

**सिद्धान्त**—कथित प्रधानतत्त्व के अनुमान का निराकरण किया जाता है—"तत्र वदामः" । यह जो 'अचेतन प्रधानतत्त्व ही किसी चेतन पुरुष से अधिष्ठित ( प्रेरित ) न होकर ही स्वतः प्रवृत्त होता है'—ऐसा सिद्ध किया जाता है, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि साधक समन्वयादि हेतुओं में चेतनानधिष्ठितत्व के विरुद्ध चेतनाधिष्ठितत्व की ही व्याप्ति उपलब्ध होती है, अतः उक्त हेतु विरुद्ध हैं । [ 'प्रधानं स्वतः एव ( चेतनानधिष्ठितं सत् ) प्रवर्तते, समन्वितत्वात्' यहाँ 'समन्वितत्व' हेतु चेतनानधिष्ठितत्वरूप साध्य के विरुद्ध चेतनाधिष्ठितत्वरूप धर्म से व्याप्त होने के कारण विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है, क्योंकि मृत्तिकादि सपक्षों

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिष्ठितत्वप्रसङ्गः। नच मृदाद्युपादानस्वरूपव्यपाश्रयेणैव धर्मेण मूलकारणमवधारणीयं न बाह्यकुम्भकारादिव्यपाश्रयेणेति किंचिन्नियामकमस्ति। न चैवं सति किंचिद्विरुध्यते, प्रत्युत श्रुतिरनुगृह्यते, चेतनकारणसमर्पणात्। अतो रचनानुपपत्तेश्च हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति।

अन्वयाद्यनुपपत्तेश्चेति चशब्देन हेतोरसिद्धिं समुच्चिनोति। न हि बाह्याध्या-

भामती

रनधिष्ठिताः कुम्भरुचकरथाद्युपादत्ते, तस्मात् कृतकत्वमिव नित्यत्वसाधनाय प्रयुक्तं साध्यविरुद्धेन व्याप्तं विरुद्धम्। एवं समन्वयादिचेतनानधिष्ठितत्वे साध्य इति रचनानुपपत्तेरिति दर्शितम्। यद्युच्येत दृष्टान्तधर्मिण्यचेतनं तावदुपादानं दृष्टं तत्र यद्यपि तच्चेतनप्रयुक्तमपि दृश्यते तथापि तत्प्रयुक्तत्वं हेतोरप्रयोजकं बहिरङ्गत्वादन्तरङ्गं त्वचैतन्यमात्रमुपादानानुगतं हेतोः प्रयोजकम्। यथाहुः—'व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः' इति। तत्राह ❀ न च मृदादि इति ❀। स्वभावप्रतिबद्धं हि व्याप्यं व्यापकमवगमयति। स च स्वभावप्रतिबन्धः शङ्कितसमारोपितोपाधिनिरासे सति निश्चीयते। तन्निश्चयश्चान्वयव्यतिरेकयोरायत्तः। तौ चान्वयव्यतिरेकौ न तथोपादानाचैतन्ये यथा चेतनप्रयुक्ततत्वेऽपि परिस्फुटौ। तदलमत्रान्तरङ्गत्वेनेति भावः। एवमपि चेतनप्रयुक्तत्वं नाभ्युपेयेत यदि प्रमाणान्तरविरोधे भवेत्, प्रत्युत श्रुतिरनुगुणतरात्रेत्याह ❀ न चैवं सति इति ❀। चकारेण सुखदुःखादि-

भामती—व्याख्या

में चेतनाधिष्ठित परिणममानत्व ही उपलब्ध होता है ]। मृत्तिका, सुवर्ण और काष्ठादि पदार्थ कुलाल, सुवर्णकार और रथकार ( बढ़ई ) की प्रेरणा के बिना ही घटादिरूप में परिणत नहीं होते, अतः जैसे नित्यत्व-साधनार्थ प्रयुक्त 'कृतकत्व' हेतु साध्य-विरुद्ध धर्म (साध्याभाव) से व्याप्त होने के कारण विरुद्ध माना जाता है, वैसे ही चेतनानधिष्ठितत्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त समन्वयादि हेतु विरुद्ध नाम के हेत्वाभास हैं—ऐसा 'रचनानुपपत्तेः' के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यदि कहा जाय कि सपक्षभूत मृत्तिकादि-स्थल पर अचेतनतत्त्व ही उपादान-कारणत्वेन उपलब्ध है, वहाँ यद्यपि चेतनाधिष्ठितत्व भी देखा जाता है, तथापि हेतुगत चेतनाधिष्ठितत्व प्रयोजक ( साध्य-साधकता का नियामक ) नहीं, क्योंकि बहिरङ्ग हैं ( हेतु का अपना स्वरूप नहीं, अपितु अन्य-प्रयुक्त है)। उसकी अपेक्षा अचेतनत्व' धर्म अन्तरङ्ग ( सर्वोपादानों में अनुगत होने से प्रयोजक माना जाता है, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"व्याप्तेश्च दृश्यमानाया कश्चिद् धर्मः प्रयोजकः" ( श्लो. वा. पृ. ३५१ )। स्वभाव या अनौपाधिकरूप व्याप्ति से युक्त होकर ही हेतु ( व्याप्य ) अपने व्यापकीभूत साध्य का साधक होता है। व्याप्य का स्वभाव दो प्रकार का होता है—औपाधिक और अनौपाधिक। अनौपाधिक स्वभाव का नाम व्याप्ति है, अतः शङ्कित और समारोपित उपाधियों का निरास हो जाने पर ही व्याप्तिरूप स्वभाव का निश्चय होता है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी मिश्र जी ने कहा है—"शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन च वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम्" ( सां. का. ५ )। यत्र धूमः, तत्राग्निः', 'यत्राग्निर्नास्ति, तत्र धूमोऽपि नास्ति'—इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक उपादानगत अचेतनत्व में उतने स्फुट नहीं, जितने कि चेतनाधिष्ठितत्व में स्पष्ट हैं, अतः अचेतनत्वगत अन्तरङ्गता का उपपादन निरर्थक है। उपादानत्व के प्रयोजकीभूत चेतन-प्रयुक्तत्व को तब अस्वीकृत किया जा सकता था, जब कि उसको मानने पर किसी अन्य प्रमाण का विरोध उपस्थित होता, किन्तु किसी प्रकार का विरोध नहीं आता प्रियुत श्रुति उसका पोषण करती है, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"न चैवं सति किञ्चिद् त्वरुध्यते"। सूत्र के 'रचनानुपपत्तेश्च'—इस खण्ड में अवस्थित चकार के द्वारा भाष्यकार को

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मिकानां भेदानां सुखदुःखमोहात्मकतयान्वय उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः, तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च, शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात्सुखादिविशेषोपलब्धेः। तथा परिमितानां भेदान्मूलाङ्कुरादीनां संसर्गपूर्व-

भामती

समन्वयलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वं समुच्चिनोत्याह ॐ अन्वयाद्यनुपपत्तेश्च इति ॐ। आन्तराः खल्वमी सुखदुःखमोहविषादा बाह्येभ्यश्चन्दनादिभ्योऽतिविच्छिन्नप्रत्ययप्रवेदनीयेभ्यो व्यतिरिक्ता अध्यक्षमीक्ष्यन्ते। यदि पुनरेत एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततस्तत्स्वरूपत्वाद्धेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। नहि चन्दनः कदाचिदचन्दनस्तथा निदाघेष्वपि कुङ्कुमपङ्कः सुखो भवेत्, नह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति। एव कण्टकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्, नह्यसौ कांश्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्। तस्मात् सुखादिरूपसमन्वयो भावानामसिद्ध इति नानेन तद्रूपं कारणमव्यक्तमनुमीयत इति। तदिदमुक्तं ॐ शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषाद् इति ॐ। भावना वासना संस्कारस्तद्विशेषात् करभजन्मसंवर्तकं हि कर्म करभोचितामेव भावनामभिव्यनक्ति, यथास्मै कण्टका एव रोचन्ते। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। परिमाणादिति सांख्यीयं हेतुमुपन्यस्यति ॐ तथा परिमितानां भेदानाम् इति ॐ। संसर्गपूर्वकत्वे हि संसर्गस्यैकस्मिन्नद्वयेऽसम्भवान्नानात्वैकार्थसमवेतस्य नानाकारणानि संसृष्टानि कल्पनीयानि, तानि च सत्त्वरजस्तमांस्येवेति भावः। तदेतत्परिमितत्वं सांख्यीयरा-

भामती—व्याख्या

अन्वयानुपपत्ति का समुच्चय विवक्षित है, उससे सुखादि समन्वयरूप हेतु में असिद्धि प्रदर्शित की गई है—"न हि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुख-दुःखमोहात्मकतयाऽन्वय उपपद्यते"। आशय यह है कि सुख, दुःख और मोह ( विषाद ) ये आन्तरिक ( अन्तःकरण या जीव के धर्म हैं, शरीर से बाहर अवस्थित चन्दनादि पदार्थों में अत्यन्त भिन्न प्रत्यक्षतः अनुभूत होते हैं। यदि चन्दनादि बाह्य पदार्थ ही सुखादिस्वरूप हैं, तब शीत-काल में भी चन्दन सुखरूप होना चाहिए, क्योंकि ग्रीष्म-काल का चन्दन शीत-काल में भी अचन्दन नहीं होता। कुंकुम ( केसर ) का लेप जैसे शीत-काल में सुख-प्रद होता है, वैसे ही निदाघ ( ग्रीष्म ऋतु ) में भी सुखरूप होना चाहिए, क्योंकि केसर कभी अकेसर नहीं होता। उसी प्रकार बबूल आदि के काँटे ऊँट के लिए सुखरूप होते हैं, तो मनुष्य के लिए भी वैसे ही क्यों नहीं होते? काँटे यदि सुखरूप है, तब किसी एक के लिए ही सुखरूप न होकर सबके लिए सुखरूप होगे। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि चन्दन और कुंकुमादि पदार्थ सुखरूप नहीं। वे जाति, काल और अवस्थादि की अपेक्षा से सुख दुःखादि के हेतु होते हैं, स्वयं सुखादिरूप नहीं होते। फलतः सभी पदार्थों में सुख-दुःख और मोह का समन्वय सिद्ध नहीं होता, तब उसके द्वारा त्रिगुणात्मक अव्यक्तरूप कारणतत्त्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। यही भाष्यकार ने कहा है—"शब्दाद्यविशेषेऽपि च भावनाविशेषात् सुखादिविशेषोपलब्धेः"। यहाँ 'भावना' शब्द का अर्थ वासना या संस्कार है, संस्कार-विशेष के द्वारा सुखादि का भान होता है। ऊँट जाति में जन्म देनेवाले कर्म उसके अनुरूप ही पूर्वार्जित संस्कारों को उद्बुद्ध करते हैं, अतः उसे काँटे ही रुचिकर होते हैं। वैसे ही चन्दनादि के द्वारा ग्रीष्मादि समय-विशेष की अपेक्षा सुखादि का समुद्भव होता है।

सांख्याचार्यों के द्वारा प्रयुक्त 'परिमाणात्'—इस हेतु का उपन्यास किया जाता है—"तथा परिमितानां भेदानाम्"। सांख्याचार्यों का आशय यह है कि 'महदादयः संसर्गपूर्वकाः, परिमितत्वात् ( अव्यापित्वात् )'—इस अनुमान के द्वारा सृष्टि के मूल में जो संसर्गतत्त्व सिद्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

कत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां परिमितत्वात्संसर्गपूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः; परिमितत्वाविशेषात्। कार्यकारणभावस्तु प्रेक्षापूर्वकनिर्मितानां शयनासनादीनां दृष्ट इति न कार्यकारणभावाद्बाह्याध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम् ॥ १ ॥

भामती

दान्तालोचनेनानैकान्तिकमिति दूषयति ❀ सत्त्वरजस्तमसाम् इति ❀। यदि तावत्परिमितत्वमियत्ता, सा नभसोऽपि नास्तीत्यव्यापको हेतुः परिमाणादिति। अथ न योजनादिभिरितत्वं परिमाणमियत्तां नभसो ब्रूमः, किन्त्वव्यापितामव्यापि च नभस्तन्मात्रादेः, नहि कार्यं कारणव्यापि, किन्तु कारणं कार्यव्यापीति परिमितं नभस्तन्मात्राद्यव्यापित्वात्। हन्त सत्त्वरजस्तमांस्यपि न परस्परं व्याप्नुवन्ति न च तत्त्वान्तरपूर्वकत्वमेतेषामिति व्यभिचारः। नहि यथा तैः कार्यजातमाविष्टमेवं तानि परस्परं विशन्ति, मिथः कार्यकारणभावाभावात्। परस्परसंसर्गस्त्वावेशश्चितिशक्तौ नास्ति, नहि चितिशक्तिः कूटस्थनित्या तैः संसृज्यते, ततश्च तदव्यापका गुणा इति ते परिमिताः। एवं चितिशक्तिरपि गुणैरसंसृष्टेति सापि परिमितेत्यनैकान्तिकत्वं परिमितत्वस्य हेतोरिति। तथा कार्यकारणविभागोऽपि समन्वयमविरुद्ध इत्याह ❀ कार्यकारणभावस्तु इति ❀ ॥ १ ॥

भामती—व्याख्या

होता है, वह सत्त्व, रज और तमोरूप अनेक पदार्थों में ही घटता है, अद्वितीय ब्रह्म में नहीं, क्योंकि ब्रह्म में नानात्व न होने के कारण नानात्वसमानाधिकरण संसर्ग क्योंकर सम्भव होगा? इस शङ्का का निराकरण करने के लिए सांख्यीय 'परिमितत्व' हेतु को अयुक्त ठहराया जा रहा है—"सत्त्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्वप्रसङ्गः"। अर्थात् सत्त्वादि गुणों में संसर्गपूर्वकत्व नहीं माना जाता, किन्तु परिमितत्व (अव्यापित्व) वहाँ भी रहता है, अतः संसर्गपूर्वकत्व का व्यभिचारी होने के कारण उसका साधक नहीं हो सकता।

**शङ्का**—परिमितत्व का अर्थ क्रोश-योजनादि परिमाणों से परिच्छिन्नत्व न मानकर अव्यापित्व माना जाता है, वह अव्यापित्व आकाश में भी है, क्योंकि कारणतत्त्व अपने कार्यों में व्याप्त होता है, कार्य अपने कारण में व्याप्त नहीं होता, शब्दतन्मात्रा कारण है और आकाश उसका कार्य, अतः शब्दतन्मात्रा में व्याप्त न होने के कारण आकाश भी अव्यापित्वरूप परिमितत्व का आश्रय होता है।

**समाधान** अव्यापित्वरूप परिमितत्व तो सत्त्व, रज और तमोरूप गुणों में भी है, क्योंकि वे परस्पर एक-दूसरे को व्याप्त नहीं करते, इस प्रकार सत्त्वादि में अव्यापित्वरूप परिमितत्व के रहने पर भी संसर्गपूर्वकत्व या तत्त्वान्तरपूर्वकत्व नहीं माना जाता, अतः 'परिमितत्व' हेतु निश्चितरूप से व्यभिचारी है। सत्त्वादि गुण समस्त जगत् के कारण होने से जैसे सर्वत्र व्याप्त माने जाते हैं, वैसे उक्त तीनों गुणों में पारस्परिक कार्य-कारणभाव न होने के कारण परस्पर-व्यापित्व सम्भव नहीं। यदि गुणों के परस्पर-संसर्ग को ही व्यापित्व मान लिया जाता है, तब भी चितिशक्ति (पुरुषतत्त्व) के साथ गुणों का कोई संसर्ग न होने के कारण गुणों में अव्यापित्व जैसा-का-तैसा बना रहता है। चितिशक्ति (पुरुष तत्त्व) में भी हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह कूटस्थ नित्य और कमल पत्र के समान असंसृष्ट हैं, अतः असंसृष्टत्वरूप अव्यापित्व चेतनतत्त्व में भी है, किन्तु तत्त्वान्तरपूर्वकत्व उसमें नहीं। इसी प्रकार कार्य-कारणभाव भी चेतनपूर्वक होने के कारण "कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य"—यह हेतु भी विरुद्ध एवं समन्वय-सिद्धि का विरोधी नहीं ॥ १ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता, सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः। अतः प्रवृत्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति। ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा। सत्यमेतत्,

भामती

न केवलं रचनामेवा न चेतनाधिष्ठानमन्तरेण भवत्यपि तु साम्यावस्थायाः प्रच्युतिर्वैषम्यं, तथा च यदुद्भूतं बलीयस्तदङ्गयभिभूतञ्च तदनुगुणतया स्थितमङ्गम्, एवं हि गुणप्रधानभावे सत्यस्य महदादौ कार्ये प्रवृत्तिः, सापि चेतनाधिष्ठानमेव गमयति, नहि चेतनाधिष्ठानमन्तरेण मृत्पिण्डे प्रधानेऽङ्गभावेन चक्रदण्डसलिलसूत्रादयोऽवतिष्ठन्ते। तस्मात्प्रवृत्तेरपि चेतनाधिष्ठानसिद्धिरिति शक्तितः प्रवृत्तेश्चेत्ययमपि हेतुः सांख्यीयो विरुद्ध एवेत्युक्तं वक्रोक्त्या। अत्र सांख्यश्चोदयति ❀ ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिरिति ❀। अयमभिप्रायः। त्वया किलौपनिषदेनात्मद्वेतून् दूषयित्वा केवलस्य चेतनस्यैवान्यनिरपेक्षस्य जगदुपादानत्वं निमित्तत्वञ्च समर्थनीयम्। तदयुक्तम्, केवलस्य चेतनस्य प्रवृत्तेर्दृष्टान्तधर्मिण्यनुपलब्धेरिति। औपनिषदस्तु चेतनहेतुकां तावदेष सांख्यः प्रवृत्तिमभ्युपगच्छतु पश्चात् स्वपक्षमतएव समाधास्यामीत्यभिसन्धिमानाह ❀ सत्यमेतत्। न केवलस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा इति ❀। सांख्य आह ❀ न त्वचेतनसंयुक्तस्य इति ❀।

भामती–व्याख्या

चेतनानधिष्ठित प्रकृति के द्वारा केवल महदादि कार्यवर्ग की रचना ही अनुपपन्न नहीं, अपितु चेतन तत्त्व से अनुप्राणित हुए विना प्रकृति की अपने कार्यों के निर्माणार्थ प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि प्रलय-काल में प्रकृतिगत तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है और सृष्टि के लिए उनमें वैषम्य ( न्यूनाधिकभाव या समुदय ) आ जाता है [ जैसा कि कहा है—"प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च" ( सां. का. १६ )। इसकी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने ही कहा है—"प्रवृत्यन्तरमाह 'समुदयाच्च"। समेत्य उदयः समुदयः। समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति। न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना। न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावाद् ऋते" ]। आशय यह है कि सर्गारम्भ में उद्भूत ( उत्कृष्ट ) गुण अङ्गी (प्रमुख) और अभिभूत ( अपकृष्ट ) गुण उसका अङ्ग हो जाता है, क्योंकि वह अपने अङ्गी के अनुरूप रहता है—इसी भाव की अभिव्यक्ति "अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणा" ( सां. का. १२ ) यहाँ पर की गई है। यह जो प्रवृत्ति है, वह भी चेतन पुरुष की अधिष्ठीयमानता को सिद्ध करती है, क्योंकि चैतन्याधिष्ठान के विना प्रधानभूत मृत्तिका-पिण्ड के अङ्गभूत चक्र, दण्ड, जल और सूत्रादि अपने-आप उपस्थित या सक्रिय नहीं हो जाते। फलतः कथित प्रवृत्तिरूप हेतु से भी चेतनाधिष्ठान की सिद्धि होने से "शक्तितः प्रवृत्तेश्च" यह सांख्यीय हेतु भी विरुद्ध हेत्वाभास एवं समन्वय के अविरुद्ध है—ऐसा वक्रोक्ति से कहा गया है।

**सांख्य**—सांख्य शङ्का करता है—"ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न इष्टा"। आशय यह है कि आप ( वेदान्ती ) जो हमारे (सांख्यकीय) प्रधान तत्त्व के साधक हेतुओं को दूषित कर केवल (इतर-निरपेक्ष) चेतन तत्त्व को जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण सिद्ध करना चाहते हैं, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता, जहाँ केवल चेतन की प्रवृत्ति देखी जाती हो।

**वेदान्ती**—वेदान्ती ने यह सोचा कि मुझे ऐसा नाटक करना चाहिये कि यह सांख्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथापि चेतनसंयुक्तस्य स्थादेरचेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा, न त्वचेतनसंयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। किं पुनरत्र युक्तम्? यस्मिन्प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सा, उत यत्संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सेति?

ननु यस्मिन्दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सेति युक्तम्, उभयोः प्रत्यक्षत्वात्। नतु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत्प्रत्यक्षः। प्रवृत्त्याश्रयदेहादिसंयुक्तस्यैव तु चेतनस्य सद्भावसिद्धिः—केवलाचेतनरथादिवैलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः

भामती

तुशब्द औपनिषदपक्षं व्यावर्त्तयति। अचेतनाश्रयैव सर्वा प्रवृत्तिर्दृश्यते न तु चेतनाश्रया काचिदपि। तस्मान्न चेतनस्य जगत्सर्जने प्रवृत्तिरित्यर्थः। अत्रौपनिषदो गूढाभिसन्धिः प्रश्नपूर्वकं विमृशति ❀ किं पुनरत्र इति ❀।

अत्रान्तरे सांख्यो ब्रूते। ❀ ननु यस्मिन् इति ❀। न तावच्चेतनः प्रवृत्त्याश्रयतया तत्प्रयोजकतया वा प्रत्यक्षमीक्ष्यते, केवलं प्रवृत्तिस्तदाश्रयश्चाचेतनो देहरथादिः प्रत्यक्षेण प्रतीयते, तत्राचेतनस्य प्रवृत्तिस्तन्निमित्तैव न तु चेतननिमित्ता। सद्भावमात्रं तु तत्र चेतनस्य गम्यते रथादिवैलक्षण्याज्जीवद्देहस्य। न च सद्भावमात्रेण कारणत्वसिद्धिः। मा भूदाकाश उत्पत्तिमतां घटादीनां निमित्तकारणमस्ति हि सर्वत्रेति, तदनेन देहातिरिक्ते सत्यपि चेतने तस्य न प्रवृत्ति प्रति निमित्तभावोऽस्तीत्युक्तम्। यतश्चास्य न प्रवृत्तिहेतुभावोऽस्ति अत एव प्रत्यक्षे देहे सति प्रवृत्तिदर्शनादसति चादर्शनाद् देहस्यैव चैतन्य-

भामती—व्याख्या

पहले प्रवृत्ति को चेतनहेतुक मान ले, पश्चात् मैं अपने मत से वास्तविक समाधान प्रस्तुत करूँगा—ऐसा भाव मन में रखकर वेदान्ती ने कहा—"सत्यमेतत्" अर्थात् यह सत्य है कि केवल चेतन की प्रवृत्ति कहीं नहीं देखी जाती, किन्तु अश्वादि चेतन पदार्थों के सम्बन्ध से ही रथादि जड़ पदार्थों में प्रवृत्ति देखी जाती है।

**सांख्य**—सांख्य कहता है—"न त्वचेतनसंयुक्तस्य"। 'तु' शब्द के द्वारा वेदान्त-सम्मत (चेतन-प्रवृत्ति) पक्ष की व्यावृत्ति की जाती है और यह स्थिर किया जाता है कि सभी प्रवृत्तियों का आश्रय अचेतन पदार्थ ही देखा जाता है, चेतन के आश्रित कोई भी प्रवृत्ति कभी भी नहीं देखी जाती, अतः चेतन तत्त्व की जगत्-सर्जन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

**वेदान्ती**—वेदान्ती कुछ भाव अपने मन में रख कर प्रश्न उठाता है—"किं पुनरत्र युक्तम्?" अर्थात् वह प्रवृत्ति उस (अश्वादि चेतन) पदार्थ की मानी जाय, जिसके संयोग से रथादि में प्रवृत्ति देखी जाती है? अथवा जिस (रथादि अचेतन) में प्रवृत्ति देखी जाती है, वह प्रवृत्ति उसी की मानी जाय?

**सांख्य**—सांख्य तुरन्त बोल उठता है कि निश्चय ही वह प्रवृत्ति उसी की है, जिसमें देखी जाती है, चेतन न तो प्रवृत्ति का आश्रय देख जाता है और न प्रवृत्ति का प्रयोजक। केवल प्रवृत्ति और उसके आश्रयीभूत शरीर तथा रथादि का ही प्रत्यक्ष होता है, अतः अचेतन पदार्थ स्वगत प्रवृत्ति का स्वयं ही निमित्त है, न कि चेतन। चेतन का केवल वहाँ सद्भाव माना जाता है, क्योंकि रथादि की अपेक्षा जीवित देह में स्पष्ट वैलक्षण्य देखा जाता है। चेतन का सद्भाव सिद्ध हो जानेमात्र से उसमें प्रवृत्ति की कारणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आकाश का सर्वत्र सद्भाव होने पर भी सभी उत्पद्यमान घटादि पदार्थों की आकाश में कारणता नहीं मानी जाती। फलतः देहादि से अतिरिक्त चेतन तत्त्व के विद्यमान होने पर भी प्रवृत्ति की निमित्तकारणता उसमें नहीं। जब चेतन में प्रवृत्ति-हेतुता नहीं, तब प्रत्यक्षभूत


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपन्नाः । तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति ।

तदभिधीयते—न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति । भवतु तस्यैव सा । सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः, तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्, यथा काष्ठादिव्यपाश्रयापि दाहप्रकाशलक्षणा विक्रियाऽनुपलभ्यमानापि च केवले ज्वलने ज्वलनादेव भवति, तत्संयोगे दर्शनात्तद्वियोगे चादर्शनात्, तद्वत् । लौकायतिकानामपि चेतन एव देहोऽचेतनानां रथादीनां प्रवर्तको दृष्ट इत्यविप्रतिषिद्धं चेतनस्य प्रवर्तकत्वम् ।

ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेर-

---

भामती

मिति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः, तथा च न चिदात्मनिमित्ता प्रवृत्तिरिति सिद्धम् ।

तस्मान्न रचनायाः प्रवृत्तेर्वा चिदात्मकारणत्वसिद्धिर्जगत इत्यौपनिषदः परिहरति ❀ तदभिधीयते । न ब्रूम इति ❀ । न तावत् प्रत्यक्षानुमानागमसिद्धः शारीरो वा परमात्मा वाऽस्माभिरिहानीं साधनीयः, केवलमस्य प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वं वक्तव्यम् । तत्र मृतशरीरे वा रथादौ वाऽनधिष्ठिते चेतनेन प्रवृत्तेरदर्शनात् तद्विपर्यये च प्रवृत्तिदर्शनादन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेतनहेतुकत्वं प्रवृत्तेर्निश्चीयते, न तु चेतनसद्भावमात्रेण, येनातिप्रसङ्गो भवेत् । भूतचैतनिकानामपि चेतनाधिष्ठानादचेतनानां प्रवृत्तिरित्यत्राविवाद इत्याह ❀ लौकायतिकानामपि इति ❀ ।

स्यादेतत्—देहः स्वयं चेतनः करचरणादिमान् स्वव्यापारेण प्रवर्त्तयतीति युक्तं, न तु तदतिरिक्तः कूटस्थनित्यश्चेतनो व्यापाररहितो ज्ञानैकस्वभावः प्रवृत्त्यभावात् प्रवर्तको युक्त इति चोदयति । ❀ ननु तव इति ❀ ।

---

भामती—व्याख्या

देह के रहने पर प्रवृत्ति का भाव और देह के न होने पर प्रवृत्ति का अभाव देख कर लौकायतिक लोगों ने देह को ही चेतनतत्त्व मान लिया । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रवृत्ति का निमित्त चिदात्मा नहीं होता, अतः चेतनतत्त्व न तो जगत् की रचना का कारण हो सकता है और न रचनार्थ प्रवृत्ति का ।

**वेदान्ती**—वेदान्ती अब अपना मनोनिहित समाधान प्रस्तुत कर रहा है—"तदभिधीयते" । अर्थात् हम ( वेदान्ती ) यहाँ शारीर ( जीव ) या परमात्मा की सिद्धि नहीं करना चाहते, क्योंकि वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमादि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है । केवल प्रवृत्ति के प्रति चेतनगत कारणता विवक्षित है । मृत शरीर और चेतन से अनधिष्ठित रथादि में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती, उसके विपरीत जीवित शरीर और चेतनाधिष्ठित ( अश्वादि से संयुक्त ) रथादि में प्रवृत्ति देखी जाती है—इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति में चेतनहेतुकत्व निश्चित होता है, केवल चेतन के सद्भावमात्र से उसमें कारणता सिद्ध नहीं करते कि आकाशादि में घटादि समस्त जन्य पदार्थों की कारणता का अतिप्रसङ्ग उठाया जाय । पृथिव्यादि भूत-वर्ग को चेतन मानने वालों ( लौकायतिकों ) को भी चेतनाधिष्ठित रथादि अचेतन पदार्थों की प्रवृत्ति में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं, यह भाष्यकार कह रहे हैं—"लौकायतिकानामपि" ।

**शङ्का**—लोक में ऐसा समझा जाता है कि देह चेतन पदार्थ है और करचरणादिमान् मूर्त पदार्थ है, इसमें क्रिया सम्भव है, अतः उसका अपनी क्रिया के द्वारा रथादि में प्रवृत्ति उत्पन्न करना उचित ही है, किन्तु देहादि से अतिरिक्त कूटस्थ नित्य चेतन तत्त्व स्वयं क्रिया-रहित ज्ञानैकस्वभाव है, उसको प्रवर्तक मानना अत्यन्त अयुक्त है, ऐसी शङ्का की जाती है—"ननु तव" ।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्, न; अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः। यथाऽयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति, यथा वा रूपादयो विषयाः स्वयं प्रवृत्तिरहिता अपि चक्षुरादीनां प्रवर्तका भवन्ति, एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। एकत्वात्प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति चेत्, न; अविद्याप्रत्युपस्था-

भामती

परिहरति ॐनायस्कान्तवद्रूपादिवच्च इतिॐ। ॐयथा च रूपादयः इतिॐ। सांख्यानां हि स्वदेशस्था रूपादय इन्द्रियं विकुर्वते, तेन तदिन्द्रियमर्थं प्राप्तमर्थाकारेण परिणमत इति स्थितिः। सम्प्रति चोदकः स्वाभिप्रायमाविष्करोति ॐ एकत्वाद् इति ॐ। येषामचेतनं चेतनं चास्ति तेषामेतद्युज्यते वक्तुम् चेतनाधिष्ठितमचेतनं प्रवर्तत इति, यथा योगिनागीश्वरवादिनाम्। येषां तु चेतनातिरिक्तं नास्त्यद्वैतवादिनां, तेषां प्रवर्त्याभावे कं प्रति प्रवर्तकत्वं चेतनस्येत्यर्थः। परिहरति ॐ नाविद्या इति ॐ। कारण-

भामती—व्याख्या

**समाधान**—उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है "न अयस्कान्तवद् रूपादिवच्च"। अर्थात् जैसे अयस्कान्त मणि (चुम्बक पत्थर) स्वयं निष्क्रिय रह कर लोहे में प्रवृत्ति का जनक हो जाता है एवं रूप, रसादि पदार्थ स्वयं क्रिया-रहित होने पर भी भोक्ता के प्रवर्तक हो जाते हैं, उसी प्रकार असङ्ग आत्मा भी स्वयं अक्रिय रह कर भी अपनी सत्तामात्र से अचेतन में प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। सांख्य-मत में रूपादि बाह्य विषय अपने देश में अवस्थित रह कर चक्षुरादि इन्द्रियों को विकृत करते हैं, अतः इन्द्रियगण अर्थ (विषय) को प्राप्त होकर अर्थाकारेण परिणत हो जाते हैं। [यहाँ कल्पतरुकार ने भामती के 'अर्थाकारेण' पद से 'अर्थविषयज्ञानाकारेण' की विवक्षा करके "आलोचमात्रमिष्यते वृत्तिः" (सां. का. २८) इस प्रमाण-वाक्य के साथ सामञ्जस्य स्थापित किया है, किन्तु यह विचारणीय है कि "व्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यम्" (सां. का. २३) इस कारिका में स्पष्ट कहा गया है कि 'ज्ञान' बुद्धि का धर्म या विकार है। इसके अनुसार आलोचनात्मक ज्ञान भी बुद्धि का ही व्यापार होता है, इन्द्रियों का नहीं। हाँ, वह इन्द्रियनिमित्तक होने के कारण इन्द्रिय का व्यापार कहा जा सकता है। मुख्यतः इन्द्रिय का व्यापार विषय का ग्रहण या प्राप्ति है। यहाँ 'आलोचन' पद का अर्थ भी ग्रहण ही है, जैसा कि युक्तिदीपिकाकार का कहना है—"आलोचनं ग्रहणम्" (युक्ति दी. पृ. १२१)। वहीं 'ग्रहण' शब्द का अर्थ किया गया है—"विषयसम्पर्कात् तादूप्यापत्तिरिन्द्रियवृत्तिर्ग्रहणम्" (युक्तिदी. पृ. १२२)। श्री माठराचार्य ने भी ग्रहण-सामर्थ्य को ही ओलचन माना है। अब वाचस्पतिमिश्र के "इन्द्रियमर्थं प्राप्तमर्थाकारेण परिणमते"—इस वाक्य पर ध्यान दें, कहीं पर भी अर्थान्तर करने की कोई आवश्यकता नहीं। ईश्वरकृष्ण का 'आलोचन' शब्द अवश्य ही भ्रामक है। स्वयं वाचस्पति मिश्र भी सांख्यतत्त्वकौमुदी में 'आलोचन' पद से भाट्टोक्त सम्मुग्ध ज्ञान का ही ग्रहण कर बैठे हैं किन्तु भामती की उक्त पंक्ति के लिखते समय तक सम्भवतः युक्तिदीपिका का ही प्रकाश पाकर उनकी वह पुरानी धारणा बदल जा चुकी थी]।

**शङ्का**—शङ्कावादी अपना अभिप्राय प्रकट कर रहा है—"एकत्वात् प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः"। जिनके मत में अचेतन और चेतनादि समस्त प्रपञ्च है, उनके मत में ऐसा कहना सम्भव है कि चेतन से अधिष्ठित होकर अचेतन पदार्थ कार्यसाधनार्थ प्रवृत्त होता है, जैसे कि ईश्वरवादी योगमतावलम्बी आचार्यगण। किन्तु जिनके मत में एकमात्र चेतनतत्त्व (ब्रह्म) से अतिरिक्त अचेतन पदार्थ कुछ है ही नहीं, ऐसे अद्वैतवादियों के मत में जब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे, न त्वचेतनकारणत्वे ॥ २ ॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

स्यादेतत्—यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकापकाराय स्यन्दते; एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति। नैतत्साधूच्यते, यतस्तत्रापि पयोऽम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे, उभयवादिप्रसिद्धे रथादावचेतने केवले प्रवृत्त्यदर्शनात्। शास्त्रं च 'योऽप्सु तिष्ठन् योऽपोऽन्तरो यमयति' (बृ० ३।७।४) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृ० ३।८।७) इत्येवंजातीयकं समस्तस्य

---

भामती

भूतया लयलक्षणयाऽविद्यया प्राक्सर्गोपचितेन च विक्षेपसंस्कारेण यत् प्रत्युपस्थापितं नाम रूपं तदेव माया, तदावेशेनास्य चोद्यस्यासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। एतदुक्तं भवति—नेयं सृष्टिर्वस्तुसती येनाद्वैतिनो वस्तुसतो द्वितीयस्याभावादनुयुज्येत ? काल्पनिक्यां तु सृष्टावस्ति काल्पनिकं द्वितीयं सहायं मायामयम्। यथाहुः—'सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता' इति। न चैवं ब्रह्मोपादानत्वव्याघातः, ब्रह्मण एव मायावेशेनोपादानत्वात्तदधिष्ठानत्वाज्जगद्विभ्रमस्य रजतविभ्रमस्येव शुक्तिकाधिष्ठानस्य शुक्तिकोपादानत्वमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

यथा पयोऽम्बुनोश्चेतनानधिष्ठितयोः स्वत एव प्रवृत्तिरेवं प्रधानस्यापीति शङ्कार्थः। तत्रापि चेतनाधिष्ठितत्वं साध्यं, न च साध्येनैव व्यभिचारः, तथा सत्यनुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्गात्, सर्वत्रास्य सुलभत्वात्। न चासाध्यम्, अत्रापि चेतनाधिष्ठानस्यागमसिद्धत्वात्। न च सपक्षेण व्यभिचार इति शङ्का-

---

भामती—व्याख्या

अचेतनरूप प्रवर्तनीय पदार्थ है ही नहीं, तब चेतन में किसकी प्रवर्तकता कही जाती है ?

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—"न, अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेन"। पूर्वोक्त कारणीभूत लयात्मक अविद्या के द्वारा पूर्वतन सृष्टि-जनित विक्षेप-संस्कारों की सहायता से उत्पादित जो नाम-रूपसंज्ञक माया है, उसका चेतन के साथ सम्पर्क ही चेतनगत प्रवर्तकत्व का निर्वाहक होता है—इस प्रकार उक्त शङ्का का प्रतिवाद कई बार किया जा चुका है। सारांश यह है कि यह सृष्टि कोई वस्तुसत् तो है नहीं कि वस्तुसत् द्वितीय पदार्थ का अभाव दिखा कर उक्त शङ्का उठाई जाती। काल्पनिक सृष्टि में तो काल्पनिक सहायक मायापदार्थ है ही, जैसा कि प्रसिद्ध कहावत है—"सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता" (यादृशी शीतला देवी, दृशं खरवाहनम्)। मायामय द्वैत की कल्पना से ब्रह्मगत जगदुपादानत्व पर किसी प्रकार व्याघात नहीं आता, क्योंकि माया के आवेश (सम्बन्ध) से ब्रह्म में जगद्रूप विभ्रम की अधिष्ठातृता वैसे ही उपपन्न हो जाती है, जैसे रजत-भ्रम की अधिष्ठानता और उपादानता शुक्ति में होती है ॥ २ ॥

सूत्र के 'पयोऽम्बुवत्'—इस वाक्य के द्वारा सांख्य ने पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है, उसका तात्पर्य यह है कि जैसे चेतन के द्वारा अनधिष्ठित होकर भी पय (दूध) और अम्बु (जल) अपने-आप प्रवृत्त हो जाते हैं कि गौ के नोचे बछड़ा आते ही दूध गौ के स्तनों में उतर आता है और जल अपने-आप लोकोपकार के लिए नदियों के रूप में भागता रहता है। वैसे ही प्रधान की प्रवृत्ति भी चेतनान्तर की प्रेरणा के विना ही हो जायगी, अतः 'अचेतनं चेतनाधिष्ठितमेव प्रवर्तते, अचेतनत्वात्, मृदादिवत्'—यह अनुमान दुग्धादि में व्यभिचरित है।

"तत्रापि"—इस सूत्रांश के द्वारा जो समाधान किया गया, उसका आशय यह है

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri

लोकपरिस्पन्दितस्येश्वराधिष्ठिततां श्रावयति । तस्मात्साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्पयोऽम्बुवदित्यनुपन्यासः, चेतनायाश्च धेन्वाः स्नेहेच्छया पयसः प्रवर्तकत्वोपपत्तेः, वत्सचोषणेन च पयस आकृष्यमाणत्वात्। न चाम्बुनोऽप्यत्यन्तमनपेक्षा, निम्नभूम्याद्यपेक्षत्वात्स्यन्दनस्य । चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम् —'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इत्यत्र तु बाह्यनिमित्तनिरपेक्षमपि स्वाश्रयं कार्यं भवतीत्येतल्लोकदृष्ट्या निदर्शितम् । शास्त्रदृष्ट्या तु पुनः सर्वत्रैवेश्वरापेक्षत्वमापद्यमानं न पराणुद्यते ॥ ३ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

सांख्यानां त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम् , ननु तद्व्यतिरेकेण प्रधा-

भामती

निराकरणस्यार्थः । साध्यपक्षेत्युपलक्षणं सपक्षनिक्षिप्तत्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । ननूपसंहारदर्शनादित्यत्रानपेक्षस्य प्रवृत्तिर्दर्शिता, इह तु सर्वस्य चेतनापेक्षा प्रवृत्तिः प्रतिपाद्यत इति कुतो न विरोध इत्यत आह ❀ उपसंहारदर्शनाद् इति ❀ । स्थूलदर्शिलोकाभिप्रायानुरोधेन तदुक्तं न तु परमार्थत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

यद्यपि सांख्यानामपि विचित्रकर्मवासनावासितं प्रधानं साम्यावस्थायामपि तथापि न कर्मवासनाः

भामती—व्याख्या

कि दुग्धादि में भी यदि चेतनाधिष्ठितत्व साधनीय है, तब वह पक्ष ही है और यदि वहाँ भी चेतनाधिष्ठितत्व आगम-सिद्ध है, तब वह सपक्ष हो जाता है, पक्ष और सपक्ष में व्यभिचार नहीं दिया जा सकता—"पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारो न दोषभाक्" । पक्ष में व्यभिचार को यदि दोष (व्याप्ति-प्रतिबंधक) माना जाता है, तब अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि प्रायः सर्वत्र ही पक्ष में हेतु का निश्चय होने पर भी साध्य का निश्चय नहीं होता । भाष्यकार ने जो कहा है—"साध्यपक्षनिक्षिप्तत्वात्", वहाँ 'साध्य' पद सपक्ष का भी उपलक्षक है [न्याय की प्राचीन भाषा में पक्ष को ही 'साध्य' कहा जाता था, क्योंकि पर्वतादि पदार्थ पर्वतत्वेन सिद्ध होने पर भी वह्निमत्त्वेन साध्य ( साधनीय ) होते हैं । दुग्ध और जलादि भी चेतनाधिष्ठितप्रवृत्तिमत्त्वेन साध्य होने के कारण पक्ष ( पक्ष-सम या पक्ष-कोटि के अन्तर्गत ) हैं । यदि उनमें चेतनाधिष्ठित प्रवृत्ति आगम से सिद्ध मानी जाती है, तब वे सपक्ष हैं, उनका उभयथा संग्रह 'साध्य' पद को उपलक्षक मानकर ही होता है ] ।

शङ्का—पहले "उपसंहारदर्शनात्" ( ब्रह्म. सू. २।१।२४ ) इस सूत्र में कहा गया है कि जैसे दुग्धादि पदार्थ इतर-निरपेक्ष होकर स्वयं ही दधिरूप में परिणत होते हैं, वैसे इतर सामग्री-निरपेक्ष ब्रह्म विचित्र जगत् का कारण हो जाता है । किन्तु अब कहा जा रहा है कि क्षीरादि पदार्थ इतर-निरपेक्ष होकर प्रवृत्त हो ही नहीं सकते, अतः यह सूत्रकार का विरुद्धाभिधान क्यों न माना जाय ?

**समाधान**—उपसंहाराधिकरण में जो इतर-निरपेक्ष क्षीरादि की प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया गया, वह केवल स्थूलदर्शी साधारण पुरुषों की दृष्टि से ही कहा गया, परमार्थतः नहीं और यहाँ जो कहा है, वह पारमार्थिक दृष्टि से चेतन-सापेक्ष अचेतन की प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है ॥ ३ ॥

[ सांख्याचार्य दो ही मौलिक पदार्थ मानते हैं—(१) पुरुष और (२) प्रधान (प्रकृति) । पुरुष सर्वथा निष्क्रिय और असङ्ग है, अतः प्रधान का प्रवर्तक या नियामक नहीं हो सकता । प्रधानतत्त्व सत्त्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्थामात्र अचेतन पदार्थ है, उससे व्यतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व अवस्थित नहीं, अतः युक्तिदीपिकाकार ने जो कहा है—"द्विधा हि क्रिया, (१) प्रस्यन्दलक्षणा, (२) परिणामलक्षणा च । तत्र प्रस्यन्दः प्रधानस्य सौक्ष्म्यात् प्रतिषिध्यते,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति । पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम् , अनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ॥ ४ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

स्यादेतत्—यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीरा-

भामती

सर्गं ऐक्षते, किन्तु प्रधानमेव स्वकार्ये प्रवर्त्तमानमधर्मप्रतिबद्धं सत्न सुखमयीं सृष्टिं कर्तुमुत्सहत इति धर्मेणाधर्मप्रतिबन्धोऽपनीयते । एवमधर्मेण धर्मप्रतिबन्धोऽपनीयते दुःखमय्यां सृष्टौ । स्वयमेव च प्रधानमनपेक्ष्य सृष्टौ प्रवर्त्तते । यथाहुः—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' इति । ततश्च प्रतिबन्धकापनयसाधने धर्माधर्मवासने अपि सन्निहिते इत्यागन्तोरपेक्षणीयस्याभावात् सदैव साम्येन परिणमेत वैषम्येण वा, न त्वयं कादाचित्कः परिणामभेद उपपद्येत । ईश्वरस्य तु महामायस्य चेतनस्य लीलया वा यदृच्छया वा स्वभाववैचित्र्याद्वा कर्मपरिपाकापेक्षस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती उपपद्येते एवेति ॥ ४ ॥

धेनूपयुक्तं हि तृणपल्लवादि यथा स्वभावत एव चेतनानपेक्षं क्षीरभावेन परिणमते न तु तत्र

भामती—व्याख्या

परिणामस्तु तत्कार्यमारभते" ( यु. दी. पृ. ९० ), उसके अनुसार यदि परिणामात्मिका क्रिया प्रधानतत्त्व में स्वतः मान भी ली जाय, तब भी उसका नियन्त्रण कौन करेगा ? नियन्त्रण-रहित प्रधान बिना मुहार का ऊँट चल पड़ा तो चलता ही जायगा और बैठ गया तो बैठा ही रहेगा ]। यद्यपि सांख्य-मत में साम्यावस्थापन्न प्रधान तत्त्व प्राणियों की कर्म-जनित वासनाओं ( संस्कारों ) से अधिवासित रहता है, क्योंकि प्रलयावस्था में भी सूक्ष्म शरीरों के लिए कहा गया है—'भावैरधिवासितम्" ( सां. का. ४० )। वहाँ 'भाव' शब्द से धर्मादि का ग्रहण किया गया है। फलतः कर्म-जनित धर्मादिरूप वासनाओं को प्रधान का नियामक माना जा सकता है। तथापि अन्य सांख्याचार्य ही कर्म-जनित वासनाओं को प्रधान का प्रवर्तक नहीं मानते, जैसा कि युक्तिदीपिकाकार ने कहा है "येऽपि च सांख्या एवमाहुः—'धर्माधर्माधिकारवशात् प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति' तेषामन्यतरपरिकल्पनानर्थक्यम्" ( यु. दी. पृ. १६४ )। फलतः सृष्टि का कारण केवल प्रधानतत्त्व ही माना जाता है, किन्तु अधर्मरूप प्रतिबन्धक के रहने पर प्रधानतत्त्व सुखमयी सृष्टि नहीं कर सकता, अधर्मरूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति धर्म से होती है और अधर्म के द्वारा धर्मरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है। प्रधानतत्त्व धर्मादि से निरपेक्ष होकर सृष्टि करने में प्रवृत्त होता है, जैसा कि योगसूत्रकार ने कहा है—"निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु क्षेत्रिकवत्" ( यो. सू. ४।३ ) अर्थात् धर्मादिरूप निमित्त प्रकृति के प्रयोजक ( प्रेरक ) नहीं होते, केवल वरण ( प्रतिबन्धक ) का भेद ( विनाश ) धर्माधिरूप निमित्त से होता है। धर्माधर्म-वासनाएँ भी सदैव सन्निहित हैं, अन्य कोई आगन्तुक पदार्थ नियन्त्रक है नहीं, अतः प्रतिबन्धक-रहित प्रधानतत्त्व स्वतंत्र होकर सदैव समया विषम सृष्टि करता ही रहेगा, उसकी कादाचित्क प्रवृत्ति सांख्यमतानुसार सम्भव नहीं। वेदान्त-मत में तो ईश्वर चेतनतत्त्व एवं मायाशक्ति से युक्त है, प्राणियों के कर्म-परिपाक के अनुरोध पर ईश्वर की यदृच्छा या स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति उपपन्न हो जाती है। यह कहा जा चुका है कि वह ईश्वर की लीलामात्र है ॥ ४ ॥

शङ्का—जैसे गौ-द्वारा खाए गए उदरगत घास-पत्ते अपने-आप दुग्धरूप में परिणत हो जाते हैं, गौ के शरीर की अपेक्षा उन्हें केवल उपयोग के लिए ही होती है, दुग्ध-परिणति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्याकारेण परिणमते, एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति। कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षं तृणादीति गम्यते ? निमित्तान्तरानुपलम्भात्। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि, ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि नतु संपादयामहे। तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामः, तथा प्रधानस्यापि स्यादिति।

अत्रोच्यते—भवेत्तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्यापि परिणामः, यदि तृणादेरपि स्वाभाविकः परिणामोऽभ्युपगम्येत, न त्वभ्युपगम्यते, निमित्तान्तरोपलब्धेः। कथं निमित्तान्तरोपलब्धिः ? अन्यत्राभावात्। धेन्वैव ह्युपयुक्तं तृणादि क्षीरीभवति न प्रहीणमनड्वाद्युपयुक्तं वा। यदि हि निर्निमित्तमेतत्स्याद्धेनुशरीरसंबन्धादन्यत्रापि तृणादि क्षीरीभवेत्। नच यथाकामं मानुषैर्न शक्यं संपादयितुमित्येतावता निर्निमित्तं भवति। भवति हि किंचित्कार्यं मानुषसंपाद्यं किञ्चिद्दैवसंपाद्यम्। मनुष्या अपि शक्नुवन्त्येवोचितेनोपायेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयितुम्। प्रभूतं हि क्षीरं कामयमानाः प्रभूतं घासं धेनुं चारयन्ति। ततश्च प्रभूतं क्षीरं लभन्ते। तस्मान्न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः ॥ ५ ॥

## अन्यथानुमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न भवतीति स्थापितम्। तथापि नाम भवतः श्रद्धामनुरुध्यमानाः स्वाभाविकीमेव प्रधानस्य प्रवृत्तिमभ्युपगच्छेम, तथापि दोषोऽनुषज्येतैव। कुतः ? अर्थाभावात्। यदि तावत्स्वाभाविकी प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्येत ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते-इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितुं प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स यदि ब्रूयात्-सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति, तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं

भामती

धेनुचैतन्यमपेक्ष्यते, उपयोगमात्रे तवपेक्षत्वात्। एवं प्रधानमपि स्वभावत एव परिणंस्यते कृतमत्र चेतनेनेति शङ्कार्थः। धेनूपयुक्तस्य तृणादेः क्षीरभावे किं निमित्तान्तरमात्रं निषिध्यते, उत चेतनम् ? न तावन्निमित्तान्तरम्। धेनुदेहस्थस्यौदर्य्यस्य वह्न्यादिभेदस्य निमित्तान्तरस्य सम्भवाद् बुद्धिपूर्वकारी तु तत्रापि ईश्वर एव सर्वज्ञः सम्भवतीति शङ्कानिराकरणस्यार्थः। तदिदमुक्तं ❀ किञ्चिद् दैवसम्पाद्यम् इति ❀ ॥ ५ ॥

पुरुषार्थापेक्षाभावप्रसङ्गात्। तदिदमुक्तम् ❀ एवं प्रयोजनमपि किञ्चिन्नापेक्षिष्यते इति ❀। अथवा पुरुषार्थाभावादिति योज्यम्। तदिदमुक्तं ❀ तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजन विवेक्तव्यम् इति ❀। न

भामती—व्याख्या

में शरीर या चेतन की नहीं। वैसे ही प्रधानतत्त्व भी किसी चेतन की अपेक्षा किए विना ही महदादि के रूप में परिणत क्यों न हो सकेगा ?

समाधान—गौ के द्वारा खाया गया घास-फूस जो दुग्धरूप में परिणत होता है, उसके निमित्तकारणमात्र का निषेध किया जाता है ? अथवा केवल चेतनरूप निमित्त का ? निमित्तमात्र का निषेध सम्भव नहीं, क्योंकि गौ के शरीर में अवस्थित विशेष जाठराग्नि को उसका निमित्त मानना ही पड़ता है, अन्यथा बैल के शरीर में भी जाकर उस घास-फूस को दुग्धरूप में परिणत हो जाना चाहिए। इसी प्रकार कार्यमात्र के प्रति साधारण कारणीभूत चेतन की अपेक्षा भी अनिवार्य है। भाष्यकार ने यही कहा है—"किञ्चिद् दैवसम्पाद्यम्" ॥५॥

सूत्रस्थ 'अर्थाभावात्'—इस शब्द का अर्थ है—'पुरुषार्थाभावप्रसङ्गात्'। इसी आशय को मन में रख कर भाष्यकार कहते हैं—"एवं प्रयोजनमपि किञ्चिन्नापेक्षिष्यते"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवेक्तव्यं भोगो वा स्यादपवर्गो वोभयं वेति। भोगश्चेत्कीदृशः अनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत्? अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। अपवर्गश्चेत्प्रागपि प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात्प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात्। शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च। उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। न चौत्सुक्यनिवृत्यर्था प्रवृत्तिः। नहि प्रधानस्याचेतनस्यौत्सुक्यं संभवति। नच पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम्।

भामती

केवलं तात्त्विको भोगोऽनाधेयातिशयस्य कूटस्थनित्यस्य पुरुषस्य न सम्भवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। येन हि प्रयोजनेन प्रधानं प्रवर्त्तितं तदनेन कर्त्तव्यं, भोगेन चैतत्प्रवर्त्तितमिति तमेव कुर्य्यान्न मोक्षं, तेनाप्रवर्त्तितत्वादित्यर्थः। ❀ अपवर्गश्चेत् प्रागपि इति ❀। चितेः सदा विशुद्धत्वान्नैतस्यां जातु कर्मानुभववासनाः सन्ति। प्रधानन्तु तासामनादीनामाधारस्तथा च प्रधानप्रवृत्तेः प्राक् चितिर्मुक्तैवेति नापवर्गार्थमपि तत्प्रवृत्तिरिति। शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च, तदर्थमप्रवृत्तत्वात् प्रधानस्य। ❀ उभयार्थताभ्युपगमेऽपि इति ❀। न तावदपवर्गः साध्यस्तस्य प्रधानाप्रवृत्तिमात्रेण सिद्धत्वात्। भोगार्थं तु प्रवर्त्तेत। भोगस्य च सकृच्छब्दाद्युपलब्धिमात्रादेव समाप्तत्वान्न तदर्थं पुनः प्रधानं प्रवर्त्तेतेत्ययत्नसाध्यो मोक्षः स्यात्। निःशेषशब्दाद्युपभोगस्य चानन्त्येन समाप्तेरनुपपत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः। कृतभोगमपि प्रधानमासत्त्वपुरुषान्यताख्यातेः क्रियासमभिहारेण भोजयतीति चेत्, अथ पुरुषार्थाय प्रवृत्तं किमर्थं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिं करोति। अपवर्गार्थमिति चेत्, हन्तायं सकृच्छब्दाद्युपभोगेन कृतप्रयोजनस्य प्रधानस्य निवृत्तिमात्रादेव

भामती—व्याख्या

अथवा 'अर्थाभावात्' का अर्थ है—'पुरुषार्थासम्भवात्'। अत एव भाष्यकार विकल्पपूर्वक पुरुषार्थ-प्राप्ति का निरास करते हैं—"तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यम्"। पुरुषतत्त्व कूटस्थनित्य असङ्गतत्त्व है, अतः उसको तात्त्विक भोग-प्रदान नहीं कराया जा सकता। इतना ही नहीं, अपितु प्रकृति यदि पुरुष को उपभोग ही देती रहेगी, तब मोक्ष-लाभ कब और क्योंकर होगा? अर्थात् भोग और अपवर्ग में से जिसके निमित्त से प्रधान की प्रवृत्ति होगी, उसी की उत्पत्ति प्रधान के द्वारा करनी होगी—भोगनिमित्तक यदि प्रवृत्ति है, तब प्रकृति पुरुष को भोग ही देगी, मोक्ष नहीं, क्योंकि मोक्षनिमित्तक उसकी प्रवृत्ति ही नहीं है। "अपवर्गमपि"—इस भाष्य का आशय यह है कि चितिशक्ति (पुरुषतत्त्व) के तो सदा विशुद्ध होने के कारण उसमें कर्म और अनुभव से जनित वासनाएँ (संस्कार) नहीं रह सकतीं और प्रधानतत्त्व तो उन वासनाओं का आधार माना नहीं जाता, अतः प्रधान की प्रवृत्ति से पहले भी चेतन पुरुष मुक्त ही है, तब मोक्षार्थ प्रवृत्ति भी सम्भव क्योंकर होगी? "शब्दाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गश्च" अर्थात् जब प्रधान की शब्दादि की उपलब्धि के निमित्त प्रवृत्ति ही नहीं, तब शब्दादि की उपलब्धि क्योंकर होगी? "उभयार्थताभ्युपगमेऽपि"—इस भाष्य का सारांश यह है कि अपवर्ग को साध्य इसलिए नहीं बनाया जा सकता कि वह प्रधान की प्रवृत्ति से पहले ही सिद्ध है। भोग के लिए भी पुनः-पुनः प्रवृत्त होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो एक बार की प्रवृत्ति से ही सिद्ध हो जाता है। पुनः प्रधान की भोगार्थ प्रवृत्ति न होने पर मोक्ष की सिद्धि अपने-आप विना यत्न के ही हो जाती है। यदि एकबार की प्रवृत्ति से कतिपय शब्दादि का ही उपभोग होता है, समस्त विषयों का नहीं, अतः निःशेष विषयोपभोगार्थ पुनः प्रवृत्ति मानी जाय, तब तो मोक्ष-लाभ कभी भी न होगा, क्योंकि शेष शब्दादि अनन्त हैं, उनके उपभोग की समाप्ति कभी सम्भव नहीं, भोग समाप्त हुए विना मोक्ष-लाभ क्योंकर होगा? यदि कहा जाय कि प्रकृति केवल एक बार ही पुरुष को उपभोग नहीं देती, अपितु तब तक बार-बार उपभोग देती रहती है, जब तक सत्त्व और पुरुष की अन्यता-ख्याति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृक्शक्तिसर्गशक्तिवैयर्थ्यभयाच्चेत्प्रवृत्तिस्तर्हि दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्सर्गशक्त्यनुच्छेदात् ।

भामती

सिध्यतीति कृतं सत्त्वान्यताख्यातिप्रतीक्षणेन । न चास्याः स्वरूपतः पुरुषार्थत्वम् । तस्मादुभयार्थमपि न प्रधानस्य प्रवृत्तिरुपपद्यत इति सिद्धोऽर्थाभावः । सुगममितरत् ।

शङ्कते ❀ दृक्शक्तिरिति ❀ । पुरुषो हि दृक्शक्तिः, सा च दृश्यमन्तरेणानर्थिका स्यात् । न च स्वात्मन्यर्थवती, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । प्रधानञ्च सर्गशक्तिः, सा च सर्जनीयमन्तरेणानर्थिका स्यादिति यत् प्रधानेन शब्दादि सृज्यते, तदेव दृक्शक्तेर्दृश्यं भवतीति तदुभयार्थवत्त्वाय सर्जनमिति शङ्कार्थः ।

निराकरोति ❀ सर्गशक्त्यनुच्छेदवद् इति ❀ । यथा हि प्रधानस्य सर्गशक्तिरेकं पुरुषं प्रति चरितार्थापि पुरुषान्तरं प्रति प्रवर्त्ततेऽनुच्छेदात् । एवं दृक्शक्तिरपि तं पुरुषं प्रत्यर्थवत्त्वायानुच्छेदात्सर्वदा

भामती—व्याख्या

( विवेक-ज्ञान ) नहीं करा देती । तो ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि जो प्रकृति भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ के निमित्त ही प्रवृत्त हुई है, वह सत्त्व और पुरुष के विवेक-ज्ञान को क्यों जन्म देगी ? यदि कहें कि अपवर्ग की प्राप्ति कराने के लिए प्रकृति उक्त विवेक-ज्ञान को उत्पन्न करती है, तब बड़े खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि एक बार भोग देकर चरितार्थ हुए प्रधानतत्त्व की निवृत्तिमात्र से ही जब मोक्ष की सिद्धि हो जाती है, तब सत्त्व-पुरुष के विवेकज्ञान की प्रतीक्षा व्यर्थ है । उक्त विवेक-ख्याति स्वरूपतः पुरुषार्थ मानी नहीं जाती, अपितु मोक्षरूप पुरुषार्थ को उत्पन्न करने के लिए ही वह उपादेय मानी गई है, उसके विना ही जब मोक्ष की सिद्धि हो जाती है, तब उसकी क्या आवश्यकता ? इससे यह पर्यवसित होता है कि भोग और मोक्ष—इन दोनों के लिए भी प्रधान की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती, अतः सूत्रोक्त अर्थाभाव सिद्ध हो जाता है । शेष भाष्य अति सुगम है ।

**शङ्का**—'दृक्शक्ति' शब्द का अर्थ पुरुषतत्त्व या द्रष्टा है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" (यो. सू. २।६) । इस सूत्र में भाष्यकार ने कहा है—"पुरुषो दृक्शक्तिः" । द्रष्टा पुरुष की सार्थकता दृश्यवर्ग ( जगत् ) के प्रकाशन में ही है, दृश्य के विना वह निरर्थक है । दृक्शक्ति स्वयं अपने को प्रकाशित नहीं कर सकती, क्योंकि किसी भी कर्त्ता की क्रिया का कर्म स्वयं कर्त्ता नहीं होता [ अन्यथा 'देवदत्तो वृक्षमारोहति' के समान 'देवदत्तः स्वमारोहति'—ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा—ऐसा कई बार कहा जा चुका है ] ।

इसी प्रकार प्रधानतत्त्व को सर्ग-शक्ति या स्रष्टा कहा जाता है । स्रष्टा की भी सर्जनीय ( जगत् ) के विना सार्थकता नहीं, प्रधानतत्त्व के द्वारा जो शब्दादि प्रपञ्च रचा जाता है, वही दृक्शक्ति का दृश्य होता है, अतः पुरुष और प्रकृति—इन दोनों की सार्थकता अन्यथानुपपन्न होकर सर्जन की कल्पिका होती है ।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए कहा गया है—"सर्गशक्त्यनुच्छेदवत्" । [ भाष्य में 'दृक्शक्त्यनुच्छेदवत्'—ऐसा पाठ है, किन्तु श्री वाचस्पतिमिश्र को सम्भवतः 'सर्गशक्त्यनुच्छेदवत्'—ऐसा पाठ मिला होगा । श्रीकल्पतरुकार ने भी लिखा है—"दृक्शक्त्यनुच्छेदवदिति इदानीं भाष्यपाठो दृश्यते, निबन्धे तु सर्गशक्त्यनुच्छेदवदिति पाठं दृष्ट्वा व्याचष्टे—सर्गेति" ] । जैसे प्रधानतत्त्व की सर्जन-शक्ति एक पुरुष के प्रति चरितार्थ ( समाप्त ) होने पर भी अन्य पुरुष के प्रति अक्षुण्ण रहती है, जैसा कि कहा है—"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टम्, तदन्यसाधारणत्वात्" ( यो. सू. २।२२ ) । इसी प्रकार दृक्शक्ति भी उस पुरुष के प्रति सार्थकता बनाए रखने के लिए अनुच्छिन्न रहती है । फलतः दोनों की सतत


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसारानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव। तस्मात्प्रधानस्य पुरुषार्था प्रवृत्तिरित्येतदयुक्तम्॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

स्यादेतत्—यथा कश्चित्पुरुषो दृक्शक्तिसंपन्नः प्रवृत्तिशक्तिविहीनः पङ्गुरपरं पुरुषं प्रवृत्तिशक्तिसंपन्नं दृक्शक्तिविहीनमन्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति। यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा स्वयमप्रवर्तमानोऽप्ययः प्रवर्तयति। एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयिष्यतीति दृष्टान्तप्रत्ययेन पुनः प्रत्यवस्थानम्। अत्रोच्यते—तथापि नैव दोषान्निर्मोक्षोऽस्ति। अभ्युपेतहानं तावद्दोष आपतति, प्रधानस्य स्वतन्त्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्? पङ्गुरपि ह्यन्धं वागादिभिः पुरुषं प्रवर्तयति। नैवं पुरुषस्य कश्चिदपि प्रवर्तनव्यापारोऽस्ति, निष्क्रियत्वान्निर्गुणत्वाच्च। नाप्ययस्कान्तवत्संनिधिमात्रेण प्रवर्तयेत्, संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गात्। अयस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधेरस्ति स्वव्यापारः संनिधिः, परिमार्जनाद्यपेक्षा चास्यास्तीत्यनुपन्यासः पुरुषाश्मवदिति। तथा प्रधानस्याचैतन्यात्पुरुषस्य चौदासीन्यात्तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात्संबन्धानुपपत्तिः। योग्यतानिमित्ते च संबन्धे योग्यत्वानुच्छेदादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः। परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यम्, मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वमित्यस्त्यतिशयः ॥ ७ ॥

भामती

प्रवर्त्तेतेत्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः। सकृद् दृश्यदर्शनेन वा चरितार्थत्वे न भूयः प्रवर्त्तेतेति सर्वेषामेकपदे निर्मोक्षः प्रसज्येतेति सहसा संसारः समुच्छिद्येतेति ॥ ६ ॥

"पुरुषाश्मवदितिचेत्तथापि" नैव दोषात् प्रच्युतिरिति शेषः। मा भूत्पुरुषार्थस्य शक्त्यर्थवत्त्वस्य वा प्रवर्त्तकत्वं पुरुष एव दृक्शक्तिसम्पन्नः पङ्गुरिव प्रवृत्तिशक्तिसम्पन्नं प्रधानमन्धमिव प्रवर्त्तयिष्यतीति शङ्का। दोषादनिर्मोक्षमाह ❀ अभ्युपेतहानं तावद् इति ❀। न केवलमभ्युपेतहानम्, अयुक्तं चैतद्धि-वदृशंनालोचनेनेत्याह ❀ कथं चोदासीन इति ❀। निष्क्रियत्वे साधनं ❀ निर्गुणत्वाद् इति ❀। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ७ ॥

भामती—व्याख्या

प्रवृत्ति रहने के कारण अनिर्मोक्षता का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है अथवा एक बार दृश्य का दर्शन कर लेनेमात्र से चरितार्थ होकर दृक्शक्ति पुनः प्रवृत्त नहीं होगी, अतः सभी पुरुषों को एक काल में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी, सहसा संसार का समुच्छेद हो जायगा ॥ ६ ॥

"पुरुषाश्मवदिति चेत्, तथापि"—इस सूत्र के साथ "नैव दोषात्प्रच्युतिः"—ऐसा वाक्य-शेष जोड़ लेना चाहिए। सारांश यह है कि दृक्शक्ति और सर्गशक्ति की अर्थवत्ता को जो प्रवर्तक माना गया, वह भी यदि न माना जाय, तब भी दृक्शक्ति-सम्पन्न पुरुष ही क्रिया शक्ति-सम्पन्न प्रधानतत्त्व का वैसे ही प्रवर्तक हो सकता है, जैसे एक पङ्गु पुरुष अन्धव्यक्ति के कन्धे पर बैठकर उसको यथेष्ट मार्ग पर चलाता है, जैसा कि साख्याचार्य कहते हैं—"पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः" ( सां. का. २१ )। शङ्कावादी का यह कथन भी निर्दोष नहीं, ऐसा सिद्धान्ती कहता है—"अभ्युपेतहानं तावद् दोष आपतति"। [ सांख्य ने जब पुरुष को असङ्ग और अप्रवर्तक माना है। इसी प्रकार प्रधान की स्वतन्त्र प्रवृत्ति मानी है, तब उसके विरुद्ध पङ्गु पुरुष के समान पुरुषतत्त्व को प्रधान का प्रवर्तक क्योंकर माना जा सकता है? ] केवल अभ्युपेत-हानि ही दोष नहीं, अपितु असंगति दोष भी है—"कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्?" पुरुष की निष्क्रियता का हेतु है—"निर्गुणत्वात्"। शेष भाष्य स्पष्टार्थक है ॥ ७ ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

इतश्च न प्रधानस्य प्रवृत्तिरवकल्पते । यद्धि सत्त्वरजस्तमसामन्योन्यगुणप्रधानभावमुत्सृज्य साम्येन स्वरूपमात्रेणावस्थानं सा प्रधानावस्था । तस्यामवस्थायां मनपेक्षुस्वरूपाणां स्वरूपप्रणाशभयात्परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः बाह्यस्य च कस्यचित्क्षोभयितुरभावाद् गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात् ॥ ८ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

अथापि स्यादन्यथा वयमनुमिमीमहे–यथा नायमनन्तरो दोषः प्रसज्येत । न ह्यनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्चास्माभिर्गुणा अभ्युपगम्यन्ते, प्रमाणाभावात् । कार्यवशेन तु गुणानां स्वभावोऽभ्युपगम्यते । यथा यथा कार्योत्पाद उपपद्यते तथा तथैषां स्वभावोऽभ्युपगम्यते । चलं गुणवृत्तमिति चास्त्यभ्युपगमः । तस्मात्साम्यावस्थायामपि वैषम्योपगमयोग्या एव गुणा अवतिष्ठन्त इति । एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद्रचनानुपपत्त्यादयः पूर्वोक्ता दोषास्तदवस्था एव । ज्ञशक्तिमपि त्वनुमिमानः प्रतिवादित्वान्निवर्तेत । चेतनमेकमनेकप्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवादप्रसङ्गात् ।

भामती

यदि प्रधानावस्था कूटस्थनित्या, ततो न तस्याः प्रच्युतिरनित्यत्वप्रसङ्गात् । यथाहुः—

'नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यः स्वभावो न नश्यति' इति ।

तदिदमुक्तं ❀ स्वरूपप्रणाशभयाद् इति ❀ । अथ परिणामिनित्या, यथाहुः—'यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि यत्तत्त्वं न विहन्यते तदपि नित्यम्' इति । तत्राह ❀ बाह्यस्य च इति ❀ । यत्साम्यावस्थया सुचिरं पर्यणमत्कथं तदेवासति विलक्षणप्रत्ययोपनिपाते वैषम्यमुपैति ? अनपेक्षस्य स्वतो वाऽपि वैषम्ये न कदाचित्साम्यं भवेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

❀ एवमपि प्रधानस्य इति ❀ । अङ्गित्वानुपपत्तिलक्षणो दोषस्तावन्न भवद्भिः शक्यः परिहर्तुं-

भामती–व्याख्या

प्रलय-काल में लीनों गुणों की जो साम्यरूपा प्रधानावस्था है, वह कूटस्थनित्य है ? अथवा परिणामनित्य ? यदि कूटस्थनित्य है, तब उसकी प्रच्युति ( निवृति ) नहीं हो सकती, अन्यथा उसमें अनित्यत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि कूटस्थ नित्य वही पदार्थ कहा जाता है, जो कभी निवृत्त नहीं होता, जैसा कि श्री धर्मकीर्ति ने कहा है—"नित्यं तमाहुर्विद्वांसो यः स्वभावो न नश्यति" (प्र. वा. पृ. १४१) । भाष्यकार यही कह रहे हैं—"स्वरूपप्रणाशभयाद्" । अर्थात् कूटस्थनित्य वस्तु यदि वैषम्यावस्था में परिणत होती है, तब उसका स्वरूप ( कूटस्थनित्यत्व ) नष्ट हो जाता है । यदि परिणामनित्यता विवक्षित है, जैसा कि प्रसिद्ध है—"यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि यत् तत्त्वं न विहन्यते तदपि नित्यम्" । तब के लिए भाष्यकार कहते हैं—"बाह्यस्य च कस्यचित्" । अर्थात् जो पदार्थ प्रलयावस्था के लम्बे काल में साम्यरूपेण परिणत होता रहा है, वह किसी बाह्य क्षोभयिता ( विषमतापादक ) कारण के विना अकस्मात् विषमावस्था में परिणत क्योंकर होगा ? यदि किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा के विना ही स्वाभावतः प्रधानतत्त्व विषम हो जाता है, तब उसकी साम्यावस्था कभी नहीं होनी चाहिए ॥ ८ ॥

यदि पूर्वोक्त दोषों का परिहार किसी प्रकार कर भी लिया जाय, तब भी—"एवमपि प्रधानस्य ज्ञशक्तिवियोगाद् रचनानुपपत्त्यादयः" । तर्थात् पूर्वोक्त सूत्र में जो विषमतामूलक अङ्गाङ्गिभावानुपपत्तिरूप दोष दिया गया, उसका भी परिहार सांख्याचार्य नहीं कर सकते हैं—ऐसा अभी कहा जायगा, फिर भी उक्त दोष को यदि अदोष भी मान लिया जाय, तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः साम्यावस्थायां निमित्ताभावान्नैव वैषम्यं भजेरन्। भजमाना वा निमित्ताभावाविशेषात्सर्वदैव वषम्यं भजेरन्निति प्रसज्यत एवायमनन्तरोऽपि दोषः ॥ ९ ॥

## विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। क्वचित्सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति, क्वचिदेकादश। तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात्। तथा क्वचित् त्रीण्यन्तःकरणानि वर्णयन्ति, क्वचिदेकमिति। प्रसिद्ध एव तु श्रुत्येश्वरकारणवादिन्या विरोधस्तदनुवर्तिन्या च स्मृत्या। तस्मादप्यसमञ्जसं सांख्यानां दर्शनमिति। अत्राह—नन्वौपनिषदानामप्यसमञ्जसमेव दर्शनम्, तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावानभ्युपगमात्। एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूताविति अभ्युपगन्तव्यं स्यात्। यदि चैतौ

भामती

मिति वक्ष्यामः। अभ्युपगम्याप्यस्यादोषत्वमुच्यत इत्यर्थः। सम्प्रत्यङ्गित्वानुपपत्तिमुपपादयति ※ वैषम्योपगमयोग्या अपि इति ※ ॥ ९ ॥

※ क्वचित्सप्तेन्द्रियाणि इति ※। त्वङ्मात्रमेव हि बुद्धीन्द्रियमनेकरूपाविग्रहणसमर्थमेकम्, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, सप्तमं च मन इति सप्तेन्द्रियाणि। ※ क्वचित् त्रीण्यन्तःकरणानि ※। बुद्धिरहङ्कारो मन इति। ※ क्वचिदेकं ※ बुद्धिरिति। शेषमतिरोहितार्थम्।

अत्राह सांख्यः ※ नन्वौपनिषदानामपि इति ※। तप्यतापकभावस्तावदेकस्मिन्नोपपद्यते, नहि तपिरस्तिरिव कर्तृस्थभावकः, किन्तु पचिरिव कर्मस्थभावकः। परसमवेतक्रियाफलशालि च कर्म, तथा

भामती—व्याख्या

भी प्रधानतत्त्व में चैतन्यशक्ति का अभाव होने के कारण उससे जगत् की रचना नहीं हो सकती। अङ्गाङ्गिभावानुपपत्ति दोष का भी उपपादन किया जाता है—"वैषम्योपगमयोग्या अपि गुणाः"। सत्त्वादि गुणों में अङ्गाङ्गिभावापत्ति की योग्यता होने पर भी किसी चेतनरूप निमित्त के विना वैसा होना सम्भव नहीं ॥ ९ ॥

सांख्याचार्यों के सिद्धान्त परस्पर-विरुद्ध भी हैं, जैसे "क्वचित् सप्तेन्द्रियाणि"। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्थान पर केवल एक बुद्धि इन्द्रिय रूपादि पाँचों विषयों की ग्राहिका मानी जाती है। उसके साथ पाँच कर्मेन्द्रियों और मन को मिलाकर सात इन्द्रियाँ होती हैं। अन्य आचार्यों ने ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं [ युक्तिदीपिकाकार ने भी इस विप्रतिपत्ति का उल्लेख किया है—"करणं प्रत्याचार्यविप्रतिपत्तेः। एकादशविधमिति वार्षगणाः, दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः, द्वादशविधमिति पतञ्जलिः" ( यु. दी. पृ. १३२ )। इसी प्रकार महदादि सृष्टि एवं अन्तःकरण के विषय में कहा है—"तत्रेदानीं विप्रतिपत्तिराचार्याणाम्। केचिदाहुः-'प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते, ततो महानिति। पतञ्जलिपञ्चाधिकरणवार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यते। तदन्येषां पुराणेतिहासप्रणेतृणां महतोऽहंकार' विद्यते इति पक्षः।...सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकत्वं विन्ध्यवासिनः' ( यु. दी. पृ. १०८ )]।

**सांख्य की शङ्का**—वेदान्तवादियों का अद्वैत दर्शन असमञ्जस ( असंगत ) है, क्योंकि लोक में तप्य और तापक की भिन्नजातीयता प्रसिद्ध है [ जैसा कि योगभाष्यकार ने कहा है—"तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्, कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यते" ( यो. भा. २।१७ )]। किन्तु वेदान्त-मत में तप्य और तापक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां, स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निर्मुच्येत इति तापोपशान्तये सम्यग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात् । न ह्यौष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य प्रदीपस्य तद्वस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते । योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः, तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभावरूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः । प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके । तथा हि—अर्थी चार्थश्चान्योन्यभिन्नौ लक्ष्येते । यद्यर्थिनः स्वतोऽ-

भामती

च तप्येन कर्मणा तापकसमवेतक्रियाफलशालिना तापकादन्येन भवितव्यम् । अनन्यत्वे चैत्रस्येव गन्तुः स्वसमवेतगमनक्रियाफलनगरप्राप्तिशालिनोऽप्यकर्मत्वप्रसङ्गात् , अन्यत्वे तु तप्यस्य तापकाच्चैत्रसमवेतगमनक्रियाफलभाजो गम्यस्येव नगरस्य तप्यत्वोपपत्तेः । तस्मादभेदे तप्यतापकभावो नोपपद्यत इति । दूषणान्तरमाह ॐ यदि चेति ॐ । नहि स्वभावाद्भावो वियोजितुं शक्य इति भावः । जलधेश्च वीचितरङ्गफेनादयः स्वभावाः सन्त आविर्भावतिरोभावधर्माणो न तु तैर्जलधिः कदाचिदपि मुच्यते, न केवलं कर्मभावात्तप्यस्य तापकादन्यत्वमपि त्वनुभवसिद्धमेवेत्याह ॐ प्रसिद्धश्चायम् इति ॐ । तथाहि—अर्थोऽप्युपार्जनरक्षणक्षयरागवृद्धिहिंसादोषदर्शनादनर्थः सन्नर्थिनं दुनोति, तदर्थी तप्यस्तापकश्चार्थः, तौ चेमौ लोके

भामती-व्याख्या

का वैजात्य नहीं माना जाता अपितु एक ही ब्रह्म माया-वश तप्य और तापक के रूप में विवर्तित हो जाता है, तब तप्य और तापक के भेद की उपपत्ति क्योंकर होगी ? 'तप' धातु का प्रयोग वहीं होता है, जहाँ कर्त्ता और कर्मकारक का भेद हो, क्योंकि 'तप सन्तापे' धातु सकर्मक है, 'असि भुवि' धातु के समान कर्तृस्थफलक क्रिया की वाचक नहीं, अपितु कर्मकारकगतफलवाली क्रिया की वैसे ही वाचक है, जैसे 'डुपचष् पाके' धातु । कर्मकारक उसे ही कहा जाता है, जो परकीय ( अपने से भिन्न कर्त्ता में रहनेवाली ) क्रिया से जनित फल का आश्रय हो । फलतः यहाँ तप्यरूप ( सन्तप्त होनेवाले ) कर्मकारक को तापक से भिन्न होना चाहिए । यदि तप्य और तापक—इन दोनों का भेद माना जाता है, तब 'चैत्रो ग्रामं गच्छति'—इस प्रयोग में चैत्रगत गमन क्रिया से जनित ग्राम-प्राप्तिरूप फल का आश्रय होने पर भी चैत्र को जैसे कर्मकारक नहीं माना जाता, वैसे ही संसार का स्रष्टा चेतनतत्त्व भी संसाररूप ताप से सन्तप्त न हो सकेगा, क्योंकि वह संसाररूप तापक से अभिन्न माना जाता है । यदि तापक से तप्य को भिन्न माना जाता है, तब जैसे ग्राम से भिन्न चैत्रगत क्रिया के प्राप्तिरूप फल का आश्रय होने के कारण ग्राम को कर्मकारक माना जाता है, वैसे ही संसाररूप तापक से भिन्न चेतन तप्य हो जाता है, अतः यह स्थिर हो गया कि वेदान्त-सम्मत अभेदवाद में तप्य-तापकभाव नहीं बन सकता ।

इस वाद में दूसरा दोष भी दिया जा सकता है—"यदि चैतौ तप्यतापकौ" । अर्थात् यदि तप्य और तापक—दोनों एक ही आत्मा के स्वभाव माने जाते हैं, तब आत्मा कभी भी ताप से वैसे ही विमुक्त नहीं हो सकता, जैसे जलधि अपने आविर्भूत और तिरोहित होनेवाले तरङ्ग और फेनादि स्वरूपों से विमुक्त नहीं होता ।

केवल कर्मकारक होने के कारण ही आत्मा संसाररूप तापक से भिन्न सिद्ध नहीं होता, अपितु अनुभव सिद्ध भी यही है—"प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तर्भावो लोके" । आशय यह है कि जैसे लोक में अर्थ ( धनादि ) तापक ( दुःखदायी ) और अर्थी ( धनाभिलाषी व्यक्ति ) तप्य ( दुःखी ) होता है, क्योंकि धनादि के उपार्जन, रक्षण, क्षय, दृढासक्ति और हिंसादि दोष नितान्त दुःखदायी हैं [ सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने ही इस विषय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्योऽर्थो न स्यात्, यस्यार्थिनो यद्विषयमर्थित्वं स तस्यार्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं स्यात्, यथा प्रकाशात्मनः प्रदीपस्य प्रकाशाख्योऽर्थो नित्यसिद्ध एवेति न तस्य तद्विषयमर्थित्वं भवति। अप्राप्ते ह्यर्थेऽर्थिनोऽर्थित्वं स्यादिति। तथार्थस्याप्यर्थत्वं न स्यात्। यदि स्यात्स्वार्थत्वमेव स्यात्। न चैतदस्ति, संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थौ चार्थश्चेति। द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैकस्यैव। तस्माद्भिन्नावेतावर्थार्थिनौ। तथानर्थानर्थिनावपि। अर्थिनोऽनुकूलोऽर्थः प्रतिकूलोऽनर्थस्ताभ्यामेकः पर्यायेणोभाभ्यां संबध्यते। तत्रार्थस्याल्पीयस्त्वाद् भूयस्त्वाच्चानर्थस्योभावप्यर्थानर्थावनर्थ एवेति तापकः स उच्यते। तप्यस्तु पुरुषो य एकः पर्यायैणोभाभ्यां संबध्यत इति तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः। जात्यन्तरभावे तु तत्संयोगहेतुपरिहारात्स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिरिति।

भामती

प्रतीतभेदौ, अभेदे च दूषणान्युक्तानि, तत्कथमेकस्मिन्नद्वये भवितुमर्हत इत्यर्थः। तदेवमौपनिषदं मतमसमञ्जसमुक्त्वा सांख्यः स्वपक्षे तप्यतापकयोर्भेदे मोक्षमुपपादयति ❀ जात्यन्तरभावे तु इति ❀। दृग्दर्शनशक्त्योः किल संयोगस्तापनिदानं, तस्य हेतुरविवेकदर्शनसंस्कारोऽविद्या, सा च विवेकख्यात्या विद्यया विरोधित्वाद्विनिवर्त्यते, तन्निवृत्तौ तद्धेतुकः संयोगो निवर्त्तते, तन्निवृत्तौ च तत्कार्यस्तापो निवर्त्तते। तदुक्तं पञ्चशिखाचार्येण—"तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः" इति। अत्र च न साक्षात्पुरुषस्यापरिणामिनो बन्धमोक्षौ, किन्तु बुद्धिसत्त्वस्यैव चितिच्छायापत्त्या लब्धचैतन्यस्य। तथा हीष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नमस्य भोगः, भोक्तृस्वरूपावधारणमपवर्गस्तेन हि

भामती—व्याख्या

पर पुष्कल प्रकाश डाला है—अर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चोपरमा भवन्ति" ( सां० का० ५० ) ]। अर्थ और अर्थी का भेद अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनका अभेद मानने पर दोषाभिधान किया जा चुका है, अतः अद्वैत वाद में तप्य-तापकभाव का निर्वाह क्योंकर होगा ?

इस प्रकार वेदान्त-सिद्धान्त की असमञ्जसता दिखा कर सांख्यवादी अपने मतानुसार तप्य और तापक का भेद सिद्ध करके मोक्ष की उपपत्ति दिखाता है—"जात्यन्तभावे तु"। अर्थात् दृक्शक्ति ( पुरुष ) और दर्शनशक्ति ( प्रकृति ) का संयोग ताप ( दुःख ) का कारण है, उस संयोग की जनिका है—अविद्या ) विवेक-ख्यातिरूप विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होती है, क्योंकि विद्या और अविद्या का परस्पर-विरोध होता है। अविद्या की निवृत्ति हो जाने से अविद्याहेतुक संयोग भङ्ग हो जाता हैं, संयोग के समाप्त हो जाने पर उसका कार्यभूत ताप (दुःख) नष्ट हो जाता है, जैसा शि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—"तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः" [ औषधादि के उपचार से जो रोगादि का प्रतीकार होता है, वह न तो समस्त दुःखों जा नाश है और न आत्यन्तिक, दुःखों का सामूहिक, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक विनाश कथित संयोग की हेतुभूत अविद्या के विवर्जन से ही होता है ]। सांख्य-सिद्धान्त में अपरिणामी पुरुषतत्त्व को साक्षात् बन्ध और मोक्ष की प्राप्ति नहीं मानी जाती, किन्तु बुद्धिरूप में परिणत एवं पुरुष की छायापत्ति ( तादात्म्यापत्ति ) से युक्त अत एव चैतन्यापन्न सत्त्व गुण को ही बन्ध और मोक्ष का लाभ होता है, क्योंकि बुद्धि-सत्त्व स्वयं जड़ होने पर भी चेतनतत्त्व से अविभागापन्न ( तादात्म्यापन्न ) होने के कारण चेतन-जैसा हो जाता है, अतः इष्ट और अनिष्ट विषय की अनुभूतिरूप भोग एवं भोक्ता के विवेक का ज्ञान बुद्धि-सत्त्व का हो जाता है, अतः यद्यपि सत्त्वगुण को ही दुःखापवर्जन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्रोच्यते—न, एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः। भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्। न त्वेतदस्ति, एकत्वादेव। न ह्यग्निरेकः स्वात्मानं दहति प्रकाशयति वा सत्यप्यौष्ण्यप्रकाशादिधर्मभेदे परिणामित्वे च। किं कूटस्थे ब्रह्मण्येकस्मिंस्तप्यतापकभावः संभवेत्? क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति? उच्यते—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवद्देहस्ताप्यस्तापकः सवितेति? ननु तप्तिर्नाम दुःखम्, सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य। यदि हि देहस्यैव तप्तिः स्यात्सा देहनाशे स्वयमेव नश्यतीति तन्नाशाय साधनं नैषितव्यं स्यादिति। उच्यते देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा। न च त्वयापि तप्तिर्नाम क्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते। नापि देहचेतनयोः संहतत्वम्, अशुद्ध्यादिदोषप्रसङ्गात्। नच तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि।

कथं तवापि तप्यतापकभावः? सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्—न,

भामती

बुद्धिसत्त्वमेवापवृज्यते, तथापि यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः प्राधान्यात् स्वामिन्यपविश्यते, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धिसत्त्वे वर्तमानौ कथञ्चित् पुरुषेऽपदिश्येते, स ह्यविभागापत्त्या तत्फलस्य भोक्तेति। तदेतदभिसन्धायाह ❀ स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिः इति ❀।

अत्रोच्यते ❀ नैकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः ❀। यत एकत्वे तप्यतापकभावो नोपपद्यते एकत्वादेव, तस्मात्सांव्यवहारिकभेदाश्रयस्तप्यतापकभावोऽस्माभिरभ्युपेयः, तापो हि सांव्यावहारिक एव न पारमार्थिक इत्यसकृदावेदितम्। भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयातामित्यस्मदभ्युपगम इति शेषः।

सांख्योऽपि हि भेदाश्रयं तप्यतापकभावं ब्रुवाणो न पुरुषस्य तपिकर्मतामाख्यातुमर्हति, तस्यापरिणामितया तत्क्रियाजनितफलशालित्वानुपपत्तेः। केवलमनेन सत्त्वं तप्यमभ्युपेयं तापकञ्च रजः। दर्शित-

भामती—व्याख्या

(दुःखाभावरूप अपवर्ग) की प्राप्ति होती है, तथापि जैसे सैनिकों की विजय और पराजय का व्यपदेश राजा में होता है, वैसे ही बुद्धि-सत्त्व में वर्तमान बन्ध और मोक्ष का कथंचित् उपदेश पुरुषतत्त्व में हो जाता है, क्योंकि वही बुद्धि-तादात्म्यापत्ति के कारण बन्धादि-जनित शोकादि फल का भोक्ता है। [श्रीवाचस्पतिमिश्र ने ही सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी कहा है—"यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते, तथा बन्धमोक्षससाराः पुरुषेषूपचर्यन्ते, तत्फलस्य च शोकलाभादेः स्वामिनि सम्भवात्" (सां० का० ६२)]। इसी आशय से भाष्यकार कहते हैं—"स्यादपि कदाचिन्मोक्षोपपत्तिः"।

**वेदान्ती का समाधान**—सांख्य की कथित शङ्का का निराकरण सिद्धान्ती करता है—"न, एकत्वादेव तप्यतापकभावानुपपत्तेः"। पारमार्थिक एकत्व (अभेद) में तप्य तापकभाव उपपन्न नहीं होता, अत एव व्यावहारिक भेद को मानकर तप्य-तापकभाव की उपपत्ति वेदान्त में की जाती है, क्योंकि ताप (संसाररूप दुःख) व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं—यह कई बार कह चुके हैं। "भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योऽन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्"—इस भाष्य के अन्त में "इत्यस्मदभ्युपगमः"—यह वाक्य जोड़ लेना चाहिए, [जिसका अर्थ यह फलित होता है कि यदि हम (वेदान्ती) वास्तविक एकता (अभेद) मानकर वास्तविक तप्य-तापकभाव मानते, तब अवश्य सांख्योक्त अनुपपत्ति दोष होता, क्योंकि तापक कभी भी अपने को विषय (तप्त) नहीं कर सकता]। वस्तु स्थिति यह है कि सांख्य तप्य और तापक का भेद मानता हुआ भी अपने पुरुषतत्त्व में 'तपि' क्रिया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः। सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इवेति चेत्-परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इत्यापतति, इवशब्दप्रयोगात्। न चेत्तप्यते ,नेवशब्दो दोषाय। नहि डुण्डुभः सर्प इवेत्येतावता सविषो भवति। सर्पो वा डुण्डुभ इवेत्येतावता निर्विषो भवति। अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्यतापकभावो न पारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति। नेवं सति ममापि किंचिद् दुष्यति। अथ पारमार्थिकमेव चेतनस्य तप्यत्वमभ्युपगच्छसि, तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत, नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य।

तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि सनिमित्तसंयोगापेक्षत्वात्तप्तेः संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोगोपरमः, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्-न, अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात्। गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः

भामती

विषयत्वात्तु बुद्धिसत्त्वे तप्ये तदविभागापत्त्या पुरुषोऽप्यनुतप्यत इव, न तु तप्यतेऽपरिणामित्वादित्युक्तं, तदविभागापत्तिश्चाविद्या, तथा चाविद्याकृतस्तप्यतापकभावस्त्वयाऽभ्युपेतः, सोऽयमस्माभिरुच्यमानः किमिति भवतः पुरुष इवाभाति। अपि च नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्यानिर्मोक्षप्रसङ्गः।

शङ्कते ❀ तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि इति ❀। सहादर्शनेन निमित्तेन वर्तत इति सनिमित्तः संयोगस्तदपेक्षत्वादिति। निराकरोति। ❀ नादर्शनस्य तमसः इति ❀। न तावत् पुरुषस्य तप्तिरित्युक्तम्। केवलमियं बुद्धिसत्त्वस्य तापकरजोजनिता, तस्य च बुद्धिसत्त्वस्य तामसविपर्ययात्मनः पुरुषाभेदमपश्यतः पुरुषस्तप्यत इत्यभिमानः, न तु पुरुषो विपर्यासतुषेणापि युज्यते, तस्य तु बुद्धिसत्त्वस्य

भामती—व्याख्या

की कर्मता (तप्यता) का उपपादन नहीं कर सकता, क्योंकि पुरुष अपरिणामी होने के कारण 'तपि' क्रिया से जनित फल का आश्रय नहीं होता, केवल रजोगुणरूप तापक का तप्य सत्त्वगुण को ही माना जाता है। बुद्धिरूपेण परिणत सत्त्व गुण ही विषय-प्रकाशक होने के कारण तप्य है और उससे अविविक्त पुरुषतत्त्व उक्त ताप से अनुतप्त-जैसा होता है, वस्तुतः सन्तप्त नहीं होता, क्योंकि ताप भी अपने आश्रय का विकार या परिणाम है, पुरुषतत्त्व अपरिणामी (निर्विकार) है। बुद्धि-सत्त्व की अविभागापत्ति (अविवेक) ही अविद्या है, फलतः अविद्याप्रयुक्त ही तप्य-तापकभाव सांख्याभिहित है। तब हम (वेदान्ती) भी अपने मतानुसार वैसी उपपत्ति जो करते हैं, वह आपको कड़ुई क्यों लगती है? यदि आप (सांख्य) वस्तुतः पुरुष को तप्य मानते हैं, तब उसकी कभी मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि रजोगुणरूप तापक नित्य माना जाता है, उसकी निवृत्ति कभी भी सम्भावित नहीं।

**शङ्का** - सांख्य शङ्का करता है कि "तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि"। अर्थात् तप्ति (तापरूप क्रिया) को प्रकृति-पुरुष के जिस संयोग की अपेक्षा होती है, वह संयोग सनिमित्तक [अदर्शनेन निमित्तेन सह वर्तते इति सनिमित्तकः' इस विग्रह के अनुसार] अविवेकपूर्वक है, अविवेक की अन्यताख्याति (विवेक-विज्ञान) से निवृत्ति हो जाने पर संयोग का आत्यन्तिक नाश हो जाता है। संयोग की निवृत्ति हो जाने से ताप समाप्त हो जाता है, तापक नित्य रहने पर भी ताप देने में सक्षम नहीं रहता और ताप-निवृत्तिरूप मोक्ष उपपन्न हो जाता है।

**समाधान** - वेदान्ती उक्त शङ्का का निराकरण करता है कि "न, अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वात्"। आशय यह है कि पुरुष को साक्षात् ताप नहीं होता—ऐसा कहा जा चुका है। केवल बुद्धि-सत्त्व रजोरूप तापक से जनित ताप का आश्रय होता है। उस बुद्धि-सत्त्व से पुरुष तामस विपर्यय (अविवेक) के कारण अपना भेद-दर्शन नहीं कर पाता, अतः सन्तप्त-सा हो

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोगनिमित्तोपरम इति वियोगस्याप्यनियतत्वात्सांख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात् ।०

औपनिषदस्य त्वात्मैकत्वाभ्युपगमादेकस्य च विषयविषयिभावानुपपत्तेर्विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते । व्यवहारे तु यत्र यथा दृष्टस्तप्यतापकभावस्तत्र तथैव स इति न चोदयितव्यः परिहर्तव्यो वा भवति ॥ १० ॥

भामती

सात्त्विक्या विवेकख्यात्या तामसीयमविवेकख्यातिर्निवर्त्तनीया । न च सति तमसि मूले शक्यात्यन्तमुच्छेत्तुम् । तथा चोच्छिन्नापि छिन्नबदरीवत् पुनस्तमसोद्भूतेन सत्त्वमभिभूय विवेकख्यातिमपोह्य शतशिखराऽविद्याविभाव्येतेति बतेयमपवर्गकथा तपस्विनी दत्तजलाञ्जलिः प्रसज्येत ।

अस्मत्पक्षे त्वदोष इत्याह ❀ औपनिषदस्य तु इति ❀ । यथा हि मुखमवदातमपि मलिनादर्शतलोपाधिकल्पितप्रतिबिम्बभेदं मलिनतामुपैति, न च तद्वस्तुतो मलिनं, न च बिम्बात् प्रतिबिम्बं वस्तुतो भिद्यते । अथ तस्मिन् प्रतिबिम्बे मलिनादर्शोपधानान्मलिनता पदं लभते । तथा चात्मनो मलिनं मुखं पश्यन् देवदत्तस्तप्यते । यदा तूपाध्युपनयाद् बिम्बमेव कल्पनावशात् प्रतिबिम्बं तच्चावदातमिति तत्त्वमवगच्छति, तदास्य तापः प्रशाम्यति—न च मलिनं मे मुखमिति । एवमविद्योपधानकल्पितावच्छेदो जीवः परमात्मप्रतिबिम्बकल्पः कल्पितैरेव शब्दादिभिः सम्पर्कात्तप्यते, न तु तत्त्वतः परमात्मनोऽस्ति तापः ।

भामती—व्याख्या

जाता है। वस्तुतः पुरुष असङ्ग है, उसमें विपर्यय का लेशमात्र भी नहीं होता। बुद्धि-सत्त्वगत सात्त्विकी विवेक-ख्याति के द्वारा यह तामसी अविवेक-ख्याति निवर्तनीय है। उसके मूलभूत तमोगुण के रहते उसका अत्यन्त उच्छेद नहीं किया जा सकता। तमोगुण का उच्छेद किए विना ही अविवेक-ख्याति का एक बार उच्छेद कर देने पर वह काटी हुई बेरी के समान पुनः हरी ( जीवित ) होकर सत्त्वगुण को अभिभूत करती हुई विवेक-ख्याति का उदय अवरुद्ध कर देती है, तब वह अबाध गति से विवर्धित होकर शतशिखरा अविद्या के विकराल रूप में प्रकट हो जाती है। फिर तो बेचारी अपवर्ग-कथा को तिलाञ्जलि ही देनी पड़ जाती है।

हमारे औपनिषद सिद्धान्त में वैसा कोई दोष 'अवतीर्ण नहीं होता—"औपनिषदस्य त्वात्मत्वाभ्युपगमात्"। जैसे मुख स्वच्छ होने पर भी मलिन आदर्शतल ( दर्पण ) में प्रतिबिम्बित होकर मलिन-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह ( मुख ) न तो मलिन है और न उसका प्रतिबिम्ब उससे भिन्न है। फिर भी मलिन दर्पणरूप उपाधि के सम्बन्ध से मलिनता प्रतीत हो जाती है। देवदत्त अपना मुख मलिन देख कर दुःखी हो जाता है। दर्पणरूप उपाधि का अभाव हो जाने पर देवदत्त को जब यह ज्ञान हो जाता है कि प्रतीयमान प्रतिबिम्ब बिम्बभूत मुख से भिन्न नहीं, अपितु मुखरूप ही है और मुख अत्यन्त स्वच्छ है, कभी मलिन हुआ ही नहीं। तब उसका ताप शान्त हो जाता है।

वैसे ही अविद्यारूप उपाधि के द्वारा कल्पित भेदवाला जीव अपने आपको परमात्मा का प्रतिबिम्ब मान कर कल्पित शब्दादि विषयों के साथ सम्पर्क स्थापित कर सन्तप्त होता है। वस्तुतः वह बिम्बभूत परमात्मा से अभिन्न है और परमात्मा में किसी प्रकार का ताप है नहीं। जब "तत्त्वमसि"—इत्यादि वाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप अभ्यास का प्रकर्ष-पर्यन्त परिपाक होकर अपने स्वरूप का जीव को साक्षात्कार उत्पन्न होता है, तब यह जीव अपने को नित्य, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्मरूप अनुभव कर लेता है, तब संस्कार-सहित समस्त


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( २ महद्दीर्घाधिकरणम् । सू० ११ )

प्रधानकारणवादो निराकृतः । परमाणुकारणवाद इदानीं निराकर्तव्यः । तत्रादौ तावद्योऽणुवादिना ब्रह्मवादिनि दोष उत्प्रेक्ष्यते, स प्रतिसमाधीयते । तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात्तद्विपर्ययादर्शनाच्च । तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवे-

भामती

यदा तु तत्त्वमसीति वाक्यश्रवणमननध्यानाभ्यासपरिपाकप्रकर्षपर्यन्तजोऽस्य साक्षात्कार उपजायते, तदा जीवः परमात्मशुद्धबुद्धतत्त्वस्वभावमात्मनोऽनुभवन् निर्मृष्टनिखिलतदासनक्लेशजालः केवलः स्वस्थो भवति, न चास्य पुनः संसारभयमस्ति तद्धेतोरवास्तवत्वेन समूलकाषं कषितत्वात् । सांख्यस्य तु सतस्तमसोऽशक्यसमुच्छेदत्वादिति । तदिदमुक्तम् ॐ विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणाद् इति ॐ ॥ १० ॥

ॐप्रधानकारणवाद इतिॐ । यथैव प्रधानकारणवादो ब्रह्मकारणवादविरोध्येवं परमाणुकारणवादोऽप्यतः सोऽपि निराकर्त्तव्यः । एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याता इत्यस्य प्रपञ्च आरभ्यते । तत्र वैशेषिका ब्रह्मकारणत्वं दूषयाम्बभूवुः—चेतनं चेदाकाशादीनामुपादानं तदारब्धमाकाशादि चेतनं स्यात् । कारणगुणक्रमेण हि कार्ये गुणारम्भो दृष्टः, यथा शुक्लैस्तन्तुभिरारब्धः पटः शुक्लः, न जात्वसौ कृष्णो भवति । एवं चेतनेनारब्धमाकाशादि चेतनं भवेन्न त्वचेतनम् । तस्मादचेतनोपादानमेव जगत्तच्चाचेतनं परमाणवः,

भामती—व्याख्या

क्लेश-राशि का विनाश हो जाता है और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप में विराजमान हो जाता है, उसे पुनः संसार का भय नहीं रहता, क्योंकि संसाररूप ताप का हेतु पारमार्थिक नहीं, काल्पनिक था, उसका समूल उन्मूलन हो गया । किन्तु सांख्य-मत में तो तमोगुण का उच्छेद हो नहीं सकता, निर्मोक्षावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती यही कहा गया है—'विकारभेदस्य च वाचारम्भणमात्रत्वश्रवणादनिर्मोक्षाशङ्का स्वप्नेऽपि नोपजायते" ॥ १० ॥

—ॐ—

**संगति**—प्रकृतिकारणता-वाद का निराकरण किया गया । जैसे प्रकृतिकारणतावाद ब्रह्मकारणतावाद का विरोधी है, वैसे ही परमाणुकारणतावाद भी ब्रह्मकारणतावाद का विरोधी है, अतः वह भी निराकरणीय है । यद्यपि "एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः" ( ब्र. सू. २।१।१२ ) इस सूत्र में वैशेषिक-दर्शन का निराकरण किया जा चुका है । तथापि वह संक्षिप्ताभिधान है, उसी का यहाँ विस्तार किया जाता है ।

**सन्देह**—उपादान कारण से विलक्षण ( विसदृश ) कार्य का जन्म असम्भव है ? अथवा सम्भव ?

**पूर्वपक्ष**—वैशेषिकगणों ने ब्रह्मकारणतावाद पर दोषाभिधान करते हुए कहा है कि यदि जगत् का उपादान कारण कोई चेतन पदार्थ माना जाय, तब उसके द्वारा आरब्ध ( उत्पादित ) आकाशादि प्रपञ्च भी चेतन होना चाहिए, क्योंकि 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस न्याय के अनुसार जैसे तन्तुगत शुक्ल रूप के द्वारा तन्तु-जनित पट में शुक्ल रूप का ही उत्पादन किया जाता है, कृष्णादि विलक्षण ( विजातीय ) रूपों का नहीं [ आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं—अपाकजरूपादयः कारणगुणपूर्वकाः" ( न्या. कन्द. पृ. २३६ ) ] । वैसे ही ब्रह्मरूप उपादानगत चैतन्य गुण के द्वारा आकाशादि प्रपञ्च में चैतन्य का आरम्भ होना चाहिए, किन्तु आकाशादि जगत् चेतन नहीं, अपितु अचेतन है, अतः इस जगत् का उपादान

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

सूक्ष्मात् खलु स्थूलस्योत्पत्तिर्दृश्यते, यथा तन्तुभिः पटस्यैवमंशुभ्यस्तन्तूनामेवमपकर्षपर्यन्तं कारणद्रव्यमतिसूक्ष्ममनवयवमवतिष्ठते, तच्च परमाणुस्तस्य तु सावयवत्वेऽभ्युपगम्यमानेऽनन्तावयवत्वेन सुमेरुराजसर्षपयोः समानपरिमाणत्वप्रसङ्ग इत्युक्तम्। तत्र च प्रथमं तावददृष्टवत्क्षेत्रज्ञसंयोगात्परमाणौ कर्म, ततोऽसौ परमाण्वन्तरेण संयुज्य द्वयणुकमारभते। बहवस्तु परमाणवः संयुक्ता न सहसा स्थूलमारभन्ते, परमाणुत्वे सति बहुत्वात्, घटोपगृहीतपरमाणुवत्। यदि हि घटोपगृहीताः परमाणवो घटमारभेरन्, न घटे प्रविभज्यमाने कपालशर्कराद्युपलभ्येत, तेषामनारब्धत्वात्, घटस्यैव तु तैरारब्धत्वात्। तथा सति मुद्गरप्रहाराद् घटविनाशे न किञ्चिदुपलभ्येत, तेषामनारब्धत्वात्। तदवयवानां परमाणूनामतीन्द्रियत्वात्। तस्मान्न बहूनां परमाणूनां द्रव्यं प्रति समवायिकारणत्वम्, अपि तु द्वावेव परमाणू द्वयणुकमारभेते। तस्य चाणुत्वं परिमाणं परमाणुपरिमाणात् पारिमाण्डल्यादन्यदीश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना द्वित्वसंख्याऽऽरभते। न च द्वयणुकाभ्यां द्रव्यमारभ्यते, वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तदपि हि द्वयणुकमेव भवेन्न तु महत्।

भामती—व्याख्या

कारण कोई अचेतन पदार्थ ही होना चाहिए, वह अचेतन द्रव्य है—परमाणु। लोक में सूक्ष्म तत्त्व से स्थूल पदार्थों की उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे कि तन्तुओं से पट, एवं अंशुओं से तन्तुओं की उत्पत्ति होती है। कारण द्रव्य की परम्परा सूक्ष्म से सूक्ष्म होते-होते एक अतिसूक्ष्म निरवयव तत्त्व पर समाप्त होती है, जिसका नाम परमाणु है। यदि उसको भी सावयव माना जाता है, तब अनन्तावयववत्ता की समानता होने के कारण सुमेरु पर्वत और एक सरसों के दाने का परिमाण समान हो जायगा—ऐसा पहले कहा जा चुका है। सबसे पहले धर्माधर्मरूप अदृष्ट से युक्त जीवात्मा का संयोग जिस परमाणु के साथ होता है, उस परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है, सक्रिय परमाणु अन्य परमाणु से संयुक्त होकर द्वयणुक को उत्पन्न करता है। द्वयणुक को उत्पन्न न करके अनेक परमाणु परस्पर संयुक्त होकर सहसा स्थूल द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि वे सब स्वतन्त्र अनेक परमाणुमात्र है, जैसे घट के शरीर में अवस्थित परमाणु। यदि घट के शरीर में अवस्थित परमाणु ही घट का आरम्भ (उत्पादन) कर दें, तब घट के फूट जाने पर कपाल, कपालिका और उनके टुकड़े उपलब्ध न हो सकेंगे, क्योंकि परमाणुओं के द्वारा उनका उत्पादन नहीं किया जाता, केवल घट ही उन परमाणुओं से उत्पन्न किया जाता है। फलतः घट पर मुद्गर का प्रहार हो जाने पर वहाँ कुछ भी उपलब्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि कपाल और कपालिकाएँ परमाणुओं के द्वारा आरब्ध (उत्पादित) नहीं और कपालादि के अवयवभूत परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण उपलब्ध नहीं होते। यही कारण है कि बहुत-से परमाणुओं को भी किसी घटादिरूप एक द्रव्य का समवायिकारण नहीं माना जा सकता। वैशेषिकाचार्यों ने बहुत सोच समझ कर यह व्यवस्था दी है कि केवल दो परमाणु मिलकर एक द्वयणुक को जन्म देते हैं [जैसा कि आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं—"प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षिभ्यस्ततसंयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्वयणुकादिक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नः" (प्रशस्त. पृ. १२७)]। परमाणु में परमाणुत्व और द्वयणुक में परमाणुत्व से भिन्न अणुत्व परिमाण माना जाता है। परमाणु के परिमाण से द्वयणुक का परिमाण उत्पन्न नहीं होता, अन्यथा द्वयणुक में भी परमाणुत्व ही रहता, अणुत्व नहीं। दो परमाणुओं में जो ईश्वर की 'अयमेकः—'अयमेकः' इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि है, उससे जनित द्वित्व संख्या ही द्वयणुकगत अणुत्व परिमाण की आरम्भिका मानी जाती है [जैसा कि प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं—"द्वित्वसंख्या चाण्वोर्वर्तमाना द्वयणुकेऽणुत्वमारभते" (प्रशस्त.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्। तददर्शनात्तु न चेतनं ब्रह्म जगत्कारणं भवितुमर्हतीति। इममभ्युपगमं तदीयमेव प्रक्रियया व्यभिचारयति—

भामती

कारणबहुत्वमहत्त्वप्रचयविशेषेभ्यो हि महत्त्वस्योत्पत्तिः। न च द्व्यणुकयोर्महत्त्वमस्ति, यतस्ताभ्यामारब्धं महद्भवेत्। नापि तयोर्बहुत्वं द्वित्वादेव।

न च प्रचयभेदस्तूलपिण्डानामिव, तदवयवानामनवयवत्वेन प्रशिथिलावयवसंयोगभेदविरहात्। तस्मात्तेनापि तत्कारणद्व्यणुकत्वेनैव भवितव्यं, तथा च पुरुषोपभोगातिशयाभावाददृष्टानिमित्तत्वाच्च विश्वनिर्माणस्य भोगार्थत्वात्तत्कारणेन च द्व्यणुकेन तन्निष्पत्तेः कृतं द्व्यणुकाश्रयेण द्व्यणुकान्तरेणेत्यारम्भवैयर्थ्यादारम्भार्थत्वाय बहुभिरेव द्व्यणुकैस्त्र्यणुकं चतुरणुकं पञ्चाणुकं वा द्रव्यं महद्दीर्घमारब्धव्यम्। अस्ति हि तत्र तत्र भोगभेदोऽस्ति च बहुत्वसंख्येश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना महत्त्वपरिमाणयोनिः। त्र्यणुकादिभिरारब्धं तु कार्यद्रव्यं कारणबहुत्वाद्वा कारणमहत्त्वाद्वा कारणप्रचयभेदाद्वा महद्भवतीति प्रक्रिया।

भामती—व्याख्या

पृ. ३२९ )]। केवल दो द्व्यणुकों से किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, यदि मान ली जाय, तब वह उत्पन्न द्रव्य व्यर्थ-सा हो जाता है, क्योंकि दो द्व्यणुकों से उत्पन्न द्रव्य भी अणुपरिमाणवाला द्व्यणुक ही होगा, महत्त्व परिमाणवाला त्रसरेणु नहीं। महत्त्व परिमाण की उत्पत्ति कारणगत बहुत्व, महत्त्व परिमाण और प्रचयाख्य रुई में होनेवाले शिथिल संयोग ( फुलावट ) से मानी जाती है। [ प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं—"अनित्यं चतुर्विधमपि संख्यापरिमाणप्रचययोनि" ( शतस्त. पृ. ३१२ )]। द्व्यणुकों में यदि महत्त्व परिमाण होता, तब द्व्यणुक से जनित त्र्यणुक में महत्त्व परिमाण उपपन्न हो जाता, किन्तु द्व्यणुक में अणुत्व परिमाण ही माना जाता है, अतः त्र्यणुकगत महत्त्व परिमाण की उत्पत्ति द्व्यणुकगत बहुत्व संख्या से मानी जाती है। अत एव दो द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति न मान कर तीन द्व्यणुकों से मानी जाती है, क्योंकि दो द्व्यणुकों में द्वित्व संख्या ही मानी जाती है, बहुत्व नहीं। तूल-पिण्ड ( रुई के ढेर ) में जैसे महत्त्व परिमाण का आरम्भक अवयवों का प्रचयाख्य प्रशिथिल संयोग होता है, वैसे ही दो द्व्यणुकों से आरब्ध द्रव्य में महत्त्व परिमाण की उत्पत्ति प्रचय से भी नहीं मानी जाती, क्योंकि द्व्यणुक के अवयवभूत परमाणु निरवयव होते हैं, सावयव नहीं, अतः परमाणु द्रव्य के अवयवों में प्रचय ( शिथिल संयोग ) सम्भव नहीं। फलतः द्व्यणुकारब्ध द्रव्य को सार्थकता बनाए रखने के लिए बहुत ( तीन-चारादि ) द्व्यणुकों से त्र्यणुक या चतुरणुकरूप महत्त्व एवं दीर्घत्व परिमाणवाले अवयवी द्रव्य का आरम्भ ( उत्पादन ) मानना होगा। त्र्यणुकादि से जीवों के भोग-विशेष की सिद्धि ही उनकी सार्थकता है। तीन या चार द्व्यणुकों में ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होती है, वही त्र्यणुकादि में महत्त्वादि परिमाणों की जनिका मानी जाती है। [ प्रशस्तपादाचार्य की यह स्थापना है—"तत्रेश्वरबुद्धिमपेक्ष्योत्पन्ना परमाणुद्व्यणुकेषु बहुतरसंख्या, तैरारब्धे त्र्यणुकादिलक्षणे रूपाद्युत्पत्तिसमकालं महत्त्वं दीर्घत्वं च करोति' ( प्रशस्त. पृ. ३२४ )]। त्र्यणुकादि से आरब्ध द्रव्य में महत्त्व की उत्पत्ति कहीं समवायिकारणगत बहुत्व संख्या से, कहीं समवायिकारणों के प्रचयाख्य शिथिल संयोग से और कहीं समवायिकारण-समवेत महत्त्व परिमाण से मानी जाती है। [ इस वैशेषिक प्रक्रिया का विशदीकरण प्रशस्तपादाचार्य ने किया है—"द्विबहुभिर्महद्भिश्चारब्धे कार्यद्रव्ये कारणमहत्त्वान्येव महत्त्वमारभन्ते, न बहुत्वम्, समानसंख्यैश्चारब्धेऽतिशयदर्शनात्। प्रचयश्च तूलपिण्डयोर्वर्तमानः पिण्डारम्भकावयवप्रशिथिलसंयोगानपेक्षमाणः इतरेतरपिण्डावयवसंयोगापेक्षो वा द्वितूलके महत्त्वमारभते, न बहुत्वमहत्त्वानि, समानसंख्यापरिमाणैरारब्धेऽतिशयदर्शनात् ( प्रशस्त. पृ. ३२४ )]।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

एषा तेषां प्रक्रिया—परमाणवः किल कंचित्कालमनारब्धकार्या यथायोगं रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाश्च तिष्ठन्ति । ते च पश्चादृष्टादिपुरःसराः संयोगसचिवाश्च सन्तो द्व्यणुकादिक्रमेण कृत्स्नं कार्यजातमारभन्ते । कारणगुणाश्च कार्ये गुणान्तरम् । यदा द्वौ परमाणू द्व्यणुकमारभेते तदा परमाणुगता रूपादिगुणविशेषाः शुक्लादयो द्व्यणुके शुक्लादीनपरानारभन्ते । परमाणुगुणविशेषस्तु पारिमाण्डल्यं न द्व्यणुके पारिमाण्डल्यमपरमारभते, द्व्यणुकस्य परिमाणान्तरयोगाभ्युपगमात् ।

भामती

तदेतयैव प्रक्रियया कारणसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयमेव गुणान्तरमारभन्त इति दूषणमदूषणीक्रियते, व्यभिचारादित्याह—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्

यथा महद् द्रव्यं त्र्यणुकादि ह्रस्वाद् द्व्यणुकाज्जायते, न तु महत्त्वगुणोपजनने द्व्यणुकगतं महत्त्वमपेक्षते, तस्य ह्रस्वत्वात् । यथा वा तदेव त्र्यणुकादि दीर्घं ह्रस्वाद् द्व्यणुकाज्जायते, न तु तद्गतं दीर्घत्वमपेक्षते, तदभावात् । वाशब्दश्चार्थेऽनुक्तसमुच्चयार्थः । यथा द्व्यणुकमणु ह्रस्वपरिमाणं परिमण्डलात् परमाणोरपरिमण्डलं जायत एवञ्चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगन्निष्पद्यत इति सूत्रयोजना । भाष्ये ❀ परमाणुगुणविशेषस्तु इति ❀ । पारिमाण्डल्यग्रहणमुपलक्षणं, न द्व्यणुकेऽणुत्वमपि परमाणुवर्त्ति पारिमाण्डल्यमारभते, तस्य हि द्वित्वसंख्यायोनित्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यामिति सूत्रं गुणिपरं न

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त**—पूर्वपक्षी ने जो दोषाभिधान किया था कि 'कारणगुणाः सजातीयानेव कार्येषु गुणानारभन्ते' उस नियम के अनुसार चेतन ब्रह्म के द्वारा आरब्ध जगत् में चैतन्य की उपलब्धि होनी चाहिए । उस दोष का निराकरण करने के लिए सूत्रकार वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार ही उक्त नियम में व्यभिचार का उद्भावन करता है—"महद्दीर्घवत्" । अर्थात् त्र्यणुकादिरूप महत् द्रव्य जिस अणुत्वपरिमाणवाले द्व्यणुक से उत्पन्न होता है, उस द्व्यणुक का अणुत्व परिमाण त्र्यणुक में सजातीय ( अणुत्व ) परिमाण का आरम्भक नहीं होता और न त्र्यणुक स्वगत महत्त्व परिमाण की उत्पत्ति के लिए द्व्यणुक में महत्त्व परिमाण की अपेक्षा ही करता है । सूत्रकार ने जो 'वा' शब्द का प्रयोग किया है, वह विकल्पार्थक न होकर समुच्चयार्थक है । उसके द्वारा जिस अनुक्तार्थ का समुच्चय किया जाता है, वह यह है कि त्र्यणुकगत अणुत्व परिमाण ही असजातीय गुण से आरब्ध नहीं, अपितु दीर्घत्व परिमाण भी वैसा ही है, क्योंकि द्व्यणुक में ह्रस्वत्व परिमाण ही होता है, दीर्घत्व नहीं । परमाणु और मन में रहनेवाले परमाणुत्व परिमाण को पारिमाण्डल्य कहा जाता है—"परमाणुमनस्सु तत् पारिमाण्डल्यम्" ( प्रशस्त. पृ. ३१८ ) । जैसे परिमण्डल ( अणुत्व परिमाणवाले ) परमाणु से अपरिमण्डलरूप द्व्यणुकादि उत्पन्न होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न हो जाता है ।

भाष्यकार ने भी कहा है—"परमाणुगुणविशेषः" । 'पारिमाण्डल्य' शब्द उपलक्षणमात्र है, क्योंकि द्व्यणुकगत अणुत्व परिमाण को भी परमाणुगत पारिमाण्डल्य उत्पन्न नहीं करता, अपि परमाणुगत द्वित्व संख्या उसको जन्म देती है—यह कहा जा चुका है । ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्'—इस सूत्र-खण्ड का यह अर्थ नहीं कि 'ह्रस्वत्व' परिमाण दीर्घत्व का एवं 'पारिमाण्डल्य' परिमाण अपारमाण्डल्य का आरम्भक है, क्योंकि ऐसी वैशेषिक प्रक्रिया ही नहीं, अतः उक्त सूत्र-खण्ड का यह अर्थ है कि ह्रस्व ( ह्रस्वत्वगुणवाले ) एवं परिमण्डल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अणुत्वह्रस्वत्वे हि द्व्यणुकवर्तिनो परिमाणे वर्णयन्ति। यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते, तदापि समानं द्व्यणुकसमवायिनां शुक्लादीनामारम्भकत्वम्। अणुत्वह्रस्वत्वे तु द्व्यणुकसमवायिनी अपि नैवारभेते, चतुरणुकस्य महत्त्वदीर्घत्वपरिमाणयोगाभ्युपगमात्। यदापि बहवः परमाणवो बहूनि वा द्व्यणुकानि द्व्यणुकसहितो वा परमाणुः कार्यमारभते, तदापि समानैषा योजना। तदेवं यथा परमाणोः परिमण्डलात्सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते, महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि, न परिमण्डलम्, यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्रस्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणु, नो ह्रस्वम्, एवं चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगज्जनिष्यत इत्यभ्युपगमे किं तव च्छिन्नम्? अथ मन्यसे विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्यद्रव्यं द्व्यणुकादीत्यतो नारम्भकाणि कारण-

भामती

गुणपरम्। "यदापि द्वे द्वे द्व्यणुके" इति पठितव्ये प्रमादादेकं द्वेपदं न पठितम्। एवं चतुरणुकमित्याद्युपपद्यते। इतरथा हि द्व्यणुकमेव तदपि स्यात्, न तु महदित्युक्तम्। अथवा द्वे इति द्वित्वे, यथा द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इति। अत्र हि द्वित्वैकत्वयोरित्यर्थः। अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्संख्येयानां बहुत्वात्। तदेवं योजनीयम्—द्व्यणुकाधिकरणे ये द्वित्वे ते यदा चतुरणुकमारभेते संख्येयानां चतुर्णां द्व्यणुकानामारम्भकत्वात्तत्तद्गते द्वित्वसंख्ये अपि आरम्भके इत्यर्थः। एवं व्यवस्थितायां वैशेषिकप्रक्रियायां तद्दूषणस्य व्यभिचार उक्तः। अथाव्यवस्थिता, तथापि तदवस्थो व्यभिचार इत्याह ॐ यदापि बहवः परमाणवः इति ॐ। नाणु जायते नो ह्रस्वं जायते इति योजना। चोदयति ॐ अथ मन्यसे

भामती—व्याख्या

(पारिमाण्डल्य परिमाणवाले) द्रव्य से दीर्घत्व एवं महत्त्व परिमाणवाले त्र्यणुकादि विजातीय द्रव्य का आरम्भ जैसे होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म से अचेतन प्रपञ्च की रचना उपपन्न क्यों न होगी?

"यदापि द्वे द्व्यणुके चतुरणुकमारभेते"—इस भाष्य में "द्वे द्वे"—ऐसा प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि जैसे तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक द्रव्य का आरम्भ होता है, वैसे ही चार द्व्यणुकों से चतुरणुक का उत्पादन होता है, दो द्व्यणुकों से किसी महत् द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती—यह कहा जा चुका है, अतः दो बार 'द्वे' पद का प्रयोग होने पर ही "चतुरणुकमारभेते"—ऐसा कहना उपपन्न होता है, अन्यथा दो द्व्यणुकों से आरब्ध द्रव्य अणु ही होगा महत् नहीं। अथवा 'द्व्यणुके' पद सप्तमी का एकवचनान्त और 'द्वे' पद द्वित्वपरक वैसे ही है, जैसे "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" (पा. सू. १।४।२२) इस सूत्र में 'द्वि' पद द्वित्वपरक माना जाता है, क्योंकि वहाँ 'द्व्येकयोः' का अर्थ 'द्वित्वैकत्वयोः'—ऐसा विवक्षित है, दो और एक संख्येय पदार्थ मिलकर तीन (बहुत) हो जाते हैं, अतः वहाँ 'द्व्येकेषु'—ऐसा प्रयोग होना चाहिए। इस प्रकार 'द्व्यणुके' पद को सप्तम्यन्त मान कर ऐसी योजना करनी चाहिए कि द्व्यणुकरूप अधिकरण में विद्यमान जो दो द्वित्व संख्याएँ हैं, वे जब चतुरणुक का उत्पादन करती हैं।' दो द्व्यणुकों के जोड़े या चार द्व्यणुक चतुरणुक के आरम्भक होने के कारण द्वित्व संख्याएँ भी आरम्भक हो जाती हैं। वैशेषिकों द्वारा वर्णित प्रक्रिया को व्यवस्थित मान कर पूर्वपक्षोक्त चैतन्यापत्तिरूप दोष में व्यभिचार दिखाया गया। यदि उक्त प्रक्रिया को व्यवस्थित नहीं माना जाता, तब भी वही व्यभिचार बना रहता है, ऐसा भाष्यकार कहते हैं—"यदापि बहवः परमाणवः"। "नाणु न ह्रस्वम्"—इस भाष्य की "नाणु जायते, नो ह्रस्वं जायते"—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए।

शङ्का—शङ्कावादी शङ्का करता है कि "अथ मन्यसे विरोधिना परिमाणान्तरेण"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गतानि पारिमाण्डल्यादीनीत्यभ्युपगच्छामि, न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति, येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत। न ह्यचेतना नाम चेतनाविरोधी कश्चिद् गुणोऽस्ति, चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्। तस्मात्पारिमाण्डल्यादिवैधर्म्यात्प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वमिति। मैवं मंस्थाः, यथा कारणे विद्यमानानामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापीत्यस्यांशस्य समानत्वात्। न च परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणम्, प्राक्परिमाणान्तरारम्भात्पारिमाण्डल्यादीनामारम्भकत्वोपपत्तेः, आरब्धमपि कार्यद्रव्यं प्राग्गुणारम्भात्क्षणमात्रमगुणं तिष्ठतीत्यभ्युपगमात्। न च परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि पारिमाण्डल्यादीनीत्यतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते, परिमाणान्तरस्यान्यहेतुत्वाभ्युपगमात्। 'कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्'

भामती

विरोधिना परिमाणान्तरेण स्वकारणद्वारेणाक्रान्तत्वादिति। परिहरति ॐ मैवं मंस्था इति ॐ। कारणगता गुणा न कार्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्त इत्येतावतैवेष्टसिद्धौ न तद्धेत्वनुसरणे खेदनीयं मन इत्यर्थः। अपि च सत्परिमाणान्तरमाक्रामति नासद् उत्पत्तेश्च प्राक् परिमाणान्तरमसदिति कथमाक्रामेत। न च तत्कारणमाक्रामति, पारिमाण्डल्यस्यापि समानजातीयस्य कारणस्याक्रमणहेतोर्भावेन समानबलतयोभयकार्यानुत्पादप्रसङ्गादित्याशयवानाह ॐन च परिमाणान्तराक्रान्तत्वम् इतिॐ। न च विजातीयपरिमाणान्तरारम्भे व्यापृतता पारिमाण्डल्यादीनाम्। न च कारणबहुत्वादीनां सन्निधानमसन्निधानञ्च पारिमाण्डल्यस्येत्याह ॐन च परिमाणान्तरारम्भे इतिॐ। व्यभिचारान्तरमाह ॐसंयोगात् च इतिॐ। शङ्कते। ॐद्रव्ये

भामती–व्याख्या

अर्थात् द्व्यणुकादिरूप कार्य द्रव्य सांख्या-जनित महत्त्वादिरूप विरोधी परिमाण से आक्रान्त है, अतः कारणीभूत परमाणुगत पारिमाण्डल्य परिमाण सजातीय परिमाण का उत्पादक नहीं होता, किन्तु जगद्रूप कार्य किसी विरोधी गुण से आक्रान्त नहीं, अतः उसमें चैतन्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती?

**समाधान**—उक्त शङ्का का परिहार करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"मैवं संस्था"। कार्यभूत द्रव्य विरोधी कर्म से आक्रान्त है? या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर की गवेषणा में मन को खिन्न करने की आवश्यकता क्या? जब कारणीभूत द्रव्य में विद्यमान पारिमाण्डल्य परिमाण कार्य द्रव्य में पारिमाण्डल्यरूप परिमाण का आरम्भक नहीं माना जाता, तब ब्रह्मगत चैतन्य को जगत् में चैतन्य का जनक किस आधार पर माना जा सकता है? दूसरी बात यह भी है कि सत् या विद्यमान अन्य परिमाण ही कार्य द्रव्य को आक्रान्त कर सकता है, असत् नहीं। विरोधी परिमाण अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् है, अतः वह कार्य द्रव्य को क्योंकर आक्रांत करेगा? फलतः उक्त विरोधी परिमाण को उत्पत्ति से पहले ही पारिमाण्डल्य परिमाण अपने सजातीय परिमाण का आरम्भक क्यों नहीं हो जाता? अथवा कारण तत्त्व तो विरोधी गुण से आक्रान्त है नहीं, अतः पारिमाण्डल्य भी अपने सजातीय गुण का आरम्भ करना चाहता है और उसी समय संख्यादि कारण महत्त्वरूप विरोधी परिमाण को जन्म देना चाहता है—ऐसी परिस्थिति में उभयविध कार्य की उत्पत्ति अवरुद्ध हो जानी चाहिए—ऐसा आशय रख कर भाष्यकार कहते हैं—"न च पारिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वे कारणम्"। पारिमाण्डल्य तो कभी अपने विरोधी परिमाण के आरम्भ में व्यापृत हो नहीं सकता। महत्त्व के आरम्भक बहुत्वादि सन्निहित हैं और पारिमाण्डल्य असन्निहित है—यह बात भी नहीं, ऐसा कहा जा रहा है—"न च परिमाणान्तरारम्भे व्यग्राणि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

( वै० सू० ७।१।९ ) तद्विपरीतमणु' ( वै० सू० ७।१।१० ) 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' ( वै० सू० ७।१।१७ ) इति हि काणभुजानि सूत्राणि। न च संनिधानविशेषात्कुतश्चित्कारणबहुत्वादीन्येवारभन्ते न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वारभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवायाविशेषात्। तस्मात्स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं, तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम्। संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात्समानजातीयोत्पत्तिव्यभिचारः। द्रव्ये प्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत्—न, दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात्। न च द्रव्यस्य द्रव्यमेवोदाहर्तव्यं गुणस्य वा गुण एवेति कश्चिन्नियमे हेतुरस्ति। सूत्रकारोऽपि भवतां द्रव्यस्य गुणमुदाजहार—'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात्संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते' ( वै० सू० ४।२।२ ) इति। यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोर्भूम्याकाशयोः समवयन्संयोगोऽप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेषु पञ्चसु भूतेषु समवयच्छरीरमप्रत्यक्षं स्यात्। प्रत्यक्षं हि शरीरम्, तस्मान्न पाञ्चभौतिकमिति। एतदुक्तं भवति—गुणश्च संयोगो द्रव्यं शरीरम्। 'दृश्यते तु' ( ब्र० सू० २।१।६ ) इति चात्रापि विलक्षणोत्पत्तिः प्रपञ्चिता। नन्वेवं सति तेनैवैतद् गतम्। नेति ब्रूमः, तत्सांख्यं प्रत्युक्तम्, एतत्तु वैशेषिकं प्रति। नन्वतिदेशोऽपि समानन्यायतया कृतः। 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' ( ब्र० सू० २।१।१२ ) इति। सत्यमेतत्, तस्यैव त्वयं वैशेषिकप्रक्रियारम्भे तत्प्रक्रियानुगतेन निदर्शनेन प्रपञ्चः कृतः ॥ ११ ॥

---

भामती

प्रकृते इति ❀। निराकरोति ❀ न दृष्टान्तेन इति ❀। न चास्माकमयमनियमो भवतामपीत्याह ❀ सूत्रकारोऽपि इति ❀। सूत्रं व्याचष्टे ❀ यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोः इति ❀। शेषमतिरोहितार्थम् ॥११॥

---

भामती—व्याख्या

पारिमाण्डल्यादीनि"। गुणों की सजातीयारम्भकता के नियम में अन्य व्यभिचार का भी उद्भावन किया जाता है—"संयोगाच्च द्रव्यादीनाम्"। अर्थात् संयोगरूप गुण सर्वत्र सजातीय गुण का ही आरम्भक नहीं, द्रव्यादि का भी जनक माना जाता है।

**शङ्का**—ब्रह्म द्रव्य है, अतः उसकी सजातीयारम्भकता के प्रसङ्ग में पारिमाण्डल्यादि गुणों की सजातीयानारम्भकता का प्रदर्शन उपयोगी नहीं—ऐसी शङ्का की है—"द्रव्ये प्रकृते"।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए कहा जाता है—"न, दृष्टान्तेन"। अर्थात् कारणतत्त्व को विलक्षण कार्य की आरम्भकता में ही दृष्टान्त प्रस्तुत करना मात्र विवक्षित है। केवल हमारे मत में ही अनियम है-ऐसी बात नहीं, अपि तु आप (वैशेषिकों) के मत में भी है—"सूत्रकारोऽपि भवताम्"। महर्षि कणाद ने भी कारणीभूत द्रव्य में द्रव्यात्मक कार्य का वैलक्षण्य सिद्ध करने के लिए गुण-वैलक्षण्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है—"प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य" ( कणादसू० ४।२।२ ) कणाद-सूत्र की व्याख्या भाष्यकार कर रहे हैं—"यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयोः"। [ अर्थात् शरीर यदि पाँच भौतिक होता, तब प्रत्यक्षभूत पृथिवी और अप्रत्यक्षभूत आकाश में समवेत होने के कारण वैसे ही अप्रत्यक्ष हो जाता, जैसे प्रत्यक्षभूत पृथिवी और अप्रत्यक्ष आकाश में समवेत संयोग सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होता है, अतः जीवों के शरीर पाञ्चभौतिक नहीं ]। शेष भाष्य स्पष्टार्थक है ॥ ११ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ३ परमाणुजगदकारणत्वाधिकरणम् । सू० १२–१७ )

### उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति । स च वाद इत्थं समुत्तिष्ठते—पटादीनि हि लोके सावयवानि द्रव्याणि स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तन्त्वादिभिर्द्रव्यैरारभ्यमा-

भामती

परमाणूनामाद्यस्य कर्मणः कारणाभ्युपगमेऽनभ्युपगमे वा न कर्मातस्तदभावः, तस्य द्व्यणुकादिक्रमेण सर्गस्याभावः । अथवा यद्यणुसमवाय्यदृष्टमथवा क्षेत्रज्ञसमवायि, उभयथापि तस्याचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्याप्रवृत्तेः कर्माभावोऽतस्तदभावः सर्गाभावः । निमित्तकारणतामात्रेण स्वीश्वरस्याधिष्ठातृत्वमुपरिष्टान्निराकरिष्यते । अथवा संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थमुभयथापि न कर्मातः सर्गहेतोः संयोगस्याभावात् प्रलयहेतोर्विभागस्याभावात् तदभावः, तयोः सर्गप्रलययोरभाव इत्यर्थः । तदेतत् सूत्रं तात्पर्यतो व्याचष्टे ॐ इदानीं परमाणुकारणवादम् इति ॐ । निराकार्यस्वरूपमुपपत्तिसहितमाह ॐ स च वादः इतिॐ । ॐस्वानुगतैःॐ स्वसम्बद्धैः । सम्बन्धश्चाधार्याधारभूत इहप्रत्ययहेतुः समवायः । पञ्चम-

भामती–व्याख्या

**संगति**—पूर्वाधिकरण में ब्रह्मकारणतावाद का जो समर्थन किया, वह इस तर्कपाद का प्रमुख विषय नहीं, परकीय मत का साक्षात् निराकरण करना ही इस पाद का प्रधान विषय है, अतः परमाणुकारणतावाद का निराकरण किया जाता है।

**सन्देह**—परमाणुकारणतावादियों ने जो सृष्टि के समय परमाणुओं में कर्म ( क्रिया ) का प्रतिपादन किया है—"महेश्वरसिसृक्षानन्तरं सर्वात्मगताद्दष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ" ( प्रशस्त. पृ. १२७ )। वह सम्भव है ? अथवा नहीं ?

**सिद्धान्त**—पूर्वपक्षोक्त परमाणु-कर्म का निराकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा है—"उभयथापि न कर्मातस्तदभावः"। इसकी तीन प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—(१) परमाणुगत प्रथम कर्म ( क्रिया ) का कोई कारण मानने और न मानने की दोनों अवस्थाओं में कर्म सम्भव नहीं, अतः सर्ग ( सृष्टि ) का अभाव प्रसक्त होता है। अथवा ( २ ) कर्म का हेतुभूत अदृष्ट चाहे परमाणु में समवेत माना जाय, चाहे जीव में समवेत माना जाय—दोनों परिस्थियों में वह अदृष्ट न तो चेतन है और न चेतन से अधिष्ठित, अतः उसमें प्रवृत्ति सम्भव न हो सकने के कारण परमाणु-कर्म का अभाव प्रसक्त होता है। वैशेषिकादि ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मान कर जड़ पदार्थों का जो अधिष्ठाता मानते हैं, उसका निराकरण आगे चल कर "पत्युरसामञ्जस्यात्" ( ब्र. सू. २।२।३७ ) इस सूत्र में किया जायगा। अथवा ( ३ ) संयोग एवं विभाग की उत्पत्ति—इन दोनों के लिए भी परणुओं में कर्म सम्भव नहीं, अतः सृष्टि के हेतुभूत संयोग और प्रलय के हेतुभूत विभाग का अभाव होने के कारण उन ( सर्ग और प्रलय दोनों ) का अभाव प्राप्त होता है।

सूत्रकार के तात्पर्य को दृष्टि-कोण में रख कर भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—"इदानीं परमाणुकारणवादं निराकरोति"। निराकरणीय पूर्वपक्ष का उपपादन करते हैं—"स च वादः"। "स्वानुगतैः" इस भाष्य-पद का अर्थ है—'स्वसंबद्धैः'। अर्थात् पटादि पदार्थ स्वानुगत ( स्वसम्बन्धी ) तन्तुओं के द्वारा आरब्ध होते हैं। पट और तन्तुओं का सम्बन्ध समवाय विवक्षित है। समवाय का लक्षण श्री प्रशस्तपाद ने इस प्रकार किया है—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहप्रत्ययहेतुः, स समवायः" ( प्रशस्त. पृ. ७७ )। अर्थात्-पटादिरूप आधेय और तन्त्वादिरूप आधार के मध्य में 'इह तन्तुषु पटः'—इस प्रकार की प्रतीति का हेतुभूत जो सम्बन्ध होता है, वह समवाय कहलाता है। आकाशरूप पञ्चम


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णानि दृष्टानि। तत्सामान्येन यावत्किंचित्सावयवं तत्सर्वं स्वानुगतैरेव संयोगसचिवैस्तैर्द्रव्यैरारब्धमिति गम्यते। स चायमवयवावयविविभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्षपर्यन्तगतः परमाणुः। सर्वं चेदं जगद् गिरिसमुद्रादिकं सावयवम्; सावयवत्वाच्चाद्यन्तवत्। न चाकारणेन कार्येण भवितव्यमित्यतः परमाणवो जगतः कारणमिति कणभुगभिप्रायः। तानीमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदकतेजःपवनाख्यानि सावयवान्युपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते। तेषां चापकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभागासम्भवाद्विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति, स प्रलयकालः। ततः सर्गकाले च वायवीयेष्वणुष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत्कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति, ततो द्व्यणुकादिक्रमेण वायुरुत्पद्यते। एवमग्निरेवमाप एवं पृथिवी। एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति। एवं सर्वमिदं जगदणुभ्यः सम्भवति। अणुगतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि सम्भवन्ति, तन्तुपटन्यायेनेति काणादा मन्यन्ते।

तत्रेदमभिधीयते—विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमप्यभ्युपगन्तव्यम्। अनभ्युपगमे निमित्ताभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत, तस्यासम्भवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः सम्भवति, शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनस्यात्मनः संयोगे सत्यात्मगुणः प्रयत्नो जायते। एतेनाभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम्। सर्गोत्तरकालं हि तत्सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्तं सम्भवति। अथादृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत, तत्पुनरात्मसमवायि वा स्यादणुसमवायि वा? उभयथापि नादृष्टनिमित्तमणुषु कर्मावकल्पेत,

---

भामती

भूतस्यानवयवत्वात् तानीमानि चत्वारि भूतानीति। ॐतत्रॐ परमाणुकारणवादे ॐइदमभिधीयतेॐ सूत्रम्। तत्र प्रथमां व्याख्यामाह ॐ कर्मवताम् इति ॐ। अभिघातादीत्यादिग्रहणेन नोदनसंस्कारगुरुत्वद्रवत्वादि गृह्यन्ते। नोदनसंस्कारावभिघातेन समानयोगक्षेमौ गुरुत्वद्रवत्वे च परमाणुगते सदातने इति कर्मसातत्यप्रसङ्गः। द्वितीयं व्याख्यानमाशङ्कापूर्वमाह ॐ अथादृष्टं ॐ धर्माधर्मौ। ॐ आद्यस्य कर्मणः इति ॐ।

---

भामती—व्याख्या

भूत पदार्थ निरवयव है, अतः भाष्यकार ने कहा है—"तानीमानि चत्वारि भूतानि"।

"तत्रेदमभिधीयते"—इस भाष्य का अर्थ यह है कि उस परमाणुकारणवाद में इस सूत्र के द्वारा दोषाभिधान किया जाता है—"उभयथापि न कर्मातस्तदभावः"। व्याख्या के तीन प्रकारों में से (१) प्रथम प्रकार दिखाते हैं—"कर्मवताम्"। "अभिघातादिः"—यहाँ 'आदि' पद के द्वारा नोदन (क्रिया-जनक संयोग), संस्कार (वेगसंज्ञक संस्कार) गुरुत्व और द्रवत्व का ग्रहण किया जाता है। जैसे उलूखल में मुसलादि का अभिघात (शब्द-जनक संयोग) प्रयत्न-विशेष की अपेक्षा करता है, वैसे ही नोदन (प्रत्यञ्चा के साथ बाणादि का० संयोग) भी एक विशेष प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा करता है, अतः अभिघात और नोदन—दोनों समानयोगक्षेमक कहलाते हैं। इसी प्रकार क्रिया के जनकीभूत गुरुत्व और द्रवत्व गुण परमाणुओं में सदैव रहते हैं, अतः उनके द्वारा यदि परमाणु-कर्म की उत्पत्ति मानी जाती है, तब उसे सतत निरन्तर या सदैव होना चाहिए।

(२) उक्त सूत्र-खण्ड की द्वितीय व्याख्या शङ्का-समाधानपूर्वक की जाती है—"अथादृष्टम्।" 'अदृष्ट' पद से धर्माधर्मात्मक संस्कार का ग्रहण किया गया है। "आत्मनश्चानु-

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Jammu Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदृष्टस्याचेतनत्वात्। नह्यचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तते प्रवर्तयति वेति सांख्यप्रक्रियायामभिहितम्, आत्मनश्चानुत्पन्नचैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात्, आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्तं स्यादसंबन्धात्। अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां संबन्ध इति चेन्न—संबन्धसातत्यात्प्रवृत्तिसातत्यप्रसङ्गो नियामकान्तराभावात्। तदेवं नियतस्य कस्यचित्कर्मनिमित्तस्याभावान्नाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्। कर्माभावात्तन्निबन्धनः संयोगो न स्यात्। संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्व्यणुकादि कार्यजातं न स्यात्। संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा स्यादेकदेशेन वा? सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसङ्गो दृष्टविपर्ययप्रसङ्गश्च। प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत्सावयवत्वप्रसङ्गः। परमा-

भामती

* आत्मनश्च * क्षेत्रज्ञस्य * अनुत्पन्नचैतन्यस्य इति *। * अदृष्टवता पुरुषेण इति *। संयुक्तसमवायसम्बन्ध इत्यर्थः। * सम्बन्धस्य सातत्याद् इति *। यद्यपि परमाणुक्षेत्रज्ञयोः संयोगः परमाणुकर्मजस्तथापि तत्प्रवाहस्य सातत्यमिति भावः। सर्वात्मना चेदुपचयाभावः, एकदेशेन हि संयोगे यावण्वोरेकदेशौ निरन्तरौ ताभ्यामन्ये एकदेशाः संयोगेनाव्याप्ता इति प्रथिमोपपद्यते। सर्वात्मना तु नैरन्तर्ये परमाणावेकस्मिम् परमाण्वन्तराण्यपि सम्मान्तीति न प्रथिमा स्यादित्यर्थः। शङ्कते—यद्यपि निष्प्रदेशाः परमाणव-

भामती—व्याख्या

त्पन्नचैतन्यस्य''—यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा है। सृष्टि के आरम्भ में जीवात्मा का चैतन्य ( ज्ञानरूप गुण ) अनित्य होने से उत्पन्न नहीं हुआ, अतः चैतन्य के अभाव में आत्मा को जड़ ही मानना होगा। फलतः उक्त अदृष्ट को चाहे-परमाणु वृत्ति माना जाय, चाहे जीववृत्ति, उभयथा वह जड़ और जड़वृत्ति होने के कारण न स्वयं क्रियावान् हो सकता है और न परमाणु को सक्रिय कर सकता है।

''अदृष्टवता पुरुषेणास्त्यणूनां सम्बन्धः'' अर्थात् परमाणुओं का उक्त अदृष्ट के साथ 'स्वसंयुक्तसमवाय' सम्बन्ध बन जाता है, क्योंकि परमाणु से संयुक्त आत्मा में समवाय' सम्बन्ध से अदृष्ट रहता है, अतः जो अदृष्ट 'समवाय' सम्बन्ध से आत्मा में रहता है, वह 'स्वसमवायिसंयोग' सम्बन्ध से परमाणुवृत्ति होकर परमाणुगत कर्म का जनक माना जाता है। [ इसी आशय को मन में रख कर आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—''सर्वात्मगतवृत्तिलब्धादृष्टापेक्षेभ्यस्तत्संयोगेभ्यः पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ'' ( न्यायकं० पृ० १२७ ) ]। उक्त सम्बन्ध-स्थापना का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती ने कहा है—''सम्बन्धस्य सातत्यात्''। आत्मा विभु है, अतः परमाणुओं के साथ उसका संयोग सदातन है, फलतः परमाणुगत कर्म की निवृत्ति या प्रलयावस्था की उपपत्ति न हो सकेगी, यद्यपि संयोग सम्बन्ध कर्म-जन्य होने से कूटस्थनित्य नहीं माना जा सकता, तथापि बीज-वृक्ष के समान कर्म और संयोग का कार्य-कारणभाव-प्रवाह नित्य माना जा सकता है। वैशेषिकगण दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति मानते हैं, वहाँ जिज्ञासा होती है कि दोनों परमाणुओं का संयोग सर्वात्मना होता है? अथवा एकदेशेन ? यदि उक्त संयोग दोनों परमाणुओं के पूरे विग्रह को व्याप्त करता है, तब उनमें प्रथिमा ( विस्तार या फैलाव ) न हो सकेगी, एक परमाणु के विग्रह में ही दूसरा परमाणु समा जायगा। परस्पर संयोग से परमाणुओं में प्रथिमा ( आकार-वृद्धि ) तभी हो सकती है, जब कि उनका संयोग उनके कतिपय अवयवों के साथ ही हो, क्योंकि उनके निरन्तर ( संयुक्त ) अवयवों को छोड़ कर अन्य अवयव भी ऐसे बच जाते हैं, जो उक्त संयोग से व्याप्त नहीं होते, इसी का नाम विस्तार है किन्तु सर्वात्मना संयोग मानने पर वह प्रथिमा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत्, कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात्। असति चासमवायिकारणे द्व्यणुकादि-कार्यद्रव्यं नोत्पद्येत। यथा चादिसर्गे निमित्ताभावात्संयोगोत्पत्त्यर्थं कर्म नाणूनां संभवति, एवं महाप्रलयेऽपि विभागोत्पत्त्यर्थं कर्म नैवाणूनां संभवेत्। नहि तत्रापि किंचिन्नियतं तन्निमित्तं दृष्टमस्ति। अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थं-

भामती

स्तथापि संयोगस्तयोरव्याप्यवृत्तिरेवंस्वभावत्वात्। कैषा वाचोयुक्तिर्निरंशप्रदेशं संयोगो न व्याप्नोतीति। एषैव वाचोयुक्तिर्यद्यथा प्रतीयते तत्तथाभ्युपेयत इति। तामिमां शङ्कां सूद्धारामाह ❀ परमाणूनां कल्पिताः इति❀। नह्यस्ति सम्भवो निरवयव एकस्तदेव तेनैव संयुक्तश्चासंयुक्तश्चेति, भावाभावयोरेकस्मिन्नद्वये विरोधाद्, अविरोधे वा न क्वचिदपि विरोधोऽवकाशमासादयेत्। प्रतीतिस्तु प्रदेशकल्पनयापि कल्प्यते। तदिदमुक्तं ❀ कल्पिताः प्रदेशाः इति ❀। तथा च सूद्धारेयमिति तामुद्धरति ❀ कल्पितानामवस्तुत्वाद् इति ❀। तृतीयां व्याख्यामाह ❀ यथा चादिसर्गः इति ❀। नन्वभिघातनोदनादयः प्रलयारम्भसमये कस्माद्विभागारम्भककर्महेतवो न सम्भवन्त्यत आह ❀ नहि तत्रापि किञ्चिन्नियतम् इति ❀। सम्भवन्त्य-भिघातादयः कदाचित् क्वचिन्न त्वपर्य्यायेण सर्वस्मिन्नियमहेतोरभावादित्यर्थः। ❀ न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थम्

भामती—व्याख्या

क्योंकर उपपन्न होगी ? एक देश के साथ संयोग मानने पर परमाणुओं में सावयवत्वापत्ति होती है [ आचार्य वसुबन्धु ने भी ऐसी ही आपत्ति उद्भावित की है—"षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता। षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥" ( विंशति० १२ ) ]।

**शङ्का**—यद्यपि परमाणु निरवयव होते हैं, तथापि उनका संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है, क्योंकि संयोग का स्वभाव ही ऐसा है। 'निरवयव परमाणु को संयोग व्याप्त नहीं करता'—इसका क्या अर्थ ? इसका अर्थ यह है कि जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वह वैसी ही मानी जाती है, संयोग सर्वत्र अव्याप्यवृत्ति ही प्रतीत होता है। इस शङ्का को भाष्यकार अपने ऐसे ढँग से प्रस्तुत कर रहे हैं कि उसका उद्धार ( निराकरण ) सुकर हो सके—"परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युः"। आशय यह है कि यह सम्भव नहीं हो सकता कि एक ही निरवयव परमाणु उसी समय संयुक्त भी हो और असंयुक्त भी, क्योंकि संयोग का भाव और अभाव एक अद्वितीय वस्तु में विरुद्ध है। यदि भाव और अभाव का विरोध नहीं माना जाता, तब विरोध नाम की वस्तु ही समाप्त हो जायगी। रही बात संयोग के अव्याप्यवृत्तित्व की प्रतीति। वह तो कल्पित अवयवों को लेकर भी हो सकती है—"कल्पिताः प्रदेशाः"।

**समाधान**—उक्त शङ्का-प्रकार का उद्धार सुकार हो गया—"कल्पितानामवस्तुत्वात्"। कल्पित अवयवों के आश्रित संयोग भी कल्पित होगा। कल्पित पदार्थ की वस्तु-सत्ता नहीं मानी जाती, संयोग के सत् न होने पर द्व्यणुकादि द्रव्य सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि परमाणुओं के संयोग को ही द्व्यणुकादि द्रव्य का असमवायि कारण माना जाता है, कारण के अभाव में कार्य क्योंकर होगा ?

(३) इस सूत्र के "तदभावः"—इस अंश की तृतीय व्याख्या की जाती है—"यथा चादिसर्गे निमित्ताभावात्"। प्रलय के आरम्भ में परमाणु-विभाजक कर्म के हेतुभूत अभिघातादि क्यों नहीं होते ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न हि तत्रापि किञ्चिन्नियतम्"। अर्थात् अभिघातादि कदाचित् किसी-किसी परमाणु में उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु उनका नियमतः प्रत्येक परमाणु में होना नियत नहीं, क्योंकि कोई नियामक माना नहीं जाता। भाष्यकार ने जो यह कहा है कि "अदृष्टमपि भोगसिद्ध्यर्थं न प्रलयप्रसिद्ध्यर्थम्", वहाँ यद्यपि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्यतो निमित्ताभावान्न स्यादणूनां संयोगोत्पत्त्यर्थं विभागोत्पत्त्यर्थं वा कर्म। अतश्च संयोगविभागाभावात्तदायत्तयोः सर्गप्रलययोरभावः प्रसज्येत। तस्मादनुपपन्नोऽयं परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृतेनाणुवादनिराकरणेन संबध्यते। द्वाभ्यां चाणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्तभिन्नमणुभ्यामण्वोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता। न चैवमभ्युपगच्छता शक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम्। कुतः? साम्यादनवस्थितेः। यथैव ह्यणुभ्यामत्यन्तभिन्नं सद् द्व्यणुकं समवायलक्षणेन संबन्धेन ताभ्यां संबध्यत एवं समवायोऽपि समवायिभ्योऽत्यन्तभिन्नः सन्समवायलक्षणेनान्येनैव संबन्धेन समवायिभिः संबध्येत, अत्यन्तभेदसाम्यात्। ततश्च तस्य तस्यान्योन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत। नन्विहप्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसंबद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासंबन्ध संबन्धान्तरापेक्षो वा। ततश्च न तस्यान्यः

भामती

इति ॐ। यद्यपि शरीरादिप्रलयारम्भेऽस्ति दुःखभोगस्तथाप्यसौ पृथिव्यादिप्रलये नास्तीत्यभिप्रेत्येदमुदितमिति मन्तव्यम् ॥ १२ ॥

व्याचष्टे ॐ समवायाभ्युपगमाच्च इति ॐ। न तावत् स्वतन्त्रः समवायोऽत्यन्तं भिन्नः समवायिभ्यां समवायिनौ घटयितुमर्हत्यतिप्रसङ्गात्। तस्मादनेन समवायिसम्बन्धिना सता समवायिनौ घटनीयौ, तथा च समवायस्य सम्बन्धान्तरेण समवायिसम्बन्धेऽभ्युपगम्यमानेऽनवस्था। अथासौ सम्बन्धिभ्यां सम्बन्धे न सम्बन्धान्तरमपेक्षते सम्बन्धिसम्बन्धनपरमार्थत्वात्। तथाहि—नासौ भिन्नोऽपि सम्बन्धिनिरपेक्षो निरूप्यते। न च तस्मिन् सति सम्बन्धिनावसम्बन्धिनौ भवतस्तस्मात् स्वभावादेव समवायः समवायिनोर्न सम्बन्धा-

भामती—व्याख्या

जब शरीरादि का प्रलय होने लगता है, तब जीव को जो दुःखच्छेद ( दुखःविशेषरूप भोग ) होता है, उसका जनकीभूत अदृष्ट ही प्रलय का साधक हो सकता है। तथापि वह अदृष्ट केवल शरीरादि के प्रलय का ही साधक हो सकता है, पृथिव्यादि के प्रलय का साधक नहीं हो सकता—ऐसा मानकर भाष्यकार ने वैसा कहा है ॥ १२ ॥

"समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः"—इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"समवायाभ्युपगमाच्च तदभाव इति प्रकृते नाणुवादनिराकरणेन सम्बध्यते"। सारांश यह है कि समवाय सम्बन्ध स्वतन्त्र ( अपने सम्बन्धियों से असम्बन्धित रह कर ) सम्बन्धियों को परस्पर सम्बन्धित करता है? अथवा स्वतन्त्र न रह कर सदैव अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध ही रहता? यदि स्वतन्त्र है, तब कभी भी अपने सम्बन्धियों को सम्बन्धित नहीं कर सकता, अन्यथा द्रव्य और गुणादि से भिन्न कर्मादि भी वही कार्य कर सकेंगे, जो समवाय करता है, अतः अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित होकर ही समवाय को अर्थक्रियाकारी मानना होगा। समवाय जिस सम्बन्धान्तर से सम्बन्धित होता है, वह सम्बन्धान्तर भी अन्य सम्बन्ध से और अन्य सम्बन्ध भी किसी अन्य सम्बन्ध से ही सम्बन्धित होगा—इस प्रकार सूत्रोक्त अनवस्थिति ( अनवस्था ) प्रसक्त होती है।

यदि अपने सम्बन्धियों से सम्बन्धित होने के लिए समवाय को सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं होती, अपितु स्वरूपतः सम्बन्धित होता है, अतः अनवस्था क्यों होगी? ऐसी शङ्का की जा रही है—"नन्विहप्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्यसम्बद्ध एव"। आचार्य प्रशस्तपाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येतेति। नेत्युच्यते—संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्यसंबद्ध एवेति समवायवन्नान्यं संबन्धमपेक्षेत। अथार्थान्तरत्वात्संयोगः संबन्धान्तरमपेक्षेत, समवायोऽपि तर्ह्यर्थान्तरत्वात्संबन्धान्तरमपेक्षेत। नच गुणत्वात्संयोगः संबन्धान्तरमपेक्षते न समवायोऽगुणत्वादिति युज्यते वक्तुम्, अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्, गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्। तस्मादर्थान्तरं समवायमभ्युपगच्छतः प्रसज्येतैवानवस्था। प्रसज्यमानायां चानवस्थायामेकासिद्धौ सर्वासिद्धेर्द्वाभ्यामणुभ्यां

भामती

न्तरेणेति नानवस्थेति चोदयति ❀ नन्विहप्रत्ययग्राह्यः इति ❀। परिहरति ❀ नेत्युच्यते, संयोगोऽप्येवम् इति ❀। तथाहि संयोगोऽपि सम्बन्धिसम्बन्धनपरमार्थः, न च भिन्नोऽपि संयोगिभ्यां विना निरूप्यते, न च तस्मिन् सति संयोगिनावसंयोगिनौ भवत इति तुल्यश्चर्चः। यद्युच्येत गुणः संयोगो न च द्रव्यासमवेतो गुणो भवति, न चास्य समवायं विना समवेतत्वं, तस्मात्संयोगस्यास्ति समवाय इति शङ्कामपाकरोति ❀ न च गुणत्वाद् इति ❀। यद्यसमवायेऽस्यागुणत्वं भवति कामं भवतु न नः काचित् क्षतिस्तदिदमुक्तं ❀ गुणपरिभाषायाश्च इति ❀। परमार्थतस्तु द्रव्याश्रयीत्युक्तम्। तच्च विनापि समवायं स्वरूपतः संयोगस्योपपद्यते एव। न च कार्य्यत्वात्समवाय्यसमवायिकारणापेक्षितया संयोगः समवायीति युक्तम्, अजसंयोगस्यातथात्वप्रसङ्गात्। अपि च समवायस्यापि सम्बन्ध्यधीनसद्भावस्य संबन्धिनश्चैकस्य द्वयोर्वा विनाशित्वेन विनाशित्वात्कार्यत्वम्। नह्यस्ति सम्भवो गुणो वा गुणगुणिनौ वाऽवयवो वाऽवयवावयविनौ वा न स्तोऽप्यस्ति च तयोः सम्बन्ध इति। तस्मात् कार्य्यः सयवायः। तथा च यथैष निमित्तकारणमात्राधीनोत्पादः, एवं संयोगोऽपि। अथ समवायोऽपि समवाय्यसमवायिकारणे अपेक्षते तथापि सैवानवस्थेति।

भामती-व्याख्या

ने समवाय का यही लक्षण किया है—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः" ( न्यायकं. पृ. ७७३ )।

उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"नेत्युच्यते संयोगोऽप्येवम्"। आशय यह है कि संयोग सम्बन्ध भी अपने प्रतियोगी और अनुयोगीरूप दोनों सम्बन्धियों को परस्पर सम्बन्धित करता है। यद्यपि वह अपने सम्बन्धियों से भिन्न है, तथापि उनके विना उसका निरूपण नहीं हो सकता [ जैसे रूप और घट के समवाय का निरूपण 'रूपसमवायः, घटसमवायः'—इस प्रकार सम्बन्धियों के द्वारा होता है, वैसे ही घट और पट के संयोग का निरूपण 'घटसंयोगः, पटसंयोगः'—इस प्रकार सम्बन्धियों के द्वारा ही होता है, असम्बद्ध पदार्थों का निरूप्य-निरूपकभाव नहीं होता, फलतः समवाय के समान ही संयोग का भी अपने सम्बन्धियों के साथ सम्बन्धान्तर मानना होगा। यदि समवाय का कोई सम्बन्धान्तर नहीं माना जाता, तब संयोग का भी सम्बन्धान्तर नहीं माना जा सकता—इस प्रकार समवाय और संयोग—दोनों की चर्चा समान है ]। सम्बन्धियों के द्वारा निरूपित होने के कारण संयोग अपने संबन्धियों का संयोजक नहीं होता—ऐसी बात नहीं, उस संयोग के द्वारा भी संयोजित सम्बन्धी संयोगी ही माने जाते हैं, असंयोगी नहीं। ऐसी जो शङ्का होता है कि संयोग एक गुण पदार्थ है, गुण नियमतः द्रव्य में समवेत होता है, 'समवाय' सम्बन्ध को छोड़ कर संयोग के समवेतत्व का नियामक और कोई नहीं, अतः संयोग का समवायरूप सम्बन्धान्तर मानना आवश्यक क्यों नहीं ? उस शङ्का का अपाकरण किया जा रहा है—"न च गुणत्वात्"। यदि संयोग में असमवेतत्व मानने पर गुणरूपता की अनुपपत्ति होती है, तब उसके होने पर हमारी ( वेदान्तियों की कोई क्षति नहीं, क्योंकि "गुणपरिभाषायाश्चातन्त्रत्वात्।" अर्थात् "द्रव्यसमवेता गुणाः" ऐसा वैशेषिक सम्मत लक्षण गुणरूपता का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्व्यणुकं नैवोत्पद्येत । तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

अपि चाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वाऽभ्युपगम्यन्ते गत्यन्तराभावात् । चतुर्धापि नोपपद्यते । प्रवृत्तिस्वभावत्वे

भामती

तस्मात्समवायवत् संयोगोऽपि न सम्बन्धान्तरमपेक्षते । यदुच्येत सम्बन्धिनावसौ घटयति नात्मानमपि सम्बन्धिभ्यां तत् किमसावसम्बद्ध एव सम्बन्धिभ्यामेवं चेदत्यन्तभिन्नोऽसम्बद्धः कथं सम्बन्धिनौ सम्बन्धयेत् । सम्बन्धने वा हिमवद्विन्ध्यावपि सम्बन्धयेत् । तस्मात्संयोगः संयोगिनोः समवायेन सम्बद्ध इति वक्तव्यम् । तदेतत्समवायस्यापि समवायिसम्बन्धे समानमन्वत्राभिनिवेशात्तथाचानवस्थेति भावः ॥१ ॥

प्रवृत्तेरप्रवृत्तेर्वेति शेषः । अतिरोहितार्थमस्य भाष्यम् ॥ १४ ॥

भामती–व्याख्या

नियामक नहीं, कर्मादि में अतिव्याप्त है । वस्तुतः पराश्रित या गौणरूप से रहनेवाले पदार्थ को गुण कहते हैं । गुणों में द्रव्याश्रितता तो स्वरूपतः भी उपपन्न हो जाती है । 'समवाय नित्य पदार्थ है और संयोग जन्य, जन्य वस्तु को समवायी और असमवायिकारण की नित्य अपेक्षा है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि आत्मा और आकाशादि के नित्य संयोग में वैसा सम्भव न हो सकेगा ।

दूसरी बात यह भी है कि समवाय का भी सद्भाव सम्बन्धियों के सद्भाव पर निर्भर है, जैसा कि शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—"यत एव पिण्डस्योदयः समवायिकारणात्, तत एव जातिसमवायोऽपि तस्योत्पद्यते" ( प्र. पं. पृ. ९२ ) । सम्बन्धियों में से कहीं एक और कहीं दोनों विनाशी होते हैं, अतः समवाय सम्बन्ध भी नित्य न होकर अनित्य ही सिद्ध होता है, क्योंकि ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता कि केवल गुण या गुण और गुणी—दोनों के न होने पर भी उनका समवाय सम्बन्ध विद्यमान हो । इसी प्रकार अवयव या अवयव और अवयवी—दोनों के न रहने पर उनके समवाय सम्बन्ध का सद्भाव कभी नहीं हो सकता । फलस्वरूप समवाय को अनित्य ( कार्यरूप ) मानना ही होगा । फिर भी अनवस्था-परिहार करने के लिए प्राभाकरगण केवल निमित्तकारण से समवाय का जन्म मानते हैं, वैसे ही संयोग के लिए भी कहा जा सकता है । यदि समवाय को भी समवायी और असमवायिकरण की अपेक्षा मानी जाती है, तब वही समवाय-परम्परा की अनवस्था प्रसक्त होती है, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि 'समवाय' सम्बन्ध के समान ही 'संयोग' सम्बन्ध भी सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करता । यदि कहा जाय कि संयोग सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों को ही परस्पर सम्बन्धित करता है, अपने को उनसे सम्बन्धित नहीं करता । तब यह जिज्ञासा होती है कि वह अपने सम्बन्धियों से सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध होकर सम्बन्धियों को क्योंकर सम्बन्धित कर सकेगा ? यदि किसी संबन्ध के विना ही पदार्थों को संबन्धित कर सकता है, तब हिमालय और विन्ध्य पर्वत को संयुक्त क्यों नहीं कर देता ? परिशेषतः यह मानना होगा कि संयोग संबन्ध अपने प्रतियोगी और अनुयोगिरूप संबन्धियों के साथ जिस समवाय संबन्ध से संबन्धित है, उस समवाय संबन्ध को भी अपने संबन्धियों के साथ संबन्धित होने के लिए समवायान्तर की अपेक्षा अनिवार्य है, फलतः कथित अनवस्था दोष अपरिहार्य है ॥ १३ ॥

"नित्यमेव च भावात्"—इस सूत्र के अन्त में "प्रवृत्तेरप्रवृत्तेर्वा"—ऐसा वाक्य-शेष जोड़ लेना चाहिए, अर्थात् परमाणुओं को प्रवृत्तिशील मानने पर नित्य प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति शील मानने पर नित्य निवृत्ति प्रसक्त होती है । शेष भाष्य अत्यन्त सुगम है ॥ १४ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यमेव प्रवृत्तेर्भावात्प्रलयाभावप्रसङ्गः। निवृत्तिस्वभावत्वेऽपि नित्यमेव निवृत्तेर्भावात् सर्गाभावप्रसङ्गः। उभयस्वभावत्वं च विरोधादसमञ्जसम्। अनुभयस्वभावत्वे तु निमित्तवशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभ्युपगम्यमानयोरदृष्टादेर्निमित्तस्य नित्यसंनिधानान्नित्य-प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अतन्त्रत्वेऽप्यदृष्टादेर्नित्याप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तस्मादप्यनुपपन्नः पर-माणुकारणवादः ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न संभवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति, स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणूनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत। परमकारणापेक्षया स्थूलत्व-मनित्यत्वं च तेषामभिप्रेतविपरीतमापद्येतेत्यर्थः। कुतः? एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्, तद्यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति, तन्तवश्चांशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति, तथा चामी परमाणवो रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात्तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति। यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम् -'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० सू०

---

भामती

यत् किल भूतभौतिकानां मूलकारणं तद्रूपादिमान् परमाणुर्नित्य इति भवद्भिरभ्युपेयते, तस्य चेद्रूपादिमत्त्वमभ्युपेयेत परमाणुत्वनित्यत्वविरुद्धे स्थौल्यानित्यत्वे प्रसज्येयातां, सोऽयं प्रसङ्ग एकधर्माभ्यु-पगमे धर्मान्तरस्य, नियता प्राप्तिर्हि प्रसङ्गलक्षणं, तदनेन प्रसङ्गेन जगत्कारणप्रसिद्धये प्रवृत्तं साधनं रूपादिमन्नित्यपरमाणुसिद्धेः प्रच्याव्य ब्रह्मगोचरतां नीयते। तदेतद्वैशेषिकाभ्युपगमोपन्यासपूर्वकमाह ❀ सावयवानां द्रव्याणाम् इति ❀। परमाणुनित्यत्वसाधनानि च तेषामुपन्यस्य दूषयति ❀ यच्च

---

भामती-व्याख्या

आप वैशेषिकगण यह मानते हैं कि जो समस्त भूत-भौतिक प्रपञ्च का मूल कारण है, वह रूपादि गुणोंसे युक्त, परम अणु परिमाणवाला एवं नित्य होता है। वह उनकी मान्यता संगत नहीं, क्योंकि मूल कारण को यदि रूपादि गुणों से युक्त माना जाता है, तब मूल कारण में परमाणुत्व और नित्यत्व के विपरीत स्थूलत्व और अनित्यत्व प्रसक्त होता है। भाष्यकार ने यहाँ 'यदि जगतो मूलकारणं रूपादिमत् स्यात्, तर्हि नित्यो न स्यात्—इस प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है, जो कि अनिष्ट-प्रसञ्जनात्मक है। [ तर्क स्वयं साधक नहीं होता, जैसा कि स्वयं मिश्र जी न्यायवार्तिक की व्याख्या में कहते हैं—"तस्य प्रसङ्गतया पारतन्त्र्येण स्वयम-साधकत्वात्" (तात्पर्य. पृ. ६१)। तर्क के स्वरूप और भेदों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है—"स्वरूपमनिष्टप्रसङ्गः। स चात्माश्रयेतरेताश्रयचक्रकानवस्था प्रमाणबाधितार्थप्रसङ्गभेदेन पञ्च-विधः" ( परिशुद्धि. पृ० ५८७ )]। अनिष्टप्रसञ्जनात्मक तर्क का विपर्यय में पर्यवसान अवश्य होता है—"न हि विपर्ययापर्यवसितं क्वचिदपि कृतार्थं प्रसङ्गमीक्षामहे" ( परिशुद्धि. पृ० १४१ )। प्रकृत में रूपादिमत्त्वरूप धर्म के मानने पर अनित्यत्वादिमत्त्व का प्रसञ्जन किया गया, आपाद्य और आपादक की व्याप्ति मानी जाती है। अनित्यत्वादिरूप व्यापक के अभाव में रूपादिमत्त्वरूप व्याप्य का अभाव पर्यवसित होकर परमाणु के स्थान पर ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करता है। इसी आशय का उपन्यास करते हुए भाष्यकार वैशेषिकों का सिद्धान्त प्रदर्शित करते हैं—"सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानाम्"।

१. वैशेषिक-सम्मत परमाणु नित्यत्व साधनों का उपन्यास कर निरास किया जाता

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४।१।१ ) इति। तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति, उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः। यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम्—'अनित्यमिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः' (वै० ४।१।४ ) इति, तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति। असति हि यस्मिन् कस्मिंश्चिन्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते, न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते। तच्चास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म। नच शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तरसिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्। यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—'अविद्या च' (वै. ४।१।५) तद्यद्येवं विब्रीयेत सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्येति, ततो द्व्यणुकनित्यताऽप्यापद्येत।

भामती

नित्यत्वे कारणम् इति ❀। ❀ सद् इति ❀। प्रागभावाद् व्यवच्छिनत्ति ❀ अकारणवत् इति ❀। घटादेः। ❀ यदपि द्वितीयम् इति ❀। लब्धरूपं हि क्वचित् किञ्चिदन्यत्र निषिध्यते। तेनानित्यमिति लौकिकेन निषेधेनान्यत्र नित्यत्वसद्भावः कल्पनीयस्ते चान्ये परमाणव इति। तन्न, आत्मन्यपि नित्यत्वोपपत्तेः। व्यपदेशस्य च प्रतीतिपूर्वकस्य तदभावे निर्मूलस्यापि दर्शनात्। यथेह वटे यक्ष इति। ❀यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणमविद्येति ❀। यदि सतां परमाणूनां परिदृश्यमानस्थूलकार्याणां प्रत्यक्षेण कारणा-

भामती—व्याख्या

है—"यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्"। "सदकारणवन्नित्यम्" ( वै. सू. ४।१।१ ) इस सूत्र में 'सत्' पद प्रागभाव से परमाणु को व्यावृत्त करता है और 'अकारणवत्'—यह पद घटादि से। अर्थात् जो पदार्थ प्रागभावादिरूप अभाव पदार्थों से भिन्न भावात्मक एवं घटादि के समान सकारण न होकर अकारणक होता है, वह नित्य होता है, जैसे—आत्मा। परमाणु पदार्थ भी वैसा ही होने के कारण नित्य सिद्ध होता है ] किन्तु रूपादि गुणों से युक्त होने के कारण परमाणु अनित्य हैं—यह कहा जा चुका है।

"यदपि नित्यत्वं द्वितीयं कारणम्"—इस भाष्य का आशय यह है कि यह एक नैसर्गिक नियम है कि जिस वस्तु का कहीं अन्यत्र सद्भाव होता है, उसी वस्तु का अन्यत्र निषेध किया जाता है, जैसा कि श्री मण्डन मिश्र कहते हैं—"लब्धरूपे क्वचित् किञ्चिदेव निषिध्यते" ( ब्र. सि. पृ. ४४ )। इस प्रकार 'घटो न नित्यः'—यहाँ नित्यता का तभी निषेध हो सकता है, जब कि कहीं अन्यत्र नित्यता विद्यमान हो, अतः निषिध्यमान नित्यता जहाँ माननी पड़ती है, वह परमाणु है। वैशेषिकों की इस युक्ति का निरास करने के लिए कहा जा सकता है कि घटादि में निषिध्यमान नित्यता आत्मा में भी मानी जा सकती है, परमाणु में ही नित्यत्व मानना आवश्यक नहीं। घटादिरूप कार्य पदार्थों में अनित्यत्व का व्यपदेश ( शब्द-व्यवहार ) परमाण्वादिरूप कारण पदार्थों में केवल प्रतीयमान नित्यत्व के अभाव पर निर्भर है। यदि वह नित्यत्व वहाँ प्रमाण-सिद्ध नहीं, तब उक्त व्यवहार वैसे ही निर्मूल हो सकता है, जैसे वट वृक्ष पर यक्षादि न होने पर भी 'इह वटे यक्षः'—ऐसा व्यवहार।

३. "यदपि नित्यत्वे तृतीयं कारणम्"—इस भाष्य का अभिप्राय यह है कि वैशेषिकसूत्रकार ने कहा है—"अविद्या च" (वै. सू. ४।१।१)। इसका अर्थ "परमाणोः कारणनाशकयोरविद्या" अर्थात् परमाणु के कारण और नाशक का अज्ञान होने के कारण परमाणु नित्य सिद्ध होता है। यहाँ यदि अविद्या का प्रत्यक्षतः अग्रहण अर्थ करके यह अनुमान प्रस्तुत किया जाता है कि 'परमाणुर्नित्यः, प्रत्यक्षतोऽगृह्यमाणकारणकत्वात्'। तब द्व्यणुक में व्यभिचार होता है, क्योंकि द्व्यणुक के कारणीभूत परमाणुओं का प्रत्यक्षतः अग्रहण होने पर भी द्व्यणुक में नित्यत्व नहीं माना जाता। इस व्यभिचार को हटाने के लिए यदि 'अकारणकत्वे सति'—


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत, तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत। तस्य च प्रागेवोक्तत्वाद् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्। अथापि कारणविभागात् कारणविनाशाच्चान्यस्य तृतीयस्य विनाशहेतोरसंभवोऽविद्या, सा परमाणूनां नित्यत्वं ख्यापयतीति व्याख्यायेत। नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्यां विनष्टुमर्हतीति नियमोऽस्ति। संयोगसचिवे ह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भकेऽभ्युपगम्यमान एतदेवं स्यात्। यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवदवस्थान्तरमाप-

भामती

ग्रहणमविद्या, तया नित्यत्वम्; एवं सति द्व्यणुकस्यापि नित्यत्वम्। ❀ अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत ❀ तथा सति न द्व्यणुकेन व्यभिचारः, तस्यानेकद्रव्यत्वेनाविद्यमानद्रव्यत्वानुपपत्तेः। तथाप्यकारणत्वमेव नित्यतानिमित्तमापद्येत यतोऽद्रव्यत्वमविद्यमानकारणभूतद्रव्यत्वमुच्यते, तथा सति पुनरुक्तमित्याह ❀ तस्य चेति ❀। अपि चाद्रव्यत्वे सति सत्त्वादित्यत एवेष्टार्थसिद्धेरविद्येति व्यर्थम्। अथाविद्यापदेन द्रव्यविनाशकारणद्वयाविद्यमानत्वमुच्यते, द्विविधो हि द्रव्यनाशहेतुः—अवयविनाशोऽवयवव्यतिषङ्गविनाशश्च, तदुभयं परमाणौ नास्ति; तस्मान्नित्यः परमाणुः। न च सुखादिभिर्व्यभिचारः, तेषामद्रव्यत्वादित्याह ❀ अथापीति ❀। निराकरोति ❀ नावश्यमिति ❀। यदि हि संयोगसचिवानि बहूनि द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभेरन्निति प्रक्रिया सिध्येत, सिध्येत द्रव्यस्य द्वयमेव तद्विनाशकारणमिति। न त्वेतदस्ति, द्रव्यस्वरूपापरिज्ञानात्। न तावत् तन्त्वाधारस्तद्व्यतिरिक्तः पटो नामास्ति यः संयोगसचिवैस्तन्तुभिरारभ्येतेत्युक्तमधस्तात्। षट्पदार्थाश्च दूषयिष्यते। किन्तु कारणमेव विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं, तच्च सामान्यात्मकम्। तथाहि मृद्रा सुवर्णं वा सर्वेषु

भामती—व्याख्या

ऐसा विशेषण लगाया जाता है, तब 'अविद्या' या 'प्रत्यक्षतोऽगृह्यमाणकारणकत्वरूप विशेष्य' दल व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'अकारणकत्वे सति भावत्वात्'- इतने हेतु से ही नित्यत्व सिद्ध हो जाता है।

**शङ्का**—यहाँ शङ्का की जाती है कि 'अविद्या' पद से द्रव्य-विनाशके दोनों कारणों की अविद्यमानता विवक्षित है। अर्थात् घटादि द्रव्य के नाशक दो ही माने जाते हैं—(१) समवायिकारणरूप अवयवों का नाश और (२) असमवायिकारणरूप अवयव-संयोग का नाश। इन दोनों प्रकार के नाशक परमाणु के विद्यमान नहीं, अतः परमाणु नित्य सिद्ध होता है—'परमाणुर्नित्यः, अवयवनाशावयवविभागरहितत्वाद् यथा आत्मा'। यह हेतु सुखादि में व्यभिचरित है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ हेतु का 'द्रव्यत्वे सति'— ऐसा विशेषण भी विवक्षित है, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"अथापि"।

**समाधान**—"नावश्यं विनश्यद् वस्तु"। आशय यह है कि यदि संयोग-सहकृत अनेक द्रव्य पदार्थ द्रव्यान्तर के आरम्भक होते हैं—ऐसी प्रक्रिया सिद्ध हो जाय, तब अवश्य ही द्रव्य के दो ही विनाश-कारण होते हैं-यह सिद्ध हो जायगा। किन्तु ऐसी प्रक्रिया रचनेवालों को द्रव्य का परिज्ञान ही नहीं, क्योंकि तन्तुओं में रहनेवाली तन्तुओं से अतिरिक्त कोई पट नाम की वस्तु ही नहीं, जिसका आरम्भ तन्तुओं से होता'—ऐसा विगत आरम्भाधिकरण (पृ० ५६७) में कहा जा चुका है और इसी अधिकरण में आगे भी द्रव्यादि छः पदार्थों का खण्डन करते हुए कहा जायगा। वास्तविकता यह है कि कारण ही विशेष अवस्था को प्राप्त होकर कार्य कहलाता है। वह (कारण) अपने सभी कार्यों में अनुस्यूत सामान्यात्मक होता है, जैसे—मृत्तिका अपने घट, मणिक, मल्लिकादि कार्यों में अनुगत सामान्य प्रतीत होती है अथवा सुवर्ण अपने रुचक, कटक, कुण्डलादि कार्यों में अनुस्यूत सामान्यात्मक अनुभूत होता है। घट और रुचकादि कार्य अपने कारणीभूत मृत्तिका और सुवर्णादिरूप कारणों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा घृतकाठिन्यविलयनवन्मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि

भामती

घटरुचकादिष्वनुगतं सामान्यमनुभूयते, न चैते घटरुचकादयो मृत्सुवर्णाभ्यां व्यतिरिच्यन्त इत्युक्तं, अग्रे च वक्ष्यामः। तस्मात् मृत्सुवर्णे एव तेन तेनाकारेण परिणममाने घट इति च रुचक इति च कपालशर्करा-कणमिति च शकलकणिकाचूर्णमिति च व्याख्यायेते। तत्र तत्रोपादानयोर्मृत्सुवर्णयोः प्रत्यभिज्ञानात्। न तु घटादयो वा कपालादिषु कपालादयो वा घटादिषु च रुचकादयो वा शकलादिषु शकलादयो वा रुचकादिषु प्रत्यभिज्ञायन्ते यत्र कार्यकारणभावो भवेत्। न च विनश्यन्तमेव घटक्षणं प्रतीत्य कपाल-क्षणोऽनुपादान एवोत्पद्यते तस्किमुपादानप्रत्यभिज्ञानेनेति वक्तव्यं, एतस्या अपि वैनाशिकप्रक्रियाया उपरिष्टाद् निराकरिष्यमाणत्वात्। तस्मादुपजनापायधर्माणो विशेषावस्थाः सामान्यस्योपादेयाः, सामा-न्यात्मा तूपादानमेवं व्यवस्थिते यथा सुवर्णद्रव्यं काठिन्यावस्थामपहाय द्रवावस्थया परिणमते, न च तत्रावयवविभागः सत्यपि द्रवत्वे कारणं परमाणूनां भवन्मते तदभावेन द्रवत्वानुपपत्तेस्तस्माद्यथा परमाणुद्रव्यमग्नि-संयोगात् काठिन्यमपहाय द्रवत्वेन परिणमते, न च काठिन्यद्रवत्वे परमाणोरतिरिच्येते। एवं मृद्वा सुवर्णं वा सामान्यं पिण्डावस्थामपहाय कुलालहेमकारादिव्यापाराद् घटरुचकाद्यवस्थामापद्येत। न त्ववयविना-शात्तत्संयोगविनाशाद्वा विनष्टुमर्हन्ति घटरुचकादयः। न हि कपालादयोऽस्योपादानं तत्संयोगो वाऽसम-वायिकारणमपि तु समान्यमुपादानं तच्च नित्यम्। न च तत्संयोगसचिवमेकत्वात्, संयोगस्य द्विष्ठत्वेनैकस्मि-

भामती—व्याख्या

व्यतिरिक्त नहीं होते—यह पहले कह चुके हैं और आगे भी कहेंगे। फलतः मृत्तिका और सुवर्णादि पदार्थ ही तत्तदाकार से परिणत होकर घट और रुचकादि अथवा कपाल-कपालिका-चूर्ण और रुचक-खण्ड-कणादिरूप में व्यवहृत होते हैं, क्योंकि सभी कार्यों में मृत्तिका और सुवर्णादिरूप उपादानकारणों की ही प्रत्यभिज्ञा होती है। इसके विपरीत कपालादि में घटादि अथवा घटादि में कपालादि या शकलादि में रुचकादि या रुचकादि में शकलादि प्रत्यभिज्ञात नहीं होते कि उनमें कार्य-कारणभाव सम्भव होता।

विनाशोन्मुख घटक्षण का आश्रयण कर उपादानकारण के विना ही कपाल-कपालिका-क्षण उत्पन्न हो जाता है—इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पादवाद को छोड़कर उपादान-प्रत्यभिज्ञान-वाद की क्या आवश्यकता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वैनाशिकों (बौद्धों) की प्रतीत्य-समुत्पादवाद-प्रक्रिया का निराकरण आगे इसी पाद में किया जायगा। फलतः उत्पत्ति-विनाशवाली घटादिरूप विशेष अवस्थाएँ ही मृत्तिकादि की उपादेय हैं और घटादिरूप-विशेष अवस्थाओं में समनुस्यूत मृत्तिकादिरूप सामान्यात्मक पदार्थ ही उपादान कारण होता है। ऐसी प्रक्रिया के व्यवस्थित हो जाने पर जैसे सुवर्ण द्रव्य कठिनावस्था को छोड़ कर अग्नि के सम्पर्क से द्रुतावस्था के रूप में परिणत होता है, उस द्रवत्वावस्था में अवयव-विभाग कारण नहीं माना जाता, भले ही वह वहाँ विद्यमान होता है, क्योंकि वैशेषिकों के मत में परमाणु के अवयव नहीं माने जाते, अतः अवयव-विभाग को द्रवत्व का कारण मानने पर परमाणु में द्रवत्व क्योंकर उत्पन्न होगा? अतः जैसे परमाणु द्रव्य अग्नि के सम्पर्क से काठिन्य को त्याग कर कुलाल और सुवर्णकारादि की क्रिया से घट और रुचकादि का रूप धारण कर लेता है। घट और रुचकादि कार्य अपने अवयव के नाश या अवयव-संयोग के नाश से नष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि कपालादि घटादि के न तो उपादान (समवायिकारण) होते हैं, और न कपालादि का संयोग असमवायिकारण, अपितु घटादि मे अनुस्यूत सामान्यात्मक मृत्तिकातत्त्व उपादानकारण है, जो कि नित्य है वही द्रव्यपदार्थ है, जैसा कि महाभाष्यकार ने भी कहा है—"एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनाश उपपद्यते । तस्माद् रूपादिमत्त्वात्स्यादभिप्रेतविपर्ययः परमाणूनाम् । तस्माद-प्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १५ ॥

भामती

अभावात् । तस्मात्सामान्यस्य परमार्थसतोऽनिर्वाच्या विशेषावस्थास्तदधिष्ठाना भुजङ्गादय इव रज्ज्वाद्युपा-दाना उपजनापायधर्माण इति साम्प्रतम् । प्रकृतमुपसंहरति ॐ तस्माद् इति ॐ ॥ १५ ॥

अनुभूयते हि पृथिवी गन्धरूपरसस्पर्शात्मिका स्थूला, आपो रसरूपस्पर्शात्मिकाः सूक्ष्माः, रूपस्प-र्शात्मकं तेजः सूक्ष्मतरं, स्पर्शात्मको वायुः सूक्ष्मतमः । पुराणेऽपि स्मर्य्यते—

आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समाविशत् ।
द्विगुणस्तु ततो वायुः शब्दस्पर्शात्मकोऽभवत् ॥ १ ॥
रूपं तथैवाविशतः शब्दस्पर्शगुणावुभौ ।
त्रिगुणस्तु ततो वह्निः स शब्दस्पर्शवान् भवेत् ॥ २ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसमात्रं समाविशत् ।
तस्माच्चतुर्गुणा आपो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः ॥ ३ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्च गन्धमाविशत् ।
संहतान् गन्धमात्रेण तानाचष्टे महीमिमाम् ॥ ॥ ४ ॥
तस्मात्पञ्चगुणा भूमिः स्थूला भूतेषु दृश्यते ।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः ॥ ५ ॥
परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम् ।

भामती—व्याख्या

क्रियन्ते तथा सुवर्णं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते । आकृतिरन्या चन्या भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव" ( महाभा. पृ. ६३ ) । कारण तत्त्व सर्वत्र एक है, अतः उसका संयोग सम्भव नहीं, क्योंकि संयोग सम्बन्ध द्विष्ठ ( दो पदार्थों में अवस्थित ) होता है, एक में नहीं । फलस्वरूप सामान्यात्मक परमार्थसत् तत्त्व की ही अनिर्वचनीय विशेष अवस्थाएँ घटादि वैसे ही हैं, जैसे रज्ज्वादिरूप उपादान में उत्पत्ति-विनाशशाली सर्पादि कार्य समुद्भूत होते हैं । परमाणु-कारणतावाद के निराकरण का उपसंहार करते हैं—"तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः" ॥ १५ ॥

यह अनुभव-सिद्ध है कि पृथिवी गन्ध, रूप, रस और स्पर्श—इन चार गुणों का समूह होने के कारण स्थूल है । जल रस, रूप और स्पर्श—इन तीन गुणों का समुदाय होने के कारण पृथिवी की अपेक्षा सूक्ष्म है । तेज रूप और स्पर्शात्मक होने के कारण सूक्ष्मतर तथा वायु केवल स्पर्शात्मक होने के कारण सूक्ष्मतम है । पुराण में भी ऐसा ही कहा है—

आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समाविशत् ।
द्विगुणस्ततो वायुः शब्दस्पर्शात्मकोऽभवत् ॥ १ ॥
रूपं तथैवाविशतः शब्दस्पर्शगुणावुभौ ।
त्रिगुणस्तु ततो वह्निः स शब्दस्पर्शवान् भवेत् ॥ २ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसमात्रं समाविशत् ।
तस्माच्चतुर्गुणा आपो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः ॥ ३ ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्च गन्धमाविशत् ।
संहतान् गन्धमात्रेण तानाचष्टे महीमिमाम् ॥ ४ ॥
तस्मात्पञ्चगुणा भूमिः स्थूला भूतेषु दृश्यते ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी, रूपरसस्पर्शगुणाः सूक्ष्मा आपः, रूपस्पर्शगुणं सूक्ष्मतरं तेजः, स्पर्शगुणः सूक्ष्यतमो वायुरित्येवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचितगुणानि स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्न वा। उभयथापि च दोषानुषङ्गोऽपरिहार्य एव स्यात्। कल्प्यमाने तावदुपचितापचितगुणत्व उपचितगुणानां मूर्त्युपचयादपरमा-

भामती

तेन गन्धादयः परस्परं संहन्यमानाः पृथिव्यादयस्तथा च यथा यथा संहन्यमानानामुपचयस्तथा तथा संहतस्य स्थौल्यं यथा यथाऽपचयस्तथा तथा सौक्ष्म्यतारतम्यं तदेवमनुभवागमाभ्यामवस्थितमर्थं वैशेषिकैरनिच्छद्भिरप्यशक्यापह्नवमाह ❀ गन्ध इति ❀। अस्तु तावच्छब्दो वैशेषिकैस्तस्य पृथिव्यादिगुणत्वेनानभ्युपगमादिति चत्वारि भूतानि चतुस्त्रिद्व्येकगुणान्युदाहृतवान्। अनुभवागमसिद्धमर्थमुक्त्वा विकल्प्य दूषयति ❀ तद्वत् ❀। स्थूलपृथिव्यादिवत्। ❀ परमाणवोऽपि इति ❀। ❀ उपचितगुणानां मूर्त्युपचयाद्❀ ❀उपचितसंहन्यमानानां, सङ्घातोपचयात् ❀ अपरमाणुत्वप्रसङ्ग❀। स्थूलत्वादिति। यस्तु ब्रूते न गन्धादि-

भामती—व्याख्या

शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः ॥ ५ ॥
परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम्।

[ विष्णु पुराण ( १।२ ) में "आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समावृणोत्" इत्यादि वाक्यों के द्वारा आकाशादि भूतों में शब्दादिगुणात्मकता का ही प्रतिपादन प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ स्पष्ट कहा है कि आकाशादिरूपों में शब्दतन्मात्रता अवस्थित होने के कारण भूतों को गुणमात्ररूप माना जाता है—"तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रं तेन तन्मात्रता स्थिता" ( वि. पु. १।२।४४ )। अन्तर केवल इतना है कि तन्मात्रा अविशेष और भूत विशेष कहलाते हैं—"शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन् संयुतान्युत्तरोत्तरैः। शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः॥" ( वि. पु. १।२।५३ )' ]। गन्धादि गुण ही परस्पर संहत होकर पृथिव्यादिरूप हो जाते हैं। संहन्यमान गुण जैसे-जैसे उपचित ( वृद्धिगत ) होते जाते हैं, वैसे-वैसे ही स्थूल होते जाते हैं और जैसे-जैसे अपचित ( क्षीण ) होते जाते हैं, वैसे-वैसे सूक्ष्म होते जाते हैं। यह प्रक्रिया अनुभव और आगम प्रमाण से सिद्ध होने के कारण वैशेषिकों को न चाहते हुए भी माननी होगी ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं—' गन्धरसरूपस्पर्शगुणा स्थूला पृथिवी"। यद्यपि वेदान्तसिद्धान्त में पृथिवी को शब्द-सहित पञ्चगुणात्मक माना गया है, तथापि वैशेषिकगण शब्द को पृथिव्यादि का गुण नहीं मानते, अतः उनके साथ विषयान्तर का शास्त्रार्थ न छेड़ कर पृथिव्यादि चारों भूतों को क्रमशः पञ्चगुण, चतुर्गुण, त्रिगुण और द्विगुण का समूह न कह कर चतुर्गुणात्मक, त्रिगुणात्मक, द्विगुणात्मक और एकगुणात्मक कहना ही उचित समझा गया है।

जैसे पृथिव्यादि उपचितगुणक और जलादि अपचितगुणक माने जाते हैं, वैसे ही पृथिव्यादि के परमाणुओं में उपचितापचितगुणकत्व की कल्पना की जाती है ? अथवा नहीं—ऐसा विकल्प उठा कर सूत्रस्थ 'उभयथा' पद की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—"तद्वत् परमाणवोऽपि"। 'तद्वत्' का अर्थ है—'स्थूल-पृथिव्यादिवत्'। "परमाणवोऽपि"—इस भाष्य का आशय यह है कि उपचित गुणवाले परमाणु का आकार भी उपचित हो जाता है, अतः वह परमाणुत्व परिमाणवाला न रह कर महत्परिमाणवाला हो जायगा। जो व्यक्ति ऐसा प्रश्न करता है कि परमाणु के आश्रित गन्धादि गुणों का उपचय होने पर भी परमाणुरूप द्रव्य का उपचय नहीं होता, अतः परमाणु में अपरमाणुत्वापत्ति क्यों होगी ? उस व्यक्ति को उत्तर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णुत्वप्रसङ्गः। न चान्तरेणापि मूर्त्युपचयं गुणोपचयो भवतीत्युच्यते, कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्। अकल्प्यमाने तूपचितापचितगुणत्वे परमाणुत्वसाम्यप्रसिद्धये यदि तावत्सर्वं एकैकगुणा एव कल्प्येरंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्, अप्सु रूपस्पर्शयोः, पृथिव्यां च रसरूपस्पर्शानाम्, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्यगुणानाम्। अथ सर्वे चतुर्गुणा एव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिः स्यात्, तेजसि गन्धरसयोः, वायौ गन्धरूपरसानाम्। न चैवं दृश्यते। तस्मादप्यनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

प्रधानकारणवादो वेदविद्भिरपि कैश्चिन्मन्वादिभिः सत्कार्यत्वाद्यंशोपजीवना-

भामती

सङ्घातः परमाणुरपि तु गन्धाद्याश्रयो द्रव्यं, न च गन्धादीनां तदाश्रयाणामुपचयेऽपि द्रव्यस्योपचयो भवितुमर्हत्यन्यत्वादिति तं प्रत्याह ❀ न चान्तरेणापि मूर्त्युपचयं ❀ द्रव्यस्वरूपोपचयमित्यर्थः। कुतः? ❀ कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात् ❀। न तावत् परमाणवो रूपतो गृह्यन्ते किन्तु कार्यद्वारा कार्यं च न गन्धादिभ्यो भिन्नं यदा न तदाधारतया गृह्यतेऽपि तु तदात्मकतया तथा च तेषामुपचये तदुपचितं दृष्टमिति परमाणुभिरपि तत्कारणैरेवं भवितव्यं तथा चाऽपरमाणुत्वं स्थूलत्वादित्यर्थः। द्वितीयं विकल्पं दूषयति ❀ अकल्प्यमाने तूपचितानुपचितगुणत्वे इति ❀। ❀ अथ सर्वे चतुर्गुणा इति ❀। यद्यप्यस्मिन्कल्पे सर्वेषां स्थौल्यप्रसङ्गस्तथाप्यतिस्फुटतयोपेक्ष्य दूषयति ❀ ततोऽप्स्वपि इति ❀। वायो रूपवत्त्वेन चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातम् ॥१७॥ सम्प्रत्युत्सूत्रं भाष्यकृद्वेशेषिकतन्त्रं दूषयति ❀अपि च

भामती–व्याख्या

दिया जाता है—"कार्येषु भूतेषु गुणोपचये मूर्त्युपचयदर्शनात्"। आशय यह है कि परमाणु स्वरूपतः गृहीत नहीं होते, अपितु त्रसरेण्वादि कार्य के माध्यम से ही जाने जाते हैं, त्रसरेण्वादि कार्य गन्धादि गुणों से भिन्न नहीं होता, अतः गन्धाद्याधारतया परमाणु का ग्रहण न होकर गन्धाद्यात्मत्वेन ग्रहण होता है। गन्धादि का उपचय होने पर तदात्मक द्रव्य का उपचय दृष्टचर है, फलतः गन्धादि का उपचय होने पर परमाणु का उपचित होना अनिवार्य है और परमाणु में स्थूलता आ जाने के कारण अपरमाणुत्व प्रसक्त होता है। द्वितीय विकल्प पर दोषाभिधान करते हैं—"अकल्प्यमाने तूपचितानुपचितगुणत्वे"। अर्थात् पृथिव्यादि के समान परमाणुओं में उपचय और अपचय की कल्पना यदि नहीं की जाती, तब जिज्ञासा होती है कि परमाणुओं की समानता बनाए रखने के लिए सभी परमाणुओं को एक-एक गुणवाला माना जाता है? अथवा प्रत्येक परमाणु को चार-चार गुणोंवाला? प्रथम कल्प के अनुसार तेज में स्पर्श, जल में रूप एवं स्पर्श की और पृथिवी में रस, रूप एव स्पर्श की उपलब्धि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि तेज के परमाणुओं में स्पर्श, जल के परमाणुओं में स्पर्श और पृथिवी के परमाणुओं के रूप, रस और स्पर्श नहीं होते। किन्तु कार्य पदार्थ के गुण सदैव कारण के गुणों से ही उत्पन्न हुआ करते हैं। यद्यपि यदि प्रत्येक परमाणु को चार गुणोंवाला मानने पर परमाणु में स्थूलत्वापत्ति और परमाणुत्वाभाव की आपत्ति होती है। तथापि यह दोष अत्यन्त स्थूल है, अतः उसका उद्भावन न करके दोषान्तर का उद्भावन करते हैं। "अथ सर्वे चतुर्गुणाः, ततोऽप्स्वपि गन्धस्य"। वायु में रूपाश्रयता होने के कारण चाक्षुषत्वापत्ति दोष भी है ॥ १६ ॥

सूत्र का अक्षरार्थ स्पष्ट शब्दों में भाष्यकार ने कह दिया है, अब सूत्राक्षरों की परिधि से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिप्रायेणोपनिबद्धः, अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इत्यत्यन्तमेवानादरणीयो वेदवादिभिः। अपि च वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान् षट्पदार्थान्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यानत्यन्तभिन्नलक्षणानभ्युपगच्छन्ति, यथा—मनुष्योऽश्वः शश इति। तथात्वं चाभ्युपगम्य तद्विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ्युपगच्छन्ति।

तन्नोपपद्यते. कथम्? यथा हि लोके शशकुशपलाशप्रभृतीनामत्यन्तभिन्नानां सतां नेतरेतराधीनत्वं भवति एवं द्रव्यादीनामत्यन्तभिन्नत्वान्नैव द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां भवितुमर्हति।

अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां, ततो द्रव्यभावे भावाद् द्रव्याभावेऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थानादिभेदादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति। यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादनेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति, तद्वत्। तथा सति सांख्यसिद्धान्तप्रसङ्गः

भामती

वैशेषिकाः इति ॐ। द्रव्याधीनत्वं द्रव्याधीननिरूपणत्वं, न हि यथा गवाश्वमहिषमातङ्गाः परस्परानधीननिरूपणाः स्वतन्त्रा निरूप्यन्ते, वह्न्याद्यधीनोत्पत्तयो वा धूमादयो यथा वह्न्याद्यनधीननिरूपणाः स्वतन्त्रा निरूप्यन्ते, एवं गुणादयो द्रव्याद्यनधीननिरूपणाः, अपि तु यदा यदा निरूप्यन्ते तदा तदा तदाकारतयैव प्रथन्ते न तु प्रथायामेषामस्ति स्वातन्त्र्यं, तस्मान्नातिरिच्यन्ते द्रव्यादपि तु द्रव्यमेव सामान्यरूपं

भामती–व्याख्या

बाहर आकर भाष्यकार स्वयं वैशेषिक-तन्त्र पर दोषाभिधान करते हैं—"अपि च वैशेषिकाः"। वैशेषिकगण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः पदार्थ वैसे ही स्वतन्त्र मानते हैं, जैसे मनुष्य, अश्व और शशादि पदार्थ परस्पर निरपेक्ष, भिन्न एवं स्वतन्त्र होते हैं। स्वतन्त्र (स्वाधीन) मान कर भी उसके विपरीत गुणादि पदार्थों को द्रव्य के अधीन मानते हैं, [जैसा कि महर्षि कणाद ने कहा है—"द्रव्याश्रयी, अगुणवान् इति गुणलक्षणम्" (वै. सू. १।१।१६)। महाभाष्यकार ने भी 'गुण' शब्द की अप्रधान (पराधीन) अर्थ में वृत्ति मानी है—"अस्त्यप्रधाने वर्तते तद्यथा यो यत्राप्रधानं भवति, स आह–गुणभूता वयमत्र" (महाभाष्य. ५।१।११९)]। "अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणानाम्, तर्हि द्रव्यमेव"—यहाँ 'द्रव्याधीनत्व' शब्द का अर्थ—'द्रव्याधीननिरूपणत्व' है अर्थात् 'गोर्गुणाः' 'गोः क्रियाः'—इस प्रकार गुणादि पाँचों पदार्थों का निरूपण गवादि द्रव्यों के अधीन ही है, स्वतन्त्र नहीं। जैसे गौ अश्व और महिषादि का निरूपण परस्पर अधीन न होकर स्वतन्त्र होता है अथवा वह्न्यादि से जनित धूमादि का निरूपण वह्न्यादि के अधीन नहीं होता है, वैसे ही गुणादि का निरूपण द्रव्य के अनधीन स्वतन्त्र नहीं होता, अपितु जब-जब गुणादि का निरूपण किया जाता है, तब-तब वे द्रव्याकारेण प्रतीत होते हैं, स्वतन्त्र प्रतीत नहीं होते, अतः द्रव्य से अतिरिक्त सिद्ध नहीं होते। वस्तुतः गुणादि में अनुस्यूत सामान्यात्मक द्रव्य पदार्थ ही गुणादि के रूप में अवभासित होता है [महर्षि पतञ्जलि भी यही कहते हैं—"अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्, न ह्यन्यदुपलभ्यते, पशोः खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते" (महाभाष्य. ५।१।११९)। बौद्धवर प्रज्ञाकर भी यही कहते हैं—

"रूपादिव्यतिरेकेण द्रव्यं नाम न दृश्यते।
नान्वयव्यतिरेकित्वं घटबुद्धेर्घटात्मनि ॥ (प्र. वा. भा. पृ. १८७)
न गुणव्यतिरेकेण गुणवान् मानसं गतः।
स्पर्शादिव्यतिरेकेण किमन्यदुपलभ्यते ॥" (प्र. वा. भा. पृ. ५१२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


स्वसिद्धान्तविरोधश्चापद्येयाताम्। नन्वग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न्यधीनत्वं दृश्यते। सत्यं दृश्यते। भेदप्रतीतेस्तु तत्राग्निधूमयोरन्यत्वं निश्चीयते। इह तु शुक्लः कम्बलो रोहिणी धेनुर्नीलमुत्पलमिति द्रव्यस्यैव तस्य तेन तेन विशेषणेन प्रतीयमानत्वान्नैव द्रव्यगुणयोरग्निधूमयोरिव भेदप्रतीतिरस्ति। तस्माद् द्रव्यात्मकता गुणस्य। एतेन कर्मसामान्यविशेषसमवायानां द्रव्यात्मकता व्याख्याता।

गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत, तत्पुनरयुतसि-

भामती

तथा तथा प्रथत इत्यर्थः।

द्रव्यकार्यत्वमात्रं गुणादीनां द्रव्याधीनत्वमिति मन्वानश्चोदयति ❀ नन्वग्नेरन्यस्यापि इति ❀। परिहरति ❀ भेदप्रतीतेस्तु इति ❀। न तदधीनोत्पादतां तदधीनत्वमाचक्ष्महे किन्तु तदाकारतां तथा च न व्यभिचार इत्यर्थः।

शङ्कते ❀ गुणानां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत ❀। यत्र हि द्वावाकारिणौ विभिन्नाभ्याभाकाराभ्यामवगम्येते, तौ सम्बद्धौ वा असम्बद्धौ वा वैयधिकरण्येन प्रतिभासेते यथेह कुण्डे दधि, यथा वा गौरश्व इति न तथा गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः, येषां द्रव्याकारतयाकारान्तरायोगेन द्रव्यादाकारिणोऽन्यत्वेनाकारितया व्यवस्थानाभावात् सेयमयुतसिद्धिस्तथा च सामानाधिकरण्येन प्रथेत्यर्थः।

भामती–व्याख्या

जैनाचार्य भी गुणादि से भिन्न द्रव्य का सद्भाव नहीं मानते, अत एव उमास्वाति के "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्" ( तत्त्वार्थ. ५?३७ ) इस सूत्र की व्याख्या में भट्ट अंकलङ्क ने मतुप् प्रत्यय को अभेदार्थक माना है—"अनन्यत्वेऽपि लोके सुवर्णाङ्गुलीयकवद् व्यपदेशदर्शनात् मत्वर्थीयसिद्धिः" ( तत्त्वार्थवा. पृ. ५०० ) ]।

**शङ्का**—सभी भिन्न पदार्थ एक जैसे नहीं होते, गौ, अश्व और महिषादि पदार्थ भिन्न और परस्पर-निरपेक्ष हैं, किन्तु वह्नि-धूमादि पदार्थ भिन्न होने पर सापेक्ष है, अतः धूम में यद्वह्नयधीनत्व के समान गुणादि में द्रव्याधीनत्व मानने पर आपत्ति क्या? ऐसी शङ्का की जाती है—"नन्वग्नेरन्यस्यापि"।

**समाधान**—वहीं पर एक पदार्थ में अन्याधीनत्व सम्भव होता है, जहाँ परस्पर भेद निश्चित हो, किन्तु यहाँ भेद सम्भव ही नहीं, ऐसा परिहार किया जा रहा है—"भेदप्रतीतेस्तु"। आशय यह है कि ऊपर जो गुणादि में द्रव्याधीनत्व कहा गया है, वह द्रव्य-जन्यत्वरूप नहीं, अपि तु द्रव्यात्मत्वरूप विवक्षित है, अतः गुणा न द्रव्याद्भिन्नाः द्रव्याधीनत्वात् ( द्रव्यात्मत्वात् ) इस अनुमान का धूमादि में व्यभिचार नहीं। 'शुक्लः कम्बलः' रोहिणी धेनुः', 'नीलमुत्पलम्'—इत्यादि प्रतीति के आधार पर कम्बलादि द्रव्य और शुक्लादि गुणों में तादात्म्य ही निश्चित होता हैं।

**शङ्का**—गुणों में द्रव्याधीनत्व द्रव्याकारता-प्रयुक्त नहीं, अपितु अयुतसिद्धत्व-प्रयुक्त है, ऐसी आशङ्का की जाती है—"गुणानां द्रव्याधीनत्वं द्रव्यगुणयोरयुतसिद्धत्वादिति यद्युच्येत"। अर्थात् जहाँ पर दो आकारवान् पदार्थ विभिन्न आकारों में अवभासित होते हैं, वे दोनों पदार्थ परस्पर सम्बद्ध होते हैं, अथवा असम्बद्ध होकर भिन्नविभक्त्यन्त पदों के द्वारा उपस्थापित होते हैं, जैसे 'इह कुण्डे दधि' अथवा समानविभक्त्यन्त पदों से उपस्थापित होकर परस्पर-निरपेक्ष, जैसे 'गौः, अश्वः'। गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय वैसे नहीं होते, क्योंकि द्रव्याकारता से भिन्न उनका कोई आकारान्तर नहीं होता, अतः वे द्रव्याकार से भिन्न और किसी आकार में व्यवस्थित नहीं होते। इसी का नाम अयुतसिद्धि है, यही कारण है कि

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा ? सर्वथापि नोपपद्यते। अपृथग्देशत्वे तावत्स्वाभ्युपगमो विरुध्येत। कथम् ? तन्त्वारब्धो हि पटस्तन्तुदेशोऽभ्युपगम्यते, न पटदेशः। पटस्य तु गुणाः शुक्लत्वादयः पटदेशा अभ्युपगम्यन्ते,

भामती

बाभिमामयुतसिद्धि विकल्प्य दूषयति। ❀ तत् पुनरयुतसिद्धत्वम् इति ❀। तत्रापृथग्देशत्वं तदभ्युपगमेन विरुध्यत इत्याह ❀ अपृथग्देशत्वे इति ❀। यदि तु संयोगिनोः कार्य्ययोः सम्बन्धिभ्यामन्यदेशत्वं युतसिद्धिस्ततोऽन्याऽयुतसिद्धिः नित्ययोस्तु संयोगिनोर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वं युतसिद्धिस्ततोऽन्याऽयुतसिद्धिस्तथा चाकाशपरमाण्वोः परमाण्वोश्च संयुक्तयोर्युतसिद्धिः सिद्धा भवति। गुणगुणिनोश्च शौक्ल्यपटयोरयुतसिद्धिः सिद्धा भवति। नहि तत्र शौक्ल्यापटाभ्यां सम्बन्धिभ्यामन्यदेशौ शौक्ल्यापटौ। सत्यपि पटस्य तदन्यतन्तुदेशत्वे शौक्ल्यस्य सम्बन्धिपटदेशत्वात्। तथा नित्ययोरात्माकाशयोरजसंयोगे उभयस्या अपि युतसिद्धेरभावात्। नहि तयोः पृथगाश्रयाश्रितत्वमनाश्रयत्वात्, नापि द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वममूर्त्तत्वेनोभयोरपि निष्क्रियत्वात्। न चाजसंयोगो नास्ति, तस्यानुमानसिद्धत्वात्। तथाह्याकाशमात्मसंयोगि, मूर्त्तद्रव्यसङ्गित्वात्, घटादिवदित्यनु-

भामती—व्याख्या

'शुक्लः कम्बलः' इत्यादि रूपों में उनकी सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती है।

**समाधान**—कथित अयुतसिद्धि पर विकल्पपूर्वक दोषाभिधान किया जाता है—"तत्पुनरयुतसिद्धत्वम्"। अपृग्देशत्व, अपृक्कालत्व और अपृथक्स्वभावत्व—इन तीन कल्पों में प्रथम कल्प वैशेषिक-सिद्धान्त से विरुद्ध है—"अपृथग्देशत्वे"। यद्यपि द्रव्यादि का साधर्म्य बताया गया है—द्रव्याश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" (प्रशस्त. पृ. ४८)। तथापि पटादि द्रव्य तन्त्वादि के और पटगत रूपादि गुण पटादि के आश्रित होते हैं, एकद्रव्याश्रित नहीं, क्योंकि "द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्" (वै. सू. १।१।१०) इस सूत्र के अनुसार पट का देश तन्तु और पट के रूपादि गुणों का देश पट माना जाता है, अतः द्रव्य एवं गुणादि में एकदेशत्वरूप अयुतसिद्धत्व सम्भव नहीं।

**शङ्का**—यदि अन्य संयोगी पदार्थों की अपने सम्बन्धियों से अन्य देश में अवस्थिति को युतसिद्धि और उससे भिन्न को अयुतसिद्धि माना जाय। इसी प्रकार दोनों नित्य संयोगी द्रव्यों की अथवा अन्यतर द्रव्य की पृग्गतिमत्ता युतसिद्धि और उससे भिन्न अयुतसिद्धि मानी जाय, [ जैसा कि प्रशस्तपाद कहते हैं—"सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथेग्गतिमत्त्वम्, पृथगाश्रयाश्रयित्वं चेति" (प्रशस्त. पृ. ३७८) ]। तभी संयोगीभूत आकाश और परमाणु अथवा दो परमाणुओं की युतसिद्धि तथा गुण-गुणीभूत शुक्लरूप और पट की अयुतसिद्धि सिद्ध होती है, क्योंकि शौक्ल्य और पट—इन दो सम्बन्धियों में से एक शौक्ल्य का अवस्थान पटरूप सम्बन्धी में होने के कारण शौक्ल्य और पट—इन दोनों की वृत्तिता सम्बन्धी से भिन्न देशों में नहीं हो सकती [ अर्थात् केवल पट शौक्ल्य और पटरूप सम्बन्धियों से भिन्न तन्तुदेश में वृत्ति होने पर भी शौक्ल्य और पट—ये दोनों तन्तुवृत्ति नहीं ]।

**समाधान**—आत्मा और आकाशरूप नित्य पदार्थों के अजन्य संयोग में कथित दोनों प्रकार की युतसिद्धि न होने के कारण उनमें अयुतसिद्धि अतिप्रसक्त होती है, क्योंकि नित्य पदार्थों का कोई आश्रय ही नहीं होता, अतः पृथगाश्रयाश्रितत्वरूप युतसिद्धि सम्भव नहीं। इसी प्रकार आत्मा और आकाश अमूर्त पदार्थ निष्क्रिय होने के कारण गतिमान् नहीं होते, अतः पृथग्गतिमत्त्वरूप युतसिद्धि भी प्रसिद्ध नहीं। अजन्य संयोग का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह अनुमान-सिद्ध है—'आकाशमात्मसंयोगि, मूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वाद् घटादिवत्'। यद्यपि पृथगाश्रयाश्रयित्व अथवा पृथग्गतिमत्त्वरूप युतसिद्धि से भिन्न अयुतसिद्धि


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तन्तुदेशाः। तथा चाहुः—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्' (वै० १।१।१०) इति। तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते। तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्यद्रव्ये पटे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति। सोऽभ्युपगमो द्रव्यगुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत। अथापृथक्कालत्वम-

भामती

मानम्। पृथगाश्रयाश्रयित्वपृथग्गतिमत्त्वलक्षणयुतसिद्धेरन्या त्वयुतसिद्धिर्यद्यपि नाभ्युपेतविरोधमावहति, तथापि न सामानाधिकरण्यप्रथामुपपादयितुमर्हति। एवंलक्षणेऽपि हि समवाये गुणगुणिनोरभ्युपगम्यमाने सम्बद्धे इति प्रत्ययः स्यान्न तादात्म्यप्रत्ययः। अस्य चोपपादनाय समवाय आस्थीयते भवद्भिः। स चेदास्थितोऽपि न प्रत्ययमिममुपपादयेत् कृतं तत्कल्पनया। न च प्रत्यक्षः सामानाधिकरण्यप्रत्ययः समवायगोचरः, तद्विरुद्धार्थत्वात्। तद्गोचरत्वे हि पटे शुक्ल इत्येवमाकारः स्यान्न तु पटः शुक्ल इति। न च शुक्लपदस्य गुणविशिष्टगुणिपरत्वादेवं प्रथेति साम्प्रतम्। नहि शब्दवृत्त्यनुसारि प्रत्यक्षम्। न ह्यग्निर्माणवक इत्युपचरिताग्निभावो माणवकः प्रत्यक्षेण दहनात्मना प्रथते। न चायमभेदविभ्रमः समवाय-

भामती—व्याख्या

के मानने में भाष्योद्भावित सिद्धान्त-विरोधरूप दोष लागू नहीं होता, तथापि [ 'शुक्लः कम्बलः' इत्यादि प्रयोगों के समान 'आकाशमात्मा'—इस प्रकार का व्यवहार अवश्य प्रसक्त होता है। अथवा ] आकाश और आत्मा में उक्त अयुतसिद्धि के रहने पर भी जैसे 'आकाशमात्मा'—इस प्रकार का सामानाधिकरण-व्यवहार नहीं होता, वैसे ही 'शुक्लः कम्बलः'—इत्यादि सामानाधिकरण्य-व्यवहार भी न हो सकेगा, अतः ऐसे अयुतसिद्ध द्रव्यगुणादि पदार्थों में समवाय सम्बन्ध मान लेने पर भी केवल 'शुक्लरूपसम्बद्धः कम्बलः'—ऐसी ही प्रतीति हो सकेगी, तादात्म्य-प्रतीति न हो सकेगी। तादात्म्य या सामानाधिकरण्य की प्रतीति का उपपादन करने के लिए ही आप ( वैशेषिकगण ) समवाय सम्बन्ध मानते हैं, वह स्वीकृत होकर भी उक्त प्रतीति का उपपादक नहीं हो सकता, तब ऐसे समवाय की कल्पना से क्या लाभ? यदि कहा जाय कि 'शुक्लः कम्बलः'—इत्यादि प्रत्यक्षात्मक सामानाधिकरण्य-प्रतीतियों के विषयीभूत तादात्म्य से समवाय का अनुमान नहीं किया जाता, अपितु उक्त प्रत्यक्षात्मक सामानाधिकरण्य-प्रतीतियाँ समवाय को ही साक्षात् विषय करती हैं। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष प्रतीति में सम्बन्धित्व के विरुद्ध तदात्मकता का भान हो रहा है। वैशेषिकगण समवाय को प्रत्यक्ष का विषय न मान कर अतीन्द्रिय मानते हैं. जैसा कि आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं—"अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्" ( प्रशस्त. पृ. ७८५ )। सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होने पर 'भूतले घटः' के समान 'पटे शुक्लः'—ऐसा भान होना चाहिए, 'शुक्लः पटः'—ऐसा नहीं।

शङ्का—"गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" ( अमरकोष ) इत्यादि कोषवचनों से यह निश्चित होता है कि शुक्लादि शब्द गुण और गुणी ( द्रव्य ) दोनों के बोधक होते हैं, अतः 'शुक्ल पटः' इत्यादि स्थलों पर 'शुक्ल' शब्द पटरूप द्रव्य का बोधक है, इसी कारण से शुक्ल और पट का सामानाधिकरण्य अवभासित हो जाता है [ आशय यह है कि शुक्लादि शब्द मुख्यरूप से गुण के वाचक होने पर भी गुणी ( पटादि द्रव्य ) के गौणी वृत्ति से उपस्थापक हो जाते हैं, अतः 'शुक्लः पटः' यहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य न होने पर भी गौण सामानाधिकरण्य का निर्वाह हो जाता हैं ]।

समाधान—शाब्दबोधात्मक ज्ञान की ही विषयता गौण विषयों में होती है, प्रत्यक्ष ज्ञान की नहीं। 'शुक्लः पटः'—यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस का मुख्य सामानाधिकरण्य ही विषय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri

युतसिद्धत्वमुच्येत, सव्यदक्षिणयोरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत। तथाऽपृथक्स्वभाव्यत्वे त्वयुतसिद्धत्वेन द्रव्यगुणयोरात्मभेदः संभवति, तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात्।

युतसिद्धयोः संबन्धः संयोगोऽयुतसिद्धयोस्तु समवाय इत्ययमभ्युपगमो मृषैव तेषाम्, प्राक्सिद्धस्य कार्यात्कारणस्यायुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। अथान्यतरापेक्ष एवायमभ्युपगमः स्यादयुतसिद्धस्य कार्यस्य करणेन संबन्धः समवाय इति, एवमपि प्राक्सिद्धस्यालब्धात्मकस्य कार्यस्य कारणेन संबन्धो नोपपद्यते, द्वयायत्तत्वात्संबन्ध-

भामती

निबन्धनो भिन्नयोरपीति वाच्यम्। गुणादिसद्भावे तद्भेदे च प्रत्यक्षानुभवादन्यस्य प्रमाणस्याभावात्तस्य च भ्रान्तत्वे सर्वाभावप्रसङ्गात्। तदाश्रयस्य तु भेदसाधनस्न तद्विरुद्धतयोत्थानासम्भवात्। तदिदमुक्तं ❀ तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वाद् इति ❀। अपि चायुतसिद्धशब्दोऽपृथगुत्पत्तौ मुख्यः, सा च भवन्मते न द्रव्यगुणयोरस्ति, द्रव्यस्य प्राक् सिद्धेर्गुणस्य च पश्चादुत्पत्तेः, तस्मान्मिथ्यावादोऽयमित्याह ❀ युतसिद्धयोः इति ❀। अथ भवतु कारणस्य युतसिद्धिः, कार्यस्य त्वयुतसिद्धिः कारणातिरेकेणाभावाद्, इत्याशङ्क्याऽन्यथा दूषयति ❀ एवमपि इति ❀। सम्बन्धिद्वयाधीनसद्भावो हि सम्बन्धो नासत्येकस्मिन्नपि सम्बन्धिनि

भामती–व्याख्या

होता है, क्योंकि शब्द-वृत्ति का अनुसरण प्रत्यक्ष नहीं किया करता, वह इन्द्रियवृत्ति पर ही आधृत होता है। जैसे कि इन्द्रिय-सन्निकृष्ट माणवक को जहाँ 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि शब्दों के द्वारा अग्निरूप में अभिलक्षित किया गया है, वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान माणवकत्वेन ही माणवक को विषय करता है, अग्नित्वेन नहीं।

शङ्का—प्रत्यक्ष ज्ञान भी 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थलों पर अन्य वस्तु का अन्यरूपेण अवगाहन किया करता है, प्रकृत में यद्यपि पट शुक्ल रूप का समवायिकारण होने के कारण शुक्ल रूप से भिन्न है, तथापि अभिन्नत्वेन गृहीत हो रहा है। फलतः शुक्लः पटः यह प्रत्यक्ष ज्ञान अभेद-भ्रमात्मक है।

समाधान—गुणादि और गुणादि के भेद का साधक एकमात्र प्रत्यक्ष ज्ञान है। वही यदि भ्रमात्मक है, तब गुणादि और उनका भेद कुछ भी सिद्ध न हो सकेगा। यदि यह अभेद-विषयक प्रत्यक्ष प्रमाणभूत माना जाता है, तब 'द्रव्यं गुणादिभ्यो भिद्यते, समवायिकारणत्वात्'—इत्यादि भेद के साधनीभूत अनुमानादि प्रमाण अपने धर्मी (पक्ष) के ग्राहकीभूत उक्त प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधित होकर उठ ही न सकेंगे, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण ही अनुमानादि का आश्रय (उपजीव्य) माना जाता है, उपजीवक की अपेक्षा उपजीव्य की प्रबलता निश्चित है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"तस्य तादात्म्येनैव प्रतीयमानत्वात्"।

दूसरी बात यह है कि आचार्य प्रशस्तपाद ने समवाय के बिषय में कहा है कि "न चासौ संयोगः, सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वात्" (प्रशस्त० पृ० ७७५)। इस से संयोग और समवाय का यही अन्तर स्पष्ट किया गया—"युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगः, अयुतसिद्धयोस्तु समवायः"। अर्थात् 'अयुतसिद्धि' शब्द का मुख्य अर्थ है—अपृथगुत्पत्ति, वह आप (वैशेषिकों के मतानुसार द्रव्य और गुण की नहीं होती, क्योंकि द्रव्य की पहले सिद्धि होती है और गुण की पश्चात् उत्पत्ति, अतः आप (वैशेषिकों) का यह कथन नितान्त मिथ्या है कि "युतसिद्धयोः संयोगः, अयुतसिद्धयोः समवायः"। यदि कारण (द्रव्य) की युतसिद्धि मानकर कार्य (गुणादि) की अयुतसिद्धि मानी जाती है, क्योंकि कारण से अतिरिक्त कार्य होता ही नहीं—ऐसी आशङ्का की जाती है, तब अन्यथा दोषोद्भावन किया जाता है—"एवमपि"। आशय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्य। सिद्धं भूत्वा संवध्यत इति चेत्, प्राक्कारणसंबन्धात्कार्यस्य सिद्धावभ्युपगम्यमानायामयुतसिद्धयभावात्कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते इत्तीदं दुरुक्तं स्यात्। यथा चोत्पन्नमात्रस्याक्रियस्य कार्यद्रव्यस्य विभुभिराकाशादिभिर्द्रव्यान्तरैः

भामती

भवितुमर्हति। न च समवायो नित्यः स्वतन्त्र इति चोक्तमधस्तात्। न च कारणसमवायादन्या कार्यस्योत्पत्तिरिति शक्यं वक्तुम्। एवं हि सति समवायस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् कारणवैयर्थ्यप्रसङ्गः। उत्पत्तौ च समवायस्य सैव कार्यस्यास्तु किं समवायेन। सिद्धयोस्तु सम्बन्धे युतसिद्धिप्रसङ्गः। न चान्याऽयुतसिद्धिः सम्भवतीत्येतदुक्तं, ततश्च यदुक्तं वैशेषिकैर्युतसिद्धयभावात् ॐकार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते इतीदं दुरुक्तं स्यात्ॐ। युतसिद्धयभावस्यैवाभावात्। एतेनाप्राप्तिसंयोगौ युतसिद्धिरित्यपि लक्षणमनुपपन्नम्। मा भूदप्राप्तिः कार्यकारणयोः प्राप्तिस्त्वनयोः संयोग एव कस्मान्न भवति, तत्रास्या असंयोगत्वायान्ययुतसिद्धिर्वक्तव्या। तथा च सैवोच्यतां क्रिमनया परस्पराश्रयदोषग्रस्तया। न चान्या सम्भवतीत्युक्तम्। यद्युच्येताप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिरन्यतरकर्मजोभयकर्मजा वा संयोगः, यथा स्थाणुश्येनयोर्मल्लयोर्वा। न च तन्तुपटयोः सम्बन्धस्तथा, उत्पन्नमात्रस्यैव पटस्य तन्तुसम्बन्धात्। तस्मात्समवाय एवायमिष्यत

भामती–व्याख्या

यह है कि समवाय एक सम्बन्ध है, सम्बन्ध सदैव अपने दोनों सम्बन्धियों के अधीन रहता है, अतः एक सम्बन्धी के न रहने पर भी नहीं रह सकता। समवाय न तो नित्य है और न स्वतन्त्र—यह पहले ही कहा जा चुका है। 'कारणगत कार्य का समवाय कार्य की उत्पत्ति ही है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि समवाय नित्य माना जाता है, अतः समवायरूप उत्पत्ति भी नित्य हो जाती है, कारण पदार्थ निरर्थक हो जाता है। कारणपदार्थ की सार्थकता के लिए यदि समवाय को अनित्य मान कर कारण से समवाय की उत्पत्ति मानी जाती है, तब कारणतत्त्व से पीछे कार्य की उत्पत्ति मानी जा सकती है, समवाय की आवश्यकता क्या? यदि समवाय से भिन्न कार्योत्पत्ति मानी जाती है और उत्पन्न कार्य का अपने कारण के साथ समवाय सम्बन्ध माना जाता है, तब कार्य और कारण की युतसिद्धि प्रसक्त होती है। अन्य कोई लक्षण अयुतसिद्धि का सम्भव नहीं—यह कहा जा चुका है।

सिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध को अयुतसिद्धि मानने पर संयोग को भी अयुतसिद्धि मानना होगा, क्योंकि वह भी सिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध है। संयोगरूप अयुतसिद्धि यदि तन्त्वादि कारण और पटादि कार्य में मानी जाती है, तब उनमें संयोग और विभाग भी मानने पड़ेंगे फलतः वैशेषिकों ने जो कहा है–"तन्तुपटयोर्नित्ययोर्युतसिद्धयभावात् संयोगविभागयोरभावः" (प्रशस्त. पृ. ३८०)। वह विरुद्ध पड़ जाता है, क्योंकि संयोगरूप युतसिद्धि का वहाँ अभाव नहीं, भाव ही माना है। इसी दोष के कारण अप्राप्ति और संयोग–इन दोनों को युतसिद्धि और उससे भिन्न अयुतसिद्धि—ऐसा मानना भी उचित नहीं, क्योंकि कथित अप्राप्ति और संयोग में से अप्राप्ति भले ही कार्य और कारण में न रहे प्राप्तिरूप संयोग तो रहेगा ही। कार्य और कारण के सम्बन्ध में असंयोगत्व (संयोग-भिन्नत्व) सिद्ध करने के लिए यदि अयुतसिद्धि के अन्य लक्षण की आवश्यकता है, तब वही करना चाहिए, अप्राप्तिसंयोगोभय-भिन्नत्वम्—यह लक्षण अन्योऽन्याश्रयता का अपादक है, क्योंकि कार्य और कारण के सम्बन्ध में असंयोगत्व (संयोग-भिन्नत्व) सिद्ध हो जाने पर संयोग-भिन्नत्व का निवेश होगा। कथित प्रकारों से भिन्न कोई अयुतसिद्धि का लक्षण सम्भव नहीं—यह कहा जा चुका है।

शङ्का—सम्बन्धी पदार्थों में से अन्यतर या दोनों के कर्म (क्रिया) से जनित अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति को संयोग कहा जाता है, जैसे केवल श्येन की क्रिया से जनित स्थाणु और श्येन

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोग एवाभ्युपगम्यते, न समवायः, एवं कारणद्रव्येणापि संबन्धः संयोग एव स्यान्न समवायः।

नापि संयोगस्य समवायस्य वा संबन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किंचित्

भामती

आह ❀ यथा चोत्पन्नमात्रस्य इति ❀। संयोगजोऽपि हि संयोगो भवद्भिरभ्युपेयते न क्रियाज एवेत्यर्थः। न चाप्राप्तिपूर्विकैव प्राप्तिः संयोगः, आत्माकाशसंयोगे नित्ये तदभावात्। कार्यस्य चोत्पन्नमात्रस्यैकस्मिन् क्षणे कारणप्राप्तिविरहाच्चेति। अपि च सम्बन्धिरूपातिरिक्ते सम्बन्धे सिद्धे तदवान्तरभेदाय लक्षण-भेदोऽनुश्रीयेत स एव तु सम्बन्ध्यतिरिक्तोऽसिद्धः, उक्तं हि पुरस्तादतिरिक्तः सम्बन्धिभ्यां सम्बन्धोऽसम्बद्धो न सम्बन्धिनौ घटयितुमीष्टे, सम्बन्धिसम्बन्धे चानवस्थितिः। तस्मादुपपत्त्यनुभवाभ्यां न कार्यस्य कारणादन्यत्वम्, अपितु कारणस्यैवायमनिर्वाच्यः परिणामभेद इति। तस्मात् कार्यस्य कारणादनति-रेकात् किं केन सम्बद्धम्। संयोगस्य च संयोगिभ्यामनतिरेकात् कस्तयोः संयोग इत्याह ❀ नापि संयो-

भामती—व्याख्या

की अथवा दो मल्लों ( पहलवानों ) की क्रिया से जनित उनकी प्राप्ति। तन्तु और पट का सम्बन्ध अप्राप्तिपूर्वक नहीं, क्योंकि उत्पन्न होते ही पट का तन्तुओं से सम्बन्ध हो जाता है, वे कभी अप्राप्त ( असम्बद्ध ) नहीं रहते। फलतः पटादि कार्य और तन्त्वादि कारणों का सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता, किन्तु संयोग से भिन्न समवाय ही है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार कह रहे हैं—"यथा चोत्पन्नमात्रस्य"। अर्थात् वैशेषिकगण एक तीसरा भी संयोग मानते हैं, जिसका नाम है—संयोगज संयोग, जैसा कि आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—"स च त्रिविधः, (१) अन्यतर-कर्मजः, (२) उभयकर्मजः, (३) संयोगजश्च। ( प्रशस्त. पृ. ३४७ )। जैसे पट और आकाश का संयोग तन्तु और आकाश के संयोग से जनित माना जाता है, वैसे ही तन्तु और पट का सम्बन्ध भी संयोग ही माना जा सकता है। सभी संयोगरूप प्राप्तियाँ अप्राप्तिपूर्वक ही होती हैं—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि आत्मा और आकाशादि का नित्य संयोग अप्राप्तिपूर्वक नहीं। जिस क्षण में पट की उत्पत्ति होती है, उसी क्षण में तन्तुओं के साथ उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः पट की द्वितीय क्षण में होनेवाली तन्तुओं के साथ प्राप्ति भी अप्राप्ति-पूर्वक है, किन्तु वैशेषिक उस प्राप्ति को संयोग नहीं मानते।

दूसरी बात यह भी है कि सम्बन्धिस्वरूप से भिन्न सम्बन्ध के सिद्ध हो जाने पर ही अवान्तर सम्बन्ध ( समवाय ) के लक्षण की चिन्ता सम्भव हो सकती थी, किन्तु सम्बन्धि-स्वरूप से भिन्न सम्बन्ध-सामान्य ही सिद्ध नहीं। यह पहले ही ( ब्र. सू. २।२।१३ में ) कहा जा चुका है कि सम्बन्धियों के स्वरूप से अतिरिक्त जो सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध नहीं, उस सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धियों को सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। सम्बन्ध का अपने सम्बन्धियों के साथ अन्य सम्बन्ध मानने पर अनवस्था प्रसक्त होती है, [ प्रज्ञाकर भी अनवस्था का उद्भावन करते हैं—तत्समवेतेति कोऽर्थः ? तत्र स्थितेरिति स्थितेरप्यपरा स्थितिरित्यनवस्था ( प्र. वा. पृ. ८० ) ] अतः युक्ति और अनुभव के द्वारा कार्य का कारण से भेद सिद्ध नहीं होता, अपितु कार्य कारण का ही एक अनिर्वचनीय ( जो कारण से भिन्न या अभिन्न नहीं कहा जा सकता, ऐसा ) परिणाम विशेष पर्यवसित होता है। कार्य जब कारण से भिन्न नहीं, तब कौन किससे सम्बन्धित होगा ? संयोग भी अपने संयोगियों से अतिरिक्त नहीं, तब कार्य और कारण का संयोग भी क्योंकर होगा ? भाष्यकार यही कह रहे हैं—"नापि संयोगस्य समवायस्य वा"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणमस्ति । संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्ययदर्शनात्तयोरस्तित्वमिति चेत्-न, एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षयानेकशब्दप्रत्ययदर्शनात् । यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं संबन्धिरूपं चापेक्ष्यानेकशब्दप्रत्ययभाग्भवति-मनुष्यो ब्राह्मणः श्रोत्रियो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामातेति । यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानैकदशशतसहस्रादिशब्दप्रत्ययभेदमनुभवति, तथा संबन्धिनोरेव संबन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवायशब्दप्रत्य-

भामती

गस्य इति ॥ । विचारासहत्वेनानिर्दाच्यतामस्यापरिभावयन्नाशङ्कते ॥ सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेचेण इति ॥ । निराकरोति ॥ नैकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षया इति ॥ । तत्तदनिर्वचनीयानेकविशेषावस्थाभेदापेक्षयैकस्मिन्नपि नानाबुद्धिव्यपदेशोपपत्तिरिति । यथैको देवदत्तः स्वगतविशेषापेक्षया मनुष्यो ब्राह्मणोऽवदातः, स्वगतावस्थाभेदापेक्षया बालो युवा स्थविरः, स्वक्रियाभेदापेक्षया श्रोत्रियः, परापेक्षया तु पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामातेति । निदर्शनान्तरमाह ॥ यथा चैकापि सती रेखा इति ॥ । दार्ष्टान्तिके योजयति ॥ तथा सम्बन्धिनोः" इति । अंगुल्योर्नैरन्तर्यं संयोगः, दधिकुण्डयोरोत्तराधर्यं संयोगः ।

भामती–व्याख्या

**शङ्का**—यद्यपि सिद्धान्ती के द्वारा कार्यतत्त्व को अनिर्वचनीय कह देने मात्र से यह ध्वनित कर दिया है कि कार्य और कारण का यह संयोग सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है, अतः वह किसी भी विचार की कसौटी पर खरा उतरनेवाला नहीं, तथापि उधर विशेष ध्यान न देकर शङ्कावादी शङ्का करता है—"सम्बन्धिशब्दप्रत्ययव्यतिरेकेण"। अर्थात् अपने पटादि सम्बन्धियों की अपेक्षा संयोग और समवाय के वाचक शब्द भिन्न है और ग्राहक ज्ञान भिन्न है, अतः घटादि सम्बन्धियों से भिन्न संयोगादि सम्बन्धों का अस्तित्व मानना आवश्यक है। [ धर्मकीर्ति ने भी यही शङ्का उठाकर अपने ढंग से समाधान किया है—

शब्दज्ञाने विकल्पेन वस्तु भेदानुसारिणा ।
गुणादिष्विव कल्प्यार्थे नष्टाजातेषु वा यथा ॥ २ ॥ ( प्र० वा० पृ ९५ ) ]

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"एकत्वेऽपि स्वरूपबाह्यरूपापेक्षया"। अर्थात् एक ही वस्तु स्वगत अनेक अनिर्वचनीय विशेषताओं के द्वारा विभिन्न शब्दों और ज्ञानों की विषय हो जाती है, जैसे एक ही देवदत्त स्वरूप ( स्वगत विशेष धर्मों ) की अपेक्षा—मनुष्य, ब्राह्मण, गौर; स्वकीय अवस्था की अपेक्षा—बाल, युवक, स्थविर; स्वकीय कर्म की अपेक्षा—श्रोत्रिय; अपने सम्बन्धियों की अपेक्षा—पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, जामाता आदि शब्दों और प्रतीतियों का भाजन होता है। स्फुटतर दृष्टान्तान्तर प्रस्तुत किया जाता है—"यथा चैकापि"। एकत्वादि संख्या की सूचिका रेखा एक होने पर भी अपनी पार्श्ववर्तिनी रेखाओं की अपेक्षा–एक, दश, शतादि विभिन्न शब्दों से व्यवहृत होती है [ विष्णुपुराण ( ६।३।४ ) में परार्द्ध पर्यन्त अट्ठारह संख्याएँ गिनाई हैं—

स्थानात्स्थानं दशगुणमेकस्माद् गण्यते द्विज ।
ततोऽष्टादशमे भागे परार्द्धमभिधीयते ॥

बाधुपुराण में इनके नाम गिनाए हैं—(१) एक, (२) दश, (३) शत, (४) सहस्र, (५) अयुत, (६) नियुत, (७) प्रयुत, (८) अर्बुद, (९) न्युर्बुद, (१०) वृन्द, (११) खर्व, (१२) निखर्व (१३) शङ्ख, (१४) पद्म, (१५) समुद्र, (१६) मध्य, (१७) अन्त, (१८) परार्द्ध। यजुर्वेद ( १७।२ ) में भी ये सभी संख्याएँ निर्दिष्ट हैं ]।

दृष्टान्त-दृष्ट वस्तु-स्थिति दार्ष्टान्त में घटाई जा रही है—"तथा सम्बन्धिनोः"। दो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यार्हत्वं न व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वेन, इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरभावो वस्त्वन्तरस्य। नापि संबन्धिविषयत्वे संबन्धशब्दप्रत्ययोः संततभावप्रसङ्गः। स्वरूपवाह्यरूपापेक्षयेत्युक्तोत्तरत्वात्। तथाऽऽण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति, प्रदेश-

भामती

कार्यकारणयोस्तु तादात्म्योऽप्यनिर्वाच्यस्य कार्यस्य भेदं विवक्षित्वा सम्बन्धिनोरित्युक्तम् ॥ नापि सम्बन्धिविषयत्वे सम्बन्धशब्दप्रत्ययययोः॥ इत्येतदप्यनिर्वाच्यभेदाभिप्रायम्। अपि चादृष्टवत्क्षेत्रज्ञसंयोगात् परमाणुमनसोराद्यं कर्म भवद्भिरिष्यते। अग्नेरूर्ध्वंज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनम्, अणुमनसोराद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानीति वचनात्। न चाणुमनसोरात्मनाऽप्रदेशेन संयोगः सम्भवति। सम्भवे चाणुमनसोरात्मव्यापित्वात् परममहत्त्वेनानणुत्वप्रसङ्गात्। न च प्रदेशवृत्तिरनयोरात्मना संयोगोऽप्रदेशत्वादात्मनः, कल्पनायाश्च वस्तुतत्त्वव्यवस्थापनासहत्वादतिप्रसङ्गादित्याह ॥ तथाऽण्वात्ममनसाम् इति ॥।

भामती–व्याख्या

अङ्गुलियों का संयोग दोनों अङ्गुलियों से भिन्न नहीं, अपि तु निरन्तर देश में अवस्थित अङ्गुलियों का स्वरूप है। इसी प्रकार दधि और कुण्ड का संयोग दधि और कुण्ड के उत्तराधरभाव से भिन्न नहीं। [ प्रज्ञाकर भी यही कहते हैं—

प्रत्यासन्नतयोत्पन्नास्तत्र संयोगिनः परम्।
संयुक्तप्रत्ययालम्ब्या न संयोगस्ततः परः॥ ( प्र० वा० भा पृ० ०४ )

श्री धर्मकीर्ति ने भी अपने 'सम्बन्धपरीक्षा' नाम के ग्रन्थ में सम्बन्ध पदार्थ का विस्तार से निरास किया है—"तस्मात् सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः॥ १॥" इसी कारिका की व्याख्या में श्री प्रभाचन्द्र ने निरन्तरता की सम्बन्धरूपता का भी निराकरण किया है—"अथ नैरन्तर्यं तयो रूपश्लेषः, न; अस्यान्तराभावरूपत्वेनातात्त्विकत्वात् सम्बन्धरूपत्वायोगः। निरन्तरतायाश्च सम्बन्धरूपत्वसान्तरतापि कथं सम्बन्धो न स्यात्? ]। समवायादि के पट और तन्त्वादिरूप सम्बन्धियो का भी भेद सिद्ध नहीं, अतः दोनों की एकरूपता के कारण 'सम्बन्धिनोः'—यहाँ पर द्विवचन का प्रयोग यद्यपि सम्भव नहीं, तथापि पटादि कार्य और तन्त्वादिरूप कारण के अनिर्वचनीय भेद की अपेक्षा से द्विवचन का प्रयोग कर दिया है। इसी प्रकार "नापि सम्बन्धिविषयत्वे सम्बन्धशब्दप्रत्ययोः सन्ततभावप्रसङ्गः"—यहाँ पर भी दोनों सम्बन्धियों के सम्बन्ध की सदातनप्रतीति का प्रसञ्जन उसी भाव से किया गया है।

दूसरी बात यह भी है कि "आग्नेरूर्ध्वंज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्" ( वै० सू ५।२।१३ ) इस सूत्र के अनुसार अदृष्टवदात्मा के संयोग परमाणु और मन में जो प्रथम कर्म आप ( वैशेषिकगण ) मानते हैं, वह सम्भव नहीं, क्योंकि से संयोग सावयव पदार्थों का होता है किन्तु परमाणु, मन और आत्मा—में तीनों वैशेषिकमतानुसार निरवयव हैं। फिर भी यदि व्यापकीभूत आत्मा के साथ अणु और मन का संयोग माना जाता है, तब परमाणु और मन को भी व्यापक मानना होगा, फलतः उनमें अणुत्वाभाव प्रसक्त होता है। परमाणु और मान के साथ आत्मा का संयोग किञ्चिद्देशावच्छेदेन सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयव है। यदि अवयवों की कल्पना की जाती है, तो कल्पित वस्तु से तात्त्विक व्यवस्था नहीं हो सकती, अन्यथा गुञ्जा-पुञ्ज में कल्पित अग्नि से भी दाहादि कार्य की प्रसक्ति होगी, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"तथाण्वात्ममनसामप्रदेशत्वात्"। [ निरवयव परमाणु का संयोग सम्भव नहीं, अत एव वसुबन्धु ने छहों दिशाओं के साथ संयोग स्थापित करने के लिए छः अवयवों का आपादन किया है—"षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता" ( विंशिका. ११ ) ]।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगदर्शनात्। कल्पिताः प्रदेशा अण्वात्ममनसां भविष्यन्तीति चेत्-न, अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गाद् इयानेवाविद्यमानो विरुद्धोऽविरुद्धो वार्थः कल्पनीयो नातोऽधिक इति नियमहेत्वभावात्, कल्पनायाश्च स्वायत्तत्वात्प्रभूतत्वसंभवाच्च। नच वैशेषिकैः कल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वाऽर्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति। तस्माद्यस्मै यस्मै यद्यद्रोचते तत्तत्सिध्येत्। कश्चित्कृपालुः प्राणिनां दुःखबहुलः संसार एव मा भूदिति कल्पयेत्। अन्यो वा व्यसनी मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिं कल्पयेत्। कस्तयोर्निवारकः स्यात्?

किंचान्यत्—द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव 'संश्लेषानुपपत्तिः न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीनां च जतुकाष्ठवत्संश्लेषोऽस्ति। कार्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यवश्यं कल्प्यः समवाय इति चेत्-न, इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिराश्रिताश्रयभावसिद्धौ च तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवदितीतरेतराश्रयता स्यात्। न हि कार्यकारणयोर्भेद आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तवादिभिरभ्युपगम्यते, कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्।

किंचान्यत्-परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद्यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भि-

---

भामती

किञ्चान्यद् द्वाभ्यामणुभ्यां कारणाभ्यां सावववस्य कार्यस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः। संश्लेषः संग्रहो यत एकसम्बन्ध्याकर्षे सम्बन्ध्यन्तराकर्षो भवति तस्यानुपपत्तिरिति। अत एव संयोगादन्यः कार्यंकारणद्रव्ययोराश्रयाश्रितभावोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यवश्यं कल्पनीयः समवाय इति चेत्। निराकरोति ❀ न ❀ कुतः? ❀ इतरेतराश्रयत्वात् ❀। तद्विभजते ❀ कार्यकारणयोर्हि इति ❀। ❀ किञ्चान्यत् परमाणूनाम् इति ❀। ये हि परिच्छिन्नास्ते सावयवाः, यथा घटावयः। तथा च परमाणवस्तस्मात्साव-

---

भामती—व्याख्या

एक अन्य दोष यह भी है कि द्व्यणुक के कारणीभूत दोनों निरवयव परमाणुओं के साथ सावयव द्व्यणुक का संश्लेष वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे आकाश के साथ। "संश्लेषानुपपत्तिः"—यहाँ 'संश्लेष' शब्द का अर्थ संग्रह है, जिसके कारण एक सम्बन्धी के आकर्षण से अन्य सम्बन्धी का आकर्षण होता है, उस संग्रह की अनुपपत्ति होगी, अतः कार्य और कारण का आश्रयाश्रयिभाव अन्यथा अनुपपन्न होने के कारण संयोग से भिन्न समवाय मानना चाहिए। इस आपत्ति का निराकरण यह है—"न इतरेतराश्रयात्"। निराकरण-भाष्य की व्याख्या है—"कार्यकारणयोर्हि"। अर्थात् कार्य और कारण का भेद सिद्ध होने पर उनका आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध सिद्ध होगा और आश्रयाश्रयिभाव सिद्ध होने पर कार्य और कारण का भेद सिद्ध होगा—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है।

दूसरी बात यह भी है कि "परमाणूनां परिच्छिन्नत्वात्"। परमाणुओं में सावयवत्व के साधक उदाहरणादि तीन अंग इस प्रकार हैं—(१) ये परिच्छिन्नास्ते सावयवाः, यथा घटादयः। (२) तथा च परमाणवः। (३) तस्मात् सावयवाः। परमाणुओं को यदि अपरिच्छिन्न (देश-कालादि परिच्छेद से रहित) माना जाता है, तब उनमें वैसे ही परमाणुत्व परिमाण न रह सकेगा, जैसे आकाश में।

शङ्का—आप (वेदान्ती) ने जो यह कहा है कि परमाणु एक परिच्छिन्न द्रव्य है, अतः जितनी भी दिशाएँ मानी जाती हैं—छः, आठ या दश [ पूर्व, पश्चिम, उत्तर और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रवयवैः सावयवास्ते स्युः, सावयवत्वादनित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो वाध्येत। यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान् कल्पयसि त एव परमाणव इति चेत्-न, स्थूलसूक्ष्मतारतम्यक्रमेणापरमकारणाद्विनाशोपपत्तेः। यथा पृथिवी द्व्यणुकाद्यपेक्षया स्थूलतमा वस्तुभूतापि विनश्यति, ततः सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं च पृथिव्येकजातीयकं विनश्यति ततो द्व्यणुकं, तथा परमाणवोऽपि पृथिव्येकजातीयकत्वाद्विनश्येयुः। विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेनैव विनश्यन्तीति चेत्, नायं दोषः, यतो घृतकाठिन्यविलयनवदपि विनाशोपपत्तिमवोचाम। यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवा-

भामती

यवा अनित्याः स्युः। अपरिच्छिन्नत्वे चाकाशादिवत् परमाणुत्वव्याघातः। शङ्कते ❀ यांस्त्वम् इति ❀। निराकरोति ❀ न स्थूला इति ❀। किं सूक्ष्मत्वात् परमाणवो न विनश्यन्त्यथ निरवयवतया? तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे इदमुक्तम् ❀ वस्तुभूतापि इति ❀। भवन्मते उत्तरं कल्पमाशङ्क्य निराकरोति ❀ विनश्यन्तोऽप्यवयवविभागेन इति ❀। ❀ यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामपि इतिश्च। यथा हि पिष्टपिण्डोऽविनश्यदवयवसंयोग एव प्रथते प्रथमानश्चाश्वशफाकारतां नीयमानः पुरोडाशतामापद्यते, तत्र पिण्डो नश्यति पुरोडाशश्चोत्पद्यते, न हि तत्र पिण्डावयवसंयोगा विनश्यन्ति, अपि तु संयुक्ता

भामती—व्याख्या

दक्षिण—इन चार प्रधान दिशाओं में ऊर्ध्व और अधः दिक् को मिला देने पर छः, चार प्रधान दिशाओं में आग्नेयादि चार कोणों को जोड़ देने पर आठ एवं इन आठों में ऊर्ध्व और अधः को संकलित करने पर दश दिशाएँ सम्पन्न होती हैं, आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं—"'प्राच्यादिभेदेन दशविधाः संज्ञाः कृताः तासामेव देवतापरिग्रहात् पुनर्दश संज्ञा भवन्ति—(१) माहेन्द्री (प्राची), (२) वैश्वानरी (पूर्वदक्षिण), (३) याम्या (अवाची), (४) नैर्ऋति (दक्षिणपश्चिम), (५) वारुणी (प्रतीची), (६) वायवी (पश्चिमोत्तर), (७) कौवेरी (उदीची), (८) ऐशानी (उत्तरपूर्व), (९) ब्राह्मी (ऊर्ध्वम्), (१०) नागी (अधः)]। निरवयव का संयोग हो नहीं सकता, अतः दिक् पदार्थ को भी सावयव मानना होगा और उस के विशेष देश में अवस्थित अवयवों को ही प्राच्यादि व्यवहार का निर्वाहक मानना होगा। उन्ही अवयवों को हम परमाणु मानते हैं, वे सूक्ष्म और निरवयव हैं।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती ने कहा—स्थूलसूक्ष्मतारतम्यक्रमेण"। आशय यह है कि क्या परमाणु सूक्ष्म होने के कारण नष्ट नहीं होते? अथवा निरवयव होने के कारण? प्रथम कल्प का निरास करने के लिए कहा गया है—वस्तुभूतापि"। अर्थात् वैशेषिक जिस पृथिव्यादि प्रपञ्च को पारमार्थिक मानते हैं, उसका पहले स्थूलरूप नष्ट होता है, फिर उसका सूक्ष्मरूप और फिर उसका समानजातीय सूक्ष्मतमरूप नष्ट होता है, फलतः परमकारणीभूत ब्रह्मतत्त्व तक समस्त परमाण्वादि प्रपञ्च नश्वर है, उसका कोई भी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थ नित्य नहीं।

समस्त कार्य अपने अवयवों के विभाग से नष्ट होता है, परमाणु निरवयव है, अतः उसका नाश क्यों होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा कोई नियम नहीं कि अवयवों के विभाग से ही पदार्थों का नाश होता है, क्योंकि जैसे जमा हुआ घृत और सोने का टुकड़ा अग्नि के सम्बन्ध से पिघल जाता है, वैसे ही अवयव-विभाग के विना ही कार्य नष्ट हो जाता है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—यथा हि घृतसुवर्णादीनामविभज्यमानावयवानामपि"। जैसे गून्धे हुए आटे का पेड़ा (बाटी) अग्नि में रख देने से अवयव-विभाग के विना ही फूल कर अश्व की टाप के समान पुरोडाश का रूप धारण कर लेता है। वहाँ पहले का पिण्डाकार नष्ट


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामप्यग्निसंयोगाद् द्रवभावापत्त्या काठिन्यविनाशो भवति, एव परमाणूनामपि परमकारणभावापत्त्या मूर्त्यादिविनाशो भविष्यति। तथा कार्यारम्भोऽपि नावयवसंयोगेनैव केवलेन भवति, क्षीरजलादीनामन्तरेणाप्यवयवसंयोगान्तरं दधिहिमादिकार्यारम्भदर्शनात्। तदेवमसारतरतर्कसंदब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षाऽस्मिन्परमाणुकारणवादे काय्यां श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः॥ १७॥

## ( ४ समुदायाधिकरणम्। सू० १८--२७ )

**समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः॥ १८॥**

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्। सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतराम-

भामती

एव सन्तः परं प्रथनेन नुद्यमाना अधिकदेशव्यापका भवन्ति, एवमग्निसंयोगेन सुवर्णद्रव्यावयवाः संयुक्ता एव सन्तो द्रवीभावमापद्यन्ते, न तु मिथो विभज्यन्ते। तस्माद्यथावयवसंयोगविनाशावन्तरेणापि सुवर्णपिण्डो विनश्यति संयोगान्तरोत्पादमन्तरेण च सुवर्णे द्रव उपजायते, एवमन्तरेणाप्यवयवसंयोगविनाशं परमाणवो विनङ्क्ष्यन्त्वन्ये चोत्पत्स्यन्त इति सर्वमवदातम्॥ १७॥

अवान्तरसङ्गतिमाह ❀ वैशेषिकराद्धन्तः इति ❀। वैशेषिकाः खल्वर्धवैनाशिकास्ते हि परमाण्वाकाशदिक्कालात्ममनसाञ्च सामान्यविशेषसमवायानाञ्च गुणानाञ्च केषाञ्चिन्नित्यत्वमभ्युपेत्य शेषाणां निरन्वयविनाशमुपयन्ति, तेन तेऽर्धवैनाशिकास्तेन तदुपन्यासो वैनाशिकत्वसाम्येन सर्ववैनाशिकाद् स्मारयतीति तदनन्तरं वैनाशिकमतनिराकरणमिति। अर्धवैनाशिकानां स्थिरभाववादिनां समुदायारम्भ उपपद्येतापि क्षणिकभाववादिनां त्वसौ दूरापेत इत्युपपादयिष्यामः। तेन नतरामित्यक्तम्। तदिदं दूषणाय वैनाशिक-

भामती–व्याख्या

होता और पुरोडाश उत्पन्न होता है, किंतु पिंड के अवयवों का संयोग नष्ट नहीं होता, जैसे का तैसा बना रहता है; केवल वह पिण्ड फूलकर विशाल हो जाता है। इसी प्रकार अग्नि के सम्बन्ध से सुवर्णादि द्रव्यों के अवयव जैसे-के-तैसे संयुक्त रह कर केवल तरल हो जाते हे, उनके अवयव विभक्त नहीं होते। ठीक वैसे ही परमाणु द्रव्य भी अवयव-विभाग के विना ही पुराने नष्ट होते और नये उत्पन्न होते रहते हैं॥ १७॥

**संगति**—वैशेषिक और बौद्ध—दोनों ही क्षणप्रक्रिया के पक्षपाती हैं, उनमें इतना अन्तर अवश्य है कि वैशेषिकगण परमाणु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन, सामान्य, विशेष, समवाय एवं परमाणुपरिमाणादि कतिपय गुणों को नित्य मानकर शेष प्रपञ्च का का निरन्वयविनाश मानते हैं, अतः वे अर्द्धवैनाशिक कहे जाते हैं। अर्द्धवैनाशिकों का प्रसङ्ग सर्ववैनाशिकों का सादृश्यमूलक स्मारक है, अतः वैशेषिक-मतनिराकरण के अनन्तर बौद्धमत का निराकरण किया जाता है। भाष्यकार ने बौद्ध-सिद्धान्त के लिए जो 'नापेक्षितव्यः'—ऐसा न कह कर 'नतरामपेक्षितव्यः'–ऐसा कहा है उससे बौद्ध-सिद्धान्त की अत्यन्तानुपादेयता-व्यक्त की है जो कि सर्वथा समुचित है, क्योंकि वैशेषिकों के स्थिरभाव-पक्ष में भूतादि का समुदाय एवं उसका आरम्भ ( उत्पादन ) सम्भव है, किन्तु क्षणिक भाववादी बौद्धों के मत में वह कभी सम्भव नहीं—यह आगे चलकर कहा जायगा।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा।

भामती

मतमुपन्यसितुं तत्प्रकारभेदानाह ॐ स च बहुप्रकार इति ॐ। वादिवैचित्र्यात् खलु केचित्सर्वास्तित्वमेव सिद्धान्तं प्रतिपद्यन्ते, केचिज्ज्ञानमात्रास्तित्वं, केचित्सर्वशून्यताम्। अथ त्वत्रभवतां सर्वज्ञानां तत्त्वप्रतिपत्तिभेदो न सम्भवति तत्त्वस्यैकरूपादित्येतदपरितोषेणाह ॐ विनेयभेदाद्वा ॐ। हीनमध्यमोत्कृष्टविषयो हि शिष्या भवन्ति। तत्र ये हीनमतयस्ते सर्वास्तित्ववादेन तदाशयानुरोधात् शून्यतायामवतार्य्यन्ते। ये तु मध्यमास्ते ज्ञानमात्रास्तित्वेन शून्यतायामवतार्य्यन्ते। ये तु प्रकृष्टमतयस्तेभ्यः साक्षादेव शून्यतातत्त्वं प्रतिपाद्यते। यथोक्तं बोधिचित्तविवरणे—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा॥ इति।

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—दूषणीय-मतवाद का उपन्यास करने के लिए बौद्धों के शाखा-भेदों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—"स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदात्"। ज्ञेय पदार्थ के एक होने पर भी ज्ञाता पुरुषों की प्रतिपत्ति (अनुभूति) भिन्न-भिन्न देखी जाती है, जैसा कि आचार्य स्थिरमति कहते हैं—"दृष्टा चाभिन्नेऽप्यर्थे प्रतिपत्तृणां परस्परविरुद्धा प्रतिपत्तिः" (विज्ञप्ति. पृ. २६४)। प्रतिपत्ति के भेद से वाद (अभिवदन) का भेद नैसर्गिक है, अतः वादिगणों के भेद से कतिपय बौद्धाचार्य (सौत्रान्तिक और वैभाषिक) सर्वास्तित्व को ही अपना सिद्धान्त मानते हैं, अन्य आचार्य (योगाचार) ज्ञानमात्रास्तित्व और कुछ आचार्य (माध्यमिक) सर्व-शून्यत्व के संस्थापक माने जाते हैं। किन्तु बौद्धाचार्यों का प्रतिपत्ति-भेद सम्भव नहीं, क्योंकि वे सभी आचार्य तत्त्वदर्शी और सर्वज्ञ होते हैं। तत्त्व यदि एक है, तब सभी तत्त्वदर्शियों को एकाकार की ही प्रतिपत्ति होगी, अतः प्रतिपत्ति-भेद को सिद्धान्त-भेदक न मान कर कहा है—"विनेयभेदाद्वा"। आचार्य अपने विनेयों (शिष्यों) की क्षमता के अनुसार एक ही वस्तु का उपदेश भिन्न-भिन्न रूपों में किया करता है, प्रज्ञाकरगुप्त कहते हैं—"यथा यथा विनेयानां तत्त्वमार्गानुप्रवेशः सम्भवी, तथा तथा भगवतो देशना" (प्र. वा. पृ. ३१)। निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार के शिष्य होते हैं। उनमें जो निकृष्ट अधिकारी हैं, उनके लिए सर्वास्तित्ववाद, जो मध्यम हैं, उनके लिए ज्ञानमात्रास्तित्ववाद तथा जो उत्कृष्ट (उत्तम) शिष्य हैं, उनके लिए साक्षात् सर्व-शून्यता का उपदेश करके सभी शिष्यों को शून्यता के पवित्रतम स्रोत में आपन्न किया गया है। बोधिचित्त विवरण में कहा गया है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा।
भिद्यन्ते बहुधा लोके उपायैर्बहुभिः किल॥ १॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा॥ २॥

[ यहाँ 'बोधिचित्त' शब्द का विवरण करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है—"बोधी युद्धस्तस्य चित्तम्" किंतु बौद्ध-संप्रदयानुसार 'बोधि' शब्द का प्रयोग अधिकतर 'बुद्धत्व' या 'परमज्ञान' में होता है, जैसा कि प्रज्ञाकरमति कहते हैं—"बोधिर्बुद्धत्वं सर्वावरणप्रहाणात् सर्वधर्मनिःस्वभावताधिगमः, तत्र चित्तम् अध्याशयेन तत्प्राप्तये मनसिकारः—बुद्धो भवेयं सर्वसत्त्वहितसुखसम्पादनाय" (बोधिचर्या. पृ. ४२)। पालि-ग्रन्थों में भी 'बोधि' शब्द बुद्ध के लिए प्रयुक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति—केचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति। तत्र ये सर्वास्तित्ववादिनो बाह्यमान्तरं

भामती

यद्यपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोरवान्तरमतभेदोऽस्ति, तथापि सर्वास्तितायामस्ति सम्प्रतिपत्तिरित्येकीकृत्योपन्यासः। तथा च त्रित्वमुपपन्नमिति। पृथिवी खरस्वभावा, आपः स्नेहस्वभावाः, अग्निरुष्णस्व-

भामती—व्याख्या

न होकर सर्वज्ञता का ही बोधक माना जाता है, उसी के सम्बन्ध से वृक्षादि के साथ 'बोधि' पद जोड़ा जाता है—"बोधीति रुक्खोपि मग्गोपि सब्बञ्ञुतञाणं पि निब्बानं पि वुच्चति" ( समन्तपा. पृ. १२६ )।

लोक-नाथ ( भगवान् बुद्ध ) की देशना ( उपदेश या शिक्षा ) मनुष्यों की चैतसिक योग्यता के अनुसार वैसे ही प्रवृत्त हुई है, जैसे एक सुयोग्य वैद्य रोग के अनुसार ही रोगियों को औषध प्रदान करता है, लङ्कावतार सूत्र ( पृ. १३४ ) में कहा है—

देशना हि यदन्यस्य तदन्यस्याप्यदेशना।
आतुरे आतुरे यद्वद् भिषग्द्रव्यं प्रयच्छति॥

बुद्धघोष ने अपनी समंतपासादिका नाम की अट्ठकथा (पृ. २०-२१) में समस्त त्रिपिटक के लिए यही कहा है—"देसना सासनकथा भेदं तेसु यथारहं।" शील, व्यवहार एवं परमार्थ का उपदेश क्रमशः विनयपिटक, सूत्रपिटक और अभिधम्मपिटक में किया गया है—"पिटकानि यथाक्कमं आणावोहारपरमत्थदेसना"। बुद्ध के उपदेश नितान्त गम्भीर हैं—"तीसु पि चेतेसु एते धम्मत्थदेसनापटिवेधा यस्मा ससादीहि विय महासमुद्दो मन्दबुद्धीहि दुक्खोवगाहा, तस्मा गम्भीरा" जैसे एक खरगोश महासमुद्र का अवगाहन नहीं कर सकता, वैसे ही मन्दप्रज्ञ व्यक्ति सहसा देशना का आशय नहीं समझ सकते ]।

साधन मार्गों के भेद से देशना-भेद का हो जाना स्वाभाविक है—कोई उपदेश अत्यन्त गम्भीर ( अगाध-जल के समान दुरवगाह्य ) है तो कोई उत्तान ( उथले या छिछले जल के समान सुगम ) है और कोई उपदेश उक्त दोनों विधाओं से भिन्न है। साधनमात्र का भेद हो जाने पर भी साध्यांश में कोई भेद नहीं, क्योंकि सभी उपायों के द्वारा एक अद्वितीय शून्यता तत्त्व ही अधिगन्तव्य है। शून्यता के गम्भीरभाव का अभ्युपगम स्वयं नागार्जुन ने भी किया है—

विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसाम्।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥ ( माध्यमक. पृ. २१६ )

भगवान् बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय के अलगद्दूपम सूत्र ( १।३।२ ) में अलगद्द ( सर्प ) की उपमा से धर्म की दुर्गृहीतता स्पष्ट की है।

यद्यपि बौद्धों के चार भेद प्रसिद्ध हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। तथापि वैभाषिक और सौत्रान्तिक दोनों सर्वास्तिवादी (ज्ञानज्ञेयोभयार्थवादी ) हैं, अतः दोनों का सर्वास्तिवादित्वेन एकीकरण करके भाष्यकार ने कहा है—"तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्ति"। [ यहाँ पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्ते"—इस भाष्य का यह विस्पष्ट अर्थ किया जाता है कि चारों प्रकार के परमाणुओं में पार्थिव परमाणु कठिन स्वभाव के ( ठोस ) जलीय परमाणु स्निग्ध स्वभाव के तैजस परमाणु उष्ण एवं वायु के परमाणु क्रियावान् होते हैं। पार्थिव परमाणुओं का संहात ( समूह ) पृथिवी, जलीय परमाणुओं का पुञ्ज जल, तैजस, परमाणुओं का समुदाय

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च वस्त्वभ्युपगच्छन्ति भूतं भौतिकं च चित्तं चैत्तं च, तांस्तावत् प्रतिब्रूमः। तत्र भूतं पृथिवीधात्वादयः। भौतिकं रूपादयश्चक्षुरादयश्च। चतुष्टये च पृथिव्यादिपरमाणवः खरस्नेहोष्णेरणस्वभावास्ते पृथिव्यादिभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते। तथा रूपविज्ञा-

भामती

भावो वायुरीरणस्वभावः। ईरणं प्रेरणम्। भूतभौतिकानुक्त्वा चित्तचैत्तिकानाह ॐतथा रूपेतिॐ। रूप्यन्ते

भामती—व्याख्या

तेज एवं वायवीय परमाणुओं का संघात वायु है [ वैशेषिकों और जैनों के समान ही सर्वास्तिवादी बौद्ध भी परमाणुओं के कल्पक हैं, किन्तु परमाणु-प्रक्रिया में सबका मतैक्य नहीं।

(१) वैशेषिक गणों का कहना है कि पार्थिव परमाणु में रूप, रस, स्पर्श और गन्ध—ये चारों गुण होते हैं किन्तु जलीय परमाणु में रूप, रस एवं स्पर्श—तीन गुण, तैजस परमाणु में रूप एवं स्पर्श—दो तथा वायु के परमाणु में केवल एक स्पर्श गुण होता है। सभी परमाणु नित्य हैं। अपने-अपने परमाणुओं के द्वारा पृथिव्यादि का आरम्भ होता है।

(२) जैनों के आगम ग्रन्थों में सभी चार प्रकार के परमाणु माने गये हैं—(१) द्रव्य-परमाणु, (२) क्षेत्रपरमाणु, (३) कालपरमाणु और (४) भाव परमाणु ( भगवती० २०।५ )। पृथिव्यादि चार भूतों के परमाणु द्रव्य परमाणु कहलाते हैं। परमाणुओं को ऐकान्तिक नित्य न मान कर नित्यानित्य माना जाता है—"परमाणु पोग्गले सिय सासए, सिय असासए" ( भगवती, १४।४।५१२ )। अनेकान्तवादियों का शाश्वत् और अशाश्वत—उभयरूप मानना न्याय-संगत ही है। प्रत्येक द्रव्य परमाणु में एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं। ये परमाणु ही पृथिव्यादि चारों भूतों के कारण हैं—"धातुचदुक्कस्स कारण" (पंचा० ८५)।

(३) भूत-भौतिक प्रपञ्च की व्यवस्था करते हुए श्री वसुबन्धु अभिधर्मकोश में कहते हैं—

भूतानि पृथिवीधातुरप्तेजोवायुधातवः।
धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः॥

पृथिव्यादि चार धातुओं को महाभूत कहते हैं। पृथिवी का व्यापार धृति ( धारण करना ), जल का कार्य संग्रह ( समूहन ), तेज का कर्म पकाना और वायु का काम प्रसर्पण है। पृथिवी का खर ( ठोस), जल का स्नेहन, तेज का उष्णता और वायु का ईरण ( गति प्रदान करना ) स्वभाव है। सर्वास्तिवादी परमाणुओं की सत्ता मानते हैं, परमाणु दो प्रकार के होते हैं—(१) द्रव्य परमाणु और (२) संघात परमाणु। आचार्य वसुबन्धु ने वैभाषिक की भूमिका में आकर परमाणुओं का समर्थन किया है किन्तु योगाचार का मुखौटा धारण करके कहते हैं—

न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति॥ ( विंश. ११ )

परमाणु भी रूपस्कन्ध के अन्तर्गत हैं। रूपस्कन्ध की परिभाषा की गई है—कस्माद् रूपस्कन्धः ? रूपणात्। केन रूप्यते ? पाणिस्पर्शेनापि स्पृष्टो रूप्यते। परमाणुरूपं तर्हि रूपं न प्राप्नोति, अरूपणात्, सङ्घातरूपं तु तद् रूप्यते" ( अभि. को. भा. पृ. ४४ )। अर्थात् उँगली के निर्देश या स्पर्श से जो वस्तु दिखाई जा सके या कुछ स्थान घेरे, उसे रूप कहते हैं, जैसे वर्ण ( नीलादि रूप ) और संस्थान ( आकार ) से युक्त पृथिवी। यद्यपि द्रव्य परमाणु अकेला उक्त प्रकार से निरूपित नहीं होता, तथापि संघातावस्था में गृहीत और निरूपित होता है। अभिधर्म प्रदीप में भी कहा है—"परमाणुसंचयश्चक्षुषा गृह्यते, प्रत्येकं परमाणवो न गृह्यन्ते" ( अभि. प्र. पृ. २७७ )। वसुबन्धु ने परमाणु का स्वरूप बताते हुए कहा है—"सर्वसूक्ष्मो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्च स्कन्धाः। तेऽप्याध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदभावेन संहन्यन्त इति मन्यन्ते।

भामती

एभिरिति रूप्यन्त इति च व्युत्पत्त्या सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः। यद्यपि रूप्यमाणाः पृथिव्यादयो बाह्यास्तथापि कायस्थत्वाद्वा इन्द्रियसम्बन्धाद्वा भवन्त्याध्यात्मिकाः। निज्ञानस्कन्धोऽहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियाविजन्यो वा वण्डायमानः। वेदनास्कन्धो या प्रियाप्रियानुभयविषयस्पर्शे सुखदुःखतद्रहितः-

भामती—व्याख्या

रूपसंघातः परमाणुरित्युच्यते" ( अभि. कोश. पृ. १८० )। परमाणु पृथिव्यादि चार भूत और रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप चार भौतिक का समूह होता है। इस प्रकार सभी भूतों में सभी भूतों का सम्मिश्रण हो जाने पर पृथिव्यादि की व्यवस्था क्योंकर होगी ? ऐसा प्रश्न उठाते हुए स्वयं वसुबन्धु ने उत्तर दिया है—"कथमनिर्भागे भूतानां कश्चिदेव सङ्घातः कठिन उत्पद्यते, कश्चिदेव द्रव उष्णो वा, समुदीरणो वा ? यद्यत्र पटुतमं प्रभावत उद्भूतं तस्य तत्रोपलब्धिः, सक्तुलवणचूर्णरसवत्" ( अभि. को, पृ. १८१ )। जिस पदार्थ में जिस स्वभाव की पटुता या प्रधानता होती है, उसमें उसी का व्यवहार होता है। जलादि में नौकादि का सन्धारण देख कर धृतिस्वभावक पृथिवी का सद्भाव होने पर भी द्रवत्व की पटुता को लेकर जल का ही व्यवहार होता है, पृथिव्यादि का नहीं। वायु में वर्ण ( शुक्लादिरूप ) का सद्भाव भी अनुमान के द्वारा सिद्ध किया गया है—"वर्णवान् वायुः, गन्धवत्त्वाज्जातिपुष्पवत्" ( स्फुटार्था. पृ. १८३ )। वैभाषिकों की इस प्रक्रिया को देखते हुए "खरस्नेहोष्णेरण-स्वभावाः"—इस शाङ्करभाष्य की योजना सभी चारों प्रकार के परमाणुओं में करनी चाहिए, प्रत्येक परमाणु में यथासंख्य एक-एक स्वभाव की व्यवस्था जो टीकाकारों ने की है, वह उचित नहीं—ऐसा बौद्ध विद्वानों का कहना है ]।

भूत-भौतिक प्रपञ्च कह कर चित्त और चैतसिक प्रपञ्च का प्रतिपादन किया जाता है—"तथा रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पञ्च स्कन्धाः"।

१. **रूपस्कन्ध**—'रूप्यन्ते येभिः' अथवा 'रूप्यन्ते इति रूपम्'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर चक्षुरादि पाँच ज्ञानेन्द्रिय और उनके रूप, शब्दादि विषयों का पुञ्ज रूपस्कन्ध कहलाता है, जैसा कि वसुबन्धु कहते हैं—"रूपणाद् रूपमिति' ॥ १३ ॥ इन्द्रियार्थास्त एवेष्टा दशायतनधातवः" [ अभि. को. १।१३। पाँच इन्द्रिय और उनके पाँचों विषय सभी दश तत्त्व आयतन और धातु भी कहलाते हैं, रूपस्कन्ध हैं। स्फुटाकार लिखते हैं—भगवतो विनेयवशात् तिस्रो देशनाः—स्कन्धायतनधातुदेशनाः, तासु च ये स्कन्धेषु देशिता धर्मास्ते एवायतनधातुषु देशिताः ]। यद्यपि पृथिव्यादि बाह्य पदार्थ ही स्पष्टरूप से निरूप्यमाण हैं, इन्द्रियादि नहीं, तथापि शरीर में अवस्थित अथवा इन्द्रियों के सम्बन्ध से आध्यात्मिक ( शरीर-सम्बन्धी भूत-भौतिक भी निरूप्यमाण होकर रूपस्कन्ध कहे जा सकते हैं।

२. **विज्ञानस्कन्ध**—'अहम्-अहम्' इस प्रकार का रूपादिविषयक अथवा इन्द्रियादि से जनित चित्त ही विज्ञानस्कन्ध है [ कोशकार ने विज्ञानस्कन्ध का पाँचवें स्थान पर निर्देश करते हुए कहा है—"विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः। विषयं विषयं प्रति विज्ञप्तिरुपलब्धिर्विज्ञानस्कन्ध इत्युच्यते, स पुनः षड् विज्ञानकायाः चक्षुर्विज्ञानं यावन्मनोविज्ञानमिति" ( अभि. को. १।१६ ) ]।

३. **वेदनास्कन्ध**—इष्ट या अनिष्टादि विषय का सम्बन्ध होने पर जो सुखाकार दुःखाकार या सुखदुःखरहित उपेक्षाभावनारूप चित्त की स्थूल अवस्थाएँ ( अनुभूतियाँ )

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रेदमभिधीयते,—योऽयमुभयहेतुक उभयप्रकारः समुदायः परेषामभिप्रेतोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः स्कन्धहेतुकश्च पञ्चस्कन्धीरूपः, तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभिप्रेयमाणे तूदप्राप्तिः स्यात्समुदायाप्राप्तिः। समुदायभावानुपपत्तिरित्यर्थः। कुतः? समुदायिनामचेतनत्वात्। चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्धय-

भामती

विशेषावस्था चित्तस्य जायते, स वेदनास्कन्धः। संज्ञास्कन्धः सविकल्पप्रत्ययः संज्ञासंसर्गयोग्यप्रतिभासो यथा डित्थः कुण्डली गौरौ ब्राह्मणो गच्छतीत्येवञ्जातीयकः। संस्कारस्कन्धो रागादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ चेति। तदेतेषां समुदायः पञ्चस्कन्धी। ❀ तस्मिन्नुभयहेतुकेऽपि इति ❀। बाह्ये पृथिव्याद्यणुहेतुके भूतभौतिकसमुदाये रूपविज्ञानादिस्कन्धहेतुके च समुदाय आध्यात्मिकेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिस्तस्य समुदायस्यायुक्तता। कुतः? ❀ समुदायिनामचेतनत्वात् ❀। चेतनो हि कुलालादिः सर्वं मृद्दण्डाद्युपसंहृत्य समुदायात्मकं घटमारचयन् दृष्टः। न ह्यसति मृद्दण्डादिव्यापारिणि विदुषि कुलाले स्वयमचेतना मृद्दण्डादयो व्यापृत्य जातु घटमारचयन्ति। न चासति कुविन्दे तन्तुवेमादयः पटं वयन्ते। तस्मात् कार्योत्पादस्तदनुगुणकारणसमवधानाधीनस्तदभावे न भवति। कार्य्योत्पादानुगुणश्च कारण-

भामती—व्याख्या

उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही वेदनास्कन्ध कहते हैं [ वसुबन्धु कहते हैं—"वेदनानुभवः। सुख दुःख, अदुःखासुखश्च।" स्फुटाकार की व्याख्या है—"वस्तुनो ह्लाद-परिताप तदुभयविनिर्मुक्तस्वरूपसाक्षात्करस्वभावोऽनुभवः। कायचित्तोपचयापचयतदुभयविनिर्मुक्ताक्स्थाप्रवृत्तश्चैतसिकविशेषस्पर्शानुभव इत्यपरे" ( अभिको० पृ० ४८ ) ]।

४. **संज्ञास्कन्ध**—वह सविकल्पकज्ञान, जिसमें संज्ञा ( शब्द ) और अर्थ के संसर्ग का योग्य प्रतिभास होता है, जैसे डित्थः, कुण्डली, गौरः, ब्राह्मणो, गच्छति इत्यादि। [ कोशकार ने 'संज्ञा' पद से शब्द का ग्रहण न करके सम्यक् ज्ञान अर्थ करते हुए कहा है—"संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका"। इस का स्पष्टीकरण स्फुटाकार करते हैं—"निमित्तं वस्तुनोऽवस्थाविशेषो नीलत्वादि, तस्योद्ग्रहणम्। अर्थात् वेदना के विषयीभूत पदार्थों में विद्यमान शक्यतावच्छेदकरूप धर्म का ज्ञान सम्यक् ज्ञान या संज्ञा है ]।

५. **संस्कारस्कन्ध**—रागद्वेषादि क्लेश, मद मानादि उपक्लेश और धर्माधर्म ये सब मिल कर संस्कारस्कन्ध कहे जाते हैं। [कोशकार ने कहा है—"चतुर्थोऽन्ये तु संस्कारस्कन्धः। स्फुटाकार ने व्याख्या की है—"एवं चैवं च स्यामित्यभिसंस्करणे प्रधानाः। छन्दप्राप्त्यादयस्तु चेतनानुविधायित्वात् तदाकारहेतुभावानुविधानतः संस्कारस्कन्ध एव वेदितव्यः। तदेवं संस्करणे प्रवृत्तो धर्मराशिः संस्कार इत्युक्तं भवति ]।

[ पालि-ग्रंथों में स्कन्धों का निर्देश इस क्रम से किया गया है—"रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो ति" (विशुद्धि. म. १४।३३)। अभिधर्मसमुच्चयादि संस्कृत के ग्रन्थों में भी प्रायः वही क्रम, अपनाया गया है—"रूपस्कन्धो वेदनास्कन्धः संज्ञास्कन्धः संस्कारस्कन्धो विज्ञानस्कन्धः" ( अभि० समु० पृ० )। अभिधर्म समुच्चयादि में स्कन्ध, रूपादि शब्दों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। स्कन्धो के इस क्रम-निर्देश का भी प्रयोजन प्रदर्शित है। 'स्कन्ध' शब्द समुदाय या राशि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—"राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः" ( आभि० को० १।२० ) अर्थात् 'स्कन्ध' शब्द का राशि ( समूह ), 'आयतन' शब्द का आय-द्वार, एवं 'धातु' शब्द का गोत्र अर्थ किया जाता है। इन स्कन्धों में समस्त व्यावहारिक प्रपञ्च संगृहीत है—"एकेन स्कन्धायतनधातुना सर्वसंग्रहः" ( अभि० को० १।१८ ) ]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


धीनत्वात्। अन्यस्य च कस्यचिच्चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य संहन्तुरनभ्युपगमात्, निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्। आशयस्याप्यन्यत्वान-

भामती

समवधानं चेतनप्रेक्षाधीनमसत्यां चेतनप्रेक्षायां न भवितुमुत्सहत इति कार्य्योत्पत्तिश्चेतनप्रेक्षाधीनत्वव्याप्ता व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या चेतनानधिष्ठितेभ्यः कारणेभ्यो व्यावर्त्तमाना चेतनाधिष्ठितत्व एवावतिष्ठत इति प्रतिबन्धसिद्धिः। यद्युच्येत अद्धा चेतनाधीनैव कार्य्योत्पत्तिरस्ति तु चित्तं चेतनं तद्धीन्द्रियादिविषयस्पर्शे सत्यभिज्वलत् तत्कारणचक्रं यथा यथा कार्य्याय पर्य्याप्तं तथा तथा प्रकाशयदचेतनानि कारणान्यधिष्ठाय कार्य्यमभिनिर्वर्त्तयतीति तत्राह ❀ चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्धयधीनत्वात् ❀। न खलु बाह्याभ्यन्तरसमुदायसिद्धिमन्तरेण चित्ताभिज्वलनं ततस्तु तामिच्छन् दुरुत्तरमितरेतराश्रयमाविशेदिति। न च प्राग्भवीया चित्ताभिज्वलनसमुदायं घटयति। घटनसमये तस्याश्चिरातीतत्वेन सामर्थ्यविरहात्। अस्मद्बाद्धान्तववन्यस्य चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य सङ्घातकर्तुरनभ्युपगमात्। कारणविन्यासभेदं हि विद्वान् कर्ता भवति। न चान्वयव्यतिरेकावन्तरेण तद्विन्यासभेदं वेदितुमर्हति। न च स क्षणिकोऽन्व-

भामती-व्याख्या

**सिद्धान्त**—कथित परमाणुहेतुक और स्कन्धहेतुक द्विविध समुदायों में समुदायभाव की प्राप्ति सम्भव नहीं, अर्थात् उक्त समुदाय अयुक्त है। समुदाय अयुक्त क्यों? इस प्रश्न का उत्तर है—समुदायिनामचेतनत्वात्"। आशय यह है कि लोक में कुलालादि चेतन कर्त्ता ही मृत्तिका, चक्र और दण्डादि साधनों के द्वारा समुदायात्म घटादि कार्यों की रचना करता देखा जाता है। कुलालादि चेतन अधिष्ठाता के विना मृत्तिका और चक्रादि जड़ साधन-वर्ग अपने-आप घटादि कार्यों का सम्पादन नहीं करता और कुविन्दादि के विना तन्तु, तुरी, वेमादि अपने-आप पट को बुनते नहीं देखें जाते। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक कार्य का उत्पादन अपने अनुकूल कारण-कलाप से ही होता है, अन्यथा नहीं। कार्य के अनुगुण कारण-कलाप का संकलन करना किसी चेतन पुरुष का ही कार्य है। विमतं चेतनाधिष्ठितम्, अचेतनत्वात्, तन्त्वादिवत्'—यहाँ चेतनाधिष्ठितत्व व्यापक और अचेतनत्व व्याप्य है, व्यापक के अभाव में व्याप्य का भी अभाव हो जाता है, फलतः केवल परमाणुओं या स्कन्धों का समुदाय उपपन्न नहीं हो सकता।

**शङ्का**—यह सत्य है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति चेतन कर्त्ता के अधीन ही होती है, बौद्ध-सम्मत चित्त भी चेतन ही माना जाता है, इन्द्रियों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध हो जाने पर वह (चित्त) अभिज्वलित (सक्रिय) हो जाता है एवं जड़ात्मक साधन-कलाप का अधिष्ठाता बन कर समुचित कार्यों का अभिनिर्वर्तन किया करता है।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने कहा है—"चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्धयधीनत्वात्"। कथित बाह्य और आन्तरिक उभय-विध समुदाय की सिद्धि के विना चित्त का अभिज्वलन सम्भव नहीं, और चित्ताभिज्वलन के विना समुदाय की सिद्धि नहीं हो सकती—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयता प्रसक्त होती है। अतीत भव का चित्ताभिज्वलन उत्तरोत्तर भव के समुदाय की सिद्धि क्यों नहीं कर सकता? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्राग्भवीय चित्ताभिज्वलन चिरातीत हो जाने के कारण समुदाय-सङ्घटन में सक्षम नहीं हो सकता और वेदान्त-सिद्धान्त के समान बौद्ध-सिद्धान्त में अन्य कोई चेतन माना नहीं जाता—"अन्यस्य चेतनस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा स्थिरस्य सङ्घातकर्त्तुरनभ्युपगमात्"। कारण-कपाल के उपयोग का अभिज्ञ व्यक्ति ही कार्य का कर्त्ता होता है। अन्वय-व्यतिरेक के विना उपयोग-प्रकार का परिज्ञान नहीं होता। कोई स्थिर पदार्थ ही अन्वय-व्यतिरेक-

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection, Delhi. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यत्वाभ्यामनिरूप्यत्वात् । क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

भामती

यव्यतिरेककालानवस्थायी ज्ञातुमन्वयव्यतिरेकावुत्सहते, अत उक्तं ❀ स्थिरस्य इति ❀ । यद्युच्येत असमवहितान्येव कारणानि कार्यं करिष्यन्ति परस्परानपेक्षाणि, कृतमत्र समवधापयित्रा चेतनेनेत्यत आह ❀ निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च इति ❀ । यद्युच्येत अस्त्यालयविज्ञानमहङ्कारास्पदं पूर्वापरानुसन्धातृ तदेव कारणानां प्रतिसन्धातृ भविष्यतीति, तत्राह ❀ आशयस्यापि इति ❀ । तत् खल्वेकं यदि स्थिरमास्थीयेत

भामती—व्याख्या

प्रक्रिया का संचार कर सकता है, क्षणिक तत्त्व अन्वय-व्यतिरेक-पर्यन्त स्थिर ही नहीं रह सकता, वह अन्वय व्यतिरेक के आधार पर कारण-कलाप की कार्यकारिता का परिज्ञान नहीं कर सकता, अतः भाष्यकार ने कहा है—"स्थिरस्यानभ्युपगमात्" । यदि कहा जाय कि कारण-कलाप के समवहित ( समुदित ) होने की कोई आवश्यकता नहीं, पृथक्-पृथक् रह कर ही कारण अपने कार्य का सम्पादन कर देंगे । तब के लिए भाष्यकार ने कहा है—"निरपेक्षप्रवृत्त्यभ्युपगमे च प्रवृत्त्यनुपरमप्रसङ्गात्" । यदि कहा जाय कि 'आलयविज्ञान' नाम का ऐसा पदार्थ योगाचार-सम्मत है, जो अहंकारास्पद और पूर्वापर का अनुसन्धान करने-वाला है, वही सभी कारण-कलाप का अधिष्ठाता हो जायगा । तब के लिए भाष्यकार व्यवस्था देते हैं कि "आशयस्यापि" । अर्थात् वह आलयविज्ञान यदि स्थिर ( स्थायी ) माना जाता है, तब वह आत्मवादियों का चिदात्मा ही है, केवल उसका नामान्तर रख दिया है—'आलय-विज्ञान' । यदि आलयविज्ञान क्षणिक है, तब अन्वय-व्यतिरेक का ग्राहक नहीं हो सकता—यह अभी कह चुके हैं । आलय-विज्ञान के क्षणिक होने पर भी उसकी सन्तान ( निरन्तर धारा ) में अन्वय-व्यतिरेकानुसन्धान की क्षमता यदि मानी जाती है, तब प्रश्न उठता है कि उससे उसकी सन्तान अन्य है ? अथवा अनन्य ? अन्य मानने पर नामान्तर से आत्मा ही मानना पड़ता है और यदि अनन्य है, तब वह क्षणिक विज्ञान मात्र ही रह जाती है, अतः कथित दोष से निर्मुक्ति नहीं हो सकती । [ 'आशय' और 'आलय' दोनों शब्द आश्रय या स्थान के वाचक होने से समानार्थक हैं, अतः भाष्यकार ने आलय के अर्थ में 'आशय' शब्द का प्रयोग कर दिया है । दूसरी बात यह भी है कि 'आशेरतेऽस्मिन् कर्मानुभववासना इत्याशयः'—इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'आशय' शब्द जिस चित्त को कहता है, वही बौद्धों का विज्ञानस्कन्ध और योगाचार का आलय विज्ञान है । यद्यपि इस अधिकरण में सर्वास्तिवाद का प्रतिवाद प्रतिज्ञात है, विज्ञानवाद का निरास इसके अनन्तरभावी अधिकरण में किया जायगा, आलयविज्ञान की कल्पना विज्ञानवादियों की है । तथापि सर्वास्तिवादी इस विषय में विप्रतिपन्न होते हुए भी अपने पक्ष के दोषोद्धार में उसे प्रस्तुत कर सकते हैं । आलय-विज्ञान के स्वरूप का रेखाङ्कन लङ्कावतारसूत्र में ही हो जा चुका था—

उदधेः परिणामोऽसौ तरंगाणां विचित्रता ।
आलयं हि तथा चित्रं विज्ञानाख्यं प्रवर्तते ॥ ( लङ्का. २।१०३ )

आचार्य वसुबन्धु ने भी वैसी ही व्यवस्था देते हुए विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में उसकी विशद व्याख्या की है—

विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च ।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम् ॥ ( त्रिंशि. २ )

अर्थात् समस्त बाह्य और आभ्यन्तर प्रपञ्च जिस विज्ञान का परिणाम ( प्रतीत्यसमुत्पाद या विवर्त ) है, उसकी तीन विधाएँ हैं—(१) विपाक, (२) मनोविज्ञान और (३) प्रवृत्ति विज्ञान ।


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मात्समुदायानुपपत्तिः । समुदायानुपपत्तौ च तदाश्रया लोकयात्रा लुप्येत ॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

यद्यपि भोक्ता प्रशासिता वा कश्चिच्चेतनः संहन्ता स्थिरो नाभ्युपगम्यते

भामती

ततो नामान्तरेणात्मैव । अथ क्षणिकं, तत उक्तदोषापत्तिः । न च तत्सन्तानस्तस्यान्यत्वे नामान्तरेणात्माऽभ्युपगतोऽनन्यत्वे च विज्ञानमेव तच्च क्षणिकमेवेत्युक्तदोषापत्तिः । आशेरतेऽस्मिन् कर्मानुभववासना इत्याशय आलयविज्ञानं तस्य । अपि च प्रवृत्तिः समुदायिनां व्यापारो न च क्षणिकानां व्यापारो युज्यते । व्यापारो हि व्यापारवदाश्रयस्तत्कारणकश्च लोके प्रसिद्धस्तेन व्यापारवता व्यापारात् पूर्वं व्यापारसमये च भवितव्यम् । अन्यथा कारणत्वाश्रयत्वयोरयोगात् । न च समसमययोरस्ति कार्यकारणभावो नापि भिन्नकालयोराधाराधेयभावः । तथा च क्षणिकत्वहानिरित्याह ❀ क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च इति ❀ ॥ १८ ॥

❀ यद्यपीति ❀ । अयमर्थः—संक्षेपतो हि प्रतीत्यसमुत्पादलक्षणमुक्तं बुद्धेन—'इदं प्रत्ययफलम्'

भामती—व्याख्या

इनमें विपाकसंज्ञक परिणाम आलय विज्ञान ही है, क्योंकि वह सर्वसांक्लेशिक धर्मों के विपाक (फलरूप) बीजों या संस्कारों का आश्रय है। स्थिरमति कहते हैं—"तच्च सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वादालयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवाऽऽलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन, तद्वाऽऽलीयते उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेषु-इत्यालयः" (त्रिंशिका. पृ. १३६–१३७)। 'लीङ् श्लेषणे' धातु से सम्पन्न 'आलय' शब्द के द्वारा उस विज्ञानतत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, जो समस्त जगत् का एकमात्र कारण और जिसका समूचा विश्व कार्य है]। कथित आलयविज्ञान एक स्थिर है? अथवा अनेक और क्षणिक? प्रथम पक्ष में आत्मवादापत्ति और दूसरे कल्प में जड़-वर्ग का अधिष्ठातृत्व उपपन्न नहीं होता।

**शङ्का**—आलयविज्ञान क्षणिक होने पर भी एक सन्तान (धारा) के रूप में प्रवाहित है, अतः उसमें पूर्वापर का अनुसन्धातृत्व उपपन्न हो जाता है, जैसे कि आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—"तच्च वर्तते स्रोतसौघवत्" (त्रिंशि. ४)। जैसे जल की उत्तरोत्तर तरंग पूर्व-पूर्व तरंग से उत्पन्न होकर एक धारा के रूप में समुद्र-पर्यन्त प्रवाहित होती है, वैसे ही आलय विज्ञान की क्षण-धारा भी निरन्तर हेतुफलभाव के रूप में तब तक, प्रवाहित रहती है, जब तक निर्वाण का लाभ नहीं होता।

**समाधान**—आलयविज्ञान की क्षण-सन्तान अपने सन्तानियों (सन्तान के घटकीभूत विज्ञानक्षणों) से भिन्न है? अथवा अभिन्न? यदि विज्ञानलक्षणों से भिन्न एक स्थिर तत्त्व है, तब नामान्तर से आत्मा ही मान लिया जाता है और यदि अभिन्न है, तब वह भी क्षणिक है, उसमें भी पूर्वापरानुसन्धान की क्षमता नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह भी है कि समुदाय का घटन करना समुदायी (समुदाय के घटकीभूत रूपस्कन्धादि) का व्यापार है। क्षणिक पदार्थ न तो व्यापार का कारण हो सकता है और न व्यापार का आश्रय, क्योंकि कारणता नाम है—पूर्ववृत्तित्व का और आश्रय वही होता है, जो अपने आश्रित का समसामयिक हो। फलतः कार्य-कारणभाव एवं आश्रयाश्रयिभाव का निर्वाह कहने के लिए क्षणिकत्वाभ्युपगम का परित्याग करना होगा, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"क्षणिकत्वाभ्युपगमाच्च निर्व्यापारत्वात् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः" ॥ १८ ॥

"यद्यपि"—इत्यादि भाष्य का आशय यह है कि बौद्धाभिमत 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद' में क्षणिकत्व दोषाधायक नहीं माना जाता, प्रतीत्यसमुत्पाद का संक्षिप्त लक्षण बुद्ध ने इस प्रकार किया है—"या तत्र तत्रता विदितता अनन्यथता इदप्पच्चयता, अयं वुच्चति भिक्खवे!

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाप्यविद्यादीनामितरेतरकारणत्वादुपपद्यते लोकयात्रा। तस्यां चोपपद्यमानायां

भामती

इति। "उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता धर्मनियामकता प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमतेति"। अथ पुनरयं प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्यां कारणाभ्यां भवति हेतूपनिबन्धतः प्रत्ययोपनिबन्धतश्च। स पुनर्द्विविधः—बाह्य आध्यात्मिकश्च। तत्र बाह्यस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः—यदिदं बीजादङ्कुरमङ्कुरात् पत्रं पत्रात्काण्डं काण्डान्नालो नालाद् गर्भो गर्भाच्छूकः शूकात् पुष्पं पुष्पात् फलमिति। असति बीजेऽङ्कुरो न भवति, यावदसति पुष्पे फलं न भवति। सति तु बीजेऽङ्कुरो भवति, यावत् पुष्पे सति फलमिति। तत्र बीजस्य नैवं भवति ज्ञानमहमङ्कुरं निर्वर्त्तयामीति। अङ्कुरस्यापि नैवं भवति ज्ञानमहं बीजेन निर्वर्त्तित इति। एवं यावत् पुष्पस्य नैवं भवति, अहं फलं निर्वर्त्तयामीति, एवं फलस्यापि नैवं भवत्यहं पुष्पेणाभिनिर्वर्त्तितमिति। तस्मादसत्यपि चैतन्ये बीजादीनामसत्यपि चान्यस्मिन्नधिष्ठातरि कार्यकारणभावनियमो दृश्यते। उक्तो हेतूपनिबन्धः। प्रत्ययोपनिबन्धः प्रतीत्य-

भामती—व्याख्या

पटिच्चसमुप्पादो" (सं. निकाय. २।२५-२६)। प्रतीत्यसमुत्पाद का संक्षिप्त लक्षण है—इदम्प्रत्ययता। [ इदम्प्रत्यता' शब्द का विग्रह बुद्धघोष के शब्दों में इस प्रकार है—"इमेसं पच्चया, इदप्पच्चयः। इदप्पच्चया एव इदप्पच्चयता। इदप्पच्चयानं वा समूहो इदप्पच्चयता" (विसुद्धिमग्गो. १७।८)। 'अस्मिन् सतीद भवति, असति न भवति'—इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक की अपेक्षा पर-सापेक्ष उत्पत्ति का नाम प्रतीत्यसमुत्पाद है। प्रतीत्य का अर्थ है—प्राप्य, जैसा कि आचार्य चन्द्रकीर्ति कहते हैं—"प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्तः प्राप्तावपेक्षायां वर्तते, हेतुप्रत्ययापेक्षो भावानामुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः अस्मिन् सतीदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते इति इदम्प्रत्ययतार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः" (माध्य. शा. पृ. २)]। लङ्कावतार सूत्र (पृ. ५८) में भी कहा है—"उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा तथागतानां स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता, धर्मस्थिता धर्मनियामकता।" [ यहाँ 'उत्पादात्' और 'अनुत्पादात्—इन पदों के द्वारा अन्वय और व्यतिरेक दिखाए गए है—यत्सत्त्वे यस्योत्पादः, यदसत्त्वे यस्यानुत्पादः, स तस्य हेतुः'। केवल इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्ध होता है, जिसके आधार पर पदार्थों में कार्य-कारणभावरूप धर्म की स्थिति अवगत होती है, अन्य कोई चेतन तत्त्व कार्य-कारणभाव का सम्पादक नहीं माना जाता ]।

प्रतीत्यसमुत्पाद के दो भेद होते है—(१) हेतूपनिबन्धन और (२) प्रत्ययोपनिबन्धन। [ सर्वास्तिवादवाद में प्रधान कारण को हेतु और सहायक साधन को प्रत्यय कहते है, जैसे अंकुरादि कार्यों का बीज हेतु और क्षेत्र, सलिलादि प्रत्यय कहे जाते हैं। किसी मत में प्रत्येक कारण को हेतु और कारण-समूह को प्रत्यय कहा जाता है ]।

(१) **हेतुनिबन्धन**—बीज से अंकुर, अंकुर से पत्ते, पत्तों से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुष्प और पुष्प से फल उत्पन्न होता है। बीज के न होने पर अंकुरादि परम्परा फल-पर्यन्त नहीं होती। वहाँ बीज के मन में यह ज्ञान या भान नहीं होता कि 'मैं अंकुर को उत्पन्न करता हूँ और अंकुरादि को भी यह भान नहीं होता कि हम बीज के द्वारा उत्पादित हैं। इसी प्रकार अन्तिम कारणभूत पुष्प को यह ज्ञान नहीं होता कि में फल को जन्म देता हूँ और न फल को वह प्रतीति होती है कि मैं पुष्प से जन्मा हूँ। फलस्वरूप किसी चेतनतत्त्व की सत्ता के बिना ही कार्य-कारणभाव का नियम देखा जाता है। यह है हेतूपनिबन्धन प्रतीत्यसमुत्पाद।

(२) **प्रत्ययोपनिबन्धन**—हेतुओं के समूह का नाम प्रत्यय है 'हेतुं हेतुं प्रति अयन्ते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न किंचिदपरमपेक्षितव्यमस्ति । ते चाविद्यादयः—अविद्या संस्कारो विज्ञानं नामरूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना तृष्णा उपादानं भवो जातिर्जरा मरणं शोकः परिदेवना दुःख

भामती

समुत्पादस्योच्यते । प्रत्ययो हेतूनां समवायः । हेतुं हेतुं प्रत्ययन्ते हेत्वन्तराणीति, तेषामयमानानां भावः प्रत्ययः समवाय इति यावत् । यथा षण्णां धातूनां समवायाद् बीजहेतुरङ्कुरो जायते तत्र च पृथिवी धातुबीजस्य संग्रहकृत्यं करोति, यतोऽङ्कुरः कठिनो भवति । अब्धातुर्बीजं स्नेहयति, तेजोधातुर्बीजं परिपाचयति, वायुधातुर्बीजमभिनिर्हरति, यतोऽङ्कुरो बीजान्निर्गच्छति । आकाशधातुर्बीजस्यानावरणकृत्यं करोति । ऋतुरपि बीजस्य परिणामं करोति । तदेतेषामविकलानां धातूनां समवाये बीजे रोहत्यङ्कुरो जायते नान्यथा । तत्र पृथिवीधातोर्नैवं भवत्यहं बीजस्य संग्रहकृत्यं करोमीति, यावदतोर्नैवं भवत्यहं बीजस्य परिणामं करोमीति । अङ्कुरस्यापि नैवं भवत्यहमेभिः प्रत्ययैर्निर्वर्त्तित इति । तथाध्यात्मिकः प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्यां कारणाभ्यां भवति हेतूपनिबन्धतः प्रत्ययोपनिबन्धतश्च । तत्रास्य हेतूपनिबन्धो यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणादीति । अविद्या चेन्नाभविष्यन्नैव संस्काराः अजनिष्यन्त । एवं यावज्जातिः, जातिश्चेन्नाभविष्यन्नैवं जरामरणादय उदपत्स्यन्त । तत्राविद्याया नैवं भवत्यहं संस्कारानभिनिर्वर्त्तयामीति । संस्काराणामपि नैवं भवति वयमविद्यया निर्वर्त्तिता इति । एवं यावज्जात्या अपि नैवं भवत्यहं जरामरणाद्यभिनिर्वर्त्तयामीति । जरामरणादीनामपि नैवं भवति । वयं जात्यादिभिर्निर्वर्त्तिता इति । अथ च सत्स्वविद्यादिषु स्वयमचेतनेषु चेतनान्तरानधिष्ठितेष्वपि संस्कारादीनामुत्पत्तिः बीजादिष्विव सत्स्वचेतनेषु चेतनान्तरानधिष्ठितेष्वप्यङ्कुरादीनाम् । इदं प्रतीत्य प्राप्नेदमुत्पद्यत इत्येतावन्मात्रस्य दृष्टत्वाच्चेतनाधिष्ठानस्यानुपलब्धेः । सोऽयमाध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पा-

भामती—व्याख्या

हेत्वन्तराणि'—इस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रत्यय पद समूहार्थ में यौगिक है। पृथिव्यादि छः धातुओं के समूहरूप बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। वहाँ अङ्कुर में पृथिवी धातु से काठिन्य, जलधातु से स्नेह, तेजोधातु से परिपक्वता, वायुधातु से निःसरण, आकाश धातु से अनावरण और काल धातु ( ऋतु ) से परिणति प्राप्त होती है। इस प्रकार इन छः धातुओं के समुदाय से अंकुरादि कार्यों का अभिनिर्वर्तन होता है किन्तु वहाँ पृथिव्यादि धातुओं के मन में ऐसा भान कभी नहीं होता कि हम कुछ कर रहे हैं और न अंकुरादि कार्य-वर्ग को ही यह ज्ञान होता है कि हम प्रत्ययों से सम्पादित हैं।

आध्यात्मिक (शरीर-सम्बन्धी) प्रतीत्यसमुत्पाद भी कथित दोनों प्रकार के कारणों से समुद्भूत होता है। उसमें हेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद इस प्रकार है—( १ ) अविद्यारूप प्रत्यय से संस्कार, ( २ ) संस्काररूप प्रत्यय से विज्ञान, ( ३ ) विज्ञानरूप प्रत्यय से नाम-रूप, ( ४ ) नाग-रूप प्रत्यय से षडायतन, ( ५ ) षडायतनरूप प्रत्यय से स्पर्श, ( ६ ) स्पर्श से वेदना, ( ७ ) वेदना से तृष्णा, ( ८ ) तृष्णा से उपादान ( प्रवृत्ति ), ( ९ ) उपादान से भव (धर्माधर्म), ( १० ) भव से जाति (जन्म), (११) जातिरूप प्रत्यय से जरा-मरण। (१२) जरा-मरण से शोक, परिदेवन, दुःख, दौर्मनस्यादि कार्य होते हैं (द्रष्टव्य महावग्गो पृ० १)। जाति ( जन्म ) यदि नहीं होती, तब जरा-मरणादि भी नहीं होते। यहाँ भी अविद्या के मनमें यह विचार नहीं उठता कि मैं संस्कारों को जन्म देती हूँ, संस्कारों में यह स्फुरण नहीं होता कि हम अविद्या के द्वारा उत्पादित हैं, यहाँ तक कि जरामरणादि को भी यह ज्ञान नहीं होता कि हम जात्यादि से पैदा हुए हैं। फिर भी किसी चेतनतत्त्व के द्वारा अनधिष्ठित अविद्यादि से संस्कारादि कार्यों की निष्पत्ति देखी जाती है। इसी प्रकार बीजादि भी न चेतन हैं और न चेतनान्तर से अधिष्ठित, फिर भी उनसे अंकुरादि की रचना होती है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्मनस्तेत्येवंजातीयका इतरेतरहेतुकाः सौगते समये क्वचित्संक्षिप्ता निर्दिष्टाः क्वचित् प्रपञ्चिताः। सर्वेषामप्ययमविद्यादिकलापोऽप्रत्याख्येयः। तदेवमविद्यादिकलापे परस्पर-निमित्तनैमित्तिकभावेन घटीयन्त्रवदनिशमावर्तमानेऽर्थाक्षिप्त उपपन्नः संघात इति चेत्—

भामती

दस्य हेतूपनिबन्धः।

अथ प्रत्ययोपनिबन्धः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशनिज्ञानधातूनां समवायाद्भवति कायः। तत्र कायस्य पृथिवी धातुः काठिन्यं निर्वर्त्तयति। अब्धातुः स्नेहयति कायं, तेजोधातुः कायस्याशितपीते परिपाचयति। वायुधातुः कायस्य श्वासादि करोति। आकाशधातुः कायस्यान्तः सुषिरभावं करोति। यस्तु नामरूपाङ्कुरमभिनिर्वर्त्तयति पञ्चविज्ञानकार्यसंयुक्तं सास्रवञ्च मनोविज्ञानं, सोऽयमुच्यते विज्ञान-धातुः। यदा ह्याध्यात्मिकाः पृथिव्यादिधातवो भवन्त्यविकलास्तदा सर्वेषां समवायाद्भवति कायस्यो-त्पत्तिः। तत्र पृथिव्यादिधातूनां नैवं भवति वयं कायस्य काठिन्यादि निर्वर्त्तयाम इति। कायस्यापि नैवं भवति ज्ञानमहमेभिः प्रत्ययैरभिनिर्वर्त्तित इति। अथ च पृथिव्यादिधातुभ्योऽचेतनेभ्यश्चेतनान्तरानधि-ष्ठितेभ्योऽङ्कुरस्येव कायस्योत्पत्तिः सोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादो दृष्टश्चान्यथयितव्यः।

तत्रैतेष्वेव षट्सु धातुषु येकसंज्ञा पिण्डसंज्ञा नित्यसंज्ञा सुखसंज्ञा सत्त्वसंज्ञा पुद्गलसंज्ञा मनुष्य-संज्ञा मातृदुहितृसंज्ञा अहङ्काराममकारसंज्ञा सेयमविद्या संसारानर्थसम्भारस्य मूलकारणं तस्यामविद्यायां सत्यां संस्कारा रागद्वेषमोहा विषयेषु प्रवर्त्तन्ते। वस्तुविषया विज्ञप्तिर्विज्ञानं विज्ञानाच्चत्वारोऽरूपिण उपादानस्कन्धास्तन्नाम, तान्युपादाय रूपमभिनिर्वर्त्तते। तदेकध्यमभिसंक्षिप्य नामरूप निरुच्यते। शरीर-स्यैव कललबुद्बुदाद्यवस्था नामरूपसंमिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनं, नामरूपेन्द्रियार्णा त्रयाणां सन्निपातः स्पर्शः, स्पर्शाद्वेदना सुखादिका, वेदनायां सत्यां कर्त्तव्यमेतत्सुखं पुनर्मयेत्यध्यवसानं तृष्णा भवति। तत

भामती—व्याख्या

आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्य समुत्पाद का स्वरूप यह है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान—इन छः धातुओं के समूह से शरीर उत्पन्न होता है। शरीर में पृथिवी काठिन्य, जल स्नेह, तेज परिपाचन, वायु श्वास-प्रश्वास, आकाश शरीर के अन्दर पोल (अवकाश) का निर्माण करता है। जो नाम-रूपात्मक अंकुर को उत्पन्न करता एवं प्रवृत्ति विज्ञानरूप पांच विज्ञान-कार्यों से संयुक्त सास्रव मनोविज्ञान को जन्म देता है, वह विज्ञानतत्त्व है। पृथिव्यादि आध्यात्मिक धातु अविकल होते हैं, तब सभी के समूह से शरीर की उत्पत्ति होती है किन्तु पृथिव्यादि धातुओं के अन्दर यह स्फुरण नहीं होता कि हम लोग शरीर में काठिन्यादि धर्मों का निर्माण करते हैं। शरीर भी यह अनुभव नहीं करता कि हम पृथिव्यादि से अभिनिर्वर्तित हैं केवल चेतनान्तर द्वारा अनधिष्ठित जड़ात्मक पृथिव्यादि धातुओं से उसी प्रकार शरीर का निर्माण होता है, जैसे बीज से अंकुर। इसका अपलाप या अन्यथालरण नहीं किया जा सकता। इन छः धातुओं के समुदाय में जो एक पिण्ड संज्ञा, नित्य संज्ञा, सुखसंज्ञा, सत्त्वसंज्ञा, पुद्गलसंज्ञा, मनुष्य संज्ञा, माता-दुहितादि संज्ञा, अहंकार-ममकार संज्ञा प्रसिद्ध है, वह संसाररूप अनर्थ-परम्परा की मूलकारिणीभूत अविद्या है। उस अविद्या से विषयों में राग, द्वेष, मोहादि संस्कार प्रवृत्त होते हैं। वस्तुविष-यिणी विज्ञप्ति का नाम विज्ञान है। विज्ञान से उत्पन्न चार वेदनादि अरूपी स्कन्ध नाम कहलाते हैं। उनके आधार पर रूपस्कन्ध का निर्वर्तन होता है। इन दोनों की एक विधा प्रसिद्ध है—नामरूप। शरीर की कलल, बुद्बुदादि अवस्थाएं और नाम-रूप-मिश्रित इन्द्रिय षडायतन हैं। ज्ञान, विषय और इन्द्रिय—इन तीनों का सन्निपात स्पर्श है। स्पर्श से सुख, दुःख और उपेक्षा रूप त्रिविध वेदना होती है। वेदना से 'कर्त्तव्यमेतत्सुखं मया'—इस प्रकार की अध्यवसाय-रूप तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा से शारीरिक और वाचनिक चेष्टात्मक उपादान और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्न, कस्मात् ? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य

भामती

उपादानं वाक्कायचेष्टा भवति । ततो भवः, भवत्यस्माज्जन्मेति भवो धर्माधर्मौ तद्धेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः जन्म । जन्महेतुका उत्तरे जरामरणादयः । जातानां स्कन्धानां परिपाको जरा । स्कन्धानां नाशो मरणम् । म्रियमाणस्य मूढस्य साभिष्वङ्गस्य पुत्रकलत्रादावन्तर्दाहः शोकः । तदुत्थं प्रलपनं हा मातः ! हा तात ! हा च मे पुत्रकलत्रादीति परिदेवना । पञ्चविज्ञानकार्यसंयुक्तमसाध्वनुभवनं दुःखं, मानसञ्च दुःखं दौर्मनस्यम् । एवं जातीवकाश्चोपायासा 'त उपक्लेशाः' गृह्यन्ते । तेऽमी परस्परहेतुका जन्मादिहेतुका अविद्यादयोऽविद्यादिहेतुकाश्च जन्मादयो घटीयन्त्रवदनिशमावर्त्तमानाः सन्तीति तदेतैरविद्यादिभिराक्षिप्तः सङ्घात इति ।

तदेतद् दूषयति । ❀ तन्न ❀ कुतः ? ❀ उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वाद् इति ❀ । अयमभिसन्धिः— यत् खलु हेतूपनिबद्धं कार्यं तदन्यानपेक्षं हेतुमात्राधीनोत्पादत्वादुत्पद्यतां नाम, पञ्चस्कन्धसमुदायस्तु प्रत्ययोपनिबद्धो न हेतुमात्राधीनोत्पत्तिः, अपि तु नानाहेतुसमवधानजन्मा, न च चेतनमन्तरेणान्यः सन्निधापयितास्ति कारणानामित्युक्तम् । बीजादङ्कुरोत्पत्तेरपि प्रत्ययोपनिबद्धाया विवादाध्यासितत्वेन पक्षनिक्षिप्तत्वात् । पक्षेण च व्यभिचारोद्भावनायामतिप्रसङ्गेन सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । स्यादेतत्— अनपेक्षा एवान्त्यक्षणप्राप्ताः क्षित्यादयोऽङ्कुरमारभन्ते । तेषां तूपसर्पणप्रत्ययवशात् परस्परसमवधानम् । न चैकस्मादेव कारणात्कार्यसिद्धेः किमन्यैः कारणैरिति वाच्यम् ; कारणवक्षानन्तरं कार्योत्पादात्

भामती–व्याख्या

उपादान से भव उत्पन्न होता हैं । 'भवत्यस्माज्जन्म'–इस व्युत्पत्ति के द्वारा धर्म और अधर्म का नाम भव है । धर्माधर्म के द्वारा स्कन्धों का प्रादुर्भाव जाति है । जरा-मरणादि उत्तरभावी अवस्थाएँ जन्महेतुक हैं, क्योंकि उत्पन्न स्कन्धों का परिपाक जरा और स्कन्धों का नाश मरण है । मर रहे मूढ़ व्यक्ति को पुत्रादि के वियोग का अन्तर्दाह शोक है । शोक-जनित प्रलपन (रोना-पीटना) परिदेवना है । पञ्च विज्ञान का प्रतिकूल वेदनीय पदार्थ दुःख और मानस दुःख दौर्मनस्य है। इस प्रकार के दुःख उपायास ( उपक्लेश ) हैं । ये सभी परस्परहेतुक हैं अर्थात् जन्मादि हेतुक अविद्यादि और अविद्यादिहेतुक जन्मादि वैसे ही होते रहते है, जैसे घटी यन्त्र ( कुएँ के अन्दर से पानी निकालने के लिए छोटी-छोटी घटिकाओं से निर्मित चक्राकार ) अरहट । लोक-प्रसिद्ध अविद्यादि के द्वारा एक संघात की कल्पना की जाती है ।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निरास करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"न, कस्मात् ? उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्" । आशय यह है कि जो हेतूपनिबद्ध कार्य कहा गया, वह किसी चेतन की अपेक्षा के विना हेतुमात्र के अधीन उत्पन्न हो सकता है किन्तु पञ्चस्कन्ध-समुदायरूप प्रत्ययोपनिबद्ध कार्य केवल एक हेतु से उत्पन्न नहीं हो सकता, अपितु अनेक हेतुओं के समुदाय से अभिनिर्वर्तित होता है । वहाँ हेतुकलाप का समूहन ( संग्रह ) किसी चेतन तत्त्व के विना सम्भव नहीं—'शरीरादिकार्यं चेतनाधीनम् , प्रत्ययोपनिबद्धत्वात् पटादिवत्' । अंकुरादि कार्यों में चेनाधिष्ठितत्व का व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि अंकुरादि भी उक्त अनुमान की पक्ष-कोटि में प्रविष्ट माने जाते हैं । पक्ष में व्यभिचार का उद्भावन करने पर अनुमान-मात्र का उच्छेद हो जायगा ।

**शङ्का**—क्षेत्र-सलिलादि कारण-कलाप को अपनी चरम (परिपववरूप अन्तिम) अवस्था में अङ्कुरादि का आरम्भक माना जाता हैं, उसका संग्रह किसी चेतन की अपेक्षा के विना ही अपने उपसर्पण-प्रत्यय के अधीन सम्पन्न हो जाता है । उक्त कारण-कलाप में किसी एक कारण से ही जब कार्य हो सकता है, तब अन्य कारणों के समूहन की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी एक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है—यही

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

सिद्धमित्येव नास्ति । न चैकोऽपि तत्कारणसमर्थं इत्यन्य उदासत इति युक्तम्, नहि ते प्रेक्षावन्तो येनैवमालोचयेयुरस्मासु समर्थं एकोऽपि कार्यं इति कृतं नः सन्निधिनेति । किन्तूपसर्पणप्रत्ययाधीनपरस्परसन्निधानोत्पादा नानुत्पत्तुं नाप्यसन्निधातुमीशते । तांश्च सर्वाननपेक्षान् प्रतीत्य कार्यमपि न नोत्पत्तुमर्हति । न च स्वमहिम्ना सर्वे कार्यमुत्पादयन्तोऽपि नानाकार्याणामीशते तत्रैव तेषां सामर्थ्यात् । न च कारणभेदात् कार्यभेदः, सामग्र्या एकत्वात् तद्भेदस्य च कार्यनानात्वहेतुत्वात्तथा दर्शनात् । तन्न, यद्यन्त्यक्षणप्राप्ता अनपेक्षाः स्वकार्योपजनने हन्तानेन क्रमेण ततः पूर्वे ततः पूर्वे सर्वं एवानपेक्षास्तत्तत्स्वकार्योपजनन इति । कुसूलस्थत्वाविशेषेऽपि येन बीजक्षणेन कुसूलस्थेन स्वकार्यक्षणपरम्परयाङ्कुरोत्पत्तिसमर्थो बीजक्षणो जनयितव्यः, सोऽनपेक्ष एव बीजक्षणः स्वकार्योपजनने । एवं सर्वं एव तदनन्तरानन्तरवर्तिनो बीजक्षणा अनपेक्षा इति कुसूलनिहितबीज एव स्यात् कृती कृषीबलः, कृतमस्य दुःखबहुलेन कृषिकर्मणा । येन हि बीजक्षणेन स्वक्षणपरम्परयाङ्कुरो जनयितव्यस्तस्यानपेक्षाऽसौ क्षणपरम्परा कुसूल एवाङ्कुरं करिष्यतीति । तस्मात्परम्परापेक्षा एवान्त्या वा मध्या वा पूर्वे वा क्षणाः कार्योपजनन इति वक्तव्यम् । यथाहुः—

'न किञ्चिदेकमेकस्मात्सामग्र्याः सर्वसम्भव' इति ।

तच्चेदं समवधानं कारणानां विन्यासभेदतः प्रयोजनाभिज्ञप्रेक्षावत्पूर्वकं दृष्टमिति नाचेतनाद्भवितु-

भामती—व्याख्या

सिद्ध नहीं, क्योंकि सर्वत्र कारण-समूह से ही कार्य सम्पन्न होता देखा जाता है। 'एक ही कारण अपना कार्य उत्पन्न करने में समर्थ है—यह देखकर अन्य कारण उदासीन हो जाते हैं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वे जड़ात्मक कारण ऐसी विवेक बुद्धि नहीं रखते कि अपनी सन्निधि को निरर्थक समझ कर उदासीन हो जाएँ। जब उपसर्पण प्रत्यय के अधीन उनका समूहन और कार्योत्पादन अनिवार्य है, तब वे न तो असन्निहित हो सकते हैं और न उदासीन। वे सभी कारण समर्थ होते हुए भी अपने-अपने पृथक् कार्य की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि एक ही कार्य के सम्पादन का सामर्थ्य उनमें निहित है। कारण-भेद से भी कार्य का भेद नहीं माना जाता, क्योंकि दण्ड, चक्र, चीवरादि का समूह या सामग्री को ही कारण माना जाता है, चक्रादि को पृथक्-पृथक् नहीं। सामग्री एक ही होती है, अनेक नहीं। सामग्री का भेद ही कार्य-भेद का साधक होता देखा जाता है।

**समाधान**—अंकुर के उत्पादक बीज की अन्तिमक्षण-प्राप्ति यदि चेतनानपेक्ष है, तब उस बीजक्षण के कारणीभूत एवं उसके परम्परा कारणीभूत कुसूलस्थ बीज की अन्तिम क्षण-प्राप्ति भी अपने-आप होती हुई अंकुरोत्पादक बीज-क्षण की अन्तिमावस्था को सम्पन्न कर देती है, अतः कृषक के लिए कुसूल में बीज भर देना पर्याप्त है, वे अपने-आप अन्तिमावस्था की उस परम्परा को प्राप्त कर लेंगे, जिससे अंकुर उत्पन्न होता है, अतः खेत जोतने और बीजने आदि की दुःख-परम्परा झेलने की क्या आवश्यकता? फलतः किसी एक कारण से कार्योत्पादन नहीं होता, अपितु चेतन-सापेक्ष कारण-समूह से कार्य होगा, जैसा कि स्वयं धर्मकीर्ति ने माना है—

न किञ्चिदेकमेकस्मात् सामग्र्याः कार्यसम्भवः ।
एकं स्यादपि सामग्र्योरित्युक्तं तदनेककृत् ॥ ( प्र. वा. पृ. ४६१ )

[ कोई एक कार्य किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं होता, अपितु सामग्री ( कारण-समूह ) से कार्य सम्पन्न होता है। हाँ, एक कारण अन्य कारणों की सहायता से अनेक कार्य करता है, एक अकेला नहीं ]। कथित कारणों का समूह या समवधान किसी कारणों के क्रम और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


किंचिन्निमित्तमवगम्येत। न त्ववगम्यते। यत इतरेतरप्रत्ययत्वेऽप्यविद्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरोत्तरस्योत्पत्तिमात्रनिमित्तं भवद्भवेन्न तु संघातोत्पत्तेः किंचिन्निमित्तं संभवति। नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते संघात इत्युक्तम्। अत्रोच्यते—यदि तावदयमभिप्रायोऽविद्यादयः संघातमन्तरेणात्मानमलभमाना अपेक्षन्ते संघातमिति, ततस्तस्य संघातस्य निमित्तं वक्तव्यम्। तच्च नित्येष्वप्यणुष्वभ्युपगम्यमानेष्वाश्रयाश्रयिभूतेषु च भोक्तृषु सत्सु न संभवतीत्युक्तं वैशेषिकपरीक्षायाम्। किमङ्ग पुनः क्षणिकेष्वप्यणुषु भोक्तृरहि-

भामती

महंति। तदिदमुक्तम्—❀ भवेदुपपन्नः सङ्घातो यदि सङ्घातस्य किञ्चिन्निमित्तमवगम्यते इति ❀। ❀ इतरेतरप्रत्ययत्वेऽपि इति ❀। इतरेतरहेतुत्वेऽपीत्यर्थः। उक्तमभिसन्धिमविद्वान् परिचोदयति ❀ नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते इति ❀। परिहरति ❀ अत्रोच्यते, यदि तावद् इति ❀। किमाक्षेप उत्पादनम्, आहो ज्ञापनम्? तत्र न तावत् कारणमन्यथानुपपद्यमानं कार्यमुत्पादयति, किन्तु स्वसामर्थ्येन। तस्माज्ज्ञापनं वक्तव्यम्। तथा च ज्ञापितस्यान्यदुत्पादकं वक्तव्यं, तच्च स्थिरपक्षेऽपि सत्यपि च भोक्तरि अधिष्ठातारं चेतनमन्तरेण न सम्भवति, किमङ्ग पुनः क्षणिकेषु भावेषु। भोक्तुर्भोगेनापि कदाचिदाक्षिप्येत सङ्घातः, स तु भोक्तापि नास्तीति दूरोत्सारितत्वं दर्शयति। ❀ भोक्तृरहितेषु इति ❀। अपि च बहव उपकार्योपकारकभावेन स्थिताः कार्यं जनयन्ति। न च क्षणिकपक्ष उपकार्योपकारकभावोऽस्ति, भावस्योपकारानास्पदत्वात्। क्षणस्याभेद्यत्वादनुपकृतोपकृतत्वासम्भवात्। कालभेदेन वा

भामती—व्याख्या

उपयोग-प्रकार के अभिज्ञ पुरुष की अपेक्षा करता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किञ्चित् निमित्तमवगम्येत्"। "इतरेतरप्रत्ययत्वेऽपि"—इस भाष्य का अर्थ है—इतरेतरहेतुत्वेऽपि।

**शङ्का**—कथित रहस्य को न समझ कर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—"नन्वविद्यादिभिरर्थादाक्षिप्यते"। एक-एक कारण से जब कार्य नहीं होता, तब अविद्यादि के द्वारा भी संघात का आक्षेप करके अविद्यादिसंघातरूप प्रत्यय से संस्कारादि कार्य होते हैं—ऐसा आक्षेप किया जा सकता है।

**समाधान**—उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"अत्रोच्यते"। अर्थात् यह जो कहा जाता है कि अविद्यादि से संघात का आक्षेप होता है, वहाँ 'आक्षेप' शब्द का अर्थ क्या उत्पादन है? अथवा ज्ञापन? प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि कोई कारणतत्त्व अन्यथा अनुपपन्न होकर किसी कार्य का उत्पादन नहीं किया करता, अपितु स्वगत सामर्थ्य के द्वारा ही कार्य का उत्पादन किया करता है, अतः ज्ञापन को ही 'आक्षेप' पद का अर्थ मानना होगा। तब तो ज्ञापित पदार्थ का अन्य उत्पादक मानना होगा। वह संघात परमाणुओं को नित्य एवं आत्मरूप भोक्ता को मान कर भी सम्भव नहीं—ऐसा वैशेषिक-मत की आलोचना में कहा जा चुका है, तब भला बौद्धों के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद में वह संघात सम्भव क्योंकर होगा? यह कहा जा रहा है—"भोक्तृरहितेषु"। अर्थात् भोक्ता के द्वारा कदाचित् संघात का आक्षेप हो सकता है, बौद्धों के मत में वह भी नहीं। दूसरी बात यह भी है कि बहुत-से कारण उपकार्य और उपकारक के रूप में अवस्थित होकर कार्य उत्पन्न करते हैं, किन्तु क्षणिक-पक्ष में उपकार्योपकारकभाव भी नहीं बनता, क्योंकि क्षणिक भाव उपकार का आश्रय ही नहीं हो सकता। उपकार-रहित पदार्थ ही उपकार-सहित होकर कार्यकारी माना जाता है किन्तु क्षण का भेदन सम्भव नहीं कि अनुपकृतत्व और उपकृतत्व की व्यवस्था की जा सके। एक ही वस्तु किसी काल में अनुपकृत और कालान्तर में उपकृत

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेष्वाश्रयाश्रयिशून्येषु वाभ्युपगम्यमानेषु संभवेत् ? अथायमभिप्रायोऽविद्यादय एव संघातस्य निमित्तमिति, कथं तमेवाश्रित्यात्मानं लभमानास्तस्यैव निमित्तं स्युः ? अथ मन्यसे संघाता एवानादौ संसारे संतत्यानुवर्तन्ते तदाश्रयाश्चाविद्यादय इति, तदापि संघातात्संघातान्तरमुत्पद्यमानं, नियमेन वा सदृशमेवोत्पद्येत, अनियमेन वा सदृशं विसदृशं वोत्पद्येत । नियमाभ्युपगमे मनुष्यपुद्गलस्य देवतिर्यग्योनिनारकप्राप्त्य-

भामती

तदुपपत्तौ क्षणिकत्वव्याघातात्तदिदमाह ❀ आश्रयाश्रयिशून्येषु च इति ❀ । ❀ अथायमभिप्रायः इति ❀ । यदा हि प्रत्ययोपनिबन्धनः प्रतीत्यसमुत्पादो भवेत्तदा चेतनोऽधिष्ठाताऽपेक्षेतापि, न तु प्रत्ययोपनिबन्धनोऽपि तु हेतूपनिबन्धनः । तथाच कृतमत्राधिष्ठात्रा हेतुः स्वभावत एव कार्यसङ्घातं करिष्यति केवल इति भावः । अस्तु तावद्यथा केवलाद्धेतोः कार्यं नोपजायत इति, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गोऽस्मिन् पक्ष इत्याशयवानाह ❀ कथं तमेव इति ❀ । सम्प्रति प्रत्ययोपनिबन्धनं प्रतीत्यसमुत्पादमास्थाय चोदयति ❀ अथ मन्यसे सङ्घाता एव इति ❀ । अस्थिरा अपि हि भावाः सदा संहता एवोदयन्ते व्ययन्ते च : न पुनरितस्ततोऽवस्थिताः केनचित् पुञ्जीक्रियन्ते तथा च कृतमत्र संहन्त्रा चेतनेनेति भावः । ❀अनादौ इति❀ परस्पराश्रयं निवर्त्तयति । तदेतद्विकल्प्य दूषयति ❀ तदापि संघाताद् इति ❀ । स खलु सङ्घातसन्ततिवर्ती धर्माधर्माख्यः संस्कारसन्तानो यथायथं सुखदुःखे जनयन्नागन्तुकं कञ्चनानासाद्य स्वत एव जनयेत् ? आसाद्य वा ? अनासाद्य जनने सदैव सुखदुःखे जनयेत् । समर्थस्यानपेक्षस्याक्षेपायोगात् । आसाद्य जनने

भामती—व्याख्या

होती है—ऐसा मानने पर भाव पदार्थ को कम-से-कम दो क्षण स्थिर मानना होगा, तब क्षणिकत्व-पक्ष व्याहत हो जाता है । भाष्यकार यही कह रहे हैं—"आश्रयाश्रयिशून्येषु च" । "अथायमभिप्रायः"—इस भाष्य का आशय यह है कि जब प्रत्ययोपनिबन्धन प्रतीत्यसमुत्पाद होता है, तब चेतनरूप अधिष्ठाता अपेक्षित हो सकता था किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्ययोपनिबन्धन नहीं, अपितु हेतूपनिबन्धन है । तब अधिष्ठाता की क्या आवश्यकता ? केवल हेतु ही स्वभावतः संघातरूप कार्य का सम्पादन कर देगा । इस पक्ष में केवल हेतु कार्य का सम्पादन न कर जिस संघात का आक्षेपक है, उसी संघात के द्वारा वह हेतु कारण माना जाता है—इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, यह कहा जा रहा है—"कथं तमेव" । अर्थात् जिस संघात का आश्रयण करके अविद्यादि अस्तित्व में आते हैं, वे उसी संघात को जन्म क्योंकर देंगे ?

**शङ्का**—वाचस्पति-द्वारा प्रतिपादित द्विविध प्रतीत्यसमुत्पाद का आनुपूर्वी मूल पाठ मध्यमक शास्त्र की व्याख्या प्रसन्नपदा के पृ. २४५ पर है, यहाँ उसी के प्रत्ययोपनिबन्धन प्रतीत्यसमुत्पाद को मानकर शङ्का करते हैं—"अथ मन्यसे संघाता एव" । अर्थात् क्षणिक भाव वदार्थ सदा संहत होकर ही उत्वन्न और नष्ट होते हैं । यह कभी नहीं होता कि इधर-उधर बिखरे हुए भावपदार्थ किसी व्यक्ति के द्वारा पुञ्जीकृत ( संहत ) किए जाते हों । तब किसी चेतन संग्रहीता की आवश्यकता क्या ? "अनादौ संसारे"—ऐसा कह कर बीज-वृक्ष के अनादि प्रवाह की ओर संकेत करते हुए अन्योऽन्याश्रय दोष निवृत्त किया गया है ।

**समाधान**—"तदापि संघातात् संहातान्तरमुत्पद्यमानम्" । अर्थात् उस संघात-सन्तति में निपतित धर्माधर्माख्य संस्कार-संघात सुख-दुःख की उत्पत्ति क्या किसी आगन्तुक निमित्तान्तर की अपेक्षा किए विना ही करता है ? अथवा अपेक्षा करके ? प्रथम कल्प में वह सदैव सुख-दुःख का उत्पादन करता रहेगा, क्योंकि समर्थ तत्त्व के सामर्थ्य पर अङ्कुश लगानेवाला कोई नहीं । द्वितीय कल्प में किसी नियन्ता चेतनतत्त्व को अवश्य मानना होगा । फलतः प्रत्ययाधीन प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्ध नहीं होता । इसकी सिद्धि चाहनेवाले बौद्धपुंगव को किसी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भावः प्राप्नुयात्। अनियमाभ्युपगमेऽपि मनुष्यपुद्गलः कदाचित्क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनर्मनुष्यो वा भवेदिति प्राप्नुयात्। उभयमप्यभ्युपगमविरुद्धम्। अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्स जीवो नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः। ततश्च भोगो भोगार्थं एव, स नान्येन प्रार्थनीयः। तथा मोक्षो मोक्षार्थं एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम्। अन्येन चेत्प्रार्थ्येतोभयम्, भोगमोक्षकालावस्थायिना तेन भवितव्यम्। अवस्थायित्वे क्षणिकत्वाभ्युपगमविरोध। तस्मादितरेतरोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमविद्यादीनां यदि भवेद्भवतु नाम, नतु संघातः सिध्येत्, भोक्त्रभावादित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

उक्तमेतद्-अविद्यादीनामुत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वान्न संघातसिद्धिरस्तीति। तदपि

भामती

तदासादनकारणं प्रेक्षावानभ्युपेयः। तथाच न प्रत्ययोपनिबन्धनः प्रतीत्यसमुत्पादः। तस्मादनेनागन्तुकानपेक्षस्य सङ्घातसन्तानस्यैव सदृशजनने विसदृशजनने वा स्वभाव आस्थेयः। तथाच भाष्योक्तं दूषणमिति। ❀ अपि च यद्भोगार्थः सङ्घातः स्याद् इति ❀। अप्राप्तभोगो हि भोगार्थी भोगमाप्तुकामस्तत्साधने प्रवर्त्तत इति प्रत्यात्मसिद्धम्। सेयं प्रवृत्तिर्भोगादन्यस्मिन् स्थिरे भोक्तरि भोगतत्साधनसमवध्यापिनि कल्पते, नास्थिरे, न च भोगादनन्यस्मिन्। नहि भोगो भोगाय कल्पते नाप्यन्यो भोगायान्यस्य। एवं मोक्षेऽपि द्रष्टव्यम्। तत्र बुभुक्षुमुमुक्षू चेत् स्थिरावास्थीयेयातां तदाऽभ्युपेतहानमस्थैर्ये वाप्रवृत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः। ❀ न तु सङ्घातः सिध्येद् भोक्त्रभावाद् इति ❀। भोक्त्रभावेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः कर्त्रभावः। ततः कर्माभावात् सङ्घातासिद्धिरित्यर्थः ॥ १९ ॥

पूर्वसूत्रेण सङ्गतिमस्याह ❀ उक्तमेतद् इति ❀। हेतूपनिबन्धनं प्रतीत्यसमुत्पादमभ्युपेत्य प्रत्ययो-

भामती-व्याख्या

आगन्तुक निमित्त की अपेक्षा के विना ही संघात-सन्तति में सदृश या विसदृश कार्य के उत्पादन का स्वभाव स्वीकार करना होगा। इस पक्ष में भाष्योक्त अनियम या अव्यवस्था का दोष प्रसक्त होता है।

"अपि च यद्भोगार्थः संघातः स्यात्"—इस भाष्य का अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को भोग प्राप्त नहीं—ऐसा अप्राप्त भोग का लिप्सु व्यक्ति ही भोग-साधन में प्रवृत्त होगा—ऐसा प्रत्येक मनुष्य अनुभव करता है। भोगार्थी की कथित प्रवृत्ति ही भोग-वर्ग से भिन्न किसी स्थिर (साधनक्षण से लेकर भोगक्षण तक व्यापक) भोक्ता की कल्पिका है, अस्थिर पक्ष में या भोग से भोक्ता के भिन्न न होने पर वह प्रवृत्ति कदापि उपपन्न नहीं होती, क्योंकि कोई भी भोगपदार्थ न तो अपने भोग के लिए होता है और न अन्य भोग के लिए, अपितु अपने से भिन्न किसी भोक्ता के लिए ही भोगपदार्थ हुआ करता है। मोक्ष के विषय में भी यही तथ्य है। बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों यदि स्थिर माने जाते हैं, तब स्वीकृत क्षण-भङ्गवाद की हानि होती है और अस्थिर-पक्ष में भोग मोक्षार्थी की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं होती। भोक्ता के न होने पर कर्त्ता सिद्ध नहीं होता और कर्त्ता के सिद्ध न होने पर संघातरूप कर्मकारक की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ १९ ॥

पूर्व सूत्र से इस सूत्र की संगति दिखाते हैं—"उक्तमेतत्"। अर्थात् अविद्यादि बारह पदार्थ परस्पर एक-दूसरे की उत्पत्ति के ही निमित्त हैं, संघात के नहीं, अतः संघात की सिद्धि नहीं हो सकती—यह कहा गया, अब यह कहा जा रहा है कि वे परस्पर उत्पत्ति के निमित्त भी नहीं ही सकते। सारांश यह है कि पहले हेतु (एक-एक कारण) के अधीन प्रतीत्यसमुत्पाद को स्वीकार करके प्रत्यय (कारण-समूह) के अधीन प्रतीत्यसमुत्पाद पर दोषाभिधान किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तूत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वं न सम्भवतीतीदमिदानीमुपपाद्यते। क्षणभङ्गवादिनोऽयमभ्युपगमः उत्तरस्मिन्क्षण उत्पद्यमाने पूर्वः क्षणो निरुध्यत इति। न चैवमभ्युपगच्छता पूर्वोत्तरयोः क्षणयोर्हेतुफलभावः शक्यते संपादयितुम्। 'निरुध्यमानस्य निरुद्धस्य वा पूर्वक्षणस्याभावग्रस्तत्वादुत्तरक्षणहेतुत्वानुपपत्तेः। भावभूतः। परिनिष्पन्नावस्थः पूर्वक्षण उत्तरक्षणस्य हेतुरित्यभिप्रायस्तथापि नोपपद्यते, अथ भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायां क्षणान्तरसम्बन्धप्रसङ्गात्। अथ भाव एवास्य व्यापार इत्यभिप्रायस्तथापि

भामती

पनिबन्धनः प्रतीत्यसमुत्पादो दूषितः। सम्प्रति हेतूपनिबन्धनमपि तं दूषयतीत्यर्थः। दूषणमाह ❀ इदमिदानीम् इति ❀। ❀ निरुध्यमानस्य इति ❀। न तावद्वैशेषिकवन्निरोधकारणसान्निध्यं निरुध्यमानता स्वीक्रियते वैनाशिकैरेककारणं विनाशमभ्युपगच्छद्भिः, तस्यानिष्टत्वात्। तस्माद्विनाशग्रस्तत्वमचिरनिरुद्धत्वं निरुध्यमानत्वं वक्तव्यम्। निरुद्धत्वञ्च चिरनिरुद्धत्वं विवक्षितं, तथा चोभयोरप्यभावग्रस्तत्वाद्धेतुत्वानुपपत्तिः। शङ्कते ❀ अथ भावभूतः इति ❀। कारणस्य हि कार्य्योत्पादात् प्राक्कालसत्तार्थवती न कार्य्यकाला तदा कार्य्यस्य सिद्धत्वेन तत्सिद्ध्यर्थायाः सत्तायाः अनुपयोगादिति भावः। तदेतल्लोकदृष्ट्या दूषयति ❀ भावभूतस्य इति ❀। भूत्वा व्यापृत्य भावाः प्रायेण हि कार्य्यं कुर्वन्तो लोके दृश्यन्ते। तथा च स्थिरत्वम्, इतरथा तु लोकविरोध इति। पुनः शङ्कते ❀ अथ भाव एव इति ❀। यथाहुः—"भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते" इति। भवत्वेवं व्यापारवत्ता, तथापि क्षणिकस्य

भामती—व्याख्या

और अब हेतूपनिबन्धन प्रतीत्यसमुत्पाद भी निराकृत किया जाता है—"इदमिदानीम्"। वैशेषिकगणों के मतानुसार मुद्गर-पातादि की सन्निधि ही घटादि की निरुध्यमानता मानी जाती है, किन्तु बौद्धों के मत में वैसा नहीं, अपितु विना किसी हेतु या निमित्त के ही वस्तु की निरुध्यमानता ( नश्वरता ) स्वाभाविक मानी जाती है, अतः विनाशग्रस्तत्वरूप निरुध्यमानत्व का अर्थ अचिरनिरुद्धत्व और निरुद्धत्व का अर्थ चिरनिरुद्धत्व करना चाहिए। फलतः दोनों प्रकार के पदार्थ अभाव-ग्रस्त ( निरुद्ध या विनष्ट ) होने के कारण उत्तरवर्ती क्षण के हेतु नहीं हो सकते।

शङ्का—बौद्धों का कहना है कि "भावभूतः पूर्वक्षणः उत्तरक्षणस्य हेतुः"। अर्थात् निरोध पदार्थ को उत्तरभावी पदार्थ का कारण न मान कर भावक्षण को ही हेतु माना जाता है। कारणीभूत पदार्थ को कार्य से पूर्व सत्ता अपेक्षित होती है, कार्य-काल में नहीं, क्योंकि कार्य-काल में तो कार्य सिद्ध ही होता है, उसकी सिद्धि के लिए उसकी सत्ता उपयुक्त नहीं होती।

समाधान—उक्त शङ्का का लौकिक व्यवहार के आधार पर निरास किया जाता है—"भावभूतस्य पुनर्व्यापारकल्पनायाम्"। लोक में प्रायः यह देखा जाता है कि दण्ड-चक्रादि भाव पदार्थ निष्पन्न एवं सव्यापार होकर घटादि कार्यों का सम्पादन किया करते हैं। इसी प्रकार कार्य-कारणभाव यदि बौद्ध-सम्मत है, तब कारणीभूत पदार्थ को अपनी निष्पत्ति और व्यापारवत्ता के लिए स्थिर मानना होगा, अन्यथा लोक-विरोध होता है।

शङ्का—"अथ भाव एवास्य व्यापारः"। यहाँ 'भाव' शब्द का अर्थ भवन या उत्पत्ति है, उत्पत्तिरूप व्यापार को लेकर ही कारण तत्त्व अपने भावक्षण में कारण और व्यापारवान् बन जाता है, अतः वह उत्तर क्षण का जनक हो जाता है, जैसा कहा गया है—"भूतिर्येषां क्रिया कारकं सैव चोच्यते" (बाधिचर्या. पृ. १८१)। कमलशील ने तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ. ८८६ पर इस पूरे श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा है, "तदुक्तं भगवता—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया।
भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥ (उपदेशसा. पृ. ९९)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैवोपपद्यते, हेतुस्वभावानुपरक्तस्य फलस्योत्पत्त्यसंभवात्। स्वभावोपरागाभ्युपगमे च हेतुस्वभावस्य फलकालावस्थायित्वे सति क्षणभङ्गाभ्युपगमत्यागप्रसङ्गः। विनैव वा स्वभावोपरागेण हेतुफलभावमभ्युपगच्छतः सर्वत्र तत्प्राप्तेरतिप्रसङ्गः। अपि चोत्पादनिरोधौ नाम वस्तुनः स्वरूपमेव वा स्यातामवस्थान्तरं वा वस्त्वन्तरमेव वा, सर्वथापि नोपपद्यते। यदि तावद्वस्तुनः स्वरूपमेवोत्पादनिरोधौ स्यातां, तदा वस्तु-

भामती

न कारणत्वमित्याह ❀ तथापि नैवोपपद्यते❀ क्षणिकस्य कारणभावः। मृत्सुवर्णकारणा हि घटादयश्च रुचकादयश्च मृत्सुवर्णात्मानोऽनुभूयन्ते। यदि च न कार्य्यसमये कारणं सत्कथं तेषां तदात्मनानुभवः। न च कारणसादृश्यं कार्य्यस्य, न तु तादात्म्यमिति वाच्यम्। असति कस्यचिद्रूपस्यानुगमे सादृश्यस्याप्यनुपपत्तेः। अनुगमे वा तदेव कारणं तथा च तस्य कार्य्यतादात्म्यमिति सिद्धमक्षणिकत्वमित्यर्थः। सर्वथा वैलक्षण्ये तु हेतुफलभावस्तन्तुघटावावपि प्राप्त इत्यतिप्रसङ्ग इत्याह ❀ विनैव वा इति ❀। न च तद्भावभावो नियामकस्तस्यैकस्मिन् क्षणेऽशक्यग्रहत्वात्, सामान्यस्य चाकारणत्वात्। कारणत्वे वा क्षणिकत्वहानेरस्मत्पक्षपातप्रसङ्गाच्चेति भावः। अपि चोत्पादनिरोधयोर्विकल्पत्रयेऽपि वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग इत्याह ❀ अपिचोत्पादनिरोधौ नाम इति ❀। पर्यायत्वापादनेऽपि नित्यत्वापादनं मन्तव्यम्। ❀ वस्तूत्पादनिरोधा-

भामती—व्याख्या

**समाधान**—"तथापि नैवोपपद्यते"। अर्थात् क्षणिक पदार्थ में व्यापारवत्ता का किसी-न-किसी प्रकार सामञ्जस्य मान लेने पर भी कारणता उपपन्न नहीं होती, क्योंकि मृत्तिका एवं सुवर्णादि कारणों से उत्पन्न घट और रुचकादि पदार्थों में मृत्सुवर्णादि का तादात्म्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है।' यदि कार्य-काल में कारण की स्थिरता नहीं, तब उक्त तादात्म्य का प्रत्यक्ष भान क्योंकर होगा? 'कार्य में 'कारणात्मता सादृश्यमूलक है, तादात्म्यमूलक नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कार्य में कारण का अनुगम न मानने पर सादृश्य भी क्योंकर बनेगा? क्योंकि भूयोऽवयव-सामान्य का अनुगम ही सादृश्य पदार्थ कहलाता है। यदि कार्य में कारण का अनुगम माना जाता है, तब कारण का कार्य में तादात्म्य सिद्ध हो जाता है, वह कारण की स्थिरता के विना सम्भव नहीं, निरन्वय विनाशवाद अनुपपन्न हो जाता है। कारण और कार्य का सर्वथा वैलक्षण्य मानने पर तन्तु और घटादि का कार्य-कारणभाव प्राप्त होगा, इस प्रकार का अतिप्रसङ्ग दिखाया गया "विनैव वा स्वभावोपरागेण"। 'तद्भावे तद्भावः' इस प्रकार के तद्भाव-भाव को कार्य-कारणभाव का नियामक नहीं मान सकते, क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार एक क्षण में कारण और कार्य—दोनों का भाव माना ही नहीं जाता। कार्य में अनुगत सामान्यरूप को आप (बौद्ध) कारण नहीं मानते, मान लेने पर क्षणिकत्व की हानि और हमारे पक्ष (वेदान्त सिद्धान्त) की स्वीकारापत्ति होती है।

दूसरी बात यह भी है कि चाहे उत्पत्ति और निरोध (नाश) को वस्तु का स्वरूप मानें, या वस्तु की विभिन्न अवस्थाएँ अथवा वस्तु से भिन्न—इन तीनों विकल्पों में वस्तु में शाश्वतत्व (नित्यत्व) प्रसक्त होता है, क्योंकि प्रथम कल्प के अनुसार उत्पाद और निरोध के समय मध्यपाती वस्तु माननी पड़ेगी, फलतः तीनों कालों में वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है, वही वस्तु की शाश्वतता है। दूसरे विकल्प के अनुसार भी मध्यपाती वस्तु का पूर्व और उत्तर अवस्थाओं से तादात्म्य सिद्ध होनेसे नित्यत्व प्राप्त होता है। तीसरे विकल्प के अनुसार तो जिस वस्तु का उत्पाद और निरोध स्पर्श ही नहीं करते, उस वस्तु का शाश्वतत्व ध्रुव सत्य है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"अपि चोत्पादनिरोधौ नाम"। भाष्यकार ने जो वस्तु, उत्पाद और निरोध—इन तीनों शब्दों की पर्यायवाचिता का आपादन किया है, उसका पर्यव-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द उत्पादनिरोधशब्दौ च पर्यायाः प्राप्नुयुः। अथास्ति कश्चिद्विशेष इति मन्येतोत्पाद-निरोधशब्दाभ्यां मध्यवर्तिनो वस्तुन आद्यन्ताख्ये अवस्थे अभिलप्येते इति, एवमप्या-द्यन्तमध्यक्षणत्रयसंबन्धित्वाद्वस्तुनः क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिः। अथात्यन्तव्यतिरिक्ता-वेवोत्पादनिरोधौ वस्तुनः स्यातामश्वमहिषवत्, ततो वस्तु उत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्ट-मिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः। यदि च दर्शनादर्शने वस्तुन उत्पादनिरोधौ स्याताम्, एवमपि द्रष्टृधर्मौ तौ न वस्तुधर्माविति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्ग एव। तस्मादप्यसंगतं सौगतं मतम् ॥ २० ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

क्षणभङ्गवादे पूर्वक्षणो निरोधग्रस्तत्वान्नोत्तरस्य क्षणस्य हेतुर्भवतीत्युक्तम्। अथासत्येव हेतौ फलोत्पत्तिं ब्रूयात्, ततः प्रतिज्ञोपरोधः स्यात्। चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। निर्हेतुकायां चोत्पत्तावप्रतिबन्धा-

भामती

भ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः॥ संसर्गेऽप्यसता संसर्गानुपपत्तेः सत्त्वाभ्युपगमे शाश्वतत्वमि-त्यपि द्रष्टव्यम्। शेषं निगदव्याख्यातम् ॥ २० ॥

नीलाभासस्य हि चित्तस्य 'नीलादालम्बनप्रत्ययान्नीलाकारता, समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वविज्ञानाद् बोधरूपता, चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययाद्रूपग्रहणप्रतिनियमः, आलोकात्सहकारिप्रत्ययाद्धेतोः स्पष्टार्थता। एवं सुखादीनामपि चैत्तानां चित्ताभिन्नहेतुजानां चत्वार्यप्येतान्येव कारणानि। सेयं प्रतिज्ञा चतुर्विधान् हेतून्

भामती-व्याख्या

सान भी नित्यत्व के आपादान में ही है। तृतीय विकल्प को लेकर भाष्यकार ने कहा है—"वस्तूत्पादनिरोधाभ्यामसंसृष्टमिति वस्तुनः शाश्वतत्वप्रसङ्गः"। यदि वस्तु से पदार्थान्तर-भूत उत्पाद और निरोध का वस्तु से संसर्ग माना जाता है, तब भी असत् वस्तु के साथ संसर्ग बनता नहीं और वस्तु को सत् मानने पर शाश्वतत्व प्रसक्त होता है—यह दोष भी उद्भाव-नीय है। शेष भाष्य सुबोध है ॥ २० ॥

चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते"—इस भाष्य का मूलभूत वसुबन्धु का यह श्लोक है—

"चत्वारः प्रत्यया उक्ता हेत्वाख्यः पञ्च हेतवः।
चित्तचैत्ता अचरमा उत्पन्ना समनन्तराः॥" (अभि. को. २।६१)

आशय यह है कि कार्यमात्र के चार प्रत्यय (कारण) माने जाते हैं - (१) आलम्बन प्रत्यय, (२) समनन्तर प्रत्यय, (३) अधिपति प्रत्यय और (४) हेतु प्रत्यय। जैसे नील घट के आभासक चित्त (ज्ञान) में अपने नील घटात्मक आलम्बन प्रत्यय (विषय) से नीलाकारता आती है, अपने पूर्ववर्ती ज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से ज्ञानात्मकता आती है, चक्षुस्वरूप अधि-पति प्रत्यय (कारण) से नील-ग्रहणता का नियम और आलोकरूप हेतु प्रत्यय (सहकारीकरण) से स्पष्टार्थता (विशदता) आती है। जैसे ज्ञानरूप चित्त के ये चार कारण होते हैं, वैसे सुखादिरूप चैत्त (चैतसिक) के भी चार कारण होते हैं। सूत्र-सूचित यही वह बौद्ध-प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) है, जिसका उपरोध (बाध) तब होता है, जब कि कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानी जाती है।

[श्री नागार्जुन ने समनन्तर प्रत्यय के स्थान पर अनन्तर प्रत्यय का उल्लेख किया है—"चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बमनन्तरम्" (मध्यमक. १।४)। चन्द्रकीर्ति ने हेतु प्रत्यय से उपादान कारण का ग्रहण किया है—"निर्वर्तको हेतुरिति लक्षणाद् यो हि यस्य निर्वर्तको

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत । अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावत्तावदवतिष्ठते पूर्वक्षण इति ब्रूयात्ततो यौगपद्यं हेतुफलयोः स्यात् । तथापि प्रतिज्ञोपरोध एव स्यात् । क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इतीयं प्रतिज्ञोपरुध्येत ॥ २१ ॥

**प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥**

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं चेति । तदपि च त्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं चेत्याचक्षते । त्रयमपि चैतद्-

भामती

प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इत्यभावकारणत्व उपरुध्येत । ॐ अथोत्तरक्षणोत्पत्ति यावदवतिष्ठते इतिॐ । उत्पत्तिरुत्पद्यमानाद्भावादभिन्ना, तथा च क्षणिकत्वहानिरिति प्रतिज्ञाहानिः ॥ २१ ॥

भावप्रतीपा संख्या बुद्धिः प्रतिसंख्या, तया निरोधः प्रतिसंख्यानिरोधः । सन्तमिममसन्तं करोमीत्येवमाकारता च बुद्धेर्भावप्रतीपत्वम् । एतेनाप्रतिसंख्यानिरोधोऽपि व्याख्यातः । सन्तानगोचरो वा

भामती—व्याख्या

बीजभावेनावस्थितः, स तस्य हेतुप्रत्यय । करणस्यानन्तरो निरोधः कार्यस्योत्पत्तिप्रत्ययः, तद्यथा बीजस्यानन्तरो निरोधोऽङ्कुरस्योत्पादप्रत्ययः" ( मध्यमक. पृ. २९ ) । बुद्धघोष ने भी "सो सालि आदीनं सालिबीजादीनि" ( वि. मग्गो पृ. ३७३ ) ऐसा कहकर शालि बीजादि को ही हेतु प्रत्यय माना है । स्थविरवाद में 'प्रत्यय' का 'पच्चय' शब्द से उल्लेख करके व्याख्यान किया है—"पटिच्च एतस्मा एतीति पच्चयो लक्खणतो पन उपकारकलक्खणो पच्चयो" । अर्थात् कार्य के उपकारक पदार्थ को प्रत्यय कहते है, ऐसे प्रत्ययों की संख्या चौबीस है—( १ ) हेतुपच्चयो, ( २ ) आरम्भणपच्चयो, ( ३ ) अधिपतिपच्चयो, ( ४ ) अनन्तरपच्चयो, ( ५ ) समनन्तरपच्चयो, ( ६ ) सहजातपच्चयो, ( ७ ) अञ्ञमञ्ञपच्चयो, ( ८ ) निस्सय पच्चयो, ( ९ ) उपनिस्सयपच्चयो, ( १० ) पुरेजातपच्चयो, ( ११ ) पच्छाजातपच्चयो, ( १२ ) आसेवनपच्चयो, ( १३ ) कम्मपच्चयो, ( १४ ) विपाकपच्चयो, ( १५ ) आहारपच्चयो, ( १६ ) इन्द्रियपच्चयो, ( १७ ) ज्ञानपच्चयो, ( १८ ) मग्गपच्चयो, ( १९ ) सम्पयुत्तपच्चयो, ( २० ) विप्पयुत्तपच्चयो, ( २१ ) अत्थिपच्चयो, ( २२ ) नत्थिपच्चयो, ( २३ ) विगतपच्चयो, ( २४ ) अविगतपच्चयोति" ( वि. मग्गो पृ. ३७३ ) । माहायानिक आचार्य उक्त चार प्रत्ययों में ही शेष बीस प्रत्ययों का अन्तर्भाव मान लेते हैं—'ये चान्ये पुरोजातसहजातपश्चाज्जातादयः, ते एतेष्वेव अन्तर्भूता" ( मध्यमक. पृ. २६ )] । "अथोत्तरक्षणोत्पत्तिर्यावदेवातिष्ठते पूर्वक्षणः" इस भाष्य का आशय यह है कि पहले कहा जा चुका है कि "भूतिर्वेषां क्रिया सैव कारकं सैव उच्यते" अर्थात् भूति ( उत्पत्ति ) और के उत्पद्यमानरूप कर्त्ताकारक का अभेद बौद्ध-सम्मत है, अतः उत्तरभावी भाव क्षण तक पूर्वक्षण की स्थिति मानने पर बौद्धों की सर्वक्षणिकत्व-प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है ॥ २१ ॥

[अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम् ।
आकाशं द्वौ निरोधौ च तत्राकाशमनावृतिः ॥
प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक् ।
उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया ॥ (अभि. को. १।५६)

वसुबन्धु के इन श्लोकों में कथित प्रतिसंख्या निरोध की व्याख्या करते हुए स्वयं वसुबन्धु ने कहा है—"यः सास्रवैर्धर्मैर्विसंयोगः, स प्रतिसंख्यानिरोधः । दुःखादीनामार्यसत्यानां प्रतिसंख्यानं प्रतिसंख्या प्रज्ञाविशेषः, तेन प्राप्यो निरोधः, प्रतिसंख्यानिरोधः, मध्यमपदलोपं कृत्वा गोरथवत्" । अर्थात् रागादि सास्रव धर्मों से जो चित्त का विसंयोग ( वियोग ) है, उसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्त्वभावमात्रं निरुपाख्यमिति मन्यन्ते, बुद्धिपूर्वकः किल विनाशो भावानां प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भाष्यते तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्यानिरोधः, आवरणाभावमात्रमाकाशमिति। तेषामाकाशं परस्तात्प्रत्याख्यास्यति। निरोधद्वयमिदानीं प्रत्याचष्टे। प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरप्राप्ति। असंभव इत्यर्थः। कस्मात्? अविच्छेदात्। एतौ हि प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ संतानगोचरौ वा स्यातां भावगोचरौ वा? न तावत्

भामती

निरोधः, सन्तानिक्षणगोचरो वा? न तावत्सन्तानस्य निरोधः सम्भवति। हेतुफलभावेन हि व्यवस्थिताः सन्तानिन एवोदयव्ययधर्माणः सन्तानः। तत्र योऽसावन्त्यः सन्तानी, यन्निरोधात् सन्तानोच्छेदेन भवितव्यं स किं फलं किञ्चिदारभते न वा? आरभते चेत्, नान्त्यः। तथा च न सन्तानोच्छेदः। अनारम्भे तु भवेदन्त्यः सः, किन्तु स्यादसन् अर्थक्रियाकारितायाः सत्तालक्षणस्य विरहात्। तदसत्त्वे तज्जनकमप्यसज्जनकत्वेनासदित्यनेन क्रमेणासन्तः सर्व एव सन्तानिन इति तत्सन्तानो नितरामसन्निति कस्य प्रति-

भामती—व्याख्या

ही प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं, क्योंकि दुःखादिरूप आर्यसत्य का साक्षात्कार वह प्रज्ञाविशेष है, जिसे प्रतिसंख्या कहते हैं, उस प्रतिसंख्या के द्वारा प्रापणीय क्लेश-निरोध प्रतिसंख्या निरोध है। 'प्रतिसंख्यया प्राप्यो निरोधः प्रतिसंख्यानिरोधः'—यहाँ पर शाकपार्थिवादि के समान मध्यमपदलोपी समास है,-'प्रतिसंख्यया निरोधः प्रतिसंख्यानिरोधः—ऐसा तृतीया समास नहीं, क्योंकि प्रतिसंख्यानिरोध असंस्कृत धर्म है। 'संस्कृत' शब्द का अर्थ सम्यक् (समुच्चितैः कारणैः) कृत (जनित) और असंस्कृत का अर्थ अजन्य है, अतः प्रतिसंख्यारूप प्रज्ञा के द्वारा उसकी उत्पत्ति का अभिधान नहीं किया जा सकता, जैसा कि कथावत्थु में कहा गया है—"पटिसंखानिरुद्धा संखारा न पुनः उप्पज्जन्ति" (कथावत्थु. पृ. २०६)।

ज्ञानप्रस्थान में भी कहा है—"प्रतिसंख्यानिरोधः कतमः? प्रतिवचनम्—सर्वो विसंयोजनो निरोधः" (ज्ञानप्रस्थान. पृ. ३०)। 'प्रतिसंख्या' शब्द का अर्थ अभिधर्मसमुच्चय में किया गया है—"विपाकतो वा आगमतो वाऽधिगमतो वा ज्ञानं प्रतिसंख्या" (अभि. समु. पृ० ६)। अभिधर्मामृत कहता है—"त्रयोऽसंस्कृताः—प्रतिसंख्यानिरोधः, अप्रतिसंख्यानिरोधः, आकाशम्। प्रतिसंख्यानिरोधः कतमः? आस्रवानास्रवप्रज्ञाबलेन सर्वसंयोजनप्रहाणे विमोक्षप्राप्तिरुच्यते प्रतिसंख्यानिरोधः। अप्रतिसंख्यानिरोधः कतमः? अनागतस्य हेतुभिरुत्पाद्यस्यानुत्पत्तिरप्रतिसंख्यानिरोधः" (पृ. १३१) अर्थात् आस्रव और अनास्रव के विवेक-ज्ञान से अधिगत अविद्यादि संयोजन-निवृत्तिरूप मोक्ष ही प्रतिसंख्यानिरोध है। इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिसंख्या एक विवेक ज्ञान है। बुद्धघोष ने बुद्ध-वचन के द्वारा इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है—"एत्तावतास्य उप्पन्नं होती पटिसखानाणं यं सन्धाय वुत्तम्—"अनिच्चतो मनसि करोतो निमित्तं पटिसंखाञाणं उप्पज्जति। दुक्खतो मनसि करोतो पवत्तं पटिसंखाञाणं उप्पज्जति। आनत्ततो मनसि करोतो निमित्तञ्च पटिसंखाजाणं उप्पज्जति" (वि. मग्गो पृ० ४६२-६३)। इस ज्ञान के द्वारा जिस क्लेशोपशमरूप निरोध की अभिव्यक्ति होती है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है। 'सन्तमिमसन्तं करोमि'—इस प्रकार की भाव-प्रतीप (भाव के विरुद्ध) भावना के द्वारा जिस निरोध को उत्पन्न किया जाता है, वह असंस्कृत (अनुत्पन्न) क्योंकर होगा? सम्भवतः अन्य वेदान्ताचार्यों के समान ही श्री वाचस्पति मिश्र ने भी यहाँ बौद्ध परिभाषा की उपेक्षा ही की है]। क्षणिकवादियों का सहज-सिद्ध अज्ञात निरोध (नाश) भी अहैतुक होने के कारण असंस्कृत ही माना जाता है। मोक्षकालीन इस क्लेश-निरोध की यह विशेषता है कि वहाँ भावी क्लेशों को कभी उत्पन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संतानगोचरौ संभवतः, सर्वेष्वपि संतानेषु संतानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन संतानविच्छेदस्यासंभवात् । नापि भावगोचरौ संभवतः, नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः संभवति; सर्वास्वप्यवस्थासु प्रत्यभिज्ञानबलेनान्वय्यविच्छेददर्शनात् । अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वप्यवस्थासु क्वचिद् दृष्टेनान्वय्यविच्छेदेनान्यत्रापि तदनुमानात् । तस्मात्परपरिकल्पितस्य निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

भामती

संख्यया निरोधः ? न च सभागानां सन्तानिनां हेतुफलभावः सन्तानस्तस्य विसभागोत्पादो निरोधः, विसभागोत्पादक एव च क्षणः सन्तानस्यान्त्यः । तथा सति रूपविज्ञानप्रवाहे रसादिविज्ञानोत्पत्तौ सन्तानोच्छेदप्रसङ्गः । कथञ्चित्सारूप्ये वा विसभागेऽप्यन्ततः सत्तया तदस्तीति न सन्तानोच्छेदः । तदेनाभिसन्धिनाह ❀ सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात् इति ❀ । नापि भावगोचरौ सम्भवतः प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ । अत्र तावदुत्पन्नमात्रापवृक्तस्य भावस्य न प्रतिसंख्यानिरोधः सम्भवति, तस्य पुरुषप्रयत्नापेक्षाभावादित्यस्त्येव दूषणम् । तथापि दोषान्तरमुभयस्मि-

भामती-व्याख्या

नहीं होने देता, यही वसुबन्धु ने कहा है—"उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया" ( अभि. कोश. १।६ ) ।

इन दोनों निरोधों के निराकरण भाष्य का आशय यह है कि दुःखादि भाव पदार्थों की सन्तति ( धारा ) का निरोध माना जाता है ? अथवा दुःखादिरूप भावपदार्थों का ? प्रथम कल्प संगत नहीं, क्योंकि सन्तति में प्रविष्ट दुःखादिरूप सन्तानी ही उत्पाद और निरोधवाले होते हैं, सन्तान का निरोध सम्भव नहीं । द्वितीय कल्प के अनुसार जो अन्तिम सन्तानी है, जिसके निरोध से सन्तान का उच्छेद हो सकता है, वह सन्तानी क्या किसी अपने कार्य को उत्पन्न करता है ? अथवा नहीं ? यदि किसी कार्य को जन्म देता है, तब वह जन्मदाता सन्तानी अन्तिम नहीं कहा जा सकता, अतः सन्तान का उच्छेद क्योंकर होगा ? कार्य को जन्म न देने पर अवश्य ही पूर्व सन्तानी अन्तिम कहा जा सकता है किन्तु वह सत् न होकर असत् ही कहलाएगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारी (कार्यजनक) पदार्थ को ही सत् पदार्थ माना गया है—"अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत्" ( प्र० वा० पृ० १७५ ) । अत उक्त अन्तिम सन्तानी में अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्ता-लक्षण का अभाव है । उस सन्तानी के असत् होने पर उसकी जनक-परम्परा ही असत् हो जाती है, फलतः उस सन्तानी की पूरी सन्तति ही असत् है, तब किसका निरोध प्रतिसंख्या से अधिगत होगा ?

**शङ्का**—सदृश ( समानरूप ) सन्तानियों का ही हेतुफलभावरूप प्रवाह सन्तान है, जब वह सन्तानी विसदृश क्षण को उत्पन्न करता है, तब वह अन्तिम कहलाता है ।

**समाधान**—वैसा मानने पर रूपविषयक विज्ञान के प्रवाह में रसविषयक विज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर सन्तान का उच्छेद प्रसक्त होता है । रूप और रस के विज्ञान क्षणों में कोई सादृश्य मानने पर विसदृश-प्रवाह में भी कोई-न-कोई सादृश्य खोजा जा सकता है, अन्ततोगत्वा सत्त्वरूप सादृश्य तो सुलभ हो ही जाता है, तब सन्तान का उच्छेद क्योंकर होगा ? इस आशय को मन में रखकर भाष्यकार कहते हैं—"सर्वेष्वपि सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नेन हेतुफलभावेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्" । द्वितीय विकल्प का निरास भाष्यकार करते हैं—"नापि भावगोचरौ सम्भवतः" कौन सम्भव नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधौ" । जब कि यह बौद्ध-सिद्धान्त है कि उत्पन्नमात्र वस्तु सहजतः ही निरुद्ध ( नष्ट ) हो जाती है, तब प्रतिसंख्यानिरोध में पुरुष की अपेक्षा ही नहीं—

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

**योऽयमविद्यादिनिरोधः प्रतिसंख्यानिरोधान्तःपाती परपरिकल्पितः, स सम्य-**

भामती

ग्रपि निरोधे ब्रूते ❀ नहि भावानाम् इति ❀ । यतो निरन्वयो विनाशो न सम्भवत्यतो निरुपाख्योऽपि न सम्भवति, ततैनैवान्वयिना रूपेण भावस्य नष्टस्याप्युपाख्येयत्वात् । निरन्वयविनाशाभावे हेतुमाह ❀ सर्वास्वप्यवस्थासु इति ❀ । यद्यदन्वयिरूपं तत्तत्परमार्थसद्भावः । अवस्थास्तु विशेषाख्या उपजनापायधर्माणस्तासां सर्वासामनिर्वचनीयतया स्वतो न परमार्थसत्त्वमन्वय्येव तु रूपं तासां तत्त्वं तस्य च सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विनाश इत्यवस्थावतोऽविनाशात्तावस्थानां निरन्वयो विनाश इति । तासां तत्त्वस्यान्वयिनः सर्वत्राविच्छेदात् । स्यादेतत्—मृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालादिषु सर्वत्र मृत्तत्त्वप्रत्यभिज्ञानाद्ध्रुवत्वेवम् । तप्तोपलतलपतिततनष्टस्य तूदबिन्दोः किमस्ति रूपमन्वयि प्रत्यभिज्ञायमानं येनास्य न निरन्वयो नाशः स्यादित्यत आह ❀ अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वपि इति ❀ । अत्रापि तत्तोयं तेजसा मार्त्तण्डमण्डलसम्बुदत्वाय नीयत इत्यनुमेयं मृदादीनामन्वयिनामविच्छेददर्शनात् । शक्यं तत्र वक्तुम्—

उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते ।
विनष्टेऽपि ततो बिन्दावस्ति तस्यान्वयोऽम्बुधौ ॥

तस्मान्न कश्चिदपि निरन्वयो नाश इति सिद्धम् ॥ २२ ॥

भामती—व्याख्या

यह एक सामान्य दोष है, इससे अतिरिक्त दोषान्तर का उद्भावन किया जाता है—"न हि भावानां निरन्वयो विरुपाख्यो विनाशः सम्भवति" । जब निरन्वय विनाश सम्भव नहीं, अपितु सान्वय ही विनाश होता है, तब जिस अन्वय को लेकर वह निरोध सान्वय है, उसी के द्वारा उसका उपाख्यान भी हो सकता है, अतः वह निरुपाख्य भी नही हो सकता । निरन्वय विनाश के असम्भवत्व का हेतु प्रदर्शित किया जाता है—"सर्वास्वप्यवस्थासू" । घट, कपाल, कपालिका, चूर्णादि अवस्थाओं में प्रत्यभिज्ञात मृत्स्वरूपता का जो अन्वय अनुभूतचर है, वह तो सत् ही है, केवल घटादि अवस्थाएँ ही उत्पत्ति-निरोधवाली हैं, किन्तु वे सभी अनिर्वचनीय हैं, स्वतः परमार्थसत् तत्त्व नहीं, उनमें अन्वयी ( अनुस्यूत ) मृत्स्वरूपता ही वास्तविक तत्त्व है, उसका सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान होने के कारण निरोध या विनाश सम्भव नही। फलतः निरन्वय विनाश सर्वथा असम्भावित है, क्योंकि वहाँ मृद्रूपतात्मक अन्वयी तत्त्व का सर्वत्र अविच्छेद उपलब्ध होता है ।

**शङ्का**—मृत्पिण्ड, घट, कपालादि में तो मृद्रूपता का प्रत्यभिज्ञान होता है, अतः वहाँ निरन्वय विनाश न सही किन्तु तपी हुई शिला पर पड़ कर नष्ट हुए जल-विन्दु का कोई भी अन्वयी स्वरूप उपलब्ध नहीं होता, अतः वहाँ निरन्वय विनाश असम्भव क्यों ?

**समाधान**—उक्त प्रश्न का उत्तर है—"अस्पष्टप्रत्यभिज्ञानास्वपि" । अर्थात् वहाँ पर जलबिन्दु भी सूर्य-किरणों द्वारा वाष्परूप धारण कर कालान्तर में मेघ का रूप धारण करता है, अतः जल, बाष्प और मेघ में जलरूपता के समन्वय की कल्पना की जा सकती है—

उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते ।
विनष्टेऽपि ततो बिन्दावस्ति तस्यान्वयोऽम्बुधौ ॥

अर्थात् जल-बिन्दु और सिन्धु ( सागर ) में अनुस्यूत जलरूपता का भेद नहीं, अतः बिन्दु के नष्ट होने पर भी जलरूपता सागर में प्रत्यभिज्ञात होती है, विवक्षित अनुमान का आकार आभोग में इस प्रकार है—'उदबिन्दवयवा अन्वयिनः, उपादानत्वात् मृदादिवत्' । फलतः निरन्वय विनाश कहीं भी सिद्ध नहीं होता ॥ २२ ॥


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानाद्वा सपरिकरात्, स्यात्स्वयमेव वा ? पूर्वस्मिन्विकल्पे निर्हेतुकविनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गः। उत्तरस्मिंस्तु मार्गोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। एवमुभयथापि दोषप्रसङ्गादसमञ्जसमिदं दर्शनम् ॥ २३ ॥

## आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

यच्च तेषामेवाभिप्रेतम्—निरोधद्वयमाकाशं च निरुपाख्यमिति, तत्र निरोधद्वयस्य निरुपाख्यत्वं पुरस्तान्निराकृतम्। आकाशस्येदानीं निराक्रियते। आकाशे चायुक्तो निरुपाख्यत्वाभ्युपगमः, प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधयोरिव वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषात्। आगमप्रामाण्यात्तावद् 'आत्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २।१ ) इत्यादिश्रुतिभ्य आकाशस्य च वस्तुत्वप्रसिद्धिः। विप्रतिपन्नान् प्रति तु शब्दगुणानुमेयत्वं वक्ष्यते।

भामती

परिकरः सामग्री सम्यग्ज्ञानस्य यमनियमादिः श्रवणमननादिश्च। मार्गाः क्षणिकनैरात्म्यादिभावनाः। अतिरोहितमन्यत् ॥ २३ ॥

एतद्व्याचष्टे ॐ यच्च तेषाम् इति ॐ। वेदप्रामण्ये विप्रतिपन्नानपि प्रति शब्दगुणानुमेयत्वमाकाशस्य वक्तव्यम्। तथाहि—जातिमत्त्वेन सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्यास्पर्शत्वे सति

भामती—व्याख्या

प्रतिसंख्या निरोध के अन्तर्गत अविद्यादि बारह अङ्गों का जो निरोध बौद्धों के द्वारा कथित है—"एवमाध्यात्मिकोऽपि प्रतीत्यसमुत्पादो द्वाभ्यामेव कारणाभ्यामुत्पद्यते। कताभ्यां द्वाभ्याम् ? हेतूपनिबन्धतः प्रत्ययोपनिबन्धतश्च। तत्राध्यात्मिकस्य प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धः कतमः ? यदिदमविद्याप्रत्ययाः संस्काराः"—इत्यादि ( मध्यमक. पृ. २४५ )। वह निरोध क्या सपरिकर सम्यक् ज्ञान से होता है ? अथवा स्वयं अपने-आप ? पूर्व कल्प में निर्हेतुक विनाशवाद की हानि और द्वितीय कल्प में मार्ग का उपदेश व्यर्थ हो जाता है ]। भाष्यस्थ 'परिकर' शब्द से सम्यक् ज्ञान की यम-नियमादि और श्रवण मननादिरूप सामग्री का ग्रहण किया गया है। बौद्ध-सम्मत मार्ग ( मोक्ष-साधन ) है—क्षणिक नैरात्म्यादि की भावना। [ चार आर्यसत्यों में मार्गसत्य का उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—"अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथीदं ( १ ) सम्मादिट्ठि, ( २ ) सम्मासङ्कप्पो, ( ३ ) सम्मावाचा, ( ४ ) सम्माकम्मन्तो, ( ५ ) सम्माआजीवो, ( ६ ) सम्माबायामो, ( ७ ) सम्मासति, ( ८ ) सम्मासमाधि" ( महावगो पृ. १५ )। अर्थात् दुःख-निरोधरूप मोक्ष के साधनीभूत योग के आठ अङ्ग होते हैं—(१) सम्यक् दृष्टि ( नैरात्म्यादि-दर्शन ) (२) सम्यक् सङ्कल्प (निष्कामता, अद्रोह और अहिंसा का संकल्प ), ( ३ ) सम्यक् वचन (झूठ, चुगली और कटुवचन का त्याग) ( ४ ) सम्यक् कर्म ( हिंसा, चोरी और व्यभिचार का परित्याग ), ( ५ ) सम्यक् आजीव ( मिथ्या जीविका का परित्याग ), ( ६ ) सम्यक् व्यायाम ( पाप कर्मों से निवृत्ति और पुण्य कर्मों के उपार्जन का प्रयत्न ), ( ७ ) सम्यक् स्मृति ( निद्रा-तन्द्रा की प्रतिपक्षभूत सतत जागरूकता ) और ( ८ ) सम्यक् समाधि ( ध्यान या वृत्ति-निरोध ) ] । शेष भाष्य सुगम है ॥ २३ ॥

"आकाशे चाविशेषात्"—इस सूत्र की व्याख्या की जाती है—"यच्च तेषामेवाभिप्रेतम्। [ सौत्रान्तिकगण आकाश को वस्तुसत् न मानकर अलीक और अनुपाख्य मानते हैं, उनका निराकरण करने के लिए वैशेषिकाचार्यों ने अनुमान प्रमाण के द्वारा आकाश की सिद्धि की है—"शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वादयावद्द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः। बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वादात्मान्तरग्राह्यत्वादात्मन्यसमवादह-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यम्, गन्धादीनां गुणानां पृथिव्यादिवस्त्वाश्रयत्वदर्शनात्। अपि चावरणाभावमात्रमाकाशमिच्छतामेकस्मिन् सुपर्णे पतत्यावरणस्य विद्यमानत्वात्सुपर्णान्तरस्योत्पत्स्यतोऽनवकाशत्वप्रसङ्गः। यत्रावरणाभावस्तत्र पतिष्यतीति चेत्, येनावरणाभावो विशेष्यते तत्तर्हि वस्तुभूतमेवाकाशं स्यात्, नावरणाभावमात्रम्। अपि चावरणाभावमात्रमाकाशं मन्यमानस्य सौगतस्य स्वाभ्युपगमविरोधः प्रसज्येत। सौगते हि समये 'पृथिवी भगवः किंसंनिश्रया' इत्यस्मिन्प्रश्नप्रतिवचनप्रवाहे पृथिव्यादीनामन्ते 'वायुः किंसंनिश्रयः' इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं भवति–'वायुराकाशसंनिश्रयः' इति। तदाकाशस्यावस्तुत्वे न समञ्जसं स्यात्। तस्मादप्ययुक्तमाकाशस्यावस्तुत्वम्। अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं चेति विप्रतिषिद्धम्। न ह्यवस्तुनो नित्यत्वमनित्यत्वं वा संभवति, वस्त्वाश्रयत्वाद्धर्मधर्मिव्यवहारस्य। धर्मधर्मिभावे हि घटादिवद्वस्तुत्वमेव स्यान्न निरुपाख्यत्वम् ॥ २४ ॥

भामती

बाह्येकेन्द्रियग्राह्यत्वेन गन्धादिवद् गुणत्वमनुमितम्। नायमात्मगुणो बाह्येन्द्रियगोचरत्वात्। अत एव न मनोगुणः, तद्गुणानामप्रत्यक्षत्वात्। न पृथिव्यादिगुणः, तद्गुणगन्धादिसाहचर्यानुपलब्धेः। तस्माद् गुणो भूत्वा गन्धादिवदसाधारणेन्द्रियग्राह्यो यद् द्रव्यमनुमापयति तदाकाशं पञ्चमं भूतं वस्त्विति। ❀ अपि चावरणाभावमाकाशमिच्छत इति ❀। निषेध्यनिषेधाधिकरणनिरूपणाधीननिरूपणो निषेधो नासत्यधिकरणनिरूपणे शक्यो निरूपयितुम्। तच्चावरणाभावाधिकरणमाकाशं वस्त्विति। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ २४ ॥

भामती–व्याख्या

ङ्कारेण विभक्तग्रहणाच्च नात्मगुणः। श्रोत्रग्राह्यत्वाद् वैशेषिकगुणभावाच्च न दिक्कालमनसाम्। परिशेषाद् गुणो भूत्वा आकाशस्याधिगमे लिङ्गम्' ( प्रशस्त. पृ, १४४-४५ ) ]।

यद्यपि "तस्माद्वैतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" ( तै. उ. २।१ ) इत्यादि वेद-वाक्यों के द्वारा आकाश प्रमाणित है, तथापि वेद-वाक्यों पर जिनका विश्वास नहीं, उनके प्रति 'शब्द' गुण के द्वारा आकाश का अनुमान प्रस्तुत किया गया है। ( १ ) प्रथमतः 'शब्दो न सामान्यविशेषसमवायानामन्यतमः, जातिमत्त्वात्, घटादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा शब्द को सामान्य, विशेष और समवाय से पृथक् सिद्ध किया जाता है, पश्चात् ( २ ) शब्दो गुणः अस्पर्शत्वे सति बाह्येकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्, गन्धवत्—इस अनुमान से शब्द में गुणत्व सिद्ध किया जाता है। उसके अनन्तर ( ३ ) शब्दो नात्मगुणः, बाह्येन्द्रियगोचरत्वात् गन्धादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा शब्द में आत्मगुणत्व का निषेध, ( ४ ) शब्दो न मनसो गुणः, प्रत्यक्षत्वात् स्पर्शादिवत्'—इस अनुमान से शब्द में मनोगुणत्व का निषेध तथा (५) शब्दो न पृथिव्यादिगुणः, गन्धादिसाहचर्यानुपलब्धेः'—इस अनुमान के द्वारा शब्द में पृथिव्यादि की गुणता का निषेध किया जाता है। अन्त में (६) शब्दः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, गुणत्वे सति असाधारणेन्द्रियग्राह्यत्वात्'—इस परिशेषानुमान के द्वारा आकाशरूप द्रव्य की सिद्धि की जाती है, जो कि पाँचवा भूत द्रव्य कहा जाता है।

"अपि चावरणाभावमाकाशमिच्छताम्'—इस भाष्य का आशय यह है कि किसी निषेध का निरूपण तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक निषेध के अधिकरण का निरूपण न किया जाय, फलतः आवरण के निषेध ( अभाव ) की अधिकरणरूप आकाशवस्तु सिद्ध हो जाती है। शेष भाष्य सुगम है ॥ २४ ॥

'अनुस्मृतेश्च'—इस सूत्र की व्याख्या की जा रही है—"अपि च वैनाशिकः सर्वस्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात्। न च सा संभवति अनुस्मृतेः। अनुभवस्मृपलब्धिमनूत्पद्यमानं स्मरणमेवानुस्मृतिः सा चोपलब्ध्येककर्तृका सती संभवति, पुरुषान्तरोपलब्धिविषये पुरुषान्तरस्य स्मृत्यदर्शनात्। कथं ह्यहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति च पूर्वोत्तरदर्शिन्येकस्मिन्सति प्रत्ययः स्यात्? अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्तर्येकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सर्वस्य लोकस्य - प्रसिद्धोऽहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामीति। यदि हि तयोर्भिन्नः कर्ता स्यात्ततोऽहमद्राक्षीदिति प्रतीयात्, नत्वेवं प्रत्येति कश्चित्। यत्रैवं प्रत्ययस्तत्र दर्शनस्मरणयोर्भिन्नमेव कर्तारं सर्वलोकोऽवगच्छति-स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीदिति। इह त्वहमदोऽद्राक्षमिति दर्शनस्मरणयोर्वैनाशिकोऽप्यात्मानमेवैकं कर्तारमवगच्छति। न नाहमित्यात्मनो दर्शनं निर्वृत्तं निह्नुते, यथाग्निरनुष्णोऽप्रकाश इति वा। तत्रैवं सत्येकस्य दर्शनस्मरणलक्षणद्वयसंबन्धे क्षणिकत्वाभ्युपगमहानिरपरिहार्या वैनाशिकस्य स्यात्। तथाऽनन्तरामनन्तरामात्मन एव प्रतिपत्तिं प्रत्यभिजानन्नेककर्तृकामोत्तमादुच्छ्वासाद्-तीताश्च प्रतिपत्तीराजन्मन आत्मैककर्तृकाः प्रतिसंदधानः कथं क्षणभङ्गवादी वैनाशिको नापत्रपेत? स यदि ब्रूयात् सादृश्यादेतत्संपत्स्यत इति। तं प्रति ब्रूयात्—तेनेदं सदृश-

भामती

विभजते ❀ अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः इति ❀। यस्तु सत्यप्येतस्मिन्नुपलब्धृस्मर्त्रोरन्यत्वेऽपि समानायां सन्ततौ कार्यकारणभावात् स्मृतिरूपपत्स्यत इति मन्यमानो न परितुष्यति तं प्रति प्रत्यभिज्ञासमाज्ञातप्रत्यक्षविरोधमाह ❀ अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्त्तरि इति ❀। ततोऽहमद्राक्षीदिति प्रतीयात्, अहं स्मराम्यन्यस्त्वद्राक्षीदित्यर्थः। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधप्रपञ्चस्तूत्तरः ❀ आ जन्मनः चोत्तमादुच्छ्वासाद् ❀ आमरणादित्यर्थः। न च सादृश्यनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानं, पूर्वापरक्षणदर्शिन एकस्याभावे तदनुपपत्तेः। शङ्कते ❀ तेनेदं सदृशम् इति ❀। अयमर्थः-विकल्पप्रत्ययोऽयम्। विकल्पश्च स्वाकारं बाह्यतयाऽध्यवस्यति, न तु तत्त्वतः पूर्वापरौ क्षणौ तयोः सादृश्यं वा गृह्णाति। तत्कथमेकस्यानेकदर्शिनः स्थिरस्य प्रसङ्गः, इति निराकरोति ❀ न तेनेदम् इति ❀। ❀ भिन्नपदार्थोपादानाद् इति ❀। नाना-

भामती-व्याख्या

वस्तुतः"। जो व्यक्ति अनुभविता और स्मर्ता का भेद होने पर भी एक सन्तति में अन्य क्षणानुभूत पदार्थ का अन्यक्षण के द्वारा स्मरण मानकर चर्चित सौत्र युक्ति से परितुष्ट नहीं, उस व्यक्ति के लिए प्रत्यभिज्ञात्मक प्रत्यक्ष का विरोध प्रस्तुत किया जाता है—"अपि च दर्शनस्मरणयोः कर्तरि एकस्मिन् प्रत्यक्षः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः"। "ततोऽहमद्राक्षीदिति प्रतीयात्"—इस भाष्य का आशय यह है कि यदि स्मर्ता और अनुभविता का भेद होता, तब वहाँ इस प्रकार की प्रतीति होती—'अहं स्मरामि, अन्यस्त्वद्राक्षीत्'। इससे आगे का भाष्य उसी प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा के द्वारा क्षण-भङ्गवाद में विरोध-प्रदर्शन का विस्तारमात्र है। "ओत्तमाद् उच्छ्वासाद् आ जन्मनः" इस भाष्य का अर्थ है—'आ उत्तमाद् आ जन्मः' जन्म से लेकर उत्तम (अन्तिम श्वास-पर्यन्त या मरण-पर्यन्त)। आत्मा की एकत्व-प्रत्यभिज्ञा को दीप-ज्वाला के समान सादृश्यमूलक उपपत्ति भी नहीं कर सकते, क्योंकि पूर्व और उत्तर क्षण के द्रष्टा की एकता के विना सादृश्य-ग्रह भी सम्भव नहीं, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"स यदि ब्रूयात्"।

शङ्का—'तेनेदं सदृशम्'—यह एक प्रतीति नहीं, अपि तु 'तेन', 'इदं', 'सदृशम्'—इस प्रकार तीन भिन्न-भिन्न विकल्पात्मक (आरोपात्मक) प्रतीतियाँ होती हैं। विकल्प प्रतीति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिति द्वयायत्तत्वात्सादृश्यस्य, क्षणभङ्गवादिनः सदृशयोर्द्वयोर्वस्तुनोर्ग्रहीतुरेकस्याभावात्, सादृश्यनिमित्तं प्रतिसंधानमिति मिथ्याप्रलाप एव स्यात्। स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य ग्रहीतैकः' तथासत्येकस्य क्षणद्वयावस्थानात् क्षणिकत्वप्रतिज्ञा पीड्येत। तेनेदं सदृशमिति प्रत्ययान्तरमेवेदं न पूर्वोत्तरक्षणद्वयग्रहणनिमित्तमिति चेत्[3] न, तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात्। प्रत्ययान्तरमेव चेत्सादृश्यविषयं स्यात्तनेदं सदृशमिति वाक्यप्रयोगोऽनर्थकः स्यात्। सादृश्यमित्येव प्रयोगः प्राप्नुयात्। यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते, तदा स्वपक्षसिद्धिः परपक्षदोषो

भामती

पदार्थसम्भिन्नवाक्यार्थाभासस्तावदयं विकल्पः प्रथते। तत्रैते नानापदार्था न प्रथन्त इति ब्रुवाणः स्वसंवेदनं बाधेत। न चैकस्य ज्ञानस्य नानाकारत्वं सम्भवति, एकत्वविरोधात्। न च तावन्त्येव ज्ञानानीति युक्तम्, तथा सति प्रत्याकारं ज्ञानानां समाप्तेस्तेषाञ्च परस्परवार्ता ज्ञानाभावात् नानेत्येव न स्यात्। तस्मात् पूर्वापरक्षणतत्सादृश्यगोचरत्वं ज्ञानस्य वक्तव्यं, न चैतत् पूर्वापरक्षणावस्थायिनमेकं ज्ञातारं विनेति क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गः। यद्युच्येत—अस्त्येतस्मिन् विकल्पे तेनेदं सदृशमिति पदद्वयप्रयोगो न त्विह तत्तेदन्तास्पदौ पदार्थौ, तयोश्च सादृश्यमिति विवक्षितम्। अपि त्वेवमाकारता ज्ञानस्य कल्पितेति। तत्राह ❀ यदा हि लोकप्रसिद्धः पदार्थः इति ❀। एकाधिकरणविप्रतिषिद्धधर्मद्वयाभ्युपगमो विवादः।

भामती—व्याख्या

स्वगत आकार का बाह्यतया भान कराती है, पूर्व-परक्षण और उनके सादृश्य का तत्त्वतः ग्रहण नहीं करती, तब अनेकार्थों के एक स्थिर ज्ञाता का क्या प्रसङ्ग? आचार्य धर्मकीर्ति (प्र. वा. पृ. ४५३ पर) कहते हैं—

तथा हि सम्यक् लक्ष्यन्ते विकल्पा क्रमभाविनः।
एतेन यः समक्षेऽर्थे प्रत्यभिज्ञानकल्पनां।
स्पष्टावभासां प्रत्यक्षां कल्पयेत् सोऽपि वारितः॥
केशगोलकदीपादावपि स्पष्टावभासनात्।
प्रतीतभेदेऽप्यध्यक्षा धीः कथं तादृशी भवेत्॥

**समाधान**—"न, तेनेदमिति भिन्नपदार्थोपादानात्"। 'तेनेदं सदृशम्'—यह विकल्प प्रतीति तत्ता, इदन्ता और सादृश्यरूप विभिन्नपदार्थ-गर्भित वाक्यार्थ को विषय करती है। यहाँ नाना पदार्थ प्रतीत नहीं होते—ऐसा कहने पर आपके (बौद्ध-सम्मत) स्वसंवेदन (स्वयंप्रकाश) प्रत्यक्ष का बाध उपस्थित होता है। नाना पदार्थ एक ही ज्ञान के आकार हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक ज्ञान के नाना आकार नहीं हो सकते। नाना आकार मानने पर ज्ञान में एकत्व अनुपपन्न हो जाता है। जितने आकार प्रतीत होते हैं, उतने ही ज्ञान हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा मानने पर प्रत्येक ज्ञान केवल अपने आकार के ग्रहण में पर्यवसित होकर अन्य ज्ञान और उसके आकार का स्पर्श नहीं कर सकता, तब नानापदार्थोल्लेखी कोई ज्ञान ही नहीं होगा, क्योंकि पदार्थों में नानात्व का व्यवहार आकार-भेद पर निर्भर होता है, ज्ञान-भेद पर नहीं। अतः पूर्वक्षण, उत्तरक्षण और उनके सादृश्य की अवगाहिता एक ही ज्ञान में माननी होगी। यह सब कुछ तब तक उपपन्न नहीं हो सकता, जब तक पूर्व और उत्तर क्षणों में स्थायी एक ज्ञाता न माना जाय, फलतः क्षण-भङ्गवाद की अट्टालिका चरमराकर रह जाती है। यदि कहा जाय कि 'तेन' और 'इदं'—इन दो पदों की अपेक्षा 'सदृशम्'—पदान्तर है, पूर्व पदों से एकवाक्यतापन्न नहीं, अतः यहाँ न तो 'तत्ता' और 'इदन्तारूप' पदार्थों का ग्रहण है और न उनके सादृश्य की विवक्षा, केवल ज्ञान

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वोभयमप्युच्यमानं परीक्षकाणामात्मनश्च यथार्थत्वेन न बुद्धिसन्तानमारोहति। एव-मेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्। ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः

भामती

तत्रैकः स्वपक्षं साधयत्यन्यश्च तत्साधनं दूषयति। न चैतत् सर्वमसति विकल्पानां बाह्यालम्बनत्वेऽसति च लोकप्रसिद्धपदार्थकत्वे भवितुमर्हति। ज्ञानाकारत्वे हि विकल्पप्रतिभासिनां, नित्यत्वानित्यत्वादीना-मेकार्थविषयत्वाभावात् ज्ञानानाञ्च धर्मिणां भेदान्न विरोधः। नह्यात्मनित्यत्वं बुद्धयनित्यत्वञ्च ब्रुवाणौ विप्रतिपद्येते। न चालौकिकार्थेनानित्यशब्देनात्मनि विभुत्वं विवक्षित्वाऽनित्यशब्दं प्रयुञ्जानो लौकिकार्थं नित्यशब्दमात्मनि प्रयुञ्जानेन विप्रतिपद्यते। तस्मादनेन स्वपक्षं प्रतितिष्ठापयिषता परपक्षसाधनञ्च निरा-चिकीर्षता विकल्पानां लोकसिद्धपदार्थकता बाह्यालम्बनता च वक्तव्या। यद्युच्येत द्विविधो हि विकल्पानां विषयो ग्राह्यश्चाध्यवसेयश्च। तत्र स्वाकारो ग्राह्योऽध्यवसेयस्तु बाह्यः। तथा च पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहलक्षणा विप्रतिपत्तिः प्रसिद्धपदार्थकत्वञ्चोपपद्य ते इत्याह ॐ एवमेवैषोऽर्थ इति ॐ। निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यं ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं ख्यापयेत्। अयमभिसन्धिः—कोयमध्यवसेयता बाह्यस्य? यदि ग्राह्यता न द्वैविध्यम्। अथान्या सोच्यतां, ननूक्ता तैरेव स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तिरिति।

भामती—व्याख्या

में तदाकारता की कल्पितता अभीष्ट है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि "यदा हि लोक-प्रसिद्धः पदार्थः परीक्षकैर्न परिगृह्यते"। आशय यह है कि जब किसी एक धर्मी में परस्पर-विरुद्ध दो धर्मवादियों के द्वारा स्वीकार किए जाते हैं, तब उसको विवाद कहते हैं। उन वादियों में एक स्वकीय पक्ष की सिद्धि करता है और अन्य वादी प्रथम वादी के साधनों पर दोषो-द्भावन करता है। ये साधन-बाधन-परम्परा के पक्ष और विपक्ष तब तक प्रस्तुत नहीं किए जा सकते, जब तक उन पक्षों का कोई आलम्बन (विषयवस्तु) न हो और लोक-प्रसिद्ध भाषा का प्रयोग न किया जाय। 'अयं नित्योऽयमनित्यः'—इत्यादि विवादस्थलीय नित्यत्व और अनित्यत्वादि यदि ज्ञान के ही आकार माने जाते हैं और उनके ज्ञानरूप धर्मी भिन्न-भिन्न हैं, तब विभिन्नार्थक एवं विभिन्न-धर्मिक विकल्पों का विरोध ही नहीं रह जाता, जैसे कि आत्मा में नित्यत्व और बुद्धि में अनित्यत्व का प्रतिपादन करनेवाले व्यक्ति विप्रतिपन्न या विवादी नहीं माने जाते। अथवा किसी अलौकिक (विभुत्वादिरूप लोकाप्रसिद्ध) अर्थ में 'अनित्य' शब्द का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति उस व्यक्ति का प्रतिपक्षी नहीं माना जाता, जो 'आत्मा नित्यः'—यहाँ पर लोकप्रसिद्ध अर्थ में 'नित्य' शब्द का प्रयोग करता है। अतः जो व्यक्ति अपने पक्ष को प्रतिष्ठित और पर-पक्ष को निराकृत करना चाहता है, उसको प्रस्तुत विषय के विकल्पों में लोकप्रसिद्धार्थकता और बाह्यविषयता का निर्वहन करना होगा।

**शङ्का**—सभी प्रमाण ज्ञानों के दो विषय होते हैं—(१) ग्राह्य और (२) अध्यवसेय, जैसा कि आचार्य धर्मोत्तर कहते हैं—"द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य—ग्राह्यश्च यदाकारमुत्प-द्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति। अन्यो ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः" (धर्मोत्तरप्र. पृ. ७१)। इन विषयों में ज्ञान का अपना आकार ग्राह्य और बाह्याकार अध्यवसेय होता है। इसी प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष की परिग्रहरूप विप्रतिपत्ति और प्रसिद्धपदार्थकता उपपन्न हो जाती है।

**समाधान**—"एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत्तदेव वक्तव्यम्, ततोऽन्यद् बहूच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं ख्यापयेत्"। आशय यह है कि यह बाह्यार्थ की अध्यवसेयता क्या है? यदि ग्राह्यता ही है, तब विषय का द्वैविध्य नहीं रहता।

**शङ्का**—यदि अध्यवसेयता ग्राह्यता से भिन्न है, तब उसके स्वरूप का निर्वचन किया जाय। यदि कहा जाय कि स्वयं धर्मोत्तराचार्य ने उसका निर्वचन किया है—"स्वप्रतिभासेऽ-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

अथ विकल्पाकारस्य कोयमर्थाध्यवसायः ? किं करणमाहो योजनमुतारोप इति ? न तावत् करणम्, नह्यन्यदन्यत् कर्तुं शक्यम् । नहि जातु सहस्रमपि शिल्पिनो घटं पटयितुमीशते । न चान्तरं बाह्येन योजयितुम् । अपि चैवं सति युक्त इति प्रत्ययः स्यात्, न चास्ति । आरोपोऽपि किं गृह्यमाणे बाह्ये उतागृह्यमाणे ? यदि गृह्यमाणे, तदा किं विकल्पेनाहो तत्समयजेनाविकल्पकेन ? न तावद्विकल्पोऽभिलापसंसर्गयोग्यगोचरोऽशक्याभिलापसमयं स्वलक्षणं देशकालाननुगतं गोचरयितुमर्हति । यथाहुः—

अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक् ।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ॥ इति ।

भामती—व्याख्या

नर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तिः" ( धर्मोत्तर. पृ. ७१ ) । [ दुर्वेकमिश्र ने 'स्वप्रतिभास' का अर्थ किया है—'स्वस्य प्रतिभास इव प्रतिभासः' । प्रत्यक्ष ज्ञान का एक क्षण ग्राह्य है, सन्तान या क्षणान्तर नहीं, अतः सन्तान वस्तुत प्रतिभासित नहीं, अपितु प्रतिभासित के समान है । प्रथम क्षण अर्थ और क्षणान्तर अनर्थ है, उस अनर्थभूत सन्तान में अर्थाध्यवसायेन प्रमाता की प्रवृत्ति मानी जाती है, जैसा कि स्वयं धर्मोत्तर कहते हैं—"आरोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते" ( धर्मो. पृ. ७२ ) । फलतः 'अर्थगतो ज्ञाननिरूपितो धर्मो ग्राह्यता' और 'अनर्थगतो ज्ञाननिरूपितो धर्मोऽध्यवसेयता - इस प्रकार अध्यवसेयता का पृथक् निर्वचन पर्यवसित होता है ] ।

**समाधान**—यह जो कहा गया है कि अनर्थभूत सन्तान या सामान्यलक्षण में अर्थरूपाध्यवसाय से प्रवृत्ति होती है, वहाँ अनर्थ में अर्थाध्यवसाय क्या (१) अनर्थ का अर्थरूप करण ( सम्पादन ) ? या (२) योजन ? अथवा (३) आरोप ( अध्यास ) ? (१) प्रथम कल्प उचित नहीं, क्योंकि हजारों शिल्पी मिलकर भी अन्य पदार्थ ( घटादि ) को अन्य ( पटादि ) नहीं बना सकते, तब अनर्थ को अर्थ क्योंकर बनाया जा सकेगा ? (२) अनर्थ बाह्य है और अर्थ आन्तर, अतः बाह्य को आन्तर आकार से जोड़ा भी नहीं जा मकता । दूसरी बात यह भी है कि योजना-पक्ष में वहाँ 'अयं युक्तः —ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, वैसी होती नहीं । (३) यदि अनर्थभूत बाह्य पदार्थ में आंतराकारता का आरोप किया जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि गृह्यमाण बाह्य पदार्थ में आरोप होता है ? अथवा अगृह्यमाण में ? यदि गृह्यमाण में आरोप अपेक्षित है, तब क्या (१) उसी सविकल्पक ज्ञान के द्वारा ? अथवा (२) उसी समय में उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा गृह्यमाण में ?

सविकल्पक ज्ञान आन्तरिक अर्थभूत स्वलक्षणतत्त्व को विषय ही नहीं करता, अतः उसका आरोप बाह्यार्थ में क्योंकर करेगा ? स्वलक्षणतत्त्व सविकल्पक का विषय नहीं होता, ऐसा श्री धर्मकीर्ति ने कहा है—"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः. कल्पना. तया रहितं प्रत्यक्षम्" ( न्या. विन्दु. पृ. ४७ ) । "तस्य विषयः स्वलक्षणम्" ( न्या. विनु. पृ. ७० ) । अर्थात् अभिलाप ( वाचक शब्द ) का जो अपने वाच्यार्थ के साथ वाच्य-वाचकभावरूप संसर्ग ( सम्बन्ध ) होता है, उस सम्बन्ध के योग्य पदार्थ को विषय करनेवाली प्रतीति को सविकल्प ज्ञान कहते हैं, उससे भिन्न होता है—"निर्विकल्परूप प्रत्यक्ष प्रमाण, स्वलक्षण तत्त्व उसी प्रत्यक्ष का विषय होता है । स्वलक्षणतत्त्व किसी देश या काल से अनुगत न होने के कारण अभिलाप-समय ( 'अस्य शब्दस्यायं वाच्यः'—इस प्रकार के संकेत ) का विषय नहीं होता, जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है—

अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक् ।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ॥ ( प्र. वा. पृ. ३०७ )

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

न च तत्समयभाविना निर्विकल्पकेन गृह्यमाणे बाह्ये विकल्पेनागृहीते तत्र विकल्पः स्वाकारमारोपयितुमर्हति । नहि रजतज्ञानाप्रतिभासिनि पुरोवर्त्तिनि वस्तुनि रजतज्ञानेन शक्यं रजतमारोपयितुम् । अगृह्यमाणे तु बाह्ये स्वाकार इत्येव स्यान्न बाह्य इति । तथा च नारोपणम् । अपि चायं विकल्पः स्वसंवेदनं सन्तं विकल्पं किं वस्तुसन्तं स्वाकारं गृहीत्वा पश्चाद्बाह्यमारोपयत्यथ यदा स्वाकारं गृह्णाति तदैवारोपयति ? न तावत् क्षणिकतया क्रमविरहिणो ज्ञानस्य क्रमवर्त्तिनौ ग्रहणारोपणे कल्पेते । तस्माद्यदेव स्वाकारमनर्थं गृह्णाति तदैवार्थमारोपयतीति वक्तव्यम् ।

न चैतद्युज्यते स्वाकारो हि स्वसंवेदनप्रत्यक्षतयातिविशदो बाह्यं चारोप्यमाणमविशदं सत्ततोऽन्यदेव स्यान्न तु स्वाकारः समारोपितः । न च भेदाग्रहमात्रेण समारोपाभिधानम् , वैशद्यावैशद्यरूपतया भेदग्रहस्योक्तत्वात् । अपि चागृह्यमाणे चेद्बाह्येऽबाह्यात् स्वलक्षणाद् भेदाग्रहणे तदभिमुखी प्रवृत्तिः, हन्त तर्हि त्रैलोक्यत एवानेन न भेदो गृहीत इति यत्र क्वचन प्रवर्तेताविशेषात् । एतेन ज्ञानाकारस्यैवालीक-

भामती–व्याख्या

[ राग-द्वेष, सुख-दुःखादि चैतसिक पदार्थ स्वसंवेद्य होने से अनन्यभाक् हैं अर्थात् उनका शब्दादि के माध्यम से दूसरों को ज्ञान नहीं कराया जा सकता, अतः उनकी प्रतीति अभिजल्पानुषङ्गिणी ( शब्द-संसर्ग-योग्यार्थक ) नहीं, अपितु निर्विकल्पक ( कल्पनापोढात्मक ) प्रत्यक्ष है ] ।

(२) उसी समय उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान से गृहीत और सविकल्प ज्ञान से अगृहीत बाह्य पदार्थ में सविकल्पक ज्ञान अपने आकार का आरोप कर लेता है—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे रजत-ज्ञान के द्वारा अगृहीत शुक्ति-शकल में रजत-ज्ञान रजत का आरोप नहीं करता, वैसे ही सविकल्पक ज्ञान अपने द्वारा अगृहीत बाह्य पदार्थ में अपने घटादि आकार का आरोप नहीं कर सकता, यदि करता है, तब बाह्यरूपता का भान न होकर केवल 'घटः'—इतना ही भान होगा, 'अयं घटः' या 'बहिरेव घटः'—ऐसा भान नहीं होगा, तब आरोप कैसा ? यहाँ यह भी एक जिज्ञासा होती है कि यह सविकल्पक ज्ञान स्वसंवेदनात्मक ( स्वप्रकाश ) है, अपने आकार का स्वयं ग्राहक है, अतः अपने आकार का प्रथम क्षण में ग्रहण कर द्वितीय क्षण में स्वाकार का बाह्यत्वेन आरोप करता है ? अथवा जिस क्षण में स्वकीय आकार का ग्रहण करता है, उसी क्षण में आरोप करता है ? प्रथम कल्प के अनुसार उक्त सविकल्पक में क्षणिकत्व अनुपपन्न हो जाता है, अतः क्षणभावी ज्ञान में यह क्रम सम्भव नहीं कि पहले स्वाकार का ग्रहण करे और पश्चात् आरोप करे । परिशेषतः जिस क्षण में स्वाकार का ग्रहण करता है, उसी क्षण में बाह्यत्वेन आरोप भी करता है—ऐसा ही मानना होगा, किन्तु यह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि स्वकीय आकार तो स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष-सिद्ध होने के कारण अत्यन्त विशद है [ जैनाचार्यों ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण किया है—"प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्" ( न्यायावतार. पृ. ७३ ) ] । बाह्य आरोप्यमाण होने के कारण अविशद होता है, अतः उसे स्वाकार से भिन्न ही मानना होगा । उन दोनों का भेद-ग्रहण नहीं होता, एतावता आरोप्यमाण आकार को स्वकीयाकार नहीं कह सकते, क्योंकि वैशद्य और अवैशद्यरूप से भेद का ग्रहण हो जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि बाह्य पदार्थ में जो पुरुष की प्रवृत्ति होती है, वह स्वलक्षणरूप अर्थ का उक्त अनर्थभूत बाह्य पदार्थ मे भेद-ग्रहण न होने के कारण यदि मानी जाती है, तब तो किसी एक विषय के ज्ञान से त्रिलोकी भर में हो जानी चाहिए, क्योंकि वहाँ स्वलक्षणतत्त्व का भेद कहीं भी गृहीत नहीं । जो लोग (योगाचार) ज्ञान के आकार को पारमार्थिक न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवलं प्रख्यापयेत्। न चायं सादृश्यात्संव्यवहारो युक्तः, तद्भावावगमात्तत्सदृशभावानवगमाच्च। भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि विप्रलम्भसम्भवात्तदेवेदं स्यात्तत्सदृशं वेति सन्देहः। उपलब्धरि तु सन्देहोऽपि न कदाचिद्भवति—स एवाहं स्यां तत्सदृशो वेति, य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षं स एवाहमद्य स्मरामीति निश्चिततद्भावोपलम्भात्। तस्मादप्यनुपपन्नो वैनाशिकसमयः ॥ २५ ॥

## नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः, यतः स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छताम-

भामती

स्यापि बाह्यत्वसमारोपः प्रत्युक्तः। तस्मात्सुष्ठूक्तं ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः प्रख्यापयेदिति। अपि च सादृश्यनिबन्धनः संव्यवहारस्तेनेदं सदृशमित्येवमाकारबुद्धिनिबन्धनो भवेन्न तु तदेवेदमित्याकाबुद्धिनिबन्धन इत्याह ❀ न चायं सादृश्यात् संव्यवहार इति ❀। ननु ज्वालादिषु सादृश्यादसत्यामपि सादृश्यबुद्धौ तद्भावावगमनिबन्धनः संव्यवहारो दृश्यते यथा, तथेहापि भविष्यतीति पूर्वापरितोषेणाह ❀ भवेदपि कदाचिद्बाह्यवस्तुनि इति ❀। तथाहि विविधजनसङ्कीर्णगोपुरेण पुरं निविशमानं नरान्तरेभ्य आत्मनिर्धारणायासधारणं चिह्नं विदधतमुपहसन्ति पाशुपतं पृथग्जना इति ॥ २५ ॥

❀ इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमय इति ❀। अस्थिरात् कार्य्योत्पत्तिमिच्छन्तो वैनाशिका

भामती—व्याख्या

मानकर अनादिवासनोद्भूतविकल्प-कल्पित मानते हैं, उनका भी इसी प्रकार निराकरण हो जाता है, क्योंकि वे भी स्वप्रकाशज्ञानवादी हैं। अतः भाष्यकार ने अत्यन्त उचित ही कहा है—"ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमात्मनः केवलं प्रख्यापयेत्"।

प्रत्यभिज्ञा-विद्वेषी बौद्ध मनीषी 'तदेवेदम्'—इस प्रकार के ज्ञान को प्रवर्तक न मान कर 'तेनेदं सदृशम्'—इस प्रकार के ज्ञान को जो प्रवर्तक मानते हैं, वह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है—"न चायं सादृश्यात् संव्यवहारोयुक्तः, तद्भावावगमात्।" जैसे दीप-शिखा में एक शिखा-खण्ड का दूसरे शिखा-खण्ड से सादृश्यमूलक एकत्व-व्यवहार होने पर सादृश्य का भान नहीं होता, अतः प्रत्यभिज्ञामूलक एकत्व-व्यवहार होता है, वैसे ही विज्ञानक्षणों में एकत्व-व्यवहार क्यों न समझा जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"भवेदपि कदाचित् बाह्यवस्तुनि"। अर्थात् दीप-ज्वालादि बाह्य पदार्थों में कई प्रकार का विप्रलम्भ (बनावट) सम्भव है, अतः वहाँ 'तदेवेदम्? तत्सदृशं वा?' ऐसा सन्देह हो सकता है, किन्तु प्रमाता (आत्मा) के विषय में वैसा कभी सन्देह नहीं हो सकता कि 'स एवाहम्? तत्सदृशो वा?' अपितु निश्चितरूप से यह एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'य एवाहं पूर्वेद्युरद्राक्षम्, स एवाहमद्य स्मरामि। अत एव उस पाशुपताचार्य का लोग उपहास उड़ाया करते हैं, जो कि किसी नगर के भीड़ भरे गोपुर (नगर-द्वार) से नगर में प्रवेश करता हुआ अपने शरीर पर घुँघरु आदि चिह्न इस लिए बाँध लेता है कि शहर की चहल-पहल में मैं कहीं अपने को ही न भूल जाऊँ। लोग उसकी बात सुन कर हँसते हुए यही कहते हैं कि कभी कोई अपने को भी भूलता है? ॥२५॥

[ 'अनन्तरप्रत्यय' की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति ने कहा है—"कारणस्यानन्तरोनिरोधः कार्यस्योत्पत्तिप्रत्ययः, तद्यथा बीजस्यानन्तरो निरोधोऽङ्कुरस्योत्पादप्रत्ययः" (मध्यमक. पृ. २६)। यहाँ बौद्धों ने बीज को अंकुर का कारण न मानकर बीज के निरोध या ध्वंस को कारण माना है। इस असत्कारणवाद का सूत्रकार ने खण्डन किया है—"नासतोऽदृष्टत्वात्"। भाष्यकार ने क्षणभङ्गवाद को ही अर्थापत्ति-प्राप्त असत्कारणवादी मानकर निराकरण इस सूत्र से माना है, मिश्रजी ने उसी की व्याख्या प्रस्तुत की है। कथावत्थु आदि ग्रन्थों से अवगत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावाद्भावोत्पत्तिरित्येतदापद्यते । दर्शयन्ति चाभावाद्भावोत्पत्तिम्—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावाद्' इति । विनष्टाद्धि किल बीजादङ्कुर उत्पद्यते तथा विनष्टात्क्षीराद्दधि, मृत्पिण्डाच्च घटः । कूटस्थाच्चेत्कारणात्कार्यमुत्पद्येताविशेषात्सर्वं सर्वत उत्पद्येत ।

भामती

अर्थादभावादेव भावोत्पत्तिमाहुः । उक्तमेतदधस्तात् । निरपेक्षात् कार्य्योत्पत्तौ पुरुषकर्मवैयर्थ्यम् । सापेक्षतायाञ्च क्षणस्याभेद्यत्वेनोपकृतत्वानुपकृतत्वानुपपत्तेरनुपकारिणि चापेक्षाभावादक्षणिकत्वप्रसङ्गः सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोश्चान्यतरनिषेधस्यान्यतरविधाननान्तरीयकत्वेन प्रकारान्तराभावान्नास्थिराद्भावाद्भावोत्पत्तिरिति क्षणिकपक्षेऽर्थादभावाद्भावोत्पत्तिरिति परिशिष्यत इत्यर्थः । न केवलमर्थादापद्यते दर्शयन्ति च ❀ नानुपमृद्य प्रादुर्भावाद् इति ❀ । एतद्विभजते ❀ विनष्टाद्धि किल इति ❀ । किलकारोऽनिच्छायां, कूटस्थाच्चेत्कारणात् कार्यमुत्पद्येतापि सर्वं सर्वत उत्पद्येत । अयमभिसन्धिः—कूटस्थो हि कार्यजननस्वभावो वा स्यादतत्स्वभावो वा, स चेत्कार्यजननस्वभावस्ततो यावदनेन कार्यं कर्त्तव्यं तावत् सहसैव कुर्यात् , समर्थस्य क्षेपायोगात् । अतत्स्वभावत्वे तु न कदाचिदपि कुर्यात् । यदुच्येत समर्थोऽपि क्रमवत्सहकारिसचिवः क्रमेण कार्याणि करोतीति । तदयुक्तम्, विकल्पासहत्वात् । किमस्य सहकारिणः कञ्चिदुप-

भामती—व्याख्या

होता है कि बौद्धगण अनेक निकायों में विभक्त हो गए थे, उनमें से सम्भवतः कोई मुख्यरूप से भी असत्कारणवादी हो सकता है ]। "इतश्चानुपपन्नो वैनाशिकसमयः" । क्षणविनश्वरवादी बौद्धगण क्षणिक या अस्थिर कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं । अर्थात् यह सिद्ध होता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति उन्हें अभीष्ट है । "इतरेतराश्रयत्वात्" ( ब्र. सू. २।२।१९ ) इस सूत्र में यह कहा जा चुका है कि निरपेक्ष कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने पर पुरुष का अपना पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाता है । क्षणिक पदार्थ को सापेक्ष मानने पर स्थिर मानना होगा, क्योंकि बीजादि को क्षेत्र-सलिलादि-सापेक्ष इसी लिए माना जाता है कि वह बीज जो क्षेत्र-सलिलादि से अनुपकृत होकर अंकुर का जनक नहीं था, वह क्षेत्र-सलिलादि से उपकृत होकर अंकुरादि का जनक होता है— इस प्रकार अनुपकृत और उपकृत अवस्थाओं में अनुस्यूत स्थिर पदार्थ को ही सापेक्ष माना जा सकता है, किन्तु क्षणिक पदार्थ अभेद्य होने से सापेक्ष नहीं माना जा सकता । सापेक्षत्व और अनपेक्षत्व में एक धर्म का निषेध करने पर दूसरे धर्म की विधि अवश्यम्भावी है । इन दोनों प्रकारों से भिन्न कोई तीसरा प्रकार सम्भव नहीं, फलतः क्षणिक या अस्थिर भाव पदार्थ से भाव पदार्थ की उत्पत्ति सम्भव नहीं, परिशेषतः बौद्धों को अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ती है । केवल अर्थापत्ति के द्वारा ही अभाव से भाव की उत्पत्ति प्राप्त नहीं होती, अपितु बौद्धों की स्वीकारोक्ति भी है—"नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ।" इस उक्ति की व्याख्या की जा रही है—"विनष्टाद्धि किल" । 'किल' शब्द से अनिच्छा ध्वनित की गई है । अर्थात् इच्छा न रहने पर भी यह मानना पड़ता है कि विनष्ट बीज से अंकुर का जन्म देखा जाता है । "कूटस्थाच्चेत् कारणात् कार्यमुत्पद्येताविशेषात् सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत"—इस भाष्य का सारांश यह है कि कूटस्थ पदार्थ को कार्य-जननस्वभाववाला माना जाता है ? अथवा उसके विपरीत स्वभाववाला ? प्रथम कल्प के अनुसार कूटस्थपदार्थ में अपने समस्त समुत्पाद्य कार्यों की एक साथ उत्पादकता प्रसक्त होती है, क्योंकि समर्थ पदार्थ के सामर्थ्य का विलम्बन या अवरोध नहीं किया जा सकता । यदि कूटस्थ का कार्य-जनन स्वभाव नहीं माना जाता, तब उससे कभी भी कार्य नहीं होना चाहिए । 'कूटस्थ पदार्थ समर्थ होने पर भी सहकारी सामग्री की उपस्थिति के क्रम से कार्य का क्रमशः समुत्पादन करता है, युगपद् नहीं'—ऐसा कहने पर जिज्ञासा होती है कि क्या सहकारी सामग्री कूटस्थ तत्त्व पर किसी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मादभावग्रस्तेभ्यो बीजादिभ्योऽङ्कुरादीनामुत्पद्यमानत्वादभावाद्भावोत्पत्तिरिति मन्यन्ते। तत्रेदमुच्यते—'नासतोऽदृष्टत्वाद्' इति। नाभावाद्भाव उत्पद्यते। यद्यभावाद्भाव उत्पद्येताभावत्वाविशेषात्कारणविशेषाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्। नहि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनां च निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायते क्षीरादेव दधीत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात्। निर्विशेषस्य त्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्। न चैवं दृश्यते। यदि पुनरभावस्यापि विशेषोऽभ्युपगम्येतोत्पलादीनामिव नीलत्वादिस्ततो विशेषवत्त्वादेवाभावस्य भावत्वमुत्पलादिवत्प्रसज्येत। नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः स्याद्, अभावत्वादेव, शशविषाणादिवत्।

भामती

कारमादधति, न वा? अनाधानेऽनुपकारितया सहकारिणो नापेक्षेरन्। आधानेऽपि भिन्नमभिन्नं वोपकारमादध्युः। अभेदे तदेवाभिहितमिति कौटस्थ्यं व्याहन्येत। भेदे तूपकारस्य तस्मिन् सति कार्यस्य भावादसति चाभावात्सत्यपि कूटस्थे कार्यानुत्पादादन्वयव्यतिरेकाभ्यामुपकार एव कार्यकारी, न भाव इति नार्थक्रियाकारी भावः। तदुक्तम्—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥ इति।

तथा चाकिञ्चित्करादपि चेत् कूटस्थात् कार्यं जायेत सर्वं सर्वस्माज्जायेतेति सूक्तम्। उपसंहरति ॐ तस्मादभावग्रस्तेभ्य इति ॐ। ॐ तत्रेदमुच्यते ॐ। ॐ नासतोऽदृष्टत्वाद् इति ॐ। नाभावात् कार्योत्पत्तिः, कस्मात्? अदृष्टत्वात्। नहि शशविषाणावङ्कुरादीनां कार्याणामुत्पत्तिर्दृश्यते। यदि त्वभावाद्भावोत्पत्तिः स्यात्ततोऽभावत्वाविशेषात् शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरोत्पत्तिः। नह्यभावो विशिष्यते। विशेषणयोगे वा सोऽपि भावः स्यान्न निरुपाख्य इत्यर्थः। विशेषणयोगमभावस्याभ्युपेत्याह ॐ नाप्यभावः

भामती—व्याख्या

प्रकार का उपकाराधान करती है? अथवा नहीं? यदि नहीं, तब सहकारी सामग्री की अपेक्षा ही क्यों की जाती है? उपकाराधान-पक्ष में वह उपकार कूटस्थ से भिन्न होता है? अथवा अभिन्न? अभेद-पक्ष में कूटस्थ की कूटस्थता समाप्त हो जाती है, क्योंकि विकारात्मक (सहकारि-जन्य) उपकार से अभिन्न होकर कूटस्थ भी विकारी हो जाता है। उपकार को कूटस्थ से भिन्न मानने पर उपकार पदार्थ में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अर्थक्रिया-कारित्व होने पर भी कूटस्थ में अर्थक्रिया-कारित्व न होने से असत्त्व प्रसक्त होता है, जैसा कि कहा है—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नः चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥

[ वर्षा और आतप ( धूप ) से चर्म ( चमड़ा ) ही प्रभावित होता है, आकाश नहीं। कूटस्थतत्त्व यदि चर्म के समान सहायक सामग्री से उपकृत होता है, तब अनित्य हो जायगा और यदि आकाश के समान असङ्ग है, तब असत्फलक ( अर्थक्रियाकारी नहीं ) होता है ]। यदि असत्फलक कूटस्थतत्त्व से भी कोई कार्य उसका होता है, तब सब पदार्थों से सभी कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी। प्रकरण का उपसंहार करते हैं—"तस्मादभावग्रस्तेभ्यः"। "तत्रेदमुच्यते—नासतोऽनुत्पादात्"। अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि लोक में शशविषाणादि असत्पदार्थों से कोई कार्य होता नहीं देखा जाता। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती, तब शशविषाणादि से भी अङ्कुरादि की उत्पत्ति होनी चाहिए। अभाव पदार्थ में असत् से कोई विशेषता नहीं, यदि कुछ विशेषता मानी जाती है, तब वह भी भाव पदार्थ

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभावाच्च भावोत्पत्तावभावान्वितमेव सर्वं कार्यं स्यात्। नचैवं दृश्यते, सर्वस्य च वस्तुनः स्वेन स्वेन रूपेण भावात्मनैवोपलभ्यमानत्वात्। नच मृदन्विताः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान् भावांल्लोकः प्रत्येति। यत्तूक्तं-स्वरूपोपमर्दमन्तरेण कस्यचित्कूटस्थस्य वस्तुनः कारणत्वानुपपत्तेरभावाद्भावोत्पत्तिर्भवितुमर्हतीति-तदुदुरुक्तम्, स्थिरस्वभावानामेव सुवर्णादीनां प्रत्यभिज्ञायमानानां रुचकादिकार्यकारणभावदर्शनात्। येष्वपि बीजादिषु स्वरूपोपमर्दो लक्ष्यते तेष्वपि नाऽसावुपमृद्यमाना पूर्वावस्थोत्तरावस्थायाः कारणमभ्युपगम्यते, अनुपमृद्यमानानामेवानुयायिनां बीजाद्यवयवानामङ्कुरादिकारणभावाभ्युपगमात्।

भामती

कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः इति ॐ। अपि च यद्येनानन्वितं न तत्तस्य विकारः, यथा घटशरावोदञ्चनादयो हेम्नानन्विता न हेमविकाराः, अनन्विताश्चैते विकारा अभावेन। तस्मान्नाभावविकाराः, भावविकारास्तु ते, भावस्य तेनान्वितत्वादित्याह ॐ अभावाच्च भावोत्पत्तौ इति ॐ। अभावकारणवादिनो वचनमनुभाष्य दूषयति ॐ यत्तूक्तम् इति ॐ। स्थिरोऽपि भावः क्रमवत्सहकारिसमवधानात् क्रमेण कार्याणि करोति, न चानुपकारकाः सहकारिणः, स चास्य सहकारिभिराधीयमान उपकारो न भिन्नो नाप्यभिन्नः किन्त्वनिर्वाच्य एवानिर्वाच्याच्च कार्यमप्यनिर्वाच्यमेव जायते। न चैतावता स्थिरस्याकारणत्वं तदुपादानत्वात् कार्यस्य रज्जूपादानत्वमिव भुजङ्गस्येत्युक्तम्। तथा च श्रुतिः 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति। अपि च येऽपि सर्वतो विलक्षणानि स्वलक्षणानि वस्तुसन्त्यास्थिषत, तेषामपि किमिति बीजजातीयेभ्योऽङ्कुरजातीयान्येव

भामती-व्याख्या

ही हो जाता है, निरुपाख्य या अलीक नहीं रह जाता। अभाव में विशेषता मानकर भी व्याप्ति के बल पर हेतुत्व का निषेध करते हैं—"नाप्यभावः कस्यचिदुत्पत्तिहेतुः"।

दूसरी बात यह भी है कि जो पदार्थ जिस उपादान से अनन्वित होते हैं, वे उसके विकार नहीं माने जाते, जैसे सुवर्णरूपता से अनन्वित होने के कारण घटादि सुवर्ण के विकार नहीं माने जाते। वैसे ही कोई भी कार्य अभावरूपता से अन्वित नहीं, अतः अभाव का विकार नहीं हो सकता। हाँ, सभी कार्य भाव के विकार हैं, क्योंकि भावरूपता से वे सभी अन्वित हैं, ऐसा कहा जा रहा है—"अभावाच्च भावोत्पत्तौ"। अभाव-कारणवादी के कथन का अनुवाद करके निरास किया जाता है—"यत्तूक्तम्"। स्थिरस्वभाववाले भी सुवर्णादि अपनी सहायक सामग्री के समवधान-क्रम से क्रमिक कार्यों को जन्म देते हैं। सहकारी कारण अनुपकारक है—यह बात भी नहीं। हाँ, सहकारी सामग्री के द्वारा आहित उपकार न तो भिन्न होता है और न अभिन्न, अपि तु अनिर्वचनीय, अनिर्वचनीय कारण से कार्य भी अनिर्वचनीय ही होता है। इतने मात्र से स्थिर पदार्थ कारण नहीं होता—यह बात नहीं, अपि तु कार्य का वैसे ही उपादान कारण होता है, जैसे सर्पादि की रज्जु उपादान कारण होती है, जैसा कि श्रुति कहती है—"मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छां. ६।१।१)।

केवल वेदान्तियों को ही काल्पनिक कार्य-कारणभाव नहीं मानना पड़ता अपि तु बौद्धों को भी वैसा ही मानना पड़ता है, क्योंकि सर्वतः विलक्षण एवं वस्तुसत् स्वलक्षण तत्त्व को जो माना जाता है, वह क्षणिक होने के कारण अङ्कुरक्षण का कारण नहीं हो सकता, अपि तु स्वलक्षणभूत बीज की सन्तति से अङ्कुरत्वरूप सामान्य या सन्तति का जन्म माना जाता है। बीजत्व और अङ्कुरत्वरूप सामान्य या सन्तान को परमार्थसत् नहीं माना जाता। जैसे विसभाग (विलक्षण या विजातीय) सन्तान में क्षणों का वैलक्षण्य होता है, वैसा ही समान (सदृश) सन्तान में भी, तब बीजजातीय क्षण अङ्कुरजातीय का ही क्यों उत्पादक है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्मादसद्ध्रुवः शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्सद्ध्रुवश्च सुवर्णादिभ्यः सदुत्पत्तिदर्शनादनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः। अपि च चतुर्भिश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते, परमाणुभ्यश्च भूतभौतिकलक्षणः समुदाय उत्पद्यत इत्यभ्युपगम्य पुनरभावाद्भावोत्पत्ति कूल्पयद्भिरभ्युपगतमपह्नवानैर्वैनाशिकैः सर्वो लोक आकुलीक्रियते ॥२६।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

यदि चाभावाद्भावोत्पत्तिरभ्युपगम्येत, एवं सत्युदासीनानामनीहमानानामपि जनानामभिमतसिद्धिः स्याद्, अभावस्य सुलभत्वात्। कृषीवलस्य क्षेत्रकर्मण्यप्रयतमानस्यापि सस्यनिष्पत्तिः स्यात्। कुलालस्य च मृत्संस्क्रियायामप्रयतमानस्याप्यमत्रोत्पत्तिः। तन्तुवायस्यापि तन्तूनतन्वानस्यापि तन्वानस्येव वस्त्रलाभः। स्वर्गापवर्गयोश्च न कश्चित्कथंचित्समीहेत। न चैतद्युज्यतेऽभ्युपगम्यते वा केनचित्। तस्मादप्यनुपपन्नोऽयमभावाद्भावोत्पत्त्यभ्युपगमः ॥ २७ ॥

( ५ अभावाधिकरणम् । सू० २८--३० )

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य समुदायाप्राप्त्यादिषु दूषणेषूद्भावितेषु विज्ञानवादी

भामती

जायन्ते कार्याणि, न तु क्रमेलकजातीयानि। नहि बीजाद्बीजान्तरस्य वा क्रमेलकस्य वात्यन्तवैलक्षण्ये कश्चिद्विशेषः। न च बीजाङ्कुरत्वे सामान्ये परमार्थसती येनैतयोर्भाविकः कार्यकारणभावो भवेत्। तस्मात्काल्पनिकादेव स्वलक्षणोपादानाद्बीजजातीयात्तथाविधस्यैवाङ्कुरजातीयस्योत्पत्तिनियम आस्थेयः। अन्यथा कार्यहेतुकानुमानोच्छेदप्रसङ्गः। दिङ्मात्रमत्र सूचितं प्रपञ्चस्तु ब्रह्मतत्त्वसमीक्षान्यायकणिकयोः कृत इति नेह प्रतन्यते विस्तरभयात् ॥ २६ ॥ भाष्यमस्य सुगमम् ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणसङ्गतिमाह ॐ एवम् इति ॐ। बाह्यार्थवादिभ्यो विज्ञानमात्रवादिनां सुगताभि-

भामती—व्याख्या

क्रमेलक ( उष्ट्र ) जातीय का क्यों नहीं ? अतः काल्पनिक स्वलक्षणरूप उपादान कारण से वैसे ही अङ्कुरजातीय कार्य का जन्म माना जाता है, अन्यथा कार्यहेतुक अनुमान का उच्छेद हो जायगा। इस विषय का यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, विस्तार न्यायकणिका पृ० ११७-१६० पर देखा जा सकता है ॥ २६ ॥

यदि अभाव से ही भावकार्यों की सिद्धि हो जाती है, तब जो किसी कार्य की सिद्धि में प्रवृत्त ही नहीं होते, ऐसे उदासीन ( निष्काम और निष्क्रिय ) व्यक्तियों को भी सर्वार्थ की सिद्धि हो जानी चाहिए, क्योंकि अभावमात्र तो उनको भी सुलभ है —"उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः स्याद्" ॥ २७ ॥

विषय—निरालम्बन एवं साकार विज्ञानवाद का निरास।

सन्देह—साकार विज्ञानवाद समन्वय ( निराकार ब्रह्मवाद ) का विरोधी है? अथवा नहीं ?

संगति—सर्वास्तिवाद-सम्मत बाह्य पदार्थों को लक्ष्य करके 'समुदायाप्राप्तिः—इत्यादि दोषों का उद्भावन किया गया, अब विज्ञानवादी बौद्ध ( योगाचार ) पूर्वपक्ष के रूप में अपना मत प्रस्तुत करता है—"एवं बाह्यार्थवादमाश्रित्य"।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध इदानीं प्रत्यवतिष्ठते । केषांचित्किल विनेयानां बाह्ये वस्तुन्यभिनिवेशमालक्ष्य तदनुरोधेन बाह्यार्थवादप्रक्रियेयं विरचिता । नासौ सुगताभिप्रायः, तस्य तु विज्ञानैकस्कन्धवाद एवाभिप्रेतः । तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेणान्तस्थ एव प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः सर्व उपपद्यते । सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्ध्यारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यव-

भामती

प्रेततया विशेषमाह ❀ केषाञ्चित् किल इति ❀ । अथ प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति हि चतसृषु विद्यासु तत्त्वपरिसमाप्तिः, आसामान्यतमाभावेऽपि तत्त्वस्याव्यवस्थानात् । तस्मादनेन विज्ञानस्कन्धमात्रं तत्त्वं व्यवस्थापयता चतस्रो विद्या एषितव्यास्तथा च न विज्ञानस्कन्धमात्रं तत्त्वं, नह्यस्ति सम्भवो विज्ञानमात्रं चतस्रो विद्याश्चेत्यत आह ❀ तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेण इति ❀ । यद्यप्यनुभवान्नान्योऽनुभाव्योऽनुभवितानुभवनं तथापि बुद्ध्यारूढेन बुद्धिपरिकल्पितेनान्तस्थ एवैष प्रमाणप्रमेयफलव्यवहारः प्रमातृव्यवहारश्चेत्यपि द्रष्टव्यं न पारमार्थिक इत्यर्थः । एवञ्च न सिद्धसाधनम्, नहि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति, किन्त्वनिर्वचनीय नीलादीति । तथाहि—स्वरूपं विज्ञानस्यासत्याकारयुक्तं प्रमेयम् । प्रमेयप्रकाशनं प्रमाणफलं, तत्प्रकाशनशक्तिः प्रमाणम् । बाह्यवादिनोरपि वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः काल्पनिक एव प्रमाणफलव्यवहारोऽभिमत इत्याह ❀ सत्यपि बाह्येऽर्थे इति ❀ । भिन्ना-

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—विज्ञानमात्रवादी का कहना है कि भगवान् बुद्ध ने अपने कतिपय शिष्यों का बाह्यार्थ में अभिनिवेश ( विशेष आग्रह ) देख कर उनके अनुरूप बाह्यार्थवाद की प्रक्रिया गढ़ी थी, वस्तुतः वह उन्हें अभिप्रेत नहीं थी—"केषांचित् किल विनेयानाम्" । आशय यह है कि न्यायभाष्यकार ने जो कहा है—"अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता, प्रमेयं, प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति, कस्मात् ? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते" ( न्या. भाष्य. पृ. २ ) । जो एकमात्र विज्ञानस्कन्ध को ही तत्त्व मानता है, उसको भी प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति—इन चारों विधाओं को व्यवस्थित करना होगा । किन्तु विज्ञानमात्रवाद में कथित चारों विधाओं की उपपत्ति क्योंकर होगी ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तस्मिंश्च विज्ञानवादे बुद्ध्यारूढेन रूपेण" । अर्थात् यद्यपि अनुभव ( विज्ञान ) से भिन्न न तो कोई अनुभाव्य ( अनुभव का विषय ) है, न अनुभविता ( अनुभव-कर्त्ता ) है और न अनुभवन क्रिया है । तथापि बुद्धि में समारूढ अनादि वासना-परिकल्पित प्रमाण, प्रमेय और फल ( प्रमिति ) आदि का व्यवहार आन्तरिक ही है । केवल इतना ही नहीं, प्रमातृव्यवहार भी कल्पितमात्र है, पारमार्थिक नहीं, जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं—

नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति तस्य नानुभवोऽपरः ।
तस्यापि तुल्यचोद्यत्वात्स्वयं सैव प्रकाशते ॥
नीलादिरूपस्तस्यासौ स्वभावोऽनुभवश्च सः ।
नीलाद्यनुभवात् ख्यातः स्वरूपानुभवोऽपि सन् ॥ ( प्र. वा. पृ. ३५३ )

'बाह्यनीलादिकं कल्पितम्, विज्ञानातिरिक्तानुपलब्धेः' ऐसा अनुमान करने पर ब्रह्मवाद में सिद्धसाधनता है, क्योंकि ब्रह्मवाद में भी ब्रह्मरूप विज्ञान से अतिरिक्त बाह्य प्रपञ्च की सत्ता नहीं मानी जाती, किन्तु 'विज्ञानं नीलाद्याकारकम्, तद्भेदरहितप्रतिभासत्वात्'—ऐसे अनुमान में सिद्धसाधनता नहीं, क्योंकि ब्रह्मवादी विज्ञान को नीलाद्याकारवाला नहीं मानते, किन्तु नीलादि को अनिर्वचनीय मानते हैं । योगाचार तो प्रमेयादि को विज्ञान का ही आकार मानते हैं—(१) घटादिरूप सत्य आकार से युक्त विज्ञानस्वरूप प्रमेय है । (२) प्रमेय का प्रकाशन प्रमाण का फल ( प्रमा ) है । (३) प्रमेय-प्रकाशन की शक्ति प्रमाण है । बाह्यार्थवादी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

धिकरणत्वे हि प्रमाणफलयोस्तद्भावो न स्यात्। नहि खदिरगोचरे परशौ पलाशे द्वैधीभावो भवति। तस्मादनयोरैकाधिकरण्यं वक्तव्यम्। कथञ्च तद्भवति ? यदि ज्ञानस्थे एव प्रमाणफले भवतः। न च ज्ञानं स्वलक्षणमनंशमंशाभ्यां वस्तुसद्भ्यां युज्यते, तदेव ज्ञानमज्ञानव्यावृत्तिकल्पितज्ञानत्वांशं फलम्। अशक्तिव्यावृत्तिपरिकल्पितात्मानात्मप्रकाशनशक्त्यंशं प्रमाणम्। प्रमेयं त्वस्य बाह्यमेव। एवं सौत्रान्तिकसमयेऽपि। ज्ञानस्यार्थसारूप्यमनीलाकारव्यावृत्त्या कल्पितनीलाकारत्वं प्रमाणं व्यवस्थापनहेतुत्वात्। अज्ञानव्यावृत्तिकल्पितञ्च ज्ञानत्वं फलं व्यवस्थाप्यत्वात्। तथा चाहुः—"नहि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, यस्याः सर्वत्राविशेषात्। तान्तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत्तद् घटयेत्।" प्रश्नपूर्वकं बाह्यार्थाभाव उपपत्तीराह

भामती—व्याख्या

वैभाषिक और सौत्रान्तिक प्रमाण-फल-व्यवहार को काल्पनिक मानते हैं—"सत्यपि बाह्येऽर्थे बुद्धचारोहमन्तरेण प्रमाणादिव्यवहारानवतारात्"। प्रमाण ( प्रमा का करण ) फल ( प्रमारूप कार्य ) इन दोनों की सामानाधिकरणता अनिवार्य है, अन्यथा उनमें प्रामाणफलभाव ही नहीं बनेगा, क्योंकि खदिर ( खैर ) की लकड़ी पर कुठार का प्रहार हो और दो टुकड़े हों पलाश के—ऐसा सम्भव नहीं, अपितु कुठार का आघात जहाँ होगा, वहाँ ही द्वैधीभाव होगा, अतः करण और कार्य का सामानाधिकरण्य बनाए रखना आवश्यक है। प्रमा के करण ( प्रमाण ) और प्रमारूप कार्य ( फल ) का सामानाधिकरण्य कैसे बनेगा ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही है कि यदि दोनों ज्ञानरूप एक अधिकरण में अवस्थित हों किन्तु [ जैसे ब्रह्म निर्धर्मक है, अतः सत्यत्व और ज्ञानत्वादि धर्मों का आधार नहीं हो सकता, अतः मिथ्यात्वाभावरूपेण सत्यत्व और जडत्वाभावरूपेण ज्ञानत्व का समन्वय किया जाता है, वैसे ही] स्वलक्षणरूप ज्ञानक्षण निरंश (निरवयव) होने से प्रमाण और फलरूप पारमार्थिक अंशों से सम्बन्धित नहीं हो सकता, अतः अज्ञान-भिन्नत्वरूपेण ज्ञानत्वरूप फल और अशक्ति-व्यावृत्तिरूपेण स्वपर-प्रकाशन-शक्तिरूप प्रमाणत्व का सामञ्जस्य किया जाता है। प्रमेय तो बाह्यत्वेन कल्पित ज्ञान का अपना सत्य आकार ही है [ ज्ञानाकार की सत्यता के विषय में ज्ञानश्री ने अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

"सत्याकारमते युक्ता शक्तियोगादिसंस्थितिः।
निराकारमते त्वन्तःसंक्लेशव्यवदानयोः॥

इति महदन्तरम्। आकारस्य चावस्तुत्वे न कश्चिद् विशेषो जलज्वलनमनसोरिति जलानुभवादपि ज्वलनविकल्पप्रसङ्गः" ( ज्ञानश्री. पृ. ४०८ ]।

इसी प्रकार बाह्यार्थानुमेयवादी सौत्रान्तिक के मत में भी अनीलाकार-व्यावृत्ति के द्वारा कल्पित ज्ञानगत नीलाकारत्वरूप अर्थ-सारूप्य प्रमाण इसलिए कहलाता है कि वह व्यवस्थापक है और अज्ञान-व्यावृत्ति के द्वारा कल्पित ज्ञानत्व को फल कहते हैं, क्योंकि वह व्यवस्थाप्य है, जैसा कि स्वयं सौत्रान्तिकों का कहना है—"नहि वित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् तद् घटयेत्"। [ अर्थात् वित्ति (ज्ञान) के अस्तित्वमात्र से बाह्यार्थ की वेदना ( अनुमिति ) नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान तो समस्त ज्ञेय-साधारण है, किसी विशेष विषय का साधक क्योंकर होगा ? ताम् ( वित्ति या ज्ञान में ) बाह्य विषय का सारूप्य प्रविष्ट होकर ज्ञान को सरूप ( विषयाकार ) बनाकर ज्ञानविशेष के साथ विषयविशेष की घटना ( व्याप्तिरूप सम्बन्ध की स्थापना ) करता है। प्रकरणपञ्चिकाकार ने भी उक्त वचन को उद्धृत करते हुए निचोड़ निकाला है—"अत एव अर्थसारूप्यमेव प्रमाणमिति युक्तम्, व्यवस्थापकतया हि प्रमाणानां प्रमाणत्वम्। अर्थसारूप्यं च

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहारानवतारात्। कथं पुनरवगम्यतेऽन्तस्थ एवायं सर्वव्यवहारो न विज्ञानव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थोऽस्तीति ? तदसंभवादित्याह। स हि बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यमानः परमाणवो वा स्युस्तत्समूहा वा स्तम्भादयः स्युः। तत्र न तावत्परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति, परमाण्वाभासज्ञानानुपपत्तेः। नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः,

भामती

@ कथं पुनरवगम्यते इति @। स हि विज्ञानालम्बनत्वाभिमतो बाह्योऽर्थः परमाणुस्तावन्न सम्भवति। एकस्थूलनीलाभासं हि ज्ञानं, न परमसूक्ष्मपरमाण्वाभासम्। न चान्याभासमन्यगोचरं भवितुमर्हति। अतिप्रसङ्गेन सर्वगोचरतया सर्वसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। न च प्रतिभासधर्मः स्थौल्यमिति युक्तम्, विकल्पासहत्वात्। किमयं प्रतिभासस्य ज्ञानस्य धर्मः, उत प्रतिभासनकालेऽर्थस्य धर्मः ? यदि पूर्वः कल्पोऽद्धा, तथा सति हि स्वांशालम्बनमेव विज्ञानमभ्युपेतं भवति। एवं च कः प्रतिकूलीभवति अनुकूलमाचरति ? द्वितीय इति चेत्, तथा हि रूपपरिमाणव एव निरन्तरमुत्पन्ना एकविज्ञानोपारोहिणः स्थौल्यम्। न चात्र कस्यचिद् भ्रान्तता। नहि न ते रूपपरमाणवः, न च न निरन्तरमुत्पन्नाः, न चैकविज्ञानानुपारोहिणः। तेन मा भून्नीलत्वादिवत् परमाणुधर्मः, प्रत्येकं परमाणुष्वभावात्। प्रतिभासवशापन्नानां तु तेषां भविष्यति बहुत्वादिवत्सांवृतं स्थौल्यम्। यथाहुः—

ग्रहेऽनेकस्य चैकेन किञ्चिद्रूपं हि गृह्यते।
सांवृतं प्रतिभासस्थं तदेकात्मन्यसम्भवात् ॥ १ ॥

भामती—व्याख्या

व्यवस्थाहेतुः, न चक्षुरादिकम्, तस्यानेकार्थसाधारणत्वात्" ( प्र. पं. पृ. १७४ )]।

बाह्य अर्थ के अभाव में प्रश्नपूर्वक उपपत्तियों का प्रदर्शन किया जाता है—"कथं पुनरवगम्यते" ) अर्थात् वह विज्ञान-बिषयत्वेन अभिमत बाह्य अर्थ परमाणुरूप नहीं हो सकता. क्योंकि परमाणु अनेक एवं सूक्ष्म हैं, किन्तु ज्ञान में एक नीलादिरूप स्थूल विषय का अवभास होता है। अन्यार्थ का भासक ज्ञान अन्यार्थविषयक हो—ऐसा सम्भव नहीं, अन्यथा जलावभासी ज्ञान भी ज्वलनादि विषयक हो जायगा, एक विषय के ज्ञानमात्र से व्यक्ति सर्वज्ञ बन जायगा। यदि कहा जाय कि एकत्व और स्थूलत्व प्रतिभास के धर्म हैं, तब जिज्ञासा होती है कि स्थूलत्वादि क्या प्रतिभासरूप ज्ञान का धर्म है ? अथवा प्रतिभासन के समय अर्थ का धर्म ? प्रथम कल्प के अनुसार ज्ञान अपने ही अंश ( आकार ) का ग्राहक सिद्ध होता है, ऐसा मानने से क्या लाभ ? न तो अन्य किसी के पक्ष का प्रतिकूलत्व ( निराकरण ) होता है और न अपने पक्ष की अनुकूलता ( सिद्धि )।

शङ्का—द्वितीय विकल्प के अनुसार प्रतिभासकालीन बाह्यार्थ का स्थूलत्वादि धर्म है, क्योंकि रूप के अनेक परमाणु निरन्तर उत्पन्न एवं एक ज्ञान के विषय होकर स्थूलत्व के आश्रय हो जाते हैं। वहाँ भ्रान्ति किसी भी अंश में नहीं, क्योंकि वे रूपीय परमाणु नहीं—यह बात भी नहीं, वे निरन्तरोत्पन्न नहीं –यह बात भी नहीं और वे एक विज्ञान के विषय नहीं–यह बात भी नहीं। अतः नीलत्वादि के समान स्थूलत्व भी परमाणु का अनौपाधिक धर्म न सही, क्योंकि प्रत्येक परमाणु में उसका अभाव है। किन्तु प्रतिभास-दशापन्न निरन्तरोत्पन्न अनेक परमाणुओं में बहुत्व के समान स्थूलत्व भी सांवृतिक ( प्रतिभासरूप संवृति या उपाधि से प्रयुक्त औपाधिक ) धर्म अवश्य हो सकता है, जैसा कि कहा है—

ग्रहेऽनेकस्य चैकेन किंचिद्रूपं हि गृह्यते।
सांवृतं प्रतिभासस्थं तदेकात्मन्यसम्भवात् ॥ १ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेषां परमाणुभ्योऽन्यत्वानन्यत्वाभ्यां निरूपयितुमशक्यत्वात्। एवं जात्यादीनपि प्रत्याचक्षीत।

भामती

न च तद्दर्शनं भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद्यतः।
सांवृतं ग्रहणं नान्यन्न च वस्तुग्रहो भ्रमः॥ २॥ इति।

तन्न, नैरन्तर्य्याभासस्य भ्रान्तत्वात्। गन्धरसस्पर्शपरमाण्वन्तरिता हि ते रूपपरमाणवो न निरन्तराः। तस्मादारात् सान्तरेषु वृक्षेष्वेकघनवनप्रत्ययवदेष स्थूलप्रत्ययः परमाणुषु सान्तरेषु भ्रान्त एवेति पश्यामः। तस्मात् कल्पनापोढत्वेऽपि भ्रान्तत्वाद् घटादिप्रत्ययस्य पीतशङ्खादिज्ञानवन्न प्रत्यक्षता परमाणुगोचरत्वाभ्युपगमे। तदिदमुक्तं ॐ न तावत्परमाणव. स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्तिॐ। ॐनापि तत्समूहास्तम्भादयःॐ अवयविनः। तेषामभेदे परमाणुभ्यः परमाणव इति। तत्र चोक्तं दूषणम्। भेदे तु गवाश्वस्येवात्यन्तवैलक्षण्यमिति न तादात्म्यम्। समवायश्च निराकृत इति। एवं भेदाभेदविकल्पेन जातिगुणकर्मादीनपि प्रत्याचक्षीत, तस्माद्यद्यत्प्रतिभासते तस्य सर्वस्य विचारासहत्वाद्, अप्रतिभासमान-

भामती—व्याख्या

न च तद्दर्शन भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद् यतः।
सांवृतं ग्रहणं नान्यन्न च वस्तुग्रहो भ्रमः॥ २॥

[ एक ज्ञान के द्वारा गृहीत परमाणु-पुञ्ज मे जो स्थूलभाव अवभासित होता है, वह सांवृतिक है ( पुञ्जीभूत परमाणुओं की सूक्ष्म-रूपता का संवरण या आच्छादन करनेवाली बुद्धि का नाम संवृति है, उस से अवभासित स्थूलता सांवृत है )। उक्त स्थूलता को सांवृत ( आरोपित ) इस लिए कहा जाता है कि प्रत्येक परमाणु में उस का अभाव है। फिर भी उस स्थूलावभासिनी बुद्धि को भ्रमरूप इस लिए नहीं कहा जा सकता कि गृहीत परमाणुगत बहुत्व से स्थूलता को अन्य ( भिन्न ) नहीं माना जाता, अतः वह पुरःस्थित वस्तु का ही अवभासन है, अवस्तु का नहीं ]।

**समाधान**—सौत्रान्तिक की ओर से उठाई कई उक्त शङ्का का निराकरण करता हुआ विज्ञानवादी कहता है कि उक्त स्थूलावभास निश्चित रूप से भ्रम है, क्योंकि सान्तर परमाणुओं में निरन्तरता का ग्रहण मिथ्यावभास है, यथार्थ नहीं। आशय यह है कि गुण-समूहात्मक द्रव्य में यद्यपि रूप के परमाणुओं के आस-पास गन्ध, रस और स्पर्श के परमाणु भी होते हैं, उनसे अन्तरित होने के कारण रूप के परमाणु निरन्तर नहीं होते। तथापि जैसे सान्तर वृक्षावली दूर से देखने पर निरन्तर सघन वन के रूप में प्रतीत होती है, वैसे ही रूप के सान्तर परमाणुओं में निरन्तरता की प्रतीति भ्रमात्मक ही है। अतः घटादि के प्रत्यक्ष को यदि परमाणुविषयक माना जाता है, तब कल्पनापोढ ( नामादि कल्पनाओं से रहित ) होने पर भी 'पीतः शङ्खः' के सामान भ्रमरूप ही सिद्ध होता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"न तावत् परमाणवः स्तम्भादिप्रत्ययपरिच्छेद्या भवितुमर्हन्ति, नापि तत्समूहाः स्तम्भादयः"। स्तम्भादिरूप अवयवी यदि परमाणुओं से अभिन्न हैं, तब तो परमाणु रूप ही हैं—इस पक्ष में तो दोष दिखाया जा चुका है। यदि स्तम्भादि का परमाणुओं से भेद है, तब गो और अश्व के समान अत्यन्त वैलक्षण्य होने से उनका तादात्म्य सम्भव नहीं, समवाय निराकृत हो जा चुका है, फलतः उनका उपादानोपादेयभाव क्योंकर होगा ? इसी प्रकार भेद और अभेद का विकल्प उठा कर जाति, गुण एवं कर्मादि का भी प्रत्याख्यान कर देना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि जो-जो पदार्थ प्रतिभासित होता है, वह विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता और अज्ञात पदार्थ के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं, अतः सभी प्रतीतियाँ बाह्यालम्बन-रहित हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि चानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य जायमानस्य योऽयं प्रतिविषयं पक्षपातः स्तम्भज्ञानं कुड्यज्ञानं पटज्ञानमिति, नासौ ज्ञानगतविशेषमन्तरेणोपपद्यत इत्यवश्यं विषयसारूप्यं ज्ञानस्याङ्गीकर्तव्यम्। अङ्गीकृते च तस्मिन्विषयाकारस्य ज्ञानेनैवावरुद्धत्वादपार्थिका बाह्यार्थसद्भावकल्पना। अपि च सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञा-

भामती

सद्भावे च प्रमाणाभावान्न बाह्यालम्बनाः प्रत्यया इति। अपि च न तावद्विज्ञानमिन्द्रियवन्निलीनमर्थं प्रत्यक्षयितुमर्हति। नहि यथेन्द्रियमर्थविषयं ज्ञानं जनयत्येवं विज्ञानमपरं विज्ञानं जनयितुमर्हति। तत्रापि समानत्वादनुयोगस्यानवस्थाप्रसङ्गात्। न चार्थाधारं प्राकट्यलक्षणं फलमाधातुमुत्सहते, अतीतानागतेषु तदसम्भवात्। नह्यस्ति सम्भवोऽप्रत्युत्पन्नो धर्मी धर्मश्चास्य प्रत्युत्पन्न इति। तस्माज्ज्ञानस्वरूपप्रत्यक्षतैवार्थप्रत्यक्षताऽभ्युपेया। तच्चानाकारं सद् आजानतो भेदाभावात् कथमर्थभेदं व्यवस्थापयेदिति। तद्भेदव्यवस्थापनायाकारभेदोऽस्यैषितव्यः। तदुक्तम्— न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात् तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत्तद् घटयेदिति।" एकश्चायमाकारोऽनुभूयते, स चेद्विज्ञानस्य नार्थसद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्तीत्याह ❀ अपि चानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य इति ❀। ❀ अपि च सहोपलम्भनियमाद् इति ❀। यद्येन सह नियतसहोपलम्भनं तत्ततो न भिद्यते, यथैकस्माच्चन्द्रमसो द्वितीयश्चन्द्रमाः। नियतसहोपलम्भश्चार्थो ज्ञानेनेति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। निषेध्यो हि भेदः सहोपलम्भानियमेन व्याप्तो यथा भिन्नावश्विनौ नावश्यं सहोपलभ्येते, कदाचिदभ्रापिधानेऽन्यतरस्यैकस्योपलब्धेः। सोऽयमिह भेदव्यापकानियमविरुद्धो नियम उपलभ्यमानस्तद्व्याप्यं भेदं निवर्त्तयतीति। तदुक्तम्—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ इति।

भामती—व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि नील-विज्ञान न तो इन्द्रियों के समान बाह्य विषय का प्रत्यक्ष कर सकता है और न इन्द्रियादि के समान किसी अर्थविषयक विज्ञानान्तर को जन्म ही दे सकता है, क्योंकर द्वितीय विज्ञान की सार्थकता के लिए वैसा ही प्रश्न हो सकता, उस का भी विज्ञानान्तरजनन-स्वभाव मानने पर अनवस्था होती है। ज्ञान अपने विषय पर प्राकट्य ( ज्ञातता ) नाम का फल भी उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि अतीत तथा अनागत विषय पर उक्त धर्म का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। वर्तमान धर्म का धर्मी अवर्तमान हो—ऐसा सम्भव क्योंकर होगा ? अतः ज्ञान के अपने स्वरूप की ही प्रत्यक्षता को विषय की प्रत्यक्षता मानना होगा। वह ज्ञान यदि निराकार है, तब उस में किसी प्रकार का भेद न होने के कारण विषय-विशेष का व्यवस्थापक नहीं हो सकता, अतः विषय-विशेष एवं आकार-भेद-वाला मानना होगा, जैसा कि सौत्रान्तिकों का उद्घोष ऊपर अङ्कित किया जा चुका है—"न हि वित्तिसत्तयैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत् तद्घटयेत्"। ज्ञान और ज्ञेय के दो आकार पृथक् प्रतीत नहीं होते, अपि तु घटादिरूप एक ही आकार प्रतीत होता है। वह आकार यदि विज्ञान का मान लिया जाता है, तब बाह्य विषय के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं रह जाता, भाष्यकार यही कहते हैं—"अपि चानुभवमात्रेण साधारणात्मनो ज्ञानस्य"। ज्ञान से ज्ञेयार्थ की अभेद-सिद्धि इस लिए भी होती है कि ज्ञान और ज्ञेय की नियमतः सहोपलब्धि है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥

[ इस श्लोक का पूर्वार्द्ध दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय एवं उत्तरार्द्ध धर्मकीर्ति के प्रमाण-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयोरापतति। न ह्यनयोरेकस्यानुपलम्भेऽन्यस्योपलम्भोऽस्ति। न चैतत्स्वभावविवेके युक्तं, प्रतिबन्धकारणाभावात्, तस्मादप्यर्थाभावः। स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथा हि स्वप्नमायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति, एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्तीत्यवगम्यते, प्रत्ययत्वाविशेषात्। कथं पुनरसति बाह्यार्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते? वासनावैचित्र्यादि-

भामती

❀ स्वप्नादिवच्चेदं द्रष्टव्यम् ❀। यो यः प्रत्ययः स सर्वो बाह्यानालम्बनो यथा स्वप्नमायादिप्रत्ययस्तथा चैष विवादाध्यासितः प्रत्यय इति स्वभावहेतुः। बाह्यानालम्बनता हि प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी वृक्षतेव शिंशपात्वमात्रानुबन्धिनीति तन्मात्रानुबन्धिनि निरालम्बनत्वे साध्ये भवति प्रत्ययत्वं स्वभावहेतुः।

अत्रान्तरे सौत्रान्तिकश्चोदयति ❀ कथं पुनरसति बाह्येऽर्थे❀ नीलमिदं पीतमिदमित्यादि ❀प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते❀। स हि मेने ये यस्मिन् सत्यपि कादाचित्कास्ते सर्वे तदतिरिक्तहेतुसापेक्षाः, यथाऽविवक्षत्यजिगमिषति मयि वचनगमनप्रतिभासाः प्रत्ययाश्चेतनसन्तानान्तरसापेक्षास्तथा च विवादाध्यासिताः सत्यप्यालयविज्ञानसन्ताने षडपि प्रवृत्तिप्रत्यया इति स्वभावहेतुः। यश्चासावालयविज्ञानसन्तानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्तिज्ञानभेदहेतुः, स बाह्योऽर्थ इति। वासनापरिपाकप्रत्ययकादाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद

○ भामती-व्याख्या

वार्तिक (३।३८९) का है। 'नीलतज्ज्ञानयोरभेदः, नियमेन सहोपलभ्यमानत्वात् स्वप्नवत्'—इस अनुमान के द्वारा विषय और ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है। साधारण व्यक्तियों को जो भेद की प्रतीति होती है, वह वैसी ही भ्रमात्मक है, जैसी कि नेत्र में दोषवाले व्यक्ति को एक चन्द्रमा में दो की प्रतीति]। (१) यद् यज्ज्ञानम्, तत् सर्वं बाह्यविषयरहितम्, यथा स्वाप्नज्ञानम्, अथवा मायाविप्रदर्शितपदार्थज्ञानम्। (२) तथा चैतद् विवादाध्यासितं घटादिज्ञानम्। इस प्रकार बौद्ध-सम्मत उदाहरण और उपनयरूप केवल दो अवयवों के द्वारा निरालम्बनता सिद्ध की जाती है। यहाँ ज्ञानत्व हेतु स्वभाव हेतु है। [सभी हेतु तीन प्रकार के होते हैं—"अनुपलब्धिः, स्वभावः, कार्यं च" (न्या० बि० २।११)। इन में स्वभाव हेतु का लक्षण किया गया है—"स्वभावः स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः" (न्या० बि० २।१६)]। जिस साधनमात्र की सत्ता पर ही साध्य की सत्ता निर्भर है, उस साधन को स्वभावहेतु कहते हैं। प्रकृत में निरालम्बनता प्रत्ययत्व मात्र पर निर्भर है, अतः प्रत्ययत्व (ज्ञानत्व) वैसे ही स्वभाव हेतु है, जैसे वृक्षत्व का साधन शिंशपात्व।

**सौत्रान्तिक की शङ्का**—"कथं पुनरसति बाह्येऽर्थे प्रत्ययवैचित्र्यमुपपद्यते"। सौत्रान्तिक का आशय यह है कि '(१) ये यस्मिन सत्यपि कादाचित्काः, ते सर्वे तदतिरिक्तहेतुसापेक्षाः, यथा मयि (सौत्रान्तिके) अविवक्षति अजिगमिषति वचनगमनप्रत्ययाः पुरुषसन्तानान्तरसापेक्षाः, (२) तथा आलयविज्ञाने सत्यपि षडपि प्रवृत्तिप्रत्ययाः।' प्रशान्त महासागर जब विक्षुब्ध होकर विकराल उत्ताल तरङ्गों का रूप धारण कर लेता है, तब प्रभञ्जन के झकझोर झकोरों को नाविक दोषी ठहराता है। आलयविज्ञान की शालीन तरङ्गावलि जब बाह्यार्थ से उद्वेलित होकर (१) चाक्षुष, (२) श्रावण, (३) घ्राणज, (४) रासन, (५) त्वाच एवं (६) मानस—इन छः प्रवृत्तिविज्ञान नाम की विचित्र वीचियों में लहराने लगती है, तब बाह्य रूपादि विषयों को ही उद्वेल्लयिता निमित्त माना जाता है, फलतः बाह्यार्थ की सिद्धि हो जाती है।

योगाचार का जो यह कहना है कि रूपादिविषयक पक्वावस्था के प्रत्यय (कारण) पूर्वविज्ञान की कादाचित्कता के कारण रूपादिविषयक प्रवृत्तिविज्ञान कदाचित् उत्पन्न होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

इति चेत् । नन्वेकसन्ततिपतितानामालयविज्ञानानां तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिर्वासना, तस्याश्च स्वकार्योपजनं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकस्तस्य च प्रत्ययः स्वसन्तानवर्त्ती पूर्वक्षणः सन्तानान्तरापेक्षानभ्युपगमात् । तथा च सर्वेऽप्यालयसन्तानपतिताः परिपाकहेतवो भवेयुः । न वा कश्चिदपि, आलयसन्तानपातित्वाविशेषात् । क्षणभेदाच्छक्तिभेदस्तस्य च कादाचित्कत्वात् कार्यकादाचित्कत्वमिति चेत् । नन्वेवमेकस्यैव नीलज्ञानोपजननसामर्थ्यं तत्प्रबोधसामर्थ्यं चेति क्षणान्तरस्यैतन्न स्यात् , सत्त्वे वा कथं क्षणभेदात् सामर्थ्यभेद इत्यालयसन्तानवर्त्तिनः सर्वे समर्था इति समर्थहेतुसद्भावे कार्यक्षेपानुपपत्तेः । स्वसन्तानमात्राधीनत्वे निषेध्यस्य कादाचित्कत्वस्य विरुद्धं सदातनत्वं, तस्योपलब्ध्या कादाचित्कत्वं निवर्त्तमानं हेत्वन्तरापेक्षत्वे

भामती—व्याख्या

है, बाह्य विषय के कारण नहीं । अर्थात् एक सन्तान के अन्तर्गत आलयविज्ञानों में रूपादिविषयक प्रवृत्तिविज्ञान के जनन की शक्ति को वासना कहा जाता है, [ जैसा कि प्रज्ञाकरगुप्त कहते हैं—"वासना पूर्वविज्ञानकृतिका शक्तिरुच्यते" (प्र. वा. पृ. ३५६) । समस्त विषयाकार इन्हीं वासनाओं की देन हैं, यहाँ तक सांख्यों का प्रधानतत्त्व, नैयायिकों का ईश्वर और मीमांसकों का कर्म ( धर्म ) ये सब वासना-परिकल्पित हैं—

अनादिवासनासङ्गविधेयीकृतचेतसाम् ।
विविधः प्रतिभासोऽयमेकत्र स्वप्नदर्शिनाम् ॥
कार्यत्वात् सकलं कार्यं वासनाबलसंभवम् ।
कुम्भाकारादिकार्यं वा स्वप्नदर्शनकार्यवत् ॥
प्रधानमीश्वरः कर्म यदन्यदपि कल्प्यते ।
वासनासङ्गसम्मूढचेतःप्रस्यन्द एव सः ॥
प्रधानानां प्रधानं तद् ईश्वराणां तथेश्वरम् ।
सर्वस्य जगतः कर्त्री देवता वासना परा ॥
इति प्रधानेश्वरकर्तृवाद-
नद्यः सदा शीघ्रवहाः प्रवृत्ताः ।
विशन्त्य एवाक्षयतां प्रयान्ति,
तद्वासनाभेयसमुद्रमेव ॥ ( प्र. वा. पृ. ३९७ ) ] ।

वह योगाचारगणों का कहना उचित नहीं, क्योंकि एक सन्तति के घटकीभूत आलयविज्ञानक्षण में प्रवृत्तिविज्ञान की जनिका जो शक्ति या वासना है, उसका उद्बोधक उस आलयविज्ञानक्षण का समनन्तर-प्रत्यय उक्त आलयविज्ञान-सन्तति का पूर्वक्षण एवं उस क्षण की वासना का उद्बोधक उसका पूर्वक्षण—इस प्रकार आलयविज्ञान की सन्तति के किसी एक क्षण में नहीं, अपितु सभी क्षणों में कथित हेतुता पर्यवसित होती है, फलतः आलयविज्ञानसन्तान सार्वदिक होने के कारण सदा ही प्रवृत्तिविज्ञान का जन्म होता रहेगा, उसका कादाचित्कत्व उपपन्न नहीं होता । क्षण-भेद से शक्ति का भेद मानकर भी कादाचित्कत्व की व्यवस्था नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकार तो एक ही आलयविज्ञानक्षण में वासना और वासनोद्बोधकत्व मानने पर अन्यक्षणों में प्रवृत्तिविज्ञान की हेतुता न बन सकेगी । यदि आलयविज्ञान के अन्य क्षणों में भी वासना और वासनोद्बोधकता मानी जाती है, तब क्षणभेद से शक्ति भेद क्योंकर होगा ? फलतः सभी आलयविज्ञानक्षणों में सदैव सामर्थ्य रहने पर कार्य का कादाचित्कत्व नहीं बनता, क्योंकि कादाचित्कत्व के व्यापकीभूत असदातनत्व के विरुद्ध सदातनत्व की उपलब्धि हो रही है । अतः कादाचित्कत्व निरालम्बनज्ञान से व्यावृत्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्याह। अनादौ हि संसारे बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योन्यनिमित्तनैमित्ति-

भामती

व्यवतिष्ठत इति प्रतिबन्धसिद्धिः। न च ज्ञानसन्तानान्तरनिबन्धनत्वं सर्वेषामिष्यते प्रवृत्तिविज्ञानानां विज्ञानवादिभिरपि तु कस्यचिदेव विच्छिन्नगमनवचनप्रतिभासस्य प्रवृत्तिविज्ञानस्य। अपि च सत्त्वान्तर-सन्ताननिमित्तत्वे तस्यापि सदा सन्निधानान्न कादाचित्कत्वं स्यात्। नहि सत्त्वान्तरसन्तानस्य देशतः कालतो वा विप्रकर्षसम्भवः, विज्ञानवादे विज्ञानातिरिक्तदेशानभ्युपगमादमूर्त्तत्वाच्च विज्ञानानामदेशा-त्मकत्वात् संसारस्यादिमत्वप्रसङ्गेनापूर्वसत्त्वप्रादुर्भावानभ्युपगमाच्च न कालतोऽपि विप्रकर्षसम्भवः। तस्मादसति बाह्येऽर्थे प्रत्ययवैचित्र्यानुपपत्तेरस्यानुमानिको बाह्योऽर्थ इति सौत्रान्तिकाः प्रतिपेदिरे, तान्निराकरोति ॐ वासनावैचित्र्यादित्याहॐ विज्ञानवादी। इदमत्राकूतम्--स्वसन्तानमात्रप्रभवत्वेऽपि प्रत्यक्षादाचित्कत्वोपपत्तौ सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेन हेतुरनैकान्तिकः। तथाहि--बाह्यनिमित्तकत्वेऽपि कथं कदाचित् नीलसंवेदनं कदाचित् पीतसंवेदनम्? बाह्यनीलपीतसन्निधानासन्निधानाभ्यामिति चेत्, अथ पीतसन्निधानेऽपि किमिति नीलज्ञानं न भवति, पीतज्ञानं भवति? तत्र तस्य सामर्थ्यवसामर्थ्याच्चेत-

भामती-व्याख्या

होकर जिस हेत्वन्तर की अपेक्षा करता है, वह हेत्वन्तर एकमात्र है—बाह्य विषय। विषय के स्थान पर आलयविज्ञान को सन्तान्तरता को नीलादिविज्ञानों का हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि देवदत्तरूप विज्ञान-क्षण-सन्तति में गमन-वचनादि व्यवहार न होने पर भी यज्ञदत्तरूप विज्ञान-सन्तान में उस व्यवहार की उपलब्धि होती है।

दूसरी बात यह भी है कि नीलादि-व्यवहार का यदि पुरुषान्तर-सन्तान को निमित्त माना जाता है, तब भी उक्त व्यवहार में सदातनत्व प्रसक्त होता है, क्योंकि उक्त निमित्त का भी सदा सन्निधान है। विज्ञानवाद में एक सन्तान का सन्तानान्तर से देशकृत या कालकृत विप्रकर्ष सम्भव नहीं, क्योंकि विज्ञानवाद में देश और काल माने ही नहीं जाते, अतः सन्ता-नान्तर में सन्तानान्तर का सन्निधान सदातन है। विज्ञानवाद में विज्ञान से अतिरिक्त देश और काल को नहीं माना जाता, श्री प्रज्ञाकरगुप्त कहते हैं—"न खल्वत्यन्तमवधानदानता-त्पर्यपर्यासितपर्याकुलमानसोऽपि दिगादीनां निजं रूपमवधारयति, अनवधारिततद्रूप एव लोकः परामर्शविरहाद् गतानुगतिकन्यायापकृतमानसतया तथा व्यवहरतीति किमत्र कुर्मः?" (प्र. वा. पृ. ५१४)। काल मानने पर संसार को सादि मानना पड़ेगा, जो कि सर्वथा असम्भव है, कोई भी अपूर्व सत्त्व (जीव या विज्ञानक्षण) उत्पन्न नहीं होता, अतः देश-काल मानना कथमपि संगत नहीं। यदि बाह्यार्थ भी नहीं माना जाता, तब ज्ञानगत वैचित्र्य अनुपपन्न हो जाता है, अतः सौत्रान्तिकगण बाह्य अर्थ का अनुमान किया करते है—'प्रवृत्तिप्रत्ययः आलयविज्ञानातिरिक्तहेतुकः, कादाचित्कत्वात्।'

**विज्ञानवादी का समाधान**—"वासनावैचित्र्यादित्याह"। अर्थात् विज्ञानवादी कहता है कि उक्त बाह्यार्थानुमापक हेतु का व्यभिचार निश्चित न होने पर भी सन्दिग्ध है, अतः सन्दिग्धव्यभिचारी होने के कारण साध्य का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वसन्तानमात्र-निमित्तकरूप विपक्ष में कादाचित्कत्वरूप हेतु सम्भावित है, फलतः विपक्ष-व्यावृत्तिरूप व्याप्ति निश्चित नहीं।

यदि नीलादिप्रत्यय को बाह्यार्थनिमित्तक मान लिया जाता है, तब भी कभी नील-संवेदन कभी पीत-संवेदन क्यों होता है? यदि कहा जाय कि नील-पीतादि बाह्यार्थों का सन्निधान उक्त विविध संवेदनों का निमित्त है। तब जिज्ञासा होती है कि पीत पदार्थ का सन्निधान होने पर नील-प्रत्यय क्यों नहीं होता? यदि पीत पदार्थ का पीत-प्रत्यय-जनन में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

रस्मिन्निति चेत्, कुतः पुनरयं सामर्थ्यासामर्थ्यभेदः? हेतुभेदादिति चेत्, एवं तर्हि क्षणानामपि स्वकारणभेदनिबन्धनः शक्तिभेदो भविष्यति। सन्तानिनो हि क्षणाः कार्यभेदहेतवस्ते च प्रतिकार्यं भिद्यन्ते, न च सन्तानो नाम कश्चिदेक उत्पादकः क्षणानां यदभेदात् क्षणा न भिद्येरन्। ननूक्तं न क्षणभेदाभेदाभ्यां शक्तिभेदाभेदौ, भिन्नानामपि क्षणानामेकसामर्थ्योपलब्धेः। अन्यथैक एव क्षणो नीलज्ञानजननसमर्थ इति न भूयो नीलज्ञानानि जायेरन्। तत्समर्थस्यतीतत्वात् क्षणान्तराणां चासामर्थ्यात्। तस्मात् क्षणभेदेऽपि न सामर्थ्यभेदः, सन्तानभेदे तु सामर्थ्यं भिद्यत इति। तन्न, यदि भिन्नानां सन्तानानां नैकं सामर्थ्यं हन्त तर्हि नीलसन्तानानामपि मिथो भिन्नानां नैकमस्ति नीलाकाराधानसामर्थ्यमिति सन्निधानेऽपि नीलसन्तानान्तरस्य न नीलज्ञानमुपजायेत। तस्मात् सन्तानान्तराणामिव क्षणान्तराणामपि स्वकारणभेदाधीनोपजनानां केषाञ्चिदेव सामर्थ्यभेदः केषाञ्चिन्नेति वक्तव्यम्। तथा चैकालयज्ञानसन्तानपतितेषु कस्यचिदेव ज्ञानक्षणस्य स तादृशः सामर्थ्यातिशयो वासनापरनामा स्वप्रत्ययवासादितो यतो नीलाकारं प्रवृत्तिविज्ञानं जायते, न पीताकारम्। कस्यचित्तु स तादृशो यतः पीताकारं ज्ञानं न नीलाकारमिति वासनावैचित्र्यादेव स्वप्रत्ययवासिताज्ज्ञानवैचित्र्यसिद्धेर्न तदतिरिक्तार्थसद्भावे किञ्चनास्ति प्रमाणमिति

भामती—व्याख्या

सामर्थ्य और नील-प्रत्यय-जनन में असामर्थ्य माना जाय। तब उस सामर्थ्य-भेद का नियामक कौन? हेतुहेतुमद्भाव को नियामक मानने पर विज्ञानक्षणों में भी अपने कारण के भेद से शक्ति-भेद को मान कर प्रत्यय-कादाचित्कत्व की व्यवस्था की जा सकती है। सन्तान के घटकीभूत ज्ञानक्षण कार्य-भेद के हेतु हो सकते हैं। सन्तानतत्त्व कोई एक उत्पादक माना नहीं जाता कि उसके अभेद से विज्ञान क्षणों का अभेद हो जाता।

**शङ्का**—यह कहा जा चुका है कि क्षणों के भेदाभेद से शक्ति का भेदाभेद सम्भव नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न क्षणों में एक सामर्थ्य की उपलब्धि होती है, अन्यथा नीलज्ञान एक बार ही उत्पन्न हो सकेगा, दूसरी बार नहीं, क्योंकि उसके जनन का सामर्थ्य एक ही विज्ञानक्षण में था, वह अपना कार्य सम्पन्न करके अतीत के गर्भ में समा गया और अन्य किसी विज्ञानक्षण में वैसा सामर्थ्य है नहीं। फलतः क्षण-भेद पर सामर्थ्य-भेद निर्भर नहीं, अपितु सन्तान-भेद पर सामर्थ्य-भेद आधृत है।

**समाधान**—यदि भिन्न सन्तानों में एक सामर्थ्य नहीं माना जाता, तब बाह्य नीलादि क्षणिक पदार्थों के सन्तान भी परस्पर भिन्न हैं, अतः एक ही नीलक्षण में नीलाकारता के आधान का सामर्थ्य होगा, अन्य नील-सन्तान में नहीं, तब उसका सान्निध्य होने पर भी नील-संवेदन न हो सकेगा। अतः यह व्यवस्था माननी होगी कि सन्तानान्तर के समान ही भिन्न-भिन्न क्षणों में से अपने समनन्तर प्रत्यय के द्वारा सामर्थ्य-भेद का उत्पादन किसी-किसी विज्ञानक्षण में ही होता है, सभी में नहीं। इस प्रकार एक आलय-विज्ञान-सन्तान में प्रविष्ट ज्ञानक्षणों में से किसी-किसी में ही वासना नामक सामर्थ्य-विशेष अपने कारण से उत्पादित होता है, जिससे नीलाकार ही प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होता है, पीताकार नहीं। इसी प्रकार किसी नीलावभासी ज्ञानक्षण से नीलाकार ही प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होता हैं, पीताकार नहीं। सारांश यह है कि जब वासना-वैचित्र्य से ही ज्ञान-वैचित्र्य का निर्वाह हो जाता है, तब उससे अतिरिक्त बाह्य अर्थ के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं रह जाता।

'ज्ञान-वैचित्र्य से वासना-वैचित्र्य और वासना-वैचित्र्य से ज्ञान-वैचित्र्य'—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष यहाँ अवसीर्ण नहीं होता, क्योंकि आलय विज्ञान के सन्तान में प्रविष्ट अनधिगत (अनागत) ज्ञान की शक्ति के सामान ज्ञान को भी वासना कह सकते हैं, क्योंकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभावेन वैचित्र्यं न विप्रतिषिध्यते। अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते, स्वप्नादिष्वन्तरेणाप्यर्थं वासनानिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्योभाभ्यामप्याभ्यामभ्युपगम्यमानत्वात्, अन्तरेण तु वासनामर्थनिमित्तस्य ज्ञानवैचित्र्यस्य मयानभ्युपगम्यमानत्वात्। तस्मादप्यभावो बाह्यार्थस्येति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'नाभाव उपलब्धेः' इति। न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्? उपलब्धेः। उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्ययं बाह्योऽर्थः—स्तम्भः कुड्यं घटः पट इति। न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद्बुभुक्षानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयात्-नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे, न च सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेयवचनः स्यात्? ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति, किंतूपलब्धिव्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि। बाढमेवं ब्रवीषि, निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य। नतु युक्त्युपेतं ब्रवीषि। यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव।

भामती

पश्यामः। आलयविज्ञानसन्तानपतितमेवासंविदितं ज्ञानं वासना तद्वैचित्र्यान्नीलाद्यनुभववैचित्र्यम्, पूर्वनीलाद्यनुभववैचित्र्याच्च वासनावैचित्र्यमित्यनादितानयोर्विज्ञानवासनयोस्तस्मान्न परस्पराश्रयदोषसम्भवो बीजाङ्कुरसन्तानवदिति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि वासनावैचित्र्यस्यैव ज्ञानवैचित्र्यहेतुता नार्थवैचित्र्यस्येत्याह ❀ अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्याम् इति ❀।

❀ एवं प्राप्ते, ब्रूमः ❀ "नाभाव उपलब्धे" इति। न खलु अभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। स ह्युपलम्भाभावाद्वाध्यवसीयेत, सत्यप्युपलम्भे तस्य बाह्याविषयत्वाद्वा, सत्यपि बाह्यविषयत्वे बाह्यार्थबाधकप्रमाणसद्भावाद्वा? न तावत् सर्वथोपलम्भाभाव इति प्रश्नपूर्वकमाह ❀ कस्मादुपलब्धेरिति ❀। नहि स्फुटतरे सर्वजनीन उपलम्भे सति तदभावः शक्यो वक्तुमित्यर्थः। द्वितीयं पक्षमवलम्बते ❀ ननु नाहमेवं ब्रवीमि इति ❀। निराकरोति ❀ बाढमेवं ब्रवीषि ❀। उपलब्धिग्राहिणा हि साक्षिणो-

भामती—व्याख्या

शक्ति और शक्तिमान् का अभेद प्रसिद्ध है। उक्त ज्ञानरूप शक्ति के वैचित्र्य से नीलादि-अनुभवों का वैचित्र्य एवं पूर्वतन नीलादि के अनुभव-वैचित्र्य से वासना-वैचित्र्य सम्पन्न हो जाता है। बीज-वृक्ष के समान अनादि कार्य-कारण के प्रवाह में अन्योऽन्याश्रय दोष क्योंकर माना जा सकेगा? अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा भी वासना-वैचित्र्य से ही ज्ञान-वैचित्र्य सिद्ध होता है, विषय-वैचित्र्य से नहीं—"अपि चान्वयव्यतिरेकाभ्यां वासनानिमित्तमेव ज्ञानवैचित्र्यमित्यवगम्यते"।

**सिद्धान्त**—"नाभावः, उपलब्धेः"। अर्थात् बाह्य अर्थ का अभाव निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि उपलम्भाव के द्वारा बाह्य विषय का अभाव अध्यवसित हो सकता था या (२) उपलम्भ रहने पर भी उपलब्धि में बाह्यविषयकत्वाभाव के कारण अथवा (३) उपलम्भ में बाह्यविषयकत्व के रहने पर भी बाधक प्रमाण के बल पर बाह्यार्थ का अभाव स्थिर हो सकता था, किन्तु (१) सर्वथा उपलम्भाव नहीं—यह प्रश्नपूर्वक दिखाया गया—"कस्मात्? उपलब्धेः"। जिस पदार्थ का उपलम्भ सर्वमत-सिद्ध है, उस का अभाव क्योंकर अधिगमित होगा? (२) द्वितीय पक्ष का उद्भावन किया जाता है—"ननु नाहमेव ब्रवीमि"। उसका निराकरण किया जाता है—"बाढमेवं ब्रवीषि"। जिस उपलब्धि (बाह्यार्थानुभूति) का साक्षी ग्रहण करता है, उसका बाह्यविषयकत्वेन ही ग्रहण करता है, निर्विषयक उपलब्धि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभते। उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन्सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत्प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते—"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासत" (आलम्बन. ६) इति। तेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धां बहिरवभासमानां संविदं प्रतिलभमानाः प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदिति वत्कारं कुर्वन्ति। इतरथा हि कस्माद्बहिर्वदिति ब्रूयुः? नहि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत। तस्माद्यथानुभवं तत्त्वमभ्युपगच्छद्भिर्बहिरेवावभासत इति युक्तमभ्युपगन्तुं, नतु बहिर्वदवभासत इति। ननु बाह्यस्यार्थस्यासंभवाद्बहिर्वदवभासत इत्यध्यवसितम्। नायं साधुरध्यवसायः, यतः

भामती

पलब्धिर्गृह्यमाणा बाह्यविषयत्वेनैव गृह्यते नोपलब्धिमात्रमित्यर्थः। ❀ अतश्च इति ❀ वक्ष्यमाणोपपत्तिपरामर्शः। तृतीयं पक्षमालम्बते ❀ ननु बाह्यस्यार्थस्यासम्भवाद् इति ❀। निराकरोति ❀ नायं साधुरध्यवसाय इति ❀। इदमताकूतम्—घटपटादयो हि स्थूला भासन्ते न तु परमसूक्ष्मास्तत्रेदं नानादिग्देशव्यापित्वलक्षणं स्थौल्यं यद्यपि ज्ञानाकारत्वेनावरणानावरणलक्षणेन विरुद्धधर्मसंसर्गेण युज्यते, ज्ञानोपाधेरनावृतत्वादेव। तथापि तद्देशत्वातद्देशत्वकम्पाकम्पत्वरक्तारक्तत्वलक्षणेविरुद्धधर्मसंसर्गेरस्य नानात्वं प्रसज्यमानं ज्ञानाकारत्वेऽपि न शक्यं शक्रेणापि वारयितुम्। व्यतिरेकाव्यतिरेकवृत्तिविकल्पौ च परमाणोरंशवत्त्वं चोपपादितानि वैशेषिकपरीक्षायाम्। तस्माद् बाह्यार्थवन्न ज्ञानेऽपि स्थौल्यसम्भवः। न च तावत् परमाण्वाभासमेकज्ञानमेकस्य नानात्मत्वानुपपत्तेः। आकाराणां वा ज्ञानतादात्म्यादेकत्वप्रसङ्गात्। न च यावन्त आकारास्तावन्त्येव ज्ञानानि तावतां ज्ञानानां मिथो वार्त्तानभिज्ञतया स्थूलानुभवाभावप्रसङ्गात्। न च तत्पृष्ठभावी समस्तज्ञानाकारसङ्कलनात्मक एकः स्थूलविकल्पो विजृम्भत इति साम्प्रतम्, तस्यापि साकारतया स्थौल्यायोगात्। यथाह धर्मकीर्त्तिः—

भामती—व्याख्या

का नहीं। "अतः" शब्द के द्वारा भाष्यकार ने वक्ष्यमाण युक्तियों का निर्देश किया है। (३) तृतीय पक्ष की स्थापना की जा रही है—"ननु बाह्यस्यार्थस्यासम्भवात्"। उस का भी निरास किया जा रहा है—"नायं साधुरध्यवसायः"। भावार्थ यह है कि घट-पट आदि पदार्थ स्थूलरूप में प्रतीत होते हैं, परम सूक्ष्मरूप में नहीं। घटादि पदार्थों की स्थूलता का अर्थ अनेक देश वृत्तिता है। अनेक देशों में परोक्ष और अपरोक्षरूप विभिन्न देश आते हैं। अर्थात् एक ही स्थूल बाह्यार्थ कहीं आवृत (परोक्ष) और कहीं अनावृत (अपरोक्ष) है, अतः आवृतत्व और अनावृतत्वरूप विरुद्ध धर्म प्रसक्त हो कर वस्तु की एकता भङ्ग कर देते हैं। यद्यपि घटादि पदार्थों को विज्ञानाकार मानने पर उक्त विरुद्ध धर्मों की प्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि ज्ञान की विषयरूप उपाधि अनावृत है। तथापि एक ज्ञान का आकारभूत पट एतद्देशवृत्ति (सन्निहित तन्तु-वृत्ति) भी है और तद्देशवृत्ति (असन्निहित तन्तु-वृत्ति) भी। इसी प्रकार कम्पत्व-अकम्पत्व, रक्तत्व-अरक्तत्वादिरूप विरुद्ध धर्म पटादि में प्राप्त होकर नानात्व के अतिप्रसञ्जक हैं। व्यतिरेकाव्यतिरेक-विकल्प (अवयवी अवयवेभ्यो व्यतिरिच्यते? न वा?), वृत्ति-विकल्प (अवयवी प्रत्यवयवं कात्स्न्र्येन वर्तते? एकदेशेन वा?) एवं परमाणुः सांशोऽनंशो वा? इस प्रकार के विकल्पों का उपपादन विगत वैशेषिक मत की आलोचना में किया जा चुका है।

वस्तुस्थिति यह है कि जैसे बाह्य पदार्थों में स्थूलता सम्भव नहीं, वैसे ही ज्ञान में भी सम्भव नहीं। घटादिरूप परमाणु-समूह को विषय करनेवाला ज्ञान एक नहीं हो सकता,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणप्रवृत्त्वप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवावधार्येते, न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती। यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेनापि प्रमाणेनोपलभ्यते, तत् संभवति, यत्तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति। इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादिविकल्पैर्न संभवतीत्युच्येतोपलब्धेरेव ? नुच ज्ञानस्य विषयसारूप्याद्विषयनाशो भवति, असति विषये विषयसा-

भामती

तस्मान्नार्थे न च ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः।
एकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः॥ इति।

तस्माद्भूवतापि ज्ञानाकारं स्थौल्यं समर्थयमानेन प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ सम्भवासम्भवावास्थेयौ। तथा चेदन्तास्पदमशक्यं ज्ञानाद्भिन्नं बाह्यमपह्नोतुमिति। यच्च ज्ञानस्य प्रत्यर्थं व्यवस्थाये विषयसारूप्यमास्थितं नैतेन विषयोऽपह्नोतुं शक्यः। असत्यर्थे तत्सारूप्यस्य तद्व्यवस्थायाश्चानुपपत्तेरित्याह ॐ न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद् इति ॐ। यश्च सहोपलम्भनियम उक्तः सोऽपि विकल्पं न सहते--यदि ज्ञानार्थयोः साहित्येनोपलम्भस्ततो विरुद्धो हेतुर्नाभेदं साधयितुमर्हति, साहित्यस्य तद्विरुद्ध-

भामती—व्याख्या

क्योंकि परमाणु अनेक हैं, उन से अभिन्न ज्ञान भी अनेक हैं, एक ज्ञान नानात्मक क्योकर होगा ? नाना परमाणु यदि एक ही ज्ञान के आकार हैं, तब एक ज्ञान की तादात्म्यापत्ति के कारण अनेक परमाणुओं में एकत्व प्रसक्त होता है। जितने आकार हैं, उतने ही ज्ञान यदि माने जाते हैं, तब उन क्षणिक ज्ञानों का परस्पर जोड़-मेल न हो सकने के कारण स्थूलरूपता का अनुभव नहीं हो सकता।' नाना परमाणुरूप नाना ज्ञानों की उत्पत्ति के पश्चात् समस्त-ज्ञानाकारों का सङ्कलनात्मक एक स्थूलालम्बनक एवं विकल्पात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि पश्चाद्भावी ज्ञान भी साकार है, उस के आकारभूत परमाणु नाना एवं सूक्ष्म हैं, अतः उस ज्ञान में भी न एकत्व हो सकता है और न स्थूलता, जैसा कि धर्मकीर्ति कहते हैं—

तस्मान्नार्थेषु न ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः।
ऐकत्र प्रतिषिद्धत्वाद् बहुष्वपि न सम्भवः॥ (प्र. वा. ३।२१२)

[ न तो बाह्य पदार्थों का स्थूल आकार हो सकता है और न उनके भासक ज्ञानों का, क्योंकि तदात्मक ( स्थूल ) रूप जब एक परमाणु में निषिद्ध है, तब अनेक परमाणुओं में भी सम्भव नहीं रह जाता ]। अतः स्थूलता में ज्ञानाकारता सम्भव है या नहीं ? इस प्रश्न का यह स्पष्ट उत्तर है कि जिस पक्ष में प्रमाणों की प्रवृत्ति है, वह सम्भव और जिस पक्ष में प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते, वह असम्भव है—"प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्तिपूर्वकौ सम्भवासम्भवावधार्येते।" बाह्य विषय जो कि 'इदम्-इदम्' रूप से प्रतीयमान है, उसका अपलाप कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं न सम्भवति"। यह जो ज्ञान और ज्ञेय के विषय-विषयिभाव की व्यवस्था के लिए ज्ञान में विषय का सारूप्य माना जाता है, उससे बिषय का अपह्नव ( अपलाप ) नहीं किया जा सकता, क्योंकि विषय के न होने पर ज्ञान में सारूप्य किसका होगा ? भाष्यकार यही कह रहे हैं—'असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः"। ज्ञान और विषय का जो नियत सहोपलम्भ माना गया है, उसका तात्पर्य यदि "ज्ञानार्थौ अभिन्नौ, साहित्येनोपलभ्यमानत्वात्'—इस अनुमान में मानते हैं, तब वह सद्धेतु न होकर विरुद्ध नाम का हेत्वाभास है, क्योंकि विरुद्ध का लक्षण है—"साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः"। प्रकृत


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप्यानुपपत्तेः, बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य। अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य। यथा शुक्लो गौः कृष्णो गौरिति शौक्ल्यकार्ष्ण्ययोरेव भेदो न गोत्वस्य। द्वाभ्यां च भेद एकस्य सिद्धो भवत्येकस्माच्च द्वयोः। तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः। तथा घटदर्शनं घटस्मरणमित्यत्रापि

भामती

भेदव्याप्तत्वात्, अभेदे तदनुपपत्तेः। अथैकोपलम्भनियमः। न, एकत्वस्यावाचकः सहशब्दः। अपि च किमेकत्वेनोपलम्भ आहो एक उपलम्भो ज्ञानार्थयोः। न तावदेकत्वेनोपलम्भ इत्याह ❀ बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य ❀। अथैकोपलम्भनियमस्तन्नाह ❀ अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यवगन्तव्यम् ❀। यथा हि सर्वं चाक्षुषं प्रभारूपानुविद्धं बुद्धिबोध्यं नियमेन मनुजैरुपलभ्यते, न चैतावता घटादिरूपं प्रभात्मकं भवति, किन्तु प्रभोपायत्वान्नियम एवमिहाप्यात्म साक्षिकानुभवोपायत्वादर्थस्यैकोपलम्भनियम इति। अपि च यत्रैकविज्ञानगोचरौ घटपटौ तत्रार्थभेदं विज्ञानाभेदं चाध्यवस्यन्ति प्रतिपत्तारो न चैतदेकात्म्येऽवकल्पत इत्याह ❀ अपि च घटज्ञानं पटज्ञानम् इति ❀। तथार्थाभेदेऽपि विज्ञानभेददर्शनान्न विज्ञानात्मकत्वमर्थस्येत्याह ❀ तथा घटदर्शनं घटस्मरणम् इति ❀। अपि च स्वरूपमात्रपर्य्यवसितं ज्ञानं ज्ञानान्तरवार्त्तानभिज्ञमिति ययोर्भेदस्ते द्वे न गृहीते इति

भामती-व्याख्या

अनुमान का साध्य है—'अभेद', किन्तु सहितोपलभ्यमान पदार्थ नियमतः भिन्न होते हैं, अन्यथा 'सहितावर्थवितौ' ऐसा कहना ही सम्भव नहीं, फलतः साहित्येनोपलभ्यमानत्व हेतु अभेदाभाव या भेदरूप साध्याभाव से व्याप्त है। यदि 'सहोपलम्भनियमः' का अर्थ एकोपलम्भनियम किया जाता है, तब अर्थान्तर नाम का निग्रहस्थान प्राप्त होता है, क्योंकि 'एक' शब्द साहित्यार्थ का वाचक न होकर प्रकृतासम्बद्ध अर्थ का वाचक है। दूसरी बात यह भी है कि 'एकोपलम्भ' का अर्थ क्या (१) एकत्वेनोपलम्भ है? अथवा (२) ज्ञानार्थयोरेक उपलम्भः? प्रथम कल्प का निराकरण है—"बहिरुपलब्धेश्च विषयस्य"। द्वितीय कल्प का समाधान है—"अत एव सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुक इत्यवगन्तव्यम्"। जैसे कि चक्षु आलोक की सहायता से अपने विषय का ग्राहक है, अतः समस्त घटादि-रूप चाक्षुष विषय प्रभा (आलोक) से अनुविद्ध होकर ही प्रतीत होते हैं। एतावता घटादि को प्रभात्मक नहीं मान सकते, अपि तु प्रभा केवल चाक्षुष ज्ञान का एक उपायमात्र है। वैसे ही प्रकृत में भी बाह्य विषय केवल आत्मसाक्षिक अनुभव का एक उपाय होने के कारण सहोपलम्भ-नियम से आबद्ध है। [श्री शबरस्वामी ने भी विषय को ज्ञान के निर्देश का एक उपाय ही माना है—"न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम्" (शाबर. पृ. ३४)। न्यायभाष्यकार ने भी इसी का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है—"इदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं 'रूपम्'—इति वा, 'रसः'—इत्येवं वा भवति। रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम्। तेन व्यपदिश्यते ज्ञानम् –रूपमिति जानीते, रस इति जानीते" (न्यायभा. पृ. १२)]।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ एक ही ज्ञान के घट-पटादि अनेक विषय होते हैं, वहाँ विषय का भेद और ज्ञान का अभेद प्रमाणिकों के प्रमाण-पथ में अवतीर्ण होता है। ज्ञान और ज्ञेय का अत्यन्त अभेद होने पर उक्त भेद-अभेद संगत नहीं होता—"अपि च घटज्ञानं पटज्ञानमिति विशेषणयोरेव घटपटयोर्भेदो न विशेष्यस्य ज्ञानस्य"। इसी प्रकार विषय का अभेद होने पर भी ज्ञान का भेद देखा जाता है, अतः ज्ञान और ज्ञेय का अभेद नहीं बनता—"तथा घटदर्शनघटस्मरणमित्यत्रापि प्रतिपत्तव्यम्"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

प्रतिपत्तव्यम्। अत्रापि हि विशेष्ययोरेव दर्शनस्मरणयोर्भेदो न विशेषणस्य घटस्य। यथा क्षीरगन्धः क्षीररस इति विशेष्ययोरेव गन्धरसयोर्भेदो न विशेषणस्य क्षीरस्य, तद्वत्। अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवोपक्षीणयोरितरेतर-ग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः। ततश्च विज्ञानभेदप्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्मप्रतिज्ञा स्वलक्ष-णसामान्यलक्षणवास्यवासकत्वाऽविद्योपप्लवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च स्वशास्त्र-गतास्ता हीयेरन्।

भामती

भेदोऽपि तद्गतो न गृहीत इति। एवं क्षणिकशून्यानात्मत्वावयोऽप्यनेकप्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तज्ञानभेदसाध्याः। एवं स्वमसाधारणमन्यतो व्यावृत्तं लक्षणं यस्य तदपि यद्व्यावर्त्तते यतश्च व्यावर्त्तते तदनेकज्ञानसाध्यमेवं सामान्यलक्षणमपि विधिरूपमन्यापोहरूपं वाऽनेकज्ञानगम्यम्। एवं वास्यवासकभावोऽनेकज्ञानसाध्यः। एवमविद्योपप्लवस्यैव यत् सदसद्धर्मत्वं यथा नीलमिति सद्धर्मः, नरविषाणमीश्वर इत्यसद्धर्मः, अमूर्त्त-मिति सदसद्धर्मः। शक्यं हि शशविषाणममूर्त्तं वक्तुम्, शक्यञ्च विज्ञानममूर्त्तं वक्तुम्। यथोक्तम्—

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः॥ इति।

एवं मोक्षप्रतिज्ञा च यो मुच्यते यतश्च मुच्यते येन मुच्यते तदनेकज्ञानसाध्या। एवं विप्रतिपन्नं प्रतिपादयितुं प्रतिज्ञेति यत्प्रतिपादयति येन प्रतिपादयति यञ्च पुरुषः प्रतिपाद्यते यञ्च प्रतिपादयति तदनेकज्ञानसाध्येत्यसत्येकस्मिन्ननेकार्थप्रतिसन्धातरि नोपपद्यते। तत्सर्वं विज्ञानस्य स्वांशालम्बनेऽनुपप-न्नमित्याह ❀ अपि च द्वयोर्ज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोरिति ❀। अपि च भेदाश्रयः कर्मफलभावो नाभिन्ने

भामती—व्याख्या

विज्ञान से भिन्न और कोई भी पदार्थ न मानने पर "असति प्रतिज्ञोपरोधः" (ब्र. सू. २।२।२१) इस सूत्र में कथित प्रतिज्ञा (बौद्ध सिद्धान्त) का बाध भी प्रसक्त होता है—'विज्ञानस्कन्ध' यहाँ 'स्कन्ध' शब्द का अर्थ समूह या राशि है—"सूत्रे राश्यर्थः स्कन्धार्थ इति सिद्धम्" (अभि. को. भा. १।२०) इससे यह नितान्त स्पष्ट है कि—

(१) विज्ञानस्कन्ध का अर्थ विज्ञान-पुञ्ज है, किन्तु प्रत्येक विज्ञानक्षण केवल अपने स्वरूप का ही ग्राहक है, विज्ञानान्तर का नहीं, तब न तो दो विज्ञान गृहीत होते हैं और न उनका भेद, क्योंकि भेद के आश्रयीभूत दोनों ज्ञान गृहीत नहीं, तब विज्ञान-भेद सिद्ध न होगा। वास्यवासकभाव भी सिद्ध न होगा—

"क्षणिकं विज्ञानमिति कथं वास्यवासकभावः" (प्रज्ञाकर. पृ. ३१८)।

(२) क्षणिकत्वशून्यत्वादि धर्मों की प्रतिज्ञा की गई है—"यत्सत् तत्क्षणिकम्" (हेतु वि. पृ. ५४)। "यत् सत्, तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे" (ज्ञानश्री. पृ. १)। यदि कोई बाह्य भाव पदार्थ है ही नहीं, तब 'इमे भावाः क्षणिकाः'—इस प्रकार क्षणिकत्व धर्म कहाँ सिद्ध किया जायगा? प्रतिज्ञा हेतु या उदाहरण और उपनयरूप अनेक अवयवों के द्वारा क्षणिकत्वादि की सिद्धि क्योंकर होगी?

(३) 'स्वलक्षण' शब्द की व्याख्या की गई है—"स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्ष-णम्" (धर्मोत्तिर. पृ. ७०)। घटादि पदार्थों का अन्य-व्यावृत्त या असाधारण स्वरूप स्वलक्षण कहलाता है, किन्तु यह भी अनेक पदार्थों के ज्ञान से ही ज्ञात हो सकता है, क्योंकि व्यावृत्त होनेवाला एवं जिन पदार्थों से व्यावृत्त होता है, ऐसे अनेक पदार्थ अपेक्षित हैं, अनेकों की स्थिति सम्भव न होने के कारण अनेकापेक्षित पदार्थ का ज्ञान क्योंकर होगा?

(४) 'सामान्यलक्षण' शब्द से घटत्वादि जाति विवक्षित है, वह चाहे विधिरूप (अनेक घट-वृत्ति) अथवा अन्यापोहरूप (अघट-व्यावृत्त) मानी जाय, सर्वथा अनेक पदार्थों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती-व्याख्या

के ज्ञान से ही अधिगत होगी ) [ ज्ञामान्यलक्षण ( जाति ) के निरूपण में बौद्धाचार्यों ने विधि एवं अन्यापोहात्मक दोनों शैलियों का वर्णन किया है—"सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणं साधारणं रूपमित्यर्थः" (धर्मोत्तर. पृ. ७७) । किन्तु आचार्य शान्तरक्षित कहते हैं कि विधि-वाक्यों का अन्य-निषेध में तात्पर्य लोक-प्रसिद्ध है। जाति पदार्थ का खण्डन हो जाने के कारण वहाँ विधिरूपता सम्भव नहीं, अतः 'घटत्वादि' शब्दों का अघट-व्यावृत्तिरूप अपोह या अन्यापोह में तात्पर्य पर्यवसित होता है—

तदन्यस्य विकल्पादेर्भवेत् तेन व्यपोहनम् ॥
वाक्यार्थेऽन्यनिवृत्तिश्च सुज्ञातैव तथा ह्यसौ ।
अनन्यापोहशब्दादौ न विधिर्व्यवसीयते ॥
परैरभिमतः पूर्वं जात्यादेः प्रतिषेधनात् ।
किन्तु विध्यवसाय्यस्माद् विकल्पो जायते ध्वनेः ॥ (तत्त्वसं. पृ. ४३५) ] ।

(५) अविद्योपप्लव—अविद्या का स्वरूप बताते हुए प्रज्ञाकार गुप्त कहते हैं—"विद्या-विरुद्धो धर्मोऽन्योऽविद्याऽधर्मानृतादिवत्" ( प्र. वा. पृ. १४५ ) । अविद्या एक महान् उपप्लव ( क्लेशात्मक ) एवं क्लेश-परम्परा को जन्म देती है—

पूर्वक्लेशदशाऽविद्या संस्काराः पूर्वकर्मणः ।
सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानं नामरूपमतः परम् ॥
प्राक् षडायतनोत्पादात् तत्पूर्वं त्रिकसङ्गमात् ।
स्पर्शः प्राक् सुखदुःखादिकारणशक्तितः ॥
वित्तिः प्राक् मैथुनात्तृष्णा भोगमैथुनरागिणः ।
उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः ॥
स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः ।
प्रतिसन्धिः पुनर्जातिर्जरामरणमाविदः ॥ (अभि. को. ३।२१-२४)

(६) सदसत्—नील-पीत आदि पदार्थ सद् धर्म हैं। 'धर्म' शब्द का अर्थ होता है—पदार्थ, बुद्ध का मौलिक दर्शन है—"ये धर्मा हेतुप्रभवाः" । नरविषाणादि अलीक पदार्थ असद् धर्म है। अमूर्त पदार्थ सदसद् धर्म कहलाते हैं, क्योंकि विज्ञानादिरूप सत् पदार्थ भी अमूर्त हैं एवं नरविषाणदि असत् पदार्थ भी अमूर्त हैं, आचार्य धर्मकीर्ति ने ऐसी ही व्यवस्था दी है—

"अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः ।
शब्दार्थः त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः" ॥ (प्र. वा. स्वार्था. २०८)

[ (१) सदाकार ( भावाकार ) विकल्प-जनित वासना के कार्य घट-पटादि सद्धर्म हैं। (२) असदाकार ( अभावाकार ) विकल्प-प्रसूत वासना की देन नरविषाणादि असद्धर्म एवं सदसदुभयाकार विकल्पोद्भूत वासना से जनित प्रधान ( प्रकृति ) और ईश्वरादि पदार्थ सदसद्धर्म माने जाते हैं ] ।

[ कतिपय व्याख्याओं का कहना है कि भाष्यकार ने यहाँ सत् और असत् दो प्रकारों का ही उल्लेख किया है, अतः योगाचार-सम्मत सत् और असत् धर्मों ( पदार्थों ) का निर्देश किया गया है। श्री यशोमित्र ने कहा है—त्रिविधं हि योगाचाराणां सत्—(१) परमार्थसत्, (२) संवृतिसत्, (३) द्रव्यसच्च । द्रव्यतः स्वलक्षणतः सद् द्रव्यसत् ( अभि-स्फुटा. ६।४ ) । इनसे भिन्न जो अर्थक्रियाकारी नहीं होते, उन्हें असद् धर्म कहते हैं ] ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंचान्यद्-विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यमित्येवंजातीयकः कस्मान्नाभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम् ? विज्ञानमनुभूयत इति चेत्, बाह्योऽप्यर्थोऽनुभूयत एवेति युक्तमभ्युपगन्तुम् । अथ विज्ञानं प्रकाशात्मकत्वात्प्रदीपवत् स्वयमेवानुभूयते न तथा बाह्योऽप्यर्थ इति चेद्, अत्यन्तविरुद्धां स्वात्मनि क्रियामभ्युपगच्छस्यग्निरात्मानं दहतीतिवत्, अविरुद्धं तु लोकपसिद्धं स्वात्मव्यतिरिक्तेन विज्ञानेन बाह्योऽर्थोऽनुभूयत इति नेच्छस्यहो पाण्डित्यं महदर्शितम् । न चार्थाव्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते, स्वात्मनि क्रियाविरोधादेव । ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरि-

भामती

ज्ञाने भवितुमर्हति । नो खलु छिदा छिद्यते किन्तु दारु, नापि पाकः पच्यतेऽपि तु तण्डुलाः । तद्विहापि न ज्ञानं स्वांशेन ज्ञेयमात्मनि वृत्तिविरोधादपि तु तदतिरिक्तोऽर्थः, पाच्या इव तण्डुलाः पाकातिरिक्ता इति भूमिरचनापूर्वकमाह ❀किञ्चान्यद् विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छतेति❀ । चोदयति ❀ ननु विज्ञानस्य स्वरूपातिरिक्तग्राह्यत्वे इति ❀ । अयमर्थः—स्वरूपादतिरिक्तमर्थं चेद्विज्ञानं गृह्णाति ततस्तव-

भामती—व्याख्या

(७) मोक्ष-प्रतिज्ञा "मोक्षस्त्वनुत्तरः" (अभि. को. ४।१२७)। 'अनुत्तरः' का अर्थ है—जिससे बढ़ कर कोई अधिक उत्कृष्ट न हो, स्वयं वसुबन्धु ने उसकी व्याख्या की है—"न हि निर्वाणाद् विशिष्टतरमस्ति"। जो मुक्त होता है, जिस (बन्धन) से मुक्त होता है और जिस (साधन) के द्वारा मुक्त होता है, ऐसे अनेक पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति प्रतिपन्न होती है।

(८) परार्थानुमान की व्याख्या धर्मोत्तर ने की है—"यत् पुनः परप्रतिपत्तावेवोपयुज्यते, तत् परार्थानुमानम्" (न्या. वि. पृ. १४३)। यहाँ जो पुरुष प्रतिपादन करता है, जिन वाक्यों के द्वारा प्रतिपादन करता है और जिस पुरुष को लक्ष्य करके प्रतिपादन किया जाता है, ऐसे अनेक पदार्थों के ज्ञान से उक्त प्रतिपत्ति साध्य है, अतः यह सब कुछ तब तक उपपन्न नहीं होता, जब तक कि अनेकार्थविषयक ज्ञानों का कोई एक आत्मा प्रतिसन्धाता न हो किन्तु विज्ञानवाद में तो एकमात्र निरालम्बन ज्ञान केवल अपने स्वरूप का भासक माना जाता है, फलतः विज्ञानवाद में कथित अनेक प्रतिज्ञाओं का बाध होता है—"अपि च द्वयोर्विज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः"।

कर्म (क्रिया) का आश्रय (कर्त्ता कारक) और क्रिया-जन्य फल का आश्रयीभूत (कर्मकारक) सदैव भिन्न-भिन्न होते है, अभिन्न नहीं, तब ग्रहण क्रिया का कर्त्ता (ग्राहक) भी ज्ञान हो और ग्रहण क्रिया का कर्म (ग्राह्य) भी ज्ञान हो—यह सम्भव क्योंकर होगा ? लोक में जैसे क्रिया कभी फलरूप नहीं होती, जैसे छिदा (छेदन क्रिया) कभी छेदन का कर्म (छेद्य) नहीं होती, अपितु काष्ठादि ही छेद्य होते हैं। पाक (पाचनक्रिया) कभी पाक का कर्म नहीं होता, अपितु तण्डुलादि ही पचनीय होते हैं। वैसे ही ज्ञान कभी भी अपने ग्राहक अंश का ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया की प्रवृत्ति स्वयं अपने में नहीं होती, अपितु पाच्यभूत तण्डुल सदैव पाक से भिन्न होते हैं। इसी तथ्य को भाष्यकार भूमिका-रचना करते हुए स्पष्ट करते हैं—"किं चान्यद्—विज्ञानं विज्ञानमित्यभ्युपगच्छता"। अर्थात् जिस अनुभव के आधार पर ज्ञान की सिद्धि होती है, उसी के द्वारा बाह्यार्थ की भी, तब बाह्यार्थ का अभ्युपगमन क्यों नहीं ?

**शङ्का**—विज्ञानवादी शङ्का करता है कि "ननु विज्ञानस्य स्वरूपव्यतिरिक्तग्राह्यत्वे"। अर्थात् यदि विज्ञान अपने स्वरूप से भिन्न पदार्थ का ग्रहण करता है, तब यह मानना पड़ता है कि जब तक ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक वह बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष नहीं कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्तग्राह्यत्वे तदप्यन्येन ग्राह्यं, तदप्यन्येनेत्यनवस्था प्राप्नोति। अपि च प्रदीपवदवभासात्मकत्वाज्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरं कल्पयतः समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेः कल्पनानर्थक्यमिति। तदुभयमप्यसद्, विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणा-

भामती

प्रत्यक्षं सन्नार्थं प्रत्यक्षयितुमर्हति। नहि चक्षुरिव तन्निलीनमर्थे कञ्चनातिशयमाधत्ते येनार्थंप्रत्यक्षं सत् प्रत्यक्षयेदपितु तःप्रत्यक्षतैवार्थप्रत्यक्षता। यथाहुः—❀ अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति इति ❀। तच्चेत् ज्ञानान्तरेण प्रतीयेत तदप्रतीतं नार्थविषयं ज्ञानमपरोक्षयितुमर्हति। एवं तत्तदित्यनवस्था। तस्मादनवस्थाया बिभ्यता वरं स्वात्मनि वृत्तिरास्थिता। अपि च यथा प्रदीपो न दीपान्तरमपेक्षते, एवं ज्ञानमपि न ज्ञानान्तरमपेक्षितुमर्हति समत्वादिति। तदेतत् परिहरति ❀ तदुभयमप्यसद्विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः ❀। अयमर्थः—सत्यमप्रत्यक्षस्योपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति न तूपलब्धारं प्रति तत्प्रत्यक्षत्वायोपलम्भान्तरं प्रार्थनीयम्, अपि तु तस्मिन्निन्द्रियार्थसन्निकर्षवन्तःकरणविकारभेद उत्पन्नमात्र एव प्रमातुरर्थश्चोपलम्भश्च प्रत्यक्षौ भवतः। अर्थो हि निलीनस्वभावः प्रमातारं प्रति स्वप्रत्यक्षत्वायान्तःकरणविकारभेदमनुभवमपेक्षते, अनुभवस्तु जडोऽपि स्वच्छतया चैतन्यविम्बोद्ग्रहणाय नानुभवान्तरमपेक्षते येनानवस्था भवेत्। नह्यस्ति सम्भवोऽनुभव उत्पन्नश्च न च प्रमातुः प्रत्यक्षो भवति यथा नीलादिः। तस्माद्यथा छेत्ता छिदया छेद्यं वृक्षादि व्याप्नोति, न तु छिदा छिदान्तरेण, नापि छिदैव छेत्री, किन्तु स्वत एव देवदत्तादिः। यथा वा पक्ता पाक्यं पाकेन

भामती—व्याख्या

सकता। चक्षु के समान अज्ञात रह कर ही विज्ञान बाह्यार्थ पर किसी प्रकार का अतिशय उत्पन्न नहीं करता कि स्वयं अप्रत्यक्ष होता हुआ भी बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष कर लेता, अपितु ज्ञान की प्रत्यक्षता ही विषय की प्रत्यक्षता है, जैसा कि कहा गया है—"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति"। [अप्रत्यक्षभूत उपलम्भ (विज्ञान) के द्वारा बाह्यार्थ का ज्ञान कभी सिद्ध नहीं होता, शान्तरक्षित ने भी कहा है—"अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिध्यति" (तत्त्वसं. श्लो. २०७४)]। विज्ञान यदि विज्ञानान्तर से गृहीत होता है, तब वह द्वितीय विज्ञान भी स्वयं अपरोक्ष न होकर अपने ग्राह्यभूत अर्थविषयक प्रथम विज्ञान का अपरोक्ष नहीं कर सकता। फलतः विज्ञान-परम्परा की अपेक्षा में अनवस्था पर्यवसित होती है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे एक दीपक अपना कार्य करने के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही विज्ञान भी विज्ञानान्तर की अपेक्षा क्यों करेगा?

**समाधान**—"तदुभयमप्यसत्। ज्ञानग्रहणमात्रे एव विज्ञानसाक्षिणो ग्रहणाकांक्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः"। भावार्थ यह है कि 'अप्रत्यक्षभूत उपलम्भ (ज्ञान) से अर्थ-ज्ञान सिद्ध नहीं होता'—यह सत्य है, किन्तु उपलब्धा (साक्षी) का प्रत्यक्ष करने के लिए प्रत्यक्षान्तर की कभी अपेक्षा नहीं होती, अपितु घटादि पदार्थों के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण की जो घटाकार वृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें साक्षी प्रतिबिम्बित होता है, उसी से वृत्ति भास्वरित हो उठती है और प्रमाता तथा उपलम्ब दोनों प्रत्यक्ष हो जाते हैं, क्योंकि जड़ पदार्थ सदैव अप्रकाशात्मा है, प्रमाता को अपना प्रत्यक्ष कराने के लिए जड़-वर्ग अन्तःकरण-वृत्ति की अपेक्षा करता है। अन्तःकरण-वृत्तिरूप अनुभव जड़ होने पर भी स्वच्छ है, अतः चैतन्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए अनुभवान्तर की अपेक्षा नहीं करता कि अनवस्था प्रसक्त होती। ऐसा कभी सम्भव नहीं कि अनुभव उत्पन्न हो, किन्तु साक्षी को उसका प्रत्यक्ष न हो, जैसे नीलादि का। फलतः जैसे छेत्ता (पुरुष) अपनी छिदा क्रिया के द्वारा वृक्षादिरूप छेद्यपदार्थों का ही छेदन करता है, छिदा क्रिया का अन्य छिदा क्रिया के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काङ्क्षानुत्पादादनवस्थाशङ्कानुपपत्तेः, साक्षिप्रत्ययययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्युपलभ्यभावोपपत्तेः, स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्। किंचान्यत्, प्रदीपवद्धि-

भामती

व्याप्नोति न तु पाकं पाकान्तरेण। नापि पाक एव पक्ता किन्तु स्वत एव देवदत्तादिः। एवं प्रमाता प्रमेयं नीलादि प्रमया व्याप्नोति, न तु प्रमां प्रमान्तरेण, नापि प्रमैव प्रमात्री, किन्तु स्वत एव प्रमायाः प्रमाता व्यापकः। न च प्रमातरि कूटस्थनित्यचैतन्ये प्रमापेक्षासम्भवो यतः प्रमातुः प्रमायाः प्रमान्तरापेक्षायामनवस्था भवेत्। तस्मात् सुष्ठूक्तं विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणः प्रमातुः कूटस्थनित्यचैतन्यस्य ग्रहणाकाङ्क्षानुत्पादादिति। यदुक्तम्—समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तेरिति, तत्राह ❀ साक्षिप्रत्ययययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्युपलभ्यभावोपपत्तेः ❀। मा भूद् ज्ञानयोः साम्येन ग्राह्यग्राहकभावो ज्ञातृज्ञानयोस्तु वैषम्यादुपपद्यत एव। ग्राह्यत्वञ्च ज्ञानस्य न ग्राहकक्रियाजनितफलशालितया यथा बाह्यार्थस्य फले फलान्तरानुपपत्तेः। यथाहुः—"न संविदर्थते फलत्वादिति"। अपि तु प्रमातारं प्रति स्वतःसिद्धप्रकटतया ग्राह्योऽप्यर्थः प्रमातारं प्रति स्वतःसिद्धप्रकटतया ग्राह्योऽप्यर्थः प्रमातारं प्रति सत्यां संविदि प्रकटः संविदपि प्रकटा। यथाहुरन्वे—"नास्याः कर्मभावो विद्यते" इति। स्यादेतत्—यत्प्रकाशते तदन्येन प्रकाश्यते यथा ज्ञानार्थौ तथा च साक्षीति नास्ति प्रत्यक्षसाक्षिणोर्वैषम्यमित्यत आह ❀ स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात् ❀। तथाहि—अस्य साक्षिणः सदाऽसन्दिग्धाविपरीतस्य नित्यसाक्षा-

भामती—व्याख्या

द्वारा छेदन नहीं करता और न छिदा क्रिया ही छेदिका होती है, किन्तु देवदत्तादि ही छेत्ता होते हैं। अथवा जैसे पाचक (पाक-कर्त्ता पुरुष) ओदनादि पाक्य (पचनीय) पदार्थों का ही पाक क्रिया के द्वारा विक्लेदन करता है, न कि पाक का पाकान्तर के द्वारा। वहाँ पाक ही पक्ता (पाचक) नहीं होता, अपितु स्वतः देवदत्तादि ही पाचक होते हैं, वैसे ही प्रमाता (पुरुष) नीलादिरूप प्रमेय पदार्थों का ही प्रमा क्रिया के द्वारा प्रकाशन करता है, प्रमा का अन्य प्रमा के द्वारा प्रकाशन नहीं करता। प्रमा स्वयं प्रमात्री नहीं होती, अपितु चेतनपुरुष ही प्रमाता होता है। स्वयंप्रकाशात्मक चैतन्यरूप प्रमाता के प्रकाशनार्थ अन्य प्रमा या प्रमाता की अपेक्षा नहीं कि अनवस्था प्राप्त हो, अतः भाष्यकार ने नितान्त सत्य कहा है—"विज्ञानग्रहणमात्र एव विज्ञानसाक्षिणः प्रमातुः कूटस्थनित्यचैतन्यस्य ग्रहणाकांक्षानुत्पादात्"। यह जो कहा गया कि "समत्वादवभास्यावभासकभावानुपपत्तिः" अर्थात् जो दो ज्ञान समानस्वभाव के हैं, उनमें कौन किसका अवभासक है—यह नहीं कहा जा सकता। उसका समाधान यह है—"साक्षिप्रत्ययययोश्च स्वभाववैषम्यादुपलब्ध्युपलभ्यभावोपपत्तेः"। अर्थात् दो समान ज्ञानों में भले ही ग्राह्य-ग्राहकभाव न हो, किन्तु ज्ञाता (पुरुष) और ज्ञान में विषमता होने के कारण ग्राह्य-ग्राहकभाव उपपन्न हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि बाह्य घटादि विषयों पर ग्रहण क्रिया-जनित फल (वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य) की आश्रयतारूप ग्राह्यता (ग्रहण क्रिया की कर्मता) होती है, किन्तु वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्यरूप ज्ञान पर वैसी ग्राह्यता सम्भव नहीं, क्योंकि फल (वृत्ति प्रतिफलित चैतन्य) पर अन्य फल (वृत्ति-प्रतिफलित चैतन्य) नहीं माना जाता। एक ही वृत्युपहित साक्षी अपना और अपनी अभिव्यञ्जिका वृत्ति का भासक माना जाता है, जैसा कि संवित्स्वयंप्रकाशवादी आचार्यों ने कहा है—"न संविद् अर्यते, फलत्वात्" अर्थात् 'अर्यते गम्यते इति अर्थः' ज्ञान से भिन्न घटादि जड़-वर्ग सदैव ज्ञान-कर्मत्वेन प्रकाशित होते हैं, किन्तु ज्ञान अपने प्रमाता के प्रति स्वतः सिद्ध प्रकट है और ज्ञेयपदार्थ सदैव ज्ञान के उत्पन्न होने पर प्रकट होता है। प्रभाकर मिश्र भी यही कहते हैं—"संवित्तयैव संवित् संवेद्या, न संवेद्यतया, नास्याः कर्मभावो विद्यते" (बृहती. पृ. ८२)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानमवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमनवगन्तृकमित्युक्तं स्यात्, शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षस्त्वयाऽनुज्ञायत इति चेत्, न; अन्यस्यावगन्तुश्चक्षुःसाधनस्य

भामती

स्कारताऽनागन्तुकप्रकाशत्वे घटते। तथाहि—प्रमाता सन्दिहानोऽप्यसन्दिग्धो विपर्यस्यन्नप्यविपरीतः परोक्षमर्थमुत्प्रेक्षमाणोऽप्यपरोक्षः स्मरन्नप्यानुभविकः प्राणभृन्मात्रस्य, न चैतदन्याधीनसंवेदनत्वे घटते। अनवस्थाप्रसङ्गश्चोक्तः। तस्मात् स्वयंसिद्धतास्यानिच्छताप्यप्रत्याख्येया प्रमाणमार्गायत्तत्वादिति। किञ्चोक्तेन क्रमेण ज्ञानस्य स्वयमवगन्तृत्वाभावात् प्रमातुरनभ्युपगमे च प्रदीपवद्विज्ञान मवभासकान्तरनिरपेक्षं स्वयमेव प्रथत इति ब्रुवताऽप्रमाणगम्यं विज्ञानमवगन्तृकमित्युक्तं स्यात् शिलाघनमध्यस्थप्रदीपसहस्रप्रथनवत्। अवगन्तुश्चेत् कस्यचिदपि न प्रकाशते कृतमवगमेन स्वयंप्रकाशेनेति। विज्ञानमेवावगतिरिति मन्वानः शङ्कते ॐ बाढमेवमनुभवरूपत्वाद् इति ॐ। न फलस्य कर्तृत्वं कर्मत्वं वास्तीति प्रदीपवत् कर्त्रन्तरमेषितव्यम्, तया च न सिद्धसाधनमिति। परिहरति ॐ न, अन्यस्यावगन्तुरिति ॐ। ननु साक्षिस्थानेऽस्त्व-

भामती—व्याख्या

शालिकनाथ मिश्र इसी का निचोड़ प्रस्तुत करते हैं—"स्वयंप्रकाशरूपत्वात् संविदः"।

"यत्प्रकाशते तदन्येन प्रकाश्यते, यथा ज्ञानार्थौ, तथा च साक्षी"—इस अनुमान के द्वारा जो लोग साक्षी और ज्ञान की समानरूप से परप्रकाश्यता सिद्ध करते हैं, उनका निराकरण करने के लिए कहा है—"स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्"। अर्थात् इस साक्षी की सदैव असन्दिग्ध और अविपरीत साक्षात्काररूपता तभी सम्भव है, जब साक्षी को अनागन्तुकप्रकाशरूप ( स्वयंप्रकाश ) माना जाय। यह साक्षी अन्य विषय में संशय करता हुआ भी अपने में असन्दिग्ध है, अन्य विषय में विपर्यस्त होने पर भी अपने में विपर्यय-रहित है, अन्य विषय का परोक्ष ज्ञान रखता हुआ भी स्वयं अपरोक्ष है एवं अन्य विषय का स्मरण करता हुआ भी स्वयं अनुभव-सिद्ध है—ऐसी सभी व्यक्तियों को जो अनुभूति होती है, वह तभी उपपन्न हो सकती है, जब कि साक्षी तत्त्व को स्वयंप्रकाश माना जाय, परप्रकाशता-पक्ष में अनवस्था का प्रसञ्जन किया जा चुका है। फलतः इच्छा न रहने पर भी साक्षी की स्वप्रकाशता और स्वयंसिद्धता माननी अनिवार्य है, क्योंकि वह अकाट्य प्रमाणों के द्वारा प्रसाधित है।

योगाचारगणों का जो यह कहना है कि 'हमारा ( विज्ञानवादियोंका ) विज्ञानस्कन्ध ऐसा सक्षम तत्त्व है, जिसको अपने से भिन्न न तो किसी प्रमाता पुरुष की अपेक्षा है और न किसी ज्ञानान्तर की। वह प्रदीप के समान स्वयंप्रकाश है' उन के उस वक्तव्य से एक ऐसा अनोखा पदार्थ सिद्ध होता है जो हिमाद्रि की दुर्गम एवं निर्जन प्राकृत कन्दरा में जाज्वल्यमान विशाल दीपावली के समान है, किन्तु जिसका न कोई जानकार है और न जिस में कोई प्रमाण। अतः उस की सत्ता सिद्ध एवं प्रमाणित करने के लिए वेदान्त-सम्मत साक्षी तत्त्व अवश्य मानना चाहिए, अन्यथा जिसका कोई अवगन्ता ( जानकार ) नहीं, ऐसे नाममात्र के स्वयंप्रकाश पदार्थ को भानने से क्या लाभ ?

**शङ्का**—आप ( वेदान्तियों ) ने जो विज्ञान को गति ( अनुभूतिरूप ) माना है, वह जो हमारा ( विज्ञानवादियों का ) ही सिद्धान्त है, उस से हम पूर्णतया सहमत हैं—"बाढमेवम्, अनुभवरूपत्वात्तु विज्ञानस्येष्टो नः पक्षः"।

**समाधान**—हमारा ( वेदान्तियों का ) इतना ही कहना नहीं कि ज्ञान अनुभवरूप है, किन्तु अनुभव प्रमारूप फल है, उसमें न तो अनुभवन क्रिया का कर्तृत्व है और न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदीपादिप्रथनदर्शनात्। अतो विज्ञानस्याप्यवभास्यत्वाविशेषात्सत्येवान्यस्मिन्नवगन्तरि प्रथनं प्रदीपवदित्यवगम्यते। साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव मम पक्षस्त्वया वाचोयुक्त्यन्तरेणाश्रित इति चेत्, न, विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्। अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम्॥ २८॥

## वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्॥ २९॥

यदुक्तम्—बाह्यार्थापलापिना स्वाप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः, प्रत्ययत्वाविशेषादिति। तत्प्रतिवक्तव्यम्, अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्।

भामती

स्मवभिमतमेव विज्ञानम्, तथा च नाभ्येव विप्रतिपत्तिर्नार्थ इति शङ्कते ❀ साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता ❀ अभिप्रेयता। स्वयं प्रथते विज्ञानमित्येष एव इति ❀। निराकरोति ❀ न इति ❀। भवति हि विज्ञानस्योत्पादादयो धर्मा अभ्युपेतास्तथा चास्य फलतया नावगन्तृत्वम्। कर्तृफलभावस्यैकत्र विरोधात्, किन्तु प्रदीपादितुल्यतेत्यर्थः॥ २८॥

बाधाबाधौ वैधर्म्यं, स्वप्नप्रत्ययो बाधितो जाग्रत्प्रत्ययश्चाबाधितः। त्वयापि चावश्यं जाग्रत्प्रत्ययस्याबाधितत्वमास्थेयं तेन हि स्वप्नप्रत्ययो बाधितो मिथ्येत्यवगम्यते। जाग्रत्प्रत्ययस्य तु बाध्यत्वे स्वप्नप्रत्ययस्यासौ न बाधको भवेत्। नहि बाध्यमेव बाधकं भवितुमर्हति। तथा च न स्वप्नप्रत्ययो मिथ्येति

भामती—व्याख्या

कर्मत्व, अतः प्रदीप के समान किसी कर्त्ता (साक्षी या प्रमाता) की विज्ञान को अपेक्षा है, जो कि आप (विज्ञानवादियों) को अभीष्ट नहीं, अतः आप सिद्ध-साधनता का उद्भावन नहीं कर सकते—"न, अन्यस्यावगन्तुः"। अर्थात् दीपक न तो अपने आप जलता (प्रदीप्त होता) है और न अपने आप प्रकाश करता है, अपितु कोई नेत्रवाला पुरुष दीपक को जलाता और प्रथित (उचित दिशा और उचित मात्रा में रखता) है।

शङ्का—आप (वेदान्तियों) ने जो साक्षी को स्वयंप्रकाश कहकर हमारे (विज्ञानवादियों के) विज्ञान का स्थानापन्न मात्र बनाया है। इस प्रकार केवल नाम (संज्ञा) में विवाद रह जाता है, वस्तु में नहीं—"साक्षिणोऽवगन्तुः स्वयंसिद्धतामुपक्षिपता"। 'उपक्षिपता' का अर्थ है—'अभिप्रयता'। अर्थात् विज्ञान की स्वयंप्रकाशता का अभिप्राय साक्षी की स्वयंप्रकाशता में बताते हुए आपने विज्ञानवाद को ही प्रशस्त किया है।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"न, विज्ञानस्योत्पत्तिप्रध्वंसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्"। आप (विज्ञानवादी) अपने विज्ञान के उत्पत्ति, प्रध्वंस और अनेकत्वादि अनेक धर्म मानते हैं। उनके अनुसार आपका विज्ञान केवल अनुभवरूप फल (प्रमा) ही ठहरता है, उसमें अनुभवितृत्व सम्भव नहीं, क्योंकि कर्तृभाव (कर्तृत्व) और फलभाव (फलत्व) दोनों धर्म परस्पर-विरुद्ध हैं, एकत्र नहीं रह सकते, अतः आपके विज्ञान में केवल प्रदीपादि साधनों की ही समानता है, साक्षी की नहीं, क्योंकि साक्षी एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाववाला है॥ २८॥

'सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्' (प्र. वा. भा. पृ. ३५९) इस अनुमान में सूत्रकार ने दोष दिखाया है—'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'। दृष्टान्त सदैव पक्ष का समानधर्मा होता है, किन्तु प्रकृत में स्वप्नरूप दृष्टान्त विधर्मा है, क्योंकि स्वाप्न ज्ञान में बाधितविषयकत्व है और जाग्रत्प्रत्ययरूप पक्ष में अबाधितार्थत्व है, अतः स्वप्न-प्रत्यय


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः, किं पुनर्वैधर्म्यम् ? बाधाबाधाविति ब्रूमः । बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति । न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो 'निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति । एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते । अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धि-

भामती

साध्यविकलो दृष्टान्तः स्यात् स्वप्नवदिति । तस्माद् बाधाबाधाभ्यां वैधर्म्यान्न स्वप्नप्रत्ययदृष्टान्तेन जाग्रत्प्रत्ययस्य शक्यं निरालम्बनत्वमध्यवसातुम् । ❀ निद्राग्लानम् इति ❀ करणदोषाभिधानं । मिथ्यात्वाय वैधर्म्यान्तरमाह ❀ अपि च स्मृतिरेषा इति ❀ । संस्कारमात्रजं हि विज्ञानं स्मृतिः । प्रत्युत्पन्नेन्द्रियसम्प्रयोगलिङ्गशब्दसारूप्यान्यथानुपपद्यमानयोग्यप्रमाणानुत्पत्तिलक्षणसामग्रीप्रभवन्तु ज्ञानमुपलब्धिः, तदिह निद्राणस्य सामग्र्यन्तरविरहात् संस्कारः परिशिष्यते, तेन संस्कारजत्वात् स्मृतिः, सापि च निद्रादोषा-

भामती–व्याख्या

दृष्टान्त नहीं, दृष्टान्ताभास है । [ इसी का अनुवाद प्रज्ञाकार ने किया है—"स्वप्नप्रत्ययानां बाधकसद्भावात् ।

स्वप्नदृष्टं पुनर्जाग्रद्दर्शनेन न दृश्यते ।
तेनान्यदा तदैवान्यैस्तदनालम्बनं ततः ॥

न चैवं स्वप्नज्ञानवद् बाधको जाग्रत्प्रत्ययेः" ( प्र. वा. भा. पृ. ३५९ ) ] । योगाचारगणों को भी यह मानना पड़ेगा कि जाग्रत्कालीन ज्ञान सर्वथा अबाधित है और उसके द्वारा स्वाप्नज्ञान बाधित, अत एव मिथ्या है । यदि जाग्रत ज्ञान बाधित है, तब वह स्वप्न-ज्ञान का बाधक नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो स्वयं बाधित है, वह दूसरे का बाधक क्योंकर होगा ? अबाधित स्वप्न-ज्ञान मिथ्या ( निरालम्बन ) न होगा, फलतः निरालम्बनता-साधक अनुमान का स्वाप्न ज्ञानरूप दृष्टान्त साध्य-विकल ( निरालम्बनत्वरूप साध्य से रहित ) हो जायगा । इस प्रकार बाधितार्थत्व और अबाधितार्थत्वरूप वैधर्म्य हो जाने के कारण स्वप्न-प्रत्यय के दृष्टान्त से जाग्रत्प्रत्यय में निरालम्बनता की सिद्धि न हो सकेगी । "निद्राग्लानं तु मे मनः"—इस भाष्य के द्वारा भाष्यकार ने स्वाप्न ज्ञान के करण में दोष दिखाया है । [ वही ज्ञान मिथ्या होता है, जिसके करण में दोष हो अथवा जो बाधितार्थक हो—"यस्य च दुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययः" ( शाबर. पृ. २८ ) । करण-दोष भी दिखाया है—प्रबुद्धो ह्यवगच्छति निद्राक्रान्तं मे मन आसीत्" ( शाबर. पृ. ३० ) ] ।

स्वाप्न प्रत्यय में मिथ्यात्व-प्रयोजक धर्मान्तर दिखाया जाता है—"अपि च स्मृतिरेषा" । संस्कारमात्र से जनित ज्ञान को स्मृति कहते हैं । स्वाप्न ज्ञान स्मृति या गृहीत-ग्राही ज्ञान होने के कारण अप्रमाण या मिथ्या है । जाग्रत्प्रत्यय उपलब्धि ( अगृहीत-ग्राही ज्ञानरूप अनुभूति प्रमा) है । उपलब्धि ज्ञान छः प्रकार का होता है –(१) **प्रत्यक्ष**–वर्तमान इन्द्रिय और घटादि पदार्थों के सन्निकर्ष से जनित ज्ञान । (२) **अनुमिति**—लिङ्ग ( व्याप्यभूत हेतु ) से समुद्भूत ज्ञान । (३) **शाब्द**—शब्द से समुत्पादित ज्ञान । (४) **उपमिति**—सादृश्यज्ञान से सञ्जात ज्ञान । (५) **अर्थापत्ति**—अन्यथानुपपद्यमान पदार्थ के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान । (६) योग्यानुपलब्धि से अभिजात अभाव प्रमा । स्वाप्न ज्ञान को उपलब्धित या अनुभूति इसीलिए नहीं कहा जा सकता कि उपलब्धि के कथित पाँच कारणों में से किसी भी कारण से जनित नहीं, केवल निद्रित मन के उद्बुद्ध संस्कारों से जनित होने के कारण उसे स्मृति कहना ही युक्तिसंगत है । निद्रा दोष के कारण उक्त स्मृति यथार्थ न होकर विपरीत होती है । अर्थात् जिस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्तु जागरितदर्शनम् । स्मृत्युपलब्ध्योश्च प्रत्यक्षमन्तरं स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि, नोपलभे उपलब्धुमिच्छामीति । तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्युभयोरन्तरं स्वयमनुभवता । नच स्वानुभवापलापः प्राज्ञमानिभिर्युक्तः कर्तुम् । अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गाज्जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुमशक्नुवता स्वप्नप्रत्ययसाधर्म्याद्वक्तुमिष्यते । नच यो यस्य स्वतो धर्मो न संभवति सोऽन्यस्य साधर्म्यात्तस्य संभविष्यति । न ह्यग्निरुष्णोऽनुभूयमान उदकसाधर्म्याच्छीतो भविष्यति । दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ॥ २९ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

यदप्युक्तम्—विनाप्यर्थेन ज्ञानवैचित्र्यं वासनावैचित्र्यादेवोपकल्पते इति ।

भामती

द्विपरीताऽवर्त्तमानमपि पित्रादि वर्त्तमानतया भासयति । तेन स्मृतेरेव तावदुपलब्धेर्विशेषस्तस्याश्च स्मृतेर्वैपरीत्यमिति । अतो महदन्तरमित्यर्थः । अपि च स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे जाग्रत्प्रत्ययानां यथार्थत्वमनुभवसिद्धं नानुमानेनान्यथयितुं शक्यमनुभवविरोधेन तदनुत्पादाद् । अबाधितविषयतोत्पन्नानुमानोत्पादसामग्रीग्राह्यतया प्रमाणम् । न च कारणाभावे कार्यमुत्पत्तुमर्हतीत्याशयवानाह ॐ अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गाद् इति ॐ ॥ २९ ॥

यथा लोकदर्शनज्ञान्वयव्यतिरेकावनुध्रियमाणावर्थं एवोपलब्धेर्भवतो नार्थानपेक्षायां वासनायां

भामती—व्याख्या

व्यक्ति ने अतीत ( भूत ) काल में पिता-पितामहादि का दर्शन किया था, उसको उनका स्वप्न में ऐसा स्मरण होता है कि जैसे अभी ही वर्तमान पिता-पितामहादि भान हो रहा हो। उपलब्धि ( अनुभूति ) ज्ञान से स्मृति ही विलक्षण होती है और यह स्वाप्न स्मृति तो साधारण स्मृति से भी विलक्षण ( विपरीत देश कालादि की ग्राहिका ) है, अतः प्रमा ज्ञान से इसका महान् अन्तर है ।

दूसरी बात यह भी है कि जाग्रत्कालीन स्तम्भादि-प्रत्यय स्वतः प्रमाणभूत हैं, जैसा कि कुमारिलभट्ट कहते हैं—

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन शक्यते ॥ ( श्लो. वा. पृ. ५९ )

अनुभव के द्वारा जिस ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध है, उसका अनुमान के द्वारा अन्यथाकरण संभव नहीं, क्योंकि जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण विरोधी है, ऐसा अनुमान उत्पन्न हो नहीं सकता, यदि किसी प्रकार उत्पन्न भी हो जाता है, तब भी अनुमान स्वयं प्रमाणभूत होकर ही अपने विरोधी प्रत्यक्ष का बाध कर सकेगा । प्रमाणता नाम है—अबाधितविषयकता का । प्रत्यक्षरूप अनुभव के द्वारा जब अनुमान बाधितविषयक हो जाता है, तब वह न स्वयं प्रमाण हो सकता है और न प्रत्यक्ष का बाधक । कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता । निरालम्बनतासिद्धि भी एक कार्य है, इसका कारण है- अनुमान प्रमाण, किन्तु वह प्रत्यक्षानुभव से बाधित है—"अपि चानुभवविरोधप्रसङ्गात्" । जाग्रत्कालीन स्तम्भादि-पदार्थों की अनुभूति स्वतः प्रमाणभूत ( अबाधितविषयक ) है, अतः स्वाप्न प्रत्यय के साधर्म्यमात्र से उसका अन्यथाकरण सम्भव नहीं, श्रीशबरस्वामी ने कहा है—"स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता कथं विपर्यसिष्यति ?" ( शाबर. पृ. २९ ) ॥ २९ ॥

[ वसुबन्धु के शिष्य स्थिरमति केवल वासनाओं के आधार पर आत्मा, सत्त्व, जीव एवं घटादि बाह्य पादों का अवभास मानते हैं—"तत्र आत्मादिविकल्पवासनापरिपोषाद्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न भावो वासनानामुपपद्यते त्वत्पक्षेऽनुपलब्धेर्बाह्यानामर्थानाम्। अर्थोपलब्धिनिमित्ता हि प्रत्यर्थं नानारूपा वासना भवन्ति। अनुपलभ्यमानेषु त्वर्थेषु किंनिमित्ता विचित्रा वासना भवेयुः?। अनादित्वेऽप्यन्धपूरंपरान्यायेनाप्रतिष्ठैवानवस्था व्यवहारलोपिनी स्यान्नाभिप्रायसिद्धिः। यावप्यन्वयव्यतिरेकावर्थोपलापिनोपन्यस्तौ वासननिमित्तमेवेदं ज्ञानजातं नार्थनिमित्तमिति, तावप्येवं सति प्रत्युक्तौ द्रष्टव्यौ, विनार्थोपलब्ध्या वासनानुपपत्तेः। अपि च विनापि वासनाभिरर्थोपलब्ध्युपगमाद्विना त्वर्थोपलब्ध्या वासनोत्पत्त्यनभ्युपगमादर्थसद्भावमेवान्वयव्यतिरेकावपि प्रतिष्ठापयतः। अपि च वासना नाम संस्कारविशेषाः। संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते, एवं लोके दृष्टत्वात्। नच तव वासनाश्रयः कश्चिदस्ति, प्रमाणतोऽनुपलब्धेः॥ ३०॥

## क्षणिकत्वाच्च॥ ३१॥

यदप्यालयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं, तदपि क्षणिकत्वाभ्युपग-

भामती

वासनाया अप्यर्थोपलब्ध्यधीनत्वदर्शनादित्यर्थः। अपि चाश्रयाभावादपि न लौकिकी वासनोपपद्यते। न च क्षणिकमालयविज्ञानं वासनाधारो भवितुमर्हति, द्वयोर्युगपदुत्पद्यमानयोः सव्यदक्षिणशृङ्गवदाधाराधेयभावाभावात्। प्रागुत्पन्नस्य चाधेयोत्पादसमये सतः क्षणिकत्वव्याघात इत्याशयवानाह ॐ अपि च वासना नाम इति ॐ। शेषमतिरोहितार्थम्॥ ३०॥

भामती–व्याख्या

रूपादिविकल्पवासनापरिपोषाच्च आलयविज्ञानाद् आत्मादिनिर्भासो विकल्पो रूपादिनिर्भासश्चोत्पद्यते, तमात्मादिनिर्भासं रूपादिनिर्भासं च तस्माद् विकल्पाद् बहिर्भूतमिवोपादाय आत्माद्युपचारो रूपादिधर्मोपचारश्च अनादिकालिकः प्रवर्तते विनापि बाह्येनात्मना धर्मैश्च" (त्रिंशि. भा. पृ. ९८)। उन वासनाओं का निरास किया गया—"न भावोऽनुपलब्धेः"]। आशय यह है कि "बाह्यविषयसत्त्वे विज्ञानवैचित्र्यम्, तदभावे तदभावः'—इस प्रकार का लोक-प्रसिद्ध अन्वय-व्यतिरेक बाह्य पदार्थों को लेकर तो उपपन्न हो जाता है, किन्तु बाह्यार्थानपेक्ष भावना को लेकर नहीं, क्योंकि वासना की सिद्धि जिन बाह्य पदार्थों की उपलब्धि पर निर्भर है, उनकी सत्ता विज्ञानवादी मानते ही नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उन वासनाओं का आधारभूत कोई स्थिर तत्त्व अपेक्षित है, वह भी विज्ञानवाद में अभ्युपगत नहीं। क्षणिक आलयविज्ञान को जो वासना का आश्रय माना गया है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि आलयविज्ञान और वासना दोनों क्षणिक पदार्थ हैं। जब दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं, तब उनमें आधार-आधेयभाव वैसे ही नहीं बन सकता, जैसे गौ के शिर पर एक साथ निकले वाम और दक्षिण दोनों सींगों में। वासना के पूर्व क्षण में उत्पन्न होकर आलयविज्ञान यदि वासना के उत्पत्ति-क्षण में भी रहता है, तब उसका क्षणिकभाव समाप्त हो जाता है, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"अपि च वासना नाम संस्कार-विशेषाः"। शेष भाष्य सुगम है॥ ३०॥

[ वसुबन्धु आदि आचार्यों के द्वारा संस्थापित आलयविज्ञान की क्षमता का परीक्षण करते हुए प्रज्ञाकर लिखते हैं—"आस्तामियमालयविज्ञानचिन्ता। वासनाधारतया वा परिकल्पितं तदिति न दोषः" (प्र. वा. भा. पृ. ४५७)। क्षणिक विज्ञान में वासना की आश्रयता का शङ्कापूर्वक उपपादन करते हुए प्रज्ञाकर ने ही कहा है—"अथ क्षणिकं विज्ञानं कथं वास्यवासकभावस्तत्र अनुत्पन्नं न वास्येत अतीतोऽपि न वासकः। सहितयोरपि परस्परमसम्बन्धान्न वास्यवासकभावः। तदसत्, कार्यकारणभावविशेष एव वास्यवासकभावः" (प्र.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मादनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवन्न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति। नहि कालत्रयसंबन्धिन्येकस्मिन्नन्वयिन्यसति कूटस्थे वा सर्वार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधीनस्मृतिप्रतिसंधानादिव्यवहारः संभवति। स्थिरस्वरूपत्वे त्वालयविज्ञानस्य सिद्धान्तहानिः। अपि च विज्ञानवादेऽपि क्षणिकत्वाभ्युपगमस्य समानत्वाद् यानि

भामती

स्यादेतत् -- यदि साकारं विज्ञानं न सम्भवति बाह्यश्चार्थः स्थूलसूक्ष्मविकल्पेनासम्भवी, हन्तैवमर्थज्ञाने सत्त्वेन तावद्विचारं न सहेते। नाप्यसत्त्वेन, असतो भासनायोगात्। नोभयत्वेन, विरोधात् सदसतोरेकत्वानुपपत्तेः। नाप्यनुभयत्वेन, एकनिषेधस्येतरविधाननान्तरीयकत्वात्। तस्माद्विचारासहत्वमेवास्तु तत्त्वं वस्तूनाम्। यथाहु—

इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा॥ इति।

भामती—व्याख्या

वा. भा. पृ. ३५८)। किन्तु क्षणिक पदार्थों में कार्यकारणभाव नहीं बन सकता—यह भी "क्षणिकत्वाच्च" इस सूत्र से सूचित किया गया है। वस्तुतः इस सूत्र के द्वारा वैभाषिक सौत्रान्तिक और योगाचार–इन तीनों निकायों का निराकरण किया गया है]।

**माध्यमिक की शङ्का**–योगाचार की जो स्थापना है कि 'साकार विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व है, उससे अतिरिक्त बाह्य विषय सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह न तो स्थूल रूप में सम्भव है और न सूक्ष्मरूप में'। ऐसी स्थापना पर हमारा (शून्यवादियों का) प्रतिवेदन है कि बाह्य विषय और आन्तरिक ज्ञान–ये दोनों ही पदार्थ सूक्ष्म विचार की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, क्योंकि उन्हें सत् मानने पर शाश्वतिकवाद और असत् मानने पर उच्छेदवाद प्रसक्त होता है—

अस्ति यद्धि स्वभावेन न तन्नास्तीति शाश्वतम्।
नास्तीदानीमभूतपूर्वमित्युच्छेदः प्रसज्यते॥ (मध्यमक १५।११)

'सत्' और असत्' के समान उभय और अनुभयरूप भी नहीं मान सकते—"न सन्नासन्न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा" (मध्यमक. पृ. २)। इसकी व्याख्या चन्द्रकीर्ति ने की है—'सन्न निर्वर्तते, विद्यमानत्वात्। असन्नपि, अविद्यामानत्वात्। सदसन्नपि, परस्परविरुद्धस्यैकार्थस्याभाद्, उभयपक्षाभिहित दोषाच्च'। प्रज्ञाकरमति ने एक प्राचीन उद्धरण देकर अपनी नीति स्पष्ट कर दी है—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ (बो. च. पं. पृ. १७४)

ज्ञान और ज्ञेयवर्ग को सदसदुभयरूप इसलिए नहीं कहा सकता कि जो सत् है, वह असत् नहीं और जो असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता, सत् और असत् के समान विरुद्ध धर्मों की एकता कभी भी नहीं हो सकती। अनिर्वचनीय कोटि माननेवालों को छोड़कर और कोई भी दार्शनिक अनुभवरूपता नहीं मानता, जो सत् नहीं, वह असत् और जो असत् नहीं वह सद्रूप है। अत एव शून्य तत्त्व को माध्यमिकों ने चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त माना है। लङ्कावतार सूत्र भी कहता है—"सदसत्पक्षनिर्मुक्तमुभयं नोभयं न च" (१०।८८०)। 'शून्यत्व' और 'विचारासहत्व' पर्याय शब्द है, धर्मकीर्ति ने इधर ही संकेत किया है—

"इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथार्थाः चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥ (प्र. वा. ३।२१०)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्यार्थवादे क्षणिकत्वनिबन्धनानि दूषणान्युद्भावितानि 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्' इत्येवमादीनि, तानीहाप्यनुसंधातव्यानि। एवमेतौ द्वावपि वैनाशिकपक्षौ निराकृतौ—बाह्यार्थवादिपक्षो विज्ञानवादिपक्षश्च। शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, नह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुमपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः ॥ ३१ ॥

भामती

न क्वचिदपि पक्षे व्यवतिष्ठन्त इत्यर्थः। तदेतन्निराचिकीर्षुराह ❀ शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धः इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते ❀। लौकिकानि हि प्रमाणानि सदसत्त्वगोचराणि तैः खलु सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं व्यवस्थाप्यते। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं व्यवस्थाप्यते। सदसतोश्च विचारासहत्वं व्यवस्थापयता सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्धं व्यवस्थापितं भवति। तथा च सर्वप्रमाणविप्रतिषेधान्नेयं व्यवस्थोपपद्यते। यद्युच्येत तात्त्विकं प्रामाण्यं प्रमाणानामनेन विचारेण व्युदस्यते, न सांव्यवहारिकम्। तथा च भिन्नविषयत्वान्न सर्वप्रमाणविप्रतिषेध इत्यत आह ❀ नह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकस्य व्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम् ❀। प्रमाणानि हि स्वगोचरे प्रवर्त्तमानानि तत्त्वमिदमित्येव प्रवर्त्तन्ते। अतात्त्विकत्वं तु तद्गोचरस्यान्यतो बाधकाद्वगन्तव्यं न पुनः सांव्यवहारिकं नः प्रामाण्यं न तु तात्त्विकमित्येव प्रवर्त्तन्ते। बाधकज्ञातात्त्विकत्वमेषां तद्गोचर-

भामती—व्याख्या

इसकी व्याख्या में प्रज्ञाकार ने कहा है—"तस्माद् यथा यथा वस्तु चिन्त्यते, तथा तथा विशीर्यते एवेति किं कुर्मः? तस्मादाह विज्ञानं विज्ञानरूपतया शून्यमिति सकलधर्मशून्यतैव न्याय्या" ( प्र. वा. भा. पृ. २८६ )।

**वेदान्ती का समाधान**—"शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते"। आशय यह है कि लौकिक प्रमाण लोक-प्रसिद्ध सत् और असत् पदार्थों को विषय करते हैं, उन प्रमाणों के द्वारा जो सत्पदार्थ सद्रूप से गृह्यमाण है, वह यथाभूत, अविपरीत तत्त्व माना जाता है एवं असत् वस्तु असत् रूप से गृह्यमाण भी तत्त्व कहलाती है। [ जैसा कि न्यायभाष्यकार कहते हैं—"किं पुनस्तत्त्वम्? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति, असच्च असदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति? सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत्—यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते, तन्नास्ति" ( न्या. भा. पृ. २ ) ]। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सत् और असत् वस्तु की व्यवस्था की जाती है, किन्तु सत् और असत् को विचारासह या अप्रमाणित बताना खुल्लमखुल्ला प्रमाणों की अवहेलना है।

यदि कहा जाय कि दो प्रकार की प्रमाणता होती है-(१) पारमार्थिक और (२) व्यावहारिक। लौकिक प्रमाणों का पारमार्थिक ( तात्त्विक ) प्रामाण्य ही इस विचार के द्वारा निराकृत किया जाता है, व्यावहारिक प्रामाण्य नहीं, जैसा कि मण्डनमिश्र भी कहते हैं—"व्यवहाराविसंवादलक्षणं तु तत्, न तत्त्वावेदनलक्षणत्" ( ब्र. सि. पृ. ४१ )। तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि "न हि अयं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्"। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण अपने विषय में प्रवर्तमान होकर 'तत्त्वमिदम्'—इतना ही सिद्ध करते हैं। उस पदार्थ की अतात्त्विकता तो उस विषय में प्रवृत्त अन्य बाधक प्रमाणों के द्वारा अधिगमित होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाण यह कुछ भी सूचित नहीं करते कि हमारा ( प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ) प्रामाण्य व्यावहारिक है, तात्त्विक नहीं। बाधक प्रमाण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

**किं बहुना ? सर्वप्रकारेण यथायथाऽयं वैनाशिकसमय उपपत्तिमत्त्वाय परीक्ष्यते,**

भामती

विपरीततत्त्वोपदर्शनेन दर्शयेत् । यथा शुक्तिकेयं न रजतं मरीचयो न तोयमेकश्चन्द्रो न चन्द्रद्वयमित्यादि । तद्वविहापि समस्तप्रमाणगोचरविपरीततत्त्वान्तरव्यवस्थापनेनातात्त्विकत्वमेषां प्रमाणानां बाधकेन दर्शनीयं न त्वव्यवस्थापिततत्त्वान्तरेण प्रमाणानि शक्यानि बाधितुम् । विचारासहत्वं वस्तूनां तत्त्वं व्यवस्थापय-द्बाधकमतात्त्विकत्वं प्रमाणानां दर्शयतीति चेत् , किं पुनरिदं विचारासहत्वं वस्तु यत्तत्त्वमभिमतं किं तद्वस्तु परमार्थतः सदादीनामन्यतमत् केवलं विचारं न सहते ? अथ विचारासहत्वेन निस्तत्त्वमेव तत्र परमार्थतः सदादीनामन्यतमद्विचारं न सहत इति विप्रतिषिद्धम् । न सहते चेन्न सदादीनामन्यतमवन्यत-मच्चेत् कथं न विचारं सहते ? अथ निस्तत्त्वं चेत् , कथमन्यतमत्तत्त्वमव्यवस्थाप्य शक्यमेवं वक्तुम् । न च निस्तत्त्वतैव तत्त्वं भावानां, तथा सति हि तत्त्वाभावः स्यात् सोऽपि च विचारं न सहत इत्युक्तं भवद्भिः । अपि चारोपितं निषेधनीयम्, आरोपश्च तत्त्वाधिष्ठानो दृष्टो यथा शुक्तिकादिषु रजतादेः । न चेत् किञ्चिदस्ति तत्त्वं कस्य कस्मिन्नारोपः ? तस्मान्निष्प्रपञ्चं परमार्थसद् ब्रह्मानिर्वाच्यप्रपञ्चात्मनारोप्यते, तच्च तत्त्वं व्यवस्थाप्यातात्त्विकत्वेन सांव्यवहारिकत्वं प्रमाणानां बाधकेनोपपादयत इति युक्तमुत्पश्यामः ॥

विभजते ❀ किं बहुनोक्तेन यथाविधा ❀ ग्रन्थतोऽर्थतश्चायं ❀ वैनाशिकसमयः इति ❀ । ग्रन्थत-

भामती-व्याख्या

प्रवृत्त होकर उस विषय से विपरीत तत्त्व की व्यवस्था करते हुए उस विषय की अतत्त्वरूपता एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अतात्त्विकता सिद्ध कर सकते है, जैसे—शुक्तिकेयम्, न रजतम्', 'मरीचयो न तोयम्', 'एकश्चन्द्रो न चन्द्रद्वयम्' । वैसे ही प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों के विषयी-भूत घट-पटादि के विषय में बाधक प्रमाणों के द्वारा विपरीत तत्त्व की व्यवस्था करके ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का बाध किया जा सकता है ।

यदि कहा जाय कि घटादि वस्तुओं में विचारासहत्व व्यवस्थापित करके भी बाधक ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षादि की अतात्त्विकता प्रदर्शित की जा सकती है । तब जिज्ञासा होती है कि 'तद् विचारासहम्'—इस का क्या अर्थ ? (१) क्या ज्ञानादि पदार्थ परमार्थतः सदादि चार कोटियों में से अन्यतम हैं, किन्तु विचारसह नहीं हैं ? अथवा (२) विचारसह न होने के कारण निस्तत्व हैं ? प्रथम पक्ष परस्पर-व्याहत है, क्योंकि जो परमार्थतः सदसदादि अन्यतम कोटि का पदार्थ है, वह विचारासह क्योंकर होगा ? यदि विचारसह नहीं, तब परमार्थतः सदादि कोटियों में से अन्यतम कैसे ? द्वितीय कल्प भी सम्भव नहीं, क्योंकि किसी तत्त्वरूपता की व्यवस्था किए विना अन्य को निस्तत्त्व नहीं कहा जा सकता । यदि पदार्थों की निस्तत्त्वता को ही तत्त्व माना जाय, तब निस्तत्त्व का अर्थ सत्त्वाभाव या असत्त्व है, वह भी विचारा सह कहा जा चुका है ।

दूसरी बात यह भी है कि कहीं पर आरोपित ( प्रसक्त ) पदार्थ का ही निषेध होता है । आरोप सदैव तात्त्विक आधार में ही होता है, जैसे शुक्ति में रजत का आरोप । यदि कोई भी तात्त्विक नहीं, तब किसका किस में आरोप होगा । अतः मानना पड़ेगा कि एक मात्र निष्प्रपञ्च ब्रह्म परमार्थ तत्त्व है, उसी में समस्त प्रपञ्च सदसद्विलक्षणत्वेन आरोपित है । इस प्रकार तत्त्व की व्यवस्था करके प्रपञ्च के बाधक प्रमाणों के द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों में सांव्यवहारिकत्व व्यवस्थापित करना होगा—ऐसा ही युक्ति-युक्त प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

"सर्वथानुपपत्तेश्च"—इस सूत्र की व्याख्या की जा रही है—"किं बहुना" ! सर्व-प्रकारेण का अर्थ है—(१) शब्दतः और (२) अर्थतः । अर्थात् बौद्धों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सिकताकूपवद्विदीर्यत एव। न कांचिदप्यत्रोपपत्तिं पश्यामः। अतश्चानुपपन्नो वैनाशिकतन्त्रव्यवहारः। अपि च बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयमितरेतरविरुद्धमुपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसंबद्धप्रलापित्वं, प्रद्वेषो वा प्रजासु विरुद्धार्थप्रतिपत्त्या विमुह्य युरिमाः प्रजा इति। सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैरित्यभिप्रायः ॥३२॥

भामती

स्तावत्पश्यनातिष्ठनामिद्धपोषधाद्यसाधुपदप्रयोगः। अर्थतश्च नैरात्म्यमभ्युपेत्यालयविज्ञानं समस्तवासनाधारमभ्युपगच्छन्नक्षरमात्मानमभ्युपैति। एवं क्षणित्वमभ्युपेत्योत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता धर्मस्थितितेति नित्यतामुपैतीत्यादिवहूहितव्यमिति ॥ ३२ ॥

भामती—व्याख्या

उनके अर्थों पर जैसे-जैसे ध्यान देते जाते हैं, वैसे-वैसे वे बालू में खोदे गए कुए के समान विदीर्ण होते जाते हैं।

(१) **शब्दतः अनुपपन्नता**—'पश्यना', 'तिष्ठना', 'मिद्ध' 'पोषध' आदि असाधु शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो कि सर्वथा असंगत है—

**पश्यना**—"अङ्गपरिग्रहणशमविपश्यनासमताभ्यामयत्नवाहित्वात्" ( अभि.-को. भा. ६।६६ )। विपश्यना एक प्रकार की प्रज्ञा है, जिसके द्वारा सभी पदार्थों में अनित्यता, दुःखरूपता और अनात्मरूपता का दर्शन होता है—"सङ्खारे अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सति" (वि. यग्गो. ८।२३४)।

**मिद्ध**—"कौकृत्यं स्त्यानमिद्धं च" ( अभि. को. ५।४७ )। स्वयं वसुबन्धु ने इसकी व्याख्या की है—"कायसन्धारणासमर्थश्चित्ताभिसंक्षेपो मिद्धम्"। पालि भाषा में 'थीन' और 'मिद्ध' दो शब्द अनुत्साह ओर आलस्य के अर्थ में प्रचलित हैं—(वि. मुगो. १४।१६७)।

**पोषध**—पालि में 'उपोसथ' शब्द कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि तथा पूर्णिमा में सम्पन्न किए जानेवाले भिक्षु-समारोह के लिए प्रयुक्त हुआ है. सम्भवतः अर्द्धसंस्कृत के आगमों में उसके लिए 'पोषध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उपोसथ में 'प्रातिमोक्ष' का पारायण परमावश्यक होता था, अभिधर्मकोश में उपोसथ के लिए 'उपवास' शब्द का प्रयोग किया गया है—

उपवासं समादत्तेऽनुवदन् गौरवान्वितः।
मण्डनादिविहीनः सन् प्रातःकालादहर्निशम् ॥ ( ४।२८ )।

आचार्य वसुबन्धु ने 'उपवास', 'उपोसथ' और 'पोषध' तीनों शब्दों की मत-भेद से सुन्दर पुरातन-व्याख्या प्रस्तुत की है—"अर्हतां समीपे वसन्त्यनेनेति उपवासः, तेषामनुशिक्षणात्। पावज्जीविकसंवरसमं पे वसंत्यनेनेत्यपरे। अल्पकुशलमूलानां कुशलमूलपोषणात् पोषध इति वा।

पोषं दधाति मनसः कुशलस्य यस्माद्।
उक्तस्ततो भगवता किल पोषधोऽयम् ॥ ( अभि. को. पृ. ६२३ )

(२) **अर्थतः अनुपपन्नता**—

(१) आत्मा का निषेध किया गया—"नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतं कुक्षिमेति" ( अभि. को. ३।१८ )। आलयविज्ञान की स्थापना की गई—"तत्पुनरालयविज्ञानादेवोत्पद्यते, तद्धि सर्वविज्ञानबीजकम्" ( त्रिंशि. भा. १६ )। इस प्रकार आलयविज्ञान के नाम से उसी अक्षर ( कूटस्थात्मा ) को मान लिया गया है।

(२) क्षणिकत्व की प्रतिज्ञा सुदृढ़ शब्दों में की गई—"अनुत्पत्तिश्च धर्माणां क्षणिकाथ° वदाम्यहम्" ( लङ्कावं. पृ. ९६ )। किन्तु क्षणिकत्व के विरुद्ध यह भी कहा गया है—"उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता धर्मस्थितिता" ( लङ्कावं. सू. पृ.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ६ एकस्मिन्नसंभवाधिकरणम् । सू० ३३--३६ )

## नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

निरस्तः सुगतसमयः । विवसनसमय इदानीं निरस्यते । सप्त चैषां पदार्थाः संमता जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षा नाम । संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ जीवाजी-

भामती

निरस्तो मुक्तकच्छानां सुगतानां समयः, विवसनानां समय इदानीं निरस्यते । तत्समयमाह संक्षेपविस्ताराभ्याम् ❀ सप्त चैषां पदार्थाः सम्मताः इति ❀ । तत्र संक्षेपमाह ❀ संक्षेपतस्तु द्वावेव

भामती—व्याख्या

५८ ) । अर्थात् धर्मता ( कार्यता ) और धर्मस्थितिता ( कारणता ) की स्थिरता ( नित्यता ) अभ्युपगत है ।

[ भाष्यकार ने पुनः सावधान किया है कि "सर्वथाप्यनादरणीयोऽयं सुगतसमयः श्रेयस्कामैः" । श्री कुमारिलभट्ट ने भी कहा है कि वैदिक धर्म-कर्म को बचाने के लिए बौद्धों का विशेषतः विज्ञानवाद का निराकरण बहुत आवश्यक है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे पुण्यपापादि यत्फलम् ।
विध्यर्थवादमन्त्रार्थनामधेयादिकल्पना ॥
सर्वेषु लक्षणेष्वेवं स्वप्रमाणगणैः स्थितिः ।
वचनव्यक्तिभेदेन पूर्वसिद्धान्तपक्षता ॥
कर्मभ्यः फलसम्बन्धः पारलोक्यैहलौकिकः ।
सर्वमित्याद्ययुक्तं स्यादर्थशून्यासु बुद्धिषु ॥
तस्माद्धर्मार्थिभिः पूर्वं प्रमाणैर्लोकसम्मतैः ।
अर्थस्य सदसद्भावे यत्नः कार्यः क्रियां प्रति ॥ (श्लो० वा० पृ० २१७)

**संगति**—कच्छ-विहीन ( विना लाँग की ) धोती पहननेवाले बौद्धों के मत का निरास किया गया, कच्छ-विहीन धोती ( लुङ्गी ) पहननेवाले भिक्षुओं को देख कर धोती-विहीन ( नंगे या दिगम्बर ) जैन क्षपणकों का स्मरण हो जाना स्वाभाविक है, अतः बौद्ध-मत का निराकरण करने के अनन्तर सूत्रकार ने जैन-मत का निराकरण किया है ।

**संशय**—ऐकान्तिक समन्वय का विरोध अनैकान्तिक-समन्वय कर सकता है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—अनैकान्तवाद को समझाने के लिए जैनदर्शन का स्वल्प परिचय कराना आवश्यक है—"सप्त चैषां पदार्थाः सम्मताः" । [ यद्यपि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने नौ पदार्थ गिनाए हैं—

जीवाजीवौ भावौ पुण्यं पापं चास्रवस्तयोः ।
संवरनिर्जरबन्धा मोक्षश्च भवन्ति ते अर्थाः ॥ ( पञ्च. १०८ )

तथापि तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा में उनको सात वर्गों में ही रखा है ] । सातों पदार्थों का संक्षिप्त वर्गीकरण किया जाता है—संक्षेपतस्तु द्वावेव पदार्थौ" । (१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष । तत्त्वार्थसूत्र (१।४) में चर्चित इन सात तत्त्वों को जीव और अजीव—इन दो वर्गों में ही बाँटा जा सकता है, क्योंकि शेष पाँच पदार्थों का इन्हीं दो वर्गों में अन्तर्भाव हो जाता है । [श्री अकलङ्क ने इस प्रकार के वर्गीकरण की शङ्का उठा कर उसका निराकरण किया है—"जीवाजीवयोरन्यतरत्रान्तर्भावाद्


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाख्यौ, यथायोगं तयोरेवेतरान्तर्भावादिति मन्यन्ते। तयोरिममपरं प्रपञ्चमाचक्षते—पञ्चास्तिकाया नाम—जीवास्तिकायः पुद्गलास्तिकायो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय

भामती

पदार्थौ' इति ॐ। बोधात्मको जीवो जडवर्गस्त्वजीव इति। यथायोगं तयोर्जीवाजीवयोः। इममपरं प्रपञ्चमाचक्षते। तमाह ॐ पञ्चास्तिकाया नाम इति ॐ। सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान् इति ॐ। जीवास्तिकाय-

भामती—व्याख्या

आस्रवादीनामनुपदेशः। न वा परस्परोपश्लेशे संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वाद्, उभयथापि चोदनानुपपत्तिः, अनेकान्ताच्च" ( तत्त्वार्थ. वा. पृ. २५ )।

न्यायसूत्रकार ने भी अपने प्रथम सूत्र में "प्रमाणप्रमेयसंशयादि सोलह पदार्थ गिनाकर कह दिया कि इन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष का अधिगम होता है। वहाँ पर भी लोग ऐसी ही शङ्का करते थे, उसका अनुवाद करके भाष्यकार ने सौत्र-वर्गीकरण का समर्थन ही किया है—' तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्। संशयादयो यथा-सम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्ते। सत्यमेतद्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्संस्थानाः, यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी, तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः" ( न्या. भा. पृ. ३-४ ) ]।

जीव और अजीव का विभाग अन्य रीति से भी किया गया है—"पञ्चास्तिकाया नाम (१) जीवास्तिकायः, (२) पुद्गलास्तिकायः, (३) धर्मास्तिकायः, (४) अधर्मास्तिकायः, (५) आकाशास्तिकायः"। [श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्हि च णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥ ( पञ्चास्ति. ४ )

'अस्तिकाय' शब्द में 'अस्ति' और 'काय'—दो भाग हैं। 'अस्ति' शब्द का अर्थ है—'अत्थित्तम्हि णियता' अर्थात् अस्तित्वे नियता, नियतसत्ताक होने के कारण जीवादि को अस्ति कहते हैं और 'काय' शब्द 'ची चयने' से निष्पन्न होकर प्रदेशप्रचयात्मकत्व को कहता है—'अणुमहन्ता' अपने अणुओं अवयवों ( प्रदेशों ) के द्वारा महान् ( उपचित ) हैं। द्रव्यसंग्रह में भी कहा है—

सन्ति जदो तेणेदे अत्थीति भणन्ति जिणवरा जम्हा।
काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया च ॥ (२५)

जैनाचार्य जीवादि पाँच पदार्थों को सत्तावान् होने के कारण अस्ति और काय ( शरीर ) के समान उपचित होने के कारण काय कहते हैं। दोनों शब्दों को मिलाकर 'अस्तिकाय' शब्द सम्पन्न हुआ है ]। इन पाँचों अस्तिकायों के स्वरूप और अवान्तर भेद इस प्रकार है।

(१) जीवास्तिकाय—ज्ञानादि गुणों से भिन्नाभिन्न एवं चेतन है—"तत्र ज्ञानादिधर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्। चैतन्यलक्षणो जीवः" ( षड्. समु. जैन. ४८-४९ )। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—"उपयोगो लक्षणम्" ( २।८ )। 'उपयोग' पद से ज्ञान और दर्शन का ग्रहण किया गया है—

उपयोगः खलु द्विविधो ज्ञानेन च दर्शनेन संयुक्तः।
जीवस्य सर्वकालमनन्यभूतं विजानीहि ॥ ( पञ्चा. ४० )

जैन-मत में जीव न तो आकाश के समान व्यापक माना जाता है और न परमाणु के समान सूक्ष्म, अपि तु मध्यम परिमाण का माना गया है। प्रदीप के समान संकोच-विकास शील है—"प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्" ( तत्त्व. सू. ५।१६ )।

उमास्वाति ने जीवों के दो भेद माने हैं—"संसारिणो मुक्ताश्च" (तत्त्व. सू. २।१०)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan and eGangotri

आकाशास्तिकायश्चेति । सर्वेषामप्येषामवान्तरप्रभेदान्बहुविधान्स्वसमयपरिकल्पि-

भामती

स्त्रिधा—बद्धो मुक्तो नित्यसिद्धश्चेति । पुद्गलास्तिकायः षोढा—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि स्थावरं जङ्गमञ्चेति । धर्मास्तिकायः प्रवृत्त्यनुमेयोऽधर्मास्तिकायः स्थित्यनुमेयः । आकाशास्तिकायो द्वेधा—लोकाकाशोऽलोकाकाशश्चेति । तत्रोपर्य्युपरि स्थितानां लोकानामन्तवर्त्ती लोकाकाशस्तेषामुपरिमोक्षस्थानमलोका-

भामती—व्याख्या

संसारी जीव दो प्रकार के हैं—चर और अचर ( स्थावर ) । चर ( जङ्गम ) चार भागों में विभक्त हैं ( १ ) पाँच इन्द्रियोंवाले ( मनुष्यादि ), ( २ ) चार इन्द्रियोंवाले ( भ्रमरादि ), ( ३ ) तीन इन्द्रियोंवाले ( पिपीलिकादि ), ( ४ ) दो इन्द्रियोंवाले ( जलौकादि )

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने नित्यसिद्ध जीवों की एक तीसरी कक्षा मानी है—

येषां जीवस्वभावो नास्त्यभावश्च सर्वथा तस्य ।
ते भवन्ति भिन्नदेहा सिद्धा वाग्गोचरमतीताः ॥ ( पञ्चा. ३५ )

ऐसे सिद्ध जीव लौकिक प्राण और शरीर का धारण किए बिना ही सतत विद्यमान रहते हैं । वाचस्पतिमिश्र ने सम्भवतः इसे ही नित्यसिद्ध कहा है ।

( २ ) **पुद्गलास्तिकाय**—'पुद्गल' शब्द का व्यवहार बौद्ध-साहित्य में जीव या आत्मा के लिए हुआ है, अत एव पुद्गलात्मदृष्टि का निरास करने के लिए वसुबन्धु ने अष्टम कोशस्थान के अन्त में 'पुद्गलनिश्चय' नाम का एक विस्तृत प्रकरण ही लिखा है ।

जैनाचार्यों ने उपचित और अपचित होने वाले पृथिव्यादि पदार्थों का बोधक 'पुद्गल' शब्द माना है—"पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः । भेदसंघाताभ्यां पूर्यन्ते गलन्ते चेति पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः पृषोदरादिषु निपातितः, यथा शवशायनं श्मशानमिति" ( तत्त्वार्थवार्तिक. पृ. ४३४) । जैसे बड़े कमरे में रखने पर दीपक के तैजस अवयव फैल जाते हैं और छोटे कमरे में संकुचित हो जाते हैं, ऐसे ही भौतिक परमाणु कहीं उपचित और कहीं अपचित होते हैं ।

यद्यपि अवयवी द्रव्य के समान परमाणुरूप पुद्गल सावयव न होने के कारण उपचित-अपचित नहीं हो सकते, तथापि स्वगत गुणों के वृद्धि-ह्रास के कारण पूरण और गलन स्वभाव के माने जाते हैं—"परमाणुषु तदभावात् पुद्गलत्वाभाव इति चेन्न, गुणापेक्षया तत्सिद्धेः" ( तत्त्वार्थवार्तिक. पृ. ४३४ ) । पुद्गलास्तिकाय छः हैं—( १ ) पृथिवी, ( २ ) जल, (३) तेज, ( ४ ) वायु, ( ५ ) स्थावर ( वृक्षादि ) एवं ( ६ ) जङ्गम ।

( ३ ) **धर्मास्तिकाय**—स्पर्शादि गुणों से रहित पूरे लोकाकाश में व्याप्त, असंख्य अवयवों से युक्त पृथुल तत्व है । इसके बिना गतिशील द्रव्यों की वैसे ही गमन क्रिया नहीं हो सकती, जैसे पानी के बिना मछलियों की, अतः गति के द्वारा धर्मतत्व अनुमेय है—

उदगं जह मच्छानं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोके ।
तह जीवपुग्गलानं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥ ( पञ्चास्ति. ८५ ) .

( ४ ) **अधर्मास्तिकाय**—धर्म, जल के समान गमन क्रिया का निमित्त कारण है, तो अधर्म स्थिति क्रिया का वैसे ही निमित्त है, जैसे पृथिवी—

जह हवदि धम्मदव्वं तह जाणेहि, दव्वमधम्मक्खं ।
ठितिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥ ( पञ्चास्ति. ८६ )

( ५ ) **आकाशास्तिकाय**—जीवादि द्रव्यों को जो अवकाश देता है, वह आकाश है । आकाश के दो भेद हैं—( १ ) लोकाकाश और ( २ ) अलोकाकाश । सभी देव-लोकों की ऊपरी सीमा जहाँ समाप्त होती है, उस से ऊपर का असीम आकाश अलोकाकाश कहलाता है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

काशः। तत्र हि न लोकाः सन्ति। तदेवं जीवाजीवपदार्थौ पञ्चधा प्रपञ्चितौ। आस्रवसंवरनिर्जरास्त्रयः पदार्थाः प्रवृत्तिलक्षणाः प्रपञ्चयन्ते। द्विधा प्रवृत्तिः सम्यङ्मिथ्या च। तत्र मिथ्या प्रवृत्तिरास्रवः। सम्यक्-प्रवृत्ती तु संवरनिर्जरौ। आस्रावयति पुरुषं विषयेष्वितीन्द्रियप्रवृत्तिरास्रवः। इन्द्रियद्वारा हि पौरुषं ज्योतिर्विषयान् स्पृशद्रूपादिज्ञानरूपेण परिणमत इति। अन्ये तु कर्माण्यास्रवमाहुः, तानि हि कर्त्तारमभिव्याप्य स्रवन्ति कर्त्तारमनुगच्छन्तीत्यास्रवः। सेयं मिथ्याप्रवृत्तिरनर्थहेतुत्वात्। संवरनिर्जरौ च सम्यक्-प्रवृत्ती। तत्र शमदमादिरूपा प्रवृत्तिः संवरः। सा ह्यास्रवस्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवर उच्यते।

भामती–व्याख्या

उसमें न धर्म है और न अधर्म, अतः एव वहाँ जीवों की गति-स्थिति नहीं। उस आकाश से नीचे का आकाश लोकाकाश है, सभी लोक इसीं में अवस्थित हैं।

इस प्रकार जीवादि पाँच अस्तिकायों का स्वल्प परिचय कराया गया, अब (१) आस्रव, (२) संवर (३) निर्जरा, (४) बन्ध और (५) मोक्ष का प्रतिपादन किया जाता है।

(१) **आस्रव**—"कायवाङ्मनःकर्मयोगः", "स आस्रवः", "शुभः पुण्यस्य", "अशुभः पापस्य" (तत्व. सू. ६।१–४)। इन सूत्रों के द्वारा आस्रव के स्वरूप और विभाग का संक्षिप्त प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् शारीरक, वाचिक और मानस प्रवृत्तियों के योग (योजक या राग, द्वेष एवं मोहरूप प्रवर्तक पदार्थों) को आस्रव कहते हैं। योग दो प्रकार का होता है –(क) शुभयोग और (ख) अशुभयोग।

(क) **शुभयोग**—यह पुण्य का प्रस्रवण करता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने (पञ्चा० १३५, १३६) में प्रशस्त राग को शुभ योग कहा है, अर्हत्, सिद्ध साधु पुरुषों में भक्ति, धर्माचरण में प्रवृत्ति एवं गुरुजनों का अनुगमन शुभयोग से होता है—

रागो यस्य प्रशस्तो अनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः।
चित्ते नास्ति कालुष्यं पुण्यं जीवस्यास्रवति॥
अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे या च खलु चेष्टा।
अनुगमनमपि गुरूणां प्रशस्तराग इति ब्रुवन्ति॥

(ख) **अशुभयोग**—वाचस्पति मिश्र ने इसे ही मिथ्या प्रवृत्ति माना है, क्योंकि प्रमाद और विषय-लोलुपतादि शास्त्रगर्हित भावनाओं से पाप-प्रसविनी प्रवृत्ति होती है—

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि॥ (पञ्च. १३९)

कतिपय आचार्य इन्द्रिय-वृत्ति को आस्रव उहते हैं, क्योंकि इन्द्रियों के मार्ग से पौरुष ज्योति बाहर निकल कर बाह्य विषयों से सम्पृक्त होकर घटादि-आकारों में परिणत होती है। श्री अकलङ्कभट्ट ने इस पक्ष का अनुवाद करके खण्डन किया है—"चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वाद् रूपाद्यध्यवसायस्येति चेन्न, आत्माभेदेऽपि कायादीनां पूर्वकृतकर्मापादितसामर्थ्योपलम्भात्" (तत्व. वार्तिक. पृ. ५०५)।

अन्य आचार्य कर्मों को ही आस्रव कहते हैं, क्योंकि वे कर्त्ता को प्राप्त हो कर कर्त्ता का स्रवण (अनुगमन) करते हैं। इस पक्ष का भी अनुवादपूर्वक निरास वार्तिककार ने किया हैं—"कायवाङ्मनस्कर्म आस्रवः इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, योगाप्रत्याख्यानात्" (तत्व० वा. पृ. ५०६)। फलतः मिथ्या प्रवृत्ति अनर्थ का आस्रवण करने के कारण आस्रव कहलाती है।

(२) **संवर**—संवर और निर्जर दोनों सम्यक् प्रवृत्तिरूप हैं। उनमें शम-दमादिरूप प्रवृत्ति को संवर इस लिए कहते हैं कि वह आस्रवरूपी स्रोत का द्वार संवृत (बन्द) कर देती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

निर्जरस्त्वनुविकाल-प्रवृत्तिकषायकलुषपुण्यापुण्यप्रहाणहेतुस्तपशिलारोहणादिः । स हि निःशेषं पुण्यापुण्यं सुखदुःखोपभोगेन जरयतीति निर्जरः । बन्धोऽष्टविधं कर्म । तत्र घातिकर्म चतुर्विधम् । तद्यथा—ज्ञाना-

भामती—व्याख्या

है । [ उमास्वाति कहते हैं—"आस्रवनिरोधः संवरः" ( तत्व. सू. ९।१ ) । अग्रिम दो सूत्रों में संवर के सात उपाय गिनाए हैं—(१) गुप्ति ( शम-दम ), (२) समिति ( सोच समझ कर चलना-फिरना आदि ), (३) धर्म ( क्षमानुकम्पादि धर्मों का पालन ), (४) अनुप्रेक्षा ( गहन चिन्तन ), (५) परीषहजय ( द्वन्द्व-सहिष्णुता ), (६) चरित्र ( समग्र अशुद्ध प्रवृत्तियों का परिवर्जन ) तथा (७) तप ( बाह्य और आन्तरिक शुद्धि के लिए विहित व्रतों का पालन ।

(३) **निर्जरा**—अनादिकाल से आ रहे पुण्य-पापादि कलुषित कर्मराशि का निर्जरण ( क्षय ) करने के लिए तपशिलाधिरोहण ( तपशिला पर बैठ कर ध्यान-भावना करना ) आदि कठिन बहुविध तपों का पालन करना निर्जरा है । [ निर्जरा के दो भेद हैं—(१) भाव-निर्जरा और (२) द्रव्यनिर्जरा । निखिल पुण्यापुण्यरूप कर्म-राशि के सामर्थ्य का नाश भाव-निर्जरा और प्रायः समस्त कर्मों का नाश द्रव्यनिर्जरा है—

संवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिर्यश्चेष्टते बहुविधैः ।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियतम् ॥ ( पञ्च. १४४ )

मोक्ष और निर्जरा का इतना ही अन्तर है कि समस्त कर्मों का नाश मोक्ष है और अधिकतर कर्मों का नाश निर्जरा है । इस प्रकार निर्जरा को मोक्ष का पूर्वाङ्ग माना जाता है । "ततश्च" ( तत्व. सू. ८।२३ ) इस सूत्र में कहा गया है कि कर्म अपना फल देने के बाद जीवात्मा से विलग हो जाता है, यही विलगाव निर्जरा कहलाता है, जैसा कि वाचस्पति मिश्र कहते हैं—"स हि निःशेषं पुण्यापुण्यं सुखःदुखभोगेन जारयतीति निर्जरः" । कर्म का यह बिलगाव जैसे फल देने के अनन्तर अपने-आप होता है, वैसे तप से भी होता है । इसी सूत्र में वार्तिककार ने कहा है—"पूर्वार्जितकर्मपरित्यागो निर्जरा" ।

(४) **बन्ध**—[ "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः" ( तत्व. सू. ८।२ ) अर्थात् तत्व. सू. ८।१० में कथित क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों से युक्त होने के कारण जीव उन पुद्गलों ( परमाणुओं ) का ग्रहण करता है, जो घर्मार्धादि कर्मों के रूप में परिणत होने की योग्यता रखते हों । जीव-द्वारा गृहीत पुद्गलों में प्रकृति ( स्वभाव ), स्थिति ( कालिक अवधि ), अनुभाव ( फल प्रदान ) और प्रदेश ( परिमाण-विशेष ) ये चार विधाएँ साथ-ही-साथ उत्पन्न हो जाती है, जिनके आधार पर बन्ध चार प्रकार का माना जाता है—(१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभावबन्ध एवं (४) प्रदेशबन्ध । प्रथमबन्ध ( प्रकृतिबन्ध ) के आठ प्रकार गिनाए गए हैं—"आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः" ( तत्व. सू. ८।५ ) ] ।

इन आठों कर्मों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) घातिकर्म चार और (२) अघातिकर्म चार । अर्थात् श्रेयोमार्ग के विघातक और अविघातक । सब मिलाकर आठ कर्म हैं—(१) ज्ञानावरणीय कर्म, (२) दर्शनावरणीय कर्म, (३) वेदनीय कर्म, (४) मोहनीय कर्म, (५) आयुष्क कर्म, (६) नामिक कर्म, (७) गोत्रिक कर्म तथा (८) अन्तराय कर्म ।

(१) **ज्ञानावरणीय कर्म**—सम्यक् ज्ञान का आवरण करनेवाले कर्म, जिनके आधार पर यह विपर्यय हो जाता है कि "सम्यग् ज्ञानं न मोक्षसाधनम्, न हि ज्ञानाद् वस्तुसिद्धिः" । वार्तिककार ने 'ज्ञानावरणं दर्शनावरणम्'—इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है और 'आवरण'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

वरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमन्तरायमिति । तथा चत्वार्यघातिकर्माणि । तद्यथा—वेदनीयं नामिकं गोत्रिकमायुष्कं चेति । तत्र सम्यग् ज्ञानं न मोक्षसाधनम् , नहि ज्ञानाद्वस्तुसिद्धिरतिप्रसङ्गाविति विपर्ययो ज्ञानावरणीयं कर्मोच्यते । आर्हतदर्शनाभ्यासान्न मोक्ष इति ज्ञानं दर्शनावरणीयं कर्म । बहुषु विप्रतिषिद्धेषु तीर्थकारैरुपदर्शितेषु मोक्षमार्गेषु विशेषानवधारणं मोहनीयं कर्म । मोक्षमार्गप्रवृत्तानां तद्विघ्नकरं विज्ञानमन्तरायं कर्म । तानीमानि श्रेयोहन्तृत्वाद् घातिकर्माण्युच्यन्ते । अघातीनि कर्माणि तद्यथा वेदनीयं कर्म शुक्लपुद्गलविपाकहेतुः, तद्धि बन्धोऽपि न निःश्रेयसपरिपन्थि तत्त्वज्ञानाविघातकत्वात् । शुक्लपुद्गलारम्भकवेदनीयकर्मानुगुणं नामिकं कर्म, तद्धि शुद्धपुद्गलस्याद्यावस्थां कललबुद्बुदाविमारभते । गोत्रिकमव्याकृतम् । ततोऽप्याद्यं शक्तिरूपेणावस्थितम् । आयुष्कं त्वायुः कायति कथयत्यु-

भामती—व्याख्या

शब्द की व्युत्पत्ति की है—"आवृणोति आव्रियते वाऽनेनेत्यावरणम्" (तत्व. सू. वा. पृ. ५६७)।

(२) **दर्शनावरणीय**—'दर्शन' शब्द का अर्थ आर्हतादि साधु पुरुषों में भक्ति-श्रद्धा किया गया है, किन्तु दर्शनावरणीय कर्म के द्वारा 'आर्हतदर्शनाभ्यासान्न मोक्षः'—इस प्रकार का विपरीत ज्ञान हो जाता है।

(३) **वेदनीय कर्म**—[ ज्ञानावरण और दर्शनावरण के अनन्तर वार्तिककार ने 'वेदनीय कर्म' का क्रम अपनाया है—"तदनन्तरं वेदनानुवचनं तदव्यभिचारात्" ( तत्व. सू. वा. पृ. ५६९ )। किन्तु घाति कर्मों को एक साथ रखने के लिए वाचस्पति मिश्रादि ने तृतीय स्थान मोहनीय कर्म का माना है। सुख-दुःखादि का वेदन ( अनुभव ) जिस कर्म के द्वारा होता है, वह वेदनीय कर्म है ]। "सदसद्वेद्ये" ( तत्व. सू. ८।९ ) इस सूत्र में वेदनीय के दो भेद किए हैं—(१) शुक्ल ( पुण्य ) स्वभाव के पुद्गलो की परिपक्वता का हेतुभूत कर्म सुखवेदनीय एवं (२) दुःखवेदनीय। यह कर्म भी बन्धनभूत है, तथापि मोक्ष-मार्ग का घातक न होने से अघाति कर्म कहलाता है।

**मोहनीय कर्म** - वेदनीय के अनन्तर मोहनीय कर्म का क्रम क्यो ? इस प्रश्न का उत्तर है—"ततो मोहाभिधानम्, तद्विरोधात्" ( तत्व० सू० वा० पृ० ५६९ ) अर्थात् ज्ञान, दर्शन और वेदना का विरोधी होने के कारण मोहनीय कर्म का अभिधान करना नितान्त संगत है।

बादरायण, जैमिनि आदि कुतीर्थकारों के द्वारा मोक्ष-मार्ग प्रतिपादन मोहनीय कर्म है, क्योंकि वह मोह ( विशेषानवधारण ) के सागर में प्राणियों को निमग्न कर देता है ( द्र० तत्व० वा० पृ० ५६२, ६३५ )।

(५) **आयुष्क कर्म**—वेदना का निमित्त होने के कारण उसके पश्चात् आयु-निर्धारक कर्म का संकीर्तन किया गया है—"आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबन्धनत्वात्" ( तत्व० सू० वा० पृ० ५६९ )। शरीर-स्थिति का हेतुभूत कर्म आयुष्क है, अथवा शुक्र-शोणित-मिश्रण से लेकर कलल, बुद्बुदादिरूप में क्रमशः शरीर-रचना का निमित्तभूत कर्म आयुष्क कहा जाता है।

(६) **नाम कर्म**—"तदनन्तरं नामवचनम्, तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य" (तत्व० वा० पृ० ५७०) अर्थात् कलल, बुद्बुद, मांस, पेशी, करण्ड, अङ्ग प्रत्यङ्ग व्यूहादि गर्भस्थ अवस्थाओं के निष्पन्न एवं जन्म हो जाने पर नामादि संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं। नामधारी प्राणी अपने कर्मों के अनुरूप लोक-लोकान्तर में गमन करता है, अतः गति, जाति आदि का निमित्त नाम कर्म ही कहा गया है—( द्र० तत्व० सू० ८।११ )।

(७) **गोत्र कर्म**—"उच्चैर्नीचैश्च" ( तत्व० सू० ८।१२ ) इस सूत्र में व्यवस्था दी गई है कि गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है—(१) "यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म, तदुच्च-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तान्वर्णयन्ति। सर्वत्र चेमं 'सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति। एवमेवैकत्वनित्यत्वादिष्वपीमं सप्तभङ्गीनयं योजयन्ति।

भामती

स्यावनद्वारेत्यायुष्कम्। तान्येतानि शुक्लपुद्गलाद्याश्रयत्वादघातीनि कर्माणि। तदेतत् कर्माष्टकं पुरुषं बध्नातीति बन्धः। विगलितसमस्तक्लेशतद्वासनस्यानावरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मन उपरि देशावस्थानं मोक्ष इत्येके। अन्ये तूर्ध्वगमनशीलो हि जीवो धर्माधर्मास्तिकायेन बद्धस्तद्विमोक्षावूर्ध्वं गच्छत्येव स मोक्ष इति। त एते सप्त पदार्था जीवादयः सहावान्तरप्रभेदैरुपन्यस्ताः। तत्र ॐ सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयन्नाम न्यायमवतारयन्ति—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च इति ॐ। स्याच्छब्दः खल्वयं निपातस्तिङन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योती। यथाहुः—

भामती—व्याख्या

र्गोत्रम्'[1], (२) "गर्हितेषु यत्कृतम्, तन्नीचैर्गोत्रम्"। अर्थात् सम्पन्न और विपन्न जातियों में जन्म देनेवाले कर्मों को गोत्रकर्म कहते हैं।

(८) अन्तराय कर्म—"परिशेषादन्तेऽन्तरायवचनम्" (तत्व० सू० वा० पृ० ५७०)। दान-धर्मादि में विघ्नभूत कर्मों को अन्तराय कर्म कहा जाता है।

चर्चित आठों कर्म जीव को बन्धन में डालते हैं, अतः वे बन्ध कहे गए हैं। इसके अनन्तर मोक्ष का स्वरूप बताया जाता है—

मोक्ष—जिस जीव के सकल क्लेश एवं उन की वासनाएँ (संस्कार) समाप्त हो जाती हैं, आवरण ज्ञान उच्छिन्न हो जाता है, केवल सुखरूपता आविर्भूत हो जाती है, ऐसे जीव का लोकाकाश के शिखर पर विराजमान होना मोक्ष कहलाता है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रकार ने कहा है—"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्"। "कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः" (तत्व. सू. १०।१,३)।

अन्य आचार्यों का कहना है कि जीव स्वभावतः ऊर्ध्व गतिशील है किन्तु धर्मा-धर्मास्ति कायरूप बन्धनों के कारण ऊर्ध्वगति अवरुद्ध हो जाती है, बन्धनों के टूटते ही जीव ऊर्ध्व दिशा में गमन करने लगता है, यही मोक्षावस्था है, उमास्वाति कहते हैं—"तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्" (तत्व. सू. १०।५) अर्थात् समस्त कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव ऊपर उठने लगता है और लोकाकाश की छत तक पहुँच जाता है। पुद्गल द्रव्य और आत्मा-दोनों ही स्वभावतः गतिशील हैं, दोनों में यह महान् अन्तर है कि पुद्गल अधोगतिशील और जीव अर्ध्वगतिशील है। यद्यपि धर्मारित्तकाय को गति का निमित्त माना गया है और सभी कर्मों के साथ धर्म भी क्षीण हो जाता है, तथापि कुम्हार का चाक जैसे अपने-आप कुछ देर घूमता रहता है, वैसे ही धर्मास्तिकाय-जनित संस्कारों के द्वारा जीव तब तक गतिमान् रहता है, जब तक धर्मास्तिकाय की ऊर्ध्व सीमा नहीं आती—"आविद्धकुलालचक्रवत्" (तत्व. सू. १०।७)। सांख्याचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है—"तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः" (सा झा. ६७)।

सप्तभङ्गीनय—"सर्वत्र चेमं सप्तभङ्गीनयं नाम न्यायमवतारयन्ति—(१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति, (३) स्यादस्ति च नास्ति च, (४) स्यादवक्तव्यः, (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, (७) स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तिङन्तप्रतिरूपकः ॥ इति ।

यदि पुनरयमनेकान्तद्योतकः स्याच्छब्दो न भवेत् स्यादस्तीतिवाक्ये स्यात्पदमनर्थकं स्यात्, तदिदमुक्तम्—अर्थयोगित्वादिति । अनेकान्तद्योतकत्वे तु स्यादस्ति कथञ्चिदस्तीति स्यात्पदात् कथञ्चिदर्थोऽस्तीत्यनेनानुक्तः प्रतीयत इति नानर्थक्यम् । तथा च

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥

भामती–व्याख्या

[ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभङ्गं आदेसवसेन संभवदि ॥ (पञ्चास्ति० १४)

श्री उमास्वाति का सूत्र है—"अर्पितानर्पितसिद्धेः" ( तत्व० सू० ५।३१ ) । व्याख्याकारों ने 'अर्पित' शब्द का 'विवक्षा' अर्थ करते हुए सूत्र का अर्थ किया है—'अर्पितानर्पिताभ्यां नित्यत्वानित्यत्वे सिद्धे भवतः' ] ।

१ स्याद् अस्ति ।
२. स्याद् नास्ति ।
३. स्याद् अस्ति नास्ति ।
४. स्याद् अवक्तव्यम् ।
५. स्याद् अस्ति चावक्तव्यं च ।
६. स्याद् नास्ति चावक्तव्यं च ।
७. स्याद् अस्ति-नास्ति चावक्तव्यं च ।

'स्यात्' शब्द की व्याख्या अमृतचन्द्र ने की है—"सर्वथात्वनिषेधकानेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः" ( पञ्च. तत्वः पृ. १४६ ) । अर्थात् सर्वथात्व या ऐकान्तिकत्व के विरोधीभूत 'कथंचित्'—इस अर्थ में 'स्यात्' शब्द तिङन्त 'स्यात्' शब्द का प्रतिरूपक निपात है—ऐसा आप्तमीमांसा में कहा है—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तिङन्तप्रतिरूपकः ॥ ( आप्तमी. १०।१०३ )

अर्थात् अस्तित्व-नास्तित्वरूप गम्य ( हेयोपादेय ) का विशेषण है—'स्यात्' । यदि 'स्यात्'—यह शब्द अनेकान्त का द्योतक ( बोधक ) नहीं माना जाता, तब 'स्यादस्ति'—इस वाक्य में 'स्यात्' शब्द अनर्थक हो जायगा, अतः इस श्लोक में कहा गया है—'अर्थयोगित्वात्' । जब 'स्यात्' शब्द को अनेकान्तार्थ का द्योतक माना जाता है, तब 'स्यादस्ति' में 'अस्ति' पद के द्वारा अनुक्त 'कथंचित्'—इस अर्थ का बोधक होने से 'स्यात्' शब्द सार्थक हो जाता है, जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥ (आप्तमी. १०।१०४)

[ प्रथम वाक्य में अस्तित्व आदेय ( उपादेय ) और दूसरे वाक्य में हेय ( त्याज्य ) है, किन्तु ऐकान्तिक अस्तित्व न तो सर्वथा हेय है और न उपादेय, अतः 'स्यात्' पद हेय और उपादेय का विशेषण लगाया गया है, जिसके प्रभाव से द्वितीय और प्रथम वाक्य का

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्राचक्ष्महे—नायमभ्युपगमो युक्त इति। कुतः ? एकस्मिन्नसंभवात्। न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति, शीतोष्णवत्। य एते

भामती

किंवृत्तं प्रत्यये खल्वयं चिन्निपातविधिना सर्वथैकान्तत्यागात् सप्तस्वेकान्तेषु यो भङ्गस्तत्र यो नयस्तदपेक्षः सन् हेयोपादेयभेदाय स्याद्वादः कल्पते। तथाहि—यदि वस्त्वस्त्येवेत्येवैकान्ततस्तत् सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मनाऽस्त्येवेति न तदीप्सा जिहासाभ्यां क्वचित् कदाचित् कथञ्चित् कश्चित् प्रवर्तेत निवर्तेत वा। प्राप्तप्रापणीयत्वात्, हेयहानानुपपत्तेश्च। अनेकान्तपक्षे तु क्वचित् कदाचित् कस्यचित् कथञ्चित् सत्त्वे हानोपादाने प्रेक्षावतां कल्पेते इति तमेनं सप्तभङ्गीनयं दूषयति ॐनैकस्मिन्नसम्भवात्ॐ। विभजते ॐ नह्येकस्मिन् धर्मिणिॐ परमार्थसति परमार्थसतां ॐयुगपत्सदसत्त्वादीनां धर्माणांॐ परस्परपरिहारस्वरूपाणां समावेशः सम्भवति। एतदुक्तं भवति—सत्यं यदस्ति वस्तुतस्तत्सर्वथा सर्वदा सर्वत्र

भामती—व्याख्या

अर्थ होता है—'सर्वथा अस्तित्वं चास्तीति नेष्यते, किन्तु कथंचिदस्ति'। 'किंवृत्त' शब्द का अर्थ "किंवृत्तं च चिदुत्तरम्" (पा सू. ८।१।४८) इस सूत्र में किया गया है—'किमो रूपं किंवृत्तम्' अर्थात् 'किम्' शब्द से निष्पन्न रूप। प्रकृत में वह 'कथम्' शब्द है, जो "किमश्च" (पा. सू. ५।३।२५) इस सूत्र के द्वारा 'थमु' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, उसका उत्तराङ्ग बन जाता है—'चित्' निपात, चित् भी असाकल्यार्थक है, फलतः 'स्यादस्ति' का पर्याय है—कथंचिदस्ति। इसी प्रकार 'स्यान्नास्ति' का भी अर्थ हो जाता है—'कथंचिन्नास्ति'। यहाँ 'भङ्ग' शब्द का अर्थ है—वचन-प्रकार, जैसा कि मल्लिषेण कहते हैं—"भङ्गा वचनप्रकाराः" (स्याद्वाद मं. पृ. १४०)। प्रमाणनय-तत्त्वालोक में भी कहा है—"भज्यन्ते भिद्यन्तेऽर्था यैः, ते भङ्गा वचनप्रकाराः, ततः सप्तभङ्गाः समाहृताः सप्तभङ्गीति कथ्यते"। इस सप्तभङ्गी में अनेक नय अपेक्षित होते हैं। नय का लक्षण भी सिद्धसेन ने किया है—

अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः॥ (न्यायाव. २९)

अर्थात् एकदेश-विशिष्टार्थविषयक ज्ञान को नय कहते हैं, नय अनेक है, किन्तु मूलभूत नय दो ही है—द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकौ मूलनयौ, शेषास्तद्भेदाः" (न्याया. वा. वृत्ति. पृ. ११३)। प्राणियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति स्याद्वाद से भिन्न एकान्तवाद में सम्भव ही नहीं, क्योंकि यदि 'वस्त्वस्त्येव'—इस प्रकार का एकान्तवाद माना जाता है, तब वह वस्तु सर्वथा सर्वदा और सर्वत्र है, उस वस्तु की न तो किसी व्यक्ति को ईप्सा (प्राप्त करने की इच्छा) होगी और न जिहासा (त्याग करने की इच्छा)। ईप्सा के विना प्रवृत्ति और जिहासा के विना निवृत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि प्रापणीय वस्तु सार्वत्रिक है, अतः पहले से ही प्राप्त है, नित्यप्राप्त होने के कारण हेय भी नहीं हो सकती। इसके विपरीत अनेकान्तवाद में वस्तु कहीं और किसी को ही प्राप्त है, अतः बुद्धिमान् जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति उपपन्न हो जाती है। आप्तमीमांसाकार ने एकान्तवाद में दोष दिखाए हैं—

पुण्यपापक्रिया न स्यात्प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः॥ (आप्त. ३।४०)

**सिद्धान्त**—कथित सप्तभङ्गीनय का सूत्रकार निरास करते हैं—"न एकस्मिन् असम्भवात्"। इस सूत्र की व्याख्या भाष्यकार करते हैं—"न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्"। आशय यह है कि एक परमार्थसत् धर्म की आधारभूत वस्तु में परस्पर-विरोधी परमार्थसत् अनेक धर्मों का समावेश नहीं हो सकता। केवल सम्भावना के आधार पर निष्कम्प प्रवृत्ति


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तपदार्था निर्धारिता एतावन्त एवंरूपाश्चेति, ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः।

भामती

सर्वात्मना निर्वचनीयेन रूपेणास्त्येव न नास्ति, यथा प्रत्यगात्मा। यत्तु क्वचित् कथञ्चित् कदाचित् केनचिदात्मनाऽस्तीत्युच्यते यथा प्रपञ्चस्तद् व्यवहारतो न तु परमार्थतस्तस्य विचारासहत्वात्। न च प्रत्ययमात्रं वास्तवत्वं व्यवस्थापयति, शुक्तिमरुमरीचिकादिषु रजततोयादेरपि वास्तवत्वप्रसङ्गात्। लौकिकानामबाधेन तु तद्वचवस्थायां देहात्माभिमानस्याप्यबाधेन तात्त्विकत्वे सति लोकायतमतापातेन नास्तिकत्वप्रसङ्गात्। पण्डितरूपाणां तु देहात्माभिमानस्य विचारतो बाधनं प्रपञ्चस्याप्यनैकान्तस्य तुल्यमिति। अपि च सदसत्त्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन समुच्चयाभावे विकल्पः। न च वस्तुनि विकल्पः सम्भवति। तस्मात् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानवत् सप्तत्वपञ्चत्वनिर्धारणस्य फलस्य निर्धारयितुश्च प्रमातुस्तत्करणस्य प्रमाणस्य च तत्प्रमेयस्य च सप्तत्वपञ्चत्वस्य सदसत्त्वसंशये साधु समर्थितं तीर्थंकरत्व-

भामती–व्याख्या

सम्भव नहीं। यह सत्य है कि जो पदार्थ वस्तुतः है, वह सर्वथा सर्वदा सर्वत्र अपने निर्वचनीय रूप में है ही, उसकी असत्ता कभी नहीं जैसे—प्रत्यगात्मा। किन्तु जो पदार्थ क्वचित् कथंचित् और किसी एक धर्म से सत् कहा जाता है, वह व्यवहारतः ही है, परमार्थतः नहीं, जैसे—प्रपंच। वह विचार करने पर सत् या असत् सिद्ध नहीं हो सकता। केवल ज्ञान अपने विषय की वास्तविकता सिद्ध नहीं कर सकता, अन्यथा शुक्ति में अवभासित रजत और मरुस्थल में लहराता-सा जल भी वास्तविक मानना होगा। लौकिक प्राणियों की अबाधभावना को वस्तुसत्त्व का व्यवस्थापक मानने पर शरीर में आत्मत्व वास्तविक मानना होगा, क्योंकि साधारण जीवों को उसमें बाधितत्व का निश्चय नहीं होता। इस प्रकार तो चार्वाक मत का बोलबाला हो जायगा सभी आस्तिक दर्शन नास्तिकता में परिवर्तित हो जाएँगे। प्रशस्त पाण्डित्य-मण्डित व्यक्तियों के अबाध-निश्चय को यदि प्रमाण माना जाता है, तब वह जैसे देहात्मज्ञान का बाधक है, वैसे ही प्रपंच की अनेकान्तता का भी बाधक है।

जैसे ऐष्टिक हवि के उद्देश्य से प्रकृति द्रव्य का विधान किया गया—"यवैर्यजेत", "व्रीहिभिर्यजेत" ( आप. श्रौ. ६।३१।१३ )। 'यव' और 'व्रीहि' का समुच्चय सम्भव नहीं, अतः विकल्प माना जाता है—"एकार्थास्तु विकल्पेरन्" ( जै. सू. १२।३।१० )। फलतः कोई व्यक्ति यव-कल्प और कोई व्रीहि-कल्प को अपना लेता है। वैसे ही प्रकृत में अस्तित्व और नास्तित्व का विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि क्रिया में विकल्प होता है—चाहे कोई अश्व से गमन करे या रथ से। व्रीहि से याग करे या यव से किन्तु वस्तु (सिद्धपदार्थ) में न तो घटत्व-पटत्वादि का समुच्चय हो सकता है और न विकल्प।

ऐकान्तिक ( एककोटिक ) निर्धारण ( निश्चय ) ही प्रवृत्तिमात्र का साधक माना जाता है, किन्तु अनेकान्तवाद में वह सम्भव नहीं, अतः जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—यह ज्ञान अप्रमाणभूत होता है, वैसे ही सप्तभङ्गों में सप्तत्वसंख्या एवं पंचास्तिकायों में पंचत्व संख्या के निर्धारणरूप प्रमा ( फल ) में सदसत्त्व का संशय, निर्धारयिता ( प्रमाता ) में सदसत्व का संशय, प्रमाणरूप करण में सदसत्व का संशय, सप्तत्व-पंचत्वरूप प्रमेय में सदसत्व का संशय अनेकान्त-मत के अनुसार निवृत्त नहीं हो सकता, फलतः जैन-सम्मत अनेकान्तवाद के प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव ने उक्त संशयावली की वैतरणी में जैन-जनता को डुबाकर अपनी तीर्थङ्करता का पूर्णतया निर्वाह किया है !!!

उक्त संशयों की निवृत्ति और अपने मत की स्थिरता के लिए एक कोटि का निर्धारण किया जाता है, तब अनेकान्तवाद सुरक्षित नहीं रहता, भाष्यकार यह विस्तार से कह रहे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतरथा हि तथा वा स्युरतथा वेत्यनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। नन्वनेकात्मकं वस्त्विति निर्धारितरूपमेव ज्ञानमुत्पद्यमानं संशयज्ञानवन्नाप्रमाणं भवितुमर्हति। नेति ब्रूमः, निरङ्कुशं ह्यनेकान्तत्वं सर्ववस्तुषु प्रतिजानानस्य निर्धारणस्यापि वस्तुत्वाविशेषात् स्यादस्ति, स्यान्नास्तीत्यादिविकल्पोपनिपातादनिर्धारणात्मकतैव स्यात्। एवं निर्धारयितुर्निर्धारणफलस्य च स्यात्पक्षेऽस्तिता स्याच्च पक्षे नास्तितेति। एवं सति कथं प्रमाणभूतः संस्तीर्थंकरः प्रमाणप्रमेयप्रमातृप्रमितिष्वनिर्धारितासूपदेष्टुं शक्नुयात्? कथं वा तदभिप्रायानुसारिणस्तदुपदिष्टेऽर्थेऽनिर्धारितरूपे प्रवर्तेरन्? ऐकान्तिकफलत्वनिर्धारणे हि सति तत्साधनानुष्ठानाय सर्वो लोकोऽनाकुलः प्रवर्तते, नान्यथा। अतश्चानिर्धारितार्थं शास्त्रं प्रणयन्मत्तोन्मत्तवदनुपादेयवचनः स्यात्। तथा पञ्चानामस्तिकायानां पञ्चत्वसंख्यास्ति वा नास्ति वेति विकल्प्यमाना स्यात्तावदेकस्मिन्पक्षे, पक्षान्तरे तु न स्यादित्यतो न्यूनसंख्यात्वमधिकसंख्यात्वं वा प्राप्नुयात्। न चैषां षदार्थानामवक्तव्यत्वं संभवति, अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्। उच्यमानाश्च तथैवावधार्यन्ते नावधार्यन्त इति च। तथा तदवधारणफलं सम्यग्दर्शनमस्ति वा नास्ति वा, एवं तद्विपरीतमसम्यग्दर्शनमप्यस्ति वा नास्ति वेति प्रलपन्मत्तोन्मत्तपक्षस्यैव स्यान्न प्रत्यायितव्यपक्षस्य। स्वर्गापवर्गयोश्च पक्षे भावः पक्षे चाभावस्तथा पक्षे नित्यता पक्षे चानित्यतेत्यनवधारणायां प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। अनादिसिद्धजीवप्रभृतीनां च स्वशास्त्रावधृतस्वभावानामयथावधृतस्वभावत्वप्रसङ्गः। एवं जीवादिषु पदार्थेष्वेकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोर्विरुद्धयोर्धर्मयोरसंभवात्सत्त्वे चैकस्मिन्धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्यासंभवादसत्त्वे चैवं सत्त्वस्यासंभवादसंगतमिदमार्हतं मतम्। एतेनैकानेकनित्यानित्यव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताद्यनेकान्ताभ्युपगमा निराकृता मन्तव्याः। यत्तु पुद्गलसंबन्धकेभ्योऽणुभ्यः संघाताः संभवन्तीति कल्पयन्ति तत्पूर्वेणैवाणुवादनिराकरणेन निराकृतं भवतीत्यतो न पृथक्तन्निराकरणाय प्रयत्यते ॥ ३३ ॥

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मासंभवो दोषः स्याद्वादे प्रसक्त एवमात्मनोऽपि

भामती

मुषभेणात्मनः। निर्धारणस्य चैकान्तसत्त्वे सर्वत्र नानेकान्तवाद इत्याह ❀ य एते सप्त पदार्थाः इति ❀। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ३३ ॥

❀ एवं च इति ❀ चेन समुच्चयं द्योतयति। शरीरपरिमाणत्वे ह्यात्मनोऽकृत्स्नत्वं परिच्छि-

भामती–व्याख्या

हैं—"य एते सप्तपदार्था निर्धारिताः"। [ "अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्"—इस भाष्य का आशय यह है कि यद्यपि जैनाचार्यों ने 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा सर्वथा अवाच्यता का प्रतिपादन नहीं किया, अपि तु विरुद्धार्थक पदों के 'समुच्चिताभिधान की अविषयता' को अवक्तव्यता माना है, जैसा कि अभयदेवसूरि कहते हैं—"यदा तु द्वाभ्यामपि युगपत् वद्वस्तु अभिधातुमिष्टं भवति, तदा अवक्तव्यभङ्गनिमित्तम्" ( सन्मति. पृ. ४४२ )। अर्थात् 'अस्ति, नास्ति'—इन दोनों सहप्रयुक्त पदों के द्वारा वस्तु का अभिधान नहीं हो सकता। तथापि तृतीय भङ्ग की शब्दावलि वही है—'स्यादस्ति च नास्ति च'। यदि सत् और असत् से भिन्न कहना चाहते हैं, तब वेदान्त-सम्मत 'अनिर्वचनीय' शब्द के प्रयोग में संकोच क्यों ? ] ॥ ३३ ॥

अनेकान्तवाद के अनुसार एक धर्मी में विरुद्धधर्मासम्भव दोष है, वैसे ही आत्मा में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवस्याकात्स्न्यमपरो दोषः प्रसज्येत। कथम्? शरीरपरिमाणो हि जीव इत्याहता मन्यन्ते। शरीरपरिमाणतायां च सत्यामकृत्स्नोऽसर्वगतः परिच्छिन्न आत्मेत्यतो घटादिवदनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत। शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वाद्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित्कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एष एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः। स्यादेतद्—अनन्तावयवो जीवस्तस्य त एवावयवा अल्पे शरीरे संकुचेयुर्महति च विकसेयुरिति। तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वं प्रतिहन्यते वा न वेति वक्तव्यम्। प्रतिघाते तावन्नानन्तावयवाः परिच्छिन्ने देशे संमीयेरन्। अप्रतिघातेऽप्येकावयवदेशत्वोपपत्तेः

भामती

न्त्वम्, तथा चानित्यत्वं, ये हि परिच्छिन्नास्ते सर्वेऽनित्या यथा घटादयस्तथा चात्मेति। तदेतदाह ❀ यथैकस्मिन् धर्मिणि इति ❀। इदं चापरमकृत्स्नत्वेन सूचितमित्याह ❀ शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वाद् इति ❀। मनुष्यकायपरिमाणो हि जीवो न हस्तिकायं कृत्स्नं व्याप्तुमर्हत्यल्पत्वादित्यात्मनः कृत्स्नशरीराव्यापित्वादकात्स्न्यम्, तथा च न शरीरपरिमाणत्वमिति। तथा हस्तिशरीरं परित्यज्य यदा पुत्तिकाशरीरो भवति, तदा न तत्र कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे सम्मीयेतेत्यकात्स्न्यमात्मनः। सुगममन्यत्। चोदयति ❀ स्यादेतत् ❀। ❀ अनन्तावयवः इति ❀। यथा हि प्रदीपो घटमहाहर्म्योदरवर्ती सङ्कोचविकासवानेवं जीवोऽपि पुत्तिकाहस्तिदेहयोरित्यर्थः। तदेतद्विकल्प्य दूषयति ❀ तेषां पुनरनन्तानाम् इति ❀। न तावत्प्रदीपोऽत्र निदर्शनं भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। विशरारवो हि प्रदीपावयवाः

भामती—व्याख्या

अनित्यत्वापत्ति भी दोष है, इस प्रकार सूत्र में 'एवंच' ऐसे प्रयोग के द्वारा दोषो का समुच्चय ध्वनित किया गया है, उसी का स्पष्टीकरण भाष्यकार कर रहे है—"यथैकस्मिन् धर्मिणि"। यह एक अन्य प्रकार की अकृत्स्नत्वापत्ति भी सूत्रकार ने सूचित की है—ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं—"शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वात्"। अर्थात् मनुष्य-शरीर में रहनेवाला उस शरीर के परिमाण का छोटा जीव जब अपने कर्मानुसार हाथी के भारी-भरकम शरीर में जाता है, तब उसकी उस शरीर में कृत्स्नता (पूर्ण व्याप्ति) क्योंकर होगी? उसी प्रकार हस्ती के शरीर का जीव जब उस बड़े शरीर को छोड़कर पुत्तिका (छोटी मधुमक्खी) के नन्हें-से शरीर में जाता है, तब उस शरीर में वह कैसे समाएगा?

**शङ्का**—"अनन्तावयवो जीवः" अर्थात् पहले यह कहा जा चुका है कि आत्मा अनन्त अवयववाला होने पर भी दीपक के समान संकोच-विकासशील है—"प्रदेशसंहार विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्" (तत्त्व. सू. ५।१६)। बड़े शरीर में जाकर जीव के अवयव फैल कर पूरे शरीर को व्याप्त कर लेते हैं और छोटे शरीर में जीव अपने अवयवों को कूर्म-शरीर के समान संकुचित कर लेते हैं, अतः छोटे-बड़े शरीरों में पुनर्जन्म धारण करना सर्वथा उपपन्न है।

**समाधान**—'तेषां पुनरनन्तानां जीवावयवानां समानदेशत्वम्"। अर्थात् प्रदीप को दृष्टान्त बना कर जो सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है, वह उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार आत्मा अनित्य हो जायगा। प्रदीप एक सावयव एवं प्रतिक्षण उत्पत्ति-विनाशवाला है। जीव भी यदि वैसा ही सावयव है, तब जिज्ञासा होती है कि उसके अवयव परमाणुओं के समान एक ही देश में रह जाते हैं? अथवा परस्पर-प्रतिरोधी होने के कारण एक देश में नहीं रह सकते? प्रथम पक्ष में परमाणुपरिमाणता प्रसक्त होती है और द्वितीय पक्ष में अनन्त अवयवों का परिच्छिन्न शरीर में रह सकना सम्भव नहीं रह जाता। अनन्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वेषामवयवानां प्रथिमानुपपत्तेर्जीवस्याणुमात्रत्वप्रसङ्गः स्यात्। अपि च शरीरमात्रपरिच्छिन्नानां जीवावयवानामानन्त्यं नोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम् ॥ ३४ ॥

अथ पर्यायेण बृहच्छरीरप्रतिपत्तौ केचिज्जीवावयवा उपगच्छन्ति तनुशरीरप्रतिपत्तौ च केचिदपगच्छन्तीत्युच्येत, तत्राप्युच्यते,—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

नच पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमाभ्यामेतद्देहपरिमाणत्वं जीवस्याविरोधेनोपपादयितुं शक्यते। कुतः ? विकारादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यां ह्यनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विक्रियावत्त्वं तावदपरिहार्यम्, विक्रियावत्त्वे च

भामती

प्रदीपश्चावयवी प्रतिक्षणमुत्पत्तिनिरोधधर्मा तस्मादनित्यत्वात्तस्य नास्थिरो जीवस्तदवयवाश्चाभ्युपेतव्याः। तथा च विकल्पद्वयोक्तं दूषणमिति। यच्च जीवावयवानामानन्त्यमुदितं तदनुपपन्नतरमित्याह ❀ अपि च शरीरमात्र इति ❀ ॥ ३४ ॥

शङ्कापूर्वं सूत्रान्तरमवतारयति ❀ अथ पर्य्यायेण इति ❀। तत्राप्युच्यते—

भामती—व्याख्या

अवयवों का उपपादन सूत्रकार ने किया है—"असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम्" (तत्त्व. सू. ५।१५)।

श्री अकलङ्कभट्ट ने जो कहा है—"पुद्गलवदेकप्रदेशादिषु वृत्तिप्रसङ्ग इति चेन्न, शरीरप्रमाणानुविधानात्" (तत्त्व. वा. पृ. ४५९) अर्थात् जीव के अवयव उतने ही संकुचित और विकसित होते हैं, जिससे शरीर का निश्चित परिमाण अक्षुण्ण बना रहता है। अकलङ्कभट्ट की उक्त व्यवस्था में यह महान् शङ्का बनी रहती है कि जीवों के परिच्छिन्न शरीरों में जीव के अनन्त अवयवों का अवस्थान क्योंकर होगा ? ॥ ३४ ॥

शङ्कापूर्वक सूत्र का अवतरण प्रस्तुत किया जाता है—"अथ पर्यायेण"। यहाँ 'पर्याय' शब्द का अर्थ किया गया है—क्रमशः। [ बड़े शरीर को पाकर आत्मा के कतिपय अवयव उपचित हो ( बढ़ जाते ) हैं और छोटे शरीर में जाकर आत्मा के कतिपय अवयव क्षीण हो जाते हैं ]। इस पक्ष का भी निराकरण किया जाता है—"न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः" [ पूर्व सूत्र में दो दोष दिए गए—(१) छोटे शरीर से बड़े शरीर में जाने पर छोटा आत्मा पूरे शरीर में व्याप्त नहीं हो सकता और (२) बड़े शरीर से छोटे शरीर में जाने पर बड़ा आत्मा छोटे शरीर में पूरा समा नहीं सकता। इन दोषों का उद्धार जैनों की ओर से किया गया—"पर्यायात्"। यहाँ 'पर्याय' पद का क्रमशः आत्मा का बढना और घटना अर्थ कर देने पर कथित दोनों दोष निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु जैन शास्त्रों की प्रचुर-चर्चित 'पर्यायनय की परिभाषा एवं सूत्रस्थ 'अविरोध' पद—ये दोनों उपेक्षित-से हो जाते हैं, अत एव वाचस्पति मिश्र ने इस विषय पर कुछ न कहना ही उचित समझा।

वस्तु-स्थिति यह है कि "एकस्मिन् असम्भवात्"—इस सूत्र के द्वारा जो एक ही वस्तु में अस्तित्व-नास्तित्वादि विरुद्ध धर्मों की उद्भावना की गई, उसका परिहार जैनों की ओर से किया गया—"पर्यायादविरोधः"। मृत्तिका के घट, मणिक, मल्लिकादि परिणामों को पर्याय और उन पर्यायों में अनुस्यूत मृत्तिका द्रव्य है। एक ही वस्तु द्रव्य-दृष्ट्या सत् और पर्याय-दृष्ट्या असत् है—

उत्पत्तिर्वा विनाशो द्रव्यस्य च नास्त्यस्ति सद्भावः।
विगमोत्पादध्रुवत्वं कुर्वन्ति तस्यैव पर्यायाः" ॥ ( पञ्च. ११ )

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चर्मादिवदनित्यत्वं प्रसज्येत। ततश्च बन्धमोक्षाभ्युपगमो बाध्येत। कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्यालाबुवत्संसारसागरे निमग्नस्य बन्धनोच्छेदादूर्ध्वगामित्वं भवतीति। किंचान्यद्-आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामागमापायधर्मवत्त्वादेवानात्मत्वं शरीरादिवत्। ततश्चावस्थितः कश्चिदवयव आत्मेति स्यात्। नच स निरूपयितुं शक्यतेऽयमसाविति। किंचान्यद्-आगच्छन्तश्चैते जीवावयवाः कुतः प्रादुर्भवन्त्यपगच्छन्तश्च क्व वा लीयन्त इति वक्तव्यम्। नहि भूतेभ्यः प्रादुर्भवेयुर्भूतेषु च निलीयेरन्, अभौतिकत्वाज्जीवस्य। नापि कश्चिदन्यः साधारणोऽसाधारणो वा जीवानामवयवाधारो निरूप्यते प्रमाणाभावात्। किंचान्यद्-अनवधृतस्वरूपश्चैवंसत्यात्मा स्याद्, आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामनियतपरिमाणत्वात्। अत एवमादिदोषप्रसङ्गान्न पर्यायेणाप्यवयवोपगमापगमावात्मन आश्रयितुं शक्येते। अथवा

भामती

कर्माष्टकमुक्तं ज्ञानावरणीयादि। किं चात्मनो नित्यत्वाभ्युपगमे आगच्छतामपगच्छतां चावयवानामियत्ताऽनिरूपणेन चात्मज्ञानाभावान्नापवर्ग इति भावः। ❀ अत एवमादिदोषप्रसङ्गाद् इति ❀। आदिग्रहणसूचितं दोषं ब्रूमः—किं चैते जीवावयवाः प्रत्येकं वा चेतयेरन् समूहो वा? तेषां प्रत्येकं चैतन्ये बहूनां चेतनानामेकाभिप्रायत्वनियमाभावात् कदाचिद्विरुद्धविक्रियत्वेन शरीरमुन्मथ्येत। समूहचैतन्ये तु हस्तिशरीरस्य पुत्तिकाशरीरत्वे द्वित्रावयवशेषो जीवो न चेतयेत्। विगलितबहुसमूहितया समूहस्याभावात्। ❀ पुत्तिकाशरीर इति ❀। ❀ अथवा इति ❀। पूर्वसूत्रप्रसञ्जितायां जीवानित्यतायां बौद्ध-

भामती—व्याख्या

इसी अनेकान्तवाद के द्वारा सभी विरोधों का परिहार किया जाता है—"स खल्वयं प्रसादोऽनेकान्तवदस्य यदीदृशोऽपि विरोधो न विरोधः" (पञ्चास्ति. तत्त्व. पृ. १४९)। श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धम्, नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता, जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति॥ (अन्ययोग. २४)

श्री उमास्वाति ने पर्याय के लिए 'परिणाम' शब्द का प्रयोग किया है—"तद्भावः परिणामः" (तत्त्व. सू. ५।४१) अर्थात् द्रव्य के भावों (अवस्थाओं) को परिणाम (पर्याय) कहते हैं। भाष्यकार ने भी इस सूत्र के व्याख्यानान्तर में यही सूचित किया है—'स्रोतःसन्ताननित्यतान्यायेन"]।

"कर्माष्टकपरिवेष्टितस्य जीवस्य"—इस भाष्य में निर्दिष्ट ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का निरूपण पहले किया जा चुका है। उन कर्मों के भार से जीव संसार-सागर में वैसे ही डूबा रहता है, जैसे मिट्टी के मोटे लेप वाली तूंबी पानी में डूबी रहती है और लेप के गल जाने पर पानी के ऊपर तैर आती है—"व्यपगतलेपालाबूवत्" (तत्त्व. सू. वा. पृ. ६४६)। दूसरी बात यह भी है कि आत्मा को यदि नित्य माना जाता है, तब वह सावयव न होगा। यदि अवयव भी मान लिए जाते हैं, तब उनकी निश्चित संख्या होनी चाहिए किन्तु अवयवों के उपचय और अपचय से उनकी इयत्ता का अवधारण सम्भव नहीं, फलतः आत्मा का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण अपवर्ग-प्राप्ति सम्भव नहीं। "अत एवमादिदोषप्रसङ्गात्"—इस भाष्य के 'आदि' शब्द से सूचित दोष दिखाया जाता है—जीव के जितने अवयव हैं, उनमें प्रत्येक चेतन है? अथवा अवयवों का एक समूह चेतन है? [इस विषय का पूर्ण विचार विगत पृ. १४ पर किया जा चुका है]।

शङ्का—पूर्व पक्ष की अन्य व्याख्या प्रस्तुत की गई है—"अथवा"। पूर्व सूत्र में आत्मा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वेण सूत्रेण शरीरपरिमाणस्यात्मन उपचितापचितशरीरान्तरप्रतिपत्तावकात्स्न्यं प्रसञ्जनद्वारेणानित्यतायां चोदितायां पुनः पर्यायेण परिमाणानवस्थानेऽपि स्रोतःसंताननित्यतान्यायेनात्मनो नित्यता स्यात्। तथा रक्तपटानां विज्ञानानवस्थानेऽपि तत्संतानानित्यता तद्वद्विसिचामपीत्याशङ्क्यानेन सूत्रेणोत्तरमुच्यते। संतानस्य तावदवस्तुत्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्गः। वस्तुत्वेऽप्यात्मनो विकारादिदोषप्रसङ्गादस्य पक्षस्यानुपपत्तिरिति ॥ ३५ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

अपि चान्त्यस्य मोक्षावस्थाभाविनो जीवपरिमाणस्य नित्यत्वमिष्यते जैनैः। तद्वत्पूर्वयोरप्याद्यमध्यमयोर्जीवपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादविशेषप्रसङ्गः स्यात्। एकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीरान्तरप्राप्तिः। अथवाऽन्त्यस्य जीव-

भामती

वत्सन्ताननित्यतामाशङ्क्याधेदं सूत्रम्—'न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः'। न च पर्य्यायात् परिमाणानवस्थानेऽपि सन्तानाभ्युपगमेनात्मनो नित्यत्वादविरोधो बन्धमोक्षयोः। कुतः? परिणामादिभ्यो दोषेभ्यः। सन्तानस्य वस्तुत्वे परिणामस्तत्तश्चर्मवदनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गः। अवस्तुत्वे चाविग्रहणसूचितो नैरात्म्यापत्तिदोषप्रसङ्ग इति। विसिचो विवसनाः ॥ ३५ ॥

एवं हि मोक्षावस्थाभावि जीवपरिमाणं नित्यं भवेत्, यद्यभूत्वा न भवेदभूत्वा भाविनामनित्यत्वाद् घटादीनाम्। कथञ्चाभूत्वा न भवेद्? यदि प्रागप्यासीत्। न च परिमाणान्तरावरोधेऽपूर्वं भवितुमर्हति तस्मादन्यमेव परिमाणं पूर्वमप्यासीदित्यभेदः। तथा चैकशरीरपरिमाणतैव स्यान्नोपचितापचितशरीर-

भामती-व्याख्या

की शरीरपरिमाणता के द्वारा आत्मा में जो अनित्यता का प्रसञ्जन ( आपादान ) किया गया। उस अनित्यत्वापत्ति का परिहार बौद्ध-सम्मत सन्तान-नित्यता को अपना कर किया गया—"पर्यायादविरोधः"। अर्थात् यद्यपि आत्मा का परिमाण ग्राह्य शरीर के अनुसार बढ़ता-घटता रहता है, तथापि आत्मा की सन्तान-नित्यता ( प्रवाह-नित्यता या परिणाम नित्यता ) अभ्युपगत होने के कारण बन्ध-मोक्ष में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं आता ]।

समाधान—उक्त प्रकार से अविरोध-स्थापन भी निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि सन्तान तत्त्व वास्तविक माना जाता है? अथवा अवास्तविक? यदि वास्तविक है, तब यद्यपि सन्तानात्मा को लेकर बौद्धों का नैरात्म्यवाद प्रसक्त नहीं होता, तथापि जैसे चर्म ( चमड़ा ) वर्षा में फैलता और धूप में सूखता है, ऐसे ही बढने-घटनेवाला आत्मा भी विकारी अत एव अनित्य हो जाता है। यदि सन्तान तत्त्व कोई वस्तु ही नहीं, तब बौद्धों का नैरात्मवाद आ जाता है, किन्तु जैनगण आत्मवादी हैं, अतः रक्तवस्त्रधारी बौद्ध भिक्षुओं का जो नैरात्म्यवाद सिद्धांत है, उसको अपनाना विसिचगणों (विवस्त्र या नग्न जैन भिक्षुओं) के लिए अपसिद्धान्त है ॥३५॥

मोक्षावस्था में जीव का परिमाण तभी नित्य माना जा सकता है, जब कि 'पहले न होकर न होता', क्योंकि पहले न होकर होनेवाले घटादि पदार्थों को अनित्य माना जाता है, [ जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं—

"प्राग्भूत्वा ह्यभवन् भावोऽनित्य इत्यभिधीयते" ( प्र. वा. पृ. २४० )। अन्तर इतना अवश्य है कि धर्मकीर्ति का ध्वंस पर बल है और यहाँ वाचस्पतिमिश्र का प्रागभाव पर, अनित्य पदार्थ दोनों है—चाहे ध्वंस का प्रतियोगी हो या प्रागभाव का प्रतियोगी ]। मोक्षावस्था में आत्मा का परिमाण तभी अभूत्वा न भवेत्' ( प्रागभाव का अप्रतियोगी हो सकता है ) जब कि पहले भी विद्यमान हो। अन्य विरोधी परिमाण के न होने पर पहले भी वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिमाणस्यावस्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात्, ततश्चाविशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवोऽभ्युपगन्तव्यो न शरीरपरिमाणः। अतश्च सौगतवदार्हतमपि मतमसंगतमित्युपेक्षितव्यम् ॥ ३६ ॥

## ( ७ पत्यधिकरणम् । सू० ३७--४१ )

### पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकारणवादः प्रतिषिध्यते। तत्कथमवगम्यते ? 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्', 'अभिध्योपदेशाच्च' (ब्र० सू० १।४।२३,२४) इत्यत्र प्रकृतिभावेनाधिष्ठातृभावेन चोभयस्वभावस्येश्वरस्य स्वयमेवाचार्येण प्रतिष्ठापितत्वात्। यदि पुनरविशेषेणेश्वरकारणवादमात्रमिह प्रतिषिध्येत पूर्वोत्तरविरोधाद् व्याहताभिव्याहारः सूत्रकार इत्येतदापद्येत। तस्मादप्रकृतिरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इत्येष पक्षो वेदान्तविहितब्रह्मैकत्वप्रतिपक्षत्वाद्यत्नेनात्र प्रतिषिध्यते। सा चेयं वेदबाह्येश्वरकल्पनानेकप्रकारा। केचित्तावत्सांख्ययोगन्यपाश्रयाः कल्पयन्ति

भामती

प्राप्तिः। शरीरपरिमाणत्वाभ्युपगमव्याघातादिति। अत्र चोभयोः परिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गादिति योजना। एकशरीरपरिमाणतैवेति च दीप्यम्। द्वितीये तु व्याख्याने उभयोरवस्थयोरिति योजना। एकशरीरपरिमाणता न दीप्या, किन्त्वेकपरिमाणतामात्रमणुर्महान् वेति विवेकः ॥ ३६ ॥

अविशेषेणेश्वरकारणवादोऽनेन निषिध्यत इति भ्रमनिवृत्त्यर्थमाह "केवला" इति। सांख्ययोग-

भामती—व्याख्या

परिमाण क्यों न रह सकेगा ? अतः मोक्षावस्था में होनेवाला अन्तिम परिमाण पहले भी था—यह मानना होगा, फलतः एक अन्तिम शरीर का परिमाण ही आत्मा का परिमाण निश्चित होता है। उपचित और अपचित शरीरों के परिमाण की आत्मा में प्राप्ति व्याहत होने के कारण मोक्षावस्था के पूर्व भावी दोनों परिमाण नित्य सिद्ध होते है—'आद्यमध्यपरिमाणे नित्ये, आत्मपरिमाणत्वाद्, अन्त्यपरिमाणवत्'। इस प्रकार तीनों शरीरों में आत्मा के परिमाण की एकता परिदीपित ( अवद्योतित ) होती है।

इस सूत्र का जो द्वितीय व्याख्यान भाष्यकार ने प्रस्तुत किया है, उसमें 'उभय' पद से दोनों परिमाणों का ग्रहण न होकर दोनों अनवस्थाओं का ग्रहण किया गया है, अतः एक शरीर की परिमाणता पर्यवसित न होकर अणु और महान्—इन दो परिमाणों में से एक परिमाण व्याख्यात होता है ॥ ३६ ॥

**विषय**—इस अधिकरण में केवल ईश्वरगत निमित्तकारणतावाद का ही प्रतिषेध किया जाता है, क्योंकि "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्" "अभिध्योपदेशाच्च" ( ब्र सू. १।४।२३, २४ ) इन सूत्रों के द्वारा स्वयं सूत्रकार ने अभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन ईश्वर की स्थापना की है, यदि इस अधिकरण में उसी ईश्वर का प्रतिषेध किया जाता है, तब पूर्वोत्तर अधिकरणों का विरोध उपस्थित होता है, इतना ही नहीं सूत्रकार पर भी विरुद्धाभिधायित्वरूप अनाप्तत्व प्रसक्त होता है, अतः ईश्वरगत केवल निमित्तकारणतावाद ही अद्वैतवेदान्त से विरुद्ध होने के कारण प्रतिषेध्य है।

**पूर्वपक्ष**—इस प्रकार के वेद-बाह्य ईश्वर की कल्पना अनेक दार्शनिक किया करते हैं, उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधानपुरुषयोरधिष्ठाता केवलं निमित्तकारणमीश्वर इतरेतरविलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वरा इति। माहेश्वरास्तु मन्यन्ते कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुप-

भामती

व्यपाश्रया हिरण्यगर्भपतञ्जलिप्रभृतयः। प्रधानमुक्तं, दृक्शक्तिः पुरुषः प्रत्ययानुपश्यः। स च नानाक्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः प्रधानपुरुषाभ्यामन्यः। माहेश्वराश्चत्वारः-शैवाः, पाशुपताः, कारुणिकसिद्धान्तिनः, कापालिकाश्चेति। चत्वारोऽप्यमी महेश्वरप्रणीतसिद्धान्तानुयायितया माहेश्वराः। कारणमीश्वरः। कार्यं प्राधानिकं महदादि। योगोऽप्योङ्कारादिध्यानधारणादिः। विधिस्त्रिषवणस्नानादिगूढचर्य्यावसानः, दुःखान्तो मोक्षः। पशव आत्मानस्तेषां पाशो बन्धनं तद्विमोक्षो दुःखान्तः। एष

भामती—व्याख्या

१—सांख्य-योग-मतावलम्बी हिरण्यगर्भ पतञ्जलि आदि आचार्य कहते हैं कि प्रधान (प्रकृति) और पुरुष का अधिष्ठाता ईश्वर उन दोनों से भिन्न केवल निमित्त कारण है—

नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे परमात्मने।
प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तकारिणे॥ (लिगपु. १।१।१)

२—माहेश्वरगण चार भागों में विभक्त हैं—(१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कारुणिक और (४) कापालिक। ये चारों महेश्वर-द्वारा प्रणीत सिद्धान्तों के अनुयायी होने के कारण माहेश्वर कहे जाते हैं। ये पाँच तत्त्व मानते हैं—(१) कारण, (२) कार्य, (३) योग, (४) विधि और (५) दुःखान्त।

(१) **कारण**—महेश्वर ही एकमात्र कारणतत्त्व है, वही जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय, निग्रह और अनुग्रहादि क्रियाओं का कर्त्ता माना जाता है।

(२) **कार्य**—महेश्वर के अधीन रहनेवाले जीव और जड़वर्ग को कार्य कहते हैं, उसके तीन भेद हैं—(१) पशु (जीव), (२) विद्या (बोधस्वभाव चित्त), (३) कला (पृथिवी आदि पाँचों भूत, उनके गुण तथा त्रयोदश इन्द्रियाँ)। कार्य-करणरूप कलात्मक पाश में बँधा होने के कारण जीव को पशु कहते हैं। शरीर और इन्द्रियों से युक्त जीव को साञ्जन और शरीरादि से मुक्त जीव को निरञ्जन कहा जाता है।

(३) **योग**—जीव का महेश्वर के साथ पावन सम्बन्ध स्थापित करना योग है। यह दो प्रकार का होता है—(१) क्रियात्मक (प्रणव-जपपूर्वक ध्यान धारणादि) और (२) क्रिया-निरपेक्ष (ऐकान्तिक शरणागति)।

(४) **विधि**—पाशुपत शास्त्र-विहित धर्मों का अनुष्ठान विधि कहलाता है। उसके दो भेद हैं—(१) व्रत और (२) द्वार। भस्मस्नानादि एवं उपहार को व्रत कहते हैं। उपहार छः प्रकार का होता है—(१) हसित, (२) गीत, (३) नृत्य, (४) हुडुक्कार, (५) नमस्कार और (६) जप। जहाँ जन-समागम न हो, वहाँ हसितादि चार क्रियाओं का सम्पादन किया जाता है, इसे ही गूढचर्या (गुप्त क्रिया) कहते हैं। महेश्वर की पूजा के समय श्रद्धाविभोर होकर हँसना, गाना, नाचना और हुडुक्कार (बैल के समान अव्यक्त शब्द गले से निकालना) करना आवश्यक है। नमस्कार और जप तो प्रायः सभी उपासनाओं में एक समान ही किए जाते हैं। (२) द्वार के भी छः भेद होते हैं—(१) क्राथन (तन्द्रित पुरुष का अभिनय), (२) स्पन्दन (वात व्याधिवाले पुरुष के समान अपने शरीर को कँपाना), (३) मन्दन (लँगड़ाते हुए चलना), (४) शृङ्गारण (कामुक पुरुष के समान चेष्टा), (५) अवितकरण (अविवेकी व्यक्ति के समान गर्हिताचरण) और (६) अवितद्भाषण (ऊट-पटाँग बोलना)।

(५) **दुःखान्त**—मोक्ष का नाम दुःखान्त है। यह दो प्रकार का है—(१) दुःखों का


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः । पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति वर्णयन्ति । तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित्कथंचित्स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति ।

अत उत्तरमुच्यते –'पत्युरसामञ्जस्याद्' इति । पत्युरीश्वरस्य प्रधानपुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत्कारणत्वं नोपपद्यते । कस्मात् ? असामञ्जस्यात् । किं पुनरसामञ्जस्यम् ? हीनमध्यमोत्तमभावेन हि प्राणिभेदान्विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादिदोषप्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत । प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत् –न, कर्मेश्वरयोः

भामती

तेषामभिसन्धिः—चेतनस्य खल्वधिष्ठातुः कुम्भकारादेः कुम्भादिकार्ये निमित्तकारणत्वमात्रं न तूपादानत्वमपि । तस्मादिहापीश्वरोऽधिष्ठाता जगत्कारणानां निमित्तमेव, न तूपादानमप्येकस्याधिष्ठातृत्वाधिष्ठेयत्वविरोधादिति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते – पत्युरसामञ्जस्यादिति । इदमत्राकूतम् –ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वमात्रमागमाद्योच्येत, प्रमाणान्तराद्वा ? प्रमाणान्तरमप्यनुमानमर्थापत्तिर्वा ? न तावदागमात् , तस्य निमित्तोपादानकारणत्वप्रतिपादनपरत्वादित्यसकृदावेदितम् । तस्मादनेनास्मिन्नर्थे प्रमाणान्तरमास्थेयम् । तत्रानुमानं तावन्न सम्भवति । तद्धि दृष्टानुसारेण प्रवर्त्तते, तदनुसारेण चासामञ्जस्यम् । तदाह ❀ हीनमध्यम इति ❀ । एतदुक्तं भवति – आगमादीश्वरसिद्धौ न दृष्टमनुसर्त्तव्यं, न हि स्वर्गापूर्वदेवतादिष्वागमादवगम्यमानेषु किञ्चिदस्ति दृष्टम् । नह्यागमो दृष्टसाधर्म्यात्प्रवर्त्तते । तेन श्रुतसिद्धयर्थमदृष्टानि दृष्टविपरीतस्वभावानि सुबहून्यपि कल्प्यमानानि न लोहगन्धितामावहन्ति, प्रमाणवत्त्वात् । यस्तु तत्र कथञ्चिद् दृष्टानु-

भामती–व्याख्या

आत्यन्तिक उच्छेद तथा (५) दृक्-शक्ति और क्रिया-शक्तिरूप ऐश्वर्य की प्राप्ति । दुःखान्त ही पशुओं ( जीवों ) की पाश-विमुक्ति है ।

ईश्वर को जगत् का केवल निमित्तकारण माननेवाले आचार्यों का आशय यह है कि लोक में कुम्भकारादि चेतन पुरुषों में घटादि कार्यों की केवल निमित्तकारणता देखी जाती है, अतः जगत् की रचना में ईश्वर का केवल निमित्तकारण होना न्याय-सिद्ध है । वह जड़ जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तु में निमित्तकारणत्व और उपादानकारणत्व दोनों इसलिए नहीं रह सकते कि वे परस्पर-विरुद्ध हैं ।

**सिद्धान्त**—"पत्युरसामञ्जस्यात्" । सारांश यह है कि ईश्वर में जो केवल निमित्तकारणता सिद्ध की जाती है, वह आगम प्रमाण के आधार पर ? अथवा अन्य प्रमाण के बल पर ? आगम प्रमाण तो ईश्वर की उभय-विध कारणता प्रतिपादित कर रहा है—यह कई बार कहा जा चुका है । परिशेषतः पूर्वपक्षी को अन्य प्रमाण का ही सहारा लेना होगा । अन्य प्रमाण में अनुमान की सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह दृष्ट व्याप्ति के द्वारा अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकेगा. दृष्ट व्याप्ति का सामञ्जस्य नहीं, यह दिखाया जा रहा है—"हीनमध्यमोत्तमभावेन" । आशय यह है कि आगम-द्वारा प्रतिपादित पदार्थों में प्रत्यक्ष का अनुसरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम-सिद्ध स्वर्ग, अपूर्व और देवतादि में प्रत्यक्ष का कुछ भी सामञ्जस्य नहीं पाया जाता । अनुमान के समान आगम अपनी प्रवृत्ति में दृष्ट-साधर्म्य की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वेद में पठित चतुर्मुखादि शब्दों की उपपत्ति के लिए लोक में अदृष्ट वैसे ही चतुर्मुखादि विग्रहों की कल्पना लोह ( अगरवत्ती जिस लकड़ी के बुरादे से बनती है ऐसे अगर काष्ठ ) के समान उग्र गन्ध नहीं मारती अर्थात् अनुचित या कलङ्करूप नहीं मानी जाती । फलतः आगम प्रमाण के आधार पर बहुत-से दृष्ट-विरुद्ध पदार्थों की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri

प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। न, अनादित्वादिति चेत्-न, वर्तमान-कालवदतीतेष्वपि कालेष्वितरेतराश्रयदोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः। अपि च

भामती

सम्रः क्रियते, स सुहृद्भावमात्रेण। आगमानपेक्षितमनुमानन्तु दृष्टसाधर्म्येण प्रवर्त्तमानं दृष्टविपर्य्यये तृणादपि बिभेतितरामिति। प्राणिकर्मापेक्षत्वाददोष इति चेत्, न, कुतः? कर्मेश्वरयोर्मिथः प्रवर्त्यप्रवर्त्तयितृत्वे इतरेतराश्रयत्वदोषप्रसङ्गात्। अयमर्थः—यदीश्वर करुणापराधीनो वीतरागस्ततः प्राणिनः कपूये कर्मणि न प्रवर्त्तयेत्, तच्चोत्पन्नमपि नाधितिष्ठेत् तावन्मात्रेण प्राणिनां दुःखानुत्पादात्। नहीश्वराधीना जनाः स्वातन्त्र्येण कपूयं कर्म कर्तुमर्हन्ति। तदनधिष्ठितं वा कपूयं कर्म फलं प्रसोतुमुत्सहते। तस्मात् स्वतन्त्रोऽपीश्वरः कर्मभिः प्रवर्त्यत इति दृष्टविपरीतं कल्पनीयम्। तथाचायमपरो गण्डस्योपरि स्फोट इतरेतराश्रयः प्रसज्येत—कर्मणेश्वरः प्रवर्त्तनीय ईश्वरेण च कर्मेति। शङ्कते ॐन, अनादित्वादिति चेत्ॐ। पूर्वकर्मणेश्वरः सम्प्रतितने कर्मणि प्रवर्त्यते, तेनेश्वरेण सम्प्रतितनं कर्म स्वकार्य्ये प्रवर्त्यत इति। निराकरोति ॐ न, वर्त्तमानकालवद् इति ॐ। अथ पूर्वं कर्म कथमीश्वराप्रवर्त्तितमीश्वरप्रवर्त्तनलक्षणं कार्यं करोति? तत्रापि प्रवर्त्तितमीश्वरेण पूर्वतनकर्मप्रवर्त्तितेनेत्येवमन्धपरम्परादोषः। चक्षुष्मता ह्यन्धो नीयते, नान्धान्तरेण। तथेहापि द्वावपि प्रवर्त्याविति कः कं प्रवर्त्तयेदित्यर्थः। अपि च नैयायिकानामीश्वरस्य निर्दोषत्वं स्वसमयविरुद्धमित्याह ॐ अपि च इति ॐ। अस्माकन्तु नायं समय इति भावः। ननु कारुण्यादपि

भामती—व्याख्या

कल्पनाएँ प्रमाणवती ही मानी जाती हैं, जैसे कि कुमारिल भट्ट कहते हैं—

प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।
अदृष्टशतभागोऽपि न कल्प्यो ह्यप्रमाणकः॥ (तं. वा. पृ. ३९९)

जहाँ कहीं दृष्टार्थ का अनुसरण किया गया है, वह केवल सहृदयता का प्रदर्शन है। आगम-निरपेक्ष अनुमान प्रमाण तो सर्वथा दृष्ट-साधर्म्य का अनुसरण करता है और दृष्ट-विरुद्ध एक कणमात्र को कल्पना से भी डरता है।

"प्राणिकर्मापेक्षित्वाददोष इति चेन्न, कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रय-दोषप्रसङ्गात्"—इस भाष्य का आशय यह है कि ईश्वर करुणा के पराधीन होकर प्राणियों को पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं करता, प्राणियों के पूर्वार्जित पापों का अधिष्ठाता न बनता, इतने मात्र से प्राणियों को दुःख न होता। ईश्वर की प्रेरणा के बिना न तो प्राणी अपने-आप कर्म कर सकते हैं और न ईश्वरीय अधिष्ठातृत्व के बिना पाप कर्म फल दे सकते हैं, जैसा कि न्यायभाष्यकार कहते हैं—प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति" (न्या. भा. पृ. १९१) अतः ईश्वर स्वतन्त्र होने पर भी कर्मों के द्वारा प्रवर्तित किया जाता है—ऐसी पृष्ट-विपरीत कल्पना करनी होगी। इतना ही नहीं अपितु कर्म की प्रेरणा से ईश्वर की प्रवृत्ति और ईश्वर की प्रेरणा से कर्म की फल-दान में प्रवृत्ति—इस प्रकार का अन्योऽन्याश्रय दोष ऐसे होता है, जैसे एक फोड़े पर दूसरा फोड़ा निकला हो।

**शङ्का**—"नानादित्वात्"। इस जन्म के जैव कर्म का अधिष्ठातृत्व पूर्व कर्म की प्रेरणा से—इस प्रकार अनादि संसार में पूर्व-पूर्व कर्म की प्रेरणा से उत्तरोत्तर कर्म का अधिष्ठातृत्व मानने में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता।

**समाधान**—"न, वर्तमानकालवत्"। जैसे वर्तमान कर्म के फल-दातृत्व में ईश्वरीय प्रेरणा पूर्वकालीन कर्म से होती है, वैसे ही पूर्व-पूर्व कर्मों के फलजनकत्व में ईश्वर की प्रेरणा उनसे भी पूर्वकालीन कर्मों के द्वारा मानने पर अन्ध-परम्परात्मक अनवस्था प्रसक्त होती है। सदैव चक्षुष्मान् व्यक्ति ही अन्धे को ले जाता है, अन्धा व्यक्ति दूसरे अन्धे को कभी नहीं ले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' ( न्यायसू० १।१।१८ ) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थं परार्थं वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थप्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यम्, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्। पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य, पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम् ॥ ३७ ॥

संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पुनरप्यसामञ्जस्यमेव। न हि प्रधानपुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता। न तावत्संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधानपुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयवत्वाच्च। नापि समवायलक्षणः संबन्धः, आश्रयाश्रयिभावानिरू-

भामती

प्रवर्त्तमानो जनो दृश्यते न च कारुण्यं दोष इत्यत्र आह ❀ स्वार्थप्रयुक्त एव च इति ❀। कारुण्ये हि सत्यस्य दुःखं भवति, तेन तत्प्रहाणाय प्रवर्त्तंत इति कारुणिका अपि स्वार्थप्रयुक्ता एव प्रवर्त्तन्त इति। ननु स्वार्थप्रयुक्त एव प्रवर्त्ततामेवमपि को दोष इत्यत्र आह ❀ स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्य इति ❀। अर्थित्वादित्यर्थः। पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमान्न वास्तवी प्रवृत्तिरिति ॥ ३७ ॥

अपरमपि दृष्टानुसारेण दूषणमाह ❀सम्बन्धानुपपत्तेश्च❀। दृष्टो हि सावयवानामसर्वगतानाञ्च संयोगः। अप्राप्तिपूर्विका हि प्राप्ति संयोगः, न सर्वगतानां सम्भवत्यप्राप्तेरभावान्निरवयवत्वाच्च। अव्याप्यवृत्तिता

भामती—व्याख्या

जा सकता। वैसे ही ईश्वर और कर्म—दोनों ही प्रवर्तनीय है, कौन किसका प्रवर्तक है—यह निश्चय नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि न्याय-सम्मत ईश्वर की निर्दोषता स्वयं न्याय-मत से ही विरुद्ध है, क्योंकि न्यायसूत्रकार ने "प्रवर्तनालक्षणा दोषाः" (न्या. सू. १।१।१८) इस सूत्र में राग-द्वेषरूप दोष को समस्त प्रवृत्तियों का कारण बताया है, अतः ईश्वर की प्रवृत्ति का जनक राग और द्वेष ईश्वर में प्रसक्त होता है। हमारे ( वेदान्तियों के ) मत में वैसी प्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि मायिक प्रवृत्ति स्वयं अनुपपद्यमान ही होती है, उस पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा सकता, जैसा कि मण्डन मिश्र ने कहा है—"न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः, अनुपपद्यमानार्थैव हि माया" (ब्र० सि० पृ० १३)। करुणामूलक भी प्रवृत्ति होती है, करुणा कोई दोष नहीं, अतः प्रवृत्तिमात्र में दोषमूलकता क्योंकर सिद्ध होगी? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वार्थप्रयुक्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्तते"। सन्तप्त व्यक्ति के सन्ताप को देखकर कारुणिक पुरुष में एक दुःख उत्पन्न होता है, उस दुःख को दूर करने के लिए कारुणिक की प्रवृत्ति होती है, अतः वह भी स्वार्थमूलक है। स्वार्थ-प्रयुक्त प्रवृत्ति में क्या दोष? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्"। स्वार्थवत्ता का अर्थ है—अर्थित्व, अर्थीपुरुष राग-द्वेष से रहित नहीं हो सकता। राग और द्वेष क्लेशरूप हैं, अतः ईश्वर क्लेशापरामृष्ट क्योंकर होगा? दूसरी बात यह भी है कि सांख्य और योग में पुरुष (जीव) को उदासीन माना गया है और परमेश्वर तो पुरुष-विशेष है, फलतः उदासीनतम तटस्थ पुरुष को कर्मादि का प्रवर्तक मानना अत्यन्त विरुद्ध है ॥ ३७ ॥

लोक-दृष्ट मर्यादा के अनुसार अन्य दोष भी दिखाया जाता है—"सम्बन्धानुपपत्तेश्च"। अर्थात् लोक में यह देखा जाता है कि प्रेर्य और प्रेरक का संयोगादि सम्बन्ध होता है और सदैव सावयव एवं अव्यापक द्रव्यों का ही संयोग सम्बन्ध होता है, क्योंकि संयोग का लक्षण है—"अप्राप्तयोः प्राप्तिः" ( प्रशस्त. पृ. ३४७ )। परस्पर अप्राप्त ( वियुक्त ) द्रव्यों की प्राप्ति ( मिलन ) सर्वगत ( सदैव प्राप्त ) द्रव्यों की कभी नहीं हो सकती। इसी प्रकार व्यापक पदार्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पणात्। नाप्यन्यः कश्चित्कार्यगम्यः संबन्धः शक्यते कल्पयितुं, कार्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात्। ब्रह्मवादिनः कथमिति चेत् न, तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः। अपि चागमबलेन ब्रह्मवादी कारणादिस्वरूपं निरूपयतीति नावश्यं तस्य यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमिति नियमोऽस्ति, परस्य तु दृष्टान्तबलेन कारणादिस्वरूपं निरूपयतो यथादृष्टमेव सर्वमभ्युपगन्तव्यमित्ययमस्त्यतिशयः। परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात्समानमागमबलमिति चेत्-न, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात्--आगमप्रत्य-

भामती

हि संयोगस्य स्वभावो न च निरवयवेष्वव्याप्यवृत्तिता सयोगस्य सम्भवतीत्युक्तम्। तस्मादव्याप्यवृत्तितायाः संयोगस्य व्यापिकाया निवृत्तेस्तद्व्याप्यस्य संयोगस्य विनिवृत्तिरिति भावः। नापि समवायलक्षणः, स ह्ययुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्ध इत्यभ्युपेयते। न च प्रधानपुरुषेश्वराणां मिथोऽस्त्याधाराधेयभाव इत्यर्थः। नापि योग्यतालक्षणः कार्यगम्यः सम्बन्ध इत्याह ❀ नाप्यन्यः इति ❀। नहि प्रधानस्य महदहङ्कारादिकारणत्वमद्यापि सिद्धमिति। शङ्कते ❀ ब्रह्मवादिन इति ❀। निराकरोति ❀ न ❀। कुतः ? तस्य मतेऽनिर्वचनीयतादात्म्यलक्षणसम्बन्धोपपत्तेः। ❀ अपि च इति ❀। आगमो हि प्रवृत्तिं प्रति न दृष्टान्तमपेक्षत इत्यदृष्टपूर्वे तद्विरुद्धे च प्रवर्त्तितुं समर्थः। अनुमानन्तु दृष्टानुसारि नैवंविधे प्रवर्त्तितुमर्हतीति। शङ्कते ❀ परस्यापि इति ❀। परिहरति ❀ न इति ❀। अस्माकं

भामती-व्याख्या

सावयव नहीं होते, इस लिए भी उनका संयोग नहीं बनता। ईश्वर, प्रकृति और पुरुष सभी ही व्यापक द्रव्य हैं। संयोग का अव्याप्यवृत्तिता (कतिपय अवयवों में रहना) स्वभाव है, किन्तु निरवयव पदार्थों का संयोग अव्याप्यवृत्ति नहीं रह सकता। अव्याप्यवृत्तिता संयोग की व्यापक है, अपने व्यापक की निवृत्ति से संयोग की निवृत्ति अनिवार्य है।

ईश्वर का प्रकृति आदि के साथ समवाय सम्बन्ध भी नहीं बनता, क्योंकि समवाय संबन्ध सदैव आधाराधेयादि अयुतसिद्ध, पदार्थों का ही माना जाता है—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहप्रत्ययहेतुः, स समवायः" (प्रशस्त. पृ. ७७३)। प्रधान, पुरुष और ईश्वर का परस्पर आधाराधेयभाव नहीं होता, अतः वहाँ समवाय संबन्ध क्योंकर बनेगा ?

अपने कार्य के द्वारा अनुमेय योग्यतारूप संबन्ध भी सम्भव नहीं—"नाप्यन्यः कश्चित् कार्यगम्यः संबन्धः"। ईश्वर की प्रेरणा से प्रधान तत्त्व (प्रकृति) महदादि प्रपञ्च की रचना करता है— ऐसा कार्य-कारणभाव अभी तक सिद्ध नहीं हुआ कि योग्यतात्मक संबन्ध की अधिगति होती। यहाँ ब्रह्मवादी क्या व्यवस्था करेगा ? यह प्रश्न किया जाता है—"ब्रह्मवादिनः कथम्"। उसका उत्तर है—"न, तस्य तादात्म्यलक्षणसंबन्धोपपत्तेः"। अर्थात् वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर अनिर्वचनीय प्रपंच का उपादानकारण है, उपादान और उपादेय का तादात्म्य संबन्ध निश्चित है। "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र. सू. १।१।३) इस सूत्र में सिद्ध किया जा चुका है कि ब्रह्म में जगत् की उपादानकारणता आगम से सिद्ध है, आगम प्रमाण को अपनी प्रवृत्ति में लोक-दृष्ट दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं, अतः वह लोक में अदृष्ट एवं दृष्ट-विरुद्ध अर्थ की भी सिद्धि अबाधगति से कर सकता है। अनुमान प्रमाण तो दृष्टानुसारी होता है, अतः वह दृष्ट-विरुद्ध अर्थ की सिद्धि नहीं कर सकता।

**शङ्का**—जैसे वेदान्तियों के पास आगम प्रमाण का बल है, वैसे ही अन्य ईश्वरवादियों के पास भी सर्वज्ञ-प्रणीत आगम का बल है, जैसा कि वैशेषिकाचार्य कहते हैं—"तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वै. सू. १०।२।९)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति। तस्मादनुपपन्ना सांख्ययोगवादिनामीश्वरकल्पना। एवमन्यास्वपि वेदबाह्यास्वीश्वरकल्पनासु यथासंभवमसामञ्जस्यं योजयितव्यम्॥ ३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च॥ ३९॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। स हि परिकल्प्यमानः कुम्भकार इव मृदादीनि प्रधानादीन्यधिष्ठाय प्रवर्तयेत्। न चैवमुपपद्यते। न ह्यप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति, मृदादिवैलक्षण्यात्॥ ३९॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः॥ ४०॥

स्यादेतद्-यथा करणग्रामं चक्षुरादिकमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते, भोगादिदर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते। न चात्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्रामसाम्ये चाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादयः प्रसज्येरन्। अन्यथा वा सूत्रद्वयं

---

भामती

स्वीश्वरागमयोरनादित्वादीश्वरयोनित्वेऽप्यागमस्य न विरोध इति भावः॥ ३८॥

यथादर्शनमनुमानं प्रवर्त्तते नालौकिकार्थविषयमितीहापि न प्रसक्तिरित्यम्। सुगममन्यत्॥ ३९॥

॥ रूपादिहीनम् इति ॥। अनुद्भूतरूपमित्यर्थः। रूपादिहीनकरणाधिष्ठानं हि पुरुषस्य स्वभोगावावेव दृष्टं नान्यत्र। नहि बाह्यं कुठाराद्यपरिदृष्टं व्यापारयन् कश्चिदुपलभ्यते। तस्माद्रूपादिहीनं करणं व्यापारयत ईश्वरस्य भोगादिप्रसक्तिस्तथा चानीश्वरत्वमिति भावः। फलान्तरमाह ॥अन्यथा इति॥।

---

भामती-व्याख्या

**समाधान**—द्वैतियों का आगम अन्योऽन्याश्रय दोष से ग्रस्त है, क्योंकि ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर सर्वज्ञ से प्रणीत होने के कारण आगम में प्रामाण्य सिद्ध होगा और आगम में प्रामाण्य सिद्ध हो जाने पर प्रमाणभूत आगम के द्वारा ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध होगी, जैसा कि न्यायभाष्यकार कहते हैं—"आगमाच्च द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञाता ईश्वर इति" (न्या. भा. ४।१।२१)। हमारे (वेदान्तियों) के मत में ईश्वर और आगम—दोनों ही अनादि हैं, अतः आगम में ईश्वरकारणकत्व रहने पर भी कोई विरोध नहीं, आगम का प्रामाण्य ईश्वर की सर्वज्ञता पर निर्भर नहीं माना जाता, अपितु स्वतःसिद्ध है॥ ३८॥

लोक-दृष्ट मर्यादा के अनुसार ही अनुमान प्रमाण किसी वस्तु की सिद्धि कर सकता है—यह नियम नहीं भूलना चाहिए। लोक में कुम्भकारादि रूपवान् और प्रत्यक्षभूत मृत्तिकादि के अधिष्ठाता होते हैं किन्तु प्रकृति तत्त्व रूप-रहित एवं अप्रत्यक्ष है, अतः उसका ईश्वर में अधिष्ठातृत्व क्योंकर उपपन्न होगा?॥ ३९॥

यद्यपि चक्षु तैजस इन्द्रिय होने के कारण रूपवान् है, रूपहीन नहीं, तथापि चक्षु में अनुद्भूत रूप माना जाता है, उद्भूत रूप नहीं, अतः भाष्यस्थ 'रूपहीन' शब्द का अर्थ उद्भूत रूप-हीन या अनुद्भूत रूप-युक्त है। चक्षुरादि अदृष्ट करण का वही जीव अधिष्ठाता होता है, जो करण-जन्य ज्ञान-सुखादि फलों का भोक्ता होता है सभी अधिष्ठाता अदृष्ट करण के प्रवर्तक नहीं होते, जैसे कि अदृष्ट कुठारादि को कोई भी प्रेरणा देनेवाला (व्यापारवान् करनेवाला) नहीं देखा जाता। फलतः ईश्वर यदि रूपादि-हीन प्रकृति का प्रेरक माना जाता है, तब उसे भोक्ता (सुख-दुःखादि की अनुभूतियों का आश्रय) भी मानना पड़ेगा। भोक्ता पुरुष ईश्वर नहीं, अनीश्वर (जीव) होता है, जैसा कि श्रुति कहती है—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्डक. ३।१।१)।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यायते—'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'। इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य। साधिष्ठात्रो हि लोके सशरीरो राजा राष्ट्रस्येश्वरो दृश्यते, न निरधिष्ठानः। अतश्च तद्दृष्टान्तवशेनादृष्टमीश्वरं कल्पयितुमिच्छत ईश्वरस्यापि किंचिच्छरीरं करणायतनं वर्णयितव्यं स्यात्। न च तद्वर्णयितुं शक्यते, सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्य प्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः। निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तिः, एवं लोके दृष्टत्वात्। करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः—अथ लोकदर्शनानुसारेणेश्वरस्यापि किंचित्करणानामायतनं शरीरं कामेन कल्प्येत। एवमपि नोपपद्यते, सशरीरत्वे हि सति संसारिवद् भोगादिप्रसङ्गादीश्वरस्याप्यनीश्वरत्वं प्रसज्येत ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

इतश्चानुपपत्तिस्तार्किकपरिकल्पितस्येश्वरस्य—स हि सर्वज्ञस्तैरभ्युपगम्यतेऽनन्तश्च। अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा, न वा परिच्छिद्येत। उभयथापि दोषोऽनुषक्त एव। कथम्? पूर्वस्मिंस्तावद्विकल्प इयत्तापरिच्छिन्नत्वात्प्रधानपुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यंभावि, एवं लोके दृष्टत्वात्। यद्धि लोके इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु पटादि तदन्तवद् दृष्टं, तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत्स्यात्। संख्यापरिमाणं तावत्प्रधानपुरुषेश्वरत्रयरूपेण परिच्छिन्नम्। स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति। पुरुषगता च महासंख्या। ततश्चेयत्तापरिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसारान्मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान्, संसारित्वं च तेषामन्तवत्। एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात्। प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वेनाभिमतं, तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत्? किंविषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम्? प्रधानपुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्वप्रसङ्गः, आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवादप्रसङ्गः। अथ मा

भामती

पूर्वमधिष्ठितिरधिष्ठानमिदानीन्तु अधिष्ठानं भोगायतनं शरीरमुक्तम्। तथा भोगादिप्रसङ्गेनानीश्वरत्वं पूर्वमापादितम्। सम्प्रति तु शरीरित्वेन भोगादिप्रसङ्गादनीश्वरत्वमुक्तमिति विशेषः ॥ ४० ॥

अपि च सर्वत्रानुमानं प्रमाणयतः प्रधानपुरुषेश्वराणामपि संख्याभेदवत्त्वमन्तवत्त्वं च द्रव्यत्वात्। संख्यान्यत्वे सति प्रमेयत्वाद्वानुमातव्यं ततश्चान्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा। अस्माकं त्वागमगम्येऽर्थे तद् बाधितवि-

भामती—व्याख्या

इन दोनों सूत्रों की अन्य व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—"अन्यथा वा सूत्रद्वयं व्याख्यायेत"। पहली व्याख्या में 'अधिष्ठान' पद से अधिष्ठिति क्रिया का एवं इस दूसरी व्याख्या में भोगायतन (शरीर) का ग्रहण किया गया है। दूसरे सूत्र की पहली व्याख्या में भोक्तृत्व-प्रसक्ति के द्वारा ईश्वर में अनीश्वरत्व का प्रसञ्जन किया गया और अब शरीरित्व-प्रसक्ति के द्वारा भोक्तृत्व-प्रसञ्जनपूर्वक अनीश्वरत्वापत्ति दिखाई गई है ॥ ४० ॥

सांख्य, योग और तार्किकगणों का जिस अनुमान प्रमाण पर विशेष विश्वास है, उसी के आधार पर प्रकृति, पुरुष और ईश्वर—इन तीनों में 'द्रव्यत्व' या 'संख्यान्यत्वे सति प्रमेयत्व' हेतु के द्वारा संख्याविशेषवत्त्व और अन्तवत्त्व (नश्वरत्व) का अनुमान किया जा सकता है—'प्रकृतिपुरुषेश्वरा अन्तवन्तः, संख्याविशेषेण परिच्छिन्नत्वात्, पटादिवत्'। फलतः उन तीनों में या तो नश्वरत्व सिद्ध होता है अथवा यदि ईश्वर का प्रधान और पुरुष की संख्या का ज्ञान नहीं, तब उसमें असर्वज्ञता पर्यवसित होती है। हमारे (वेदान्तियों के) मत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत, न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यत इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिरपरो दोषः प्रसज्येत्। तस्मादप्यसंगतस्तार्किकपरिगृहीत ईश्वरकारणवादः॥ ४१॥

## ( ८ उत्पत्त्यसंभवाधिकरणम् । सू० ४२--४५ )

### उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

येषामप्रकृतिरधिष्ठाता केवलनिमित्तकारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यातः। येषां पुनः प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चोभयात्मकं कारणमीश्वरोऽभिमतस्तेषां पक्षः प्रत्याख्यायते। ननु श्रुतिसमाश्रयणेनाप्येवंरूप एवेश्वरः प्राङ्निर्धारितः—प्रकृतिश्चाधिष्ठाता चेति। श्रुत्यनुसारिणी च स्मृतिः प्रमाणमिति स्थितिः। तत्कस्य हेतोरेष पक्षः प्रत्याचिख्यासित इति? उच्यते—यद्यप्येवंजातीयकोऽशः समानत्वान्न विसंवादगोचरो भवत्यस्तित्वंशान्तरं विसंवादस्थानमित्यतस्तत्प्रत्याख्यानायारम्भः।

भामती

षयतया नानुमानं प्रभवतीति भावः। स्वरूपपरिमाणमपि यस्य यादृशमणु महत् परममहद्दीर्घं ह्रस्वं चेति। ❀अथ मा भूदेष दोषः❀ इत्युत्तरो विकल्पः। यस्यान्तोऽस्ति तस्यान्तवत्त्वाग्रहणमसर्वज्ञतामापादयेत्। यस्य त्वन्त एव नास्ति तस्य तदग्रहणं नासर्वज्ञतामावहति, नहि शशविषाणाज्ञानादज्ञो भवतीति भावः। परिहरति। ❀ तत इति ❀। आगमानपेक्षस्यानुमानमेषामन्तवत्त्वमवगमयतीत्युक्तम्॥ ४१॥

अन्यत्र वेदाविसंवादाद्यत्रांशे विसंवादः स निरस्यते, तमंशमाह। ❀ यत्पुनरिदमुच्यते ❀। ❀ वासुदेवात्सङ्कर्षणो जीवः ❀ इति जीवस्य कारणवत्त्वे सत्यनित्यत्वम्, अनित्यत्वेपर लोकिनोऽभावात्प-

भामती—व्याख्या

में उक्त अनुमान आगम प्रमाण से बाधित होने के कारण कार्य-सक्षम नहीं हो सकता। "स्वरूपपरिमाणमपि"—इस भाष्य का आशय यह है कि यहाँ दो प्रकार का परिमाण चर्चित है—संख्या परिमाण और स्वरूप-परिमाण। संख्या-परिमाण का अर्थ है—सख्या की इयत्ता (लाख-दस लाख आदि) और स्वरूप-परिमाण का अर्थ है—प्रधानादि के स्वरूप का परिमाण अणु, मध्यम या महत् परिमाण। "अथ मा भूदेष दोष इत्युत्तरो विकल्पोऽभ्युपगम्येत" अर्थात् यदि ईश्वर को प्रधान, पुरुष की एवं अपनी इयत्ता का ज्ञान नहीं, तब ईश्वर असर्वज्ञ हो जाता है, क्योंकि जिस वस्तु का अन्त है, उस की अन्तवत्ता का अग्रह ईश्वर में असर्वज्ञता का आपादक है, किन्तु जिस वस्तु का अन्त है ही नहीं, उसकी अन्तवत्ता का अज्ञान असर्वज्ञता का प्रसंजक नहीं होता, जैसे कि शशविषाण का अज्ञान पुरुष में अनभिज्ञता का आरोप नहीं किया करता। द्वितीय विकल्प का परिहार किया जाता है—"तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिः"। तार्किकों का अनुमान आगम निरपेक्ष होने से प्रधानादि की अन्तवत्ता सिद्ध कर सकता है—यह कह चुके हैं॥ ४१॥

**संगति**—वेद विसंवादित ईश्वरवाद का पूर्णतया निरास किया गया, क्योंकि वह समन्वय का विरोधी था और अब वेद-संवादी ईश्वर में जो समन्वय विरोधी अंश है, उतने मात्र का निराकरण किया जाता है।

**पूर्व पक्ष** - पाञ्चरात्र गण मानते हैं कि एक मात्र भगवान् वासुदेव परमार्थतत्त्व है, वह जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। उससे संकर्षण नाम का जीव उत्पन्न होता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र भागवता मन्यन्ते—भगवानेवैको वासुदेवो निरञ्जनज्ञानस्वरूपः परमार्थतत्त्वं, स चतुर्धात्मानं प्रविभज्य प्रतिष्ठितः—वासुदेवव्यूहरूपेण, संकर्षणव्यूहरूपेण, प्रद्युम्नव्यूहरूपेणानिरुद्धव्यूहरूपेण च। वासुदेवो नाम परमात्मोच्यते। संकर्षणो नाम जीवः। प्रद्युम्नो नाम मनः। अनिरुद्धो नामाहंकारः। तेषां वासुदेवः परा प्रकृतिरितरे संकर्षणादयः कार्यम्। तमित्थंभूतं परमेश्वरं भगवन्तमभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैर्वर्षशतमिष्ट्वा क्षीणक्लेशो भगवन्तमेव प्रतिपद्यते इति। तत्र यत्तावदुच्यते योऽसौ नारायणः परोऽव्यक्तात्प्रसिद्धः परमात्मा सर्वात्मा स आत्मनात्मानमनेकधा व्यूह्यावस्थित इति-तन्न निराक्रियते, 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः परमात्मनोऽनेकधाभावस्याधिगतत्वात्। यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते—तदपि न प्रतिषिध्यते, श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात्। यत्पुनरिदमुच्यते—वासुदेवात्संकर्षण उत्पद्यते, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्ध इति, अत्र ब्रूमः—न वासुदेवसंज्ञकात्परमात्मनः संकर्षणसंज्ञकस्य जीवस्योत्पत्तिः संभवति, अनित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात्। उत्पत्तिमत्त्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत्प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्, कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलयप्रसङ्गात्। प्रतिषेधिष्यति चाचार्यो जीवस्योत्पत्तिम्—'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।१७) इति। तस्मादसंगतैषा कल्पना ॥ ४२ ॥

---

भामती

रलोकाभावः। ततश्च स्वर्गनरकापवर्गाभावापत्तेर्नास्तिक्यमित्यर्थः। अनुपपन्ना च जीवस्योत्पत्तिरित्याह ❀ प्रतिषेधिष्यते च इति ❀ ॥ ४२ ॥

---

भामती-व्याख्या

है, संकर्षण से प्रद्युम्नसंज्ञक मन और उससे अनिरुद्धाख्य अहंकार उत्पन्न होता है—

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः॥
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूत स उच्यते।
प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः॥ (भारत. १२।३३९।४०, ४१)

आगे चलकर शान्ति पर्व के ३४९वें अध्यायमें पाञ्चरात्र एवं पाशुपत का उल्लेख है। अहिर्बुध्न्यसंहिता के पञ्चम अध्याय में इसका विस्तार से वर्णन है—"व्यूहा एते विशालाक्षाश्चत्वारः पुरुषोत्तमाः"। सनत्कुमारसंहितान्तर्गत इन्द्ररात्र के छठे अध्याय में व्यूह एवं उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है]।

**सिद्धान्त**—निराकरणीय अंश का निर्देश करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"यत्पुनरिदमुच्यते वासुदेवात् संकर्षण उत्पद्यते"। अर्थात् संकर्षण नाम के जीव को कारणवान् (उत्पद्यमान) मानने पर अनित्य मानना होगा। जीव यदि यहाँ ही नष्ट हो जाता है, तब परलोक जानेवाला कोई न होने पर परलोक का भी अभाव हो जायगा, अत एव स्वर्ग, नरक और अपवर्गादि के अभाव से नास्तिक्य का साम्राज्य हो जायगा। जीव की उत्पत्ति सर्वथा अनुपपन्न है—"प्रतिषेधिष्यति चाचार्यः"—"नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" (ब्र. सू. २।३।१७)। इस सूत्र में स्पष्ट कहा है कि आत्मा (जीव) की उत्पत्ति कहीं वेद में प्रतिपादित नहीं, अपितु श्रुतियों के बल पर उसकी नित्यता निश्चित की गई है॥ ४२॥


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

इतश्चासंगतैषा कल्पना। यस्मान्न हि लोके कर्तुर्देवदत्तादेः करणं परश्वाद्युत्पद्यमानं दृश्यते। वर्णयन्ति च भागवताः कर्तुर्जीवात्सकर्षणसंज्ञकात्करणं मनः प्रद्युम्नसंज्ञकमुत्पद्यते। कर्तृजाच्च तस्मादनिरुद्धसंज्ञकोऽहंकार उत्पद्यत इति। न चैतद्दृष्टान्तमन्तरेणाध्यवसातुं शक्नुमः, न चैवंभूतां श्रुतिमुपलभामहे ॥ ४३ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

अथापि स्यान्न चैते संकर्षणादयो जीवादिभावेनाभिप्रेयन्ते, किं तर्हि? ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वर्यधर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते--वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्चेति। तस्मान्नायं यथावर्णित उत्पत्त्यसंभवो दोषः प्राप्नोतीति। अत्रोच्यते--एवमपि तदप्रतिषेध उत्पत्त्यसंभवस्याप्रतिषेधः,

भामती

यद्यप्यनेकशिल्पपर्य्यवदातः परशुं कृत्वा तेन पलाशं छिनत्ति। यद्यपि च प्रयत्नेनेन्द्रियार्थात्ममनःसन्निकर्षलक्षणं ज्ञानकरणमुपादायात्मार्थं विजानाति, तथापि सङ्कर्षणोऽकरणः कथं प्रद्युम्नाख्यं मनः करणं कुर्यात्? अकरणस्य वा करणनिर्माणसामर्थ्ये कृते करणनिर्माणेनाकरणादेव निखिलकार्यसिद्धेरिति भावः ॥ ४३ ॥

वासुदेवा एवैते सङ्कर्षणादयः ❀ निर्दोषाः ❀ अविद्यादिदोषरहिताः। ❀ निरधिष्ठानाः ❀ निरुपादाना अत एव ❀ निरवद्याः ❀ अनित्यत्वादिदोषरहिताः, तस्मादुत्पत्त्यसम्भवोऽनुगुणत्वान्न दोष इत्यर्थः। अत्रोच्यते ❀ एवमपि इति ❀। मा भूदभ्युपगमेन दोषः, प्रकारान्तरेण त्वयमेव दोषः।

भामती-व्याख्या

[ "न च कर्तुः करणम्"—इस सूत्र में कहा गया है कि संकर्षणसंज्ञक जीवरूप कर्त्ता से प्रद्युम्नाख्य करण ( मन ) की जो उत्पत्ति कही गई, वह असंगत है ]। यद्यपि कितना भी निपुण वर्धकी क्यों न हो पहले कुठाररूप करण का निर्माण करता है, तब उससे पलाशादि वृक्षों का छेदन करता है। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञाता ( ज्ञान का कर्त्ता ) पहले इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप करण की रचना करता है, उसके पश्चात् ज्ञान-करण ( ज्ञान का उत्पादन ) करता है। तथापि करणवान् कर्त्ता ही करणादि कार्य का निर्माण किया करता है, किन्तु सकर्षणरूप कर्त्ता अन्य करण से विहीन है, अतः वह प्रद्युम्नाख्य मन की रचना क्योंकर कर सकेगा? यदि किसी अन्य करण की सहायता के विना ही मनरूप करण के निर्माण का सामर्थ्य किसी कर्त्ता में माना जाता है, तब मनरूप करण के निर्माण की क्या आवश्यकता? क्योंकि उसके विना ही अहकारादि निखिल कार्य का उत्पादन हो जायगा ॥ ४३ ॥

शङ्का—पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के माननीय आचार्यों का कहना है कि "वासुदेवा एवैते सर्वे निर्दोषा निरधिष्ठाना निरवद्याश्च"। अर्थात् संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीनों भगवान् वासुदेव के स्वरूप हैं, निर्दोष ( अविद्यादि दोषों से रहित ) हैं, निरधिष्ठान ( उपदान-कारण से रहित) हैं, अत एव निरवद्य (उपादेयत्व या जन्यत्व दोष से निर्मुक्त) हैं। फलतः संकर्षणादि की उत्पत्ति का जो असम्भवापादन किया गया, वह पाञ्चरात्र-सिद्धान्त के अनुकूल ही है, [ क्योंकि वासुदेवादि चारों ज्ञानैश्वर्यादि-सम्पन्न ईश्वररूप हैं—

वासुदेवात्मको यः स संकर्षण उदीरितः।
प्रद्युम्नोऽपि स एवेति सुकारार्थो निरूप्यते॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजोमहोदधिः।
भगवानेव विश्वात्मा मन्तव्यः प्रविवक्षया॥ (अहिर्बुध्न्य. पृ. ५२७) ]।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसंभवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः । कथम् ? यदि तावदयमभिप्रायः—परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मकत्वमस्तीति, ततोऽनेकेश्वरकल्पनानर्थक्यम् ; एकेनैवेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः । सिद्धान्तहानिश्च; भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतस्त्वमित्यभ्युपगमात् । अथायमभिप्रायः—एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्यधर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसंभवः । नहि वासुदेवात्संकर्षणस्योत्पत्तिः संभवति, संकर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्य; अतिशयाभावात् । भवितव्यं हि कार्यकारणयोरतिशयेन यथा मृद्घटयोः । नह्यसत्यतिशये कार्यं कारणमित्यवकल्पते । न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादि तारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते । वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसंख्यायामेवावतिष्ठेरन्; ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमात् ॥ ४४ ॥

## विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

विप्रतिषेधश्चास्मिञ्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः । ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणाः, आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इत्यादि-

भामती

प्रश्नपूर्वं प्रकारान्तरमाह ❀कथं ? यदि तावद् इति❀ । न तावदेते परस्परं भिन्ना ईश्वराः परस्परव्याहतेच्छा भवितुमर्हन्ति, व्याहतकामत्वे च कार्यानुत्पादात् । अव्याहतकामत्वे वा प्रत्येकमीश्वरत्वे एकेनैवेशनायाः कृतत्वादानर्थक्यमितरेषाम् । सम्भूय चेशनायां परिशुद्धो न कश्चिदीश्वरः स्यात्, सिद्धान्तहानिश्च, भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतस्त्वमित्यभ्युपगमात् । तस्मात् कल्पान्तरमास्थेयम् । तत्र चोत्पत्त्यसम्भवो दोष इत्याशयवान् कल्पान्तरमुपन्यस्योत्पत्त्यसम्भवेनापाकरोति ❀ अथायमभिप्राय इति ❀ । सुगममन्यत् ॥ ४४ ॥

गुणिभ्यः खल्वात्मभ्यो ज्ञानादीन् गुणान् भेदेनोक्त्वा पुनरभेदं ब्रूते ❀ आत्मान एवैते भगवन्तो

भामती—व्याख्या

**समाधान**—"एवमपि तदप्रतिषेधः" । सभी को ईश्वरस्वरूप मान लेने मात्र से निर्दोषता वहीं होती, क्योंकि चारों परस्पर-भिन्न और अव्याहत इच्छावाले ईश्वर नहीं हो सकते, क्योंकि जब एक सृष्टि की और दूसरा प्रलय की कामना करता है, तब सुन्दोपसुन्द के समान दोनों सङ्कल्प नष्ट हो जाएँगे, न सृष्टि होगी और न प्रलय । यदि सभी में ऐकमत्य मान कर समानसङ्कल्पता ही मानी जाती है, तब एक के संकल्प से जो कार्य हो जाता है, उसके लिए अन्य संकल्प का कोई सार्थक्य नहीं रह जाता । यदि चारों का समूह एक ईश्वर का विग्रह माना जाता है, तब प्रत्येक में से कोई भी ईश्वर नहीं हो सकेगा । "सिद्धान्तहानिश्च"—इस भाष्य के द्वारा यह दिखाया गया कि यदि अनेक ईश्वर माने जाते हैं, तब पाञ्चरात्र का एकेश्वरवाद सिद्धान्त बाधित हो जाता है, अतः परिशेषतः यही मानना होगा कि एकमात्र भगवान् वासुदेव ही ईश्वर है और संकर्षणादि की उस ईश्वर से उत्पत्ति होती है । किन्तु इस कल्प में उत्पत्त्यसम्भव दोष दिया जा चुका है —यही दिखाया जाता है—"यद्ययमभिप्रायः"। शेष भाष्य सुगम है ॥ ४४ ॥

पहले ज्ञानादि षड् गुणों को आत्मा के आश्रित मानकर गुण और गुणी का भेद प्रतिपादित हुआ, पश्चात् गुण और गुणी का अभेद कह दिया गया —"आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवाः" । 'आदि' पद के द्वारा यह भी विरोध संगृहीत हो जाता है कि पहले मनोरूप प्रद्युम्न और अहंकाररूप अनिरुद्ध को वासुदेव से भिन्न कह कर कह दिया गया कि "वासुदेवा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनात्। वेदविप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेदनिन्दादर्शनात्। तस्मादसंगतैषा कल्पनेति सिद्धम्॥ ४५॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरिकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः॥ २॥

इति द्वितीयाध्यायस्य सांख्यादिमतानां
दुष्टत्वप्रदर्शनं नाम द्वितीयः पादः॥

---

भामती

वासुदेवा इति ※। आदिग्रहणेन प्रद्युम्नानिरुद्धयोर्मनोऽहङ्कारलक्षणतयात्मनो भेदमभिधायात्मान एवैत इति तद्विरुद्धाभेदाभिधानमपरं संगृहीतम्। वेदविप्रतिषेधो व्याख्यातः॥ ४५॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे
भामत्यां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

---

भामती–व्याख्या

एवैते सर्वे'। वेद का प्रतिषेध भी किया गया कि चारों वेदों में परम पुरुषार्थ की उपलब्धि न पाकर शाण्डिल्य ने यह पांचरात्र आगम आविष्कृत किया॥ ४५॥

ब्रह्मान्वयो विजयते सुगते सुगतान्वये।
पिशाचचक्रसञ्चारे कथं स्यात्सुखी नरः॥

भामतीव्याख्यायां द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः समाप्तः

---

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ।

[ अत्र पादे पञ्चमहाभूतजीवादिश्रुतीनां विरोधपरिहारः ।]

### ( १ वियदधिकरणम् । सू० १–७ )

### न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते । केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न । एवं जीवस्य प्राणानां च । एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते । विप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षितत्वं स्थापितं, तद्वत्स्वपक्षस्यापि विप्रतिषेधादेवानपेक्षितत्वमाशङ्क्येतेत्यतः सर्ववेदान्तगतसृष्टिश्रुत्यर्थनिर्मलत्वाय परः प्रपञ्च आरभ्यते । तदर्थनिर्मलत्वे च फलं यथोक्ताशङ्कानिवृत्तिरेव । तत्र प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते

भामती

पूर्वं प्रमाणान्तरविरोधः श्रुतेर्निराकृतः, सम्प्रति तु श्रुतीनामेव परस्परविरोधो निराक्रियते । तत्र सृष्टिश्रुतीनां परस्परविरोधमाह ❀ वेदान्तेषु तत्र तत्र इति ❀ । श्रुतिविप्रतिषेधाच्च परपक्षाणामनपेक्षत्वं स्थापितं, तद्वत् स्वपक्षस्य श्रुतिविप्रतिषेधादिति । ❀ तदर्थनिर्मलत्वम् ❀ अर्थाभासविनिवृत्त्यार्थतत्त्वप्रतिपादनम् । तस्य फलं स्वपक्षस्य जगतो ब्रह्मकारणत्वस्यानपेक्षत्वाशङ्कानिवृत्तिः । इह हि पूर्वपक्षे श्रुतीनां मिथो विरोधः प्रतिपाद्यते सिद्धान्ते त्वविरोधः । तत्र सिद्धान्त्येकदेशिनो वचनं ❀ न वियदश्रुतेरिति ❀ । तस्याभिसन्धिः—यद्यपि तैत्तिरीयके वियदुत्पत्तिश्रुतिरस्ति, तथापि तस्याः प्रमाणान्तरविरोधाद् बहुश्रुतिविरोधाच्च गौणत्वम् । तथाच वियतो नित्यत्वात्तेजःप्रमुख एव सर्गः, तथाच न विरोधः श्रुतीनामिति । तदिदमुक्तम् ❀ प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्योत्पत्तिरस्युत नास्ति

भामती–व्याख्या

**संगति** – इससे पूर्व तर्कपाद में इतर प्रमाणों से श्रुतियों का विरोध निराकृत किया गया, अब इस पाद में श्रुतियों का परस्पर-विरोध दूर करना है । सर्वप्रथम सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध प्रस्तुत किया जाता है—"वेदान्तेषु तत्र तत्र" । जिन श्रुतियों से विप्रतिषिद्ध होने के कारण परकीय पक्ष अनपेक्षित हुए, उन्हीं श्रुति-वाक्यों से विप्रतिषिद्ध स्वकीय पक्ष का भी अनपेक्षित होना न्याय-संगत क्यों नहीं—ऐसी शङ्का की जा सकती है, अतः सृष्टि-वाक्यों का निर्मलीकरण [ अर्थाभास-निरासपूर्वक अर्थतत्त्व का व्यवस्थापन ] करना आवश्यक है । इसका उद्देश्य अपने ब्रह्मकारणतावाद में अनपेक्षितत्व की आशङ्का को दूर करना है । इस पाद के पूर्वपक्ष में श्रुतियों का विरोधोद्भावन और सिद्धान्त में अविरोध-स्थापन करना होगा ।

**संशय**—सृष्टि-प्रतिपादक श्रुतियों का क्या परस्पर-विरोध है ? अथवा नहीं ? सिद्धान्ती के एकदेशी का कहना है कि "न वियदश्रुतेः" अर्थात् आकाश के उत्पादन की प्रतिपादिका कोई श्रुति ही नहीं । तैत्तिरीय उपनिषत् में जो एक श्रुति उपलब्ध होती है—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ( तै. उ. २।१ ) । अन्य अनेक श्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण उस श्रुति का अपने मुख्यार्थ में तात्पर्य नहीं । फलतः आकाश नित्य सिद्ध होता है, तेज, जल और पृथिवी—इन तीनों की उत्पत्ति से सृष्टि का निर्माण मानना चाहिए—"तत्तेजोऽसृजत", "तदपोऽसृजत" ( छां. ६।२।३ ), "ता अन्नमसृजन्त" ( छां. ६।२।४ ) । इस प्रकार श्रुतियों का परस्पर-विरोध नहीं रहता, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"प्रथमं तावदाकाशमाश्रित्य चिन्त्यते किमस्याकाशस्योत्पत्तिरस्युत नास्ति" । यदि आकाश की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किमस्याकाशस्योत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति ? तत्र तावत्प्रतिपद्यते—'न वियदश्रुतेः' इति। न खल्वाकाशमुत्पद्यते। कस्मात् ? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति। छान्दोग्ये हि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इति सच्छब्दवाच्यं ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत', 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति च पञ्चानां महाभूतानां मध्यमं तेज आदि कृत्वा त्रयाणां तेजोऽबन्नानामुत्पत्तिः श्राव्यते। श्रुतिश्च नः प्रमाणमतोन्द्रियार्थविज्ञानोत्पत्तौ। न चात्र श्रुतिरस्याकाशस्योत्पत्तिप्रतिपादिनी। तस्मान्नास्त्याकाशस्योत्पत्तिरिति ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे। मा नामाकाशस्य छान्दोग्ये भूदुत्पत्तिः, श्रुत्यन्तरे त्वस्ति। तैत्तिरीयका समामनन्ति—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति प्रकृत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति। ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधः—क्वचित्तेजःप्रमुखा सृष्टिः, क्वचिदाकाशप्रमुखेति। नन्वेकवाक्यतानयोः श्रुत्योर्युक्ता, सत्यं सा युक्ता, नतु सावगन्तुं शक्यते। कुतः ? 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इति सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयेन सम्बन्धानुपपत्तेः 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदाकाशमसृजत' इति। ननु सकृच्छ्रुतस्यापि कर्तुः कर्तव्यद्वयेन सम्बन्धो दृश्यते, यथा सूपं पक्त्वौदनं

---

भामती

इति ॐ। यदि नास्ति, न श्रुतिविरोधाशङ्का। अथास्ति, ततः श्रुतिविरोध इति तत्परिहाराय प्रयत्नान्तरमास्थेयमित्यर्थः ॥ १ ॥

तत्र पूर्वपक्षसूत्रम् ॐ अस्ति तु ॐ। तैत्तिरीये हि सर्गप्रकरणे केवलस्याकाशस्यैव प्रथमः सर्गः श्रूयते, छान्दोग्ये च केवलस्य तेजसः प्रथमः सर्गः। न च श्रुत्यन्तरानुरोधेनासहायस्याधिगतस्यापि ससहायताकल्पनं युक्तं, असहायत्वावगमविरोधात्। श्रुतसिद्धयर्थं खल्वश्रुतं कल्प्यते, न तु तद्विघाताय, विहन्यते चासहायत्वं श्रुतं कल्पितेन ससहायत्वेन। न च परस्परानपेक्षाणां व्रीहियवत्रवद् विकल्पः, अनुष्ठानं हि विकल्प्यते, न वस्तु। नहि स्थाणुपुरुषविकल्पो वस्तुनि प्रतिष्ठां लभते। न च सर्गभेदेन व्यवस्थो-

---

भामती—व्याख्या

उत्पत्ति नहीं होती, तब श्रुति-विरोध की शङ्का ही नहीं हो सकती और यदि उत्पत्ति होती है, तब श्रुति-विरोध का परिहार करने के लिए कोई अन्य प्रयत्न करना चाहिए ॥ १ ॥

**पूर्वपक्ष**—"अस्ति तु"। तैत्तिरीय उपनिषत् के सृष्टि-प्रकरण में केवल आकाश की प्रथम उत्पत्ति श्रुत है और छान्दोग्य में केवल तेज की प्रथम उत्पत्ति प्रतिपादित है। छान्दोग्य श्रुति के अनुरोध पर तैत्तिरीय में तेज आदि के साथ आकाश के सर्ग की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ श्रुत अकेले आकाश की उत्पत्ति का अभिधान विरुद्ध पड़ जाता है, सर्वत्र श्रुत पदार्थ की उपपत्ति करने के लिए ही पदार्थान्तर की कल्पना की जाती है, श्रुतार्थ का विघात करने के लिए नहीं, किन्तु छान्दोग्य के अनुसार तेज आदि के साथ आकाश की उत्पत्ति मानने पर तैत्तिरीय में अकेले आकाशोत्पत्ति का श्रवण बाधित हो जाता है। दोनों श्रुतियों का सामंजस्य करने के लिए विकल्प का आश्रयण भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि यागादि क्रिया में विकल्प माना जाता है—कोई यजमान यव से पुरोडाश बनाकर याग करता है और कोई व्रीहि से। वस्तु में विकल्प कभी नहीं होता कि एक वस्तु कभी स्थाणु बने और कभी पुरुष। किसी सर्ग में पहले आकाश और अन्य सर्ग में पहले तेज उत्पन्न होता है—इस प्रकार का व्यवस्थित विकल्प भी नहीं अपनाया जा सकता, क्योंकि वर्तमान सर्ग के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पचतीति, एवं तदाकाशं सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृजतेति योजयिष्यामि। नैवं युज्यते, प्रथमजत्वं हि छान्दोग्ये तेजसोऽवगम्यते, तैत्तिरीयके चाकाशस्य। न चोभयोः प्रथमजत्वं सम्भवति। एतेनेतरश्रुत्यक्षरविरोधोऽपि व्याख्यातः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' ( तै० २।१ ) इत्यत्रापि तस्मादाकाशः सम्भूतस्तस्मात्तेजः सम्भूतमिति सकृच्छ्रुतस्यापादानस्य सम्भवनस्य च वियत्तेजोभ्यां युगपत्सम्बन्धानुपपत्तेः। 'वायोरग्निः' ( तै० २।१ ) इति च पृथगाम्नानात् ॥ २ ॥

अस्मिन्विप्रतिषेधे कश्चिदाह—

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

नास्ति वियत उत्पत्तिरश्रुतेरेव। या त्वितरा वियदुत्पत्तिवादिनी श्रुतिरुदाहृता सा गौणी भवितुमर्हति। कस्मात्? असम्भवात्। न ह्याकाशस्योत्पत्तिः सम्भावयितुं शक्या, श्रीमत्कणभुगभिप्रायानुसारिषु जीवत्सु। ते हि कारणसामग्र्यसम्भवादाकाशस्योत्पत्तिं वारयन्ति। समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि किल सर्वमुत्पद्यमानं समुत्पद्यते। द्रव्यस्य चैकजातीयकमनेकं च द्रव्यं समवायिकारणं भवति। न चाकाशस्यैकजातीयकमनेकं च द्रव्यमारम्भकमस्ति, यस्मिन्समवायिकारणे सति, असमवायिकारणे च तत्संयोगे, आकाश उत्पद्येत। तदभावात्तु तदनुग्रहप्रवृत्तं निमित्तकारणं

भामती

पपद्यते। साम्प्रतिकसर्गवद् भूतपूर्वस्यापि तथात्वात्। न खल्विह सर्गे क्षीराद्दधि जायते, सर्गान्तरे तु दध्नः क्षीरमिति भवति। तस्मात्सर्गश्रुतयः परस्परविरोधिन्यो नास्मिन्नर्थे प्रमाणं भवितुमर्हन्तीति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्त्येकदेशी सूत्रेण स्वाभिप्रायमाविष्करोति ❀ गौण्यसम्भवात् ❀। प्रमाणान्तरविरोधेन बहुश्रुत्यन्तरविरोधेन चाकाशोत्पत्त्यसम्भवाद्, गौण्येषाकाशोत्पत्तिश्रुतिरित्यविरोध इत्यर्थः। प्रमाणान्तरविरोधमाह ❀ नह्याकाशस्य इति ❀। समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणेभ्यो हि कार्यस्योत्पत्तिर्नियता, तदभावे न भवितुमर्हति धूम इव धूमध्वजाभावे। तस्मात्सदकारणमाकाशं

भामती—व्याख्या

समान ही अतीत सर्गों का भी क्रम और स्वभाव मानना होगा। लोक में ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि कभी दूध से दही और कभी दही से दूध उत्पन्न होता हो। फलतः आकाश की प्रथम उत्पत्ति बतानेवाली श्रुति का उन श्रुतियों से विरोध है, जो तेज की प्रथम उत्पत्ति बताती हैं। विरुद्धार्थक श्रुतियों का प्रामाण्य किसी भी अर्थ में नहीं माना जा सकता ॥ २ ॥

**एकदेशिसिद्धान्त**—सिद्धान्त-पक्ष में अवान्तर मत-भेदों को लेकर जहाँ भेद हो जाता है, वहाँ एक मुख्य सिद्धान्त और दूसरा एकदेश कहलाता है। एकदेशी यहाँ अपना मन्तव्य प्रस्तुत करता है—'गौणी, असम्भवात्"। अर्थात् "समानासमानजातीयकारणाभावाच्च नित्यम्" ( प्रशस्त. पृ. १५१–५२ ) इत्यादि प्रमाणों एवं छान्दोग्यादि-श्रुत विरुद्ध वाक्यों के आधार पर यह निश्चय किया जा सकता है कि आकाश की उत्पत्ति असम्भव है, अतः आकाशोत्पत्ति-प्रतिपादिका तैत्तिरीय-श्रुति गौणी है, गौण (औपाधिक) उत्पत्ति की प्रकाशिका है। प्रमाणान्तर का विरोध दिखाया जाता है—"न ह्याकाशस्योत्पत्तिः"। अर्थात् समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के होने पर ही कार्य का उत्पत्ति होती है [ अतः उत्पत्ति के कारणत्रय की सत्ता वैसे ही व्यापक है, जैसे धूम की अग्नि व्यापक है। व्यापक के न होने पर व्याप्य का अभाव अवश्यम्भावी है, अतः कारणत्रय के न होने पर कार्य वैसे ही उत्पन्न नहीं होता, जैसे अग्नि के अभाव में धूम ]। आकाश के समवायिकारणादि कहीं भी उपलब्ध नहीं, अतः आकाश को नित्य माना जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूरापेतमेवाकाशस्य भवति। उत्पत्तिमतां च तेजःप्रभृतीनां पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः सम्भाव्यते - प्रागुत्पत्तेः प्रकाशादिकार्यं न बभूव, पश्चाच्च भवतीति। आकाशस्य पुनर्न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः सम्भावयितुं शक्यते। किं हि प्रागुत्पत्तेरनवकाशमसुषिरमच्छिद्रं बभूवेति शक्यतेऽध्यवसातुम्? पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च विभुत्वादिलक्षणादाकाशस्याजत्वसिद्धिः। तस्माद्यथा लोक आकाशं कुरु, आकाशो जात इत्येवंजातीयको गौणः प्रयोगो भवति, यथा च घटाकाशः करकाकाशो गृहाकाश इत्येकस्याप्याकाशस्यैवंजातीयको भेदव्यपदेशो गौणो भवति, वेदेऽपि 'आरण्यानाकाशेष्वालभेरन्' इति, एवमुत्पत्तिश्रुतिरपि गौणी द्रष्टव्या ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

शब्दः खल्वाकाशस्याजत्वं ख्यापयति। यत आह—'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' (बृ० २।३।३) इति। न ह्यमृतस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (छा० ३।१४।३) इति चाकाशेन ब्रह्म सर्वगतत्वनित्यत्वाभ्यां धर्माभ्यामुपमिमान आकाशस्यापि तौ धर्मौ सूचयति। न च तादृशस्योत्पत्तिरुपपद्यते। 'स यथानन्तोऽयमाकाश एवमनन्त आत्मा वेदितव्यः' इति चोदाहरणम्। 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२), 'आकाश आत्मा' (तै० १।७।१) इति च। न ह्याकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे ब्रह्मणस्तेन विशेषणं संभवति, नीलेनेवोत्पलस्य। तस्मान्नित्यमेवाकाशेन साधारणं ब्रह्मेति गम्यते ॥ ४ ॥

भामती

नित्यमिति। अपि च य उत्पद्यन्ते, तेषां प्रागुत्पत्तेरनुभवार्थक्रिये नोपलभ्येते, उत्पन्नस्य च दृश्येते, यथा तेजःप्रभृतीनाम्। न चाकाशस्य तादृशो विशेष उत्पादानुत्पादयोरस्ति, तस्मान्नोत्पद्यत इत्याह ❀ उत्पत्तिमताञ्च इति ❀। ❀ प्रकाशनम् ❀ प्रकाशो घटपटादिगोचरः। ❀ पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च इति ❀। आविग्रहणेन द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शवत्त्वाद्वायवन्नित्यमाकाशमिति गृहीतम्। ❀ आरण्यानाकाशेषु इति ❀। वेदेऽप्येकस्याकाशस्यौपाधिकं बहुत्वम् ॥ ३ ॥ तदेवं प्रमाणान्तरविरोधेन गौणत्वमुक्त्वा श्रुत्यन्तरविरोधेनापि गौणत्वमाह ❀ शब्दाच्च ❀। सुगमम् ॥ ४ ॥

भामती—व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनका उत्पत्ति के पूर्व न तो अनुभव होता है और न उनसे किसी प्रयोजन की सिद्धि, किन्तु पदार्थ के उत्पन्न होने पर उसका अनुभव भी होता है और उस से प्रयोजन की सिद्धि भी होती है, जैसे तेज, जल और पृथिवी के अनुभवादि उनकी उत्पत्ति के पश्चात् ही होते हैं। किन्तु आकाश के विषय में वैसा नहीं कह सकते—"उत्पत्तिमतां च"। "प्रकाशादिकार्यं"—इस भाष्य का अर्थ है—घटादिविषयक प्रकाशनरूप कार्य प्रदीपादिरूप तेज की उत्पत्ति से पहले नहीं होते। "पृथिव्यादिवैधर्म्याच्च"—यहाँ पर 'आदि' पद के द्वारा यह अनुमान गृहीत होता है—'आकाशं नित्यम्, द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शवत्त्वाद् आत्मवत्'। "आरण्यान् आकाशेषु"। अर्थात् केवल लोक में घटादिरूप उपाधियों के जन्यत्वादि धर्मों का आकाश में औपाधिक व्यवहार नहीं होता, अपितु "आरण्यान् आकाशेषु आलभेत" (शत. ब्रा. १३।५।१।१५) इत्यादि वेद-वाक्यों में भी बहिरादिदेशगत बहुत्वादि धर्मों का व्यवहार आकाश में होता है, जिससे 'आकाश' पद के उत्तर बहुवचन का प्रयोग हो जाता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार प्रमाणान्तर-विरोध के कारण गौणत्व दिखा कर श्रुत्यन्तर-विरोध के कारण गौणत्व-व्यवहार दिखाया जाता है—"शब्दाच्च"। अर्थात् आकाश यदि उत्पत्तिमान् होता, तब "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" (छां. ३।१४।४) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों में 'आकाश' शब्द के माध्यम से ब्रह्मगत नित्यत्वादि का उपपादन न होता ॥ ४ ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

इदं पदोत्तरं सूत्रम् । स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २।१ ) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति ? अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद् गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत् । यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' ( तै० ३।२ ) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः यथा च तपसि ब्रह्मविज्ञानसाधने ब्रह्मशब्दो भक्त्या प्रयुज्यतेऽञ्जसा तु विज्ञेये ब्रह्मणि तद्वत् । कथं पुनरनुत्पत्तौ नभसः 'एकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ ) इतीयं प्रतिज्ञा समर्थ्यते ? ननु नभसा द्वितीयेन सद्द्वितीयं ब्रह्म प्राप्नोति ? कथं च ब्रह्मणि विदिते सर्वं विदितं स्यादिति ? तदुच्यते—एकमेवेति तावत्स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते यथा लोके कञ्चित्कुम्भकारकुले पूर्वेद्युर्मृद्दण्डचक्रादीनि चोपलभ्यापरेद्युश्च नानाविधान्यमत्राणि प्रसारितान्युपलभ्य ब्रूयात्—मृदेवेकाकिनी पूर्वेद्युरासीदिति, स च तयावधारणया मृत्कार्यजातमेव पूर्वेद्युर्नासीदित्यभिप्रेयान्न दण्डचक्रादि, तद्वदद्वितीयश्रुतिरधिष्ठात्रन्तरं वारयति । यथा मृदोऽमत्रप्रकृतेः कुम्भकारोऽधिष्ठाता दृश्यते, नैवं ब्रह्मणो जगत्प्रकृतेरन्योऽधिष्ठातास्तीति । न च नभ-

भामती

पदस्यानुषङ्गो न पदार्थस्य, तद्धि क्वचिन्मुख्यं क्वचिदौपचारिकं सम्भवासम्भवाभ्यामित्यविरोधः । चोद्यद्वयं करोति ❀ कथम् इति ❀ । प्रथमं चोद्यं परिहरति ❀ एकमेवेति तावद् इति ❀ । ❀ कुलं ❀ गृहम् । ❀ अमत्राणि ❀ पात्राणि घटशरावादीनि । आपेक्षिकमवधारणं न सर्वविषयमित्यर्थः । उपपत्त्यन्तरमाह ❀ न च नभसापि इति ❀ । अपिरभ्युपगमे । यदि सर्वापेक्षं तथाप्यदोष इत्यर्थः । ❀ न च

भामती–व्याख्या

"स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्"—इस सूत्र में 'एकस्य' शब्द के साथ 'पद' का अनुषङ्ग ( सम्बन्ध ) किया जाता है, 'पदार्थ' का नहीं, क्योंकि 'पद' ही अपनी योग्यता के आधार पर कहीं मुख्य और कहीं औपचारिक ( गौण ) होता है, अत एव भाष्यकार ने "एकस्य सम्भूतपदस्य" ऐसा कहा है । तेज, जल और पृथिवी की उत्पत्ति सम्भव होने से 'तेजः सम्भूतम्'—यहाँ पर 'सम्भूत' पद मुख्य और 'आकाशः सम्भूतः'—यहाँ पर गौण है ।

**शङ्का**—यहाँ दो शङ्काएँ होती हैं—(१) यदि आकाश को नित्य माना जाता है, तब आकाश को लेकर अद्वैतब्रह्मवाद में द्वैतापत्ति क्यों नहीं ? (२) यदि आकाश ब्रह्म से उत्पन्न नहीं तब ब्रह्म के विदित होने पर आकाशादि समस्त प्रपञ्च विदित क्योंकर होगा ?

**समाधान**—प्रथम शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"एकमेवेति तावत् स्वकार्यापेक्षयोपपद्यते" । अर्थात् ब्रह्म का तेज आदि कार्य ब्रह्म से भिन्न नहीं, आकाश न तो ब्रह्म का कार्य है और न उसका अभेद । "कुम्भकारकुले"—यहाँ 'कुल' शब्द का अर्थ गृह है [ 'कुल' शब्द अनेकार्थक है, जैसा कि मेदिनी में वर्णित है—

कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणेऽपि च ।
भवने च तनौ क्लीबं कण्टकार्योषधौ कुली ॥]

"नानाविधानि अमत्राणि"—यहाँ 'अमत्र' शब्द का अर्थ है—घटादि पात्र । "मृदेव"—यहाँ पर एवकाररूप अवधारण का अर्थ 'अन्य योग का व्यवच्छेद' है । किन्तु यहाँ समस्त दण्ड, चक्रादि पदार्थों का निषेध नहीं किया जाता, अपितु केवल मृत्तिका के घटादि कार्यों का ही निषेध विवक्षित है । द्वैतापत्ति का निवारण अन्य रीति से भी किया जाता है—"न च


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सापि द्वितीयेन सद्वितीयं ब्रह्म प्रसज्यते। लक्षणान्यत्वनिमित्तं हि नानात्वम्। न च प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मनभसोर्लक्षणान्यत्वमस्ति; क्षीरोदकयोरिव संसृष्टयोर्व्यापित्वामूर्तत्वादिधर्मसामान्यात्। सर्गकाले तु ब्रह्म जगदुत्पादयितुं यतते स्तिमितमितरत्तिष्ठति। तेनान्यत्वमवसीयते। तथा च 'आकाशशरीरं ब्रह्म' (तै० १।६।२) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि ब्रह्माकाशयोरभेदोपचारसिद्धिः। अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः। अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालमेवोत्पद्यते, ब्रह्मणा चाव्यतिरिक्तदेशकालमेवाकाशं भवतीति, अतो ब्रह्मणा तत्कार्येण च विज्ञातेन सह विज्ञातमेवाकाशं भवति। यथा क्षीरपूर्णे घटे कतिचिदब्बिन्दवः प्रक्षिप्ताः सन्तः क्षीरग्रहणेनैव गृहीता भवन्ति, नहि क्षीरग्रहणादब्बिन्दुग्रहणं परिशिष्यते; एवं ब्रह्मणा तत्कार्यैश्चाव्यतिरिक्तदेशकालत्वाद् गृहीतमेव ब्रह्मग्रहणेन नभो भवति। तस्माद्भाक्तं नभसः संभवश्रवणमिति ॥ ५ ॥

एवं प्राप्त इदमाह —

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इति, 'आत्मनि

---

भामती

प्रागुत्पत्तेः ॐ। जगत इति शेषः। द्वितीयं चोद्यमपाकरोति ॐ अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन इति ॐ। लक्षणान्यत्वाभावेनाकाशस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वादिति। अपि चाव्यतिरिक्तदेशकालमाकाशं ब्रह्मणा च ब्रह्मकार्यैश्च तदभिन्नस्वभावैरतः क्षीरकुम्भप्रक्षिप्तकतिपयपाथोबिन्दुवद् ब्रह्मणि तत्कार्ये च विज्ञाते नभो विदितं भवतीत्याह ॐ अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानम् इति ॐ ॥ ५ ॥

एवं सिद्धान्तैकदेशिमते प्राप्त इदमाह—"प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः।"

ब्रह्मविवर्तात्मतया जगतस्तद्विकारस्य वस्तुतो ब्रह्मणोऽभेदे ब्रह्मणि ज्ञाते ज्ञानमुपपद्यते, नहि

---

भामती—व्याख्या

नभसापि द्वितीयेन"। आशय यह है कि "एकमेवाद्वितीयम्" (छां. ६।२।१) यहाँ भिन्न लक्षण-लक्षित द्वितीय पदार्थ का ही निषेध है, आकाश अपने व्यापित्व, अमूर्त्तत्वादि धर्मों को लेकर ब्रह्म का सलक्षण ही है, विलक्षण नहीं। इस भाष्य-वाक्य में 'अपि' पद स्वीकारार्थक है, अर्थात् यदि उक्त श्रुति में एवकाररूप अवधारण को सामान्यतः समस्त द्वैत का व्यवच्छेदक स्वीकार भी कर लिया जाय, तब भी आकाश का व्यवच्छेद नहीं हो सकता। "न च प्रागुत्पत्तेः"—यहाँ पर 'जगतः' पद जोड़कर 'जगत् की उत्पत्ति से पूर्व'—ऐसा अर्थ करना चाहिए।

द्वितीय शङ्का का अपाकरण किया जाता है—"अत एव च ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानसिद्धिः"। व्यापित्व और अमूर्तत्वादि लक्षणों का भेद न होने के कारण आकाश और ब्रह्म भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न हैं। यदि भेद भी मान लिया जाय, तब भी ब्रह्म और ब्रह्म के तेज आदि कार्यों के साथ आकाश का देश-काल व्यतिरिक्त (भिन्न) नहीं, अतः ब्रह्म के ज्ञान से आकाश का भी वैसे ही ज्ञान हो जाता है, जैसे दुग्धपूर्ण घट में प्रक्षिप्त कतिपय जल-कणों का ज्ञान दुग्ध के ज्ञान से हो जाता है, यही कहा जा रहा है—"अपि च सर्वं कार्यमुत्पद्यमानमाकाशेनाव्यतिरिक्तदेशकालम् ॥ ५ ॥

मुख्यसिद्धान्त—"प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः"। समस्त जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, अतः वस्तुतः ब्रह्म का विकारभूत जगत् ही ब्रह्म के वेदन से विदित होता है, क्योंकि समस्त जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं, अतः आकाश भी ब्रह्म का विकार (विवर्त्त)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Mission and eGangotri

खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' ( बृ० ४।५।६ ) इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।३) इति, 'न काचन मद्वहिर्धा विद्यास्ति' इति चैवंरूपा प्रतिवेदान्तं प्रतिज्ञा विज्ञायते। तस्याः प्रतिज्ञाया एवमहानिरनुपरोधः स्याद्, यद्यव्यतिरेकः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य विज्ञेयाद् ब्रह्मणः स्यात्। व्यतिरेके हि सत्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञायत इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। स चाव्यतिरेक एवमुपपद्यते, यदि कृत्स्नं वस्तुजातमेकस्माद् ब्रह्मण उत्पद्येत। शब्देभ्यश्च प्रकृतिविकाराव्यतिरेकन्यायेनैव प्रतिज्ञासिद्धिरवगम्यते। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इति प्रतिज्ञाय मृदादिदृष्टान्तैः कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैः प्रतिज्ञैषा समर्थ्यते। तत्साधनायैव चोत्तरे शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ ) 'तदैक्षत', तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवं कार्यजातं ब्रह्मणः प्रदर्श्याव्यतिरेकं प्रदर्शयन्ति—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' ( छा० ६।८।७ ) इत्यारभ्याप्रपाठकपरिसमाप्तेः। तद्यथाकाशं न ब्रह्मकार्यं स्यान्न ब्रह्मणि विज्ञाते आकाशं विज्ञायेत, ततश्च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। न च प्रतिज्ञाहान्या वेदस्याप्रामाण्यं युक्तं कर्तुम्। तथा हि—प्रतिवेदान्तं ते ते शब्दास्तेन तेन दृष्टान्तेन तामेव प्रतिज्ञां ज्ञापयन्ति 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११ इत्येवमादयः। तस्माज्ज्वलनादिवदेव गगनमप्युत्पद्यते॥

यदुक्तमश्रुतेर्न वियदुत्पद्यत इति तदयुक्तम्, वियदुत्पत्तिविषयश्रुत्यन्तरस्य दर्शितत्वात्—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २।१ ) इति। सत्यं दर्शितम्। विरुद्धं तु 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यनेन श्रुत्यन्तरेण, न; एकवाक्यत्वात्सर्वश्रुती-

भामती

जगत्तत्त्वं ब्रह्मणोऽन्यत्। तस्मादाकाशमपि तद्विवर्त्ततया तद्विकारः सत्तज्ज्ञानेन ज्ञातं भवति नान्यथा। अविकारत्वे तु ततस्तत्त्वान्तरं न ब्रह्मणि विदिते विदितं भवति। भिन्नयोस्तु लक्षणान्यत्वाभावेऽपि देशकालाभेदेऽपि नान्यतरज्ञानेनान्यतरज्ज्ञातं भवति। नहि क्षीरस्य पूर्णकुम्भे क्षीरे गृह्यमाणे सत्स्वपि पाथोबिन्दुषु पाथस्तत्त्वप्रतिभासमस्ति विज्ञानम्। तस्मान्न ते क्षीरे विदिते विदिता इति प्रतिज्ञादृष्टान्तप्रत्ययानुपरोधाय वियत उत्पत्तिरकामेनाभ्युपेयेति। तदेवं सिद्धान्तैकदेशिनि दूषिते पूर्वपक्षी स्वपक्षे विशेषमाह ❀ सत्यं दर्शितम् ❀। अत एव ❀विरुद्धं तु तद् इति❀। सिद्धान्तसारमाह ❀ नैष दोषस्तेजःसर्गस्य

भामती—व्याख्या

होकर ही ब्रह्म के ज्ञान से ज्ञात हो सकता है, अन्यथा नहीं। यदि आकाश ब्रह्म का विकार नहीं, तब तत्त्वान्तर होने के कारण ब्रह्म के विदित होने पर भी विदित नहीं हो सकेगा, क्योंकि जो पदार्थ परस्पर-भिन्न होते हैं, उनका लक्षण भिन्न होता है, अतः देश-काल एक होने पर भी उनमें से एक का ज्ञान होने से अन्य का ज्ञान वैसे ही नहीं होता, जैसे कि दुग्ध-पूर्ण घटस्थ दुग्ध का ज्ञान होने पर भी दुग्ध में वस्तुतः विद्यमान उदक-बिन्दुओं का उदकत्वेन ज्ञान नहीं होता। फलतः "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते विज्ञाते इद सर्वं विदितम्" ( बृहद्. उ. ४।५ ६ ) इत्यादि प्रतिज्ञा-वाक्यों की अहानि ( उपपत्ति करने ) के लिए एवं "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" ( छां. ६।१।४ ) इत्यादि दृष्टान्त-वाक्यों के अनुरोध पर आकाश की उत्पत्ति न चाहने पर भी माननी होगी। यह जो कहा गया था कि आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करनेवाली कोई श्रुति नहीं, वह कहना सर्वथा असंगत है, क्योंकि वैसी तैत्तिरीय श्रुति दिखाई जा चुकी है।

शङ्का—यह सत्य है कि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" ( तै० उ० २।१ )

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम् । भवत्वेकवाक्यत्वमविरुद्धानाम्; इह तु विरोध उक्तः, सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धासंभवाद् द्वयोश्च प्रथमजत्वासंभवाद्विकल्पासंभवाच्चेति । नैष दोषः, तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात्-'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' ( तै० २।१ ) इति । अशक्या हीयं श्रुतिरन्यथा परिणेतुम् । शक्या तु परिणेतुं छान्दोग्यश्रुतिस्तदाकाशं वायुं च सृष्ट्वा 'तत्तेजोऽसृजत' इति । न हीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना सती श्रुत्यन्तरप्रसिद्धामाकाशस्योत्पत्तिं वारयितुं

भामती

तैत्तिरीयक इति ॐ । श्रुत्योरन्ययोपपद्यमानान्ययानुपपद्यमानयोरन्ययानुपपद्यमाना बलवती तैत्तिरीयक-श्रुतिः । छान्दोग्यश्रुतिश्चान्ययोपपद्यमाना दुर्बला । नन्वसहायं तेजः प्रथममवगम्यमानं ससहायत्वेन विरुध्यते इत्युक्तमत आह ॐ नहीयं श्रुतिस्तेजोजनिप्रधाना इति ॐ । सर्गसंसर्गः श्रौतो भेदस्त्वार्थः । स च श्रुत्यन्तरेण विरोधिना बाध्यते, जघन्यत्वात् । न च तेजःप्रमुखसर्गसंसर्गवदसहायत्वमप्यस्य श्रौतं, किन्तु व्यतिरेकलभ्यं तत् । न च श्रुतेन तदपबाधने श्रुतस्य तेजःसर्गस्यानुपपत्तिः । तदिदमुक्तम् ॐतेजोजनि-

भामती–व्याख्या

यह श्रुति आकाशोत्पत्तिपरत्वेन प्रदर्शित की जा चुकी है, किन्तु वह "तत्तेजोऽसृजत" ( छां. ६।२।३ ) इस श्रुति से विरुद्ध है—ऐसा कहा जा चुका है ।

**समाधान**—'नैष दोषः, तेजःसर्गस्य तैत्तिरीयके तृतीयत्वश्रवणात्" । रहस्य यह है कि अन्यथोपपद्यमान और अन्यथानुपपद्यमान श्रुतियों में अन्यथानुपपद्यमान श्रुति प्रबल मानी जाती है, तैत्तिरीय-श्रुति इसी कोटि की है और छान्दोग्य-श्रुति अन्यथोपपद्यमान होने के कारण दुर्बल है । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः" ( तै. उ. २।१ ) इस श्रुति में जो अग्नि ( तेज ) की सृष्टि तृतीय स्थान पर पठित है, उसका अन्यथा ( प्रथम स्थान पर ) उपपादन सम्भव नहीं, अन्यथा श्रौत क्रम का बाध होगा, फलतः यह श्रुति अन्यथाऽनुपपद्यमान है । इसके विपरीत 'तत्तजोऽसृजत, तदपः, तदन्नम्" ( छां० ६।२।३ ) यह श्रुति अन्यथोपपद्यमान है, क्योंकि यहाँ केवल 'तेज' की उत्पत्ति का उल्लेख है, तेज की उत्पत्ति प्रथम होती है—ऐसा नहीं, अतः यहाँ 'आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजोऽसृजत'—ऐसा ( तृतीय स्थान पर तेज की उत्पत्ति का ) उपपादन किया जा सकता है ] ।

छान्दोग्य-श्रुति में प्रथम स्थान आकाशादि से असहकृत तेज का है, अतः जिस तैत्तिरीय-श्रुति में आकाशादि-सहकृत तेज का तृतीय स्थान है, उस श्रुति का बाधक क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न हीयं श्रुतिः तेजोजनिप्रधाना सति" । अर्थात् छान्दोग्य-श्रुति तत्तिरीय-श्रुति-प्रतिपादित आकाश की उत्पत्ति का निवारण नहीं कर सकती, क्योंकि छान्दोग्य-श्रुति में केवल तेज के सर्ग ( जन्म ) का संसर्ग ही बोधित है, आकाशोत्पत्ति का भेद ( त्याग ) प्रतिपादित नहीं । अथवा आकाश की उत्पत्ति "आकाशः सम्भूतः"—इति श्रुति से अवगत है और उसका निषेध "तेजोऽसृजत"—इस वाक्य के सामर्थ्य (लिङ्ग प्रमाण) से कल्पित है । [ शब्द और अर्थ के सामर्थ्य का नाम लिङ्ग है—"सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्ग-मित्यभिधीयते" ( तं. वा. पृ. २७७ )] । श्रुति प्रमाण प्रबल और लिङ्ग प्रमाण दुर्बल होता है—"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" ( जै. सू. ३।३।१४ ) । अतः लिङ्ग से श्रुति का बाध नहीं होता, अपितु विरोधी श्रुत्यन्तर से बाधित हो सकती है, क्योंकि श्रुत्यन्तर लिङ्ग प्रमाण के समान जघन्य ( परवर्ती ) नहीं । छान्दोग्य-श्रुति में जैसे तेज आदि की उत्पत्ति का संसर्ग अवभासित होता है, वैसे आकाशादि का असाहित्य नहीं, अपितु व्यतिरेक ( व्यावृत्ति ) के द्वारा कल्पित है । तैत्तिरीय-श्रुति-श्रुत

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्नोति; एकस्य वाक्यस्य व्यापारद्वयासंभवात् । स्रष्टा त्वेकोऽपि क्रमेणानेकं स्रष्टव्यं सृजेत्—इत्येकवाक्यत्वकल्पनायां संभवन्त्यां न विरुद्धार्थत्वेन श्रुतिर्हातव्या । न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्टव्यद्वयसंबन्धोऽभिप्रेयते; श्रुत्यन्तरवशेन स्रष्टव्यान्तरोपसंग्रहात् । यथा च 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छा० ३।१४।१) इत्यत्र साक्षादेव सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न प्रदेशान्तरविहितं तेजःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयति, एवं तेजसोऽपि ब्रह्मजत्वं श्रूयमाणं न श्रुत्यन्तरविहितं नभःप्रमुखमुत्पत्तिक्रमं वारयितुमर्हति । ननु शमविधानार्थमेतद्वाक्यम्, 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इति श्रुतेः, नैतत्सृष्टिवाक्यं, तस्मादेतन्न प्रदेशान्तरप्रसिद्धं क्रममुपरोद्धुमर्हतीति । 'तत्तेजोऽसृजत' इत्येतत्सृष्टिवाक्यम् । तस्मादत्र यथाश्रुति क्रमो ग्रहीतव्य इति । नेत्युच्यते—नहि तेजः प्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः

भामती

प्रधानेति ❀ । स्यादेतत् —यद्येकं वाक्यमनेकार्थं न भवत्येकस्य व्यापारद्वयासम्भवात् । हन्त भोः कथमेकस्य स्रष्टुरनेकव्यापारत्वमविरुद्धमित्यत आह ❀ स्रष्टा त्वेकोऽपि इति ❀ । वृद्धप्रयोगाधीनावधारणं शब्दसामर्थ्यं न चानावृत्तस्य शब्दस्य क्रमाक्रमाभ्यामनेकत्रार्थे व्यापारो दृष्टः । दृष्टन्तु क्रमाक्रमाभ्यामेकस्यापि कर्तुरनेकव्यापारत्वमित्यर्थः । न चास्मिन्नर्थे एकस्य वाक्यस्य व्यापारोऽपि तु भिन्नानां वाक्यानामित्याह ❀ न चास्माभिरिति ❀ । सुगमम् । चोदयति ❀ ननु शमविधानार्थम् इति ❀ । यत्परः शब्दः स शब्दार्थो न चैष सृष्टिपरोऽपि तु शमपर इत्यर्थः । परिहरति ❀ न हि तेजःप्राथम्यानुरोधेन इति ❀ ।

भामती-व्याख्या

आकाशादि-सहकृतत्व के द्वारा उस अर्थात्कल्पित असहकृतत्व का बाध कर देने पर तेजःसृष्टि का बाध होता नहीं कि श्रौतार्थ में बाधितत्व प्रसक्त होता, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"तेजोजनिप्रधाना सती"।

ऊपर जो कहा गया कि "तत्तेजोऽसृजत"—यह एक वाक्य तेज की सृष्टि और आकाश-सृष्टि-निवृत्ति—इन दो अर्थों को प्रतिपादित नहीं कर सकता। वहाँ शङ्का होती है कि यदि एक वाक्य दो अर्थों के प्रतिपादनरूप दो व्यापारों को नहीं कर सकता, तब एक स्रष्टा एक काल में अनेक व्यापार क्योंकर कर सकेगा? इस शङ्का का समाधान है—"स्रष्टा तु एकोऽपि क्रमेण"। आशय यह है कि वृद्धजनों के प्रयोग शब्द-सामर्थ्य के गमक माने जाते हैं। उनके अनुसार कोई भी एक वाक्य अपनी आवृत्ति के विना क्रमशः या युगपत् दो व्यापार नहीं कर सकता, किन्तु कर्त्ता पुरुष एक होने पर भी क्रमशः या युगपत् अनेक व्यापारों को करता देखा जाता है, किन्तु स्रष्टा पुरुष के अनेक व्यापारों का प्रतिपादन अनेक सृष्टि-वाक्य करते हैं, एक वाक्य नहीं—"न चास्माभिः सकृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः"।

शङ्का—यह जो कहा गया कि जैसे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" (छां. ३।१४।१) यह सृष्टि-वाक्य "तत्तेजोऽसृजत"—इत्यादि वाक्यान्तर-प्रतिपादित तेज आदि के उत्पत्ति-क्रम का बाधक नहीं, वैसे ही "तत्तेजोऽसृजत"—यह वाक्य भी तैत्तिरीय-वाक्य-प्रतिपादित आकाशोत्पत्ति का बाधक नहीं होता'। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—यह सृष्टि-वाक्य नहीं, अपितु शम का विधायक है, क्योंकि उसका वाक्य-शेष है—"तज्जलानिति शान्त उपासीत" [यह जगत् तज्जम्, तल्लम्, तदनम् अर्थात् उस ब्रह्म से उत्पन्न, उसमें ही लीन एवं उसी में अवस्थित होकर विविध क्रियाएँ करता है, अतः उसी ब्रह्म की शान्त भाव से उपासना करनी चाहिए]। इस प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—यह वाक्य सृष्टि-वाक्य न होने के कारण अन्य सृष्टि-वाक्य का बाधक नहीं हो सकता, किन्तु "तत्तेजोऽ-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परित्यक्तव्यो भवति. पदार्थधर्मत्वात्क्रमस्य । अपि च तत्तेजोऽसृजत' इति नात्र क्रमस्य वाचकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति । अर्थात्तु क्रमोऽवगम्यते । स च 'वायोरग्निः' इत्यनेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेन क्रमेण निवार्यते । विकल्पसमुच्चयौ तु वियत्तेजसोः प्रथमजत्वविषयावसंभवानभ्युपगमाभ्यां निवारितौ । तस्मान्नास्ति श्रुत्योर्विप्रतिषेधः । अपि च छान्दोग्ये 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्येतां प्रतिज्ञां वाक्योपक्रमे श्रुतां समर्थयितुमसमाम्नातमपि वियदुत्पत्तावुपसंख्यातव्यम्, किमङ्ग पुनस्तैत्तिरीयके समाम्नातं नभो न संगृह्यते ? यच्चोक्तमाकाशस्य सर्वेणानन्यदेशकालत्वाद् ब्रह्मणा तत्कार्यैश्च सह विदितमेव तद्भवत्यतो न प्रतिज्ञा हीयते, नच 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिकोपो भवति, क्षीरोदकवद् ब्रह्मनभसोरव्यतिरेकोपपत्तेरिति । अत्रोच्यते—न क्षीरोदकन्यायेनेदमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नेतव्यम् । मृदादिदृष्टान्तप्रणयनाद्धि प्रकृतिविकारन्यायेनैवेदं सर्वविज्ञानं नेतव्यमिति गम्यते । क्षीरोदकन्यायेन च सर्वविज्ञानं कल्प्यमानं न सम्यग्विज्ञानं स्यात् । नहि क्षीरज्ञानगृहीतस्योदकस्य सम्यग्विज्ञानगृहीतत्वमस्ति । नच वेदस्य पुरुषाणामिव मायालीकवञ्चनादिभिरर्थावधारणमुपपद्यते । सावधारणा

भामती

गुणत्वादार्थत्वाच्च क्रमस्य श्रुतप्रधानपदार्थविरोधात्तत्यागोऽयुक्त इत्यर्थः । सिंहावलोकितन्यायेन वियदनुत्पत्तिवादिनं प्रत्याह ❀ अपि च छान्दोग्ये इति ❀ । यत् पुनरन्यथा प्रतिज्ञोपपादनं कृतं तद् दूषयति ❀ यच्चोक्तम् इति ❀ । दृष्टान्तानुरूपत्वाद्दार्ष्टान्तिकस्य तस्य च प्रकृतिविकाररूपत्वाद्दार्ष्टान्तिकस्यापि तथाभावः । अपिच भ्रान्तिमूलं चेतद्वचनमेकमेवाद्वितीयमिति तोये क्षीरबुद्धिवत् ? औपचारिकं वा सिंहो माणवक इतिवत् ? तत्र न तावद् भ्रान्तमित्याह ❀ क्षीरोदकन्यायेन इति ❀ । भ्रान्तेर्विप्रलम्भाभिप्रायस्य च पुरुषधर्मत्वादपौरुषेये तदसम्भव इत्यर्थः । नाप्यौपचारिकमित्याह ❀ सावधारणा चेयम् इति ❀ ।

भामती—व्याख्या

सृजत"—यह सृष्टि-वाक्य होने के कारण अन्य सृष्टि-वाक्य का बाधक होता है ।

**समाधान** - "न हि तेजःप्राथम्यानुरोधेन श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो वियत्पदार्थः परित्यक्तव्यो भवति" । "तत्तेजोऽसृजत"—इस वाक्य में तेज की उत्पत्ति प्रथम कही गई है, इतने मात्र से उत्पद्यमान आकाश की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्राथम्य एक क्रम है जो कि पदार्थों के आश्रित रहता है, अतः पदार्थ प्रधान होते हैं और क्रम उनका गुण । प्राथम्यरूप गुण के द्वारा आकाशरूप प्रधान पदार्थ का बाध कभी नहीं हो सकता । जैसा कि शबरस्वामी ने भी कहा है—"पदार्थानां च गुणः क्रमः, न च गुणानुरोधेन पदार्थो न कर्तव्यो भवति" ( शबर. पृ. १९९ ) । पूर्व-चर्चित प्रतिज्ञा की अहानि का सिंहावलोकन करते हुए कहा जाता है—"अपि च छान्दोग्ये" । अर्थात् एक ब्रह्म के ज्ञान से आकाशादि समस्त प्रपञ्च के ज्ञान की प्रतिज्ञा तभी उपपन्न हो सकती है, जब कि आकाशादि की भी उत्पत्ति ब्रह्म से मानी जाय । उक्त प्रतिज्ञा का जो अन्यथा उपपादन किया गया, उस पर दोषोद्भावन किया जाता है—"यच्चोक्तम्" । अर्थात् दृष्टान्त के अनुरूप ही दार्ष्टान्तिक वस्तु की कल्पना की जाती है, अतः मृत्तिका-दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म और जगत् का प्रकृति-विकारभाव मानकर ही एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा का उपपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं ।

दूसरी बात यह भी है कि 'एकमेवाद्वितीयम्" ( छां. ६।२।१ ) यह वचन क्या जल में दुग्ध-बुद्धि के समान भ्रान्तिमूलक है ? अथवा 'सिंहो माणवकः' के समान औपचारिक (गौण) ? भ्रान्तिमूलकत्व का निषेध किया जाता है—"क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत" । अर्थात् भ्रान्ति और विप्रलम्भ की भावना—ये पुरुष के धर्म हैं, अपौरुषेय वेद में वह सम्भव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेयम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः क्षीरोदकन्यायेन नीयमाना पीड्येत। नच स्वकार्यापेक्षयेदं वस्त्वेकदेशविषयं सर्वविज्ञानमेकाद्वितीयतावधारणं चेति न्याय्यं, मृदादिष्वपि हि तत्संभवान्न तदपूर्ववदुपन्यसितव्यं भवति 'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।१) इत्यादिना। तस्मादशेषवस्तुविषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्मकार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम्॥ ६॥

यत्पुनरेतदुक्तमसंभवाद् गौणी गगनस्योत्पत्तिश्रुतिरिति, अत्र ब्रूमः—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्॥ ७॥

तुशब्दोऽसंभवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। न खल्वाकाशोत्पत्तावसंभवाशङ्का कर्तव्या। यतो यावत्किंचिद्विकारजातं दृश्यते—घटघटिकोदञ्चनादि वा, कटककेयूरकुण्डलादि वा, सूचीनाराचनिस्त्रिंशादि वा; तावानेव विभागो लोके लक्ष्यते। न त्वविकृतं किंचित् कुतश्चिद्विभक्तमुपलभ्यते। विभागश्चाकाशस्य पृथिव्यादिभ्योऽवगम्यते। तस्मात् सोऽपि विकारो भवितुमर्हति। एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्। नन्वात्माप्याकाशादिभ्यो विभक्त इति तस्यापि कार्यत्वं घटादिवत्प्राप्नोति, न; 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) इति श्रुतेः। यदि ह्यात्मापि विकारः स्यात्तस्मात्पर-

भामती

काममुपचारादस्त्वेकत्वमवधारणाऽद्वितीयपदे नोपपद्येते। नहि माणवके सिंहत्वमुपचर्य्यं न सिंहादन्योऽस्ति मनागपि माणवक इति वदन्ति लौकिकाः। तस्माद् ब्रह्मत्वमैकान्तिकं जगतो विवक्षितं श्रुत्या न त्वौपचारिकम्। अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति नत्वल्पत्वमपि प्रागेवौपचारिकमित्यर्थः। ॐ न च स्वकार्य्यापेक्षया इति ॐ। निःशेषवचनः स्वरसतः सर्वशब्दो नासति श्रुत्यन्तरविरोधे एकदेशविषयो युज्यत इत्यर्थः॥ ६॥

आकाशस्योत्पत्तौ प्रमाणान्तरविरोधमुक्तमनुभाष्य तस्य प्रमाणान्तरस्य प्रमाणान्तरविरोधेनाप्रमाणभूतस्य न गौणत्वापादनसामर्थ्यमिति आह ॐयावद्विकारं तु विभागो लोकवत्ॐ। सोऽयं प्रयोग आकाशदि-

भामती—व्याख्या

नहीं। वह वचन औपचारिक भी नहीं कहा जा सकता—"सावधारणा चेयम्"। अर्थात् औपचारिक पक्ष में "एकं ब्रह्म"—इतना वाक्य तो किसी प्रकार उपपन्न हो सकता है, किन्तु 'एवकार' तथा 'अद्वितीय' पद की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उपचार स्थल पर 'सिंहो माणवकः'—ऐसा व्यवहार तो होता है, किन्तु 'न सिंहादन्योऽस्ति मनागपि माणवकः'—ऐसा कभी नहीं होता। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि उक्त श्रुति के द्वारा जगत् में ऐकान्तिक ब्रह्मत्व विवक्षित है, औपचारिक ब्रह्मत्व नहीं, क्योंकि किसी वस्तु को बार-बार कहने पर उसमें भूयस्त्व (उत्कर्ष) आया करता है, अल्पत्व (अपकर्ष) नहीं और औपचारिकत्व तो कभी भी नहीं सम्भावित नहीं होता। "न च स्वकार्यापेक्षयेदम्"। अर्थात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—यहाँ पर 'सर्वं' शब्द संकुचितार्थक नहीं, अपितु निःशेषार्थक है, क्योंकि किसी श्रुत्यन्तर का विरोध न होने से वह एकदेशार्थक नहीं हो सकता॥ ६॥

आकाश की उत्पत्ति में जो प्रमाणान्तर का विरोध दिखाया गया, उसका अनुवाद करके यह सिद्ध किया जाता है कि वह (प्रमाणान्तर-विरोध) आकाशोत्पत्ति-श्रुति में गौणत्वापादक नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रमाणान्तर से विरुद्ध है—"यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्"। अर्थात् जो भी पदार्थ विभक्त है, वह सब विकार है, आकाश भी विभक्त है, अतः आत्मा का विकार ही है, नित्य नहीं। इससे यह अनुमान-प्रयोग फलित होता है—'आकाशदिक्कालमनःपरमाणवो विकाराः, आत्मान्यत्वे सति विभक्तत्वाद्, घटशरावादिवत्'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्यत्र श्रुतमित्याकाशादि सर्वं कार्यं निरात्मकमात्मनः कार्यत्वे स्यात्। तथा च शून्यवादः प्रसज्येत । आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः । न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्, स्वयंसिद्धत्वात्। नह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति । तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयन्ते । न ह्याकाशादयः पदार्थाः प्रमाणनिरपेक्षाः स्वयंसिद्धाः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति । न चेदृशस्य निराकरणं संभवति । आगन्तुकं हि

भामती

क्कालमनःपरमाणवो विकारा आत्मान्यत्वे सति विभक्तत्वाद् , घटशरावोदञ्चनादिवदिति ॐ सर्वं कार्यं निरात्मकम् इति ॐ । निरुपादानं स्यादित्यर्थः । शून्यवादश्च निराकृतः स्वयमेव श्रुत्योपन्यस्य कथमसतः सज्जायेतेति । उपपादितञ्चैतन्निराकरणमधस्तादिति । आत्मत्वादेवात्मनः प्रत्यगात्मनो निराकरणाशङ्कानुपपत्तिः । एतदुक्तं भवति— सोपादानं चेत्कार्यं तत आत्मैवोपादानं युक्तं तस्यैवोपादानत्वेन श्रुतेरुपादानान्तरकल्पनानुपपत्तेरिति । स्यादेतत्—अस्त्वात्मोपादानमस्य जगतस्तस्य तूपादानान्तरमश्रूयमाणमप्यन्यद्भविष्यतीत्यत आह' ॐनह्यात्मागन्तुकः कस्यचिदुपादानान्तरस्योपादेयःॐ । कुतः ? ॐ स्वयंसिद्धत्वात् ॐ सत्ता वा प्रकाशो वास्य स्वयंसिद्धो तत्र प्रकाशात्मिकायाः सिद्धेस्तावदनागन्तुकत्वमाह ॐ नह्यात्मात्मनः इति ॐ । उपपादितमेतद्यथा संशयविपर्य्यासपारोक्ष्यानास्पदत्वात् । कदापि नात्मा पराधीनप्रकाशस्तदधीनप्रकाशास्तु प्रमाणादयोऽत एव श्रुतिः 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति । ॐ न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति इति ॐ । निराकरणमपि हि तदधीनात्मलाभं तद्विरुद्धं नोदे-

भामती—व्याख्या

"सर्वं कार्यं निरात्मकम्"— यहाँ 'निरात्मकम्' का अर्थ 'निरुपादानकम्' 'या निःस्वभावम्' है, क्योंकि उपादानकारण ही उपादेय का आत्मा या स्वभाव कहलाता है। निःस्वभावता शून्यता का दूसरा नाम है—

तथागतो यत्स्वभावः तत्स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्॥ ( म. शा. २२।१६ )

शून्यवाद का निराकरण स्वयं श्रुति ने ही किया है—"कथमसतः सज्जायेत" (छां. ८।७।१)। असत् से कार्योत्पत्ति का निराकरण "नासतोऽदृष्टत्वात्" ( ब्र. सू. २।२।२६ ) इत्यादि स्थलों पर किया जा चुका है। "आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशङ्कानुपपत्तिः"। आशय यह है कि यदि कार्य-प्रपञ्च सोपादान है, तब आत्मा को ही उपादानकारण मानना उचित है, क्योंकि श्रुतियों में आत्मा को ही उपादान कारण कहा गया है, अतः उपादानान्तर की कल्पना उचित नहीं। आत्मा को जगत् का उपादानकारण मान लेने पर भी आत्मा के अन्य उपादान की कल्पना क्यों न की जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"न ह्यात्मागन्तुकः कस्यचित्"— इसके आगे "उपादानान्तस्योपादेयः"—यह वाक्य शेष जोड़ लेना चाहिए। अर्थात् आत्मा किसी अन्य उपादान कारण का कार्य नहीं क्योंकि वह "स्वयंसिद्ध" है। आत्मा नित्य एवं स्वयंप्रकाश है अतः आत्मा की सत्ता और उसका प्रकाश ( ज्ञान )—दोनों स्वयंसिद्ध हैं। प्रकाशात्मक सिद्धि में अनागन्तुकत्व दिखाया जाता है—"न ह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिद्धयति"। यह पहले ( पृ. ४ पर ) ही कहा जा चुका है कि आत्मा के विषय में किसी को संशय, विपर्यय और परोक्षता का भान नहीं होता। आत्मा का प्रकाश प्रमाणादि के अधीन कदापि नहीं, प्रत्युत प्रमाणादि का प्रकाश आत्मा के अधीन है, अत एव श्रुति कहती है कि "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति", ( कौ. २।५।१५ )। "न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति"। अर्थात् आत्मा का निराकरण भी आत्मा के साक्ष्य में ही

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। तथाऽहमेवेदानीं जानामि वर्तमानं वस्त्वहमेवातीतमतीततरं चाज्ञासिषमहमेवानागतमनागततरं च ज्ञास्यामीत्यतीतानागतवर्तमानभावेनाऽन्यथाभवत्यपि ज्ञातव्यं न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति; सर्वदा वर्तमानस्वभावत्वात्। तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदो वर्तमानस्वभावादन्यथास्वभावत्वं वा न संभावयितुं शक्यम्। एवमप्रत्याख्येयस्वभावत्वादेवाकार्यत्वमात्मनः कार्यत्वं चाकाशस्य॥

यत्तूक्तं समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्तीति, तत्प्रत्युच्यते– न

भामती

तुमर्हतीत्यर्थः। सत्ताया अनागन्तुकत्वमस्याह ❀ तथाहमेवेदानीं जानामि इति ❀। प्रमाप्रमाणप्रमेयाणां वर्त्तमानातीतानागतत्वेऽपि प्रमातुः सदा वर्तमानत्वेनानुभवादप्रच्युतस्वभावस्य नागन्तुकं सत्त्वम्। त्रैकाल्यावच्छेदेन ह्यागन्तुकत्वं व्याप्तं तत्प्रमातुः सदा वर्तमानाद्यथावर्त्तमानमागन्तुकत्वं स्वव्याप्यमावाय निवर्त्तत इति। ❀ अन्यथाभवत्यपि ज्ञातव्ये इति ❀। प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां ज्ञानज्ञेययोरन्यथाभावो वर्णितः। ननु जीवतः प्रमातुर्मा भूदन्यथाभावो मृतस्य तु भविष्यतीत्यत आह ❀ तथा भस्मीभवत्यपि इति ❀। यत् खलु सत्स्वभावमनुभवसिद्धं तस्यानिर्वचनीयत्वमन्यतो बाधकाद्वसातव्यम्। बाधकञ्च घटादीनां स्वभावाद्विचलनं प्रमाणोपनीतं, यस्य तु न तदस्त्यात्मनो न तस्य तत् कल्पनं युक्तमबाधितानुभवसिद्धस्य तत्स्वभावस्यानिर्वचनीयत्वकल्पनाप्रमाणाभावात्। तदिदमुक्तं ❀ न सम्भावयितुं शक्यम्" इति। तवनेन प्रबन्धेन प्रत्यनुमानेनाकाशानुत्पत्त्यनुमानं दूषयित्वानैकान्तिकत्वेनापि दूषयति ❀ यत्तूक्तं समानजातीयम्

भामती–व्याख्या

होगा। आत्मा के अवीन आत्मा का निराकरण नितान्त विरुद्ध है, कभी सम्भव नहीं हो सकता। आत्मा की सत्ता आगन्तुक ( जन्य ) नहीं—"तथाऽहमेवेदानीं जानामि वर्तमानम्"। अर्थात् प्रमा, प्रमाण और प्रमेय पदार्थ त्रैकालिक ( वर्तमान, अतीत और अनागत ) हैं, किन्तु आत्मा सदा वर्तमानत्वेन अनुभूत होता है, जिसका स्वरूप सदैव अप्रच्युत ( अक्षुण्ण ) है, उस की सत्ता आगन्तुक क्योंकर होगी? त्रिकालावच्छिन्नत्व व्यापक और आगन्तुकत्व व्याप्य होता है, अतः सदा वर्तमान प्रमाता से त्रिकालावच्छिन्नत्व निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्यभूत आगन्तुकत्व को भी निवृत्त कर देता है। "अन्यथाभवत्यपि ज्ञातव्ये न ज्ञातुरन्यथाभावोऽस्ति"। 'ज्ञा' धातुरूप प्रकृति और 'तव्य' प्रत्ययके द्वारा घटादि ज्ञेय पदार्थों का ही अनागतत्वादिरूपेण अन्यथाभाव ( विकार ) अवगत होता है। ज्ञातव्य या विषयतासम्बन्धेन ज्ञान-विशिष्ट पदार्थगत अन्यथाभाव विशेषणीभूत वृत्त्यात्मक ज्ञान में ही माना जाता है, फलतः ज्ञान और ज्ञेय का ही अन्यथाभाव सिद्ध होता है, ज्ञाता का नहीं, क्योंकि वह सदा ज्ञात है, कभी अज्ञात नहीं होता। जीवित प्रमाता का अन्यथाभाव न सही, मृत प्रमाता का अन्यथाभाव क्यों नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि वह कभी मरता नहीं—"तथा भस्मीभवत्यपि देहे नात्मन उच्छेदः"। जो रजतादि पदार्थ कभी 'रजतमस्ति'—इस प्रकार सत् प्रतीत होते हैं, उनमें अनिर्वचनीयता 'नेदं रजतम्'—इत्यादि बाधक प्रमाणों के द्वारा निश्चित होती है। घटादि पदार्थों में ही उस प्रकार की स्वभाव-प्रच्युतिरूप अनिर्वचनीयता पर्यवसित होती है, आत्मा में नहीं, क्योंकि आत्मा सर्वबाधावधि एवं सर्वथा अबाधितरूप से अनुभव-सिद्ध है। उसके अनिर्वचनीयत्व की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। भाष्यकार ने यही कहा है—"न सम्भावयितुं शक्यम्"।

यहाँ तक के निबन्ध से 'आकाशं नित्यम्, 'सजातीयकारणाभावाद्, आत्मवत्'—इस अनुमान का प्रत्यनुमान ( सत्प्रतिपक्ष ) प्रस्तुत किया गया—'आकाशमनित्यम्, विभक्तत्वाद्


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तावत्समानजातीयमेवारभते न भिन्नजातीयमिति नियमोऽस्ति । नहि तन्तूनां तत्संयोगानां च समानजातीयत्वमस्ति; द्रव्यगुणत्वाभ्युपगमात् । नच निमित्तकारणानामपि तुरीवेमादीनां समानजातीयत्वनियमोऽस्ति । स्यादेतत्– समवायिकारणविषय एव समानजातीयत्वाभ्युपगमो न कारणान्तरविषय इति । तदप्यनैकान्तिकम्; सूत्रगोवालैर्ह्यनेकजातीयैरेका रज्जुः सृज्यमाना दृश्यते । तथा सूत्रैरूर्णादिभिश्च विचित्राङ्कम्बलान्वितन्वते । सत्त्वद्रव्यत्वाद्यपेक्षया वा समानजातीयत्वं कल्प्यमाने नियमानर्थक्यम्, सर्वस्य सर्वेण समानजातीयकत्वात् । नाप्यनेकमेवारभते, नैकमिति नियमोऽस्ति, अणुमनसोराद्यकर्मारम्भाभ्युपगमात् । एकैको हि परमाणुर्मनश्चाद्यं कर्मारभते न द्रव्यान्तरैः संहत्येत्यभ्युपगम्यते । द्रव्यारम्भ एवानेकारम्भकत्वनियम इति चेत्—न; परिणामाभ्युपगात् । भवेदेष नियमो यदि संयोगसचिवं द्रव्यं द्रव्यान्तरस्यारम्भकमभ्युपगम्येत । तदेव तु द्रव्यं विशेषवदवस्थान्तरमापद्यमानं कार्यं नामाभ्युपगम्यते, तच्च क्वचिदनेकं परिणमते मृद्बीजादि, अङ्कुरादिभावेन; क्वचिदेकं परिणमते क्षीरादि, दध्यादिभावेन । नेश्वरशासनमस्त्यनेकमेव कारणं कार्यं जनयतीति, अतः श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादिमहाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते । तथा चोक्तम्—'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि' (ब्र० सू० २।१।२४) इति । यच्चोक्तमाकाशस्योत्पत्तौ न पूर्वोत्तरकालयोर्विशेषः संभावयितुं शक्यत इति, तदयुक्तम्; येनैव हि विशेषेण पृथिव्यादिभ्यो व्यतिरिच्यमानं नभः स्वरूपवदिदानीमध्यवसीयते स एव विशेषः प्रागुत्पत्तेर्नासीदिति गम्यते । यथा च ब्रह्म न स्थूलादिभिः पृथिव्यादिस्वभावैः स्वभाववत्, 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एवमाकाशस्वभावेनापि न स्वभाववदनाकाशमिति श्रुतेरवगम्यते । तस्मात्प्रागुत्पत्तेर-

भामती

इति ॐ । नाप्यनेकमेवोपादानमुपादेयमारभते । यत्र हि क्षीरं दधिभावेन परिणमते तत्र नावयवानामनेकेषामुपादानत्वमभ्युपगन्तव्यं किन्तूपात्तमेव क्षीरमेकमुपादेयदधिभावेन परिणमते । यथा निरवयवपरमाणुवादिनां क्षीरपरमाणुर्दधिपरमाणुभावेनेति । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ७ ॥

भामती–व्याख्या

घटवत्' । अब उक्त अनुमान में अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) दोष दिखाया जाता है—"यत्तूक्तं समानजातीयमनेकं कारणद्रव्यं व्योम्नो नास्ति" । अर्थात् कार्य का समानजातीय कारण ही आरम्भक होता है–ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि तन्तु-संयोग भी पट का आरम्भक होता है, किन्तु वह पट का सजातीय नहीं, पट में द्रव्यत्व और संयोग में गुणत्व जाति मानी जाती है । "नाप्यनेकमेवारभते" । अर्थात् अनेक उपादानकारण ही कार्य को उत्पन्न करते हैं—ऐसा भी कोई नियम नहीं, क्योंकि जहाँ पर दुग्ध दधिरूप में परिणत होता है, वहाँ दुग्ध के अनेक अवयव दधि के उपादान कारण नहीं माने जाते, अपितु अनेक अवयवों से उपात्त (आरब्ध) एक दुग्धरूप अवयवी ही दधि का उपादान कारण माना जाता है । जैसे निरवयव परमाणुवादियों के मतानुसार महादुग्ध का परमाणुपर्यन्त भङ्ग होकर दुग्ध के परमाणु दधिरूप में परिणत होते हैं, दधि-परमाणुओं से द्व्यणुकादि की उत्पत्ति के क्रम से महादधि का आरम्भ होता है । वहाँ दुग्ध का प्रत्येक परमाणु दधि का उपादान कारण माना जाता है । वैसे ही एक दुग्धरूप अवयवी दधि का आरम्भक क्यों न होगा ? शेष भाष्य स्पष्टार्थक है ॥ ७ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

नाकाशमिति स्थितम्। यदप्युक्तं पृथिव्यादिवैधर्म्यादाकाशस्याजत्वमिति, तदप्यसत्; श्रुतिविरोधे सत्युत्पत्त्यसंभवानुमानस्याभासत्वोपपत्तेः, उत्पत्त्यनुमानस्य च दर्शितत्वात्, अनित्यमाकाशमनित्यगुणाश्रयत्वाद्, घटादिवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। आत्मन्यनैकान्तिकमिति चेत्—न; तस्यौपनिषदं प्रत्यनित्यगुणाश्रयत्वासिद्धेः, विभुत्वादीनां चाकाशस्योत्पत्तिवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात्। यच्चोक्तमतच्छब्दाच्चेति, तत्रामृतत्वश्रुतिस्तावद्वित्यत्यमृता दिवौकस इतिवद् द्रष्टव्या; उत्पत्तिप्रलययोरुपपादितत्वात्। 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेनाकाशेनोपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय, नाकाशसमत्वाय। यथेषुरिव सविता धावतीति क्षिप्रगतित्वायोच्यते, नेषुतुल्यगतित्वाय, तद्वत्। एतेनानन्तत्वोपमानश्रुतिर्व्याख्याता। 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ब्रह्मण सकाशादाकाशस्योनपरिमाणत्वसिद्धिः। 'न तस्य प्रतिमास्ति' (श्वे० ४।१९) इति च ब्रह्मणोऽनुपमानत्वं दर्शयति। 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२) इति च ब्रह्मणोऽन्येषामाकाशादीनामार्तत्वं दर्शयति तपसि ब्रह्मशब्दवदाकाशस्य जन्मश्रुतेर्गौणत्वमित्येतदाकाशसंभवश्रुत्यनुमानाभ्यां परिहृतम्। तस्माद् ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्॥ ७॥

---

## ( २ मातरिश्वाधिकरणम्। सू० ८ )

**एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः॥ ८॥**

अतिदेशोऽयम्। एतेन वियद्व्याख्यानेन मातरिश्वापि वियदाश्रयो वायुर्व्याख्यातः। तत्राप्येते यथायोगं पक्षा रचयितव्याः। न वायुरुत्पद्यते छान्दोगानामुत्पत्तिप्रकरणेऽनाम्नानादित्येकः पक्षः। अस्ति तु तत्तिरीयाणामुत्पत्तिप्रकरण आम्नानम्, 'आकाशाद्वायुः' (तै० २।१) इति पक्षान्तरम्। ततश्च श्रुत्योर्विप्रतिषेधे सति गौणी वायोरुत्पत्तिश्रुतिः, असंभवादित्यपरोऽभिप्रायः। असंभवश्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः (बृ० १।५।२२) इत्यस्तमयप्रतिषेधात्, अमृतत्वाद्यश्रवणाच्च। प्रतिज्ञानुपरोधाद्यावद्विकारं च विभागाभ्युपगमादुत्पद्यते वायुरिति सिद्धान्तः। अस्तमयप्रति-

---

भामती

यद्यभ्यासे भूयस्त्वमर्थस्य भवति नाल्पत्वं दूरत एवोपचरितत्वं, हन्त भोः पवनस्य नित्यत्वप्रसङ्गः, वायुश्चान्तरिक्षमेतदमृतमिति द्वयोरमृतत्वमुक्त्वा पुनः पवनस्य विशेषेणाह ❀ सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुरिति ❀। तस्मादभ्यासान्नापेक्षिकं वायोरमृतत्वमपि तु औत्पत्तिकमेवेति प्राप्तं, तदिदमुक्तं भाष्यकृता ❀ अस्तमयप्रतिषेधादमृतत्वश्रवणाच्च इति ❀। चेन समुच्चयार्थेनाभ्यासो दर्शितः।

---

भामती—व्याख्या

**संगति और पूर्वपक्ष**—पूर्वतन अधिकरण में ब्रह्मान्वय का समर्थन करते हुए कहा गया कि "एकमेवाद्वितायम्" यह श्रुति एक और अद्वितायादि पदों के द्वारा एक ही अद्वितीय ब्रह्म का अभ्यास (बार-बार प्रतिपादन) प्रस्तुत कर रही है, अतः उक्त अद्वितीय-श्रुति गौण कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि अभ्यस्यमान पदार्थ में मुख्यत्व सुदृढ़ होता जाता है। यदि अभ्यास में ऐसी मुख्यत्व-गमनिका शक्ति मानी जाती है, तब "आकाशाद् वायुः" (तै. उ. २।१) इस श्रुति का गौण एवं "सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः" (बृह. उ. १।५।२२) इस श्रुति को मुख्य मानना होगा, क्योंकि वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" (बृह. उ. २।३।३) इत्यादि श्रुतियों में वायु की नित्यता अभ्यस्यमान है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"अस्तमयप्रतिषेधाद् अमृतत्वादिश्रवणाच्च"। यहाँ समुच्चयार्थक चकार के द्वारा अभ्यास का प्रदर्शन किया गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षेधोऽपरविद्याविषय आपेक्षिकः, अग्नयादीनामिव वायोरस्तमयाभावात्। कृतप्रतिविधानं चामृतत्वादिश्रवणम्। ननु वायोराकाशस्य च तुल्ययोरुत्पत्तिप्रकरणे श्रवणाश्रवणयोरेकमेवाधिकरणमुभयविषयमस्तु किमतिदेशेनासति विशेष इति? उच्यते—सत्यमेवमेतत्। तथापि मन्दधियां शब्दमात्रकृताशंकानिवृत्त्यर्थोऽयमतिदेशः क्रियते, संवर्गविद्यादिषु ह्युपास्यतया वायोर्महाभागत्वश्रवणात्, अस्तमयप्रतिषेधादिभ्यश्च भवति नित्यत्वाशंका कस्यचिदिति ॥ ८ ॥

## ( ३ असंभवाधिकरणम्। सू० ९ )

### असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

वियत्पवनयोरसंभाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि भवेत्कुतश्चिदुत्पत्तिरिति स्यात्कस्यचिन्मतिः तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषां

भामती

एवं प्राप्ते उच्यते—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात्प्रतिज्ञावाक्यार्थस्य प्राधान्यात्तदुपपादनार्थत्वाच्च वाक्यान्तराणां तेषामपि चाद्वैतक्रमप्रतिपादकानां मातरिश्वोत्पत्तिप्रतिपादकानां बहुलमुपलब्धेर्मुख्यभूयस्त्वाभ्याममूषां श्रुतीनां बलीयस्त्वादेतदनुरोधेनामृतत्वास्तमयप्रतिषेधावापेक्षिकत्वेन नेतव्याविति। भूयसीः श्रुतीरपेक्ष्य द्वे अपि श्रुती शब्दमात्रमुक्ते ॥ ८ ॥

ननु न चास्य कश्चिज्जनितेत्यात्मनः सतोऽकारणत्वश्रुतेः कथमुत्पत्त्याशङ्का? न च वचनमदृष्ट्वा पूर्वः पक्ष इति युक्तम्, अधीतवेदस्य ब्रह्मजिज्ञासाधिकारादर्शनानुपपत्तेरत आह ❀ वियत्पवनयोः इति ❀। यथा हि वियत्पवनयोरमृतत्वानस्तमयत्वश्रुती श्रुत्यन्तरविरोधादापेक्षिकत्वेन नीते, एवमकारणत्वश्रुतिरात्मनोऽग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुतिविरोधात्प्रमाणान्तरविरोधाच्चापेक्षिकत्वेन व्याख्यातव्या। न चात्मनः कारणवत्त्वेऽनवस्था लोहगन्धितामावहत्यनादित्वात् कार्यकारणपरम्परायाः इति भावः। ❀ तथा विकारेभ्यः इति ❀। प्रमाणान्तरविरोधो दर्शितः।

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त**—एक-विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा का प्राधान्य सर्वोपरि है, सभी अन्य वाक्य उसी का उपपादन करते हैं। उन वाक्यों में अद्वैत-प्रतिपादक और वायु के उत्पत्ति-क्रम के प्रतिपादक वाक्यों का बाहुल्य है, अतः मुख्यार्थत्व और बाहुल्य इन दो धर्मों के द्वारा श्रुतियों में प्राबल्य निश्चित होता है। इस प्राबल्य को ध्यान में रख कर वायुगत अमृतत्व और अनस्तमितत्व के अभिधान को गौण ( आपेक्षिक ) नित्यत्वपरक मानना पड़ता है, क्योंकि वायु की उत्पत्ति का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का बाहुल्य यह ध्वनित कर रहा है कि अमृतत्व और अनस्तमितत्व-प्रतिपादक ये दोनों वाक्य शब्दमात्र हैं, इनका अर्थ विवक्षित नहीं ॥ ८ ॥

**संशय**—"त्वं जातो भवसि" ( श्वेता. ४।३ ) यह ब्रह्मोत्पत्ति की प्रतिपादिका श्रुति समन्वयाध्याय की विरोधिनी है? अथवा नहीं?

**संगति और पूर्वपक्ष**—भास्कराचार्य ने आचार्य शङ्कर का निराकरण करते हुए जो कहा है कि [ "ये पुनः सता ब्रह्मण उत्पत्तिशङ्कानिराकरणार्थं सूत्रं वर्णयन्ति, तेषां निरर्थकं सूत्रम्, हेत्वभावात् "स कारणं करणाधिपोऽधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" इति मन्त्रवर्णात्। न हि वचनमदृष्ट्वा पूर्वपक्षः क्वचित् क्रियते" (भास्कर. पृ. १३२) ] "न चास्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्याकाशस्यापि विकारादेव ब्रह्मण उत्पत्तिरिति कश्चिन्मन्येत। तामाशंकामपनेतुमिदं सूत्रम्—'असंभवस्तु' इति। न खलु ब्रह्मणः सदात्मकस्य कुतश्चिदन्यतः संभव उत्पत्तिराशंकितव्या। कस्मात्? अनुपपत्तेः। सन्मात्रं हि ब्रह्म। न तस्य सन्मात्रादेवोत्पत्तिः संभवति, असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः।

भामती

एवं प्राप्ते, उच्यते सदेकस्वभावस्योत्पत्त्यसम्भवः। कुतः? ❀ अनुपपत्तेः ❀। सदेकस्वभावं हि ब्रह्म श्रूयते तदसति बाधके नान्यथयितव्यम्। उक्तमेतद्विकाराः सत्त्वेनानुभूता अपि कतिपयकालकलातिक्रमे विनश्यन्तो दृश्यन्त इत्यनिर्वचनीयास्त्रैकाल्यावच्छेदादिति। न चात्मा तादृशस्तस्य श्रुतेरनुभवाद्वा वर्त्तमानैकस्वभावत्वेन प्रसिद्धेस्तदिदमाह ❀ सन्मात्रं हि ब्रह्म इति ❀। एतदुक्तं भवति। यत्स्वभावाद्विचलति तदनिर्वचनीयं निर्वचनीयोपादानं युक्तं, न तु विपर्ययः। यथा रज्जूपादानः सर्पो न

भामती-व्याख्या

कश्चिज्जनिता"—यह श्रुति जब ब्रह्म में अकारणकत्व का स्पष्ट प्रतिपादन कर रही है, तब ब्रह्म की उत्पत्ति का सन्देह ही कैसे होगा? उत्पत्ति-प्रकाशक वचन को न देख कर पूर्वपक्ष की रचना भी क्योंकर होगी?

भास्कर का वह कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जिसने समस्त वेद का अध्ययन कर रखा है, विशेषतः ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकार प्रचलित है, तब उसको "जातो भवसि" (श्वेता. ४।३) इत्यादि वाक्यों का अदर्शन सर्वथा अनुपपन्न है। फलतः भाष्यकार-द्वारा प्रदर्शित संगति नितान्त संगत है—'वियत्पवनयोरसम्भाव्यमानजन्मनोरप्युत्पत्तिमुपश्रुत्य ब्रह्मणोऽपि"। अर्थात् जैसे "आत्मन आकाशः, आकाशाद् वायुः" (तै. उ. २।१) इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध पर आकाशादि की अनित्यता में तात्पर्य पर्यवसित होता है, वैसे ही "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" [जैसे अग्नि से अग्निरूप विस्फुलिङ्ग उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्रह्मान्तर से ब्रह्म उत्पन्न होता है] इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध पर 'न चास्य जनिता न चाधिपः" (श्वेता. ६।९) इत्यादि श्रुतियों में गौणार्थता मानी जाती है। यदि आत्मा का भी कोई कारण माना जाय, तब उस कारण का भी कारण—इस प्रकार अनवस्था क्यों नहीं? इस प्रश्न का सीधा-सा उत्तर है कि बीज-वृक्ष के समान कार्य-कारणभाव की अनादि परम्परा में अनवस्था कोई विशेष दोष नहीं। तथा विकारेभ्य एवाकाशादिभ्य उत्तरेषां विकाराणामुत्पत्तिमुपश्रुत्य"—इस भाष्य के द्वारा 'आकाशो विकारभूताद् ब्रह्मणो जायते, कार्यत्वाद्, वायुवत्'—यह अनुमान प्रमाण दिखाया गया, जो ब्रह्म की नित्यता का विरोधी है।

सिद्धान्त—"असम्भवस्तु सतः, अनुपपत्तेः"। अर्थात् सत्स्वरूप ब्रह्म की उत्पत्ति असम्भव है, क्योंकि "सदेव सोम्यदमग्र आसीत्" (छां. ६।२।१) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म सदैव एक सत्स्वभाव का प्रतिपादित है। जब तक कोई विशेष बाधक उपलब्ध न हो, तब तक उसका अन्यथाकारण नहीं करना चाहिए। यह तो कहा जा चुका है कि घट-पटादि विकार-समूह सत्त्वेन (घटः सन्, पटः सन्—इस रूप में) अनुभूत होने पर भी कुछ समय की रेखा पार कर नष्ट होते देखे जाते हैं, अतः वे कालिक अवच्छेद से अवच्छिन्न होने के कारण अनिर्वचनीय माने जाते हैं, किन्तु आत्मा वैसा नहीं, अपितु श्रुति और अनुभव के आधार पर एकमात्र वर्तमानस्वभावक माना जाता है—"सन्मात्रं हि ब्रह्म"। सारांश यह है कि जो वस्तु अपने स्वभाव से विचलित हो जाती है, वह अनिर्वचनीय और निर्वचनीय (सत्स्वभावक पदार्थ) उसका उपादान कारण होता है, जैसे—रज्जुरूप उपादान का उपादेय

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नापि सद्विशेषाद्दृष्टविपर्ययात्। सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो नतु विशेषेभ्यः सामान्यम्। नाप्यसतः, निरात्मकत्वात्। 'कथमसतः सज्जायेत' ( छा० ६।२।२ ) इति चाक्षेपश्रवणात्। 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' ( श्वे०६।९ ) इति च ब्रह्मणो जनयितारं वारयति। वियत्पवनयोः पुनरुत्पत्तिः प्रदर्शिता, नतु ब्रह्मणः सास्तीति वैषम्यम्। नच विकारेभ्यो विकारान्तरोत्पत्तिदर्शनाद्ब्रह्मणोऽपि विकारत्वं भवितुमर्हति, मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। या मूलप्रकृतिरभ्युपगम्यते तदेव च नो ब्रह्मेत्यविरोधः॥ ९॥

—∞—

भामती

तु सर्पोपादाना रज्जुरिति। ययोस्तु स्वभावादप्रच्युतिस्तयोर्निर्वचनीययोर्नोपादेयोपादानभावः, यथा रज्जुशुक्तिकयोरिति। न च निरधिष्ठानो विभ्रम इत्याह ❀ नाप्यसत इति ❀। न च निरधिष्ठानभ्रमपरम्परानादितेत्याह ❀ मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गाद् इति ❀। पारमार्थिको हि कार्यकारणभावोऽनादिर्नानवस्थया दुष्यति। समारोपस्तु विकारस्य न समारोपितोपादान इत्युपपादितं माध्यमिकमतनिषेधाधिकारे, तदत्र न प्रस्मर्त्तव्यम्। तस्मान्नासदधिष्ठानविभ्रमसमर्थनाऽनादित्वेनोचितेत्यर्थः। अग्निविस्फुलिङ्गश्रुतिश्चोपाधिकरूपापेक्षया नेतव्या। शेषमतिरोहितार्थम्। ये तु गुणदिक्कालोत्पत्तिविषयमिदमधिकरणं वर्णयाञ्चक्रुस्तेः सतोऽनुपपत्तेरिति क्लेशेन व्याख्येयमविरोधसमर्थनप्रस्तावे चास्य सङ्गतिर्वक्तव्या। अवादिवद्दिक्कालादीनामुत्पत्तिप्रतिपादकवाक्यस्यानवगमात्। तदास्तां तावत्॥ ९॥

भामती—व्याख्या

सर्प है, सर्पोपादानक रज्जु—ऐसा विपर्यय कभी नहीं हो सकता। जो दोनों पदार्थ अपने स्वभाव से कभी विचलित नहीं होते, उनमें परस्पर कभी भी उपादानोपादेयभाव नहीं होता, जैसे—रज्जु और शुक्ति का। कोई भी भ्रम ज्ञान अधिष्ठान के बिना नहीं होता—"नाप्यसतः, निरात्मकत्वात्"। बिना किसी अधिष्ठान के अध्यास-परम्परा अनादि है—ऐसा नहीं कह सकते—"मूलप्रकृत्यनभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्"। पारमार्थिक कार्य-कारणभाव ही अनादि होने के कारण अनवस्था दोष से दूषित नहीं होता किन्तु विकारभूत जगत् का समारोप आरोपित अधिष्ठान में नहीं हो सकता - यह माध्यमिक मत की परीक्षा में (विगत. पृ. ७३७ पर ) कहा जा चुका है। उसे यहाँ भी नहीं भूलना चाहिए। फलतः बिना अधिष्ठान के आरोप-परम्परा का अनादित्वेन समर्थन उचित नहीं। "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" (बृह. उ. २।१।२० ) इस श्रुति के द्वारा आकाशोपाधिक ब्रह्म से वायूपाधिक ब्रह्म की उत्पत्ति का प्रदिपादन मान लेने पर कोई विरोध नहीं रह जाता है।

भास्कराचार्य ने जो इस अधिकरण का विषय माना है - गुण, दिक् और काल की उत्पत्ति ["शब्दस्पर्शादीनां गुणानाम् उपचितापचितानां दिक्कालसंख्यापरिमाणादीनां चोत्पत्त्यश्रवणान्नित्यत्वमिति प्राप्ते उच्यते—असम्भवस्तु सतो विद्यमानस्य गुणस्यान्यस्य वा नित्यत्वासम्भवात्। कस्माद् ? अद्वितीयश्रुत्यनुपपत्तेः" ( भास्कर. पृ. १३२ )]। वह भास्कर-व्याख्यान उचित नहीं, क्योंकि उनके अनुसार 'सतोऽनुपपत्तेः'—इस हेतु-वाक्य की व्याख्या में क्लिष्ट कल्पना है, क्योंकि जैसे सहजतः सद् ( ब्रह्म ) वस्तु की उत्पत्ति अनुपपन्न है, वैसे सभी विद्यमान पदार्थों की नहीं। दूसरी बात यह भी है कि इस अविरोधाध्याय के साथ गुणादि के उत्पत्ति-प्रतिपादन की कोई संगति नहीं। जलादि के समान दिक् और कालादि के उत्पत्ति-प्रतिपादक वाक्यों की अनवगति हो सकती है॥ ९॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ४ तेजोऽधिकरणम् । सू० १० )

### तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

छान्दोग्ये सन्मूलत्वं तेजसः श्रावितं, तैत्तिरीयके तु वायुमूलत्वम् । तत्र तेजो-योनि प्रति श्रुतिविप्रतिपत्तौ सत्यां प्राप्तं तावद् ब्रह्मयोनिकं तेज इति । कुतः ? सदेव' इत्युपक्रम्य "तत्तेजोऽसृजत' इत्युपदेशात् । सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाश्च ब्रह्मप्रभवत्वे सर्वस्य संभवात् । 'तज्जलान्' ( छा० ८।७।१ ) इति चाविशेषश्रुतेः, 'एतस्माज्जायते प्राणः' ( मुण्ड० २।१।३ ) इति चोपक्रम्य श्रुत्यन्तरे सर्वस्याविशेषेण ब्रह्मजत्वोपदेशात्, तैत्तिरीयके च स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किंच' ( तै० ३।६।१ ) इत्य-विशेषश्रवणात् । तस्मात् 'वायोरग्निः' इति क्रमोपदेशो द्रष्टव्यो वायोरनन्तरमग्निः संभूत इति ।

---

भामती

यद्यपि वायोरग्निरित्यपादानपञ्चमी कारकविभक्तिरुपपदविभक्तेर्बलीयसीति नेयमानन्तर्यपरा युक्ता, तथापि बहुश्रुतिविरोधेन दुर्बलाप्युपपदविभक्तिरेवात्रोचिता । ततश्चानन्तर्यदर्शनपरेयं वायोरग्नि-रिति श्रुतिः । न च साक्षाद् ब्रह्मजत्वसम्भवे तद्वंश्यत्वेन तज्जत्वं परम्परयाश्रयितु युक्तम् । वाजपेयस्य पशुयूपवदिति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते उच्यते युक्तं पशुयागवाजपेययोरङ्गाङ्गिनोर्नानात्वात्तत्र साक्षाद्वाजपे-

---

भामती—व्याख्या

**संगति और पूर्वपक्ष**—जैसे ब्रह्मेतर पदार्थ अध्यस्त होने के कारण ब्रह्म के उपादान-कारण नहीं हो सकते, वैसे ही वायु पदार्थ भी अध्यस्त होने के कारण अग्नि ( तेज ) का उपादानकारण नहीं हो सकता, किन्तु "तत्तेजोऽसृजत" ( छां. ६।२।३ ) इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म से तेज की उत्पत्ति माननी चाहिए । यद्यपि "वायोरग्निः" ( तै. उ. २।१।१ ) यहाँ "जनिकर्तुः प्रकृतिः" ( पा. सू. १।४।३० ) इस सूत्र के द्वारा 'वायु' की अपादान संज्ञा करके "अपादाने पञ्चमी" ( पा. सू. २।३।२८ ) इस सूत्र से जो पञ्चमी विभक्ति की गई है, उससे वायु में अग्नि की उपादानकारणता अभिहित है । तथापि छान्दोग्यादि की उक्त विरोधी श्रुतियों के अनुरोध पर यहाँ कारक-विभक्ति से दुर्बलीभूत "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तर-पदाजाहियुक्ते" ( पा. सू. २।३।२९ ) इस सूत्र से विहित उपपद-विभक्ति युक्ति युक्त मानी गई है, अतः उक्त तैत्तिरीय-श्रुति का अर्थ है—'वायोरनन्तरमग्निः सम्भूतः' । फलतः ब्रह्मरूप उपादानकारण से ही वायु के अनन्तर अग्नि की उत्पत्ति सिद्ध होती है । जब ब्रह्म से साक्षात् तेज की उत्पत्ति सम्भव है, तब ब्रह्म से वायु और वायु से तेज की—इस प्रकार परम्परा का आश्रयण वैसे ही अनुचित है, जैसे "सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपः" ( शत. ब्रा. ३।५।३।३६ ) यहाँ सप्तदशारत्नित्व का साक्षात् पशु के साथ सम्बन्ध किया जाता है । [ यूप की जो ऊँचाई बताई गई है—सत्तरह अरत्नि ( मुट्ठी बँधे हाथ की लम्बाई को अरत्नि कहते हैं ) । उसका वाजपेयसंज्ञक कर्म के द्वारा पशु से सम्बन्ध किया जाय ? अथवा साक्षात् पशु के साथ किया जाय ? ( पशु जिस यूप में बाँधा जाता है, वह सत्तरह अरत्नि ऊँचा होता है ) । "आनर्थक्यात् तदङ्गेषु' ( जै सू ३।१।१७ ) इस सूत्र में निश्चय किया गया है कि वाजपेय याग सोमयाग है, पशुयाग नहीं, यूप पशुयाग में ही होता है, सोमयाग में नहीं, अतः वाजपेय में सप्तदशारत्नित्व का निवेश अनर्थक होने के कारण उसके अङ्गभूत पशु के साथ साक्षात् सम्बद्ध होता है ] ।

**सिद्धान्त**—सोमयाग के अङ्गभूत तीन पशुयाग होते हैं । वाजपेय याग का अङ्गभूत पशुयाग वाजपेयरूप न होकर वाजपेय से भिन्न माना जाता है, किन्तु ब्रह्म का कार्यभूत वायु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्त उच्यते—तेजोऽतो मातरिश्वनो जायत इति । कस्मात् ? तथा ह्याह—'वायोरग्निः' इति । अव्यवहिते हि तेजसो ब्रह्मजत्वे सति, असति वायुजत्वे वायोरग्निरितीयं श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । ननु क्रमार्थैषा भविष्यतीत्युक्तम् । नेति ब्रूमः—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तै० २।१।१ ) इति पुरस्तात्संभवत्यपादानस्यात्मनः पञ्चमीनिर्देशात्, तस्यैव च संभवतेरिहाधिकारात्, परस्तादपि च तदधिकारे 'पृथिव्या ओषधयः' ( तै० २।१।१ ) इत्यपादानपञ्चमीदर्शनाद्वायोरग्निरित्यपादानपञ्चम्येवैषेति गम्यते । अपिच वायोरूर्ध्वमग्निः संभूत इति कल्प्य उपपदार्थयोगः, क्लृप्तस्तु कारकार्थयोगो वायोरग्निः संभूत इति । तस्मादेषा श्रुतिर्वायुयोनित्वं तेजसोऽवगमयति । नन्वितरापि श्रुतिर्ब्रह्मयोनित्वं तेजसोऽवगमयति 'तत्तेजोऽसृजत' इति, न, तस्याः पारम्पर्यजत्वेऽप्यविरोधात् । यदापि ह्याकाशं वायुं च सृष्ट्वा वायुभावापन्नं ब्रह्म तेजोऽसृजतेति कल्प्यते, तदापि ब्रह्मजत्वं तेजसो न विरुध्यते, यथा तस्याः श्रुतं तस्या दधि तस्या अमिक्षेत्यादि । दर्शयति च ब्रह्मणो विकारात्मनावस्थानं 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' ( तै० २।७।१ ) इति । तथा चेश्वरस्मरणं भवति—'बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः' ( भ० गी० १०।४ ) इत्याद्यनुक्रम्य 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' ( भ० गी० १०।५ ) इति । यद्यपि बुद्ध्यादयः स्वकारणेभ्यः प्रत्यक्षं भवन्तो दृश्यन्ते, तथापि सर्वस्य भावजातस्य साक्षात्प्रणाडया वेश्वरवंश्यत्वात् । एतेनाक्रमवत्सृष्टिवादिन्यः श्रुतयो व्याख्याताः, तासां सर्वथोपपत्तेः, क्रमवत्सृष्टिवादिनीनां त्वन्यथानुपपत्तेः । प्रतिज्ञापि सद्वंश्यत्वमात्रमपेक्षते, नाव्यवहितजन्यत्वमित्यविरोधः ॥ १० ॥

---

भामती

यासम्बन्धे क्लेशेन परम्पराश्रयणम् । इह तु वायोर्ब्रह्मविकारस्यापि ब्रह्मणो वस्तुतोऽनन्यत्वाद्वायूपादानत्वे साक्षादेव ब्रह्मोपादानत्वोपपत्तेः कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वानुरोधेनोभयथोपपद्यमानाः श्रुतयः कांस्यभोजिन्यायेन नियम्यन्त इति युक्तमिति सिद्धान्तः ❀ पारम्पर्यजत्वेऽपि इति ❀ । भेदकल्पनाभिप्रायं यतः पारमार्थिकभेदमाह । ❀ वायुभावापन्नं ब्रह्म इति ❀ । ❀ यथा तस्याः श्रुतम् इति ❀ तु दृष्टान्तः परम्परामात्रसाम्येन न तु सर्वथा साम्येनेति सर्वमवदातम् ॥ १० ॥

---

भामती—व्याख्या

ब्रह्म से भिन्न न होकर ब्रह्मरूप ही माना जाता है, अतः स्नदश अस्तित्व का अन्वय वाजपेय के द्वारा पशुयाग से करने पर जैसी व्यवधायक परम्परा प्रसक्त होती है, ब्रह्म से वायु और वायु से अग्नि की उत्पत्ति मानने पर वैसी परम्परा प्रसक्त नहीं होती, अतः तैत्तिरीय-श्रुति के अनुसार वायु से उत्पन्न अग्नि में छान्दोग्य-श्रुति के अनुसार ब्रह्म-जन्यत्व भी उपपन्न हो जाता है, श्रुतियों में किसी प्रकार का विरोध नहीं रह जाता । वायु को तेज की प्रकृति मान लेने पर उपपद-विभक्ति की अपेक्षा कारक-विभक्ति का बलीयस्त्व भी अक्षुण्ण रह जाता है एवं उभयविध श्रुतियों का सामञ्जस्य भी वैसे ही हो जाता है, जैसे कि कांस्यपात्र ( काँसे की थाली ) में गुरु को भोजन खिलाकर उच्छिष्ट ( जूठा ) भोजन करने पर शिष्य के कांस्यभोजित्व और उच्छिष्टभोजित्व—दोनों नियम सम्पन्न हो जाते हैं । भाष्यकार ने जो कहा है—"पारम्पर्यजत्वेऽपि", वह काल्पनिक भेद को मन में रख कर कहा है, क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म और वायु में अभेद विवक्षित है—"वायुभावापन्नं ब्रह्म" । "यथा तस्याः श्रुतम् तस्या दधि, तस्या आमिक्षा" [ गौ का दूध, गौ का दही, गौ की आमिक्षा ( छेना ) ]—यह जो दृष्टान्त दिया गया है, वह दार्ष्टान्त की सामान्य समता को लेकर,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ५ अवधिकरणम् । सू० ११ )

### आपः ॥ ११ ॥

अतस्तथा ह्याह' इत्यनुवर्तते । आपोऽतस्तेजसो जायन्ते । कस्मात् ? तथा ह्याह—'तदपोऽसृजत' इति 'अग्नेरापः' इति च । सति वचने नास्ति संशयः । तेजसस्तु सृष्टिं व्याख्याय पृथिव्या व्याख्यास्यन्नपोऽन्तरियामित्याप इति सूत्रयांबभूव ॥ ११ ॥

## ( ६ पृथिव्यधिकरणम् । सू० १२)

### पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

'ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' ( छा० ६।२।४) इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनेनान्नशब्देन व्रीहियवाद्यभ्यवहार्यं वा ओदनाद्युच्यते, किंवा पृथिवीति ? तत्र प्राप्तं तावद् व्रीहियवाद्योदनादि वा परिग्रहीतव्यमिति । तत्र ह्यन्नशब्दः प्रसिद्धो लोके, वाक्यशेषोऽप्येतमर्थमुपोद्बलयति । 'तस्माद्यत्र क्वचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवती'ति । व्रीहियवाद्येव हि सति वर्षणे बहु भवति, न पृथिवीति ॥

---

भामती

निगदव्याख्यातेन भाष्येण व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

---

अन्नशब्दोऽयं व्युत्पत्त्या च प्रसिद्धया च व्रीहियवादौ तद्विकारे चौदने प्रवर्त्तते । श्रुतिश्च प्रकरणाद् बलीयसी, सा च वाक्यशेषेणोपोद्बलिता यत्र क्वचन वर्षतीत्येतेन, तस्मादभ्यवहार्यं व्रीहियवाद्येवान्नाद्यं जायत इति विवक्षितम् । कार्ष्ण्यमपि हि सम्भवति कस्यचिदवदनीयस्य, नहि पृथिव्यपि कृष्णा,

---

भामती—व्याख्या

क्योंकि जैसा वायु, अग्नि और जल का ब्रह्म से अभेद माना जाता है, वैसा गौ से दुग्धादि का अभेद नहीं माना जाता ॥ १० ॥

**पूर्व पक्ष**—"अग्नेरापः" ( तै० ब्र० २।१।२ ) इस श्रुति के आधार पर अग्नि से जल की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि प्रकृति-विकारभाव सदैव अविरुद्ध पदार्थों का होता है किन्तु अग्नि और जल का नाश्य–नाशकभाव लोक-प्रसिद्ध है ।

**सिद्धान्त**—त्रिवृत्कृत या पञ्चीकृत अग्नि और जल का ही विरोध होता है, अत्रिवृत्कृत या अपञ्चीकृत का नहीं, अतः उनमें प्रकृति-विकारभाव सम्भव है । दूसरी बात यह भी है कि विवर्तवाद में यह कोई दोष नहीं, क्योंकि मरुमरीचिका और जल का वैसा ही विरोध रहने पर भी जल का प्रादुर्भाव माना जाता है ॥ ११ ॥

---

**पूर्वपक्ष**—"ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति, ता अन्नमसृजन्त" ( छा. ६।२।४ ) इस श्रुति में श्रुत 'अन्न' शब्द 'अद्यतेस्म'—इस व्युत्पत्ति और लोक-प्रसिद्धि के आधार पर व्रीहि, यव आदि कच्चे तथा पके हुए ओदन ( भात ) में प्रसिद्ध है । यद्यपि प्रकरण प्रमाण से पृथिवी का ग्रहण होता है, तथापि प्रकरण ( अधिकाराख्य प्रकरण ) प्रमाण से श्रुति ( अभिधायक शब्द ) प्रबल होता है । उक्त श्रुति का "यत्र क्वचन वर्षति" ( छा. ६।२।४ ) यह वाक्य-शेष भी समर्थक है, अतः वर्षा से उत्पन्न होनेवाले व्रीहि, यव आदि भक्षणीय पदार्थ ही यहाँ 'अन्न' शब्द से विवक्षित हैं । "यत् कृष्णम्, तदन्नस्य" (छां. ६।४।१) इस श्रुति-वाक्य में जो अन्न का रूप कृष्ण कहा गया है, वह भी कोद्रव, धान और माष


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथिव्येवेयमन्नशब्देनाद्भ्यो जायमाना विवक्ष्यत इति। कस्मात्? अधिकाराद् रूपाच्छब्दान्तराच्च। अधिकारस्तावत् 'तत्तेजोऽसृजत', 'तदपोऽसृजत' इति महाभूतविषयो वर्तते। तत्र क्रमप्राप्तां पृथिवीं महाभूतं विलङ्घ्य नाकस्माद् व्रीह्यादिपरिग्रहो न्याय्यः। तथा रूपमपि वाक्यशेषे पृथिव्यनुगुणं दृश्यते—'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति। न ह्योदनादेरभ्यवहार्यस्य कृष्णत्वनियमोऽस्ति, नापि व्रीह्यादीनाम्। ननु पृथिव्या अपि नैव कृष्णत्वनियमोऽस्ति, पयः पाण्डुरस्याङ्गाररोहितस्य च क्षेत्रस्य दर्शनात्। नायं दोषः, बाहुल्यापेक्षत्वात्। भूयिष्ठं हि पृथिव्याः कृष्णं रूपं, न तथा श्वेतरोहिते। पौराणिका अपि पृथिवीछायां शर्वरीमुपदिशन्ति। सा च कृष्णाभासेत्यतः कृष्णं रूपं पृथिव्या इति श्लिष्यते। श्रुत्यन्तरमपि समानाधिकारम्—अद्भ्यः पृथिवीति भवति। 'तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्' (बृ० १।२।२) इति च। पृथिव्यास्तु व्रीह्यादेरुत्पत्तिं दर्शयति—'पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्योऽन्नम्' इति च। एवमधिकारादिषु पृथिव्याः प्रतिपादकेषु सत्सु कुतो व्रीह्यादिप्रतिपत्तिः? प्रसिद्धिरप्यधिकारादिभिरेव बाध्यते। वाक्यशेषोऽपि पार्थिवत्वादन्नाद्यस्य तद्द्वारेण पृथिव्या एवाद्भ्यः प्रभवत्वं सूचयतीति द्रष्टव्यम्। तस्मात्पृथिवीयमन्नशब्देति ॥ १२ ॥

---

भामती

लोहितादिरूपाया अपि दर्शनात्। ततश्च श्रुत्यन्तरेणाद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधय इत्यादिना विरोध इति पूर्वः पक्षः।

श्रुत्योर्विरोधे वस्तुनि विकल्पानुपपत्तेरन्यतरानुगुणतयान्यतरा नेतव्या। तत्र किमद्भ्यः पृथिवीति पृथिवीशब्दोऽन्नपरतया नीयतामुताऽन्नमसृजतेत्यन्नशब्दः पृथिवीपरतयेति विशये महाभूताधिकारानुरोधात् 'प्रायिककृष्णरूपानुरोधाच्च 'तद्यदपां शर आसीत्' इति च पुनः श्रुत्यनुरोधाच्च वाक्यशेषस्य चान्यथाप्युपपत्तेरन्नशब्दोऽन्नकारणे पृथिव्यामिति सिद्धान्तः ॥ १२ ॥

---

भामती—व्याख्या

आदि कतिपय अन्नों में पाया जाता है, पृथिवी में भी तो पूर्णरूपेण कृष्ण रूप नहीं, अपितु लोहित (रक्त) आदि रूप भी देखे जाते हैं। इस प्रकार उक्त श्रुति का "अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः" (तै. उ. २।१।१) इत्यादि श्रुतियों से विरोध स्पष्ट है।

सिद्धान्त—श्रुतियों में विरोध होने पर उनकी विषयवस्तुओं में विकल्प तो बन नहीं सकता, अतः विरोधी वाक्यों में से एक वाक्य को मुख्यार्थक मानते हुए दूसरे वाक्य की व्याख्या उसी के अनुरूप करनी होगी। तब क्या "अद्भ्यः पृथिवी"— इस श्रुति के 'पृथिवी' शब्द को अन्नपरक (अन्नार्थ का बोधक) माना जाय? अथवा "अन्नमसृजन्त"—यहाँ 'अन्न' शब्द पृथिवी-परक माना जाय? इस प्रकार का संशय होने पर महाभूतों की उत्पत्ति का प्रकरण एवं पृथिवी में प्रायः कृष्ण रूप देख कर 'अन्न' शब्द को अन्नकारणीभूत पृथिवी का बोधक मानना चाहिए तथा "तद्यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्" (बृह. उ. १।२।२) इस श्रुति के अनुरोध पर "यत्र कचन वर्षति, तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति" (छां. ६।२।४) इस वाक्य-शेष को पार्थिव व्रीहि, यवादि अन्नों का समर्पक माना जा सकता है ॥१२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ७ तदभिध्यानाधिकरणम् । सू० १३ )

**तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥**

किमिमानि वियदादीनि भूतानि स्वयमेव स्वविकारान्सृजन्ति, आहोस्वित्परमेश्वर एव तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति संदेहे सति, प्राप्तं तावत्-स्वयमेव सृजन्तीति । कुतः ? 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' इत्यादिस्वातन्त्र्यश्रवणात् । नन्वचेतनानां स्वतन्त्राणां प्रवृत्तिः प्रतिषिद्धा । नैष दोषः, 'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' ( छा० ६।२।४ ) इति च भूतानामपि चेतनत्वश्रवणादिति ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—स एव परमेश्वरस्तेन तेनात्मनावतिष्ठमानोऽभिध्यायंस्तं तं विकारं सृजतीति । कुतः ? तल्लिङ्गात् । तथा हि शास्त्रम्- 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' ( बृ० ३।७।३ ) इत्येवंजातीयकं साध्यक्षाणामेव भूतानां प्रवृत्तिं दर्शयति । तथा

भामती

सृष्टिक्रमे भूतानामविरोध उक्त इदानीमाकाशादिभूताधिष्ठात्र्यो देवताः किं स्वतन्त्रा एवोत्तरोत्तरभूतसर्गे प्रवर्त्तन्त उत परमेश्वराधिष्ठिताः परतन्त्रा इति । तत्राकाशाद् वायुर्वायोरग्निरिति स्ववाक्ये निरपेक्षाणां श्रुतेः स्वयं चेतनानां च चेतनान्तरापेक्षायां प्रमाणाभावात्, प्रस्तावस्य च लिङ्गस्य च पारम्पर्येणापि मूलकारणस्य ब्रह्मण उपपत्तेः, स्वतन्त्राणामेवाकाशादीनां वाय्वादिकारणत्वमिति जगतो ब्रह्मयोनित्वव्याघात इति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—आकाशाद्वायुरित्यादय आकाशादीनां केवलानामुपादानभावमाचक्षते, न पुनः स्वातन्त्र्येणाधिष्ठातृत्वम् । न च चेतनानां स्वकार्य्ये स्वातन्त्र्यमित्येतदप्यैकान्तिकं, परतन्त्राणामपि तेषां बहुलमुपलम्भेभृत्यान्तेवास्यादिवत् । तस्माल्लिङ्गप्रस्तावसामञ्जस्याय स ईश्वर एव तेन तेनाकाशादिभावेनोपादानभावेनावतिष्ठमानः स्वयमधिष्ठाय निमित्तकारणभूतस्तं तं विकारं वाय्वादिकं सृजतीति

भामती-व्याख्या

**संगति**—भूत-सृष्टि-क्रम में श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया, अब भूतगत स्रष्टृत्व में स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का विचार किया जाता है ।

**संशय**—भूतों के अधिष्ठातृदेवता स्वतन्त्ररूप से उत्तरोत्तर भूतों की रचना करते हैं ? अथवा परमेश्वर से अधिष्ठित होकर अथवा परमेश्वर ही स्वातन्त्र्येण निमित्त और आकाशादिभावेन उपादान कारण होता है ?

**पूर्वपक्ष**—"आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः" ( तै. उ. २।१।१ ) इत्यादि श्रुतियों में निरपेक्ष ( अन्यानधीन ) स्रष्टृत्व प्रतिपादित है । सृष्टि के प्रस्ताव ( उपक्रम ) में जो मूल कारण ब्रह्म कर्तृत्वेन चर्चित है—सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" ( तै. उ. २।६ ) और "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यमयति" ( बृह. उ. ३।७।३ ) इत्यादि श्रुतियों में जो ब्रह्मगत अधिष्ठातृत्व का लिङ्ग ( प्रतिपादन-सामर्थ्य ) उपलब्ध होता है, वह अभिमानी देवताओं के माध्यम से भी उपपन्न हो जाता है ।

**सिद्धान्त**—"आकाशाद् वायुः"—इत्यादि श्रुतियाँ आकाशादि में केवल उपादानता का ही अभिधान करती हैं, स्वातन्त्र्येण अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन नहीं करतीं । सभी चेतन पदार्थ नियमतः स्वतन्त्ररूप से ही अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि भृत्य ( दास ) और शिष्यादि के समान बहुत-से परतंत्ररूप में भी प्रवृत्त होते पाए जाते हैं । अतः कथित लिङ्ग ( शब्द-सामर्थ्य ) और प्रस्ताव ( उपक्रम ) का सामञ्जस्य करने के लिए यह मानना ही युक्ति-युक्त है कि परमेश्वर ही आकाशादिरूप में अवस्थित होकर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति प्रस्तुत्य 'सच्च त्यच्चाभवत्। तदात्मानं स्वयमकुरुत' ( तै० २।६।१ ) इति च तस्यैव च सर्वात्मभावं दर्शयति। यस्त्वीक्षणश्रवणमन्तेजसोस्तत्परमेश्वरावेशवशादेव द्रष्टव्यम्, 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा' ( बृ० ३।७।२३ ) इतीक्षित्रन्तरप्रतिषेधात्, प्रकृतत्वाच्च सत ईक्षितुः 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' ( छा० ६।२।३ ) इत्यत्र ॥ १३ ॥

---

## ( ८ विपर्ययाधिकरणम्। सू० १४ )

### विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

भूतानामुत्पत्तिक्रमश्चिन्तितः। अथेदानीमप्ययक्रमश्चिन्त्यते। किमनियतेन क्रमेणाप्ययः, उतोत्पत्तिक्रमेणाथ वा तद्विपरीतेनेति? त्रयोऽपि चोत्पत्तिस्थितिप्रलया भूतानां ब्रह्मायत्ताः श्रूयन्ते—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' ( त० ३।१।१ ) इति। तत्रानियमोऽविशेषादिति प्राप्तम्। अथ वोत्पत्तेः क्रमस्य श्रुतत्वात्प्रलयस्यापि क्रमाकाङ्क्षिणः स एव क्रमः स्यादिति।

---

भामती

युक्तम्। इतरथा लिङ्गप्रस्तावौ क्लेशितौ स्यातामिति। ❀ परमेश्वरावेशवशाद् इति ❀। परमेश्वर एवान्तर्यामिभावेनाविष्ट ईक्षिता, तस्मात्सर्वस्य कार्यजातस्य साक्षात्परमेश्वर एवाधिष्ठाता निमित्तकारणं न त्वाकाशादिभावमापन्नः। आकाशादिभावमापन्नस्तूपादानमिति सिद्धम् ॥ १३ ॥

---

उत्पत्तौ महाभूतानां क्रमः श्रुतो नाप्ययेऽव्ययमात्रस्य श्रुतत्वात्। तत्र नियमे सम्भवति नानियमो व्यवस्थारहितो हि सः। न च व्यवस्थायां सत्यामव्यवस्था युज्यते। तत्र क्रमभेदापेक्षायां किं दृष्टोऽप्ययक्रमो घटादीनां महाभूतोऽप्ययक्रमनियामकोऽस्त्वाहो. श्रौत उत्पत्तिक्रम इति विशये श्रौतस्य श्रौतान्तरमभ्यर्हितं समानजातीयतया तस्यैव बुद्धिसान्निध्यात्। न दृष्टं, विरुद्धजातीयत्वात्। तस्माच्छ्रौतेनैवोत्पत्तिक्रमेणाप्ययक्रमो नियम्यत इति प्राप्ते—

---

भामती—व्याख्या

उपादान कारण एवं स्वयं अधिष्ठातृत्वेन निमित्तकारण के रूप में वायु आदि समस्त विकारों की सृष्टि किया करता है, अन्यथा प्रदर्शित लिङ्ग और प्रस्ताव का सामञ्जस्य सुकर न होगा। परमेश्वर ही अन्तर्यामिभाव से ईशिता ( साक्षात् अधिष्ठाता ) निमित्त कारण है, और आकाशादिरूपापन्न होकर उपादानकारण होता है—यह सिद्ध हो गया ॥ १३ ॥

---

**संगति**—आकाशादि महाभूतों के उत्पत्ति-क्रम का विचार हो जाने पर उनके लय-क्रम की मीमांसा ( चिन्तना ) नितान्त संगत है।

**संशय**—श्रुतियों में महाभूतों का केवल उत्पत्ति-क्रम वर्णित है, लय-क्रम नहीं, सामान्यतः लय श्रुत है—"यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" ( त. उ. ३।१।१ )। व्यवस्था सम्भव हो सकने पर अव्यवस्था उचित नहीं ठहराई जा सकती, अतः लय-क्रम की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए क्या श्रुति-प्रतिपादित उत्पत्ति-क्रम ही लय का भी क्रम माना जाय? अथवा लोक में दृष्ट विपरीत क्रम? जैसा कि घटादिरूप उपादेय पदार्थों का साक्षात् अपने उपादान में, उस उपादान का अपने उपादान में—इस प्रकार उपादेय-परम्परा का अपनी उपादान-परम्परा में विलयन देखा जाता है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते ततो ब्रूमः—विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद्भवितुमर्हति। तथा हि लोके दृश्यते—येन क्रमेण सोपानमारूढस्ततो विपरीतेन क्रमेणावरोहतीति। अपि च दृश्यते—मृदो जातं घटशरावाद्यप्ययकाले मृद्भावमप्येति—अद्भ्यश्च जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येतीति। अतश्चोपपद्यत एतत्—यत्पृथिव्यद्भ्यो जाता सती स्थितिकालव्यतिक्रान्तावपोऽपीयादापश्च तेजसो जाताः सत्यस्तेजोऽपीयुः। एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्मं च ब्रह्माप्येतीति वेदितव्यम्। नहि स्वकारणव्यतिक्रमेण कारणकारणे कार्याप्ययो न्याय्यः। स्मृतावप्युत्पत्तिक्रमविपर्ययेणैवाप्ययक्रमस्तत्र तत्र दर्शितः—'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते'

भामती

उच्यते—अप्ययस्य क्रमापेक्षायां खलूत्पत्तिक्रमो नियामको भवेत्, न त्वस्यप्ययस्य क्रमापेक्षा, दृष्टानुमानोपनीतेन क्रमभेदेन श्रुत्यनुसारिणोऽप्ययक्रमस्य बाध्यमानत्वात्। तस्मिन् हि सत्युपादानोपरमेऽप्युपादेयमस्तीति स्यान्न चैतदस्ति। तस्मात् तद्विरुद्धदृष्टक्रमावरोधादाकाङ्क्षैव नास्ति, क्रमान्तरं प्रत्ययोग्यत्वात् तस्य तदिदमुक्तं सूत्रकृता 'उपपद्यते च' इति। भाष्यकारोऽप्याह ॐ न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकाङ्क्ष्यते इति ॐ। तस्मादुत्पत्तिक्रमाद्विपरीतः क्रम इत्येतन्न्यायमूला च स्मृतिरुक्ता॥ १४॥

---

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—आचार्य भास्कर ने जो अनियम का पूर्वपक्ष किया है—"अयनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावात्" (भास्कर. पृ. १३३)। वह उचित नहीं, क्योंकि किसी नियम के सम्भव हो सकने पर अनियम मानना नीति-विरुद्ध है। श्रौत (लयरूप) धर्मी के लिए श्रौत धर्म (क्रम) का अवलम्बन अभ्यर्हित (उचिततर) होता है, क्योंकि वह श्रौतत्वेन सजातीय और लोक-दृष्ट विजातीय है। सजातीय (शास्त्रीय) पदार्थ बुद्धि में सहजभाव से विद्यमान रहता है, लोक-दृष्ट नहीं, क्योंकि वह विजातीय है। फलतः श्रौत उत्पत्ति-क्रम का ही नियमन लय-क्रम में करना चाहिए अर्थात् आकाश का वायु में, वायु का अग्नि में, अग्नि का जल में और जल का पृथिवी में लय मानना चाहिए।

**सिद्धान्त**—यदि लय को किसी क्रम की अपेक्षा होती, तब अवश्य ही उत्पत्ति-क्रम उसका नियामक होता, किन्तु लय को किसी क्रम को अपेक्षा है ही नहीं। दृष्टानुमान के द्वारा अवगमित क्रम-विशेष से श्रौत क्रम बाधित हो जाता है, क्योंकि श्रौत क्रम से विलय मानने पर आकाशादि उपादानकारणों का उपरम (अभाव) हो जाने पर भी वाय्वादि उपादेय पदार्थों की सत्ता माननी पड़ेगी, किन्तु वैसा सम्भव नहीं कि तन्तुओं का नाश हो जाने पर भी पट अवस्थित रहे। इस लिए यह मानना चाहिए कि श्रौत क्रम से विरुद्ध दृष्ट क्रम के द्वारा आकांक्षा अवरुद्ध हो जाती है, अतः लय-क्रम की आकांक्षा ही नहीं उठती, क्योंकि श्रौत क्रम में लय-क्रम का स्थान लेने की योग्यता ही नहीं, वही भाष्यकार भी कह रहे हैं—"न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकांक्ष्यते"। लय के द्वारा अनाकांक्षित होने के कारण श्रौत क्रम प्राप्त नहीं हो सकता, अतः श्रौत उत्पत्ति-क्रम का विपरीत क्रम लोक-दृष्ट होने के कारण ग्राह्य है। इसी दृष्ट क्रम का उपदेश भगवान् ने नारद को (म. भारत. शान्ति. ३३९।२९-३१ में) किया है—

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्येवमादौ। उत्पत्तिक्रमस्तूत्पत्तावेव श्रुतत्वान्नाप्यये भवितुमर्हति। न चासावयोग्यत्वादप्ययेनाकाङ्क्ष्यते। नहि कार्यं म्रियमाणे कारणस्याप्ययो युक्तः, कारणाप्यये कार्यस्यावस्थानानुपपत्तेः, कार्याप्यये तु कारणस्यावस्थानं युक्तं- मृदादिष्वेवं दृष्टत्वात्॥ १४॥

---

## ( ९ अन्तराविज्ञानाधिकरणम्। सू० १५ )

**अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्॥ १५॥**

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यां भवत इत्युक्तम्। आत्मादिरुत्पत्तिः प्रलयश्चात्मान्त इत्यप्युक्तम्। सेन्द्रियस्य तु मनसो बुद्धेश्च सद्भावः प्रसिद्धः श्रुतिस्मृत्योः 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुः' (कठ० ३।३) इत्यादिलिङ्गेभ्यः। तयोरपि कस्मिंश्चिदन्तराले क्रमेणोत्पत्तिप्रलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मजत्वाभ्युपगमात्। अपि चाथर्वणे उत्पत्तिप्रकरणे भूतानामात्मनश्चान्तराले करणान्यनुक्रम्यन्ते—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ( मुण्ड० २।१।३ ) इति। तस्मात्पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्गो भूतानामिति चेत्-न, अविशेषात्। यदि तावद्भौतिकानि करणानि,

भामती

तदेवं भावनोपयोगिनौ भूतानामुत्पत्तिप्रलयौ विचार्य बुद्धीन्द्रियमनसां क्रमं विचारयति। अत्र च विज्ञायतेनेनेति व्युत्पत्त्या विज्ञानशब्देनेन्द्रियाणि च बुद्धिं च ब्रूते। तत्रैतेषां क्रमापेक्षायामात्मानञ्च भूतानि चान्तरा समाम्नानात्तेनैव पाठेन क्रमो नियम्यते। तस्मात् पूर्वोत्पत्तिक्रमभङ्गप्रसङ्गः। यत आत्मनः करणानि करणेभ्यश्च भूतानीति प्रतीयते, तस्मादात्मन आकाश इति भव्यते। अन्नमयमिति च मयडानन्दमय इतिवत् न विकारार्थ इति प्राप्तेऽभिधीयते - विभक्तत्वात्तावन्मनःप्रभृतीनां कारणापेक्षायामन्नमयं

भामती–व्याख्या

खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च।
मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते॥
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्क्रिये सम्प्रलीयते।
नास्ति तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै सनातनात्॥

**संगति**—'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया" ( कठो. १।४।१२ ) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा आत्म-दर्शन के लिए एक एकाग्र एवं सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता बताई है, सृष्टि और प्रलयादि के क्रमों का अनुचिन्तन ही बुद्धिगत एकाग्रता और सूक्ष्मतादि की सम्पत्ति का साधन है। उसी चिन्तना को यह कड़ी है—'बुद्धि, इन्द्रिय और मन का उत्पत्ति क्रम।

**पूर्वपक्ष**—सूत्रस्थ 'विज्ञान' शब्द से [ 'विज्ञायतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति के आधार पर ] इन्द्रिय और बुद्धि विवक्षित है। इनके उत्पत्ति-क्रम की आकांक्षा होने पर आत्मा और महाभूतों के माध्य में इनकी उत्पत्ति मानी जानी चाहिए, क्योंकि "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" ( मुण्ड. २।१।३ ) यह श्रुति वैसा ही कहती है, अतः पूर्वोक्त भूतों के उत्पत्ति-क्रम का भङ्ग हो जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार आत्मा से करण ( इन्द्रियगण ), करणों से महाभूत की उत्पत्ति पर्यवसित होती है। फलतः "आत्मन आकाशः सम्भूतः"—यह क्रम टूट जाता है। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" ( छां. ६।५।४ ) इत्यादि श्रुतियों में विकारार्थक 'मयट्' प्रत्यय प्रयुक्त नहीं, अपितु 'आनन्दमयः' इत्यादि स्थलों के समान प्रचुरार्थक है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततो भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्यामेवैषामुत्पत्तिप्रलयौ भवत इति नेतयोः क्रमान्तरं मृग्यम्। भवति च भौतिकत्वे लिङ्गं करणानाम्—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इत्येवंजातीयकम्। व्यपदेशोऽपि क्वचिद्भूतानां च ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन नेतव्यः। अथ त्वभौतिकानि करणानि, तथापि भूतोत्पत्तिक्रमो न करणैर्विशेष्यते। प्रथमं करणान्युत्पद्यन्ते चरमं भूतानि, प्रथमं वा भूतान्युत्पद्यन्ते चरमं वा करणानीति। आथर्वणे तु समाम्नायक्रममात्रं करणानां भूतानां च, न तत्रोत्पत्तिक्रम उच्यते। तथान्यत्रापि पृथगेव भूतक्रमात्करणक्रम आम्नायते 'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्स आत्मानमैक्षत स मनोऽसृजत तन्मन एवासीत्तदात्मानमैक्षत तद्वाचमसृजत' इत्यादिना तस्मान्नास्ति भूतोत्पत्तिक्रमस्य भङ्गः ॥ १५ ॥

---

## ( १० चराचरव्यपाश्रयाधिकरणम् । सू० १६ )

**चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥**

स्तो जीवस्याप्युत्पत्तिप्रलयौ, जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्येवंजातीयका-

भामती

मन इत्यादिलिङ्गश्रवणादपेक्षितार्थकथनाय विकारार्थत्वमेव मयटो युक्तम्, इतरथा त्वनपेक्षितमुक्तं भवेत्। न च तवपि घटते। नह्यन्नमयो यज्ञ इतिवदन्नप्राचुर्यं मनसः सम्भवति। एवं चेद् भूतविकारा मनआदयो भूतानां परस्तादुत्पद्यन्त इति युक्तम्। प्रौढवादितयाऽभ्युपेत्याह ❀ अथ त्वभौतिकानि इति ❀। भवत्वात्मन एव करणानामुत्पत्तिः, न खल्वेतावता भूतैरात्मनो नोत्पत्तव्यम्। तथा च नोक्तक्रमभङ्गप्रसङ्गः। विशिष्यते भिद्यते भज्यत इति यावत् ॥ १५ ॥

---

देवदत्ताविनाभधेयं तावज्जीवात्मनो न शरीरस्य तन्नाम्ने शरीराय श्राद्धादिकरणानुपपत्तेः।

भामती–व्याख्या

**सिद्धान्त**—मन आदि आत्मा के समान अविभक्त नहीं, अपितु घटादि के समान विभक्त है, अतः उत्पद्यमान हैं, इनका कोई करण होना चाहिए। "अन्नमयं सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक्" (छां. ६।५।४) यहाँ मन को अन्न (पृथिवी) का प्राण को जल का और वागिन्द्रिय को तेज का विकार कहा गया है। अन्नमयादि शब्दों में 'मयट्' प्रत्यय से विकार का अभिधान करना ही युक्ततर है, प्रचुरार्थक मानने पर अनपेक्षिताभिधान प्रसक्त होता है। प्रकृत में प्राचुर्य अर्थ घटता भी नहीं, क्योंकि 'अन्नमयो यज्ञः' के समान मन में अन्न का प्राचुर्य नहीं होता। मन आदि यदि महाभूतों के विकार हैं, तब भूतों की उत्पत्ति के पश्चात् ही उनकी उत्पत्ति सम्भव होती है।

परकीय मत को मानकर भी अपने सिद्धान्त पर आँच न आने देना प्रौढवाद या प्रौढिवाद है। इस पद्धति को अपनाया जा रहा है—"अथ तु अभौतिकानि करणानि।" अर्थात् यदि इन्द्रियों को भौतिक न मानकर आत्मा से ही उनकी उत्पत्ति मानी जाय, तब भी भूतोत्पत्ति क्रम विनष्ट (भङ्ग) नहीं होता, क्योंकि आत्मा से इन्द्रियगण उत्पन्न होते हैं, एतावता आत्मा से महाभूतों की उत्पत्ति क्या नहीं हो सकती? निश्चित क्रम से भूतों की उत्पत्ति से पूर्व या पश्चात् इन्द्रियों की आत्मा से उत्पत्ति मानी जा सकती है ॥ १५ ॥

---

**संगति**—"तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इस श्रुति को ध्यान में रख कर तत्पदार्थभूत ब्रह्म में जगत्कारणत्व का समन्वय करने के लिए भूतोत्पत्ति-श्रुतियों का विरोध दूर किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लौकिकव्यपदेशात् जातकर्मादिसंस्कारविधानाच्चेति स्यात्कस्यचिद्भ्रान्तिस्तामपनुदामः। न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसंबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च--'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३) इति। नन्व लौकिको जन्ममरणव्यपदेशो जीवस्य दर्शितः। भाक्तस्त्वेष जीवस्य जन्ममरणव्यपदेशः। किमाश्रयः पुनरयं मुख्यो यदपेक्षया भाक्त इति ?

उच्यते चराचरव्यपाश्रयः। स्थावरजङ्गमशरीरविषयौ जन्ममरणशब्दौ। स्थावरजङ्गमानि हि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ते च, अतस्तद्विषयौ जन्ममरणशब्दौ, मुख्यौ सन्तौ तत्स्थे जीवात्मन्युपचर्येते, तद्भावभावित्वात्। शरीरप्रादुर्भावतिरोभावयोर्हि सतोर्जन्ममरणशब्दौ भवतः, नासतोः। नहि शरीरसंबन्धादन्यत्र जीवो जातो मृतो वा केनाचिल्लक्ष्यते। 'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' (बृ० ४।३।८) इति च शरीरसंयोगवियोगनिमित्तावेव जन्ममरणशब्दौ दर्शयति। जातकर्मादिविधानमपि देहप्रादुर्भावापेक्षमेव द्रष्टव्यम्। अभावाज्जी

भामती

तस्माम्मृतो देवदत्तो जातो देवदत्त इति व्यपदेशस्य मुख्यत्वं मन्वानस्य पूर्वः पक्षः, मुख्यत्वे शास्त्रोक्तामुष्मिकस्वर्गादिफलसम्बन्धानुपपत्तेः शास्त्रविरोधात् लौकिकव्यपदेशो भाक्तो व्याख्येयः। भक्तिश्च शरीरस्योत्पादविनाशौ ततस्तत्संयोग इति जातकर्मादि च गर्भबीजसमुद्भवजीवपापप्रक्षयार्थं, न तु जीवजन्मजपापक्षयार्थम्। अत एव स्मरन्ति—एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवमिति।

तस्मान्न शरीरोत्पत्तिविनाशाभ्यां जीवजन्मविनाशाविति सिद्धम्। एतच्च लौकिकव्यपदेशस्या-

भामती-व्याख्या

गया, अब त्वं पदार्थ का शोधन करने के लिए जीव-विषयक विचार प्रस्तुत किया जाता है।

**पूर्वपक्ष**—'देवदत्त', 'यज्ञदत्त' आदि नाम जीवात्मा के ही होते हैं, शरीर के नहीं, क्योंकि शरीर को देवदत्तादि नामधारी मानने पर देवदत्तादि के उद्देश्य से श्राद्धादि कर्म उपपन्न न हो सकेंगे [ श्राद्धादि कर्म परलोक में विद्यमान जीवात्मा के उद्देश्य से किए जाते हैं, शरीर तो यहाँ ही भस्मीभूत हो जाता है, उसके उद्देश्य से श्राद्धादि क्योंकर विहित होंगे ? ]। फलतः 'मृतो देवदत्तः', 'जातो देवदत्तः'—इत्यादि व्यवहार गौण नहीं, मुख्य हैं, क्योंकि शास्त्र-विहित कर्मों एवं उनके फलों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ ही सम्भव होता है, शरीर के साथ नहीं।

**सिद्धान्त**—'देवदत्तो जातः', 'देवदत्तो मृतः'। 'सस्यमुत्पन्नम्', 'सस्यं मृतम्'—इत्यादि व्यवहार चर ( जङ्गम ) और अचर ( स्थावर ) शरीरों के लिए ही किए जाते हैं, अतः उक्त व्यवहार शरीर में मुख्य और शरीरस्थ आत्मा में औपचारिक ( गौण ) हैं, क्योंकि उक्त व्यवहारों का अन्वय और व्यतिरेक शरीर के साथ ही घटता है। आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है, अतः जात-कर्म ( जन्म-प्रयुक्त वैश्वानरेष्टि आदि ) एवं मृत-कर्म (श्राद्धादि) का आत्मा के साथ मुख्य ( सीधा ) सम्बन्ध न बन कर भाक्त ( गौण ) ही स्थिर होता है। भक्ति या गौणता यही है कि शरीर के उत्पाद-विनाश शरीर-संयुक्त आत्मा में व्यवहृत हो गये। "एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्" ( याज्ञ. स्मृति. पृ. ६ ) इत्यादि स्मृति-वाक्यों में स्पष्ट कहा गया है कि जात-कर्मादि संस्करों के द्वारा जिन पापों का नाश होता है, वे पाप बीजाश्रयीभूत गर्भ से सम्बन्धित होने के कारण आत्मा के माने जाते हैं, आत्मा के जन्म से जनित नहीं होते। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शरीर के उत्पाद और विनाश ही आत्मा

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वप्रादुर्भावस्य । जीवस्य परस्मादात्मन उत्पत्तिर्विषयादीनामिवास्ति नास्ति वेत्येतदुत्तरेण सूत्रेण वक्ष्यति । देहाश्रयौ तावज्जीवस्य स्थूलावुत्पत्तिप्रलयौ न स्त इत्येतदनेन सूत्रेणावोचत् ॥ १६ ॥

---

## ( ११ आत्माधिकरणम् । सू० १७ )

### नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्चराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी । स किं व्योमादिवदुत्पद्यते ब्रह्मणः, आहोस्विद् ब्रह्मवदेव नोत्पद्यत इति श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विषयः । कासुचिच्छ्रुतिष्वग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते, कासुचित्त्वविकृतस्यैव परस्य ब्रह्मणः कार्यप्रवेशेन जीवभावो विज्ञायते, न चोत्पत्तिराम्नायत इति । तत्र प्राप्तम्-तावदुत्पद्यते जीव इति । कुतः ? प्रतिज्ञानुपरोधादेव । 'एकस्मिन्वि

भामती

भ्रान्तिमूलत्वमभ्युपेत्याधिकरणम् । उक्ता त्वध्यासभाष्येऽस्य भ्रान्तिमूलतेति । मा भूतामस्य शरीरावयव्ययाभ्यां स्थूलावुत्पत्तिविनाशौ आकाशादेरिव तु महासर्गादौ तावन्ते चोत्पत्तिविनाशौ जीवस्य भविष्यत इति शङ्कान्तरमपनेतुमिदमारभ्यते ॥ १६ ॥

---

विचारमूलसंशयस्य बीजमाह ❀ श्रुतिविप्रतिपत्तेः इति ❀ । तामेव दर्शयति ❀ कासुचिद्धि श्रुतिषु इति ❀ । पूर्वपक्षं पृच्छति ❀ तत्र प्राप्तम् इति ❀ । परमात्मनस्तावद्विशुद्धधर्मसंसर्गापहतान-

भामती-व्याख्या

में व्यवहृत होते हैं । 'जीवो जायते म्रियते च' यह व्यवहार भ्रान्तिमूलक नहीं—ऐसा मान कर इस अधिकरण की रचना की गई है, वस्तुतः वह भ्रान्तिमूलक है, यह अध्यास-भाष्य में कहा जा चुका है—"मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्यायं लोकव्यवहारः" ॥ १६ ॥

**संगति**—तन्त्वादि उपादान कारणों से पटादि कार्यों की उत्पत्ति के समान ही शुक्र-शोणितादिरूप पाँच भूतों से शरीर की उत्पत्ति स्थूल ( लोक-प्रसिद्ध सर्वानुभूत ) है । विनाश भी वैसा ही स्थूल है । वैसे स्थूल उत्पाद और विनाश आत्मा के क्यों नहीं होते ? इस शङ्का का निराकरण पूर्वाधिकरण में किया गया । आकाशादि के समान कल्प के आरम्भ में सूक्ष्म ( लोकाननुभूत ) उत्पाद और विनाश जीव के क्यों न मान लिए जायँ ? इस शङ्का को दूर करने के लिए इस अधिकरण का आरम्भ किया जाता है—"नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च" ।

**संशय**—विचार के मूलभूत संशय का कारण बताते हैं—"श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विषयः" । अर्थात् विरुद्ध श्रुतियों को देखकर संशय हो जाता है कि 'क्या जीव आकाशादि के समान उत्पन्न होता है ? अथवा ब्रह्म के समान नित्य है ?' श्रुतियों की विप्रतिपत्ति दिखाते हैं—"कासुचिच्छ्रुतिषु अग्निविस्फुलिङ्गादिनिदर्शनैर्जीवात्मनः परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिराम्नायते" । अर्थात् "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति" ( बृह. माध्य. २।१।२३ ) इत्यादि कतिपय श्रुतियों के द्वारा जीवात्मा की उत्पत्ति प्रतिपादित है । इसके विपरीत कतिपय श्रुतियाँ अविकृत ब्रह्म का ही स्वरूप जीव को बताती हैं, अतः उक्त संशय समुद्भूत हो जाता है ।

**पूर्वपक्ष**—"तत्र प्राप्तम्" इत्यादि भाष्य से कहा जाता है कि परमात्मा का लक्षण किया गया है—"य आत्मा विजरो विमृत्युः" ( छां० ८।७।१ ) किन्तु जीव उसके विरुद्ध


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिते सर्वमिदं विदितम्' इतीयं प्रतिज्ञा सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मप्रभवत्वे सति नोपरुध्येत, तत्त्वान्तरत्वे तु जीवस्य प्रतिज्ञेयमुपरुध्येत। न चाविकृतः परमात्मैव जीव इति शक्यते विज्ञातुं, लक्षणभेदात्। अपहतपाप्मत्वादिधर्मको हि परमात्मा, तद्विपरीतो हि जीवः। विभक्तत्वादाकाशादिवदस्य विकारत्वसिद्धिः। यावान्ह्याकाशादिः प्रविभक्तः स सर्वो विकारः। तस्य चाकाशादेरुत्पत्तिः समधिगता। जीवात्मापि पुण्यापुण्यकर्मा सुखदुःखयुक् प्रतिशरीरं प्रविभक्त इति तस्यापि प्रपञ्चोत्पत्त्यवसर उत्पत्तिर्भवितुमर्हति। अपि च "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इति प्राणादेर्भोग्यजातस्य सृष्टिं शिष्ट्वा 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति भोक्तॄणामात्मनां पृथक्सृष्टिं शास्ति। 'यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' (मुण्ड० २।१।१) इति च जीवात्मनामुत्पत्तिप्रलयावुच्येते। सरूपवचनात्, जीवात्मनो हि परमात्मना सरूपा भवन्ति, चैतन्ययोगात्। नच क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं वारयितुमर्हति, श्रुत्यन्तरगतस्यापि विरुद्धस्याधिकस्यार्थस्य सर्वत्रोपसंहर्तव्य

भामती

पहतपाप्मत्वादिलक्षणाज्जीवानामन्यत्वम्। ते चेन्न विकारास्ततस्तत्त्वान्तरत्वे बहुतराद्वैतश्रुतिविरोधः। ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधश्च। तस्माच्छ्रुतिभिरनुज्ञायते विकारत्वं प्रमाणान्तरं चात्रोक्तं ❀ विभक्तत्वादाकाशादिवद् इति ❀। यथा 'अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' इति च श्रुतिः साक्षादेव ब्रह्मविकारत्वं जीवानां दर्शयति। यथा सुदीप्तात् पावकादिति च ब्रह्मणो जीवानामुत्पत्तिञ्च तत्राप्ययञ्च साक्षाद्दर्शयति। नन्वक्षराद्भावानामुत्पत्तिप्रलयावगम्येते न जीवानामित्यत आह ❀जीवात्मनाम् इति❀। स्यादेतत्—सृष्टिश्रुतिष्वाकाशाद्युत्पत्तिरिव कस्माज्जीवोत्पत्तिर्नाम्नायते? तस्मादाम्नानयोग्यस्यानाम्नानात् तस्योत्पत्त्यभावं प्रतीम इत्यत आह ❀न च क्वचिदश्रवणम् इति❀। एवं हि कस्याञ्चिच्छाखायामाम्नातस्य

भामती—व्याख्या

पाप्मादि धर्मों से युक्त है, अतः जीव ब्रह्म से भिन्न सिद्ध होते हैं—"जीवा ब्रह्मणो भिन्ना, विरुद्धलक्षणयोगित्वात्'। जीवों को ब्रह्म का विकार न मानकर तत्त्वान्तर मानने पर अद्वैत-श्रुति का विरोध प्रसक्त होता है। केवल इतना ही नहीं एक ब्रह्म के ज्ञान से जीवादि समस्त प्रपञ्च के ज्ञान की जो प्रतिज्ञा की गई है—आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्" (बृह. उ. ४।५।६)। वह भी बाधित हो जाती है। फलतः श्रुतियों के द्वारा जीवों में ब्रह्म-विकारत्व अनुज्ञात होता है। इसी भाव को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत किया है—"विभक्तत्वादाकाशादिवदस्य विकारत्वसिद्धिः"। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति" (बृह. उ. २।१।२०) यह श्रुति तो साक्षात् जीव में ब्रह्म-विकारता प्रतिपादित करती है। उसी प्रकार "यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (मुण्ड. २।१।१) यह श्रुति ब्रह्म से जीवों की उत्पत्ति और ब्रह्म में ही जीवों का विलय भी कहती है। श्रुति ने 'भाव' शब्द से जीवों का ग्रहण किया है, अतः भाष्यकार कहते हैं—"जीवानाम्"। यदि जीवों की उत्पत्ति श्रुति-सम्मत है, तब आकाश की उत्पत्ति के समान किसी श्रुति में साक्षात् जीवोत्पत्ति का प्रतिपादन क्यों नहीं? प्रतिपादनीय वस्तु का प्रतिपादन न देख कर उसका अभाव स्थिर क्यों न किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"न च क्वचिदश्रवणम्"। अर्थात् उदाहृत बृहदारण्यक और मुण्डक के वाक्यों में जीव की उत्पत्ति स्पष्ट प्रतिपादित है। यदि केवल तैत्तिरीय उपनिषत् में उसका प्रतिपादन नहीं, तब क्या उसे अश्रौत माना जा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

त्वात्। प्रवेशश्रुतिरप्येवं सति विकारभावापत्त्यैव व्याख्यातव्या, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत; इत्यादिवत्। तस्मादुत्पद्यते जीव इति॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः-नात्मा जीव उत्पद्यत इति। कस्मात्? अश्रुतेः। न ह्यस्योत्पत्तिप्रकरणे श्रवणमस्ति भूयःसु प्रदेशेषु। ननु क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं न वारयतीत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उत्पत्तिरेव त्वस्य न संभवतीति वदामः। कस्मात्? नित्यत्वाच्च ताभ्यः। चशब्दादजत्वादिभ्यश्च। नित्यत्वं ह्यस्य श्रुतिभ्योऽवगम्यते तथाऽजत्वमविकारित्वमविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवात्मनावस्थानं ब्रह्मात्मना चेति। न चैवंरूपस्योत्पत्तिरुपपद्यते। ताः काः श्रुतयः? 'न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठ० २।१८), 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (कठ० २)१८), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६।१), 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० ६।३।२), 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ० १।४।७', 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९), इत्येवमाद्या नित्यत्ववादिन्यः सत्यो जीवस्योत्पत्तिं प्रतिबध्नन्ति। ननु प्रविभक्तत्वाद्विकारो विकारत्वाच्चोत्पद्यत इत्युक्तम्, अत्रोच्यते--नास्य प्रविभागः स्वतोऽस्ति,

भामती

कतिपयाङ्गसहितस्य कर्मणः शाखान्तरीयाङ्गोपसंहारो न भवेत्। तस्माद् बहुतरश्रुतिविरोधाबनुप्रवेशश्रुतिर्विकारभावापत्त्या व्याख्येया। तस्मादाकाशबज्जीवात्मान उत्पद्यन्त इति प्राप्ते।

उच्यते—भवेदेवं यदि जीवा ब्रह्मणो भिद्येरन् न त्वेतदस्ति तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदनेन जीवेनेत्याद्यविभागश्रुतेरौपाधिकत्वाच्च भेदस्य घटकरकाद्याकाशवद्विरुद्धधर्मसंसर्गस्योपपत्तेः। उपाधीनां

भामती—व्याख्या

सकता है? कभी नहीं, अन्यथा किसी शाखा में पठित कर्म के अधूरे अङ्गों की पूर्ति जो शाखान्तर के वाक्यों से की जाती है, वह न हो सकेगी। [ अन्य शाखा में विहित कर्म के साथ अन्यशाखीय अङ्गों का सम्बन्ध होता है? अथवा नहीं? ऐसा संशय उठाकर शाखान्तरोपसंहाराधिकरण में निर्णय दिया गया है—"ऐककर्म्यं तत्संयोगाद् विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात्" (जै. सू. २।४।३२) अर्थात् जैसे "अग्निहोत्र" भिन्न-भिन्न शाखाओं में विहित होने पर भी भिन्न नहीं होता, सर्वत्र एक ही माना जाता है, अत एव अन्यान्य शाखाओं में विहित सभी अङ्गों का समन्वय अग्निहोत्र में हो जाता है। वैसे ही सभी अङ्गो का उपसंहार पर्यवसित हो जाता है ]। ब्रह्म से जीव का भेद प्रतिपादन करनेवाली अनेक श्रुतियों के अनुरोध पर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै. उ. २।६।१) इस प्रकार की श्रुति का अर्थ यही करना होगा कि "तत्सृष्ट्वा तन्मय एवानुप्राविशत्"। विकारार्थक मयट् प्रत्यय का लोप मान लिया जाता है। इसी प्रकार "अनेन जीवेनानुप्रविश्य" (छां. ६।३।२) इस श्रुति का अर्थ है—"अनेन विकारभावापन्नेन जीवेन"। निष्कर्ष यही है कि आकाशादि के समान जीव की भी उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्त—यह कथित व्यवस्था तभी मानी जा सकती थी, जब कि जीव ब्रह्म से भिन्न सिद्ध हो जाते, किन्तु ऐसा कभी सम्भव नहीं, क्योंकि "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्", "अनेन जीवेन"—इत्यादि भेदार्थक श्रुतियों का वैसे ही सामञ्जस्य हो जाता है, जैसे एक आकाश में घटाकाश, करकाशादि औपाधिक भेदों का उपपादन किया जाता है। जैसे आकाश की घटादि अनेक उपाधियाँ प्रसिद्ध हैं, वैसे ही आत्मा की मन आदि अनेक उपाधियाँ श्रुतियों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' ( श्वे० ६।११ ) इति श्रुतेः। बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानमाकाशस्येव घटादिसंबंधनिमित्तम्। तथा च शास्त्रम्—'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' ( बृ० ४।४।५ ) इत्येवमादि ब्रह्मण एवाविकृतस्य सतोऽप्येकस्यानेकबुद्ध्यादिमयत्वं दर्शयति। तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्फटिकस्येव जपाकुसुमादिसंनिधानात्। तथा च दर्शयति—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (बृ० ४।५।१३) इति तथोपाधिप्रलय एवायं नात्मविलय इत्येतदपि 'अत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपदं न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञास्ति' इति प्रश्नपूर्वकं प्रतिपादयति—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० ४।५।१४ ) इति। प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्। लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' (बृ० ४।३।१५) इति च प्रकृतस्यैव विज्ञानमयस्यात्मनः सर्वसंसारधर्मप्रत्याख्यानेन परमात्मभावप्रतिपादनात्। तस्मान्नैवात्मोत्पद्यते प्रविलीयते चेति ॥

---

## ( १२ ज्ञाधिकरणम्। सू० १८ )

## ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

स किं कणभुजानामिवागन्तुकचैतन्यः, स्वतोऽचेतनः, आहोस्वित् सांख्यानामिव

भामती

च मनोमय इत्यादीनां श्रुतेर्भूयसीनां च नित्यत्वाजत्वादिगोचराणां श्रुतीनां दर्शनादुपाधिप्रविलयेनोपहितस्येति च प्रश्नोत्तराभ्यामनेकधोपपादनात्, श्रुत्या ॐ अविभागश्च चैको देवः सर्वभूतेषु गूढः इति ॐ। श्रुत्यैवोक्तत्वान्नित्या जीवात्मानो न विकारा न चाद्वैतप्रतिज्ञाविरोध इति सिद्धम्। मैत्रेयीब्राह्मणं चाधस्ताद्व्याख्यातमिति नेह व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

---

भामती—व्याख्या

में चर्चित हैं—"स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः" ( बृह. उ. ४।४।५ )। ब्रह्म के वास्तविक नित्यत्व, अजत्वादि स्वरूपों की प्रतिपादिका श्रुतियाँ बहुत हैं—"अजो नित्यः शाश्वतः" ( कठो. २।१८ )। जैसे घटादि उपाधियों के विलय से घटाकाश का विलय कहा जाता है, वैसे ही याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की प्रश्नोत्तरावलि के द्वारा उपाधियों के विलय से उपहित ( विशिष्ट ) आत्मा का विलय ही स्पष्ट किया गया है, शुद्ध आत्मा का नहीं—"अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपदम्" ? "न वा अरे अहं मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अयमात्मानुच्छित्तिधर्मा" ( बृह. उ. ४।५।१४ )। यह जो कहा गया है कि 'ब्रह्म से विभक्त होने के कारण जीव विकाररूप है', उसके विरुद्ध अविभाग का प्रतिपादन श्रुति ने ही किया है—"एको देव सर्वभूतेषु गूढः" ( श्वेता. ६।११ )। फलतः जीवात्मा नित्य सिद्ध होते हैं, विकार नहीं। एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा भी अवरुद्ध नहीं होती, क्योंकि सभी जीव ब्रह्मरूप हैं, एक ब्रह्म के ज्ञान से सबका ज्ञान स्वतः सिद्ध है। मैत्रेयी ब्राह्मण-वाक्य की व्याख्या पहले ( विगत पृ. ५०७ पर ) की जा चुकी है, अतः यहाँ पिष्ट-पेषण आवश्यक नहीं ॥ १७ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? आगन्तुकमात्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्निघटसंयोगजरोहितादिगुणवदिति प्राप्तम्। नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यात्। ते पृष्टाः सन्तो न किंचिद्वेद्यमचैतयमहीति जल्पन्ति, स्वस्थाश्च चेतयमाना दृश्यन्ते। अतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य आत्मेति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्माऽत एव, यस्मादेव नोत्पद्यते परमेव ब्रह्माविकृतमुपाधिसंपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते। परस्य हि ब्रह्मणश्चैतन्यस्वरूप-

भामती

कर्मणा हि ज्ञातेत्यर्थो व्याप्तस्तदभावे न भवति धूम इव धूमध्वजाभावे, सुषुप्त्याद्यवस्थासु च ज्ञेयस्याभावात्तद्व्याप्यस्य ज्ञानस्याभावः। तथा च नात्मस्वभावश्चैतन्यं तदनुवृत्तावपि चैतन्यस्य व्यावृत्तेः। तस्मादिन्द्रियादिभावाभावानुविधानाद् ज्ञानभावाभावयोरिन्द्रियादिसन्निकर्षजन्यमागन्तुकमस्य चैतन्यं धर्मो न स्वाभाविकः। अत एवेन्द्रियादीनामर्थवत्त्वमितरथा वैयर्थ्यमिन्द्रियाणां भवेत्। नित्यचैतन्यश्रुतयश्च शक्त्यभिप्रायेण व्याख्येयाः। अस्ति हि ज्ञानोत्पादनशक्तिर्निजा जीवानां, न तु व्योम्न इवेन्द्रियादिसन्निकर्षेऽप्येषां ज्ञानं न भवतीति। तस्माज्जडा एव जीवा इति प्राप्ते, अभिधीयते—यदागन्तुकज्ञानं जड़स्वभावं तत्कदाचित् परोक्षं कदाचित् सन्दिग्धं कदाचिद्विपर्यस्तं, यथा घटादि, न चैवमात्मा। तथा ह्यनुमिमानोऽप्यपरोक्षः स्मरन्नप्यानुभविकः सन्दिहानोऽप्यसन्दिग्धो विपर्यस्यन्नप्यविपरीतः सर्वस्यात्मा, तथाच तत्स्वभावः। न च तत्स्वभावस्य चैतन्यस्याभावः, तस्य नित्यत्वात्। तस्माद् वृत्तयः क्रियारूपाः

भामती—व्याख्या

**संशय**—जीवात्मा क्या वैशेषिकों के समान स्वयं अचेतन होता हुआ जन्य चैतन्य (ज्ञान) का आश्रय है? अथवा सांख्यों के समान नित्य चैतन्यस्वरूप है?

**पूर्वपक्ष**—'ज्ञा' धातु की अर्थभूत ज्ञानक्रिया सकर्मक है, कर्मकारक से व्याप्त है। व्यापकीभूत कर्मकारक का अभाव होने पर ज्ञान क्रिया वैसे ही सम्भव नहीं, जैसे धूमध्वज (अग्नि) के अभाव में धूम सम्भव नहीं। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में ज्ञेयरूप कर्मकारक का अभाव होने के कारण व्याप्यभूत ज्ञान का अभाव न्याय-सिद्ध है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में आत्मा के रहने पर भी ज्ञान नहीं, अतः आत्मा को ज्ञानस्वरूप (चैतन्यस्वरूप) नहीं माना जा सकता। इन्द्रिय-सन्निकर्ष के होने, न होने पर ज्ञान का होना, न होना निर्भर है, अतः यह सिद्ध होता है कि चैतन्यतत्त्व जीवात्मा का एक ऐसा धर्म है, जो इन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, स्वाभाविक नहीं। ज्ञानात्मक चैतन्य के उत्पादन में ही इन्द्रियों की सार्थकता है, अन्यथा इन्द्रिय व्यर्थ हो जाते हैं। चतन्य-नित्यता की प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य ज्ञान-जनक शक्ति के नित्यत्व-प्रतिपादन में माना जा सकता है। जीवों की ज्ञान-जनन-शक्ति को नित्य मानना आवश्यक है, अन्यथा जैसे आकाश के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष रहने पर भी आकाश में कोई ज्ञान गुण उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष के रहने पर भी जीवात्मा में ज्ञान उत्पन्न न होता। इस प्रकार जीवात्मा स्वतः जडरूप ही सिद्ध होते हैं।

**सिद्धान्त**—"ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मा"। आशय यह है कि जो जडस्वरूप आगन्तुक (जन्य) ज्ञान होता है, वह कदाचित् परोक्ष, कदाचित् सन्दिग्ध और कदाचित् विपर्यस्त होता है, जैसे—घटादि पदार्थ, किन्तु आत्मा वैसा कदापि नहीं होता, क्योंकि वह किसी वस्तु का अनुमान करते समय भी अपरोक्ष है, किसी पदार्थ का स्मरण करता हुआ भी स्वयं आनुभविक है, संशय की अवस्था में भी असन्दिग्ध है और विपरीत ज्ञान के समय भी स्वयं अविपरीत है। फलतः आत्मा चैतन्यस्वरूप है, आत्मस्वरूप चैतन्य का अभाव कभी नहीं होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वमाम्नातम्— विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २(१।१), 'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परं ब्रह्म जीवस्तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते। विज्ञानमयप्रक्रियायां च श्रुतयो भवन्ति—'असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति' (बृ० ४।३।११) 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' (बृ० ४।३।९) इति, 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ० ४।३।३०) इत्येवंरूपाः। 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा० ८।१२।४) इति च सर्वैः करणद्वारैरिदं वेदेदं वेदेति विज्ञानेनानुसंधानात्तद्रूपत्वसिद्धिः। नित्यस्वरूपचैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत्—न, गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्वात्। तथा हि दर्शयति—'गंधाय घ्राणम्' इत्यादि। यत्तु सुप्तादयो न चेतयन्त इति तस्य श्रुत्यैव परिहारोऽभिहितः। सुषुप्तं प्रकृत्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति—नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—विषयाभावादियमचेतयमानता, न चैतन्याभावादिति। यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्तद्वत्। वैशेषिकादितर्कश्च श्रुतिविरोध आभासीभवति। तस्मान्नित्यचैतन्यस्वरूप एवात्मेति निश्चिनुमः ॥ १८ ॥

---

## ( १३ उत्क्रान्तिगत्यधिकरणम् । सू० १९-३२ )

### उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

इदानीं तु किंपरिमाणो जीव इति चिन्त्यते। किमणुपरिमाण उत मध्यमपरिमाण आहोस्विन्महापरिमाण इति। ननु च नात्मोत्पद्यते नित्यचैतन्यश्चायमित्युक्तम्।

भामती

सकर्मिकाः कर्माभावे सुषुप्त्यादौ निवर्त्तन्ते, न चैतन्यमात्मस्वभाव इति सिद्धम्। तथाच नित्यचैतन्यवादिन्यः श्रुतयो न कथञ्चित् क्लेशेन व्याख्यातव्या भवन्ति। गन्धादिविषयवृत्त्युपजने चेन्द्रियाणामर्थवत्तेति सर्वमवदातम् ॥ १८ ॥

यद्यप्यविकृतस्यैव परमात्मनो जीवभावस्तथा च नाणुपरिमाणत्वं, तथाप्युत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रुतेश्च साक्षादणुपरिमाणश्रवणस्य चाविरोधार्थमिदमधिकरणमित्याक्षेपसमाधानाभ्यामाह ॐननु च इतिॐ।

भामती—व्याख्या

क्योंकि वह नित्य है। ऊपर जिस सकर्मक ज्ञान की चर्चा आई है, वह वृत्तिरूप ज्ञान है, सुषुप्ति आदि में कर्मकारक का अभाव होने के कारण अन्तःकरण की वृत्तियाँ नहीं होती। आत्मा के चैतन्यस्वरूप सिद्ध हो जाने पर नित्यचैतन्यरूप आत्मा की प्रतिपादक श्रुतियों का अन्यथा नयन आवश्यक नहीं। गन्धादिविषयक वृत्तियों के उत्पादन में इन्द्रियों की सार्थकता उपपन्न हो जाती है ॥ १८ ॥

**संगति** - यद्यपि अविकृत परात्पर परमात्मा ही जीव माना जाता है, अतः उसमें अणुपरिमाणता कदापि सम्भव नहीं, तथापि "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति" ( कौषी. ३।३ ) इत्यादि श्रुतियों में उत्क्रान्ति गति और आगति का प्रतिपादन एवं "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" ( मुं. ३।१।९ ) इत्यादि श्रुतियों में साक्षात् अणुत्व का उल्लेख है, अतः इन श्रुतियों से अविरोध-स्थापन करने के लिए इस अधिकरण की रचना की गई है, यही आक्षेप और समाधान के माध्यम से भाष्यकार कह रहे हैं "ननु च"।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतश्च पर एवात्मा जीव इत्यापतति, परस्य चात्मनोऽनन्तत्वमाम्नातं, तत्र कुतो जीवस्य परिमाणचिन्तावतार इति ? उच्यते सत्यमेतत् । उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति । स्वशब्देन चास्य क्वचिदणुपरिमाणत्वमाम्नायते । तस्य सर्वस्यानाकुलत्वोपपादनायायमारम्भः । तत्र प्राप्तं तावदुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नोऽणुपरिमाणो जीव इति । उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीत० ३।३) इति । गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषीत० १।२) इति । आगतिरपि 'तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति । आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति । नहि विभोरचलनमवकल्पत इति । सति परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते ॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

उत्क्रान्तिः कदाचिदचलतोऽपि ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवद्देहस्वाम्यनिवृत्त्या कर्मक्षयेणावकल्पेत । उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः सम्भवतः । स्वात्मना हि तयोः सम्बंधो भवति, गमेः कर्तृस्थक्रियात्वात् । अमध्यमपरिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव सम्भवतः । सत्योश्च गत्यागत्योरुत्क्रान्तिरप्यपसृप्तिरेव देहादिति प्रतीयते । न ह्यन-

भामती

पूर्वपक्षं गृह्णाति ❀ तत्र प्राप्तं तावद् इति ❀ । विभागसंयोगोत्पादौ हि तूत्क्रान्त्यादीनां फलं, न च सर्वगतस्य तौ स्तः । सर्वत्र नित्यप्राप्तस्य वा सर्वात्मकस्य वा तदसम्भवादिति ॥ १९ ॥

उत्क्रमणं हि मरणे निरूढम् । तच्चाचलतोऽपि तत्र सतो देहस्वाम्यनिवृत्त्योपपद्यते, न तु गत्यागती । तयोश्चलने निरूढयोः कर्तृस्थभावयोर्व्यापित्वसम्भवादिति मध्यमं परिमाणं महत्त्वं शरीरस्यैव, तच्चार्हतपरीक्षायां प्रत्युक्तम् । गत्यागती च परममहति न सम्भवतोऽतः पारिशेष्यादणुत्वसिद्धिः । गत्यागतिभ्याञ्च प्रादेशिकत्वसिद्धौ मरणमपि देहादपसर्पणमेव जीवस्य न तु तत्र सतः स्वाम्यनिवृत्तिमात्रमितिसिद्धमित्याह ❀ सत्योश्च गत्यागत्योः इति ❀ । इतश्च देहादपसर्पणमेव जीवस्य मरणमित्याह ❀ देह-

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—"तत्र प्राप्तं तावत्" । अर्थात् गति ( गमन ) का फल है—'विभाग की उत्पत्ति'—क्योंकि जो व्यक्ति जिस देश से गमन करता है, उस देश से उस व्यक्ति का विभाग हो जाता है और आगति ( आगमन ) का फल संयोग का उत्पाद है, क्योंकि जो व्यक्ति जिस देश में गमन करता है, उस देश के साथ उस व्यक्ति का संयोग हो जाता है। सर्वगत ( व्यापक ) पदार्थ का विभाग और संयोग सम्भव नहीं होता, क्योंकि जो सर्वत्र नित्य प्राप्त है अथवा सर्वात्मक है, उसके किसी देश से संयोग और विभाग उत्पन्न क्योंकर होंगे ? ॥१९॥

'उत्क्रमण' पद मरणरूप अर्थ में रूढ है, मरण ( शरीरगत-स्वामित्व का त्याग ) तो निश्चल या व्यापक पदार्थ का भी उसी स्थान में रह कर सम्पन्न हो सकता है, किन्तु व्यापकीभूत पदार्थ का न गमन बन सकता है और न आगन, क्योंकि गमन और आगमन के फल होते हैं—कर्तृगत विभाग और संयोग। वे व्यापी आत्मा में नहीं हो सकते, अतः आत्मा का शरीर के समान मध्यम परिमाण माना जाय अथवा अणु परिमाण ? मध्यम परिमाण का निराकरण जैन-मत की परीक्षा में किया जा चुका है, परिशेषतः जीव का अणु परिमाण सिद्ध होता है। गति और आगति के समान मरण पदार्थ भी देह से प्राण-वियोगरूप होने के कारण आत्मा में प्रादेशिकत्व ( देशतः परिच्छिन्नत्व ) सिद्ध करता है, यही भाष्यकार कह रहे हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पसृप्तस्य देहाद् गत्यागती स्याताम्। देहप्रदेशानां चोत्क्रान्तावपादानत्ववचनात्। 'चक्षुषो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' (बृ० ४।४।१), 'शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्' (बृ० ४।३।११) इति चान्तरेऽपि शरीरे शरीरस्य गत्यागती भवतः। तस्माद्-द्रव्यस्याणुत्वसिद्धिः ॥ २० ॥

## नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४।४।२२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत्–नैष दोषः, कस्मात्? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः, परस्यैवात्मनः प्राधान्येन वेदान्तेषु वेदितव्यत्वत्वेन प्रकृतत्वात्, विरजः पर आकाशादित्येवंविधाच्च परस्यैवात्मनस्तत्र तत्र विशेषाधिकारात्। ननु 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४।४।२२) इति शारीर एव महत्त्वसंबन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते। शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशो वामदेववद् द्रष्टव्यः। तस्मात्प्राज्ञविषयत्वात्परिमाणान्तरश्रवणस्य न जीवस्याणुत्वं विरुध्यते ॥ २१ ॥

भामती

प्रदेशानाम् इति ॐ। तस्माद् गत्यागत्यपेक्षोत्क्रान्तिरपि सोपादानाणुत्वसाधनमित्यर्थः। न केवलमपादानश्रुतेस्तच्छरीरप्रदेशगन्तव्यत्वश्रुतेरप्येवमेवेत्याह ॐ स एतास्तेजोमात्रा इति ॐ ॥ २० ॥

यत उत्क्रान्त्यादिश्रुतिभिर्जीवानामणुत्वं प्रसाधितं ततो व्यापकात्परमात्मनस्तेषां तद्विकारतया भेद। तथा च महत्त्वानन्त्यादिश्रुतयः परमात्मविषया न जीवविषया इत्यविरोध इत्यर्थः। यदि जीवा अणवस्ततो योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति कथं शारीरो महत्त्वसम्बन्धित्वेन प्रतिनिर्दिश्यते इति चोदयति ॐ ननु इति ॐ। परिहरति ॐ शास्त्रदृष्ट्या ॐ पारमार्थिकदृष्ट्या निर्देशो वामदेववत्। यथा हि गर्भस्थ एव वामदेवो जीवः परमार्थदृष्ट्यात्मनो ब्रह्मत्वं प्रतिपेदे। एवं विकाराणां प्रकृतेर्वास्तवादभेदात्परिमाणत्व व्यपदेश इत्यर्थः ॥ २१ ॥

भामती–व्याख्या

"उत्क्रान्तिरप्यपसृतिरेव देहादिति"। उत्क्रान्ति के लिए देह का त्याग करना आवश्यक है—"देहप्रदेशानाम्"। फलतः गमनागमन-सापेक्ष उत्क्रान्ति भी आत्मा के अणुत्व की साधक है। केवल "शरीरदेशेभ्यः" (बृह. ४।४।२) इस प्रकार अपादान-श्रुति के आधार पर उत्क्रान्ति में आत्म-प्रादेशिकत्व की साधनता नहीं, अपितु गन्तव्य शरीरावय के निर्देश से भी वह सिद्ध होती है—"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति" (बृह. उ. ४।४।१) ॥२०॥

उत्क्रान्त्यादि-श्रुतियों के आधार पर जीवों का अणु परिमाण सिद्ध किया गया। व्यापकीभूत ब्रह्म के विकार होने के कारण जीवों का ब्रह्म से भेद सिद्ध होता है, अतः श्रुतियों में प्रतिपादित महत्त्व और अनन्तत्वादि का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ ही निश्चित होता है, जीव के साथ नहीं, अतः किसी प्रकार का श्रुति-विरोध उपस्थित नहीं होता। यदि जीव अणु परिमाण के हैं, तब "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" (बृह. उ. ४।४।२२) इस श्रुति में प्राणादि उपाधिवाले जीव का महत्त्वेन निर्देश क्यों किया गया? ऐसी शङ्का की जा रही है—"ननु"। उक्त शङ्का का परिहार किया जा रहा है—"शास्त्रदृष्ट्या त्वेष निर्देशः"। अर्थात् जैसे वामदेव ऋषि ने गर्भ में ही पारमार्थिक दृष्टि को अपना कर अपने को ब्रह्मरूप बताया है, वैसे ही जीवरूप विकार अपनी प्रकृतिभूत ब्रह्म से परमार्थतः भिन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

इतश्चाणुरात्मा यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश' ( मुण्ड० ३।१।९ ) इति । प्राणसंबन्धाच्च जीव एवायमणुरभिहित इति मन्यते । तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति—'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५।८) इति । आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' ( श्वे० ५।८ ) इति चोन्मानान्तरम् ॥ २२ ॥

नन्वणुत्वे सत्येकदेशस्थस्य सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते, दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योपलब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धिरिति, अत उत्तरं पठति—

## अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

यथा हि हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशसंबद्धोऽपि सन्सकलदेहव्यापिनमाह्लादं करोति, एवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकलदेहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति । त्वक्संबन्धनाच्चास्य सकलशरीरगता वेदना न विरुध्यते । त्वगात्मनोर्हि संबन्धः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते, त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति ॥ २३ ॥

भामती

स्वशब्दं विभजते ❀ साक्षादेव इति ❀ । उन्मानं विभजते ❀ तथोन्मानमपि इति ❀ । उद्धृत्य मानमुन्मानं, बालाग्रादुद्धृतः शततमो भागस्तस्मादपि शततमादुद्धृतः शततमो भाग इति तदिदमुन्मानम् । आराग्रादुद्धृतं मानमाराग्रमानमिति ॥ २२ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं चोदयति ❀ नन्वणुत्वे सति इति ❀ । अणुरात्मा न शरीरव्यापीति न सर्वाङ्गीणशैत्योपलब्धिः स्यादित्यर्थः । त्वक्संयुक्तो हि जीवस्त्वक् च सकलशरीरव्यापिनीति त्वग्व्याप्यात्मसम्बन्धः सकलशैत्योपलब्धौ समर्थ इत्यर्थः ॥ २३ ॥

भामती—व्याख्या

नहीं, अतः ब्रह्म के महत्त्व परिमाण का व्यपदेश ( व्यवहार ) जीव में कर दिया गया है ॥२१॥

"स्वशब्दोन्मानाभ्याम्"—इस सूत्र के 'स्वशब्द' की व्याख्या की जा रही है—"साक्षादेव" । अर्थात् अणुत्व का प्रतिपादन परम्परया न होकर स्व-वाचक 'अणु' शब्द के द्वारा किया गया है । 'उन्मान' पद की व्याख्या है—"तथोन्मानमपि" । यहाँ 'उत्' शब्द का अर्थ उद्धरण या निकालना है, जैसे कूप से जल का उद्धरण ( निष्काशन ) किया जाता है अधिक परिमाण में से उद्धृत परिमाण स्वल्प होता है, जैसे एक बाल ( केश ) के सौ भाग करके उनमें से एक भाग उद्धृत किया गया, उसके भी सौ भाग किए गए, उनमें से एक भाग उद्धृत किया, ऐसे उद्धृत अल्पाल्पीकृत मान या अत्यन्त स्वल्प मान को उन्मान कहा गया है । आरा की नोक का शतांश मान भी उन्मान को इङ्गित करता है ॥ २२ ॥

सूत्रान्तर का अवतारण करने के लिए शङ्का की जाती है—'ननु अणुत्वे सति" । अर्थात् जीवात्मा यदि अणु है, शरीर के किसी कोने में ही रहेगा, शरीर-व्यापी नहीं, तब पूरे शरीर में जो शैत्यादि की उपलब्धि होती है, वह क्योंकर होगी ? इस शङ्का का परिहार है—"अविरोधश्चन्दनवत्" । अर्थात् जैसे चन्दन-तेल की एक नन्हीं-सी बूंद शरीर के किसी एक कोने में लगकर पूरे शरीर को गमका देती है, वैसे ही अणु आत्मा पूरे शरीर का साक्षी है । रहस्य यह है कि त्वचा से जीव संयुक्त है और त्वचा पूरे शरीर में व्याप्त है, अतः त्वक् और आत्मा का सम्बन्ध त्वग्व्यापी ( सकल त्वचा में ) होने के कारण त्वग्व्यापी शैत्य का ग्राहक आत्मा हो जाता है ॥ २३ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ॥ २४ ॥

अत्राह - यदुक्तमविरोधश्चन्दनवदिति, तदयुक्तं; दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरतुल्यत्वात्। सिद्धे ह्यात्मनो देहैकदेशस्थत्वे चन्दनदृष्टान्तो भवति, प्रत्यक्षं तु चन्दनस्यावस्थितिवैशेष्यमेकदेशस्थत्वं सकलदेहाह्लादनं च। आत्मनः पुनः सकलदेहोपलब्धिमात्रं प्रत्यक्षं नैकदेशवर्तित्वम्। अनुमेयं तु तदिति यदप्युच्येत। न चात्रानुमानं संभवति। किमात्मनः सकलशरीरगता वेदना त्वगिन्द्रियस्येव सकलदेहव्यापिनः सतः ? किं वा विभोर्नभस इव, आहोस्विच्चन्दनबिन्दोरिवाणोरेकदेशस्थस्येति संशयानतिवृत्तेरिति ?

अत्रोच्यते—नायं दोषः, कस्मात् ? अभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थितिवैशेष्यम्। कथमिति ? उच्यते—हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु। 'हृदि ह्येष आत्मा' ( प्रश्न० ३।६ ), 'स वा एष आत्मा हृदि' ( छा० ८।३।३ ), 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' ( बृ० ४।३।७ ) इत्याद्युपदेशेभ्यः। तस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरवैषम्याद्युक्तमेवैतदविरोधश्चन्दनवदिति ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

वैतन्यगुणव्याप्तेर्वाऽणोरपि सतो जीवस्य सकलदेहव्यापि कार्यं न विरुध्यते।

भामती

चन्दनबिन्दोः प्रत्यक्षतोऽल्पीयस्त्वं बुद्ध्वा युक्ता कल्पना भवति, यस्य तु संदिग्धमणुत्वं सर्वाङ्गीणं च कार्यमुपलभ्यते तस्य व्यापित्वमौत्सर्गिकमपहाय नेयं कल्पनावकाशं लभते इति शङ्कार्थः। न च हरिचन्दनबिन्दुदृष्टान्तेनाणुत्वानुमानं जीवस्य, प्रतिदृष्टान्तसम्भवेनानैकान्तिकत्वादित्याह ॐन चात्रानुमानम् इति ॐ। शङ्कामिमामपाकरोति ॐ अत्रोच्यते इति ॐ। यद्यपि पूर्वोक्ताभिः श्रुतिभिरणुत्वं सिद्धमात्मनस्तथापि वैभवाच्छ्रुत्यन्तरमुपन्यस्तम् ॥ २४ ॥

ये तु सावयवत्वाच्चन्दनबिन्दोरणुसञ्चारेण देहव्याप्तिरुपपद्यते न त्वात्मनोऽनवयवस्याणुसञ्चारः

भामती—व्याख्या

**शङ्का**—अणु आत्मा की शरीर-व्यापिनी उपलब्धि में जो चन्दन-विन्दु का दृष्टान्त दिया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि चन्दन-बिन्दु का अल्पीयस्त्व ( स्वल्प परिमाण ) प्रत्यक्ष है, अतः उसमें शरीर-व्यापी कार्य-क्षमता की कल्पना असंगत नहीं, किन्तु जिस ( आत्मा ) की अणुता सन्दिग्ध है और शरीरव्यापी कार्य-कारिता उपलब्ध हो रही है, उसकी नैसर्गिक व्यापकता को तिलाञ्जलि देकर इस प्रकार की अप्रत्याशित कल्पना कहाँ तक तर्क-संगत है ? चन्दन-बिन्दु के दृष्टान्त से आत्मा में यदि अणुत्व का अनुमान किया जा सकता है, तब त्वचा एवं आकाशादि प्रतिदृष्टान्तों के द्वारा आत्मा में व्यापकत्वानुमान का मार्गविरोध कौन करेगा ? भाष्यकार यही कह रहे हैं—"न चात्रानुमानं सम्भवति"।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निराकरण किया जाता है—"अत्रोच्यते"। अर्थात् जैसे चन्दन-बिन्दु में अल्पीयस्त्व प्रत्यक्ष-सिद्ध है, वैसे ही "हृदि ह्येष आत्मा" ( प्रश्न. ३।६ ) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में अणुत्व निश्चित है। यद्यपि पूर्वोक्त "एषोऽणुरात्मा" (मुं. ३।१।९) इत्यादि श्रुतियों से ही अणुत्व सिद्ध है, तथापि इस पक्ष में श्रुतियों का वैभव ( भूयस्त्व या बाहुल्य ) दिखाने के लिए "हृदि ह्येष आत्मा" ( प्रश्न. ३।६ ) इत्यादि अन्य श्रुतियों का उपन्यास किया गया है ॥ २४ ॥

जो लोग ऐसा मानते हैं कि चन्दन-बिन्दु एक सावयव पदार्थ है, उसके अणु पूरे शरीर में व्याप्त होकर सर्वत्र अपना सौरभ और शैत्य प्रदान करते हैं, किन्तु आत्मा निरवयव है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशवर्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति, तद्वत् । स्यात्कदाचिच्चन्दनस्य सावयवत्वात्सूक्ष्मावयवविसर्पणेनापि सकलदेह आह्लादयितृत्वं न त्वणोर्जीवस्यावयवाः सन्ति यैरयं सकलदेहं विप्रसर्पेदित्याशङ्क्य गुणाद्वा लोकवदित्युक्तम् ॥ २५ ॥

कथं पुनर्गुणो गुणिव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तेत ? न हि पटस्य शुक्लो गुणः पटव्यतिरेकेणान्यत्र वर्तमानो दृश्यते । प्रदीपप्रभावद्भवेदिति चेत्—न; तस्या अपि द्रव्यत्वाभ्युपगमात् । निबिडावयवं हि तेजोद्रव्यं प्रदीपः, प्रविरलावयवं तु तेजोद्रव्यमेव प्रभेति । अत उत्तरं पठति—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

यथा गुणस्यापि सतो गन्धस्य गन्धवद्द्रव्यव्यतिरेकेण वृत्तिर्भवति । अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः । एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति । अतश्चानैकान्तिकमेतद् गुणत्वाद्रूपादिवदाश्रयविश्लेषानुपपत्तिरिति, गुणस्यैव सतो गन्धस्याश्रयविश्लेषदर्शनात् । गन्धस्यापि सहैवाश्रयेण विश्लेष इति चेत्-न, यस्मान्मूलद्रव्याद्विश्लेषस्तस्य क्षयप्रसङ्गात् । अक्षीयमाणमपि तत्पूर्वावस्थातो गम्यते । अन्यथा तत्पूर्वावस्थैर्गुरुत्वादिभिर्हीयेत । स्यादेतत्—गन्धाश्रयाणां विश्लिष्टानामवयवानामल्पत्वात्सन्नपि विशेषो नोपलक्ष्यते सूक्ष्मा हि गन्धपरमाणवः

---

भामती

सम्भवी, तस्माद्वैषम्यमिति मन्यन्ते, तान् प्रतीदमुच्यते ❀ गुणाद्वा लोकवद् इति ❀ । तद्विभजते ❀ चैतन्य इति ❀ । यद्यप्यणुर्जीवस्तथापि तद्गुणश्चैतन्यं सकलदेहव्यापि । यथा प्रदीपस्याल्पत्वेऽपि तद्गुणः प्रभा सकलगृहोदरव्यापिनीति ॥ २५ ॥

एतदपि शङ्काद्वारेण दूषयित्वा दृष्टान्तान्तरमाह ❀ व्यतिरेको गन्धवत् ❀ । ❀ अक्षीयमाणमपि तद् इति ❀ । क्षयस्यातिसूक्ष्मतयाऽनुपलभ्यमानक्षयमिति । शङ्कते ❀ स्यादेतद् इति ❀ । विश्लिष्टानामल्पत्वादित्युपलक्षणं द्रव्यान्तरपरमाणूनामनुप्रवेशादित्यपि द्रष्टव्यम् । विश्लेषानुप्रवेशाभ्यां च सन्नपि

---

भामती—व्याख्या

इसके अणुओं का सञ्चार पूरे शरीर में सम्भव नहीं सकता, अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति का वैषम्य है । उन लोगों को दृष्टि में रख कर सूत्रकार ने कहा है—"गुणाद्वा लोकवत्" । भाष्यकार सूत्र की व्याख्या कर रहे हैं—"चैतन्यगुणव्याप्तेः" । अर्थात् यद्यपि जीव अणु है, तथापि उसका चैतन्यरूप गुण सकल देह में वैसे ही व्याप्त है, जैसे कि घर के एक कोने में रखे छोटे-से दीपक का प्रकाश गुण पूरे घर में फैल जाता है ॥ २५ ॥

**शङ्का**—आत्मा का चैतन्यरूप गुण यदि पूरे शरीर में व्याप्त है, तब आत्मा को भी पूरे शरीर में व्याप्त मानना होगा, क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता—"चैतन्यं स्वाश्रयमन्तरा न वर्तते, गुणत्वाद् रूपवत्' ।

**समाधान**—"व्यतिरेको गन्धवत्" । अर्थात् उक्त अनुमान गन्धात्मक गुण में व्यभिचारी है, क्योंकि वहाँ गुणत्वरूप हेतु के रहने पर भी आश्रयव्यतिरिक्तवृत्तित्व नहीं, अपितु गन्ध गुण अपने आश्रयीभूत पुष्पों को छोड़ कर देशान्तर में व्याप्त हो जाता है । चैतन्यरूप गुण भी अपने आश्रयीभूत अणु आत्मा को छोड़ कर पूरे शरीर में रह सकता है ।

**शङ्का**—अकेला गन्धगुण पुष्पों से पृथक् नहीं होता, अपितु गन्ध के आश्रयीभूत द्रव्य-कण पुष्पों से निकल कर वायु-मण्डल में फैल जाते हैं, उन्हीं का सौरभ अनुभूत होता है ।

**समाधान**—पुष्प के कण यदि पुष्प से निकलते हैं, तब पुष्प को क्षीण हो जाना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वतो विप्रसृता गन्धबुद्धिमुत्पादयन्ति नासिकापुटमनुप्रविशन्त इति चेत्—न, अतीन्द्रियत्वात्परमाणूनां स्फुटगन्धोपलब्धेश्च नागकेसरादिषु । न च लोके प्रतीतिगन्धवद्द्रव्यमाघ्रातमिति । गन्ध एवाघ्रात इति तु लौकिकाः प्रतियन्ति । रूपादिष्वाश्रयव्यतिरेकानुपलब्धेर्गन्धस्याप्ययुक्त आश्रयव्यतिरेक इति चेत् न, प्रत्यक्षत्वादनुमानाप्रवृत्तेः । तस्माद्यद्यथा लोके दृष्टं तत्तथैवानुमन्तव्यं निरूपकेनान्यथा । नहि रसो गुणो जिह्वयोपलभ्यत इत्यतो रूपादयोऽपि गुणा जिह्वयैवोपलभ्येरन्निति नियन्तुं शक्यते ॥ २६ ॥

## तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वं चात्मनोऽभिधाय तस्यैव 'आ लोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' ( छा० ८।८।१ ) इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति ॥ २७ ॥

## पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' ( कौषी० ३।६ ) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते । 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' ( बृ० २।१।१७ ) इति च कर्तुः शारीरात्पृथग्विज्ञानस्योपदेश एतमेवाभिप्रायमुपोद्बलयति—तस्मादणुरात्मेति ॥ २८ ॥

---

भामती

विश्लेषः सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते इति । निराकरोति ॐ न, कुतः ? अतीन्द्रियत्वाद् इति ॐ । परमाणूनां परमसूक्ष्मत्वात्तद्गतरूपादिवद् गन्धोऽपि नोपलभ्येतोपलभ्यमानो वा सूक्ष्म उपलभ्यते न स्थूल इत्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २६–२७ ॥

निगदव्याख्यातमस्य भाष्यम् ॥ २८ ॥

---

भामती–व्याख्या

चाहिए किन्तु उसका क्षय प्रतीत नहीं होता, अपितु पुष्प जैसे-का-तैसा उपलब्ध होता है—"अक्षीयमाणमपि तत् पूर्वावस्थातो गम्यते" ।

शङ्का—'क्षय' पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः उसे यदि विवाद-ग्रस्त मान लिया जाय, तब भी पुष्प की क्षीणता न दिखने का कारण पुष्प से निकलनेवाले कणों की स्वल्पता है, अर्थात् गन्ध के आश्रयीभूत परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म एवं इतनी स्वल्प मात्रा में होते हैं, कि वे न तो पुष्प से निकलते हुए दिखाई देते हैं और न उनके निकल जाने से पुष्प में कोई न्यूनता ही प्रतीत होती है, ऐसी शङ्का भाष्यकार कर रहे हैं—"स्यादेत्" ।

समाधान—उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए कहा गया है—"न, अतीन्द्रियत्वात् परमाणूनाम्" । अर्थात् पुष्प से निकलनेवाले परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जैसे उनका रूप दिखाई नहीं देता, वैसे ही उनका गन्ध गुण भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । यदि किसी प्रकार उसका ग्रहण मान लिया जाय, तब अत्यन्त मन्द अनुभूति होनी चाहिए, उत्कट नहीं, किन्तु किसी पुष्प-वाटिका के समीप से निकल जाने पर जो अत्यन्त उत्कट गन्धानुभूति होती है, वह परमाणुओं की कदापि नहीं हो सकती । शेष भाष्य सुबोध है ॥ २६ ॥

चैतन्य गुण की व्याप्ति श्रुति प्रतिपादित कर रही है—"आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः" ( छां. ८।८।१ ) ॥ २७ ॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं, क्योंकि "प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" ( कौषी. ३।६ ) इस श्रुति में आत्मा का कर्तृत्वेन और प्रज्ञा ( ज्ञान ) का करणत्वेन प्रतिपादन दोनों का पार्थक्य सिद्ध करता है । जैसे दीपक अपनी प्रभा के द्वारा गृह को व्याप्त करता है, वैसे ही आत्मा अपने चैतन्यरूप गुण के द्वारा शरीर पर समारूढ होता है अर्थात् शरीर को व्याप्त करता है ॥ २८ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति-अणुरात्मेति । उत्पत्त्यश्रवणाद्धि परस्यैव तु ब्रह्मणः प्रवेशश्रवणात्तादात्म्योपदेशाच्च परमेव ब्रह्म जीव इत्युक्तम् । परमेव चेद् ब्रह्म जीवस्तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति, परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम् तस्माद्विभुर्जीवः । तथा च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' ( बृ० ४।४।२२ ) इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादाः श्रौताः स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति । न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते । त्वक्संबन्धात् स्यादिति चेत्, न, कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत । त्वक्कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते-त्वक्च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति । पादतल एव तु

भामती

@कण्टकतोदनेऽपि इति@ । महदल्पयोः संयोगोऽल्पमवरुणद्धि न महान्तं, न जातु घटकरकादिसंयोगा नभसो नभो व्यश्नुवतेऽपि त्वल्पानेव घटकरकादीन्, इतरथा यत्र नभस्तत्र सर्वत्र घटकरकाद्युपलम्भ इति तेऽपि नभःपरिमाणा प्रसज्येरन्निति । न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते । यद्यप्यन्तःकरणमणु तथापि तस्य त्वचा सम्बद्धत्वात्त्वचश्च समस्तशरीरव्यापित्वादेकदेशेऽप्यधिष्ठिता त्वगधिष्ठितेवेति शरीरव्यापी जीवः शक्नोति सर्वाङ्गीणं शैत्यमनुभवितुं त्वगिन्द्रियेण गङ्गायाम्, अणुस्तु जीवो यत्रास्ति तस्मिन्नेव शरीरप्रदेशे तदनुभवेन्न सर्वाङ्गीणम्, तस्यासर्वाङ्गीणत्वात् । कण्टकतोदनस्य तु प्रादेशिकतया न सर्वा-

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—[ जीव अणु नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मरूप है, ब्रह्म विभु है, अतः जीव भी विभु है, अत एव श्रुतियों में उसे विभु ही कहा गया है—"स वा एष महानज आत्मा" (बृह. उ. ४।४।२२)। जीव को अणु मानने पर शरीरव्यापिनी वेदना उपपन्न नहीं हो सकती ।

यह जो कहा गया कि 'त्वचा शरीर में व्याप्त है, अतः अणुजीव का त्वचा से सम्बन्ध होने के कारण शरीर-व्यापिनी वेदना हो जाती है' । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि त्वचा की व्याप्ति से सर्वाङ्गीण वेदना मानी जाती है, तब पैर में काँटा चुभ जाने पर भी पूरे शरीर में पीड़ा होनी चाहिए, भाष्यकार यही कह रहे हैं—] "कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीरगतैव वेदना प्रसज्येत" । आशय यह है कि महान् पदार्थ का अल्प पदार्थ के साथ जो संयोग होता है, वह संयोग अपने अल्प सम्बन्धी को ही व्याप्त करता है, महान् को नहीं, क्योंकि आकाश का जो घट, करक ( करवा ) आदि के साथ संयोग है, वह घटादि को ही व्याप्त करता है, आकाश को नहीं, अन्यथा जहाँ-जहाँ आकाश की प्रतीति होती है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र घट, करक आदि की प्रतीति होनी चाहिए, वैसी प्रतीति मानने पर घटादि को भी आकाश के समान विभु मानना होगा । अणु जीव का शरीर-व्यापी त्वचा के साथ जो संयोग है, वह भी अणु को ही व्याप्त करेगा, पूरी त्वचा को नहीं, अतः शैत्यादि की सर्वाङ्गीण अनुभूति तभी होगी, जब कि जीव को व्यापक माना जायगा । यद्यपि अन्तःकरण ( मन ) को कुछ लोग अणु मानते हैं अतः जीव का अन्तःकरण के साथ और अन्तःकरण का त्वचा के साथ जो संयोग होगा, वह भी अणु मन को ही व्याप्त करेगा, शरीर-व्यापिनी त्वचा को नहीं । तथापि उतने मात्र से विभु जीव पूरी त्वचा का अधिष्ठाता हो जाता है, फलतः शरीर-व्यापी जीव गङ्गा में शरीर-व्यापी शैत्य की अनुभूति कर लेता है, किन्तु अणु जीव शरीर के जिस कोने में है, उसी कोने में ही शैत्य की अनुभूति कर सकेगा, सर्वाङ्गीण शैत्य की अनुभूति न कर सकेगा, क्योंकि वह स्वयं सर्वाङ्गीण नहीं । कण्टक की चुभन शैत्य के समान सर्वाङ्गीण नहीं,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कण्टकनुन्नो वेदनां प्रतिलभते । न चाणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात् । गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत । प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम् । गन्धोऽपि गुणत्वाभ्युपगमात्साश्रय एव संचरितुमर्हति । अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात् । तथा चोक्तं द्वैपायनेन—'उपलभ्याप्सु चेद् गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः । पृथिव्यामेव तं विद्यादपौ वायुं च संश्रितम्' इति । यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात् । चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ । नात्र गुणगुणिविभागो विद्यते इति । शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम् । परिशेषाद्विभुर्जीवः कथं तह्यणुत्वादिव्यपदेश इत्यत आह—तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' इति ।

भामती

ङ्गीणोपलब्धिरिति वैषम्यम् । ❀गुणत्वमेव हि इति❀ । इदमेव हि गुणत्वं यद्द्रव्यदेशत्वमत एव हि हेमन्ते विषक्तावयवाप्यद्रव्यगतेऽतिसान्द्रे शीतस्पर्शेऽनुभूयमानेऽप्यनुद्भूतं रूपं नोपलभ्यते यथा, तथा मृगमदादीनां गन्धवाहविप्रकीर्णसूक्ष्मावयवानामतिसान्द्रे गन्धेऽनुभूयमाने रूपस्पर्शौ नानुभूयेते, तत्कस्य हेतोरनुद्भूतत्वात्तयोर्गन्धस्य चोद्भूतत्वादिति । न च द्रव्यस्य प्रक्षयप्रसङ्गः द्रव्यान्तरावयवपूरणात् । अत एव कालपरिवासवशादस्य हतगन्धितोपलभ्यते । अपि च चैतन्यं नाम न गुणो जीवस्य गुणिनः, किन्तु स्वभावः । न च स्वभावस्य व्यापित्वे भावस्याव्यापित्वं तत्त्वप्रच्युतेरित्याह ❀ यदि च चैतन्यम् इति ❀ । तदेवं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसिद्धे जीवस्याविकारितया परमात्मत्वे तथा श्रुत्यादितः परममहत्त्वे च या नामाणुत्वश्रुतयस्तास्तदनुरोधेन बुद्धिगुणसारतया व्याख्येया इत्याह ❀ तद्गुणसारत्वाद् इति ❀ । तद्व्याचष्टे ❀ तस्या

भामती—व्याख्या

अतः विभु जीव को भी तद्देशावच्छेदेन ही कण्टक-वेधज वेदना होती है, सर्वत्र नहीं—यह कण्टक-तोदन का शैत्य से अन्तर है ।

"गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत"—इस भाष्य का आशय यह है कि अणु आत्मा शरीर के एक कोने में और उसका चैतन्यरूप गुण पूरे शरीर में व्याप्त हो, ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि गुणों का गुणपना यही है कि नियमतः द्रव्य के आश्रित रहना या द्रव्य को छोड़ कर न रहना, अत एव शरत्काल में जो उत्कट शीत स्पर्श अनुभूत होता है, वह भी अपने आश्रय द्रव्य को छोड़ कर नहीं रहता, वायु-मण्डल में बिखरे हुए हिम-कणों का ही वह ( शीत स्पर्श ) उद्भूत गुण माना जाता है। उन हिम-कणों का रूप अनुद्भूत होने के कारण वैसे ही उपलब्ध नहीं होता, जैसे कस्तूरी के विकीर्ण नन्हें कणों का केवल गन्ध गुण उद्भूत होने के कारण उपलब्ध होता है, रूप और स्पर्श अनुद्भूत हैं, अतः अनुभूत नहीं होते ।

यह जो कहा था कि पुष्पादि से सूक्ष्म कणों के निकलने पर पुष्प को क्षीण हो जाना चाहिए । वह कहना उचित नहीं, क्योंकि पुष्प से जितने कण निकलते है, उतने पार्थिवादि रजःकण उसमें समाविष्ट हो जाते हैं, अतः न्यूनता का भान कभी नहीं होता, किन्तु कुछ समय के पश्चात् कस्तूरी-पिण्ड गन्ध-रहित अवश्य उपलब्ध होता है ।

दूसरी बात यह भी है कि चैतन्यतत्त्व जीवात्मा का गुण नहीं, अपितु स्वभाव है । स्वभाव को अपने भाव पदार्थ से कभी पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः स्वभाव व्यापक हो और उसका मूल भावतत्त्व अव्यापक ( अणु ) हो—ऐसा सम्भव नहीं, अन्यथा पदार्थ अपने स्वभाव को खो कर अपने को ही खो बैठेगा, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयात्" । जिस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि प्रमाणों के द्वारा जीव में निर्विकार ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है, वैसे ही जीवगत परममहत्त्व ( व्यापकत्व ) भी प्रमाणित है । उन्हीं प्रमाणों के अनुरोध पर अणुत्व-प्रतिपादक श्रुतियों का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्या बुद्धेर्गुणास्तद्गुणा इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमित्येवमादयस्तद्गुणाः सारः प्रधानं यस्यात्मनः संसारित्वे संभवति स तद्गुणसारस्तस्य भावस्तद्गुणसारत्वम्। नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मनः। तस्मात्तद्गुणसारत्वाद् बुद्धिपरिमाणेनास्य परिमाणव्यपदेशः, तदुत्क्रान्त्यादिभिश्चास्योत्क्रान्त्यादिव्यपदेशो न स्वतः। तथा च-'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' (श्वे० ५।९) इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह। तच्चैवमेव समञ्जसं स्याद्यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत्पारमार्थिकं चानन्त्यम्। न ह्युभयं मुख्यमवकल्पेत। न चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुम्, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ६।८) इति च बुद्धिगुणसंबन्धेनैवाराग्रमात्रतां शास्ति, न स्वेनैवात्मना। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (मुण्ड० ३।१।९) इत्यत्रापि न जीवस्याणुपरिमाणत्वं शिष्यते, परस्यैवात्मनश्चक्षुराद्यनवग्राह्यत्वेन ज्ञानप्रसादगम्यत्वेन च प्रकृत्वात्। जीवस्यापि च मुख्याणुपरिमाणत्वानुपपत्तेः यस्माद् दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुत्ववचनमुपाध्यभिप्रायं वा द्रष्टव्यम्। तथा 'अज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इत्येवंजातीयकेष्वपि

भामती

बुद्धेः इति ॐ। आत्मना स्वसम्बन्धिन्या बुद्धेरुपस्थापितत्वात् तदा परामर्शः। नहि शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्यात्मनस्तत्त्वं संसारिभिरनुभूयते। अपि तु योऽयं मिथ्याज्ञानद्वेषाद्यनुषक्तः स एव प्रत्यात्मनुभवगोचरः। न च ब्रह्मस्वभावस्य जीवात्मनः कूटस्थनित्यस्य स्वत इच्छाद्वेषानुषङ्गसम्भव इति। बुद्धिगुणानां तेषां तदभेदाध्यासेन तद्धर्मत्वाध्यास उदशरावाध्यस्तस्येव चन्द्रमसो विम्बस्य तोयकम्पे कम्पवत्त्वाध्यास इत्युपपादितमध्यासभाष्ये। तथा च बुद्ध्याद्युपाधिकृतमस्य जीवत्वमिति बुद्धेरन्तःकरणस्याणुतया सोऽप्यणुव्यपदेशभाग्भवति नभ इव करकोपहितं करकपरिमाणम्। तथा चोत्क्रान्त्यादीनामुपपत्तिरिति। निगदव्याख्यातमितरत्॥ २९॥

भामती-व्याख्या

तात्पर्य बुद्धिगत अणुत्वादि धर्मों के अध्यास में स्थिर होता है—"तद्गुणसारत्वात्"। इस सूत्र की व्याख्या करते हैं—"तस्या बुद्धेः"। यहाँ 'तत्' पद से बुद्धि का ग्रहण किया जाता है, क्योंकि बुद्धितत्त्व के साथ आत्मा का असाधारण सम्बन्ध है, बुद्धि के कर्तृत्वादि गुणों (धर्मों) का सरण (सञ्चार या समारोपण) आत्मा में हो जाने के कारण साधारण प्राणियों के द्वारा आत्मा का वास्तविक शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अनुभूत न होकर, मिथ्या ज्ञान-प्रवर्तित कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि स्वरूप ही अनुभव किया जाता है। जीवात्मा कूटस्थ ब्रह्मरूप है, अतः उसमें स्वभावतः इच्छा, द्वेषादि का अनुषङ्ग नहीं हो सकता, अतः बुद्धि के इच्छादि धर्मों का अध्यास वैसे ही हो जाता है, जैसे उदक-पूरित शराव (कुल्हड़) में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा पर उदकस्थ कम्पनादि धर्मों का अध्यास होता है—यह सब कुछ पहले ही अध्यास-भाष्य में स्पष्ट किया जा चुका है। सारांश यह है कि बुद्धिरूप उपाधि की ही है देन-जीवभाव। बुद्धिरूप अन्तःकरण अणु है, इसके ही अणुत्व धर्म का व्यपदेश (व्यवहार) आत्मा में वैसे ही हो गया है—"एषोऽणुरात्मा" (मुण्ड. ३।१।९), जैसे कि करकाकाश में करक के स्वल्प परिमाण का। इसी प्रकार जीवात्मा में गति, आगति और उत्क्रान्ति आदि की भी औपचारिक उपपत्ति हो जाती है। शेष भाष्य सुगम है॥ २९॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेदोपदेशेषु बुद्ध्यैवोपाधिभूतया जीवः शरीरं समारुह्येत्येवं योजयितव्यम्। व्यपदेशमात्रं वा, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिवत्। नह्यत्र गुणगुणिविभागोऽपि विद्यत इत्युक्तम्, हृदयायतनत्ववचनमपि बुद्धेरेव तदायतनत्वात्। तथौत्क्रान्त्यादीनामप्युपाध्यायत्ततां दर्शयति—'कस्मिन्नहमुक्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति' (प्रश्न० ६।३) 'स प्राणमसृजत' (प्र० ६।४) इति। उत्क्रान्त्यभावे हि गत्यागत्योरप्यभावो विज्ञायते। न ह्यनपसृप्तस्य देहाद् गत्यागती स्याताम्। एवमुपाधिगुणसारत्वाज्जीवस्याणुत्वादिव्यपदेशः, प्राज्ञवत्। यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः—'अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा' (छा० ३।१४।३) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ३।१४।२) इत्येवंप्रकारस्तद्वत्। स्यादेतत्—यदि बुद्धिगुणसारत्वादात्मनः संसारित्वं कल्प्येत, ततो बुद्ध्यात्मनोर्भिन्नयोः संयोगावसानमवश्यंभावीत्यतो बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्यानालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येतेति ॥ २९ ॥

अत उत्तरं पठति—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

नेयमनन्तरनिर्दिष्टदोषप्राप्तिराशङ्कनीया। कस्मात्? यावदात्मभावित्वाद् बुद्धिसंयोगस्य। यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते, तावदस्य बुद्ध्या संयोगो न शाम्यति। यावदेव चायं बुद्ध्युपाधिसंबन्धस्तावज्जीवस्य जीवत्वं संसारित्वं च। परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसंबन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति। नहि नित्यमुक्तस्वरूपात्सर्वज्ञादीश्वरादन्यश्चेतनो धातुर्द्वितीयो वेदान्तार्थनिरूपणायामुपमलभ्यते—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' (बृ० ३।७।२३), 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ' (छा० ६।८।७), 'तत्त्वमसि' (छा० ६।१।६), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।७) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः। कथं पुनरवगम्यते यावदात्मभावी बुद्धिसंयोग इति? तद्दर्शनादित्याह। तथा हि शास्त्रं दर्शयति—'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इत्यादि। तत्र विज्ञानमय इति बुद्धिमय इत्येतदुक्तं भवति प्रदेशान्तरे 'विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' इति विज्ञानमयस्य मनआदिभिः सह पाठात्। बुद्धिमयत्वं च तद्गुणसारत्वमेवाभिप्रेयते। यथा लोके स्त्रीमयो देवदत्त इति स्त्रीरागादिप्रधानोऽभिधीयते, तद्वत्। 'स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति' इति च लोकान्तरगमनेऽप्यवियोगं बुद्ध्या दर्शयति। केन समानः? तयैव बुद्ध्येति गम्यते, संनिधानात्। तच्च दर्शयति—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० ४।३।७) इति। एतदुक्तं भवति—नायं स्वतो ध्यायति, नापि चलति, ध्यायन्त्यां बुद्धौ

---

भामती

प्रायणेऽसत्त्वमसंसारित्वं वा ततश्च कृतविप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः यावत्संसार्यात्मभावित्वादि-

---

भामती—व्याख्या

अग्रिम सूत्र के अवतरण में भाष्यकार ने कहा है—"बुद्धिवियोगे सत्यात्मनो विभक्तस्यानालक्ष्यत्वादसत्त्वमसंसारित्वं वा प्रसज्येत"। अर्थात् प्राणी की मृत्यु हो जाने पर बुद्धि से वियुक्त आत्मा अप्रतीयमान होने के कारण या तो असत् हो जायगा या असंसारी। असत् हो जाने पर कृत-प्रणाश और अकृताभ्यागम होगा और असंसारी ही जाने पर बिना ज्ञान के ही मुक्ति माननी होगी। "यावदात्मभावित्वाद् बुद्धिसंयोगस्य"—इस भाष्य का अर्थ है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यायतीव, चलन्त्यां बुद्धौ चलतीवेति। अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरोऽयमात्मनो बुद्ध्याद्युपाधिसंबन्धः। नच मिथ्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानादन्यत्र निवृत्तिरस्तीत्यतो यावद् ब्रह्मात्मतानवबोधस्तावदयं बुद्ध्युपाधिसंबन्धो न शाम्यति। दर्शयति च—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ॥ ३० ॥

ननु सुषुप्तप्रलययोर्न शक्यते बुद्धिसंबन्ध आत्मनोऽभ्युपगन्तुम्। 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति वचनात्। कृत्स्नविकारप्रलयाभ्युपगमाच्च। तत्कथं यावदात्मभावित्वं बुद्धिसंबन्धस्येति? अत्रोच्यते—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वाविर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते, षण्ढादीनामपि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्—एवमयमपि बुद्धिसंबन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति। एवं ह्येतद्युज्यते। न ह्याकस्मिकी कस्यचिदुत्पत्तिः संभवति, अतिप्रसङ्गात्। दर्शयति च सुषुप्तादुत्थानमविद्यात्मकबीजसद्भावकारितम्—'सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति', 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' (छा० ६।९।३) इत्यादिना। तस्मात्सिद्धमेतद्यावदात्मभावी बुद्ध्याद्युपाधिसंबन्ध इति ॥ ३१ ॥

---

भामती

त्यर्थः। समानः सन्निति बुद्ध्या समानः तद्गुणसारत्वादिति। ❀ अपि च मिथ्याज्ञान इति ❀ न केवलं यावत्संसार्य्यात्मभावित्वमागमत उपपत्तितश्चेत्यर्थः। ❀ आदित्यवर्णम् इति ❀ प्रकाशरूपमित्यर्थः। ❀तमसः इति❀ अविद्याया इत्यर्थः। तमेव विदित्वा साक्षात्कृत्य मृत्युमविद्यामत्येतीति योजना ॥३०॥

अनुशयबीजं पूर्वपक्षी प्रकटयति ❀ ननु सुषुप्तप्रलययोः इति ❀। ❀ सता ❀ परमात्मना। अनुशयबीजपरिहारः। अत्रोच्यते—पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्। निगदव्याख्यातमस्य भाष्यम् ॥

---

भामती—व्याख्या

"यावत्संसार्यात्मभावित्वात्' अर्थात् मुक्तावस्था में आत्मा रहता है, किन्तु उसके साथ बुद्धि का संयोग नहीं रहता, अतः यह कहना होगा कि जब तक संसारी (अमुक्त) आत्मा रहता है, तब तक उसके साथ बुद्धि-संयोग बना रहता है। "समानः सन्" (बृह. उ. ४।३।७) इसका तात्पर्य यह है कि संसारी आत्मा बुद्धि के समान इस लिए कहा जाता है कि उसमें बुद्धि के गुणों का आरोप हो जाता है। "अपि च मिथ्याज्ञानपुरःसरः"—इससे यह सिद्ध कर दिया गया कि बुद्धि-संयोग में यावत्संसार्यात्मभावित्व केवल आगम के आधार पर निश्चित नहीं होता, अपितु युक्ति से भी होता है। "आदित्यवर्णम्" का अर्थ है—'प्रकाशस्वरूपम्'। "तमसः" का अर्थ 'अविद्यातः' है। "तमेव विदित्वा का अर्थ है—'तमेव साक्षात्कृत्य अविद्यामत्येति'॥ ३०॥

पूर्वपक्षी अपना आशय प्रकट करता है—"ननु सुषुप्तप्रलययोः"। "सता" का अर्थ है—'ब्रह्मणा'। पूर्वपक्षी की अनभिज्ञता का आविष्कार सूत्र के द्वारा किया जाता है—पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्"। अर्थात् सुषुप्ति और प्रलय के समय भी आत्मा में बुद्धि का अनभिव्यक्त संयोग वैसे ही रहता है, जैसे पुरुष में विद्यमान पुंस्त्व-नपुंसकत्वादि बाल्यावस्था के समय अनभिव्यक्त रह कर युवा अवस्था में अभिव्यक्त होता है। शेष भाष्य स्पष्टार्थक है॥ ३१॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

तच्चात्मन उपाधिभूतमन्तःकरणं मनोबुद्धिर्विज्ञानं चित्तमिति चानेकधा तत्र तत्राभिलप्यते। क्वचिच्च वृत्तिविभागेन संशयादिवृत्तिकं मन इत्युच्यते, निश्चयादिवृत्तिकं बुद्धिरिति। तच्चैवंभूतमन्तःकरणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्। आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धिसाधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत। अथ सत्यपि हेतुसमवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत। न चैवं दृश्यते। अथवान्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्तिप्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः। न चात्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति, अविक्रियत्वात्। नापीन्द्रियस्य, नहि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य

---

भामती

स्यादेतत्—अन्तःकरणेऽपि सति तस्य नित्यसन्निधानात् कस्मान्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धी न प्रसज्येते? अथादृष्टविपाककादाचित्कत्वात् सामर्थ्यप्रतिबन्धाप्रतिबन्धाभ्यामन्तःकरणस्य नायं प्रसङ्गः। तावत्येवान्तःकरणे आत्मनो वेन्द्रियाणां वा स्तां, तत्किमन्तर्गडुनान्तःकरणेनेति चोदयति ॐ अथवान्यतरस्यात्मनः इति ॐ। अथवेति सिद्धान्तं निवर्तयति। सिद्धान्ती ब्रूते ॐ न चात्मनः इति ॐ। अवधानं खल्वनुबुभूषा शुश्रूषा वा। न चैते आत्मनो धर्मौ, तस्याविक्रियत्वात्। न चेन्द्रियाणामेकैकेन्द्रियव्यतिरेकेऽप्यन्धादीनां दर्शनात्। न च ते आन्तरत्वेनानुभूयमाने बाह्ये सम्भवतः। तस्मादस्ति तदान्तरं किमपि

---

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—सिद्धान्ती ने जो कहा है कि 'उपाधिरूप अन्तःकरण की सत्ता यदि नहीं मानी जाती, तब अनुभूतियों की कादाचित्कता का कोई नियामक न होने के कारण या तो अनुभूति सदैव होती रहेगी या कभी भी न होगी।' उस पर शङ्का होती है कि अन्तकरण की सत्ता मान लेने पर भी उपलब्धि का कादाचित्कत्व नहीं बनता, क्योंकि इन्द्रिय अन्तःकरण और विषय के साथ आत्मा का सम्बन्ध (संयोग) सदातन है। यदि वह उपलब्धि का कारण है, तब सदैव उपलब्धि होनी चाहिए। यदि वह सम्बन्ध उपलब्धि का कारण नहीं, तब कभी भी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए। 'अदृष्ट-परिपाक के सहयोग से अन्तःकरण का सामर्थ्य अप्रतिहत और उक्त परिपाक के असहयोग से अन्तःकरण का सामर्थ्य प्रतिबन्धित रहता है, अतः उपलब्धि और अनुपलब्धि की व्यवस्था बन जाती है'—ऐसा मानने पर आत्मा और इन्द्रिय के सामर्थ्य का प्रतिबोधन और प्रतिबन्धन उक्त अदृष्ट के सहयोगासहयोग से मान कर उपलब्धि-कादाचित्कत्व की व्यवस्था की जा सकती है, मध्यपाती अन्तःकरण की क्या आवश्यकता? यहाँ भाष्यस्थ 'अथवा' पद से पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति न होकर सिद्धान्त की व्यावृत्ति होती है।

**सिद्धान्त**—सामर्थ्य पदार्थ एक धर्म है विकार है, जो विकारवान् धर्मी में ही रहता है, निर्विकार में नहीं, आत्मा निर्विकार है, अतः उसमें सामर्थ्य सम्भव नहीं। इन्द्रियों में सामर्थ्य सम्भव है, किन्तु वह सामर्थ्य उपलब्धि को जन्म देते-देते अकस्मात् कुण्ठित क्यों हो जाता है? इस प्रश्न का कोई सन्तोष-जनक समाधान नहीं मिलता। अन्ततो गत्वा यह तथ्य आविष्कृत होता है कि जिस पदार्थ की अवधानता (अनुबुभूषा या शुश्रूषा) से उपलब्धि और अनवधानता (उपेक्षा) से अनुपलब्धि होती है, वह पदार्थ अन्तःकरण तत्त्व है। कथित अनुबुभूषा और शुश्रूषा—दोनों आत्मा के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि वह अविक्रिय है। इन्द्रियों के भी वे धर्म सम्भव नहीं, क्योंकि एक-एक इन्द्रिय का अभाव होने पर भी अन्धादि व्यक्तियों में अनुबुभूषा और शुश्रूषा देखी जाती है। दूसरी बात यह भी है कि अनुबुभूषा

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत। तस्माद्यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः। तथा च श्रुतिः—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ० १।५।३) इति, 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ० १।५।३) इति। कामादयश्चास्य वृत्तय इति दर्शयति 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। तस्माद्युक्तमेतत् 'तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः' इति ॥ ३२ ॥

## ( १४ कर्त्राधिकरणम् । सू० ३३--४० )

### कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

तद्गुणसारत्वाधिकारेणैवापरोऽपि जीवधर्मः प्रपञ्च्यते। कर्ता चायं जीवः स्यात्। कस्मात्? शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवं च 'यजेत', 'जुहुयात्', 'दद्यात्' इत्येवंविधं विधिशास्त्रमर्थवद्भवति। अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। तद्धि कर्तुः सतः कर्तव्यविशेषमु-

भामती

यस्य चैते तदन्तःकरणम्। तदिदमुक्तं ॐ यस्यावधान इति ॐ। अत्रैवार्थे श्रुतिं दर्शयति ॐ तथा च इति ॐ ॥ ३२ ॥

ननु तद्गुणसारत्वादित्यनेनैव जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च लब्धमेवेति तद्बुद्युत्पादनमनर्थकमित्यत आह ॐ तद्गुणसारत्वाधिकारेण इति ॐ। तस्यैवैष प्रपञ्चो ये पश्यन्त्यात्मा भोक्तैव न कर्त्तेति तन्निराकरणार्थः। शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वादित्याह स्म भगवान् जैमिनिः। प्रयोक्तर्यनुष्ठातरि कर्त्तरीति यावत्। शास्त्रफलं स्वर्गादि, कुतः? प्रयोक्तृफलसाधनतालक्षणत्वात् शास्त्रस्य विधेः, कर्त्रपेक्षितोपायता हि विधिः। बुद्धिश्चेत् कर्त्री भोक्ता चात्मा, ततो यस्यापेक्षितोपायो भोक्तुर्न तस्य कर्तृत्वं, यस्य कर्तृत्वं न

भामती-व्याख्या

आदि आन्तरिक-धर्मत्वेन अनुभूत हैं, बाह्य इन्द्रियों में उनकी सम्भावना क्योंकर होगी? परिशेषतः ऐसा कोई आन्तरिक पदार्थ मानना पड़ता है, जिसके अनुबुभूषादि धर्म हैं, वह है—अन्तःकरण, यही कहा जा रहा है—यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी"। इसी अर्थ में श्रुति प्रमाण प्रस्तुत है—"तथा च श्रुतिः" ॥ ३२ ॥

**संगति**—जीव में आरोपित अणुत्व धर्म के प्रसङ्ग से कर्तृत्वादि अन्य धर्मों का निरूपण किया जाता है। "तद्गुणसारत्वात्"—इस सूत्र के द्वारा ही आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मों का लाभ हो जाता है, अतः कर्तृत्वादि का प्रतिपादन अनर्थक क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर है—"तद्गुणसारत्वाधिकारेणैव परोऽपि"। अर्थात् उसी अधिकरण का यह प्रपञ्च ( विस्तार ) उन ( सांख्यादि ) वादियों का निराकरण करने के लिए किया जाता है, जो आत्मा को केवल भोक्ता ही मानते हैं, कर्त्ता नहीं।

**सिद्धान्त**—महर्षि जैमिनि ने कहा है—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि, तल्लक्षणत्वात्" ( जै० सू० ३।७।१८ ) अर्थात् प्रयोक्ता ( कर्म के अनुष्ठाता या कर्त्ता ) को शास्त्र-विहित कर्मों का स्वर्गादि फल प्राप्त होता है, क्योंकि शास्त्र ( "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधि वाक्य ) प्रयोक्ता में स्वर्गादि फल की साधनता प्रतिपादित करता है—"स्वर्गं कामयते इति स्वर्गकामः यागं कुर्यात्"—इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा स्वर्ग-साधनीभूत याग के कर्त्ता ( यजमान )

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदिशति। न चाऽसति कर्तृत्वे तदुपपद्यत। तथेदमपि शास्त्रमर्थवद्भवति 'एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' ( प्र० ५।९ ) इति ॥ ३३ ॥

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायां 'संध्ये स्थाने विहारमुपदिशति—'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' ( बृ० ४।३।१२ ) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' ( बृ० २।१।१८ ) इति च ॥ ३४ ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

इतश्चास्य कर्तृत्वं, यज्जीवप्रक्रियायामेव करणानामुपादानं संकीर्तयति—'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' ( बृ० २।१।१७ ) इति, 'प्राणान्गृहीत्वा' (बृ०२।१।१८) इति च ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति

---

भामती

च तस्यापेक्षितोपाय इति किं केन सङ्गतमिति शास्त्रस्यानर्थकत्वमविद्यमानाभिधेयत्वं तथा चाप्रयोजनत्वं स्यात्। यथा च तद्गुणसारतयास्या वस्तु सदपि भोक्तृत्वं सांव्यवहारिकमेवं कर्तृत्वमपि सांव्यवहारिकं न तु भाविकम्। अविद्यावद्विषयत्वञ्च शास्त्रस्योपपादितमध्यासभाष्य इति सर्वमवदातम् ॥ ३३ ॥

विहारः सञ्चारः, क्रिया, तत्र स्वातन्त्र्यं नाकर्तुः सम्भवति, तस्मादपि कर्त्ता जीवः ॥ ३४ ॥

तदेतेषां प्राणानामिन्द्रियाणां विज्ञानेन बुद्धया विज्ञानं ग्रहणशक्तिमादायोपादायेत्युपादाने स्वातंत्र्यं नाकर्तुः सम्भवति ॥ ३५ ॥

अभ्युच्चयमात्रमेतन्न सम्यगुपपत्तिः। विज्ञानं कर्तृ यज्ञं तनुते सर्वत्र हि बुद्धिः करणरूपा करण-

---

भामती—व्याख्या

में ही स्वर्गरूप फल का भोक्तृत्व विधि वाक्य कह रहा है। बुद्धि को यदि कर्त्ता और आत्मा को भोक्ता माना जाता है, तब कर्तृत्व और भोक्तृत्व का श्रुत सामानाधिकरण्य बाधित हो जाता है, जो भोक्ता है, वह कर्त्ता नहीं और जो कर्त्ता है, वह भोक्ता नहीं। ऐसे असंलग्न अर्थ का प्रतिपादक शास्त्र भी अनर्थक हो जाता है। इतना ही नहीं विधि-वाक्य अनपेक्षित अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण कर्म में पुरुष का प्रयोजक ( प्रवर्तक ) नहीं रहता। जैसे बुद्धिगत गुण का आरोप होने के कारण आत्मा में वस्तुतः भोक्तृत्व नहीं, वैसे ही आत्मा में पारमार्थिक कर्तृत्व नहीं, अपितु व्यावहारिकमात्र है। यह विगत पृ०४३ पर ही कहा जा चुका है कि शास्त्र भी अविद्यावान् ( अज्ञानी पुरुष का ही कर्म में प्रवर्तक होता है। इस प्रकार वेदान्त-सिद्धान्त अत्यन्त परिशुद्ध सिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

"विहारोपदेशात्"—इस सूत्र ने 'विहार' शब्द का अर्थ सञ्चरण किया है, "स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते" ( बृह. उ. २।१।१८ ) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सञ्चरण क्रिया में आत्मा को स्वतन्त्र कहा गया है, किसी के अकर्त्ता में स्वातन्त्र्य प्रतिपादित नहीं होता, अतः जीव कर्त्ता सिद्ध होता है ॥ ३४ ॥

"तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" ( बृह. उ. २।१।१७ ) इस श्रुति ने भी कहा है कि आत्मा इन प्राणों ( इन्द्रियों ) के विज्ञान ( ग्रहण-शक्ति ) का विज्ञान ( बुद्धि ) के द्वारा आदान करके सो जाता है। यहाँ आदान क्रिया में स्वतन्त्र आत्मा अकर्त्ता क्योंकर होगा ? ॥ ३५ ॥

"विज्ञानं यज्ञं तनुते" ( तै. उ. २।५।१ ) इत्यादि श्रुतियों का प्रकृत में प्रदर्शन केवल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रम् —'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' ( तै० २।५।१ ) इति । ननु विज्ञान-शब्दो बुद्धौ समधिगतः । कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यत इति ? नेत्युच्यते । जीव-स्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः । न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देशविपर्ययः स्यात् । विज्ञानेनेत्येवं निरदेक्ष्यत् । तथा ह्यन्यत्र बुद्धिविवक्षायां विज्ञानशब्दस्य करणविभक्तिनिर्देशो दृश्यते 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' ( बृ० २।१।१७ ) इति । इह तु 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' ( तै० २।५।१ ) इति कर्तृसामानाधिकरण्यनिर्देशाद् बुद्धिव्यतिरिक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं सूच्यत इत्यदोषः ॥ ३६ ॥

अत्राह – यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता स्यात्स स्वतन्त्रः सन्प्रियं हितं चैवात्मनो नियमेन संपादयेन्न विपरीतम् । विपरीतमपि तु संपादयन्नुपलभ्यते । न च स्वतन्त्रस्यात्मन ईदृशी प्रवृत्तिरनियमेनोपपद्यत इति, अत उत्तरं पठति—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

यथाऽयमात्मोपलब्धि प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति । उपलब्धावप्यस्वातन्त्र्यमुपलब्धिहेतूपादानोपलम्भादिति चेत् - न, विषयप्रकल्पनामात्रप्रयोजनत्वादुपलब्धिहेतूनाम् , उपलब्धौ त्वनन्यापेक्षत्वमात्मनश्चैतन्ययोगात् । अपि चार्थक्रियायामपि नात्यन्तमात्मनः स्वातन्त्र्यमस्ति,

---

भामती

त्वेनैव व्यपदिश्यते न कर्तृत्वेन इह तु कर्तृत्वेन तस्या व्यपदेशे विपर्ययः स्यात्तस्मादात्मैव विज्ञानमिति व्यपदिष्टः । तेन कर्त्तेति ॥ ३६ ॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं चोदयति ❀ अत्राह यदि इति ❀ । प्रज्ञावान् स्वतन्त्र इष्टमेवात्मनः सम्पादयेन्नानिष्टमनिष्टसम्पत्तिरन्यस्योपलभ्यते, तस्मान्न स्वतन्त्रस्तथा च न कर्त्ता तल्लक्षणत्वात्तस्येत्यर्थः । अस्योत्तरम् ❀ उपलब्धिवदनियमः ❀ । करणादीनि कारकान्तराणि कर्त्ता प्रयुङ्क्ते न त्वयं कारकान्तरैः प्रयुज्यत इत्येतावन्मात्रमस्य स्वातन्त्र्यं न तु कार्यक्रियायां न कारकान्तराण्यपेक्षत इति । ईदृशं हि

---

भामती–व्याख्या

अभ्युच्चय ( परम्परया प्रकृतार्थ का समर्थन ) है, क्योंकि यहाँ विज्ञान ( बुद्धि तत्त्व ) का ही कर्तृत्वेन निर्देशन है, आत्मा का नहीं । सर्वत्र बुद्धिका करणत्वेन ही निर्देश किया जाता है, कर्तृत्वेन नहीं, किन्तु यहाँ कर्तृत्वेन निर्देश मानने पर असंगति-सी प्रसक्त होती है, अतः 'विज्ञान' पद के द्वारा आत्मा का ही निर्देश माना जाता है । इस प्रकार आत्मा में कर्तृत्व पर्यवसित होता है ॥ २६ ॥

शङ्का—"अत्राह यदि बुद्धिव्यतिरिक्तो जीवः कर्त्ता" । अर्थात् बुद्धिमान् स्वतन्त्र पुरुष अपने इष्ट पदार्थ का ही सदैव सम्पादन करता है, अनिष्ट का नहीं, किन्तु आत्मा हिंसा आदि अनिष्ट पदार्थों का भी स्वप्नादि में सम्पादन करता देखा जाता है, अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा स्वतन्त्र नहीं, अस्वतन्त्र कभी कर्त्ता नहीं होता, क्योंकि कर्त्ता का लक्षण है—"स्वतन्त्रः कर्त्ता" (पा. सू. १।४।५४) ।

समाधान—"उपलब्धिवदनियमः" । वस्तुस्थिति यह है कि कर्त्ता पुरुष करणादि अन्य कारकों का प्रयोजक होता है, कारकान्तर से प्रयुक्त नहीं होता—बस इतना ही इस ( कर्त्ता ) का स्वातन्त्र्य है, न कि कार्य-सम्पादन में कारकान्तर-निरपेक्षत्व । कारकान्तर-निरपेक्षत्वरूप स्वातन्त्र्य तो ईश्वर में भी नहीं, जो कि सर्वथा प्रभु (समर्थ) माना जाता है । यदि कर्त्ता का कारकान्तर-निरपेक्षत्व लक्षण माना जाता है, तब संसार में कर्त्ता कोई न रहेगा, उसकी कथा ही समाप्त हो जायगी । परिशेषतः 'इतरकारकप्रयोजकत्वे सति इतर-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशकालनिमित्तविशेषापेक्षत्वात् । न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते । भवति ह्योदकाद्यपेक्षस्यापि पक्तुः पक्तृत्वम् । सहकारिवैचित्र्याच्चेष्टार्थक्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ॥ ३७ ॥

## शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

इतश्च विज्ञानव्यतिरिक्तो जीवः कर्ता भवितुमर्हति । यदि पुनर्विज्ञानशब्दवाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात्ततः शक्तिविपर्ययः स्यात् । करणशक्तिर्बुद्धेर्हीयेत कर्तृशक्तिश्चापद्येत । सत्यां च बुद्धेः कर्तृशक्तौ तस्या एवाहंप्रत्ययविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्, अहंकारपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः सर्वत्र दर्शनात् । अहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहं भुञ्जेऽहं पिबामीति च । तस्याश्च कर्तृशक्तियुक्तायाः सर्वार्थकारि करणमन्यत्कल्पयितव्यम् । शक्तोऽपि हि सन्कर्ता करणमुपादाय क्रियासु प्रवर्तमानो दृश्यत इति । ततश्च संज्ञामात्रे विवादः स्यात्, न वस्तुभेदः कश्चित्, करणव्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वाभ्युपगमात् ॥ ३८ ॥

## समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु—'आत्मा

---

भामती

स्वातन्त्र्यं नेश्वरस्याप्यन्नभवतोऽस्तीत्युत्सन्नसंकथः कर्त्ता स्यात् । तथा चायमदृष्टपरिपाकवशाविष्टमभिप्रेप्सुस्तत्साधनविभ्रमेणानिष्टोपायं व्यापारयन्ननिष्टं प्राप्नुयादित्यनियमः कर्तृत्वचेति न विरोधः । ❀विषयप्रकल्पनमात्रप्रयोजनत्वादितिः❀ । नित्यचैतन्यस्वभावस्य खल्वात्मन इन्द्रियादीनि करणानि स्वविषयमुपनयन्ति, तेन विषयावच्छिन्नमेव चैतन्यं वृत्तिरिति विज्ञानमिति चाख्यायते तत्र चास्यास्ति स्वातन्त्र्यमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

पूर्वं कारकविभक्तिविपर्यय उक्तः, सम्प्रति कारकशक्तिविपर्यय इत्यपुनरुक्तम् । अविपर्ययाय तु करणान्तरकल्पनायां नास्ति विसंवाद इति ॥ ३८ ॥

समाधिरिति संयममुपलक्षयति । धारणाध्यानसमाधयो हि संयमपदवेदनीयाः । यथाहुः—

---

भामती—व्याख्या

कारकाप्रयोज्यत्वम्'—इतना ही कर्त्ता का लक्षण मानना होगा । कर्त्ता पुरुष अपने अदृष्ट के अधीन होकर भ्रम से अनिष्ट-साधन को इष्ट-साधन समझ लेता है, कारक-चक्र को संचालित कर देता है और अनिष्ट की प्राप्ति हो जाती है—इस प्रकार इष्टानिष्ट-प्राप्ति का अनियम और कर्तृत्व उपपन्न हो जाता है किसी प्रकार का विरोध नहीं । "विषयप्रकल्पनमात्रप्रयोजनत्वाद् उपलब्धिहेतूनाम्" । आशय यह है कि नित्यचैतन्यस्वरूप आत्मा को इन्द्रिय-गण अपने-अपने विषय का उपहार देते हैं । यहाँ 'उपलब्धि' शब्द का अर्थ विषयावच्छिन्न चैतन्य है, उसे ही वृत्ति और विज्ञानादि शब्दों से भी पुकारा जाता है । इस प्रकार की उपलब्धि में आत्मा स्वतन्त्र है । उपलब्धि का विषय नियमतः इष्ट पदार्थ ही होगा—ऐसा कोई नियम नहीं ॥ ३७ ॥

पहले विज्ञानेन न कहकर 'विज्ञानं तनुते'—ऐसा विभक्ति-विपर्यय के प्रयोग से 'विज्ञान' शब्द का अर्थ आत्मा किया गया और अब यह कहा जाता है कि करणरूप बुद्धि को ही यदि कर्त्ता माना जाता है, तब उसमें करण-शक्ति का हान और कर्तृशक्ति का आपादन होगा—इस प्रकार यहाँ पुनरुक्ति नहीं । यदि बुद्धि को करण न मानकर कर्त्ता ही माना जाता है, तब करण-शक्ति का विपर्यय (परिहाण) नहीं होगा—ऐसा मानने पर आत्मा और बुद्धि—इन दोनों में शब्दमात्र का भेद रह जाता है, अर्थतः कोई भेद नहीं ॥३८॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' ( बृ० २।४।५ ), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' ( मुण्ड० २।२।६ ) इत्येवंलक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत । तस्मादप्यस्य कर्तृत्वसिद्धिः ॥ ३९ ॥

---

## ( १५ तक्षाधिकरणम् । सू० ४० )

### यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

एवं तावच्छास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः कर्तृत्वं शारीरस्य प्रदर्शितं, तत्पुनः स्वाभाविकं वा स्यादुपाधिनिमित्तं वेति चिन्त्यते । तत्रैतैरेव शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः

---

भामती

त्रयमेकत्र संयम इति । अत्र श्रोतव्यो मन्तव्य इति धारणोपदेशः । निदिध्यासितव्य इति ध्यानोपदेशः । द्रष्टव्य इति समाधेरुपदेशः । यथाहुः—तदेव ध्यानमर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरिति सोऽयमिह कर्त्तात्मा समाधावुपदिश्यमान आत्मनः कर्त्तृत्वमवैतीति सूत्रार्थः ॥ ३९ ॥

---

• अत्रावान्तरसङ्गतिमाह ❀ एवं तावद् इति ❀ । विमृशति ❀ तत् पुनः इति ❀ । पूर्वपक्षं गृह्णाति ❀ तत्र इति ❀ । शास्त्रार्थवत्त्वादयो हि हेतव आत्मनः कर्तृत्वमापादयन्ति । न च स्वाभाविके कर्तृत्वे सम्भवति असत्यपवादे तदौपाधिकं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । न च मूक्त्यभावप्रसङ्गोऽस्यापवादकः, यथा

---

भामती—व्याख्या

• सूत्रस्थ 'समाधि' पद संयम का उपलक्षक है, संयम का लक्षण है—"त्रयमेकत्र संयमः" ( यो. सू. ३।४ ) । अर्थात् जब किसी एक ही विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि का प्रयोग किया जाता है, तब इन तीनों की सामूहिक परिभाषा 'संयम' होती है । वेदान्त में 'श्रोतव्यः' और मन्तव्यः'—इन दोनों पदों से धारणा का निर्देश किया गया हैं, क्योंकि श्रावण और मानस वृत्तियों के द्वारा ब्रह्मात्मता पर चित्त की अर्पणा ही श्रवण और मनन हैं, धारणा का भी यही लक्षण है—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" ( यो. सू. ३।१ ) । 'निदिध्यासितव्यः' इस पद के द्वारा ध्यान का निर्देश किया गया है, क्योंकि वृत्ति का सजातीय प्रवाह निदिध्यासन है, इसे ही ध्यान कहते हैं—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" ( यो. सू. ३।२) । 'द्रष्टव्यः'—यह पद समाधि का बोधक है, क्योंकि विशुद्ध एकाग्र वृत्ति के द्वारा ही आत्मा का दर्शन होता है—"दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया" ( कठो० १।३।१२ ) । उसी वृत्ति को समाधि कहते हैं—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" ( यो. सू. ३।३ ) । यदि आत्मा कर्त्ता नहीं, तब समाधि भावना का उपदेश नहीं हो सकेगा, अतः उपदिष्ट समाधि आदि का कर्तृत्व आत्मा अपने में समझता है ॥ ३९ ॥

---

**संगति**—"एवं तावत्" अर्थात् जीवात्मा में जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया है, उसी पर विशेष विचार किया जाता है ।

**संशय**—"तत्पुनः स्वाभाविकं स्यात् ? उपाधिनिमित्तकं वा ?" अर्थात् उक्त कर्तृत्व आत्मा में वास्तविक है ? अथवा औपाधिक ?

**पूर्वपक्ष**—कथित शास्त्रार्थवत्त्व आदि हेतुओं के द्वारा यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा में कर्तृत्व स्वाभाविक है । स्वाभाविक कर्तृत्व का जब तक कोई बाधक हेतु उपलब्ध न हो, तब तक औपाधिक मानना युक्त नहीं कहा जा सकता, अन्यथा चैतन्यादि स्वाभाविक पदार्थों को भी औपाधिक ही मानना होगा । 'मुक्ति अवस्था में कोई क्रिया न रहने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाभिवकं कर्तृत्वम्, अपवादहेत्वभावादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति, अग्नेरिवौष्ण्यात्। नच कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्यास्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। ननु स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्यपरिहारात्पुरुषार्थः सेत्स्यति, तत्परिहारश्च निमित्तपरिहारात्। यथाऽग्नेर्दहनशक्तियुक्तस्यापि काष्ठवियोगाद्दहनकार्याभावस्तद्वत्। न, निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन संबद्धा-

भामती

ज्ञानस्वभावो ज्ञेयाभावेऽपि नाज्ञो भवत्येवं कर्तृस्वभावोऽपि क्रियावेशाभावेऽपि नाकर्त्ता। तस्मात् स्वाभाविकमेवास्य कर्तृत्वमिति प्राप्ते।

अभिधीयते—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं हि ब्रह्म भूयोभूयः श्रूयते तदस्य बुद्धत्वमसत्यपि बोद्धव्ये युक्तं वह्नेरिवासत्यपि दाह्ये दग्धृत्वं, तच्छीलस्य तस्यावगमात्। कर्तृत्वं त्वस्य क्रियावेशादवगन्तव्यम्। न च नित्योदासीनस्य कूटस्थस्य नित्यस्यासङ्कुच्छ्रुतस्य सम्भवति, तस्य च कदाचिदपि असंसर्गे कथं तच्छक्तियोगो निर्विषयायाः शक्तेरसम्भवात्। तथा च यदि तत्सिद्ध्यर्थं तद्विषयः क्रियावेशोऽभ्युपेयते तथा सति तत्स्वभावस्य स्वभावोच्छेदाभावाद् भावनाशप्रसङ्गो न च मुक्तस्यास्ति क्रियायोग इति। क्रियाया दुःखत्वात्। न विगलितसकलदुःखपरमानन्दावस्था मोक्षः स्यादित्याशयवानाह ❀ न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मन ❀ इति ❀। अभिप्रायमबुद्ध्वा चोदयति ❀ ननु स्थितायामपि इति ❀। परिहरति ❀ न निमित्तानामपि इति ❀। शक्तशक्त्याश्रया शक्तिः स्वसत्तयाऽवश्यं शक्यमाक्षिपति। तथा च

भामती—व्याख्या

कारण कर्तृत्व क्योंकर रहेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे ज्ञेय पदार्थों के न रहने पर भी पुरुष अज्ञ (ज्ञानाभाववान्) नहीं होता, वैसे ही क्रिया का सम्बन्ध न रहने पर भी कर्त्ता अकर्त्ता नहीं होता।

**सिद्धान्त**—आत्मा में कर्तृत्व ज्ञानादि के समान स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीवात्मा ब्रह्मरूप है और ब्रह्म में सत्य, ज्ञान, आनन्दादि स्वाभाविक पदार्थों का श्रुतियाँ बार-बार प्रतिपादन करती हैं, अतः बोद्धव्य (ज्ञेय) पदार्थों के न रहने पर भी ज्ञानरूपता वैसे ही अक्षुण्ण रहती है, जैसे काष्ठादि दाह्य पदार्थों के न रहने पर भी अग्नि में दग्धृत्व सुरक्षित रहता है, क्योंकि अग्नि में दग्धृस्वरूपता निश्चित है। कर्तृत्व के स्वाभाविकत्व में कोई प्रमाण नहीं, प्रत्युत आत्मा में अकर्तृत्वादि श्रुत है, अतः आरोपित क्रिया के द्वारा ही कर्तृत्व का व्यवहार मानना होगा। जो आत्मा श्रुतियों में अनेक वार नित्य, उदासीन, कूटस्थ प्रतिपादित है, अतः उसमें क्रियारोप के बिना क्रिया-शक्ति का योग सम्भव नहीं। कोई भी शक्ति निर्विषयक नहीं होती, अतः क्रिया-शक्ति की सिद्धि के लिए यदि क्रिया का आवेश माना जाता है, तब जैसे अग्नि का दाहस्वभाव समाप्त होने पर अग्नि का ही नाश हो जाता है, वैसे ही मोक्षावस्था में आत्मा को कर्तृस्वभावता के नष्ट होने पर आत्मा का ही विनाश हो जायगा। 'मुक्त पुरुष में भी क्रिया का सम्बन्ध है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि क्रिया दुःखरूप है, अतः उसके रहने पर निखिल दुःखाभाव-सहित परमानन्दावाप्ति-रूप मोक्ष सिद्ध न होगा, इस आशय को मन में रखकर कहा है—"न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः"।

**शङ्का**—"ननु स्थितायामपि"। अर्थात् क्रियाशक्ति के रहने पर भी कार्य की निवृत्ति से मोक्ष की सिद्धि क्यों न होगी ?

**समाधान**—"न, निमित्तानामपि"। अर्थात् कार्य की भी अत्यन्त निवृत्ति सम्भव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Project and eGangotri

नामत्यन्तपरिहारासंभवात् । ननु मोक्षसाधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति—न, साधनायत्तस्यानित्यत्वात् । अपि च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तात्मप्रतिपादनान्मोक्षसिद्धिरभिमता । तादृगात्मप्रतिपादनं च न स्वाभाविके कर्तृत्वेऽवकल्पेत । तस्मादुपाधिधर्माध्यासेनेवात्मनः कर्तृत्वं, न स्वाभाविकम् । तथा च श्रुतिः—'ध्यायतीव लेलायतीव' ( बृ० ४।३।७ ) इति । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' ( कठ० ३।४ ) इति चोपाधिसंपृक्तस्यैवात्मनो भोक्तृत्वादिविशेषलाभं दर्शयति । नहि विवेकिनां परस्मादन्यो जीवो नाम कर्ता भोक्ता वा विद्यते; 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' ( बृ० ४।३।२३ ) इत्यादिश्रवणात् । पर एव तर्हि संसारी कर्ता भोक्ता च प्रसज्येत, परस्मादन्यश्चेच्चितिमात्रोवः कर्ता बुद्ध्यादिसंघातव्यतिरिक्तो न स्यात् न, अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्कर्तृत्वभो-

भामती

तयाऽऽक्षिप्तं शक्यं सदैव स्यादिति भावः । चोदयति ❀ ननु मोक्षसाधनविधानाद् इति ❀ । परिहरति ❀ न साधनायत्तस्य इति ❀ । अस्माकन्तु न मोक्षः साध्यः, अपितु ब्रह्मस्वरूपं तच्च नित्यमिति । उक्तमभिप्रायमाविष्करोति ❀ अपि च नित्यशुद्ध इति ❀ । चोदयति ❀ पर एव तर्हि संसारी इति ❀ । अयमर्थः—परश्चेत्संसारी तस्याविद्याप्रविलये मुक्तौ सर्वे मुच्येरन्नविशेषात् । ततश्च सर्वसंसारोच्छेवप्रसङ्गः । परस्मादन्यश्चेत्स बुद्ध्यादिसङ्घात एवेति तस्यैव तर्हि मुक्तिसंसारौ नात्मन इति । परिहरति ❀ नाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वाद् इति ❀ । न परमात्मनो मुक्तिसंसारौ तस्य नित्यमुक्तत्वान्नापि बुद्ध्यादिसङ्घातस्य, तस्याचेतनत्वादपि स्वविद्योपस्थापितानां बुद्ध्यादिसङ्घातानां भेदात्तत्तद्बुद्ध्यादिसङ्घातभेदोपधान आत्मे-

भामती—व्याख्या

नहीं, क्योंकि वह भी शक्तिरूप सम्बन्ध के द्वारा कार्य का भी सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है। आशय यह है कि शक्ति अपने शक्त और शक्यरूप दोनों सम्बन्धियों के आश्रित रहती है, अतः शक्य के बिना शक्ति की सत्ता अनुपपन्न होकर कार्यरूप शक्यार्थ का आक्षेप कर लेगी। यदि शक्ति सदातन हैं; तब कार्य भी सदातन ही रहेगा। उसके रहते मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती।

**शङ्का**—"ननु मोक्षसाधनविधानान्मोक्षः सेत्स्यति"। जैसे रोगी पुरुष औषध सेवन से नीरोग हो जाता है, चाहे वह चोर हो या साह। वैसे ही वेद-विहित साधनों के अनुष्ठान से बद्ध पुरुष मुक्त हो जाता है, चाहे वह कर्त्ता हो या अकर्त्ता।

**समाधान**—"न, साधनायत्तस्यानित्यत्वात्"। हमारा मोक्षतत्त्व किसी साधन से जनित नहीं होता, अपितु ब्रह्मस्वरूप मोक्ष नित्य है, केवल ज्ञान से उसकी अभिव्यक्ति होती है, ब्रह्म में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भान ही बन्धन पदार्थ है, उसके रहने पर मोक्ष क्योंकर होगा ?

दूसरी बात यह भी है कि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ब्रह्म की अवगति से मोक्ष-सिद्धि मानी गई है। स्वाभाविक कर्तृत्व उस अवगति का प्रतिबन्धक है।

**शङ्का**—यदि ब्रह्म से जीव भिन्न नहीं, तब परब्रह्म को ही संसारी कर्त्ता-भोक्ता मानना होगा। यदि परब्रह्म ही संसारी है, तब उसकी अविद्यानिवृत्तिरूप मुक्ति हो जाने पर सभी जीव मुक्त हो जाएँगे, क्योंकि सभी जीव समानरूप से ब्रह्मरूप हैं। फिर तो समस्त संसार का उच्छेद हो जायगा। इस दोष से बचने के लिए यदि जीव को परब्रह्म से भिन्न, माना जाता है, तब वह बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों का संघातमात्र होगा, मुक्ति और संसारी उसी को प्राप्त होगा, आत्मा को नहीं।

**समाधान**—"न, अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्"। परमात्मा न बद्ध होता है और न मुक्त, क्योंकि वह नित्यमुक्त है। बुद्ध्यादि का संघात भी बद्ध और मुक्त नहीं होता, क्योंकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्तृत्वयोः। तथा च शास्त्रम्-'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४) इत्यविद्यावस्थायां कर्तृत्वभोक्तृत्वे दर्शयित्वा विद्यावस्थायां ते एव कर्तृत्व-भोक्तृत्वे निवारयति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इति। तथा स्वप्नजागरितयोरात्मन उपाधिसंपर्ककृतं श्रमं श्येनस्येवाकाशे विपरि-पततः श्रावयित्वा तदभावं सुषुप्तौ प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तस्य श्रावयति—'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इत्यारभ्य 'एषास्य परया गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः' (बृ० ४।३।३२) इत्युपसंहारात्। तदेतदाहाचार्यः—यथा च तक्षोभयथा इति। त्वर्थे चायं चः पठितः। नैवं मन्तव्यं स्वाभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यमिति। यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति, स एव स्वगृहं प्राप्तो विमुक्तवा-स्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवत्येवमविद्याप्रत्युपस्थापितद्वैत-सम्पृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति, स तच्छ्रमापनुत्तये स्वमा-त्मानं परं ब्रह्म प्रविश्य विमुक्तकार्यकरणसंघातोऽकर्ता सुखी भवति सम्प्रसादावस्था-

भामती

कोऽपि भिन्न इव विशुद्धोऽप्यविशुद्ध इव ततश्चैकबुद्ध्यादिसङ्घातापगमे तत्र मुक्त इवेतरत्र बद्ध इव यथा मणिकृपाणाद्युपधानभेदादेकमेव मुखं नानेव दीर्घमिव वृत्तमिव श्यामिवावदातमिवान्यतमोपधानविगमे तत्र मुक्तमिवान्यत्रोपहितमिवेति नैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः, तस्मान्न परमात्मनो मोक्षसंसारौ, नापि बुद्ध्यादिसङ्घातस्य किन्तु बुद्ध्याद्युपहितस्यात्मस्वभावस्य जीवभावमापन्नस्येति परमार्थः। अत्रैवान्वय-व्यतिरेकौ श्रुतिभिरादर्शयति ❀ तथा च इति ❀। इतश्चौपाधिकं यदुपाध्यभिभवोद्भवाभ्यामस्याभिभवो-द्भवौ दर्शयति श्रुतिरित्याह ❀ तथा स्वप्नजागरितयोरिति ❀। अत्रैवार्थे सूत्रं व्याचष्टे ❀ तदेतदाह इति ❀। सम्प्रसादः सुषुप्तिः। स्यादेतत्—तक्षणः पाण्यादयः सन्ति तैरयं वास्यादीन् व्यापारयन् भवतु

भामती—व्याख्या

वह अचेतन (जडमात्र) है। वस्तु-स्थिति यह है कि आत्मा एक है, बुद्धयादि-संघातरूप उपाधियों के भेद से भिन्न-जैसा, विशुद्ध होने पर भी अविशुद्ध-जैसा हो जाता है। बुद्धयादि-संघातरूप एक उपाधि के अपगम (विलयन) से मुक्त-जैसा और अन्य उपाधियों के योग से बद्ध-जैसा वैसे ही हो जाता है, जैसे मणि, कृपाण आदि उपाधियों के भेद से एक ही मुख नाना-जैसा, कहीं लम्बा, कहीं गोल, कहीं श्याम और कहीं श्वेत-जैसा प्रतीत होता है। एक उपाधि के विगम से मुक्त और अन्य उपाधि के सम्बन्ध से उपहित-जैसा प्रतीत होता है। फलतः मोक्ष का सम्बन्ध न परमात्मा से होता है और न बुद्धयादि-संघात से, किन्तु बुद्धयादि उपाधि के सम्बन्ध से जीवभाव को प्राप्त आत्मा ही बद्ध और मुक्त होता है। इसी अर्थ में श्रुतियों के द्वारा अन्वय और व्यतिरेक प्रदर्शित किए जाते हैं—"तथा च शास्त्रम्"। "यत्र हि द्वैतमिव भवति, तदितर इतरं पश्यति" (बृह. उ. २।४।१४) इत्यादि श्रुतियाँ सोपाधिक आत्मा में ही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सिद्ध करती हैं। अन्तःकरण के उद्भव और अभिभव पर ही आत्मा में कर्तृत्वादिका उद्भव और अभिभव होता है, यह दिखाया जाता है—"तथा स्वप्न-जागरितयोः"। जैसे श्येन पक्षी आकाश में उड़ता-उड़ता थक कर अपने घोंसले जाकर सो जाता है, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न में अन्तःकरण की सक्रियता से आत्मा क्रियाशील होकर अपने को श्रान्त-सा अनुभव करके सुषुप्ति में अन्तःकरण की सक्रियता समाप्त होने पर सुषुप्त-सा हो जाता है।

कथित अर्थ में ही सूत्र की योजना की जा रही है—"तदेतदाहाचार्यः"। 'सम्प्रसाद' पद से सुषुप्ति का ग्रहण किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याम्। तथा मुक्त्यवस्थायामप्यविद्याध्वान्तं विद्याप्रदीपेन विधूयात्मैव केवलो निर्वृतः सुखी भवति। तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांऽशेन द्रष्टव्यः। तक्षा हि विशिष्टेषु तक्षणादिव्यापारेष्वपेक्ष्यैव प्रतिनियतानि करणानि वास्यादीनि कर्ता भवति। स्वशरीरेण त्वकर्तैव। एवमयमात्मा सर्वव्यापारेष्वपेक्ष्यैव मनआदीनि करणानि कर्ता भवति, स्वात्मना त्वकर्तैवेति। न त्वात्मनस्तक्ष्ण इवावयवाः सन्ति यैर्हस्तादिभिरिव वास्यादीनि तक्षा मनआदीनि करणान्यात्मोपाददीत न्यस्येद्वा ॥ यत्तूक्तं-शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वमिति, तन्न, विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति, न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। नच स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते। कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष इत्येवंजातीयकमपि शास्त्रमनुवादरूपत्वाद्यथाप्राप्तमेवाविद्याकृतं कर्तृत्वमनुवदिष्यति। एतेन विहारोपादाने परिहृते, तयोरप्यनुवाद-

भामती

दुःखी, परमात्मा त्वनवयवः केन मनःप्रभृतीनि व्यापारयेदिति वैषम्यं तक्ष्णो दृष्टान्तेनेत्यत आह ॐ तक्षदृष्टान्तश्च इति ॐ। यथा स्वशरीरेणोदासीनस्तक्षा सुखी वास्यादीन तु करणानि व्यापारयन् दुःखी, तथा स्वात्मनात्मोदासीनः सुखी मनःप्रभृतीनि तु करणादीनि व्यापारयन् दुःखीत्येतावताऽस्य साम्यं न तु सर्वथा। यथाऽऽत्मा च जीवोऽवयवान्तरानपेक्षः स्वशरीरं व्यापारयत्येवं मनःप्रभृतीनि तु करणान्तराणि व्यापारयतीति प्रमाणसिद्धे नियोगपर्य्यनुयोगानुपपत्तिः। पूर्वपक्षहेतूननुभाष्य दूषयति ॐयत्तूक्तम् इतिॐ। यत्परं हि शास्त्रं स एव शास्त्रार्थः। कर्त्रपेक्षितोपायभावनापरं तत्, न कर्तृस्वरूपपरम्। तेन यथा लोकसिद्धं कर्त्तारमपेक्ष्य स्वविषये प्रवर्त्तमानं न पुंसः स्वाभाविकं कर्तृत्वमवगमयितुमुत्सहते, तस्मात्तस्व-

भामती-व्याख्या

शङ्का—तक्षा ( बढ़ई ) के तो हाथ-पैर हैं, उनके द्वारा बसूला चलाता-चलाता थक कर दुःखी होता है, किन्तु परमात्मा निर्गुण, निराकार, निरवय है, वह बुद्धयादि का सञ्चालन कैसे करेगा ?

समाधान—"तक्षदृष्टान्तश्चैतावतांशेन द्रष्टव्यः" अर्थात् जैसे तक्षा बसूला चलाता है, बसूला के द्वारा काटी-पीटी, छीली-छाली वस्तु के लिए कहता है कि मैंने ही काटा-पीटा छीला-छाला है, किन्तु उसके हस्तादि-युक्त शरीर ने साक्षात् कुछ नहीं किया, अतः वास्यादि के द्वारा जिस क्रिया का कर्त्ता है, शरीर की दृष्टि से अकर्त्ता है। वैसे ही आत्मा बुद्धयादि करणों के द्वारा कर्त्ता, स्वतः अकर्त्ता है। बुद्धयादि के माध्यम से दुःखी, स्वतः सुखी है। इतने अंश में ही दृष्टान्त का साम्य विवक्षित है, सर्वथा नहीं। वस्तुतः जब जीव अपने अवयवों के बिना ही शरीर का संचालन करता हुआ देखा जाता है, तब क्यों ? और कैसे ? इस प्रकार के आक्षेपों का कोई अवसर ही नहीं रह जाता। [ नियोगपूर्वक पर्यनुयोग का नाम नियोगपर्यनुयोग है। 'यः प्रेरयति, स पाण्यादिभिरेव'—ऐसा नियोग ( नियम ) दिखा कर 'परमात्मा तु निरवयवः, केन मनःप्रभृतीनि व्यापारयेत् ?' ऐसा पर्यनुयोग ( परिपृच्छा या प्रश्न ) करना नियोगपर्यनुयोग है ]।

पूर्वपक्ष की हेतूक्ति का अनुवाद करके निरास किया जाता है—"यत्तूक्तम्"। जो वाक्य या शास्त्र जिस परम तात्पर्य से प्रवृत्त होता है, उसका वही मुख्यार्थ होता है। सभी विधि-वाक्य कर्त्ता के द्वारा अपेक्षित ( अभीष्ट ) अर्थ के उपाय का उपदेश करते हैं, अतः इष्ट-साधनता-प्रतिपादन में ही शास्त्र का परम तात्पर्य है, अनूद्यमान कर्त्ता आदि के स्वरूप प्रकाशन में नहीं। लोक-प्रसिद्ध कर्त्ता का अनुवाद करके यदि कोई शास्त्र इष्टोपायता क

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपत्वात्। ननु सन्ध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत इति विहार उपदिश्यमानः केवलस्यात्मनः कर्तृत्वमावहति। तथोपादानेऽपि 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति करणेषु कर्मकरणविभक्तौ श्रूयमाणे केवलस्यात्मनः कर्तृत्वं गमयत इति। अत्रोच्यते—न तावत्सन्ध्ये स्थानेऽत्यन्तमात्मनः करणविरमणमस्ति, 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति' (बृ० ४।३।७) इति तत्रापि धीसम्बन्धश्रवणात्। तथा च स्मरन्ति—'इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि। सेवते विषयानेव तद्विद्यात्स्वप्नदर्शनम्' इति। 'कामाद्ययश्च मनसो वृत्तयः' इति श्रुतिः। ताश्च स्वप्ने दृश्यन्ते। तस्मात्समना एव स्वप्ने विहरति। विहारोऽपि च तत्रत्यो वासनामय एव नतु पारमार्थिकोऽस्ति। तथा च श्रुतिरिवाकारानुबद्धमेव स्वप्नव्यापारं वर्णयति—'उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्' (बृ० ४।३।१३) इति। लौकिका अपि तथैव स्वप्नं कथयन्ति—आरुक्षमिव गिरिशृङ्गम्, अद्राक्षमिव वनराजिमिति। तथोपादानेऽपि यद्यपि करणेषु कर्मकरणविभक्तिनिर्देशः, तथापि

भामती

मसीत्याद्युपदेशविरोधादविद्याकृतं तदवतिष्ठते। चोदयति। ❀ ननु सन्ध्ये स्थान इति ❀। औपाधिक हि कर्तृत्वं नोपाध्यपगमे सम्भवतीति स्वाभाविकमेव युज्यत इत्यर्थः। अपि च यत्रापि करणमस्ति तत्रापि केवलस्यात्मनः कर्तृत्वश्रवणात् स्वाभाविकमेव युक्तमित्याह ❀ तथोपादानेऽपि इति ❀। तदेतत् परिहरति ❀ न तावत्सन्ध्य इति ❀। उपाध्यपगमोऽसिद्धोऽन्तःकरणस्योपाधेः सन्ध्येऽप्यवस्थानादित्यर्थः। अपि च स्वप्ने यादृशं ज्ञानं तादृशो विहारोऽपीत्याह ❀ विहारोऽपि च तत्र इति ❀। ❀ तथोपादानेऽपि इति ❀। यद्यपि कर्तृविभक्तिः केवले कर्तरि श्रूयते, तथापि कर्मकरणोपधानकृतमस्य कर्तृत्वं न शुद्धस्य, नहि परशुसहायश्छेत्ता केवलश्छेत्ता भवति। ननु यदि न केवलस्य कर्तृत्वमपि तु करणादिसहितस्यैव, तथा

भामती—व्याख्या

प्रतिपादन करता है, तो वह स्वाभाविक कर्तृत्व का प्रतिपादक नहीं माना जाता। फलतः "तत्त्वमसि"—इत्यादि अभेद-बोधक शास्त्रों का स्वाभाविक कर्तृत्व में विरोध होने के कारण आत्मा में अविद्या-प्रयुक्त कर्तृत्व ही पर्यवसित होता।

शङ्का—"ननु सन्ध्ये स्थाने प्रसुप्तेषु करणेषु"। अर्थात् औपाधिक कर्तृत्व उपाधि के निवृत्त होने पर कभी सम्भव नहीं, किन्तु सन्ध्यकाल (स्वप्नावस्था) में इन्द्रियों के प्रसुप्त होने पर भी आत्मा का यथेच्छ शरीर में विहरण यह सिद्ध करता है कि कर्तृत्व स्वाभाविक है। जहाँ पर करण-ग्राम जागरित है, वहाँ भी केवल आत्मा में कर्तृत्व श्रुत है, अतः कर्तृत्व का स्वाभाविक होना ही युक्ततर है, भाष्यकार ने यही कहा है—"तथोपादानेऽपि"।

समाधान—"न तावत्सन्ध्ये स्थाने"। अर्थात् स्वप्नावस्था में उपाधि का अपगम असिद्ध है, क्योंकि वहाँ भी अन्तःकरण अवस्थित रहता है। यद्यपि इन्द्रियों के प्रसुप्त होने के कारण जागरित-जैसा विहरण नहीं होता, तथापि वहाँ जैसा वासनामय प्रपञ्च होता है, वैसा ही विहरण भी होता है—"विहारोऽपि च तत्र वासनामयः"। करण-ग्राम की अवस्थिति में यद्यपि कर्तृत्ववाचिनी प्रथमा विभक्ति केवल कर्त्ता में श्रुत है, तथापि शुद्ध आत्मा में कर्तृत्व सम्भव न होने के कारण औपाधिक ही माना जाता है, क्योंकि लोक में भी कुठारादि की सहायता से काष्ठ का छेदन करनेवाला बढ़ई भी अकेला छेदन-कर्त्ता नहीं होता, अपितु कुठारादि-सहित बढ़ई छेत्ता माना जाता है।

शङ्का—यदि केवल बढ़ई में कर्तृत्व न होकर कुठार-विशिष्ट में कर्तृत्व होता है, तब 'कुठार' पद के उत्तर भी करण-विभक्ति (तृतीया) न होकर कर्तृविभक्ति (प्रथमा) ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्सम्पृक्तस्यैवात्मनः कर्तृत्वं द्रष्टव्यम्, केवले कर्तृत्वासम्भवस्य दर्शितत्वात्। भवति च लोकेऽनेकप्रकारा विवक्षा—योधा युध्यन्ते योधै राजा युध्यत इति। अपि चास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते, न स्वातन्त्र्यं, कस्यचिद्बुद्धिपूर्वकस्यापि स्वापे करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वात्। यस्त्वयं व्यपदेशो दर्शितः—'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इति, स बुद्धेरेव कर्तृत्वं प्रापयति, विज्ञानशब्दस्य तत्र प्रसिद्धत्वात्, मनोनन्तरं पाठाच्च। 'तस्य श्रद्धैव शिरः' (तै० २।४) इति च विज्ञानमयस्यात्मनः श्रद्धाद्यवयवत्वसंकीर्तनात्, श्रद्धादीनां च बुद्धिधर्मत्वप्रसिद्धेः, 'विज्ञानं देवाः सर्वं ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते' (तै० २।५।१) इति च वाक्यशेषात्, ज्येष्ठत्वस्य च प्रथमजत्वस्य बुद्धौ प्रसिद्धत्वात्। 'स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः' इति च श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिसाध्यत्वावधारणात्। नच बुद्धेः शक्तिविपर्ययः करणानां कर्तृत्वाभ्युपगमे भवति, सर्वकारकाणामेव स्वस्वव्यापारेषु कर्तृत्वस्यावश्यंभावित्वात्। उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वं, सा चात्मनः। नच तस्यामप्यस्य कर्तृत्वमस्ति, नित्योपलब्धिस्व-

भामती

सति करणादिष्वपि कर्तृविभक्तिः स्यान्न चैतदस्तीत्याह ॐ भवति च लोक इति ॐ। करणादिष्वपि कर्तृविभक्तिः कदाचिदस्त्येव विवक्षावशादित्यर्थः। अपि चेयमुपादानश्रुतिः करणव्यापारोपरममात्रपरा न स्वातन्त्र्यपरा कर्तृविभक्तिस्तु भाक्तो कूलं पिपतिषतीतिवदबुद्धिपूर्वकस्य करणव्यापारोपरमस्य दृष्टत्वादित्याह ॐ अपि चास्मिन्नुपादान इति ॐ। यस्त्वयं व्यपदेश इति यत्तबुक्तमस्माभिरभ्युच्चयमात्रमेतदिति, तदितः समुत्थितम्। ॐ सर्वकारकाणामेव इति ॐ। विक्लिद्यन्ति तण्डुला ज्वलन्ति काष्ठानि बिभर्ति स्थालीति हि स्वव्यापारे सर्वेषां कर्तृत्वं, तत्किं बुद्ध्यादीनां कर्तृत्वमेव न करणत्वमित्यत आह ॐ उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणत्वम् ॐ। नन्वेवं सति तस्यामेवात्मनः स्वाभाविकं कर्तृत्वमस्त्वित्यत आह ॐन च तस्याम्ॐ उपलब्धावप्यस्य स्वाभाविकं ॐ कर्तृत्वमस्ति ॐ। कस्मात्? नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्ॐ

भामती—व्याख्या

होनी चाहिए।

**समाधान**—"भवति च लोके अनेकप्रकारा विवक्षा" अर्थात् "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" (जैनेन्द्र. १।४।४१)। इस नियम के अनुसार करणादि में भी क्वचित् कर्तृविभक्ति होती है, अत एव "चक्षुः पश्यति रूपाणि, श्रोत्रं सर्वं शृणोति" (पा. ब्र. उ. १४) इत्यादि श्रौत एवं 'योधा युध्यन्ते, योधैर्युध्यते धराधिपः'—इत्यादि लौकिक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि "विज्ञानेन विज्ञानमादाय" (बृह. उ. २।१।१७) इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य करण-व्यापार के उपरममात्र में है, स्वतन्त्र कर्तृत्व के प्रतिपादन में नहीं। "विज्ञानं यज्ञं तनुते" (तै. २।५।१) यहाँ पर 'विज्ञान' पद से बुद्धि का ही ग्रहण है और 'विज्ञान' पद के उत्तर कर्तृविभक्ति (प्रथमा) वैसे ही गौण है, जैसे 'कूलं पिपतिषति'—इत्यादि प्रयोगों में जडभूत कूलादि में इच्छादि का गौण व्यवहार होता है, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"अपि चास्मिन्नुपादाने करणव्यापारोपरममात्रं विवक्ष्यते"। हम (भामतीकार) ने जो ऊपर कहा था—"अभ्युच्चयमात्रम्', वह "यस्त्वयं व्यपदेशः"—इस भाष्य की छाया है। "सर्वकारकाणामेव"। 'विक्लिद्यन्ति, तण्डुलाः' (चावल उबल रहे हैं), 'ज्वलन्ति काष्ठानि' (लकड़ियाँ जल रही हैं), 'बिभर्ति स्थाली' (पतीली भर गई है) इस प्रकार अपने-अपने व्यापार का कर्तृत्व सभी पदार्थों में होता है, बुद्धि में भी व्यापार की कर्तृता है, किन्तु जैसे 'काष्ठैः पचति'—यहाँ पाकरूप व्यापार की अपेक्षा काष्ठों में करणत्व होता है, वैसे ही 'बुद्ध्या उपलभते'—यहाँ पर उपलब्धिरूप व्यापार की अपेक्षा बुद्धि में करणता होती है और उपलब्धि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपत्वात्। अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहंकारस्याप्युपलभ्यमानत्वात्। न चैवं सति करणान्तरकल्पनाप्रसङ्गः, बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्। समाध्यभावस्तु शास्त्रार्थवत्त्वेनैव परिहृतः, यथाप्राप्तमेव कर्तृत्वमुपादाय समाधिविधानात्। तस्मात्कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति स्थितम्॥ ४०॥

---

भामती

आत्मनो नहि नित्ये स्वभावे चास्ति भावस्य व्यापार इत्यर्थः। तदेवं नास्योपलब्धौ स्वाभाविकं कर्तृत्वमस्तीत्युक्तम्। नापि बुद्ध्यादेरुपलब्धिकर्तृत्वमात्मन्यध्यस्तं यथा तद्गतमध्यवसायादिकर्तृत्वमित्याह ❀ अहङ्कारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति ❀। कुतः? ❀ अहङ्कारस्याप्युपलभ्यमानत्वात् ❀। नहि शरीरादि यस्यां क्रियायां गम्यं तस्यामेव गन्तृ भवति। एतदुक्तं भवति— यदि बुद्धिरुपलब्धा भवेत् ततस्तस्या उपलब्धृत्वमात्मन्यध्यवस्येत। न चैतदस्ति, तस्या जडत्वेनोपलभ्यमानतयोपलब्धिकर्तृत्वानुपपत्तेः। यदा चोपलब्धो बुद्धेरकर्तृत्वं तदा यदुक्तं बुद्धेरुपलब्धृत्वे करणान्तरं कल्पनीयं तथा च नाममात्रे विसंवाद इति तत्र भवतीत्याह ❀ न चैवं सति करणान्तरकल्पना ❀ बुद्धेरुपलब्धृत्वाभावात्। तत्किमिदानीमकरणं बुद्धिरुपलब्धा वात्मा चानुपलब्धेत्यत आह ❀ बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात् ❀। अयमभिसन्धिः— चैतन्यमुपलब्धिरात्मस्वभावो नित्य इति न तत्रात्मनः कर्तृत्वम्, नापि बुद्धेः करणत्वं, किन्तु चैतन्यमेव विषयावच्छिन्नं वृत्तिरिति चोपलब्धिरिति चाख्यायते। तस्य तु तत्तद्विषयावच्छेदे वृत्तौ बुद्ध्यादीनां करणत्वमात्मनश्च तदुपधानेनाहङ्कारपूर्वकं कर्तृत्वं युज्यत इति॥ ४०॥

---

यदेतज्जीवानामौपाधिकं कर्तृत्वं तत्प्रवर्त्तनालक्षणेषु रागादिषु सत्सु, नेश्वरमपरं प्रवर्तकं कल्प-

---

भामती—व्याख्या

का कर्तृत्व आत्मा में होता है—"उपलब्ध्यपेक्षं त्वेषां करणानां करणत्वम्"। आत्मा में जो उपलब्धि का कर्तृत्व है, वह स्वाभाविक क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"न च तस्यामप्यस्य कर्तृत्वम्"। उपलब्धि आत्मस्वरूप होने के कारण नित्य है, अतः उसका स्वाभाविक कर्तृत्व कहीं पर भी नहीं बन सकता। नित्य स्वभाव का उत्पादन व्यापार किसी भी भाव पदार्थ में सम्भव नहीं। बुद्ध्यादिगत उपलब्धि-कर्तृत्व का अध्यास भी आत्मा में सम्भव नहीं—'अहंकारपूर्वकमपि कर्तृत्वं नोपलब्धुर्भवितुमर्हति, अहंकारस्यापि उपलभ्यमानत्वात्"। जिस क्रिया का जो कर्म होता है, वह उस क्रिया का कर्त्ता कभी नहीं हो सकता, सारांश यह है कि यदि बुद्धि में उपलब्धि का कर्तृत्व होता, तब उसका उपलब्धृत्व आत्मा में अध्यस्त हो सकता था। बुद्धि में उपलब्धि की कर्मता होने के कारण कर्तृता सम्भव नहीं। उपलब्धि का कर्तृत्व बुद्धि में नहीं, तब जो यह कहा गया कि "बुद्धेरुपलब्धृत्वे करणान्तरं कल्पनीयम्", उसका समाधान है—"न चैवं सति करणान्तरं कल्पनीयम्, बुद्धेरुपलब्धृत्वाभावात्"। उपलब्धि के नित्य होने से बुद्धि यदि उपलब्धि की कर्त्री नहीं, तब करण भी भी क्योंकर होगी? इसका उत्तर है—"बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्"। आशय यह है कि चैतन्यरूप उपलब्धि आत्मस्वरूप होने से नित्य है, अतः उसका न तो आत्मा में कर्तृत्व है और न बुद्धि में करणत्व, किन्तु चैतन्य ही विषयावच्छिन्न होकर वृत्ति और उपलब्धि आदि शब्दों से कहा जाता है। उसकी बुद्धि में करणता और आत्मा में बुद्धिरूप उपाधि के द्वारा अहंकारपूर्वक कर्तृता बन जाती है॥ ४०॥

---

**संगति और पूर्वपक्ष**—जीवात्मा में जो औपाधिक कर्तृत्व सिद्ध किया गया, वहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १६ परायत्ताधिकरणम् । सू० ४१--४२ )

### परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

यदिदमविद्यावस्थायामुपाधिनिबन्धनं कर्तृत्वं जीवस्याभिहितं, तत्किमनपेक्ष्येश्वरं भवत्याहोस्विदीश्वरापेक्षमिति भवति विचारणा । तत्र प्राप्तं तावत् नेश्वरमपेक्षते जीवः कर्तृत्वे इति । कस्मात् ? अपेक्षाप्रयोजनाभावात् । अयं हि जीवः स्वयमेव रागद्वेषादिदोषप्रयुक्तः कारकान्तरसामग्रीसंपन्नः कर्तृत्वमनुभवितुं शक्नोति । तस्य किमीश्वरः करिष्यति ? नच लोके प्रसिद्धिरस्ति कृष्यादिकासु क्रियास्वनडुहादिवदीश्वरोऽपरोऽपेक्षितव्य इति । क्लेशात्मकेन च कर्तृत्वेन जन्तून्संसृजत ईश्वरस्य नैर्घृण्यं प्रसज्येत, विषमफलं चेषां कर्तृत्वं विदधतो वैषम्यम् । ननु 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' ( ब्र० १।४।१७ ) इत्युक्तम् । सत्यमुक्तम् , सति त्वीश्वरस्य सापेक्षत्वसंभवे । सापेक्षत्वं चेश्वरस्य संभवति सतोर्जन्तूनां धर्माधर्मयोः, तयोश्च सद्भावः सति जीवस्य कर्तृत्वे । तदेव चेत्कर्तृत्वमीश्वरापेक्षं स्यात्किंविषयमीश्वरस्य सापेक्षत्वमुच्येत ? अकृताभ्यागमश्चैवं जीवस्य प्रसज्येत । तस्मात्स्वत एवास्य कर्तृत्वमिति । एतां प्राप्तिं

भामती

यितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । नचेश्वरो द्वेषपक्षपातरहितो जीवान् साध्वसाधुनि कर्मणि प्रवर्तयितुमर्हति येन धर्माधर्मापेक्षया जगद्वैचित्र्यमुपपद्येत । स हि स्वतन्त्रः कारुणिको धर्म एव जन्तून् प्रवर्तयेन्नाधर्मे, ततश्च तत्प्रेरिता जन्तवः सर्वे धार्मिका एवेति सुखिन एव स्युर्न दुःखिनः । स्वतन्त्रास्तु रागादिप्रयुक्ता। प्रवर्तमाना धर्माधर्मप्रचयवन्तो वैचित्र्यमनुभवन्तीति युक्तम् । एवञ्च विधिनिषेधयोरर्थवत्त्वमितरथा तु सर्वथा जीवा अस्वतन्त्रा इतीश्वरेणैव प्रवर्त्यन्त इति कृतं विधिनिषेधाभ्यां, नहि बलवदनिलसलिलौघनुद्यमानं प्रत्युपदेशोऽर्थवान् । तस्मादेष ह्येव साधु कर्म कारयतीत्यादयः श्रुतयः समस्तविधिनिषेधश्रुतिविरोधाल्लोकविरोधाच्चेश्वरैश्वर्यप्रशंसापरतया नेया इति प्राप्तेऽभिधीयते । एष ह्येव साधु कर्म कारयतीत्या-

भामती—व्याख्या

क्रिया में जीव का प्रवर्तक कौन ? इस प्रश्न के उत्तर में राग-द्वेष को प्रवर्तक कहा जा सकता है, क्योंकि राग-द्वेष को दोष की संज्ञा देते हुए प्रवर्तक कहा जा चुका है—"प्रवर्तनालक्षणो दोषः" ( न्या. सू. १।१।१८ ) । अतः ईश्वर को प्रवर्तक मानने की आवश्यकता नहीं, अन्यथा ईश्वर में रागादिमत्त्व की प्रसक्ति होगी, क्योंकि द्वेष और पक्षपात के विना किसी जीव को पाप और किसी को पुण्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं किया जा सकेगा । जीवों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट की अपेक्षा भी विषम सृष्टि की रचना करने में ईश्वर का स्वातन्त्र्य और कारुणिकत्व समाप्त हो जाता है, अन्यथा सुखी रखने के लिए सभी जीवों को धर्मकार्यों में ही प्रवृत्त करता, जिससे सब सुखी ही रहते, दुःखी कोई न होता । इस लिए यही मानना नितान्त युक्ति-युक्त है कि सभी जीव स्वतन्त्र हैं, अपने रागादि गुणों से प्रेरित होकर उपार्जित धमाधर्मों के द्वारा सुख-दुःख-मिश्रित वैचित्र्य का अनुभव करते हैं । इस प्रकार विधि-निषेधरूप शास्त्रों की सार्थकता और मर्यादा भी बनी रहती है, अन्यथा सर्वथा परतन्त्र होकर ईश्वर के हाथों में ही नाचते रहते, विधि-निषेध का कोई सार्थक्य नहीं रह जाता, क्योंकि जैसे प्रबल प्रभञ्जन के प्रलयङ्कर झञ्झावात या महान् विप्लवकारी जल-प्लावन में फँसे निरीह प्राणी के लिए लोगों का उपदेश कुछ काम नहीं करता, वैसे ही ईश्वरानुशासन-परवश मनुष्य के लिए विधि-निषेध का क्या उपयोग ? अतः मनुष्यों को स्वतन्त्र रखने के लिए "एष ह्येव साधु कर्म कारयति" ( कौषी. ३।८ ) इत्यादि श्रुतियों को स्वार्थपरक न मान कर ईश्वरीयप्रशंसापरक अर्थवाद-मात्र मानना होगा, क्योंकि समस्त विधि-निषेध शास्त्र एवं लोक-मर्यादा से वे विरुद्ध हैं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


तुशब्देन व्यावर्त्यं प्रतिजानीते—'पराद्' इति। अविद्यावस्थाया कार्यकरणसंघातावि-वेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात्सर्वभूता-धिवासात्साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनु-ग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः? तच्छ्रुतेः। यद्यपि दोषभ-युक्तः सामग्रीसंपन्नश्च जीवः, यद्यपि च लोके कृष्णादिषु कर्मसु नेश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं, तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिष्वीश्वरो हेतुकर्तेति श्रुतेरवसीयते। तथा हि श्रुतिर्भवति—एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषी० ३।८) इति। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयका॥ ४१॥

नन्वेवमीश्वरस्य कारयितृत्वे सति वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामकृताभ्यागमश्च जीवस्येति, नेत्युच्यते—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः॥ ४२॥

तुशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः कृतो यः प्रयत्नो जीवस्य धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवैनमीश्वरः कारयति। ततश्चैते चोदिता दोषा न प्रसज्यन्ते। जीवकृतधर्माधर्मवैष-म्यापेक्ष एव तत्तत्फलानि विषमं विभजेत्पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। यथा लोके नानाविधानां गुच्छगुल्मादीनां व्रीहियवादीनां चासाधारणेभ्यः स्वस्वबीजेभ्यो जायमा-नानां साधारणं निमित्तं भवति पर्जन्यः। न ह्यसति पर्जन्ये रसपुष्पपलाशादिवैषम्यं तेषां

भामती

व्यस्तावच्छ्रुतयः सर्वव्यापारेषु जन्तूनामीश्वरतन्त्रतामाहुः। तदसति प्रतिबन्धके न प्रशंसापरतया व्याख्या-तुमुचितम्। न च श्रुतिसिद्धस्य कल्पनीयता, येन प्रवर्तकेषु रागादिषु सत्सु तत्कल्पना विरुध्येत। न चेश्वरतन्त्रत्वे धर्म एव जन्तूनां प्रवृत्तेः सुखित्वमेव न वैचित्र्यमिति युक्तम्। यद्यप्ययमीश्वरो वीतरागस्त-थापि पूर्वपूर्वजन्तुः कर्मापेक्षया जन्तून् धर्माधर्मयोः प्रवर्तयन् न द्वेषपक्षपाताभ्यां विषमो नापि निर्घृणः। न च कर्मप्रचयस्यादिरस्त्यनादित्वात्संसारस्य। न चेश्वरतन्त्रस्य कृतं विधिनिषेधाभ्यामिति साम्प्रतम्। नह्येश्वरः प्रबलतरपवन इव जन्तून् प्रवर्तयत्यपि तु तच्चैतन्यमनुरुध्यमानो रागाद्युपहारमुखेनैवं चेष्टानिष्ट-

भामती–व्याख्या

सिद्धान्त—"एष ह्येव साधु कर्म कारयति" (कौषी. ३।८) इत्यादि श्रुतियाँ जो सभी व्यापारों में जीवों को ईश्वर के अधीन बताती हैं, वह किसी प्रबल विरोधी प्रमाण से ही बाधित हो सकता है, किन्तु वैसा कोई प्रबल विरोधी उपलब्ध नहीं होता, अतः उन श्रुतियों का ईश्वर की प्रशंसा में तात्पर्य नहीं माना जा सकता। जीवों की ईश्वराधीनता कल्पनीय नहीं, अपितु श्रुति-सिद्ध है, अतः रागादिरूप प्रवर्तकों के रहने पर अन्य प्रवर्तक की कल्पना का ही अवरोध हो सकता था, प्रमाण-सिद्ध प्रवर्तक का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।

यह जो कहा गया कि ईश्वर कारुणिक है, अतः उसकी धर्म में प्रेरणा रहेगी, अधर्म-कार्यों में नहीं, अतः प्राणियों को सुख ही प्राप्त होना चाहिए सुख-दुःख मिश्रित विचित्र उपलब्धि नहीं होनी चाहिए। वह कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि यद्यपि ईश्वर वीतराग है, तथापि पूर्व-पूर्व कर्मों के अनुसार जीवों को धर्म और अधर्म में प्रवृत्त करता है, उसमें न किसी प्रकार की विषमता आती है और निर्घृणता (अकरुणा)। कर्म-राशि सादि नहीं, अपितु अनादि है। 'ईश्वर की अधीनता स्वीकार करने पर जीवों के लिए विधि-निषेध शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं'—ऐसी बात नहीं, क्योंकि ईश्वर का अनुशासन न तो कोई आँधी है और पानी की बाढ़ जिसमें प्राणी अत्यन्त विवश हो जाय। ईश्वर ही विधि-निषेध शास्त्र प्रणयन

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायते, नाप्यसत्सु स्वस्वबीजेषु, एवं जीवकृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वरस्तेषां शुभाशुभं विदध्यादिति श्लिष्यते। ननु कृतप्रयत्नापेक्षत्वमेव जीवस्य परायत्ते कर्तृत्वे नोपपद्यते, नैष दोषः, परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः। कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति। अपि च पूर्वप्रयत्नमपेक्ष्येदानीं कारयति, पूर्वतरं च प्रयत्नमपेक्ष्य पूर्वमकारयदित्यनादित्वात्संसारस्येत्यनवद्यम्। कथं पुनरवगम्यते कृतप्रयत्नापेक्ष ईश्वर इति ? विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य इत्याह। एवं हि 'स्वर्गकामो यजेत' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येवंजातीयकस्य विहितस्य प्रतिषिद्धस्य चावैयर्थ्यं भवति, अन्यथा तदनर्थकं स्यात्। ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येते। अत्यन्तपरतन्त्रत्वाज्जीवस्य। तथा विहितकारिणमप्यनर्थेन संसृजेत्प्रतिषिद्धकारिणमप्यर्थेन। ततश्च प्रामाण्यं वेदस्यास्तमियात्। ईश्वरस्य चात्यन्तानपेक्षत्वे लौकिकस्यापि पुरुषकारस्य वैयर्थ्यम्, तथा देशकालनिमित्तानाम्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गश्चेत्येवंजातीयकं दोषजातमादिग्रहणेन दर्शयति ॥ ४२ ॥

---

भामती

प्राप्तिपरिहारार्थिनो विधिनिषेधावर्थवन्तौ भवतः। तदनेनाभिसन्धिनोक्तम् ॐ परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीव इति ॐ। तस्माद्विधिनिषेधशास्त्राविरोधाल्लोकस्य स्थूलदर्शित्वाद् 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादिश्रुतेः।

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥"

इति स्मृतेश्चेश्वरतन्त्राणामेव जन्तूनां कर्तृत्वं, न तु स्वतन्त्राणामिति सिद्धम्। ईश्वर एव विधिनिषेधयोः स्थाने नियुज्येत यद्विधिनिषेधयोः फलं तदीश्वरेण तत्प्रतिपादितधर्माधर्मनिरपेक्षेण कृतमिति विधिनिषेधयोरानर्थक्यम्। न केवलमानर्थक्यं विपरीतं चापद्यत इत्याह ॐतथा विहितकारिणम् इतिॐ। पूर्वोक्तश्च दोषः कृतनाशाकृताभ्यागमः प्रसज्येत। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ ४१–४२ ॥

---

भामती–व्याख्या

करता है, जीवों में उनके कर्मानुसार रागादि का उद्भावन कर देता है, मानव अपने-आप शास्त्रों की मर्यादा में रह कर अपना मार्ग चुनता है। इस आशय को मन में रख कर भाष्यकार कहते हैं—"परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवः"। इस प्रकार विधि-निषेध का विरोध न रहने पर एवं लौकिक पुरुषों की स्थूलदर्शिता को ध्यान में रख कर ईश्वर की अन्तर्यामिता माननी पड़ती है, जैसा कि महाभारत ( वनपर्व. ३०।२८ ) में भी कहा है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥

"अन्यथा तदनर्थकं स्यात् - ईश्वर एव विधिप्रतिषेधयोर्नियुज्येत" इस भाष्य का आशय यह है कि अन्यथा [ जीवों द्वारा पूर्वोपार्जित धर्माधर्म की अपेक्षा किए बिना ही यदि ईश्वर जीवों का प्रवर्तक माना जाता है, तब ] विधि-निषेध शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि विधि-निषेध के स्थान पर मूलतः प्रवर्तकरूप से ईश्वर ही नियुक्त होगा, वह जैसा चाहेगा, वैसा ही जीवों से नाच नचाएगा, विधि निषेध की आवश्यकता क्या ? केवल विधि-निषेध शास्त्रों की व्यर्थता ही नहीं, अपितु विपरीत भी हो जायगा—"तथा विहितकारिणमनर्थेन संसृजेत्"। अर्थात् निरंकुश ईश्वर शास्त्र-विहित कर्म करनेवाले जीव को नरकादिरूप अनर्थफल दे डालेगा और ब्रह्म-हत्यादि अविहित कर्म करनेवाले को स्वर्गरूप अर्थ ( फल ) दे डालेगा। भाष्यस्थ


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १७ अंशाधिकरणम् । सू० ४३--५३ )

**अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४३ ॥**

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः । स च संबद्धयोरेव लोके दृष्टो यथा स्वामिभृत्ययोर्यथा वाग्निविस्फुलिङ्गयोः, ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमार्तिक स्वामिभृत्यवत्संबन्ध आहोस्विदग्निविस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति । अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेप्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात्तद्विध एव संबन्ध इति प्राप्नोति, अतो ब्रवीति-अंश इति । जीव ईश्वरस्यांशो भवितु-

भामती

अवान्तरसङ्गतिमाह ❀ जोवेश्वरयोः इति ❀ । उपकार्योपकारकभावः प्रयोज्यप्रयोजकभावः । अत्रापाततो विनिगमनाहेतोरभावादनियमोऽनिश्चय इत्युक्तम् । निश्चयहेत्वाभासदर्शनेन भेदपक्षमालम्ब्याह ❀ अथवा इति ❀ । ईशितव्येशितृभावश्चान्वेष्यान्वेष्टृभावश्च ज्ञेयज्ञातृभावश्च नियम्यनियन्तृभावश्चाधाराधेयभावश्च न जीवपरमात्मनोरभेदेऽवकल्प्यते । न च 'ब्रह्मदाशा ब्रह्मकितवाः' इत्याद्याश्च श्रुतयो दाशा ब्रह्म, कितवा ब्रह्मेत्यादिप्रतिपादनपरा जीवानां ब्रह्मणो भेदेऽवकल्प्यन्ते । न चैताभिर्भेदाभेदप्रतिपादनपराभिः श्रुतिभिः साक्षादंशत्वप्रतिपादकाच्च मन्त्रवर्णात्पादोऽस्य विश्वा भूतानीत्यादेः, स्मृतेश्च ममैवांश इत्यादे-

भामती—व्याख्या

पूर्वोक्त पद से कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष का संग्रह किया गया है । कर्म-निरपेक्ष ईश्वर को ही फल-दाता मानने पर पूर्व-कृत कर्म की निष्फलता और अकृताभ्यागम ( विना कर्मों के सुख-दुःखोपभोग) मानना पड़ेगा ॥ ४१-४२ ॥

**संगति**—पूर्व अधिकरण में जीव और ईश्वर का उपकार्योपकारकभाव प्रयोज्यप्रयोजकभाव ) बताया गया, वह लोक में दो सम्बद्ध पदार्थों का ही देखा जाता है, अतः यहाँ जीव और ईश्वर के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है—"जीवेश्वरयोः" ।

**संशय**—क्या जीव और ईश्वर के सम्बन्ध का निश्चय ही नहीं ? या स्वामी और भृत्य के समान उपकार्योपकारकभावरूप सम्बन्ध निश्चित है ? अथवा अग्नि और विस्फुलिङ्ग के समान कल्पित अंशांशिभाव ?

**पूर्वपक्ष**—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" ( बृह. उ. २।४।५ ) इत्यादि भेद-बोधक एवं "तत्त्वमसि" ( छां. ६।८।७ ) इत्यादि अभेद-बोधक श्रुतियों की उपलब्धि से जीव और ईश्वर में क्या सम्बन्ध है—ऐसा कोई नियम ( निश्चय ) नहीं होता, क्योंकि भेद-बोधक प्रमाण अभेदार्थक श्रुतियों से और अभेद-बोधक प्रमाण भेदार्थक श्रुतियों के द्वारा आभासीकृत ( बाधित या सत्प्रतिपक्षित ) हो जाता है । लोक-प्रसिद्ध भेद-पक्ष को लेकर कहा जाता है—"अथवा" । [ "एष एव साधु कर्म कारयति" ( कौषी. ३।८ ) इस श्रुति से प्रतिपादित ] ईशितव्येशितृभाव, [ "सोऽन्वेष्टव्यः" ( छां. ८।७।१ ) इस वाक्य से अभिहित ( अन्वेष्यान्वेष्टृभाव, [ "एतमेव विदित्वा" ( बृह. ३।५।१ ) इस श्रुति से कथित ] ज्ञेयज्ञातृभाव, ["यो विज्ञाने तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति" ( बृह. उ. ३।७।२२ ) इस वचन से अवगमित ] नियम्यनियन्तृभाव तथा [ "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" ( बृह. उ. ४।४।१७ ) इत्यादि श्रुतियों में श्रुत ] आधाराधेयभाव जीव और परमात्मा के अभेद-पक्ष में कभी सम्भव नहीं । इसी प्रकार "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः"—इत्यादि दाश ( कैवर्त या मल्लाह ) तथा दास ( भृत्य ) आदि समस्त जीवों में ब्रह्मरूपता के प्रतिपादक वाक्यों का सामञ्जस्य जीव-ब्रह्म के भेदवाद में नहीं होता ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महंति, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंश इवांशः, न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति। कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात्स एव न भवति ? नानाव्यपदेशात्। 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' ( छा० ८।७।१ ) 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति', 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते। ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत आह - अन्यथा चापीति। नच नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः, किं तर्हि ? अन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः। तथा हि— एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' इत्यादिना। दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः, ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षपयन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसंघातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह। तथान्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपञ्च्यते—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः' ( श्वे० ४।३ ) इति। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते' इति च। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः। चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः ॥ ४३ ॥

कुतश्चांशत्वावगमः ?—

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' ( छा० ३।१२।६ ) इति। अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति, 'अहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात्। अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरम्। तस्मादप्यंशत्वावगमः ॥ ४४ ॥

कुतश्चांशत्वावगमः ?—

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

ईश्वरगीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' ( गी० १५।७ ) इति। तस्मादप्यंशत्वावगमः। यत्तूक्तं—स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वत्रांशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते। निरतिशयोपाधिसंपन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसंपन्नाञ्जीवान्प्रशास्तीति न किंचिद्विप्रतिषिध्यते ॥ ४५ ॥

---

भामती

जीवानामीश्वरांशत्वसिद्धिः निरतिशयोपाधिसम्पदा च विभूतियोगनेश्वरः स्वांशानामपि निकृष्टोपाधीनामीष्ट इति युज्यते। नहि तावदनवयवेश्वरस्य जीवा भवितुमर्हन्त्यंशाः। अपि च जीवानां ब्रह्मांशत्वे

---

भामती—व्याख्या

शङ्का—इन भेद-प्रतिपादक श्रुतियों, साक्षात् अंशत्व-बोधक "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" ( छां. ३।१२।५ ) इत्यादि श्रुतियों एवं "ममैवांशः" ( गी. १५।७ ) इत्यादि स्मृति-वाक्यों के द्वारा जीव में ईश्वरांशत्व सिद्ध होता है। मायारूप सर्वतोऽतिशायिनी उपाधि एवं विविध ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण ईश्वर अपने अंशात्मक एवं निकृष्टोपाधिक जीवों पर शासन करता है। [ यहाँ ईश्वर में उत्कृष्ट उपाधि एवं जीव में निकृष्ट उपाधि की आश्रयता का उल्लेख आपाततः वाचस्पति के अपने सिद्धान्त से विरुद्ध है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र एक ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्राह—ननु जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्। यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं, तद्वत्। ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्। अतो वरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति, अत्रोच्यते—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति, नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया

भामती

तद्गता वेदना ब्रह्मणो भवेत्, पादादिगता इव वेदना देवदत्तस्य। ततश्च ब्रह्मभूयंगतस्य समस्तजीवगत-वेदनानुभवप्रसङ्ग इति वरं संसार एव मुक्तेस्तत्र हि स्वगतवेदनामात्रानुभवात् न भूरि दुःखमनुभवति। मुक्तस्तु सर्वजीववेदनाभागिति प्रयत्नेन मुक्तिरनर्थबहुलतया परिहर्तव्या स्यादिति। तथा भेदाभेदयोः परस्परविरोधिनोरेकत्रासम्भवान्नांशत्वं जीवानाम्। न च ब्रह्मैव सदसत्तत्तु जीवा इति युक्तं सुखदुःख-मुक्तिसंसारव्यवस्थाभावप्रसङ्गादनुज्ञापरिहाराभावप्रसङ्गाच्च। तस्माज्जीवा एव परमार्थसन्तो न ब्रह्मैकम-द्वयम्। अद्वैतश्रुतयस्तु जातिदेशकालाभेदनिमित्तोपचारादिति प्राप्तेऽभिधीयते— अनधिगतार्थावबोधनानि

भामती–व्याख्या

अविद्यारूप उपाधि की आश्रयता जीव में और विषयता ईश्वर में मानते हैं। प्रकटार्थकार ने इस असंगति की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है—"इदमधिकरणं वाचस्पते-र्दुर्योजम्, यतः—

प्रेरकत्वे परेशस्य जीवस्य भ्रान्तिकर्तृता।
जीवभ्रान्त्या परेशस्य प्रेरकत्वं सुदुर्घटम्॥ (प्रकटा. पृ. ६४९)

इस आक्षेप को ध्यान में रख कर कल्पतरुकार एवं उनके व्याख्याता आभोगकार ने कहा है—'अविद्याया विषय एवातिशयाधायकत्वस्वाभाव्यान्न जीवतौल्यमीश्वरस्य" (आभोग. पृ. ५७२)। अर्थात् एक ही अविद्या अपने आश्रयीभूत जीव को निकृष्ट एवं विषय को वैसे ही अतिशयित करती है, जैसे प्रदीप अपनी आश्रयीभूत वर्ती को विकृत और घटादि विषय को प्रकाश-संवलित करता है, अतः ईश्वर में पृथक् कोई उपाधि मानने की आवश्यकता नहीं]।

**समाधान**—ईश्वर निरवयव है, अतः जीवों को उसका अंश मानना सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि यदि जीवगण ब्रह्म के अंश है, तब जीवगत वेदनाएँ ईश्वर में भी वैसे ही प्राप्त होंगी, जैसे अपने हस्त-पादादि की वेदनाएँ देवदत्त को होती हैं। तब मोक्षावस्था में जीव ब्रह्मरूप होकर उन समस्त वेदनाओं का अनुभव करेगा। ऐसी मुक्ति से तो संसार ही अच्छा कि जीव केवल एक अपनी व्यष्टि वेदना का अनुभव करता था, जिससे दुःख की अनुभूति स्वल्प मात्रा में ही होती थी किन्तु मुक्ति में तो समस्त जीवों की समष्टि वेदना का भागी होता है। ऐसी अनर्थबहुला मुक्ति का परित्याग शीघ्रातिशीघ्र करना होगा। जीव-ब्रह्म का भेद और अभेद परस्पर विरुद्ध है, अतः अंशांशिभाव भी सम्भव नहीं। 'ब्रह्म ही सत् है और जीव असत्'—ऐसा मानने पर सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था भङ्ग हो जायगी, अनुज्ञा और परिहार (विधि-निषेध) शास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे। अतः जीवों को परमार्थ सत् मानना होगा, एक अद्वितीय ब्रह्म का सिद्धान्त संगत नहीं, अद्वैतार्थक श्रुतियाँ जीव और ब्रह्म में एकजातिमत्त्व एवं अभिन्न देश-कालरूप निमित्त को लेकर औपचारिक मानी जाती हैं।

**सिद्धान्त**—सभी प्रमाण अनधिगत अर्थ के बोधक होते हैं, विशेषतः शब्द प्रमाण।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति। जीवस्याप्यविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो, नतु पारमार्थिकोऽस्ति। यथा च स्वदेहगतदाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं तदभिमानभ्रान्त्याऽनुभवति, तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्रमित्रादिष्वभिनिविशमानः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते—मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति। व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते। तथा हि—पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्संबन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते, नाभिमानहीनानां परिव्राजकादीनाम्। अतश्च लौकिकस्यापि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं, किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति। तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः। प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः—यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्यापी वतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते। यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो गच्छति, यथा चोदशरावादिकम्पनात्तद्गते

भामती

प्रमाणानि विशेषतः शब्दः। तत्र भेदो लोकसिद्धत्वान्न शब्देन प्रतिपाद्यः। अभेदस्त्वनधिगतत्वादधिगतभेदानुवादेन प्रतिपादनमर्हति। येन च वाक्यमुपक्रम्यते मध्ये च परामृश्यते अन्ते चोपसंह्रियते, तत्रैव तस्य तात्पर्यमुपनिषदश्चाद्वैतोपक्रमतत्परामर्शतदुपसंहारा अद्वैतपरा एव युज्यन्ते। न च यत्परास्तदौपचारिकं युक्तम्, अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति नाल्पत्वमपि प्रागेवोपचरितत्वमित्युक्तम्। तस्माद्वैते भाविके स्थिते जीवभावस्तस्य ब्रह्मणोऽनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानभेदादेकस्येव बिम्बस्य दर्पणाद्युपाधिभेदात्प्रतिबिम्बभेदाः। एवं चानुज्ञापरिहारौ लौकिकवैदिकौ सुखदुःखमुक्तिसंसारव्यवस्था चोपपद्यते। न च मोक्षस्यानर्थबहुलता, यतः प्रतिबिम्बानामिव श्यामतावदाततादिर्जीवानामेव नानावेदनाभिसम्बन्धो ब्रह्मणस्तु बिम्बस्येव न तदभिसम्बन्धः। यथा च दर्पणापनये तत्प्रतिबिम्बं बिम्बभावेऽवतिष्ठते, न कृपाणे

भामती—व्याख्या

अतः श्रुतियों का तात्पर्य जीव और ब्रह्म के भेद में नहीं माना जा सकता, क्योंकि भेद अनधिगत नहीं, अपितु लोक-प्रसिद्ध है। किन्तु अभेद इतर प्रमाणों से अनधिगत है, अतः भेद का अनुवाद करके अभेद का विधान न्यायोचित है। यह एक स्थिर नियम है कि जो वस्तु उपक्रम में प्रतिपादित, मध्य में परामृष्ट और अन्त में उपसंहृत है, उसी वस्तु में समूचे प्रकरण का तात्पर्य माना जाता है। उपनिषद् ग्रन्थों के आरम्भ, मध्य और उपसंहार में अद्वैत तत्त्व प्रतिपादित है, अतः सभी उपनिषत् अद्वैतपरक हैं। जिस अर्थ में शब्द का मुख्य तात्पर्य होता है, उस अर्थ में उसे औपचारिक नहीं कहा जाता। किसी अर्थ का अभ्यास ( बार-बार प्रतिपादन ) उस अर्थ की प्रधानता सुदृढ करता है, न्यूनता रञ्चकमात्र भी नहीं लाता, उपचरितत्व तो बहुत दूर की बात है—यह कई बार कहा जा चुका है। इस प्रकार अद्वैतवाद का दार्ढ्य हो जाने पर अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा ब्रह्म में जीवभाव वैसे ही कल्पित सिद्ध होता है, जैसे एक मुखरूप बिम्ब के दर्पणादि अनेक उपाधियों के योग से अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस औपाधिक भेद को लेकर लौकिक और वैदिक विधि-निषेध, सुख-दुःख, मुक्ति-संसार आदि की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। यह जो कहा गया कि अभेदवाद में मोक्ष अनर्थबहुल हो जाता है, वह उचित नहीं, क्योंकि जैसे उपाधि की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान्सूर्यः कम्पते, एवमविद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरो दुःखायते। जीवस्यापि दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तम्। तथा चाविद्यानिमित्तजीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः - 'तत्त्वमसि' इत्येवमादयः, तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायत इति। 'तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः' इति। चशब्दात्समामनन्ति चेति वाक्यशेषः। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' ( श्वे ४।६ ) इति। 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' ( कठ० ५।११ ) इति च ॥ ४७ ॥

अत्राह—यदि तह्येक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात्कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां लौकिकौ वैदिकौ चेति ? ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तम्। तद्भेदाच्चानुज्ञापरिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते, किमत्र चोद्यत इति ? उच्यते—नैतदेवम्, अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' ( तै० २।६।१ ), नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' ( बृ० ३।७।२३ ), 'मृत्योः स मृत्यु-

भामती

प्रतिबिम्बितमप्येवमविद्योपधानविगमे जीवे ब्रह्मभाव इति सिद्धं जीवो ब्रह्मांश इव तत्तन्त्रतया न त्वंश इति तात्पर्यार्थः ॥ ४३-४६ ॥

सप्तदशसंख्यापरिमितो राशिर्गणः सप्तदशकः। तद्यथा, बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि बाह्यानि दश बुद्धिमनसी वृत्तिभेदमात्रेण भिन्ने अप्येकीकृत्यैकमन्तःकरणं शरीरं पञ्च विषया इति सप्तदशको राशिः ॥४७॥

भामती—व्याख्या

कालिमादि का सम्बन्ध प्रतिबिम्ब के साथ ही होता है, वैसे ही नाना वेदनाओं का सम्बन्ध जीव के साथ ही होता है, बिम्ब-स्थानीय ब्रह्म के साथ नहीं। जैसे दर्पणादि उपाधियों के हट जाने पर प्रतिबिम्ब अपने बिम्बरूप में ही अवस्थित हो जाता है। वैसे ही अविद्यारूप उपाधि का अभाव हो जाने पर जीव ब्रह्मरूप में अवस्थित होता है। इसी लिए जीव में ब्रह्मांशिता का व्यवहार हो जाता है। अंशांशिभाव वास्तविक नहीं, अपितु वैसे ही औपचारिकमात्र है, जैसे घटाकाश में महाकाश की अंशता ॥ ४३-४६ ॥

जीवगत दुःखों से परमात्मा दुःखी नहीं होता—ऐसा व्यासादि महर्षियों ने भी ( म. भारत. शान्ति. ३५३।१४,१६ में ) कहा है—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥

यहाँ सप्तदशक राशि का अर्थ सत्तरह पदार्थों का समूहात्मक सूक्ष्म शरीर है, जिसमें ५ बुद्धीन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय—ये दश बाह्य इन्द्रियाँ, १ अन्तःकरण [ वृत्ति-भेद से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप में अनेक होने पर भी अन्तःकरणत्वेन एक ही विवक्षित है ], १ शरीर तथा ५ विषय [ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ] हैं ॥ ४७ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माप्नोति य इह नानेव पश्यति' ( बृ० ४।४।१९ ), 'तत्त्वमसि' ( छा० ६।८।७ ) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) इत्येवंजातीयकाः । ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिद्ध्यतीत्युक्तम् । स्यादेतदेवम्—यद्यभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्याताम्, अभेद एव० त्वत्र प्रतिपिपादयिषितः, ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ पुरुषार्थसिद्धेः । स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते । नच निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः संभवतीत्युक्तम् । तस्मात्पर एवैकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्याऽनुज्ञापरिहारोपपत्तिः, तां ब्रूमः—

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

'ऋतौ भार्यामुपेयात्' इत्यनुज्ञा, 'गुर्वङ्गनां नोपगच्छेद्' इति परिहारः तथा 'अग्नीषोमीयं पशुं संज्ञपयेत्' इत्यनुज्ञा, 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति परिहारः । एवं लोकेऽपि मित्रमुपसेवितव्यमित्यनुज्ञा, शत्रुः परिहर्तव्य इति परिहारः । एवंप्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनो देहसंबन्धात्स्याताम् । देहैः संबन्धो देहसंबन्धः । कः पुनर्देहसंबन्धः ? देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः । दृष्टा च सा सर्वप्राणिनामहं गच्छाम्यहमागच्छाम्यहमन्धोऽहमनन्धोऽहं

भामती

अनुज्ञाविधिरभिमतो न तु प्रवृत्तप्रवर्त्तना । अपौरुषेये प्रवर्त्तयितुरभिप्रायानुरोधासम्भवात् । क्रत्वर्थायामग्नीषोमीयहिंसायां प्रवृत्तप्रवर्त्तनानुपपत्तेश्च । पुरुषार्थेऽपि नियमांशेऽप्रवृत्तेः । ❀ कः पुनर्देहसम्बन्ध इति ❀ । नहि कूटस्थनित्यस्यात्मनोऽपरिणामिनोऽस्ति देहेन संयोगः समवायो वाऽन्यो वा कश्चित् सम्बन्धः सकलधर्मातिगत्वादित्यभिसन्धिः ? उत्तरम् ❀ देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः ❀ । अयमर्थः—सत्यं नास्ति कश्चिदात्मनो देहादिभिः पारमार्थिकः सम्बन्धः, किन्तु बुद्ध्यादिजनितात्मविषया

भामती—व्याख्या

यहाँ 'अनुज्ञा' शब्द से विधि ( अप्रवृत्त-प्रवर्तना ) विवक्षित है, प्रवृत्त-प्रवर्तना नहीं, क्योंकि [ लोक में सामान्यतः प्रवृत्त को विशेषतः प्रवृत्त करना अनुज्ञा कहलाता है, किन्तु ] अपौरुषेय वेद में तो प्रवर्तयिता पुरुष न होने से उसके अभिप्रायविशेषात्मक अनुज्ञा का होना सम्भव नहीं । "यजेत स्वर्गकामः"—इत्यादि पुरुषार्थसाधना-विधायक विधियों में कथञ्चित् अनुज्ञारूपता सम्भव है, क्योंकि स्वर्ग सुख की प्राप्ति के लिए स्वतः प्रवृत्त पुरुष की प्रवृत्ति उनसे होती है, किन्तु "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" ( तै. सं. ६।१।११।४ ) इत्यादि क्रत्वर्थ ( सोमयाग के अङ्गभूत ) पशु-हिंसा-विधायक वाक्यों में अनुज्ञात्व कभी सम्भव नहीं, क्योंकि पुरुष की वहाँ स्वतः प्रवृत्ति कभी नहीं होती, अतः उक्त वाक्य अप्रवृत्त-प्रवर्तक है, प्रवृत्त पुरुष का प्रवर्तक नहीं । "गोदोहनेन पशुकामस्य" ( आप. श्रौ. १।१६।३ ) इत्यादि पुरुषार्थ-विधि-स्थल पर भी पशुरूप फल के लिए जो नियमतः गोदोहन [ जिस मिट्टी के घड़े में गौ दुही जाती है, उस ] पात्र में जल-प्रणयन किया जाता है, उसमें पुरुष की स्वतः प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु उक्त विधि-वाक्य से ही होती है, फलतः प्रवृत्त-प्रवर्तनरूप अनुज्ञा सम्भव नहीं ।

"कः पुनर्देहसम्बन्धः ? इस प्रकार के प्रश्नकर्त्ता का आशय यह है कि कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी आत्मा का शरीर के साथ संयोग, समवाय या अन्य कोई सम्बन्ध सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा सकल संग ( सम्बन्ध ) से रहित असङ्ग है । उक्त प्रश्न का उत्तर है—"देहादिरयं संघातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः" । अभिप्राय यह है कि यह ध्रुव सत्य है कि आत्मा का शरीरादि के साथ कोई पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं, किन्तु बुद्ध्यादि से जनित आत्मविषयक 'अहमेव देहादिसंघातः'—इस प्रकार की जो विपर्यात्मक प्रतीति (वृत्ति)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूढोऽहममूढ इतीत्येवमात्मिका। न ह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति। प्राक्तु सम्यग्दर्शनात्प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तुषु। तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसंबन्धकृताद्विशेषादैकात्म्याभ्युपगमेऽप्यनुज्ञापरिहारावकल्प्येते। सम्यग्दर्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तम्। न, तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः। हेयोपादेययोर्हि नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात्। आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन्कथं नियुज्येत? न चात्मात्मन्येव नियोज्यः स्यात्। शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेत्-न, तत्संहतत्वाभिमानात्। सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं, तथापि व्योमादिवद्देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः। नहि देहाद्यसंहतत्वदर्शिनः कस्याचिदपि नियोगो दृष्टः, किमुतैकात्म्यदर्शिनः। नच नियोगाभावात्सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसङ्गः। सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वादभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः। तस्माद्देहसंबन्धादेवानुज्ञापरिहारौ, ज्योतिरादिवत्। यथा ज्योतिष एकत्वेऽप्यग्निः क्रव्यात्परिह्रियते, नेतरः। यथा च प्रकाश एकस्थापि सवितुरमेध्यदेशसंबद्धः परिह्रियते, नेतरः शुचिभूमिष्ठः। तथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैडूर्यादय उपादीयन्ते, भौमा अपि

भामती

विपरीता वृत्तिरहमेव देहादिसङ्घात इत्येवंरूपा। अस्यां देहादिसङ्घात आत्मतावात्म्येन भासते। सोऽयं सांवृतस्तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न पारमार्थिक इत्यर्थः। गूढाभिसन्धिश्चोदयति ❀ सम्यग्दर्शिनस्तर्हि इति ❀। उत्तरम् ❀ न तस्य इति ❀। यदि सूक्ष्मस्थूलदेहादिसङ्घातोऽविद्योपदर्शित एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मास्मीति सम्यग्दर्शनमभिमतम्, अद्धा तद्वन्तं प्रति विधिनिषेधयोरानर्थक्यमेव। एतदेव विशदयति ❀ हेयोपादेययोः इति ❀। चोदको निगूढाभिसन्धिमाविष्करोति ❀ शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव ❀। आमुष्मिकफलेषु कर्मसु दर्शपूर्णमासादिषु नियोज्यत्वमिति चेत्परिहरति ❀ न, तत्संहतत्वाभिमानात् ❀। एतद्विभजते ❀ सत्यम् इति ❀। यो ह्यात्मनः षाट्कौशिकाद् देहादुपपत्त्या व्यतिरेकं वेद, न तु समस्तबुद्ध्यादिसंघातव्यतिरेकं, तस्यामुष्मिकफलेष्वधिकारः। समस्तबुद्ध्यादिव्यतिरेकवेदिनस्तु कर्तृभोक्तृत्वा-

भामती—व्याख्या

अनुभूत होती है, उस वृत्ति में देहादि संघात के साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध अवभासित होता है। फलतः देह के साथ आत्मा का सांवृतिक (आविद्यक) तादात्म्य सम्बन्ध है, पारमार्थिक नहीं। जिनकी अविद्या नष्ट हो जाती है, ऐसे सम्यक् दर्शी व्यक्तियों के लिए अनुज्ञा (विधि) और परिहार (प्रतिषेध) क्या सार्थक नहीं होते? यह प्रश्न उठाया जाता है—"सम्यग्दर्शिनः तर्हि"। उसका उत्तर है—"न तस्य"। सारांश यह है कि यदि स्थूल और सूक्ष्म देहादि संघात अविद्या से जनित और 'अहम् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मास्मि'—ऐसा सम्यक् दर्शन अभिमत है, तब तो सम्यक् दर्शन से सम्पन्न पुरुष के लिए अवश्य ही विधि और निषेध अनर्थक हैं, इसका स्पष्टीकरण किया जा रहा है—"हेयोपादेययोः"। प्रश्न कर्त्ता अपने गुप्त भावों को प्रकट करता है—"शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव"। अर्थात् जो आत्मा को शरीर से भिन्न जानता है, वह भी पारलौकिक स्वर्गादि के साधनीभूत दर्शपूर्णमासादि धर्मों में नियुक्त किया जाता है—"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" (आप. श्रौ. ३।१४।८)। इसका परिहार किया जा रहा है—"न, तत्संहतत्वाभिमानात्"। इसी का विशदीकरण किया जाता है—"सत्यम्"। अर्थात् जो व्यक्ति आत्मा को केवल षाट्कौशिक (स्थूल) शरीर से भिन्न जानता है, समस्त बुद्ध्यादि-संघात से व्यतिरिक्त नहीं जानता, उसी व्यक्ति का स्वर्गादिरूप फल के जनकीभूत दर्शपूर्णमासादि कर्मों में अधिकार होता है किन्तु जिन्होंने समस्त बुद्ध्यादि-संघात से भिन्न आत्मा को शुद्ध, बुद्ध और असंग समझ लिया है, अत एव कर्तृत्वादि-अध्यास

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्तो नरकलेवरादयः परिह्रियन्ते । तथा, मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते, तद्वत् ॥ ४८ ॥

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात् । यस्त्वयं कर्मफलसंबन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत स्वाम्येकत्वादिति चेत् नैतदेवम्, असंततेः । नहि कर्तुभोक्तुश्चात्मनः संततः सर्वैः शरीरैः सम्बन्धोऽस्ति । उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम् । उपाध्यसंतानाच्च नास्ति जीवसंतानः । ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः, न स एव साक्षात् । नापि वस्त्वन्तरम् । अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः । एवमप्यव्यतिकर एव कर्मफलयोः । आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति, तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः । येषां तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति । कथम् ? बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च । तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति सांख्याः । सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमाना द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांस्यचेतनानि । तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका

भामती

भिमानरहितस्य नाधिकारः कर्मणि । तथा च न यथेष्टचेष्टा, अभिमानविकलस्य तस्या अव्यभावादिति ॥ ४८-४९ ॥

येषां तु सांख्यानां वैशेषिकाणां वा सुखदुःखव्यवस्थां पारमार्थिकीमिच्छतां बहव आत्मानः सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः प्राप्नोति । तत्र प्रश्नपूर्वकं सांख्यान् प्रति व्यतिक्रमं तावदाह ॐ कथम् इति ॐ यादृशस्तादृशो गुणसम्बन्धः सर्वान् पुरुषान् प्रत्यविशिष्ट इति तत्कृते सुखदुःखे सर्वान्

भामती—व्याख्या

से अपने को रहित निश्चय कर उनका कर्म में अधिकार नहीं रहता । सकल अभिमान से विकल हो जाने के कारण उनकी यथेष्ट प्रवृत्ति भी नहीं होती ॥ ४८, ४९ ॥

[ वेदान्त-सिद्धान्त में सभी जीव ईश्वर के प्रतिबिम्ब हैं, प्रत्येक प्रतिबिम्ब में उसकी अपनी दर्पणादि उपाधि के ही कम्पादि धर्म आरोपित होते हैं, सभी उपाधियों के धर्म सर्वत्र नहीं, अतः प्रत्येक जीव के धर्माधर्म न अन्य जीवों में संक्रान्त होते हैं, और न उपाधि-रहित परमेश्वर में ] । उक्त व्यवस्था सांख्य, वैशेषिकादि-मतों में सम्भव नहीं, क्योंकि वे सुख-दुःखादि को पारमार्थिक मानते हैं । अनन्त जीव और सभी जीवों को सर्वत्र व्याप्त मानते हैं, अतः उनके धर्माधर्म एवं सुख-दुःखादि का व्यतिकर ( सांङ्कर्य ) प्रसक्त होता है ।

सांख्य-मत में प्रश्नपूर्वक सांकर्य का उपपादन किया जाता है—"कथम् ?" अर्थात् सत्त्वगुणात्मक बुद्धितत्त्व का जैसा संयोग सम्बन्ध एक जीव के साथ है, वैसा ही सभी पुरुषों के साथ । अतः एक पुरुष की बुद्धि के धर्माधर्मादि धर्मों का सांकार्य सर्वत्र हो जायगा । धर्माधर्मादि आत्मा के गुण नहीं माने जाते, अपितु बुद्धिरूप प्रकृति के हैं, प्रकृति सर्व पुरुष-साधारण है, अतः सांकर्य का निवारण धर्माधर्म से नहीं हो सकता ।


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मगुणा उत्पद्यन्ते। ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति स संसारः। तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः। तत्र सांख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात्सर्वात्मनां सन्निधानाद्यविशेषाच्चैकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसंबन्धः प्राप्नोति। स्यादेतत्—प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वाद्व्यवस्था भविष्यति। अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्। तथा चानिर्मोक्षः प्रसज्येतेति। नैतत्सारम्, नह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुम्। उपपत्त्या तु कयाचिद्व्यवस्थोच्येत। असत्यां पुनरुपपत्तौ कामं मा भूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद्व्यतिकरः। काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते, तदाऽऽत्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात्सन्निधानाद्यविशेषात्। ततश्च हेत्वविशेषात्फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखयोगे सर्वात्मनामपि समानं सुखदुःखित्वं प्रसज्येत ॥ ५० ॥

स्यादेतत्—अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति। नेत्याह—

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण सन्निहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते। सांख्यानां तावत्तदनात्मसमवायि प्रधानवर्ति प्रधानसाधारण्यान्न प्रत्यात्मं सुखदुःखोपभोगस्य नियामकमुपपद्यते। काणादानामपि पूर्ववत्साधारणेनात्ममनःसंयोगेन निर्वर्तितस्यादृष्टस्याप्यस्यैवात्मन इदमदृष्ट-

भामती

प्रत्यविशिष्टे। न च कर्मनिबन्धना व्यवस्था, कर्मणः प्राकृतत्वेन प्रकृतेश्च साधारणत्वेनाव्यवस्थातावस्थ्यात्। चोदयति ❀ स्यादेतद् इति ❀ अयमर्थः—न प्रधानं स्वविभूतिख्यापनाय प्रवर्त्तते, किन्तु पुरुषार्थम्। यं च पुरुषं प्रत्यनेन भोगापवर्गौ पुरुषार्थौ साधितौ तं प्रति समाप्ताधिकारतया निवर्तते, पुरुषान्तरं तु प्रत्यसमाप्ताधिकारं प्रवर्त्तते। एवं च मुक्तसंसारिव्यवस्थोपपत्तेः सुखदुःखव्यवस्थापि भविष्यति, इति निराकरोति ❀ नहि इति ❀ सर्वेषां पुरुषाणां विभुत्वात् प्रधानस्य च साधारण्यादमुं पुरुषं प्रत्यनेनार्थः साधित इत्येतदेव नास्ति। तस्मात् प्रयोजनवशेन विना हेतुं व्यवस्थाऽऽस्थेया। सा चायुक्ता, हेत्वभावादित्यर्थः। भवतु सांख्यानामव्यवस्था, प्रधानसमवायाददृष्टस्य प्रधानस्य च साधारण्यात्। काणादादीनां त्वात्मसमवाय्यदृष्टं प्रत्यात्ममसाधारणं तत्कृतश्च मनसा

भामती—व्याख्या

शङ्का—'स्यादेतत्'। अर्थात् प्रधानतत्त्व की प्रवृत्ति केवल अपना वैभव प्रकट करने के लिए नहीं होती, अपितु प्रत्येक पुरुष को भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थ देने के लिए होती है। जिस पुरुष का भोग और अपवर्ग सिद्ध हो जाता है, उस पुरुष के प्रति उसे प्रवृत्त होने का अधिकार नहीं रह जाता किन्तु अन्य-पुरुषों के लिए उसकी प्रवृत्ति बनी रहती है। इस प्रकार मुक्तामुक्त, सुख-दुःखादि की व्यवस्था हो जाती है।

समाधान—'न हि अभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था'। आशय यह है कि सभी जीवात्मा विभु हैं और प्रधान (प्रकृति) सर्व-साधारण। जड़ प्रकृति यह विवेक क्योंकर कर लेगी कि "अमुं पुरुषं प्रति अर्थः साधितः"। अतः विना किसी व्यवस्थापक हेतु के ही केवल प्रयोजन के आधार पर व्यवस्था करनी होगी, वह हो नहीं सकती, क्योंकि उसका कोई हेतु प्रदर्शित नहीं।

सांख्यमतानुसार तो धर्माधर्मात्मक अदृष्ट प्रकृति-समवेत है और प्रकृति सर्वपुरुष-साधारण है, अतः इस मत में अवश्य अव्यवस्था है, किन्तु वैशेषिक-मतानुसार धर्माधर्मरूप अदृष्ट जीवात्मा में समवेत है, वह अदृष्ट प्रत्येक आत्मा का पृथक्-पृथक् है और उसी के द्वारा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिति नियमे हेत्वभावादेष एव दोषः ॥ ५१ ॥

स्यादेतत्—अहमिदं फलं प्राप्नवानीदं परिहराणीत्थं प्रयता इत्थं करवाणीत्येवंविधा अभिसन्ध्यादयः प्रत्यात्मं प्रवर्तमाना अदृष्टस्यात्मनां च स्वस्वामिभावं नियंत्रयन्तीति । नेत्याह—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणेनैवात्ममनःसंयोगेन सर्वात्मसन्निधौ क्रियमाणानां नियमहेतुत्वानुपपत्तेरुक्तदोषानुषङ्ग एव ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

अथोच्येत—विभुत्वेऽप्यात्मनः शरीरप्रतिष्ठेन मनसा संयोगः शरीरावच्छिन्न एवात्मप्रदेशे भविष्यति, अतः प्रदेशकृता व्यवस्थाऽभिसन्ध्यादीनामदृष्टस्य सुखदुःख-

भामती

सहात्मनः स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धोऽनादिरदृष्टभेदानामनादित्वात्, तथा चात्ममनःसंयोगस्य साधारण्येऽपि स्वस्वामिभावस्यासाधारण्यादभिसन्ध्यादिव्यवस्थोपपद्यत एव । न च संयोगोऽपि साधारणः, नहि तस्य मनस आत्मान्तरैर्यः संयोगः, स एव स्वामिनाप्यात्मसंयोगस्य प्रतिसंयोगभेदेन भेदात् । तस्मादात्मैकत्वस्यागमसिद्धत्वाद्व्यवस्थायाश्चैकत्वेऽपि उपपत्तेर्नानेकात्मकल्पना, गौरवादागमविरोधाच्चान्त्यविशेषवत्त्वेन च भेदकल्पनायामन्योन्याश्रयापत्तेः—भेदे हि तत्कल्पना ततश्च भेद इति । एतदेव काणादमतदूषणं भाष्यकृता तु प्रौढवादितया काणादान् प्रत्यप्यदृष्टानियमादित्यादीनि सूत्राणि योजितानि सांख्यस्मृतदूषणपराण्येवेति तु रोचयन्ते केचित्तदास्तां तावत् ॥ ५०–५३ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते भगवत्पादशारीरकभाष्यविभागे भामत्यां
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

भामती–व्याख्या

आत्मा के साथ मन का स्व-स्वामिभावरूप अनादि सम्बन्ध स्थापित है, क्योंकि अदृष्ट अनादि है। यद्यपि आत्मा और मन का संयोग सर्व-साधारण है, तथापि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध असाधारण है, अतः अभिसन्धि (संकल्प-विकल्प) एवं प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। मन और आत्मा का संयोग भी सर्व-साधारण नहीं, क्योंकि एक मन के सभी जीव स्वामी नहीं, अपितु एक ही है, मन का अपने स्वामी के साथ जो संयोग है, वही अन्य आत्माओं के साथ नहीं हो सकता। मन भी भिन्न-भिन्न हैं, अतः अनुयोगी और प्रतियोगी के भेद से संयोग भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे आत्मनानात्व-पक्ष में सभी व्यवस्था बन जाती है, वैसे ही आत्मैकत्व-पक्ष में भी, आत्मैकत्व आगम प्रमाण से प्रमाणित है, अतः अनेकात्मकल्पना गौरव-ग्रस्त और आगम से बाधित है। वैशेषिकों का विभाजक-परम्परा में जो अन्तिम विभाजक 'विशेष' पदार्थ माना जाता है, उसकी आश्रयता के द्वारा आत्मभेद की कल्पना करने में अन्योऽन्याश्रय दोष है, क्योंकि आत्मा का भेद होने पर प्रत्यात्मवृत्ति विशेष पदार्थ की कल्पना एवं विशेष पदार्थ के द्वारा आत्मभेद की कल्पना होगी। काणाद मत का यही दूषण है, भाष्यकार ने जो सांख्य मत-दूषणपरायण "अदृष्टानियमाद्"—इत्यादि सूत्रों की योजना काणाद मत-दूषण में भी की है, वह प्रौढवादमात्र है ॥ ५०–५३ ॥

भामतीव्याख्यायां द्वितीयाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योश्च भविष्यतीति । तदपि नोपपद्यते, कस्मात् ? अन्तर्भावात् । विभुत्वाविशेषाद्धि सर्व एवात्मानः सर्वशरीरेष्वन्तर्भवन्ति । तत्र न वैशेषिकैः शरीरावच्छिन्नोऽप्यात्मनः प्रदेशः कल्पयितुं शक्यः । कल्प्यमानोऽप्ययं निष्प्रदेशस्यात्मनः प्रदेशः काल्पनिकत्वादेव न पारमार्थिकं कार्यं नियन्तुं शक्नोति । शरीरमपि सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानमस्यैवात्मनो नेतरेषामिति न नियन्तुं शक्यम् । प्रदेशविशेषाभ्युपगमेऽपि च द्वयोरात्मनोः समानसुखदुःखभाजोः कदाचिदेकेनैव तावच्छरीरेणोपभोगसिद्धिः स्यात्, समानप्रदेशस्यापि द्वयोरात्मनोरदृष्टस्य सम्भवात् । तथा हि—देवदत्तो यस्मिन्प्रदेशे सुखदुःखमन्वभूत्तस्मात्प्रदेशादपक्रान्ते तच्छरीरे यज्ञदत्तशरीरे च तं प्रदेशमनुप्राप्ते तस्यापीतरेण समानः सुखदुःखानुभवो दृश्यते, स न स्याद्यदि देवदत्तयज्ञदत्तयोः समानप्रदेशमदृष्टं न स्यात् । स्वर्गाद्यनुपभोगप्रसङ्गश्च प्रदेशवादिनः स्यात्, ब्राह्मणादिशरीरप्रदेशेष्वदृष्टनिष्पत्तेः प्रदेशान्तरवर्तित्वाच्च स्वर्गाद्युपभोगस्य, सर्वगतत्वानुपपत्तिश्च बहूनामात्मनां दृष्टान्ताभावात् । यद तावत्त्वं के बहवः समानप्रदेशाश्चेति । रूपादय इति चेत् न, तेषामपि धर्म्यंशेनाभेदाल्लक्षणभेदाच्च । नतु बहूनामात्मनां लक्षणभेदोऽस्ति । अन्त्यविशेषवशाद्भेदोपपत्तिरिति चेत्—न, भेदकल्पनाय अन्त्यविशेषकल्पनायाश्चेतरेतराश्रयत्वात् । आकाशादीनामपि विभुत्वं ब्रह्मवादिनोऽसिद्धं कार्यत्वाभ्युपगमात्, तस्मादात्मैकत्वपक्ष एव सर्वदोषाभाव इति सिद्धम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

### [ अत्र पादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः ]

### ( १ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम् सू० १--४ )

### तथा प्राणाः ॥ १ ॥

वियदादिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधस्तृतीयेन पादेन परिहृतः । चतुर्थेनेदानीं प्राणविषयः परिह्रियते । तत्र तावत् 'तत्तेजोऽसृजत' ( छान्दो० ६।२।३ ) इति, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' ( तैत्ति० २।१।१ ) इति चैवमादिषूत्पत्ति-प्रकरणेषु प्राणानामुत्पत्तिर्नाम्नायते । क्वचिच्चानुत्पत्तिरेवैषामाम्नायते, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' ( तै० २।७ ) 'तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत् । तदाहुः के ते ऋषय इति । प्राणा वाव ऋषयः' इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भाव-श्रवणात् । अन्यत्र तु प्राणानामप्युत्पत्तिः पठ्यते—'यथाऽग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इति, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-न्द्रियाणि च' ( मुण्ड० २।१।३ ) इति, 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' ( मु० २।१।८ ) इति, 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्' ( प्र० ६।४ ) इति चैवमादिप्रदेशेषु । तत्र तत्र श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणा-निरूपणाच्चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति । अथवा प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणाना-

भामती

यद्यपि ब्रह्मवेदने सर्ववेदनप्रतिज्ञातदुपपादनश्रुतिविरोधाद् बहुतराद्वैतश्रुतिविरोधाच्च प्राणानां सर्गादौ सद्भावश्रुतिर्विषयदमृतत्वादिश्रुतय इवान्यथा कथञ्चिन्नेतुमुचिता, तथाप्यन्यथानयनप्रकारमविद्वानन्यथानुपपद्य-मानैकापि श्रुतिर्बह्वीरन्यथयेदिति मन्वानः पूर्वपक्षयति । अथ चाभ्युच्चयतया वियदधिकरणपूर्वपक्षहेतून् स्मारयति ॐ तत्र तावद् इति ॐ । शब्दैकप्रमाणसमधिगम्या हि महाभूतोत्पत्तिस्तस्या यत्र शब्दो निवर्त्तते तत्र तत्प्रमाणाभावेन तदभावः प्रतीयते । यथा चैत्यवन्दनतत्कर्मधर्मताया इत्यर्थः । अत्रापाततः श्रुतिविप्रतिपत्त्यानध्यवसायेन पूर्वपक्षयित्वाऽथवेत्यभिहितं पूर्वपक्षमवतारयति । अभिप्रायोऽस्य वर्णितः

भामती—व्याख्या

**संशय**—इन्द्रियों की अनादिता और सादिता के बोधक श्रुति-वाक्यों का परस्पर-विरोध है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि ब्रह्म-वेदन से सर्व-वेदन की प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञोपपादक श्रुति एवं अद्वैत-श्रुति से विरुद्ध होने के कारण सर्गारम्भ में इन्द्रिय-सद्भाव-प्रतिपादक श्रुति वैसे ही स्वार्थपरक न होकर अन्यार्थपरक मानी जाती है, जैसे आकाशगत अमृतत्व की प्रतिपादिका श्रुति । तथापि उक्त श्रुति के अन्यार्थपरकत्व-प्रकार से अनभिज्ञ पूर्वपक्षी की यह धारणा है कि अन्यथानुपपद्यमान अकेली श्रुति भी अन्यथोपपद्यमान बहुत-सी श्रुतियों का बाध कर सकती हैं । पूर्वपक्षी अपने पक्ष के समर्थन में वियदधिकरण-पूर्वपक्ष के हेतुओं का स्मरण दिला रहा है—"तत्र तावत्" । महाभूतों की उत्पत्ति एकमात्र शब्द प्रमाण से अवगत होती है । जिसकी उत्पत्ति का प्रतिपादक शब्द प्रमाण उपलब्ध नहीं, उसकी उत्पत्ति का अभाव माना जाता है, जैसे चैत्य ( स्तूप ) के कर्म ( निर्माण ) और उसकी वन्दना को धर्म इसी लिए नहीं माना जाता कि उसकी धर्मता का विधायक कोई शब्द प्रमाण नहीं ।

भाष्यकार ने पहले आपाततः इन्द्रियोत्पत्ति-श्रुतियों को दिखाकर अनध्यवसायता का पूर्वपक्ष किया—"श्रुतिविप्रतिषेधादन्यतरनिर्धारणकारणानिरूपणात्" । किन्तु वास्तविक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुत्पत्तिश्रुतिरिति प्राप्नोति । अत उत्तरमिदं पठति –'तथा प्राणाः इति । कथं पुनरत्र तथेत्यक्षरानुलोम्यम् ? प्रकृतोपमानाभावात् । सर्वगतात्मबहुत्ववादिदूषणमतीतानन्तरपादान्ते प्रकृतम् , तत्तावन्नोपमानं सम्भवति, सादृश्याभावात् । सादृश्ये हि सत्युपमानं स्यात् । यथा सिंहस्तथा बलवर्मेति । अदृष्टसाम्यप्रतिपादनार्थमिति यद्युच्येत, यथाऽदृष्टस्य सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानस्यानियतत्वमेवं प्राणानामपि सर्वात्मनः प्रत्यनियतत्वमिति तदपि देहानियमेनैवोक्तत्वात्पुनरुक्तं भवेत् । नच जीवेन प्राणा उपमीयेरन् , सिद्धान्तविरोधात् । जीवस्य ह्यनुत्पत्तिराख्याता । प्राणानां तूत्पत्तिर्व्याचिख्यासिता । तस्मात्तथेत्यसम्बद्धमिव प्रतिभाति । न उदाहरणोपात्तेनाप्युपमानेन सम्बन्धोपपत्तेः । अत्र प्राणोत्पत्तिवादिवाक्यजातमुदाहरणम् –'एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' ( बृ० २।१।२० ) इत्येवंजातीयकम् । तत्र यथा लोकादयः परस्माद् ब्रह्मण उत्पद्यन्ते तथा प्राणा अपीत्यर्थः । तथा—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ( मुण्ड० २।१।३ ) इत्येवमादिष्वपि खादिवत्प्राणानामुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् । अथवा 'पानव्यापच्च तद्वत्' ( जै० सू० ३।४।१५ ) इत्येवमादिषु व्यवहितोपमानसम्बन्धस्याप्याश्रितत्वात् । यथाऽतीतानन्तरपादादावुक्ता वियदादयः परस्य ब्रह्मणो

भामती

'पानव्यापच्च तद्वत्' इत्यत्राश्वप्रतिग्रहेष्टयाद्यधिकरणपूर्वपक्षसूत्रार्थसादृश्यं तदा परामृष्टम् । सिद्धान्तस्तु स्यादेतदेवं यदि सर्गादौ प्राणसद्भावश्रुतिरनन्यथासिद्धा भवेत् । अन्यथैव त्वेषा सिध्यति । अवान्तरप्रलये

भामती–व्याख्या

पूर्वपक्ष "अथवा" से किया गया है । अर्थात् "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" ( मुण्ड. २।१।३ ) इत्यादि श्रुतियाँ स्वार्थपरक न होकर गौणार्थक हैं, फलतः इन्द्रियों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती ।

सिद्धान्त –"तथा प्राणाः" । [ 'तथा' शब्द का अर्थ है—'तेन प्रकारेण' । 'तत्' पद के द्वारा प्रकृतोपयोगी सादृश्य का परामर्श किया जाता है—'यथा गौस्तथा गवयः' । प्रक्रान्त इन्द्रियोत्पत्ति के अनुगुण किसी पूर्व चर्चित उत्पत्ति का 'यथा' पद से निर्देश करके 'तथा' पद से उसी का परामर्शपूर्वक उपसंहार किया जाता है, किन्तु अव्यवहित पूर्व में जीवनानात्व चर्चित है, वह प्रकृतोपयोगी नहीं, प्रकृतोपयोगी है –आकाशादि की उत्पत्ति, क्योंकि 'यथा भूतानि उत्पद्यन्ते, तथा इन्द्रियाणि'—ऐसी अभिमत वाक्य-योजना हो जाती है । किन्तु वह तृतीय पाद के आरम्भ में अभिहित है, उसका 'तत्' पद से परामर्श क्योंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में व्यवहित अन्वय को भी न्यायोचित ठहराते हुए उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—"पानव्यापच्च तद्वत्" (जै. सू. ३।४।३२) । [वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"सूत्रेण व्यवधानं तु पानव्यापदि कल्पितम्" ( श्लो. वा. पृ. १८ ) ] ।

सोम-रस पान करने के पश्चात् यदि वमन हो जाता है, तब प्रायश्चित्त के रूप में सोमेन्द्रदेवताक चरुद्रव्यक इष्टि कर्म का विधान किया गया है—"सोमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः" ( मै. सं. २।२।१३ ) । वहां सन्देह होता है कि उक्त प्रायश्चित्त कर्म लौकिक सोम-वमन का है ? अथवा वैदिक साम-वमन का ? पूर्वपक्षी का कहना है—"पानव्यापच्च तद्वत्" । यहाँ 'तद्वत्' शब्द के द्वारा विगत अट्ठाइसवें सूत्र में पूर्वपक्षित अश्वप्रतिग्रह इष्टि का लौकिकत्व परामृष्ट है । "दोषात् त्विष्टिर्लौकिके स्यात्" ( जै. सू. ३।४।२८ ) इस सूत्र में पूर्वपक्ष की ओर से जैसे लौकिक अश्व-प्रतिग्रह का प्रायश्चित्त कहा गया है—"यावतोऽ-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकाराः समधिगतास्तथा प्राणा अपि परस्य ब्रह्मणो विकारा इति योजयितव्यम्। कः पुनः प्राणानां विकारत्वे हेतुः ? श्रुतत्वमेव। ननु केषुचित्प्रदेशेषु न प्राणानामुत्पत्तिः श्रूयत इत्युक्तं तदयुक्तम्, प्रदेशान्तरेषु श्रवणात्। नहि क्वचिदश्रवणमन्यत्र श्रुतं निवारयितुमुत्सहते। तस्मीच्छ्रुतत्वाविशेषादाकाशादिवत्प्राणा अप्युत्पद्यन्त इति सूक्तम् ॥ १ ॥

## गौण्यसंभवात् ॥ २ ॥

यत्पुनरुक्तं प्रागुत्पत्तेः सद्भावश्रवणाद् गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरिति। तत्प्रत्याह गौण्यसम्भवादिति। गौण्या असम्भवो गौण्यसम्भवः। नहि प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सम्भवति, प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात्। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ( मुण्ड० १।१।३ ) इति ह्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्साधनायेदमाम्नायते —'एतस्माज्जायते प्राणः' ( मुण्ड० २।१।३ ) इत्यादि। सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः समस्तस्य जगतो ब्रह्मविकारत्वे सति प्रकृतिव्यतिरेकेण विकाराभावात्सिध्यति। गौण्यां तु प्राणानामुत्पत्तिश्रुतौ प्रतिज्ञेयं हीयेत तथा च प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति —'पुरुष एवेद विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्' ( मुण्ड० २।१।१० ) इति 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' ( मुण्ड० २।२।११ ) इति च। तथा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन

भामती

ह्यग्निसाधनानां सृष्टिर्वक्तव्येति तदर्थोऽसावुपक्रम. । तत्राधिकारिपुरुषः प्रजापतिरप्रनष्ट एव त्रैलोक्यमात्रं प्रलीनमतस्तदीयान् प्राणानपेक्ष्य सा श्रुतिरुपपन्नार्था। तस्माद् भूयसीनां श्रुतीनामनुग्रहाय सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्त्यर्थस्य चोत्तरस्य सन्दर्भस्य गौणत्वे तु प्रतिज्ञातार्थानुगुण्याभावेनानपेक्षितार्थत्वप्रसङ्गात्, प्राणा अपि नभोवद् ब्रह्मणो विकारा इति। न च चैत्यवन्दनादिवत्सर्वथा प्राणानामुत्पत्त्यश्रुतिः, क्वचित् खल्वे-

भामती—व्याख्या

श्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्" ( तै. सं. २।३।१२।१ )। वैसे ही लौकिक सोम-पान का वमन होने पर कथित प्रायश्चित्त किया जायगा। इस प्रकार 'तद्वत्' शब्द जैसे व्यवहित उपमान का परामर्शक है, वैसे ही "तथा प्राणाः" —इस सूत्र का 'तथा' शब्द व्यवहित भूतोत्पत्ति का अनुवर्तक है।

सिद्धान्ती के कहने का सारांश यह है कि इन्द्रियों को तब नित्य माना जा सकता था, जब कि "किं तदसदासीत् ? ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्" के ते ऋषयः ? प्राणा वाव ऋषयः" ( शत० ब्रा० ६।१।१।१ ) यह प्राणरूपी ऋषियों के सद्भाव की प्रतिपादन करनेवाली श्रुति अन्यथासिद्ध न होती। इस श्रुति का आशय यह है कि केवल अवान्तर (खण्ड) प्रलय में प्राणादि का सद्भाव होता है, क्योंकि अग्निचयन कर्म के प्रकरण में अग्नि साधनीभूत पदार्थों की सृष्टि अपेक्षित है। खण्ड-प्रलय में प्रजापतिरूप अधिकारी ( सृष्टिकर्त्ता ) प्रनष्ट नहीं होता त्रिलोकीमात्र का प्रलय होता है। उस समय प्रजापति के सदभूत प्राणों का प्रतिपादन कर देने से उक्त श्रुति सार्थक है। फलतः प्राणोत्पत्ति-बोधक बहुत-सी श्रुतियों के अनुरोध पर एवं एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का उपपादन करने के लिए प्राणोत्पत्ति माननी आवश्यक है। प्राणोत्पत्तिपरक श्रुतियों का अन्यथा नयन ( गौणत्व ) कदापि अपेक्षित और प्रासङ्गिक नहीं, अतः ब्रह्म के आकाशादि जैसे विकार हैं, वैसे ही इन्द्रियगण भी विकार हैं। जैसे चैत्य-वन्दनादि-प्रतिपादक श्रुति का अभाव है, वैसे प्राणोत्पत्तिपरक श्रुति का अभाव नहीं, क्योंकि उत्पत्ति-श्रुतियों का प्रदर्शन किया जा चुका है। अतः चैत्य-बन्दन और पोषधादि ( विगत पृ० ७३८ पर चर्चित ) का यहाँ साम्य न होकर वैषम्य है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्येवंजातीयकासु श्रुतिष्वेषैव प्रतिज्ञा योजयितव्या । कथं पुनः प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणम्? नैतन्मूलप्रकृतिविषयम्, अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' ( मुण्ड० २।१।२ ) इति मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वावधारणात् । अवान्तरप्रकृतिविषयं त्वेतत्स्वविकारापेक्षं प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावावधारणमिति द्रष्टव्यम्, व्याकृतविषयाणामपि भूयसीनामवस्थानां श्रुतिस्मृत्योः प्रकृतिविकारभावप्रसिद्धेः । वियदधिकरणे हि 'गौण्यसम्भवाद्' इति पूर्वपक्षसूत्रत्वाद् गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याख्यातम् । प्रतिज्ञाहान्या च तत्र सिद्धान्तोऽभिहितः । इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद् गौण्या जन्मश्रुतेरसम्भवादिति व्याख्यातम् । तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात् ॥ २ ॥

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

इतश्चाकाशादीनामिव प्राणानामपि मुख्यैव जन्मश्रुतिः । यत् 'जायते' इत्येकं जन्मवाचिपदं प्राणेषु प्राक्श्रुतं सदुत्तरेष्वप्याकाशादिष्वनुवर्तते । 'एतस्माज्जायते प्राणः' ( मु० २।१।३ ) इत्यत्राकाशादिषु मुख्यं जन्मेति प्रतिष्ठापितं तत्सामान्यात्प्राणेष्वपि मुख्यमेव जन्म भवितुमर्हति । न ह्येकस्मिन्प्रकरण एकस्मिंश्च वाक्य एकः शब्दः सकृदुच्चरितो बहुभिः संबध्यमानः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद् गौण इत्यध्यवसातुं शक्यम्,

भामती

यामुत्पत्त्यश्रवणमुत्पत्तिश्रुतिस्तु तत्र तत्र वर्णिता । तस्माद्वेषम्यं चैत्यवन्दनपोषधादिभिरिति । केचिद्वियदधिकरणव्याख्यानेन गौण्यसम्भवादिति सूत्रं व्याचक्षते । गौणी प्राणानामुत्पत्तिश्रुतिरसम्भवादुत्पत्तेरिति । तदयुक्तम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—प्राणानां जीववद्वाविकृतब्रह्मात्मतयानुपपत्तिः स्यात्, ब्रह्मणस्तत्त्वान्तरतया वा । न तावज्जीववदेषामविकृतब्रह्मात्मता, जडत्वात् । तस्मात्तत्त्वान्तरतयैषामनुत्पत्तिरास्थेया । तथाच ब्रह्मवेदनेन सर्ववेदनप्रतिज्ञाव्याहतिः, समस्तवेदान्तव्याकोपश्चेत्येतदाह ❀ वियदधिकरणे हि इति ❀ ॥ १-२ ॥ निगदव्याख्यातमस्य भाष्यम् ॥ ३ ॥

भामती–व्याख्या

कतिपय पुरातन आचार्य वियदधिकरणगत "गौण्यसम्भवात्" ( ब्र. सू. २।३।३ ) इस सूत्र की व्याख्या के समान ही जो यहाँ भी वैसी ही व्याख्या करते थे—'प्राणोत्पत्ति-श्रुति गौण है, क्योंकि प्राणों की उत्पत्ति असम्भव है' । वह व्याख्या यहाँ युक्ति-युक्ति नहीं, क्योंकि इस पक्ष में उठती शङ्काओं का समुचित समाधान नहीं होता—अविकृत ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण जीव के समान ही प्राणों की उत्पत्ति नहीं होती? अथवा (२) ब्रह्म की अपेक्षा तत्त्वान्तर होने के कारण प्राणों की ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं होती? प्रथम पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि प्राण जड़ हैं, ब्रह्मरूप नहीं हो सकते । परिशेषतः प्राणों को ब्रह्म की अपेक्षा तत्त्वान्तर मानकर प्राणों की अनुत्पत्ति कहनी होगी, तब तो ब्रह्म-वेदन से सर्व-वेदन की प्रतिज्ञा व्याहत होती है । इतना ही नहीं, समस्त वेदान्त-वाक्यों का विरोध होता है, यही भाष्यकार कहते हैं—"वियदधिकरणे हि" ॥ १-२ ॥

"तत्प्राक् श्रुतेश्च"—इस सूत्र के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि आकाशादि की उत्पत्ति का अभिधान करने से पहले ही श्रुति ने प्राणों की उत्पत्ति का प्रतिपादन जिस 'जायते' शब्द से किया—"एतस्माज्जायते प्राणः" ( मुण्ड. २।१ ) । उसी 'जायते' शब्द की अनुयोजना उत्तरार्ध में है—"खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" ( मुण्ड. २।१।३) इस प्रकार पठित आकाशादि के साथ की गई है ॥ ३ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्रश्न० ६।४) इत्यत्रापि प्राणेषु श्रुतः सृजतिः परेष्वव्युत्पत्तिमत्सु श्रद्धादिष्वनुषज्यते। यत्रापि पश्चाच्छ्रुत उत्पत्तिवचनः शब्दः पूर्वैः सम्बध्यते तत्राप्येष एव न्यायः। यथा 'सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' इत्ययमन्ते पठितो व्युच्चरन्तिशब्दः पूर्वैरपि प्राणादिभिः संबध्यते ॥ ३ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

यद्यपि 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतस्मिन्प्रकरणे प्राणानामुत्पत्तिर्न पठ्यते, तेजोऽबन्नानामेव च त्रयाणां भूतानामुत्पत्तिश्रवणात्। तथापि ब्रह्मप्रकृतिकतेजोऽबन्नपूर्वकत्वाभिधानाद्वाक्प्राणमनसां तत्सामान्याच्च सर्वेषामेव प्राणानां ब्रह्मप्रभवत्वं सिद्धं भवति। तथा हि—अस्मिन्नेव प्रकरणे तेजोऽबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायते—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' (छा० ६।५।४) इति। तत्र यदि तावन्मुख्यमेवैषामन्नादिमयत्वं ततो वर्तत एव ब्रह्मप्रभवत्वम्। अथ भाक्तम्, तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायां श्रवणात्, 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' (छा० ६।१।३) इति चोपक्रमाद् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा० ६।८।७) इति चोपसंहाराच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्यत्वप्रपञ्चनार्थमेव मनआदीनामन्नादिमयत्ववचनमिति गम्यते। तस्मादपि प्राणानां ब्रह्मविकारत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

## ( २ सप्तगत्यधिकरणम् । ५--६ )

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः प्राणानां परिहृतः। संख्याविषय इदानीं परिहि-

भामती

वाच इति वाक्प्राणमनसामुपलक्षणम्। आयमर्थः—यत्रापि तेजःप्रभृतीनां सृष्टौ प्राणसृष्टिर्नोक्तेति ब्रूषे, यत्राप्युक्तेति ब्रूमहे। तथाहि—यस्मिन् प्रकरणे तेजोऽबन्नपूर्वकत्वं वाक्प्राणमनसामाम्नायतेऽन्नमयं हीत्यादिना, तद्यदि मुख्यार्थं ततस्तत्सामान्यात्सर्वेषामेव प्राणानां सृष्टिरुक्ता। अथ गौणम्, तथापि ब्रह्मकर्तृकायां नामरूपव्याक्रियायामुपक्रमोपसंहारपर्य्यालोचनया श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेश्च ब्रह्मकार्य्यत्वप्रपञ्चार्थमेव प्राणादीनामापोमयत्वाद्यभिधानमित्युक्तैव तत्रापि प्राणसृष्टिरिति सिद्धम् ॥ ४ ॥

भामती—व्याख्या

इस सूत्र में "वाचः" शब्द वाक्, प्राण और मन का उपलक्षक है। पूर्वपक्षी का जो कहना है कि "तत्तेजोऽसृजत" (छो. ६।२।३) इस श्रुति में केवल तेज आदि भूत-वर्ग की ही सृष्टि प्रतिपादित है, प्राणों की सृष्टि नहीं कही गई, वहाँ भी हमारा (सिद्धान्ती का) कहना है कि प्राणों की सृष्टि अभिहित है, क्योंकि उसी प्रकरण में वाक्, प्राण और मन को क्रमशः तेज जल और अन्न का विकार कहा गया है—"अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्" (छा. ६।५।४)। श्रुति ने यहाँ जो मनकी अन्नमयता में युक्ति प्रस्तुत की है कि अन्नादि की न्यूनता और वृद्धि पर मन आदि की न्यूनता और वृद्धि निर्भर है। वह युक्ति सभी इन्द्रियों के लिए समान है। यदि इस श्रुति को मुख्यार्थक न मान कर गौणार्थक माना जाता है, तब भी उपक्रम और उपसंहार के द्वारा समस्त नाम और रूपात्मक जगत् में जो ब्रह्मकर्तृकत्व पर्यवसित होता है, उसी का विस्तार यह प्राणादि में आपोमयत्वादि का अभिधान माना जा सकता है, फलतः प्राण-सृष्टि का प्रतिपादन अपेक्षित है ॥ ४ ॥


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यते। तत्र मुख्यं प्राणमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। संप्रति तु कतीतरे प्राणा इति संप्रधारयति। श्रुतिविप्रतिपत्तेश्चात्र विशयः। क्वचित्सप्त प्राणाः संकीर्त्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्ड० २।१।८) इति। क्वचिच्चाष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन गुणेन संकीर्त्यन्ते—'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' (बृ० ६।२।१) इति। क्वचिन्नव—सप्त व शीर्षण्याः प्राणा द्वाव्वाञ्चौ' (तै० सं० ५।१।७।३) इति। क्वचिद्दश—'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इति। क्वचिदेकादश 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' (बृ० ३।९।४) इति। क्वचिद् द्वादश—'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनम्' (बृ० २।४ ११) इत्यत्र। क्वचित् त्रयोदश चक्षुश्च द्रष्टव्यं

भामती

अवान्तरसङ्गतिमाह ❀ उत्पत्तिविषयः इति ❀। संशयकारणमाह ❀ श्रुतिविप्रतिषेधाद् इति ❀। ❀ विशयः ❀ संशयः। क्वचित् सप्त प्राणाः। तद्यथा—चक्षुर्घ्राणरसनवाक्श्रोत्रमनस्त्वगिति। क्वचिदष्टौ प्राणा ग्रहत्वेन बन्धनेन गुणेन सङ्कीर्त्यन्ते। तद्यथा—घ्राणरसनवाक्चक्षुःश्रोत्रमनोहस्तत्वगिति त एते ग्रहाः, एषां तु विषया अतिग्रहास्त्वष्टावेव प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धान् जिघ्रतीत्याविना सन्दर्भेणोक्ताः। क्वचिन्नव, तद्यथा, सप्त वै शीर्षण्या प्राणाः द्वाववाञ्चाविति। द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे घ्राणे एका वागिति सप्त। पायूपस्थौ बुद्धिमनसी वा द्वाववाञ्चाविति नव। क्वचिद्दश—नव वै पुरुषे प्राणास्त उक्ता नाभिर्दशमीति। क्वचिदेकादश, दशेमे पुरुषे प्राणाः। तद्यथा—बुद्धीन्द्रियाणि घ्राणादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि हस्तादीनि पञ्चात्मैकादश, आप्नोति व्याप्नोत्यधिष्ठानेनेत्यात्मा मनः स एकादश इति। क्वचिद् द्वादश। सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमित्यत्र। तद्यथा—त्वग्नासिकारसनचक्षुः श्रोत्रमनोहृदयहस्तपादोपस्थपायूवागिति। क्वचिदेत एव प्राणा अहङ्काराधिकारत्वेन [illegible]। एवं विप्रति-

भामती—व्याख्या

**संगति**—"उत्पत्तिविषयः श्रुतिविप्रतिषेधः"। अर्थात् इन्द्रियों की उत्पत्ति-प्रतिपादिका श्रुतियों का विरोध परिहृत हो जाने के पश्चात् इन्द्रियों की संख्या का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का विरोध दूर किया जाता है।

**संशय**—इन्द्रियों की संख्या में संशय का कारण है—"श्रुतिविप्रतिषेध"। यहाँ 'विशय' शब्द का अर्थ संशय है। श्रुतियों में सात से लेकर तेरह संख्या तक का प्रतिपादन है—

१. **सप्त प्राणाः**—(१) चक्षु, (२) घ्राण, (३) रसन, (४) वाक् (५) श्रोत्र, (६) मन और (७) त्वक्।

२. **अष्टौ प्राणाः**—बन्धन-हेतुत्वेन रूपेण आठ इन्द्रिय अभिहित है—(१) घ्राण, (२) रसन, (३) वाक्, (४) चक्षु, (५) श्रोत्र, (६) मन, (७) हस्त और (८) त्वक्। इन्द्रियों को ग्रह और उनके विषयों को अतिग्रह कहा गया है, क्योंकि विषय इन्दियरूपी ग्रहों के आकर्षक कहे गए हैं—"प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्रहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धान् जिघ्रति" (वृह. उ. ३।२।२)।

३. **नव प्राणाः**—"सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ" (तै०सं० ५।१।७।१) अर्थात् दो श्रोत्र, दो चक्षु, दो घ्राण, एक वाक्, एक पायु और एक उपस्थ अथवा पायु और उपस्थ के स्थान पर बुद्धि और मन की गणना की जाती है।

४. **दश प्राणाः**—नाभि को मिला देने पर दश प्राण होते है।

५. **एकादश प्राणाः**—पाँच बुद्धीन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा एक मन। मन को आत्मा इस लिए कह दिया गया है कि वह इन्द्रियों को व्याप्त करता है।

**द्वादश प्राणाः**—(१) त्वक्, (२) नासिका, (३) रसन, (४) चक्षु, (५) श्रोत्र, (६) मन, (७) हृदय, (८) हस्त, (२) पाद, (१०) उपस्थ, (११) पायु और (१२) वाक्।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च' (बृ० ४।८) इत्यत्र। एवं हि विप्रतिपन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः। किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव प्राणा इति। कुतः? गतेः। यतस्तावन्तोऽवगम्यन्ते—'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' (मुण्ड० २।१।८) इत्येवंविधासु श्रुतिषु। विशेषिताश्चैते 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र। ननु 'प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त' (मुण्ड० २।१।८) इति वीप्सा श्रूयते, सा सप्तभ्योऽतिरिक्तान्प्राणान्गमयतीति। नैष दोषः, पुरुषभेदाभिप्रायेयं वीप्सा प्रतिपुरुषं सप्त सप्त प्राणा इति, न तत्त्वभेदाभिप्राया सप्त सप्तान्येऽन्ये प्राणा इति। नन्वष्टत्वादिकापि संख्या प्राणेषूदाहृता, कथं सप्तैव स्युः? सत्यमुदाहृता, विरोधात्त्वन्यतमा संख्याऽध्यवसातव्या। तत्र स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तसंख्याध्यवसानम्: वृत्तिभेदापेक्षं च संख्यान्तरश्रवणमिति मन्यते॥ ५॥

अत्रोच्यते—

## हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्॥ ६॥

हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः स

भामती

पन्नाः प्राणेयत्तां प्रति श्रुतयः।

अत्र प्रश्नपूर्वं पूर्वपक्षं गृह्णाति किं तावत् प्राप्तम्? सप्तैव इति ❀। सप्तैव प्राणाः। कुतः? ❀ गतेः ❀ अवगतेः। ❀ श्रुतिभ्यः ❀ सप्त प्राणाः प्रभवन्तीत्यादिभ्यः। न केवलं श्रुतितोऽवगतिर्विशेषणाद्यप्येवमेवेत्याह ❀ विशेषितत्वाच्च ❀। ❀ सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः इति ❀ ये सप्त शीर्षण्याः श्रोत्रादयस्ते प्राणा इत्युक्ते इतरेषामशीर्षण्यानां हस्तादीनामप्राणत्वं गम्यते। यथा दक्षिणेनाक्ष्णा पश्यतीत्युक्ते वामेन न पश्यतीति गम्यते। एतदुक्तं भवति—यद्यपि श्रुतिविप्रतिपेधो यद्यपि च पूर्वसंख्यासु न परासां संख्यानां निवेशस्तथाऽप्यवच्छेदकत्वेन बह्वीनां संख्यानामसम्भवादेकस्यां कल्प्यमानायां सप्तत्वमेव युक्तं प्राथम्याल्लाघवाच्च, वृत्तिभेदमात्रविवक्षया त्वष्टत्वादयो गमयितव्या इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते, उच्यते—हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति—न सप्तैव,

भामती-व्याख्या

७. त्रयोदश प्राणाः—उक्त बारह प्राणों में अहङ्कार को मिला देने पर तेरह संख्या कहीं मानी है। इस प्रकार प्राणों की इयत्ता (संख्या) में "श्रुतियों का मत-भेद है।

पूर्वपक्ष—"किं तावत् प्राप्तम्? सप्तैव प्राणाः" अर्थात् इन्द्रियों की सात ही संख्या माननी चाहिए, क्योंकि "सप्त प्राणा प्रभवन्ति" (मुण्ड० २।१।८) इत्यादि श्रुतियों से सप्तत्व की ही अवगति होती है। केवल श्रुति से वैसी अवगति नहीं होती अपितु इतर-व्यावर्तक विशेषण के आधार पर भी यही स्थिर होता है—"विशेषितत्वाच्च सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः" (तै. सं. ५।१।७।१)। जब 'ये सप्त शिरस्थाः श्रोत्रादयः, ते प्राणाः'—ऐसा विशेष विधान कर दिया गया, तब हस्तादिसे प्राणपदास्पदत्वकी वैसे ही व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है, जैसे दक्षिणेनाक्ष्णा पश्यति'—ऐसा कह दिया गया, तब यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि वाम नेत्र से नहीं देखता। सारांश यह है कि यद्यपि श्रुतियों में अष्टत्वादि विविध संख्याओं का उल्लेख है और अष्टत्वादि संख्या का सप्तत्व में अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता। तथापि अनेक संख्याओं को इन्द्रियों का परिच्छेदक मानना सम्भव नहीं और प्रथमोपात्त सप्तत्व संख्या के परित्याग में कोई प्रमाण भी नहीं, तब "प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः?" (श्लो. वा. पृ. ६६)। इस प्रकार लाघव और प्राथम्य को ध्यान में रखते हुए सप्तत्व संख्या ही युक्त है, सात इन्द्रियों के वृत्ति-भेद से अष्टत्वादि का सामञ्जस्य भी हो जाता है।

सिद्धान्त—"हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्"। सूत्रस्थ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मणाऽतिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति' ( बृ० ३।२।८ ) इत्येवमाद्यासु श्रुतिषु । स्थिते च सप्तत्वातिरेके सप्तत्वमन्तर्भावाच्छक्यते संभावयितुम् । हीनाधिकसंख्याविप्रतिपत्तौ ह्यधिका संख्या संग्राह्या भवति, तस्यां हीनाऽन्तर्भवति, नतु हीनायामधिका । अतश्च नैवं मन्तव्यं—स्तोककल्पनानुरोधात्सप्तैव प्राणाः स्युरिति । उत्तरसंख्यानुरोधात्त्वेकादशैव ते प्राणाः स्युः । तथा चोदाहृता श्रुतिः—'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' ( बृ० ३।९।४ ) इति । आत्मशब्देन चात्रान्तःकरणं परिगृह्यते, करणाधिकारात् । नन्वेकादशत्वादप्यधिके द्वादशत्रयोदशत्वे उदाहृते । सत्यमुदाहृते, न त्वेकादशभ्यः कार्यजातेभ्योऽधिकं कार्यजातमस्ति यदर्थमधिकं करणं कल्प्येत । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयाः पञ्च बुद्धिभेदास्तदर्थानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः पञ्च कर्मभेदास्तदर्थानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । सर्वार्थविषयं त्वैकाल्यवृत्ति मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्, तदेव वृत्तिभेदात् क्वचिद् भिन्नवद् व्यपदिश्यते—'मनो

भामती

किन्तु हस्तादयोऽपि प्राणाः । प्रमाणान्तरादेकदेशत्वे प्राणानां स्थितेऽतोऽस्मिन् सति सार्वविभक्तिकस्तसिः । नैवम् । लाघवात् प्राथम्याच्च सप्तत्वमित्यक्षरार्थः । एतदुक्तं भवति— यद्यपि श्रुतयः स्वतःप्रमाणतयाऽनपेक्षास्तथापि परस्परविरोधान्नार्थतत्त्वपरिच्छेदायालम् । न च सिद्धे वस्तुनि अनुज्ञान इव विकल्पः संभवति । तस्मात् प्रमाणान्तरोपनीतार्थवशेन व्यवस्थाप्यन्ते । ॐ हीनेति ॐ । यथा स्रुवेणावद्यतीति मांसपुरोडाशावदानासम्भवात् सम्भवाच्च द्रवावदानस्य स्रुवावदाने द्रवाणीति व्यवस्थाप्यते । एवमिहापि रूपादिबुद्धिपञ्चककार्यव्यवस्थातश्चक्षुरादिबुद्धीन्द्रियकरणपञ्चकव्यवस्था । नह्यन्धादयः सत्स्वपीतरेषु घ्राणादिषु गन्धाद्युपलब्ध्यनुमितसद्भावेषु रूपादीनुपलभन्ते । तथा वचनादिलक्षणकार्यपञ्चकव्यवस्थातो वाक्पाण्यादि-

भामती—व्याख्या

करता है—"न सप्तैव । सात ही इन्द्रियाँ हैं—ऐसा मानना युक्ति-युक्त नहीं, किन्तु उनसे अतिरिक्त हस्तादि भी प्राण हैं । प्रमाणान्तर के आधार पर ग्यारह इन्द्रियाँ सिद्ध हो रही हैं, अतः सप्तत्व संख्या कदापि उपादेय नहीं । सूत्रस्थ 'अतः' शब्द तसिलन्त है, तसिल् सार्वविभक्तिक होने से यहाँ सप्तमी के स्थान पर विवक्षित है, इस लिए 'अतः' शब्द का अर्थ है—'अस्मिन्' । 'पूरे सूत्र की योजना इस प्रकार होती है—'हस्तादावतिरिक्ते प्राणे स्थितेऽस्मिन् सति नैवम्' । अर्थात् हस्तादि अतिरिक्त इन्द्रियों के विद्यमान रहते लाघव और प्राथम्य के अनुरोध पर सप्तत्व संख्या का नियमन उचित नहीं । कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि श्रुतियाँ स्वतः प्रमाण होने के कारण किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखतीं, तथापि परस्पर-विरुद्ध वाक्य किसी अर्थ-तत्त्व के निश्चायक नहीं हो सकते । विरुद्ध वाक्यों के अनुरोध पर उसके सिद्धरूप अर्थ में वैसा विकल्प भी नहीं माना जा सकता, जैसा यागादिरूप साध्य अर्थ में माना जाता है । परिशेषतः अनुमानादिरूप प्रमाणान्तर के द्वारा अधिगमित अर्थ के अनुसार श्रुतियों को व्यवस्थापित किया जाता है । जैसे स्रुवा [ लकड़ी के बने लम्बी डण्डी और गोलमुख के चम्मच ] का सामान्यतः कठोर और तरल सभी प्रकार के पदार्थों के अवदान ( निष्कासन ) में विनियोग किया गया —"स्रुवेणावद्यति" । किन्तु स्रुवा एक ऐसा पात्र है, जिससे मांसादि कठोर द्रव्यों का अवदान सम्भव नहीं और घृतादि द्रव द्रव्यों का अवदान सम्भव है, अतः अर्थ-सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के द्वारा घृतादि द्रव द्रव्यों के अवदान में व्यवस्थापित किया जाता है—"अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्" ( जै. सू. १।४।३० ) । वैसे ही यहाँ पर भी रूप-ज्ञान, रस-ज्ञानादि पाँच ज्ञानों के द्वारा उनके करणीभूत चक्षुरादि पाँच बुद्धीन्द्रय व्यवस्थापित होते हैं, क्योंकि एक अन्ध व्यक्ति गन्धादि का ग्रहण करता है, अतः गन्ध-ज्ञानादि के द्वारा घ्राणादि चार इन्द्रियों का सद्भाव सिद्ध होने पर भी अन्ध पुरुष

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धिरहंकारश्चित्तं च' इति। तथा च श्रुतिः कामाद्या नानाविधा वृत्तीरनुक्रम्याह—'एतत्सर्वं मन एव' (बृ० १।५।३) इति। अपि च वप्तैव शीर्षण्यान्प्राणानभिमन्य-

भामती

लक्षणकर्मेन्द्रियपञ्चकव्यवस्था। न हि जातु मूकादयः सत्स्वपि विहरणाद्यवगतसद्भावेषु पादादिषु बुद्धीन्द्रियेषु वा वचनादिमन्तो भवन्ति। एवं कर्मबुद्धीन्द्रियासम्भविन्या सङ्कल्पादिक्रियाव्यवस्थयान्तःकरणव्यवस्थानुमानम्। एकमपि चान्तःकरणमनेकक्रियाकारि भविष्यति, यथा प्रदीप एको रूपप्रकाशवर्तिविकारस्नेहशोषणहेतुः। तस्मान्नान्तःकरणभेदः। एकमेव स्वगतःकरणं मननान्मन इति चाभिमानावहङ्कार इति चाध्यवसायाद् बुद्धिरिति चाख्यायते। वृत्तिभेदाच्चाभिन्नमपि भिन्नमिवोपचर्यते त्रयमिति, तत्त्वेन त्वेकमेव भेदे प्रमाणाभावात्। तदेवमेकादशानां कार्याणां व्यवस्थानादेकादश प्राणा इति श्रुतिराञ्जसी। तदनुगुणतया त्वितराः श्रुतयो नेतव्याः। तत्रावयुत्यनुवादेन सप्ताष्टनवदशसंख्याश्रुतयो यथैकं वृणीते द्वौ वृणीते इति त्रीन् वृणीत इत्येतदानुगुण्यात्। द्वादशत्रयोदशसंख्याश्रुती तु कथञ्चिद् वृत्तिभेदेन भेदं विवक्षित्वोपासनादिपरतया नेतव्ये। तस्मादेकादशैव प्राणा नेतर इति सिद्धम्। अपि च शीर्षण्यानां प्राणानां

भामती—व्याख्या

नीलादि रूप पदार्थ का ज्ञान नहीं कर पाता। इसी प्रकार वचन, आदान, विहरणादि पञ्चविध कर्मों (क्रियाओं) के द्वारा वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों सिद्ध किए जाते हैं, क्योंकि एक मूक (गूंगा) व्यक्ति के विहरणादि-द्वारा अवगमित पादादि इन्द्रियों का सद्भाव सिद्ध होने पर भी वह वचनरूप (बोलना) व्यापार नहीं कर सकता। पाँच बुद्धीन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रियों के द्वारा सम्पादित न हो सकनेवाले संकल्पादि कार्यों से एक अन्तःकरण का अनुमान किया जाता है। एक भी अन्तःकरण वैसे ही संकल्प, निश्चयादिरूप अनेक कार्य कर लेगा, जैसे एक ही दीपक रूप का प्रकाश करता है, वर्ती (बत्ती) को विकृत करता (जलाता) है और तेल का शोषण करता है। जब एक ही अन्तःकरण अनेक कार्य कर लेता है, तब अनेक अन्तःकरण मानने की आवश्यकता नहीं। एक ही अन्तःकरण मनन करने के कारण मन, अभिमान करने के कारण अहंकार और अध्यवसाय (निश्चय) करने के कारण बुद्धि कहलाता है। इन तीनों वृत्तियों की भेद विवक्षा से अन्तःकरण-त्रय का भी उपचार हो जाता है। तत्त्वतः अन्तःकरण एक ही है, उसकी अनेकता में कोई प्रमाण नहीं। इस प्रकार दर्शनादि एकादश कार्यों की व्यवस्था के लिए जो एकादश प्राण अनुमित होते हैं, उनकी प्रतिपादिका श्रुति सर्वातिशायिनी है। उसी के अनुसार अन्य श्रुतियों की व्याख्या करनी होगी। अन्य श्रुतियाँ दो प्रकार की हैं—१-न्यून (सात, आठ, नौ और दश) संख्या की प्रतिपादिका। २-द्वादशादि अधिक संख्या की अभिधायिका।

१—सात, आठ, नौ और दश संख्या का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का सामञ्जस्य अवयुत्यवाद की पद्धति से एकादश संख्या की स्तुति में वैसे ही किया जाता है, जैसे "त्रीन् वृणीते"—इस विधि वाक्य से विहित तीन ऋत्विजों के वरण की प्रशंसा "एकं वृणीते," "द्वौ वृणीते" इन वाक्यों के द्वारा की जाती है [ उपादेय महासंख्या की स्तुति जो महासंख्या की अवयवभूत (अवान्तर) संख्या के माध्यम से की जाती है, उसे अवयुत्यवाद या अवयुत्यानुवाद कहते हैं, जैसा कि श्री शबरस्वामी कहते हैं—"यत्र परा संख्या कीर्त्यते, तत्रावयुत्यवादो भवति, यथा द्वादशकपाले यदष्टाकपालो भवति" (शबर. पृ. १०९९)। अर्थात् वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" (तै. सं. २।२।५।३) यहाँ पुत्र के उत्पन्न होने पर द्वादशकपाल-संस्कृत पुरोडाशद्रव्यक इष्टि का विधान किया गया। उसकी प्रशंसा करने के लिए कहा गया—"यदष्टाकपालो भवति, गायत्रियैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति। यन्नवकपालस्त्रि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस्य चत्वार एव प्राणा अभिमताः स्युः। स्थानभेदाद्धि एते चत्वारः सन्तः सप्त गण्यन्ते—'द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके एका वाक्' इति। नच तावतामेव वृत्तिभेदा इतरे प्राणा इति शक्यते वक्तुं, हस्तादिवृत्तीनामत्यन्तविजातीयत्वात्। तथा 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' इत्यत्रापि देहच्छिद्रभेदाभिप्रायेणैव दश प्राणा उच्यन्ते, न प्राणतत्त्वभेदाभिप्रायेण, 'नाभिर्दशमी'ति वचनात्। नहि नाभिर्नाम कश्चित्प्राणः प्रसिद्धोऽस्ति। मुख्यस्य तु प्राणस्य भवति नाभिरप्येकं विशेषायतनमित्यतो नाभिर्दशमीत्युच्यते। क्वचिदुपासनार्थं कतिचित्प्राणा गण्यन्ते, क्वचित्प्रदर्शनार्थम्। तदेवं विचित्रे प्राणेयत्ताम्नाने सति क्व किंपरमाम्नानमिति विवेक्तव्यम्। कार्यजातवशात्त्वाम्नानं प्राणविषयं प्रमाणमिति स्थितम्। इयमपरा सूत्रद्वययोजना—सप्तैत्र प्राणाः स्युर्यतः

भामती

यत्सप्तत्वाभिधानं तदपि चतुर्ष्वेव व्यवस्थापनीयम्, प्रमाणान्तरविरोधात्। न खलु द्वे चक्षुषी, रूपोपलब्धिलक्षणस्य कार्यस्याभेदात्। पिहितैकचक्षुषस्तु न तादृशी रूपोपलब्धिर्भवति यादृशी समग्रचक्षुषः, तस्मादेकमेव चक्षुरधिष्ठानभेदेन तु भिन्नमिवोपचर्यते। काणस्याप्येकगोलकगतेन चक्षुरवयवेनोपलम्भः। एतेन घ्राणोश्रत्रे अपि व्याख्याते।

इयमपरा सूत्रद्वययोजना ॐ सप्तैव प्राणाः ॐ चक्षुर्घ्राणरसनवाक्श्रोत्रमनस्त्वच उत्क्रान्तिमन्तः

भामती—व्याख्या

वृतेवास्मिन् तेजो दधाति"। इस प्रकार द्वादश संख्या की घटकीभूत आठ, नव, दश और ग्यारह संख्या को संस्तुति के द्वारा द्वादश संख्या की प्रशंसा करना अवयुत्यानुवाद है—

"अष्टत्वाद्यविधानत्वाद् व्यर्थेयं तत्प्ररोचना।
तस्मादवयवद्वारं द्वादशत्वं प्ररोच्यते॥" (तं. वा. पृ. ३५१)]

२—एकादश से अधिक द्वादश और त्रयोदश संख्या परक श्रुतियाँ अन्तःकरण की वृत्तियों को पृथक् गिनकर उपासना में पर्यवसित होती हैं, फलतः इन्द्रियाँ ग्यारह ही सिद्ध होती हैं।

दूसरी बात यह भी है कि शीर्षस्थ प्राणों (इन्द्रियों) की जो सप्त संख्या कही गई है, उसका भी प्रत्यक्षादि से विरोध होने के कारण चार संख्या में ही उपसंहार करना होगा, क्योंकि शिरमें एक 'चक्षु, एक श्रोत्र, एक घ्राण और एक वाक् ये चार ही इन्द्रियाँ है। चक्षु, श्रोत्र और घ्राण के केवल गोलक दो-दो हैं, चक्षुरादि का भेद मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि रूपोपलब्ध्यादिरूप कार्य का अभेद है। चक्षुरादि सावयव हैं, अतः एक गोलक को बन्द कर लेने पर चक्षु के कतिपय अवयव आवृत हो जाने के कारण रूपादि की वैसी उपलब्धि नहीं होती, जैसी समग्र चक्षु से होती है। इसी लिए काणे व्यक्ति को भी रूपादि की अधूरी उपलब्धि मानी जाती है। घ्राण और श्रोत्र की भी यही स्थिति है। [आचार्य वसुबन्धु ने भी ऐसा ही कहा है—

"जाति-गोचर-विज्ञान-सामान्यादेकधातुता।
द्वित्वेऽपि चक्षुरादीनां शोभार्थं तु द्वयोद्भवः॥" (अभि. को. १।१९)

जाति, विषय और विज्ञानरूप कार्य की एकता के कारण एक चक्षु, एक श्रोत्र और एक घ्राण मानना उचित है]॥ ६॥

[ उक्त दो सूत्रों की अन्य व्याख्या ]

पूर्वपक्ष—चक्षु, घ्राण, रसन, वाक्, श्रोत्र, मन और त्वक् सात ही प्राण (इन्द्रियाँ) उत्क्रान्ति और गति करते हैं। सिद्धान्ती की ओर से शङ्का की गई—"ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र"।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सप्तानामेव गतिः श्रूयते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' ( बृ० ४।४।२ ) इत्यत्र। ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र पठ्यते, तत्कथं सप्तानामेव गतिः प्रतिज्ञायत इति ? विशेषितत्वादित्याह। सप्तैव हि प्राणाश्चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता विशेषिता इह प्रकृताः 'स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' ( बृ० ४।४।१ ) 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' ( बृ० ४।४।२ ) इत्येवमादिनाऽनुक्रमणेन। प्रकृतगामी च सर्वशब्दो भवति—यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इति, ये निमन्त्रिताः प्रकृता ब्राह्मणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते नान्ये। एवमिहापि ये प्रकृताः सप्त प्राणास्त एव सर्वशब्देनोच्यन्ते, नान्य इति। नन्वत्र विज्ञानमष्टममनुक्रान्तं, कथं सप्तानामेवानुक्रमणम् ? नैष दोषः, मनोविज्ञानयोस्तत्त्वाभेदाद् वृत्तिभेदेऽपि सप्तत्वोपपत्तेः। तस्मात्सप्तैव प्राणा इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः प्रतीयन्ते—'हस्तौ वै ग्रहः' ( बृ० ३।२।८ ) इत्यादिश्रुतिषु। ग्रहत्वं च बन्धनभावः, गृह्यते बध्यते क्षेत्रज्ञोऽनेन ग्रहसंज्ञकेन बन्धनेनेति, स च क्षेत्रज्ञो नैकस्मिन्नेव शरीरे बध्यते, शरीरान्तरेष्वपि तुल्यत्वाद्बन्धनस्य। तस्माच्छरीरान्तरसंचारीदं ग्रहसंज्ञकं बन्धनमित्यर्थादुक्तं भवति। तथा च स्मृतिः 'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्धस्य

भामती

स्युः। सप्तानामेव गतिश्रुतेर्विशेषितत्वादिति व्याख्यातुं शङ्कते ❀ ननु सर्वशब्दोऽप्यत्र इति ❀। अस्योत्तरं ❀ विशेषितत्वाद् इति ❀। चक्षुरादयस्त्वक्पर्यन्ता उत्क्रान्तौ विशेषिताः। तस्मात्सर्वशब्दस्य प्रकृतापेक्षत्वात् सप्तैव प्राणा उत्क्रामन्ति न पाण्यादय इति प्राप्तम्। चोदयति ❀ नन्वत्र विज्ञानमष्टमम् इति ❀। न विजानातीत्याहुरित्यनेनानुत्क्रान्तम्। परिहरति ❀ नैष दोष इति ❀।

सिद्धान्तमाह ❀ हस्तादयस्त्वपरे सप्तभ्योऽतिरिक्ताः प्राणाः ❀ उत्क्रान्तिभाजोऽवगम्यन्ते ग्रहत्वश्रुतेर्हस्तादीनाम्। एवं ह्येषां ग्रहत्वाम्नानमुपपद्येत। यद्यामुक्तेरात्मानं बध्नीयुरितरथा षाट्कौशिकशरीरवदेषां ग्रहत्वं नाम्नायेत। अत एव स्मृतिरेषां मुक्त्यवधितामाह ❀ पुर्यष्टकेन इति ❀। तथा-

भामती—व्याख्या

अर्थात् "सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृह. ४।४।२) इस श्रुति में पठित 'सर्वे' शब्द के बल पर सभी ( ग्यारह ) इन्द्रियों का लाभ हो रहा है, अतः सात का ही ग्रहण क्यों ? इस शङ्का का उत्तर है—"विशेषितत्वात्"। अर्थात् चक्षुरादि सात इन्द्रियों का उत्क्रमण अवस्था में विशेषतः उल्लेख है, अतः यहाँ 'सर्व' शब्द उन्हीं प्रक्रान्त सातों का ही ग्राहक है, अतिरिक्त का नहीं। पुनः शङ्का की जाती है—"नन्वत्र विज्ञानमष्टमम्"। चक्षुरादि के समान ही "न विजानातीत्याहु" यहाँ आठवें विज्ञान तत्त्व का उल्लेख होने से सात ही प्राण क्यों ? इसका उत्तर है—"नैष दोषः"। विज्ञान तत्त्व मन से भिन्न नहीं, तत्त्वतः एक होने पर भी वृत्तिभेद को लेकर पृथक् उल्लिखित कर दिया गया है।

सिद्धान्त—"हस्तादयस्तु"। "हस्तौ वै ग्रहः" ( बृह. उ. ३।२।८ ) इत्यादि श्रुतियों में चक्षुरादि सप्त से अतिरिक्त हस्तादि का निर्देश किया गया है। हस्तादि में ग्रहत्व ( बन्धकत्व ) का निर्देश तभी संगत हो सकता है, जब कि वे मुक्ति-पर्यन्त जीवात्मा के वैसे बन्धन माने जाएँ, जैसे यह छः धातुवाला ( स्थूल ) शरीर। इसी आशय को इस पुराण-वाक्य में निबद्ध किया गया है—

"पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च॥"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च ।' इति प्राङ्मोक्षाद् ब्रह्मसंज्ञकेनानेन बन्धनेनावियोगं दर्शयति । आथर्वणे च विषयेन्द्रियानुक्रमणे 'चक्षुश्च द्रष्टव्यं च' इत्यत्र तुल्यवद्धस्तादीनीन्द्रियाणि सविषयाण्यनुक्रामति—हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च' ( प्र० ४।८ ) इति । तथा 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' ( बृ० ३।९।४ ) इत्येकादशानां प्राणानामुत्क्रान्ति दर्शयति । सर्वशब्दोऽपि च प्राणशब्देन संबध्यमानोऽशेषाग्प्राणानभिदधानो न प्रकरणवशेन सप्तस्वेवावस्थापयितुं शक्यते, प्रकरणाच्छब्दस्य बलीयस्त्वात् । सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्रापि सर्वेषामेवंवनिवर्तिनां ब्राह्मणानां ग्रहणं न्याय्यम्, सर्वशब्दस्यसामर्थ्यात् । सर्वभोजनासंभवात्तु तत्र निमन्त्रितमात्रविषया सर्वशब्दस्य वृत्तिराश्रिता, इह तु न किंचित्सर्वशब्दार्थसङ्कोचने कारणमस्ति । तस्मात्सर्वशब्देनात्राशेषाणां प्राणानां परिग्रहः । प्रदर्शनार्थं च सप्तानामनुक्रमणमित्यनवद्यम् । तस्मादेकादशैव प्राणाः - शब्दतः कार्यतश्चेति सिद्धम् ॥ ६ ॥

## ( ३ प्राणाणुत्वाधिकरणम् । सू० ७ )

### अणवश्च ॥ ७ ॥

अधुना प्राणानामेव स्वभावान्तरमभ्युच्चिनोति । अणवश्चैते प्रकृताः प्राणाः

---

भामती

यर्वणश्रुतिरप्येषामेकादशानामुत्क्रान्तिमभिवदति । तस्मात् श्रुत्यन्तरेभ्यः स्मृतेश्च सर्वशब्दार्थासंकोचाच्च सर्वेषामुत्क्रमणे स्थितेऽस्मिन्नेवं यदुक्तं सप्तैवेति, किन्तु प्रदर्शनार्थं सप्तत्वसंख्येति सिद्धम् ॥ ६ ॥

अत्र सांख्यानामाहङ्कारिकत्वाविन्द्रियाणामहङ्कारस्य च जगन्मण्डलव्यापित्वात्सर्वगताः प्राणाः ।

---

भामती-व्याख्या

पैङ्गलोपनिषत् में पुर्यष्टक इस प्रकार वर्णित है—"ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्" । अर्थात् (१) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, (२) पाँच कर्मेन्द्रिय, (३) पाँच प्राणादि, (४) आकाशादि पाँच सूक्ष्म भूत, (५) अन्तःकरण-चतुष्टय, (६) काम, (७) कर्म और (८) तम (अविद्या)—इन आठ का समूह अष्टपुरी है । विवेकचूडामणि ( ९८ ) में कहा है—

वागादिपञ्चकं श्रवणादिपञ्चकं प्राणादिपञ्चाभ्रमुखादिपञ्च ।
बुद्ध्याद्यविद्यादि च कामकर्मणी पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ॥

[ तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार श्री अघोरशिवाचार्य ने भी कहा है—"पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वा स्थितः पृथिव्यादिकलापर्यन्तस्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः सूक्ष्मो देहः" ] । अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषत् भी ग्यारह इन्द्रियों की उत्क्रान्ति कह रही है—"चक्षुश्च द्रष्टव्यं च.....पादौ गन्तव्यं च" ( प्रश्न. ४।८ ) । इस प्रकार अन्यान्य श्रुतियों स्मृतियों और 'सर्वे' शब्द के बल पर सभी ग्यारह इन्द्रियों का उत्क्रमण सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी का 'सप्तैव'—ऐसा कहना उचित नहीं ॥ ६ ॥

---

**सन्देह**—पूर्वोक्त इन्द्रियगण विश्व-व्याप्त हैं ? अथवा केवल स्थूल शरीर में रहनेवाले परिच्छिन्न हैं ?

**पूर्वपक्ष**—सांख्याचार्य इन्द्रियों को अहङ्कारतत्त्व का कार्य मानते हैं, अहङ्कारतत्त्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपत्तव्याः। अणुत्वं चैषां सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ न परमाणुतुल्यत्वम्, कृत्स्नदेहव्यापिकार्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। सूक्ष्मा एते प्राणाः, स्थूलाश्चेत्स्युर्मरणकाले शरीरान्निर्गच्छन्तो बिलादहिरिवोपलभ्येरन्निय्रियमाणस्य पार्श्वस्थैः। परिच्छिन्नाश्चैते प्राणाः, सर्वगताश्चेत् स्युरुत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिव्याकोपः स्यात्। तद्गुणसारत्वं च जीवस्य न सिध्येत्। सर्वगतानामपि वृत्तिलाभः शरीरदेशे स्यादिति चेत् न, वृत्तिमात्रस्य करणत्वोपपत्तेः। यदेव ह्युपलब्धिसाधनं वृत्तिरन्यद्वा तस्यैव नः करणत्वं, संज्ञामात्रे विवाद इति करणानां व्यापित्वकल्पना निरर्थिका। तस्मात्सूक्ष्माः परिच्छिन्नाश्च प्राणा इत्यध्यवस्याम- ॥ ७ ॥

———

भामती

वृत्तिस्तेषां शरीरदेशतया प्रादेशिकी तन्निबन्धना च गत्यागतिश्रुतिरिति मन्यन्ते, तान् प्रत्याह ❀अणवश्च❀ प्राणाः। अनुद्भूतरूपस्पर्शता चाणुत्वं दुरधिगमत्वान्न तु परमाणुत्वं देहव्यापिकार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्तापदूनस्य शिशिरह्रदनिमग्नस्य सर्वाङ्गीणशीतस्पर्शोपलब्धिरस्तीत्युक्तम्। एतदुक्तं भवति—यदि सर्वगतानीन्द्रियाणि भवेयुस्ततो व्यवहितविप्रकृष्टवस्तूपलम्भप्रसङ्गः। सर्वगतत्वेऽपि देहावच्छिन्नानामेव करणत्वं तेन न व्यवहितविप्रकृष्टवस्तूपलम्भप्रसङ्ग इति चेत्, हन्त प्राप्ताप्राप्तविवेकेन शरीरावच्छिन्नानामेव तेषां करणत्वमिन्द्रियत्वमिति न व्यापिनामिन्द्रियभावः। तथा च नाममात्रे विसंवादो नार्थेऽस्माभिस्तविन्द्रियमुच्यते भवद्भिस्तु वृत्तिरिति सिद्धमणवः प्राणा इति ॥ ७ ॥

———

भामती–व्याख्या

जगन्मण्डल-व्यापी है, अतः प्राण ( इन्द्रिय ) सर्वगत हैं किन्तु स्थूल शरीर के बाहर निर्व्यापार रह कर शरीर के अन्दर ही सव्यापार ( सक्रिय ) होते हैं। जीवात्मा जिस-जिस शरीर में जाता है, वहाँ-वहाँ इन्द्रियां सक्रिय हो जाती हैं—यही जीव का संसरण ( उत्क्रान्ति और गति ) कहलाता है [ युक्ति दीपिकाकार ने पुरातन-मत का उल्लेख करते हुए कहा है—"एवं हि साधयितुमर्हन्ति, नान्यथा। तथा हि—कारकं कारकत्वादेव प्राप्यकारि भवति। भौतिकानि चेन्द्रियाणि कथं प्राप्यकारीणि दूरवर्तिनि विषये भवेयुः ? आहङ्कारिकाणां तु तेषां व्यापकत्वात्। विषयाकारपरिणामात्मिका वृत्तिर्वृत्तिमतोऽनन्या सती सम्भवत्येवेति सुवचं प्राप्यकारित्वम्" ( यु. दी. पृ. १२३ )। इस पुरातन मत का प्रतिवाद स्वयं युक्तिदीपिकाकार ने किया है—"यत्पुनरेतदुक्तम्—विभुत्वादिन्द्रियाणां स्वात्मन्यवस्थानं वृत्तिलाभो वृत्तिरोधश्च संसार इति। अयुक्तमेतत्, कस्मात् ? विभुत्वासिद्धेः" ( यु. दी. पृ. १४५ ) ]।

**सिद्धान्त**—"अणवश्च"। के ? इस प्रश्न का उत्तर है—'प्राणाः'। यहाँ अणुत्व का अर्थ है—'अनुद्भूतरूपस्पर्शता'। इन्द्रियों में परमाणुत्व विवक्षित नहीं, अन्यथा देह-व्यापी स्पर्शादि की उपलब्धि न हो सकेगी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रचण्ड आतप से सन्तप्त प्राणी जब शीतल जलवाले ह्रद ( तालाब ) में डुबकी लगाता है, तब उसे सर्वाङ्गीण शीत स्पर्श की अनुभूति होती है। तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रियाँ सर्वगत ( व्यापक ) होंगी, तब व्यवहित और विप्रकृष्ट ( दूरस्थ ) रूपादि की युगपत् उपलब्धि प्रसक्त होती है। इन्द्रियों को व्यापक मानकर भी उक्त अतिप्रसंग को दूर करने के लिए यदि इन्द्रियों के शरीरावच्छिन्न भाग में ही रूपाद्युपलब्धि की साधनता मानी जाती है, तब शरीर के बाहर इन्द्रिय-सद्भाव का कोई सार्थक्य नहीं रह जाता, अतः प्राप्ताप्राप्त-विवेक या अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शरीरवच्छिन्न तैजसादि भाग में ही चक्षुरादिरूपत्व ( इन्द्रियत्व ) मानना उचित है। इस


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ४ प्राणश्रैष्ठ्याधिकरणम् । सू० ८ )

### श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद् ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति । तच्चाविशेषेणैव सर्वप्राणानां ब्रह्मविकारत्वमाख्यातम्–'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' (मुण्ड० २।१।३) इति सेन्द्रियमनोव्यतिरेकेण प्राणस्योत्पत्तिश्रवणात् । 'स प्राणमसृजत' ( प्र० ६।४ ) इत्यादिश्रवणेभ्यश्च । किमर्थः पुनरतिदेशः ? अधिकाशङ्काऽपाकरणार्थः । नासदासीयें हि ब्रह्मप्रधाने सूक्ते मन्त्रवर्णो भवति 'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास' (ऋ० सं० ८।७।१७) इति । आनीदिति प्राणकर्मोपादानात्प्रागुत्पत्तेः सन्तमिव प्राणं सूचयति । तस्मादजः प्राण इति जायते कस्यचिन्मतिः । तामतिदेशेनापनुदति । आनीच्छब्दोऽपि न प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावं सूचयति, अवातमिति विशेषणात् , 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इति च मूलप्रकृतेः प्राणादिसमस्तविशेषरहितत्वस्य दर्शितत्वात् । तस्मात्कारणसद्भावप्रदर्शनार्थं पवायमानीच्छब्द इति, श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव

भामती

न केवलमितरे प्राणा ब्रह्मविकाराः, श्रेष्ठश्च प्राणो ब्रह्मविकारः । नासदासीदित्यधिकृत्य प्रवृत्ते ब्रह्मसूक्ते नासदासीये सर्गात्प्रागानीदिति प्राणव्यापारश्रवणादसति च व्यापारवति व्यापारानुपपत्तेः प्राणसद्भावाज्ज्येष्ठत्वश्रुतेश्च न ब्रह्मविकारः प्राण इति मन्वानस्य बहुश्रुतिविरोधेऽपि च श्रुत्योरेतयोर्गतिमपश्यतः पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु – बहुश्रुतिविरोधादेवानीदिति न प्राणव्यापारप्रतिपादिनी, किन्तु सृष्टिकारणमानीत् जीवति स्म, आसीदिति यावत् , तेन तत्सद्भावप्रतिपादनपरा । ज्येष्ठत्वं च श्रोत्राद्यपेक्षमिति गमयित-

भामती–व्याख्या

प्रकार इन्द्रियों में 'आहङ्कारिकत्व' और 'भौतिकत्व' अथवा 'इन्द्रिय' और 'वृत्ति' शब्दों का ही विवाद रह जाता है, इन्द्रिय के स्वरूप या अणुत्व ( सूक्ष्मत्व ) में नहीं ॥ ७ ॥

**संशय**—चक्षुरादि इन्द्रियों के समान ही श्रेष्ठ ( मुख्य ) प्राण भी सादि और परिच्छिन्न है ।

**पूर्वपक्ष**—ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त ( ऋ. १०।१२९।२ ) में कहा गया है—

"न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥"

[अर्थात् प्रलय के समय न कोई मृत्युमान् था, न अमर । न रात्री का कोई चन्द्रादि चिह्न । वह एक अकेला ( परमात्मा ) आनीत् ( प्राणन ) क्रिया कर रहा था ( श्वास-प्रश्वास ले रहा था ) । उससे परे और कुछ भी नहीं था ] । प्राणों के विना प्राणन क्रिया सम्भव नहीं, अतः प्राणतत्त्व की सत्ता अनादि-सिद्ध है । उसे सादि नहीं माना जा सकता, "प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" ( छां. ५।१।१ ) इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित मुख्य प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता यही है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ सादि हैं और मुख्य प्राण अनादि । इन दोनों श्रुतियों की अन्य कोई गति नहीं, एकमात्र यही गति है कि प्राणों की नित्यता स्वीकार कर ली जाय ।

**सिद्धान्त**—"एतस्माज्जायते प्राणः" (मुण्ड. २।१।३), "स प्राणमसृजत" (प्रश्न. ६।४) इत्यादि प्राणोत्पत्तिपरक अनेक श्रुतियों के विरोध में प्राणों को नित्य मानना सम्भव नहीं, अतः 'आनीत्' शब्द का 'आसीत्' अर्थ में तात्पर्य मानना पड़ता है, ब्रह्म के लिए केवल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by हिन्दीसहितभामतीसंवलितम् Siddhanta eGangotri 

ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' ( छा० ५।१।१ ) इति श्रुतिनिर्देशात्। ज्येष्ठश्च प्राणः, शुक्रनिषेक-कालादारभ्य तस्य वृत्तिलाभात्। न चेत्तस्य तदानीं वृत्तिलाभः स्याद्योनौ निषिक्तं शुक्रं पूयेत, न संभवेद्वा। श्रोत्रादीनां तु कर्णशष्कुल्यादिस्थानविभागनिष्पत्तौ वृत्तिला-भान्न ज्येष्ठत्वम्। श्रेष्ठश्च प्राणः, गुणाधिक्यात्, 'न वै शक्ष्यामस्त्वदते जीवितुम्' ( बृ० ६।१।१३ ) इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

---

## ( ५ न वायुक्रियाधिकरणम्। सू० ९--१२ )

### न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

स पुनर्मुख्यः प्राणः किंस्वरूप इतीदानीं जिज्ञास्यते। तत्र प्राप्तं तावत्-श्रुतेर्वायुः प्राण इति। एवं हि श्रूयते—'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' इति। अथ वा तन्त्रान्तरीयाभिप्रायात्समस्त-करणवृत्तिः प्राण इति प्राप्तम्। एवं हि तन्त्रान्तरीया आचक्षते—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' इति। अत्रोच्यते—न वायुः प्राणो नापि करणव्यापारः, कुतः ?

भामती

व्यम्। तस्माद् बहुश्रुत्यनुरोधान्मुख्यस्यापि प्राणस्य ब्रह्मविकारत्वमिति सिद्धम् ॥ ८ ॥

---

सम्प्रति मुख्यप्राणस्वरूपं निरूप्यते। अत्र हि यः प्राणः स वायुरिति श्रुतेर्वायुरेव प्राण इति प्रतिभाति। अथवा प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषेति वायोर्भेदेन प्राणस्य श्रवणादेत-द्विरोधाद् वरं तन्त्रान्तरीयमेव प्राणस्य स्वरूपमस्तु श्रुती च विरुद्धार्थे कथञ्चिन्नेष्येते इति सामान्यकरण-वृत्तिरेव प्राणोऽस्तु। न चात्रापि करणेभ्यः पृथक् प्राणस्यानुक्रमणश्रुतिविरोधो वृत्तिवृत्तिमतोर्भेदादिति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तस्तु—न सामान्येन्द्रियवृत्तिः प्राणः। स हि मिलितानां वेन्द्रियाणां वृत्तिर्भवेत् प्रत्येकं

भामती—व्याख्या

'आसीत्'—ऐसा ही कहा जा सकता है, 'प्राणीत्'—ऐसा नहीं, क्योंकि वह प्राणधारी नहीं—"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" ( मुण्ड. २।१।२ )। श्रोत्रादि की अपेक्षा प्राणों में ज्येष्ठता मानी ही जाती है। फलतः अनेक श्रुतियों के अनुरोध पर प्राणों में ब्रह्म-कार्यत्व सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

**संशय**—प्राण-स्वरूप के विषय में जिज्ञासा होती है कि प्राण बाह्य वायु ही है ? या सांख्य-मतानुसार इन्द्रियों का ( देह-सञ्चालनरूप ) सामान्य व्यापार ? अथवा उन दोनों से भिन्न ?

**पूर्वपक्ष**—"यः प्राणः, स वायुः" ( ऐत. ३।३।२ ) यह श्रुति अत्यन्त स्पष्टरूप से कह रही है कि बाह्य वायु ही प्राण है। अथवा "प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, स वायुना ज्योतिषा भाति" ( छां. ३।१८।४ ) इस श्रुति में प्राण वायु से भिन्न निर्दिष्ट है, अतः वायुरूप नहीं हो सकता, तब सांख्यानुसार इन्द्रियों के सामान्य व्यापार को प्राण मान लेना चाहिए, जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने कहा है—"सामान्य-करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" ( सां. का. २९ )। से भेद और अभेद का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं—ऐसी व्याख्या करनी होगी। 'सांख्य-पक्ष में भी इन्द्रियों की अपेक्षा प्राणों के भेद-निर्देश का विरोध क्यों नहीं ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्राणों को इन्द्रियों से अभिन्न नहीं माना जाता, अपितु इन्द्रियों का सामान्य व्यापार माना जाता है, वृत्ति ( क्रिया ) और वृत्तिमान् ( क्रियावान् ) का भेद होता ही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथगुपदेशात्। वायोस्तावत्प्राणस्य पृथगुपदेशो भवति—'प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' ( छान्दो०३।१८।४ ) इति। नहि वायुरेव सन् वायोः पृथगुपदिश्येत। तथा करणवृत्तेरपि पृथगुपदेशो भवति, वागादीनि करणान्यनुक्रम्य तत्र तत्र पृथक्प्राणस्यानुक्रमणात्, वृत्तिवृत्तिमतोश्चाभेदात्। नहि करणव्यापार एव सन् करणेभ्यः पृथगुपदिश्येत। तथा 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुः' ( मु० २।१।३ ) इत्येवमादयोऽपि वायोः करणेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशा अनुसर्तव्याः। नच समस्तानां करणनामेका वृत्तिः संभवति, प्रत्येकमेकैकवृत्तित्वात्समुदायस्य चाकारकत्वात्। ननु पञ्जरचालनन्यायेनतद्भविष्यति। यथैकपञ्जरवर्तिन एकादशपक्षिणः प्रत्यकं प्रतिनियतव्यापाराः सन्तः संभूयैकं पञ्जरं चालयन्ति, एवमेकशरीरवर्तिन एकादश प्राणाः इत्यकं प्रतिनियतवृत्तयः सन्तः संभूयैकां प्राणाख्यां वृत्तिं प्रतिलप्स्यन्त इति, नेत्युच्यते युक्तं तत्र प्रत्येकवृत्तिभिरवान्तरव्यापारैः पञ्जरचालनानुरूपैरेवोपेताः पक्षिणः संभूयैकं पञ्जरं चालयेयुरिति, तथा दृष्टत्वात्। इह तु श्रवणाद्यवान्तरव्यापारोपेताः प्राणा न संभूय प्राण्युरिति युक्तम्, प्रमाणाभावात्, अत्यन्तविजातीयत्वाच्च श्रवणादिभ्यः प्राणनस्य। तथा प्राणस्य

भामती

वा। न तावन्मिलितानाम्, एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाभावे तदभावप्रसङ्गात्। नो खलु चूर्णहरिद्रासंयोगजन्माऽरुणगुणस्तयोरन्यतराभावे भवितुमर्हति। न च बहुविष्टिसाध्यं शिविकोद्वहनं द्वित्रिविष्टिसाध्यं भवति। न च त्वगेकसाध्यं, तथा सति सामान्यवृत्तित्वानुपपत्तेः। अपि च यत्सम्भूय कारकाणि निष्पादयन्ति तत्प्रधानव्यापारानुगुणावान्तरव्यापारेणैव यथा वयसां प्रातिस्विको व्यापारः पञ्जरचालनानुगुणः। न चेन्द्रियाणां प्राणे प्रधानव्यापारे जनयितव्येऽस्ति तादृशः कश्चिदवान्तरव्यापारस्तदनुगुणः। ये च

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त** - सांख्याचार्य इन्द्रियों के सामान्य व्यापार को जो प्राण कहते हैं, उसका क्या अर्थ ? क्या सभी इन्द्रियाँ मिल कर प्राणन व्यापार करती हैं ? अथवा प्रत्येक इन्द्रिय पृथक्-पृथक् वही व्यापार करती है ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जिस व्यक्ति के एक, दो तीन या चार इन्द्रिय नहीं, उसके सब इन्द्रियों का मेल ( साहित्य ) सम्भव न होने के कारण प्राणन क्रिया नहीं होनी चाहिए। [ सभी प्राणियों के पाँच इन्द्रियाँ नहीं होतीं, अपि तु कुछ के चार, कुछ के तीन और कुछ के दो—यह विगत पृ. ७४१ पर कहा जा चुका है ]। जो कार्य कई द्रव्यों के मेल से सम्पन्न होता है, वह अकेले एक या दो से सम्भव नहीं होता, जैसे चूने और हल्दी के मिलाने से जो लाल रंग बनता है, वह अकेले हल्दी या चूने से नहीं बनता। इसी प्रकार ८–१० कहारों के द्वारा उठाई जानेवाली पालकी एक या दो कहारों से नहीं उठती। यदि केवल त्वक् इन्द्रिय के द्वारा प्राणन क्रिया का सम्पादन माना जाता है, तब प्राणन व्यापार को सभी इन्द्रियों का सामान्य व्यापार नहीं कह सकते।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ कई इकाइयाँ मिल कर एक प्रधान व्यापार का सम्पादन करती हैं, वहां प्रत्येक इकाई अपने अवान्तर व्यापार के द्वारा ही एक प्रधान व्यापार की सिद्धि करती है, जैसे पिंजड़े में बन्द बहुतसे पक्षी अपनी-अपनी फड़फड़ाहट के द्वारा पिंजड़े को कम्पायमान् कर देते हैं। वैसे ही प्रकृत में प्रत्येक इन्द्रिय का कोई ऐसा अनुकूल अवान्तर व्यापार उपलब्ध नहीं होता, जिस के द्वारा प्राणन-रूप महा व्यापार को जन्म दिया जा सके। चक्षुरादि के जो रूप-प्रकाशनादि व्यापार उपलब्ध होते हैं, वे प्राणन व्यापार के जनक नहीं होते। फलतः प्राणों को सभी इन्द्रियों का सामान्य व्यापार नहीं माना जा सकता, अतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठत्वाद्युद्घोषणं गुणभावोपगमश्च तं प्रति वागादीनां, न करणवृत्तिमात्रे प्राणेऽवकल्पते। तस्मादन्यो वायुक्रियाभ्यां प्राणः। कथं तर्हीयं श्रुतिः 'यः प्राणः स वायुः' इति? उच्यते,—वायुरेवायमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनावतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रम्। अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्यते ॥ ९ ॥

स्यादेतत् प्राणोऽपि तर्हि जीववदस्मिञ्शरीरे स्वातन्त्र्यं प्राप्नोति, श्रेष्ठत्वाद् गुणभावोपगमाच्च तं प्रति वागादीनामिन्द्रियाणाम्। तथा ह्यनेकविधा विभूतिः प्राणस्य श्राव्यते—'सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको हि जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः, प्राणः संवर्गो वागादीन्संवृङ्क्ते प्राण इतरान्प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्' इति। तस्मात्प्राणस्यापि जीववत्स्वातन्त्र्यप्रसङ्गः। तं परिहरति—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥

तुशब्दः प्राणस्य जीववत्स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति, यथा चक्षुरादीनि राजप्रकृतिवज्जीवस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रत्युपकरणानि स्वन्त्राणि। तथा गुण्योऽपि प्राणो

भामती

रूपादिप्रत्यया न ते तदनुगुणाः, तस्मान्नेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः प्राणस्तथा च वृत्तिवृत्तिमतोः कथञ्चिद्भेदविवक्षया न पृथगुपदेशो गमयितव्यः। तस्मान्न क्रिया, नापि वायुमात्रं प्राणः, किन्तु वायुभेद एवाध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहः प्राण इति ॥ ९ ॥

स्यादेतत्—यथा चक्षुरादीनां जीवं प्रति गुणभूतत्वाज्जीवस्य च श्रेष्ठत्वाज्जीवः स्वतन्त्र एवं प्राणोऽपि प्राधान्यात् श्रेष्ठत्वाच्च स्वतन्त्रः प्राप्नोति। न च द्वयोः स्वतन्त्रयोरेकस्मिन् शरीरे एकवाक्यत्वमुपपद्यत इत्यपर्यायं विरुद्धानेकदिक्क्रियतया देह उन्मथ्येतेति प्राप्ते।

उच्यते—चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः। यद्यपि चक्षुराद्यपेक्षया श्रेष्ठत्वं प्राधान्यं च प्राणस्य

भामती—व्याख्या

वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद भानकर इन्द्रियों से पृथक् प्राण का निर्देश जो माना गया, वह संगत नहीं किन्तु इन्द्रियों के सामान्य व्यापार से प्राणों का तात्त्विक भेद ही मानना पड़ता है।

इसी प्रकार प्राणों को बाह्य वायुमात्र भी नहीं माना जा सकता, अपि तु शरीरान्तर्वर्ती वह वायु का परिणाम विशेष जो प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँच रूपों में विभक्त होकर शरीर का धारक है, प्राण कहलाता है॥ ९॥

शङ्का जैसे जीव के प्रति चक्षुरादि इन्द्रियगण गुणभूत माने जाते हैं, अतः जीव उन से श्रेष्ठ होने के कारण स्वतन्त्र माना जाता है। वैसे ही प्राण भी श्रेष्ठ और प्रधान होने से स्वतन्त्र सिद्ध होता है। दो स्वतन्त्र पदार्थों की एकवाक्यता एक शरीर में रह नहीं सकती, अतः एकसाथ दो स्वतन्त्र स्वामियों की विरुद्ध दिग्गामी परस्पर बिरुद्ध क्रियाओं से शरीर उन्मथित ( अस्त-व्यस्त ) हो जायगा।

समाधान—"चक्षुरादिवत् तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः"। आशय यह है कि यद्यपि चक्षुरादि की अपेक्षा प्राण श्रेष्ठ और प्रधान है, तथापि जीवात्मा के प्रति प्राण वैसे ही परतन्त्र है, जैसे शय्या और आसनादि संहत ( कार्यकारण-समूह ), अचेतन और भौतिक होने के कारण पुरुष के उपकरण पुरुष- तन्त्र ( पुरुष के अधीन ) हैं। श्रुतियों में प्राण चक्षुरादि साधनों की कक्षा में ही शिष्ट ( पठित ) है, समान धर्मवाले पदार्थ ही सहशिष्ट होते हैं, अतः चक्षुरादि के समान ही प्राण भी पुरुष का एक साधनमात्र है। जैसे सामान्य प्रजा की अपेक्षया मन्त्री

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजमन्त्रिवज्जीवस्य सर्वार्थकरत्वेनोपकरणभूतो न स्वतन्त्रः। कुतः? तत्सहशिष्टथादिभ्यः। तैश्चक्षुरादिभ्यः सहैव प्राणः शिष्यते प्राणसंवादादिषु। समानधर्मणां च सह शासनं युक्तं बृहद्रथंतरादिवत्। आदिशब्देन संहतत्वाचेतनत्वादीन्प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिराकरणहेतून् दर्शयति ॥ १० ॥

स्यादेतत् यदि चक्षुरादिवत्प्राणस्य जीवं प्रति करणभावोऽभ्युपगम्येत, विषयान्तरं रूपादिवत्प्रसज्येत। रूपाद्यालोचनादिभिर्वृत्तिभिर्यथास्वं चक्षुरादीनां जीवं प्रति करणभावो भवति। अपि चैकादशैव कार्यजातानि रूपालोचनादीनि परिगणितानि यदर्थमेकादश प्राणाः संगृहीताः, नतु द्वादशमपरं कार्यजातमधिगम्यते यदर्थमयं द्वादशः प्राणः प्रतिज्ञायेतेति। अत उत्तरं पठति—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥

न तावद्विषयान्तरप्रसङ्गो दोषः, अकरणत्वात्प्राणस्य नहि चक्षुरादिवत्प्राणस्य विषयपरिच्छेदेन करणत्वमभ्युपगम्यते। न चास्यैतावता कार्याभाव एव। कस्मात्? तथा हि श्रुतिः प्राणान्तरेष्वसम्भाव्यमानं मुख्यप्राणस्य वैशेषिकं कार्यं दर्शयति प्राणसंवादादिषु—'अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे' इत्युपक्रम्य 'यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः' (छा० ५।१।६,७) इति चोपन्यस्य प्रत्येकं वागाद्युत्क्रमणेन तद्वृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं दर्शयित्वा, प्राणोच्चिक्रमिषायां वागादिशैथिल्यापत्तिं शरीरपातप्रसङ्गं च दर्शयन्ती श्रुतिः प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियस्थितिं दर्शयति। 'तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति चैतमेवार्थं श्रुतिराह—'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्' (बृ० ४।३।१२) इति च सुप्तेषु चक्षुरादिषु प्राणनिमित्तां शरीररक्षां दर्शयति। 'यस्मात्कस्माच्चोत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति' (बृ० १।३।१९)। 'तेन

---

भामती

तथापि संहतत्वावचेतनत्वाद् भौतिकत्वाच्चक्षुरादिभिः सह शिष्टत्वाच्च पुरुषार्थत्वात् पुरुषं प्रति पारतन्त्र्यं शयनासनादिवद्भवेत्। तथा च यथा मन्त्रीतरेषु नैयोगिकेषु प्रधानमपि राजानमपेक्ष्यास्वतन्त्र एवं प्राणोऽपि चक्षुरादिषु प्रधानमपि जीवेऽस्वतन्त्र इति ॥ १० ॥

स्यादेतत्- चक्षुरादिभिः सह शासनेन करणं चेत् प्राण एवं सति चक्षुरादिविषयरूपादिवदस्यापि विषयान्तरं वक्तव्यम्। न च तच्छक्यं वक्तुम्, एकादशकरणगणनव्याकोपश्चेति दोषं परिहरति—अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति। न प्राणः परिच्छेदाहरणादिकरणमस्माभिरभ्युपेयते येनास्य विषयान्तरमन्विष्येत एकादशत्वं च करणानां व्याकुप्येतापि तु प्राणान्तरासम्भवि देहेन्द्रियविधारणकारणं

---

भामती-व्याख्या

प्रधान होता हुआ भी राजा की अपेक्षा गौण ही होता है, वैसे ही प्राण अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा प्रधान होने पर भी पुरुष की अपेक्षा परतन्त्र है ॥ १० ॥

शङ्का—चक्षुरादि करणों की पंक्तिमें पठित होने के कारण प्राण भी यदि एक करण है, तब उसका भी कोई पृथक् विषय होना चाहिए, जैसे चक्षुरादि के अपने रूप, शब्दादि विषय होते हैं, किन्तु प्राणका कोई विषय नहीं कहा जा सकता, अन्यथा एकादश करण की गणना विरुद्ध पड़ जाती है।

समाधान—"अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति। अर्थात् जैसी ज्ञानेन्द्रियों में परिच्छेद-जनकत्वेन (प्रकाशकरत्वेन) और कर्मेन्द्रियों में आहरणकरत्वेन करणता मानी जाती है, वैसी प्राणों मे करणता विवक्षित नहीं कि प्राणों के लिए विषयान्तर की आवश्यकता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri

यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति' इति च प्राणनिमित्तां शरीरेन्द्रियपुष्टिं दर्शयति। कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' इति, 'स प्राणमसृजत' इति च प्राणनिमित्ते जीवस्योत्क्रान्तिप्रतिष्ठे दर्शयति ॥ ॥ ११ ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ १२ ॥

इतश्चास्ति मुख्यस्य प्राणस्य वैशेषिकं कार्यं, यत्कारणं पञ्चवृत्तिरयं व्यपदिश्यते श्रुतिषु—'प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' ( बृ० १।५।३ ) इति। वृत्तिभेदश्चायं कार्यभेदापेक्षः —प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा, अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निश्वासादिकर्मा, व्यानस्तयोः सन्धौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुः, उदान ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः, समानः समं सर्वेष्वङ्गेषु योऽन्नरसान्नयतीति एवं पंचवृत्तिः प्राणो मनोवत्। यथा मनसः पञ्च वृत्तय एवं प्राणस्यापीत्यर्थः। श्रोत्रादिनिमित्ताः शब्दादिविषया मनसः पञ्च वृत्तयः प्रसिद्धाः, नतु कामः संकल्प इत्याद्याः परिपठिताः परिगृह्येरन्, पञ्चसंख्यातिरेकात्। नन्वत्रापि श्रोत्रादिनिरपेक्षा भूतभविष्यदादिविषयाऽपरा मनसो वृत्तिरस्तीति समानः पञ्चसंख्यातिरेकः। एवं तर्हि 'परमतप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' इति न्यायादिहापि योगशास्त्रप्रसिद्धा मनसः पञ्च वृत्तयः परिगृह्यन्ते—'प्रमाणविपर्य-

भामती

प्राणः। तच्च श्रुतिप्रबन्धेन दर्शितं न केवलं शरीरेन्द्रियधारणमस्य कार्यम् ॥ ११ ॥

अपि च—पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते। विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। यथा मरुमरीचिकादिषु सलिलादिबुद्धयः। अतद्रूपप्रतिष्ठता च संशयेऽप्यस्ति तस्यैकाप्रतिष्ठानात्। अतः सोऽपि संगृहीतः। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। यद्यपि मिथ्याज्ञानेऽप्यस्ति वस्तुशून्यता, तथापि न तस्य व्यवहारहेतुतास्ति। अस्य तु पण्डितरूपविचारासहस्यापि शब्दज्ञानमाहात्म्याद् व्यवहारहेतुभावोऽस्त्येव। यथा पुरुषस्य चैतन्यमिति। तत्र षष्ठ्यर्थः सम्बन्धोऽस्ति तस्य भेदाधिष्ठानत्वात्। चैतन्यस्य पुरुषादत्यन्ता-

भामती—व्याख्या

होती और करणगत एकादशत्व संख्या का व्याकोप ( विरोध ) होता। वस्तु-स्थिति यह है कि प्राणों में देहेन्द्रियादि-धारकत्वेन करणता मानी जाती है, जैसा कि श्रुति कहती है—प्राणश्च विधारयितव्यं च" ( प्रश्न. ४।८ )। "तान् वरिष्ठः प्रण उवाच—मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि" ( प्रश्न. २।३ ) ॥ ११॥

चक्षुरादि की अपेक्षा जैसे मन का अपना विशिष्ट कार्य है, वैसे ही प्राण का भी, क्योंकि मन और प्राण-दोनों पञ्चवृत्तिक प्रसिद्ध है। [ कार्य का भेद होने पर ही वृत्तियों का भेद होता है। मन की शब्दादिविषयक पाँच वृत्तियाँ होती है, वैसे ही श्वास-प्रश्वासादि के रूप में प्राण की पाँच वृत्तियाँ हैं—"प्रणोऽपानो व्यान उदानः समानः" ( बृह. उ. १।५।३ ) ]।

मन की शब्दादिविषयक पाँच वृत्तियों की अपेक्षा योगशास्त्र-प्रसिद्ध अन्य पाँच वृत्तियाँ अभिहित हैं—प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" ( यो. सू. १।६ )। इन में विपर्यय का लक्षण किया गया है—"विपर्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्" (यो. सू. १।८)। मरुमरीचिका में जलादि की झलक विपर्यय या मिथ्या ज्ञान है। संशय ज्ञान भी केवल अपने विषय में प्रतिष्ठित नहीं होता, अतः 'अतद्रूपप्रतिष्ठ' पद से संगृहीत हो जाता है। विपर्यय का विपरीत विषय होता है किन्तु विकल्प वृत्ति में विषय वस्तु का सर्वथा अभाव होता है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" ( यो. सू. १।९ )। यद्यपि शुक्ति-रजतादि मिथ्या ज्ञानों में भी रजतादिरूप विषयवस्तु का अभाव होता है, तथापि रजत व्यवहार का हेतु या व्यावहारिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यविकल्पनिद्रास्मृतयः, नाम ( पात० योग० सू० १।१।६ ) । बहुवृत्तित्वमात्रेण वा मनः प्राणस्य निदर्शनमिति द्रष्टव्यम् । जीवोपकरणत्वमपि प्राणस्य पञ्चवृत्तित्वान्मनोवदिति योजयितव्यम् ॥ १२ ॥

---

## ( ६ श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम् । सू० १३ )

### अणुश्च ॥ १३ ॥

अणुश्चायं मुख्यः प्राणः प्रत्येतव्यः, इतरप्राणवत् । अणुत्वं चेहापि सौक्ष्म्यपरिच्छेदौ, न परमाणुतुल्यत्वम् , पञ्चभिर्वृत्तिभिः कृत्स्नशरीरव्यापित्वात् , सूक्ष्मः प्राणः, उत्क्रान्तौ पार्श्वस्थेनानुपलभ्यमानत्वात् परिच्छिन्नश्चोत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्यः । ननु विभुत्वमपि प्राणस्य समाम्नायते —'समः प्लुषिणा समो अशकेन समो नागेन सम

भामती

भेदात् । यद्यपि चात्राभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्नेष्यते, तथापि विक्षेपसंस्कारलक्षणा मनोवृद्धिरिहास्त्येवेति सर्वमवदातम् ॥ १२ ॥

---

समस्मिभिर्लोकैरिति विभुत्वश्रवणाद्विभुः प्राणः समः प्लुषिणेऽत्याद्यास्तु श्रुतयो विभोरप्यवच्छेदाद्व्यन्ति । यथा विभुन आकाशस्य कुटकरकाद्यवच्छेदात्कुटादिसाम्यमिति प्राप्त आह ॐ अणुश्च ॐ । उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रुतिभ्य आध्यात्मिकस्य प्राणस्यावच्छिन्नता न विभुत्वम् । दुरधिगमतामात्रेण च शरीरव्यापिनोऽप्यणुत्वमुपचर्यते न त्वणुत्वमित्युक्तमधस्तात् । यत्त्वस्य विभुत्वाम्नानं तदाधिदैविकेन

भामती—व्याख्या

नहीं माना जाता किन्तु 'पुरुषस्य चैतन्यम्'—इत्यादि विकल्प-स्थलों पर एक विद्वान् पुरुष ही यह समझता है कि पुरुष ही चैतन्य पदार्थ है, चैतन्यतत्त्व पुरुष का सम्बन्धी नहीं । इस से विपरीत लोक व्यवहार में 'पुरुषस्य चैतन्यम्'—इत्यादि प्रयोग असंगत नहीं समझे जाते, अतः विकल्प-पदार्थ व्यवहार का हेतु माना जाता है । योगसूत्रकार ने जो 'निद्रा' पद से सुषुप्ति का ग्रहण करके लक्षण किया है—"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा" ( यो. सू. १।१० ) । वहाँ वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार मन का लय या अभाव नहीं माना जाता । तथापि विक्षेप-संस्काररूप मनोवृत्ति यहाँ विवक्षित है, उस का अभाव सुषुप्ति में माना जाता है । अत एव कल्पतरुकारने इस योगसूत्र का अर्थ (ब्र. सू. १।१।५) में किया है—"निद्रातोऽन्या वृत्तयोऽभावं प्रति अयन्ते गच्छन्त्यस्यिन्निति" ॥ १२ ॥

**संशय**—प्राण विभु है ? अथवा परिच्छिन्न ?

**पूर्वपक्ष**—"सम एभिस्त्रिलोकैः" ( बृह. उ. १।३।२२ ) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्राण में विभुत्व प्रतिपादित है । यह जो "समः प्लुषिणा" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्राण में पुत्तिका ( छोटी मधु-मक्खी या भुनगा ) आदि छोटे प्राणियों का स्वल्प या परिच्छिन्न परिमाण प्रतिपादित है, वह वैसा ही है, जैसा कि विभु आकाश में कुटादि ( घटादि ) उपाधियों के अवच्छेद से घटाकाशादि-व्यवहार ।

**सिद्धान्त**—"अणुश्च" अर्थात् उत्क्रान्ति, गति और आगति की प्रतिपादिका श्रुतियों के द्वारा प्राण में परिच्छिन्न परिमाण ही सिद्ध होता है, विभुत्व नहीं । यद्यपि प्राण शरीर-व्यापी है, अणुपरिमाण का नहीं । तथापि प्राण की दुरधिगमता को ध्यान में रख कर सूक्ष्मता बोधन करने के लिए अणुत्व का उपचार कर दिया गया है—यह पहले कहा जा चुका है ।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण' ( बृ० १।३।२२ ) इत्येवमादिप्रदेशेषु । तदुच्यते—आधिदैविकेन समष्ट्यष्टिरूपेण हैरण्यगर्भेण प्राणात्मनैवैतद्विभुत्वमाम्नायते, नाध्यात्मिकेन । अपि च समः प्लुषिणेत्यादिना साम्यवचनेन प्रतिप्राणिवर्तिनः प्राणस्य परिच्छेद एव प्रदर्श्यते तस्माददोषः ॥ १३ ॥

---

## ( ७ ज्योतिराद्यधिकरणम् । सू० १४-१६ )

### ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

ते पुनः प्रकृताः प्राणाः किं स्वमहिम्नैव स्वस्मै स्वस्मै कार्याय प्रभवन्त्याहोस्विदेवताधिष्ठिताः प्रभवन्तीति विचार्यते—तत्र प्राप्तं तावत् यथा स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्तेरन्निति । अपि च देवताधिष्ठितानां प्राणानां प्रवृत्ताव-

भामती

सूत्रात्मना समष्ट्यष्टिरूपेण, न त्वाध्यात्मिकेन रूपेण तदाश्रयाश्च समः प्लुषिणेत्येवमाद्याः श्रुतयो देहसाम्यमेव प्राणस्याहुः स्वरूपतो न तु करकाकाशवत्परोपाधिकतया कथञ्चिन्नेतव्या इति ॥ १३ ॥

यद्धि यत्कार्यं कुर्वद्दृष्टं तत् स्वमहिम्नैव करोतीत्येव तावदुत्सर्गः पराधिष्ठानन्तु तस्य बलवत्प्रमाणान्तरवशात् । स्यादेतत् -वास्यादीनां तक्षाद्यधिष्ठितानामचेतनानां कार्यकारित्वदर्शनाद्चेतनत्वेनेन्द्रियाणामप्यधिष्ठातृदेवताकल्पनेति चेत्, न; जीवस्यैवाधिष्ठातुश्चेतनस्य विद्यमानत्वात् । 'न चाग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादिश्रुतिभ्यो देवतानामप्यधिष्ठातृत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् । अनेकाधिष्ठानाभ्यु-

भामती—व्याख्या

यह जो प्राण में विभुत्व अभिहित है, वह समष्टि प्राणतत्त्व के अधिष्ठाता सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ के लिए कहा गया है, आध्यात्मिक ( शरीरान्तर्वर्ती ) प्राण के लिए नहीं, क्योंकि इस प्राण का प्रतिपादन करनेवाली "समः प्लुषिणा"—इत्यादि श्रुतियाँ शरीर के समान मध्यम परिमाणक प्राण कह रही हैं, यह प्राण का वास्तविक स्वरूप है, घटाकाशादि के समान औपाधिक नहीं ॥ १३ ॥

---

**सन्देह**—प्रकृत प्राण ( चक्षुरादि इन्द्रियाँ ) अपना-अपना रूपादि-प्रकाशनात्मक कार्य स्वयं अपने-आप करते हैं ? अथवा सूर्यादि अधिष्ठातृदेवताओं से अनुप्राणित होकर ?

**पूर्वपक्ष**—लोक में जो पदार्थ जिस कार्य का सम्पादन करता देखा जाता है, वह स्वयं अपने-आप ही कार्य करता है, जैसे अग्नि अपना दाहादिरूप कार्य स्वयं करती है, जब इस औत्सर्गिक नियम का कोई सबल प्रमाण बाधक होता हैं, तभी अन्य प्रेरक अधिष्ठाता की कल्पना की जाती है ।

**शङ्का**—वास्य ( बसूला ) आदि अचेतन साधन सदैव तक्षा ( बढ़ई ) आदि चेतन पदार्थों से अधिष्ठित होकर तक्षणादि कार्य का सम्पादन करते हैं, स्वतन्त्र अपने-आप नहीं । इन्द्रियगण भी अचेतन हैं, अतः किसी चेतन अधिष्ठाता से प्रेरित होकर ही कार्यकारी होंगे, स्वतन्त्र नहीं ।

**समाधान**—यह सत्य है कि इन्द्रियगण जड़ हैं, अतः उन्हें किसी अधिष्ठाता की अपेक्षा है, किन्तु जीवात्मा ही उनका अधिष्ठातृत्व कर सकता है, उससे भिन्न अन्य किसी अधिष्ठाता की आवश्यकता नहीं । "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" ( ऐत. २।४ ) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अग्नि, वायु आदि अनेक देवताओं को अधिष्ठाता मानने पर इन्द्रियों के द्वारा कोई


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्युपगम्यमानायां तासामेवाधिष्ठात्रीणां देवतानां भोक्तृत्वप्रसङ्गाच्छारीरस्य भोक्तृत्वं प्रलीयेत। अतः स्वमहिम्नैवैषां प्रवृत्तिरिति। एवं प्राप्ते इदमुच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु इति। तुशब्देन पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते। ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनीभिर्देवताभिरधिष्ठितं वागादि करणजातं स्वकार्येषु प्रवर्तत इति प्रतिजानीते। हेतुं व्याचष्टे—तदामननादिति। तथा ह्यामनन्ति—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐत० २।४) इत्यादि। अग्नेश्चायं वाग्भावो मुखप्रवेशश्च देवतात्मनाऽधिष्ठातृत्वमङ्गीकृत्योच्यते। नहि देवतासम्बन्धं प्रत्याख्यायाग्नेर्वाचि मुखे वा कश्चिद्विशेषसम्बन्धो दृश्यते। तथा 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्' (ऐत० २।४) इत्येवमाद्यपि योजयितव्यम्। तथाऽन्यत्रापि 'वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च' (छा० ३।१८।३) इत्येवमादिना वागादीनामग्न्यादिज्योतिष्ट्वादिवचनेनैतमेवार्थं द्रढयति। 'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा, यदा मृत्युमत्यमुच्यते सोऽग्निरभवत्' (बृ० १।३।१२) इति चैवमादिना वागादीनामग्न्यादिभावापत्तिवचनेनैतमेवार्थं द्योतयति। सर्वत्र चाध्यात्माधिदैवतविभागेन वागाद्यग्न्याद्यनुक्रमणमनयैव प्रत्यासत्त्या भवति। स्मृतावपि—'वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः। वक्तव्यमधिभूतं तु वह्निस्तत्राधिदैवतम्।' (म० भार० १२।३१३।५) इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं सप्रपञ्चं दर्शितम्। यदुक्तं—स्वकार्यशक्तियोगात्स्वमहिम्नैव प्राणाः प्रवर्त-

भामती

पगमे हि तेषामेकाभिप्रायनियमनिमित्ताभावान्न किञ्चित् कार्यमुत्पद्येत विरोधात्। अपि च य इन्द्रियाणामधिष्ठाता, स एव भोक्तेति देवतानां भोक्तृत्वेन स्वामित्वं शरीर इति न जीवः स्वामी स्याद् भोक्ता च। तस्मादग्न्याद्युपचारो वागादिषु प्रकाशकत्वादिना केनचिन्निमित्तेन गमयितव्यो न तु स्वरूपेणाग्न्यादिदेवतानां मुखाद्यनुप्रवेश इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते उच्यते—नानाविधासु तावत् श्रुतिषु स्मृतिषु च तत्र तत्र वागादिष्वग्न्यादिदेवताधिष्ठानमवगम्यते। न च तदसत्यामनुपपत्तौ क्लेशेन व्याख्यातुमुचितम्। न च स्वरूपोपयोगभेदज्ञानविरहिणो जीवस्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वसम्भवः, सम्भवति तु देवतानामिन्द्रियाद्यार्षेण ज्ञानेन साक्षात्कृतवतीनां तत्स्वरू-

भामती—व्याख्या

भी कार्य उत्पन्न न हो सकेगा, क्योंकि अनेक स्वतन्त्र अधिष्ठाताओं की एकवाक्यता सम्भव नहीं, अतः वे परस्पर मिलकर किसी एक दिशा में इन्द्रियों को प्रेरित नहीं कर सकते। यदि अग्नि आदि देवताओं को अधिष्ठाता मान लिया जाता है, तब वे ही शरीर के स्वामी और भोक्ता भी हो जाएँगे, जीवात्मा न स्वामी हो सकेगा और न भोक्ता। फलतः जीवात्मा से भिन्न और किसी अधिष्ठाता की सिद्धि नहीं होती। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" (ऐत. २।४) यहाँ 'अग्नि' आदि शब्दों का वागिन्द्रिय आदि में औपचारिक (गौण) प्रयोग है, क्योंकि अग्नि-वृत्ति प्रकाशकत्व गुण वाक् में विद्यमान है, अतः अग्नि आदि देवताओं का पृथक् निर्देश भी सुलभ नहीं रह जाता।

सिद्धान्त—भाष्य में उदाहृत नानाविध श्रुतियों और "वागध्यात्ममिति प्राहुः" (म. भारत. शान्ति. ३१३।५) इत्यादि स्मृतियों से वागादि इन्द्रियों के अग्नि देवतादि अधिष्ठाता होते हैं। किसी विशेष अनुपपत्ति के बिना उन श्रुतियों और स्मृतियों की उपचारपरक व्याख्या नहीं की जा सकती। जीवात्मा को इन्द्रियों का अधिष्ठाता नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह इन्द्रियों के स्वरूप, उपयोग और भेद से अनभिज्ञ है। अग्नि, वायु आदि देवगण अपने आर्ष ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों का साक्षात्कार करते हैं और उनके उपयोग और भेद से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रन्निति, तदयुक्तम्, शक्तानामपि शकटादीनामनड्वदाद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिदर्शनात्। उभयथोपपत्तौ चागमाद्वागादीनां देवताधिष्ठितत्वमेव निश्चीयते ॥ १४ ॥

यद्यप्युक्तं - देवतानामधिष्ठात्रीणां भोक्तृत्वप्रसङ्गो न शारीरस्येति, तन्परिहियते-

## प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

सतीष्वपि प्राणानामधिष्ठात्रीषु देवतासु प्राणवता कार्यकरणसंघातस्वामिना शारीरेणैवैषां प्राणानां संबंधः श्रुतेरवगम्यते। तथा हि श्रुतिः—'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्' ( छा० ८।१२।४ ) इत्येवंजातीयका शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं श्रावयति। अपि चानेकत्वात्प्रतिकरणमधिष्ठात्रीणां देवतानां न भोक्तृत्वमस्मिञ्शारीरेऽवकल्पते। एको ह्ययमस्मिञ्शरीरे शारीरो भोक्ता प्रतिसंधानादिसंभवादवगम्यते ॥ १५ ॥

## तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

तस्य च शारीरस्यास्मिन् शरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वं पुण्यपापोपलेपसंभवात्सुखदुःखोपभोगसंभवाच्च, न देवतानाम्। ता हि परस्मिन्नैश्वर्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीनेऽस्मिञ्शरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलम्भुमर्हन्ति। श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति' ( बृ० १।५।३ ) इति। शारीरेणैव च नित्यः प्राणानां संबंध उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्तिदर्शनात्। 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' ( बृ० ४।४।२ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्सतीष्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति। करणपक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृपक्षस्येति ॥ १६ ॥

---

भामती

पभेदतदुपयोगभेदविज्ञानम्। तस्मात्तास्ता एव देवतास्तत्तत्करणाधिष्ठात्र्य इति युक्तं न तु जीवः। भवतु वा जीवोऽप्यधिष्ठाता, तथाप्यदोषः। अनेकेषामधिष्ठातृणामेकः परमेश्वरोऽस्ति नियन्तान्तर्यामी तद्वशाद् विप्रतिपित्सवोऽपि न विप्रतिपत्तुमर्हन्ति। तथा चैकवाक्यतया न तत्कार्योत्पत्तिप्रत्यूहः। न चैतावता देवतानामत्र शरीरे भोक्तृत्वम्। नहि यन्ता रथमधितिष्ठन्नपि तत्साध्यविजयादेर्भोक्ताऽपि तु स्वाम्येव। एव देवता अधिष्ठात्र्योऽपि न भोक्त्र्यस्तासां तावन्मात्रस्य श्रुतत्वात्। भोक्ता तु जीव एव। न च नरादिशरीरोचितं दुःखबहुलमुपभोगं सुखमय्यो देवता अर्हन्ति। तस्मात् प्राणानामधिष्ठात्र्यो देवता इति सिद्धम्। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ १४-१६ ॥

---

भामती-व्याख्या

सुपरिचित हैं, अतः अग्नि आदि देवगण ही वागादि के अधिष्ठाता सिद्ध होते हैं, जीवात्मा नहीं। यदि जीव को भी अधिष्ठाता मान लिया जाता है, तब भी कोई दोष नहीं, क्योंकि अनेक अधिष्ठाताओं का नियन्ता अन्तर्यामी परमेश्वर एक है, वह उन्हें एक दिशा में सञ्चालितकर उनके बिलगाव और बिखराव पर अंकुश लगा देता है, अतः वे एकवाक्यतापन्न होकर सभी कार्यों का समुचित सम्पादन करते हैं। इतने पर भी देवगणों में भोक्तृत्व सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे यन्ता ( सारथी ) रथ का अधिष्ठातृत्व करता हुआ भी रथादि साधनों से साध्य विजयादि फल का भोक्ता नहीं होता, वैसे ही देवगण भोक्ता नहीं होते, क्योंकि उनमें केवल अधिष्ठातृत्व ही श्रुति-प्रतिपादित है, भोक्तृत्व नहीं, भोक्ता तो जीव ही है। मानवादि-शरीरों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ८ इन्द्रियाधिकरणम् । सू० १७-१९ )

### त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

मुख्यश्चैक इतरे चैकादश प्राणा अनुक्रान्ताः । तत्रेदमपरं संदिह्यते—किं मुख्यस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदा इतरे प्राणा आहोस्वित्तत्त्वान्तराणीति । किं तावत्प्राप्तम् ? मुख्यस्यैवेतरे वृत्तिभेदा इति । कुतः ? श्रुतेः । तथा हि श्रुतिर्मुख्यमितरांश्च प्राणान् सन्निधाप्य मुख्यात्मतामितरेषां व्यापयति-'हन्ताऽस्यैव सर्वं रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वं रूपमभवन्' ( बृ० १।५।२१ ) इति । प्राणैकशब्दत्वाच्चैकत्वाध्यवसायः । इतरथा ह्यन्याध्यमनेकार्थत्वं प्राणशब्दस्य प्रसज्येत, एकत्र वा मुख्यस्येतरत्र वा लाक्षणिकत्वमापद्येत । तस्माद्यथैकस्यैव प्राणस्य प्राणाद्याः पञ्च वृत्तय एवं वागाद्या

भामती

मा भूत् प्राणो वृत्तिरिन्द्रियाणामिन्द्रियाण्येवास्य ज्येष्ठस्य श्रेष्ठस्य च प्राणस्य वृत्तयो भविष्यन्ति । तद्भावाभावानुविधायिभावाभावत्वमिन्द्रियाणां श्रुत्यनुभवसिद्धं, तथाच प्राणशब्दस्यैकस्यान्याध्यमनेकार्थत्वं न भविष्यति, वृत्तीनां वृत्तिमतस्तत्त्वान्तरत्वाभावात् । तत्त्वान्तरत्वे त्विन्द्रियाणां प्राणशब्दस्यानेकार्थत्वं प्रसज्येत इन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वं वा । न च मुख्यसम्भवे लक्षणा युक्ता, जघन्यत्वात् । न च भेदेन व्यपदेशो भेदसाधनम्, एतस्माज्जायते प्राण इत्यादिः मनसोऽपीन्द्रियेभ्योऽस्ति भेदेन व्यपदेश इत्यनिन्द्रियत्वप्रसङ्गः । स्मृतिवशात्तु तस्येन्द्रियत्वे इन्द्रियाणामपि प्राणाङ्गेन व्यपदिष्टानामप्यस्ति प्राणस्वभावत्वे 'हन्त अस्यैव रूपमसाम' इति श्रुतिः । तस्मादुपपत्तेः श्रुतेश्च प्राणस्यैव वृत्तय एकादशेन्द्रियाणि न

भामती—व्याख्या

में दुःखबहुल भोग उपलब्ध होता है, उसके अधिकारी देवगण नहीं हो सकते, क्योंकि वे सुखमात्र के अधिकारी हैं । फलतः इन्द्रियों के नियन्ता और अधिष्ठाता देवगण सिद्ध होते हैं ॥ १४, १५, १६ ॥

---

**संशय**—चक्षुरादि इन्द्रियाँ क्या मुख्य प्राण की वृत्तियाँ हैं ? अथवा प्राण से भिन्न हैं ?

**पूर्वपक्ष**—इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति प्राण है—ऐसा सांख्य-मत तो संगत नहीं किन्तु इन्द्रियों को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ ( मुख्य ) प्राण की वृत्ति माना जा सकता है, क्योंकि प्राण के भावाभाव पर इन्द्रियों का भावाभाव निर्भर है—ऐसा श्रुति और अनुभव से सिद्ध है । 'प्राण' शब्द एक है, उसके अनेक अर्थ मानना उचित नहीं । इन्द्रियों को प्राण की वृत्ति मानने पर इन्द्रियाँ भी प्राणरूप ही होती हैं, क्योंकि वृत्तियों को वृत्तिमान से भिन्न तत्त्वान्तर नहीं माना जाता है । इस प्रकार प्राण और इन्द्रिय-दोनों में समानरूप से प्राणशब्दार्थता बन जाती है । इसके विपरीत इन्द्रियों को प्राण से भिन्न तत्त्वान्तर मानने पर 'प्राण' शब्द में अनेकार्थता आ जाती है । इन्द्रियों को 'प्राण' शब्द का लाक्षणिक अर्थ भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब उनमें "प्राण' शब्द की मुख्यार्थता सम्भव है, तब लक्षणा युक्त नहीं, क्योंकि शब्द की लक्षणा वृत्ति अत्यन्त जघन्य मानी जाती है । 'प्राण' शब्द से भिन्न 'इन्द्रिय' शब्द के द्वारा व्यवहार हो जानेमात्र से इन्द्रियों को प्राण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, अन्यथा "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" ( मुण्ड. २।१।३ ) इत्यादि श्रुतियों में मन का इन्द्रियों से भिन्न निर्देश होने के कारण इन्द्रियों से मन का भेद मानना होगा । "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" ( गी० १५।७ ) इत्यादि स्मृति-वाक्यों के आधार पर यदि मनको भी इन्द्रिय माना जाता है, तब प्राण से भिन्न निर्दिष्ट इन्द्रियों में भी प्राणरूपता मानी जा सकती है, जैसा कि श्रुति कहती है—"हन्ताहम् अस्यैव रूपमसाम्" ( बृह. उ० १।५।२१ ) फलतः

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्येकादशेति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः - तत्त्वान्तराण्येव प्राणाद्यागादीनीति । कुतः ? व्यपदेशभेदात् । कोऽयं व्यपदेशभेदः ? ते प्रकृताः प्राणाः श्रेष्ठं वर्जयित्वाऽवशिष्टा एकादशेन्द्रियाणीत्युच्यन्ते । श्रुतावेवं व्यपदेशदर्शनात् । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' ( मु. २।१।३ ) इति ह्येवजातीयकेषु प्रदेशेषु पृथक्प्राणो व्यपदिश्यते, पृथक्चेन्द्रियाणि । ननु मनसोऽप्येवं सति वर्जनमिन्द्रियत्वेन प्राणवत्स्यात्, 'मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति

भामती

तत्त्वान्तराणीति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्त उच्यते मुख्यात् प्राणात्तत्त्वान्तराणीन्द्रियाणि, तत्र तत्र भेदेन व्यपदेशात् । मृत्युप्राप्ताप्राप्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गश्रुतेः । अर्थक्रियाभेदाच्च—देहधारणं हि प्राणस्य क्रियाऽर्थालोचनमननं चेन्द्रियाणाम् । न च तद्भावाभावानुविधानं तद्वृत्तितामावहति, देहेन व्यभिचारात्—प्राणादयो हि देहान्वयव्यतिरेकानुविधायिनो न च देहात्मानः । याऽपि च प्राणरूपतामिन्द्रियाणामभिदधाति श्रुतिः, तत्रापि पौर्वापर्यालोचनायां भेद एव प्रतीयत इत्युक्तं भाष्यकृता । तस्माद् बहुश्रुतिविरोधात् पूर्वापरविरोधाच्च प्राणरूपताभिधानमिन्द्रियाणां प्राणायत्ततया भाक्तं गमयितव्यम् । मनसस्त्विन्द्रियत्वे स्मृतेरवगते क्वचिदि-

भामती—व्याख्या

उपपत्ति और श्रुति के बल पर प्राण की ही वृत्तियाँ ग्यारह इन्द्रियगण हैं ।

सिद्धान्त—मुख्य प्राण की अपेक्षा इन्द्रियाँ भिन्न तत्त्वान्तर हैं, क्योंकि (१) प्राण से भिन्न इन्द्रियों का निर्देश तत्र-तत्र पाया जाता है, (२) इन्द्रियों में यह क्षमता नहीं कि वे असुरों को मृत्यु की प्राप्ति करा सकें किन्तु मुख्य प्राणों की चट्टान से टकराकर असुरगण मृत्यु को प्राप्त हो गए—'स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवं हैवं विध्वंसमानं विध्वञ्चो विनेशुः" ( वृह० उ० १।३।७ ) । (३) इन्द्रियों का कार्य भिन्न है और प्राणों का भिन्न—शरीर का धारण करना प्राणों का काम है और पदार्थों का आलोचन ( ज्ञानोत्पाद ) वाह्येन्द्रियों का एवं मनन मन का काम है ।

यह जो कहा था कि इन्द्रियाँ प्राणों की वृत्तियाँ होने से प्राणरूप है, क्योंकि 'प्राणसत्त्वे इन्द्रियसत्त्वम्', 'प्राणाभावे इन्द्रियाभावः'—इस प्रकार का भाभावानुविधान ( अन्वय और व्यतिरेक ) इन्द्रियों में पाया जाता है । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि 'जिसमें जिस पदार्थ के भावाभाव का अनुविधान ( अनुसरण ) पाया जाता है, वह उस पदार्थ से अभिन्न ( उसी का स्वरूप ) होता है'—यह नियम शरीर में व्यभिचरित है, क्योंकि 'शरीरभावे प्राणभावः', शरीराभावे प्राणाभावः'—इस प्रकार का प्राणों में अनुविधान उपलब्ध होने पर भी प्राण शरीरात्मक नहीं होते । जो श्रुति इन्द्रियों में प्राणरूपता का अभिधान करती है, उस श्रुति के पूर्वापर प्रसङ्ग की आलोचना करने पर प्राणों से इन्द्रियों का भेद ही सिद्ध होता है—ऐसा भाष्यकार ने कहा है । इस प्रकार अनेक श्रुतियों का विरोध एवं पूर्वापर का विरोध होने के कारण इन्द्रियों में प्राणात्मकता का अभिधान भाक्त ( औपचारिक ) मानना पड़ता है । सभी इन्द्रियाँ प्राण के अधीन होने के कारण प्राणरूप कह दी गई हैं, वस्तुस्थिति वैसी नहीं । मन इन्द्रियरूप ही है, फिर भी कहीं-कहीं जो स्मृति-वाक्यों में मन का इन्द्रियों से भेद अभिहित है, वह बलीवर्द-न्याय से [ यद्यपि बलीवर्द ( बैल ) भी गोजातीय होने से गौः पद से अभिहित हो जाता है, तथापि 'गामानय बलीवर्दं च'—इत्यादि व्यवहारों में गो से भिन्न बलीवर्द का निर्देश इसलिए कर दिया जाता है कि वह अन्य गोवृन्द से प्रधान है, वैसे ही मन सभी इंद्रियों में प्रधान है, अतः कहीं-कहीं मन का पृथक् निर्देश कर दिया गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथग्व्यपदेशदर्शनात् । सत्यमेतत्—स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्संगृह्यते । प्राणस्य त्विन्द्रियत्वं न श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धमस्ति । व्यपदेशभेदश्चायं तत्त्वभेदपक्ष उपपद्यते । तत्त्वैकत्वे तु स एवैकः सन् प्राण इन्द्रियव्यपदेशं लभते न लभते चेति विप्रतिषिद्धम् । तस्मात्तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १७ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः ?—

## भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते—'ते ह वाचमूचुः' ( बृ० १।३।२ ) इत्युपक्रम्य वागादीनसुरपाप्मविध्वस्तानुपन्यस्य, उपसंहृत्य वागादिप्रकरणम् 'अथ हैममास्न्यं प्राणमूचुः' इत्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथगुपक्रमणात् । तथा 'मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुत' इत्येवमाद्या अपि भेदश्रुतय उदाहर्तव्याः । तस्मा-

भामती

न्द्रियेभ्यो भेदेनोपादानं गोबलीवर्दन्यायेन । अथवा इन्द्रियाणां वर्त्तमानमात्रविषयत्वान्मनसस्तु त्रैकाल्यगोचरत्वाद् भेदेनाभिधानम् । न च प्राणे व्यपदेशभेदबाहुल्यं तथा नेतुं युक्तम् । प्राणरूपताश्रुतेश्च गतिर्दर्शिता । तथा ज्येष्ठे प्राणशब्दस्य मुख्यत्वादिन्द्रियेषु ततस्तत्त्वान्तरेषु लाक्षणिकः प्राणशब्द इति युक्तम् । न च मुख्यत्वानुरोधेनावगतभेदयोरैक्यं युक्तम्, मा भूद् गङ्गावीनां तीरादिभिरैक्यमिति ।

अन्ये तु भेदशब्दाध्याहारभिया भेदश्रुतेश्चेति पौनरुक्त्यभिया च तच्छब्दस्य चानन्तरोक्तपरामर्शकत्वादन्यथा वर्णयाञ्चक्रुः । किमेकादशैव वागादय इन्द्रियाण्याहो प्राणोऽपीति विशये इन्द्रस्यात्मनो लिङ्ग-

भामती—व्याख्या

है ]। अथवा चक्षुरादि इंद्रियाँ केवल वर्तमान निषय की ही ग्राहक हैं किन्तु मन त्रैकालिक पदार्थों को विषय करता है, इस विशेषता को लेकर मन का भेदेन निर्देश हो गया है। इन्द्रियों से भिन्न-निर्देश करनेवाली जो अनेक श्रुतियाँ हैं, उनको औपचारिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। हाँ, इन्द्रियों की प्राणरूपता के निर्देश का उपचार-मार्ग दिखाया जा चुका है। मुख्य प्राण की ज्येष्ठता-श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के लिए जो सभी इंद्रियों में 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह भी लाक्षणिक है। यह जो प्रश्न उठाया गया है कि जब इन्द्रियों में 'प्राण' शब्द का मुख्य प्रयोग हो सकता है, तब गौण क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जिन पदार्थों में भेद कई प्रमाणों से अवगत हो जाता है, मुख्य प्रयोग के लोभ से उनके अभेद का अभिधान युक्त नहीं, अन्यथा 'गङ्गायां घोषः'—इत्यादि स्थलों पर गङ्गा का तीर ( तट ) पदार्थ से अभेद मानना होगा।

उक्त सूत्र की अन्य आचार्यों ( वृत्तिकारादि ) ने प्रकारान्तर से व्याख्या की है, क्योंकि पूर्व व्याख्या में भेद-वाचक 'तत्त्वान्तर' पद का अध्याहार करके 'प्राणात् तत्त्वान्तराणि वागादानि'—ऐसी प्रतिज्ञा-भाग की योजना करके 'तद्व्यपदेशात्'—इस हेतु-भाग का अर्थ किया गया है—'भेदव्यपदेशात्'। यहाँ अश्रुत पद का अध्याहार एक दोष है और दूसरा दोष है—'भेदव्यपदेश' और 'भेदश्रुति' की पुनरुक्ति। इतना ही नहीं, अपितु तीसरा एक बहुत गम्भीर दोष यह है कि 'तत्' पद सदा पूर्व कथित पदार्थ का परामर्शी होता है, किन्तु पूर्व व्याख्या में अध्याहृत तत्त्वान्तर' पदार्थ का परामर्शी माना गया है, अतः उक्त सूत्र की निर्दुष्ट व्याख्या अपेक्षित है, उसके अनुसार संशय, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

**संशय** क्या वागादि ग्यारह ही इन्द्रियाँ हैं ? अथवा प्राण भी इंद्रिय है ?

**पूर्वपक्ष** इंद्र ( आत्मा ) का जो लिङ्ग ( अनुमापक हेतु ) हो, उसे इंद्रिय कहते हैं—"इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा" ( पा० सू० ५।२।९३)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दपि तत्त्वान्तरभूता मुख्यादितरे ॥ १८ ॥

कुतश्च तत्त्वान्तरभूताः ?—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

वैलक्षण्यं च भवति मुख्यस्येतरेषां च । सुप्तेषु वागादिषु मुख्य एको जागर्ति स एव चैको मृत्युनाऽप्राप्त आप्तास्त्वितरे । तस्यैव च स्थित्युत्क्रान्तिभ्यां देहधारण-पतनहेतुत्वं नेन्द्रियाणाम् । विषयालोचनहेतुत्वं चेन्द्रियाणां न प्राणस्येत्येवंजातीयको भूयाँल्लक्षणभेदः प्राणेन्द्रियाणाम् । तस्मादप्येषां तत्त्वान्तरभावसिद्धिः । यदुक्तम् —'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्' ( बृ० १।५।२१ ) इति श्रुतेः प्राण एवेन्द्रियाणीति, तदयु-क्तम् , तत्रापि पौर्वापर्यालोचनाद् भेदप्रतीतेः । तथा हि—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' ( बृ० १।५।२१ ) इति वागादीनीन्द्रियाण्यनुक्रम्य 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक्' इति च श्रमरूपेण मृत्युना ग्रस्तत्वं वागादीनामभिधाय 'अथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणः' ( बृ० १।५।२१ ) इति पृथक्प्राणं मृत्युनानभि-भूतं तमनुक्रामति । 'अयं वै नः श्रेष्ठः' ( बृ० १।५।२१ ) इति च श्रेष्ठतामस्यावधार-यति । तस्मात्तदविरोधेन वागादिषु परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वं तद्रूपभवनं वागा-दीनामिति मन्तव्यं, न तादात्म्यम् । अत एव च प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्व-सिद्धिः । तथा च श्रुतिः —'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् । तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' ( बृ० १।५।२१ ) इति मुख्यप्राणविषयस्यैव 'प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकीं वृत्तिं दर्शयति । तस्मात्तत्त्वान्तराणि प्राणाद्वागादीनीन्द्रियाणीति ॥ १९ ॥

---

भामती

मिन्द्रियं तथा च वागादिवत्प्राणस्यापीन्द्रलिङ्गतास्ति । न च रूपादिविषयालोचनकरणतेन्द्रियता, आलोक-स्यापीन्द्रियत्वप्रसङ्गात् । तस्माद्भौतिकमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रियमिति वागादिवत्प्राणस्यापीन्द्रियमिति प्राप्तम् । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—इन्द्रियाणि वागादीनि श्रेष्ठात् प्राणादन्यत्र । कुतः ? तेनेन्द्रियशब्देन तेषामेव वागा-दीनां व्यपदेशात् । नहि मुख्ये प्राण इन्द्रियशब्दो दृष्टचरः । इन्द्रलिङ्गता तु व्युत्पत्तिमात्रनिमित्तं यथा गच्छतीति गौरिति, प्रवृत्तिनिमित्तं तु देहाधिष्ठानत्वे सति रूपाद्यालोचनकरणत्वम् । इदं चास्य देहाधिष्ठा-नत्वं यद्देहानुग्रहोपघाताभ्यां तदनुग्रहोपघातौ । तथा च नालोकस्येन्द्रियत्वप्रसङ्गः । तस्माद्भूतेर्वागादय

---

भामती—व्याख्या

जैसे वागादि करणों से कर्त्ता ( आत्मा ) का अनुमान होता है, वैसे ही प्राण भी इन्द्र का लिङ्ग होने से इन्द्रिय कहा जा सकता है । ज्ञान एवं इच्छादि में अतिप्रसक्ति हटाने के लिए 'भौतिकत्व' विशेषण दिया जा सकता है । 'रूपादिविषयकप्रकाशकरणत्वम्'—ऐसा इन्द्रिय का लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाह्य आलोकादि में अतिव्याप्त है ।

**सिद्धान्त**—वागादि ग्यारह ही इन्द्रियाँ हैं, प्राण इन्द्रिय नहीं । इसके अनुरूप सूत्र की योजना इस प्रकार करनी चाहिए—"( वागादीनि ) इन्द्रियाणि श्रेष्ठात् ( प्राणात् ) अन्यत्र, कुतः ? तेन व्यपदेशात् ( इन्द्रियशब्देन तेषामेवाभिधानात् ) । मुख्य प्राण में इन्द्रिय' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता 'इन्द्रिय' शब्द की जो आचार्य पाणिनि ने व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है, वह केवल शब्द-साधुत्व प्रदर्शित करने के लिए वैसे ही है, जैसे 'गो' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है—'गच्छतीति गौः' । 'इन्द्रिय' शब्द का प्रवृत्ति-निमित ( शक्यतावच्छेदक ) है—'देहाधिष्ठानत्वे सति रूपाद्यालोचनकारणत्वम्' । देह के स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य पर इन्द्रियों के स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की निर्भरता ही इन्द्रियगत देहाधिष्ठानता है । बाह्य आलोक में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ९ संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणम् । सू० २०-२२ ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

सत्प्रक्रियायां तेजोऽबन्नानां सृष्टिमभिधायोपदिश्यते-'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेना जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति । तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' ( छा० ६।३।२ ) । तत्र संशयः--किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणमाहोस्वित्परमेश्वरकर्तृकमिति । तत्र प्राप्तं तावत्—जीवकर्तृकमेवेदं

भामती

एवेन्द्रियाणि, न प्राण इति सिद्धम् । भाष्यकारीयं त्वधिकरण भेदश्रुतेरित्यादिषु सूत्रेषु नेयम् ॥१७-१९॥

सत्प्रक्रियायां तत्तेज ऐक्षतेत्यादिना सन्दर्भेण तेजोऽबन्नानां सृष्टि विधायोपदिश्यते—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति । अस्यार्थः—पूर्वोक्तं बहुभवनमीक्षणप्रयोजनमद्यापि सर्वथा न निष्पन्नमिति पुनरीक्षां कृतवती बहुभवनमेव प्रयोजनमुद्दिश्य कथं हन्तेदानीमहमिमा यथोक्तास्तेजआद्यास्तिस्रो देवताः पूर्वसृष्टावनुभूतेन सम्प्रति स्मरणसन्निधापितेन जीवेन प्राणधारणकर्त्रात्मनानुप्रविश्य बुद्ध्यादिभूतमात्रायामाल्शं इव मुखबिम्बं तोय इव चन्द्रमसो बिम्बं छायामात्रतयानुप्रविश्य नाम च रूपं च ते व्याकरवाणि विस्पष्टं करवाणीदमस्य नामेदं च रूपमिति तासां तिसृणां देवतानां त्रिवृतं तेजोऽबन्नात्मना व्यात्मिकां व्यात्मिकामेकैकां देवतां करवाणीति ।

तत्र संशयः—किं जीवकर्तृकमिदं नामरूपव्याकरणमाहो परमेश्वरकर्तृकमिति । यदि जीवकर्तृकं तत आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहितेत्यादिश्रुतिविरोधादनध्यवसायः । अथ परयेश्वरकर्तृकं, ततो न विरोधः । तत्र डित्थडवित्थादिनामकरणे च घटपटादिरूपकरणे च जीवकर्तृत्वदर्शनात् । इहापि त्रिवृत्क-

भामती—व्याख्या

देहाधिष्ठानता न होने से अतिप्रसक्ति नहीं होती । 'इन्द्रिय' शब्द यौगिक नहीं, अपितु चक्षुरादि में रूढ़ है । अतः प्राण में इन्द्रियत्व सिद्ध नहीं होता ।

पूर्वोक्ति भाष्यकारीय अधिकरण "भेदश्रुतेः" और "वैलक्षण्याच्च"—इन दो सूत्रों पर आश्रित है । उनसे पूर्व सत्तारहवें सूत्र का अधिकरण भिन्न है, उसीका अन्य आचार्यों ने उक्त व्याख्यान किया है ॥ १७, १८, १९ ॥

विषय—"सदेव सोम्येदग्र आसीत्" ( छा. ६।२।१ ) इस प्रकार सत्तत्त्व-निरूपण के प्रकरण में 'तत्तेज ऐक्षत"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा तेज, जल और अन्न ( पृथिवी ) की सृष्टि का प्रतिपादन करके कहा गया है—"सेयं देवतैक्षत हन्त ! अहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" । इसका अर्थ यह है कि परदेवता ( परमेश्वर ) ने सोचा—हन्त ( महान् खेद है कि ) जो मैंने "बहु स्यां प्रजायेय" ( तै. उ. २।६ ) इस प्रकार पहला सङ्कल्प किया था, वह अभी [ अव्याकृत भूतों की उत्पत्ति हो जाने पर ] भी पूर्णरूपेण निष्पन्न नहीं हुआ, अतः पुनः ईक्षण (संकल्प) किया कि मैं पूर्वतन सर्ग में अनुभूत और अब स्मर्यमाण प्राण-धारक जीवरूपेण तेज आदि भूतों में आदर्शगत मुख-प्रतिबिम्ब या जलगत चन्द्र-प्रतिम्ब के समान प्रविष्ट होकर विशेषतः नामों ( सूर्य-चन्द्रादि संज्ञाओं ) और शुक्ल भास्वरादि रूपों को व्याकृत ( सुव्यक्त ) करूँ । इसके लिए तेज, जल और पृथिवी—इन तीनों का त्रिवृत्करण करूँ ।

संशय—संकल्पित नाम और रूप का व्याकरण क्या जीव के द्वारा किया जाता है? अथवा परमेश्वर के द्वारा ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामरूपव्याकरणमिति। कुतः? 'अनेन जीवेनात्मना' इति विशेषणात्। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानीत्येवंजातीयके प्रयोगे चारकर्तृकमेव सत्सैन्यसंकलनं हेतुकर्तृत्वाद्राजाऽऽत्मन्यध्यारोपयति संकलयानीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण, एवं जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वाद्देवतात्मन्यध्यारोपयति व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण। अपि च डित्थडवित्थादिषु नामसु घटशरावादिषु च रूपेषु जीवस्यैव व्याकर्तृत्वं दृष्टम्। तस्माज्जीवकर्तृकमेवेदं नामरूपव्याकरणमित्येवं प्राप्तेऽ-

भामती

रणे नामरूपकरणे चास्ति सम्भावना जीवस्य तथा च योग्यत्वादनेन जीवेनेति व्याकरवाणीति प्रधानक्रियया सम्बध्यते, न त्वानन्तर्यादनुप्रविश्येत्यनेन सम्बध्यते। प्रधानपदार्थसम्बन्धो हि साक्षात्सर्वेषां गुणभूतानां पदार्थानामौत्सर्गिकस्तादर्थ्यात् तेषाम्। तस्य तु क्वचित्साक्षादसम्भवात् परम्पराश्रयणं, साक्षात्सम्भवश्च योग्यतया दर्शितः। ननु सेयं देवतेति परमेश्वरकर्तृत्वं श्रूयते, सत्यम्; प्रयोजकतया तु तद्भविष्यति। यथा लोके चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य सङ्कलयानीति। यदि पुनरस्य साक्षात्कर्तृभावो भवेदनेन जीवेनेत्यनर्थकं स्यात्। नहि जीवस्यान्यथाकरणभावो भवितुमर्हति। प्रयोजककर्तुस्तत्साक्षात्कर्ता करणं भवति प्रधानक्रियोद्देशेन प्रयोजकेन प्रयोज्यकर्तुर्व्यापनात्। तस्मादत्र जीवस्य कर्तृत्वं नामरूपव्याकरणेऽन्यत्र तु परमेश्वरस्येति विरोधावनध्यवसाय इति प्राप्तम्।

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि जीव को तेज आदि का कर्त्ता मानने पर "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता" (छां. ८।१४।१) इत्यादि श्रुतियों का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि यहाँ 'आकाश' पद से परमेश्वर का निर्देश करते हुए उसे ही विश्व के नाम और रूप का व्याकर्त्ता माना गया है। तथापि लौकिक अनुभूति के आधार पर 'डित्थ', 'डवित्थ' आदि नामों (संज्ञा शब्दों) और घट, शरावादि रूपों का कर्तृत्व जीव में ही देखा जाता है, अतः त्रिवृत्करण और नामरूप-करण की सम्भावना जीव में ही स्थिर होती है। इस योग्यता के आधार पर उक्त श्रुति में व्याकरणरूप प्रधान क्रिया के साथ ही 'अनेन जीवेन–इसका अन्वय प्राप्त होता है, 'अनुप्रविश्य'—इस अवान्तर (अप्रधान) क्रिया के साथ नहीं, क्योंकि सभी अङ्गभूत पदार्थों का प्रधान पदार्थ के साथ अन्वय औत्सर्गिक नियत है, क्योंकि सभी अङ्गभूत पदार्थों का प्रधानार्थ की सिद्धि में ही विनियोग होता है। जहाँ प्रधानार्थ के साथ साक्षात् अन्वय नहीं हो सकता, वहाँ ही परम्परया अन्वय का आश्रयण किया जाता है। प्रकृत में साक्षात् सम्बन्ध की योग्यता दिखाई जा चुकी है।

यह जो "सेयं देवता"—इस प्रकार परमेश्वर का कर्तृत्वेन निर्देश है, वह प्रयोजकत्वेन वैसे ही संगत हो जाता है, जैसे 'चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य संकलयानि'—यहाँ पर शत्रु-सैन्य में प्रवेश करके उसके आँकड़े प्राप्त करने का कर्तृत्व साक्षात् गुप्तचर में होता है और उसका प्रयोजक होने के कारण सेना-पति उसका कर्तृत्व अपने में मानता है। यदि ईश्वर में साक्षात् त्रिवृदादि-करण का कर्तृत्व माना जाता है, तब उसका 'अनेन जीवेन'—ऐसा कहना निरर्थक हो जाता है, क्योंकि जीवपदोत्तर-प्रयुक्त तृतीया विभक्ति का जो करणत्वरूप अर्थ है, वह प्रयोज्य-कर्तृत्वेन ही उपपन्न होता है, अन्येथा नहीं। जैसे 'कुठारेण छिनत्ति'—यहाँ छेदनरूप प्रधान क्रिया का साक्षात् सम्बन्धी कुठार करण है, वैसे ही प्रकृत में नाम-रूप व्याकरणरूप प्रधान का साक्षात् सम्बन्धी (प्रयोज्य कर्त्ता) जीव ईश्वर का करण कारक ही है। इस प्रकार ब्रह्म में जगज्जन्मादि-कर्तृत्व की प्रतिपादिका श्रुतियों के साथ इस नाम-रूप-व्याकरण-श्रुति का विरोध आ जाने से ब्रह्म में समस्त जगत् के कर्तृत्व


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिधत्ते—संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु' इति। तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति। संज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति नामरूपव्याक्रियेत्येतत्। त्रिवृत्कुर्वत इति परमेश्वरं लक्षयति, त्रिवृत्करणे तस्य निरपवादकर्तृत्वनिर्देशात्। येयं संज्ञाक्लृप्तिर्मूर्तिक्लृप्तिश्चाग्निरादित्यश्चन्द्रमा विद्युदिति, तथा कुशकाशपलाशादिषु पशुमृगमनुष्यादिषु च प्रत्याकृति प्रतिव्यक्ति चानेकप्रकारा, सा खलु परमेश्वरस्यैव तेजोऽबन्नानां निर्मातुः कृतिर्भवितुमर्हति। कुतः? उपदेशात्। तथा हि—'सेयं देवतैक्षत' इत्युपक्रम्य 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव ब्रह्मणो व्याकर्तृत्वमिहोपदिश्यते। ननु जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं व्याकरणस्याध्यवसितम्, नैतदेवम्, जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन संबध्यत आनन्तर्यात्, न व्याकरवाणीत्यनेन। तेन हि संबन्धे व्याकरवाणीत्ययं देवताविषय उत्तमपुरुष औपचारिकः कल्प्यते। नच गिरीनदीसमुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेष्वनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यमस्ति, येष्वपि चास्ति सामर्थ्यं तेष्वपि परमेश्वरायत्तमेव तत्। नच जीवो नाम परमेश्वरादत्यन्तभिन्नः, चार

भामती

एवं प्राप्ते उच्यते—परमेश्वरस्यैवेहापि नामरूपव्याकर्तृत्वमुपदिश्यते न तु जीवस्य, तस्य प्रधानक्रियासम्बन्धं प्रत्ययोग्यत्वात्। नन्वन्यत्र डित्थडवित्थादिनामकर्मणि घटशरावादिरूपकर्मणि च कर्तृत्वदर्शनादिहापि योग्यता सम्भाव्यत इति चेत्, न; गिरिनदीसमुद्रादिनिर्माणासामर्थ्येनार्थापत्त्यभावपरिच्छिन्नेन सम्भावनापबाधनात्। तस्मात्परमेश्वरस्यैवात्र साक्षात्कर्तृत्वमुपदिश्यते न जीवस्यानुप्रविश्येत्यनेन तु सन्निहितेनास्य सम्बन्धो योग्यत्वात्। न चानर्थक्यं त्रिवृत्करणस्य भोक्तृजीवार्थतया तदनुप्रवेशाभिधानस्यार्थवत्त्वात्। स्यादेतत्—अनुप्रविश्य व्याकरवाणीति समानकर्तृत्वे क्त्वः स्मरणात् प्रवेशवत्कर्तुर्जीवस्यैव व्याकर्तृत्वमुपदिश्यतेऽन्यथा तु परमेश्वरस्य व्याकर्तृत्वे जीवस्य प्रवेष्टृत्वे भिन्नकर्तृकत्वेन क्त्वः

भामती—व्याख्या

का अनध्यवसाय (अनिश्चय) हो जाता है।

**सिद्धान्त**—परमेश्वर में ही नाम-रूप के व्याकरण का कर्तृत्व भी श्रुति के द्वारा उपदिष्ट है, जीव में नहीं, क्योंकि नाम-रूप व्याकरणात्मक प्रधान क्रिया के कर्तृत्व की जीव में योग्यता ही नहीं। यह जो जहा गया है कि डित्थ-डवित्थादि नामों और घट-शरावादि रूपों का जीव में कर्तृत्व देख कर महाभूतों के नाम-रूप का कर्तृत्व भी सम्भावित हो जाता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि सकोरे-कुल्हड़ आदि बना लेने वाले मंगरू कुम्हार में पर्वत, नदी, समुद्र आदि महान् कार्यों के निर्माण का सामर्थ्य नहीं पाया जाता, अतः योग्यता-कल्पक अर्थापत्ति प्रमाण भङ्ग हो जाता है, कथित सम्भावना बाधित हो जाती है। फलतः विवादास्पद नाम-रूप का साक्षात् कर्तृत्व परमेश्वर में ही पर्यवसित होता है, जीव में नहीं। हाँ, 'अनेन जीवेन'—इसके अन्वय की योग्यता प्रवेशरूप अवान्तर क्रिया में ही है, क्योंकि वह शब्दतः सन्निहित है। 'जीवरूपेण अनुप्रवेश' व्यर्थ है—ऐसा नहीं कहते, क्योंकि त्रिवृत्करण जीवरूप भोक्ता पुरुष के लिए ही होता है, अतः जीवरूपेण अनुप्रवेश ('मदर्थमिदम्' इस प्रकार भोग्यत्व-स्थापन) का अभिधान सार्थक है।

**शङ्का**—'अनुप्रविश्य'—यहाँ प्रयुक्त 'ल्यप्' का स्थानी 'क्त्वा' प्रत्यय "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" (पा. सू. ३।४।२१) इस सूत्र के अनुसार एककर्तृक दो क्रियाओं में से पूर्वकाल की क्रिया का बोधक होता है। यदि 'अनुप्रवेश' क्रिया का कर्त्ता जीव और 'व्याकरण' क्रिया का कर्त्ता ईश्वर है, तब दोनों क्रियाएँ समानकर्तृक क्योंकर होंगी? अतः जीव को ही व्याकरण क्रिया का भी कर्त्ता मानना चाहिए।

**समाधान**—उक्त शङ्का का निरास करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"न च जीवो

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

इव राज्ञः, आत्मनेति विशेषणात्, उपाधिमात्रनिबन्धनत्वाच्च जीवभावस्य। तेन तत्कृतमपि नामरूपव्याकरणं परमेश्वरकृतमेव भवति। परमेश्वर एव च नामरूपयोर्व्याकर्तेति सर्वोपनिषत्सिद्धान्तः, 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' (छा० ८।१४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मात्परमेश्वरस्यैव त्रिवृत्कुर्वतः कर्म नामरूपयोर्व्याकरणम्। त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदमिह नामरूपव्याकरणं विवक्ष्यते, प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोऽबन्नोत्पत्तिवचनेनैवोक्तत्वात्। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुतिर्दर्शयति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' (छा० ६।४।१) इत्यादिना। तत्राग्निरितीदं रूपं व्याक्रियते, सति च रूपव्याकरणे विषयप्रतिलम्भादग्निरितीदं नाम व्याक्रियते। एवमेवादित्यचन्द्रविद्युत्स्वपि द्रष्टव्यम्। अनेन चाग्न्याद्युदाहरणेन भौमाम्भसतैजसेषु त्रिष्वपि द्रव्येष्वविशेषेण त्रिवृत्करणमुक्तं भवति, उपक्रमोपसंहारयोः साधारणत्वात्। तथा ह्यविशेषणैवोपक्रमः—'इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६।३।४) इति। अविशेषेणैव चोपसंहारः—'यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपम्' इत्येवमादिः, 'यदविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समासः' (छा० ६।४।६,७) इत्येवमन्तः ॥ २० ॥

तासां तिसृणां देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानां सतीनामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्—'इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति' (छा० ६।४।७) इति। तदिदानीमाचार्यो यथाश्रुत्येवोपदर्शयत्याशङ्कितं कंचिद्दोषं परिहरिष्यन्—

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेणोपभुज्यमानाया मांसादिकार्यं यथाशब्दं निष्पद्यते।

---

भामती

प्रयोगो व्याहन्येतेत्यत्राह ॐ न च जीवो नाम इति ॐ। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ २० ॥

अत्र भाष्यकृतोत्तरसूत्रशेषतया सूत्रमेतद्विषयोपदर्शनपरतया व्याख्यातं शङ्कानिराकरणार्थत्वमस्य शक्यं वक्तुम्। तथाहि—योऽन्नस्याणिष्ठो भागस्तन्मनस्तेजसस्तु योऽणिष्ठो भागः स वागित्यत्र हि काणादानां सांख्यानां चास्ति विप्रतिपत्तिस्तत्र काणादा मनो नित्यमाचक्षते। सांख्यास्त्वाहङ्कारिके वाङ्मनसे। अन्नभागतावचनं त्वस्यान्नसम्बन्धलक्षणार्थम्। अन्नोपयोगे हि मनः स्वस्थं भवति। एवं

---

भामती—व्याख्या

नाम परमेश्वराद् अत्यन्तभिन्नः"। अर्थात् जीव और ईश्वर की एकता निश्चित है, भेद केवल औपाधिक है, अतः दोनों क्रियाओं में समानकर्तृकत्व उपपन्न हो जाता है। शेष-भाष्य स्पष्ट है ॥ २० ॥

"मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च"—इस सूत्र की भाष्यकार ने ऐसी व्याख्या की है, जो उत्तर (बाईसवें) सूत्र के द्वारा निराकरणीय शंका को अवसर-प्रदान करती है, अत एव भाष्यकार ने स्वयं कहा है—"आशंकितं कंचिद् दोषं परिहरिष्यन्"।

आशंका का निराकरण करने के लिए भी इस सूत्र की जो योजना की जा सकती है। वह इस प्रकार है—"योऽणिष्ठस्तन्मनः" (छां० ६।५।१) इत्यादि श्रुति-वाक्यों के द्वारा कहा गया है कि अन्न (पृथिवी) का सूक्ष्म भाग मन और तेज का सूक्ष्म भाग वाक् है किन्तु काणाद (वैशेषिक) और सांख्यों का इसमें वैमत्य है—मन को वैशेषिकगण नित्य तथा सांख्य मन और वाक्—दोनों को अहंकार का परिणाम मानते हैं। श्रुतियों में जो मन को अन्न का भाग कहा गया है, उस पर वशेषिकादि का कहना है कि वह अन्न के सम्बन्धमात्र का लक्षक है अर्थात् अन्न का उपभोग करने पर मन स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार वाक् और तेज—इन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा हि श्रुतिः—'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः' ( छा० ६।५।१ ) इति। त्रिवृत्कृता भूमिरेवैषा व्रीहियवाद्यन्नरूपेणाद्यत इत्यभिप्रायः। तस्याश्च स्थविष्ठं रूपं पुरीषभावेन बहिर्निर्गच्छति। मध्यममध्यात्मं मांसं वर्धयति। अणिष्ठं तु मनः। एवमितरयोरप्तेजस्योर्यथाशब्दं कार्यमवगन्तव्यम्—मूत्रं लोहितं प्राणश्चापां कार्यम्। अस्थि मज्जा वाक्तेजस इति ॥ २१ ॥

अत्राह—यदि सर्वमेव त्रिवृत्कृतं भूतभौतिकमविशेषश्रुतेः 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्' इति। किं कृतस्तर्ह्ययं विशेषव्यपदेशः 'इदं तेज इमा आप इदमन्नम्' इति ? तथा 'अध्यात्ममिदमन्नस्याशितस्य कार्यं मांसादि ? इदमपां पीतानां कार्यं लोहितादि ? इदं तेजसोऽशितस्य कार्यमस्थ्यादि' इति ? अत्रोच्यते,—

## वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

तुशब्देन चोदितं दोषमपनुदति। विशेषस्य भावो वैशेष्यम्, भूयस्त्वमिति यावत्। सत्यपि त्रिवृत्करणे क्वचित्कस्यचिद् भूतधातोर्भूयस्त्वमुपलभ्यते 'अग्नेस्तेजोभूयस्त्वमुदकस्याब्भूयस्त्वं पृथिव्या अन्नभूयस्त्वम्' इति। व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चेदं

भामती

वाचोऽपि पाटवेन तेजः साम्यमभ्यूहनीयम्। तत्रैवमुपतिष्ठते ❀ मांसादीति ❀। वाङ्मनस इति वक्तव्ये मांसाद्यभिधानं सिद्धेन सह साध्यस्योपन्यासो दृष्टान्तलाभाय। यथा मांसादिभौमाद्येवं वाङ्मनसे अपि तेजसभौमे इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—न तावद् ब्रह्मव्यतिरिक्तमस्ति किञ्चिन्नित्यम्। ब्रह्मज्ञानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञाव्याघातात्, बहुश्रुतिविरोधाच्च। नाप्यहङ्कारिकमहङ्कारस्य सांख्याभिमतस्य तत्त्वस्याप्रामाणिकत्वात्। तस्मादसति बाधके श्रुतिराक्षसी नान्यथा कथञ्चिन्नेतुमुचितेति कञ्चिद्दोषमित्युक्तं तद्दोषतां दर्शयत्यत्राह पूर्वपक्षी ❀ यदि सर्वमेव इति ❀ ॥ २१ ॥

भामती—व्याख्या

दोनों में पटुता की समानता होने के कारण वाक् को तैजस कह दिया गया है।

इस प्रकार वैशेषिकादि के मत का निरास करने के लिए कहा गया है—"मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च"। सूत्रकार ने 'वाङ्मनसे भौमतैजसे'—ऐसा न कह कर जो 'मांसादि भौमम्'—ऐसा कहा है. उसका तात्पर्य यह है कि सिद्धार्थ के साथ साध्यार्थ का अभिधान करने पर सिद्धार्थरूप दृष्टान्त का लाभ हो जाता है—जैसे मांसादि भौमादिरूप होते हैं, वैसे ही वाक् और मन भी क्रमशः तैजस और भौम हैं। आशय यह है कि ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ भी नित्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान से जो सर्व-ज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, उससे ब्रह्मेतर समस्त पदार्थों में ब्रह्म-जन्यत्व सिद्ध, अत एव नित्यत्व बाधित होता है। इतना ही नहीं "अतोऽन्यदार्तम्" ( बृह. उ. ३।४।२ ) इत्यादि अनेक श्रुतियों के द्वारा भी प्रपञ्च में नित्यत्व का बाध होता है। वाक् और मन को अहङ्कार का कार्य भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सांख्याभिमत अहङ्कारतत्त्व ही प्रमाण-सिद्ध नहीं। फलतः कोई बाधक न होने के कारण उदाहृत श्रुति मुख्यार्थपरक है, उसका अन्यथा-नयन नहीं किया जा सकता ॥ २१ ॥

भाष्यकार ने जो कहा था—"आशंकितं कंचिद् दोषं परिहरिष्यन्", उस दोष की आशंका पूर्वपक्षी कर रहा है—"यदि सर्वमेवं त्रिवृत्कृतम्"। अर्थात् यदि समस्त प्रपंच तेज, जल और पृथिवी का मिश्रितरूप है, तब 'यह तेज है', 'यह जल है' और 'यह पृथिवी है'—इस प्रकार का विशुद्ध ( अमिश्रित ) भूतों का व्यवहार क्योंकर होगा ? इसका उत्तर है—"वैशेष्यात् तद्वादस्तद्वादः"। अर्थात् यह सत्य है कि—प्रतीयमान कोई भी भूत विशुद्ध तन्मात्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिवृत्कृतरज्जुवदेकत्वापत्तौ सत्यां, न भेदेन भूतत्रयगोचरो लोकस्य प्रसिध्येत् । तस्मात् सत्यपि त्रिवृत्करणे वैशेष्यादेष तेजोऽबन्नविशेषवादो भूतभौतिकविषय उपपद्यते । तद्वादस्तद्वाद इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

• इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरक-मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इतिश्रीमद्ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्येऽविरोधाख्यो द्वितीयोऽध्यायः ॥

———

---

भामती

त्रिवृत्करणाविशेषेऽपि यस्य च यत्र भूयस्त्वं तेन तस्य व्यपदेश इत्यर्थः ॥ २२ ॥

इति श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रविरचिते श्रीमद्भगवत्पादशारीरकभाष्यविभागे भामत्यां द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

समाप्तश्चायमध्यायः ॥

———

---

भामती–व्याख्या

नहीं, तथापि प्रत्येक भूत में आधा भाग अपना और आधे में अन्य दो भूत हैं, अतः अपने अधिक भाग की विशेषता को लेकर प्रत्येक भूत व्यवहृत होता है ॥ २२ ॥

स्वामिवरश्रीऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्दविरचितायां भामतीव्याख्यां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

समाप्तश्च द्वितीयाध्यायः

—: ० :—

द्वितीयेऽध्याये

अधिकरणानां सूत्राणां च

संख्या

| पाद सं० | १ | २ | ३ | ४ | योगः |
|---|---|---|---|---|---|
| अधिकरण | १३ | ८ | १७ | ९ | ४७ |
| सूत्र | ३७ | ४५ | ५१ | २२ | १५७ |

—: ० :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# तृतीयोऽध्यायः ।

[ तृतीये साधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता वैराग्यनिरूपणविचारश्च । ]

## ( १ तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम् । सू० १--७ )

### तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्न-निरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधौ वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः । परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम् । श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः । तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम् । अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्मतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत् । तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगुप्सेत' इति चान्ते श्रवणात् । जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्कोऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम् । 'अथैनमेते

भामती

द्वितीयतृतीयाध्याययोर्हेतुहेतुमद्भावलक्षणं सम्बन्धं दर्शयन् सुखावबोधार्थमर्थसंक्षेपमाह ❀ द्वितीये ऽध्याये इति ❀ । स्मृतिन्यायश्रुतिविरोधपरिहारेण हि अनध्यवसायलक्षणमप्रामाण्यं परिहृतं तथाच प्रामाण्ये निश्चलीकृते तार्तीयो विचारो भवत्यन्यथा तु निर्बीजतया न सिध्येदिति । अवान्तरसङ्गतिं दर्शयितुं तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि चेत्युक्तम् । अध्यायार्थसंक्षेपमुक्त्वा पादार्थसंक्षेपमाह ❀ तत्र प्रथमे तावत् पादे इति ❀ । तस्य प्रयोजनमाह ❀ वैराग्य इति ❀ । पूर्वापरपरिशोधनाय भूमिकामारचयति ❀ जीवो मुख्यप्राणसचिवः इति ❀ । ❀ करणोपादानवद् भूतोपादानस्या-

भामती—व्याख्या

**संगति**—द्वितीय और तृतीय अध्याय में हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध का सुखपूर्वक बोध कराने के लिए दोनों अध्यायों की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय कराया जाता है—"द्वितीयेऽध्याये" । वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म-दर्शन में स्मृतियों न्यायों और श्रुतियों के विरोध का परिहार हो जाने पर वेदान्तगत अनध्यवसाय ( अनवधारण ) रूप अप्रामाण्य का निराकरण हो गया, अतः प्रामाण्य के निश्चल हो जाने पर ही तृतीय अध्याय में साधन-विचार सम्भव हो सका, अन्यथा निराधार होने के कारण साधन-विचार नहीं हो सकता था । फलतः द्वितीयाध्याय का विषय हेतु और तृतीयाध्याय का प्रतिपाद्य पदार्थ हेतुमान् है । पूर्व पाद के साथ इस पाद की संगति दिखाने के लिए कहा है—"जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वादि जीवोपकरणानि ।" अध्यायार्थ का संक्षिप्त स्वरूप कह कर पाद का संक्षिप्त अर्थ दिखाते हैं—"तत्र प्रथमे तावत् पादे" । इसका प्रयोजन दिखाते हैं—"वैराग्यहेतोः" । पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष का परिशोधन करने के लिए भूमिका ( विषयवस्तु ) की रचना की जाती है—"जीवो मुख्यप्राणसचिवः" ।

**संशय**—परलोक-गामी जीव क्या देहारम्भक सूक्ष्म भूतों से आवेष्टित न होकर ही गमन करता है ? अथवा आवेष्टित होकर ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राणा अभिसमावन्ति' इत्येवमादेः 'अन्यन्नवतरं रूपं कुरुते' ( बृ० ४।४।१-४ ) इत्येवमन्तात्संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात् धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च । स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? असंपरिष्वक्त इति । कुतः ? करणोपादानवद् भूतोपादानस्याश्रुतत्वात् । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' ( बृ० ४।४।१ ) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात् । नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति । सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः । यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति, ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम् । तस्मादसपरिष्वक्तो यातीति ।

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति । तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तः, रंहति गच्छतीत्यवग-

भामती

श्रुतत्वाद् इति ❀ । अत्र च करणोपादानश्रुत्यैव भौतिकत्वात् करणानां भूतोपादानसिद्धेरिन्द्रियोपादानातिरिक्तभूतविवक्षयाधिकरणारम्भः । यदि भूतान्यादायागमिष्यत्तदा तदपि करणोपादानवदेवाश्रोष्यत् । न च श्रूयते, तस्मान्न भूतपरिष्वक्तो रंहत्यपि तु करणमात्रपरिष्वक्तः । नह्यागमैकगम्येऽर्थे तदभावः प्रमेयाभावं न परिच्छेत्तुमर्हति । न च देहान्तरारम्भान्यथानुपपत्त्या भूतपरिष्वक्तस्य रंहणकल्पनेति युक्तमित्याह ❀ सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्रा इति ❀ ।

❀ द्युपर्जन्य इति ❀ । इह हि कायारम्भणमग्निहोत्रापूर्वपरिणामलक्षणं श्रद्धादित्वेन पञ्चधा

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—"करणोपादानवद् भूतोपादानस्याश्रुतत्वात्" इस प्रकार भाष्यकार ने पूर्वपक्षी की ओर से कहा है कि "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः" ( बृह० उ० ४।४।१ ) इस श्रुति में जैसे 'तेजोमात्रा' शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण परलोक-गमन के समय श्रुत है, वैसे भूतों का ग्रहण श्रुत नहीं, अतः सूक्ष्म भूतों से अनावेष्टित होकर ही जीव गमन करता है। यद्यपि इन्द्रियाँ भौतिक हैं, अतः इन्द्रियों की उपादानता से भूतों की उपादानता स्वतः सिद्ध है। तथापि इन्द्रियरूप भूतों से अतिरिक्त सूक्ष्म भूतों का उपादान सिद्ध करने के लिए इस अधिकरण का आरम्भ किया गया है। उन सूक्ष्म भूतों का ग्रहण करके यदि जीव गमन करता, तब इन्द्रियोपादान के समान ही भूतोपादान भी श्रुति में पठित होता। वैसा पठित नहीं, अतः जीव भूतवर्ग से आश्लिष्ट होकर गमन नहीं करता, अपितु केवल इन्द्रियों से संवलित होकर ही गमन करता है। जो प्रमेय केवल आगम प्रमाण से अधिगत होता है, आगम प्रमाण के उपलब्ध न होने पर उसका अभाव ही निश्चित होता है। जीव यदि अपने स्थूल शरीर के आरम्भक सूक्ष्म भूतों को साथ नहीं ले जाता, तब लोकान्तर में उसके स्थूल शरीर का आरम्भ क्योंकर होगा ? इस शङ्का का निराकरण किया जाता है—"सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः"। जो पदार्थ सर्वत्र सुलभ है, उसे अपने साथ ले जाना व्यर्थ है।

**सिद्धान्त**—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रहति सम्परिष्वक्तः" अर्थात् देहान्तर की प्राप्ति के लिए जीव 'सूक्ष्मभूतो से परिष्वक्त ( परवेष्टित ) होकर ही गमन करता है, क्योंकि "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" ( छां. ५।३।३ ) इत्यादि प्रश्न और उसके निरूपण ( उत्तर ) से यही सिद्ध होता है। "द्युपर्जन्य"—इत्यादि भाष्य का आशय यह है कि अग्निहोत्रादिरूप इष्ट और वापी-कूपादिरूप आपूर्त कर्म करनेवाला व्यक्ति मरने पर स्वर्ग जाता है। उसके द्वारा अनुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्मों से जनित अपूर्व के परिणामात्मक कायारम्भक सूक्ष्म भूत उपासना के लिए (१) श्रद्धा, (२) सोम, (३) पर्जन्य ( वृष्टि ) (४) अन्न

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


न्तव्यम् । कुतः ? प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । तथा हि प्रश्नः— वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' ( छा० ५।३।३ ) इति । निरूपणं च प्रतिवचनं, द्यपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्टयन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' ( छा० ५।९।१ ) इति । तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते । नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति

भामती

प्रविभज्य पञ्चसु द्युप्रभृतिषु अग्निषु होतव्यत्वेनोपासनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विवक्षन्त्याह श्रुतिः—'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' इत्यादि । अत्र सायंप्रातरग्निहोत्राहुती हुते पयआदिसाधने श्रद्धापूर्वमाहवनीयाग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गभाविते कर्त्रादिकारकभाविते चान्तरिक्षं क्रमेणोत्क्राम्य द्युलोकं प्रविशन्त्यौ सूक्ष्मभूते द्रवद्रव्यपयःप्रभृत्यप्सम्बन्धादप्शब्दवाच्ये श्रद्धाहेतुकत्वाच्च श्रद्धाशब्दवाच्ये तयोराहुत्योरधिकरणमग्निरन्ये च समिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गा रूपकत्वेन निर्दिश्यन्ते । असौ वाव द्युलोको गौतमाग्निः । यथाग्निहोत्राधिकरणमाहवनीय एवं श्रद्धाशब्दवाच्याग्निहोत्राहुतिपरिणामावस्थारूपाः सूक्ष्मा या आपः श्रद्धाभावितास्तदधिकरणं द्युलोकः । अस्यादित्य एव समित् तेन हीद्धोऽसौ द्युलोको दीप्यतेऽतः समिन्धनात् समित् तस्यादित्यस्य रश्मयो धूमा, इन्धनादिवादित्याद्रश्मीनां समुत्थानादहरर्चिप्रकाशसामान्यादादित्यकार्यत्वाच्च । चन्द्रमा अङ्गारोऽर्चिषः प्रशमेऽभिव्यक्तेः । नक्षत्राण्यस्य विस्फुलिङ्गाश्चन्द्रमसोऽङ्गारस्यावयवा इव विप्रकीर्णतासामान्याद्विस्फुलिङ्गास्तदेतस्मिन्नग्नौ देवा यजमानप्राणा अग्न्यादिरूपा अधिदेवम् । श्रद्धां

भामती—व्याख्या

और (५) वीर्य—इन पाँच हवि द्रव्यों के रूप में कल्पित हैं। हवि द्रव्य की आहुति अग्नि में दी जाती है, अतः इन हवि द्रव्यों की आहुति के लिए क्रमशः पाँच अग्नियाँ कल्पित हैं—(१) द्युलोक, (२) मेघ, (३) पृथिवी, (४) पुरुष और (५) स्त्री, जैसा श्रुति कहती है—

(१) "असौ वाव लोको गौतम ! अग्निः, तस्यादित्यः समिद्, रश्मयो धूमोऽहरर्चिः, चन्द्रमा अङ्गारः, नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" (छां. ५।४।२) सारांश यह है कि अग्निहोत्र कर्म में सायं और प्रातः दुग्धादि साधन द्रव्योंसे सम्पन्न होनेवाली जिन दो आहुतियों के लिए श्रद्धापूर्वक आहवनीय अग्नि, समित्, धूम, अर्चिः, अङ्गार विस्फुलिङ्ग की भावना द्युलोकादि में की जाती है। तत्तत्पदार्थों में कर्त्ता आदि कारकों की भावना की जाती है। वे दोनों आहुतियाँ अन्तरिक्ष में क्रमशः ऊपर उठती हुई द्युलोक में प्रवेश करती हैं। वे दोनों आहुतियाँ सूक्ष्मभूतात्मक हैं, दुग्धादि जलीयांशों से सम्पन्न होने के कारण 'आप्' शब्द के द्वारा अभिहित होती है। 'श्रद्धा' शब्द से उन्हें पुकारा जाता है, क्योंकि श्रद्धा से उनकी उत्पत्ति होती है। उनके आधारभूत द्युलोक में अग्नि एवं आदित्यादि में समिदादि का रूपक प्रस्तुत किया गया है। आदित्यरूप समित् से समिद्ध [ प्रज्वलित ) होकर द्युलोक देदीप्यमान है। सम्यक् प्रकाशक होने के कारण सूर्य को समित् कहा है। उसकी रश्मियों को धूम इसलिए कहा गया है कि जैसे धूम अग्नि से उत्पन्न होता है, वैसे रश्मियाँ आदित्य से उत्पन्न होती हैं। अहर् ( दिन ) और अर्चि दोनों में प्रकाशरूपता एवं आदित्य-जन्यता का साम्य है। जैसे ज्वालाओं के शान्त हो जाने पर अङ्गार की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही आदित्य की प्रखर ज्वालाओं के शान्त हो जाने पर रात में चन्द्रमा की अभिव्यक्ति होती है, अतः चन्द्रमा को अङ्गार कहा है। चन्द्रमारूपी अङ्गार के विस्फुलिङ्ग ( बिखरे हुए कण ) नक्षत्र हैं। इस अग्नि में आहुति डालनेवाले देवगण हैं—यजमान की इन्द्रियों के अग्नि-आदि अधिष्ठातृदेव । यह अधिदैव ( देव-सम्बन्धी ) रूपक है। "श्रद्धां जुह्वते"—यहाँ श्रद्धा का अर्थ ऊपर किया जा चुका है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


यावन्न देहान्तरमाक्रामतीति दर्शयति—'तद्यथा तृणजलायुका' ( बृ० ४।४।३ ) इति ।

भामती

जुह्वति श्रद्धा चोक्ता । पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवताविशेषस्तस्य वायुरेव समित् वायुना हि पर्जन्योऽग्निः समिध्यते पुरोवाताविप्राबल्ये वृष्टिदर्शनात् । अभ्रं धूमः धूमकार्यत्वात् धूमसादृश्याच्च । विद्युदर्चिः प्रकाशसामान्यात् । अशनिरङ्गाराः काठिन्याद्विद्युत्सम्बन्धाच्च । गर्जितं मेघानां विस्फुलिङ्गाः विप्रकीर्णतासामान्यात् । तस्मिन्नेतस्मिन्देवा यजमानप्राणा अग्निरूपाः सोमं राजानं जुह्वति तस्य सोमस्याहुतेर्वर्षं भवति ।

एतदुक्तं भवति—श्रद्धाख्या आपो द्युलोकमाहुतित्वेन प्रविश्य चन्द्राकारेण परिणताः सत्यो द्वितीये पर्याये पर्जन्याग्नौ हुता वृष्टित्वेन परिणमन्त इति । पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्य पृथिव्याख्यस्याग्नेः संवत्सर एव समित्संवत्सरेण कालेन हि समिद्धा भूमिर्व्रीह्यादिनिष्पत्तये कल्पते । आकाशो धूमः पृथिव्यग्नेरुत्थित इवाकाशो दृश्यते । रात्रिरर्चिः पृथिव्याः श्यामाया अनुरूपा श्यामतया रात्रिरग्नेरिवानुरूपमर्चिर्विशोऽङ्गाराः प्रगे रात्रिरूपार्चिःशमने उपशान्तानां प्रसन्नानां दिशां दर्शनात् । अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वसाम्यात्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ श्रद्धासोमपरिणामक्रमेणागता आपो वृष्टिरूपेण परिणता देवा जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं व्रीहियवादि भवति । पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समिद्वाचा खल्वयं ताज्वाद्यष्ट-

भामती–व्याख्या

(२) "पर्जन्यो वाव गौतम ! अग्निः"—यहाँ पर 'पर्जन्य' नाम है—वृष्टि के उपकरण ( साधनीभूत ) मेघादि का अभिमानी देवविशेष । उस अग्नि को प्रज्वलित करने वाली समित् ( काष्ठ ) है—वायुः, क्योंकि वायु ( पूर्वा ) के द्वारा समिद्ध ( समुद्वेलित ) होकर मेघ वर्षा करता है । अभ्र ( मेघ ) को धूम इसलिए कहा गया है कि वह धूम से उत्पन्न होता है । विद्युत और अर्चिः—दोनों में प्रकाश धर्म समान रूप से रहता है । अशनि ( वज्रपात ) को अङ्गार इसलिए कहा गया है कि दोनों प्रज्वलनशील और कठिन ( कठोर ) हैं । मेघों का जो गर्जन ( परस्पर घर्षण ) है, उसे विस्फुलिङ्ग कहा गया है, क्योंकि इन दोनों में विप्रकीर्णता ( अग्नि-कणों का विस्फारण ) समानरूप से पाया जाता है । उस अग्नि में देवगण यजमान के प्राण ( इन्द्रियगण ) सोम-रसरूप राजा की आहुति डालते है, उस सोम की आहुति से वर्षा होती है । आशय यह है कि श्रद्धारूप जल द्युलोक में आहुतिरूपेण प्रवेश करके चन्द्राकार धारण करता है । द्वितीय पर्याय में वही जल वृष्टि रूप में परिणत होता है ।

(३) "पृथिवी वाव गौतम ! अग्निः" । पृथिवीरूप अग्नि में संवत्सर समित् है, क्योंकि संवत्सररूप काल से समिद्ध ( प्रोद्बोधित ) होकर पृथिवी व्रीहि आदि के निष्पादन में समर्थ होती है । आकाश को धूम इसलिए कहा गया है कि वह पृथिवीरूप अग्नि से उत्पन्न हुआ जैसा पृथिवी से सटा हुआ प्रतीत होता है । रात अर्चिः [ प्रकाश ] है, क्योंकि जैसे अग्नि के समानरूप का प्रकाश है, वैसे ही पृथिवी श्यामरूप की है, अतः उसकी अर्चि भी श्यामा रात्रि क्यों न होगी ? पृथिवीरूपी अग्नि के दिशाएँ अङ्गार हैं, क्योंकि प्रभात काल में रात्रिरूप अर्चि के शान्त हो जाने पर दिशाएँ अङ्गार–जैसी प्रस्फुरित होती हैं । उन महा दिशाओं की अपेक्षा अवान्तर दिशाएँ क्षुद्र हैं, अतः उन्हें विस्फुलिङ्ग कहा गया है । उस पृथिवीरूप अग्नि में देवगण वृष्टिरूपेण परिणत जिस जल की आहुति डालते हैं, वह जल श्रद्धा–सोमादि क्रम से परिणत कथित अपूर्व ही होता है । इस आहुति से व्रीहि, यव आदि अन्न उत्पन्न होता है ।

(४) "पुरुषो वाव गौतम ! अग्निः"—यहाँ पर पुरुषरूप अग्नि में वाक् ( शब्द तत्त्व ) को समित् इसलिए कहा गया है कि (१) उरः, (२) कण्ठ, (३) शिर, (४) जिह्वा-मूल, (५)

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

स्थानस्थितया वर्णपदवाक्याभिव्यक्तिक्रमेणार्थंजातं प्रकाशयन् समिध्यते । प्राणो धूमः धूमवन्मुखान्निर्गमाज्जिह्वार्चिर्लोहितत्वसाम्याच्चक्षुरङ्गाराः प्रभाश्रयत्वात् । श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः विप्रकीर्णत्वात् । ता एवापः श्रद्धादिपरिणामक्रमेणागताः व्रीह्यादिरूपैः परिणताः सत्यः पुरुषेऽग्नौ हुतास्तासां परिणामो रेतः सम्भवति । योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समित् तेन हि सा पुत्राद्युत्पादनाय समिध्यते यदुपमन्त्रयते स धूमः स्त्रीसम्भवादुपमन्त्रणस्य लोमानि वा धूमः योनिरर्चिर्लोहितत्वाद् यदन्तः करोति मैथुनं तेऽङ्गारा अभिनन्दाः सुखलवा विस्फुलिङ्गाः क्षुद्रत्वात्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति । एवं श्रद्धासोमवर्षान्नरेतो हवनक्रमेण योषाग्नि प्राप्यापो गर्भाख्या भवन्ति । तत्राप्समवायित्वादापः पुरुषवचसो भवन्ति पञ्चम्यामाहुतावितिं । यतः पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहतीति गम्यते । एतदुक्तं भवति—श्रद्धाशब्दवाच्या आप इत्यग्रे वक्ष्यति तासां त्रिवृत्कृततया तेजोऽन्नाविनाभावेनाब्ग्रहणेन तेजोऽन्नयोरपि संग्रह इत्येतदपि वक्ष्यते । यद्यप्येतावतापि भूतवेष्टितस्य जीवस्य रंहणं नावगम्यते तेजोऽबन्नानां पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वमात्रश्रवणात् , तथापीष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन यथा चन्द्रलोकप्राप्तिकथनपरयाऽऽकाशाच्चन्द्रमसमेष

भामती—व्याख्या

दन्त, (६) नासिका, (७) ओष्ठ और (८) तालु—इन आठ स्थानों में अवस्थित वाक् (वाणी) क्रमशः वर्ण, पद और वाक्य के रूप में अभिव्यक्त होकर पदार्थों का अभिधान रूप अभिज्वलन करती है। प्राण उस अग्नि का धूम है, क्योंकि धूम के समान मुख से बाहर निकलता है। अर्चि के समान लोहित (लाल) होने के कारण जिह्वा अर्चि (आग की लपट) है। चक्षु अङ्गार है, क्योंकि अङ्गार के समान प्रकाश का आश्रय है। श्रोत्र दिशाओं में विप्रकीर्ण होने के कारण विस्फुलिङ्ग कहा गया है। वही आप-पदार्थ श्रद्धादि और व्रीहि आदि रूप में परिणत होकर पुरुष रूप अग्नि में जो आहुत होता है, उसी का परिणाम रेतः (वीर्य) है।

(५) "योषा वाव गौतम ! अग्निः" —योषा (स्त्री) एक ऐसी अग्नि है, जिसमें समित् (काष्ठ) है—उपस्थ, क्योंकि स्त्री अपने उपस्थ (गुप्ताङ्ग) के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के लिए समिद्ध (उत्तेजित) की जाती है। पुरुष-संयोगार्थं स्त्री जो पुरुष को आमन्त्रित करती है, वह (आमन्त्रण) धूम है, क्योंकि स्त्रीरूप अग्नि से वह उत्पन्न होता है। अथवा स्त्री के लोम धूम हैं। स्त्री की योनि रक्त (लाल) होने के कारण अर्चि कही गई है। मैथुन अङ्गार और मैथुन-जनित सुख (आनन्द के कतिपय कण) विस्फुलिङ्ग है, क्योंकि वह विस्फुलिङ्ग के समान क्षुद्र है। इस स्त्रीरूप अग्नि में पुरुष के द्वारा रेतः (वीर्य) की आहुति डाली जाती है, जिससे गर्भ उत्पन्न होता है। इस प्रकार श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत (वीर्य) के क्रम से वही आपोरूप सूक्ष्मभूत स्त्रीरूप अग्नि को प्राप्त होकर गर्भ की आकृति धारण करते हैं। जलप्रधान समूह में समूहित होने के कारण मौलिक गर्भस्थ भूत-सूक्ष्म पुरुष के नाम से पुकारे जाते हैं। स्त्रीरूप अग्नि में यह पञ्चमी आहुति है। इससे यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि कथित सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित होकर जीव लोकान्तर में संसरण करता है।

आशय यह है कि उक्त आपः (जल) 'श्रद्धा' शब्द का वाच्य है—यह आगे चल कर कहा जायगा। वह जल त्रिवृत्कृत होने के कारण तेज और अन्न (पृथिवी) से अविनाभूत (व्याप्त) है, फलतः केवल जल के द्वारा तेज और पृथिवी का भी संग्रह हो जाता है—यह भी आगे कहा जायगा। यद्यपि इतने वक्तव्य से भी भूत-वर्ग से आवेष्टित जीव का रंहण (गमन) अवगत नहीं होता, क्योंकि उतने वक्तव्य से इतना ही सिद्ध होता है कि पञ्चमी आहुति में पड़कर सूक्ष्म भूत पुरुष की संज्ञा पाते हैं। तथापि इष्ट और आपूर्तादि कर्मों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

सोमो राटिति श्रुत्या सह श्रद्धां जुह्वति तस्य आहुतेः सोमो राजा सम्भवतीत्यस्याः श्रुतेः समानत्वावगम्यते भूतपरिष्वक्तो रंहतीति । तथाहि—या एवापो हुता द्वितीयस्यामाहुतौ सोमभावं गतास्ताभिरेव परिष्वक्तो जीव इष्टादिकारो चन्द्रभूयं गतश्चन्द्रलोकं प्राप्त इति । ननु स्वतन्त्रा आपः श्रद्धादिक्रमेण सोमभावमाप्नुवन्तु ताभिरपरिष्वक्त एव तु जीवः सेन्द्रियमात्रो गत्वा सोमभावमनुभवतु को दोषः । अयं दोषः—यतः श्रुतिसामान्यातिक्रम इति । एवं हि श्रुतिसामान्यं कल्पेत यदि येन रूपेण येन च क्रमेणापां सोमभावस्तेनैव जीवस्यापि सोमभावो भवेत् । अन्यथा तु न श्रुतिसामान्यं स्यात् । तस्मात्परिष्वक्तापरिष्वक्तरंहणविषये श्रुतिसामान्यानुरोधेन परिष्वक्तरंहणं निश्चीयते । अतो दधिपयःप्रभृतयो द्रवभूयस्त्वादापो हुताः सूचमीभूता इष्टादिकारिणमाश्रिता नैन्धनेन विधिना देहे हूयमाने हुताः सत्या आहुतिमथ्या इष्टादिकारिणं परिवेष्टय स्वर्गलोकं नयन्तीति । चोदयति ॐ नन्वन्या श्रुतिः इति ॐ । अयमर्थः—एवं हि

भामती—व्याख्या

कर्त्ता जीवगणों की धूमादि-क्रम से पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक की प्राप्ति का प्रतिपादन श्रुति करती है—"आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राट्" ( छां. ५।१०।४ ) । यह श्रुति "श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेरेष सोमो राजा सम्भवति" ( बृह. उ. ६।२।९ ) इस श्रुति के समान होने के कारण यह सिद्ध कर देती है कि जीव भूत-सूक्ष्म से परिवेष्टित होकर रंहण करता है । अर्थात् जो जल द्वितीय आहुति में आहुत होकर सोमभाव को प्राप्त होता है, उससे परिष्वक्त ( संवेष्टित ) जीवगण इष्टादि कर्मों का सम्पादन एवं तत्फलस्वरूप चन्द्रभाव ( अमरशरीरवत्ता ) का अनुभव करके चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं ।

शङ्का—"तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति" ( छां. ५।४।२ ) इस श्रुति में 'सोमः सम्भवति' एवं 'राजा सम्भवति'—ऐसा अन्वय प्रतीत होता है, अतः 'अप्' शब्द के द्वारा उपस्थापित सूक्ष्म भूत भी सोमरूपेण चन्द्रलोक को स्वतन्त्र ( जीव से सम्बन्धित न होकर ) ही प्राप्त होते हैं और 'राजा' पद से अवबोधित जीव भी स्वतन्त्र ( सूक्ष्म भूतों से अपरिवेष्टित ) केवल अपनी इन्द्रियों के साथ ही चन्द्रलोक को प्राप्त करता है—ऐसा मानने में क्या दोष ?

समाधान—वैसा मानने में सबसे बड़ा दोष यही है कि 'सोम' और 'राजा'—इन दोनों शब्दों की समानार्थता भंग होती है । "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसम्भवन्ति"—इस श्रुति में निर्दिष्ट इष्टापूर्तकारी पुरुषों के लिए ही फलश्रुति है—"आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा" ( छां. ५।१०।४ ) । यहाँ एक इष्टापूर्वकारी जीव ही 'सोमो राजा' कहा गया है, अतः दोनों पदों के द्वारा 'सोमोपाधिक जीव" की उपस्थिति मानना न्यायोचित है । आगे चलकर "अश्रुतत्वादिति" ( ब्र. सू. ३।१।६ ) इस सूत्र में भाष्यकार ने जो 'श्रुतिसामान्य' की चर्चा की है, वह श्रुतिसामान्यता तभी उपपन्न होती है, जब कि आपः ( सूक्ष्म भूत ) की चन्द्रलोक-प्राप्ति जीवोपाधिरूपेण और जीव की चन्द्रलोक-प्राप्ति सोमोपाधिकत्वेन मानी जाय, अन्यथा ( सोम और राजा—इन दोनों पदों की भिन्नार्थता में ) श्रुति सामान्य का निर्वाह नहीं होता, फलतः 'जीव की गति के विषय में भूतावेष्टितत्व और भूतानावेष्टितत्व का सन्देह होने पर चर्चित श्रुति-सामान्य के अनुरोध पर भूतावेष्टितत्व का ही निश्चय होता है । अतः दधि, दुग्धादि द्रवीभूत ( तरल ) जलप्रधान द्रव्य ( सूक्ष्म भूत ) इष्टादि कर्म के कर्त्ता पुरुष का आश्रयण करते हैं । निधन-विधि (इष्टिकर्त्ता के मरण पर अन्त्येष्टि-विधि) के द्वारा शरीर का जब दाह किया जाता है, तब वे सूक्ष्म भूत अग्नि में आहुत हो इष्टादि-कर्त्ता को आवेष्टित कर स्वर्ग लोक ले जाते हैं ।

शङ्का—"ननु अन्या श्रुतिर्जलूकावत्" । शङ्कावादी का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्राप्यपरिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पना व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद्

भामती

सूक्ष्मदेहपरिष्वक्तो रंहेत् यद्यस्य स्थूलं शरीरं रंहतो न भवेत्। अस्ति त्वस्य वर्त्तमानस्थूलशरीरयोगः आदेहान्तरप्राप्तेस्तृणजलायुकानिदर्शनेन, तस्मान्निदर्शनश्रुतिविरोधान्न सूक्ष्मदेहपरिष्वक्तो रंहतीति। परिहरति ॐ तत्रापि इति ॐ। न तावत् परमात्मनः संसरणसम्भवः। तस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वात् किन्तु जीवानाम्। परमात्मैव चोपाधिकल्पितावच्छेदो जीव इत्याख्यायते, तस्य च देहेन्द्रियादेरुपाधेः प्रादेशिकत्वान्न तत्र सन्देहान्तरं गन्तुमर्हति। तस्मात्सूक्ष्मदेहपरिष्वक्तो रंहति कर्मोपस्थापितः प्रतिपत्तव्यः। प्राप्तव्यो यो देहस्तद्विषयाया भावनाया उत्पादनाया दीर्घीभावमात्रं जलूकयोपमीयते। सांख्यानां कल्पनामाह ॐ व्यापिनां करणानाम् इति ॐ। आहङ्कारिकत्वात्करणानामहङ्कारस्य च

भामती—व्याख्या

भूतों से आवेष्टित होकर, आत्मा तब गमन कर सकता था, जब कि वह अपने स्थूल शरीर से रहित होता, किन्तु श्रुति कहती है कि मृत आत्मा अपने भावी शरीर का ग्रहण करके ही इस वर्तमान शरीर को वैसे ही त्यागता है जैसे कि जलोका (जोंक) अपने एक छोर से अन्य तृणादि का ग्रहण करके ही अपने वर्तमान आश्रयीभूत तृणादि का त्याग करती हैं—"तद्यथा तृणजलायुका" (छां. ५।१०।१)। जोक के दृष्टान्त से यही सिद्ध होता हैं कि परलोकगामी आत्मा कभी स्थूल शरीर से वियुक्त होता ही नहीं, अतः उसे सूक्ष्म भूतों के आश्रयण की क्या आवश्यकता ?

**समाधान**—"तत्रापि अपरिवेष्टितस्यैव"। आशय यह है कि परमात्मा का संसरण तो सम्भव नहीं, क्योंकि वह नित्य, शुद्ध,बुद्ध और सदा मुक्त है। परिशेषतः जीवात्मा का संसरण मानना होगा। अविद्यादि उपाधि के द्वारा अवच्छिन्न परमात्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। जीव की देह, इन्द्रियादि उपाधि प्रादेशिक है, अतः उससे जकड़ा हुआ जीव पर लोक में गमन नहीं कर सकता, फलतः प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर उस देह का वियोग मानना होगा, अनावेष्टित आत्मा का गमन सम्भव नहीं, इसलिए सूक्ष्म शरीर से परिवेष्टित जीव का गमन सिद्ध होता है। प्राप्तव्य अन्य स्थूल शरीर की तुरन्त प्राप्ति नहीं होती, अपितु उस जन्म में कृत कर्म-राशि के द्वारा उपस्थापित किए जानेवाले देवादि शरीरों की भावना अन्तिम क्षण में अवभासित हो जाती है—'देवोऽहम्'। प्राप्तव्य भावी देह दीर्घकाल-साध्य है अतः भाविदेहविषयक एक लम्बी भावना की उपमा जोकरूप उपमान से प्रस्तुत की गई है, अतः उक्त श्रुति से किसी प्रकार का विरोध प्रसक्त नहीं होता।

**मतान्तर-निरास**—सांख्यादि-शास्त्र पौरुषेय हैं, अतः इस विषय में उनकी कल्पनाएँ आदरणीय नहीं, जैसे कि—

(क) **सांख्य-कल्पना**—"व्यापिनां करणानाम्"। अर्थात् इन्द्रियगण अहङ्कारजनित हैं, अहङ्कार जगन्मण्डल-व्यापी है, अतः इन्द्रियगण भी व्यापक हैं। पुरुषतत्त्व भी सर्वत्र व्याप्त है। नूतन शरीर का लाभ होने पर आत्मा केवल उसमें सक्रिय हो जाता है, गमनागमन किसी का नहीं होता। [युक्तिदीपिकाकार ने भी अपने पुरातन सांख्याचार्यों के मतों का प्रदर्शन करते हुए उक्त मत का निराकरण किया है—"यत् पुनरेतदुक्तम्, विभुत्वादिन्द्रियाणां स्वात्मन्यवस्थानं वृत्तिलाभो वृत्तिनिरोधश्च संसार इति, अयुक्तमेतत्। कस्मात् ? विभुत्वासिद्धेः" (यु० दी० पृ० १४५)]।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्तिलाभस्तत्र भवति। केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते। मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठते। जीव एवोत्प्लुत्य देहाद्देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद्वृक्षान्तरम्, इत्येवमाद्याः, ताः सर्वा एवानादर्तव्याः श्रुतिविरोधात्॥ १॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अपशब्दश्रवणसामर्थ्यात्। तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति? अत उत्तरं पठति—

## त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ २॥

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति। त्र्यात्मिका ह्यापः, त्रिवृत्करणश्रुतेः।

भामती

जगन्मण्डलव्यापित्वात्करणानामपि व्यापितेत्यर्थः। बौद्धानां कल्पनामाह ❀ केवलस्यैवात्मनः इति ❀। आलयविज्ञानसन्तान आत्मा तस्य प्रवृत्तिः षट्प्रवृत्तिविज्ञानानि। पञ्चेन्द्रियाणि तु चक्षुरादीनि अभिनवानि जायन्ते। कणभुक्कल्पनामाह ❀ मन एव च इति ❀। भोगस्थानं भोगायतनं शरीरमभिनवमिति यावत्। दिगम्बरकल्पनामाह ❀जीव एवोत्प्लुत्य इति❀। आदिग्रहणेन लोकायतिकानां कल्पनां संगृह्णाति। ते हि शरीरात्मवादिनो भस्मीभावमात्मन आहुर्न कस्यचिद्गमनमिति॥ १॥

चोदयति ❀ ननूदाहृताभ्याम् इति ❀। अत्र सूत्रेणोत्तरमाह—त्र्यात्मकत्वात् तु भूयस्त्वात्।

भामती—व्याख्या

(ख) बौद्ध-कल्पना—"केवलस्यैवात्मनः"। यहाँ आलयविज्ञान का 'आत्मा' शब्द से ग्रहण किया गया है। वह चाक्षुषज्ञानादि छः प्रवृत्ति विज्ञानों के रूप में प्रवृत्त होता है। चक्षुरादि पाँच इन्द्रियाँ प्रत्येक शरीर में नूतन उत्पन्न होती हैं। [ केवल योगाचार आलयविज्ञान मानते हैं वह भी कूटस्थ-स्थिर नहीं, अपितु कर्मों ( अदृष्टों ) के द्वारा पूर्व विपाक ( आलयविज्ञान ) का नाश और उत्तर विपाक का जन्म होता रहता है—

कर्मणो वासना ग्राह्यद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्॥ ( विज्ञप्ति. त्रि. १९ )

भाष्यकार स्थिरमति ने स्पष्ट कहा है—"न चालयविज्ञानमन्तरेण संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा युज्यते। तत्र संसारप्रवृत्तिर्नाम निकायसभागान्तरेषु प्रतिसन्धिबन्धः' (विज्ञप्ति० त्रि० पृ० २८३ )]।

(ग) वैशेषिक-कल्पना—"मन एव वा केवलम्"। 'भोगस्थानम्" का अर्थ है—भोगायतनशरीर। जन्मान्तर में सेन्द्रिय स्थूल शरीर नूतन उत्पन्न होता है। अथवा केवल मन शरीरान्तर में गमन करता है।

(घ) दिगम्बर-कल्पना—"जीव एवोत्प्लुत्य"। जीव ही एक शरीर से उड़कर दूसरे शरीर पर वैसे ही जाता है, जैसे शुक ( तोता ) एक वृक्ष से उड़कर अन्य वृक्ष पर जाता है। [ जैन-दर्शन में जीव का गति पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किया गया है। मध्यम परिमाण का जीव क्रियाशील है, अतः अपने कार्मण शरीर के योग से बड़ी सरलता के साथ पूर्व शरीर का परित्याग और शरीरान्तर का ग्रहण करता रहता है—'विग्रहवती कर्मयोगः" ( तत्त्व० सू० २।२६ )]।

भाष्यकार ने 'आदि' पद का ग्रहण कर चार्वाक की इस कल्पना को भी अनादरणीय ठहराया है कि देह ही आत्मा है और भस्मीभूत देह की कहीं गति होती ही नहीं॥ १॥

शङ्का—"तदुदाहृताभ्याम्"। कथित प्रश्न और उत्तर के द्वारा केवल जल से परिष्वक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। त्र्यात्मकञ्च देहस्त्रयाणामपि तेजोऽबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः, पुनश्च त्र्यात्मकस्त्रिधातुत्वात् त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः। न स भूतान्तराणि प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते। तस्माद् भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः। सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते। ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते, नैष दोषः, इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति। दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम्। कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि, कर्मसमवायिन्यश्चापः

भामती

तेजसः कार्यमशितपीताहारपरिपाकः। अपां कार्यं स्नेहस्वेदादि। पृथिव्याः कार्यं गन्धादि। यस्तु गन्धस्वेदपाकप्राणावकाशदानदर्शनाद् देहस्य पाञ्चभौतिकत्वं पश्यंस्तेजोऽबन्नात्मकत्वेन त्र्यात्मकत्वे न परितुष्यति। तं प्रत्याह ❀ पुनश्च त्र्यात्मकः इति ❀। वातपित्तश्लेष्मभिस्त्रिभिर्धातुभिः शरीरधारणात्मकैस्त्रिधातुत्वात्। अतो न स देहो भूतान्तराणि प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते। अब्ग्रहणनियमस्तर्हि कस्मादित्यत आह ❀ तस्माद्भूयस्त्वापेक्षः इति ❀। पृथिवीधातुवर्जमितरतेज आद्यपेक्षया कार्यस्य शरीरस्य लोहितादिद्रवभूयस्त्वात्तत्करणयोश्चोपादाननिमित्तयोर्द्रवभूयस्त्वादपां पुरुषवचस्त्वोक्तिर्नपुनर्भूता-

भामती–व्याख्या

जीव की गति बताई है, तब पृथिवी, जल आप तेज इत्यादि सभी सूक्ष्म भूतों का परिष्वङ्ग क्यों कहा जाता है ?

**समाधान**—"त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्"। अर्थात् गृहीत 'जल' त्रिवृत्करण-श्रुति के आधार पर पृथिवी, जल और तेज—इन तीनों का मिश्रित रूप है, उसका उल्लेख केवल 'जल' पद से इसलिए कर दिया गया है कि जल का बाहुल्य आहुति-द्रव्यों में पाया जाता है। यह शरीर केवल जलरूप न होकर त्र्यात्मक है, क्योंकि तेज, जल और पृथिवी—इन तीनों का कार्य उपलब्ध होता हैं—तेज का काम खाये-पिये का परिपाचन, जल का काम स्नेह और स्वेद ( पसीना ) आदि एवं पृथिवी का कार्य गन्धादि है। जो वादी गन्ध, स्वेद, पाक, प्राण और अवकाश दानरूप पाँच कार्यों को देखकर देह की पाँचभौतिकता में विश्वास करते हैं, केवल तेज, जल और पृथिवी की समूहरूपता में परितोष नहीं, उस वादी के लिए कहा गया है—"पुनश्च त्र्यात्मकः त्रिधातुत्वात्"। वात, पित्त और श्लेष्म ( कफ ) इन तीन धातुओं के द्वारा शरीर का धारण किया जाता है, अतः यह शरीर त्रिधातुक कहा जाता है [ वस्तुतः "रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः" ( अष्टाङ्गहृदय. पृ० ६ में ) सात धातुएँ परिगणित हैं ] वात, पित्त और कफ इन्हीं सातों तत्त्वों की साम्यावस्थापन्न होकर सम्यक् धारण करने के कारण 'धातु' विषमावस्थापन्न होकर दूषित करने के कारण 'दोष' तथा 'मलिन' करने के कारण 'मल' कहलाते हैं—"वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः" ( अष्टाङ्ग० पृ० ३ )]। फलतः पृथिव्यादि अन्य महाभूतों का निषेध करके जल के द्वारा इस अनेक स्वभाव के शरीर का आरम्भ नहीं किया जा सकता। यदि शरीर अनेक भूतों का कार्य है, तब इसे केवल 'आप्य' क्यों कहा गया ? इस प्रश्न का उत्तर है—"भूयस्त्वापेक्षोऽयम्'। यद्यपि पृथिवी की अपेक्षा जलीय अंश का भूयस्त्व (आधिक्य) प्रतीत नहीं होता, तथापि पृथिवी को छोड़कर तेज आदि की अपेक्षा जलांश का भूयस्त्व स्पष्ट अनुभूत होता है कि शुक्र और शोणित जैसे तरल द्रव्यों का आधिक्य है, अतः शुक्र और शोणित—इन दोनों पदार्थों के उपादान कारण रूप जल में पुरुष-वचस्त्व की कल्पना की गई है, भूतान्तर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्त इति वक्ष्यति। तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः। बाहुल्याच्चापशुशब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

## प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

प्राणानां च देहान्तरप्रतिपत्तौ गतिः श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभिः। सा च प्राणानां गतिर्नाश्रयमन्तरेण संभवतीत्यतः प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टानां गतिरर्थादवगम्यते। नहि निराश्रयाः प्राणाः क्वचिद् गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा, जीवतो दर्शनात् ॥ ३ ॥

## अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

स्यादेतत्—नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः। तथा हि श्रुतिर्मरणकाले वागादयः प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वाग्apyेति वातं प्राणः' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्—न, भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात्।

भामती

न्तरनिरासार्था ॥ २ ॥

प्राणानां जीवद्देहे साश्रयत्वमवगतं गच्छति जीवद्देहे तदनुविधायिनः प्राणा अपि गच्छन्तीति इष्टम्, अतः षाट्कौशिकाद् देहादुत्क्रामन्तः कस्मिंश्चिदुत्क्रामत्युत्क्रामन्ति। स चैषामनुविधेयः सूक्ष्मो देहो भूतेन्द्रियमय इति गम्यते। नहीन्द्रियमात्राश्रयत्वमेषां दृष्टं यतस्तन्मात्राश्रयणे गतिरुपपद्येतेति ॥ ३ ॥

श्राविते ऽपि स्पष्टे जीवस्य प्राणैः सह गमनेऽग्न्यादिगतिशङ्का श्रुतिविरोधोत्थापनार्था। अत्र हि लोमकेशयोरोषधिवनस्पतिगमनं दृष्टविरोधाद्भाक्तं तावदभ्युपेयम्। एवं च तन्मध्यपतितत्वेन तेषामपि

भामती—व्याख्या

का निषेध उससे सिद्ध नहीं होता ॥ २ ॥

जीवित देह में यह अनुभव किया गया है कि प्राण तत्त्व शरीर के आश्रित ही रहता है, क्योंकि देह का गमन होने पर प्राणों में अनुगमन होता है। मरण-काल में यह षट्कोश-वाला स्थूल शरीर छूट जाता है, अतः इस शरीर से किसी-न-किसी भौतिक तत्त्व के उत्क्रमण करने पर ही प्राणों में उत्क्रान्ति सम्भव हो सकती है। वह भौतिक तत्त्व सूक्ष्म शरीर है, जो कि महाभूतों और इंद्रियों से घटित है, केवल इन्द्रियों के आश्रित प्राणों की गति लोक में देखी नहीं जाती कि केवल इन्द्रियों के आश्रित प्राणों की परलोक-गति उपपन्न हो जाती ॥ ३ ॥

जब कि "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" (बृह० उ० ४।४।२) इस श्रुति में जीव के साथ प्राणों की गति श्रावित है, तब श्रुत्यन्तर-विरोध गत्यभाव का साधक नहीं हो सकता, अपितु श्रावित गति के संशय या अनध्यवसाय का श्रुत्यन्तर-विरोध साधक है, अतः शङ्का-भाष्य का "नैव प्राणाः सहजीवेन गच्छन्ति, अग्न्यादिगतिश्रुतेः"—ऐसा आकार न होकर यदि 'श्रुतिश्रावितो जीवेन सह प्राणगतिः सन्दिग्धा, अग्न्यादिगतिश्रुतेः'—ऐसा साध्यसाधन-भाव का निर्देश होता, तब अधिक सङ्गत होता, क्योंकि सिद्धान्त में सन्देह का ही निराकरण किया गया है।

सिद्धान्ती ने जो अग्न्यादिगति में भाक्तत्व को हेतु बताया है, उसका साधक है—प्रायपाठ (सह-पाठ) जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"विशये प्रायदर्शनात्" (जै० सू०

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः' ( बृ० ३।२।१३ ) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति संभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते। विस्पष्टं च प्रश्नानां सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्। अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवतानां वागाद्युपकारिणीनां मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन् गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

स्यादेतत् –कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते ? यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' ( छा० ५।४।२ ) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत, परिकल्प्यतां नाम, तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः, प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावापां पुरुषभाव इति चेत्, नैष दोषः, यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः ? उपपत्तेः। एवं

---

भामती

श्रुतिविरोधाद्भाक्तत्वमेवोचितमिति। भक्तिश्चोपकारनिवृत्तिरुक्ता ॥ ४ ॥

पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रथमायामाहुतौ अनपां श्रद्धाया होतव्यताभिधानमसम्बद्धमनुपपन्नञ्च। नहि यथा पश्वादिभ्यो हृदयादयोऽवयवा अवदाय निष्कृष्य हूयन्ते, न एवं श्रद्धा बुद्धिप्रसादलक्षणा निष्कृष्टुं वा होतुं वा शक्यते। न चाप्येवमौत्सर्गिकी कारणानुरूपता कार्यस्य युज्यते।

---

भामती-व्याख्या

२।३।१६ )। "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" (बृह० उ० ३।२।१३) इस श्रुति में पठित रोमों का ओषधि और केशों का वनस्पति में जाना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, अतः यह गति-व्यवहार भाक्त (गौण) है। इसी गौण-पाठ के मध्य में "अग्निं वागप्येति वातं प्राणः" ( बृह० उ० ३।२।१३ ) यह वागादि की अग्न्यादि में गति भी पठित होने से भाक्त है। अन्तर केवल इतना है कि रोमादि की गति में भाक्तत्व का नियामक दृष्ट-विरोध और प्राण की अग्न्यादि-गति में भाक्तत्व का नियामक श्रुति-विरोध है। भाक्तत्व का अर्थ गौणत्व होता है, भाष्यकार ने उपकार-निवृत्ति अर्थ किया है—"उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्नयादीन् गच्छन्ति"। जीवन-काल में अग्न्यादि देवता वागादि के उपकारक होते हैं और मरण-काल में उस उपकार की निवृत्ति हो जाती है ॥ ४ ॥

"प्रथमेऽश्रवणात्"—ऐसा पूर्वपक्ष करनेवाले व्यक्ति का आशय यह है कि "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" ( बृह. उ. ५।३।३ ) इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर देते समय प्रथम आहुति में ही जल का निर्देश करना था, किन्तु जल का निर्देश न करके श्रद्धा का अभिधान करना असम्बद्धाभिधान है। "ता एव ह्युपपत्तेः"—इस प्रकार के सिद्धान्तवादी का आशय यह है कि श्रद्धा अन्तःकरण की एक वृत्ति है, उसको छाग के हृदयादि अवयवों के समान न तो बाहर निकाला जा सकता है और न अग्नि में होम, अतः 'श्रद्धा' शब्द का जल में गौण प्रयोग हो गया है। दूसरी बात यह भी है कि श्रद्धा के कार्यभूत सोमादि हवि द्रव्य जलप्रधान हैं, कार्य सदैव कारण के अनुरूप ही होता है, अतः 'श्रद्धा' शब्द से जल ही


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते। इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्। 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति। श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादि स्थूलीभवदब्बहुलं लक्ष्यते। सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः। कारणानुरूपं हि कार्यं भवति। नच श्रद्धाख्यः प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन् धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनित्यापः एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः। श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात्—'श्रद्धा वा आपः' इति। तनुत्वं श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः। यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति। श्रद्धापूर्वककर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते मञ्चशब्द इव पुरुषेषु। श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः, 'अपो ह्यस्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः॥ ५॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः॥ ६॥

अथापि स्यात्प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, नतु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात्। न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्ययुक्तमिति चेत्—नैष दोषः, कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१०।६) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयाणेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति। तत्रेहापि प्रतीयन्ते 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) इति श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति—'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्टयामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति' (बृ० ६।२।९) इति। तथा चाग्निहोत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते

---

भामती

तस्माद् भक्त्यायमप्सु श्रद्धाशब्दः प्रयुक्त इति। अत एव श्रुतिः ॐ आपो ह्यस्मै इति ॐ॥ ५॥

अस्यार्थः पूर्वमेवोक्तः। अग्निहोत्रे षट्सूत्क्रान्तिगतिप्रतिष्ठातृप्तिपुनरावृत्तिलोकं प्रत्युत्थायित्वग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गेषु प्रश्नाः षट्, तेषां यः समाहारः षण्णां सा षट्प्रश्नी, तस्यां निरूपणं प्रतिवचनम्॥ ६॥

---

भामती—व्याख्या

विवक्षित है। श्रुति ने भी जल के अर्थ में 'श्रद्धा' पद का प्रयोग किया है—"श्रद्धा वा आपः" (तै. ब्रा. ३।२।४।१)॥ ५॥

इस (छठे) सूत्र का अर्थ पहले (प्रथम सूत्र की भामती में) ही किया जा चुका है। "अग्निहोत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण"—इस भाष्य का अर्थ यह है कि वाजसनेयिब्राह्मण (माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण के अग्निहोत्र-प्रकरण में राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न किए हैं—"न त्वेनयोस्त्वमुत्क्रान्ति न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकव्युत्थायिनं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तर-प्राप्तिः प्रदर्शिता। तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोप-भोगायेति श्लिष्यते ॥ ६ ॥

कथं पुनरिष्टमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते ? यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति—'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ( छा० ५।१०।४ ) इति 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति' ( बृ० ६।२।१६ ) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम्। नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणा-नामुपभोगः संभवतीति, अत उत्तरं पठति—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्। मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिका-

भामती

सूत्रान्तरमवतारयितुं शङ्कते ❀कथं पुनः इति❀। सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेति। एवमेतां-स्तत्र भक्षयन्तीति क्रियासमभिहारेणाप्यायनापक्षयौ यथा सोमस्य तथा भक्षयन्ति। सोममयान् लोकानित्य-र्थः। अत उत्तरं पठति ❀भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति❀। कर्मजनितफलोपभोगकर्त्ता ह्यधिकारी न पुनरुभोग्यस्तस्माच्चन्द्रलोक्यमुपगतानां देवादिभक्ष्यत्वे स्वर्गकामो यजेतेति यागभावनायाः कर्त्रपेक्षि-तोपायतारूपविधिश्रुतिविरोधादन्नशब्दो भोक्तृणामेव सतां देवोपजीवितामात्रेण भाक्तो गमयितव्यो न तु

भामती—व्याख्या

वेत्थ" (शत. ११।६।२।४)। अर्थात् हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम सायं-प्रातःकालीन आहुतियों की (१) उत्क्रान्ति, (२) गति, (३) प्रतिष्ठा, (४) तृप्ति, (५)पुनरावृत्ति और (६)उनके साथ व्युत्थान करनेवाले जीव को नहीं जानते ? इन प्रश्नों का स्वयं राजा जनक ने ही उत्तर दिया है—"ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः, ते अन्तरिक्षमाविशतः, ते अन्तरिक्षमेवाहवनीयं कुर्वाते, वायुं समिधं मरीचीरेव ते शुक्रामाहुतिं ते अन्तरिक्षं तर्पयतः, ते तत्रावर्तेते पृथिवीं पुरुषं योषितं··· योषिदग्नेर्यः पुत्रो जायते, स लोकं व्युत्थायी" (शत. ११।६।२।३-१०)। अर्थात् उन आहुतियों से संपरिष्वक्त होकर जीव लोकान्तर में गमन करता है ॥ ६ ॥

सप्तम सूत्र का अवतारण करने के लिए शंका करते हैं—"कथं पुनः"। आशय यह है कि चन्द्रादि लोक में कर्म-जन्य फल का उपभोग करने के लिए गए इष्टापूर्तकारी व्यक्ति देवगणों के अन्न ( भक्ष्य ) बन जाते हैं—"ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति"। देवगण जब उनका भक्षण ही कर जाते हैं, तब वे चन्द्रलोक में अपने कर्म-फलों का उपभोग क्योंकर कर सकेंगे ? "यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति"—इस भाष्य का आशय यह है कि जैसे ऋत्विक्गण सोमयाग में सोम-रस को आहुति देने के पश्चात् शेष सोम-रस का "आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्णियम्" ( तै. सं. ३।२।५ ) ऐसा मन्त्र बोलते हुए भक्षण करते हैं, उसी प्रकार चन्द्रलोक में देवगण इष्टापूर्तकारियों का 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व' [ हे इष्टादिकारियो ! तुम हमें मोटा बनाते हुए हमारे अन्दर अपक्षीण हो ( पच ) जाओ ] ऐसा मन्त्र बोलते हुए भक्षण करते हैं।

उक्त शङ्का का समाधान किया जाता है—"भाक्तं वानात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति"। इष्टादि कर्मों से जनित फल का भोक्ता पुरुष ही अधिकारी ( फल-कामनावान् ) है, वह देवताओं का उपभोग्य कदापि नहीं बन सकता, क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि विधि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते। यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजोपजीविनामिव परिजनानाम्। अनात्मवित्त्वाच्चेष्टादिकारिणां देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथा हि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति। स चास्मिन्नपि लोक इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवदेव देवानामुपकरोतीति गम्यते॥ अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते केवलकर्मिण इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्यामिहात्मविद्येत्युपचरन्ति, प्रकरणात्। पञ्चाग्निविद्याविहीनत्वाच्चेदमिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसायै। पञ्चाग्निविद्या हीह विधि-

भामती

चर्वणनिगरणाभ्यां मुख्य इति। अत्रैवार्थे श्रुत्यन्तरं सङ्गच्छत इत्याह ❀ तथा हि दर्शयति❀ श्रुतिरनात्मविदामनात्मविस्वादेव पशुवद् देवोपभोग्यतां न तु चर्वणीयतया। यथा हि बलीवर्दादयो भुञ्जाना अपि स्वफलं स्वामिनो हलादिवहनेनोपकुर्वाणा भोग्याः, एवं परमतत्त्वमविद्वांस इष्टादिकारिण इह दधिपयःपुरोडाशादिनाऽमुष्मिंश्च लोके परिचारकतया देवानामुपभोग्या इति श्रुत्यर्थः। अथवा 'अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयतीत्यस्यान्या व्याख्या'। आत्मवित् पञ्चाग्निविद्यावित्, न आत्मवित् अनात्मवित्। यो हि पञ्चाग्निविद्यां न वेद तं देवा भक्षयन्तो निन्द्यते पञ्चाग्निविद्यां स्तोतुं तस्या एव प्रकृतत्वात्। तदनेनो-

भामती—व्याख्या

वाक्य जिस स्वर्ग-साधनीभूत याग का विधान करते हैं, उन्हें कर्त्ता पुरुष की ही अपेक्षा है, किसी भोग्य पदार्थ की नहीं, अतः 'अन्न' शब्द आश्रित अर्थ में वैसे ही गौणरूपेण प्रयुक्त है, जैसे राजा के आश्रित नौकर-चाकरों को राजा का भोग्य कह दिया जाता है। कर्म-कर्त्ता पुरुष देवताओं के आश्रित इसलिए है कि उसकी आहुति पाकर देवगण प्रसन्न होकर उसे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं। अन्न जैसे चबा कर खाया जाता है, वैसे राजा के द्वारा न नौकर-चाकर खाए जाते हैं और न देवगणों के द्वारा यजमान कि 'अन्न' शब्द गौण न होकर मुख्यार्थक हो जाता। इसी अर्थ की पुष्टि करने के लिए अन्य श्रुति का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—"तथा हि दर्शयति"। अर्थात् कर्मों में आसक्त पुरुष आत्मवेत्ता न होकर अज्ञानी होता है और अज्ञानी पुरुष पशुओं के समान भोग्य माने जाते हैं, जैसे हल में जुड़े बैल अपना आहार खाते हुए भी किसान का उपकार-साधन करने के कारण किसान के भोग्य माने जाते हैं, वैसे ही परम-तत्त्व को न जाननेवाले इष्टापूर्तकारी व्यक्ति इस लोक में दधि, दुग्ध और पुरोडाशादि की देवताओं को आहुति देकर एवं चन्द्रादि लोकों में उनके परिचारक बन कर देवगणों के उपभोग्य होते हैं। अथवा "अनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति"—इसकी अन्य व्याख्या इस प्रकार है—'आत्मवित्' शब्द से पञ्चाग्नि विद्या का वेत्ता पुरुष विवक्षित है, उससे अन्य पुरुष अनात्मवित् है। जो पञ्चाग्नि-विद्या से अनभिज्ञ है, देवगण उसका भक्षण कर जाते है—इस प्रकार पञ्चाग्नि-विद्या की स्तुति करने के लिए अविद्वान् की निन्दा की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात् । तथा हि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति –'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ( प्र० ५।४ ) इति । तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम् 'अथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते' ( बृ० ४।३।३३ ) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति । एवं भाक्तत्वादन्नभावबचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते । तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ७ ॥

## ( २ कृतात्ययाधिकरणम् । सू० ८–११ )

**कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥**

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां ततः प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' ( छां० ५।१०।५ ) इत्यारभ्य यावत् रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूय-चरणाः श्वादियोनिमिति । तत्रेदं विचार्यते—किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति । किं तावत्प्राप्तम् ? निरनुशया इति, कुतः ? यावत्संपात-

भामती

पचारस्य प्रयोजनमुक्तम् । उपचारनिमित्तमनुपपत्तिमाह ❀ तथा हि दर्शयति ❀ । श्रुतिर्भोक्तृत्वम् । ❀ स सोमलोके विभूतिमनुभूय इति ❀ । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ७ ॥

❀ यावत्सम्पातमुषित्वा इति ❀ । यावदुपबन्धाद्यत्किञ्चेह करोत्ययमिति च यत्किञ्चेहकर्म कृतं

भामती—व्याख्या

गई है, प्रकरण के आधार पर ऐसा ही सिद्ध होता है । 'अन्न' शब्द की गौणता का यह प्रयोजन बताया गया है । मुख्यार्थता की अनुपपत्ति गौणार्थता की साधक होती है, उस अनुपपत्ति का प्रदर्शन है—'तथा हि दर्शयति श्रुतिर्भोक्तृत्वम्—"स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते" ( प्र. ५।४ ) । शेष भाष्य सुगम है ॥ ७ ॥

—: ० :—

**संशय**—स्वर्गोपभोग के अनन्तर स्वर्ग से इस लोक में लौटनेवाला प्राणी निरनुशय ( अनुपभुक्त कर्मों से रहित ) ही आता है ? अथवा अनुशय-सहित ?

**पूर्वपक्ष**—स्वर्ग फल का उपभोग देनेवाले जिन कर्मों को साथ लेकर इष्टापूर्तकारी पुरुष स्वर्ग जाता है, वे सभी कर्म वहीं क्षीण हो जाते है, क्योंकि श्रुति कहती है कि "यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" ( छां. ५।१०।५ ) । स्वर्गोपभोग-प्रद कर्मों को 'सम्पात' शब्द से अभिहित किया गया है, 'उपबन्ध' शब्द का भी वही अर्थ है । यदि कहा जाय कि चन्द्रलोक में स्वर्ग-जनक सम्पूर्ण कर्म-राशि का उपभोग नहीं होता, अपितु कुछ का ही उपभोग होता है, जैसा कि श्रुति कहती है कि "यत्किञ्चेह" , अतः शेष कर्म को साथ लेकर सानुशय ही लौटेगा । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त श्रुति का पूर्ण कलेवर इस प्रकार है—

"प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ।
तस्मात्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे ॥" ( बृह. उ. ४।४।६ )

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिति विशेषणात्। संपातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—संपतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति। यावत्संपातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति च श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थः प्रदर्श्यते। स्यादेतत्—यावदमुष्मिल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदुपभुक्त इति कल्पयिष्यामीति। नैवं कल्पयितुं शक्यते, यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात्। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयिततां दर्शयति। अपि च प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्। प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्तेः। तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्। नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति,

भामती

तस्यान्तं प्राप्येति श्रवणात्। प्रायणस्य चैकप्रघट्टकेन सकलकर्माभिव्यञ्जकत्वात्। न खल्वभिव्यक्तिनिमित्तस्य साधारण्येऽभिव्यक्तिनियमो युक्तः। फलदानाभिमुखीकरणं चाभिव्यक्तिस्तस्मात्समस्तमेव कर्मफलमुपभोजितवत् स्वफलविरोधि च कर्म। तस्माच्छ्रुतेरुपपत्तेश्च निरनुशयानामेव चरणादाचारादवरोहो न कर्मण आचारकर्मणी च श्रुतेः प्रसिद्धभेदे—यथाकारी यथाचारी तथा भवतीति। तथा च रमणीयचरणाः कपूयचरणा इत्याचारमेव योनिनिमित्तमुपदिशति, न तु कर्म। स्तां वा कर्मशीले द्वे अप्यविशेषेणानुशयस्तथापि यद्यप्ययमिष्टापूर्तकारी स्वयं निरनुशयो भुक्तभोगत्वात्तथापि पित्रादिगतानुशयवशात्तद्विपाकान् जात्यायुर्भोगांश्चन्द्रलोकादवरुह्यानुभविष्यति। स्मर्यते ह्यन्यस्य सुकृतदुष्कृताभ्यां मृतस्य तत्सम्बन्धिनस्तत्फलभागिता—'पतत्यर्धशरीरेण यस्य भार्या सुरां पिबेत्' इत्यादि। तथा श्राद्धकर्मणः पितापुत्रादिगामिफलश्रुतिः। तस्माद्यावत् सम्पातमित्युपक्रमानुरोधाद्यत् किञ्चेह करोतीति इति च श्रुत्यन्तरानुसारा-

भामती—व्याख्या

अर्थात् जितनी भी कर्म-राशि इस लोक में इष्टापूर्तकारी ने उपार्जित की है, उसका पूर्णतया अन्त हो जाने पर निरनुशय ही इस लोक में लौटता है। दूसरी बात यह भी है कि इष्टापूर्तकारी का मरण उसके समस्त कर्माशयों का उद्बोधक है, उद्बुद्ध समग्र कर्म-राशि अपना फल दे डालती है। कर्म अपना फल दे डालने पर नष्ट हो जाता है, अतः कर्म को स्वफल-विरोधि (स्वफलं विरोधि नाशकं यस्य, तत्) कहा गया है। फलतः श्रुति और युक्ति के आधार पर यही स्थिर होता है कि अनुशय-रहित जीवों का आगमन इस लोक में होता है, आगमन का नियामक चरण (आचार) ही होता है, अनुशय या कर्म नहीं। आचार और कर्म का भेद श्रुति-प्रसिद्ध है। आगे चल कर नवम सूत्र में कहा जायगा—"यथाकारी यथाचारी तथा भवति" (बृह. उ. ४।४।५)। यहाँ श्रुति ने कर्म और आचार दोनों का पृथक् उल्लेख किया है, अतः दोनों का तात्त्विक भेद निश्चित होता है "तद्य इह रमणीयचरणाः रमणीयां योनिमापद्येरन्" (छां ५।१०।७) यह श्रुति स्पष्टरूप से आचार को ही इस लोक में जन्म-ग्रहण का निमित्त बताती है, कर्म को नहीं।

अथवा कर्म और शील (आचार) ये दोनों समानरूप से अनुशय कहे जा सकते हैं। यद्यपि इष्टापूर्तकारी पुरुष स्वर्ग से खाली हाथ (निरनुशय) ही आता है, तथापि पितृगणों के कर्मों के अनुरूप जाति (जन्म), आयु और भोग का अधिकार प्राप्त कर लेता है। अन्य व्यक्ति के सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल अन्य व्यक्ति को प्राप्त होता है, स्मृतिकारों ने कहा है—"पतत्यर्धशरीरेण यस्य भार्या सुरां पिबेत्"। श्राद्ध कर्म पुत्र करता है, किन्तु उसका फल पितृगणों को मिलता है। इसी प्रकार पितृकर्तृक वैश्वानर इष्टि का फल पुत्र को प्राप्त होता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न ह्यविशिष्टे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते। तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति। येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां यदम्भयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते। सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः। हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम्। ततः कृतात्यये कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति। केन हेतुना? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह। तथा हि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं

भामती

द्रमणीयचरणत्वं सम्बन्धयन्तरगतमिष्टापूर्त्तकारिणि भाक्तं गमयितव्यम्। तथा च निरनुशमानामेव भुक्तभोगानामवरोह इति प्राप्ते, उच्यते—येन कर्मकलापेन फलमुपभोजितं तस्मिन्नतीतेऽपि सानुशया एव चन्द्रमण्डलादवरोहन्ति। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्याम्। प्रत्यक्षदृष्टा श्रुतिर्दृष्टशब्दवाच्या। स्मृतिश्चोपन्यस्ता। अथवा दृष्टशब्देनोच्चावचरूपो भोग उच्यते। अयमभिसन्धिः—कपूयचरणा रमणीयचरणा इत्यवरोहतामेतद्विशेषणम्। न च सति मुख्यार्थसम्भवे सम्बन्धिमात्रेणोपचरितार्थत्वं न्याय्यम्। न चोपक्रमविरोधाच्छ्रुत्यन्तरविरोधाच्च मुख्यार्थासम्भव इति साम्प्रतम्, वत्तफलेष्टापूर्त्तकर्मापेक्षयाऽपि यावत्पदस्य यत्किञ्चेतिपदस्य चोपपत्तेः। नहि यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति यावज्जीवमाहारविहारादिसमयेऽपि होमं

भामती—व्याख्या

है। फलतः "यावत्सम्पातमुषित्वा"—इस श्रुति के अनुरोध पर "यत्किंचेह करोति"—इस श्रुति के अनुसार पित्रादिगत रमणीयचरणत्वादिरूप आचार का इष्टापूर्तकारियों में औपचारिक व्यवहार वैसे ही हो जाता है, जैसे सैनिकों में रहनेवाले जयादि-कर्तृत्व का गौण व्यवहार सेनापति में हो जाता है। इष्टापूर्तकारियों में अपना कोई भी अनुशय (कर्म) शेष नहीं रहता, वे निरनुशय ही इस लोक में आते हैं।

**सिद्धान्त**—"येन कर्मफलापेन"—इस भाष्य का अर्थ यह है कि जिस कर्म-समूह ने स्वर्गरूप फल का उपभोग कराया है, उसका अत्यय (क्षय) हो जाने पर भी चन्द्रमण्डल से लौटनेवाले जीव सानुशय ही आते हैं, क्योंकि दृष्ट (प्रत्यक्ष) और स्मृति प्रमाण के द्वारा वैसा ही सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष-दृष्ट श्रुति का ग्रहण सूत्रकार ने 'दृष्ट' शब्द से किया है। स्मृति-वाक्य का उपन्यास भाष्यकार ने किया है—"वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते"। अथवा 'दृष्ट' शब्द के द्वारा भोग-वैचित्र्य विवक्षित है [आचार्य वसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है—"कर्मजं लोकवैचित्र्यम्" (अभि. को. ४।१)। श्री उदयनाचार्य ने इसी की व्याख्या प्रस्तुत की है—"वैचित्र्यं च समस्य न" (कुसु. १।७)]। सारांश यह है कि "कपूयचरणाः" और 'रमणीयचरणाः' ये दोनों चन्द्रलोक से अवरोह (आगमन) करनेवालों के विशेषण हैं। इनकी मुख्यार्थता सम्भव होने पर गौणार्थता मानना न्यायोचित नहीं। उपक्रम एवं श्रुत्यन्तर-विरोध के आधार पर मुख्यार्थत्व का बाध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इष्टापूर्तकारी के उस कर्मांश का ग्रहण 'सम्पात' पद से किया जा सकता है, जो अपना फल दे चुका है। 'यावत्' और 'यत्किञ्चित्' ये दोनों पद भी उसी का ग्रहण कर उपपन्न हो सकते हैं, क्योंकि 'यावत्' पद कहीं भी समग्रार्थक नहीं होता, जैसे कि "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"—यहाँ जीवन के समस्त आहार-विहारादि के क्षणों में भी होमानुष्ठान नहीं किया जाता और न मध्याह्नादि में किया जाता है, अपितु केवल सायं-प्रातः अपने निश्चित समय पर अग्निहोत्र कर्म किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' ( छां० ५।१०।७ ) इति । चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति । दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासंभवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात् । स्मृतिरपि वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य

भामती

विषत्ते, नापि मध्याह्नादावपि तु सायम्प्रातःकालापेक्षया । सायम्प्रातःकालविधानसामर्थ्यात् कालस्य चानुपादेयतयानङ्गस्यापि निमित्तानुप्रवेशात्तत्रैवमिति चेत् । न । इहापि रमणीयचरणा इत्यादेर्मुख्यार्थत्वानुरोधात्तदुपपत्तेः । तत् किमिदानीमुपसंहारानुरोधेनोपक्रमः सङ्कोचयितव्यः ? नेत्युच्यते । नह्यसावुपसंहारानुरोधेऽप्यसङ्कुचद्वृत्तिरुपपत्तुमर्हति । नहि यावन्तः सम्पाता यावतां वा पुंसां सम्पाताःस्ते सर्वे तत्रेष्टादिकारिणा भोगेन क्षयं नीयन्ते । पुरुषान्नराश्रयाणां कर्माशयानां तद्भोगेन क्षयेऽतिप्रसङ्गात् । चिरोपभुक्तानाञ्च कर्माशयानामसतां चन्द्रमण्डलोपभोगेनापनयनात् । तथा च स्वयं सङ्कुचन्तो यावच्छुतिरुपसंहारानुरोधप्राप्तमपि सङ्कोचनमनुमन्यते । एतेन यत् किञ्चेह करोतीत्यपि व्याख्यातम् । अपि चेष्टापूर्त्तकारीह जन्मनि केवलं न तन्मात्रप्रकार्षीत् । अपि तु गोदोहनेनापः प्रणयन् पशुफलमप्यपूर्वं समवैषोदेवमर्हनिशं च वाङ्मनःशरीरचेष्टाभिः पुण्यापुण्यमिहामुत्रोपभोग्यं सञ्चितवतो न मर्त्यलोकादि-

भामती–व्याख्या

**शङ्का**—"सायं जुहोति", "प्रातर्जुहोति"—इन विधि वाक्यों के बल पर अग्निहोत्र होम का केवल सायं और प्रातःकाल में संकोच किया जाता है। काल पदार्थ पुरुष के द्वारा उपादेय ( निष्पाद्य ) न होने पर भी कर्म का एक निमित्त है, निमित्त भी अपने कर्मादिरूप प्रधान नैमित्तिक पदार्थ का संकोचक हो जाता है किन्तु "यावत् किंचेह कृतम्"—यहाँ पर कर्म का कोई संकोचक उपलब्ध नहीं होता।

**समाधान**—प्रकृत में भी 'रमणीयचरणाः'—इस पद की मुख्यार्थपरता की उपपत्ति के लिए 'यावत्' पद का संकोच किया जा सकता है।

**शङ्का**—उपक्रम के अनुरोध पर उपसंहार का संकोच किया जाता है—यह सामान्य नियम है किन्तु प्रकृत में "यावत्सम्पातम्" ( छां. ५।१०।५ ) यह उपक्रम और "रमणीयचरणाः" ( छां. ५।१०।७ ) यह उपसंहार है, अतः उपसंहार के अनुरोध पर उपक्रम का संकोच क्योंकर होगा ?

**समाधान**—उपसंहार के अनुरोध की उपेक्षा कर देने पर भी प्रकृत में 'यावत्' पद असंकुचित् अर्थ को नहीं कह सकता, क्योंकि जितने भी कर्म हैं अथवा जितने भी पुरुषों के सम्पात ( कर्म ) हैं, उन सभी का उपभोग इष्टापूर्तकारी के द्वारा केवल स्वर्ग में नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्य सभी पुरुषों के आश्रित कर्मों का उपभोग अन्य पुरुष के द्वारा नहीं किया जा सकता, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा, क्योंकि यावत्कर्मों में इष्टापूर्तकारी के चिरोपभुक्त कर्म भी आते है, वे समाप्त हो चुके हैं, तब उनका चन्द्रमण्डल में पुनः उपभोग अनतिप्रसक्त क्योंकर होगा ? अतः 'यावत्' पद स्वयं संकुचित हो जाता है, उसी संकोच का अनुमोदन उपसंहारानुरोध पर हो जाता है। इसी प्रकार "यत्किंचेह करोति"—इस श्रुति का भी यही अर्थ उपपन्न होता है कि जो भी कर्म अपने फल का आरम्भ कर चुका है, ऐसा समस्त प्रारब्ध कर्म ही क्षीण होता है, संचित नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि इष्टापूर्तकारी पुरुष इस जन्म में केवल स्वर्गफलक कर्म ही नहीं करता, अपितु "गोदोहनेन पशुकामस्य" ( आप श्रौ. १।१६।३ ) इत्यादि गुणफलक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति ॥ कः पुनरनुशयो नामेति ?

केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम, भाण्डानुसारिस्नेहवत् । यथा हि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति । ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम् । नायं दोषः, नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे । ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः । बाढम् , तथापि

भामती

भोग्यं चन्द्रलोके भोग्यं भवितुमर्हति । न च स्वफलविरोधिनोऽनुशयस्य ऋते प्रायश्चित्तादात्मज्ञानाद्वाऽवत्तफलस्य ध्वंसः सम्भवति । तस्मात्तेनानुशयेनायमनुशयवान् परावर्त्तत इति श्लिष्टम् । न चैकभविकः कर्माशय इत्यग्रे भाष्यकृद्वक्ष्यति ।

अन्ये तु सकलकर्मक्षये परावृत्तिशङ्का निर्बीजेति मन्यमाना अन्यथाधिकरणं वर्णयाञ्चक्रुरित्याह ❀ केचित्तावदाहुः इति ❀ । अनुशयोऽत्र दत्तफलस्य कर्मणः शेष उच्यते । तत्रेदमिह विचार्यते, किं दत्तफलानामिष्टापूर्त्तकर्मणामवशेषाविहावर्त्तन्ते उत तान्युपभोगेन निरवशेषं क्षपयित्वाऽनुपभुक्तफलकर्मवशाविहावर्त्तन्त इति । तत्रेष्टादीनां भोगेन समूलकाषं कषितत्वान्निरनुशया एवानुपभुक्तकर्मवशादावर्त्तन्त इति प्राप्त उच्यते—❀ सानुशया एवावर्त्तन्तें इति ❀ । कुतः ? दृष्टानुसारात् । यथा भाण्डस्थे मधुनि सर्पिषि वा क्षालितेऽपि भाण्डलेपकं तच्छेषं मधु वा सर्पिर्वा न क्षालयितुं शक्यमिति दृष्टमेवं तदनुसारादेतदपि

भामती—व्याख्या

विधि वचनों के अनुसार गोदोहन पात्र में जल-प्रणयन के द्वारा पशुफलक कर्म का भी संचय करता जाता है। अहर्निश वाचनिक, मानसिक और कायिक कर्मों के द्वारा भी ऐसे पुण्य-पापादि कर्मों का सञ्चय करता है, जिनका केवल स्वर्ग में भोग नहीं हो सकता, अपितु मर्त्यलोक में उनका उपभोग होगा। पापादि कर्मों का नाशक फलोपभोग, प्रायश्चित्त या ब्रह्मज्ञान ही होता है, इनके विना केवल स्वर्ग का उपभोग कर लेने मात्र से सञ्चित कर्मों का ध्वंस ( नाश ) नहीं हो सकता। फलतः संचित कर्मरूप अनुशय से युक्त ही इष्टापूर्तकारी इस लोक में लौटता है—यह निश्चप्रच है। सञ्चित कर्म अनेक जन्मों में उपभोग-योग्य होता है, ऐकभविक ( केवल एक जन्म में उपभोग्य ) नहीं होता, यह स्वयं भाष्यकार कहेंगे।

**एकदेशी का मत**—अन्य आचार्यों का कहना है कि जिसके सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं, उसकी मुक्ति हो जाती है, उसके पुनरावर्तन की शङ्का ही नहीं हो सकती, अतः इस अधिकरण की अन्य रीति से व्याख्या करनी चाहिए, ऐसे व्याख्याताओं के मत का उपन्यास किया जाता है—"केचित्तावदाहुः"। इस मत में 'अनुशय' शब्द का अर्थ है—दत्तफलक कर्म का शेष अंश। यहाँ यह विचार किया जाता है, कि क्या इष्टापूर्तकारी पुरुष अपने इष्टापूर्त कर्मों के शेष अंश का उपभोग करने के लिए इस लोक में आवर्तन करते हैं ? अथवा अपने इष्टापूर्त कर्मों का स्वर्ग में निःशेष भोग करके अनुपभुक्तफलक ( सञ्चित ) कर्मों के बल पर इस लोक में आते हैं ? पूर्व पक्षी का कहना है कि इष्टापूर्तकारी अपने समस्त इष्टापूर्त कर्मों का निःशेष भोग करके अनुशय ( कर्म-शेष ) से रहित होकर ही अनुपभुक्त ( सञ्चित ) कर्मों के बल पर इस लोक में आता है। ऐसे पूर्वपक्ष का निरास किया जाता है—"सानुशया आवर्तन्ते"। अर्थात् यह दृष्टचर है कि किसी पात्र में रखे शहद या घृत को निकाल कर उस पात्र को कितना ही धोया जाय, पात्र में लगा शहद या घृत पूर्णतया निःशेष नहीं होता, कुछ-न-कुछ लगा ही रह जाता है, वैसे ही स्वर्गारम्भक कर्म का उपभोग कर लेने पर भी शेष


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रावस्थातुं न लभ्यते। यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृत्यश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति। एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति। न चैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते, कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। ननु एतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यतीति। तदेतदपेशलम्, स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति। न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते, स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते। नत्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते, नापि कल्पयितुं शक्यते, स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारिस्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत, ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्मजात उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति॥ यदुक्तं—यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्तीति नैतदेवम्, अनुशयसद्भावस्यावश्यमितत्वात्। यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्धभोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते। यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्म-

भामती

प्रतिपत्तव्यम्। न चावशेषमात्राच्चन्द्रमण्डले तिष्ठासन्नपि स्थातुं पारयति। यथा सेवको हास्तिकाश्वीयपदातिव्रातपरिवृतो महाराजं सेवमानः कालवशाच्छत्रपादुकावशेषो न सेवितुमर्हतीति दृष्टं तन्मूला च लौकिकी स्मृतिरिति दृष्टस्मृतिभ्यां सानुशया एवावर्तन्त इति।

तदेतद्दूषयति ❀ न चैतदिति ❀। एवकारे प्रयोक्तव्ये इवकारो गुडजिह्विकया प्रयुक्तः शब्दैकगम्येऽर्थे न सामान्यतोदृष्टानुमानावसर इत्यर्थः। शेषमतिरोहितार्थम्। पूर्वपक्षहेतुमनुभाषते ❀ यदप्युक्तं

भामती—व्याख्या

अंश रह जाता है, उसके कारण स्वर्गलोक में रहने की इच्छा होने पर भी नहीं रह सकता, क्योंकि जैसे कोई महामन्त्री राजा की सेवा में निरत है, सेवा के सभी उपकरण जैसे हाथियों का दल, अश्व-सेना, पदाति (पैदल सेना) छत्र-पादुका आदि सभी कुछ महामन्त्री के अधीन है किन्तु समय के फेर से महत्त्व के सभी हस्ति, अश्वादि समाप्त हो जाते हैं, केवल छाता और जूता शेष रह जाता है। ऐसा साधन-हीन मन्त्री राजा की पूर्णरूपेण सेवा में अपने को अक्षम देख कर राज-भवन से चला जाता है। छाता-जूता लेकर जैसे मन्त्री लौट जाता है, वैसे ही अनुशय (कर्म-शेष) के साथ इष्टापूर्तकारी इस लोक में लौट आता है।

**एकदेशी के मत का खण्डन**—"न चैतद् युक्तमिव"। यहाँ भाष्यकार 'नैव चैतद् युक्तम्'—ऐसा न कह कर जो 'न चैतद् युक्तमिव'—ऐसा कहा है, वह कटु औषध खिलाने से पहले जिह्वा पर गुड़ लगाने-जैसा है। अर्थात् लोक-दृष्ट न्याय या व्याप्ति के आधार पर सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा ऐसी वस्तु की सिद्धि कभी नहीं की जा सकती, जो केवल शब्द प्रमाण की विषय हो। शेष भाष्य सुबोध है।

**पूर्वपक्ष की युक्ति का अनुवाद करते हैं**—"यदप्युक्तं प्रायणम्"। उस पर दोषाभिधान

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णाऽमुष्मिल्लोके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न संभवतीति-तदप्यनुशय-सद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायत इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायणकाले वृत्युद्भवो भवतीति यद्युच्येत, ततो वक्तव्यम्—यथैव तर्हि प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेऽपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासंभवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य दुर्बलस्य वृत्युद्भवानुपपत्तिरिति। न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्यनेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्। नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्यचिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम्, ऐकान्तिकफलत्वविरोधात्। नहि प्रायश्चित्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते। स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—'कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति। मज्जमानस्य संसारे यावद्दुःखाद्विमुच्यते' इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत, ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां

भामती

प्रायणम् इति ॐ। दूषयति—ॐ तदप्यनुशयसद्भाव इति ॐ। रमणीयचरणाः कपूयचरणा इत्यादिकयानुशयप्रतिपादनपरया श्रुत्या विरुद्धमित्यर्थः। ॐ अपि च ॐ इत्यादि। इह जन्मनि हि पर्यायेण सुखदुःखे भुज्यमाने दृश्येते युगपच्चेदेकप्रघट्टकेन प्रायणेन सुखदुःखफलानि कर्माणि व्यञ्ज्येरन्। युगपदेव तत्फलानि भुञ्ज्येरन्। तस्मादुपभोगपर्यायदर्शनाद् बलीयसा दुर्बलस्याभिभवः कल्पनीयः। एवं विरुद्धजातिनिमित्तोपभोगफलेष्वपि कर्मसु द्रष्टव्यम्। न चाभिव्यक्तञ्च कर्मफलं न दत्ते इति च सम्भवति। फलोपजनाभिमुख्यं हि कर्मणामभिव्यक्तिः। अपि च प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वे स्वर्गनरकतिर्यग्योनिगतानां जन्तूनां

भामती—व्याख्या

करते हैं—"तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेन प्रत्युक्तम्"। अर्थात् पूर्वपक्षी का जो कहना था कि इष्टापूर्तकारी का मरण उसके सभी कर्म-बीजों का उद्बोधक होता है, अतः सभी कर्मों का उपभोग हो जाने पर निरनुशय ही परावृत्त होता है, वह कहना उचित नहीं; क्योंकि अनुशय-सद्भाव की प्रतिपादिका "रमणीयचरणाः कपूयचरणाः" इत्यादि श्रुति से विरुद्ध होने के कारण मरण में सर्वकर्मोद्बोधकत्व बाधित हो जाता है। "अपि च केन हेतुना"—इत्यादि भाष्य का आशय यह है कि इस जन्म में सुख-दुःख का उपभोग युगपत् न होकर पर्यायेण होता देखा जाता है, किन्तु मरण के द्वारा कर्म-बीजों की अभिव्यक्ति युगपत् होती है, अतः उनका फलभूत सुख-दुःख का उपभोग भी युगपत् ही होना चाहिए। नहीं होता, इस लिए प्रबल कर्म के द्वारा दुर्बल कर्म के अभिभव की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार विरुद्ध जातिक, विरुद्धनिमित्तक एवं विरुद्धफलक कर्मों में भी वैसी ही कल्पना की जा सकती है। मरण से कर्मों की युगपत् ही अभिव्यक्ति होती है किन्तु अभिव्यक्त होकर भी कोई कर्म फल नहीं देता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अभिव्यक्त कर्म का फल न देना सम्भव ही नहीं। अभिव्यक्ति पदार्थ तो यही है कि कर्म की फल-प्रदानोन्मुखता। फल न देनेवाले कर्म में ऐसी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।

दूसरी बात यह भी है कि मरण यदि सभी कर्मों का अभिव्यञ्जक है, तब स्वर्ग, नरक और तिर्यग् योनियों में गए प्राणियों का फलोपभोग के अनन्तर भी अन्य किसी लोक में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत । नच धर्माधर्मयोः स्वरूप-फलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं संभावयितुम् । नच दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं संभवतीत्यव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना । प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः । स्थूलसूक्ष्म-रूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम् । यथा हि प्रदीपः समानेऽपि संन्निधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम् । एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति, न दुर्बलस्येति । तस्माच्छ्रुति-स्मृतिन्यायविरोधादविलष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्यभ्युपगमः । शेषकर्मसंद्भावेऽनि-र्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्शनादशेषकर्मक्षयश्रुतेः । तस्मात्स्थित-मेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति । ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरोहन्ति । यथेत-मिति यथागतमित्यर्थः । अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः । धूमाकाशयोः पितृयाणेऽभ्व-न्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते । रात्र्याद्यसंकीर्तना-दभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयत ॥ ८ ॥

**चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्णाजिनिः ॥ ९ ॥**

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीयचरणाः' ( छा० ५।१०।७ ) इति, सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति, नानु-शयात् । अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः । चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम् ।

भामती

तस्मिन् जन्मनि कर्मस्वनधिकारान्नापूर्वकर्मोपजनः पूर्वकृतस्य कर्माशयस्य प्रायणाभिव्यक्ततया फलोप-भोगेन प्रक्षयान्नास्ति तेषां कर्माशय इति न ते संसरेयुः । न च मुच्येरन्नात्मज्ञानाभावादिति कष्टाम्बता-विष्ठा वशाम् । किंच स्वसमवेतमेव प्रायणेनाभिव्यज्यतेऽपूर्वं न परसमवेतं येन पित्रादिगतेन कर्मणाऽऽवर्त्ते-रन्निति । शेषं सुगमम् ॥ ८ ॥

अनेन निरनुशया एवावरोहन्तीति पूर्वपक्षबीजं निगूढमुद्घाटय निरस्यति । यद्यपि

'अक्रोधः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च ज्ञानञ्च शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥'

इति स्मृतेः शीलमाचाराऽनुशयाद्भिन्नस्तथाप्यस्यानुशयाङ्गतयाऽनुशयोपलक्षणत्वं काष्णाजिनिराचार्यो

भामती—व्याख्या

संसरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि मरणाभिव्यक्त समस्त संचित कर्मों का तो उन्होंने स्वर्गादि में उपभोग कर लिया और नया कर्म करने का उन यानियों में कोई अधिकार नहीं । वे मुक्त भी नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मज्ञान से वे वंचित हैं । ऐसी परिस्थिति में उनकी त्रिशंकु जैसी कष्टतर अवस्था माननी पड़ेगी । व्यंजकीभूत मरण भी स्वसमवेत ही होगा, पर-समवेत नहीं कि पित्रादिगत कर्मों के द्वारा उनकी आवृत्ति हो जाती । शेष भाष्य सुगम है ॥ ८ ॥

इस सूत्र के द्वारा "निरनुशया एवावरोहन्ति'—इस प्रकार के गूढ पूर्वपक्ष का उद्भावन कर निरास किया जाता है । यद्यपि शील ( आचार ) अनुशय से भिन्न है, जैसा कि स्मृति कहती है—

अक्रोधः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः ॥

तथापि यह शील अनुशय का अङ्ग होने के कारण अपने अङ्गीरूप अनुशय का उपलक्षक है—ऐसा काष्णाजिनि नाम के आचार्य ने माना है । कहते हैं 'रमणीयचरणा कपूयचरणाः'—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' ( बृ० ४।४।५ ) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माक ँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' ( तै० १।११।२ ) इति च। तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरिति चेत्। नैष दोषः, यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैवैषा चरणश्रुतिरिति काष्णाजिनिराचार्यो मन्यते ॥ ९ ॥

## आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

स्यादेतत्- कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याख्यते? ननु शीलस्यैव श्रौतस्य विहितप्रतिषिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति। अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्, नैष दोषः। कुतः? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः। पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति काष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि संभवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पार्यमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

## सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याख्येते इति मन्यते।

---

भामती

मेने। तथा च रमणीयचरणाः कपूयचरणा इत्यनेनानुशयोपलक्षणात्सिद्धं सानुशयानामेवावरोहणमिति ॥ ९ ॥

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इति हि स्मृत्या वेदपदेन वेदार्थमुपलक्षयन्त्या वेदार्थानुष्ठानशेषत्वमाचारस्योक्तं न तु स्वतन्त्र आचारः फलस्य साधनं, तेन वेदार्थानुष्ठानोपकारकतयाऽऽचारस्य नानर्थक्यं क्रत्वर्थस्य। तदनेन समिदादिवदाचारस्य क्रत्वर्थत्वमुक्तं, सम्प्रति स्नानादिवत्पुरुषार्थत्वे पुरुषसंस्कारत्वेऽप्यदोष इत्याह। "पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य" इति। तदेवं चरणशब्देनाचारवाचिना स एवोऽनुशयो लक्षित इत्युक्तम् ॥ १० ॥

---

भामती—व्याख्या

इसके द्वारा उपलक्षित अनुशय से युक्त ही इष्टापूर्तकारी का आवर्तन सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" ( वसिष्ठस्मृ. ६।३ ) यह स्मृति-वाक्य 'वेद' पद के द्वारा वेदार्थ का उपलक्षण करता हुआ आचार में वेदार्थानुष्ठान की अङ्गता ही ध्वनित कर रहा है, आचार स्वतन्त्ररूपेण स्वर्गादि फल का साधन नहीं। इस प्रकार वेदार्थरूप यागादि के अनुष्ठान का अङ्ग होने के कारण आचार का अनुष्ठान अनर्थक नहीं। जैसे समिदादिरूप प्रयाज दर्शपूर्णमास का अङ्ग है, वैसे ही आचार वेदार्थानुष्ठान का।

जैसे "तार्थं स्नाति" ( तै. सं. ६।१।१ ) इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित स्नानादि कर्म पुरुष के अङ्ग हैं, क्रतु के नहीं—ऐसा जै. सू. ३।४।१५ में सिद्ध किया गया है। वैसे ही आचार को भी यदि वेदार्थानुष्ठान का अङ्ग न मान कर पुरुषार्थ माना जाता है, तब भी कोई दोष नहीं—"पुरुषार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्"। निष्कर्ष यही है कि आचार-वाचक 'चरण' शब्द के द्वारा प्रक्रान्त अनुशय ही उपलक्षित है ॥ १० ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथा हि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरतिः प्रयुज्यमानो दृश्यते। यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते—धर्मं चरत्येष महात्मेति। आचारोऽपि च धर्मविशेष एव। भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते। तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माणः, कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः॥ ११॥

---

## ( ३ अनिष्टादिकार्यधिकरणम्। सू० १२-२१ )

### अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्॥ १२॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम्। ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते। तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न। कस्मात्? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम्। यथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' ( कौषी० १।२ ) इति। देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते, पञ्चाग्न्याहुतावित्याहुतिसंख्यानिय-

---

भामती

बादरिस्तु मुख्य एव चरणशब्दः कर्मणीत्याह—सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः। ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायो गोबलीवर्दन्यायः। शेषमतिरोहितार्थम्॥ ११॥

---

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति कौषीतकिनां समाम्नानाद् देहारम्भस्य च चन्द्रलोकगमनमन्तरेणानुपपत्तेः। पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्। तथाहि द्युसोमवृ-

---

भामती—व्याख्या

आचार्य बादरि का कहना है कि 'चरण' शब्द सुकृत-दुष्कृतरूप अनुशय का ही मुख्यरूप से वाचक है। "यथाकारी यथाचारी ( बृह. उ. ४।४।५ ) इत्यादि वाक्यों में जो आचार और कर्म का भेद व्यवहृत है, वह अभेद में भी ब्राह्मणपरिव्राजक-न्याय से हो जाता है। ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय और गोबलीवर्दन्याय समानार्थक हैं, गोबलीवर्द न्याय विगत पृ० ८६३ पर दिखाया जा चुका है॥ ११॥

---

**संशय**—क्या पापी पुरुष भी स्वर्गरूप चन्द्रलोक में जाते हैं अथवा केवल इष्टापूर्त आदि पुण्य कार्य करनेवाले ही चन्द्रलोक में जाते हैं?

**पूर्वपक्ष**—"अनिष्टकारिणामपि च श्रुतम्"। "ये वै चास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" ( कौषी. १।२ ) यह श्रुति सामान्यतः सभी प्राणियों की चन्द्रलोक-प्राप्ति का अभिधान कर रही है। दूसरी बात यह भी है कि चन्द्रलोक में जाए बिना अन्य स्थूल शरीर का आरम्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि "पंचम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" ( छां० ५।३।३ ) इस श्रुति में प्रतिपादित पाँच अग्नियों में द्यु ( स्वर्गलोक ) प्रथम अग्नि है, उसमें सोमरूपेण आहुत हुए बिना रेतोरूप पंचमी आहुति सम्पन्न क्योंकर होगी? "ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति" ( कौषी. १।२ ) यह श्रुति मनुष्यों को ही चंद्रलोक-गमन का अधिकार देती हैं, सब प्राणियों को नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा" ( छां. ५।१०।७ ) इस वाक्य का सामंजस्य मनुष्यों में क्योंकर होगा? मरणोत्तर प्राणियों के गमनागमनार्थ 'देव-यान' और 'पितृयाण'

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्। तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः। इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत्—न, इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ
तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति—सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति। कस्मात्? भोगायैव चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम्। नापि प्रत्यवरोहायैव। यथा कश्चिद्वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव, न निष्प्रयोजनं, नापि पतनायैव। भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्। तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति, नेतरे। ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तद्गतिदर्शनात्। तथा हि यमवचनसरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः

भामती

इत्यन्नरेतःपरिणामक्रमेण ता एवापो योषिदग्नौ हुताः पुरुषवचसो भवन्तीत्यविशेषेण श्रुतम्। न चैतन्मनुष्याभिप्रायं कपूयचरणाः इत्यनिमित्तयमनुष्येऽपि श्रवणात्। गमनागमनाय च देवयानपितृयाणयोरेव मार्गयोराम्नानात् पथ्यन्तरस्याश्रुतेर्जायस्वम्रियस्वेति तृतीयं स्थानमिति च स्थानत्वमात्रेणावगमात् पथित्वेनाप्रतीतेः। चन्द्रलोकादवतीर्णानामपि च तत्स्थानत्वसम्भवादसम्पूरणेन प्रतिवचनोपपत्तेः। अनन्यमार्गतया च तद्भोगविरहिणामपि ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पतीतिवत् संयमनादिषु यमवश्यतायै चन्द्रलोकगमनोपपत्तेः। न कतरेणचनेत्यस्यासंपूरणप्रतिपादनपरतया मार्गद्वयनिषेधपरत्वाभावात्। अनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगमने प्राप्तेऽभिधीयते—सत्यं स्थानत्वयाऽवगतस्य न मार्गत्वं तथापि वेत्थ

भामती—व्याख्या

ये दो ही मार्ग श्रुतियों में प्रतिपादित हैं, तीसरा कोई मार्ग श्रुत नहीं, "जायस्व म्रियस्वेति तृतीयं स्थानम्" ( छां. ५।१०।८ ) इस श्रुति में केवल तीसरे स्थान ( शरीर ) का निर्देश है, मार्गत्वेन नहीं, यह तीसरा स्थान ( शरीर ) तो चंद्रलोक से लौट कर भी प्राणी प्राप्त कर सकते हैं। यह जो प्रश्न किया गया कि "वेत्थ यथासौ लोको न सम्पूर्यते" ( छां. ५।३।३ ) अर्थात् यदि चंद्रलोक में सभी प्राणी आते हैं, तब चंद्रलोक भर क्यों नहीं जाता? इस प्रश्न का यह सीधा प्रतिवचन ( उत्तर ) है कि चंद्रलोक से बहुत-से प्राणी लौट कर 'जायस्व म्रियस्व-वाले निकृष्ट शरीर को प्राप्त हो जाते हैं, अतः चंद्रलोक भरने से बच जाता है। चंद्रलोक में जिनका भोग नहीं, वे वहाँ क्यों जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि उन प्राणियों का वहाँ उपभोग नहीं, तथापि और कोई गति नहीं, अतः वहाँ वे वैसे ही जाते हैं, जैसे किसी ग्राम को जानेवाला व्यक्ति मार्गस्थ वृक्षादि की छाया का उपसेवन करता हुआ जाता है। ठीक इसी प्रकार चंद्रलोक से लौट कर पापी प्राणी यम-लोक में जाकर यम के वशवर्ती विविध यातनाएँ झेलते हैं। फलतः चंद्रलोक में सभी प्राणियों का गमन उपपन्न हो जाता है। "न कतरेण चन" ( छां. ५।१०।८ ) यह श्रुति-वाक्य कथित दो मार्गों के अतिरिक्त एक तृतीय मार्ग की स्थापना नहीं करता, अपितु चंद्रलोक की अपूर्णता का उपपादकमात्र है। फलतः जो इष्टापूर्तकारी प्राणी नहीं हैं, वे सभी एक बार चंद्रलोक में जाते हैं।

सिद्धान्त—"संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्"। [ अर्थात् इष्टापूर्तकारियों से इतर पापी प्राणी चंद्रलोक में न जाकर सीधे संयमन ( यम-सदन ) में जाकर यम-निर्णीत यातनाओं को झेल कर निषिद्धाचरण करनेवालों का गमनागमन होता है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनर्वशमापद्यते मे' ( कठ० २।६ ) इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च ब्रह्मेव यमवश्यतापाप्तिलिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अपि च मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

अपि च सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः । तानिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति । कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

ननु विरुद्धमिदं—यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्तीति । यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति । नेत्याह —

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः । यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथाऽसौ लोको न संपूर्यते' ( छा० ५।३।३ ) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' ( छा० ५।१०।८ ) तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत् । कस्मात् ? प्रकृतत्वात् । विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणयोः पथोः प्रतिपत्तौ प्रकृते । 'तद्य इत्थं विदुः' ( छा० ५।१०।१ ) इति विद्या, तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्थाः प्रकीर्तितः । 'इष्टापूर्तं दत्तम्' ( छा० ५।१०।३ ) इति कर्म, तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्थाः प्रकीर्तितः । तत्प्रक्रियायाम् 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' इति श्रुतम् । एतदुक्तं भवति—येन विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृताः, नापि कर्मणा पितृयाणे, तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति । तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते । स्यादेतत् तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त

भामती

यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत इत्यस्य प्रतिवचनावसरे मार्गद्वयनिषेधपूर्वं तृतीयं स्थानमभिवदन् असम्पूरणाय तत्प्रतिपक्षमाचक्षीत । यदि पुनस्तेनैव मार्गेणागत्य जन्ममरणप्रबन्धवत् स्थानमध्यासीत नैतत्तृतीयं स्थानं भवेत् । नहीष्टादिकारिणश्चन्द्रमण्डलादवरुह्य रमणीयां निन्दितां वा योनिं प्रतिपद्यमानास्तृतीयं स्थानं प्रतिपद्यन्ते तत् कस्य हेतोः पितृयाणेन पथाऽवरोहात् । तद्यदि क्षुद्रजन्तवोऽप्यनेनैव पथाऽवरोहेयुः,

भामती-व्याख्या

क्योंकि "पुनःपुनर्वशमापद्यते नः" ( कठो० २।६ ) इत्यादि श्रुतियों में उनको यमाधीनता प्रतिपादित है ]। पापकारियों के ही तृतीय मार्ग का प्रतिपादन "जायस्व म्रियस्व"—इत्यादि वाक्य के द्वारा किया गया है। यह सत्य है कि स्थानत्वेन अवगत पदार्थ 'मार्ग' नहीं हो सकता। तथापि "वेत्थ यथाऽसौ मार्गो न सम्पूर्यते" इस प्रश्न का प्रतिवचन ( उत्तर ) देते समय देव-यान और पितृयाण—इन दोनों मार्गों का निषेध करके तृतीय स्थान का कथन इसी लिए किया गया है कि पापी प्राणी इसी स्थान में रुक कर जन्म-मरण-परम्परा में पड़े रहते हैं, अतः चंद्रलोक भरने नहीं पाता। यदि चन्द्रलोक से लौटकर उस स्थान में आते, तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति। तदपि नास्ति, आरोहानर्थक्यात्। अपि च सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथा हि प्रतिवचनं दातव्यं यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्-न, अश्रुतत्वात्। सत्यमवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते, श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति, तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम्, अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते। ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तम्—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुताविति आहुतिसंख्यानियमादिति, तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः? तथोपलब्धेः। तथा ह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते—'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) इति। अपि च 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेना-

---

भामती

नैतदेषां जन्ममरणप्रबन्धवत् तृतीयं स्थानं भवेत्। ततोऽवगच्छामः संयमनं सप्त च यातनाभूमीर्यमवशतया प्रतिपद्यमाना अनिष्टादिकारिणो न चन्द्रमण्डलादवरोहन्तीति। तस्माद्ये वै के चेतीष्टादिकारिविषयं न सर्वविषयम्। पञ्चम्यामाहुताविति च स्वार्थविधानपरं न पुनरपञ्चम्याहुतिप्रतिषेधपरमपि, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। संयमने त्वनुभूयेति सूत्रेणावरोहापादानतया संयमनस्योपादानाच्चन्द्रमण्डलापादाननिषेध आक्षिप्तः। तथा च सिद्धान्तसूत्रमेव। पूर्वपक्षसूत्रत्वे तु शङ्कान्तराध्याहारेण कथञ्चिद् गमयितव्यम्।

---

भामती—व्याख्या

सभी लौटनेवालों का वह स्थान तृतीय नहीं होता, क्योंकि चन्द्रलोक से आनेवालों में इष्टापूर्तकारी भी हो सकते हैं, वे उस स्थान में नहीं जाते, अपितु मानवी रमणीयारमणीय योनियों में ही वे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वे पितृयाण के द्वारा आते हैं। यदि क्षुद्र जन्तु भी उसी मार्ग से आते, तब उनको भी जायस्व-म्रियस्ववाले तृतीय स्थान की प्राप्ति नहीं होती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रौरवादि सात नारकीय भूमियों में उत्पन्न यम के वशवर्ती पापिष्ठ प्राणी चन्द्रलोक जाते ही नहीं, अतः उनका वहाँ से अवरोहण क्योंकर होगा? अतः "ये वै के च"—यह वाक्य इष्टापूर्तकारियों के लिए ही है, सब प्राणियों के लिए नहीं। 'पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छां. ५।३।३) यह श्रुति भी केवल इष्टापूर्तकारियों के लिए ही पंचम आहुति का विधान मात्र कर रही है, अपञ्चम आहुति में पुरुषवचस्त्व का निषेध नहीं करती, अन्यथा अनेकार्थ-विधान-प्रयुक्त वाक्य-भेद प्रसक्त होगा।

"संयमने त्वनुभूय" (ब्र. सू. ३।१।१३) यह सूत्र अवरोह (अवतरण) के अपादानभूत संयमन (यम-सदन) का निर्देश कर रहा है, अतः चन्द्रमण्डलरूप अपादान का निषेध उपपन्न हो जाता है, इस प्रकार यह सूत्र सिद्धान्त-सूत्र ही है, पूर्वपक्ष-सूत्र नहीं, जैसा श्री भास्कराचार्य ने माना है—"तत्र दुःखमनुभूय चन्द्रमण्डलमारुह्यावरोहन्तीति" (भास्कर. पृ. १५६)। पूर्वपक्ष-सूत्र मान कर "ननु सुकृतिनां दुष्कृतकर्मभिः समानफलत्वमयुक्तम्" (भास्कर. पृ. १५६) इस प्रकार की शंका का अध्याहार करके जैसे-तैसे समन्वय किया गया है। 'जीवजम्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुतिसंख्या संकीर्त्यते, न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात्। अपि च पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते, नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते, वाक्यस्य द्वयर्थतादोषात्। तत्र येषामारोहावरोहौ सम्भवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपि च स्मर्यते लोके—द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथा च तत्राहुतिसंख्यानियमानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतःसेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अपि च चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति। एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥ २० ॥

ननु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते, कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति ? अत्रोच्यते—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः, उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्। स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥ २१ ॥

( ४ साभाव्यापत्त्यधिकरणम्। सू० २२ )

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वा ततः सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम्। अथावरोहप्रकारः परीक्ष्यते। तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति—'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५।१०।५) इति। तत्र संशयः—किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किं वाकाशादिसाम्य-

---

भामती

जीवजं जरायुजम्। संशोकजं संस्वेदजम् ॥ १२-२१ ॥

---

भामती—व्याख्या

शब्द का अर्थ 'जरायुजम्' तथा 'संशोकजम्' का अर्थ 'स्वेदजम्' है ॥ १२-२१ ॥

—:०:—

सन्देह—स्वर्ग से लौटनेवाले जीवों के लिए श्रुति कहती है—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद् वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वा अभ्रं भवति" (छां. ५।१०।५)। यहाँ सन्देह होता है कि क्या जीव आकाशादि का स्वरूप होते हुए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिति। तत्र प्राप्तं तावत्—आकाशादिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः? एवं हि श्रुतिर्भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तथा च 'वायुर्भूत्वा धूमो भवति' इत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाक्षरयेन्नाचकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति, ततो वायोर्वशमेति, ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति। तदेतदुच्यते—'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना। कुत एतत्? उपपत्तेः। एवं ह्येतदुपपद्यते। न ह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपप-

भामती

यद्यपि यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुमित्यतो न तादात्म्यं स्फुटमवगम्यते तथापि वायुर्भूत्वेत्यादेः स्फुटतरं तादात्म्यावगमाद् यथेतमाकाशमित्येतदपि तादात्म्य एवावतिष्ठते। न चान्यस्यान्यभावानुपपत्तिः। मनुष्यशरीरस्य नन्दिकेश्वरस्य देवदेहरूपपरिणामस्मरणाद् देवदेहस्य च नहुषस्य तिर्यक्त्वस्मरणात्। तस्मान्मुख्यार्थपरित्यागेन न गौणी वृत्तिराश्रयणीया। गौण्यां च वृत्तौ लक्षणाशब्दः प्रयुक्तो गुणे लक्षणायाः सम्भवात्। यथाहुः—लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः ❀ साभाव्यापत्तिः ❀। समानो भावो रूपं येषां ते सभावास्तेषां भावः साभाव्यं सारूप्यं सादृश्यमिति यावत्। कुतः? उपपत्तेः। एतदेव व्यतिरेकमुखेन व्याचष्टे ❀ न ह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते ❀। युक्तमेतद्यद् देवशरीरमजगरभावेन परिणमते देवदेहसमयेऽजगरशरीरस्याभावात्। यदि तु देवाजगरशरीरे समसमये स्यातां न देवशरीरमजगरशरीरं शिल्पिशतेनापि क्रियते। नहि दधिपयसी समसमये परस्परात्मनी शक्ये सम्पादयितुं, तथेहापि सूक्ष्मशरीराकाशयोर्युगपद्भावान्न परस्परात्मत्वं

भामती—व्याख्या

अवरोहण करते हैं? अथवा आकाशादि के समान होकर?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि "यथेतमाकाशमाकाशाद् वायुम्"—इस वाक्य के द्वारा जीव की आकाशादिरूपता (आकाशादि से तादात्म्यापत्ति) स्पष्ट प्रतीत नहीं होती, तथापि "वायुर्भूत्वा"—इत्यादि वाक्य से स्फुटतर तादात्म्य अवगत होता है, अतः आकाशादि का भी तादात्म्य सिद्ध होता है। अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ की तादात्म्यापत्ति क्योंकर उपपन्न होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्मृतिकारों ने मनुष्यशरीरधारी नन्दिकेश्वर की देवशरीरापत्ति और देवशरीरधारी नहुष की अगस्त्य के शाप से अजगररूपता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार 'वायुर्भूत्वा'—इत्यादि शब्दों की मुख्यार्थता उपपन्न हो जाती है, अन्यथा वायु आदि शब्दों की गौणी वृत्ति वायु-साम्य में माननी पड़ेगी, गौणी वृत्ति का अर्थ गुण में लक्षणा करना है—"लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता" (तं. वा. पृ. ३५४)।

**सिद्धान्त**—"साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः"। 'समानो भावो रूपं येषां ते सभावाः, तेषां भावः साभाव्यं' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'साभाव्य' शब्द का अर्थ होता है—सारूप्य या सादृश्य। जीवों में आकाशादि का सादृश्य ही मानना चाहिए, क्योंकि प्रकृत में उसी की उपपत्ति होती है। व्यतिरेकमुखेन उपपत्ति की ही व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है—"न ह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते"। देवशरीरधारी नहुष का अजगररूप में परिणत होना उचित ही है, क्योंकि देव-शरीर के समय अजगर का अभाव था। यदि देव और अजगर के दोनों शरीर एकसाथ होते, तब देव-शरीर को सहस्रों शिल्पी मिल कर भी अजगर-शरीर नहीं बना सकते थे, क्योंकि समान समय में होनेवाले दधि और दुग्ध परस्पर एक-दूसरे का स्वरूप नहीं होते, वैसे ही प्रकृत में जीवों के सूक्ष्म शरीर और आकाश दोनों समसामयिक हैं, अतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घते। आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते। विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसंबद्धत्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्सम्बन्धो घटते। श्रुत्यसंभवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते ॥२२॥

---

## ( ५ नातिचिराधिकरणम्। सू० २३)

## नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग् व्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशयः—किं दीर्घं दीर्घं कालं पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्यं गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति। तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादिति। एवं प्राप्ते इदमाह—नातिचिरेणेति। अल्पमल्पं कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभिः सहेमां भुवमापतन्ति। कुत एतत्? विशेषदर्शनात्। तथा हि व्रीह्यादिभावापत्तेरनन्तरं विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) इति। तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः। दुर्निष्प्रपततरं दुर्निष्क्रमतरं दुःखतरमस्माद् व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्यर्थः। तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति। सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः। तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासंभवात्। तस्माद् व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥ २३ ॥

---

भामती

भवितुमर्हति। एवं वाय्वादिष्वपि योज्यं, तथा च तद्भावस्तत्सादृश्येनौपचारिको व्याख्येयः। नन्वाकाशभावेन संयोगमात्रं लक्ष्यतां किं सादृश्येनेत्यत आह ❀ विभुत्वाच्चाकाशेन इति ❀ ॥ २२ ॥

---

दुर्निष्प्रपतरमिति दुःखेन निःसरणं ब्रूते न तु विलम्बेनेति मन्यते पूर्वपक्षी। विना स्थूलशरीरं न सूक्ष्मशरीरं दुःखभागीति दुर्निष्प्रपतरं विलम्बं लक्षयतीति सिद्धान्तः ॥ २३ ॥

---

भामती—व्याख्या

वे परस्पर एक-दूसरे का स्वरूप कभी नहीं हो सकते। इसी प्रकार वायु आदि की भी योजना की जा सकती है, फलतः आकाशादि की स्वरूपता का उपचार आकाशादि की सदृशता में करना चाहिए। आकाशभाव के द्वारा आकाश के संयोगमात्र में लक्षणा नहीं की जा सकती, यह कहा जा रहा है—"विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बन्धत्वात्" ॥ २२ ॥

—:०:—

**सन्देह**—यह जो कहा गया कि जीव आकाश की सदृशता से निकल कर वायु की सदृशता प्राप्त करता है। वहाँ सन्देह होता है कि एक पदार्थ की सदृशता से निकलने में बहुत समय लगता है? अथवा स्वल्प?

**सिद्धान्त**—"नातिचिरेण"। "अतो वै दुर्निष्प्रपतरम्" ( छां. ५।१०।६ ) इस श्रुति में 'दुर्निष्प्रपतरम्' शब्द का अर्थ पूर्वपक्षी ने दुःखेन निःसरण समझा था, विलम्ब नहीं, किन्तु सिद्धान्ती ने कहा कि स्थूल शरीर के विना सूक्ष्म शरीर दुःखोपभोग नहीं करता, अतः 'दुर्निष्प्रपतरम्' विलम्ब का लक्षक है ॥ २३ ॥

—:०:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ६ अन्याधिष्ठिताधिकरणम् । सू० २४-२७ )

### अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' ( छा० ५।१०।६ ) इति । तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति । किं तावत्प्राप्तम् ? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति । कुत एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः । पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः । तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, पश्वादिजन्मवत् । यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति । एवं व्रीह्यादिजन्मापीति ।

भामती

आकाशसारूप्यं वायुधूमादिसम्पर्कोऽनुशयिनामुक्तः, इहेदानीं व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्त इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमनुशयिनां भोगाधिष्ठानं व्रीहियवादयः स्थावरा भवन्ति, आहोस्वित् क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेष्वेषु संसर्गमात्रमनुभवन्तीति । तत्र मनुष्यो जायते, देवो जायत इत्यादौ प्रयोगे जनेः शरीरपरिग्रहे प्रसिद्धत्वादत्रापि व्रीह्यादिशरीरपरिग्रह एव जनिर्मुख्यार्थ इति व्रीह्यादिशरीरा एवानुशयिन इति युक्तम् । न च रमणीयचरणाः कपूयचरणा इतिवत् कर्मविशेषासङ्कीर्तनात्तदभावे व्रीह्यादीनां शरीरभावाभावात् क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितानामेव तत्सम्पर्कमात्रमिति साम्प्रतम् । इष्टादिकारिणामिष्टादिकर्मसंकीर्तनादिष्टादेश्च हिंसादोषदूषितत्वेन सावद्यफलतया चन्द्रलोकभोगानन्तरं स्थावरशरीरभोग्यदुःखफलत्वस्याप्युपपत्तेः । न च न 'हिंसात्सर्वा भूतानि' इति हिंसासामान्यशास्त्रस्याग्नीषोमीयपशुहिंसाविषयविशेषशास्त्रेण बाधनं, सामान्यशास्त्रस्य हिंसासामान्यद्वारेण विशेषोपसर्पणं विलम्बेनेति साक्षाद्विशेषस्पृशः

भामती—व्याख्या

**संशय**—यह पहले कहा गया कि चन्द्रलोक से लौट कर इष्टापूर्तकारी आकाशादि का सादृश्य एवं वायु, धूम आदि का सम्पर्क पाकर व्रीहि यव आदि के रूपों में जन्म लेते हैं—"ते इह व्रीहिर्वा ओषधिवनस्पतयः तिलमाषा इति जायन्ते" ( छां. ५।१०।६ ) । यहाँ सन्देह होता है कि क्या अनुशय-युक्त जीव अपने भोगाधिष्ठान के रूप में व्रीहि, यवादि स्थावर योनि में जन्म लेते हैं ? अथवा अन्य जीवों के भोग्यभूत व्रीहि से संसर्गमात्र होता है ?

**पूर्वपक्ष**—'मनुष्यो जायते', 'देवो जायते'—इत्यादि प्रयोगों में शरीर-परिग्रहरूप जन्म धारण करना ही 'जनि' धातु का अर्थ प्रसिद्ध है । उसके अनुसार यही सिद्ध होता है कि अनुशयी व्यक्ति व्रीहि आदि का शरीर धारण करते हैं ।

**शङ्का**—"रमणीयचरणा रमणीयां योनिं, कपूयचरणाः कपूयां योनिम्"—इस प्रकार कर्म-निर्देशपूर्वक जन्म का उल्लेख नहीं, कर्मों के विना व्रीहि आदि में जन्म लेना सम्भव नहीं, अतः अन्य जीवों द्वारा अधिष्ठित व्रीहि आदि के साथ सम्पर्क मात्र ही 'जायन्ते' पद से विवक्षित है ।

**समाधान**—इष्टापूर्तकारी पुरुषों के यागादि कर्मों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, ज्योतिष्टोमादि कर्मों में अङ्गरूपेण अग्नीषोमीयादि पशुओं की हिंसा की जाती है, हिंसा-जनित पाप के योग से स्थावरयोनि में जन्म लेना इष्टापूर्तकारियों के लिए उचित ही है ।

**शङ्का**—"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" (भारत. वन.२१२।३४।२०) यह निषेधशास्त्र केवल सामान्य शास्त्र है और "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" ( तै. सं. ६।१।११।६)—यह विधि शास्त्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते,

भामती

शास्त्रात् शीघ्रतरप्रवृत्ताद् दुर्बलत्वादिति साम्प्रतम् । नहि बलवदित्येव दुर्बलं बाधते, किन्तु सति विरोधे । न चेहास्ति विरोधः, भिन्नगोचरचारित्वात् । अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति हि क्रतुप्रकरणे समाम्नातं क्रत्वर्थतामस्य गमयति न त्वपनयति निषेधापादितामस्य पुरुषं प्रत्यनर्थहेतुताम् । तेनास्तु निषेधादस्य पुरुषं प्रत्यनर्थहेतुता विधेश्च क्रत्वर्थता को विरोधः ? यथाहुः—

यो नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत् ।
न क्रतोस्तत्र वैगुण्यं यथा चोदितसिद्धितः ॥ इति ।

तस्माज्जनेर्मुख्यार्थत्वाद् व्रीह्याविशरीरा अनुशयिनो जायन्त इति प्राप्तेऽभिधीयते—भवेदेतदेवं यदि रमणीयचरणाः कपूयचरणा इतिवद् व्रीह्यादिष्वनुशयवतां कर्मविशेषः कीर्त्येत । न चैतदस्ति । न चेष्टादेः कर्मणः स्थावरशरीरोपभोग्यदुःखफलप्रसवहेतुभावः सम्भवति, तस्य धर्मत्वेन सुखैकहेतुत्वात् । न च तद्गतायाः पशुहिंसाया न हिंस्यादिति निषेधात् क्रत्वर्थाया अपि दुःखफलत्वसम्भवः । पुरुषार्थाया

भामती—व्याख्या

विशेष शास्त्र है । विशेष शास्त्र सामान्य शास्त्र का बाधक होता है, क्योंकि सामान्यतः समस्त प्राणियों की हिंसा का निषेधक शास्त्र क्रमशः एक-एक प्राणी को हिंसा का निषेध करते-करते जब तक पशु-हिंसा का निषेध करने पहुँचेगा, तब तक "आग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—यह विशेष शास्त्र पशु-हिंसा का विधान शीघ्र ही कर डालेगा ।

**समाधान**—कोई बलवान् शास्त्र अपने से निर्बल शास्त्र का तभी बाधक होता है, जब कि वह उससे विरुद्ध हो जाय, किन्तु प्रकृत में दोनों शास्त्रों का कोई विरोध ही नहीं है, क्योंकि दोनों का क्षेत्र और विषय भिन्न-भिन्न हैं—अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—यह शास्त्र क्रतु ( ज्योतिष्टोम याग ) के प्रकरण में पठित है, जो कि पशु-हिंसा में याग की अङ्गता का ही गमक है, निषेध शास्त्र के द्वारा आपादित पशु हिंसा में पुरुष के प्रति पाप-जनकता का निवारक नहीं, फलतः पशु-हिंसा में निषेध शास्त्र के द्वारा गमित पाप-जनकता और विधि शास्त्र के द्वारा बोधित याग-साधनता—इन दोनों धर्मों का कोई विरोध नहीं, जैसा कि श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—

यो नाम क्रतुमध्यस्थः कलञ्जादीनि भक्षयेत् ।
न क्रतोस्तत्र वैगुण्यं यथा चोदितसिद्धितः ॥ ( तं. वा. पृ. ९१२ )

[ अर्थात् जो व्यक्ति यागानुष्ठान में कलञ्जादि निषिद्ध पदार्थों का सेवन करता है, उससे याग में किसी प्रकार की विगुणता (सदोषता) नहीं आती, क्योंकि यागानुष्ठान की सिद्धि उसकी विधि के अनुसरण पर निर्भर है विधि-परिवार में कलञ्जादि के भक्षण का निषेध प्रविष्ट नहीं । स्वतन्त्ररूप से पुरुष के लिए निषिद्ध है, अतः निषिद्धाचरण से पुरुष प्रत्यवायी होगा, याग विगुण नहीं होगा] । "त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयः तिलमाषा इति जायन्ते" ( छां. ५।१०।६ ) यहाँ पर 'जनि' धातु मुख्यार्थक होने के कारण अनुशयी व्यक्तियों का व्रीहि, यवादि के रूप में जन्म लेना सिद्ध करती है ।

**सिद्धान्त**—अनुशयी व्यक्तियों की व्रीहि आदि रूपों में तब उत्पत्ति हो सकती थी, जब कि "रमणीयचरणाः कपूयचरणाः" के समान व्रीहि आदि स्थावर योनियों में जन्म लेने के निमित्तभूत काई कर्म संकीर्तित होता, किन्तु वैसा कोई कर्म चर्चित नहीं । इष्टापूर्तादि शुक्ल कर्मों में स्थावरशरीरोपभोग्य दुःखों की जनकता सम्भव नहीं, क्योंकि वे धर्मरूप होने के कारण केवल सुख के ही जनक होते हैं । इस तथ्य का भी स्पष्टीकरण किया जा चुका

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत् । यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम् । एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम् । कुत एतत् ? तद्वदेवेहाप्यभिलाषात्, कोऽभिलाषस्य तद्भावः ? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम् । यथाकाशादिषु-प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि, तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम् । यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति, परामृशति तत्र कर्मव्यापारम्-रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च । अपि च मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्डयमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः । यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम् । तत्र व्रीह्यादिभावाद्येतः सिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलष्येत । अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति । एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिक्षेपादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य । नच वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे । भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम्, चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे ॥ २४ ॥

## अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनाऽनर्थिकेति, तत्परिह्रियते । न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य । अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव

भामती

एव न हिंस्यादिति प्रतिषेधात् । तथाहि—न हिंस्यादिति निषेधस्य निषेध्याधीननिरूपणतया यदर्थं निषेध्यं तदर्थ एव निषेधो विज्ञायते । न चैतन्नानृतं वदेन्न तो पशो करोतीतिवत् कस्यचित्प्रकरणे समाम्नातं येनानृतवदनवदस्य निषेध्यस्य क्रत्वर्थत्वे निषेधोऽपि क्रत्वर्थः स्यात् । पशौ निषिद्धयोराज्यभागयोः क्रत्वर्थत्वेन निषेधस्यापि क्रत्वर्थत्वं भवेत् । एवं हि सत्याज्यभागरहितैरप्यङ्गान्तरैराज्यभागसाध्यः क्रतूपकारो विज्ञायते । तस्मादनारभ्याधीतेन न हिंस्यादित्यनेनाभिहितस्य विष्णुपहितस्य पुरुषव्यापारस्य विधिविभक्तिविरोधाद् दुःखात्मकप्रकृत्यर्थहिंसाकर्मभाव्यत्वपरित्यागेन पुरुषार्थ एव भाव्योऽवतिष्ठते,

भामती—व्याख्या

है कि ज्योतिष्टोमादि कर्मों की अङ्गभूत पशु-हिंसा दुःखफलक नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ "न हिंस्यात्"—यह निषेध-शास्त्र वहाँ के विधि शास्त्र से बाधित होकर प्रवृत्त ही नहीं होता, फलतः पुरुष अपने स्वतन्त्र उपभोग के लिए जो हिंसा करना चाहता है, उसी का निषेध किया जाता है, क्योंकि "न हिंस्यात्"—यह निषेध शास्त्र अपने निरूपण (अर्थबोध में हिंसारूप निषेध्य पदार्थ की अपेक्षा करता है, निषेध्य पदार्थ (हिंसा) यदर्थक (जिसके लिए) है, निषेध भी तदर्थक ही माना जाता है। जैसे "नानृतं वदेत्" (तै. सं. २।५।५।६) यह वाक्य दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है, अतः अनृत-वदन का निषेध दर्शपूर्णमास का अङ्ग माना जाता है एवं "न तो पशो करोति" ['आज्यभाग' नामक दोनों कर्म पशुयाग में न करे] इस वाक्य के द्वारा आज्यभाग कर्मों का निषेध पशुयाग का अङ्ग माना जाता है। वैसे ही "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—यह निषेध शास्त्र किसी कर्म के प्रकरण में पठित नहीं कि उसका अङ्ग 'हिंसा-निषेध' हो जाता। जैसे पशुयाग में आज्यभाग नामक कर्मों का निषेध होने से आज्यभाग के द्वारा साध्य उपकार अन्य अङ्गों के द्वारा निष्पाद्य माना जाता है। वैसे पुरुष के उद्देश्य से जो हिंसा का निषेध किया गया, अतः हिंसागत भाव्यता-परित्याग के द्वारा पुरुष का अङ्गभूत कल्याणात्मक उपकार सिद्ध किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञाने कारणम्। अतोऽन्द्रियत्वात्तयोः, अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च। यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति। तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः, स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्? ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्, उत्सर्गस्तु सः। अपवादः-'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (तै.सं. ६।१।११।६) इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं कर्म वैदिकं, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। नच श्वादिजन्मवदपि व्रीह्यादिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते, नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति। अतश्चन्द्रमण्डलस्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते ॥ २५ ॥

भामती

आख्यातानभिहितस्यापि पुरुषस्य कर्तृव्यापाराभिधानद्वारेणोपस्थापितत्वात्। केवलं तस्य रागतः प्राप्तत्वात्तदनुवादेन नञर्थं विधिरुपसंक्रामति, तेन पुरुषार्थो निषेध्य इति तदधीननिरूपणो निषेधोऽपि पुरुषार्थो भवति। तथा चायमर्थः सम्पद्यते यत् पुरुषार्थं हननं तन्न कुर्यादिति। क्रत्वर्थस्यापि च निषेधे हिंसायाः क्रतूपकारकत्वमपि कल्प्येत। न च दृष्टे पुरुषोपकारकत्वे प्रत्यर्थिनि सति तत्कल्पनास्पदम्। न च स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्ये असति संयोगपृथक्त्वे खादिरतादिवदेकत्र सम्भवतः। तस्मात्पुरुषार्थप्रतिषेधो न क्रत्वर्थत्वमप्यास्कन्दतीति शुद्धसुखफलत्वमेवेष्टादीनां न स्थावरशरीरोपभोग्यदुःखफलत्वमपीति। आकाशादिष्विव कर्मव्यापारमन्तरेणाभिलापात् अनुशयिनां व्रीह्यादिसंयोगमात्रं, न तु तद्देहत्वमिति। अयमेवार्थ

भामती-व्याख्या

यद्यपि मीमांसकगण आख्यात के द्वारा कर्त्ता का अभिधान न मान कर भावना का ही अभिधान मानते हैं तथापि भावना कर्त्ता का व्यापार है, अतः व्यापार के द्वारा उपस्थापित होने के कारण विधेय और निषेध्य पदार्थों का सम्बन्ध कर्त्ता के साथ हो जाता है। कर्त्ता केवल अपने राग-द्वेष के द्वारा जिस हिंसा कर्म में प्रवृत्त होता है, उसका अनुवाद करके निषेध शास्त्र निषेध करता है। 'हिंसा' निषेध्य और नञर्थ निषेध है। नञर्थ से जुड़ कर विधि शक्ति पुरुष का हित ध्वनित करती है। यद्यपि क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ उभय-विध हिंसा का अनुवाद करके निषेध किया जा सकता था जो कि क्रतु का भी उपकारक हो सकता था। तथापि पुरुष का उपकार दृष्टार्थक है, अतः अदृष्टार्थक क्रतूपकार की कल्पना नहीं की जा सकती। उभय-विध हिंसा का निषेध करने पर वाक्य-भेद प्रसक्त होता है, क्योंकि क्रत्वर्थरूप हिंसा का निषेध मानने पर पारतन्त्र्य और पुरुषार्थरूप हिंसा का निषेध करने पर स्वातन्त्र्य मानना होगा। इस प्रकार एक वाक्य के द्वारा उभयी हिंसा का निषेध मानने पर विरुद्धधर्मता-प्रसंजनरूप वाक्य-भेद प्राप्त होता है। जैसे "खादिरे वध्नाति", "पालाशे वध्नाति" "रोहितके वध्नाति"-- इत्यादि भिन्न-भिन्न संयोगों ( वाक्यों ) के द्वारा एक ही यूप में खादिरतादि अनेक धर्मों का विधान हो जाता है, वैसे ही 'पारतन्त्र्य' और 'स्वातन्त्र्य' इन दोनों धर्मों के प्रापक दो वाक्य नहीं, अतः दोनों का एक वाक्य से विधान सम्भव नहीं। परिशेषतः पुरुषार्थरूप हिंसा-निषेध क्रत्वर्थरूप हिंसा को अपने परिवेश में नहीं समेट सकता, अतः इष्टापूर्त आदि कर्म शुद्ध सुख के ही जनक होते हैं। स्थावरादि शरीरों में उपभोग्य दुःखों के साधक कभी नहीं हो सकते। आकाशादि की समता के समान ही इष्टापूर्तकारी अनुशयी का व्रीहि, यवादि के साथ केवल संयोग होता है, व्रीहि आदि के रूप में जन्म नहीं। भाष्यकार ने यही अर्थ उत्सर्ग और अपवाद-वचन के द्वारा प्रदर्शित किया है।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' ( छा० ५।१०।६ ) इति । नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः संभवति । चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति । कथमिवानुपचरितं तद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्येत ? तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः । तद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

## योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसिग्योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीयचरणाः' ( छा० ५।१०।७ ) इत्यादि । तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति । तस्माद् व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति

---

भामती

उत्सर्गापवादवचनेनोपलक्षितः । अपि च मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनीति । व्रीह्यादिभावमापन्नाः खल्वनुशयिनः पुरुषैरुपभुक्ता रेतःसिग्भावमनुभवन्तीति श्रूयते । तदेतद् व्रीह्यादिदेहत्वेऽनुशयिनां नोपपद्यते । व्रीह्यादिदेहत्वे हि व्रीह्यादिषु लूनेष्ववहन्तिना फलीकृतेषु च व्रीह्यादिदेहविनाशादनुशयिनः प्रसवेयुरिति कथमनुशयिनां रेतःसिग्भावः संसर्गमात्रे तु संसर्गिषु व्रीह्यादिषु नष्टेष्वपि न संसर्गिणोऽनुशयिनः प्रवास इति रेतःसिग्भाव उपपद्यते । शेषमुक्तम् ॥ २४–२५ ॥

सद्यो जातो हि बालो न रेतःसिग्भवत्यपि तु चिरजातः प्रौढयौवनस्तस्मादपि संसर्गमात्रमिति गम्यते ॥ २६ ॥

तत्किमिदानीं सर्वत्रैवानुशयिनां संसर्गमात्रं तथा न रमणीयचरणा इत्यादिषु तथाभाव आप-

---

भामती—व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव स भवति" ( छां. ५।१०।६ ) इस श्रुति में कहा गया है कि व्रीहि आदि भाव को प्राप्त अनुशयिगण पुरुषों के द्वारा खाए जाते हैं, वे उपभुक्त होकर रेतःसिग्भाव ( वीर्य-सिञ्चन-कर्तृत्व ) का अनुभव करते हैं किन्तु मुख्यार्थरूप व्रीहि आदि रूपों में जन्म मानने में वह उपपन्न नहीं होता, क्योंकि यदि वे व्रीहि आदि योनि में जन्म लेते हैं, तब व्रीहि आदि को काटने, कूटने और कांड़ने पर अनुशयी व्यक्ति कहाँ रहेंगे ? कैसे सुरक्षित रहेंगे ? और क्योंकर रेतःसिञ्चन के कर्त्ता होंगे ? व्रीहि आदिरूप के साथ जब केवल संयोग माना जाता है, तब व्रीहि आदि के नष्ट होने पर भी अनुशयिगण सुरक्षित रह जाते हैं और वयस्क होकर रेतःसिग्भाव का अनुभव कर सकते हैं। शेष भाष्य सुबोध है ॥ २४, २५ ॥

उत्पन्न होते ही बालक रेतःसिक् नहीं होता, अपितु प्रौढ युवक होकर ही वैसा होता है. इससे भी यही सिद्ध होता है कि अनुशयी व्यक्तियों का व्रीहिआदि के साथ केवल संश्लेष ( संयोग ) ही होता है ॥ २६ ॥

तब क्या सर्वत्र अनुशयी व्यक्तियों का संसर्गमात्र ही होता है ? यदि ऐसा है, तब "तद्य इह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन्" ( छा. ५।१०।७ ) यहाँ पर रमणीय योनि में जन्म क्योंकर बनेगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"योनेः शरीरम्" । अर्थात् योनि में वीर्य का


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य
प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

भामती

योनेति, नेत्याह—योनेः शरीरम् । सुगमम् ॥ २७ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचितायां भामत्यां
तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

---

भामती—व्याख्या

निषेक होने पर योनि से शरीर उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां भामतीव्याख्यायां
तृतीयाध्याये प्रथमः पादः समाप्तः

—१०:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ।

## [ अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः ]

## ( १ संध्याधिकरणम् । सू० १--६ )

### संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः । इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते । इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९ ) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' ( बृ० ४।३।१० ) इत्यादि । तत्र संशयः—किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति ? तत्र तावत्प्रतिपद्यते-संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति । संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति । द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम् । तस्मिन्

---

भामती

इदानीं तु तस्यैव जीवस्यावस्थाभेदः स्वयंज्योतिष्ट्वसिद्धयर्थं प्रपञ्च्यते ॐ किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयी इति ॐ । यद्यपि ब्रह्मणोऽन्यस्यानिर्वाच्यतया जाग्रत्स्वप्नावस्थागतयोरुभयोरपि सर्गयोर्मायामयत्वं तथापि यथा जाग्रत्सृष्टिर्ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कारात्प्रागनुवर्त्तते । ब्रह्मात्मभावसाक्षात्कारात्तु निवर्त्तते । एवं किं स्वप्नसृष्टिराहोस्वित् प्रतिदिनमेव निवर्त्तत इति विमर्शार्थः । ॐ द्वयोः ॐ इहलोकपरलोकस्थानयोः । सन्धौ भवं सन्ध्यम् । ऐहलौकिकचक्षुराद्यव्यापारारूपादिसाक्षात्कारोपजननादनैहलौकिकं पारलौकिकेन्द्रियाविव्यापारस्य च भविष्यतोऽप्रत्युत्पन्नत्वेन न पारलौकिकम् । न च न रूपादिसाक्षात्कारोऽस्ति स्वप्नदृशस्तस्मादुभयोर्लोकयोरस्यान्तरालत्वमिति ब्रह्मा-

---

भामती—व्याख्या

**संगति**—गत पाद में पञ्चाग्नि-विद्या का उदाहरण देकर जीव की संसार-गति का एक प्रकार प्रस्तुत किया गया, इस द्वितीय पाद में उसी जीव की स्वप्नादि अवस्थाओं का प्रपंच प्रस्तुत किया जाता है, जिसका उद्देश्य है—जीव में स्वयं ज्योतिष्ट्व की सिद्धि ।

**संशय**—क्या जाग्रत् काल के समान ही स्वाप्न सृष्टि सत्य है ? अथवा मिथ्या ? यद्यपि सिद्धान्ततः ब्रह्म से भिन्न सब कुछ अनिर्वाच्य होने के कारण जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं की सृष्टि मायामात्र है। तथापि जाग्रत्कालीन सृष्टि ब्रह्म में आत्मभाव का साक्षात्कार होने के पूर्व तक अनुवृत्त ( अविवृत्त ) और ब्रह्मात्मभाव-साक्षात्कार से निवृत्त होती है। इसी प्रकार की क्या स्वाप्न सृष्टि है ? अथवा प्रतिदिन निवृत्त हो जाती है ? यह संशय का विवक्षित आकार है ।

**पूर्वपक्ष**—"सन्ध्ये सृष्टिराह हि" । यहाँ 'सन्ध्य' शब्द का अर्थ है—"द्वयोर्लोकस्थानयोः सन्धौ भवतीति सान्ध्यम्" । इस भाष्य का अर्थ यह है कि इहलोक और परलोक के सन्धि-स्थान में होनेवाली स्वप्न अवस्था का नाम सन्ध्य है। लोक में जैसे प्रान्तों के सन्धि-स्थान में रहनेवाले लोगों में दोनों प्रान्तों के व्यवहार उपलब्ध होते हैं, वैसे ही पृथिवी लोक में मानवीय नेत्रों से रूप का प्रत्यक्ष होता है और द्युलोक में उसके बिना ही रूप-दर्शन होता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति । कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह–'अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि । 'स हि कर्ता' इति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति–'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' ( कठ० ५।८ ) इति । पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते—काम्यन्त इति । ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन्, न, 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व' ( क० १।२३ ) इति प्रकृत्यान्ते 'कामानां त्वा कामभाजं करोमि' ( क० १।२४ ) इति प्रकृतेषु तत्र तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात् । प्राङ्नं चैनं निर्मातारं प्रकरणवाक्यशेषाभ्यां प्रतीमः । प्राङ्नस्य हीदं प्रकरणम्—'अन्यत्र

भामती

स्वभावसाक्षात्कारात्प्राक् तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति ।

अयमभिसन्धिः । इह हि सर्वाण्येव मिथ्याज्ञानान्युदाहरणं तेषां सत्यत्वं प्रतिज्ञायते । प्रकृतोपयोगितया तु स्वप्नज्ञानमुदाहृतम् । तथाहि–ज्ञानं यमर्थमवबोधयति स तथैवेति युक्तम् । तथाभावस्य ज्ञानारोहात् । अतथात्वस्य त्वप्रतीयमानस्य तथाभावप्रमेयविरोधेन कल्पनानास्पदत्वात् । बाधकप्रत्ययादतथात्वमिति चेत् । न, तस्य बाधकत्वासिद्धेः, समानगोचरे हि विरुद्धार्थोपसंहारिणी ज्ञाने विरुध्येते । बलवदबलवत्त्वनिश्चयाच्च बाध्यबाधकभावं प्रतिपद्येते । न चेह समानविषयत्वं, कालभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः । यथा हि क्षीरं दृष्टं कालान्तरे दधि भवति, एवं रजतं इष्टं कालान्तरे शुक्तिर्भवेत् । नानारूपं वा तद्वस्तु । तद्यस्य तीव्रातपक्लान्तिसहितं चक्षुः स तस्य रजतरूपतां गृह्णाति । यस्य तु केवल-आलोकसान्निध्योपकृतं स तस्यैव शुक्तिरूपतां गृह्णाति । एवमुत्पलमपि नीललोहितं विवा सौरीभिर्भाभिरभिव्यक्तं नीलतया गृह्यते ।

भामती–व्याख्या

है । वैसे ही स्वप्न-काल में चक्षु के विना हो रूप-दर्शन होता है । जब उभय लोकों की सृष्टि में यथार्थता है, तब स्वाप्न सृष्टि में यथार्थत्व क्यों न होगा ? आशय यह है कि यहाँ सभी मिथ्या ज्ञानों को उदाहरण माना गया है; अतः सभी मिथ्या ज्ञानों में सत्यत्व की प्रतिज्ञा की जाती है, स्वाप्न ज्ञान प्रकृतोपयोगी होने के कारण विशेषतः उदाहृत है । यह एक सामान्य नियम है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ का बोधक होता है, वह पदार्थ वैसा ही होता है, क्योंकि जो पदार्थ जैसा होता है, वैसा ही ज्ञानारूढ होता है । ज्ञान के विषय में जब तथाभाव नियत है, तब उसके विरुद्ध अतथाभाव की कल्पना नहीं हो सकती । बाधक-प्रतीति के आधार पर भी विषयगत अतथात्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि स्वाप्न ज्ञान का बाधक प्रतीत ही नहीं होता । एक ही विषय में दो विरुद्धार्थों के बोधक ज्ञान परस्पर विरुद्ध होते हैं । उन दोनों ज्ञानों में बलाबल का निश्चय हो जाने पर बाध्य-बाधक भाव प्रतिपन्न होता है, किन्तु प्रकृत में विरुद्ध कहे जानेवाले ज्ञान समानविषयक होते ही नहीं, समय के भेद से विषय ही भिन्न होते हैं, जैसे दूग्धरूप में दिखनेवाला पदार्थ ही कालान्तर में दधिरूपेण देखा जाता है, वैसे ही रजतरूपेण दिखनेवाला पदार्थ ही कालान्तर में शुक्ति हो जाता है । अथवा प्रत्येक वस्तु नानारूप की होती है, अतः जिस व्यक्ति की चक्षुरिन्द्रिय प्रखर आतप से क्लान्त होती है, तब वह व्यक्ति सम्मुखस्थ पदार्थ को रजतरूप में देखता है किन्तु जिसके नेत्र को सामान्य आलोक का ही संयोग प्राप्त है, वह उसी पदार्थ को शुक्तिरूप में ग्रहण करता है । इसी प्रकार एक ही कमल पदार्थ नील और लोहित रूप से समन्वित है कि दिन में सूर्य की प्रतत रश्मियों में नीलत्वेन अवभासित होता है और प्रदीप के कोमल प्रकाश में लाल रंग का

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मादन्यत्राधर्मात्' ( क० २।१४ ) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' ( क० ५।८ ) इति। प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया, तथा स्वप्नाश्रयाऽपि सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथा च श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश

भामती

प्रदीपाभिव्यक्तन्तु नक्तं लोहिततया। एवमसत्यां निद्रायां सतोऽपि रथादीन् न गृह्णाति निद्राणस्तु गृह्णातीति सामग्रीभेदाद्वा कालभेदाद्वा विरोधाभावः। नापि पूर्वोत्तरयोर्बलवदबलवत्त्वनिर्णयः, द्वयोरपि स्वगोचरचारितया समानत्वेन विनिगमनाहेतोरभावात्। तस्मादप्यवश्यमविरोधो व्यवस्थापनीयः। तत्सिद्धमेतत्—विवादास्पदं प्रत्ययाः सम्यञ्चः प्रत्ययत्वाज्जाग्रत्स्तम्भादिप्रत्ययवदिति। इममर्थं श्रुतिरपि दर्शयति—'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' इति। न च न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्तीति विरोधादुपचरितार्था सृजत इति श्रुतिर्व्याख्येया। सृजत इति हि श्रुतेः, बहुश्रुतिसंवादात्प्रमाणान्तरसंवादाच्च बलीयस्त्वेन तदनुगुणतया न तत्र रथा इत्यस्या भाक्तत्वेन व्याख्यानात्। जाग्रदवस्थादर्शनयोग्या न सन्ति न तु रथा न सन्तीति। अत एव कर्तृश्रुतिः शाखान्तरश्रुतिरुदाहृता। प्राज्ञकर्तृकत्वाच्चाऽस्य पारमार्थिकत्वं वियदादिसर्गवत्। न च जीवकर्तृकत्वान्न प्राज्ञकर्तृकत्वमिति साम्प्रतम्। अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादिति प्राज्ञस्यैव प्रकृतत्वाज्जीवकर्तृकत्वेऽपि च प्राज्ञादभेदेन जीवस्य प्राज्ञत्वात्। अपि च

भामती—व्याख्या

प्रतीत होता है। निद्रा के अभाव में विद्यमान रथादि का भी ग्रहण नहीं करता किन्तु निद्रा अवस्था में ग्रहण कर लेता है। सामग्री-भेद अथवा काल-भेद के कारण नानारूपों का समन्वय एक ही वस्तु में हो जाता है, किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता, पूर्वोत्तरभावी नानारूपों में किसी प्रकार का बलवत्त्व और अबलवत्त्व भी निर्णीत नहीं होता, क्योंकि दोनों आकार एक ही वस्तु को विषय करते हैं, कोई विनिगमक ( एकाकारता का व्यवस्थापक ) हेतु उपलब्ध नहीं होता। फलतः एक वस्तु में नाना आकारों का अविरोध मानना होगा। नानारूपता-साधक अनुमान इस प्रकार पर्यवसित होता है—'रजतादिप्रत्ययाः यथार्थाः, प्रत्ययत्वाद्, जाग्रत्कालीनस्तम्भादिप्रत्ययवत्।' इसी अर्थ का समर्थन श्रुति भी कर रही है—"अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" ( बृह. उ. ४।३।१० )।

**शङ्का**—उक्त श्रुति में 'सृजते' पद को सर्जनरूप मुख्यार्थ का बोधक नहीं मान सकते, क्योंकि स्वप्न में मुख्य सर्जन का बाध उपलब्ध हो रहा है—"न तत्र रथाः, न रथयोगाः, न पन्थानो भवन्ति" ( बृह. उ. ४।३।१० )। इस बाध के कारण 'सृजते' पद मुख्यार्थक न होकर गौणार्थक ही सिद्ध होता है।

**समाधान**—"सृजते स हि कर्त्ता" ( बृह. उ. ४।३।१० ) इत्यादि अनेक श्रुतियों का संवाद ( अनुमोदन ) और अन्य प्रमाणों का अविसंवाद ( अविरोध ) उपलब्ध होने के कारण 'सृजते' शब्द प्रबल होकर मुख्यार्थक है, अतः उससे विरुद्ध "न तत्र रथाः"—इस श्रुति को ही गौणार्थक मानना चाहिए। अर्थात् स्वाप्न रथादि पदार्थ जाग्रदवस्था में केवल दर्शनयोग्य नहीं होते, न कि उनका अभाव है। अत एव "सृजते स हि कर्त्ता"—ऐसा उपसंहार किया गया है। इतना ही नहीं, अपितु "य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" ( कठो. ५।८ ) इत्यादि अन्य शाखाओं के श्रुति-वाक्य भी स्वाप्न सृष्टि का संवाद उपस्थित करते हैं। "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" ( कठो. २।१४ ) यह प्राज्ञ ( परमेश्वर ) का प्रकरण है, जीव का नहीं, अतः स्वाप्न सृष्टि ईश्वरकर्तृक होने के कारण वैसे ही पारमार्थिक है, जैसे आकाशादि प्रपञ्च। यदि स्वाप्न सृष्टि जीवकर्तृक मानी जाती है, तब भी जीव प्राज्ञस्वरूप

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति । तस्मात्तथारूपैव संध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह —

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदस्ति—यदुक्तं—संध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति । मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति । कुतः ? कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । नहि कात्स्न्र्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः । किं पुनरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं, देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च ? नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते । न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति । नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन् । स्यादेतत्—बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति, देशान्तरितद्रव्यग्रहणात् । दर्शयति च श्रुतिर्बहिर्देहात्स्वप्नम्—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो

भामती

जाग्रत्प्रत्ययसंवादवन्तोऽपि स्वप्नप्रत्ययाः केचिद् दृश्यन्ते । तद्यथा स्वप्ने शुक्लाम्बरधरः शुक्लमाल्यानुलेपनो ब्राह्मणायनः प्रियव्रतं प्रत्याह—प्रियव्रत ! पञ्चमेऽहनि प्रातरेवोर्वराप्रायभूमिदानेन नरपतिस्त्वां मानयिष्यतीति, स च जाग्रत्तथाऽऽत्मनो माननमनुभूय स्वप्नप्रत्ययं सत्यमभिमन्यते । तस्मात्सन्ध्ये पारमार्थिकी सृष्टिरिति ॥ १, २ ॥

इति प्राप्ते, उच्यते—

इदमत्राकूतम्—न तावत् क्षीरस्येव दधि रजतस्य परिणामः शुक्तिः सम्भवति । नहि जात्वीश्वरगृहे चिरस्थितान्यपि रजतभाजनानि शुक्तिभावमनुभवन्ति दृश्यन्ते । न चेतरस्य रजतानुभवसमयेऽन्योऽनाकुलेन्द्रियो न तस्य शुक्तिभावमनुभवति प्रत्येति च । न चोभयरूपं वस्तु सामग्रीभेदात्तु कदाचिदस्य तोयभावोऽनुभूयते कदाचिन्मरीचितेति साम्प्रतम् , पारमार्थिके ह्यस्य तोयभावे तत्साध्यामुदन्योपश-

भामती—व्याख्या

होने के कारण यथार्थ सृष्टि का ही निर्माता है । दूसरी बात यह भी है कि बहुत-से स्वप्न ऐसे भी देखने में आते हैं, जिनकी जाग्रत् काल में सत्यता सिद्ध है, जैसे कि स्वप्न में श्वेत माला और चन्दनानुलेपनादि से अलंकृत कोई ब्राह्मण-सा प्रतीत होनेवाला दिव्य पुरुष प्रियव्रत नाम के किसी भले मनुष्य को कहता है—'हे प्रियव्रत ! आज से पाँचवें दिन प्रातः ही इस देश का राजा आपको पर्याप्त उपजाऊ भूमि-खण्ड का दान देगा ।' प्रियव्रत ठीक पाँचवें दिन वैसा ही दान पाकर कृतकृत्य हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि स्वप्न काल की सृष्टि पारमार्थिकी ही होती है ॥ १-२ ॥

**सिद्धान्त**—"मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" । सारांश यह है कि जैसे दुग्ध का दधि परिणाम है, वैसे शुक्ति को रजत का परिणाम नहीं माना जा सकता, क्योंकि राजा-महाराजा और सेठ-साहूकारों के घरों में बहुत दिनों से रखे रजत के पात्र कभी शुक्ति-रूप में परिणत होते नहीं देखे जाते । जिस समय एक व्यक्ति आपण में जिस वस्तु को रजत देख रहा है, उसी समय अन्य व्यक्ति जिनके नेत्रों में किसी प्रकार का दोष नहीं, उस वस्तु को न तो शुक्ति देखते हैं और न किसी के शुक्ति-कथन पर विश्वास करते हैं ।

**शङ्का**—प्रत्येक वस्तु अनेकरूपवाली होती है । विशेष-विशेष सामग्री की सहायता से एक ही वस्तु कभी जलरूप में और कभी मरीचि-प्रचय के रूप में दिखती है ?

**समाधान**—एक वस्तु के दो विरुद्धरूप कभी पारमार्थिक नहीं हो सकते, जलरूपता और मरीचिरूपता—दोनों को पारमार्थिक मानने पर पिपासा-शामकता और मरीचि-साध्य

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र कामम्' ( बृ० ४।३।१२ ) इति । स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते जन्तौ सामञ्जस्यमश्नुवीतेति नेत्युच्यते, नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं

भामती

मलक्षणामप्यर्थक्रियां कुर्य्यान्मरीचिसाध्यामपि रूपप्रकाशलक्षणाम् । न मरीचिभिः कस्यचित् तृष्णज उदन्योपशाम्यति । नु च तोयमेवं द्विविधमुदन्योपशमनमतदुपशमनमिति युक्तम् । तदर्थक्रियाकारित्वव्याप्तं तोयत्वं मात्रयापि तामकुर्वत्तोयमेव न स्यात् । अपि च तोयप्रत्ययसमीचीनत्वायास्य द्वैविध्यमभ्युपेयते तच्चाभ्युपगमेऽपि न सेद्धुमर्हति । तथाह्यसमर्थविधायीति तोयमेतदिति मन्वानो न तृष्णयापि मरीचितोयमभिधावेत् । यथा मरीचीननुभवत् । अथाशक्तं शक्तमभिमन्यमानोऽभिधावति । किमपराद्धं मरीचिषु तोयविपर्य्यासेन सर्वजनीनेन यत्तमसिलङ्घ्य विपर्य्यासान्तरं कल्प्यते । न च क्षीरदधिप्रत्ययवदाचार्य्यमातुलब्राह्मणप्रत्ययवद्वा तोयमरीचिविज्ञाने समुच्चितावगाहिनी स्वानुभवात्परस्परविरुद्धयोर्बाध्यबाधकभावावभासनात् । तत्रापि रजतज्ञानं पूर्वमुत्पन्नं बाध्यमुत्तरन्तु बाधकं शुक्तिज्ञानं प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्य । रजतज्ञानात् प्राक् प्रापकाभावेन शुक्तेरप्राप्तायाः प्रतिषेधासम्भवात् पूर्वज्ञानप्राप्तं तु रजतं शुक्तिज्ञानमपबाधितुमर्हति । तदपबाधात्मकञ्च स्वानुभवादवसीयते । यथाहुः—

भामती-व्याख्या

रूप-प्रकाशकता—दोनों धर्मों की युगपत् उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु मरीचियों के द्वारा किसी तृष्णज की ['त्रितृषा पिपासायां' इस धातु से "स्वपितृषोर्नजिङ्" ( पा. सू. ३।२।१७५ ) इस सूत्र के द्वारा 'नजिङ्' प्रत्यय होने पर 'तृष्णज्' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—तृष्यतीति तृष्णज् पिपासु उसकी ] प्यास नहीं शान्त होती। यदि कहा जाय कि जल ही दो प्रकार का होता है—(१) प्यास का बुझानेवाला और (२) प्यास न बुझानेवाला। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जलत्व का व्यापक धर्म होता है—पिपासा-निवर्तकत्व, जहाँ पिपासा-निवर्तकत्व नहीं, वहाँ जलत्व धर्म ही नहीं रह सकता।

दूसरी बात यह भी है कि मरु-मरीचि में उत्पन्न जल-ज्ञान में समीचीनता-सिद्धि के लिए जो द्विविध जल की कल्पना की जाती है, वह कल्पना कदापि साकार नहीं हो सकती, क्योंकि जो व्यक्ति ऐसा मान रहा है कि यह मरुमरीचिगत जल प्यास न बुझानेवाली विधा के अन्तर्गत है, वह व्यक्ति प्यास होने पर भी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि उस अशक्त जल को सशक्त समझ कर प्रवृत्त होता है, तब मरीचि-जल को सर्वजन-सम्मत विपर्यासात्मक मान लेने में क्या आपत्ति? मरीचि-सञ्चय में जल-भ्रम न मान कर अशक्त जल में शक्तत्व-भ्रम की कल्पना से क्या लाभ? जैसे दधि में दुग्धरूपता और दधिरूपता का समुच्चय अथवा आचार्य में मातुलरूपता और ब्राह्मणरूपता का समुच्चय प्रतीत होता है, वैसे मरीचि-जल में मरीचिरूपता और जलरूपता का समुच्चय प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत स्वानुभव के आधार पर शुक्ति-रजतादि के समान परस्पर बाध्य-बाधकभाव अवभासित होता है। उसमें भी बाध्यभूत रजत-ज्ञान पहले और बाधकरूप शुक्ति-ज्ञान पश्चात् उत्पन्न होता है, क्योंकि शुक्ति ज्ञान रजत-निषेधात्मक है, निषेध ज्ञान को निषेध्य पदार्थ की प्राप्ति अपेक्षित है। रजत-ज्ञान ही रजतरूप निषेध्य पदार्थ का प्रापक है, रजत-ज्ञान से पहले रजत का कोई प्रापक न होने से रजत की प्राप्ति नहीं, अप्राप्त पदार्थ का प्रतिषेध नहीं होता, जैसे शुक्ति अप्राप्त होने के कारण प्रतिषेध्य नहीं, हाँ, रजत-ज्ञान के द्वारा प्रापित रजत का अपबाध शुक्ति-ज्ञान कर सकता है, क्योंकि परभावी शुक्ति-ज्ञान पूर्व प्राप्त रजत का बाधात्मक होता है—यह स्वानुभव-सिद्ध है, जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं संभाव्यते। क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति- कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चैषु प्रतिबुद्धश्चेति। देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेषु प्रतिबुध्येत न तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्ववस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति।

भामती

आगामित्वादबाधित्वा परं पूर्वं हि जायते।
पूर्वं पुनरबाधित्वा परं नोत्पद्यते क्वचित्॥

न च वर्त्तमानरजतावभासिज्ञानं भविष्यत्तामस्यागोचरयन्न भविष्यत्ता स्वसमयवर्त्तिनीं शुक्ति गोचरयता प्रत्ययेन बाध्यते कालभेदेन विरोधाभावादिति युक्तम्। मा नामास्य ज्ञासीत्प्रत्यक्षं भविष्यत्तां तत्पृष्ठभावि त्वनुमानमुपकारहेतुभावमिवासति विनाशप्रत्ययोपनिपाते स्थेमानमाकलयति। असति विनाश- प्रत्ययोपनिपाते रजतमिदं स्थिरं रजतत्वादनुभूतप्रत्यभिज्ञातरजतवत्। तथा च रजतगोचरं प्रत्यक्षं वस्तुतः स्थिरमेव रजतं गोचरयेत्। तथाच भविष्यच्छुक्तिकाज्ञानकालं रजतं व्याप्नुयादिति विरोधात् शुक्तिज्ञानेन बाध्यते। यथाहुः—

रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते।
भविष्यच्छुक्तिकाज्ञानकालं व्याप्नोति तेन तत्॥ इति।

भामती—व्याख्या

"पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते।
परस्यानन्यथोत्पादान्न त्वबाधेन सम्भवः॥" (तं. वा. पृ. ८५९)

अर्थात् 'इदं रजतम्'—इस प्रकार का प्रथमभावी ज्ञान 'इयं शुक्तिः' इत्यादि परभावी ज्ञानों का बाध न करके ही उत्पन्न हो जाता है, किन्तु 'इयं शुक्तिः'—इस प्रकार का परभावी ज्ञान अपने से पूर्वभावी रजत-ज्ञान का बाध किए बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता]।

**शङ्का**—बाध दो प्रकार का होता है—(१) प्राप्त-बाध और (२) अप्राप्त-बाध। जैमिनि दर्शन के तृतीय अध्याय में प्राप्त-बाध और दशम अध्याय में अप्राप्त-बाध वर्णित है। रजत-बाध प्राप्त-बाध है। समानकालीन पदार्थों का ही बाध्य-घातकभाव होता है, अतः शुक्ति-ज्ञान के समय ही रजतावगाही ज्ञान होना चाहिए, किन्तु होता नहीं। अतीत काल में जो 'इदं रजतम्'- यह ज्ञान है, वह यदि भावी शुक्तिज्ञानकालीन भावी रजत को विषय करता, तब रजत का प्रापक माना जा सकता था, किन्तु वह अतीत रजत-ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान वर्तमान पदार्थ को विषय करता है, भावी पदार्थ को नहीं, जैसा कि कुमारिल भट्ट कहते हैं—"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लो. वा. १६०)। फलतः शुक्ति-ज्ञानकालीन रजत का कोई प्रापक न होने के कारण रजत का बाध सम्भव नहीं।

**समाधान**—यद्यपि कोई प्रत्यक्ष ज्ञान तो वैसा नहीं, तथापि 'इदं रजतम् (शुक्ति रजतम्) उपकारकम्, रजतत्वात्, हट्टस्थरजतवत्'—इस अनुमान के द्वारा शुक्ति-रजत में उपकारकत्व की अनुमिति के पश्चात् 'इदं रजतं चिरस्थायि (शुक्तिज्ञानपर्यन्तं स्थिरम्), विनाशकाभावात्'—इस अनुमान से स्थिरता की सिद्धि की जाती है, फलतः 'इदं रजतम्' यह प्रत्यक्ष ही ऐसी स्थिर रजत का प्रापक है, जो शुक्ति-ज्ञान होने तक स्थिर रहकर शुक्ति- ज्ञान से बाधित होती है। वार्तिककार ऐसा ही करते हैं।

"रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते।
भविष्यच्छुक्तिकाज्ञानकालं व्याप्नोति तेन तत्॥"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिधावंश्चेत्पश्येज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्-'स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ०२।१।१८) इति। अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या। बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति। यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव

भामती

प्रत्यक्षेण चिरस्थायीति गृह्यत इति केचिद् व्याचक्षते। तदयुक्तं यदि चिरस्थायित्वं योग्यता न सा प्रत्यक्षगोचरः शक्तेरतीन्द्रियत्वात्। अथ कालान्तरव्यापित्वं, तदप्ययुक्तं, कालान्तरेण भविष्यतेन्द्रियस्य संयोगायोगात् तदुपहितसीम्नो व्यापित्वस्यातोन्द्रियत्वात्। न च प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययवत्रापि संस्कारः सहकारी येनावर्त्तमानमप्याकलयेत्। तस्मादत्यन्ताभ्यासवशेन प्रत्यक्षानन्तरं शीघ्रतरोत्पन्नविनश्यदवस्थानुमानसहितप्रत्यक्षाभिप्रायमेव चिरस्थायीति गृह्यत इति मन्तव्यम्। अत एवैतत्सूक्ष्मतरं कालव्यवधानमविवेचयन्तः सौगताः प्राहुः—द्विविधो हि विषयः प्रत्यक्षस्य ग्राह्यश्चाध्यवसेयश्च। ग्राह्यक्षण एकः स्वलक्षणोऽध्यवसेयश्च सन्तान इति। एतेन स्वप्नप्रत्ययो मिथ्यात्वेन व्याख्यातः। यत्तु सत्यं स्वप्नदर्शनमुक्तं तत्राप्याख्यात्रा ब्राह्मणायनेनाख्याते संवादाभावात्। प्रियव्रतस्याख्यानसंवादस्तु काकतालीयो न स्वप्नज्ञानं प्रमाणयितुमर्हति। तादृशस्यैव बहुलं विसंवाददर्शनात्। दर्शितश्च विसंवादो भाष्यकृता

भामती-व्याख्या

इसकी व्याख्या में जो कुछ लोगों ने अनुमान-सहकृत प्रत्यक्ष के द्वारा ही रजत की स्थिरता का ग्रहण माना है, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि चिरस्थायित्व का अर्थ यदि योग्यता शक्ति है, तब वह प्रत्यक्ष की विषय नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति अतीन्द्रिय होती है। कालान्तर व्यापित्व भी चिरस्थायित्व नहीं कह सकते, क्योंकि भविष्यकालरूप कालान्तर के साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। कालान्तरतोपलक्षितत्व भी इन्द्रिय का विषय नहीं। यदि कहा जाय कि जैसे 'सोऽयम्'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष में इन्द्रियासन्निकृष्ट तत्ता का भान संकारों की सहायता से हो जाता है, वैसे ही भविष्यद् रजत का भी भान अतीत रजत-प्रत्यक्ष में हो जायेगा। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकृत में सहायकीभूत संस्कारों का अभाव है। फलतः 'इदं रजतम्'—इस प्रत्यक्ष के तुरन्त पश्चात् उत्पन्न कथित अनुमान की सहायता से वही प्रत्यक्ष नाश के गर्भ में जाते-जाते रजत की प्राप्ति करा जाता है। इसी आशय को मनमें रखकर कहा है—'चिरस्थायीति गृह्यते"। इस प्रकार के सूक्ष्म काल का व्यवधान न मानते हुए बौद्धों ने प्रत्यक्ष का द्विविध विषय माना है—"द्विविधो हि विषयः प्रत्यक्षस्य ग्राह्यश्चाध्यवसेयश्च। ग्राह्यलक्षण एकः स्वलक्षणोऽध्यवसेयश्च सन्तान इति" (धर्मोत्तर. पृ. ७१)। [ अर्थात् बौद्धों के क्षणिकवाद में वस्तु को जिस क्षण का प्रत्यक्ष होता है, वही क्षण प्राप्त नहीं होता, अपितु उसी सन्तान का क्षणान्तर प्राप्त होता है, प्राप्य क्षण को ही अध्यवसेय कहते हैं। प्रमाण का काम वस्तु का प्रकाश करना, पुरुष को प्रवृत्त करना और वस्तु की प्राप्ति करा देना होता है। यद्यपि शब्द, ज्ञान और कर्म की युगपत् ही प्रवृत्ति मानी जाती है, ठहर-ठहर कर नहीं, तथापि ग्रहण ( प्रकाशन ) तथा अध्यवसान ( प्रापण ) में ऐसे सूक्ष्मकाल का व्यवधान है, जो नहीं-जैसा है ]। स्वप्न-कथित वस्तु की अकस्मात् प्राप्ति हो जाने पर भी स्वप्न का मिथ्यात्व धूमिल नहीं होता, क्योंकि स्वप्न में ब्राह्मणाभास को उक्ति का संवाद ( समर्थन ) जाग्रत् में उपलब्ध नहीं होता, प्रियव्रत को भूमि-खण्ड के दान की प्राप्ति एक काकतालीय घटनामात्र है। वैसे ही हजारों स्वप्न झूठे होते पाए जाते हैं। भाष्यकार ने "मायामात्रं तु कात्स्न्र्येन"—इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए स्वाप्न-प्रपञ्च के मिथ्यात्व पर विशद प्रकाश डाला है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीराद्भवतीति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवं सति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः। कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति-रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते। तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति। निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति। रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा। बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे। स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात्। रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः सम्पद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः। स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति—नेत्युच्यते, सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः। तथा हि श्रूयते—'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने' (छा० ५।२।९) तथा पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यत इति श्रावयति। आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—'कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि' इति। मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित्स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते। तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य वस्तुनः सत्यत्वं,

भामती

कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तिं विवृण्वता। ॐरजन्यां सुप्त इति ॐ। रजनीसमयेऽपि हि भारताद् वर्षान्तरे केतुमालादौ वासरो भवतीति भारते वर्षे इत्युक्तम् ॥ ३ ॥

दर्शनं सूचकं तच्च स्वरूपेण सत्, असत्तु दृश्यम्। अत एव स्त्रीदर्शनस्वरूपसाध्याश्चरमधातुविसर्गादयो जाग्रदवस्थायामनुवर्त्तन्ते। स्त्रीसाध्यास्तु माल्यविलेपनदन्तक्षतादयो नानुवर्त्तन्ते। ॐ न

भामती-व्याख्या

काल-विसंवाद का उदाहरण दिया गया है—"रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते"। यहाँ 'भारते वर्षे'—ऐसा न कह कर यदि 'रजन्यां सुप्तो वासरं मन्यते'—इतना ही कहा जाता, तब काल की असंगति नहीं दिखाई जा सकती थी, क्योंकि [ जम्बूद्वीप एक वर्तुलाकार ( गोल ) भूमण्डल है। उसके ऊपर मध्य में सुमेरु पर्वत है, सुमेरु के दक्षिण भाग में हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारतवर्ष है। उत्तर में रम्यक्, हिरण्मय और उत्तर कुरु है। पश्चिम में केतुमालवर्ष एवं पूर्व में भद्राश्ववर्ष है। जम्बूद्वीप के जिस भाग में सूर्य-प्रकाश रहता है, वहाँ दिन और अन्यत्र रात होती है ] भारत वर्ष में जब रात होती है, केतुमाल में उस समय वस्तुतः दिन होता है। हाँ, भारतवर्ष में जब रात है, तब दिन नहीं हो सकता, अतः रात को दिन समझना अत्यन्त असंगत है ॥ ३ ॥

स्वप्न में स्त्री आदि का दर्शन शुभ-सूचक है, वह स्वरूपेण ( विषयाविशेषित शुद्ध ज्ञानत्वेन ) सत् है, उसका विषयीभूत दृश्य मिथ्या है। स्वाप्न स्त्री-दर्शन सत्य होने के कारण, उससे जनित चरम धातु ( वीर्य ) का स्खलन भी सत्य ही होता है, क्योंकि जाग्रत्काल में उसकी सत्यता देखी जाती है। जैसे सत्यात्मक दर्शन से जनित कार्य सत्य होता है, वैसा दृश्यरूप स्त्री के द्वारा किए गए माल्यार्पण, चन्दन-लेप और दन्त-क्षत ( दान्त से काटने ) आदि के चिह्न नायक के शरीर पर नहीं पाए जाते, क्योंकि मिथ्या स्त्री का कार्य सत्य

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection, Mumbai. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यं, बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥

यदुक्तम् –'आह हि' इति, तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम्। यथा लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्वहति। एवं निमित्तमात्रत्वात्सुप्तो रथादीन्सृजते स हि कर्तेति चोच्यते, नतु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन्सृजति। निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासादिदर्शनात्तन्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम्। अपि च जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्विवेचनमिति तद्विवेचनाय स्वप्न उपन्यस्तः। तत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत, तदा स्वयंज्योतिष्ट्वं न निर्णीतं स्यात्। तस्माद्रथाद्यभाववचनं श्रुत्या, रथादिसृष्टिवचनं तु भक्त्येति व्याख्येयम्। एतेन निर्माणश्रवणं व्याख्यातम्।

यदप्युक्तम्–'प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति' इति—तदप्यसत्, श्रुत्यन्तरे 'स्वयं विहृत्य स्वयं विनिर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति' (बृ०४।३।९) इति जीवव्यापारश्रवणात्। इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क०५।८) इति प्रसिद्धानुवादाज्जीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते। तस्य तु वाक्यशेषेण तदेव शुक्रं तद्ब्रह्मेति जीवभावं व्यावर्त्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते—'तत्त्वमसि' (छा० ६।९।४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते। न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते। तस्य सर्वेश्वरत्वात्सर्वास्ववस्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः। पारमार्थिकस्तु नायं संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत्प्रतिपाद्यते। नच वियदादिसर्गस्याप्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति। प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र०सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम्। प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति। संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति। अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥ ४ ॥

**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥**

अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोऽंशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः। तत्रैवं सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एवं जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति। अत्रोच्यते—सत्यांप जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव? न नास्त्येव, विद्यमानमपि

---

भामती

चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यापार इति। प्राज्ञव्यापारत्वेन पारमार्थिकत्वानुमानं प्रत्यक्षेण बाधकप्रत्ययेन विरुध्यमानं नात्मानं लभत इति भावः। बन्धमोक्षयोरान्तरालिकं तृतीयमेश्वर्यमिति ॥ ४ ॥

'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' 'देहयोगाद्वा सोऽपि' इति सूत्रद्वयं कृतोपपा-

---

भामती–व्याख्या

क्योंकर होगा? "न चास्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यापारः प्रतिषिध्यते"—इस भाष्य का आशय यह है कि 'स्वाप्नप्रपञ्चः सत्यः, प्राज्ञकार्यत्वाद्, आकाशादिवत्'—इस प्रकार प्राज्ञकार्यत्वरूप हेतु के द्वारा स्वाप्न-प्रपचगत पारमार्थिकत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि जाग्रत्कालीन स्वाप्न-प्रपंच का बाध उपलब्ध होता है ॥ ४ ॥

"तस्याभिध्यानात् तृतीयं विश्वैश्वर्यम्" (श्वेता. १।११) इस श्रुति में जो सगुण ब्रह्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्। तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधुतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति, न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः? ततो हीश्वराज्जेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धः, तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः। तथा च श्रुतिः—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः' (श्वे० १।११) इत्येवमाद्या ॥ ५ ॥

## देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

कस्मात्पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति? युक्तं तु ज्ञानैश्वर्ययोरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति। उच्यते—सत्यमेवैतत्, सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति। अस्ति चात्रोपमा यथाऽग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्मच्छन्नस्य। एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्तद्विवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः। वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु, तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्, किं देहयोगकल्पनया? नेत्युच्यते, नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते, 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्यात्मशब्देन जीवस्य परामर्शात्। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।९।४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्। अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति। अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते। यत्पुनरुक्तं जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं स्थापयतीति न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं, स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात्, श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्। जागरितप्रभववासनानिमित्तत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

---

## २ तदभावाधिकरणम्। सू० ७-८)

## तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

स्वप्नावस्था परीक्षिता, सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः

---

भामती

वनमस्माभिः प्रथमसूत्रे। निगदव्याख्यातं चैतयोर्भाष्यमिति ॥ ५, ६ ॥

---

भामती-व्याख्या

को उपासना से जनित ईश्वसायुज्यरूप फल का प्रतिपादन किया गया है, वह दुःखाभावरूप होने के कारण न तो वन्धनरूप है और भेदाश्रित होने से न मोक्षरूप, अपितु उन दोनों से भिन्न तृतीय ही है। "पराभिध्यानात् तु तिरोहितम्" तथा "देहयोगाद्वा सोऽपि"—ये दोनों सूत्रों का उपपादन हम (वाचस्पति मिश्र) ने प्रथम सूत्र में की व्याख्या ही कर दिया है ॥ ५-६ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुतयो भवन्ति। क्वचित् श्रूयते—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति। अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति। तथान्यत्र—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति। तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। 'प्राज्ञेनात्मनासंपरिष्वक्तो न बाह्यं किं चन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति च। तत्र संशयः—किमेतानि नाडयादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्षयैकं सुषुप्तिस्थानमिति। किं तावत्प्राप्तम्? भिन्ना-

---

भामती

इह हि नाडीपुरीतत्परमात्मानो जीवस्य सुषुप्तावस्थायां स्थानत्वेन श्रूयन्ते। तत्र किमेषां स्थानानां विकल्प आहोस्वित्समुच्चयः? किमतः, यद्येवम्? एतदतो भवति। यदा नाडयो वा पुरीतद्वा सुषुप्तस्थानं तदा विपरीतग्रहणनिवृत्तावपि न जीवस्य परमात्मभाव इति। अविद्यानिवृत्तावपि जीवस्य परमात्मभावार्थं कारणान्तरमपेक्षितव्यं, तच्च कर्मैव, न तु तत्त्वज्ञानं, विपरीतज्ञाननिवृत्तिमात्रेण तस्योपयोगात् विपरीतज्ञाननिवृत्तेश्च विनापि तत्त्वज्ञानं सुषुप्तावपि सम्भवात्। ततश्च कर्मणैवापवर्गो न ज्ञानेन। यथाहुः—कर्मणैव तु संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। इति।

अथ तु परमात्मैव नाडीपुरीतत्सृप्तिद्वारा सुषुप्तस्थानं ततो विपरीतज्ञाननिवृत्तेरस्ति मात्रया परमात्मभावो उपयोगः। तया हि तावदेष जीवस्तदवस्थानो भवति केवलम्। तत्त्वज्ञानाभावेन समूलकाषमविद्याया अकाषात् जाग्रत्स्वप्नलक्षणं जीवस्य व्युत्थानं भवति। तस्मात् प्रयोजनवत्येषा विचारणेति।

---

भामती—व्याख्या

**संगति**—स्वप्नावस्था की परीक्षा के अनन्तर सुषुप्ति अवस्था की परीक्षा की जाती है।

**संशय**—श्रुतियों में निर्दिष्ट नाडी आदि परस्पर-निरपेक्ष अनेक स्थान सुषुप्ति अवस्था में जीव के होते हैं? अथवा कोई एक ही सुषुप्त पुरुष का स्थान है?

**प्रयोजन**—सुषुप्ति अवस्था में जीव के अनेक स्थान श्रुतियों में प्रतिपादित हैं—नाडी, पुरीतत् और परमात्मा। वहाँ जिज्ञासा होती है कि क्या उन स्थानों का विकल्प होगा? अथवा समुच्चय? इससे क्या अन्तर पड़ेगा? जब नाड़ियों या पुरीतत् को सुषुप्त जीव का स्थान माना जाता है, तब विपर्यय ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भी जीव में ब्रह्मभाव स्थिर न हो सकेगा, क्योंकि जीव पुरीतत् आदि नाड़ियों में अवस्थित होकर ब्रह्म से तादात्म्यापन्न क्योंकर होगा? अतः अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर भी जीव में ब्रह्मरूपता सम्पन्न करने के लिए अन्य उपाय की अपेक्षा होगी, वह अन्य उपाय कर्म ही होगा, तत्त्वज्ञान नहीं, क्योंकि विपर्यय ज्ञान को जिस निवृत्ति में तत्त्वज्ञान का उपयोग हो सकता था, वह तो तत्त्वज्ञान के विना ही सुषुप्ति में सम्भव हो जाता है। फलतः कर्म से ही मोक्ष का लाभ होगा, ज्ञान से नहीं, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (गी० ३।२०)।

यदि नाडी और पुरीतत् में प्रवेश के द्वारा परमात्मा ही जीव का स्थान माना जाता है, तब विपर्ययज्ञान की निवृत्ति का परमात्मभाव की प्राप्ति में कुछ थोड़ा-सा उपयोग हो जाता है, क्योंकि केवल सुषुप्ति अवस्था में ही जीव की परमात्मरूपेण अवस्थिति रहेगी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति, कुतः ? एकार्थत्वात् । नह्येकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम् । नाडयादीनां त्वेकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' ( छा० ८।६।३ ) 'पुरीतति शेते' ( बृ० २।१।१९ ) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात् । ननुनैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, नैष दोषः, तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात् । वाक्यशेषो हि तत्रायतनैषो

भामती

किन्तावत्प्राप्तम् ? नाडीपुरीतत्परमात्मसु स्थानेषु सुषुप्तस्य जीवस्य निलयं प्रति विकल्पः । यथा बहुषु प्रासादेष्वेको नरेन्द्रः कदाचित् क्वचिन्निलीयते कदाचित् क्वचिदेवमेको जीवः कदाचिन्नाडीषु कदाचित् पुरीतति कदाचिद् ब्रह्मणीति । यथा निरपेक्षा व्रीहियवाः क्रतुसाधनीभूतपुरोडाशप्रकृतितया श्रुता एकार्था विकल्प्यन्ते, एवं सप्तमीश्रुत्या वाऽऽयतनश्रुत्या वैकनिलयनार्थाः परस्परानपेक्षा नाडयादयोऽपि विकल्पमर्हन्ति । यत्रापि नाडीभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत इति नाडीपुरीततोः समुच्चयश्रवणं "तथा तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति । अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवतीति" नाडीब्रह्मणोराधारयोः समुच्चयश्रवणम् । प्राणशब्दं च ब्रह्म, "अथास्मिन् प्राणे ब्रह्मणि स जीव एकधा भवतीति' वचनात् । तथाप्यसु तदा नाडीषु सृप्तो भवतीति च पुरीतति शेत इति च निरपेक्षयोर्नाडीपुरीततोराधारत्वेन निर्देशान्निरपेक्षयोरेवाधारत्वम् । इयांस्तु विशेषः । कदाचिन्नाडय एवाधारः कदाचिन्नाडीभिः सञ्चरमाणस्य पुरीतदेव । एवं ताभिरेव सञ्चरमाणस्य कदाचिद् ब्रह्मैवाधार इति सिद्धमाधारत्वे नाडी-

भामती–व्याख्या

तत्त्वज्ञान का अभाव होने के कारण अविद्या का समूल उन्मूलन नहीं होगा, अतः जाग्रत् और स्वप्न में जीव का व्युत्थान हो जायगा—इस प्रकार इस अधिकरण के द्वारा जो विचार प्रस्तुत किया गया है, वह अत्यन्त आवश्यक है ।

**पूर्वपक्ष**—नाडी, पुरीतत् और परमात्मा—इन तीनों स्थानों में सुषुप्त जीव का विकल्प से निलयन होता है । जैसे कि एक नृपति के अपने बहुत-से महल हैं, वह कभी किसी महल में सोता है और कभी किसी में । वैसे ही एक अकेला जीव कभी नाडियों में कभी पुरीतत् में और कभी परमात्मा में विलीन होता है । जैसे "व्रीहिभिर्यजेत", "यवैर्यजेत"—इत्यादि परस्पर-निरपेक्ष और भिन्न भिन्न वाक्यों के द्वारा विहित व्रीहि और यव का याग-द्रव्यत्वेन विकल्प माना जाता है, वैसे ही एक ही प्रधान के उद्देश्य से प्रापित नाडी आदि स्थानों का विकल्प होना चाहिए ।

यद्यपि "ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" ( बृह. उ. २।१।१९ ) [ अर्थात् नाडियों के द्वारा जाकर पुरीतत् देश में सोता है ]। इस श्रुति के द्वारा नाडी और पुरीतत् का विकल्प नहीं, समुच्चय प्रतिपादित है । इसी प्रकार 'तासु तदा भवति, यदा सुप्तः स्वप्नं न कचन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एकधा भवति" ( कौषी. ४।१९ ) इस श्रुति में नाडी और ब्रह्मरूप आधारों का समुच्चय अभिहित है । इस श्रुति में भाष्यकार ने 'प्राण' शब्द से ब्रह्म का ग्रहण किया है, अतः श्रुति का अर्थ होता है—'अथास्मिन् प्राणे ब्रह्मणि स जीव एकधा भवति' ।

अथापि "आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति" और 'पुरीतति शेते'—इन श्रुतियों में नाडी और पुरीतत्—इन परस्पर-निरपेक्ष दोनों स्थानों का आधारत्वेन निर्देश होने के कारण जीव के दोनों स्थान सिद्ध होते हैं । अन्तर केवल इतना है कि कदाचित् नाडियों में और कदाचित् नाडियों के द्वारा प्रवेश करके पुरीतत् देश में शयन करता है । इसी प्रकार नाडियों के द्वारा ही प्रवेश करके कदाचित् ब्रह्म में विश्राम करता है, फलतः नाडी, पुरीतत् देश और ब्रह्म—इन तीनों में जीव की स्वतन्त्र आश्रयता सिद्ध होने के कारण तीनों का विकल्प

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवः सदुपसर्पतीत्याह—'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते' ( छा० ६।८।२ ) इति। प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात्। आयतनं च सप्तम्यर्थः। सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे' ( छा० ६।९।२ ) इति। सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते। तस्मादेकार्थत्वान्नाडयादीनां विकल्पेन कदाचित्कचित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति। तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः। नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाडयादीनि स्वापायोपसर्पति न विकल्पेनेत्यर्थः। कुतः? तच्छ्रुतेः। तथा हि—

भामती

पुरीतत्परमात्मनामनपेक्षत्वम्। तथा च विकल्पो व्रीहियववद् बृहद्रथन्तरवद्वेति प्राप्तम्।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—जीवः समुच्चयेनैवैतानि नाडयादीनि स्वापायोपैति न विकल्पेन। अयमभिसन्धिः। नित्यवदाम्नातानां यत् पाक्षिकत्वं नाम तद् गत्यन्तराभावे कल्प्यते। यथाहुः—

एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद् व्रीहियववाक्ययोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते॥ इति।

प्रकृतक्रतुसाधनीभूतपुरोडाशद्रव्यप्रकृतितया हि परस्परानपेक्षौ व्रीहियवौ विहितौ शक्नुतश्चैतौ प्रत्येकं पुरोडाशमभिनिर्वर्त्तयितुं, तत्र यदि मिथाभ्यां पुरोडाशोऽभिनिर्वर्त्येत परस्परानपेक्षव्रीहियवविधातृणी उभे अपि शास्त्रे बाध्येयाताम्। न चैतौ प्रयोगवचनः समुच्चेतुमर्हति, स हि यथाविहितान्यङ्गान्य-

भामती—व्याख्या

प्राप्त होता है।

**सिद्धान्त**—जीव अपनी स्वापावस्था के लिए नाडी, पुरीतत् एवं ब्रह्म—इन तीनों का समुच्चितरूप से आश्रयण करता है। आशय यह है कि जो पदार्थ नित्यतः ( अपाक्षिकरूपेण ) विहित होते हैं, उनके विकल्प का आश्रयण तभी किया जाता है, जब कि अन्य कोई मार्ग नहीं रहता, जैसा कि वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद् व्रीहियववाक्योः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते॥ ( तं. वा. पृ. १७५ )

अर्थात् प्रकृत याग के साधनीभूत पुरोडाशरूप विकार की प्रकृति के रूप में स्वातन्त्र्येण व्रीहि और यव का विधान किया गया है—"व्रीहिभिर्यजेत" ( आप. श्रौ. ६।३१।१२ )। "यवैर्यजेत" ( आप. श्रौ. ६।३१।१२ )। इनमें प्रत्येक द्रव्य के द्वारा पुरोडाश का निर्माण किया जा सकता है। यदि व्रीहि और यव—इन दोनों को मिलाकर मिश्रित द्रव्य से पुरोडाश का निर्माण किया जाता है, तब विशुद्ध व्रीहि और विशुद्ध यव के विधायक शास्त्रों का बाध प्रसक्त होता है। अङ्ग-वाक्यों से सहकृत प्रधान-विधिरूप प्रयोग-विधि के आधार पर भी व्रीहि और यव का समुच्चय ( मिश्रण ) नहीं किया जा सकता, क्योंकि विशुद्ध व्रीहि आदि के विधायक वाक्यों के आधार पर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त व्यक्ति अन्यथाकरण कभी नहीं कर सकता, किन्तु दोनों द्रव्यों का समुच्चय कर देने पर निश्चितरूप से यथाविहित का अन्यथाकरण हो जाता है।

**शङ्का**—जैसे ( जै. सू. ९।२।४९ के अनुसार ) ज्योतिष्टोम याग में पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र में बृहत्साम और रथन्तरसाम का विकल्पतः अनुष्ठान होता है, किन्तु गोसवसंज्ञक विकृति याग में "गोसवे उभे कुर्यात्" इस विधि के अनुरोध पर दोनों सामों का पृष्ठस्तोत्र में सम्पादन करने के लिए पृष्ठस्तोत्र की आवृत्ति की जाती है। वैसे ही दर्शपूर्णमास के घटकीभूत आग्नेय याग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

भिसमीक्ष्य प्रवर्त्तमानो नेतान्यन्यथयितुं शक्नोति । मिश्रणे चान्यथात्वमेतेषाम् । न चाङ्गानुरोधेन प्रधानाभ्यासो 'गोसवे उभे कुर्य्यादिति'वद्युक्तः । अश्रुतो ह्यत्र प्रधानाभ्यासोऽङ्गानुरोधेन च सोऽन्याय्यः । न चाङ्गभूतेन्द्रवायवाविग्रहानुरोधेन यथा प्रधानस्य सोमयागस्यावृत्तिरेवमत्रापीति युक्तम् । सोमेन यजेतेति हि तत्रापूर्वयागविधिः । तत्र च दशमुष्टिपरिमितस्य सोमद्रव्यस्य सोममभिषुणोति सोममभिप्लावयतीति च वाक्यान्तरानुलोचनया रसद्वारेण यागसाधनीभूतस्येन्द्रवाय्वाद्युद्देशेन प्रादेशमात्रेषूर्ध्वपात्रेषु ग्रहणानि पृथक् प्रकल्पनानि संस्कारा विधीयन्ते न तु सोमयागोद्देशेनेन्द्रवाय्वादयो देवताश्चोद्यन्ते येन तासां यागनिष्पत्तिलक्षणैकार्थत्वेन विकल्पः स्यात् । न च प्रादेशमात्रमेकैकमूर्ध्वपात्रं दशमुष्टिपरिमितसोमरसग्रहणाय कल्पते येन तुल्यार्थतया ग्रहणानि विकल्प्येरन् । न च यावन्मात्रमेकमूर्ध्वपात्रं व्याप्नोति तावन्मात्रं गृहीत्वा परिशिष्टं त्यज्येतेति युज्यते । दशमुष्टिपरिमितोपादानस्यादृष्टार्थत्वप्रसङ्गात् । एवं तद्दृष्टार्थं भवेद्यदि तत्सर्वं याग उपयुज्येत । न च दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना न्याय्या, तस्मात्सकलस्य सोमरसस्य यागशेषत्वेन संस्काराहंत्वादेकैकेन च ग्रहणेन सकलस्य संस्कर्त्तुमशक्यत्वात्तदवयवस्यैकेन संस्कारेऽवयवा-

भामती—व्याख्या

को आवृत्ति व्रीहि और यव—दोनों की विधियों के अनुरोध पर करनी चाहिए—एक बार व्रीहि के द्वारा और दूसरी बार यव के द्वारा वही याग किया जाय ।

**समाधान**—दृष्टान्त में जैसे "उभे कुर्यात्"—ऐसा वाक्य श्रुत है, वैसे प्रकृत में "व्रीहियवाभ्यां यजेत"—ऐसा कोई वाक्य श्रुत नहीं कि व्रीहि और यवरूप अङ्गों के अनुरोध पर यागरूप अङ्गी पदार्थ की आवृत्ति की जा सके ।

**शङ्का**—साहित्य-विधायक वाक्य के न होने पर भी जैसे "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" (मै. सं. ४।५।८), "मैत्रावरुणं गृह्णाति" (श. ब्रा. ४।१।४।७), "आश्विनं गृह्णाति" (श. ब्रा. ४।२।४।११) इत्यादि सोम-ग्रहणरूप ( पात्रों में सोम-रस भरना ) अङ्ग के अनुरोध पर प्रधानभूत सोमयाग की आवृत्ति की जाती है, वैसे ही प्रकृत में व्रीहि और यवरूप द्रव्यों के अनुरोध पर आग्नेय याग की आवृत्ति क्यों न की जाय ?

**समाधान**—"ऐन्द्रवायवं गृह्णाति"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा एक ही सोमयाग की आवृत्ति नहीं की जाती, अपितु प्रत्येक वाक्य के द्वारा भिन्न-भिन्न यागों का विधान किया जाता है । "सोमेन यजेत" ( तै. सं. ३।२।२ ) इस वाक्य के द्वारा भी एक अपूर्व ( पूर्व-निरपेक्ष स्वतन्त्र ) याग का विधान किया जाता है । इस एक याग के उद्देश्य से यदि इन्द्र, वायु आदि अनेक देवताओं का विधान "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति"—इत्यादि वाक्यों से किया जाता, तब अवश्य ही देवताओं का विकल्प माना जा सकता था किन्तु ऐसा नहीं, अपितु दशमुष्टि-परिमत सोमलता को कूट-काट कर "सोममभिषुणोति"—इत्यादि विधियों से विहित सोम-रस निकाला जाता है । वह रस इन्द्रवायु आदि देवताओं के उद्देश्य से उन ग्रह नाम के काष्ठमय डमरू की आकृति के प्रादेशमात्र ऊँचे गिलासों में भरा जाता है, सोमरस भरने का नाम ग्रहण है, अतः इन्द्रवायु आदि देवता याग के अङ्ग नहीं, अपितु ग्रहण के अङ्ग माने जाते हैं । जितना रस ग्रह ( पात्र ) में आता है, उतना उसमें भरकर शेष रस फेंक दिया जाय—ऐसा मानने पर दशमुष्टि-परिमित सोमलता का ग्रहण दृष्टार्थक न रहकर अदृष्टार्थक हो जाता है, क्योंकि वह पूरा दृष्टार्थक तभी हो सकता था, जब कि पूरा याग में उपयुक्त होता । दृष्ट फल जब तक प्राप्त होता है, तब तक किसी पदार्थ को अदृष्टार्थक नहीं माना जाता । इस प्रकार पूरा सोम-रस याग का अङ्ग होने के कारण पूरा ही ग्रहणादि संस्कारों से संस्करणीय है, एक-एक पात्र में ग्रहणमात्र से समस्त

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वेषामेव नाडयादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते, तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति । विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात् । नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाडयादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम्, नेत्युच्यते. तह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति । नानार्थत्वसमुच्चयोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्प्रासादे शेते पर्यंके शेत इत्येवमादिषु ।

भामती

न्तरस्य ग्रहणान्तरेण संस्कार इति कार्य्यभेदाद् ग्रहणानि समुच्चीयेरन् । अत एव समुच्चयदर्शनं दर्शयतान-ध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णातीति । समुच्चये च सति क्रमोऽप्युपपद्यते—आश्विनो दशमो गृह्यते तृतीयो हूयते । तथैवेन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णातीति । तेषां च समुच्चये सति यावद्यदुद्देशेन गृहीतं तावत्तस्यै देवतायै त्यक्तव्यमित्यर्थाद्यागस्यावृत्त्या भवितव्यम् । यदि पुनः पृथक्कृतान्यप्येकीकृत्य काञ्चन देवतामुद्दिश्य त्यजेरन् पृथक्करणानि च देवतोद्देशाश्रावदृष्टार्था भवेयुः । न च दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना न्याय्येत्युक्तम् । तस्मात्तत्र समुच्चयस्यावश्यम्भावित्याद् गुणागुरोधेनापि प्रधानाभ्यास आस्थीयते । इह त्वभ्यासकल्पनाप्रमाणाभावात् पुरोडाशद्रव्यस्य चानियमेन प्रकृतिद्रव्ये यस्मिन् कस्मिंश्चित्प्राप्ते एकैका परस्परानपेक्षा व्रीहिश्रुतिर्यवश्रुतिश्च नियामिकैकार्थतया विकल्पमर्हतः । न तु नाडीपुरीतत्परमात्मनाम-न्योन्यानपेक्षाणामेकनिलयनार्थत्वसम्भवो येन विकल्पो भवेत् । नह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थता भवति

भामती—व्याख्या

सोम-रस का संस्कार नहीं हो सकता, अतः एक पात्र में ग्रहण करने से उक्त सोम-रस के कुछ भाग एवं दूसरे पात्र में ग्रहण करने से भागान्तर का संस्कार मानकर सभी पात्रों में ग्रहण का समुच्चय प्राप्त होता है, जैसा कि कहा गया है—"दशैतानध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति" [ प्रातःकालीन अभिषव के समय अध्वर्यु दश पात्रों में सोम-रस का ग्रहण करे ] । समुच्चय-पक्ष में क्रम का अभिधान भी सार्थक हो जाता है—"आश्विनो दशमो गृह्यते तृतीयो हुयते" ( काठ. सं. २७।५) [ सोम-रस भरते समय आश्विन-ग्रह में दसवें स्थान पर सोम-रस का ग्रहण किया जाय और ग्रहों के द्वारा अग्नि में आहुति डालते समय तृतीय स्थान पर आश्विन ग्रह से आहुति डाली जाय ] । "एन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णाति" [ इन्द्रवायुदेवताक ग्रह को प्रथमता देते हुए ग्रहों में सोम-रस भरा जाय ] यहाँ पर प्राथम्य का विधान भी समुच्चय-पक्ष में ही संगत होता है। जब उन ( ग्रहण रूप अङ्गों ) का समुच्चय माना जाता है, तब जितना रस जिस देवता के उद्देश्य से गृहीत है, उतने ही रस का उस देवता के उद्देश्य से त्याग करना होगा । किसी देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही याग पदार्थ है, फलतः ग्रहणरूप अङ्ग के अनुरोध पर याग की आवृत्ति होनी चाहिए । यदि पृथक्-पृथक् देवता के उद्देश्य से गृहीत रसों को एक में मिलाकर किसी एक देवता के उद्देश्य से त्याग किया जाता है, तब पृथक्-पृथक् ग्रहण यागार्थक न होकर अदृष्टार्थक हो जाता है, जो कि सर्वथा अनुचित है,—यह कहा जा चुका है। फलतः सभी ग्रहों में गृहीत सोम-रस का पृथक्-पृथक् त्याग (याग) करना होगा । इस प्रकार याग का अभ्यास ( आवर्तन ) अपने-आप हो जाता है किन्तु व्रीहि और यव के द्वारा याग की आवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं, केवल पुरोडाश का निर्माण करने के लिए व्रीहि और यव में से कोई एक प्रकृति द्रव्य अपेक्षित है, अतः इन दोनों समानार्थक प्रकृति द्रव्यों का विकल्प मान लिया जाता है । नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म—ये तीनों व्रीहि-यव के समान परस्पर-निरपेक्ष नहीं, अतः जीव-निलयन रूप एक कार्य के सम्पादन में इनका विकल्प नहीं माना जा सकता । केवल समान विभक्ति का निर्देश हो जाने से ही पदार्थों में एकार्थकता नहीं आती, क्योंकि समुच्चित पदार्थों के उपस्थापक पदों में भी एक विभक्ति का निर्देश हो जाता है, जैसे—'पर्यङ्के शेते प्रासादे शेते [ महल में पलंग पर सोता है ] । इस प्रकार समान विभक्ति का निर्देश विकल्प


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः। तथा च श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' ( कौषी० ४।१९ ) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात्। प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम् 'प्राणस्तथानुगमात्' ( ब्र० सू० १।१।२८ ) इत्यत्र। यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' ( छा० ८।६।३ ) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते। न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पत्सृप्त एव नाडीषु भवति। यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति। अपि चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सुप्तिसंकीर्तनम्। 'नाडीषु सृप्तो भवति' ( छा० ८।६।३ ) इत्युक्त्वा 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' ( छा० ८।६।३ ) इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति; ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति' ( छा० ८।६।३ ) इति। तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः। अथवा—तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः, श्रुत्यन्तरे—'ब्रह्मैव तेज एव' ( बृ० ४।४।७ ) इति तेजः-

भामती

समुच्चितानामप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात् पर्य्यङ्के शेते प्रासादे शेत इति। तस्मादेकविभक्तिनिर्देशस्यानैकान्तिकत्वादन्यतो विनिगमना वक्तव्या। सा चोक्ता भाव्यकृता ❀यत्रापि निरपेक्षा इव नाडोः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति❀ इत्यादिना। सापेक्षश्रुत्यनुरोधेन निरपेक्षश्रुतिर्नेतव्येत्यर्थः। शेषमतिरोहितार्थम्।

ननु यदि ब्रह्मैव निलयनस्थानं तावन्मात्रमुच्यतां कृतं नाड्युपन्यासेनेत्यत आह ❀ अपि चात्रेति ❀। अपि चेति समुच्चये, न विकल्पे। एतदुपपत्तिसहिता पूर्वोपपत्तिरर्थसाधिनीति। मार्गोपदेशोपयुक्तानां नाडीनां स्तुत्यर्थमत्र नाडीसङ्कीर्त्तनमित्यर्थः। पित्तेनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान् विषयान् वेदेति तद्द्वारा सुखदुःखाभावेन तत्कारणपाप्मास्पर्शेन नाडीस्तुतिः। यदा तु तेजो ब्रह्म तदा सुगमम्।

भामती—व्याख्या

से व्यभिचरित है, अतः प्रकृत में विकल्प को छोड़कर अन्य प्रकार से समन्वय करना चाहिए। वह प्रकार भाष्यकार ने कहा है—"यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति"। सापेक्ष श्रुति के अनुरोध पर निरपेक्ष श्रुति का संगमन करना चाहिए, अतः यद्यपि "आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति" ( छां. ८।६।३ ) इस श्रुति में समुच्चय का निर्देश नहीं, तथापि समुच्चय-प्रतिपादिका "ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति" ( छां. ८।६।३ ) इस श्रुति के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए।

जीव के निलयन का स्थान यदि ब्रह्म ही है, तब नाडी आदि के उपन्यास की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अपि चात्र"। 'अपि च' यह शब्द समुच्चयार्थक है, विकल्पार्थक नहीं। आशय यह है कि नाडी आदि का निर्देश मार्गोपदेश के लिए है और अब कहा गया है कि नाड़ी का निर्देश स्तुति के लिए है—इन दोनों उपपत्तियों का समुच्चय विवक्षित है कि मार्गोपदेश में उपयुक्त नाड़ियों का निर्देश स्तुति के लिए है—"नाडीषु सुप्तो भवति। तं च न कश्चन पाप्मा स्पृशति" ( छां. ८।६।३ )। अर्थात् नाडियों में प्रविष्ट जीव की इन्द्रियाँ पित्त द्रव्य से आक्रान्त होने के कारण जीव को वाह्य विषयों का ज्ञान नहीं हो पाता, अतः सुख-दुःख नहीं होता। सुख-दुःख न होने का मुख्य कारण पापादि का अस्पर्श ( अभाव ) है। नाडियों की यही स्तुत्यता है कि उनमें प्रविष्ट जीव का पापादि स्पर्श नहीं करते। "तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति" ( छां. ८।६।३ ) इस श्रुति में जब 'तेजः' पद के

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात्। ब्रह्मणा हि तदा सम्पन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः। ब्रह्मसम्पत्तिश्च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' (छा० ८।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। एवं च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति। तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुषुप्तिस्थानत्वं विज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे सुषुप्तिस्थाने प्रकृत इदमुच्यते 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते। तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम्। प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तत इत्युच्यते। हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र। तथा नाडीपुरीतत्सम्बन्धेऽपि—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते। सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम्। एवमेतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि—नाड्यः पुरीतद् ब्रह्म चेति। तत्रापि द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च, ब्रह्मैव त्वेकमनपायि सुषुप्तिस्थानम्। अपि च नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति, तत्रास्य करणानि वर्तन्त इति। न ह्युपाधिसं-

भामती

अपि च नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवतीति। अयमर्थः—अभ्युपेत्य जीवस्याधेयत्वमिदमुक्तम्। परमार्थतस्तु न जीवस्याधेयत्वमस्ति। तथाहि—नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाधीनां करणानामाश्रयः। जीवस्तु ब्रह्माव्यतिरेकात् स्वमहिमप्रतिष्ठः। न चापि ब्रह्म जीवस्याधारस्तादात्म्याद्विकल्प्य तु व्यतिरेकं ब्रह्मण आधारत्वमुच्यते जीवं प्रति। तथा च सुषुप्तावस्थायामुपाधीनामसमुदाचारज्जीवस्य ब्रह्मात्मत्वमेव ब्रह्माधारत्वं न तु नाडीपुरीतदाधारत्वम् तदुपाधिकरणमात्राधारतया तु सुषुप्तप्रशारम्भाय जीवस्य नाडीपुरीतदाधारत्वमित्यतुल्यार्थतया न विकल्प्यत इति।

भामती—व्याख्या

द्वारा पित्त द्रव्य का ग्रहण न कर ब्रह्म की विवक्षा की जाती है, तब यह सुगम अर्थ निकल आता है कि जीव नाडियों के द्वारा जाकर ब्रह्मरूप हो जाता है, अतः पाप उसका स्पर्श नहीं करता।

"अपि च नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति"—इस भाष्य का अर्थ यह है कि अभी तक जो नाडियों को जीव का आधार कहा गया, वह जीव को परिच्छिन्न और आधेय मानकर, वस्तुतः जीव व्यापक है, वह आधेय नहीं, नाडियों में जीव की आधारता नहीं, अपितु जीव के उपाधिरूप करणों (इन्द्रियों) की आश्रयता निहित होती है और जीव नाडियों से भिन्न अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होता है—"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति, स्वे महिम्न" (छां. ७।२४।१)। ब्रह्म को भी जीव का आधार नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म और जीव का तादात्म्य (अभेद) माना जाता है। कल्पित भेद को मनमें रख कर ब्रह्म को जीव का आधार कह दिया गया है। फलतः सुषुप्त जीव की उपाधि (अन्तःकरणादि) में अर्थ क्रिया-कारित्व न रहने के कारण जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, यही जीव की ब्रह्म में आधारता है, नाड़ियों और पुरीतत् देश में नहीं। केवल जीव की अन्तःकरणादि उपाधि की आधारता होने के कारण जीव सुषुप्ति अवस्था का लाभ करने के लिए नाडियों और पुरीतत् देश का अवलम्बन करता है, अतः तुल्यार्थक होने के कारण नाडी आदि का विकल्प नहीं किया जा सकता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः कश्चित्संभवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते, कथं तर्हि ? तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुप्तो भवतीत्यर्थः। अपि च न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति, स्वरूपस्यानपायित्वात्। स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात्परूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्तेः स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते। अतश्च सुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न संपद्यत इत्ययुक्तम्। अपि च स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते। तत्र सति संपन्नस्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम्, 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० २।४।१४) इति श्रुतेः। नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिदविज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, भेदविषयत्वात्, 'यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४। ३।३१) इति श्रुतेः। ननु भेदविषयस्याप्यतिदूरादिकारणमविज्ञाने स्यात्। बाढम्,

भामती

❀ अपि च न कदाचिज्जीवस्येति ❀। औत्सर्गिकं ब्रह्मस्वरूपत्वं जीवस्यास्ति जाग्रत् स्वप्नदशारूपेऽपवादे सुषुप्तावस्थायां नान्यथयितुं शक्यमित्यर्थः। अपि च येऽपि स्थानविकल्पमास्थिषत तेरपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणा सुषुप्त्यवस्थाङ्गीकर्त्तव्या। न चेयमात्मतादात्म्य विना नाडयादिषु परमात्मन्यतिरिक्तेषु स्थानेषूपपद्यते। तत्र हि स्थितोऽयं जीव आत्मन्यतिरेकाभिमानी सन्नवश्यं विशेषज्ञानवान् भवेत्। तथाहि श्रुतिः—'यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्' इति। आत्मस्थानत्वे त्वदोषः। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कम्पश्येद्विजानीयाद्' इति श्रुतेः। तस्मादव्यात्मस्थानत्वस्य द्वारं नाडयादीत्याह ❀ अपि च स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि इति ❀। अत्र चोदयति ❀ ननु भेदविषय-

भामती—व्याख्या

"अपि च न कदाचिज्जीवस्य"—इस भाष्य के द्वारा यह तथ्य प्रकट किया गया है कि जीव में ब्रह्मरूपता स्वाभाविक है किन्तु जाग्रत् और स्वप्न में उपाधियों के सम्पर्क से जीव में अब्रह्मरूपता का आरोप हो जाता है, सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत् और स्वप्न का अभाव होने के कारण जीव की निसर्ग-सिद्ध ब्रह्मरूपता का अन्यथाकरण सम्भव नहीं रह जाता। दूसरी बात यह भी है कि जो लोग जीव के नाड़ी आदि स्थानों का विकल्प स्वीकार करते है, वे भी विशेष विज्ञानाभावरूप सुषुप्ति की यह एकरूपता तभी अक्षुण्ण रह सकती है, जब कि सभी स्थानों के द्वारा समानरूप से ब्रह्मरूपता की ही सम्पत्ति हो। किन्तु विकल्प-पक्ष में नाडी और पुरीतत् पदार्थ ब्रह्म से भिन्न हैं, अतः नाड़ियों की तादात्म्यापत्ति एवं पुरीतत्तादात्म्यापत्ति में ब्रह्म-तादात्म्य का लाभ न होने के कारण सुषुप्ति के स्वरूप में ऐकविध्य न रहकर वैविध्य आ जाता है, अतः नाडी आदि स्थानों के द्वारा जीव की ब्रह्मतादात्म्यापत्ति ही स्वीकृत करनी होगी, जैसा कि श्रुति कहती है—यत्र वा अन्यदिव स्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्" [ अर्थात् जिन नाडी आदि प्रदेशों की तादात्म्यापत्ति से जीव अपने को ब्रह्म-भिन्न ही समझेगा ] किन्तु "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् ?" (बृह० उ० ४।५।३१) अर्थात् जब जीव ब्रह्मरूप ही हो जाता है, तब दर्शन के कारण और कर्मकारक का अभाव हो जाने से जीव किस साधन के द्वारा किस तत्त्व को अपने से भिन्न समझेगा ? फलतः ब्रह्मरूपतापत्ति के द्वारमात्र नाडी आदि स्थान होते हैं—"अपि च स्थान विकल्पाभ्युपगमेऽपि।"

शङ्का—"ननु भेदविषयस्यापि"। 'भिद्यते इति भेदः'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर भिद्यमान घटादि पदार्थों का 'भेदविषय' पद से ग्रहण किया गया है अर्थात् जैसे ब्रह्म में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं स्याद्यदि जीवः स्वतः परिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत—यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यति। न तु जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगतमेवाति-दूरादिकारणमविज्ञान इति यद्युच्येत, तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात्सत्येव सम्पन्नो न विजानातीति युक्तम्। न च वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः। न हि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतद्धेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोजनमस्ति। नह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किञ्चित्फलं श्रूयते। नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुप-दिश्यते, ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः। तेन तु विज्ञानेन प्रयोजन-मस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वावधारणं च। तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

---

## अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवच-नावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ०

---

भामती

स्यापि इति ॐ। भिद्यत इति भेदः। भिद्यमानस्यापि विषयस्येत्यर्थः। परिहरति ॐवाढमेवं स्यात् इति ॐ। न तावज्जीवस्यास्ति स्वतःपरिच्छेदस्तस्य ब्रह्मात्मत्वेन विभुत्वात्। औपाधिके तु परिच्छेदे यत्रोपाधिरसन्निहितस्तन्मात्रं न जानीयान्न तु सर्वम्। नह्यसन्निधानात् सुमेरुमविद्वान् देवदत्तः सन्निहित-मपि न वेद। तस्मात्सर्वविशेषविज्ञानप्रत्यस्तमयीं सुषुप्तिं प्रसाधयता तदास्य सर्वोपाध्युपसंहारो वक्तव्यः। तथा च सिद्धस्य तदा ब्रह्मात्मत्वमित्यर्थः। गुणप्रधानभावेन समुच्चयो न समप्रधानतयाग्नेयाविवदिति वदन् विकल्पमप्यपाकरोति ॐ न च वयमिह इति ॐ। स्वाध्यायाध्ययनविध्यापादितपुरुषार्थत्वस्य वेदराशेरेकेनापि वर्णेन नापुरुषार्थेन भवितुं युक्तम्। न च सुषुप्तावस्थायां जीवस्य स्वरूपेण नाड्यादि-

---

भामती—व्याख्या

विलीन हो जाने पर जीव को सुषुप्ति अवस्था में विशेष ज्ञान नहीं होता, वैसे ही नाडी और पुरीतत् देश में विलीन हो जाने पर भी विषयों से दूर रहने के कारण विषयों का ज्ञान कैसे होगा ?

**समाधान**—"बाढमेवं स्यात्"। अर्थात् जीव स्वतः परिच्छिन्न नहीं कि घटादि विषयों से वह दूर रह सके। जीव वस्तुतः ब्रह्मरूप होने से व्यापक है, अतः वह भी घटादि पदार्थों से दूर नहीं रह सकता। अन्तःकरणादि उपाधियों के परिच्छेद से जीव को परिच्छिन्न मानने पर उपाधि-सन्निकृष्ट पदार्थों का ही ज्ञान होगा, सभी पदार्थों का नहीं। ऐसा लोक में कभी नहीं देखा जाता कि देवदत्त अपने से अत्यन्त दूर के सुमेरु आदि का ज्ञान न रखने पर भी अपने सन्निहित पदार्थों का भी ज्ञान न रखे। अतः सर्व विशेष विज्ञानों की उपशमरूप सुषुप्ति का सम्पादन करने के लिए सुषुप्ति में सभी उपाधियों का उपसंहार मानना होगा जिससे जीव की ब्रह्मरूपता सिद्ध हो सके।

नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म—इन तीनों स्थानों का समुच्चय तभी हो सकता है, जबकि इन तीनों में गुण-प्रधानभाव न मानकर समानरूप से तीनों का वैसे ही प्राधान्य माना जाय, जैसे दर्शपूर्णमास में आग्नेय, अग्नीषोमीय और उपांशुयाज का माना जाता है। इस प्रकार नाडी आदि का समुच्चय दिखाकर भाष्यकार विकल्प-पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—"न च वयमिह"। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (तै. आ. २।१५) यह विधि-वाक्य समस्त वेद के अध्ययन का विधान कर रहा है, निष्प्रयोजन का अध्ययन सम्भव नहीं, अतः समस्त वेद में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२।१।२० ) इत्यादिना । 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' ( छा० ६।१०।२ ) इति च । विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

---

## ( ३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणम् । सू० ९ )

## स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव प्रतिबुध्यत उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते । तत्र प्राप्तं तावत्—अनियम इति । कुतः ? यदा हि

भामती

स्थानत्वप्रतिपादने किञ्चित् प्रयोजनं ब्रह्मभूयप्रतिपादने त्वस्ति । तस्मान्न समप्रधानभावेन समुच्चयो नापि विकल्प इति भावः । नीतार्थमन्यत् ॥ ७-८ ॥

---

यद्यपीश्वरादभिन्नो जीवस्तथाप्युपाध्यवच्छेदेन भेदं विवक्षित्वाऽधिकरणान्तरारम्भः । स एवेति दुःसम्पादमिति स वान्यो वेति ईश्वरो वेति सम्भवमात्रेणोपन्यासः । न हि तस्य शुद्धमुक्तस्वभावस्याविद्याकृतव्युत्थानसम्भवः । अत एव विमर्शावसरेऽस्यानुपन्यासः । यद्धि द्वयहादिनिर्वर्त्तनीयमेकस्य पुंसश्रोवितं

भामती–व्याख्या

सप्रयोजनता पर्यवसित होती है, उसका एक वर्ण भी निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु नाडी की तादात्म्यापत्ति के प्रतिपादन का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, अतः उक्त श्रुति के द्वारा नाडी आदि के माध्यमसे जीव की ब्रह्मरूपतापत्ति का प्रतिपादन सप्रयोजन है । फलतः नाडी आदि का यहाँ न तो समप्रधानतया समुच्चय विवक्षित है और न विकल्प। शेष भाष्य पूर्व व्याख्या से ही गतार्थ है ॥ ७, ८ ॥

—: ० :—

**संशय**—सुषुप्ति अवस्था में यदि जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है, तब सुषुप्ति से उत्थित होनेवाला जीव क्या वह या अन्य जोव कोई भी हो सकता है ? अथवा नियमतः वही सुप्त जीव ?

**आक्षेप**—भास्कराचार्य ने इस सूत्र की योजना पूर्व अधिकरण के साथ करते हुए आचार्य की अधिकरणान्तर-रचना पर आक्षेप किया है—"येषामीश्वर एव साक्षात् संसारीतिदर्शनम् , तेषां न पूर्वपक्षोऽवकल्पते, न सिद्धान्तः" ( भास्कर० पृ० १६४ ) अर्थात् जिनके मत में ईश्वर ही जीव है, उनके मतानुसार न तो जीवान्तर के उठने का पूर्वपक्ष ही बनता है और न उसी जीव के उठने का सिद्धान्त ।

**समाधान**—उक्त आक्षेप का अनुवाद करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने समाधान किया है—"यद्यपि ईश्वरादभिन्नो जीवः, तथापि उपाध्यवच्छेदेन भेदं विवक्षित्वाऽधिकरणान्तरारम्भः । अर्थात् यद्यपि पारमार्थिकदृष्ट्या जीव ईश्वर से अभिन्न ही होता है, तथापि उपाधि के परिच्छेद से ( औपाधिक ) भेद मानकर अधिकरणान्तर की रचना की गई है ।

**पूर्वपक्ष**—जैसे लोटे में भरा जल समुद्र में डालकर समुद्र से पुनः लोटा भरा जाय तब उस लोटे में वही जल आएगा ? अथवा अन्य जल ? कोई नियम नहीं । वैसे ही सुषुप्ति से उत्थित होनेवाला कौन होगा, ऐसा कोई नियम नहीं, अतः कोई भी हो सकता है—"स एवेश्वरो वा ? अन्यो वा जीवः प्रतिबुध्येत ?" । इस भाष्य में 'स एव' यह अंश पूर्वपक्ष में दुःसम्पाद्य है, क्योंकि जब 'अनियम' का पूर्वपक्ष उठाया गया है, तब नियमार्थक एवकार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते, जलराशिरेव स तदा भवति, पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दुर्भवतीति दुःसंपादम्। तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः संप्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति। तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इत्येवं प्राप्त इदमीह स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति, नान्यः। कस्मात्? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि। कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति, नान्यः। तथा हि पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन् दृश्यते। न चान्येन साभिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते। इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते। नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति। सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्त-

भामती

कर्म तस्य पूर्वेद्युरनुष्ठितस्यास्ति स्मृतिरिति वक्तव्येऽनुः प्रत्यभिज्ञानसूचनार्थः, अत एव सोऽहमस्मी-

भामती-व्याख्या

से घटित पूर्वपक्ष यहीं हो सकता, अतः 'स वा, अन्यो वा इतना ही पूर्वपक्ष है। 'ईश्वरो वा'—यह कथन भी पूर्वपक्ष का घटक नहीं, केवल सम्भावना पर आश्रित है, क्योंकि शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप ईश्वर का अविद्या-प्रयुक्त उत्थान वस्तुतः सम्भव नहीं। अत एव संशय-प्रदर्शन के अवसर पर ईश्वर-पक्ष का उपन्यास ही नहीं किया गया, केवल स वाऽन्यो वा'—इतना ही कहा गया है।

**सिद्धान्त**—"स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः"। अर्थात् वही प्रसुप्त जीव ही सुषुप्ति से उत्थित होता है, क्योंकि—(१) कर्म, (२) अनु (ज्ञान), (३) स्मृति, (४) शब्द और (५) विधि—इन पाँच हेतुओं से सुप्त और उत्थित जीव की एकता सिद्ध होती है—

(१) **कर्म**—किसी भी लौकिक या वैदिक कर्म का कुछ भाग जिस व्यक्ति ने किया, दूसरे दिन उसे पूरा करने के लिए वही व्यक्ति प्रवृत्त होता है। यदि मध्य में सुषुप्ति का व्यवधान हो जाने से पहला व्यक्ति न रहे, तब अधूरे कार्य को पूरा करने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

(२) **अनु (ज्ञान)**—कतिपय व्याख्याकार एकता-साधक इन पाँच हेतुओं के तीन ही विभाग करते हैं, उनके अनुसार कर्मानुस्मरण को एक ही पद माना जाता है। किन्तु यदि अधूरे कर्म का स्मरण ही विवक्षित होता, तब जो व्यक्ति द्व्यहसंज्ञक सोमयाग [ सोमलता का रस जिस कर्म में प्रधान हवि होता है, उसे सोमयाग कहते हैं, उसके दो भेद होते हैं—(१) एकाह और (२) अहीन। जिसमें सोम-रस की अभिषवक्रिया ( सुत्या ) एक ही दिन होती है, वह एकाह और जिसमें सोम-रस का निष्कासन कई दिन होता है, उसे अहीन कहते हैं। अहीन कर्म द्व्यह से लेकर द्वादशाह-पर्यन्त होते हैं—'द्व्यहप्रभृतयो द्वादशाह-पर्यन्ताः" ( कात्या० श्रौ० २३।१।३ )। द्विदिनसाध्यसुत्याक कर्म ] में प्रवृत्त होकर एक दिन का क्रिया-कलाप करता है। दूसरे दिन सो कर उठता है, पूर्व दिन के कृत्य-कलाप का स्मरण कर उसके पश्चात् विहित कर्मों को करता है ( इस प्रकार 'कर्मस्मरण' पद के द्वारा कर्ता पुरुष की एकता सिद्ध हो जाती है, अतः सूत्रस्थ 'अनु' शब्द व्यर्थ क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने 'अनु' शब्द को प्रत्यभिज्ञारूप अतिरिक्त हेतु का सूचक मानकर कहा है—"सोऽहमस्मीति"।

(३) **स्मृति**—यह एक सामान्य नियम है कि जो व्यक्ति जिसका अनुभव करता है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोत्थाने नावकल्पते । शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते । तथा हि—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' ( बृ० ४।३।१६ ) 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' ( छा० ८।३।२ ) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति' ( छा० ६।९।३ ) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः । कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते । अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः । अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत । एवं चेत्स्याद्वद—किं कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात् ? अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत् तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात् ? अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत् कल्पनानर्थक्यं स्यात् । यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे

भामती

स्युक्तम् । ❀ पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति इति ❀ । अयनम् आयः नियमेन गमनं न्यायः । जीवः प्रतिन्यायं सम्प्रसादे सुषुप्तावस्थायां बुद्धान्तायाद्रवति आगच्छति प्रतियोनि । योहि व्याघ्रयोनिः सुषुप्तो बुद्धान्तमागच्छन् स व्याघ्र एव भवति न जात्यन्तरम् । तदिदमुक्तम् ❀ त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा इति ❀ । ❀ अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेद इति ❀ । यो हि जीवः सुप्तः स शरीरान्तर उत्तिष्ठति, शरीरान्त-

भामती—व्याख्या

वही उसका स्मरण कर सकता है, अन्य नहीं ।

(४) शब्द—"शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते, तथा हि—पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव" ( बृह० उ० ४।३।१३ ) । यहाँ निपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'न्याय' शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—नियत अयन ( गमन या प्राप्ति ) । प्रतिन्यायं क्रिया-विशेषण है, अतः पूरे श्रुति-वाक्य का अर्थ इस प्रकार है कि जीव को अपने पूर्व स्थान की नियमतः प्राप्ति जैसे हो सके, वैसे वह सुषुप्ति अवस्था से बुद्धान्तर (जागरण) अवस्था में आने के लिए अपनी नियत योनि ( शरीर ) में आता है—जो व्याघ्र शरीरधारी जीव है, वह सुषुप्ति से जागरण में लौटता हुआ व्याघ्र शरीर में ही आता है, अन्य शरीर में नहीं, शब्द-प्रयोग यही कह रहा है—"त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति, तदा भवन्ति" (छा० ६।९।३) अर्थात् इस ( पूर्व की बोधावस्था ) में जिस जीव का जो शरीर होता है, वह जीव सुषुप्ति के अनन्तर जागरणावस्था में उसी शरीर में होता है, चाहे व्याघ्र हो, या सिंह हो, या वृक ( भेड़िया ) हो, या कीट हो, या पतङ्ग हो, या दंश हो, या मशक ( मच्छर ) हो, सभी जीव सुषुप्ति के पूर्व जो होते हैं, सुषुप्ति के पश्चात् वे वही होते हैं ।

(५) विधि—"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि कर्म-सम्बन्धी विधि-वाक्य और "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्य" इत्यादि ज्ञान-सम्बन्धी विधि-वाक्य सभी व्यर्थ हो जाते हैं, यदि जोव सुषुप्ति में जाने मात्र से मुक्त हो जाता है ।

यदि सुषुप्ति से अन्य जीव का उत्थान माना जाता है, तब वह अन्य जीव क्या अन्य शरीर में व्यवहार-रत है ? अथवा अन्य शरीर में प्रसुप्त ? प्रथम पक्ष मानने पर अन्य शरीर के उस व्यवहार का लोप हो जाना चाहिये और यदि अन्य शरीर में प्रसुप्त जोव का इस शरीर में जागरण माना जाता है, तब यद्यपि शरीरान्तर के व्यवहार का लोप प्रसक्त नहीं होता, तथापि अन्य जीव के उत्थान की यह कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि इसी शरीर में प्रसुप्त जीव का ही उत्थान सम्भव है ।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात् ? अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत। निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम्। एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम्। तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति। यत्पुनरुक्तं—यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति संपन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिहियते—युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम्। दृश्यते च दुर्विवेचयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम्। अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जलराशेः सतो विविच्येत। सदेव तूपाधिसंपर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम्। एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः। उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः। स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥ ९ ॥

---

## ( ४ मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम्। सू० १० )

**मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥**

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति। स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते। तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धाः—जागरितं, स्वप्नः, सुषुप्तमिति। चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः, न तु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य

भामती

एगतस्तु सुप्तजीवसम्बन्धिनि शरीर उत्तिष्ठति। ततश्च न शरीरान्तरे व्यवहारलोप इत्यर्थः। ॐ अपि च न जीवो नाम परस्मादन्य इति ॐ। यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः। अथ चान्य इव कश्चित् यावद्घटमनुवर्त्तते। न चासौ दुर्विवेचस्तदुपाधेर्घटस्य विविक्तत्वात्। एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधानभेदोपाधिकल्पितो जीवो न वस्तुतः परमात्मनो भिद्यते तदुपाध्युद्भवाभिभवाभ्यां चोद्भूत इवाभिभूत इव प्रतीयते। ततश्च सुषुप्तावपि अभिभूत इव जाग्रदवस्थाविषूद्भूत इव तस्य चाविद्यातद्वासनोपाधेरनादितया कार्य्यकारणभावेन प्रवहतः सुविवेचतया तदुपहितो जीवः सुविवेच इति ॥ ९ ॥

---

भामती—व्याख्या

"अपि च जीवो नाम न कश्चित् परस्मादन्यः'—इस भाष्य का आशय यह है कि जैसे घटाकाश पदार्थ महा आकाश से कोई अन्य नहीं, फिर भी घट जब तक है, तब तक भिन्न-जैसा प्रतीत होता है। उसका भेदक कौन ? इस प्रश्न का उत्तर है—घटरूप उपाधि। वैसे ही अनादि अनिर्वचनीय अविद्यारूप महा उपाधि ( मूलाविद्या ) की एक तूलाविद्यारूप अविद्या से अवच्छिन्न जीव वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं, केवल उपाधि ( तूलाविद्या ) के उद्भव और अभिभव के कारण जीव उद्भूत और अभिभूत प्रतीत होता है। जीव सुषुप्ति में अभिभूत और जागरण में उद्भूत-जैसा होता है। अविद्या ( कारणाविद्या ) और उसकी वासना ( संस्काररूप कार्याविद्या ) ये दोनों कार्यकारणरूप में सदैव प्रवाहित हैं, इनसे अवच्छिन्न जीव ब्रह्म से विविक्त जैसा ( भिन्न-जैसा ) प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

---

संशय—मूर्च्छा अवस्था क्या (१) जागरण, (२) स्वप्न, (३) सुषुप्ति और (४) मरण—इन चार अवस्थाओं के अन्तर्गत है ? अथवा इनसे भिन्न पञ्चमी अवस्था ?


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति । तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति । नह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत्—इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति । यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसम्पातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति—न, अचेतयमानत्वात् । इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति—इषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीति—अन्धे तमस्यहमेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं, न किंचिन्मया चेतितमिति । जाग्रतश्चैकविषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते । मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति । तस्मान्न जागर्ति, नापि स्वप्नान्पश्यति, निःसंज्ञकत्वात् । नापि मृतः, प्राणोष्मणोर्भावात् । मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते, निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम् । यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति, ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति । अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति । पुनरुत्थनाच्च न दिष्टं गतः । नहि यमं गतो यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति । अस्तु

भामती

विशेषविज्ञानाभावान्मूर्च्छा जागरस्वप्नावस्थाभ्यां भिद्यते पुनरुत्थानाच्च मरणावस्थायाः । अतः सुषुप्तिरेव मूर्च्छा विशेषज्ञानाभावाविशेषात् । चिरानुच्छ्वासवेपथुप्रभृतयस्तु सुप्तेरवान्तरप्रभेदाः । तद्यथा—कश्चित्सुप्तोत्थितः प्राह सुखमहमस्वाप्सं लघूनि मे गात्राणि प्रसन्नं मे मन इति, कश्चित् पुनर्दुःखमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि भ्रमत्यनवस्थितं मे मन इति । न चैतावता सुषुप्तिर्भिद्यते । तथा विकारान्तरेऽपि मूर्च्छा न सुषुप्तेर्भिद्यते । तस्मात्तल्लोकप्रसिद्धचभावान्नेयं पञ्चम्यवस्थेति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते, उच्यते—यद्यपि विशेषविज्ञानोपशमेन मोहसुषुप्तयोः साम्यं, तथापि नैक्यम् । नहि विशेषविज्ञानसद्भावसाम्यमात्रेण स्वप्नजागरयोरभेदः । बाह्येन्द्रियव्यापारभावाभावाभ्यां तु भेदे तयोः सुषुप्तमोहयोरपि प्रयोजनभेदात्कारणभेदाल्लक्षणभेदाच्च भेदः । श्रमापनुत्त्यर्था हि ब्रह्मणा सम्पत्तिः

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि मूर्च्छा अवस्था में विशेष ज्ञान का अभाव हो जाता है, अतः जागरण और स्वप्न—इन दोनों से मूर्च्छा भिन्न अवस्था है । मूर्च्छा टूटने पर जीव पुनः उठ बैठता है, अतः मरणावस्था से भी वह भिन्न सिद्ध होती है । तथापि मूर्च्छा एक प्रकार की सुषुप्ति ही है, क्योंकि विशेष ज्ञान का अभाव दोनों में होता है । बहुत देर तक श्वास न लेना, काँपना आदि सुषुप्ति के ही प्रकार हैं, क्योंकि सुषुप्ति से उठकर कोई कहता है—मैं बड़े सुख से सोता रहा, पूर्ण विश्राम मिला, शरीर हल्का हो गया, मन बहुत प्रसन्न है किन्तु कोई उसके विपरीत कहता है—"दुःखमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, भ्रमत्यनवस्थितं मे मनः" । इस प्रकार की विविध अनुभूतियों से सुषुप्ति भिन्न नहीं हो जाती । इसी प्रकार मुखगत भयानकतादि विकारों का भेद होने पर भी मूर्च्छा अवस्था सुषुप्ति से भिन्न कदापि नहीं । लोक में मूर्च्छा नाम की कोई पाँचवीं अवस्था प्रसिद्ध भी नहीं, अतः मूर्च्छा को सुषुप्ति की ही एक विधा मानना चाहिए ।

**सिद्धान्त**—यद्यपि विशेष-ज्ञान का अभाव होने के कारण मूर्च्छा और सुषुप्ति में समानता है, तथापि दोनों का अभेद नहीं हो सकता । जैसे विशेषज्ञानवत्ता का साम्य होने मात्र से स्वप्न और जागरण का अभेद नहीं होता, अपितु बाह्य इन्द्रियों के व्यापार की सत्ता और असत्ता को लेकर स्वप्न और जागरण का भेद माना जाता है, वैसे ही सुषुप्ति और

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्हि सुषुप्तः, निःसंज्ञत्वादमृतत्वाच्च, न, वैलक्षण्यात् । मुग्धः कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो भवति, भयानकं च वदनं, विस्फारिते नेत्रे । सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति, निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः । न चास्य देहो वेपते । पाणिपेषणमात्रेण च सुषुप्तमुत्थापयन्ति, नतु मुग्धं मुद्गरघातेनापि । निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः, मुसलसम्पातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य । नच लोकेऽस्ति प्रसिद्धिर्मुग्धः सुप्त इति । परिशेषादर्धसम्पत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः । निःसंज्ञत्वात्सम्पन्न इतरस्माद्वैलक्षण्यादसम्पन्न इति ।

कथं पुनरर्धसम्पत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम् ? यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' ( बृ० ४।३।२२ ), 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' ( छा० ८।४।१ ) इत्यादि । जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति । नच सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते । तस्मादुपाध्युपशमात्सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसम्पत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धसम्पत्तिरिति । अत्रोच्यते—न ब्रूमो मुग्धेऽर्ध-

भामती

सुषुप्तम् । शरीरत्यागार्था तु ब्रह्मणा सम्पत्तिर्मोहः । यद्यपि मत्यपि मोहे न मरणं तथाप्यसति मोहे न मरणमिति मरणार्थो मोहः । मुसलसम्पातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य श्रमादिनिमित्तत्वाच्च सुषुप्तस्य मूखनेत्राविविकारलक्षणत्वान्मोहस्य प्रसन्नवदनत्वाविलक्षणभेदाच्च सुषुप्तस्य, सुषुप्तस्य स्ववान्तरभेदेऽपि निमित्तप्रयोजनलक्षणाभेदादेकत्वं । तस्मात् सुषुप्तमोहावस्थयोर्ब्रह्मणा सम्पत्तावपि सुषुप्ते यादृशी सम्पत्तिर्न तादृशी मोह इत्यर्धसम्पत्तिरुक्ता, साम्यवैषम्याभ्यामर्धत्वम् । यदा चेतदवस्थान्तरं तदा भेदात् तत्प्रविलयाय

भामती—व्याख्या

मूर्च्छा में (१) प्रयोजन-भेद, (२) कारण-भेद और (३) लक्षण-भेद होने के कारण दोनों का भेद पर्यवसित होता है—

(१) प्रयोजन-भेद—सुषुप्तिगत जीव की ब्रह्म-तादात्म्यापत्ति का प्रयोजन श्रमापनयन और मूर्च्छागत ब्रह्म-तादात्म्यापत्ति का प्रयोजन है—शरीर-त्याग । यद्यपि मूर्च्छा के होने पर शरीर-त्याग अवश्यम्भावी नहीं, तथापि मूर्च्छा के बिना शरीर-त्याग ( मरण ) होता भी नहीं, अतः मरणप्रयोजनक मूर्च्छा मानी जाती है ।

(२) कारण-भेद—शिर पर मूसल आदि के प्रहार से पुरुष को मूर्च्छा आती है, किन्तु सुषुप्ति आती है श्रमातिरेक से ।

(३) लक्षण-भेद—मूर्च्छावस्था में मुख और नेत्रादि भयङ्कररूप से विकृत हो जाते हैं, किन्तु सुषुप्ति में मुख-मण्डल प्रसन्न रहता है । यद्यपि सुषुप्ति अवस्थाओं में भी कुछ-कुछ अन्तर रहता है । तथापि उनके निमित्त, प्रयोजन और लक्षण का भेद न होने के कारण उनमें भेद नहीं, एकता बनी रहती है । फलतः मुग्ध ( मोह या मूर्च्छा ) अवस्था में जीव की ब्रह्म के साथ सम्पत्ति ( तादात्म्यापत्ति ) होने पर भी सुषुप्ति अवस्था में जैसी सम्पत्ति होती है, वैसी मूर्च्छा में नहीं होती, अतः अर्ध सम्पत्ति कही गई है । कुछ साम्य और कुछ वैषम्य होने के कारण अर्धता का व्यवहार किया गया है । जब सिद्धान्त-पक्ष के अनुसार मूर्च्छा को अवस्थान्तर ( पाँचवीं ) अवस्था माना जाता है, तब जाग्रदादि चार अवस्थाओं से अतिरिक्त मूर्च्छा अवस्था का परिशोधन करने के लिए पृथक् प्रयत्न करना होगा और पूर्वपक्ष के अनुसार जब मूर्च्छा को अतिरिक्त न मानकर जाग्रदादि के अन्तर्गत ही समझा जाता है, तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


सम्पत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति । किं तर्हि ? अर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः । दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये । द्वारं चैतन्मरणस्य । यदाऽस्य सावशेषं कर्म भवति, तदा व्राह्मनसे प्रत्यागच्छतः । यदा तु निरवशेषं कर्म भवति, तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः । तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति । यत्तूक्तं—न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धास्तीति—नैष दोषः, कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात् । प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः । अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

---

## ( ५ उभयलिङ्गाधिकरणम् । सू० ११--२१ )

### न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्सम्पद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' ( छा० ३।१४।२ ) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः । 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' ( बृ० ३।८।८ ) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः । किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम् ? यद्यप्यन्यतरलिङ्गं, तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते । तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते

भामती

यत्नान्तरमास्थेयम् । अभेदे तु न यत्नान्तरमिति चिन्ताप्रयोजनम् ॥ १० ॥

---

अवान्तरसङ्गतिमाह ❀ येन ब्रह्मणा सुषुप्तादिष्विति ❀ । यद्यपि तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इत्यत्र निष्प्रपञ्चमेव ब्रह्मोपपादितं, तथापि प्रपञ्चलिङ्गानां बह्वीनां श्रुतीनां दर्शनाद्भवति पुनर्विचिकित्सा, अतस्तन्निवारणायारम्भस्तस्य च तत्त्वज्ञानमपवर्गोपयोगीति प्रयोजनवान् विचारः ।

तत्रोभयलिङ्गश्रवणादुभयरूपत्वं ब्रह्मणः प्राप्तम् । तत्रापि सविशेषत्वनिर्विशेषत्वयोर्विरोधात् स्वाभाविकत्वानुपपत्तेरेकं स्वतोऽपरं तु परतः । न च यत् परतस्तदपारमार्थिकम्, नहि चक्षुरादीनां स्वतः-

---

भामती-व्याख्या

तत्त्वम्पदार्थ के परिशोधनार्थ पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता यह दोनों पक्षों का अन्तर है ॥ १० ॥

---

**संगति**—"येन ब्रह्मणा सुषुप्तादिषु" । अर्थात् सुषुप्ति में जिस ब्रह्म की तादात्म्यापत्ति जीव को मिलती है । उसके स्वरूप पर विचार किया जाता है । यद्यपि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"—यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म ही प्रतिपादित है । तथापि "सर्वकर्मा सर्वकामः" ( छां० ३।१४।२ ) इस प्रकार के सविशेष ब्रह्म-प्रतिपादक अनेक श्रुतिवचनों को देखकर संशय हो जाता है कि ब्रह्म वस्तुतः सविशेष है ? अथवा निर्विशेष ? इस संशय को दूर करने के लिए इस अधिकरण का आरम्भ किया गया है । ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का उपयोगी है । अतः ब्रह्म-स्वरूप का विचार प्रयोजनवान् है ।

**पूर्वपक्ष**—सविशेष और निर्विशेष उभयस्वरूप की प्रतिपादक श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं, अतः उभयरूपता ब्रह्म में सिद्ध होती है । उसमें भी सविशेष और निर्विशेष—दोनों स्वरूप परस्पर विरुद्ध हैं, एक वस्तु के दोनों स्वरूप स्वाभाविक नहीं हो सकते, अतः एक स्वाभाविक और दूसरा औपाधिक मानना होगा । औपाधिक रूप को भी अपारमार्थिक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं, विरोधात्। अस्तु तर्हि स्थानतः, पृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति। नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं, न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३।१५। मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

## न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

अथापि स्याद्यदुक्तं—निर्विकल्पमेकलिङ्गमेव ब्रह्म, नास्य स्वतः स्थानतो वोभयलिङ्गत्वमस्तीति—तन्नोपपद्यते। कस्मात्? भेदात्। भिन्ना हि प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते। चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवं जातीयकाः। तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः सम्भवतीति—अयमप्यविरोधः, उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य। अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत्, नेति ब्रूमः, कस्मात्? प्रत्येकमतद्वचनात्। प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २।५।१) इत्यादि। अतश्च

भामती

प्रमाणभूतानां दोषतोऽप्रामाण्यमपारमार्थिकम्। विपर्ययज्ञानलक्षणकार्यानुत्पादशङ्कात्। तस्मादुभयलिङ्गकशास्त्रप्रामाण्यादुभयरूपता ब्रह्मणः पारमार्थिकीति प्राप्ते, उच्यते—न स्थानत उपाधितोऽपि परस्य ब्रह्मण उभयचिह्नत्वसम्भवः। एकं हि पारमार्थिकमन्यदध्यारोपितं पारमार्थिकत्वे ह्युपाधिजनितस्य रूपस्य ब्रह्मणः परिणामो भवेत्। स च प्राक् प्रतिषिद्धस्तत्परिशेष्यात् स्फटिकमणेरिव स्वभावस्वच्छधवलस्य लाक्षारसावसेकोपाधिरक्तिमा सर्वगन्धत्वादिरौपाधिको ब्रह्मण्यध्यस्त इति पश्यामः, निर्विशेषतापतिपादनार्थत्वात् श्रुतीनाम्। सविशेषतायामपि 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमय' इत्यादीनां श्रुतीनां ब्रह्मे-

भामती—व्याख्या

(असत्य) नहीं माना जा सकता, क्योंकि स्वतः प्रमाणभूत चक्षुरादि में जो दोषरूप उपाधि के कारण अप्रामाण्य प्राप्त होता है, वह यदि अपारमार्थिक माना जाता है, तब विपर्यय ज्ञानरूप कार्य का उत्पाद न हो सकेगा, फलतः उभयस्वरूप-प्रतिपादक शास्त्रों का प्रामाण्य ब्रह्म में उभयरूपता की पारमार्थिकता सिद्ध करता है।

सिद्धान्त—सूत्रस्थ 'स्थान' शब्द से पृथिव्यादि उपाधि का ग्रहण किया गया है, अतः उपाधि के सम्बन्ध से भी ब्रह्म में रूपान्तर (सविशेषरूपता) नहीं मान सकते, क्योंकि एक स्वरूप पारमार्थिक और दूसरा अध्यारोपित मानना होगा। उपाधि-जनित रूप को पारमार्थिक मानने पर उसको ब्रह्म का परिणाम कहना होगा, जो कि पहले निषिद्ध किया जा चुका है। परिशेषतः जैसे स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक मणि में लाक्षा-रसरूप उपाधि के सम्पर्क से रक्तरूप आरोपित होता है, वैसे ही निसर्गतः निर्विशेष ब्रह्म में पृथिवी आदि उपाधि के योग से सर्वगन्धत्वादि विशेषरूप अध्यस्तमात्र है। यह अध्यास श्रुतियों के द्वारा ब्रह्मगत निर्विशेषता का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। सविशेषतापादन के द्वारा ब्रह्म में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम्, भेदस्योपासनार्थत्वाद्भेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (क० ४।११) इति। तथाऽन्येऽपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे तत्' (श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतमिति ? अत उत्तरं पठति—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं, न रूपादिमत्। कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात्। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५। मुक्ति० २।७२) 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१), 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। इतराणि त्वाकारवद्ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि, न तत्प्रधानानि। उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम्। सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्ति-इत्येष विनिगमनायां हेतुः। येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्विपरीतमिति ॥ १४ ॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश

भामती

कत्वप्रतिपादनपरत्वाद् एकत्वनानात्वयोश्चैकस्मिन्नसम्भवाद् एकत्वाङ्गत्वेनैव नानात्वप्रतिपादनपर्य्यवसानात्। नानात्वस्य प्रमाणान्तरसिद्धतयानुवाद्यत्वादेकत्वस्य चानधिगतेर्विधेयत्वोपपत्तेर्भेदवदर्शननिन्दया च साक्षाद्ब्रू-

भामती—व्याख्या

नानात्व प्राप्त होता है किन्तु "यश्चास्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा" (बृह. उ० २।५।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म में एकत्व अभिहित है, नानात्व और एकत्व परमार्थतः एक पदार्थ में सम्भव नहीं, अतः सविशेषरूप का अनुवाद करके निर्विशेषता का विधान यह सिद्ध करता है कि एकत्व की सिद्धि के लिए ही नानात्व का आरोप किया गया है, क्योंकि प्रत्यक्षादि व्यावहारिक प्रमाणों के द्वारा ब्रह्म में नानात्व अधिगत है और एकत्व अनधिगत, अनधिगत अर्थ में विधेयत्व और अनधिगत अर्थ की प्रतिपादिका श्रुतियों का प्रामाण्य चित्तत्व समुचित है। भेद की निन्दा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपासनार्थो न विरुध्यते। एवमवैश्वर्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति। नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुम्, प्रमाणत्वाविशेषात्। नन्वेवमपि यत्पुरस्तात्प्रतिज्ञातं—नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति तद्विरुध्यते। नेति ब्रूमः, उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥ १५ ॥

## आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' ( बृ० ४।५।१३ ) इति। एतदुक्तं भवति—नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति, चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्। यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति, न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

## दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म, निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' ( बृ० २।३।६ ) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' ( के० १।३ ) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' ( तै० २।४।१ ) इत्येवमाद्या। वाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रुयते—'स होवाचाधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (गी० १३।१२) इत्येवमाद्यासु। तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति ॥ १७ ॥

## अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' इति।

---

भामती

यसीभिः श्रुतिभिरभेदप्रतिपादनाद् आकारवद्ब्रह्मविषयाणां च कासाञ्चिच्छ्रुतीनामुपासनापरत्वमसति बाधकेऽन्यपरावचनात्प्रतीयमानमपि गृह्यते, यथा देवतानां विग्रहवत्त्वम्। सन्ति चात्र साक्षाद् द्वैतापवादेनाद्वैतप्रतिपादनपराः शतशः श्रुतयः। कासाञ्चिच्च द्वैताभिधायिनीनां तत्प्रविलयपरत्वम्। तस्मान्नि-

---

भामती—व्याख्या

बहुत-सी श्रुतियों के द्वारा साक्षात् अभेद का प्रतिपादन यह सिद्ध कर देता है कि कतिपय श्रुतियों ने जो सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, वह केवल उपासना के लिए है। अन्यार्थपरक वाक्यों के मुख्यार्थ का भी ग्रहण किया जा सकता है, यदि उसका कोई बाधक उपलब्ध न हो, जैसे—देवताओं के शरीर आदि। जैमिनि-दर्शन के देवताधिकरण (९।१।४) में निषेध किया गया है, किन्तु ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण ( १।३।८ ) में देवताओं के विग्रहादि मान लिए हैं, क्योंकि उनका कोई बाधक नहीं। किन्तु उपासनापरक श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मगत नानात्व के बाधक सैकड़ों श्रुति-वाक्य ऐसे उपलब्ध हैं, जो द्वैत का अपवाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' ( ब्र० बिं० १२ ) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते, तद्वदग्रहणात् । सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते, तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः, न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च । तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिविधीयते—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः, विवक्षितांशसंभवात् । नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः कचित्कश्चिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते । सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् । न चेदं स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्, शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते । किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति ? तदुच्यते—वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलति जलभेदे भिद्यत इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिह्रासादीन् । एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' ( बृ० २।५।१८ ) इति । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' ( छा० ६।३।२ ) इति च । तस्माद्युक्तमेतत्—'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' ( ब्र० सू० ३।२।१८ ) इति । तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम् । अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति । प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्मोत प्रपञ्चवदनेकाकारो-

---

भामती

विशेषमेकरूपं चैतन्यैकरसं सद्ब्रह्म परमार्थतः, विशेषाश्च सर्वगन्धत्ववामनीत्वादय उपाधिवशाद्व्यस्ता इति सिद्धम् । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ११-२० ॥

* अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्तीति * । किं सल्लक्षणं च प्रकाशलक्षणञ्च ब्रह्म ? किं

---

भामती-व्याख्या

करके अद्वैत का अभिधान कर रहे हैं । "द्वा सुपर्णा" ( मु० ३।१।१ ) इत्यादि द्वैताभिधायिनी कतिपय श्रुतियों का परम तात्पर्य द्वैत के प्रविलय में है, अतः परमार्थतः ब्रह्म निर्विशेष, एकरस सत् तत्त्व है सर्वगन्धत्व और [ विगत ब्र. सू. १।२।१३ की व्याख्या में चर्चित ] वामनीत्वादि धर्म उपाधि के द्वारा अध्यस्त हैं—यह सिद्ध हो गया, शेष भाष्य सुगम है ॥ ११-२० ॥

**अधिकरण-द्वय-कल्पना**—यहाँ पर कतिपय आचार्य दो अधिकरणों की कल्पना करते हैं । वह इस प्रकार है कि ( १ ) ब्रह्म सप्रपञ्च है ? अथवा निष्प्रपञ्च ? इस संशय का निराकरण "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि"—इस सूत्र के द्वारा किया है । इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेतमिति ? द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमिति ? अत्र वयं वदामः—सर्वथाप्यानर्थक्यमधिकरणान्तरारम्भस्येति। यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' ( ब्र० ३।२।११।५ ) इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं 'प्रकाशवच्च' (ब्र० ३।२।१५।५ ) एतद् व्यर्थमेव भवेत्। नच सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम् ; 'विज्ञानघन एवे' त्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत ? नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' ( क० ६।१३ ) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्यते ? नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्। सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत। श्रुतत्वाददोष इति चेत् न, एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तेः। अथ संत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता, नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति यद्युच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात्। सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि। अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः। तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवन्तराणि संपद्यन्ते॥ यद्यप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते। कथम् ? ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा उच्यन्ते, यथा—'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च,

भामती

सल्लक्षणमेव ब्रह्मोत प्रकाशलक्षणमेवेति ? तत्र पूर्वपक्षं गृह्णाति—प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् चकारात्सच्च। अवैयर्थ्यात्, ब्रह्मणि सत्श्रुतेः॥

सिद्धान्तयति—आह च तन्मात्रम्। प्रकाशमात्रं, नहि सत्त्वं नाम प्रकाशरूपादन्यद् यथा सर्वगन्धत्वादयोऽपि तु प्रकाशरूपमेव सदिति नोभयरूपत्वं ब्रह्मण इत्यर्थः। तदेतदनेनोपन्यस्य दूषितम्। सत्ताप्रकाशयोरेकत्वे नोभयलक्षणत्वम्। भेदेन स्थानतोपीऽति निराकृतमिति नाधिकरणान्तरं प्रयोजयति।

भामती-व्याख्या

इस अधिकरण के द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्म सिद्ध हो जाने पर यह (२) दूसरा सन्देह होता है कि क्या ब्रह्म सत् और प्रकाश—उभयस्वरूप है ? या केवल सद्रूप ? अथवा प्रकाशमात्र-स्वरूप ? पूर्वपक्ष है—"प्रकाशवच्चावैपर्थात्"। चकार से सद्रूपता का ग्रहण करके प्रतिज्ञा की गई कि ब्रह्म सत् और प्रकाश-उभयरूप है, क्योंकि उभयरूप मानने पर ही "सत्यं ज्ञानम्" ( तै. २।१ ) तथा "सदेव सोम्य" ( छां. ६।२।१ ) इत्यादि श्रुतियों का अवैपर्थ्य ( सार्थक्य ) होता है। सिद्धान्त-सूत्र है—"आह च तन्मात्रम्" । अर्थात् ब्रह्म प्रकाशमात्र-स्वरूप है, क्योंकि सर्वगन्धत्वादि जैसे-प्रकाश से भिन्न हैं, वैसे सत्त्व कोई प्रकाश से भिन्न वस्तु नहीं, अपितु प्रकाशरूप ही सत्त्व है, अतः ब्रह्म में उभयरूपता कहना सम्भव नहीं।

**अधिकरण-द्वय-कल्पना का निरास**—सत्ता और प्रकाश दोनों यदि एक हैं, तब ब्रह्म में उभयरूपता प्रसक्त ही नहीं और यदि सत्ता और प्रकाश दोनों भिन्न हैं, तब "न स्थानतोऽपि"—इस सूत्र से निराकृत उभयरूपता का निराकरण करने के लिए अधिकरणान्तर की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः सत्ता और प्रकाश का अभेद ही है, अतः "सद्बोधा-


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

( बृ० २।५।१९ ) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः, 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' ( बृ० २।५।१९ ) इत्युपसंहारात्। ये पुनरूपासनाविधानाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते, यथा 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' ( छा० ३।१४।२ ) इत्मेवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्, 'स क्रतुं कुर्वीत' ( छा० ३।१४।१ ) इत्यवंजातीयकेन प्रकृते नैवोपासनविधिना तेषां संबन्धात्। श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते। सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' ( ब्र० सू० ३।२।१४ ) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात्। फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद् दुरितक्षयः क्वचिदैश्वर्यप्राप्तिः क्वचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम्। कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम्। एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्—न, ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात्। वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितम् 'तत्तु समन्वयात्' ( ब्र० सू० १।१।४ ) इत्यत्र। किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम्। पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्विति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते। ननु द्वैतप्रपञ्चविलयो न योगविषयो भविष्यति। अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवति, अतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः। यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः। यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यत एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः। ब्रह्मस्वभावो

---

भामती

परमार्थतस्त्वभेव एव प्रकृष्टप्रकाशवदिति ।॥ सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सत्यरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वादिति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात् ॥। एवं हि तस्यावकाशः स्याद् यदि काश्चिदुपासनापरतया रूपमाचक्षीरन् काश्चिन्नीरूपब्रह्मप्रतिपादनपरा भवेयुः। सर्वासां तु प्रविलयार्थत्वेन नीरूपब्रह्मप्रतिपादनार्थत्वे उक्तो विनिगमनहेतुर्न स्यादित्यर्थः। ॥ एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवद्॥

---

भामती—व्याख्या

त्मकं ब्रह्म'—इस लक्षण के द्वारा वैसे ही अखण्डार्थत्व सिद्ध होता है, जैसे 'प्रकृष्टप्रकाशवान् सविता'—ऐसा कहने पर। "सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्व सति अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" ( ब्र. सू. ३।२।१४ ) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात्"—इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि [आकारवत्ता और अनाकारवत्ता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ जब उपलब्ध हैं, तब ब्रह्मगत निराकारता-साधक विनिगमक युक्ति क्या ? इस प्रश्न का उत्तर उक्त सूत्र में दिया है—"तत्प्रधानत्वात्"। अर्थात् निराकारता-प्रतिपादक वाक्यों की प्रधानता ही निराकारता की निर्णायक है ] उक्त सुत्र के विनिगमना-प्रदर्शन की तभी सार्थकता है, जब कि उपासनार्थ कोई वाक्य आकारवत्ता का प्रतिपादक हो और कोई निराकरता-प्रतिपादक। सभी वाक्य जब एकरूपेण प्रविलयार्थक होने के कारण निराकारता के ही प्रतिपादक हैं, तब न तो विनिगमना का प्रश्न उठता है और विनिगमक हेतु का प्रदर्शन सावकाश होता है।

"एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवत्"। नियोग का अर्थ है—अपूर्व। यद्यपि "समिधो यजति" इत्यादि प्रयाज-विधायक और "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—इस दर्शपूर्णमास-विधायक वाक्यों से एक ही अपूर्व अवगत नहीं होता, क्योंकि लिङादि के द्वारा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म, तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति। अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम? किमग्निप्रतापसंपर्कात् घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिंश्चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवद्। विद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति? तत्र यदि तावद्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्यत स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत्। अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपंचो विद्यया प्रविलाप्यत इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपंचप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति, तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते, तथा चाविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपंचः स्वप्नप्रपंचवत्प्रविलीयते। अनावेदिते

भामती

इत्यधिकाराभिप्रायम्। अनुबन्धभेदात्तु भिन्नोऽनयोरपि नियोग इति। ॐ कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयः इति ॐ। वास्तवस्य वा प्रपञ्चस्य प्रविलयः सर्पिष इवाग्निसंयोगात्। समारोपितस्य वा रज्ज्वां सर्पभावस्येव रज्जुतत्त्वपरिज्ञानात्। न तावद्वास्तवः सर्वसाधारणः पृथिव्यादिप्रपञ्चः पुरुषमात्रेण शक्यः समुच्छेत्तुम्। अपि च प्रह्लादशुकादिभिः पुरुषधौरेयैः समूलमुन्मूलितः प्रपञ्च इति शून्यं जगद्भूवेत्। न च वास्तवं तत्त्वज्ञानेन शक्यं समुच्छेत्तुम्। आरोपितरूपविरोधित्वात्तत्त्वज्ञानस्येत्युक्तम्। समारोपितरूपस्तु प्रपञ्चो ब्रह्मतत्त्वज्ञापनपरैरेव वाक्यैर्ब्रह्मतत्त्वमवबोधयद्भिः शक्यः समुच्छेत्तुमिति कृतमत्र विधिना? नहि विधिशतेनापि विना तत्त्वावबोधनम् प्रवर्त्तस्वात्मज्ञान इति वा कुरु प्रपञ्चप्रविलयं वेति प्रवर्त्तितः शक्नोति प्रपञ्चप्रविलयं कर्तुम्। न चास्यात्मज्ञानविधिं विना वेदान्तार्थब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवति, मौलिकस्य स्वाध्यायाध्ययनविधेरेव तिवक्षितार्थतया सकलस्य वेदराशेः फलवदर्थावबोधनपरतामापादयतो विद्यमान-

भामती—व्याख्या

अभिहित अपूर्व धात्वर्थरूप अनुबन्ध (अवच्छेदक) के भेद से भिन्न-भिन्न होता है। तथापि प्रयाजादि अङ्ग कर्म और दर्शपूर्णमासरूप अङ्गी कर्म—इन दोनों से परमापूर्व एक ही होता है, उसे ही अधिकार पद से अभिहित किया जाता है।

"कोऽयं प्रपञ्चविलयः?" इस प्रश्न-भाष्य का आशय यह है कि क्या वास्तविक प्रपञ्च का वैसे ही प्रविलय होता है, जैसे अग्नि के संयोग से जमा घृत पिघल जाता है? अथवा आरोपित प्रपञ्च का वैसे ही विलय होता है, जैसे रज्जु में आरोपित सर्प का रज्जुतत्त्व के ज्ञान से विलय होता है? सर्व-साधारण पृथिव्यादि वास्तव प्रपञ्च का कोई भी पुरुष समुच्छेद नहीं कर सकता। यदि प्रह्लाद और शुकदेव आदि लोकोत्तर पुरुषों के द्वारा प्रपञ्च समूल उन्मूलित हो गया होता, तो आज जगत् के स्थान पर शून्य होता। तत्त्व-ज्ञान से भी वास्तविक प्रपञ्च का उच्छेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्वज्ञान को अध्यस्त पदार्थ का ही विरोधी माना गया है। अध्यस्त प्रपञ्च का तो ब्रह्मतत्त्व-ज्ञानपरक वाक्यों के द्वारा ही ब्रह्मतत्त्व का बोध कराते हुए उच्छेद किया जा सकता है, विधि-वाक्य की क्या आवश्यकता? आत्मतत्त्वज्ञान के बिना सैकड़ों विधि-वाक्य भी प्रपंच का विलय नहीं कर सकते, भले ही वे 'प्रपंचविलयं कुरु'—ऐसा कितनी बार कहें। तत्त्व-ज्ञान-विधि के बिना तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता—ऐसी बात नहीं, क्योंकि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह सब विधियों की मूलभूत अध्ययन-विधि सकल वेद-राशि में अर्थावबोधनपरता का उद्घोष करती हुई

CC-0. Vasishtha Tripathi Kamla Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपंचविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपंचप्रविलयो वा जायेत। नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपंचविषयो वा नियोगः स्यात्, न, निष्प्रपंचब्रह्मात्मत्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः। रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपंचप्रविलयश्च भवति। नच कृतमेव पुनः क्रियते॥ नियोज्योऽपि च प्रपंचावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम, सप्रपंचपक्षस्यैव वा स्याद् ब्रह्मपक्षस्यैव वा? प्रथमे विकल्पे निष्प्रपंचब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपंचविलये नियोग उच्येत? कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत? द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव। द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधि-

---

भामती

त्वावन्यथा कर्मविधिवाक्यान्यपि विध्यन्तरमपेक्षेरन्निति। न च चिन्तासाक्षात्कारयोर्विधिरिति तत्त्वसमीक्षायामस्माभिरुपपादितम्। विस्तरेण चायमर्थस्तत्रैव प्रपञ्चितः। तस्माज्जर्तिलयवाग्वा जुहुयादितिवद् विधिसरूपा एते आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादयो न तु विधय इति। तदिदमुक्तं ॐद्रष्टव्यादिशब्दा अपि तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना इतिॐ। अपि च ब्रह्मतत्त्वं निष्प्रपञ्चमुक्तं न तत्र नियोज्यः कश्चित् सम्भवति। जीवो हि नियोज्यो भवेत् स चेत् प्रपञ्चपक्षे वर्त्तते, को नियोज्यस्तस्योच्छिन्नत्वात्। अथ ब्रह्मपक्षे, तथाप्यनियोज्यो ब्रह्मणोऽनियोज्यत्वात्। अथ ब्रह्मणोऽनन्योऽप्यविद्ययाऽन्य

---

भामती–व्याख्या

विद्यमान है। अध्ययन-विधि से वैदिक-वाक्यों में अर्थावबोधपरता न मान कर यदि विधि की अपेक्षा करें, तब कर्म-विधि को भी विध्यन्तर की अपेक्षा होगी। चिन्ता (ध्यान) और साक्षात्कार—ये दोनों विषय-तन्त्र हैं, पुरुष-तन्त्र नहीं, अतः उनकी विधि नहीं होती—इसका उपपादन हम (वाचस्पतिमिश्र) ने तत्त्वसमीक्षा में किया है, इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार वहीं किया गया है। [ब्रह्मसिद्धि में भी कहा है—"तत्त्वप्रतिपत्तिपरेष्वपि वाक्येषु न विधिरपेक्षितव्यः" (ब्र० सि० पृ० ७८)]। फलतः "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह. उ. २।४।५) इत्यादि वाक्य विधि नहीं, अपितु वैसे ही विधिसरूप हैं, जैसे—"जर्तिलयवाग्वा जुहुयात्" (तै. सं. ५।४।३)। [अग्निहोत्र के प्रकरण में वाक्य श्रुत है—"जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति, नारण्यानथो खल्वाहुरनाहुतयो वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च (तै. सं. ५।४।३)। यहाँ सन्देह होता है कि 'जुहोति' पद के सामर्थ्य से यह वाक्य विधि है? या 'अनाहुतिर्वा'—इस प्रकार की निन्दा से निषेध? अथवा ये दोनों (विधि और निषेध) अर्थवाद हैं और 'पयसाऽग्निहोत्रं जुहोति'—यह विधि? सिद्धान्त सूत्र है—"न चेदन्यं प्रकल्पयेत् प्रकृतावर्थवादः स्यादानर्थक्यात् परसामर्थ्याच्च" (जै. सू. १०।८।७) अर्थात् जर्तिल (जङ्गली तिल) और गवीधुक (जङ्गली गोधूम) की विधि और निषेध दोनों अर्थवादमात्र हैं। विधि-प्रत्यय विधायक नहीं, अपितु विधि का समानरूप है। वैसे ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' यह भी विधि नहीं भाष्यकार यही कह रहे हैं—"द्रष्टव्यादिशब्दा अपि तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधानाः।"

दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्मतत्त्व निष्प्रपच वस्तु है, अतः नियोग के सम्पादनार्थ किसी नियोज्य का लाभ सम्भव नहीं। यदि जीव को नियोज्य माना जाता है, तब जिज्ञासा होती है कि वह जीव क्या संसार के अन्तर्गत है? या ब्रह्म-कोटि में है? अथवा ब्रह्म से अभिन्न है? जगत् के अन्तर्गत मानने पर तत्त्व-ज्ञान से उसका उच्छेद हो जाता है, अतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधाना भवन्ति। लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते, न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति। ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते, तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन। तस्मिन् दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते। नच प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते। यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथा ज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं, किं तर्हि ? मानसी सा क्रिया। स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत, भ्रान्तिरेव स्यात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथामूतविषयं च, न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते। नच प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते। नहि तत्पुरुषतन्त्रं, वस्तुतन्त्रमेव हि तत्। अतोऽपि नियोगाभावः। किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये

भामती

इवेति नियोज्यः। तदयुक्तम् – ब्रह्मभावं पारमार्थिकमवगमयतागमेनाविद्याया निरस्तत्वात्। तस्मान्नियोज्याभावादपि न नियोगः। तदिदमुक्तं ❀ जीवो नाम प्रपञ्चपक्षस्यैव इति ❀। अपि च ज्ञानविधिपरत्वे तन्मात्रात्तु ज्ञानस्यानुत्पत्तेस्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वमभ्युपगमनीयं तत्र वरं तत्त्वप्रतिपादनपरत्वमेवास्तु तस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वेनोभयवादिसिद्धत्वात्। एवञ्च कृतं तत्त्वज्ञानविधिनेत्याह ❀ ज्ञेयाभिमुखस्यापि इति ❀। न च ज्ञानाधाने प्रमाणानपेक्षस्यास्ति कश्चिदुपयोगो विधेः। एवं हि तदुपयोगो भवेद्यद्यन्यथाकारं ज्ञानमन्यथावधीत। न च तच्छक्यं नापि युक्तमित्याह ❀ न च प्रमाणान्तरेण इति ❀। किञ्चान्यन्नियोगनिष्ठतयैव च पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतं भवद्भिः शास्त्रपर्य्यालोचनयाऽनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्येति तदेतच्छास्त्रविरोधादप्रमाणकम्। अथैतच्छास्त्रमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं च जीवस्य प्रतिपादयति जीवञ्च

भामती–व्याख्या

जीव नियोज्य क्योंकर होगा ? ब्रह्म-कोटि में मानने पर भी वह नियोज्य न हो सकेगा, क्योंकि ब्रह्म कभी नियोज्य नहीं होता। जीव को ब्रह्म से वस्तुतः अनन्य और अविद्या के द्वारा अन्य मानने पर "तत्त्वमसि" इत्यादि ब्रह्मात्मभाव-गमक अविधिरूप वाक्यों के द्वारा ही अविद्या का निरास हो जाता है, तब वह अन्य क्योंकर रहेगा ? फलतः नियोज्य का अभाव होने के कारण नियोग एवं ज्ञान-विधि की उपपत्ति नहीं होती, यही कहा गया है—"जीवो नाम प्रपंचपक्षस्यैवं"।

दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान की विधि मान लेने पर भी उतने मात्र से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं सकती, अतः तत्त्व-प्रतिपादनपरक वाक्यों से ही ज्ञान की उत्पत्ति मान लेनी चाहिए, क्योंकि विधि और अविधि—दोनों पक्षों में इन वाक्यों का मानना अवश्यंभावी है, तब ज्ञान-विधि की क्या आवश्यकता ? भाष्यकार यही कह रहे हैं—"ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचित् जायते।" आशय यह है कि ज्ञान के उत्पन्न करने में ज्ञानपरक प्रमाण की अपेक्षा किए बिना बिधि का कोई उपयोग है नहीं। विधि का उपयोग इस प्रकार हो सकता था यदि पुरुष में अग्नि-ध्यान के समान अन्य आकार के ज्ञान का विधि-द्वारा अन्यथाकरण सम्भव होता। जो वस्तु जैसी है, उसका ज्ञान भी वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं और उसका अन्यथाकरण उचित भी नहीं—"न च प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथा ज्ञानम्"। अर्थात् एक प्रमाण से सिद्ध घटरूप पदार्थ में पट-ज्ञान किसी प्रमाण से कभी नहीं हो सकता।

"किञ्चान्यत्, नियोगनिष्ठतयैव च पर्यवस्यति आम्नाये यदभ्युपगतम्"—इस भाष्य का आशय यह है कि यदि नियोगार्थक वैदिक वाक्य का ही प्रामाण्य पर्यवसित होता है, तब विधिवादी ने जो यह स्वीकृत किया है कि नियोज्यब्रह्मरूप ही जीव है, वह प्रामाणिक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्य, तदप्रमाणकमेव स्यात्। अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुंजीत, ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्वयर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम्। नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना कर्मफलवन्मोक्षस्याद्दृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्यैवमादयो दोषा न केनचित्परिहर्तुं शक्याः। तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि, न नियोगनिष्ठानि। अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम्। अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु वियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपंचोपदेशेषु सप्रपंचोपदेशेषु चासिद्धम्। नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणै-

भामती

नियुक्तं ततो द्वयर्थञ्च विरुद्धार्थञ्च स्यादित्याह ❀ अथेति ❀। दर्शपौर्णमासादिवाक्येषु जीवस्यानियोज्यस्यापि वस्तुतोऽध्यस्तनियोज्यभावस्य नियोज्यता युक्ता, नहि तद्वाक्यं तस्य नियोज्यतामाह। अपि तु लौकिकप्रमाणसिद्धां नियोज्यतामाश्रित्य दर्शपूर्णमासौ विधत्ते। इदन्तु नियोज्यतामपनयति च नियुङ्क्ते चेति दुर्घटमिति भावः। ❀ नियोगपरतायाञ्च इति ❀। पौर्वापर्यालोचनया वेदान्तानां तत्त्वनिष्ठता श्रुता न श्रुता नियोगनिष्ठतेत्यर्थः। अपि च नियोगनिष्ठत्वे वाक्यस्य दर्शपौर्णमासकर्मण इवापूर्वावान्तरव्यापारादात्मज्ञानकर्मणोऽप्यपूर्वावान्तरव्यापारादेव स्वर्गादिफलवन्मोक्षस्यानन्दरूपफलस्य सिद्धिः। तथा चानित्यत्वं सातिशयत्वं स्वर्गवद्भवेदित्याह ❀ कर्मफलवद् इति ❀। ❀ अपि च ब्रह्मवाक्येषु इति ❀। सप्रपंचनिष्प्रपंचोपदेशेषु हि साध्यानुबन्धभेदादेकनियोगत्वमसिद्धं दर्शपौर्णमासप्रयाजवाक्येषु तु यद्यप्यनु-

भामती—व्याख्या

क्योंकर होगा? यदि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"—यह वाक्य अनियोज्यब्रह्मरूपता जीव में कह कर जीव को नियोज्य कहता है, तब अर्थ-द्वय का अभिधान होने से वाक्य-भेद एवं विरुद्धार्थकत्व उक्त शास्त्र में प्रसक्त होता है, भाष्यकार ने यही कहा है—"अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमपि आचक्षीत'। भाव यह है कि "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि वाक्यों में जो जीव को नियोज्य माना है, वह उसी जीव को, जिसमें नियोज्यता अध्यस्त है, क्योंकि वस्तुतः ब्रह्मरूप जीव नियोज्य नहीं होता। दर्शपूर्णमास-वाक्य जीव में नियोज्यता का विधान नहीं करता, अपितु लौकिक प्रमाणों से सिद्ध नियोज्यता का आश्रयण कर दर्शपूर्णमास कर्म का विधान करता है किन्तु उक्त वेदान्त-वाक्य जीव में ब्रह्मरूपता बताकर नियोज्यता का निषेध भी करता है और जीव को ब्रह्म-ज्ञान में नियुक्त भी करता है—यह नितान्त दुर्घट है।

"नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतपरता", अर्थात् पौर्वापर्य की आलोचना के द्वारा वेदान्त-वाक्यों में तत्त्वनिष्ठता (तत्त्वार्थ-बोधकता) श्रुत और नियोगपरता अश्रुत है। यदि वेदान्त-वाक्यों को नियोगपरक माना जाता है, तब श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना करनी पड़ेगी। दूसरी बात यह भी है कि यदि कर्म-वाक्य के समान ही वेदान्त-वाक्य भी नियोगपरक है, तब जैसे अवान्तरव्यापार-सहित दर्शपूर्णमास कर्म से स्वर्गरूप फल उत्पन्न होता है। वैसे ही अवान्तर व्यापार-सहित आत्मज्ञान से भी आनन्दरूप फल की सिद्धि होगी। तब तो स्वर्ग के समान ही आनन्दरूप मोक्ष में अनित्यत्व और सातिशयत्व प्रसक्त होता है, भाष्यकार ने यही कहा है—"कर्मफलवन्मोक्षस्य"। "अपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे"। सारांश यह है कि "गतिसामान्यात्" (ब्र० सू० १।१।१०) इत्यादि सूत्रों के द्वारा यह स्थिर किया गया है कि सभी वेदान्त-वाक्य एकवाक्यतापन्न होकर ब्रह्मात्मता के अवगमक हैं किन्तु वेदान्त-वाक्यों की नियोगपरता मानने पर इनकी एकवाक्यता सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म की सप्रपंचता (साकारता या सगुणता) के प्रतिपादक और निष्प्रपंचता के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम्। प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकारांशेनाभेदाद्युक्तमेकत्वम्, नत्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति। नहि भारूपत्वादयो गुणाः प्रपंचप्रविलयोपकारिणः। नापि प्रपंचप्रविलयो भारूपत्वादिगुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात्। नहि कृत्स्नप्रपंचप्रविलापनं प्रपंचैकदेशापेक्षणं चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम्। तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति ॥ २१ ॥

---

## ( ६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम्। सू० २२--३०

**प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥**

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य महारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा

भामती

बन्धभेदस्तथाप्यधिकारांशस्य साध्यस्य भेदाभावादभेद इति ॥ १६-२१ ॥

---

अधिकरणविषयमाह ❀ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे इति ❀। द्वे एव ब्रह्मणो रूपे ब्रह्मणः परमार्थतोऽरूपस्याध्यारोपिते द्वे एव रूपे, ताभ्यां हि तद्रूप्यते। ते दर्शयति ❀ मूर्तं चैवामूर्तं च ❀। समुच्चीयमानावधारणम्।

भामती—व्याख्या

प्रतिपादक वाक्यों का पर्यवसान एक नियोग में न होकर भिन्न-भिन्न नियोगों में मानना होगा—नियोगवादी प्राभाकरगण साध्य और अनुबन्ध के भेद से नियोग का भेद मानते है। प्राभाकर साध्य के सात भेद मानते हैं—

(१) उत्पत्तिः—संयवनस्य पिण्ड उत्पाद्यः (गूँधन से आटे का पिण्ड होता है)।
(२) प्राप्तिः—दोहनस्य पयःप्राप्यम् ( दुहने से दूध प्राप्त होता है )।
(३) संस्कृतिः—प्रोक्षणस्य व्रीहयः संस्कार्यः ( प्रोक्षण करने से धान संस्कृत होते हैं )।
(४) विकृतिः—अवघातस्य व्रीहयो विकार्याः ( कूटने से धान के चावल होते हैं )।
(५) उपकृतिः—प्रयाजस्य दर्शपूर्णमासौ उपकार्यौ (प्रयाज का दशपूर्णमास उपकार्य है)।
(६) पुरस्कृतिः—आग्नेयादीनामुत्पत्त्यपूर्वं पुरःकार्यम् ( आग्नेयादि का उत्पत्त्यपूर्व प्रथम कार्य है )।
(७) परकृतिः—आग्नेयादीनां परमापूर्वम् परकार्यम् (अग्नियादि का परमापूर्व परकार्य)

इसी प्रकार धात्वर्थरूप अनुबन्ध भी नियोग का भेदक है]।

यद्यपि दशपूर्णमास में अङ्गापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व, समुदायापूर्वादि का भेद है। तथापि परमापूर्व एक ही होता है, अतः परमापूर्वोत्पादकत्वेन सभी वाक्यों में एकवाक्यता हो जाती है। किन्तु ब्रह्मगत साकारतादि के प्रतिपादक वाक्यों की एकवाक्यता सम्भव नहीं ॥१६-२१॥

---

**विषय**—इस अधिकरण का विषय प्रदर्शित किया गया है—"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च" ( बृह. उ. २।३।१ )। ब्रह्म परमार्थतः नीरूप है हाँ, उसके अध्यस्त दो रूप माने जाते हैं—(१) मूर्त और (२) अमूर्त, क्योंकि उन्हीं दो रूपोंके द्वारा वह निरूपित होता है। उन्हीं रूपों को दिखाते हैं—"मूर्तं चामूर्तं च"। श्रुति में 'वाव' एवकारार्थक और 'च'

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

अत्र पृथिव्यप्तेजांसि त्रीणि भूतानि ब्रह्मणो रूपं मूर्तं मूर्च्छितावयवमितरेतरानुप्रविष्टावयवं कठिनमिति यावत् । तस्यैव विशेषणान्तराणि मर्त्यं मरणधर्मकं स्थितमव्यापि अवच्छिन्नमिति यावत् । सदन्येभ्यो विशिष्यमाणमसाधारणधर्मवदिति यावत् । गन्धस्नेहोष्णताश्चान्योन्यव्यवच्छेदहेतवोऽसाधारण-धर्मास्तस्यैतस्य ब्रह्मरूपस्य तेजोऽबन्नस्य चतुर्विशेषगस्यैष रसः सारो य एष सविता तपति ।

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं च तद्धि न कठिनमित्यमूर्तमेतदमृतममरणधर्मकं मूर्तं हि मूर्त्तान्तरेणा-भिहन्यमानमवयवविश्लेषाद् ध्वंसते न तु तथाभावः सम्भवत्यमूर्त्तस्य । एतद्यदेति गच्छति व्याप्नोतीति । एतत् त्यं नित्यपरोक्षमित्यर्थः । तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन् सवितृमण्डले पुरुषः । करणात्मको हिरण्यगर्भप्राणाह्वयस्यस्य ह्येष रसः सारो नित्यपरोक्षता च साम्य-मित्यधिदैवतम् । अथाध्यात्ममिवमेव मूर्त्तं यदन्यत् प्राणान्तराकाशाभ्यां भूतत्रयं शरीरारम्भकमेतन्मर्त्य-मेतत् स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रस इति । अथाऽमूर्त्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्याकाशः । एतदमृतमेतद्यदेतत्यन्तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृ-तस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष सो योऽयं दक्षिणेक्षन् पुरुषस्तस्यस्यैष रसः । लिङ्गस्य हि करणात्मकस्य हिरण्यगर्भस्य दक्षिणमक्ष्यधिष्ठानं श्रुतेरधिगतम् । तदेवं ब्रह्मण औपाधिकयोर्मूर्त्तामूर्त्तयोराध्यात्मिकाधिदै-विकयोः कार्यकारणभावेन विभागो व्याख्यातः सत्यच्छब्दवाच्ययोः । अथेदानीं तस्य करणात्मनः पुरुषस्य लिङ्गस्य रूपं वक्तव्यम् । मूर्त्तामूर्त्तवासनाविज्ञानमयं विचित्रं मायामहेन्द्रजालोपमं तद्विचित्रैर्दृष्टान्तैरा-

भामती—व्याख्या

समुच्चयार्थक है, अतः दोनों रूपों के समुच्चय का अवधारण किया गया है—'सदा द्वे रूपे मिलिते एव' ।

( १ ) पृथिवी, जल और तेज—ये तीन भूत ब्रह्म के मूर्त रूप हैं, क्योंकि ये तीनों भूत मूर्च्छित ( स्थूल ) अवयववाले एवं परस्पर संमूर्च्छित ( मिश्रित या त्रिवृत्कृत ) हैं, अत एव कठिन हैं । मूर्तरूप के ही अन्य विशेषण हैं—'मर्त्यम्' ( मरणधर्मक ), 'स्थितम्' (अव्यापि या परिच्छिन्न ), सत् ( असाधारण धर्मवान् ) । गन्ध, स्नेह और उष्णता—ये तीनों धर्म परस्पर के व्यावर्तक अपने-अपने भूतों के असाधारण धर्म हैं । इस तेज, जल और पृथिवीरूप ब्रह्म का रस ( सार ) यह सूर्य तप रहा है ।

( २ ) वायु और आकाश – ये दो भूत ब्रह्म के अमूर्त रूप है, क्योंकि वह मूर्त (कठिन) नहीं । इस रूप को अमृत ( अमरणधर्मा ) इसलिए कहा गया है कि जैसे पाषाणादि एक मूर्त पदार्थ दूसरे मूर्त से टकराकर खण्ड-विखण्डित होकर ध्वस्त हो जाता है, वैसे यह ( अमूर्त ) रूप नष्ट नहीं होता । यहाँ 'यत्' शब्द का अर्थ—सर्वत्रगतिमत् ( व्यापक ) है । सदैव परोक्ष होने के कारण यह 'त्यत्' कहलाता है । इस अमूर्त अमृत रूप का सार है—'सूर्यमण्डल में अवस्थित पुरुष —समष्टि प्राणाभिमानी हिरण्यगर्भ । जैसे अमूर्त पदार्थ नित्य परोक्ष है, उसी प्रकार वह अधिदैव ( देव-विग्रह में विराजमान ) पुरुष नित्य परोक्ष है ।

अध्यात्म ( शरीर-सम्बन्धी ) मूर्त रूप है—प्राण तथा अन्तराकाश से भिन्न भुतत्रय । यह शरीर का आरम्भक एवं मर्त्य है । इसी सत्तत्त्व का सार चक्षु है । अध्यात्म अमूर्त रूप है—प्राण और अन्तराकाश । यह अमृत, यत् और त्यत् है । इसका सार है—दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष । यही रूप-दर्शनादि क्रिया के द्वारा अनुमित करण पदार्थ है । इस प्रकार ब्रह्म के औपाधिक मूर्त और अमूर्त रूप आध्यात्मिक और आधिदैविक भेद से प्रतिपादित हैं । सत् और त्यत् पदास्पद इन्हीं रूपों का कार्य ( शरीर ) एवं करण ( इन्द्रियगण ) के रूप में विभाग हो जाता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनः पठ्यते-'अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति । तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे ? न ह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते । इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते 'नेति नेति—इत्तिपरत्वान्नञ्प्रयोगस्य । इतिशब्दश्चायं सन्निहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते—'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु । संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपंचं ब्रह्मणस्तच्च ब्रह्म यस्यैते द्वे रूपे । तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकतरम् ?

भामती

दर्शयति ❀ तद्यथा माहारजनम् इत्यादिना ❀ । एतदुक्तं भवति—मूर्तामूर्तवासनाविज्ञानमयस्य विचित्रं रूपं लिङ्गस्येति । तदेवं निरवशेषं सवासनं सत्यरूपमुक्त्वा यत्तत्सत्यस्य सत्यमुक्तं ब्रह्म तत्स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते । यतः सत्यस्य रूपं निःशेषमुक्तमतोऽवशिष्टं सत्यस्य यत्सत्यं तस्यानन्तरं तदुक्तिहेतुकं स्वरूपं वक्तव्यमित्याह ❀ अथात आदेशः ❀ कथनम् । सत्यसत्यस्य परमात्मनस्तमाह ❀ नेति नेति ❀ । एतदर्थकथनार्थमिदमधिकरणम् । ननु किमेतावदेवादेश्यमुतेतः परमन्यदप्यस्तीत्यत आह ❀ नह्येतस्माद् ब्रह्मण इति ❀ । नेत्यादिष्टादन्यत्परमस्ति यदादेश्यं भवेत् । तस्मादेतावदेवादेश्यं नापरमस्तीत्यर्थः । अत्रैवयर्थेनेतिना यत्सन्निहित परामृष्टं तन्निषिध्यते, नञा सन्निहितञ्च मूर्तामूर्तं सवासनं रूपद्वयम् । तदवच्छेदकत्वेन च ब्रह्म । तत्रेदं विचार्यते किं रूपद्वयं सवासनं ब्रह्म च सर्वमेव च प्रतिषिध्यते, उत ब्रह्मैवाथ सवासनं रूपद्वयं ब्रह्म तु परिशिष्यत इति ? यद्यपि तेषु तेषु

भामती—व्याख्या

अब करणात्मक कथित पुरुष तत्त्व का स्वरूप प्रदर्शित करना चाहिए, अतः मूर्तामूर्त पदार्थों के अनुभव से जनित वासना ( संस्कारों ) के द्वारा कल्पित, विचित्र, माया और महेन्द्रजाल के समान वह है, उसी का प्रदर्शन विविध दृष्टान्तों के द्वारा किया जाता है—"तद्यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपः" ( बृह० उ० २।३।६ ) अर्थात् जैसा महारजन ( कुसुम्भ या बरें के लाल फूल ] में रँगा रक्त वस्त्र एवं अवि ( भेंड़ ) की श्वेत ऊन से बुना कम्बल हो, वैसा हिरण्यगर्भ का स्वरूप है । आशय यह है कि मूर्त और अमूर्त पदार्थों की वासनाओं के अनुरूप अनुपम रूप है लिङ्गात्मा का । इस प्रकार व्यावहारिक सत्यरूप का प्रतिपादन कर ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का अभिधान किया जाता है कि पूर्वोक्त सत्य पदार्थ से अवशिष्ट रूप सत्य के भी सत्य पदार्थ ( ब्रह्म ) का है, अतः उसके उपदेश का प्रकार निषेधात्मा है—"अथातः आदेशः" । आदेश का अर्थ है—कथन । वह इस प्रकार है—"नेति नेति" । इस प्रकार के निषेध-वाक्यों का अर्थ कहने के लिए इस अधिकरण की रचना की गई है । क्या इतना ही आदेश्य है ? अथवा इससे भिन्न कुछ और भी ? इस प्रश्न का उत्तर है—"न ह्येतस्मात् ब्रह्मणः" ( बृह० उ० २।३।६ ) अर्थात् 'न'—इस प्रकार उपदिष्ट आत्मा से परे और कुछ भी नहीं । इस श्रुति में 'इति' शब्द एवमर्थक है, अतः 'इति' पद के द्वारा सन्निहित वस्तु का परामर्श करके 'न' पद के द्वारा उसका निषेध किया जाता है । 'नञ्' पद से यहाँ सन्निहित हैं—वासना-सहित मूर्त और अमूर्त—ये दोनों रूप एवं उन रूपों का अवच्छेदक ( परिचायक ) ब्रह्म भी सन्निहित है [ कस्य रूपद्वयम् ? इस प्रकार रूप के परिचायक की जिज्ञासा का उत्तर दिया जाता है—'ब्रह्मणः' अतः ब्रह्म ही उन रूपों का निरूपक ( अवच्छेदक है ] ।

संशय—क्या वासना-सहित रूपद्वय और ब्रह्म—यह सब कुछ 'न' इस पद के द्वारा निषेधि तहै ? या केवल ब्रह्म ? अथवा केवल सवासन रूप-द्वय का निषेध कियाजाता है

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति, रूपे परिशिनष्टि, आहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति, ब्रह्म परिशिनष्टीति ? तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्क्याह । द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ, द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात् । तयोरेकेन सप्रपंचं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यते,

भामती

वेदान्तप्रदेशेषु ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितं तदसद्भावज्ञानञ्च निन्दितम् । अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति चास्य सत्त्वमवधारितं, तथापि सद्बोधरूपं तद्ब्रह्म सवासनमूर्तामूर्तरूपसाधारणतया च सामान्यं तस्य चैते विशेषा मूर्तामूर्तादयो न च तत्तद्विशेषनिषेधे सामान्यमवस्थातुमर्हति निर्विशेषस्य सामान्यस्यायोगात् । यथाहुः—

'निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्' । इति ।

तस्मात्तद्विशेषनिषेधेऽपि तत्सामान्यस्य ब्रह्मणोऽनवस्थानात्सर्वस्यैवायं निषेधः । अत एव नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति निषेधात् परं नास्तीति सर्वनिषेधमेव तत्त्वमाह श्रुतिः । अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति चोपासनाविधानवन्नेयं, न त्वस्तित्वमेवास्य तत्त्वम् । तत्प्रशंसार्थं चासद्भावज्ञाननिन्दा । यच्चान्यत्र ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनं तदपि मूर्तामूर्तरूपप्रतिपादनवन्निषेधार्थमसन्निहितोऽपि च तत्र निषेधो योग्यत्वात् सम्भन्त्स्यते । यथाहुः—

'येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः' । इति ।

तस्मात्सर्वस्यैवाविशेषेण निषेध इति प्रथमः पक्षः । अथवा पृथिव्यादिप्रपञ्चस्य समस्तस्य प्रत्य-

भामती—व्याख्या

और ब्रह्म अवशिष्ट रहता है ?

**पूर्वपक्ष**—(१) यद्यपि वेदान्त के अनेक वाक्यों में ब्रह्म का सद्भाव उपपादित और असद्भाव निन्दित है—"अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" ( कठ. ६।१० ), "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्" ( तै. उ. २।६।१ ) । तथापि सत् और बोधरूप ब्रह्म वह सामान्य ( साधारण ) पदार्थ है, जिस के मूर्त अमूर्त विशेष रूप हैं । एक-एक करके सभी विशेष रूपों का निषेध कर देने पर सामान्य पदार्थ भी कुछ शेष नहीं रहता, पूरा निषिद्ध हो जाता है, जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—"निर्विशेषं न सामान्यं भवेत् शशविषाणवत् ।" ( श्लो. वा. पृ. ५४८ ) [ जैसे महानसीय, चत्वरीय और गोष्ठीय आदि विशेष अग्नियों का निषेध कर देने पर सामान्य अग्नि का ही निषेध हो जाता है, वैसे ही ] मूर्त ब्रह्म और अमूर्त ब्रह्म का निषेध कर देने पर सामान्य ब्रह्म का निषेध हो जाता है । अत एव श्रुति ने कहा है—नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति" ( बृह. उ० २।३।६ ) अर्थात् 'नेति नेति'—इस प्रकार का निषेध हो जाने पर कुछ शेष रहता ही नहीं, समस्त वस्तु का निषेध हो जाता है । "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः"—ऐसे वाक्यों का संगमन उपासनापरक वाक्यों के समान किया जा सकता है । उपासन के सद्भाव की प्रशंसा और असद्भाव की निन्दा उपयुक्त ही जाती है । जो अन्यान्य स्थानों पर ब्रह्म का प्रतिपादन है, वह भी मूर्त और अमूर्त रूपों के समान निषेधार्थक है । यद्यपि वह इस नञ् से सन्निहित नहीं, तथापि निषेध्यत्व की योग्यता होने के कारण उस का भी सम्बन्ध इस नञ् से हो जायगा, क्योंकि—

"येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥ ( बृहट्टीका ? )

[ जैसे श्लोकों में व्यवहित पदों के द्वारा उपस्थापित पदार्थों का योग्यता के आधार पर अन्वय हो जाता है, उनके पदों का आनन्तर्य (अव्यवधान) आवश्यक नहीं । उसी प्रकार ] ब्रह्म के सभी रूपों में सामान्य ब्रह्म का भी निषेध हो जाता है—यह पहला पूर्व पक्ष है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

अपरेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मतिः। अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते, तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्, नतु रूपप्रपंचः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात् प्रतिषेधार्हः। अभ्यासस्त्वादरार्थ इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते, शून्यवादप्रसङ्गात्। कंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः। तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्पते। उभयप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत? अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव

भामती

क्षादिप्रमाणसिद्धत्वाद् ब्रह्मणस्तु वाङ्मनसागोचरतया सकलप्रमाणविरहात् कतरस्यास्तु निषेध इति विशये प्रपञ्चप्रतिषेधे समस्तप्रत्यक्षादिव्याकोपप्रसङ्गाद् ब्रह्मप्रतिषेधे त्वव्याकोपाद् ब्रह्मैव प्रतिषेधेन सम्बध्यते योग्यत्वान्न प्रपञ्चस्तद्विपरीतत्वात्, वीप्सा तु तदत्यन्ताभावसूचनायेति मध्यमः पक्षः। तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति ❀ न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गाद् इति ❀। अयमभिसन्धिः—उपाधयो ह्यमी पृथिव्यादयोऽविद्याकल्पिता न तु शोणकर्कादय इव विशेषा अश्वस्य। न चोपाधिविगमे उपहितस्याभावोऽप्रतीतिर्वा नह्युपाधीनां दर्पणमणिकृपाणादीनामपगमे मुखस्याभावोऽप्रतीतिर्वा। तस्मादुपाधिनिषेधेऽपि नोपहितस्य शशविषाणायमानताऽप्रत्ययो वा। न चेतीति सन्निधानाविशेषात्सर्वस्य प्रतिषेध्यत्वमिति युक्तम्। नहि भावमनुपाश्रित्य प्रतिषेध उपपद्यते किञ्चिद्धि क्वचिन्निषिध्यते नह्यनाश्रयः प्रति-

भामती—व्याख्या

(१) अथवा पृथिव्यादि समस्त प्रपञ्च प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। इस के विपरीत ब्रह्म वाक् और मन का भी विषय न होने के कारण किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं। प्रपञ्च और ब्रह्म—इन दोनों में से किसका निषेध होगा? ऐसा संशय होने पर प्रपञ्च का यदि निषेध किया जाता है, तब प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों का विरोध प्रसक्त होता है और ब्रह्म का निषेध करने पर किसी प्रमाण का भी विरोध नहीं होता, अतः योग्यता के आधार पर ब्रह्म का ही प्रतिषेध उचित है, प्रपञ्च का नहीं, क्योंकि उसमें निषेध्यत्व की योग्यता ही नहीं। यदि केवल ब्रह्म का निषेध किया जाता है, तब 'नेति नेति'—ऐसी वीप्सा (द्विरुक्ति) किस लिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अत्यन्ताभावात्मक निषेध सूचित करने के लिए द्विरुक्ति की गई है—यह मध्यम (द्वितीय) पूर्वपक्ष है।

सिद्धान्त—प्रथम पूर्वपक्ष का निराकरण किया जाता है—"न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते, शून्यवादप्रसङ्गात्"। कहने का आशय यह है कि ये पृथिव्यादि उपाधि पदार्थ अविद्या-कल्पित हैं, ब्रह्म के वैसे विशेष रूप नहीं, जैसे अश्व के शोण (लाल) और कर्क ("कर्कः कर्कंतने वह्नौ शुक्लाश्वे दर्पणे घटे"—इस मेदिनी कोष के अनुसार श्वेत अश्व) जैसे विशेष रूपों के अभाव में सामान्य रूप नहीं रहता, वैसे उपाधि का अभाव हो जाने पर उपहित पदार्थ का अभाव नहीं होता, क्योंकि दर्पणादि उपाधियों का अभाव हो जाने पर मुखादि उपहित पदार्थों का न तो अभाव देखा जाता है और न उनकी अप्रतीति होती है। फलतः मूर्तामूर्तरूप उपाधियों का अभाव होने पर भी ब्रह्मरूप उपहित पदार्थ का निषेध नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसकी प्रतीति का भी निषेध नहीं होता, सन्निहित हो जाने मात्र से किसी वस्तु का निषेध नहीं होता, अपितु किसी भावरूप आधार का सहारा लेकर अन्य पदार्थों का निषेध होता है, कहीं निराश्रय किसी का निषेध नहीं देखा जाता, यही कहा जा रहा है—"अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन् य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते, तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात् तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः"। यदि [ किसी को आधार बनाए बिना ही किसी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः। नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते, 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात्। 'असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१) इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१३)

भामती

षेधः शक्यः प्रतिपत्तुं तदिदमुक्तम् ❀अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन् य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते तस्य प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ❀। मध्यमं पक्षं प्रतिक्षिपति ❀ नापि ब्रह्मनिषेध उपपद्यते❀। युक्तं यन्नैसर्गिकाविद्याप्राप्तः प्रपञ्चः प्रतिषिध्यते प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य ब्रह्म तु नाविद्यासिद्धं नापि प्रमाणान्तरात्। तस्माच्छब्देन प्राप्तं प्रतिषेधनीयं तथा च यस्तस्य शब्दः प्रापकः स तत्पर इति स ब्रह्मणि प्रमाणमिति कथमस्य निषेधोऽपि प्रमाणवान्? न च पर्युदासाधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन विकल्पः, वस्तुनि सिद्धस्वभावे तदनुपपत्तेः। न चावाङ्मनसगोचरो बुद्धावालेखितुं शक्यः। अशक्यश्च कथं निषिध्यते? प्रपञ्चस्त्वनाद्यविद्यासिद्धोऽनूद्य ब्रह्मणि प्रतिषिध्यत इति युक्तम्। तदिमामनुपपत्तिमभिप्रेत्योक्तं नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यत इति। हेत्वन्तरमाह ❀ ब्रह्म ते ब्रवाणि इति ❀। ❀ उपक्रमपरामर्शोपसंहारपर्य्यालोचनया हि वेदान्तानां सर्वेषामेव ब्रह्मपरत्वमुपपादितं प्रथमेऽध्याये। न चासत्या-

भामती—व्याख्या

का निषेध किया जाता है, तब उसका निषेध नहीं हो सकता, जिसका निषेध नहीं हो सकता, उसी में परमार्थत्व प्रसक्त होता है]।

मध्यम (द्वितीये) पक्ष का निरास किया जाता है—"नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते"। प्रसक्त पदार्थ का ही सदा प्रतिषेध होता है, अतः प्रपञ्च का जो प्रतिषेध होता है, वह युक्ति-युक्त है, क्योंकि वह अनादि अविद्या के द्वारा प्रापित है किन्तु ब्रह्म न तो अविद्या के द्वारा प्रापित है और न शब्देतर प्रमाणों के द्वारा। परिशेषतः शब्द से प्राप्त ब्रह्म का ही निषेध करना होगा। तब जो शब्द ब्रह्म का प्रापक है, वही ब्रह्म में प्रमाण है, प्रमाण सिद्ध पदार्थ का निषेध क्योंकर होगा?

**शङ्का**—पर्युदासाधिकरण का पूर्वपक्ष-सूत्र है—"प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्यविधाने च प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद् विकल्पः स्यात्" (जै. सू. १०।८।१)। "यजतिषु येयजामहं करोति"—इस विधि के आधार पर पहले "ये यजामहे"—ये पाँच अक्षर बोले जाते हैं, अर्थात् होता कहता है कि ये वयमध्वर्युणा नियुक्ताः, ते वयं यजामहे (याज्यां प्रठामः)। किन्तु अनुयाजसंज्ञक याग में निषेध किया गया है—"नानुयाजेषु येयजामहं करोति।" अतः सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है—"प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद् विकल्पः"। अर्थात् 'ये यजामहे'—इन पाँच अक्षरों की प्राप्ति भी है और निषेध भी फलतः विकल्प हो जाना उचित है। वैसे ही प्रकृत में ब्रह्म-सत्ता की प्राप्ति और प्रतिषेध के आधार पर विकल्प हो जाना चाहिए।

**समाधान**—'ये प्रजामहे' का उच्चारण एक क्रिया है, क्रिया पुरुष के अधीन होती है, अतः उसमें विकल्प सम्भव है, किन्तु ब्रह्मसत्ता एक सिद्ध पदार्थ है, पुरुष का उसमें स्वातन्त्र्य नहीं कि ब्रह्म को सत् भी मानें और असत् भी।

ब्रह्म जब मन और वाणी का विषय नहीं, तब उस का बुद्धि में उल्लेख न हो सकेगा। उल्लेख के बिना विषेध कैसे होगा? प्रपंच तो अनादि अविद्या से सिद्ध है, अतः उसका प्रतिषेध हो सकता है, किन्तु ब्रह्म का नहीं, इस अनुपपत्ति को मन में रख कर भाष्यकार ने कहा है—"नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते"। उसी प्रतिज्ञा में हेत्वन्तर दिखाते हैं—"ब्रह्म ते ब्रवाणीति उपक्रमविरोधात्"। इस प्रकार उपक्रम, मध्यमें परामर्श और उपसंहार पर विचार करके प्रथम अध्याय में समस्त वेदान्त वाक्यों को ब्रह्मपरक स्थिर किया गया है। दूरस्थ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

इत्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च। वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते। नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत, 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः। प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा—'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' तै० २।४।१) इति। एतदुक्तं भवति—वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति। तस्माद् ब्रह्मणो रूपप्रपंचं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम्। तदेतदुच्यते—प्रकृतैवावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति। प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति। तद्धि प्रकृतं

भामती

माकाङ्क्षायां दूरतरस्थेन प्रतिषेधेनैषां सम्बन्धः सम्भवति। यच्च वाङ्मनसातीततया ब्रह्मणस्तत्प्रतिषेधस्य न प्रमाणान्तरविरोध इति तत्राह ❀ वाङ्मनसातीतत्वमपि इति ❀। प्रतिपादयन्ति वेदान्ता महता प्रयत्नेन ब्रह्म। न च निषेधाय तत्प्रतिपादनम् अनुपपत्तेरित्युक्तमधस्तात्। इदानीं तु निष्प्रयोजनमित्युक्तं प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्येति न्यायात्। तस्माद्वेदान्तवाचा मनसि सन्निधानाद् ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वं नाङ्गसमपि तु प्रतिपादनप्रक्रियोपक्रम एषः। यथा गवादयो विषयाः साक्षाच्छङ्खग्राहिकया प्रतिपाद्यन्ते प्रतीयन्ते च नैवं ब्रह्म। यथाहुः—भेदप्रपंचविलयद्वारेण च निरूपणमिति।

ननु प्रकृतप्रतिषेधे ब्रह्मणोऽपि कस्मान्न प्रतिषेध इत्यत आह ❀ तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च

भामती—व्याख्या

पदार्थों का भी सम्बन्ध हो जाता है, यदि उनमें आकांक्षा और योग्यता हो—यह कहा जा चुका है, किन्तु ब्रह्मपरक वाक्य नेति नेति'—इस निषेध से दूर हैं और प्रपंच-प्रतिपादक वाक्य सन्निहित एवं साकांक्ष, अतः प्रपञ्च का अन्वय पाकर निषध निराकांक्ष हो जाता है, ब्रह्म के अन्वय की आकांक्षा ही नहीं रहती। पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि ब्रह्म मन और वाणी का विषय न होनेसे प्रमाण-रहित है, अतः उसका प्रतिषेध कर देने पर किसी भी प्रमाण का विरोध नही, उसका समाधान है—'वाङ्मनसातीतत्वमपि'। ब्रह्म की वाङ्मनसातीतता का यह अर्थ कदापि नहीं कि ब्रह्म का अभाव हैं, क्योंकि वेदान्त-वाक्य पूर्णरूपेण ब्रह्म का प्रतिमादन कर रहे है, ब्रह्म का यह प्रतिपादन निषेध के लिए तो हो नहीं सकता, क्योंकि भावाभाव के अभिधान में प्रसक्त विकल्पादि की अनुपपत्ति है—यह पहले कहा गया, अब यह कहा जा रहा है कि निषेध निष्प्रयोजन हैं—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' जैसे कीचड़ पोत कर धोने से अच्छा तो यही है कि कीचड़ पाता ही न जाय। वैसे ही ब्रह्म की सिद्धि कर उसके प्रतिषेध से तो अच्छा यही हैं कि उस की सिद्धि ही न की जाय। इस प्रकार जब ब्रह्म को वाङ्मनसातीतता मुख्यार्थक नहीं हो सकती, अपितु ब्रह्म की उपपादन-प्रक्रिया का एक यह प्रकारमात्र हैं। अर्थात् जैसे गौओंके सींग पकड़-पकड़ कर उनका परिचय कराया जा सकता हैं, वैसा ब्रह्म का नहीं। जैसा कि श्री मण्डन मिश्र ने कहा है—

"आम्नायतः प्रसिद्धि च कवयोऽस्य प्रचक्षते।
भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरुपणम् ॥ (ब्र, सि, पृ. २३)

(अर्थात् सविशेष या सप्रकार पदार्थों का विरूपण प्रकारों के द्वारा होता हैं किन्तु निर्विशेष ब्रह्म का निरूपण प्रकारों (भेदों) के बिलयन से किया जाता है)।

'नेति नेति' के द्वारा जब सभी प्रकृत पदार्थों का प्रतिषेध किया जाता है, तब ब्रह्म का भी प्रतिषेध क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का उत्तर है—"तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च"।

CC-0. Jangamwadi Math Varanasi. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रपंचितं च पूर्वस्मिन् ग्रंथेऽधिदैवतमध्यात्मं च तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम्, अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः। तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं सन्निहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनीयत इति गम्यते। ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्ग्रन्थे, न स्वप्रधानत्वेन। प्रपञ्चिते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम्-'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति। तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन 'ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते। तदास्पदं होदं सभस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम्। युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं, नतु ब्रह्मणः, सर्वकल्पनामूलत्वात्। न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति। यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम्। द्वौ चेतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः। यद्वा—पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधति, उत्तरो वासनाराशिम्। अथवा—'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः। परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद् ब्रह्म, किमन्यद् ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात्। वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते। तस्मात्प्रपंचमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः। इतश्चैष एव निर्णयः, यतस्ततः निषेधाद् भूयो ब्रवीति-'अन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति। अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परमस्तीति ब्रूयात्। तत्रेषाक्षरयोजना—नेति

भामती

इति ॐ। प्रधानं प्रकृतं, प्रपंचश्च प्रधानं न ब्रह्म, तस्य षष्ठ्यन्ततया प्रपंचावच्छेदकत्वेनाप्रधानत्वादित्यर्थः। ॐ ततोऽन्यद् ब्रवीति इति ॐ। नेति नेतीति प्रतिषेधादन्यद् भूयो ब्रवीतीति तन्निर्वचनम्। नह्येतस्मादित्यस्य यदा नह्येतस्मादिति नेति नेत्यादिष्टाद् ब्रह्मणोऽन्यत्परमस्तीति व्याख्यानं तदा प्रपंचप्रतिषेधादन्यद् ब्रह्मैव ब्रवीतीति व्याख्येयम्। यदा तु नह्येतस्मादिति सर्वनाम्ना प्रतिषेधो ब्रह्मण आदेशः परामृश्यते

भामती-व्याख्या

अर्थात जो पदार्थ प्रधानतया (मुख्यरूपेण) प्रपञ्चित होता हैं, उसे ही प्रकृत कहते हैं, ब्रह्म का मूर्तामूर्त रूप ही यहां विशेषतः प्रपञ्चित है, अतः वही प्रधान और प्रकृत हैं, ब्रह्म नहीं। 'ब्रह्मणः—इस प्रकार षष्ठ्यन्त पद से गृहीत होने के कारण ब्रह्म उस मूर्तामूर्त प्रपञ्च का निरूपक या परिचायक मात्र हैं।

"प्रतिषेधति तता ब्रवीति"—इस सूचना वाक्यमें ततः के पश्चात् 'अन्यत्' पद का अध्याहार करके 'ततोऽन्यद् ब्रवीति' - ऐसा वाक्य बनाकर अन्यत् का निर्वचन करना चाहिए—ब्रह्म। पूरी व्याख्या इस प्रकार हुई—'नेति नेति प्रतिषधाद् अन्यद् ब्रह्म ब्रवीति' ('नेति-नेति' के द्वारा मूर्तामूर्त का निषेध हो जाने पर उससे भिन्न ब्रह्म का कथन श्रुति करती है)। न ह्येतस्मात्—इस वाक्य का जब 'नेति नेति'—इस प्रकार उपदिष्ट ब्रह्म से भिन्न और कुछ भी नहीं—ऐसा अर्थ किया जाता है, तब प्रपंच का प्रतिषेध करके ब्रह्म का ही उपदेश श्रुति करती है अन्य का नहीं—ऐसा अर्थ करना चाहिए। जब 'न ह्येतस्मात्—यहां एतत् सर्वनाम के द्वारा प्रतिषेध का ब्रह्मादेशत्वेन परामर्श किया जाता है, तब भी प्रपञ्च का प्रतिषेधमात्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति-नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः ? न ह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयति-अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्तीति । यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते नह्येतस्मादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति, तदा 'ततो ब्रवीति च भूय' इत्येतन्नामधेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' ( बृ० २।१।२० ) इति हि ब्रवीतीति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति । अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यमित्युच्येत ? तस्माद् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति ? उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् । आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' ( मुण्ड० ३।१।८ ) स 'एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' ( बृ० ३।९।२६ ) यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' ( मुण्ड० १।१।६ ) यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' ( तै० २।७।१ ) इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' ( भ० गी० २५ ) इत्याद्या ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः । संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथा हि श्रुतिः—'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' ( क० ४।१ ) इति । 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं

भामती

तदापि प्रपंचप्रतिषेधमात्रं न प्रतिपत्तव्यमपि तु तेन प्रतिषेधेन भावरूपं ब्रह्मोपलक्ष्यते कस्मादित्यत आह ❀ ततो ब्रवीति च भूय इति ❀ । यस्मात्प्रतिषेधस्य परस्तावपि ब्रवीति । अथ ब्रह्मणो नामधेयं नाम सत्यस्य सत्यमिति तद्वाचाचष्टे श्रुतिः प्राणा वै सत्यम्' इति । माहारजनाद्युपमितं लिङ्गमुपलक्षयति । तत् खलु सत्यमितरापेक्षया तस्यापि परं सत्यं ब्रह्म । तदेवं यतः प्रतिषेधस्य परस्ताद् ब्रवीति तस्मान्न प्रपंचप्रतिषेधमात्रं ब्रह्माऽपि तु भावरूपमिति । तदेवं पूर्वस्मिन् व्याख्याने निर्वचनं ब्रवीतीति व्याख्यातम् । अस्मिंस्तु सत्यस्य सत्यमिति ब्रवीतीति व्याख्येयम् । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २२-२६ ॥

भामती—व्याख्या

शब्दार्थ नहीं समझना चाहिए, अपितु प्रतिषेध के द्वारा भावरूप ब्रह्म में लक्षणा कर लेनी चाहिए. क्योंकि—"ततो ब्रवीति च भूयः । अर्थात् प्रतिषेध कर देने के पश्चात् भी जब ब्रवीति—'ऐसा प्रयोग किया जाता है, तब किसी भावपदार्थमें लक्षणा आवश्यक हो जाती है । ब्रह्म का जो नामधेय (नाम या संज्ञा) है—'सत्यस्य सत्यम्' । 'माहारजनादिपद की महारजनोपक्षित लिङ्ग शरीर में लक्षणा की जाती हैं । लिङ्ग शरीर अन्य पदार्थों की अपेक्षा सत्य है किन्तु उसका भी परम सत्य ब्रह्म है । इस प्रकार के परम सत्य का उपदेश जब श्रुति प्रतिषेध के अनन्तर करती है, तब प्रतिषेध मात्र में उसका तात्पर्य पर्यवसित न होकर ब्रह्मरूप भावपदार्थ में ही मानना आवश्यक है । फलतः प्रथम योजना के अनुसार निर्वचन ब्रवीति और द्वितीय व्याख्या के अनुसार 'सत्यस्य सत्यं ब्रवीति—ऐसा अर्थ करना चाहिए । शेष भाष्य स्पष्ट है ॥ २३—२६ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' ( मु० ३।१।८ ) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि –'यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥ योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' (म. भारत.१२।४७।५४) इति चैवमाद्या ॥२४॥

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति। नेत्युच्यते—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा प्रकाशाकाशसवित्प्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते, नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथा हि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति। तथा हि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ०४।४।६) इत्यादि ॥२६॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेव संराध्यसंराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः' ( मुण्ड० ३।१।८ ) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च। 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' ( मु० ३।२।८ ) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन। 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन। क्वचितु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' ( छा० ६।८।७ ) 'अहं ब्रह्मास्मि ( बृ० १।४।१० ) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' ( बृ० ३।४।१ ) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' ( बृ० ३।७।३ ) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एवैकान्ततो गृह्यते भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्। अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति। यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति ॥ २७ ॥

---

भामती–व्याख्या

अनेनाहिरूपेणाभेदः कुण्डलादिरूपेण तु भेद इत्युक्तं तेन विषयभेवाद्भेवाभेदयोरविरोव इत्येकविषयत्वेन वा सर्वदोपलब्धेरविरोधः। विरुद्धमिति हि नः क्व संप्रत्ययो न यत्प्रमाणेनोपलभ्यते। आगमतश्च प्रमाणावेकगोचरावपि भेदाभेवौ प्रतीयमानौ न विरोधमावहतः सवितृप्रकाशयोरिव प्रत्यक्षात्प्रमाणाद् भेवाभेवाविति ॥ २७ ॥

प्रकारान्तरेण भेवाभेवयोरविरोधमाह ❀ प्रकाशाश्रयत्वाद्वा ❀ ॥ २८ ॥

---

भामती

जीव और ईश्वर का वैसे ही औपाधिक भेद और वास्तविक अभेद है, जैसे अहि कुण्डल और सूर्य-प्रकाशादि का होता है। दोनों उदाहरणों में अन्तर इतना है कि अहि-कुण्डल में अहिरूपेण अभेद और कुण्डल-भोगादिरूपेण भेद है ( एक सांप अपने शरीर के कुछ भाग को कुण्डलित करके फन खड़ा किए बैठा है। कुण्डल और फन का भेद स्पष्ट है किन्तु ध्यान से देखने पर कुण्डल भी सर्प है और फन भी सर्प ही है, अतः कुण्डल और फन दोनों सर्परूपेण अभिन्न हैं। यहां भेद का विषय कुण्डलादि और अभेद का विषय सर्प है, इस प्रकार भेद और अभेद दोनों भिन्नविषयक हैं। सूर्यस्य प्रकाश इत्यादि

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमिति तथैवैतद्भवितुमर्हति । तथाह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते । यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत, ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद् व्यपदिशति । अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति, भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया । तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

भामती

तदेवं परमतमुपन्यस्य स्वमतमाह ॐ पूर्ववद्वा ॐ अयमभिसन्धिः— यस्य मतं वस्तुनोऽहित्वेनाभेदः कुण्डलत्वेन भेद इति । स एवं ब्रुवाणः प्रष्टव्यो जायते किमहित्वकुण्डलत्वे वस्तुनो भिन्ने उताभिन्ने इति ? तदि भिन्ने, अहिकुण्डले भिन्ने इति वक्तव्यं न तु वस्तुनस्ताभ्यां भेदाभेदो नह्यन्यभेदाभेदाभ्यामन्यद्भिन्नमभिन्नं वा भवितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात् । अथ वस्तुनो न भिद्येते अहित्वकुण्डलत्वे, तथा सति को भेदाभेदयोर्विषयभेदस्तयोर्वस्तुनोऽनन्यत्वेनाभेदात् । न चैकविषयत्वेऽपि सदानुभूयमानत्वाद्भेदाभेदयोर्विरोधः, स्वरूपविरुद्धयोरप्यविरोधे क्व नाम विरोधो व्यवतिष्ठेत ? न च सदानुभूयमानं विचारासहं

भामती—व्याख्या

व्यवहारों से सूर्य और प्रकाशका भेद प्रतीत होता है । वस्तुतः सूर्य ही प्रकाश है । यहां भेद और अभेद दोनों का विषय एक ही है ।

उक्त दोनों दृष्टान्तों के आधार पर जीव और ईश्वर का जो भेदाभेद वर्णित है, वह परस्पर-विरुद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'भेदाभेदौ विरुद्धौ'—ऐसी प्रतीति वहाँ ही हो सकती है, जहाँ एक की उपलब्धि होने पर अन्य की उपलब्धि न हो, किन्तु आगम प्रमाण के बल पर जब जीव और ईश्वर में भेद और अभेद-दोनों उपलब्ध हो रहे हैं, तब उनका विरोध क्योंकर होगा ? ॥ २७,२८ ॥

भेदाभेदवादियों का मत दिखा कर स्वकीय मत दिखाते हैं—"पूर्ववद्वा" । आशय यह है कि जिसके मत में अहिरूपेण अभेद और कुण्डलादिरूपेण भेद माना जाता है । उससे पूछा जाता है कि अहित्व और कुण्डलत्व आकार अहि और कुण्डलरूप वस्तुओं से भिन्न हैं ? अथवा अभिन्न ? यदि भिन्न है, तब इनके द्वारा वस्तु का भेदाभेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि भिन्न पदार्थ के भेदाभेद से भिन्न पदार्थ का भेदाभेद आपादित नहीं होता, अतः अहिकुण्डले भिन्ने ऐसा ही कहना चाहिए अहित्वकुण्डलत्वाभ्यां भिन्नाभिन्नेऽहिकुण्डले ऐसा नहीं कह सकते । यदि अहित्व और कुण्डलत्व दोनों वस्तु से भिन्न नहीं हैं, तब भेदाभेद का विषय भेद नहीं रह जाता, क्योंकि वे दोनों वस्तुएँ भिन्न नहीं रह जातीं । सदा एकविषयत्वेन अनुभूयमान भेदाभेद का अविरोध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूपतः विरुद्ध पदार्थों का भी यदि अविरोध मान लिया जाता है, तब विरोध नाम का पदार्थ कहाँ रह सकेगा ? जो पदार्थ सदा विचारासहत्वेन अनुभूयमान है, वह कभी भाविक (वास्तविक) नहीं हो सकता, अन्यथा देह में आत्मभाव भी सदा अनुभूयमान होने के कारण भाविक हो जायगा । इस विषय का


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

इतश्चैष एव सिद्धान्तः, यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' ( बृ० ३।७।२३ ) इत्येवमादि । 'अथात आदेशो नेति नेति' ( बृ० २।३।६ ), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद् ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥३०॥

---

( ७ पराधिकरणम् । सू० ३१–३७ )

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपंचं ब्रह्म निर्धारितम् , अस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः । कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव । तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते—परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः ? सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात् संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति । सेतुव्यपदेशस्तावत्–'अथ य आत्मा स

---

भामती

भाविकं भवितुमर्हति, देहात्मभावस्यापि सर्वदानुभूयमानस्य भाविकत्वप्रसङ्गात् । प्रपञ्चितं चैतदस्माभिः प्रथमसूत्र इति नेह प्रपञ्चितम् । तस्मादनाद्यविद्याविक्रीडितमेवैकस्यात्मनो जीवभावभेदो न भाविकस्तथा च तत्त्वज्ञानादविद्यानिवृत्तावपवर्गसिद्धिः । तात्त्विकत्वे त्वस्य न ज्ञानान्निवृत्तिसम्भव । न च तत्त्वज्ञानादन्यदपवर्गसाधनमस्ति । यथाह श्रुतिः—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २९-३० ॥

---

यद्यपि श्रुतिप्राचुर्याद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत्त्वं नास्तीत्यवधारितं, तथापि सेत्वादिश्रुतीनामापाततस्त-

---

भामती–व्याख्या

विस्तार प्रथम सूत्र में किया जा चुका हैं, अतः यहाँ पिष्ट-पेषण नहीं किया जाता । फलतः एकस्वरूप आत्मतत्त्व में जीवभाव का भेद अनादि अविद्या का विलासमात्र है वास्तविक नही, अतः तत्त्वज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर अभेदरूपतात्मक अपवर्ग की सिद्धि हो जाती है । यदि भेद तात्त्विक होता, तब अविद्या से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती थी । तत्त्वज्ञान से भिन्न मोक्ष का अन्य साधन नहीं, जैसा कि स्वयं श्रुति ने कहा है—"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे.६।१५) । शेष भाष्य सुगम है ॥२९,३०॥

---

**संगति** यद्यपि प्रचुर श्रुतियों के आधार पर यह अवधारित है कि ब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य तत्त्व है ही नहीं । तथापि "सेतुर्विधृतिः" ( छां० ८।४।१ ) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा कथित तथ्य का आपाततः विरोध देखकर उसकी निवृत्ति के लिए इस अधिकरण की रचना हुई है ।

**संशय**—ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई तत्त्व है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—इस ब्रह्म से भिन्न भी किसी वस्तु की सिद्धि इसलिए होती है कि ब्रह्म में (१) सेतुत्व, (२) उन्मानत्व, (३) सम्बन्ध और (४) भेद का व्यपदेश ( व्यवहार ) किया गया है ।

(१) सेतु—"अथ य आत्मा स सेतुः" ( छां० ८।४।१ ] यह श्रुति कहती है कि ब्रह्म सेतु ( पुल ) है । नदी पर बँधे पुल से लोग इस पार से उस पार जिस जाङ्गल (स्थल) पर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेतुर्विधृतिः' ( छा० ८।४।१ ) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं संकीर्तयति। सेतुशब्दश्च हि लोके जलसन्तानविच्छेदकरे मृद्दार्वादिप्रचये प्रसिद्धः, इह च सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवात्मसेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति; 'सेतुं तीर्त्वा' ( छा० ८।४।२ ) इति च तरतिशब्दप्रयोगात्। यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्गलमसेतुं प्राप्नोत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते। उन्मानव्यपदेशश्च भवति—'तदेतद् ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमि'ति। यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि, ततोऽन्यद्धस्त्वस्तीति प्रसिद्धम्। तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते। तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' ( छा० ६।८।१ ) इति, 'शारीर आत्मा' ( तै० २।३।१ ) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' ( बृ० ४।३।२१ )

भामती

द्विरोधदर्शनात् तत्प्रतिसमाधानार्थमयमारम्भः। ॐ जाङ्गलं ॐ स्थलम्। प्रकाशबदनन्तवज्ज्योतिष्मदायतनवदिति पादा ब्रह्मणश्चत्वारस्तेषां पादानामर्धान्यष्टौ शफाः। तेऽष्टावस्य ब्रह्मण इत्यष्टशफं ब्रह्म। षोडश कला अस्येति षोडशकलम्। तद्यथा प्राचोप्रतोचोदक्षिणोदोचोति चतस्रः कला अवयवा इव कलाः स प्रकाशवान्नाम प्रथमः पादः। एतदुपासनायां प्रकाशवान् मुख्यो भवतीति प्रकाशवान् पादः। अथापराः पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः समुद्र इति चतस्रः कला एव द्वितीयः पादोऽनन्तवान्नाम। सोऽयमनन्तवत्त्वेन गुणेनोपास्यमानोऽनन्तत्वमुपासकस्यावहतीति अनन्तवान् पादः। अथाग्निः सूर्य्यश्चन्द्रमा विद्युदिति चतस्रः कलाः स ज्योतिष्मान्नाम पादस्तृतीयस्तदुपासनाज्ज्योतिष्मान् भवतीति ज्योतिष्मान् पादः। अथ घ्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वागिति चतस्रः कलाश्चतुर्थः पादः आयतनवान्नामैते घ्राणादयो हि गन्धादिविषया मन आयतनमाश्रित्य भोगसाधनं भवन्तीत्यायतनवान्नाम पादः। तदेवं चतुष्पाद् ब्रह्माष्ट-

भामती-व्याख्या

पहुँचा करते हैं वह फुल से भिन्न भूभाग होता है। वैसे ही ब्रह्म से भिन्न भी कोई लोक होना चाहिए, जहाँ लोग ब्रह्म के द्वारा पहुँचते हैं।

( २ ) उन्मान—"तदेतद् ब्रह्म चतुष्पात्, अष्टाशफकम्, षोडशकलम्" [यह ब्रह्म चार पैर, आठ खुर और सोलह कलावाला है]। ब्रह्म के चार पाद चार प्रकार के हैं—(१) प्रकाशवान्, (२) अनन्तवान्, (३) ज्योतिष्मान् और (४) आयतनवान्। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण—ये प्रकाशवान्, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु और समुद्र—ये अनन्तवान्, तथा घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और वाक्—ये आयतनवान् पाद हैं। इनमें प्रकाशवान् पाद उपासना में मुख्य हैं। द्वितीय अनन्तवान् पादों को अनन्तगुणवत्त्वेन उपासना करनेवाला अनन्तवान् हो जाता है। तृतीय ज्योतिष्मान् पादों का उपासक ज्योतिष्मान् हो जाता हैं। घ्राणादि इन्द्रियाँ गन्धादिविषयक एवं नासिकादि आयतनवाली हैं। इस प्रकार श्रुति ने उस ब्रह्म का चतुष्पादादि परिमाण बताया है, वही यह सिद्ध कर रही है कि उससे भिन्न अन्य भी कुछ है। यदि ब्रह्म से भिन्न भी कुछ पदार्थ हैं, तब उनकी परिसंख्या (गणना) करके बताते क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर है—"अमितमस्तीति गम्यते"। अर्थात् ब्रह्म से भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनकी इयत्ता नहीं।

(३) सम्बन्ध-व्यपदेश—"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छां० ६।८।१) अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध सदैव दो परिमत पदार्थों का ही होता है।

(३) भेद-व्यपदेश—"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते" (छां० १।६।६)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति च। मितानां च मितेन संबंधो दृष्टो यथा नराणां नगरेण। जीवानां च ब्रह्मणा सम्बन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ। अतस्ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते। भेदव्यपदेशश्चैनमेवार्थं गमयति। तथा हि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति—'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १।७।५) इति। अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १।६।८) इत्येकस्य। 'ये चैतस्मादर्वाचो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।६) इत्येकस्य। यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति ॥ ३१ ॥

एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

## सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्किंचिद्भवितुमर्हति, प्रमाणाभावात्। न ह्यन्यस्यास्तित्वे किंचित्प्रमाणमुपलभामहे। सर्वस्य हि जन्मितो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्। अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य। नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किंचिदजं सम्भवति, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारणात्। एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते। ननु सेत्वादिव्यपदेशा ब्रह्मव्यतिरिक्तं तत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम्, नेत्युच्यते, सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते। सेतुरात्मेति ह्याह, न ततः परमस्तीति। तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत। न चैतन्न्याय्यम्, हृदो ह्यप्रसिद्धकल्पना। अपि च सेतुव्यपदेशादात्मना लौककसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृदारुमयतापि प्रासङ्क्ष्यत। न चैतन्न्याय्यम्, अजत्वादिश्रुतिविरोधात्। सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते। जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमा-

---

भामती

शफं षोडशकलमुन्मिषितं श्रुत्या। अतस्ततो ब्रह्मणः परमन्यदस्ति। स्यादेतत्—अस्ति चेत् परिसंख्यायोच्यतामेतावदित्यत आह ॐ अमितमस्तीति ॐ प्रमाणसिद्धम्। न त्वेतावदित्यर्थो भेदव्यपदेशश्च त्रिप्रकारः—आधारतश्चातिदेशतश्चावधितश्च ॥ ३१ ॥

जगतस्तन्मर्यादानाञ्च विधारकत्वञ्च सेतुसामान्यम्। यथा हि तन्तवः पटं विधारयन्ति तदुपादानत्वादेवं ब्रह्मापि जगद्विधारयति तदुपपादकत्वात्। तन्मर्यादानाञ्च विधारकं ब्रह्म इतरथाऽतिचपल-

---

भामती—व्याख्या

"तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्" (छां० १।७।५)। "ये चामुष्यात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे" (छां० १।६।८)। इन तीनों उदाहरणों में भेद का व्यवहार क्रमशः तीन प्रकार से किया गया है—(१) आधाराधेयभाव, (२) अतिदेश और (३) अवधिरूप से ॥ ३१ ॥

सिद्धान्त—"सामान्यात्तु"। अर्थात् ब्रह्म को सेतु इसलिए कह दिया गया है कि जैसे सेतु नदी के जल का धारक और नियामक होता है, वैसे ही ब्रह्म जगत् का विधारक और नियामक है। जैसे तन्तु उपादानकारण होने के कारण पट के विधारक होते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी जगत् का उपादानकारण होने के कारण धारक है। इतना ही नहीं, जगत् को अपनी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मनः। अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते। सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरति-क्रमासम्भवात्प्राप्नोत्यर्थ एव वर्तते। यथा व्याकरणं तीर्णं इति प्राप्त इत्युच्यते नाति-क्रान्तस्तद्वत् ॥ ३२ ॥

## बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

यदप्युक्तम्—उन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तत्राभिधीयते—उन्मानव्यपदे-शोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः। किमर्थस्तर्हि ? बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत्। चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति—विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते। न ह्यविकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुंभिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुम्, मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुंसामिति। पादवत्—यथा मनआकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसम्बन्धिनः पादाः कल्प्यन्ते चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशसम्बन्धिनः आध्यानाय तद्वत्। अथवा पादवदिति—यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय कल्प्यते। नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते, क्रयविक्रये परिमाणानि-

भामती

स्थूलवलवत्कल्लोलमालाकलिलो जलनिधिरिलापरिमण्डलमवगिलेत्। वडवानलो वा विस्फूर्जितज्वाला-जटिलो जगद्भस्मसाद्भावयेत्। पवनः प्रचण्डो वाऽकाण्डमेव ब्रह्माण्डं विघटयेदिति। तथा च श्रुतिः—भीषास्माद्वातः पवते इत्यादिका ॥ ३२ ॥

मनसो ब्रह्मप्रतीकस्य समारोपितब्रह्मभावस्य वाग् घ्राणश्चक्षुः श्रोत्रमिति चत्वारः पादाः। मनो हि वक्तव्यघ्रातव्यद्रष्टव्यश्रोतव्यान् गोचरान् वागादिभिः सञ्चरतीति सञ्चरणसाधनतया मनसः पादास्त-दिदमध्यात्मम्। आकाशस्य ब्रह्मप्रतीकस्याग्निर्वायुरादित्यो दिश इति चत्वारः पादाः। ते हि व्यापिनो नभस उदर इव गोः पादा विलग्ना उपलक्ष्यन्त इति पादाः। तदिदमधिदैवतम्। तदनेन पादवदिति वैदिकं निदर्शनं व्याख्याय लौकिकं चेदं निदर्शनमित्याह ❀ अथवा पादवदिति ❀। ❀ तद्वत् ❀ इति

भामती—व्याख्या

मर्यादा में अवस्थित भी रखता है अन्यथा समुद्र अपनी अत्यन्त विकराल और विक्षुब्ध तरङ्गों की चपेट में लेकर पृथिवी-मण्डल को अस्त-व्यस्त कर देता, भयङ्कर अजगर के समान फुफकारता हुआ बड़वानल अपनी जटिल ज्वालाओं की लपेट में लेकर जगत् को कब का भस्मसात् कर डालता, प्रलयङ्कर प्रभञ्जन पूरे ब्रह्माण्ड को विघटित कर देता ॥ ३२ ॥

ब्रह्म के पादों का व्यवहार केवल बुद्धि (उपासना) के लिए कल्पितमात्र है—मन ब्रह्म का प्रतीक होने के कारण ब्रह्म कहा गया। वह गन्धादि बाह्य विषयों का ग्रहण करने के लिए घ्राणादि इन्द्रियों के द्वारा संचार करता है, अतः मनोरूप ब्रह्म के घ्राणादि पाद कहे गये हैं, क्योंकि मन घ्रातव्य (गन्ध), द्रष्टव्य (रूपादि), श्रोतव्य (शब्द) और वक्तव्य (वचन) आदि विषयों का ग्रहण करने के लिए घ्राणादि के द्वारा संचरण करता है, अतः संचरण के साधन होने के कारण घ्राणादि मन के पाद कहे गए हैं—यह अध्यात्म (शरीर-सम्बन्धी) रूपक है। इसी प्रकार ब्रह्म के प्रतीकरूप आकाश के अग्नि, वायु, आदित्य और दिशाएँ चार पाद हैं, क्योंकि जैसे गौ के पेट से लगे चार पाद होते हैं, वैसे ही आकाश के उदर से लगे हुए अग्नि आदि चार पाद हैं—यह अधिदेव (देवसम्बन्धी) उपदेश है। इस प्रकार वैदिक दृष्टान्तों की व्याख्या के अनन्तर लौकिक दृष्टान्त दिखाते हैं—"अथवा पादव-दिति यथा कार्षापणे"। अर्थात् जैसे बाजार में लेन-देन की सुविधा के लिए कार्षापण (रुपया आदि सिक्का) के पाद (चवन्नी आदि चतुर्थ भाग) बनाये जाते हैं। "तद्वत्" वैसे ही मोटी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यमाच्चद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

इह सूत्रे द्वयोरपि सम्बन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते । यदप्युक्तं—सम्बन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यादिति, तदप्यसत्, यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते । सम्बन्धव्यपदेशे तावदयमर्थः—बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना सम्बन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते, न परिमितत्वापेक्षया । तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते, न स्वरूपभेदापेक्षया । प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम् ? यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपशमात्सम्बन्धव्यपदेशो भवत्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः । यथा वा सूचीपाशकाशादिषूपाध्यपेक्षयैतौ संबन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चात्रेदृश एव सम्बन्धो नान्यादृशः, 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति हि स्वरूपसंबन्धमेनमामनन्ति, स्वरूपस्य चानपायित्वात् । न नरनगरन्यायेन सम्बन्धो घटते । उपाधिकृतस्वरूपतिरोभावात्तु—'स्वमपीतो भवति' ( छा० ६।८।१ ) इत्युपपद्यते । तथा भेदोऽपि नान्यादृशः सम्भवति, बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात् । तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति — 'योऽयं

भामती

इहापि मन्दबुद्धीनामाध्यानव्यवहारायेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

बुद्ध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादुद्भूतस्य जाग्रत्स्वप्नयोर्विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमेऽभिभवे सुषुप्तावस्थानमिति । तथा भेदव्यपदेशोऽपि त्रिविधो ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयेति । यथा सौधजालमार्गनिवेशिन्यः सवितृभासो जालमार्गोपाधिभेदाद्भिन्ना भासन्ते तद्वर्गमें तु गर्भस्तिमण्डलेनैकीभवन्त्यतस्तेन सम्बन्ध्यन्त एवमिहापीति ॥ ३४ ॥

स्यादेतत्—एकीभावा कस्माविह सम्बन्धः कथञ्चिद्वचाख्यायते न मुख्य एवेत्येतत्सूत्रेण परिहरति । उपपत्तेश्च । स्वमपीत इति हि स्वरूपसम्बन्धं ब्रूते । स्वभावश्चेदनेन सम्बन्धत्वेन स्पृष्टस्ततः स्वाभाविक-

भामती—व्याख्या

बुद्धि के व्यक्तियों का ध्यान जमाने के लिए कथित पादों की कल्पना की गई है ॥ ३३ ॥

बुद्ध्यादिरूप उपाधिस्थानों के सम्बन्ध से जाग्रत् और स्वप्न में विशेष ज्ञान उद्भूत और सुषुप्ति में उक्त उपाधि का उपशम हो जाने से विशेष ज्ञान अभिभूत हो जाता है। इकतीसवें सूत्र में कथित आधारता, अतिदेशता और अवधि को लेकर ब्रह्म का त्रिविध भेद भी उपाधि-भेद की अपेक्षा वैसे ही होता है, जैसे सूर्य का प्रकाश स्वरूपतः एक है किन्तु राजमहल के गवाक्षों से होकर जो अन्दर जाता है, वह गवाक्षीय छिद्रों के भेद से भिन्न हो जाता है। गवाक्ष की जाली हटा देने पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले प्रकाश महाप्रकाश के साथ एकीभूत होकर अभिन्न हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

सुषुप्ति में जो जीव का ब्रह्म के साथ एकीभाव होता है, उस एकीभाव को मुख्य रूप से सम्बन्ध न कहकर कथञ्चित् सम्बन्ध क्यों कहा जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर है—"उपपत्तेश्च" अर्थात् जो पदार्थ भिन्न-भिन्न वस्तुओं को सम्बन्धित करता है, ऐसे संयोगादि पदार्थों को मुख्यरूप से सम्बन्ध कहा जाता है, उपपत्ति स्वरूपापत्ति या एकीभाव दो पदार्थों का योजक नहीं, अतः स्वरूप को कथंचित् ही सम्बन्ध कहा जाता है। स्वभाव या स्वरूप को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहिर्धा पुरुषादाकाशः' ( छा० ३।१२।७ ), 'योऽयमन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३।१२।८), योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३।१२।९ ) इति ॥ ३५ ॥

## तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतूनुन्मथ्य संप्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति । तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते । तथा हि—'स एवाधस्तात्' ( छा० ७।२५।१ ), 'अहमेवाधस्तात्' ( छा० ७।२५।१ ) 'आत्मैवाधस्तात्' ( छा० ७।२५।२ ), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' ( बृ० २।४।६ ), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्' ( छा० ७।२५।२ ), 'नेह नानास्ति किंचन' ( बृ० ४।४।१९ ), 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्' ( श्वे० ३।९ ), 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' ( बृ० २।५।१९ ) इत्येवमादिवाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति । सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्माऽस्तीत्यवधार्यते ॥ ३६ ॥

## अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति । अन्यथा हि तन्न सिध्येत् । सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात् । तथाऽन्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद्व्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्यनः प्रसज्येत । सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्यो विज्ञायते । आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः । 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' ( छा० ८।१।३ ), 'आकाशवत्सर्वगतश्च

भामती

स्तादात्म्यान्नातिरिच्यत इति तर्कपाद उपपादितमित्यर्थः । तथा भेदोऽपि त्रिविधो नान्यादृशः स्वाभाविक इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सुगमेन भाष्येण व्याख्यातम् ॥ ३६ ॥

ब्रह्माद्वैतसिद्धावपि न सर्वगतत्वं सर्वव्यापिता सर्वस्य ब्रह्मणा स्वरूपेण रूपवत्त्वं सिध्यतीत्यत आह ❀ अनेत सेत्यादिनिराकरणेन ❀ । परहेतुनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च स्वसाधनोपन्यासेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति । अद्वैते सिद्धे सर्वोऽयमनिर्वचनीयः प्रपञ्चावभासो ब्रह्माधिष्ठान इति

भामती—व्याख्या

स्पर्श करने के कारण इसे स्वाभाविक कहते हैं । तादात्म्य से यह भिन्न नहीं होता—ऐसा तर्कपाद में कहा जा चुका है । कथित त्रिविध भेद भी स्वाभाविक ही है, अन्यादृश नहीं ॥ ३५ ॥

"तथान्यप्रतिषेधात्"—यह सूत्र अत्यन्त सुबोध भाष्य के द्वारा व्याख्यात है ॥ ३६ ॥

इस सूत्र के 'अनेन' पद का आचार्य शङ्कर ने अर्थ किया है—'पूर्वपक्षनिराकरणेन' । इसकी आलोचना करते हुए आचार्य भास्कर ने कहा है—"सुहृद्भूत्वा प्रासङ्गिकं सर्वगतत्वं दर्शितम्, नात्र पूर्वपक्षाशङ्का" (भास्कर० पृ० १७२) । उसका समाधान करने के लिए कहा जाता है कि पर-पक्ष का निराकरण किए बिना ब्रह्म में सर्वगतत्व सिद्ध नहीं हो सकता, अतः भाष्यकार ने कहा है—"अनेन सेत्वादिनिराकरणेन" । अर्थात् परकीय हेतु का निराकरण और अन्य-प्रतिषेध पर आश्रित स्वकीय साधनोपन्यास के द्वारा ही आत्मा में सर्वगतत्व सिद्ध होता है—अद्वैतवाद की सिद्धि हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि समस्त अनिर्वचनीय प्रपंच ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अवभासित होता है, अतः सभी पदार्थों से ब्रह्म का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यः', 'ज्यायान्दिवः' ( छा० ३।१४।३ ), 'ज्यायानाकाशात्', 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' ( भ० गी० २।२४ ) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥ ३७ ॥

---

## ( ८ फलाधिकरणम् । सू० ३८--४१ )

### फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते : यदेतदिष्टानिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनाम् , किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा । तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति । कुतः ? उपपत्तेः । स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थि-

भामती

सर्वस्य ब्रह्मसम्बन्धाद् ब्रह्म सर्वगतमिति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

---

सिद्धान्तोपक्रममिदमधिकरणम् । स्यादेतत् - नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य ब्रह्मणः कुत ईश्वरत्वं कुतश्च फलहेतुत्वमपोत्पत आह ❀ तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्याम् इति ❀ । नास्य पारमार्थिकं रूपमाश्रित्यैतच्चिन्त्यते किन्तु सांव्यावहारिकम् । एतच्च तपसा चीयते ब्रह्मेति व्याचक्षाणैरस्माभिरुपपादितम् । इष्टं फलं स्वर्गः । यथाहुः—

'यत्र दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्पदम् ॥' इति ।

अनिष्टमवीच्यादिस्थानभोग्यं, व्यामिश्रं मनुष्यभोग्यम् । ❀तत्र तावत्प्रतिपाद्यते—फलमत ईश्वरात्❀

---

भामती—व्याख्या

सम्बन्ध होने के कारण ब्रह्म व्यापक है ॥ ३७ ॥

---

संशय—जीवों को स्वर्ग-नरक आदि फल कर्म देता है ? अथवा ईश्वर ?

सिद्धान्त—इस अधिकरण में सीधे-सीधे वेदान्त-सिद्धान्त से उपक्रम किया जाता है—"फलमत उपपत्तेः" । यह ईश्वर ही जीवों को उनके कर्म का फल दिया करता है, क्योंकि फल-दातृत्व की उपपत्ति ईश्वर में ही होती है, कर्म में नहीं । नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म में ईश्वरत्व और फल-दातृत्व कहाँ से आया ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्याम् ईशित्रीशितव्यविभागावस्थायाम्" । अर्थात् ब्रह्म में पारमार्थिक स्वरूप को लेकर यह विचार नहीं किया जाता, अपितु व्यावहारिक स्वरूप में इसकी उपपत्ति होती है, इस रहस्य का उपपादन "तपसा चीयते ब्रह्म" (मुण्ड० १।१।८) इस वाक्य की व्याख्या करते हुए ईक्षत्यधिकरण में किया गया है । फल तीन प्रकार का होता है—(१) इष्ट, (२) अनिष्ट और (३) मिश्रित । स्वर्गरूप फल सभी को इष्ट (अभिलषित) है, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"स स्वर्गः स्यात् , सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" ( जै० सू० ४।३।१५) । समान रूप से स्वर्ग सभी को इष्ट क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है स्वर्ग एक ऐसा सुखविशेष है, जिसमें दुःख का लेश भी नहीं, किसी प्रकार की अपहारादि-शङ्का से ग्रस्त नहीं, निरन्तर सुखरूप है और स्वर्ग में इच्छामात्र से बड़े से बड़ा भोग्य पदार्थ उपस्थित हो जाता है । (२) अवीचि आदि नरक अनिष्ट फल हैं । (३) मनुष्यलोक मिश्रित फल है, क्योंकि यहाँ सुख-दुःख दोनों मिश्रित हैं ।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युपपद्यते कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुत्पत्तेः। स्यादेतत्—कर्म विनश्यत् स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति, तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुध्यति; प्राग्भोक्तृसम्बन्धात्फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि यत्सुखं दुःखं वाऽऽत्मना भुज्यते तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। नह्यसंबद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्येत—मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः। कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यत इति, तदपि नोपपद्यते, अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्ठसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृ-

भामती

कर्मभिरारधिताद्भवितुमर्हति। अथ कर्मण एव फलं कस्मान्न भवतीत्यत आह ❀ कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः ❀ प्रत्यक्षविनाशिन इति। चोदयति ❀स्यादेतत् कर्म विनश्यद् इति ❀। उपात्तमपि फलं भोक्तुमयोग्यत्वाद्वा कर्मान्तरप्रतिबन्धाद्वा न भुज्यत इत्यर्थः। परिहरति ❀ तदपि न परिशुध्यति इति ❀। नहि स्वर्गं आत्मानं लभतामित्यधिकारिणः कामयन्ते किन्तु भोग्योऽस्माकं भवत्विति। तेन यादृशमेभिः काम्यते तादृशस्य फलत्वमिति भोग्यत्वमेव सत्फलमिति। न च तादृशं कर्मानन्तरमिति कथं फलं? सदपि स्वरूपेण? अपि च स्वर्गनरकौ तीव्रतमे सुखदुःखे इति तद्विषयेणानुभवेन भोगापरनाम्नाभवश्यं भवितव्यम्। तस्मादनुभवयोग्ये अननुभूयमाने शशशृङ्गवन्न स्त इति निश्चीयते। चोदयति ❀ अथोच्येत मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः कर्मकार्य्यादपूर्वाद्भवेद् इति ❀। परिहरति ❀ तदपि न इति ❀। यद्यदचेतनं तत्तत्सर्वं चेतनाधिष्ठितं प्रवर्त्तत इति प्रत्यक्षागमाभ्यामवधारितम्। तस्मादपूर्वेणाप्यचेतनेन चेतनाधिष्ठि-

भामती—व्याख्या

सूत्रार्थ का प्रतिपादन किया जाता है—"फलमत ईश्वरात्" कर्मों के द्वारा आराधित ईश्वर ही सभी प्रकार के फल देता है। कर्म से फल-प्राप्ति क्यों न मानी जाय? इस का उत्तर है—"कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः"। विनष्ट कर्म से फल नहीं हो सकता। 'कर्म अपनी निवृत्ति के क्षण में फल को उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है, वह फल कालान्तर में भोग्य हो जायगा'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यजमान आत्मा अपने जीवन-काल में क्रियमाण कर्मों का कर्त्ता है, भोक्ता नहीं। भोक्ता से सम्बन्धित स्वर्गादि को फल कहा जाता है, कर्त्ता से सम्बन्धित स्वर्गादि का होना न तो सम्भव है और न स्वर्गादि में फलत्व उपपन्न हो सकता है, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"तदपि न परिशुध्यति"। अर्थात् स्वर्गादि की कामना से कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति का इतना ही उद्देश्य नहीं होता कि स्वर्ग कभी भी उत्पन्न हो जाय, अपितु वह व्यक्ति यह चाहता है कि मैं जब मरूँ तब स्वर्ग हमारा भोग्य हो जाय। वैसा भोग्यता-युक्त स्वर्ग कर्म के अनन्तर कैसे हो जायगा? यद्यपि स्वर्ग स्वरूपेण है किन्तु भोग्यत्वेन नहीं, अतः उसे फल नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि स्वर्ग और नरक तीव्रतम सुख और दुःखरूप हैं। वैसा स्वर्ग उत्पन्न होते ही स्वविषयक अनुभवरूप भोग देने लग जायगा। जब अनुभव-योग्य पदार्थ अनुभव में नहीं आता, तब शश-शृङ्ग के समान उस का अभाव ही समझा जाता है।

शङ्का की जाती है—"अथोच्येत मा भूत् कर्मानन्तरं फलोत्पादः, कर्म कार्यादपूर्वाद् भवेत्" अर्थात् कर्म-जन्य अपूर्व आत्मा में उत्पन्न हो जाता है, शरीर-त्याग करते ही वह अपूर्व उस आत्मा का स्वर्ग से सम्बन्ध स्थापित कर देता है। इस शङ्का का परिहार है—"तदपि न"। अर्थात् दण्ड-चक्रादि अचेतन पदार्थ किसी-न-किसी चेतन से अधिष्ठित हो कर कार्यकारी होते हैं, अतः अपूर्वरूप जडतत्त्व भी किसी चेतन के द्वारा प्रवर्तित होगा,


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यनुपपत्तेः; तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्—न; ईश्वर-सिद्धेरर्थापत्तिक्षयात् ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथा च श्रुतिर्भवति—'स वा एव महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः' ( बृ० ४।४।२४ ) इत्येवंजातीयका ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते। अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च। श्रूयते तावदयमर्थः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु।

भामती

तेनैव प्रवर्त्तितव्यं नान्यथेत्यर्थः। न चापूर्वं प्रामाणिकमपीत्याह ❀ तदस्तित्वे च इति ❀ ॥ ३८ ॥

"अन्नादः" अन्नप्रदः ॥ ३९ ॥

सिद्धान्तेनोपक्रम्य पूर्वपक्षं गृह्णाति—"धर्मं जैमिनिरत एव"। श्रुतिमाह ❀श्रूयते तावदिति❀। ननु स्वर्गकामो यजेतेत्यावयः श्रुतयः फलं प्रति न साधनतया यागं विदधति। तथाहि—यदि यागादय एव क्रिया न तदतिरिक्ता भावना, तथापि त एव स्वपदेभ्यः पूर्वापरीभूतः साध्यस्वभावा अवगम्यन्त इति न साध्यान्तरमपेक्षन्त इति न स्वर्गेण साध्यान्तरेण सम्बन्धमर्हन्ति। अथापि तदतिरेकिणी भावनास्ति तथाप्यसौ भाव्यापेक्षापि स्वपदोपात्तं पूर्वावगतं च भाव्यं धात्वर्थमपहाय न भिन्नपदोपात्तं पुरुषविशेषणं च स्वर्गादि भाव्यतया स्वीकर्त्तुमर्हति। न चैकस्मिन् वाक्ये साध्यद्वयसम्बन्धसम्भवः, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। न केवलं शब्दतो वस्तुतश्च पुरुषप्रयत्नस्य भावनायाः साक्षाद्धात्वर्थ एव साध्यो न तु स्वर्गादिस्तस्य

भामती—व्याख्या

किन्तु ऐसा कोई ईश्वरादि चेतन तत्त्व कर्मवादी मानते नहीं। अपूर्व किसी प्रमाण से सिद्ध भी नहीं होता—" तदस्तित्वे प्रमाणाभावत्" ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च"—इस सूत्र में उदाहृत श्रुति में जो पद आया है—'अन्नादः' उसका अर्थ है—अन्नप्रदः ( अन्न का दान करनेवाला ) ॥ ३९ ॥

सिद्धान्त से उपक्रम करके पूर्वपक्ष का ग्रहण करते हैं—"धर्मं जैमिनिरत आह"। धर्म की फलोत्पादकता में श्रुति दिखाते हैं—"श्रूयते तावत्"।

**पूर्वपक्ष**—"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुतियाँ फल-साधनत्वेन याग का विधान नहीं करती, क्योंकि जिस 'क्रिया' पदार्थ को लेकर कर्तृत्वादि व्यवहार होता है, उस 'क्रिया' के विषय में मत-भेद है—( १ ) कुछ लोक धात्वर्थ को क्रिया कहते हैं और ( २ ) कुछ लोग धात्वर्थ-जनक भावना को क्रिया कहते हैं।

( १ ) प्रथम पक्ष के अनुसार यदि यागादिरूप धात्वर्थ को ही क्रिया माना जाता है, तब धात्वर्थरूप भाव पदार्थ अपने वाचकीभूत धातु पदों से अवगमित होता है, वह पूर्वापरी-भूत अवान्तर भावों का समूह है [ जैसा कि निरुक्तकार कहते हैं—"पूर्वापरीभूतं भावमा-ख्यातेनाचष्टे" ] वह क्रिया स्वयं साध्यरूप है, स्वर्गादिरूप साध्यान्तर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

( २ ) यदि धात्वर्थ से अतिरिक्त भावना ( कृति ) को क्रिया माना जाता है, तब भी उस भावना का साध्य धात्वर्थ ही माना जायगा, क्योंकि प्रत्ययार्थरूप भावना का सामीप्य जैसा प्रकृत्यर्थरूप यागादि में है, वैसा स्वर्ग में नहीं, स्वर्ग भिन्न पद से अभिहित एवं पुरुष का विशेषण है—'स्वर्गकामः'। भावनारूप एक साधन के धात्वर्थ एवं स्वर्ग—ये दो साध्य नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते। अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात्।

भामती

तदव्याप्यत्वात्। स्वर्गादेस्तु नामपदाभिधेयतया सिद्धरूपस्याख्यातवाच्यं साध्यं धात्वर्थं प्रति 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति न्यायात्साधनतया गुणत्वेनाभिसम्बन्धः। तथाच पारमर्षं सूत्रम्—'द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः' इति। तथा च कर्मणो यागादेर्दुःखत्वेन पुरुषेणासमीहितत्वात् समीहितस्य च स्वर्गादेरसाध्यत्वान्न यागादयः पुरुषस्योपकुर्वन्त्यनुपकारिणां चैषां न पुरुष ईप्टे 'अनीशानश्च न तेषु सम्भवत्यधिकारीत्यधिकाराभावप्रतिपादितानर्थक्यपरिहाराय कृत्स्नस्यैवाम्नायस्य निर्मृष्टनिखिलदुःखानुषङ्गनिस्यसुखमयब्रह्मज्ञानपरत्वं भेदप्रपञ्चविलयनद्वारेण। तथाहि—सर्वत्रैवाम्नाये क्वचित्कस्यचिद्भेदस्य प्रविलयो गम्यते यथा स्वर्गकामो यजेतेति शरीरात्मभावप्रविलयः। इह खल्वापाततो देहातिरिक्त आमुष्मिकफलोपभोगसमर्थोऽधिकारी गम्यते। तत्राधिकारस्योक्तेन क्रमेण निराकरणाद् असतोऽपि प्रतीयमानस्य विचारासहस्योपायतामात्रेणावस्थानादनेन वाक्येन देहात्मभावप्रविलयस्तत्परेण क्रियते। गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदित्यत्राप्यापाततोऽधिकृताधिकारावगमादधिकारिभेदप्रविलयः। निषेधवाक्यानि च साक्षादेव प्रवृत्तिनिषेधेन विधिवाक्यानि चान्यानि सांग्रहण्या यजेत ग्रामकाम इत्यादीनि न सांग्रहण्यादि-

भामती—व्याख्या

हो सकते, अन्यथा वाक्य-भेद प्रसक्त होगा। 'यजेत'—इस एक ही पद के प्रकृति (यजधातु) से याग और 'त' प्रत्यय से भावना अभिहित है। केवल इस शाब्दिक मर्यादा के आधार पर ही भावना का साध्यत्व धात्वर्थ में स्थिर नहीं होता, अपितु योग्यता के आधार पर भी यही मानना होगा, स्वर्ग को भावना का साध्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह भावना का व्याप्य नहीं। 'स्वर्ग' सुबन्त पद के द्वारा अभिहित होने के कारण सिद्ध अर्थ है, साध्य नहीं। सिद्ध पदार्थ अन्य साध्य का साधन माना जाता है, साध्य नहीं श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—"भूतं भव्यायोपदिश्यते, भूतं द्रव्यं क्रियां निर्वर्तयति" (टुप्० पृ. १२०७)। साध्य प्रधान और साधन गुण (अप्रधान या अङ्ग) होता है, जैसा कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—'द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः' (जै. सू. ६।१।१) यागादि कर्म दुःखरूप होने के कारण पुरुष के द्वारा समीहित (अभिलषित) नहीं और समीहित स्वर्गादि साध्य नहीं होते, अतः यागादि पुरुष का उपकार नहीं कर सकते, अनुपकारी पदार्थों में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः पुरुष यागादि का अधिकारी नहीं माना जा सकता। अधिकारी के अभाव में यागादि-प्रतिपादक वाक्यों का आनर्थक्य न हो जाय, अतः समस्त वेद का विशुद्ध सुखमय ब्रह्म के ज्ञान में तात्पर्य मानना उचित है; यह भेद-प्रपञ्च-विलयन के द्वारा सम्भव हो सकेगा। प्रायः सर्वत्र वेद में किसी-न-किसी भेद का प्रविलय अवगत होता है, जैसे—"स्वर्गकामो यजेत"—इस शास्त्र के द्वारा चार्वाक-सम्मत शरीरात्मभाव का प्रविलय होता है, क्योंकि उक्त शास्त्र के द्वारा आपाततः यह प्रतिपादित है कि स्वर्गादि फलोपभोग-योग्य कोई देहादि से अतिरिक्त आत्मा है किन्तु जब सूक्ष्म विचार के द्वारा स्वर्गादि का निराकरण हो जाता है और कोई स्वर्गकामनावान् आत्मा न होने पर रजतादि के समान प्रतीत हो जाता है, तब उक्त शास्त्र का तात्पर्य केवल देहात्मभाव के प्रविलय में पर्यवसित हो जाता है। "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्"—यह वाक्य दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है, अतः दर्शपूर्णमास कर्म में अधिकृत पुरुष का ही अधिकार गोदोहन पात्र के द्वारा जल-प्रणयन में स्थिर होता है, अतः उक्त वाक्य अधिकारी के भेद का प्रविलापक माना जाता है। निषेध-वाक्य तो साक्षात् प्रवृत्ति के प्रविलापक होते हैं। "सांग्रहण्या यजेत ग्रामकामः" इत्यादि विधि-वाक्य यद्यपि सांग्रहणी इष्टि में प्रवृत्ति के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं, तथापि 'स्वर्गकाम पद के समान ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

प्रवृत्तिपराण्यपि तूपायान्तरोपदेशेन सेवादिदुष्टोपायप्रतिषेधार्थानि, यथा विषं भुङ्क्ष्व माऽस्य गृहे भुङ्क्ष्व इति । तथा च रागाद्याक्षिप्तप्रवृत्तिप्रतिषेधेन शास्त्रस्य शास्त्रत्वमप्युपपद्यते रागनिबन्धनां तूपायोपदेशद्वारेण प्रवृत्तिमनुजानतो रागसंवर्द्धनादशास्त्रत्वप्रसङ्गः । तन्निषेधेन तु ब्रह्मणि प्रणिधानमावहत् शास्त्रं शास्त्र भवेत् । तस्मात्कर्मफलसम्बन्धस्याप्रामाणिकत्वादनादिविचित्राविद्यासहकारिण ईश्वरादेव कर्मानपेक्षाद्विचित्रफलोत्पत्तिरिति । कथं तर्हि विधिः ? किमत्र कथं ? प्रवर्त्तनामात्रत्वाद्विधेस्तस्य चाधिकारमन्तरेणाव्युपगत्तेः । नहि यो यः प्रवर्त्तयति स सर्वोऽधिकृतमपेक्षते, पवनादेः प्रवर्त्तकस्य तदनपेक्षत्वादिति शङ्कामपाचिकीर्षुराह ❀ तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते ❀ । अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत । अयमभिसन्धिः—उपदेशो हि विधिः । यथोक्तं "तस्य ज्ञानमुपदेशः" इति । उपदेशश्च नियोज्यप्रयोजने कर्मणि लोकशास्त्रयोः प्रसिद्धः । तद्यथाऽऽरोग्यकामो जीर्णे भुञ्जीत । एष सुपन्था गच्छतु भवाननेनेति । न त्वाज्ञादिरिव नियोक्तृप्रयोजनस्तत्राभिप्रायस्य प्रवर्त्तकत्वात् तस्य चापौरुषेयेऽसम्भवात् । अस्य चोपदेशस्य नियोज्यप्रयोजनव्यापारविषयत्वमनुष्ठात्रपेक्षितानुकूलव्यापारगो-

भामती—व्याख्या

ग्रामकाम' पद भी जब फलबोधक नहीं हो सकता, तब ग्राम-प्राप्ति के अन्य सुकर साधनों के द्वारा ग्राम-प्राप्ति देखकर उक्त विधि-वाक्य सेवादि गहन कर्मों के प्रविलापन में वैसे ही स्थिर हो जाता है, जैसे "विषं भुङ्क्ष्व"—यह वाक्य शत्रु-गृह में भोजन का प्रविलापक होता है । फलतः रागादि के द्वारा आक्षिप्त प्रवृत्ति का प्रतिषेध कर देने से उक्त धर्म शास्त्र का शास्त्रत्व उपपन्न हो जाता है, क्योंकि यदि वह शास्त्र राग-प्राप्त प्रवृत्ति का अनुवादमात्र करता है, तब उसमें अनधिगतार्थ-बोधकत्व न रहने से प्रामाण्य नहीं रहता । इस प्रकार प्रवृत्ति-निषेध के द्वारा ब्रह्म में प्रणिधान के समर्पक शास्त्र वस्तुतः शास्त्र हैं । फलतः आपाततः प्रतीयमान कर्म-फल-सम्बन्ध अप्रामाणिक है, अनादि और विचित्र अविद्या के सहयोग से ईश्वर ही जीवों का कर्म-फल प्रदान करता है—यह सिद्ध हो गया ।

जैमिनीय सिद्धान्त—"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधि-वाक्यों के द्वारा धर्म में फल देने का सामर्थ्य माना गया है । अधिकारी के विना उक्त वाक्यों को विधवाक्य क्योंकर कहा जायगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रवर्तक वाक्य को विधि वाक्य कहते हैं, उक्त वाक्य अपने विषय में प्रवर्तक है । प्रवर्तकता के लिए अधिकारी का होना अनिवार्य नहीं जैसे कि वायु प्रवर्तक है किन्तु उसके लिए किसी अधिकारी की अपेक्षा नहीं । कथित पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद् यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते, अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत' आशय यह है कि विधि-वाक्य एक वैदिक उपदेश है, धर्म के ज्ञापक वाक्य को उपदेश कहते हैं—"तस्य ज्ञानमुपदेशः" ( जै, सू. १।१।५ ) । नियोज्य ( प्रवर्त्य ) पुरुष के प्रयोजनीभूत स्वर्गादि के साधन ( कर्म ) में प्रवर्तक वाक्य को लोक और वेद में उपदेश कहा जाता है । लोक में जैसे कहा जाता है—"आरोग्यकामो जीर्णे भुञ्जीत" [ आरोग्य चाहनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि खाए हुए भोजन का पूर्ण परिपाचन हो जाने पर ही आहार ले ] । 'एष सुपन्था, गच्छतु अनेन भवान्' [ यह सीधा मार्ग है, आप इसी मार्ग से जाएँ ] । उपदेश पुरुष का वैसा बलपूर्वक प्रवर्तक नहीं होता, जैसा आज्ञादि-वाक्य, क्योंकि अपौरुषेय वेद में कोई प्रवर्तक पुरुष सम्भव नहीं । उपदेश नियोज्य के प्रयोजनीभूत व्यापार को विषय करता है अर्थात् अनुष्ठाता व्यक्ति के द्वारा अपेक्षित व्यापार का बोधक होता है—ऐसा न्याय-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति, परित्यक्तोऽयं पक्षः—नैष दोषः, श्रुतिप्रामाण्यात्। श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसंबन्धः श्रुत उपपद्यते

भामती

चरितत्वमस्माभिरुपपादितं न्यायकणिकायाम्। तथाच स्वर्गकामो यजेतेत्यादिषु स्वर्गकामादेः समीहितोपाया गम्यन्ते यागादयः। इतरथा तु न साधयितारमनुगच्छेयुः। तदुक्तमृषिणा—"असाधकन्तु तावद्यार्थ्यादिति"। अनुष्ठात्रपेक्षितोपायतारहितप्रवर्त्तनामात्रार्थत्वे यजेतेत्यादीनामसाधकं कर्म यागादि स्यात् साधयितारं नाधिगच्छेदित्यर्थः। न चैते साक्षाद्भावनाभाव्या अपि कर्त्रपेक्षितसाधनताविध्युपहितमर्य्यादा भावनोद्देश्या भवितुमर्हन्ति। येन पुंसामनुपकारकाः सन्तो नाधिकारभाजो भवेयुः। दुःखत्वेन कर्मणां चेतनसमीहानास्पदत्वात्। स्वर्गादीनान्तु भावनापूर्वरूपकामनोपधानाच्च। प्रीत्यात्मकत्वाच्च। नामपदाभिधेयानामपि पुरुषविशेषणानामपि भावनोद्देश्यतालक्षणभाव्यत्वप्रतीतेः। फलार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वलक्षणेन च यागादिसाध्यत्वेन फलार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वरूपस्य फलसाध्यत्वस्य समप्रधानत्वाभावेनैकवाक्यसमवायसम्भवात् भावनाभाव्यत्वमात्रस्य च यागादिसाध्यत्वस्य करणत्वेऽप्यविरोधात्। अन्यथा सर्वत्र तदुच्छेदात्। परश्वादेरपि छिदादिषु तथाभावात् फलस्य साक्षाद्भावनाव्याप्यत्वविरहिणोऽपि तदुद्देश्यतया सर्वत्र व्यापितया व्यवस्थानात् स्वर्गसाधने यागादौ स्वर्गकामादेरधिकार इति सिद्धम्। न चाप्राप्तार्थ-

भामती—व्याख्या

कणिका के आरम्भ में कहा जा चुका है। इस प्रकार स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्वर्ग-कामनावान् व्यक्ति के समीहित स्वर्गादि के साधनत्वेन यागादि अवगमित होते हैं, अन्यथा साधयिता पुरुष के साथ यागादि का सम्बन्ध ही नहीं होता, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"असाधकं तु तादर्थ्यात्" (जै. सू. ६।१।२) [पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि 'भूत भव्यायोपदिश्यते' अर्थात् स्वर्ग सिद्ध पदार्थ होने के कारण यागरूप साध्य पदार्थ का साधक है। उस कथन का प्रतिवाद सिद्धान्ती की ओर से किया गया—'असाधकं तादर्थ्यात्' अर्थात् स्वर्ग सिद्ध वस्तु होने पर भी याग का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि याग तदर्थक (स्वर्गार्थक) है] यदि यजेत' इत्यादि वाक्य इष्ट-साधनीभूत अर्थ के बोधक न होकर केवल वायु के समान प्रवर्तक ही होते, तब स्वर्ग के साधक पुरुष के साथ यागादि का कोई सम्बन्ध ही न होता। यागादि भावना के साक्षात् भाव्य नहीं, अपितु भावना के साक्षात् भाव्य स्वर्गादि के साधन होने के कारण भाव्य (साध्य) हैं। यदि यागादि भावना के साक्षात् भाव्य होते, तब पुरुष के अनुपकारक होने के कारण पुरुष के साथ सम्बन्धित न होते। याग एक कर्म है, कर्म स्वरूपतः कष्टरूप होने के कारण पुरुषाभिलषित नहीं होते। इस के विपरीत स्वर्गादि पदार्थ भावना (कामनारूप पूर्वावस्था) के विषय एवं सुखात्मक होने के कारण सुबन्तपद के द्वारा अभिहित होने पर भी भावना की उद्देश्यता (भाव्यता) के आश्रय होते हैं। फलार्थ-प्रवृत्त पुरुष की भावना का साक्षात् भाव्य या साध्य यागादि और यागादि का साध्य स्वर्गरूप फल है, दोनो साध्यताएँ मुख्यतः प्रतिपादित नहीं, अतः वाक्यभेद न हो कर एकवाक्यता निभ जाती है। याग जब भावना का साध्य है, तब वह स्वर्गादि का कारण क्योंकर बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि याग अपने अपूर्व रूप व्यापार का लाभ करने के लिए साध्य और व्यापार-विशिष्ट होकर स्वर्गादि का कारण वैसे ही होता है, जैसे कुठारादि उद्यमनादि व्यापार से युक्त हो कर छिदादि के करण होते हैं। अन्यथा साध्यतामात्र के आ जाने से करणता का सर्वत्र उच्छेद हो जायगा। स्वर्गादि फलों में भावना की साक्षात् साध्यता न होने पर भी स्वर्गादि के उद्देश्य से यागादि में प्रवृत्ति जब होती है, तब स्वर्गकामनावान् व्यक्ति का यागादि में अधिकार उपपन्न हो जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा कल्पयितव्यः। न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति। अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते। उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण।

ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्; अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपप-

भामती

विषयाः सांग्रहण्यावियागविधयः परिसंख्यायका नियामका वा भवितुमर्हन्ति। न चाधिकारिभावे देहात्मप्रविलयो वाधिकारिभेदप्रविलयो वा शक्य उपपादयितुम्। आपाततः प्रतिभाने चास्य तत्परत्वमेव नार्थायातपरत्वं स्वरसतः प्रतीयमानेऽर्थे वाक्यस्य तावद्ध्यं सम्भवति न सम्पातायातपरत्वमुचितम्। न चेतावता शास्त्रत्वव्याघातः, तस्य स्वर्गाद्युपायशासनेऽपि शास्त्रत्वोपपत्तेः। पुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वं हि शास्त्रत्वं सरागवीतरागपुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वेन सर्वपारिषदतया न तत्त्वव्याघातः। तस्माद्विविधविषयभावोपगमाद् यागः स्वर्गस्योत्पादक इति सिद्धम्।

❀ कर्मणो वा काचिदवस्था इति ❀। कर्मणोऽवान्तरव्यापारः। एतदुक्तं भवति—कर्मणो हि फलं प्रति तत्साधनत्वं श्रुतं तन्निर्वाहयितुं तस्येवावान्तरव्यापारो भवति। न च व्यापारवति सत्येव व्यापारो नासतीति युक्तम्। असत्स्वव्याग्नेयादिषु तदुत्पत्त्यपूर्वाणां परमापूर्वे जनयितव्ये तदवान्तरव्यापारत्वात्। असत्यपि च तैलपानकर्मणि तेन पुष्टौ कर्त्तव्यायामन्तरा तैलपरिणामभेदानां तदवान्तरव्यापारत्वात्। तस्मात् कर्मकार्यमपूर्वं कर्मणा फले कर्त्तव्ये तदवान्तरव्यापार इति युक्तम्। यदा पुनः फलोपजननान्यथानुपपत्त्या किञ्चित् कल्प्यते तथा फलस्य वा पूर्वावस्था। ❀अविचित्रस्य कारणस्येति❀।

भामती—व्याख्या

यह जो कहा गया कि "सांग्रहिण्या यजेत ग्रामकामः" इत्यादि विधि-वाक्य इतर-निवर्तक परिसंख्यारूप है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त अप्राप्त ग्रामादि-विषयक होने के कारण अपूर्व विधि ही है, परिसंख्या या नियम-विधि नहीं। यागादि में किसी अधिकार का निर्णय न होने से याग-विधि अन्यार्थपरक (देहात्मभाव या अधिकरिभेद की प्रविलापक) नहीं हो सकती, क्योंकि "यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यों की अभिधा वृत्ति से स्वरसतः स्वर्गकामनावान् व्यक्ति का यागादि में अधिकार अवगत होता है, अतः इसे संपाततः (आपाततः) प्राप्त नहीं कहा जा सकता। "यजेत स्वर्गकामः"—इत्यादि वाक्यों में प्रपञ्च-प्रविलापनपरता होने पर ही शास्त्रता उपपन्न होगी—यह भी आवश्यक नहीं, क्योंकि स्वर्गादि के उपाय यागादि की शासनता को लेकर भी शास्त्रता बन जाती है, ऐसा ही शास्त्र का लक्षण है—'पुरुषश्रेयोऽभिधायकत्वम्'। पुरुष दो प्रकार के हैं—सराग और वीतराग। सराग पुरुषों का श्रेय स्वर्गादि और वीतराग का श्रेय मोक्ष है। उभयविध श्रेय के अभिधायक शास्त्रों में शास्त्रता सर्वजनीन है। फलतः विधि वाक्यों को विषयता होने के कारण याग स्वर्गादि का उत्पादक है, यह सिद्ध हो गया।

"कर्मणो वा काचिदवस्था" अर्थात् अपूर्व कर्म का अवान्तर व्यापार है। आशय यह है यागादि कर्म में फल की साधनता श्रुत है, उस साधनता का निर्वाह करने के लिए अपूर्व को यागादि का ही अवान्तर व्यापार माना जाता है। याग व्यापारवान् है, उसके नष्ट हो जाने पर उसका व्यापार क्योंकर रहेगा? इस प्रश्न का उत्तर है कि व्यापारवान् के रहने पर ही व्यापार उपपन्न होता है, उसके न रहने पर नहीं—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि आग्नेयादि कर्मों के न रहने पर भी उनके उत्पत्त्यपूर्व अवान्तर व्यापार के रूप में रहकर परमापूर्व के जनक होते हैं। तैल-पान क्रिया के न रहने पर भी पुष्टि रूप फल के उत्पन्न करने में तेल की परिणति अवान्तर व्यापार होती है। उसी प्रकार कर्म के द्वारा स्वर्गादि फलों के उत्पन्न करने में कर्म-जनित अपूर्व अवान्तर व्यापार होता है। जब वह फलोत्पत्ति की अन्य-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्तेवैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्, तदनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्मादेव फलमिति ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते । केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा

भामती

यदीश्वरादेव केवलादिति शेषः । कर्मभिर्वा शुभाशुभैः कार्यद्वेषोत्पादे रागादिमत्त्वप्रसङ्ग इत्याशयः ॥४०॥

दृष्टानुसारिणी हि कल्पना युक्ता नान्यथा । नहि जातु मृत्पिण्डदण्डादयः कुम्भकाराद्यनधिष्ठिताः कुम्भाद्यारम्भाय विभवन्तो दृष्टाः । न च विद्युत्पवनादिभिरप्रयत्नपूर्वैर्व्यभिचारः, तेषामपि कल्पनास्पदतया व्यभिचारनिदर्शनत्वानुपपत्तेः । तस्मादचेतनं कर्म वाऽपूर्वं वा न चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं स्वकार्य्ये प्रवर्त्तितुमुत्सहते । न च चैतन्यमात्रं कर्मस्वरूपसामान्यविनियोगादिविशेषविज्ञानशून्यमुपयुज्यते येन तद्रहितक्षेत्रज्ञमात्राधिष्ठानेन सिद्धसाध्यत्वमुद्भाव्येत, तस्मात् तत्तत्प्रासादाट्टालगोपुरतोरणाद्युपजननिदर्शनसहस्रैः सुपरिनिश्चितं यथा चेतनाधिष्ठानादचेतनानां कार्य्यारम्भकत्वमिति, तथा चैतन्यं देवताया असति बाधके श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धं न शक्यं प्रतिषेद्धुमित्यपि स्पष्टं निरटङ्क देवताधिकरणे । लौकिकश्चेश्वरो दानपरिचरणप्रणामाञ्जलिकरणस्तुतिमयीभिरतिश्रद्धागर्भाभिर्भक्तिभिराराधितः प्रसन्नः स्वानु-

भामती—व्याख्या

थानुपपत्ति कल्पित होता है, तब वह फल की पूर्व अवस्था है । "अविचित्रस्य कारणस्य"—यहाँ 'यदीश्वरादेव केवलात्'– ऐसा वाक्यशेष जोड़ लेना चाहिए, अर्थात् यदि केवल ईश्वर किसी से पुण्य और किसी से पाप कराकर पुण्य-पाप का फल देता है, तब ईश्वर में रागादिमत्त्व प्रसक्त होता है ॥ ४० ॥

दृष्ट के अनुसार ही सदैव अदृष्ट की कल्पना की जाती है । लोक में कभी ऐसा नहीं देखा जाता कि मृत्पिण्ड, और चक्रादि सामग्री किसी चेतन पुरुष से अधिष्ठित न होकर घटादि को जन्म दे डालती हो । विद्युत् और वायु आदि की प्रवृत्ति में भी चेतनाधिष्ठितत्व का व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि वहाँ भी ईश्वराधिष्ठितत्व की कल्पना की जाती है । कर्म और उससे जनित अपूर्व—ये दोनों जड़ हैं, अतः किसी चेतन तत्त्व से अनधिष्ठित होकर ही स्वतन्त्र प्रवृत्त नहीं हो सकते । चेतन भी कर्म के स्वरूप, भेद और विनियोग का अभिज्ञ चाहिए, केवल अनभिज्ञ जीव को अधिष्ठाता नहीं माना जा सकता । अतः चित्र-विचित्र महलों विशाल अट्टालिकाओं, गगनचुम्बी गोपुरों और वरेण्य तोरणों की सहस्रों कला-कृतियाँ देखकर यह सुपरिनिश्चित होता है कि जैसे चेतन के द्वारा अधिष्ठित जड़-वर्ग में कार्यारम्भकत्व आता है, वैसे ही श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में प्रसिद्ध देवताओं के चैतन्य का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता—ऐसा ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण में स्पष्ट निर्णय दिया गया है । लौकिक ईश्वर ( राजा ) विविध सेवा, प्रणाम, अञ्जलिकरण, स्तुति और श्रद्धा-भक्ति के द्वारा आराधित होकर जब प्रसन्न होता है, तब आराधक को उसके अनुरूप फल प्रदान करता है और विद्रोही शत्रुतामूलक क्रिया करनेवाले को दण्ड देता है । किन्तु अकेला जड़भूत कर्म या अपूर्व किसी चेतन देवता की प्राप्त किए बिना स्वर्गादि फल दे डालेगा—यह अत्यन्त दृष्टविरुद्ध है । जैसे राजा की भी कितनी ही पूजा-आराधना क्यों न की जाय, प्रसन्न हुए बिना वह कुछ भी प्रदान नहीं करता । वैसे ही याग भी अपने देवता को प्रसन्न करके ही यजमान को फल देता है । तब तो देवता की स्थायी प्रसन्नता से यजमान को फल का लाभ हो जाता है, अपूर्व की क्या आवश्यकता ? इसी प्रकार पाप कर्मों के द्वारा देवगण विरोधी हो जाते है—यह भी श्रुति-स्मृति-प्रसिद्ध है । देवता की स्थायी अप्रसन्नता से अनिष्ट फल उत्पन्न होता है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते। कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथाऽस्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः। कुतः? हेतुव्यपदेशात्। धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते। फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष तु एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति। स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—

'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्॥ इति (७।२१,२२)

सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति। विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते॥ ४१॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥ २॥

---

भामती

रूपमाराधकाय फलं प्रयच्छति विरोधतश्चापक्रियाभिर्विरोधकायाहितमित्यपि सुप्रसिद्धं, तविह केवलं "कर्म वाऽपूर्वं" वा चेतनानधिष्ठितमचेतनं फलं प्रसूत इति दृष्टविरुद्धम्। यथा विनष्टं कर्म न फलं प्रसूत इति कल्प्यते दृष्टविरोधादेवमिहापीति। तथा देवपूजात्मको यागो देवतां न प्रसादयन् फलं प्रसूत इत्यपि इष्टविरुद्धम्। न हि राजपूजात्मकमाराधनं राजानमप्रसाद्य फलाय कल्प्यते। तस्मात् दृष्टानुगुण्याय यागादिभिरपि देवताप्रसत्तिरुत्पाद्यते। तथाच देवताप्रसादादेव स्थायिनः फलोत्पत्तेरुपपत्तेः कृतमपूर्वेण। एवमशुभेनापि कर्मणा देवताविरोधनं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। ततः स्थायिनोऽनिष्टफलप्रसवः। न च शुभाशुभकारिणां तदनुरूपं फलं प्रसुवाना देवता द्वेषपक्षपातवतीति युज्यते। नहि राजा साधुकारिणमनुगृह्णन्निगृह्णन् वा पापकारिणं भवति द्विष्टो रक्तो वा तद्वदलौकिकोऽपीश्वरः। यथा च परमापूर्वे कर्त्तव्ये उत्पत्त्यपूर्वाणामङ्गापूर्वाणां चोपयोगः। एवं प्रधानाराधनेऽङ्गाराधनानामुत्पत्त्याराधनानां चोपयोगः। स्वाम्याराधन इव तदमात्यतत्प्रणयिजनाराधनानामिति सर्वं समानमन्यत्राभिनिवेशात्। तस्मात् दृष्टा-

---

भामती—व्याख्या

जिसके जैसे कर्म हैं, उसको वैसा फल देने से देवता में किसी प्रकार का द्वेष और पक्षपात आरोपित नहीं हो सकता। जैसे लौकिक राजा प्रजा को उसके कर्म के अनुरूप फल देने पर द्वेषी और पक्षपाती नहीं माना जाता, वैसे ही अलौकिक ईश्वर भी द्वेषी और पक्षपाती नहीं होता। जैसे परमापूर्व की उत्पत्तिमें अङ्गापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व और समुदायापूर्व का उपयोग होता है। देवों की प्रधानभूत आराधना में तत्तत्क्रियाकलाप का उपयोग वैसे ही हो जाता है, जैसे राजा की आराधना में उसके मन्त्री और स्नेही जनों की आराधना का। इस पूरी लौकिक मर्यादा अलौकिक साध्य-साधन भाव में समान है, हाँ, कोई किसी प्रकार का हठ ही पकड़ ले, यह दूसरी बात है। कहने का तात्पर्य यही है कि देवता की आराधना से फल प्राप्त होता है, केवल अपूर्व या कर्म से नहीं। इसके विरोध में प्रयुक्त श्रौत और स्मार्त हेतुओं की व्याख्या की जा चुकी है।

श्रीभास्कराचार्य ने भाष्यकार की आलोचना करते हुए कहा है—"केचित्पुनरन्तर्यामिव्यापारो नियोगः, स फलहेतुरिति मन्यन्ते, तदयुक्तम्, तद्व्यापारस्य नित्यत्वात् सर्वप्राणि-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

विरोधेन देवताराधनात् फलं न त्वपूर्वात्कर्मणो वा केवलात्, तद्विरोधतो हेतुव्यपदेशश्च श्रौतः स्मार्त्तश्च व्याख्यातः। ये पुनरन्तर्यामिव्यापारायाः फलोत्पादनाया नित्यत्वं सर्वसाधारणत्वमिति मन्यमाना भाष्यकारीयमधिकरणं दूषयाम्बभूवुः, तेभ्यो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामिति भाष्यं व्याचक्षीत ॥ ४१ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते भाष्यविभागे भामत्यां
तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

---

भामती—व्याख्या

साधारण्याच्च न केनचिदधिकारिणासौ निर्वर्त्यते" (भास्कर. पृ. १७३)। [अर्थात् ईश्वरीय व्यापार को जो लोक फल-प्रदान का नियोजक मानते हैं, उनका वैसा मानना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि नित्य ईश्वर को क्रिया भी नित्य है एवं सर्वप्राणि-साधारण है, अतः फल की व्यवस्था नहीं हो सकती ]। उस आलोचना के उत्तर में आविद्यक व्यवहारपरक भाष्य सामने रख देना चाहिए। अर्थात् अविद्यारूप उपाधि के कारण ईश्वर का व्यापार अनित्य एवं प्रतिजीव असाधारण माना जाता है ॥ ४१ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां भामतीव्याख्यायां
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।

---

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ।

[ अत्र परापराब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम् ।

( १ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् । सू० १--४ )

**सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥**

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम्, इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते—ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावसरः ? नहि कर्मबहुत्ववद् ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम् ; ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च । न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि संभवन्ति । न ह्यन्यथाऽर्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति । यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि, तेषामेकमभ्रान्तम्, भ्रान्तानीतराणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते । नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्येत, ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात् । अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु समन्वयात्' ( ब्र० सू० १।१।४ ) इत्यत्र । तत्कथमिमां

भामती

पूर्वेण सङ्गतिमाह ❀ व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणः इति ❀ । निरुपाधिब्रह्मतत्त्वगोचरं विज्ञानं मन्वान आक्षिपति ❀ ननु विज्ञेयं ब्रह्म इति ❀ । सावयवस्य ह्यवयवानां भेदात्तदवयवविशिष्टब्रह्मगोचराणि विज्ञानानि गोचरभेदाद्भिद्येरन्नित्यवयवा ब्रह्मणो निराकृताः पूर्वापरादीत्यनेन । न च नानास्वभावं ब्रह्म यतः स्वभावभेदाद् भिन्नानि ज्ञानानीत्युक्तमेकरसमिति । ❀ घनं ❀ कठिनम् । नन्वेकमप्यनेकरूपं लोके दृष्टं यथा सोमशर्मैकोऽप्याचार्य्यो मातुलः पिता पुत्रो भ्राता भर्त्ता जामाता द्विजोत्तम इत्यनेकरूप इष्यत उक्तं ❀ एकरूपत्वाच्च ❀ । एकस्मिन् गोचरे सम्भवन्ति बहूनि विज्ञानानि न त्वने-

भामती—व्याख्या

**संगति**—ज्ञेयात्मक ब्रह्मतत्त्व का निरूपण पहले किया गया, अब ध्येय ब्रह्म का निरूपण करने के लिए उपासनाओं के भेदाभेद का विचार किया जाता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"व्याख्यातं ज्ञेयस्य ब्रह्मणः" ।

**शङ्का**—उपासना को निरुपाधिक ब्रह्मतत्त्वविषयक समझ कर आक्षेप किया जाता है—"ननु विज्ञेयं ब्रह्म" । सावयव पदार्थ के तो अवयवों का भेद होने के कारण तत्तदवयवविशिष्ट ब्रह्म को विषय करनेवाली उपासनाएँ विषय के भेद से भिन्न हो जाएँगी, अतः ब्रह्म के अवयवों का निराकरण किया गया है—"ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितम्" । ब्रह्म नाना स्वभाववाला भी नहीं कि स्वभाव के भेद से उपासनाएँ भिन्न हो जाती—"एकरसम्" 'घन' शब्द का अर्थ 'कठिन' है । 'लोक में एक वस्तु भी अनेक रूपोंवाली देखी जाती है, जैसे एक ही सोमशर्मा किसी का आचार्य, किसी का मातुल, किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भर्त्ता, किसी का जामाता और द्विजों में श्रेष्ठ माना जाता है किन्तु ब्रह्म वैसा नहीं अपितु—"एकरूपत्वाच्च" । एक वस्तु के अनेक विज्ञान ( भावनाएँ ) हो सकते हैं, किन्तु वे सब एक ही आकार के होंगे, अनेक आकार के नहीं—"अनेकरूपाणि विज्ञानानि

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेदाभेदचिन्तामारभत इति ? तदुच्यते—सगुणब्रह्मविषया चेयं विज्ञानभेदाभेदचिन्तेत्यदोषः। अत्र हि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदौ संभवतः, कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते। क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता संभवति—किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहोस्विन्नेति ?

तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते। नाम्नस्तावद् भेदप्रत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योति-

भामती

काकाराणीत्युक्तम् ❀ अनेकरूपाणि ❀। रूपमाकारः। समाधत्ते ❀ उच्यते। सगुणेति ❀। तत्तद्गुणोपाधानब्रह्मविषया उपासनाः प्राणादिविषयाश्च दृष्टादृष्टक्रममुक्तिफला विषयभेदाद्भिद्यन्त इत्यर्थः। तत उपपन्नो विमर्श इत्याह ❀ तेष्वेषा चिन्ता ❀। पूर्वपक्षं गृह्णाति ❀ तत्र इति ❀। ❀ नाम्नस्तावद् इति ❀। अस्त्यर्थेष ज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेति। तत्र संशयः—किं यजेतेति सन्निहितज्योतिष्टोमानुवादेन सहस्रदक्षिणालक्षणगुणविधानम्, उतैतद्गुणविशिष्टकर्मान्तरविधानमिति ? किं तावत् प्राप्तं—ज्योतिष्टोमस्य प्रक्रान्तत्वाद्यजेतेति तदनुवादाज्ज्योतिरिति प्रातिपदिकमात्रं पठित्वा एतेनेत्यनुकृष्य कर्मसामानाधिकरण्येन कर्मनामव्यवस्थापनात् कर्मणश्चानुवाद्यत्वेन तत्तन्त्रस्य नाम्नोऽपि तथैव व्यवस्थापनात् ज्योतिःशब्दस्य वसन्ते वसन्ते ज्योतिषेति च ज्योतिष्टोमे प्रयोगदर्शनात् नामैकदेशेन च नामोपलक्षणस्य

भामती-व्याख्या

सम्भवन्ति"। यहाँ 'रूप' शब्द से आकार विवक्षित है।

**समाधान**—उक्त शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"उच्यते, सगुणब्रह्मविषया" अर्थात् तत्तद्गुणोपाधिक ब्रह्म एवं प्राणादि को विषय करनेवाली उपासनाएँ दृष्ट, अदृष्ट एवं क्रममुक्तिरूप फलवाली और अपने विषय के भेद से भिन्न होती हैं। उन उपासनाओं में यह विचार प्रवृत्त हुआ है—"तेष्वेषा चिन्ता"।

**संशय**—वेदान्त की विभिन्न शाखाओं में विहित उपासनाओं का भेद है ? अथवा अभेद ?

**पूर्वपक्ष**—उपासनाएँ भिन्न-भिन्न हैं, उन्हीं भेदक हेतुओं का प्रदर्शन क्रमशः किया जाता है, महर्षि जैमिनि ने जिनका निर्देश किया है—"नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छास्त्रान्तरेषु कर्मभेदः स्यात्" (जै. सू. २।४।२)।

[ १- संज्ञा-भेद से कर्म-भेद ]

**नाम्नास्तावत्**—नाम या संज्ञा का भेद कर्म का भेदक है, यह विचार जैमिनि-दर्शन (२।२।८) में किया गया है। उस अधिकरण के संशयादि इस प्रकार हैं—

**संशय**—"अर्थेष ज्योतिः" (ता. ब्रा. १६।८।१) 'एतेन सहस्र दक्षिणेन यजेत'—यहाँ क्या 'यजेत' पद के द्वारा प्रक्रान्त ज्योतिष्टोम कर्म का अनुवाद करके सहस्रदक्षिणारूप गुण का विधान किया जाता है ? अथवा उक्त गुण-विशिष्ट कर्मान्तर का विधान किया जाता है ?

**पूर्वपक्ष**—ज्योतिष्टोम याग का प्रकरण है, अतः 'यजेत' पद के द्वारा ज्योतिष्टोम का अनुवाद कर के सहस्र दक्षिणा का विधान करना उचित है। ज्योतिः'—यह नामान्तर नहीं है, अपितु 'ज्यतिष्टोम' का घटकीभूत प्रातिपदिकमात्र है, अत एव 'एतेन' पद के द्वारा उसी ज्योतिष्टोम का अनुवर्तन किया जाता है। जैसे 'यजेत' पद विधायक नहीं अपितु अनुवादक है। वैसे ही नाम (ज्योति) पद भी विधायक न होकर अनुवादक ही है। ज्योतिष्टोम' पद के समान अकेले 'ज्योतिः पद का भी प्रयोग ज्योतिष्टोम याग में होता है—"वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत"। 'ज्योतिष्टोम के लिए केवल 'ज्योतिः' पद का प्रयोग वैसे भी हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

लोकसिद्धत्वात् भीमसेनोपलक्षणभीमपदवद्, अथशब्दस्य चानन्तर्य्यार्थंस्यासम्बन्धित्वेऽनुपपत्तेर्गुणविशिष्टकर्मान्तरविधेश्च गुणमात्रविधानस्य लाघवाद् द्वादशशतदक्षिणायाश्चोत्पत्त्यशिष्टतया समशिष्टतया सहस्रदक्षिणया सह विकल्पोपपत्तेः, प्रकृतस्यैव ज्योतिष्टोमस्य सहस्रदक्षिणालक्षणगुणविधानार्थमयमनुवादो न तु कर्मान्तरमिति प्राहुः।

एवं प्राप्त उच्यते—भवेत् पूर्वस्मिन् गुणविधिर्यदि तदेव प्रकरणं स्यात्। विच्छिन्नं तु तत् तथाहि—सन्निधावपि पूर्वासम्बद्धार्थं संज्ञान्तरं प्रतीयमानमन्यायश्चानेकार्थत्वमिति न्यायाद् उत्सर्गतोऽर्थान्तरार्थत्वात् पूर्वबुद्धिं व्यवच्छिनत्त्यपूर्वबुद्धिं च प्रसूत इति लोकसिद्धम्। न जातु देहि देवदत्ताय गामथ देवाय वाजिनमिति देवशब्दाद् देवदत्तं वाजिभाजमवस्यन्ति लौकिकाः। तथा चोपरिष्टाद् यजेतेति श्रूयमाणसम्बद्धार्थंपदव्यवायात् तत्कर्मबुद्धिमनादधत् तत्र गुणविधानमात्रासमर्थं कर्मान्तरमेव विधत्ते। न चैकत्रानुपपत्त्या लक्षणया ज्योतिःशब्दो ज्योतिष्टोमे प्रवृत्त इत्यसत्यायनुपपत्तौ लाक्षणिको युक्तः। नहि गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदं लाक्षणिकमिति मीनो गङ्गायामित्यत्रापि लाक्षणिकं भवति। भेदोऽपि च

भामती—व्याख्या

सकता है, जैसे—भीमसेन के लिए केवल 'भीम' पद, सत्यभामा के लिए केवल 'भामा' पद। 'अथ' शब्द भी पूर्व प्रक्रान्त का व्यवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि अथ शब्द की शक्ति आनन्तर्य अर्थ में होती है, पूर्व-संबन्ध के विना आनन्तर्य सम्भव नहीं। गुण-विशिष्ट कर्म का विधान करने की अपेक्षा केवल गुण-विधान में लाघव है। द्वादशशत दक्षिणा भी ज्योतिष्टोम कर्म के उत्पत्ति-वाक्य में पठित नही, अतः वह भी इस सहस्रदक्षिणा के समान ही उत्पन्न-शिष्ट है। दोनों समानरूप से उत्पन्न-शिष्ट होने के कारण व्रीहि और यव के समान दोनों का विकल्प हो जाता है। फलतः "अथैष ज्योतिः"—यहाँ ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके "एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत"—इस वाक्य के द्वारा सहस्रदक्षिणा रूप गुण का विधान किया जाता है।

**सिद्धान्त**—पूर्व कर्म ( ज्योतिष्टोम ) के उद्देश्य से सहस्रदक्षिणारूप गुण का विधान तब हो सकता था, जब कि पूर्व कर्म प्रक्रान्त होता, किन्तु ऐसा नहीं, पूर्व प्रकरण 'अथ' पद के प्रयोग से विच्छिन्न हो गया है। यदि किसी कर्म के समीप ही कोई पूर्वासम्बन्धित अन्य संज्ञा शब्द प्रयुक्त है, तब वह अवश्य ही पूर्व बुद्धि का व्यवच्छेद करके भिन्न बुद्धि का उत्पादन कर देगा, क्योंकि जैसे एक शब्द की अनेकार्थता अन्याय ( असंगत ) है, वैसे ही एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग भी असंगत है। लोक में भी 'अथ' शब्द को पूर्व प्रसङ्ग का विच्छेदक माना जाता है, जैसे कि 'देहि देवदत्ताय गाम्, अथ देवाय वाजिनम्'—यहाँ पर न तो 'देव' शब्द से देवदत्त का ग्रहण किया जाता है और न उसे वाजिन (छेने के पानी) के दान का पात्र समझा जाता है, किन्तु मध्य में 'अथ' शब्द का प्रयोग हो जाने के कारण देवदत्त को गौ और देवता को वाजिन द्रव्य का दान किया जाता। दोनों दान कर्म परस्पर-असम्बद्ध और पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। उसी प्रकार प्रकृत में 'अथ' शब्द का व्यवधान हो जाने के कारण उत्तर वाक्यस्थ 'यजेत' पद के द्वारा पूर्वतन ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके सहस्रदक्षिणारूप गुण का विधान नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रस्तुत गुण से युक्त कर्मान्तर का विधान माना जाता है। यह जो कहा था कि 'ज्योतिः'पद वैसे ही ज्योतिष्टोम का लक्षण है, जैसे "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत"—इस वाक्य में। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि किसी पद की किसी एक स्थान पर तात्पर्यानुपपत्ति के आधार पर लक्षणा हो जाने से सर्वत्र उसकी लक्षणा नहीं मानी जाती, जैसे 'गङ्गायां घोषः'—यहाँ पर 'गङ्गा' पद 'तीर' का लक्षक होने पर भी 'गङ्गायां मीनाः सन्ति'—यहाँ वैसा नहीं, क्योंकि यहाँ न तो अन्वयानु-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रादिषु । अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमकं कौषीतकं शाठ्यायनकमित्येवमादि । तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धो वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्येवमादिषु । अस्ति चात्र रूप-

भामती

प्रथमं संज्ञान्तरेणोल्लिखिते यजिशब्दसामानाधिकरण्यं कर्मनामधेयतामात्रतामावहति न तु संज्ञान्तरोपजनितां भेदधियमपनेतुमुत्सहते । तथा चाथशब्दोऽधिकारार्थः प्रकरणान्तरतामवद्योतयति । एषशब्दश्चाधिक्रियमाणपरामर्शक इति सोऽयं संज्ञान्तराद्भेद इति । भवतु संज्ञान्तरात्कर्मभेदः प्रस्तुते तु किमायातमित्यत आह ॐ अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु इति ॐ । यथैव काठकादिसमाख्याग्रन्थे प्रयुज्यत एवं ज्ञानेऽपि लौकिकाः । न चास्ति विशेषो यतो ग्रन्थे मुख्या विज्ञाने गौणी भवेत् । प्रणयनं च ग्रन्थज्ञानयोरभिन्नं प्रवृत्तिनिमित्तं तस्माज्ज्ञानस्यापि वाचिका समाख्या । तथा च यदा ज्योतिष्टोमसन्निधौ श्रूयमाणं समाख्यान्तरं तत्प्रतीकमपि कर्मणो भेदकं तदा कैव कथा शाखान्तरीये विप्रकृष्टतमेऽतत्प्रतीकभूतसमाख्यान्तराभिधेये ज्ञात इति । तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धो यथा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमित्येवमादिषु । इदमाम्नायते – तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षेति । अत्र हि द्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितो यागो विधीयते तदनन्तरं चेदमाम्नायते—वाजिभ्यो वाजिनमिति ।

भामती–व्याख्या

पपत्ति है और न तात्पर्यानुपपत्ति ।

"अथैष ज्योतिः"—इस प्रकार पृथक् संज्ञाकरण के आधार पर पूर्व कर्म से भेद उल्लिखित हो गया, तब ज्योति पद की कर्मनामधेयता मात्र के द्वारा उस भेद का अपलाप क्योंकर होगा ? यह 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक नहीं, अधिकारार्थक है, अत एव वह प्रकरणान्तरता का सूचक है। 'अथैष' में 'एष' शब्द भी पूर्व कर्म का परामर्शक न होकर नूतन अधिक्रियमाण ( आरभ्यमाण ) कर्म का ग्राहक है। इस प्रकार संज्ञान्तर से कर्म का भेद सिद्ध किया गया। कर्म का भेद सिद्ध हो जाने से उपासना-भेद क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अस्ति चात्र वेदान्तरविहितेषु विज्ञानेषु अन्यन्नाम" । लौकिक पुरुष काठकादि समाख्या ( संज्ञा ) का प्रयोग जैसे ग्रन्थ के लिए करते हैं—'कठोपनिषत्' इत्यादि, वैसे ही विद्या ( उपासना ) के लिए भी प्रयोग करते हैं—'काठकं विज्ञानम्' इत्यादि ग्रन्थ की संज्ञा मुख्य और उपासना में गौण है—इस विशेषता का कोई नियामक नहीं। 'कठ' ऋषि के द्वारा प्रणयन जैसे ग्रन्थ का होता है, वैसे उपासना का भी, अतः विज्ञान(विद्या या उपासना) की वाचिका भी कठादि समाख्या होती है। जब कि ज्योतिष्टोम की सन्निधि में पठित और नामैकदेशभूत ज्योतिसंज्ञा कर्म की भेदिका होती है, तब भिन्न शाखा में दूर-पठित एवं विभिन्न संज्ञाओं की कर्म-भेदकता में सन्देह ही क्या हो सकता है ?

[ २—रूप-भेद से कर्म-भेद ]

**रूप-भेद**—यागादि कर्म के दो रूप होते हैं—(१) द्रव्य और (२) देवता। इनके भेद से भी कर्म का भेद हो जाता है, जैसे—"वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्" ( मै. सं. १।१०।१ ) इत्यादि स्थलों पर रूप-भेद से कर्म-भेद जैमिनिदर्शन (२।२।९) में किया गया है। उस अधिकरण के विषयादि इस प्रकार हैं—

**विषय**—"तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा" [ तपते दूध में दधि डाला जाता है, तो दूध फटकर दो भागों में विभक्त हो जाता है—(१) आमिक्षा (छेना) और (२) वाजिन (पानी)। वह आमिक्षा विश्वदेव के लिए होती है ]। इस वाक्य में विश्वदेव देवता और आमिक्षारूप द्रव्य का जो सम्बन्ध प्रतीत होता है, उससे याग का अनुमान किया जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

अत्रेदं सन्दिह्यते—किं पूर्वस्मिन्नेव कर्मणि वाजिनं गुणो विधीयते, उत कर्मान्तरं द्रव्यदेवतान्तरविशिष्टम-पूर्वं विधीयत इति ।

किं तावत् प्राप्तं, द्रव्यदेवतान्तरविशिष्टकर्मान्तरविधौ विधिगौरवप्रसङ्गात् कर्मान्तरापूर्वान्तर-कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च न कर्मान्तरविधानमपि तु पूर्वस्मिन्नेव कर्मणि वाजिनद्रव्यविधिः । न चोत्पत्ति-शिष्टामिक्षागुणावरोधात्तत्र वाजिनमलब्धावकाशं कर्मान्तरं गोचरयतीति युक्तम् । उभयोरपि वाक्ययोः समसमयप्रवृत्तेरामिक्षावाजिनयोरुत्पत्तौ समं शिष्यमाणत्वेन नामिक्षायाः शिष्टत्वम् । तत्कथमनयावरुद्धं कर्म न वाजिनं निर्विशेत् । न च वैश्वदेवीत्यत्र श्रौत आमिक्षासम्बन्धो विश्वेषां देवानां येन वाजिन-सम्बन्धात् षाक्यगम्याद्बलवान् भवेदुभयोरपि पदान्तरापेक्षप्रतीतितया वाक्यगम्यत्वाविशेषात् । नो खलु वैश्वदेवीत्युक्ते आमिक्षापदानपेक्षामामिक्षामध्यवस्यामः । अस्तु वा श्रौतत्वं तथापि वाजिभ्य इति पदं वाजमन्नमामिक्षा तद्येषासस्तीति व्युत्पत्त्या तत्सम्बन्धिनो विश्वान्देवानुपलक्षयति । यद्यपि विश्वेदेवशब्दा-द्वाजिपदं भिन्नं येन च शब्देन चोदना तेनैवोद्दिश्ये देवतात्वं न शब्दान्तरेण । अन्यथाऽर्थैकत्वेन सूर्य्यादि-

भामती—व्याख्या

है, क्योंकि ऐसा सम्बन्ध याग में ही होता है। उस वाक्य के अनन्तर यह वाक्य है—"वाजिभ्यो वाजिनम्" [ वाजिसंज्ञक देवताओं के लिए वाजिनद्रव्य है ]।

**सन्देह**—क्या इस वाक्य के द्वारा पूर्वतन वैश्वदेव याग में ही वाजिनरूप गुण ( द्रव्यरूप अङ्ग ) का विधान किया जाता है? अथवा अन्य द्रव्य और देवतावाले स्वतन्त्र कर्म का विधान किया आता है?

**पूर्वपक्ष**—यदि अन्य द्रव्य और देवतावाले कर्मान्तर का विधान किया जाता है, तब विशिष्ट-विधान-प्रयुक्त गौरव प्रसक्त होता है। इतना ही नहीं, कर्मान्तर और अनेक अन्य अपूर्वों की कल्पना का गौरव भी प्रसक्त होगा, अतः कर्मान्तर का विधान न करके पूर्वतन वैश्वदेव कर्म में वाजिनरूप द्रव्यान्तर का विधान मान लेना चाहिए। वैश्वदेव याग अपने उत्पत्ति-वाक्य में उपदिष्ट आमिक्षा द्रव्य से अवरुद्ध है, अतः वाजिनरूप द्रव्यान्तर का विधान उस कर्म में क्योंकर होगा? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि "वैश्वदेव्या-मिक्षा" और 'वाजिभ्यो वाजिनम्"—ये दोनों वाक्य एकवाक्यतापन्न होकर कर्म के उत्पत्ति वाक्य ही हैं, अतः दोनों द्रव्य समान रूप से उत्पत्ति-शिष्ट ही हैं, अतः उनमें प्रबल-दुर्बलभाव सम्भव नहीं, तब वाजिन द्रव्य का निवेश उस कर्म में क्यों न होगा? "सा अस्य देवता" (पा. सू. ४।२।२४ ) इस सूत्र के द्वारा विहित तद्धित प्रत्यय की अभिधावृत्ति (श्रुति प्रमाण) से आमिक्षा प्राप्त है और वाजिन द्रव्य वाक्य प्रमाण से प्राप्त है। वाक्य प्रमाण से श्रुति प्रबल है, तब वाजिन का वहाँ क्योंकर प्रवेश होगा? इस शङ्का का समाधान यह है कि आमिक्षा और वाजिन—दोनों की प्राप्ति समानरूपेण वाक्यान्तर सापेक्ष है, अतः दोनों वाक्यप्रमाण से अधिगमित हैं, जब तक 'आमिक्षा' पद का सहयोग न हो, तब तक केवल 'वैश्वदेवी' पद से उसका अध्यवसान वहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार आमिक्षा का विधान श्रुति प्रमाण से मान भी लिया जाय, तब भी 'वाजिभ्यः'—यह पद ही वाजम् (अन्नम् आमिक्षा) अस्यास्ति—इस व्युत्पत्ति के द्वारा विश्वदेव देवता का उपलक्षक हो जाता है।

यद्यपि 'विश्वदेव' शब्द से 'बाजी' पद भिन्न है, किन्तु नियम यह है कि विधि-वाक्य में देवता का उल्लेख जिस वर्णानुपूर्वी के द्वारा किया जाता है, उसी आनुपूर्वी के देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग होता है—"विधिशब्दस्य मन्त्रतत्वे भावः स्यात् तेन चोदना" ( जै. सू. १०।४।२१ ) [ मन्त्र-सम्बन्धी देवता के लिए शब्द-प्रयोग करते समय विधिगत अग्न्यादि पदों

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

त्यपदयोः सूर्य्यादित्यचर्वोरेकदेवत्यप्रसङ्गात् । तथापि वाजिन्नितीनेः सर्वनामार्थे स्मरणात् सन्निहितस्य च सर्वनामार्थत्वाद्विश्वेषां देवानां च विश्वदेवपदेन सन्निधापनात्तत्पदपुरःसरा एवैते वाजिपदेनोपस्थाप्या न तु सूर्य्यादित्यपदवत्स्वतन्त्रास्तथा च तदुपलक्षणार्थं वाजिपदं विश्वदेवोपहितामेव देवतामुपलक्षयतीति न शब्दान्तराद्देवताभेदः । ततश्चामिक्षासम्बन्धोपजीवनेन विश्वेभ्यो वाजिनं विधीयमानं नामिक्षया बाध्यते किन्तु तया सह समुच्चीयत इति न कर्मान्तरमपि तु वाक्याभ्यां द्रव्ययुक्तयेकं कर्म विधीयत इति प्राहे ।

उच्यते – स्यादेतदेवं यदि वैश्वदेवीति तद्धितश्रुत्यामिक्षा नोच्येत । तद्धितस्य त्वस्येति सर्वनामार्थं स्मरणात् सन्निहितस्य च विशेषस्य सर्वनामार्थत्वात् तत्रैव तद्धितस्यापि वृत्तिः । न तु विश्वेषु देवेषु न तत्सम्बन्धेनापि तत्सम्बन्धिमात्रे । नन्वेवं सति कस्माद्वैश्वदेवीशब्दमात्रादेव नामिक्षां प्रतीमः किमिति चामिक्षापदमपेक्षामहे । तद्धितान्तस्य पदस्याभिधानापर्य्यवसानान्न प्रतीमस्तत्पर्य्यवसानाय चापेक्षामहे । अवसिताभिधानं हि पदं समर्थमर्थंधियमाधातुमिवन्तु सन्निहितविशेषाभिधायि तत्सन्निधिमपेक्षमाणं

भामती–व्याख्या

का ही भाव ( उच्चारण ) होगा, वह्वृचादि भिन्न शब्दों का नहीं, क्योंकि उसी शब्द के द्वारा 'आग्नेयं हविः' –इस प्रकार चोदना ( हवि की निर्देशना ) की जाती है ] । फलतः 'विश्वदेव' पद के लिए 'वाजिन' शब्द का प्रयोग वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे कि 'सौर्यं चरुम्' यहाँ निर्दिष्ट सूर्य के लिए 'आदित्य' शब्द । अन्यथा सूर्यदेवताक चरु और आदित्यदेवताक चरु—ये दोनों चरुद्रव्यों में एकदेवताकत्व प्रसक्त होगा ।

तथापि 'वाजिन' शब्द का घटकीभूत 'इन्' प्रत्यय सर्वनाम के अर्थ में विहित है, सर्वनाम पद के द्वारा सन्निहित का परामर्श होता है और सन्निहित हैं—'विश्वे देव' । फलतः 'विश्वेदेव'-पद-पुरःसर ही विश्वे देव देवताओं को उपस्थिति 'वाजिन' पद के द्वारा कराई जाती है, सूर्य की आदित्यादि पदों के समान स्वतन्त्र नही । 'वाजिन' पद विश्वेदेवोपहित देवताओं का उपलक्षक है, अतः शब्दान्तर के द्वारा देवता-भेद प्रसक्त नही होता । आमिक्षा सम्बन्ध का उपजीवन कर विश्वेदेव देवताओं के लिए वाजिन विधीयमान है, अतः वह आमिक्षा के द्वारा वाधित नहीं होता, किन्तु उसके साथ समुच्चित हो जाता है । इस प्रकार "वाजिभ्यो वाजिनम्"—इस पद के द्वारा कर्मान्तर का विधान नहीं किया जाता, अपितु उक्त दोनों वाक्यों के द्वारा आमिक्षा-समुच्चित वाजिन द्रव्यवाले एक कर्म का विधान किया जाता है ।

**सिद्धान्त**—समुच्चित द्रव्य का विधान तब हो सकता था, जब कि तद्धित प्रत्यय-रूप श्रुति प्रमाण के द्वारा आमिक्षा का अभिधान न होता । उक्त तद्धित प्रत्यय सर्वनामार्थ में विहित है—"सा अस्य देवता" ( पा. सू. ४।२।२४ ) । 'इदम्'—इस सर्वनाम पद के द्वारा सन्निहित मुख्य पदार्थ का ग्रहण होता है, तद्धित प्रत्यय की भी इसी अर्थ में वृत्ति होती है, विश्वे देव देवता या उसके सम्बन्ध अथवा सम्बन्धिमात्र में वृत्ति नहीं मानी जाती ।

**शङ्का**—केवल 'वैश्वदेवी' पद के द्वारा आमिक्षा की प्रतीति क्यों नहीं होती ? आमिक्षा की प्रतीति के लिए 'आमिक्षा' पद की अपेक्षा क्यों है ?

**समाधान**—तद्धिान्त 'वैश्वेदेवी' पद सामान्यतः विश्वेदेव देवता-सम्बन्धी हवि को कहता है, विशेषतः नहीं । विशेषतः उपस्थिति के विना सामान्याभिधान साकांक्ष और अपर्यवसित रहता है, अतः आकांक्षा की निवृत्ति के लिए विशेषतः अभिधायक 'आमिक्षा' पद की अपेक्षा होती है । जिस पद का अभिधान पूर्ण हो, वही पद किसी पदार्थ के अभिधान में सक्षम माना जाता है । 'वैश्वदेवी' पद सन्निहित हवि का वाचक है, अतः वह अभिधायक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेदः। तथया—केचिच्छाखिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमामनन्त्यपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति। तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान्वागादीनामनन्ति, केचिदधिकान्।

भामती

सन्निधापकमामिक्षापदमपेक्षत इति कुत आमिक्षापदानपेक्ष आमिक्षाप्रत्ययप्रसङ्गः। कुतो वा तत्रानपेक्षा। अतश्च सत्यामपि पदान्तरापेक्षायां यत्पदं पदान्तरापेक्षमभिधत्ते तत्प्रमाणभूतप्रथमभाविपदावगम्यत्वात् औत्सं बलीयश्च। यत्तु पर्य्यवसिताभिधानपदाभिहितपदार्थावगमगम्यं तच्चरमप्रतीतिवाक्यगम्यं दुर्बलञ्चेति तद्धितश्रुत्यवगतामिक्षालक्षणगुणावरोधात् पूर्वकर्मासंयोगिवाजिनद्रव्यं स्वसम्बन्धि कर्म पूर्वस्माद् भिनत्ति। एवं च सति नित्यवदवगतानपेक्षसाधनभावामिक्षा न वाजिनद्रव्येण सह विकल्पसमुच्चयौ प्राप्स्यति। न चाश्वत्वे निरूढत्वादनपेक्षवृत्ति वाजिपदं कथञ्चिद्यौगिक सापेक्षवृत्ति विश्वेदेवशब्दा देवतां वैश्वदेवीपदादामिक्षाद्रव्यं प्रत्युपसर्जनीभूतामवगतामुपलक्षयिष्यति। प्रकृतं हि सर्वनामपदगोचरः। प्रधानञ्च प्रकृतमुच्यते नोपसर्जनम्। प्रामाणिके च विधिकल्पनागौरवेऽभ्युपेसद्य एव प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात्तस्माद्यथेह पूर्वकर्मासम्भविनो गुणात्कर्मभेद एवमिहापि पञ्चाग्निविद्यायाः षडग्निविद्या भिन्ना एवं प्राणसंवादेषूनाधिकभावेन विद्याभेद इति।

भामती—व्याख्या

'आमिक्षा' पद की अपेक्षा करता है तब 'आमिक्षा' पद से अनपेक्षित हो कर वह आमिक्षा का बोधक नहीं हो सकता। जो पद (वैश्वदेवी) अपने अर्थाभिधान में जिस पदान्तर (आमिक्षा पद) की अपेक्षा करता है, अतः पदान्तर (आमिक्षा पद) प्रमाणभूत एवं प्रथमतः अर्थ-समर्पक है, उस से अवगमित होने के कारण आमिक्षा प्रबल है। किन्तु जब 'वैश्वदेवी' पद का अभिधान पर्यवसित हो गया, तब जो 'वाजिन' पद आया वह वाक्य प्रमाण के द्वारा ही अपने अर्थ का समर्पक माना जायगा, उस से बोधित 'वाजिन' अर्थ परभावी एवं दुर्बल है। फलतः तद्धित प्रत्ययरूप श्रुति के द्वारा प्रापित आमिक्षा द्रव्य को पाकर याग की द्रव्याकांक्षा शान्त हो जाती है, वाजिनरूप द्रव्यान्तर का निवेश पूर्वतन कर्म में नहीं हो सकता, परिशेषतः वाजिन द्रव्य अपने सम्बन्धी कर्मान्तर को पूर्वतन कर्म से भिन्न करता है। इस प्रकार प्रबल प्रमाण के द्वारा विनियुक्त और स्वयं निरपेक्ष आमिक्षा द्रव्य का न तो 'वाजिन' द्रव्य के साथ बिकल्प हो सकता है और न समुच्चय।

पूर्वपक्ष की ओर से जो कहा गया था 'वाजमस्यास्तीति वाजी'—इस प्रकार 'वाजिन' बना है, अतः अपने घटकीभूत सर्वनाम (अस्य) पद के द्वारा विश्वदेव का परामर्श करता हुआ आमिक्षा का ही उपस्थापक है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि 'वाजी' पद अश्व में रूढ है, यौगिक नहीं, अतः अपने घटकीभूत सर्वनाम पद के द्वारा केवल सन्निहित का परामर्शक नहीं होता, अपितु प्रधानतया उपस्थित पदार्थ का ही परामर्शक होता है, "विश्वे देवा अस्या इति वैश्वदेवी"—यहाँ पर विश्वदेव प्रधान नहीं, अपितु प्रधानभूत आमिक्षा का उपसर्जन (अङ्गभूत गुण) है।

यह जो कहा गया था कि वाजिनरूप गुण से विशिष्ट कर्मान्तर का विधान मानने में गौरव दोष है। वह भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जो विधि-कल्पना प्रामाणिक है, वहाँ गौरव दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रमाण सदैव तात्त्विक वस्तु का पक्षपाती (साधक) होता है, वह वस्तु लघु हो या गुरु। यहाँ जैसे अपूर्व गुण कर्म का भेदक है, वैसे ही पञ्चाग्नि-विद्या षडग्नि-विद्या से भिन्न है। प्राण-संवादादि में भी वागादि की न्यूनाधिक संख्या के भेद से विद्या का भेद होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु । अस्ति चात्र धर्मविशेषः—यथाथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति । एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेदहेतवो

भामती

तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक इति । तथाहि—कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति नाचरन्त्यन्ये । तथाग्निमधीयानाः केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ति नाहरन्त्यन्ये । तथाश्वमेधमधीयानाः केचिदश्वस्य घासमानयन्ति नानयन्त्यन्ये । केचिच्चाचरन्त्यन्यमेव धर्मम् । न च तान्येव कर्माणि भूमिभोजनादिजनितमुपकारमाकाङ्क्षन्ति नाकांक्षन्ति चेति युज्यते । अतोऽवगम्यते भिन्नानि तासु तासु शाखासु कर्माणीति । अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह ❀ अस्ति चात्र इति ❀ । अन्येषां शाखिनां नास्तीति शेषः ।

❀ एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि इति ❀ । समिधो यजतीत्यादिषु पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजतिशब्दः । तत्र किमेका कर्मभावना किंवा पञ्चेवेति । किन्तावत्प्राप्तं, धात्वर्थानुबन्धभेदेन शब्दान्तराधिकरणे भावना-भेदाभिधानाद्धात्वर्थस्य च धातुभेदमन्तरेण भेदानुपपत्तेः समिधो यजतीति प्रथमभाविना वाक्येन विहिता

भामती—व्याख्या

[ ३—धर्मविशेष से कर्म-भेद ]

कर्मविशेषोऽपि"—कारीरी इष्टि के प्रकाशक वेद-भाग का अध्ययन करते समय तैत्तिरीय शाखा के व्यक्ति भूमि में भोजन किया करते हैं, दूसरे नहीं करते, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति, अपरे शाखिनो नाचरन्ति" ( शाबर. २।४।८ ) । अग्निचयन के वाक्यों का अध्ययन करनेवाले कुछ छात्र अपने उपाध्याय के लिए जल से भरा घड़ा लाते हैं, और कुछ नहीं । अश्वमेध-प्रकरण का अध्ययन करनेवाले कतिपय छात्र अश्व को घास खिलाते हैं, दूसरे नहीं । इसी प्रकार विभिन्न शाखाओं के छात्र विभिन्न आचार अपनाते देखे जाते हैं । ऐसा सम्भव नहीं कि एक ही कर्म भूमि-भोजनादि से जनित उपकार की अपेक्षा करता भी है और नहीं भी, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"अश्वघासादेकेषामुपकारमाकांक्षत्यश्वमेधादिः, ऐकेषां नाकांक्षति" ( शाबर. पृ. ६३२ ) । फलतः भिन्न-भिन्न शाखाओं में विहित अग्निहोत्रादि कर्म भिन्न-भिन्न ही होते हैं । कर्म-भेद सिद्ध हो जाने से प्रकृत विषय में क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर हैं—"अस्ति चात्र धर्मविशेषः" । जैसे अथर्वशाखीय छात्र वेदान्त-अध्ययन करते समय शिरोव्रत ( अपने शिर पर अग्नि-पात्र रखना ) करते हैं, किन्तु दूसरे छात्र नहीं करते ।

[ ४—पुनरुक्ति ]

[ महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा-दर्शन के द्वितीय अध्यायस्थ द्वितीय पाद में ( १ ) शब्दान्तर, ( २ ) अभ्यास, ( ३ ) संख्या, ( ४ ) संज्ञा, ( ५ ) गुण और ( ६ ) प्रकरणान्तर—इन छः हेतुओं द्वारा कर्म-भेद प्रतिपादित किया है । वहाँ ] अभ्यस्त ( पुनरुक्त ) 'यजति' पदों का उदाहरण दिखाते हुए ५ प्रयाजों के विधायक वाक्यों को प्रस्तुत किया है—"समिधो यजति", "तनूनपातं यजति", "इडो यजति", "बर्हिर्यजति", "स्वाहाकारं यजति" ( तै. सं. २।६।१ ) ।

**संशय**—उक्त पाँच वाक्यों में प्रयुक्त 'यजति' पदों के द्वारा एक ही कर्म का विधान किया जाता है ? अथवा पाँच कर्मों का ?

**पूर्वपक्ष**—अभ्यासाधिकरण से पहले शब्दान्तराधिकरण में जो धात्वर्थरूप करण के भेद से भावना का भेद प्रतिपादित किया है, धात्वर्थका भेद धातु पद के भेद पर निर्भर है किन्तु प्रकृत में पाँच वाक्य एक ही 'यजति' पद से युक्त हैं, अतः यहाँ कर्म-भेद सम्भव नहीं ।


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

कर्मभावना विपरिवर्त्तमानोपरितनैर्वाक्यैरनूद्यते । न च प्रयोजनाभावाद्ननुवादः प्रमाणसिद्धस्याप्रयोजनस्याननुयोज्यत्वात् कर्मभावनाभेदे चानेकापूर्वकल्पनाप्रसङ्गादेकापूर्वावान्तरव्यापारमेकं कर्मेति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्त उच्यते—परस्परानपेक्षाणि हि समिदादिवाक्यानीति सर्वाण्येव प्राथम्याद्गुण्यपि युगपदध्ययनानुपपत्तेः क्रमेणाधीतानीति । न त्वयमेषां प्रयोजकः क्रमः । परस्परापेक्षाणामेकवाक्यत्वे हि स प्रयोजकः स्यात् तेन प्राथम्याभावात् प्राप्तमित्येव नास्तीति कस्य कोऽनुवादः । कथञ्चिद्विपरिवृत्तिमात्रस्यौत्सर्गिकाप्रवृत्तप्रवर्त्तनालक्षणविधित्वापवादसामर्थ्याभावात् । गुणश्रवणे हि गुणविशिष्टकर्मविधाने विधिगौरवभिया गुणमात्रविधानलाभवाय कर्मानुवादापेक्षायां विपरिवृत्तेरुपकारः । यथा दध्ना जुहोतीति दधिविधिपरे वाक्ये विपरिवृत्त्यपेक्षायामग्निहोत्रं जुहोतीति विहितस्य होमस्य विपरिवर्त्तमानस्यानुवादः । न चात्र गुणाद्भेदः, समिदादिपदानां कर्मनामधेयानां गुणवचनत्वाभावात् । अगृह्यमाणविशेषतया च किं वचनविहितंकिं कर्मानुवादेन कस्य गुणविधित्वमिति न विनिगम्यते । न चापूर्वं नाम ज्योतिरादिवद्विधानासम्बद्धं प्रथममवगतं यतः पूर्वबुद्धिविच्छेदेन विधीयमानं कर्म पूर्वस्मात् संज्ञातो व्यवच्छिन्द्यात् ।

भामती—व्याख्या

प्रथम वाक्य के द्वारा विहित कर्म का ही अनुवाद शेष चारों वाक्य करते हैं । प्रमाण के द्वारा सिद्ध कर्मानुवाद के प्रयोजन की जिज्ञासा नहीं की जा सकती । कर्मैक्य मानने में लाघव तो स्पष्ट ही है कि एक भावना और एक अपूर्व ( अदृष्ट ) की कल्पना । यदि पाँच कर्म मानते हैं, तब पाँच अपूर्वों की कल्पना से महान् गौरव प्रसक्त होता है ।

**सिद्धान्त** – उक्त पाँचों वाक्य परस्पर-निरपेक्ष समप्रधानरूप से पठित हैं । कौन वाक्य प्रथम और कौन परभावी है ? इसका निर्णय नहीं किया जा सकता, हाँ, उनका अध्ययन युगपत् नहीं हो सकता, अतः क्रमशः अधीत होते हैं । यह क्रम प्राथम्य का प्रयोजक नहीं माना जाता, अतः कौन वाक्य प्रथमतः कर्म का विधायक और कौन अनुवादक है—यह निश्चय नहीं किया जा सकता । यद्यपि एक ही 'यजति' पद की विपरिवृत्ति ( प्रत्यभिज्ञा ) हो रही है, अतः प्रथम-श्रुत वाक्य में विहित कर्म की अनुवृत्ति ही उत्तरत्र होनी चाहिए । तथापि इतने मात्र से प्रत्येक वाक्य में प्रतीयमान अप्रवृत्त-प्रवर्तन रूप विधित्व का अपवाद नहीं हो सकता । "दध्ना जुहोति" आदि वाक्यों में दधि द्रव्यरूप गुण ( अङ्ग ) का श्रवण है, अतः यहाँ गुण-विशिष्ट कर्म का विधान मानने में गौरव होता है, अतः आख्यात पद का नैसर्गिक विधित्व धात्वर्थविषयक नहीं रहता, अपितु होम का अनुवाद करके दधिरूप गुण का विधान माना जाता है, ऐसे स्थल पर अवश्य ही "अग्निहोत्र जुहोति"—इस वाक्य के द्वारा विहित होम का अनुवर्तन करने में सजातीय 'जुहोति' पद उपयुक्त होता है, क्योंकि जुहोति' पद से होम का अनुवाद करके दधि का विधान किया जाता है 'दध्ना होमं भावयेत्' । प्रकृत में गुण-भेद सम्भव नहीं, क्योंकि 'समिध्' आदि पाँच शब्द पाँचों कर्मों की संज्ञाएँ हैं, किसी गुण के वाचक नहीं । पाँचों वाक्यों में कोई ऐसी विशेषता का उल्लेख नहीं कि किसी एक को ही कर्म का विधायक मानकर दूसरे वाक्यों को उसका अनुवाद करके गुण-विधायक माना जा सके, अतः यहाँ किस वाक्य से विहित कर्म का कौन वाक्य अनुवाद करेगा—ऐसी विनिगमना सम्भव नहीं ।

"अथैष ज्योतिः" "अथैष विश्वज्योतिः" इत्यादि-स्थल पर जैसे अपूर्व ( पूर्वतन संज्ञा से भिन्न ) नामधेय के द्वारा कर्म-भेद होता है, वैसा भी यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ जैसे 'अथ' शब्द के द्वारा अनुवृत्त-बुद्धि का विच्छेद होता है, वैसा प्रकृत में नहीं । "समिधो

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथासंभवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः। तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। कुतः? चोदनाद्यविशेषात्। आदिग्रहणेन शाखान्तराधिकरण-

भामती

किन्तु प्रथमत एव कर्मसामानाधिकरण्येनावगताः समिदावयस्तद्वशात् कर्मनामधेयतां प्रतिपद्यमाना आख्यातस्यानुवादत्वेऽनुवादा विधित्वे विधयो न तु स्वातन्त्र्येण कस्यचिदीशते। तस्मात् स्वरससिद्धा-प्राप्तकर्मविधिपरत्वात् कर्मण्ययमभ्यासो भावनानुबन्धभूतानि भिन्दानो भावनां भिनत्ति यथा तथा शाखान्तरविहिता अपि विद्याः शाखान्तरविहिताभ्यो विद्याभ्योऽभ्यासो भेत्स्यतीति।

अशक्तेश्च—नह्येकः पुरुषः सर्ववेदान्तप्रत्ययात्मिकामुपासनामुपसंहर्तुं शक्नोति सर्ववेदान्ताध्ययनासामर्थ्यादनधीतार्थोपसंहारेऽध्ययनविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। प्रतिशाखं भेदे तूपासनायां नायं दोषः।

समाप्तिभेदाच्च। केषाञ्चित् शाखिनामोङ्कारसार्वात्म्यकथने समाप्तिः। केषाञ्चिदन्यत्र तस्मादप्यु-पासनाभेदः।

अन्यार्थदर्शनादपि भेदः। तथाहि - नेतदचीर्णव्रतोऽधीत इति अचीर्णव्रतस्याध्ययनाभावदर्शना-दुपासनाभावः। क्वचिदचीर्णव्रतस्याध्ययनदर्शनादुपासनावगम्यते। तस्मादुपासनाभेद इति।

अत्र सिद्धान्तमाह ॐसर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्ॐ। तद्व्याचष्टे ॐसर्ववेदान्तप्रत्ययानिॐ सर्ववेदान्तप्रमाणानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन् वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। यान्येकस्मिन् वेदान्ते

भामती—व्याख्या

यजति"—इत्यादि वाक्यों में 'यजति' पद के द्वारा अभिहित कर्म के समानार्थक समिदादि शब्द आख्यात के अधीन हैं—आख्यात के विधिरूप होने पर विधि और अनुवादरूप होने पर अनुवादरूप होंगे। फलतः प्रकृत में 'यजति' का अभ्यास ( पुनर्वचन ) धात्वर्थरूप अनुबन्ध का भेदक पर्यवसित होता है। उसी प्रकार प्राण-विद्यादि नाम से भिन्न-भिन्न शाखाओं में प्रति-पादित उपासनाएँ भी अभ्यास के आधार पर भिन्न सिद्ध होती हैं।

[ ५—अशक्ति ]

कोई एक व्यक्ति इतनी शक्ति नहीं रखता कि सभी वेदान्त-शाखाओं में पठित उपा-सनापरक अनन्त-वाक्यों का अध्ययन करके उनके अर्थों का अनुष्ठान कर सके, अन्यथा स्वाध्याय ( स्वकीय शाखा ) के अध्ययन का विधान व्यर्थ हो जाता है। परिशेषतः अनेक व्यक्तियों के द्वारा अनुष्ठेय उपासनाओं का भेद अनिवार्य है।

[ ६—समाप्ति-वचन ]

जैसे समाप्ति-वचनों के आधार पर कर्म-भेद होता है, वैसे ही उपासना-भेद भी, क्योंकि किसी शाखा को समाप्ति ओंकार-सर्वात्मता के वचन से होती है और अन्य शाखाओं की अन्य वचन से।

[ ७—अन्यार्थ-दर्शन ]

अन्यान्य व्यक्तियों की अपेक्षा विधीयमान उपासना का भेद आवश्यक है, जैसे "नैतद-चीर्णव्रतोऽधीते" ( मुण्ड. ३।२।११ ) [ अर्थात् इस ग्रन्थ का अध्ययन वह व्यक्ति न करे, जिसने व्रत-पालन नहीं किया ]। जब ऐसे व्यक्ति के लिए अध्ययन का निषेध है, तब उपासना का भी निषेध मानना होगा। किन्तु किसी शाखा में अचरितव्रत को भी अधिकार दिया गया है, अतः उन उपासनाओं का भेद सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्"। भाष्यकार सूत्र की व्याख्या करते हैं—"सर्ववेदान्तप्रत्ययानि ( सर्ववेदान्तप्रमाणकानि ) विज्ञानानि तस्मिन् तस्मिन्

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते—जुहुयादिति। एवम् 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६।१।१, छा० ५।१।१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना। प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव—'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' (बृ० ६।१।१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य, यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषणान्वितं प्राणतत्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपम्, एवं विज्ञेयं रूपं विज्ञानस्य, तेन हि तद्रूप्यते। समाख्याऽपि सैव—प्राणविद्येति। तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानाम्। एवं पञ्चाग्निविद्या वैश्वानरविद्या शाण्डिल्यविद्यत्येवमादिषु योजयितव्यम्। ये तु नामरूपादयो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वाद्' इत्यारभ्य परिहृताः ॥ १ ॥

भामती

तान्येव वेदान्तान्तरेष्वपीत्यर्थः। चोदनाद्यविशेषात्—आदिशब्देन संयोगरूपाख्याः संगृह्यन्ते। अत्र च चोद्यत इति चोदना पुरुषप्रयत्नः। स हि पुरुषस्य व्यापारः। तत्र खल्वयं होमादिधात्वर्थावच्छिन्ने प्रवर्त्तते। तस्य देवतोद्देशेन त्यागस्यासेचनाधिकस्यावच्छेद्यः पुरुषप्रयत्नः, स एव शाखान्तरे यथैवमिहापि प्राणज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्ववेदनविषयः पुरुषप्रयत्नः स एव शाखान्तरेष्वपीति। एवं फलसंयोगोऽपि ज्येष्ठश्रेष्ठभवनलक्षणः स एव। रूपमपि तदेव। यथा यागस्य यदेकस्यां शाखायां द्रव्यदेवतारूपं तदेव शाखान्तरेष्वपीति। एवं वेदनस्यापि यदेकत्र प्राणज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वरूपं विषयस्तच्छाखान्तरेष्वपीति ॥ १ ॥

भामती—व्याख्या

वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति"। जो उपासनाएँ एक शाखा में प्रतिपादित हैं, वे ही अन्यान्य शाखाओं में अभिहित हैं, भिन्न-भिन्न नहीं। "चोदनाद्यविशेषात्" यहाँ 'आदि' शब्द के द्वारा पूर्वमीमांसा के शाखान्तराधिकरण में कथित कर्मैक्य के साधक हेतुओं का आकर्षण किया जाता है—"एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्" (जै. सू. २।४।९)। अर्थात् (१) फलसंयाग, (२) रूप (द्रव्य और देवता), (३) चोदना और (४) समाख्या की एकता से सभी शाखा के कर्मों की-एकता सिद्ध होती है, जैसा कि कहा है—

सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् संज्ञारूपगुणादिभिः।
एककर्मत्वविज्ञानं न शाखास्वपगच्छति ॥ (तं० वा० पृ० ६३५)

[ अग्निहोत्रादि संज्ञा, रूप (द्रव्य और देवता) एवं गुणों (अङ्ग कर्मों) की एकता से एककर्मत्व की जो प्रत्यभिज्ञा हो रही है, शाखा-भेद होने पर भी उसका अपलाप नहीं हो सकता ]। यहाँ 'चोद्यते' ऐसी कर्म-व्युत्पत्ति के आधार पर 'चोदना' शब्द पुरुष के प्रयत्न को कहता है, वह पुरुष का व्यापार है, उसका होमादिरूप धात्वर्थ अवच्छेदक होता है। 'यजेत' इत्यादि धात्वर्थ के दो अंश माने जाते हैं—(१) याग [ यजमान के द्वारा किसी देवता के उद्देश्य से हवि का मानस त्याग ] और आसेचन [ त्यक्त द्रव्य का अध्वर्यु के द्वारा आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"इष्टिर्यागः, स एवासेचनाधिको होमः" (शाबर, पृ. १५०९)। वार्तिककार ने भी कहा है—"प्रक्षेपाधिकतामात्राद् यागाद्धोमस्य भिन्नता" (तं. वा. पृ. ६४९)]। दोनों अंशोंवाले याग का अवच्छेद्य कथित पुरुषप्रयत्न जैसा एक शाखा में प्राण-ज्येष्ठत्वविषयक विहित होता है, वैसा ही शाखान्तर में भी, अतः सर्वत्र उपासना का ऐक्य सिद्ध होता है। जैसे कर्म के द्रव्य और देवतात्मक रूपों की एकता है, वैसे ही उपासना के प्राण-ज्येष्ठत्वादि रूपों की सभी शाखाओं में एकता है, अतः उपासना का अभेद सुस्थिर होता है ॥ १ ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इहापि कंचिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

स्यादेतत्—सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते। तथाहि वाजसनेयिनः पंचाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति—'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६।२।१४) इत्यादिना। छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पंचसंख्ययैव च त उपसंहरन्ति—'अथ ह य एतानेवं पंचाग्नीन्वेद' (छा० ५।१०।१०) इति। येषां च स गुणोऽस्ति, येषां च नास्ति, कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत? न चात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं, पञ्चसंख्याविरोधात्। तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान् वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति। वाजसनेयिनस्तु पंचममप्यामनन्ति—'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६।१।६) इति। आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति, वेद्यभेदाच्च विद्याभेदः, द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत्—नैष दोषः, यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते। यद्यपि षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न सम्भवति, तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति। नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते। पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति' (छा० ५।९।२) इति। वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पंचस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' (बृ० ६।२।१४) इत्यादि समामनन्ति, स नित्यानुवादः। अथाप्युपासनार्थं एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम्। न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्यः, सांपादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पंचसंख्या नित्यानुवादभूता न विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राण-

भामती

॥ कञ्चिद्विशेषम् इति ॥। युक्तं यदग्नीषोमीयस्योत्पन्नस्य पश्वादेकादशकपालत्वादिसम्बन्धेऽप्यभेद इति। यथोत्पन्नस्य तस्य सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिह त्वग्निषूत्पत्तिगत एव गुणभेद इति कथं वैश्वदेवीवन्न भेदक इति विशेषस्तमिमं विशेषमभिप्रेत्याशङ्कते सूत्रकारः ॥ भेदान्नेति चेत् इति ॥। परिहारः सूत्रावयवः ॥ न एकस्यामपीति ॥। पञ्चैव साम्पादिका अग्नयो वाजसनेयिनामपि छान्दोग्यानामिव विधीयन्ते। षष्ठस्त्वग्निः सम्पद्यतिरेकायानूद्यते, न तु विधीयते वैश्वदेव्यां तूत्पत्तौ गुणो

भामती—व्याख्या

"कंचिद्विशेषम्"। अर्थात् पूर्वमीमांसा के शाखान्तराधिकरण में जो गुण-भेद से आपादित कर्म-भेद का निराकरण किया है, वह युक्ति-युक्त है, क्योंकि अग्नीषोमीय कर्म जब उत्पन्न (विहित) हो गया, तब उसके उद्देश्य से "ताभ्यामग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्" (तै० सं० २।५।२) इत्यादि वाक्यों के द्वारा ग्यारह कपालों में संस्कृत (पकाया गया) पुरोडाश और द्वादशकपाल में संस्कृत पुरोडाश द्रव्य का विधान करने पर भी कर्म-भेद नहीं, क्योंकि एक ही कर्म में उत्पन्न-शिष्ट दोनों पुरोडाश द्रव्यों का विकल्प हो जाता है किन्तु प्रकृत "अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद" (छा० ५।१०।१०) इत्यादि वाक्य अग्निविषयक उपासना का विधान करते हुए पञ्चत्वादि गुणों का अभिधान करते हैं, अतः उत्पत्ति-शिष्ट गुणों के द्वारा उपासना का वैसे ही भेद प्रसक्त है, जैसे "वैश्वदेवी आमिक्षा"—इस वाक्य में। इसी विशेषता की शङ्का सूत्रकार उठाता है—"भेदान्नेति चेत्"। उस शङ्का का परिहार है—"न एकस्यामपि"। अर्थात् छान्दोग्य के समान ही वाजसनेयी में भी पाँच अग्नियों की ही सम्पदुपासना विहित है। छठी अग्नि का तो अनुवादमात्र इसलिए किया

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। न चावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्क्यः, कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात्। तस्मादैकविद्यमेव ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

यदप्युक्तम्—आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद इति, तत्प्रत्युच्यते—स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः, कथमिदमवगम्यते? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रंथे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति। "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते। ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु

भामती

विधीयत इति भवतु भेदः। अथवा छान्दोग्यानामपि षष्ठोऽग्निः पठ्यत एव। अथ वा भवतु वाजसनेयिनां षष्ठाग्निविधानं मा च भूच्छान्दोग्यानां तथापि पञ्चत्वसंख्याया अविधानान्नोत्पत्तिशिष्टत्वं संख्यायाः किन्तूत्पन्नेष्वग्निषु प्रचयशिष्टा संख्याऽनूद्यते साम्पादिकानग्नीनवच्छेत्तुं तेन येषामुत्पत्तिस्तेषां प्रत्यभिज्ञानात् अप्रत्यभिज्ञायमानायाश्च संख्याया अनुवाद्यत्वेनानुत्पत्तेर्विधीयमानस्य चाधिकस्य षोडशिग्रहणवद्विकल्पसम्भवान्न शाखान्तरे ज्ञानभेदः। उत्पत्तिशिष्टत्वेऽसिद्धे प्राणसंवादादयोऽपि भवन्ति प्रत्यभिज्ञानादभिन्नास्तासु तासु शाखास्विति ॥ २ ॥

यैराथर्वणिकग्रन्थोपाया विद्या वेदितव्या तेषामेव शिरोव्रतपूर्वाध्ययनप्राप्तग्रन्थबोधिता फलं प्रयच्छति नान्यथा। अन्येषां तु छान्दोग्यादीनां सैव विद्या अचीर्णशिरोव्रतानां फलदेत्याथर्वणग्रन्थाध्ययनसम्बन्धादवगम्यते। तत्सम्बन्धश्च वेदव्रतेनेति नैतदचीर्णव्रतोऽधीत इति समाम्नानादवगम्यते। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेतेति विद्यासंयोगेऽप्येतामिति प्रकृतपरामर्शिना सर्वनाम्नाऽध्ययनसम्बन्धाऽवरो-

भामती—व्याख्या

गया है कि उपासना का उससे भेद किया जा सके, छठी अग्नि का विधान नहीं किया जाता। इससे वैश्वदेवी का अन्तर है कि वहाँ उत्पत्ति-वाक्य में ही आमिक्षारूप गुण का विधान किया जाता है, अतः वह भेदक है। अथवा छान्दोग्य में भी छठी अग्नि का पाठ मान लिया जाय। अथवा वाजसनेयी में ही छठी अग्नि का विधान माना जाय, छान्दोग्य में नहीं। तथापि पञ्चत्व संख्या को अविहित मान कर उत्पत्तिशिष्ट भी न माना जाय, किन्तु अग्नि की उत्पत्ति (विधि) हो जाने पर प्रत्येक अग्नि की एकत्व संख्या का प्रचय (समुच्चय) इसलिए अनुवादित किया जाता है कि औपासनिक अग्नियों का अवच्छेद (इयत्ता का निश्चय) कर सकें। इस प्रकार जिन अग्नियों की उत्पत्ति है, उन्हीं की प्रत्यभिज्ञा होती है, संख्या की नहीं। अप्रत्यभिज्ञायमान संख्या अनुवाद्य भी नहीं हो सकती, फलतः उत्पन्न अग्नि के उद्देश्य से विधान करने पर संख्या का षोडशी के ग्रहणाग्रहण की भाँति विकल्प सम्भव हो जाता है, उपासना का भेद नहीं होता ॥ २ ॥

जो लोग आथर्वणिक ग्रन्थ के द्वारा विद्या (उपासना) का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उन लोगों को ही शिरोव्रतपालनपूर्वक अध्ययन से प्राप्त विद्या फल देती है, अन्य शाखावालों को नहीं। छान्दोग्यादि अन्य शाखावालों को तो वह उपासना तभी फल देगी, जब वे अचीर्णव्रत (व्रत-पालन से रहित) हों—ऐसा आथर्वण ग्रंथ के अध्ययन-सम्बन्ध से अवगत होता है। अध्ययन का सम्बन्ध वेद-व्रत से है, जैसा कि कहा जा चुका है—"नैतदचीर्णव्रतोऽधीते"।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीर्णम्' ( मुण्ड० ३।२।१० ) इति ब्रह्मविद्यासंयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्यतैष धर्मः, न, तत्राप्येतामिति प्रकृतप्रत्यवमर्शात् । प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रंथविशेषापेक्षमिति ग्रंथविशेषसंयोग्येवैष धर्मः । सववच्च तन्नियम इति निदर्शन-निर्देशः । यथा च सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभि-सम्बन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसम्बन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते, तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसम्बन्धात्तत्रैव नियम्यते । तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥ ३ ॥

## दर्शयति च ॥ ४ ॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु, वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' ( क० २।१५ ) इति । तथा 'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त

भामती

थायाथर्वविहितैव विद्योच्यत इति । सवा होमाः सप्त सौर्य्यादयः शतौदनान्ता आथर्वणिकानां त एक-स्मिन्नेवाथर्वणिकेऽग्नौ क्रियन्ते न त्रेतायाम् ॥ ३ ॥

❀ विद्यैकत्वं दर्शयति च ❀ । भूयोभूयो विद्यैकत्वस्य वेदे दर्शनात् । यत्रापि सगुणब्रह्मविद्यानां न साक्षाद्वेद एकत्वमाह तासामपि तत्प्रायपठितानां तद्विधानां प्रायदर्शनादेकत्वमेव तथाह्यग्रचप्राये लिखितं दृष्ट्वा भवेदयमग्रघ इति बुद्धिरिति । यच्च काठकादिसमाख्ययोपासनाभेद इति, तदयुक्तम्, एता हि पौरुषेय्यः समाख्याः काठकादिप्रवचनयोगात्तासां शाखानां न तूपासनानाम् । नह्येताः कठादिभिः प्रोक्ताः । न च कठाद्यनुष्ठानमात्रमितरानुष्ठानेभ्यो विशिष्यते । न च कठप्रोक्तत्वनिमित्तमात्रेण ग्रन्थे प्रवृत्तौ तद्योगाच्च कथञ्चिल्लक्षणयोपासनासु प्रवृत्तौ सम्भवन्त्यामुपासनाभिधानमप्यासां शक्यं कल्पयितुम् । न च तद्भेदाभेदौ

भामती—व्याख्या

"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत"—यहाँ पर प्रकृत-परामर्शी 'एताम्' इस सर्वनाम पद के द्वारा अध्ययन-सम्बन्ध का लाभ करने के लिए अथर्व-विहित विद्या का ग्रहण किया जाता है ।

"सववच्च"—यहाँ 'सव' शब्द के द्वारा सौर्य होम से लेकर शतौदन होम तक अथर्व-वेदीय सात होम विवक्षित हैं । वे होम त्रैत (आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य ) अग्नि में अनुष्ठित न होकर केवल एक ऋषिसंज्ञक (अथर्व. पृ.१२६) अग्निमें किए जाते हैं । अतः वे केवल आथर्वणिक हैं, समस्त वेदों के धर्म नहीं, वैसे ही चीर्णव्रतता केवल अध्ययन का धर्म है, उपा-सना का नहीं, अतः सभी शाखाओं की सजातीय उपासनाओं की एकता सिद्ध होती है ॥३॥

"दर्शयति च"—इस सूत्र में 'विद्यैकत्वम्' जोड़कर पूरा वाक्य सम्पन्न होता है—"विद्यैकत्वं दर्शयति" । वेद में विद्या की एकता का भूयो-भूयो दर्शन होता है । यद्यपि निर्गुण विद्या के समान सगुण विद्या की एकता साक्षात् प्रतिपादित नहीं, तथापि निर्गुण विद्या की सन्निधि में पठित होने के कारण उसकी भी एकता वैसे ही सिद्ध होती है, जैसे प्रधान पदार्थों की पंक्ति में पठित सभी पदार्थ प्रधान ही समझे जाते हैं ।

जो काठकादि समाख्याओं को उपासनाओं का भेदक माना गया है, वह युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि वे समाख्याएँ पौरुषेयी हैं, अपौरुषेयी नहीं—जिस शाखा का महर्षि कठ ने विशेष प्रवचन किया, उस शाखा का पुरुषों ने नाम रख दिया 'काठक' जैसा कि जैमिनि महर्षि ने कहा है—"आख्या प्रवचनात्" ( जै. सू. १।१।३० ) कठ केवल शाखा के प्रवक्ता हैं, उपासनाओं के निर्माता नहीं, क्योंकि इन उपासनाओं के अनुष्ठान-प्रकार का अन्यशाखीय अनुष्ठान-प्रकारों से कोई अन्तर नहीं । काठकादि शब्द न तो ग्रन्थ में रूढ़ हैं और न विद्या ( उपासना ) में, क्योंकि 'कठ-प्रोक्तत्व' निमित्त को लेकर 'काठक' समाख्या ग्रन्थ में और लक्षणा के द्वारा ही विद्या में प्रवृत्त हो सकती है । काठकादि समाख्याओं का

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क० ६।२) इति काठक उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दायै परामर्शो दृश्यते 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० २।७।१) इति। तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्र-सम्पादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभि-विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति। तथा सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे-नान्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानात्प्रायदर्शनन्यायेनोपास-

भामती

ज्ञानभेदाभेदप्रयोजको मा भूदयास्वमासामभेदाज्ज्ञानानामेकशाखागतानामैक्यम्। कठाविपुरुषप्रवचननि-मित्ताश्चैताः समाख्याः कठादिभ्यः प्राक् नासन्निति तन्निबन्धनो ज्ञानभेदो नासीदिदानीं चास्तीति दुर्घट-मापद्येत। तस्मान्न समाख्यातो भेदः।

अभ्यासोऽपि नात्र भेदकः। युक्तं यदेकशाखागतो यजत्यभ्यासः समिदादीनां भेदक इति, तत्र हि विधित्वमौत्सर्गिकमज्ञातज्ञापनमप्रवृत्तप्रवर्त्तनञ्च कुप्येयाताम्। शाखान्तरे त्वध्येतृपुरुषभेदादेकत्वेऽपि नौत्सर्गिकविधित्वव्याकोप इति।

अशक्तिरपि न भेदहेतुः, स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति स्वशाखायामध्ययननियमः। ततश्च शाखान्त-रीयानर्थानन्येभ्यस्तद्विधेभ्योऽधिगम्योपसंहरिष्यति। समाप्तिश्चैकस्मिन्नपि तत्सम्बन्धिनि समाप्ते तस्य व्यपदिश्यते। यथाऽऽध्वर्यवे कर्मणि ज्योतिष्टोमस्य समाप्ति व्यपदिशन्ति ज्योतिष्टोमः समाप्त इति। तस्मात्समाप्तिभेदोऽपि न साधनमुपासनाभेदस्य। तदेवमसति बाधके चोदनाद्यविशेषात्सर्ववेदान्तप्रत्ययानि

भामती—व्याख्या

भेदाभेद ज्ञान-भेद का प्रयोजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत् की समाख्या एक होने पर भी सबके ज्ञान एक नहीं होते। यदि ज्ञान का भी अभिधान उक्त समाख्या से माना जाता है, तब कठादि नाम के पुरुषों से पहले उस ज्ञानविशेष की सिद्धि न होकर पश्चाद्भावी ही होगी—इस प्रकार वेद-विद्या में सादिता सिद्ध होगी, जो कि अत्यन्त दुर्घट है।

अभ्यास (पुनरुक्ति) भी उपासना-भेदक नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही शाखा में होनेवाला "समिधो यजति", "तनूनपातं यजति"—ऐसा 'यजति' पद का अभ्यास समिदादि कर्मों का भेदक हो सकता है, क्योंकि कर्म-भेद न मानने पर विधित्व और उसका नैसर्गिक अप्रवृत्त-प्रवर्त्तनत्व विरुद्ध हो जाता है, किन्तु शाखान्तरस्थ अभ्यास अध्येता पुरुषों का भेदक होने पर भी नैसर्गिक विधित्व का विरोध नहीं होता।

अशक्ति भी उपासना-भेदक नहीं हो सकती, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस प्रकार केवल अपनी शाखा के अध्ययन का जो नियम किया गया, उसके आधार पर दूसरी शाखा का अध्ययन किए बिना ही उस शाखावाले व्यक्ति से उस विद्या का स्वरूप जान कर उसके गुणों (अङ्गों) का उपसंहार किया जा सकता है। अशक्ति का यही समाधान जैमिनि ने भी किया है—"न चैकं प्रतिशिष्यते" (जै० सू० २।४।१९)।

"समाप्तिवच्च संप्रेक्षा" (जै० सू० २।४।२०) इस सूत्र में समाप्ति में कर्म-भेदकता का निरास करते हुए कहा गया है कि लोग जो व्यवहार किया करते हैं कि हमारी शाखा में वह कर्म अमुक वाक्य पर समाप्त है किन्तु दूसरी शाखा में वहाँ समाप्त नहीं—इससे भी कर्म और उपासना की एकता ही सिद्ध होती है। कथित "चोदनाद्यविशेषात्"—इत्यादि हेतु उसी एकता के उपोद्बलक हैं।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

---

## ( २ उपसंहाराधिकरणम् । सू० ५ )

## उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

इदं प्रयोजनसूत्रम् । स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति; अर्थाभेदात् । य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टविज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि । उभयत्रापि

भामती

कर्माणि तानि तान्येवेति सिद्धम् ।

कञ्चिद्विशेषमाशङ्क्य पूर्वतंत्रप्रसाधितम् ।
वक्ष्यमाणार्थसिद्ध्यर्थमर्थमाह स्म सूत्रकृत् ॥ ४ ॥

---

चिन्ताप्रयोजनप्रदर्शनार्थं सूत्रम् —उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च—

अत्रेदमाशङ्क्यते—भवतु सर्वशाखाप्रत्ययमेकं विज्ञानं तथापि शाखान्तरोक्तानां तदङ्गान्तराणां न शाखान्तरोक्ते तस्मिन्नुपसंहारो भवितुमर्हति । तस्यैकस्य कर्मणो यावन्मात्रमङ्गजातमेकस्यां शाखायां विहितं तावन्मात्रेणैवोपकारसिद्धेरधिकानपेक्षणात् अपेक्षणे चाधिकमपि तत्र विधीयेत, न च विहितम् । तस्माद्यथा नैमित्तिकं कर्म सकलाङ्गवद्विहितमपि अशक्तौ यावच्छक्यमङ्गमनुष्ठातुं तावन्मात्रजन्येनोपकारेणोपकृतं भवत्येवमिहाप्यङ्गान्तराविधानादेव भविष्यतीति ।

एवं प्राप्ते उच्यते—सर्वत्रैकत्वे कर्मणः स्थिते गृहमेधीयन्यायेन नोपकारावच्छेदो युज्यते । नहि

---

भामती—व्याख्या

कंचिद्विशेषमाशंक्य पूर्वतन्त्रप्रसाधितम् ।
वक्ष्यमाणार्थसिद्ध्यर्थमर्थमाह स्म सूत्रकृत् ॥

[सूत्रकार ने द्वितीय सूत्र में पूर्वमीमांसा से यहाँ कुछ विशेषता की आशङ्का कर उसका निरास किया और वक्ष्यमाणाधिकरण के गुणोपसंहार की सिद्धि करने के लिए पूर्वमीमांसा-प्रसाधित कर्म के समान उपासना की एकता सिद्ध की है] ॥ ४ ॥

---

**संगति**—पूर्वाधिकरण में प्रसाधित उपासना की एकता का प्रयोजन दिखाने के लिए सूत्र है—"उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च" ।

**संशय**—शाखान्तरोक्त गुणों ( अङ्गों ) का उपासना में उपसंहार ( उपसंग्रह ) क्या नहीं हो सकता ? अथवा हो सकता है ?

**पूर्वपक्ष**—सभी शाखाओं में प्रतीयमान समान कर्मों और उपासनाओं की एकता सिद्ध हो जाने पर भी अन्य शाखा में कथित गुणों ( अङ्गों ) का उपसंहार अन्य शाखा के कर्मों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि कर्म के प्रकरण में पठित अङ्गों के द्वारा ही कर्म का उपकार सम्पन्न हो जाता है, शाखान्तरोक्त अधिक गुणों की अपेक्षा ही नहीं रहती । यदि वे गुण अपेक्षित हैं, तब कर्म के प्रकरण में ही उनका विधान होना चाहिए, वहां वे विहित नहीं, तब वे वैसे ही अपेक्षित और आवश्यक नहीं, जैसे नैमित्तिक कर्मों में विहित भी सभी गुण अपेक्षित नहीं होते, अपितु यथाशक्ति सम्भव अङ्गों का ही अनुष्ठान होता है, सबका नहीं । वैसे ही उपासना में भी गुणोपसंहार सम्भव नहीं ।

**सिद्धान्त**—सभी शाखाओं के समान कर्मों की एकता स्थिर हो जाने पर उपासना में गृहमेधीय के समान उपकारावच्छेदक ( उपकार-जनक ) पदार्थ की आकांक्षा सम्भव नहीं


CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हि तदेवैकं विज्ञानं, तस्मादुपसंहारः । विधिशेषवत् । यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रादि धर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहरणमेवमिहापि । यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिबद्धत्वाद् गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाभावाच्च न स्यादुपसंहारः । विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति । अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥ ५ ॥

भामती

तदेव कर्म सत्तवङ्गमपेक्षते नापेक्षते चेति युज्यते । नैमित्तिके तु निमित्तानुरोधादवश्यकर्त्तव्ये सर्वाङ्गोपसंहारस्य सदातनत्वासम्भवादुपकारावच्छेदः कल्प्येत । प्रकृतोपकारपिण्डे चोदकप्राप्ते आज्यभागविधानात् गृहमेधीयेऽप्युपकारावच्छेदः स्यादिह तु शाखान्तरे कतिपयाङ्गविधानं तानि विधत्ते नेतराणि परिसङ्ख्यष्टे । न च तदुपकारपिण्डे चोदकप्राप्ते आज्यभागवत्तन्मात्रविधानम् । तस्मात्तत्त्वेन कर्मणां सर्वाङ्गसङ्गम औत्सर्गिकोऽसति बलवति बाधके नापवदितुं युक्त इति ॥ ५ ॥

भामती—व्याख्या

है । [ चातुर्मास्य इष्टि के अन्तर्गत एक गृहमेधीय इष्टि विहित है—"मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायं चरुम्" (तै. सं. १।८।४) । इसके प्रकरण में है—"आज्यभागौ यजति" (तै. सं. २।६।२ ) । सभी इष्टियों के समान गृहमेधीय इष्टि भी दर्शपूर्णमास की विकृति है । सभी विकृति कर्मों में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य के आधार पर प्रकृति के उपकारों और उपकार के अवच्छेदक पदार्थों का अन्वय होता है, अतः दर्शपूर्णमास के प्रयाजादि सभी अङ्गों का अन्वय गृहमेधीय में प्राप्त होता है, किन्तु उसके प्रकरण में आज्यभाग कर्म साक्षात् पठित हैं, अतः "ततोऽपि यावदुक्तं स्यात्" ( जै. सू. १०।७।३४ ) इस सूत्र के द्वारा विकृति की कथंभावाकांक्षा साक्षात् पठित आज्यभाग को लेकर ही शान्त हो जाती है, अन्य प्राकृत अङ्गों की आकांक्षा नहीं, किन्तु विभिन्न शाखीय उपासनाओं में प्रकृति-विकार-भाव न होने के कारण उपकार और उपकारक पदार्थों की आकांक्षा क्योंकर होगी ? ] । परिशेषतः विभिन्न शाखागत समान उपासनाओं की एकता होने के कारण सभी गुणों का उपसंहार उपासना में हो जाता है, ऐसा कभी सम्भव नहीं कि वही उपासना कर्म किसी अङ्ग की अपेक्षा करे भी और न भी करे ।

गया-श्राद्धादि नैमित्तिक कर्मों में तो निमित्त के अनुरोध पर यद्यपि सर्व अङ्गों का उपसंहार प्राप्त होता है किन्तु सदा सभी अङ्गों का अनुष्ठान हो नहीं सकता, अतः यथाशक्ति उपकार एवं कतिपय उपकारक अङ्गों के अनुष्ठान से उपकार-सिद्धि की कल्पना हो जाती है । गृहमेधीय कर्म में तो साक्षात् विहित आज्यभाग के द्वारा प्रकृति कर्म से प्राप्त अतिरिक्त कर्मों की परिसख्या ( निषेध ) की जाती है, किन्तु शाखान्तरीय कर्म और उपासना में विहित अङ्गों का विधान ही किया जाता है, शाखान्तरीय गुणों का निषेध नहीं किया जाता । गृहमेधीय में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश वाक्य के द्वारा प्राकृतिक सकल उपकार और उस के साधक समस्त प्रयाज, अनुयाज, आज्यभागादि अङ्ग कर्म प्राप्त हो जाते हैं, अतः साक्षात् पठित वाक्य के द्वारा केवल आज्यभाग का विधान नहीं किया जा सकता, किन्तु शाखान्तरीय कर्म में विधान के विना अन्य किसी मार्ग से अङ्गों की प्राप्ति सम्भव नहीं, फलतः शाखान्तरस्थ सर्वाङ्गोपसंहार नैसर्गिक है, उस का किसी बलवान् बाधक के विना अपवाद ( निषेध ) नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## (३ अन्यथात्वाधिकरणम् । सू० ६--८)

## अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति' ( बृ० १।३।१ )

भामती

द्वया द्विप्रकाराः प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः । शास्त्रजन्यया सात्त्विक्या बुद्ध्या संपन्ना देवास्ते हि दीव्यन्त इति देवाः । शास्त्रयुक्त्यपरिकल्पितमतयः तामसवृत्तिप्रधाना असुरा असुभिः प्राणैरिन्द्रियैरनिगृहीतैस्तेषु तेषु विषयेषु रमन्त इत्यसुरा, अतएव ते ज्यायांसः । यतोऽमी तत्त्वज्ञानवन्तः, कानीयसास्तु देवाः, अज्ञानपूर्वकत्वात्तत्त्वज्ञानस्य । तदस्य प्राणस्य प्रजापतेः सात्त्विक-वृत्युद्भवस्तामसवृत्त्यभिभवः कदाचित् । कदाचित्तामसवृत्युद्भवोऽभिभवश्च सात्त्विक्या वृत्तेः-सेयं स्पर्द्धा । ते ह देवा ऊचुः—हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम असुरान् जयाम, अस्मिन्नाभिचारिके यज्ञे उद्गीथ-लक्षणसामभक्त्युपलक्षितेनौद्गात्रेण कर्मणेति । ते ह वाचमूचुरित्यादिना सन्दर्भेण वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमन-सामासुरपाप्मविद्धतया निन्दित्वा अथ हेममासन्यमास्ये भवमासन्यं मुखान्तर्विलस्थं मुख्यं प्राणं प्राणा-भिमानवतीं देवतामूचुस्त्वन्न उद्गायेति । तथेत्यभ्युपगम्य तेभ्य एष प्राण उदगायत् तेऽसुरा विदुरनेन प्राणेनोद्गात्रा नोऽस्मान् देवा अत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्नसुराः । यथाऽश्मानमृत्वा प्राप्य

भामती–व्याख्या

विषय—"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त । ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम" ( बृह. उ. १।३।१ ) । अर्थात् द्वया ( दो प्रकार की ) प्रजापति की सन्तान है—(१) देव और (२) असुर उन में देव छोटे या अल्पसंख्य और असुर बड़े या बहुसंख्यक हैं । शास्त्रीय संस्कार-सम्पन्न देवगण है । वे देव इस लिए कहलाते हैं कि प्रकाश करते हैं । शास्त्रीय संस्कारों से शून्य प्रधानतया तामस वृत्तिवाले असुर हैं । वे असुर इस लिए कहलाते हैं कि अनिगृहीत इन्द्रियों के द्वारा स्वच्छन्द विषयों में रमण करते हैं, अत एव ( अनादि अविद्या से संवलित होने के कारण ) वे ( असुरगण ) ज्येष्ठ या वृद्ध हैं । उनके विपरीत सादि तत्त्वावबोध से युक्त होने के कारण देवगण कनिष्ठ हैं । अज्ञान पूर्वभावी और तत्त्वज्ञान परभावी होता है । इस प्राणरूप प्रजापत्ति ( जीव ) की कदाचित् सात्त्विक वृत्ति का उद्भव और तामस वृत्ति का अभिभव होता है । कदाचित् तामसवृत्ति का उद्भव और सात्त्विक वृत्ति का अभिभव होता है । यही वृत्तियों का उद्भव और अभिभव स्पर्धा है । एक बार देवगणों ने सोचा कि हम सोमयज्ञ में उद्गीथ' के द्वारा असुरों पर विजय प्राप्त करें [ एक साम का गान तीन ऋचाओं पर किया जाता है । एक साम को सात या पाँच भक्तियाँ (भाग) की जाती हैं, उन भागों का नाम है—(१) प्रस्ताव, (२) उद्गीथ, (३) प्रतिहार, (४) उपद्रव और (५) निधन । साम-गान करनेवाले चार ऋत्विक् होते हैं—(१) प्रस्तोता, (२) उद्गाता, (३) प्रतिहर्ता, (४) सुब्रह्मण्य । ये क्रमशः एक-एक भाग का गान करते जाते हैं, उद्गीथ भाग का गान उद्गाता करता है ] । ज्योतिष्टोम याग असुरों का ध्वंसक होने के कारण आभिचारिक कर्म है । इस कर्म में उद्गीथरूप साम-भाग के द्वारा उपलक्षित औद्गात्र (उद्गाता के द्वारा अनुष्ठित) कर्म से असुरों को परास्त करना है । 'वैसा सोच कर देवों ने वाक् इन्द्रिय को कहा कि तुम हमारा औद्गात्र कर्म करो—इस सन्दर्भ के द्वारा प्रदर्शित किया गया कि वाक्, प्राण (घ्राण), चक्षु, श्रोत्र और मन—ये असुर-पाप-लिप्तता के कारण निन्दित हैं । पश्चात् आसन्य [ आस्य या मुख में होनेवाले मुख्य प्राण अर्थात् प्राणाभिमानी देवता ] को उद्गीथ का गान करने के लिए कहा गया, प्राण को औद्गात्र कर्म करते देख असुरों ने उस पर भी आक्रमण किया,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय' ( बृ० १।३।२ ) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्' ( बृ० १।३।७ ) इति। तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्ध देवा उद्गीथमाजग्मुरनेनैनानभिभविष्यामः' ( छा० १।२।१ ) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' ( छा० १।२।७ ) इति। उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते। तत्र संशयः—किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति ? किं तावत्प्राप्तम् ? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति। ननु न युक्तं विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदात्। अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः—'त्वं न उद्गाय' ( बृ० १।३।२ ) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति। छन्दोगास्तूद्गीथत्वेन—'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' ( छा० १।२।७ ) इति। तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत्—नैष दोषः, न ह्यतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति, अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात्। तथा हि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्ग्रहणार्थाश्चासुरविध्वंसनमश्मलोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राप्यविशिष्टाः प्रतीयन्ते। वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम् 'एष उ वा उद्गीथः'

भामती

मृद्वा लोष्टो वा विध्वंसत एवं विध्वंसमाना विध्वस्ताोऽसुरा विनेशुः। तदेतत् संक्षिप्याह ❀ वाजसनेयके इति ❀। तथा छान्दोग्येऽप्येतदुक्तमित्याह ❀ तथा छान्दोग्येऽपि इति ❀। विषयं दर्शयित्वा विमृशति ❀ तत्र संशयः इति ❀। पूर्वपक्षं गृह्णाति ❀ विद्यैकत्वमिति ❀। पूर्वपक्षमाक्षिपति ❀ ननु न युक्तमिति ❀। एकत्रोद्गातृत्वेनोच्यते प्राणः एकत्र चोद्गानत्वेन, क्रियाकर्त्रोश्च स्फुटो भेद इत्यर्थः। समाधत्ते ❀ नैष दोषः इति ❀। बहुतररूपप्रत्यभिज्ञानादप्रत्यभिज्ञायमानं किञ्चिल्लक्षणया नेतव्यम्। न केवलं शाखान्तरे, एकस्यामपि शाखायां दृष्टमेतन्न च तत्र विद्याभेद इत्याह ❀ वाजसनेयकेऽपि च इति ❀।

भामती—व्याख्या

किन्तु प्राण की कठोर चट्टान से टकराकर वैसे ही आसुरगण नष्ट हो गए, जैसे मिट्टी का ढेला पत्थर से टकराकर ध्वस्त हो जाता है। इसी कथानक का संक्षिप्तरूप दिखाया जाता है—"वाजसनेयके"। छान्दोग्य में भी यही कहा है—"तथा छान्दोग्येऽपि"।

**संशय** - क्या इन दोनों शाखाओं में प्रतिपादित विद्या भिन्न है ? अथवा अभिन्न ?

**पूर्वपक्ष**—"पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वम्"। अर्थात् सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण के आधार पर दोनों शाखाओं में प्रतिपादित विद्या की एकता ही प्रतीत होती है।

**शङ्का**—"ननु न युक्तं विद्यैकत्वम्, प्रक्रमभेदात्"। अर्थात् बृहदारण्यक में प्राण का उद्गातृत्वेन निर्देश किया गया है—"एष प्राण उदगायत्" ( बृह. उ. १।३।७ ) किन्तु छान्दोग्य में उद्गीथत्वेन प्राण का उल्लेख है। उद्गीथ एक गानरूप क्रिया है और उद्गाता गान क्रिया का कर्त्ता है। क्रिया और कर्त्ता का भेद अत्यन्त स्फुट है।

**समाधान**—"नैष दोषः। अर्थात् एक-दोमात्र विशेषताओं के आधार पर विद्या-भेद नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनों के स्वरूप का बहुत-सा भाग एकत्वेन प्रत्यभिज्ञात है, उस के अनुरोध पर विलक्षण एवं अप्रत्यभिज्ञात अंश की लक्षणा अवैलक्षण्य में कर लेनी चाहिए केवल भिन्न शाखाओं में नहीं" एक शाखा में भी इतना वैलक्षण्य पाया जाता है, किन्तु विद्या-भेद नहीं हो जाता—"वाजसनेयकेऽपि"। अर्थात् बृहदारण्यक में ही प्राण का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(बृ० १।३।२३) इति। तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम्। तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यम्, विद्याभेद एवात्र न्याय्यः। कस्मात्? प्रकरणभेदादिति, प्रक्रमभेदादित्यर्थः। तथा हि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते। छान्दोग्ये तावत्—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयवस्यौंकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानं तत्र कृत्वा, 'अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति पुनरपि तमेवोद्गीथावयवमोंकरमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण तम् 'प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।२) इत्याह। तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयेत तस्याश्च कर्तोद्गातर्त्विक्कतत उपक्रमश्चोपरुध्येत लक्षणा च प्रसज्येत। उपक्रमतन्त्रेण चैकस्मिन्वाक्य उपसंहारेण भवितव्यम्। तस्मादत्र तावदुद्गीथावयव ओंकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते। वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते। 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इत्यपि तस्याः कर्तोद्गातर्त्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम्। यद्यपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव विदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न विद्यैकत्वमावहति। सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथशब्द इति वैषम्यम्। नच प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्यते; उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थत्वेनोपदिश्यमानत्वात्। प्राणवीर्येणैव चोद्गातोद्गात्रं करोतीति नास्त्यसंभवः। तथा च तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' (बृ० १।३।२४) इति। नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानु-

भामती

बहुतररूपप्रत्यभिज्ञानानुग्रहाय चोमित्यनेनापि उद्गीथावयवेन उद्गीथ एव लक्षणीय इति पूर्वपक्षः ॥६॥

बहुतरप्रत्यभिज्ञानेऽपि उपक्रमभेदात्तदनुरोधेन चोपसंहारवर्णनादेकस्मिन्वाक्ये तस्यैव चोद्गीथस्य पुनःपुनः सङ्कीर्त्तनात् लक्षणायाञ्च छान्दोग्ये वाजसनेयके प्रमाणाभावात् विद्याभेद इति राद्धान्तः।

❀ ओंकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानमोङ्कारस्य ❀। तथाहि—भूतपृथिव्योषधिपुरुषवाक्ऋक्साम्नां पूर्वस्योत्तरमुत्तरं रसतया सारतयोक्तम्। तेषां सर्वेषां रसतम ओंकार उक्तः छान्दोग्ये। ❀ न च विवक्षितार्थभेद इति ❀। एकत्रोद्गीथोद्गातारावुपास्यत्वेन विवक्षितावेकत्र तवयव

भामती—व्याख्या

कहीं उद्गान-कर्तृत्वेन निर्देश है तो कहीं उद्गीथत्वेन—"एष उ वा उद्गीथः" (बृह. उ. १।३। २३)। आगे सिद्धान्त-सूत्र में जो छान्दोग्य में पूरे उद्गीथ भाग (भक्ति) का निर्देश न कर उस के अवयवरूप प्रणव के निर्देश का वैषम्य दिखाया है, वहां भी बहुतररूप की एकता का अनुग्रह (रक्षण) करने के लिए 'ओम्' की पूरे उद्गीथ भाग में लक्षणा कर लेनी चाहिए ॥ ६ ॥

सिद्धान्त—बहुतररूप की प्रत्यभिज्ञा होने पर भी उपक्रम के अनुसार उपसंहार का वर्णन किया जाता है, एक ही वाक्य में उद्गीथ का पुनः-पुनः संकीर्तन है, 'ओम्' के द्वारा उद्गीथ की लक्षणा में कोई प्रमाण नहीं, अतः दोनों विद्याओं का भेद मानना चाहिए। "ओंकारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानम्"। अर्थात् ओंकार का व्याख्यान करने के लिए भूत, पृथिवी, ओषधि, पुरुष, वाक्, ऋक् और साम—इन में उत्तरोत्तर को पूर्व-पूर्व का रस (सार) एवं इन सबके रसतम ओंकार को छान्दोग्य में कहा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्। तथा ह्यभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च— 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्'

भामती

ओङ्कार इति ॐ। तथा ह्यभ्युदयवाक्ये इति ॐ। एवं हि श्रूयते—वि वा एतं प्रजया पशुभिरर्द्धयति वर्द्धयति अस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति स, त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं ये चोविष्ठास्तान्

भामती—व्याख्या

गया है—"एषां भूतानां पृथिवीरसः, पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग् रसः, वाचो ऋग् रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥ स एष रसानां रसतमः परमः पराध्यर्योऽष्टमो यदुद्गीथः" ( छा. १।१।३ )।

"न च विवक्षितार्थभेदेऽत्रगम्यमाने"। विवक्षित (उपासनारूप) अर्थ का भेद इस लिए है कि बृदाहरण्यक में उद्गीथ और उसके उद्गाता का उपास्यत्वेन निर्देश किया गया है और छान्दोग्य में उद्गीथ भाग के अवयवभूत ओंकार को उपास्य माना गया है।

"तथा ह्यभ्युदयवाक्ये"। अभ्युदयाख्य इष्टि का विधायक वाक्य इस प्रकार है—"वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्धयति, वर्धयत्यस्य भ्रातृव्यं, यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति। स त्रेधा तण्डुलान् विभजेद्—ये मध्यमाः स्युः, तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठाः तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरु, येऽणिष्ठाः, तान् विष्णवे शिपिविष्टाय चरुम्" ( तै. सं. २।५।५ )। [ वह निरुप्त ( देवता के लिए आरक्षित ) हवि द्रव्य इस यजमान की प्रजा और पशु-सम्पत्ति का ( व्यर्धयति ) नाश करता है और शत्रुओं की वृद्धि करता है, जिस हवि के निरुप्त करने के पश्चात् चन्द्रमा का अभ्युदय हो जाता है। इस काल-व्यत्यय का प्रायश्चित्त करने के लिए वह यजमान उन चावलों के तीन विभाग कर दे—बड़े-बड़े पृथक्, छोटे-छोटे पृथक् और बीच के ( मध्यम ) पृथक्। उन में जो मध्यम श्रेणी के हैं, उन का अष्टकपाल-संस्कृत पुरोडाश बनाकर दातृत्व-विशिष्ट अग्नि देवता को अर्पित करे। जो बड़े-बड़े चावल हैं, उन का भात दधिमें मिला कर प्रदातृत्व-विशिष्ट इन्द्रदेवता को प्रदान करे और जो छोटे-छोटे चावल है, उन की श्रुते ( दूध में ) खीर बना कर शिपिविष्ट-त्वरूप गुण से विशिष्ट विष्णु देवता को अर्पित करे ]। अभ्युदितेष्टयधिकरण के विषयादि इस प्रकार हैं—

**विषय**—'दर्शपूर्णमास' कर्म के अन्तर्गत 'दर्श' कर्म करने के लिए अमावास्या के दिन ही वेदि-करण, अग्नि-प्रणयन एवं नियत व्रतादि का अनुष्ठान किया जाता है, दधिरूप हवि का सम्पादन करने के लिए दुग्ध-दोहनादि भी अमावास्या को ही होता है। सभी अङ्ग-कलाप के पूर्ण हो जाने पर अमावास्या के पश्चात् प्रतिपत् तिथि में दर्शरूप प्रधान कर्म किया जाता है—यह तात्त्विक क्रम है।

जिस यजमान को किसी कारण भ्रम हो गया, उसने चतुर्दशी को ही अमावास्या समझ लिया और उसी दिन वेदिकरणादि अङ्गों का अनुष्ठान करने लगा, हवि-सामग्री भी सञ्चित करने के पश्चात् देखता क्या है कि आकाश में चद्रमा निकल आया। उस समय का प्रायश्चित्त-विधान है—"यस्य हविर्निरुप्तम्।" उस अभ्युदितचन्द्रक यजमान को चतुर्दशी के पश्चात् अमावास्या के दिन ही वह प्रयश्चित्तरूप नैमित्तिक कर्म पूरा करके उसी दिन वेदि-करणादि अङ्ग कर्मों का सम्पादन करना चाहिए और प्रतिपदा के दिन नियत दर्श कर्म का अनुष्ठान करना होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

विष्णवे शिपिविष्टाय श्रुते चरुमिति । तत्र सन्देहः—किं कालापराधे यागान्तरमिदं चोद्यते उत तेष्वेव कर्मसु प्रकृतेषु कालापराधे निमित्ते देवतापनय इति । एष तावदत्र विषयः - अमावास्यायामेव दर्शकर्मार्थं वेदिक्रियाग्निप्रणयनक्रिया व्रतादिश्च यजमानसंस्कारः, वध्यर्थश्च दोहः, प्रतिपदि च दर्शकर्मप्रवृत्तिरित्यनुष्ठानक्रमस्तात्त्विकः । यस्य तु यजमानस्य कुतश्चिद् भ्रमनिबन्धनाच्चतुर्दश्यामेवामावास्यामुद्दो प्रवृत्तप्रयोगस्य चन्द्रमा अभ्युदीयते । तत्रेदं श्रूयते— यस्य हविर्निरुप्तमिति, तेन यजमानेनाभ्युदितेनामावास्यायामेव निमित्ताधिकारं परिसमाप्य पुनस्तदहरेव वेद्युद्धरणादिकर्म कृत्वा प्रतिपदि दर्शः प्रवर्त्तयितव्यः । तत्राभ्युदये किं नैमित्तिकमिदं कर्मान्तरं दर्शाच्चोद्यते उत तस्मिन्नेव दर्शकर्मणि पूर्वदेवतापनयनेन देवतान्तरं विधीयत इति । तत्र हविर्भागमात्रश्रवणाच्चरुविधानसामर्थ्याच्च कर्मान्तरम् । यदि हि पूर्वदेवताभ्यो हवींषि विभजेदिति श्रूयेत ततस्तान्येव हवींषि देवतान्तरेण युज्यमानानि न कर्मान्तरं गमयितुमर्हन्ति, किन्तु प्रकृतमेव कर्म तद्धविष्कमपनीतपूर्वदेवताकं देवतान्तरयुक्तं स्यात् । अत्र पुनस्त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति हविष एव मध्यमादिक्रमेण विभागश्रवणात् । अनपनीता हविषि पूर्वदेवता इति पूर्वदेवतावरुद्धे हविषि देवतान्तरमलब्धावकाशं श्रूयमाणं कर्मान्तरमेव गोचरयेत् । अपि च प्राप्ते पूर्वस्मिन् कर्मणि दध्नस्तण्डुलानां पयसस्तण्डुलानां चेन्द्रादिदेवतासम्बन्धश्च विधातव्यः । चरुत्वं चात्र विहितं नास्तीति तदपि विधातव्यम् । तथा च प्राप्ते कर्मणि अनेकगुणविधानात् वाक्यं भिद्येत । कर्मान्तरं त्वपूर्वं शक्यमेकेनैव प्रयत्नेनानेकगुणविशिष्टं विधातुमिति निमित्ते कर्मान्तरमेव विधीयते । दर्शस्तु लुप्यते कालापराधादिति प्राप्ते ।

भामती—व्याख्या

**संशय**—क्या कालातिपातनिमित्तक विहित यह कर्म दर्श की अपेक्षा भिन्न कर्म है ? अथवा उसी दर्श कर्म में काल-व्यत्यय-प्रयुक्त केवल पूर्व देवता का अपनय और देवतान्तर का विधान किया जाता है ?

**पूर्वपक्ष**—"अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्यात्" (जै. सू. ६।५।१) अर्थात् हवि के त्रेधाकरणरूप विभागमात्र का श्रवण एवं चरु-विधान के सामर्थ्य से कर्मान्तर का विधान सिद्ध होता है। यदि कर्मगत अग्न्यादि देवताओं के लिए ही हवि का विभाग श्रुत होता, तब उन्हीं हविद्रव्यों का केवल अन्य देवताओं से सम्बन्धमात्र हो जाता, कर्मान्तर के विधान का अवसर नहीं था किन्तु वही प्रक्रान्त कर्म उसी हवि से युक्त है, जिस हवि से पूर्व देवता का अपनयन और देवतान्तर का सम्बन्ध किया । त्रेधा 'तण्डुलान् विभजेत्'—यहाँ केवल हवि का ही मध्यमादि क्रम से विभाग श्रुत है, पूर्व देवता अपनयन नहीं किया गया, अतः पूर्व देवता से अवरुद्ध हवि में अन्य देवता प्रवेश न पाकर कर्मान्तर का कल्पक होगा।

दूसरी बात यह भी है कि प्राप्त पूर्व कर्म में ही दधि-युक्त तण्डुल, दुग्ध-युक्त तण्डुल और इन्द्रादि देवताओं के सम्बन्ध का विधान करना होगा। चरुत्व भी यहाँ विहित नहीं, अतः उसका भी विधान करना है—इस प्रकार प्राप्त एक कर्म के उद्देश्य से अनेक पदार्थों का विधान मानने पर वाक्य-भेद प्रसक्त होता है। कर्मान्तर का विधान जब माना जाता है, तब तो अनेक गुणों से युक्त भावना का विधान एक ही यत्न (विधि-व्यापार) से किया जा सकता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

"प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥" (तं. वा. पृ. ४८५)

फलतः काल-व्यत्ययरूप निमित्त को लेकर दर्श से भिन्न कर्म का विधान मानना उचित है और 'दर्श' कर्म का लोप हो जाना भी न्याय-प्राप्त है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

उच्यते—न कर्मान्तरम्। पूर्वदेवतातो हविषो विभागपूर्वं निमित्ते देवतान्तरविधानात्। चर्वर्थस्य चार्थप्राप्तेः। भवेदेतदेवं यदा त्रेधा तण्डुलान् विभजेदिति तण्डुलानां त्रेधा विभागविधानपरमेतद्वाक्यं स्यादपि तु वाक्यान्तरप्राप्तन्तण्डुलानां त्रेधात्वमनूद्य विभजेदित्येतावद्विधत्ते। तत्र वाक्यान्तरालोचनया पूर्वदेवताभ्य इति गम्यते। तण्डुलानिति त्वविवक्षितं हविरुभयत्ववत्तथा च ये मध्यमा इत्यादीनि वाक्यान्यपनीते पूर्वदेवतासम्बन्धे हविषस्तस्मिन्नेव कर्मणि अप्रत्यूहं देवतान्तरसम्बन्धं विधातुं शक्नुवन्ति। तथाच द्रव्यमुखेन प्रकृतकर्मप्रत्यभिज्ञानात् देवतान्तरसम्बन्धेऽपि न कर्मान्तरकल्पना भवितुमर्हति। ततश्च समाप्तेऽपि नैमित्तिकाधिकारे नित्याधिकारसिद्ध्यर्थं तान्येव पुनः कर्मण्यनुष्ठेयानि। न च दधनि चरुमिति चरुसप्तम्यर्थयोर्विधानं, तयोरप्यर्थप्राप्तत्वात्। प्रकृते हि कर्मणि तण्डुलपेषणप्रथनपुरोडाशपाकादि दधिपयसी च प्राप्तानि। तत्राभ्युदयनिमित्ते दधियुक्तानां पयोयुक्तानाञ्च तण्डुलानां

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—"अपनयो वा विद्यमानत्वात्" ( जै. सू. ६।५।२ ) कर्मान्तर का विधान सम्भव नहीं, केवल पूर्व देवता से उप्त हवि का सम्बन्ध तोड़कर देवतान्तर से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। चरुरूप अर्थ का भी विधान अपेक्षित नहीं, क्योंकि तण्डुलों को दधि में पकाना जब विहित है, तब तण्डुलों का पककर चरु बन जाना अर्थ-प्राप्त है, जैसा कि शबर स्वामी ने कहा है—"ये स्थविष्ठास्तेषां दधिसहितानामिन्द्रो देवताऽस्मिन् वाक्ये विधीयते। तत्रार्थप्राप्ता श्रपणे सति चरुता" ( शाबर. पृ. १४६० )। यदि 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्'—यह वाक्य हवि-विभाग-विधानपरक होता, तब अवश्य ही वाक्य-भेद की प्रसक्ति होती, किन्तु 'ये मध्यमाः'—इस वाक्य के द्वारा प्राप्त तण्डुल-त्रेधाकरण का अनुवाद करके 'विभजेत्'—इस वाक्य के द्वारा केवल विभाग का विधान किया जाता है। वह विभाग किससे विवक्षित है? इस प्रश्न का पूर्वापर की आलोचना करने पर यही उत्तर प्राप्त होता है कि पूर्व-प्राप्त अग्न्यादि देवताओं से हवि का विभाग ( सम्बन्ध-विच्छेद ) कर देना चाहिए। 'तण्डुलान् विभजेत्'—इस वाक्य में तण्डुल वैसे ही अविवक्षित हैं, जैसे "यस्योभयं हविरार्तिमार्छेद् ऐन्द्रं पञ्चशराबमोदनं निर्वपेत्" ( तै. ब्रा. ३।७।१।७ ) यहां पर हविर्गत उभयत्व अविवक्षित है, जैसा कि छठे अध्याय में कुमारिलभट्ट ने कहा है—"तस्मादुभयपदं निमित्तकर्त्तव्यतावचनेन नापेक्षितं न नैमित्तकेनातोऽविवक्षितम्" ( टुप्. पृ. १४४० ) [ अर्थात् दर्शगत समस्त हवि का नाश होने पर प्रत्यक्षतः कथित हवि-द्वय का नाश स्वतः प्राप्त है, अतः उभयत्व अविवक्षित है ]। जब कथित हवि के साथ पूर्वतन अग्न्यादि देवताओं का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब मध्यमादि वाक्य उसी दर्श कर्म में ही उस हवि के साथ अन्य देवताओं के सम्बन्ध का विधान कर सकते हैं। द्रव्य के माध्यम से प्रत्यभिज्ञात कर्मकी एकता देवतान्तर का सम्बन्ध हो जाने पर भी भङ्ग नहीं हो सकती, अतः काल-व्यत्ययरूप निमित्त को लेकर विहित प्रायश्चित्तरूप कर्म का अनुष्ठान अमावास्या में सम्पन्न हो जाने पर प्रतिपदा के दिन से ही दर्शगत आग्नेयादि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

उक्त वाक्य में दधन् का अर्थ है—दधनि ( सप्तम्यर्थरूप अधिकरणत्व ) और चरु का भी विधान अभिमत नहीं, क्योंकि उनकी भी अर्थतः प्राप्ति ही है, क्योंकि—'व्रीहीनवहन्ति', 'तण्डुलान् पिनष्टि', 'पुरोडाशं प्रथयति'—इत्यादि वाक्यों के आधार पर निर्मित पुरोडाश एवं सान्नाय ( दधि तथा दुग्ध ) ये सभी द्रव्य प्राप्त हैं। अभ्युदयनिमित्तक दधि-युक्त एवं दुग्ध-युक्त तण्डुल का 'विभजेत्'—इस वाक्य के अनुरोध पर पूर्व देवताओं से विभाग करके 'ये मध्यमाः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा अन्य देवताओं से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kya Vaidya Nath Institute.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः। तथेहाप्युपक्रमभेदाद्विद्याभेदः। परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १।९।१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति परोवरीयस्त्वगु-

भामती

विभजेदिति वाक्येन पूर्वं देवतापनयं कृत्वा ये मध्यमा इत्यादिभिर्वाक्यान्तरैर्देवतान्तरसम्बन्धः कृतः। न च प्रभूतदधिपयःसंयुक्तैरल्पैस्तण्डुलैः पुरोडाशक्रिया सम्भवति इति पुरोडाशनिवृत्तौ तदर्थस्य प्रथनस्यापि निवृत्तिः, अनिवृत्तस्तु पाकोऽपवादाभावात्तथा चार्थप्राप्तावेव चरुसप्तम्यर्थावनूद्येते इति न प्राप्ते कर्मणि अनेकगुणविधानम्, अपि तु तस्यैव कर्मणो नैमित्तिके देवताऽपनये प्रयोगश्चोद्यते। भवतु वा अनेकवाक्यकल्पनम्। प्रकृताधिकारावगमबलादस्यापि न्याय्यत्वादिति। तस्मात्तदेवेदं कर्म न तु कर्मान्तरमिति सिद्धं, पशुकामवाक्ये त्वपूर्वकर्मविधिरभ्युदयवाक्यसारूप्येऽपि यः पशुकामः स्यात्सोऽमावास्यायामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्य्यात्, ये स्थविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्। ये क्षोदिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुमिति। अत्र हि अमावास्यायामिष्ट्वेति समाप्ते यागे पशुकामेष्टिविधानम्, तेनात्र पूर्वस्य कर्मणोऽननुवृत्तेर्यागान्तरविधिरिति युक्तम्। परोवरीयस्त्वादिवत्, यथोद्गीथोपासनासाम्येऽपि आदित्यगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनातः परो-

भामती—व्याख्या

तीन से अधिक गौओं का दोहन विहित है, अतः प्रचुर दूध और दधि में थोड़े से चावल डाल देने पर पुरोडाश तो बन नहीं सकता, अतः पुरोडाश की निवृत्ति के साथ पुरोडाश के प्रथन (फुलाना) और पाक की भी निवृत्ति हो जाती है। तण्डुल-पाक की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि उसका कोई बाधक नहीं, अतः तण्डुल को पका देने पर चरु (भात) अपने-आप निष्पन्न हो जाता है। चरु और सप्तम्यर्थ अधिकरणता—इन दोनों का अनुवादमात्र किया जाता है, विधान नहीं, फलतः प्राप्त कर्म के उद्देश्य से अनेक गुणों का विधान न होने के कारण वाक्य-भेद प्रसक्त नहीं होता। उसी दर्श कर्म के अन्तर्गत काल-व्यत्यय-प्रयुक्त प्रयोग विशेष में देवता का अपनयन मात्र किया जाता है।

यदि अनेक साधनों का विधान करने से वाक्य-भेद की कल्पना करनी ही पड़ती है, तब भी कोई क्षति नहीं, क्योंकि दर्शपूर्णमास कर्म का प्रकरण कर्म-भेद नहीं होने देगा ] एक कर्म में अनेक साधनों का विधान करने पर वाक्य-भेद न्याय-संगत है। इससे यह सिद्ध हो गया कि दर्श कर्म से भिन्न और किसी कर्म का विधान नहीं किया जाता।

भाष्यकार ने जो कहा है—"पशुकामवाक्ये तु यागविधिः"। उसका आशय यह है कि यद्यपि पशुकाम-वाक्य भी अभ्युदयेष्टि-वाक्य के समान ही है, तथापि वहाँ कर्मैकता नहीं, कर्मान्तरता है, क्योंकि "यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यायामिष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात्। ये स्थविष्ठास्तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्, ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्, ये क्षोदिष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधन् चरुम्"। यहाँ 'अमावास्यायामिष्ट्वा'—इस वाक्य के द्वारा पूर्व याग के समाप्त हो जाने पर पशुकामेष्टि का विधान किया गया है, अतः पूर्व कर्म की अनुवृत्ति विच्छिन्न हो जाने के कारण यागान्तर का विधान युक्ति-युक्त है।

"परोवरीयस्त्वादिवत्"। अर्थात् जैसे उद्गीथ की उपासना समान होने पर भी आदित्यगत हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुणों से विशिष्ट उद्गीथ की उपासना से परोवरीयस्त्वरूप गुण से विशिष्ट उद्गीथ की उपासना भिन्न मानी जाती है। वैसे ही प्रक्रान्त विधाओं का भेद है। "सैष परोवरीयानुद्गीथः" (छा. १।९।२) यहाँ पर 'परस्मात् परश्च वराच्च

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम्। न चेतरेतरगुणोपसंहार एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवंजातीयकेषूपासनेष्विति ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

अथोच्येत—संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीथविद्येत्युभयत्राप्येका संज्ञेति—तदपि नोपपद्यते, उक्तं ह्येतत्—'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' ( ब्र० सू० ३।३।७ ) इति। तदेव चात्र न्याय्यतरम्, श्रुत्यक्षरानुगतं हि, तत्संज्ञैकत्वं तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौकिकैरन्यैर्बहुतृणभिरुपचर्यते। अस्ति चैतत्संज्ञैकत्वं प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गीथविद्येति। तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां काठकैकग्रन्थपरिपठितानां काठकसंज्ञैकत्वं दृश्यते, तथेहापि भविष्यति। यत्र तु नास्ति कश्चिदेवंजातीयको भेदहेतुस्तत्र भवतु संज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वं—यथा संवर्गविद्यादिषु ॥ ८ ॥

---

## ( ४ व्याप्त्यधिकरणम् । सू. ९ )

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ( छा० १।१।१ ) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात् कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः। तत्राध्यासो नाम—द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवा-

भामती

वरीयस्त्वगुणविशिष्टोद्गीथोपासना भिन्ना तद्वदिदमपीति। परस्मात् परश्च वराच्च वरीयानिति परोवरीयानुद्गीथः परमात्मरूपः सम्पन्नः। अत एव अनन्तः परमात्मदृष्टिमुद्गीथे भावयितुमाकाशो ह्येवेभ्यो भूतेभ्यो ज्यायानित्याकाशशब्देन परमात्मानं निर्दिशति ॥ ७ ॥

स्फुटतरे भेदावगमे सञ्ज्ञैकत्वं नाभेदसाधनमतिप्रसङ्गापातात्। अपिच, श्रुत्यक्षरालोचनया भेदप्रत्ययोऽन्तरङ्गश्चानपेक्षश्च। संज्ञैकत्वन्तु श्रुतिबाह्यतया बहिरङ्गञ्च पौरुषेयतया सापेक्षञ्च। तस्माद् दुर्बलं नाभेदसाधनायालमिति ॥ ८ ॥

— —

* अध्यासो नाम इति *। गौणी बुद्धिरध्यासः। यथा माणवकेऽनिवृत्तायामेव माणवकबुद्धिर्य-

भामती—व्याख्या

वरीयान्'—इस अर्थ में परोवरीयान्'—यह एक शब्द सम्पन्न हुआ है, अत एव वह अनन्त है। उद्गीथ में परमात्मदृष्टि की भावना करने के लिए 'आकाशो ह्येवेभ्यो भूतेभ्य ज्यायान्" ( छा. १।९।१ ) यहाँ आकाश शब्द से परमात्मा का ही निर्देश किया गया है ॥ ७ ॥

जब दोनों उद्गीथोपासनाओं का भेद स्फुटतर है, तब 'उद्गीथोपासना'—इस प्रकार की संज्ञा का ऐक्य उन में अभेद सिद्ध नहीं कर सकता, अन्यथा काठकादि संज्ञाओं की एकता से सभी विद्याए अभिन्न हो जाएँगी। दूसरी बात यह भी है कि श्रुत्यक्षरों की आलोचना करने पर दोनों उपासनाओं में भेद की प्रतीति अन्तरङ्ग और निरपेक्ष सिद्ध होती है, संज्ञा की एकता बहिरङ्ग एवं पुरुष-सापेक्ष ( पौरुषेयी ) है, अतः दुर्बल होने के कारण संज्ञा की एकता भेद-साधन में सक्षम नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

---

विषय—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा. १।१।१) यहाँ अक्षर और उद्गीथ

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि । यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्तत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते । यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः । एवमिहाप्यक्षर उद्गीथबुद्धिरध्यस्येत, उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति । अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति । यथा देहेन्द्रियसंघाते आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्ध्या पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्त्यते । यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते । एवमिहाप्यक्षरबुद्ध्योद्गीथबुद्धिर्निवर्त्येत, उद्गीथबुद्ध्या वाऽक्षरबुद्धिरिति । एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम्-यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति ।

विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्ग औद्गात्रविशेषस्य समर्पणम् । यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति । एवमिहाप्युद्गीथो य ओंकारस्तमुपासीतेति । एवमेतस्मिन् सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमान एते पक्षाः प्रतिभान्ति, तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धारण · प्राप्ताविदमुच्यते - व्याप्तं च समञ्जसमिति ।

भामती

पदेशवृत्तौ सिंहबुद्धिव्यपदेशप्रवृत्तिः सिंहो माणवक इति । एवं प्रतिमायां वासुदेवबुद्धिर्नाम्नि च ब्रह्मबुद्धिस्तथोङ्कार उद्गीथबुद्धिव्यपदेशाविति । अपवादैकत्वविशेषणानि चोक्तानि । ऐकार्थेऽपि च शब्दद्वयप्रयोगो दृश्यते । यथा वैश्वदेव्यामिक्षा विज्ञानमानन्दम् । व्याख्यायाञ्च पर्य्यायाणामपि सहप्रयोगो यथा सिन्धुरः करी, पिकः कोकिल इति विमृश्यानध्यवसायलक्षणं पक्षं गृह्णाति ❀ तत्रान्यतमः इति ❀ ।

भामती—व्याख्या

शब्द का जो सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है, वह लोक में चार प्रकार का देखा जाता है—(१) अध्यास-सामानाधिकरण्य, (२) अपवाद-सामानाधिकरण्य ( बाधसामानाधिकरण्य ), (३) अभेद-सामानाधिकरण्य और (४) विशेषण-विशेष्य-सामानाधिकरण्य ।

(१) **अध्यास-सामानाधिकरण्य**—यहाँ गौणी बुद्धि का नाम अध्यास है, जैसे माणवक में माणवक-बुद्धि के निवृत्त न होने पर ही सिंह-बुद्धि और 'सिंह' शब्द का प्रयोग होता है—'सिंहो माणवकः' । इसी प्रकार पाषाणादि की प्रतिमा में वासुदेव की बुद्धि, नाम में ब्रह्म-बुद्धि तथा ओंकार में उद्गीथ-बुद्धि और 'उद्गीथ' शब्द का प्रयोग भी अध्यास का उदाहरण है ।

(२) **अपवाद-सामानाधिकरण्य**—पूर्वतन मिथ्या ( शरीरादि में आत्मा ) बुद्धि की निवर्तिका यथार्थ बुद्धि का उदय होना—'तत्त्वमसि' ।

(३) **अभेद-सामानाधिकरण्य**—अक्षर और उद्गीथ शब्दों का एक अर्थ में प्रवृत्त होना—'अक्षरमुद्गीथमुपासीत' । एकार्थक शब्दों का भी सह-प्रयोग देखा जाता है, जैसे—'सिन्धुरः करी' ( हस्ती ) इत्यादि ।

(४) **विशेषण-सामानाधिकरण्य**—सामान्य ओम् की व्यावृत्ति के लिए "औद्गात्र विशेषण लगाया, उस से उद्गीथ भाग के अवयवभूत ओंकार का ही ग्रहण होता है ।

**संशय**—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्"—यहां सामानाधिकरण्य का प्रकार-विशेष क्या निश्चित नहीं ? अथवा निश्चित है ।

**पूर्वपक्ष**—"तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धारणम्" । अर्थात् विशेष प्रकार का विनिगमक प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण निश्चय सम्भव नहीं ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षाः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते । विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते । तत्राभ्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत । श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति चेत्—न, तस्यान्यफलत्वात् । आप्त्यादिदृष्टिफलं हि तन्नोद्गीथाभ्यासफलम् । अपवादेऽपि समानः फलाभावः । मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत्—न; पुरुषार्थोपयोगानवगमात् । नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धिर्निवर्तते, उद्गीथाद्योद्गीथबुद्धिः । न चेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्; उपासनाविधिपरत्वात् । नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात्; एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात् । नच हौत्रविषय आध्वर्यवविषये वाऽक्षर ओंकारशब्दवाच्य उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति । नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्तार्थता स्यात् । परिशेषाद् विशेषणपक्षः परिगृह्यते, व्याप्तेः सर्ववेदसाधारण्यात् । सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रसङ्क्षीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षरं विशेष्यते । कथं नाम ? उद्गीथा-

भामती

सिद्धान्तमाह ❀ इदमुच्यते व्याप्तेश्च ❀ । प्रत्यनुवाकम्प्रत्यृचमुपक्रमे च समाप्तौ चोंकारः सर्ववेदव्यापीति किङ्कृतोऽयमोंकारस्तत्तदाप्त्यादिगुणविशिष्टस्तस्मै तस्मै कामावाप्त्यादिफलायोपास्यत्वेनाधिक्रियत इत्यपेक्षायामुद्गीथ इति विशिष्यते । उद्गीथपदेनोंकाराद्यवयवश्चटितसामभक्तिभेदाभिधायिना समुदायस्यावयवभावानुपपत्तेस्तत्सम्बन्ध्यवयव ओंकारो लक्ष्यते, न पुनरोंकारेणावयविन उद्गीथस्य लक्षणा । ओंकारस्यैवोपरिष्टात्तु तत्तद्गुणविशिष्टस्य तत्तत्फलविशिष्टस्य चोपव्याख्यास्यमानत्वात् । दृष्टश्च समुदायशब्दोऽवयवे लक्षणया यथा ग्रामो दग्धः पटो दग्ध इति तदेकदेशदाहे । अध्यासे तु लक्षणा फलकल्पना च । तथा ह्याप्त्यादिगुणकप्रणवोपासनादिदमुद्गीथोपासनं प्रणवस्यान्यत् । न चात्राप्त्यादि उपासनेष्विव फलं श्रूयते, तस्मात् कल्पनीयम् । उद्गीथसम्बन्धिप्रणवोपासनाधिकारपरे परमार्थेन नायं दोषः । अपि च गौण्या वृत्तेर्लक्षणावृत्तिर्बलीयसी लाघवात् । लक्षणायां हि लक्षणीयपरत्वं पदस्य तस्यैव वाक्या-

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त**—"इदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसम्" । यजुर्वेद में प्रत्येक अनुवाक के ऋग्वेद और सामवेद की प्रत्येक ऋचा के आदि-अन्त में ओंकार का उच्चारण किया जाता है, अतः ओंकार सर्ववेद-व्यापी है । तब किस ओंकार की तत्तत्कामना से उपासना की जाय ? ऐसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए कहा गया है—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्" । 'ओम्' एक अक्षर हैं किन्तु 'उद्गीथ' पद के द्वारा साम का वह भागविशेष है, जो कि ओंकार घटित कई पदों का समुदाय है, अतः उक्त सोमानाधिकरण्य का निर्वाह करने के लिए 'उद्गीथ' पद की लक्षणा ओंकाररूप एक अवयव में की जाती है । ओंकाररूप अवयव के द्वारा उद्गीथरूप अवयवी में लक्षणा नहीं की जा सकती, क्योंकि आगे चल कर तत्तद्गुणों से विशिष्ट ओंकार की ही उपासना का विधान किया गया है । समुदाय-वाचक शब्द की अवयव में लक्षणा सुप्रसिद्ध है, जैसे किसी ग्राममें कुछ घरों के ही दग्ध होने पर 'ग्रामो दग्धः' पट का कुछ भाग जलने पर 'पटो दग्धः'—ऐसा व्यवहार होता है ।

अध्यास में तो लक्षणा भी होती है और कल्पना भी, जैसे कि आप्त्यादि गुण-विशिष्ट प्रणव की उपासना से यह प्रणव की उद्गीथोपासना भिन्न है । आप्त्यादि उपासनाओं में जैसे फल श्रुत है, वैसे यहाँ नहीं, अतः कल्पनीय है । वैसा दोष उद्गीथ-सम्बन्धी प्रणव की उपासना में नहीं । दूसरी बात यह भी है कि गौणी वृत्ति से लक्षणा वृत्ति लघुभूत होने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वयवभूत ओंकारो गृह्यते इति । नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणाः उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात् । सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवत एव । अभ्यासपक्षे ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा विशेषणपक्षे त्ववयवविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा, समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु । अतश्च व्याप्तेर्हेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद् विशेषणमिति समञ्जसमेतत्, निरवद्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

---

## ( ५ सर्वाभेदाधिकरणम् । सू० १० )

### सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

वाजिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमु-

---

भामती

पैऽन्तर्भावात् । यथा गङ्गायां घोष इति लक्ष्यमाणस्य तीरस्य वाक्यार्थेऽन्तर्भावोऽधिकरणतया । गौर्वाहीक इत्यत्र तु गोसम्बन्धितिष्ठन्मूत्रपुरीषादिलक्षणया न तत्परत्वं गोशब्दस्य, अपितु तत्कक्षाव्यवहिततद्गुणयुक्तवाहीकपरत्वमिति गौण्या वृत्तेर्गौरवाद् दुर्बलत्वं तदिदमुक्तं ❀ लक्षणायामपि तु इति ❀ । गौण्यपि वृत्तिर्लक्षणावयवत्वाल्लक्षणोक्ता । यद्यपि वैश्वदेवीपदमामिक्षायाम्प्रवर्त्तते, तथाप्यर्थभेदः स्फुटतरः । आमिक्षापदं हि रूपेणामिक्षायाम्प्रवर्त्तते । वैश्वदेवीपदन्तु तस्यामेव विश्वदेवविशिष्टायाम । एवं हि विज्ञानानन्दयोरपि स्फुटतरः प्रवृत्तिनिमित्तभेदः सत्यपि ब्रह्मण्येकार्थ्ये । न च व्याख्यानमुभयोरपि प्रसिद्धार्थत्वाद्भिन्नार्थत्वाच्च । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ९ ॥

---

भामती—व्याख्या

कारण प्रबल मानी जाती है, क्योंकि लक्षणा में लक्षक पद लक्षणीयवस्तुपरक इसलिए माना जाता है कि उसी लक्षणीय वस्तु का वाक्यार्थ में अन्तर्भाव होता है, जैसे—'गङ्गायां घोषः'—यहाँ लक्ष्यमाण तीरपदार्थ का ही अधिकरणत्वेन वाक्यार्थ में अन्तर्भाव होता है किन्तु गौणी वृत्ति में 'गौर्वाहीकः' [ चरवाह-जैसे जड़ व्यक्ति बैल ही होते हैं ] इत्यादि-स्थल पर गो-सम्बन्धी खड़े-खड़े मूत्र पुरीषादि का त्याग करना आदि में लक्षणा के द्वारा 'गो' शब्द तत्परक नहीं होता, अपितु उस कोटि से व्यवहित एवं उसके कथित गुणों से युक्त वाहीकपरकत्व का बोधक होता है । फलतः गौणी वृत्ति लक्षणा से दुर्बल होती है, अतः एव भाष्यकार ने कहा है—"लक्षणायामपि तु सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवतः ।" यहाँ गौणी वृति लक्षणा का अवयव होने के कारण लक्षणा कही गई है ।

यद्यपि 'वैश्वदेवी' पद आमिक्षा में प्रवृत्त होता है, तथापि दोनों का अर्थ-भेद अत्यन्त स्फुट है । अर्थात् 'आमिक्षा' पद स्वरूपतः आमिक्षा को कहता है किन्तु "वैश्वदेवी" पद विश्वदेव-विशिष्ट आमिक्षा का बोधक है । इसी प्रकार विज्ञान और आनन्द पदों में प्रवृत्तिनिमित्त का भेद स्फुटतर है, अतः दोनों पद ब्रह्मरूप एक अर्थ में 'विज्ञानमानन्दम्'—इस प्रकार सामानाधिकरण्येन प्रवृत्त हैं, तथापि अभेद-सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं । सभी पर्याय-वाचक शब्दों का सहप्रयोग नहीं होता, अपितु 'सिन्धुः करी' इस प्रकार कतिपय व्याख्यान-व्याख्येयरूपेण अवस्थित पदार्थों का ही होता है । विज्ञान और आनन्द दोनों पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, अतः कोई भी एक दूसरे का व्याख्यान नहीं हो सकता, परिशेषतः उद्गीथ और ओंकार का विशेषण-विशेष्यभाव ही युक्ति-युक्त ठहरता है ॥ ९ ॥

---

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्तम्। वागादयोऽपि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—यद्वा अहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ० ६।१।१४) इत्यादिना। अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु अथातो 'निःश्रेयसादानम्' एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (को० २।१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तम्, न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः। तत्र संशयः—किंमम वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति। तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति। कुतः? एवं-शब्दसंयोगात्। 'तथो य एवं विद्वान्प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' (को. २।१४) इति तत्र तत्रैवं शब्देन वेद्यं वस्तु निर्दिश्यते। एवं-शब्दश्च सांनिहित्यावलम्बनो न शाखान्तरपरिपठितमेवंजातीयकं गुणजातं शक्नोति निर्दर्शयितुम्। तस्मात्स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकांक्षत्वान्नेति। एवं प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्निमे गुणाः क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि। कुतः? सर्वाभेदात्। सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते प्राणसंवादादिसारूप्यात्। अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः

भामती

एव शब्दस्य सन्निहितप्रकारभेदपरामर्शित्वात्साक्षाच्छब्दोपस्थापितस्य च सन्निधानात् शाखान्तरगतस्य चानुक्ततया सन्निधानाभावान्न कौषीतकिप्राणसंवाददार्ढ्यं प्राणस्य वसिष्ठत्वादिभिर्गुणैरुपास्यत्वमपि तु ज्येष्ठश्रेष्ठत्वमात्रेणेति पूर्वः पक्षः।

सिद्धान्तस्तु सत्यं सन्निहितं परामृशति एवङ्कारो न तु शब्दोपात्तमात्रं सन्निहितम्, किन्तु यच्छब्दाभिहितार्थनान्तरीयकतया प्राप्तं, तदपि हि बुद्धौ सन्निहितं सन्निहितस्यैव। यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति इत्यव्यभिचरितक्रतुसमन्वयया जुहूपस्थापितः क्रतुः। तस्मादुपास्यफलप्रत्यभिज्ञानात्तदव्यभिचारिणः प्रकारभेदस्येहानुक्तस्यापि बुद्धौ सन्निधानात्प्रकृतपरामर्शिनैवंकारेण परामर्शो युक्त इति सिद्धं,

भामती—व्याख्या

**विषय** वाजसनेयी शाखा (बृहदारण्यक) में वसिष्ठत्वादिगुणसे विशिष्ट प्राण की उपासना श्रुत है—'त्वं तद्वसिष्ठोऽसि" (बृह. ६।१।१४) और छन्दोग शाखा (छान्दोग्य) में भी ऐसा ही विहित है—'त्वं तद्वसिष्ठोऽसि" (छा. ५।१।१३)। कौषीतकी में भी प्राणविद्या प्रतिपादित है—'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (को. उ. २।१४) किन्तु कौषीतकी में वसिष्ठत्व गुण का संकीर्तन नहीं है।

**संशय**—वसिष्ठत्वादि गुण जहाँ श्रुत नहीं, वहाँ भी उनका उपसंहार करना चाहिए? अथवा नहीं?

**पूर्वपक्ष**—"य एवंविद्वान् प्राण निःश्रेयसं विदित्वा" (को. उ. २।१४) इत्यादि-स्थलों पर प्रयुक्त 'एव' शब्द के द्वारा सन्निहित वस्तु का परामर्श किया जाता है। साक्षात् पठित शब्द के द्वारा प्रतिपादित पदार्थ ही सन्निहित माना जाता है। वसिष्ठत्व गुण कौषीतकी में साक्षात् प्रतिपादित नहीं, अतः वहाँ प्राण की उपासना में वसिष्ठत्व गुण का उपसंहार नहीं हो सकता, केवल ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व गुणों का ही उपास्य प्राण के साथ सम्बन्ध होगा।

**सिद्धान्त**—यह सत्य है कि 'एवं' शब्द सन्निहित का परामर्शी होता है, किन्तु केवल साक्षात् पठित शब्द के द्वारा उपस्थापित पदार्थ ही सन्निहित होता है—ऐसा नहीं, अपितु शब्दाभिहित प्राणादि पदार्थ का नान्तरीयक पदार्थ भी बुद्धि में सन्निहित होने के कारण सन्निहित ही माना जाता है, जैसे—"यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति "(तै. सं. ३।५।७।२) यहाँ जुहू के द्वारा याग उपस्थापित है, क्योंकि याग के साथ जुहू का अव्यभिचरित सम्बन्ध है। वैसे ही उपास्य (प्राण) और फल (ज्येष्ठत्वादि की प्राप्ति) दोनों की प्रत्यभिज्ञा होने के

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वचिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन् ? नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय समर्पयतीत्युक्तम् । अत्रोच्यते – यद्यपि कौषीतकिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं गुणजातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनैयिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन तत्संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभिन्नविज्ञानावरुद्धं गुणजातं स्वशाखागताद्विशिष्यते । न चैवं सति श्रुतहानिरश्रुतकल्पना वा भवति । एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र भवन्ति; गुणवतो भेदाभावात् । नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति । यथा च तत्र परिचयविशेषाद्देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते । एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽप्यस्येरन् । तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति ॥ १० ॥

---

## ( ६ आनन्दाद्यधिकरणम् । सू० ११–१३ )

### आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते । तेषु संशयः - किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः, किं वा सर्वे सर्वत्रेति ।

भामती

कौषीतकिब्राह्मणगतेन तावदेवंकारेण शक्यते परान्नष्टुम् । तथाप्यभ्युपेत्यापि ब्रूम इत्याशयवता भाष्यकृतोक्तं ‘तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेये ब्राह्मणगतेनेति श्रुतहानिरिति’ । केवलस्य श्रुतस्य हानिरितरसहितस्य चाश्रुतस्य कल्पना न चेत्यर्थः । अतिरोहितमन्यत् ॥ १० ॥

---

भामती–व्याख्या

कारण प्राण से अव्यभिचरित वसिष्ठत्वादि गुण भी सन्निधापित हैं, अतः उन का परामर्श कौषीतकिगत एवं शब्द के द्वारा हो जाता है। यदि अन्यशाखीय 'एवं' शब्द के द्वारा अन्यशाखीय गुणों का परामर्श न भी माना जाय, तब भी भाष्यकार कहते हैं—"तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेन एवंशब्देन तत् संशब्दितम्" । अर्थात् बृहदारण्यकगत जिस 'एवं' शब्द के द्वारा वसिष्ठत्वादि गुणों का अभिधान किया गया, वही एवं शब्द कौषीतकी में भी है, अतः सभी गुणों का उपसंहार: गुणी में सहज-सिद्ध है। भाष्यकार ने जो कहा है—"न चैवं सति श्रुतहानिरश्रुतकल्पना वा भवति" । वहां केवल ज्येष्ठत्वादि कौषीतकी में श्रुत और वसिष्ठत्वादि अश्रुत हैं, उपसंहार-पक्षमें उनकी हानि नहीं, क्योंकि शाखान्तराधिकरण से यह सिद्ध हो चुका है कि किसी एक शाखा में श्रुत गुण सभी शाखाओं में श्रुत ही माने जाते हैं। शेष भाष्य अत्यन्त स्पष्ट है ॥ १० ॥

---

**प्रयोजन**—गुण दो प्रकार के होते हैं—(१) उपासना के लिए विधीयमान जैसे संयद्वामत्व ( फलोत्पादकत्व) आदि—"एतं संयद्वाम इत्याचक्षते" (छां० ४।१५।२) । (२) ज्ञेय ब्रह्म के वास्तविक गुण, जैसे आनन्दादि—'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" ( बृह० उ० ३।९।२८) । इन दोनों प्रकार के गुणों का अन्तर बताने के लिए इस अधिकरण की रचना की गई है।

**संशय**—ब्रह्म के आनन्दादि धर्म जहाँ जितने भी प्रतिपादित हैं, उतने ही धर्म वहाँ ब्रह्म के माने जाते हैं ? अथवा सभी धर्मों का सर्वत्र उपसंहार किया जाता है ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः। कस्मात्? सर्वाभेदादेव। सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते। तस्मात्सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां, तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥ ११ ॥

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र संकीर्येरन्। तथा हि—तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। अत उत्तरं पठति—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः। यत्कारणं-प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते। उपचयापचयौ च सति भेदे संभवतः, निर्भेदं तु ब्रह्म

भामती

गुणवदुपासनाविधानस्य वास्तवगुणाख्यानाद्विवेकार्थमिदमधिकरणम्। यथैकस्य ब्रह्मणः संयद्वामत्वादयः सत्यकामादयश्च गुणा न सङ्कीर्यन्ते, एवमानन्दविज्ञानत्वादयो विभुत्वनित्यत्वादिभिर्गुणैः प्रदेशान्तरोक्तैर्न सङ्कीर्येरन्। तत्सङ्करे वा संयद्वामत्वादयोऽपि सत्यकामादिभिः सङ्कीर्येरन्। नहि ब्रह्मणो धर्मिणः तत्त्वे कश्चिद्विशेष इति पूर्वः पक्षः।

राद्धान्तस्तु वास्तवविधेययोर्वस्तुधर्मतया चानुष्ठेयतया चाव्यवस्थाव्यवस्थे व्यवतिष्ठेते। वस्तुधर्मो हि यावद्वस्तु व्यवतिष्ठते। नासावेकत्रोक्तोऽन्यत्रानुक्तो नास्तीति शक्यं वक्तुम्। विधेयस्तु पुरुषप्रयत्नतन्त्रः। पुरुषप्रयत्नश्च यत्र यावद् गुणविशिष्टे ब्रह्मणि चोदितः स तावत्येवावतिष्ठते नाविहितमपि गुणं गोचरीकर्तुमर्हति, तस्य विधितन्त्रत्वाद्विषेश्च व्यवस्थानात्। तस्मादानन्दविज्ञानादयो ब्रह्मतत्त्वात्मतयोक्ता यत्र यत्र ब्रह्म श्रूयते तत्र तत्रानुक्ता अपि लभ्यन्ते। संयद्वामादयश्चोपासनाप्रयत्नविधिविषया यथाविध्यवतिष्ठन्ते न तु यथावस्त्विति सिद्धम्। प्रियशिरस्त्वादीनां तूपास्यत्वमारोप्य न्यायो दर्शितः।

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—जैसे एक ही ब्रह्म के संयद्वामत्वादि और सत्यकामादि गुण सर्वत्र उपसंहृत नहीं होते, वैसे ही आनन्दत्व विज्ञानत्वादि धर्म विभुत्व, नित्यत्वादि गुणों के साथ संकीर्ण नहीं होवे। यदि आनन्दत्वादि का सांकर्य माना जाता है, तब संयद्वामत्वादि धर्म भी सत्यकामादि के साथ मिल जाएँगे, क्योंकि ब्रह्मरूप धर्मी सर्वत्र एक है।

**सिद्धान्त**—आनन्दत्वादि वास्तविक धर्म वस्तु के अत एव अव्यवस्थित होते हैं। इसके विपरीत संयद्वामत्वादि विधेय धर्म अनुष्ठेय अत एव व्यवस्थित होते हैं। वस्तु के धर्म यावद्वस्तुभावी और सर्वत्रग होते हैं, क्योंकि ये धर्म एकत्र उक्त और अन्यत्र अनुक्त होने के कारण अन्यत्र असत् होते हैं ऐसा नहीं कह सकते। विधीयमान धर्म पुरुष-प्रयत्न-सापेक्ष होते हैं, पुरुष अपने यत्न से जहाँ जितने गुणों का विधान करता है, वे गुण वहाँ पर ही व्यवस्थित रहते हैं, अविहित गुणों को उक्त प्रयत्न विषय नहीं कर सकता, क्योंकि विहित गुण विधि के अधीन होते हैं, विधि व्यवस्थित होती है। इसलिए आनन्दत्व, विज्ञानत्वादि ब्रह्मात्मतया कथित हैं, ब्रह्म जहाँ-जहाँ श्रुत है, वहाँ-वहाँ वे उक्त न होनेपर भी प्राप्त हो जाते हैं किन्तु संयद्वामत्वादि गुण उपासन-विधि के अधीन हैं, जहाँ विधि है, वहाँ ही व्यवस्थित रहेंगे, सर्वत्रग नहीं हो सकते।

प्रियशिरस्त्व आदि में उपास्यत्व का आरोप करके व्यवस्थितविषयता दिखाई है,

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एकमेवाद्वितीयम्' ( छा० ६।२।१ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः। न चैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र। अपि च परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनते परिकल्प्यन्ते, न द्रष्टव्यत्वेन। एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम्। ब्रह्मधर्मास्त्वेतान् कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं—प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च। तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे, प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति, नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः। यथा च· द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते—छत्रेणान्या चामरेणान्या, तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवति, एवमिहापीति। उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते, न निर्गुणे परस्मिन् ब्रह्मणि। अतो न सत्यकामत्वादीनां धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यम्, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥ १३ ॥

---

( ७ अध्यानाधिकरणम् । सू० १४–१५ )

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' ( क० ३।१० ) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' ( क० ३।११ ) इति। तत्र संशयः—किमिमे सर्वे पदार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्त

भामती

तस्य तु विषय संयद्वामादिरुक्तः। मोदनमात्रं मोदः, प्रमोदः प्रकृष्टो मोदः ताविमौ परस्परापेक्षावुपचयापचयौ ॥ ११–१३ ।

---

❀ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति ❀। किमत्र सर्वेषामेवार्थादीनां परत्वं प्रतिपिपादयिषितम्, आहो पुरुषस्यैव तत्प्रतिपादनार्थं चेतरेषां परत्वप्रतिपादनम्? तत्र प्रत्येकमर्थादिपरत्वप्रतिपादनं श्रुतेः श्रूयमाण-

भामती—व्याख्या

व्यवस्थितविषयता के संयद्वामत्वादि उदाहरण हैं, उनका कथन किया जा चुका है। मोदनमात्र मोद और प्रकृष्ट मोद प्रमोद है, परस्पर की अपेक्षा इन में उत्कर्षापकर्ष होता है, ऐसे धर्मों का ब्रह्म से अव्यभिचरित सम्बन्ध नहीं होता, अत एव वे तत्त्वज्ञान के उपयोगी नहीं माने जाते ॥ ११–१३ ॥

---

विषय—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ (कठो. १।२।१०,११)

संशय—क्या यहां अर्थादि सभी पदार्थों में परत्व विवक्षित है? अथवा केवल पुरुष में परत्व-प्रतिपादन करने के लिए अन्य पदार्थों में परत्व प्रतिपादित है?


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति । तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः । तथा हि श्रूयते—'इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्' इति । ननु बहुष्वर्थेषु वाक्यभेदः स्यात्, नैष दोषः, वाक्यबहुत्वोपपत्तेः—बहून्येव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति बहूनर्थान्परत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम् । तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति युक्तम्, न प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनम् । कस्मात् ? प्रयोजनाभावात् । न हीतरेषु

भामती

तत्परत्वे च सम्भवति न तत्तदतिक्रमे सर्वेषामेकपरत्वाध्यवसानं न्याय्यम् । न च प्रयोजनाभावादसम्भवः । सर्वेषामेव प्रत्येकं परत्वाभिधानस्याध्यानप्रयोजनत्वात् । तत्तदाध्यानानां च प्रयोजनवत्त्वस्मृतेः । तथाहि स्मृतिः—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते । इति ।

प्रामाणिकस्य वाक्यभेदस्याभ्युपेयत्वात् प्रत्येकं तेषामर्थादीनां परत्वपराण्येतानि वाक्यानीति प्राप्ते, उच्यते—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्येष तावत्सन्दर्भो वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरः प्रतीयते, नाध्यानविधिपरः, तदश्रुतेः । तदत्र यत्प्रत्ययस्य साक्षात्प्रयोजनवत्त्वं दृश्यते तत्प्रत्ययपरत्वं सर्वेषाम् । दृष्टं च

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—अर्थादि प्रत्येक में श्रुति ने परत्व का स्पष्ट प्रतिपादन किया है । उनमें परत्व जब सम्भव है, तब उन सब में प्रतिप्रादित परत्व का अतिक्रमण करके केवल एक पुरुष में सर्वतः परत्व का निश्चय करना उचित नहीं । सभी में परत्व के प्रतिपादन का कोई प्रयोजन नहीं—ऐसा कहना संगत नहीं, क्योंकि अर्थादि के परत्व-ध्यान का प्रयोजन पुराणों में वर्णित है—

दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते ।

[ इन्द्रियादि तत्त्वों की आत्मबुद्धया उपासना करनेवाले मरने के पश्चात् अपने-अपने उपास्य तत्त्व में प्रलीन होकर नियत समय तक पड़े रहते हैं—इन्द्रियों के उपासक दशमन्वन्तर, सूक्ष्मभूतों के उपासक शतसहस्र मन्वन्तर, बुद्धि के उपासक दशसहस्र मन्वन्तर, अव्यक्त ( प्रधान ) के चिन्तक शतसहस्र मन्वन्तर स्थिर रहते हैं और निर्गुण पुरुष को प्राप्त कर सदैव के लिए तद्रूप हो जाते हैं ] । इससे यह स्पष्ट है कि अर्थादि प्रत्येक तत्त्व का परत्व विधीयमान है, इसके लिए वाक्य-भेद भी अभ्युपगत है ।

**सिद्धान्त**—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः"—इत्यादि पूरा सन्दर्भ वस्तुतत्त्व-प्रतिपादन परक ही है, उपासनापरक नहीं, क्योंकि वैसा श्रुत नहीं । फलतः जिस ज्ञान का साक्षात् प्रयोजन प्रतिपादित है, उस ज्ञान के जनन में सभी वाक्यों का पर्यवसान मानना पड़ेगा । विष्णु के परम पद का ज्ञान निखिल प्रपञ्च की करणीभूत अविद्या का उपशामक है, क्योंकि

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परत्वेन प्रतिपन्नेषु किंचित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा। पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्सर्वानर्थव्रातातीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (क० ३।१५) इति। अपि च परप्रतिषेधेन काष्ठाशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति। आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते, न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम्॥ १४॥

आत्मशब्दाच्च॥ १५॥

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः। यत्कारणम् 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ० ३।१२) इति प्रकृतं पुरुषमात्मेत्याह। अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते। तस्यैव च दुर्विज्ञानतां संस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति। तद्विज्ञानायैव 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (कठ० ३।१३) इत्याध्यानं विदधाति। तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र। एवमनेकप्रकार आशयातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते, नेतरेषु।

भामती

विष्णोः परमपदज्ञानस्य निखिलानर्थसंसारकारणाविद्योपशमः। तत्त्वज्ञानोदयस्य विपर्यासोपशमलक्षणत्वेन तत्र तत्र दर्शनात्। अर्थादिपरत्वप्रत्ययस्य तु न दृष्टमस्ति प्रयोजनम्। न च दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पना न्याय्या। न च परमपुरुषार्थहेतुपरत्वे सम्भवति अवान्तरपुरुषार्थतोचिता। तस्माद् दृष्टप्रयोजनवत्त्वात् पुरुषपरत्वप्रतिपादनार्थोऽयं सन्दर्भ इति गम्यते। किञ्चादरादप्ययमेवास्यार्थ इत्याह ❀ अपि च परप्रतिषेधेन इति ❀। नन्वत्राध्यानविधिर्नास्ति तत्कथमुच्यते आध्यानायेत्यत आह ❀आध्यानाय इति❀ ॥१४॥

अनधिगतार्थप्रतिपादनस्वभावत्वात् प्रमाणानां विशेषतश्च आगमस्य पुरुषशब्दवाच्यस्य चात्मनः स्वयं श्रुत्यैव दुरधिगमत्वावधारणात्। वस्तुतश्च दुरधिगमत्वात्। अर्थादीनां च सुगमत्वात् तत्परत्वमेवार्थादिपरत्वाभिधानस्येत्यर्थः। श्रुतेराशयातिशय इवाशयातिशयः। तत्तात्पर्य्यतेति यावत्। किञ्च श्रुत्यन्तरापेक्षिताभिधानादप्येवमेवार्थादिपरत्वे तु स्वरूपेण विवक्षितेनापेक्षितं श्रुतिराचष्टे इत्याह ❀ अपि च

भामती—व्याख्या

विपर्ययोपशामकत्वेन तत्त्वज्ञान का उदय विवक्षित है। इन्द्रियार्थादि-परत्व के ज्ञान का कोई प्रयोजन दृष्ट नहीं। दृष्ट प्रयोजन जब सम्भव है, तब अदृष्ट की कल्पना उचित नहीं। उक्त वाक्य जब परमपुरुषार्थ के हेतु (तत्त्वज्ञान) का प्रतिपादक हो सकता है, तब अवान्तर पुरुषार्थ (उपासना) का अभिधायक नहीं माना जा सकता। परिशेषतः पुरुषतत्त्व को आदर-प्रदान करने से भी यही निश्चित होता है—"अपि च परप्रतिषेधेन"। पुरुषतत्त्व के लिए जो कहा गया है—"सा काष्ठा सा परा गतिः"। इससे पुरुषतत्त्व को विशेष महत्त्व दिया जाना यह सिद्ध करता है कि पूरे खण्डलक का परम तात्पर्य पुरुष-परत्व के प्रतिपादन में ही है। जब यहाँ आध्यान (उपासना) की विधि नहीं, तब सूत्रकार ने "आध्यानाय" ऐसा क्यों कहा? इस शङ्का का समाधान है—"आध्यानायेति आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनाय"। अर्थात् इन्द्रियार्थ-परत्व से आध्यान का परम प्रयोजन पुरुष तत्त्व का दर्शन ही है॥ १४॥

"आत्मशब्दाच्च"—इस सूत्र के द्वारा यह कहा जाता है कि सभी प्रमाणों का विशेषतः शब्द प्रमाण का यह स्वभाव है—'अनधिगतार्थ-प्रकाशन। पुरुषतत्त्व की दुरधिगमता तो स्वयं श्रुति कहती है—"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" (कठो. ३।१२)। इन्द्रियार्थादि पदार्थ दुरधिगम नहीं, सुगम हैं, अतः अर्थादि में परत्वाभिधान का प्रयोजन आत्मतत्त्व की प्रतिपत्ति के लिए ही है। भाष्यकार ने जो कहा है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि च 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' ( क० ३।९ ) इत्युक्ते, किं तदध्वनः पारं, विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात् परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥ १५ ॥

---

## ( ८ आत्मगृहीत्यधिकरणम् । सू० १६-१७ )

### आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति ( ऐ० १।१ ) 'स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' ( ऐ० १।२ ) इत्यादि। तत्र संशयः—किं परं एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत उतान्यः कश्चिदिति। किं तावत्प्राप्तम् ? न परात्मेहात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति। कस्मात् ? वाक्यान्वयदर्शनात्। ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते, 'प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात्, ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च। नेत्युच्यते, लोकसृष्टिवचनात्। परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या, लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते। लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः। तथा चाम्भःप्रभृतींल्लोकत्वेनैव निर्वक्ष्यति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' ( ऐ० १।२ ) इत्यादिना। लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण

---

भामती

सोऽध्वनः पारमाप्नोति इति च ॥ १५ ॥

---

श्रुतिस्मृत्योर्हि लोकसृष्टिः परमेश्वराधिष्ठितापरेश्वरहिरण्यगर्भकर्तृकोपलब्धा सेयमिह महाभूतसर्गमनभिधाय प्राथमिकी लोकसृष्टिरुपलभ्यमानावान्तरेश्वरकार्य्या प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणं चावा-

---

भामती—व्याख्या

कि "आशयातिशयः श्रुतेः"। वहाँ श्रुति जड़ पदार्थ है, अतः उसका मुख्य आशय या अभिप्राय सम्भव नहीं, जाशय इव आशयः अर्थात् गौण आशय (तत्परकत्व) या सामर्थ्य विवक्षित है। दूसरी बात यह भी है कि "सोऽध्वनः पारमाप्नोति" (कठो. ३।९) इस प्रकार के श्रुत्यन्तर से अपेक्षित है—'किं तदध्वनः पारम् ?' उसका उत्तर है—'विष्णोः परमं पदम्'। उस परात्पर पद का प्रतिपादन करने के लिए "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः"—यह सन्दर्भ प्रवृत्त हुआ है, इससे यही स्थिर होता है कि पुरुषपरत्व ही विवक्षित है ॥ १५ ॥

---

### [ प्रथम वर्णक ]

**संशय**—"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत्, स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"। "स इमाँल्लोकानसृजत" (ऐ. १।१।२) यहाँ 'आत्मा' शब्द के द्वारा क्या हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया गया है ? अथवा परमेश्वर का ?

**पूर्वपक्ष**—यहाँ भूत-सृष्टि का नहीं, लोक-सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। "आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः" ( बृह. उ. १।४।१ ) इत्यादि श्रुतियों में हिरण्यगर्भ को ही लोक-सृष्टि का कर्त्ता माना है, स्मृतियों में भी ऐसा ही कहा गया है—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्त्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ ( मार्क. ४५।६४ )

अतः परमेश्वरके द्वारा अधिष्ठित हिरण्यगर्भ ही लोक-सृष्टि का कर्त्ता है, अत एव महाभूत-सृष्टि-कर्त्ता का विषय न उठाकर लोक-सृष्टि पर विचार किया जा रहा है। अवान्तर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते। तथा हि श्रुतिर्भवति—'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्याद्या। स्मृतिरपि 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इति। ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते 'रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमामनन्ति। आत्मशब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्यत्र। एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते। ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम्। अपि च 'ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्' इत्येवंजातीयको भूयान् व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते। तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन गृह्यत इतरवत्। यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम्। यथा चेतरस्मिँल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते, तथेहापि भवितुमर्हति। यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १।४।१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते, भवेत्तत्र विशेषवत् आत्मनो ग्रहणम्। अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते—'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' (ऐ० १।१) 'स इमाँल्लोकान्सृजत' (ऐ० १।२) इत्येवमादि। तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम्॥ १६॥

भामती

न्तरेश्वरसम्बन्धितया गमयति। पारमेश्वरसर्गस्य महाभूताकाशादित्वावश्य च तद्वैपरीत्यात्। अस्ति हि तस्यैवैकस्य विकारान्तरापेक्षयाग्रत्वमस्ति ईक्षणम्। अपि चैतस्मिन्नैतरेयके पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकैव लोकसृष्टिरुक्ता। तदनुसारादप्येतदेव विज्ञायते। अपि च ताभ्यो गामानयेत्यादयश्च व्यवहाराः श्रुत्योक्ता विशेषवत्स्वपरमात्मसु प्रसिद्धाः। ततोऽप्यवान्तरेश्वर एव विज्ञायते। आत्मशब्दप्रयोगश्चात्रापि दृष्टस्तस्मादपरात्माभिलापोऽयमिति प्राप्ते।

उच्यते—परमात्मनो गृहीतिरिह यथा इतरेषु सृष्टिश्रवणेषु एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिषु। तस्मादुत्तरात्स ऐक्षतेतीक्षणपूर्वकस्य कर्तृत्वश्रवणादात्मेत्यवधारणाच्च। एतदभिसंहितम्—मुख्यं

भामती—व्याख्या

ईश्वर (हिरण्यगर्भ) ने लोक की उत्पत्ति से पूर्व अपने को अकेला देखकर लोक-रचना के लिए ईक्षण (संकल्प) किया है, अन्य विकार-सृष्टि से अग्र (पहले) लोक-सृष्टि का होना सम्भव है। परमेश्वरकर्तृक भहाभूत-सृष्टि का आरम्भ आकाश से होता है, जो कि लोक-सृष्टि से विलक्षण है।

दूसरी बात यह भी है कि ऐतरेयोपनिषत् के पूर्व प्रकरण में प्रजापतिकर्तृक लोक-सृष्टि प्रतिपादित है—"अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापतेः" (ऐ. १।३।१)। उसके अनुसार भी हिरण्यगर्भ ही यहाँ प्रक्रान्त है। "ताभ्यो गामानयत्" (ऐ. १।२) उत्यादि श्रुति-प्रतिपादित व्यवहार भी शरीरधारी पुरुष ही कर सकता है, इससे भी अवान्तर ईश्वर ही सिद्ध होता है। 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हिरण्यगर्भ में भी होता है—"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः" (बृ.उ.१।४।१)।

**सिद्धान्त**—परमात्मा का ही ग्रहण इतर सृष्टि-वाक्यों में किया गया है—"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" (तै. उ. २।१।१)। जैसे वहाँ आत्मशब्द से परमात्मा का ग्रहण किया गया है, वैसे ही यहाँ भी आत्मशब्द के द्वारा परमेश्वर का ही ग्रहण न्यायोचित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहणमिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति । अत्रोच्यते – स्यादवधारणादिति । भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम् । कस्मात्? अवधारणात् । परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते । अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत्परिकल्पेत । लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि । यथा 'तत्तेजोऽसृजत' ( छा० ६।२।३ ) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेवमिहापि । श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति । योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येषमादिः, सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यः । न ह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो

भामती

तावत् सर्गात् प्राक् केवलत्वमात्मपदत्वं स्रष्टृत्वं च परमेश्वरस्यात्र भवतः । तदसत्यामनुपपत्तौ नान्यत्र व्याख्यातुमुचितम् । न च महाभूतसृष्ट्यनभिधानेन लोकसृष्ट्यभिधानमनुपपत्तिबीजम् , आकाशपूर्विकायां वस्तुतो ब्रह्मणः सृष्टौ यथा क्वचित्तेजःपूर्वकसृष्ट्यभिधानं न विरुध्यते एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इति दर्शनाद् आकाशं वायुं सृष्ट्वेति हि तत्र पूरयितव्यमेवमिहापि महाभूतानि सृष्ट्वेति कल्पनीयम् । सर्वशाखाप्रत्ययत्वेन ज्ञानस्य श्रुतिसिद्धत्वं मश्रुतोपलब्धौ यत्नवता भवितव्यं, न पुनः श्रुते महाभूतादित्वे सर्गस्य शैथिल्यमादरणीयम् । अपि च स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणो वेदराशिरध्ययनविध्यापादितप्रयोजनवदर्थाभिधानो यथा यथा प्रयोजनाधिक्यमाप्नोति तथा तथानुमन्यतेतराम् । यथा चास्य ब्रह्मगोचरत्वे परमपुरुषार्थोपयिकत्व नैवमन्यगोचरत्वे तदिदमुक्तम् ॐ योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमः इति ॐ । न

भामती–व्याख्या

है । सारांश यह है कि सृष्टि के पूर्व एकत्व और आत्मत्व मुख्य रूपसे परमेश्वर में ही रहता है । जब तक कोई विशेष अनुपपत्ति नहीं होती, तब तक उस एकत्व और आत्मत्व का अन्यत्र निरूपण नहीं कर सकते । यह जो अनुपपत्ति दिखाई गई कि महाभूत-सृष्टि का अभिधान न करके लोक-सृष्टि का अभिधान अनुपपन्न हो जाता है, यदि हिरण्यगर्भगत एकत्व और आत्मत्व का ग्रहण नहीं किया जाता । वह अनुपपत्ति उचित नहीं, क्योंकि महाभूत-सृष्टि का आरम्भ कहीं आकाश से किया और कहीं तेज से, उस अव्यवस्था को दूर करने के लिए तेज के सृष्टि-वाक्य का अर्थ किया जाता है—"आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तेजः सृजति" । वैसे ही प्रकृत में भी "महाभूतानि सृष्ट्वा लोकानसृजत्"—ऐसी वाक्य-पूर्ति करके उक्त अनुपपत्ति का परिहार किया जा सकता है । सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण का अवलम्बन करके श्रुत्यन्तर में जो सृष्टि का आरम्भ महाभूतों से श्रुत है, उसमें शैथिल्य नहीं आने देना चाहिए, अतः जहाँ महाभूत-सृष्टि का प्रतिपादन नहीं, वहाँ पर भी उसका अध्याहार ( अश्रुतपदाक्षेप ) कर लेना चाहिए ।

दूसरी बात यह भी है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ( तै. आ. २।१५ ) इस अध्ययन-विधि के द्वारा समस्त वेद-राशि में प्रयोजनवदर्थाभिधायकत्व स्थिर किया गया है, उस के लिए यदि कुछ दूरतक अनुधावन या अध्याहारादि का प्रकल्पन करना पड़े, तब वह भी उचिततर माना जाता है, अतः हिरण्यगर्भ से आगे बढ़ कर यदि ब्रह्म के अभिधान में वाक्य का पर्यवसान किया जाता है, तब उसके ज्ञान में परम पुरुषार्थ-हेतुता का लाभ होता है, यही कहा गया है—"योऽप्ययं व्यापारविशषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः" । लोकसृष्टि भी हिरण्यगर्भ का कार्य नहीं, अपितु हिरण्यगर्भ भी जिस में प्रविष्ट है, ऐसे परमेश्वर का ही कार्य है, अतः आत्मैवेदमग्र आसीत्" ( बृह. उ. १।४।१ ) इस प्रकार जिसका उपक्रम, जिसके ईक्षणात्मक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवक्षित इति शक्यते वक्तुम्, तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात्। ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम्। यथा हि—अम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाग्न्यादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा कारणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति—स एवमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३।१२) इति। पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितम्' (ऐ० ३।११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवेचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्य 'स एवमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्' (ऐ० ३।१३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति। तथोपरिष्टात् 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐत० ५।३) इत्यादिना समस्तभेदजातं सह महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति। तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम् ॥ १७ ॥

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥ वाजसनेयके 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति—'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति। छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।३।१) इत्यन्तरेणवात्मशब्दमुपक्रम्योदकं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति तादात्म्यमुपदिशति।

तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयोरात्मज्ञानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति। अतुल्यार्थ-

भामती

लोकसर्गोऽपि हिरण्यगर्भव्यापारोऽपि तु तदनुप्रविष्टस्य परमात्मन इत्यत्रैवोक्तम्। तस्मादात्मैवाग्र इत्युपक्रमात्तद्व्यापारेण वेक्षणेन मध्ये परामर्शादुपरिष्टाच्च भेदजातं महाभूतैः सहानुक्रम्य ब्रह्मप्रतिष्ठत्वेन ब्रह्मण उपसंहाराद् ब्रह्माभिलापत्वमेवास्येति निश्चीयते। यत्र तु पुरुषविधाविश्रवणं तस्य भवत्वन्यपरत्वं गत्यन्तराभावादिति सर्वमवदातम् ॥ १६-१७ ॥

अपरः कल्पः। सदुपक्रमस्य सन्दर्भस्यात्मोपक्रमस्य च किमेकार्थ्यमाहोस्विदर्थभेदः। तत्र सच्छब्द-

भामती-व्याख्या

व्यापार का मध्य में परामर्श किया—"स ईक्षत लोकान्नु सृजं" (ऐ. १।१) और अन्त में समस्त भेद-भिन्न भौतिक प्रपञ्च को जिस ब्रह्म में प्रतिष्ठित बताकर ब्रह्म का उपसंहार किया गया है—"एष ब्रह्मैष इन्द्र एष—पञ्चमहाभूतानि—सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्" (ऐत. ५।३) इस से यह निश्चित हो जाता है कि यह सन्दर्भ उस ब्रह्म का ही प्रतिपादक है। जहाँ "पुरुषविधः" (बृह. उ. १।४।१) ऐसा पुरुष के समान सशरीरता का अभिधान किया है, वहाँ हिरण्यगर्भ का अभिधान मानना अनुचित नहीं, क्योंकि वहाँ इस के अतिरिक्त और कोई गति नहीं ॥ १६-१७ ॥

[ द्वितीय वर्णक ]

**संशय**—बृहदारण्यक में "कतम आत्मा" (बृह. उ. ४।३।७) इस प्रकार 'आत्मा' शब्द से आरम्भ करके "स वा एष महानज आत्मा" (बृह-उ. ४।४।२५) इस प्रकार 'आत्म' शब्द से उपसंहार किया गया है। छान्दोग्य में "सदेव सोम्येदमग्र आसीत" (छा. ६।२।१) इस प्रकार 'सत्' शब्द से उपक्रम और "स आत्मा तत्त्वमसि" (छां. ६।८।७) इस प्रकार 'आत्म' शब्द से उपसंहार किया गया। अतः यह सन्देह होता है कि 'सत्' और 'आत्मा'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वमिति तावत्प्राप्तमतुल्यत्वादाम्नानयोः। न ह्याम्नानवैषम्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुम्, आम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेयके चात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः। ननु छन्दोगानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्, उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य, तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते। तथा प्राप्तेऽभिधीयते—आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हति, इतरवत्। यथा कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात्तादात्म्योपदेशात्॥ १६॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्। तदुक्तम्—उपक्रमान्वयादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिरिति तस्य कः परिहार इति चेत्, सोऽभिधीयते—स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः, अवधारणात्। तथा हि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्सम्पिपादयिषया 'सदेव' इत्याह। तच्चात्मगृहीतौ सत्यां सम्पद्यते। अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं सम्पद्येत। तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्ति-

---

भामती

स्याविशेषेणात्मनि चानात्मनि च प्रवृत्तेर्नात्मार्थत्वं किन्तु समस्तवस्त्वनुगतसत्तासामान्यार्थत्वं तथा चोपक्रमभेवाद्भिन्नार्थत्वम्। स आत्मा तत्त्वमसीति चोपसंहार उपक्रमानुरोधेन सम्पत्त्यर्थतया व्याख्येयः। तद्धि सत्सामान्यं परमात्मतया सम्पादनीयम्। तद्विज्ञानेन च सर्वविज्ञानं महासामान्यस्य सत्तायाः समस्तवस्तुविस्तारव्यापित्वाविद्येवं प्राह उच्यते—आत्मगृहीतिर्वाजसनेयिनामिव छान्दोग्यानामप्युत्तरात् स आत्मा तत्त्वमसीति तादात्म्योपदेशात्। अस्तु तावदात्मव्यतिरिक्तस्य प्रपञ्चस्य सदसत्त्वाभ्यामनिर्वाच्यतया न सत्त्वं, सत्त्वं त्वात्मघातोरेव तत्त्वेन निर्वाच्यत्वात्तस्मादात्मैव सन्निति। अभ्युपेत्याह—सच्छब्दस्य सत्तासामान्याभिधायित्वात् प्रतिव्यक्ति च तस्य प्रवृत्तेरात्मनि चान्यत्र च सच्छब्दप्रवृत्तेः संशये सत्युपसंहारानुरोधेन सदेवेत्यात्मन्येवावस्थाप्यते। निर्णीतार्थोपक्रमानुरोधेन ह्युपसंहारवर्णना, न पुनः सन्दिग्धार्थेनोपक्रमेणोपसंहारो वर्णनीयः। अपि च सम्पत्तौ फलं कल्पनीयम्। न च सामान्यमात्रे ज्ञाते विशेषज्ञान-

---

भामती—व्याख्या

दोनों पदार्थों में भेद है? अथवा अभेद?

**पूर्वपक्ष**—'सत्' शब्द आत्मा और आनात्मा दोनों का वाचक होने के कारण केवल आत्मा का बोधक नहीं, अतः दोनों ग्रन्थों में उपक्रम का भेद होने के कारण दोनों के प्रतिपाद्य पदार्थ भिन्न हैं। छान्दोग्य के जो उपसंहार में आत्मशब्द का प्रयोग हुआ है, वह उपक्रम के अनुसार सत् में आत्मत्व की सम्पत्ति करने के लिए है। सत्तत्त्व के ज्ञान से सर्व-ज्ञान होता है, क्योंकि महासामन्यरूप सत् पदार्थ विश्व में व्याप्त है।

**सिद्धान्त**—बृहदारण्यक के समान ही छान्दोग्य में भी 'सत्' शब्द से आत्मा का ही ग्रहण करना चाहिए—"आत्मगृहीतिः", क्योंकि उत्तरात् अर्थात् उपसंहार में आत्म शब्द का उल्लेख है—"स आत्मा तत्त्वमसि" (छा. ७।८।७)। आत्मतादात्म्यापन्न सत्तत्त्व आत्मा से भिन्न क्योंकर होगा? आत्मा से भिन्न प्रपञ्च सत् और असत् से भिन्न (अनिर्वचनीय) होने के कारण सत् नहीं कहा जा सकता। आत्मा सत्त्वेन निर्वाच्य है, अतः आत्मा को ही सत्तत्त्व कहना होगा। निर्णीतार्थक उपक्रम के अनुरोध पर ही उपसंहार की वर्णना होती है, सन्दिग्धार्थक उपक्रम का अनुसरण उपसंहार कभी नहीं किया करता। दूसरी बात यह भी है

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' ( छा० ६।८।७ ) इत्यवधारणम्—इति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते, न तादात्म्यसंपादनायाम् । न चात्रोपक्रमतन्त्रत्वोपायासो न्याय्यः । न ह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वाऽस्ति । सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते, विशेषाकाङ्क्षित्वात्सामान्यस्य । सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः संभवति, अतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः । आम्नानवैषम्यमपि नावश्यमर्थवैषम्यमावहति, आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तदृर्शनात् । तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

---

## ( ९ कार्याख्यानाधिकरणम् । सू० १८ )

### कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नाय तस्यैवापो वास आमनन्ति । अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' ( छा० ५।२।२ ) इति । वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते, इति । तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते तत्किमुभयमपि

भामती

सम्भवः । न खल्वाराद् वृक्षे ज्ञाते शिंशपात्वावयस्तद्विशेषा ज्ञाता भवन्ति । तदेवमवधारणादि सर्वमनात्मार्थत्वे स्यादनुपपन्नमिति छान्दोग्यस्यात्मार्थत्वमेवेति सिद्धम् । अत्र च पूर्वस्मिन् पूर्वपक्षे हिरण्यगर्भोपासना सिद्धान्ते तु ब्रह्मभावनेति ॥ १६-१७ ॥

विषयमाह ❀ छन्दोगा वाजसनेयिनश्च इति ❀ । अननं प्राणनं अनः प्राणः तं प्राणमनग्नं कुर्वन्तः

---

भामती—व्याख्या

कि जो उपक्रमस्थ सत्तत्त्व में आत्मत्व की सम्पत्ति कही गई, वहाँ सम्पदुपासना के फल की कल्पना करनी होगी । आत्मानात्म-साधारण सत्तत्त्व के ज्ञान से विशेषतः सर्व-ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्यतः वृक्षत्व के ज्ञानमात्र से वृक्षगत शिंशपात्वादि विशेष धर्मों का ज्ञान लोक में नहीं देखा जाता । "सदेव"—यहां पर सत्तत्त्व को आत्मरूप न मानने पर अवधारणार्थक एवकारादि भी अनुपपन्न हो जाते हैं, अतः छान्दोग्य के उपक्रम में "सत्" शब्द के द्वारा आत्मा का अभिधान् सिद्ध होता है । यहाँ प्रथम वर्णक के पूर्वपक्षका प्रयोजन हिरण्यगर्भ की उपासना और सिद्धान्त का प्रयोजन ब्रह्म-भावना है ॥ १७ ॥

---

**विषय** छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषत् में प्राण-संवाद के अवसर पर प्राण का वही अन्न बताया गया है, जो कि मनुष्य से लेकर श्वान-पर्यन्त प्रसिद्ध है । जल को उसका वस्त्र कहा गया है—"तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्ति, अशित्वा चाचामन्ति, एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते" ( बृह. उ. ६।१।१४ ) इस श्रुति का अर्थ यह है कि श्रोत्रिय विद्वान्गण भोजन के पूर्व और पश्चात जो आचमन करते हैं, उसके द्वारा प्राण [ अननं प्राणनम्—इस भाव को मनमें रखकर 'अन' शब्द का अर्थ किया है—प्राण] की अनग्नता ( वस्त्र-परिधानता ) का चिन्तन करते हैं । यहाँ 'मन्यन्ते' से जिस मनन या ज्ञान का कथन किया गया है, वह श्वान-पर्यन्त अर्थात् चिन्तनात्मक विवक्षित है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधीयत उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? उभयमपि विधीयत इति । कुतः ? उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात् । उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्विध्यर्हम् । अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मिन्विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति । तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते, कार्याख्यानात् । प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वेनाचमनं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते । नन्वियं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात्, नेत्युच्यते, विषयनानात्वात् । सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थमाचमनं प्रापयति । श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात् । नच भिन्नविषययोः श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते ।

भामती

अनग्नताचिन्तनमितिअ मन्यन्त इति मननं ज्ञानं तद् ध्यानपर्यन्तमिति चिन्तनमुक्तम् । संशयमाह अ तत् किमिति अ । खुरवन्मात्रेणापातत उभयविधानं पक्षं गृहीत्वा मध्यमं पक्षमालम्बते पूर्वपक्षी अ अथवाचमनमेव इति अ । यद्येवमनग्नतासङ्कीर्त्तनस्य किं प्रयोजनमित्यत आह अ तस्यैव तु स्तुत्यर्थम् इति अ । अयमभिसन्धिः—यद्यपि स्मार्त्तं प्रायत्यार्थमाचमनमस्ति, तथापि प्राणोपासनप्रकरणे विधानात्तदङ्गत्वेनाप्राप्तमिति विधानमर्थवद्भवति अनृतवदनप्रतिषेध इव स्मार्ते ज्योतिष्टोमप्रकरणे समाम्नातो नानृतं वदेदिति प्रतिषेधो ज्योतिष्टोमाङ्गतयार्थवानिति ।

सिद्धान्तमाह अ एवं प्राप्ते इति अ । चोदयति अ नन्वियं श्रुतिरिति अ । परिहरति अ न

भामती—व्याख्या

**संशय**—"तत्किमुभयमपि विधीयते ? उताचमनमेव ? उतानग्नताचिन्तनम् ? [अर्थात् यहाँ क्या आचमन और अनग्नता-सम्पादन—इन दोनों का विधान किया जाता है ? या केवल आचमन का ? अथवा अनग्नता के चिन्तन का ?]।

**पूर्वपक्ष**—"उभयमपि विधीयते" अर्थात् आचमन और अनग्नता—दोनों का विधान किया जाता है। यद्यपि उभय-विधान से वाक्य-भेद प्रसक्त होता है, तथापि इस पक्ष को वैसे ही आपाततः उठा लिया गया है, जैसे कोई खुर ( टाप ) का शब्द सुनते ही अश्व की कल्पना कर ले।

मध्यम ( द्वितीय ) पक्ष का उपन्यास पूर्वपक्षी कर रहा है—"अथवा आचमनमेव विधीयते"। यदि केवल आचमन का विधान किया जाता है, तब अनग्नता-संकीर्तन का का क्या प्रयोजन ? इस प्रश्न का उत्तर है—"तस्यैव तु स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनम्"। सारांश यह है कि यद्यपि "भोक्ष्यमाणस्तु प्रयतोऽपि द्विराचामेदित्यापस्तम्बस्मरणात्" ( याज्ञ. स्मृ. पृ. ६८ पर उद्धृत ) इत्यादि स्मृति वाक्यों के द्वारा पुरुष की प्रयतता ( शुद्धि ) के लिए आचमन का विधान है, तथापि प्राणोपासना में अनग्नता-सम्पत्त्यर्थ विधान नहीं, अतः यहाँ अप्राप्त आचमन का विधान वैसे ही सार्थक है, जैसे स्मार्त अनृत-वदन का ( पुरुषार्थ ) निषेध रहने पर भी दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित "नानृतं वदेत्" ( तै. सं. २।५।५।६ ) यह निषेध क्रत्वर्थ अप्राप्त एवं सार्थक माना जाता है।

**सिद्धान्त**—"एवं प्राप्ते ब्रूमः"। आचमन जब स्मृति वाक्यके द्वारा कार्यत्वेन ( कर्त्तव्यत्वेन ) विहित है, तब उसका विधान सम्भव नहीं। "नन्वियं श्रुतिः"—इससे यह शङ्का की गई कि इस श्रुति को ही उक्त स्मृति वाक्य का मूल क्यों न मान लिया जाय ? इसका परिहार किया गया—"न, विषयनानात्वात्"। तुल्यविषयक श्रुति और स्मृति का ही मूल-मूलीभाव होता है, विभिन्नविषयक का नहीं। हृदय में निहित पूर्वपक्ष के बीज का निराकरण करते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न चेयं श्रुतिः प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसंयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अत एव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्यं भिद्येत। तस्मात्प्राप्तमेवाशिशिषतामशितवतां चोभयत आचमनमनूद्य 'एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तौ मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणसंकल्पोऽनेन वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासंबन्धित्वेनापूर्वं उपदिश्यते। न चायमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्, आचमनस्याविधेयत्वात्, स्वयं चानग्नतासंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीतेः। न चैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताभ्युपगता

भामती

इति ॐ। तुल्यार्थयोर्मूलमूलिभावो नातुल्यार्थयोरित्यर्थः। अभिप्रायस्थं पूर्वपक्षबीजं निराकरोति ॐ न चेयं श्रुतिः इति ॐ। क्रत्वर्थपुरुषार्थयोरनृतवदनप्रतिषेधयोर्युक्तमपौनरुक्त्यम्। इह तु स्मार्त्तमाचमनं सकलकर्माङ्गतया विहितं प्राणोपासनाङ्गमपीति व्यापकेन स्मार्त्तेनाचमनविधिना पुनरुक्तत्वादनर्थकम्। न च स्मार्तस्यानेन पौनरुक्त्यं, तस्य च व्यापकत्वादेतस्य च प्रतिनियतविषयत्वादिति।

मध्यमं पक्षमपाकृत्य प्रथमपक्षमपाकरोति ॐ अत एव नोभयविधानम् ॐ। युक्त्यन्तरमाह ॐ उभयविधाने च इति ॐ। उपसंहरति ॐ तस्मात् प्राप्तमेव इति ॐ। ॐन चायमनग्नतावादः इतिॐ। स्तोतव्याभावे स्तुतिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। अपि च मानान्तरप्राप्तेनाप्राप्तं विधेयं स्तूयते। न चानग्नतासङ्कल्पोऽन्यतः प्राप्तोयेनः स्तावको भवेत्। न चाचमनमन्यतोऽप्राप्तं येन विधेयं सत् स्तूयेतेत्याह ॐ स्वयं चानग्नतासङ्कल्पस्य इति ॐ। अपि चैकस्य कर्मण एकार्थतैवेत्युचितं तस्य बलवत्प्रमाणवशाबन्यगतित्वे सत्यनेकार्थता कल्पते। सङ्कल्पे तु कर्मान्तरे विधीयमाने नायं दोष इत्याह ॐ न चैवं सत्येक-

भामती—व्याख्या

हैं—"न चेयं श्रुतिः"। आशय यह है कि स्मृति-विहित मिथ्यावदन-निषेध पुरुषार्थ (पुरुष का अङ्ग) था, क्रत्वङ्ग नहीं, अतः क्रत्वङ्गत्वेन उसका विधान सार्थक है किन्तु यहाँ 'आचान्तेन कर्म कर्त्तव्यम्'—इत्यादि स्मृति वाक्यों से विहित आचमन सभी कर्मों का अङ्ग है, अतः प्राणोपासना में भी प्राप्त है, पुनः विधान निरर्थक है। इस आचमन के द्वारा स्मार्त आचमन गतार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यह आचमन एक अनग्नता-सम्पादन रूप कार्य के लिए ही नियत है और स्मार्त आचमन व्यापक है।

मध्यम पक्ष का निराकरण करके प्रथम पक्ष का निरास करते हैं—"अत एव नोभयविधानम्"। आचमन प्राप्त होने के कारण पुनः विहित नहीं हो सकता। निराकरण मे हेत्वन्तर दिखाते हैं—"उभयविधाने च वाक्यभेदात्"। सिद्धान्त पक्ष का उपसंहार किया जाता है—"तस्मात् प्राप्तमेवाचमनमनूद्य"। आचमन में अनग्नता-संकल्प का विधान ही सिद्ध होता है। "न चायमनग्नतावादः"। भाव यह है कि "यद्विधेयम्, तत्स्तुत्यं भवति"—इस न्याय के द्वारा आचमन की तभी स्तुति सम्भव हो सकती थी, जबकि वह विधेय होता किन्तु आचमन यहाँ विधेय हो नहीं। दूसरा बात यह भी है कि प्रमाणान्तर से प्राप्त पदार्थ के द्वारा अप्राप्त (विधेय) पदार्थ की स्तुति की जाती है, प्रकृत में अनग्नता-संकल्प किसी अन्य प्रमाण के द्वारा प्राप्त नहीं, फिर वह किसी का स्तावक क्योंकर होगा? आचमन अन्य प्रमाण के द्वारा अप्राप्त नहीं, अतः विधेय और स्तोतव्य नहीं हो सकता—"स्वयं चानग्नतासंकल्पस्य"।

दूसरी बात यह भी है कि एक कर्म मे एक ही प्रयोजन की साधनता उचित है। हाँ, अन्य गति के न होने से किसी प्रबल प्रमाण के बल पर एक कर्म में अनेकार्थकता की कल्पना की जाती है, किन्तु अनग्नता संकल्परूप कर्मान्तर का विधान करने पर यह दोष प्रसक्त नहीं होता—"न चैवं सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताऽभ्युपगता भवति"। अर्थात् स्मृति-वाक्य के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति—प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति, क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात्। क्रियान्तरमेव ह्याचमनं नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते, तदीयासु त्वप्सु वासःसंकल्पनं नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम्। अपि च 'यदिदं किंचा श्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६।१।१४) इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्यं वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च, सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते, तत्साहचर्याच्चापो वास इत्यत्रापि नापामाचमनं चोद्यते, प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम्। न ह्यर्थवैशसं संभवति। अपि चाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वान्नायं शब्दो विधिक्षमः। ननु मन्यन्त इत्यपि समानं वर्तमानापदेशित्वम्। सत्यमेव तत्, अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासःकार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवापूर्वं विधीयते, नाचमनं, पूर्वविद्धि तत्—इत्युपपादितम्। यदप्युक्तम्-विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिरिति, तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम्। अत एवाचमनस्याविधित्सितत्वादेतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो

भामती

स्याचमनस्य इति ॥। अपि च दृष्टिचोदनासाहचर्य्याद् दृष्टिचोदनैव न्याय्या न चाचमनचोदनेत्याह ॥ अपि च यदिदं किञ्च इति ॥। यथा हि श्वादिमर्य्यादस्यान्नस्यात्तुमशक्यत्वादत्रदृष्टिश्चोद्यते एवमिहाप्यपां परिधानासम्भवाद् दृष्टिरेव चोद्यत इत्यन्नदृष्टिविधिसाहचर्याद् गम्यते। अशब्दत्वञ्च यद्यपि दृष्टयभ्यवहारयोस्तुल्यं, तथापि दृष्टिः शाब्ददृश्यनान्तरीयकतया साक्षाच्छब्देन क्रियमाणोपलभ्यते। अभ्यवहारस्त्वभ्याहरणीयः कथञ्चिद्योग्यतामात्रेणेति विशेषः। किञ्च छन्दोगानां वाजसनेयिनां चाचमने प्रायेणाचामन्तीति वर्तमानापदेशः। एवं यत्रापि विधिविभक्तिस्तत्रापि जतिलयवाग्वा वा जुहुयादितिवद्विधित्वमविवक्षितम्। मन्यन्त इति त्वप्राप्तार्थत्वात्समिधो यजतीत्यादिवद्विधिरेवेत्याह ॥ अपि चाचामन्ति इति ॥। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ १८ ॥

भामती—व्याख्या

द्वारा शुद्ध्यर्थ विहित आचमन में केवल अनग्नता-संकल्पन रूप कर्मान्तर का ही विधान किया जाता है, अतः वाक्य-भेद क्यों होगा ? दृष्टि ( भावना ) के विधान का यह प्रकरण है, इसमें आचमनादि पदार्थों का विधान सम्भव नहीं—"अपि च यदिदं किञ्च"। अर्थात् "यदिदं किंचाश्वभ्यः" ( वृह. उ. ६।१।१४ )। अर्थात् जैसे "यदिदं किंच"—इस वाक्य के द्वारा श्वान-पर्यन्त अन्न के भक्षण का विधान न तो शब्दतः प्राप्त है और न सम्भव है, अतः 'सर्वं प्राणस्यान्नम्'—इस प्रकार की केवल अन्न-दृष्टि का विधान किया जाता हैं, वैसे ही प्रकृत में आचमनीय जल का परिधान पहनना सम्भव नहीं, अतः जलगत वस्त्र-दृष्टि का बिधान किया जाता है। अन्न-दृष्टि के साहचर्य से ऐसा ही स्थिर होता है। यद्यपि शब्दतः न तो भक्षण अभिहित है और ब दृष्टि, तथापि दृष्टि और दृश्य का अव्यभिचार है और शब्दतः सर्वान्नत्वरूप दृश्य उपस्थित है, तन्नान्तरीयकत्वेन दृष्टि भी उपस्थित हो जाती है, भक्षण वैसा नहीं, अपितु कथंचित् योग्यता-मात्र से अध्याहरणीय है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों में प्रायः आचामन्ति'—ऐसा वर्तमान-प्रयोग किया गया है। ऐसी अवस्था में जहाँ विधि-विभक्ति का प्रयोग होता है, वहाँ भी विधित्व विवक्षित नहीं होता, जैसे—"जतिलयवाग्वा वा जुहुयात्" इत्यादि स्थल पर। 'मन्यन्ते' इस पद के द्वारा अप्राप्त दृष्टि का विधान वैसे ही माना जाता है, जैसे "समिधो यजति" में अप्राप्त याग का विधान॥ १८॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्यन्त इत्यत्रैव काण्वाः पर्यवस्यन्ति, नामनन्ति 'तस्मादेवंवित्' इत्यादि। तस्मान्माध्यंदिनानामपि पाठ आचमनानुवादेनैवंवित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोवित्त्वं विधीयत इति प्रतिपत्तव्यम्। योऽप्ययमभ्युपगमः क्वचिदाचमनं विधीयताम्, क्वचिद्वासोविज्ञानमिति-सोऽपि न साधुः, आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्तेः सर्वत्रैकरूप्यात्, तस्माद्वासोविज्ञानमेवेह विधीयते, नाचमनमिति न्याय्यम्॥ १८॥

---

## ( १० समानाधिकरणम्। सू० १९ )

## समान एवं चाभेदात्॥ १९॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता। तत्र च गुणाः श्रूयन्ते -'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः। तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते -'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' ( बृ० ५।६।१ ) इति। तत्र संशयः—किमियमेका विद्याऽग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्च, उत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति। किं तावत्प्राप्तम्? विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति। कुतः? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदा-

---

भामती

इहाभ्यासाधिकरणन्यायेन पूर्वः पक्षः। द्वयोर्विद्याविध्योरेकशाखागतयोरगृह्यमाणविशेषतया कस्य कोऽनुवाद इति विनिश्चयाभावादज्ञातज्ञापनाप्रवृत्तप्रवर्त्तनारूपस्य च विधित्वस्य स्वरससिद्धेरुभयत्रोपासनाभेदः। न च गुणान्तरविधानायैकत्रानुवादः, उभयत्रापि गुणान्तरविधानोपलम्भेविनिगमनाहेत्वाभावात्

---

भामती—व्याख्या

**विषय**—वाजसनेयि शाखा के आग्निरहस्य की शाण्डिल्य-विद्या में मनोमयत्वादि गुण विहित हैं एवं उसी शाखा की बृहदारण्यक उपनिषत् में पुनः वे ही गुण विहित हैं—मनोमयोऽयं पुरुषो भाः" (बृह. अ ५।६।१ )।

**संशय**—क्या दोनों ग्रन्थों में चर्चित शाण्डिल्य-विद्या एक ही है, अत एव उन में गुणों का उपसंहार होता है? अथवा वे दो भिन्न विद्याएँ हैं, अतः उन में गुणोपसंहार नहीं हो सकता?

**पूर्वपक्ष**—'विद्याभेदो गुणव्यवस्था, पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्"—यहाँ जैमिनि-दर्शनगत अभ्यासाधिकरण के अनुसार पूर्वपक्ष किया गया है—"एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्" ( जै. सू. २।२।२ ) [अर्थात् जैसे 'समिधो यजति" "तनूनपातं यजति"—यहाँ एक ही 'यजति' पद का अभ्यास (अविशेष पुनःश्रुति ) व्यर्थ हो जायगा, यदि भिन्न-भिन्न यागों का विधान 'यजति' पदों के द्वारा नहीं किया जाता। वैसे ही ] प्रक्रान्त एक शाखागत दोनों विधि-वाक्य समान हैं, उन में किसी प्रकार का प्रबल-दुर्बलभाव प्रतीत नहीं होता, अतः कौन विधायक और कौन अनुवादक है—ऐसा कोई निश्चय नहीं। अज्ञात-ज्ञापकत्व एवं अप्रवृत्त-प्रवर्तकत्वरूप विधित्व दोनों में स्वरस-सिद्ध है, फलतः दोनों वाक्य भिन्न-भिन्न उपासनाओं के विधायक स्थिर होते हैं। अन्यगुण ( अङ्ग ) विधान करने के लिए एक वाक्य को अनुवादक मानना सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों वाक्यों में गुणान्तर का संकीर्तन है, अतः कोई विनिगमक हेतु उपलब्ध न होने के कारण दोनों में से एक को विधायक और दूसरे को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्यैका विद्या भवितुमर्हति। न चात्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति, तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन्न सामानाः। समाना अपि तूभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः। तस्मान्नान्योन्यं गुणोपसंहार इति'।

एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखायां भवितुमर्हति, उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्नं प्रत्यभिजानीमः। उपास्यं च रूपं विद्यायाः। नच विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातुं शक्नुमः। नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसितः, नेत्युच्यते, अर्थविभागोपपत्तेः। एकं ह्याम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते। नन्वेवं सति यदपठितमग्निरहस्ये, तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम्—'स एष सर्वस्येशानः' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि, तन्न पठितव्यम्। नैष दोषः, तद्वलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशां शाण्डिल्यविद्यां प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथं तस्यामयं गुणविधिरभिधीयते? अपि चाप्राप्तांशोपदेशेनार्थवति वाक्ये संजाते प्राप्तांशपरामर्शेऽप्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न

---

भामती

समानगुणानभिधानप्रसङ्गाच्च। तस्मात्समिधो यजतीत्यादिवदभ्यासादुपासनाभेद इति प्राप्ते, उच्यते—ऐककर्म्यमेकत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्। न चागृह्यमाणविशेषता, यत्र भूयांसो गुणा यस्य कर्मणो विधीयन्ते तत्र तस्य प्रधानस्य विधिरितरत्र तु तदनुवादेन कतिपयगुणविधिः। यथा यत्र छत्रचामरपताकाहास्तिकाश्वीयशाक्तीकयाष्टीकधानुष्ककार्पाणिकप्रासिकपदातिप्रचयस्तत्रास्ति राजेति गम्यते, न तु कतिपयगजवाजिपदातिभाजि तदमात्ये, तथेहापि। न चैकत्र विहितानां गुणानामितरत्रोक्तिरर्थिका प्रत्यभिज्ञानदार्ढ्यार्थत्वात्। अस्तु वाऽस्मिन्नित्यानुवादो नद्यनुवादानामवश्यं सर्वत्र प्रयोजनवत्त्वम्, अनुवादमात्रस्यापि तत्र

---

भामती—व्याख्या

अनुवादक नहीं माना जा सकता। दोनों को विधायक न मानने पर मनोमयत्वादि समान गुणों ( धर्मों का विधान नहीं हो सकेगा, परिशेषतः समिधो यजति", "तनूनपातं यजति"—इत्यादि के समान अभ्यास के द्वारा उपासना-भेद सिद्ध होता है।

सिद्धान्त—उक्त दोनों वाक्यों के द्वारा विहित एक ही कर्म ( उपासन ) है, क्योंकि एकत्वेन प्रत्यभिज्ञा हो रही है, अतः एक ही वाक्य विधायक है और दूसरा अनुवादक। विधायक कौन होगा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस कर्म या विद्या के प्रकरण म अधिक गुणों का विधान है, वह कर्म प्रधान और उस का बोधक वाक्य विधिरूप होता है और उस का अनुवाद करके कतिपय अङ्गों का विधायक वाक्यान्तर होता है। जैसे जहाँ छत्र, चामर, पताका, हस्तिसेना, अश्वसेना, शक्तिधारी, यष्टिधारी, धनुर्धारी, कृपाण धारी, भालाधारी सैनिक एवं पैदल सैन्यदल होता है, वहाँ राजा के होने का सहज कल्पना हो जाती है। जहाँ दो-चार ही हाथी-घोड़े दिखते हो, वहाँ राजा नहीं, अपितु मन्त्री हो सकता है। वैसे ही यहाँ कौन प्रधान कर्म है और कौन अङ्ग कम? इस का उत्तर उसके वैभव को देख कर समझ लेना चाहिए। एक वाक्य में चर्चित गुणों का वाक्यान्तर में संकीर्तन व्यर्थ नहीं अपितु प्रत्यभिज्ञा को दृढता के लिए साधक है। जिस वाक्य में अल्प गुणों की चर्चा है, उस को नित्य अनुवादक माना जा सकता है, अनुवाद का सर्वत्र पृथक् प्रयोजन आवश्यक नहीं होता, अनुवादमात्र कई स्थलों पर देखा जाता है, अतः बृहदारण्यक में भी उपासना के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपोदितुं शक्यते । तस्मादत्र समानायामपि शाखायां विद्यैकत्वं गुणोपसंहारश्चेत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

---

## ( ११ संबन्धाधिकरणम् । २०—२२ )

### संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' ( बृ० ५।५।१ ) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' ( बृ० ५।५।२ ) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणोऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते । तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम् । तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम् । तत्र संशयः—'किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्रानुसंधातव्ये, उत विभागेनैकाऽधिदैवमेकाऽध्यात्ममिति । तत्र सूत्रेणैवोपक्रमते । यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति; एकविद्याभिसंबन्धात् । एका हीयं सत्यविद्याऽधिदैवमध्यात्मं चाधीता, उपक्रमाभेदाद् व्यतिषक्तपाठाच्च । कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात् ? यो ह्याचार्येण कञ्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति । तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥ २० ॥

भामती

तत्रोपलब्धेः । तस्यात्तदेव बृहदारण्यकेऽप्युपासनं तद्गुणेनोपसंहारादिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

---

यद्येकस्यामपि शाखायां तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानादुपासनस्य तत्र विहितानां धर्माणां सङ्करः । तथा सति सत्यस्यैकस्याभेदान्मण्डलद्वयवर्त्तिन उपनिषदोरपि सङ्करप्रसङ्गः तस्येति च प्रकृतपरामर्शात्त्वाद्भेदः । सत्यस्य

भामती—व्याख्या

गुणों का उपसंहार सिद्ध हो जाता है ॥ १९ ॥

---

**विषय**—"सत्यं ब्रह्म" ( बृह. उ. ५।५।१ ) इस प्रकार सत्य ब्रह्म का प्रकरण उठाकर उस का आधिदैविक रूप आदित्य-पुरुष और आध्यात्मिक रूप अक्षिपुरुष बताया। आदित्यपुरुष का नाम 'अहर्' और अक्षिपुरुष का नाम 'अहम्' बताया गया—"तस्योपनिषदहरिति" ( बृह. उ. ५।५।३ ), "तस्योपनिषदहमिति" ( बृह. उ. ५।५।४ ) । उपनिषत्' शब्द का अर्थ यहां नाम ( संज्ञा ) है ।

**संशय**—उक्त स्थल पर सन्देह होता है कि क्या दोनों की उपासनाओं में दोनों नामों का चिन्तन होगा ? अथवा आदित्यपुरुष की उपासना में 'अहर्' और अक्षिपुरुष की उपासना में अहम्'—इस प्रकार व्यवस्थित अनुचिन्तन होगा ?

**पूर्वपक्ष**—यदि एक शाखा में विहित दो उपासनाओं की एकत्वेन प्रत्यभिज्ञा होने के कारण उभयत्र-विहित धर्मों का उभय उपासनाओं सांकर्य ( उपसंहार ) होता है, तब प्रकृत में भी एक ही सत्यतत्त्व के आदित्य और अक्षी दोनों में प्रत्यभिज्ञात होने के कारण उस के 'अहर्' और 'अहम्' दोनों नामों का संकर ( उपसंहार ) होना चाहिए "तस्योपनिषदहरिति" —यहाँ पर तस्य' पद के द्वारा जिस प्रकृत पदार्थ का परामर्श किया जाता है, वह प्रकृत तत्त्व प्रधानतया चर्चित सत्य तत्त्व है, आदित्यपुरुष नहीं । वहाँ आधिदैवम्'—यह पद आदित्यपुरुष (देव शरीर और उस से अवच्छिन्न सत्य तत्त्व) का उपस्थापक है, किन्तु आदित्य का विशेषणविधया और सत्यतत्त्व का विशेष्यतया, विशेष्य पदार्थ प्रधानतया चर्चित होने से शीघ्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

न वोभयोरुभयत्र प्राप्तिः। कस्मात् ? विशेषात्। उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः। कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इति ? उच्यते—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' (बृ० ५।५।३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति। 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः' (बृ० ५।५।४) इति ह्याध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति। तस्येति चैतत्संनिहितावलम्बनं सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते। कुत उभयोरुभयत्र प्राप्तिः ? नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः, एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात्। सत्यमेवमेतत्, एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात्तदवस्थत्वैव सा भवितुमर्हति। अस्ति चायं दृष्टान्तः—सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये, यदाचार्यस्यासीनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति। यच्च तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति। आमारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्तत्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य आमारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यदृष्टान्तः सः।

भामती

च प्रधानस्य प्रकृतत्वाद् अधिदैवमित्यस्य विशेषणतयोपसर्जनत्वेनाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतस्य च सत्यस्याभेदात् पूर्ववद् गुणसङ्करः ॥ २० ॥

इति प्राप्त उच्यते—«न वा विशेषात्»। सत्यं यत्र स्वरूपमात्रसम्बन्धो धर्माणां श्रूयते तत्रैवं स्वरूपस्य सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्तन्मात्रसम्बन्धित्वाच्च धर्माणाम्। यत्र तु सविशेषणं प्रधानमवगम्यते तत्र सविशेषणस्यैव तस्य धर्माभिसम्बन्धो न निर्विशेषणस्य नाप्यन्यविशेषणसहितस्य। न हि दण्डिनं पुरुषमानयेत्युक्ते दण्डरहितः कमण्डलुमानानीयते। तस्मादधिदैवं सत्यस्योपनिषदुक्ता न तस्यैवा-

भामती—व्याख्या

बुद्धिस्थ हो जाता है उसका सर्वत्र अभेद है, अतः पूर्वोक्त शाण्डिल्य विद्या के समान दोनों नामों का सांकार्य (उपसंहार) न्याय-प्राप्त है ॥ २० ॥

सिद्धान्त—"न वा विशेषात्"। यह सत्य है कि जहाँ पर गुणों या धर्मों का सम्बन्ध केवल विशेष्यस्वरूप के साथ होता हैं, वह सर्व प्रत्यभिज्ञायमान होने के कारण सभी धर्मों का संग्राहक होता है, किन्तु जहाँ पर धर्मों का संबन्ध सविशेषण ( विशिष्ट ) पदार्थ के साथ होता है, वहाँ धर्मों का संयोजन न अकेले विशेष्य के साथ होता है, न केवल विशेषण के साथ और न अन्यविशेषण-विशिष्ट के साथ, किन्तु विशिष्ट के साथ ही होता है। प्रकृत में अहर् नाम का सम्बन्ध आदित्यस्थत्व-विशिष्ट और 'अहम्' नाम का सम्बन्ध अक्षिस्थत्व-विशिष्ट के साथ है, केवल सत्य के साथ वैसे ही नहीं, जैसे 'दण्डिनं पुरुषमानय'—यहाँ आनयन क्रिया का सम्बन्ध न तो केवल पुरुष के साथ होता है और न कमण्डलुधारी के साथ, भले ही वह वहाँ विद्यमान क्यों न हो। जो अधिदैव का नाम है वह अध्यात्म का कभी नहीं हो सकता। जैसे गमन करनेवाले आचार्य का जो अनुगमन किया जाता है, वह बैठे या खड़े हुए का नहीं हो सकता, वैसे ही यहाँ नामों का साकर्य नहीं हो सकता, किन्तु जो जिसका नाम है, उसी का माना जायगा, भाष्यकार ने यही कहा है—"स्वरूपानपायात्"। [अर्थात् पहले जो कहा गया था कि आचार्य का अनुगमनादि करना शिष्य का धर्म है, आचार्य चाहे गाँव में जा रहा हो या अरण्य में। वैसे ही 'अहर्' और 'अहम्' दोनों नाम एक ही सत्य तत्त्व के हैं, वह चाहे आदित्यमण्डल में रहे, चाहे अक्षिस्थान में। वह दृष्टान्त उचित नहीं, क्योंकि गमनशील आचार्य का ग्राम या अरण्य में स्वरूप भिन्न नहीं होता और दार्ष्टान्त ध्येयतत्त्व के स्वरूप

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्माद् व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णो यन्नाम तन्नाम' ( छा० १।७।५ ) इति कथमस्य लिङ्गत्वमिति ? तदुच्यते—अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मानन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान् पश्यन्निहातिदेशेनादित्यपुरुषगतान् रूपादीनक्षिपुरुषे उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' ( छा० १।७।५ ) इत्यादिना। तस्माद् व्यवस्थित एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥ २२ ॥

---

( १२ संभृत्यधिकरणम् । सू० २३ )

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्यसम्भृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते। तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते। तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसं-

भामती

ध्यात्मं भवितुमर्हति। यथा चाचार्यस्य गच्छतोऽनुगमनं विहितं न तिष्ठतो भवति तस्मान्नोपनिषदोः सङ्करः किन्तु व्यवस्थितिः। तदिदमुक्तं स्वरूपानपायादिति ॥ २१ ॥

अतिदेशादप्येवमेव तत्त्वे हि नातिदेशः स्यादिति ॥ २२ ॥

---

ब्रह्मज्येष्ठा वीर्य्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान।
ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः ॥

ब्रह्म ज्येष्ठं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठा जज्ञे आस। यद्यपि तासु तासु शाण्डिल्याविविद्यास्वायतनभेद-

भामती—व्याख्या

का वैसे ही अन्तर हो जाता है, जैसे गमन सहित और गमन-रहित आचार्य के विवक्षित स्वरूप का ] ॥ २१ ॥

"तस्यैतस्य तदेव रूपम्, यदमुष्य रूपम्" ( छा. १।७।५ )। वहाँ आदित्य-पुरुष के रूप ( हिरण्यश्मश्रुत्वादि ) का अतिदेश अक्षिपुरुष में किया गया है। यह अतिदेश ही सिद्ध कर रहा है कि दोनों के नाम-रूपादि अपने-आप में व्यवस्थित हैं, उपसंहरणीय नहीं। यदि दोनों के नाम-रूप दोनों में उपसंहृत होकर दोनों के ही मान लिए जाते हैं, तब उनमें सादृश्य-मूलक अतिदेश संगत न हो सकेगा ॥ २२ ॥

---

विषय—सामवेदीय राणायनीय शाखा के खिल ( परिशिष्ट ) में श्रुति है—"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान। ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥" [ ब्रह्म जिन का ज्येष्ठ ( धारक ) है, ऐसे द्युव्यापकत्वादिरूप वीर्य ( सामर्थ्य या विभूतियाँ ) ब्रह्म में संभृत ( निहित ) हैं। इन्द्रादि देवगणों की उत्पत्ति से पहले ही ब्रह्म विराजमान था, अतः ब्रह्म के साथ कौन स्पर्धा कर ( होड़ लगा ) सकता है ? ]। इस प्रकार राणायनीय शाखा की उपनिषत् में शाण्डिल्यविद्यादि ब्रह्मविद्याएँ पठित हैं।

**संशय**—वहाँ सन्देह होता है कि ब्रह्मविद्याओं में कथित विभूतियों का उपसंहार होता है ? अथवा नहीं ?


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हियेरन्न वेति विचारणायां ब्रह्मसम्बन्धादुपसंहारप्राप्तावेवं पठति। संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः, अत एव चायतनविशेषयोगात्। तथा हि शाण्डिल्यविद्यायां हृदयायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३।१४।३) इति। तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति। उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इति। एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते। आधिदैविकयस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयः, तासां कुत एतासु प्राप्तिः? नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्येवमाद्याः। सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः। सत्यम्, एवमेतत्, तथाप्यत्र विद्यते विशेषः सम्भृत्याद्यनुपसंहारहेतुः। समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंहियेरन्निति युक्तम्, संभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादि-

---

भामती

परिग्रहेणाध्यात्मिकायतनत्वं सम्भृत्यादीनां गुणानामाधिदैविकत्वमित्यायतनभेदः प्रतिभाति। तथापि ज्यायान् दिव इत्यादिना सन्दर्भेणाधिदैविकविभूतिप्रत्यभिज्ञानात् षोडशकलाद्यासु च विद्यास्वायतनाश्रवणाद् अन्ततो ब्रह्माश्रयतया साम्येन प्रत्यभिज्ञासम्भवात्। सम्भृत्यादीनां गुणानां शाण्डिल्याविविद्यासु षोडशकलादिविद्यासु चोपसंहार इति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु—मिथः समानगुणश्रवणं प्रत्यभिज्ञाय यद्विद्या अपूर्वानपि तत्राश्रुतान् गुणानुपसंहारयति न त्विह सम्भृत्यादिगुणकब्रह्मविद्यायां शाण्डिल्यादिविद्यागतगुणश्रवणमस्ति। या तु काचिदाधिदैविकी विभूतिः शाण्डिल्यादिविद्यायां श्रूयते, तस्यास्तत्प्रकरणाधीतत्वात्तावन्मात्रं ग्रहीष्यते नैतावन्मात्रेण सम्भृत्यादीननुकर्षटुमर्हति। तत्रैतत् प्रत्यभिज्ञानाभावादित्युक्तम्। ब्रह्माश्रयत्वेन तु प्रत्यभिज्ञानसमर्थनमतिप्रसक्तम्। भूयसीनामैक्यप्रसङ्गात्। तदिदमुक्तं ॐसम्भृ-

---

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि शाण्डिल्यादि विद्याओं में ब्रह्म के भिन्न-भिन्न आयतनों (स्थानों) का निर्देश किया गया है, जैसे शाण्डिल्यविद्या में 'हृदय'—'एष म आत्मान्तर्हृदये" (छो. ३।१४।३), दहरविद्या में 'दहराकाश'—"दहरं पुण्डरीकं वेश्म" (छां. ८।१।१)। उपकोसल-विद्या में 'अक्षि'—"य एषोऽक्षिणि" (छां. ४।१५।१)। ये स्थान आध्यात्मिक हैं किन्तु संभृत्यादि गुणों को आधिदैविक कहा है। तथापि "ज्यायान् दिवः" (छां. ३।१४।३) इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा आधिदैविक विभूतियों की प्रत्यभिज्ञा हो रही है, षोडशकलादि-विद्याओं में आयतन का निर्देश ही नहीं, अन्ततः ब्रह्माश्रयत्वेन साम्य को लेकर प्रत्यभिज्ञात होने के कारण संभृत्यादि गुणों का शाण्डिल्य और षोडशकलादि विद्याओं में उपसंहार कर लेना चाहिए।

**सिद्धान्त**—जिन विद्याओं में असाधारण गुण समान रूप से श्रुत हैं, उनके द्वारा उन विद्याओं की एकता अत एव गुणोपसंहार भी उचित है, जैसे अग्निरहस्य एवं बृहदारण्यक में मनोमयत्वादि असाधारण गुणों की प्रत्यभिज्ञा होने से विद्या की एकता मानी गई है किन्तु संभृत्यादिगुणक ब्रह्म की विद्या में शाण्डिल्यादि-विद्या के असाधारण गुणों का निदेश नहीं और जो कोई आधिदैविकी विभूति शाण्डिल्यादि विद्या में श्रुत है, वह केवल उसी के प्रकरण में अधीत होने के कारण उतनी ही विभूति वहाँ गृहीत होती है, उतनेमात्र से संभृत्यादि गुणों का उपसंहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि संभृत्यादि की

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः। नच ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते, विद्याभेदेऽपि तदुपपत्तेः। एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थितिः, परोवरीयस्त्वादिवद्भेददर्शनात्। तस्माद्वीर्यसंभृत्यादीनां शाण्डिल्यविद्यादिष्वनुपसंहार इति ॥ २३ ॥

## ( १३ पुरुषविद्याधिकरणम् । सू० २४ )

### पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या। तत्र पुरुषो यज्ञः कल्पितः। तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम्। अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि। अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगता आशीर्मन्त्रप्रयोगादयः तैत्तिरीयका अपि कंचित्पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' ( नारा० ८० ) इत्येतेनानुवाकेन। तत्र संशयः—किं य इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेषूपसंहर्तव्याः, किं वा नोपसंहर्तव्या इति ? पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावा-

भामती

त्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च इति ।* तस्मात्सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्च तदिदं सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः प्रत्यभिज्ञानाभावान्न शाण्डिल्यादिविद्यासूपसंह्रियत इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

पुरुषयज्ञत्वमुभयत्राप्यविशिष्टम्। न च विदुषो यज्ञस्येति न सामानाधिकरण्यसम्भवः। यज्ञस्यात्मेत्यात्मशब्दस्य स्वरूपवचनत्वात्। यज्ञस्य स्वरूपं यजमानस्तस्य च चेतनत्वाद् विदुष इति सामाना-

भामती—व्याख्या

वहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, ऐसा सूत्रकार ने कहा है—'संभृतिद्युव्याप्तिश्चपि चातः"। ब्रह्ममात्र की प्रत्यभिज्ञा के आधार पर प्रत्यभिज्ञा का समर्थन करने पर ब्रह्मविषयिणी सभी विद्याओं में संभृत्यादि को अतिप्रसक्ति होगी, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"सभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च"। सूत्र में समास इस प्रकार है-संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्चानयोः समाहारः संभृतिद्युव्याप्ति। 'अतः' का अर्थ है—'प्रत्यभिज्ञानाभावात्'। अर्थात् संभृति और द्युव्याप्ति का शाण्डिल्यादि-विद्याओं में प्रत्यभिज्ञान न होने के कारण उपसंहार नहीं किया जा सकता—यह सिद्ध हो गया ॥ २३ ॥

**विषय**—ताण्डी और पैङ्गी शाखा के रहस्य ब्राह्मण में पुरुष-विद्या श्रुत है—"पुरुषो वा यज्ञः" ( छां. ३।१६।१ ) तैत्तिरीय शाखा में भी पुरुष-यज्ञ की कल्पना की गई है—"तस्यैवंविदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी" ( म. नारा. २५।१ )।

**संशय**—अन्य शाखाओं में कथित पुरुषरूप यज्ञ के धर्मों का उपसंहार तैत्तिरीय शाखोक्त पुरुष में किया जायगा ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—जब कि दोनों स्थानों में पुरुष-यज्ञत्व समान है, अतः पुरुष-विद्या की उभयत्र एकता सिद्ध होती है। यद्यपि छान्दोग्य में जैसा "पुरुषो यज्ञः" इस प्रकार का पुरुषगत यज्ञरूपता का कल्पक सामानाधिकरण्य उपलब्ध होता है, वैसा सामानाधिकरण्य "विदुषो यज्ञस्य"—यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि 'विद्वान्रूप यज्ञ का' और 'विद्वान् के यज्ञ का'—ऐसा सामानाधिकरण्य और वैयधिकारण्यरूप उभयविध अन्वय प्रतीत होता है। तथापि 'यज्ञस्यात्मा'—यहाँ आत्मा शब्द स्वरूप का वाचक है, अतः यज्ञ का स्वरूप यजमान-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति। कस्मात्? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्। तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति। यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नानमस्ति। तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते, पत्नीयजमानवेदिवेदबर्हिर्यूपाज्यपश्वृत्विगाद्यनुक्रमणात्। यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव—'यत्प्रातर्मध्यंदिनं सायं च तानि' (नारा० ८०) इति। यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादिसाम्यं, तदप्यल्पीयस्त्वाद् भूयसा वैलक्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम्। नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते, विदुषो यज्ञस्येति हि नचैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ—विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति। नहि पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति। व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ—विदुषो यो यज्ञस्तस्येति। भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञ-

भामती

धिकरण्यसम्भवः। तस्मात् पुरुषयज्ञत्वाविशेषान्मरणावभृथत्वादिसामान्याच्चैकविद्याध्यवसाने उभयत्र उभयधर्मोपसंहार इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्त उच्यते—यादृशं ताण्डिनां पैङ्गिनाञ्च पुरुषयज्ञसम्पादनं तदायुषश्च त्रेधा व्यवस्थितस्य सवनत्रयसम्पादनम्। अशिशिषादीनाञ्च दीक्षादिभावसम्पादनं नैवं तैत्तिरीयाणाम्। तेषां न तावत् पुरुषे यज्ञसम्पत्तिः। नह्यात्मा यजमान इत्यत्रायमात्मशब्दः स्वरूपवचनः नहि यज्ञस्वरूपं यजमानो भवति। कर्तृकर्मणोरभेदाभावात्। चेतनाचेतनयोश्चैक्यानुपपत्तेः यज्ञकर्मणोश्चाचेतनत्वात्। यजमानस्य चेतनत्वात्। आत्मनस्तु चेतनस्य यजमानत्वञ्च विद्वत्त्वञ्चोपपद्यते। तथा चायमर्थः—एवं विदुषः पुरुषस्य यः सम्बन्धी

भामती—व्याख्या

है, यजमान चेतन, है अतः पुरुषरूप यज्ञ का वह स्वरूप है, इस प्रकार पुरुषत्व और यज्ञत्व का सामानाधिकरण्य बन जाता है। इतना ही नहीं, पुरुष में यज्ञरूपता सुदृढ करने के लिए पुरुष की मृत्यु को अवभृथस्नान कहा है—"यन्मरणं तदवभृथः" (तै. उ. ६।५२।१)। जैसे यज्ञ की समाप्ति अवभृथ से होती है, वैसे ही पुरुष की समाप्ति मरण से होती है। फलतः उभयत्र पुरुष-विद्या की एकता सिद्ध होने के कारण धर्मों या गुणों का उपसंहार स्वतःप्राप्त हो जाता है।

**सिद्धान्त**—जैसा ताण्डी और पैङ्गी शाखाओं में पुरुष में यज्ञरूपता का सम्पादन साङ्गोपाङ्ग किया गया है, वैसा तैत्तिरीय में नहीं, क्योंकि ताण्डी और पैङ्गी शाखा में ज्योतिष्टोमादि के तीन सवनों [ सोम-रस प्रातः मध्याह्न और सायं काल में तीन बार निकाला जाता है, जिसे प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन और सायंसवन कहते हैं, उन्हीं ] को पुरुष के जीवन में घटाने के लिए पुरुष की आयु के तीन भाग किए जाते हैं—"पुरुषो वा यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि, तत् प्रातःसवनम्" (छां. ३।१६।१), "अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद् वर्षाणि, तन्माध्यन्दिनसवनम्" (छाः ३।१३।३). "अथ यानि अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि, तत् तृतीयं सवनम्" (छां. ३।१।४)। [ अर्थात् पुरुष की आयु के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातः सवन, पचीस से चौवालीस वर्ष तक का समय माध्यन्दिन-सवन तथा पैंतालीसवें वर्ष से लेकर अड़तालीसवें वर्ष तक का समय सायंसवन है ]।

तैत्तिरीय शाखा में ऐसे समय-विभाग का रूपक प्रस्तुत नहीं किया गया है, अतः वहाँ पुरुष में यज्ञरूपता का सम्पादन सम्यक् नहीं होता। यह जो कहा गया कि 'आत्मा यजमानः' यहाँ 'आत्मा' शब्द स्वरूप का वाचक है, वह संगत नहीं, क्योंकि यजमान को यज्ञ का स्वरूप कैसे माना जा सकता है, जब कि 'यज्ञ' क्रिया है और यजमान उस का कर्त्ता, कर्त्ता और क्रिया का अभेद नहीं हो सकता। यजमान चेतन और यज्ञ जड है, चेतन और अचेतन की एकस्वरूपता नहीं बन सकती। आत्मा चेतन है, उस में यजमानत्व और विद्वत्त्व उपपन्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धः। सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः। आत्मा यजमान इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्ब्रुवन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसम्बन्धं दर्शयति। अपि च तस्यैवंविदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावं प्रतिपित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात्। अपि च ससन्न्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः। तथा चैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाक्ययोरुपलभामहे—'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' ( नारा० ८० ) इति। इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः, आयुर

भामती

यज्ञः तस्य सम्बन्धितया यजमान आत्मा तथा चात्मनो यजमानत्वञ्च विद्वत्सम्बन्धिता च यज्ञस्य मुख्ये स्यातामितरथात्मशब्दस्य स्वरूपवाचित्वे विदुषो यज्ञस्येति च यजमानो यज्ञस्वरूपमिति च गौणे स्याताम्। न च सत्यां गतौ तद्युक्तम्। तस्मात् पुरुषयज्ञता तैत्तिरीये नास्तीति तया तावन्न साम्यम्। न च पत्नीयजमानवेदवेद्यादिसम्पादनं तैत्तिरीयाणामिव ताण्डिनां पैङ्गिनां वा विद्यते सवनसम्पत्तिरप्येषां विलक्षणैव। तस्माद् भूयो वैलक्षण्ये सति न किञ्चिन्मात्रसालक्षण्याद्विद्यैकत्वमुचितमतिप्रसङ्गात्।

अपि च तस्यैवं विदुष इत्यनुवादश्रुतौ सत्यामनेकार्थविधाने वाक्यभेददोषप्रसक्तिरित्यर्थः। अपि चेयं पैङ्गिनां ताण्डिनां च पुरुषयज्ञविद्या फलान्तरयुक्तः स्वतन्त्रा प्रतीयते। तैत्तिरीयाणां तु एवं विदुष

भामती-व्याख्या

हो जाता है, अतः उक्त वाक्य का यह अर्थ होता है—'पुरुषस्य यो यज्ञः, तस्य यजमान आत्मा'—इस प्रकार आत्मा में यजमानत्व और यज्ञ में विद्वत्सम्बन्धित्व—ये दोनों धर्म मुख्य बन जाते हैं। अन्यथा [ 'आत्मा' शब्द को स्वरूपपरक मानने पर ] विद्वानरूप यज्ञ की स्वरूपता यजमान में गौण ही माननी होगी। मुख्य स्वरूप का लाभ हो सकने पर गौणरूपता युक्ति-युक्त नहीं मानी जा सकती, फलतः तैत्तिरीय में पुरुषगत यज्ञरूपता का उपपादन न होने के कारण अन्य शाखाओं का पुरुष-यज्ञता का साम्य नहीं हो सकता। ताण्डी और पैङ्गी शाखा में पत्नी, यजमान, वेद आदि का सम्पादन वैसा नहीं, जैसा कि तैत्तिरीय शाखा में किया गया है—"आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्म उरो वेदिः, लोमानि बर्हिः, शिखा वेदः" ( म. नारा. २५।१ ) [ अर्थात् आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर समिधा है ]। यहाँ सवनत्रय का संपादन भी विलक्षण है—"यत् सायं, प्रातः, मध्यदिनं च, तानि सवनानि" ( म. नारा. २५।१ )। अर्थात् सायं, प्रातः और मध्याह्न—ये तीनों काल ही यज्ञ के तीन सवन हैं ]। इस प्रकार ताण्डी और पैङ्गी शाखा से इस तैत्तिरीय का वैलक्षण्य अधिक है, अतः कुछ थोड़ी समानता के आधार पर विद्या की एकता माननी उचित नहीं, अन्यथा प्रायः सब कहीं एकता ही प्रसक्त होगी। दूसरी बात यह भी है कि विद्वत्सम्बन्धी यागरूप एक अर्थ का अनुवाद करके पुरुषगत यज्ञत्व, आत्मगत यजमानत्वादि अनेक पदार्थों का विधान मानने पर वाक्य-भेदरूप दोष प्रसक्त होता है। दोनों स्थानों की यज्ञ-विद्याओं की फल श्रुति में महान् अन्तर है, क्योंकि ताण्डी और पैङ्गी शाखा में कथित यज्ञ-विद्या का स्वतन्त्र फल कहा गया है—"स षोडशं वर्षशतं जीवति य एवंवेद" ( छो. ३।१६।७ ) [अर्थात् जो ऐसी उपासना करता है, वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है ]। इस के विपरीत तैत्तिरीय शाखा की पुरुष-यज्ञविद्या का फल स्वतन्त्र न मान कर पूर्व प्रक्रान्त प्रधानभूत सन्यास के फल को ही इस का फल बताया है—"ब्रह्मणा महिमानमाप्नोति" ( म. नारा, २५।१ )। [ पुरुष-यज्ञविद्या से पूर्व सन्यास का प्रकरण है—"तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः" ( म. नारा. २४।१ )। उस सन्यास का फल संकीर्तित है—"य एवं वेद ब्रह्मणो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिवृद्धिफलो ह्यसौ, 'स ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद' ( छा० ३।१६।७ ) इति समभिव्याहारात्। तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥ २४ ॥

---

## ( १४ वेधाद्यधिकरणम् । सू० २५ )

## वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः' इत्यादिः। ताण्डिनाम्—'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यादिः। शाट्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादिः। कठानां तैत्तिरीयाणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' ( तै० १।१।१ ) इत्यादिः। वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि। कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' इति। किमिमे सर्वे प्रविध्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंहियेरन्किं वा नोपसंहियेरन्निति मीमांसामहे। किं तावन्नः प्रतिभाति ? उपसंहार एवैषां विद्यास्विति। कुतः ? विद्याप्रधानानामुप-

भामती

इति श्रवणात् पूर्वोक्तपरामर्शात् तत्फलत्वश्रुतेश्च पारतन्त्र्यम्। न च स्वतन्त्रपरतन्त्रयोरैक्यमुचितमित्याह। ❀ अपि च ससन्न्यासामात्मविद्याम् ❀। उपसंहारति ❀ तस्माद् इति ❀ ॥ २४ ॥

---

विचारविषयं दर्शयति ❀ अस्त्याथर्वणिकानाम् इति ❀। आथर्वणिकाद्युपनिषदारम्भे ते ते मन्त्रास्तानि तानि च प्रवर्ग्यादीनि कर्माणि समाम्नातानि। संशयमाह ❀ किमिम इति।

पूर्वपक्षं गृह्णाति ❀ उपसंहार एषां विद्यासु इति ❀। सफला हि सर्वा विद्या आम्नातास्तत्सन्निधौ

भामती—व्याख्या

महिमानमाप्नोति'' ( म. नारा. १४।२ )। इसी फल की उत्तरत्र पुरुष-यज्ञविद्या में अनुवृत्ति-मात्र की गई है ]। स्वतन्त्रफलक और परतन्त्रफलक विद्याओं की एकता उचित नहीं—"अपि च ससन्न्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्य"। अधिकरण का उपसहार किया जाता है—"तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणाम्। विद्या की एकता सिद्ध न होने पर उन के धर्मों का उपसंहार नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

---

**विषय**—आथर्वणिक उपनिषत् के आरम्भ में यह मन्त्र पठित है—''सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रवृध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य, त्रिधा विप्रवृक्तः'' [ अभिचार-कर्म ( मारण-कर्म ) में कर्त्ता अपने देवता से प्रार्थना करता है कि हे देव ! हमारे शत्रु के पूरे शरीर का विदारण कर, हृदय को विदीर्ण कर शिराओं की धज्जियाँ उड़ा दे और सिर फोड़ दे ]। इसी प्रकार ताण्डी, शाटयायन, कठ और तैत्तिरीय में भी विविध मन्त्र पढे हैं। वाजसनेयी उपनिषत् के आरम्भ में प्रवर्ग्यसंज्ञक कर्म के विधायक ब्राह्मण-वाक्य का पाठ है—''देवा ह वै सत्रं निषेदुः''। [ तपे हुए घी में दूध डाल देना प्रवृज्जन क्रिया है। इस क्रिया के द्वारा सम्पादित हविवाले होमादि कर्म को प्रवर्ग्य कर्म कहते हैं ]।

**संशय**—क्या उक्त सभी प्रविध्यादि मन्त्रों और प्रवर्ग्यादि कर्मों का विद्याओं में उपसंहार होगा ? अथवा नहीं ?

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात्। नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे, वाढम्—अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे, सन्निधिसामर्थ्यात्। नहि सन्निधेरर्थवत्त्वे सम्भ-

भामती

मन्त्राः कर्माणि च समाम्नातानि फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायाद्विद्याङ्गभावेन विज्ञायन्ते। चोदयति ॐ नन्वेषाम् इति ॐ। नह्यत्र श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानानि सन्ति विनियोजकानि प्रमाणानि. नहि यथा दर्शपूर्णमासावारभ्य मन्त्रा वा कर्माणि वा समाम्नातानि। न चासति सामान्यसम्बन्धे सम्बन्धिसन्निधानमात्रात्तादर्थ्यसम्भवः। न च श्रुतस्वाङ्गपरिपूर्णा विद्या एतानाकाङ्क्षितुमर्हति येन प्रकरणापादितसामान्यसम्बन्धानां सन्निधिर्विशेषसम्बन्धाय भवेदित्यर्थः।

समाधत्ते ॐ वाढमनुपलभमाना अपि इति ॐ। मा नाम भूत्फलवतीनां विद्यानां परिपूर्णाङ्गानामाकाङ्क्षा। मन्त्राणां तु स्वाध्यायविध्यापादितपुरुषार्थभावानां कर्मणां च प्रवर्ग्यादीनां स्वविध्यापादितपुरुषाभिलषितसाकाङ्क्षतां सन्निधानादन्यतराकाङ्क्षानिबन्धनो रक्तपटन्यायेन सम्बन्धः। तत्रापि च विद्यानां फलवत्त्वात्तादर्थ्यमफलानां मन्त्राणां कर्मणाञ्च। न च प्रवर्ग्यादीनां पिण्डपितृयज्ञवत् स्वर्गः कल्पनास्पदं फलवत् सन्निधानेन तदवरोहात्। ॐ अनुमास्यामहे सन्निधिसामर्थ्याद् इति ॐ इदं खलु निवृत्ताकाङ्क्षाया

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—"उपसंहार एवैषां विद्यासु"। प्रत्येक विद्या का फल उसके वाक्य में प्रतिपादित है, अतः उन क्रियाओं की सन्निधि में पठित मन्त्रादि उन क्रियाओं के अङ्ग सिद्ध होते हैं, क्योंकि 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्'—यह प्रसिद्धतम् न्याय है [ अर्थात् फलवाले कर्म के समीप जो फलरहित पदार्थ चर्चित होता है, वह पदार्थ उस कर्म का अङ्ग माना जाता है। उक्त न्याय का मूलभूत जैमिनि-सूत्र-भाग इस प्रकार है—"यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्यात्" ( जै. सू. ४।४।३४ ) ]।

**शङ्का** 'नत्वेषां विद्यार्थतया" इस भाष्य के द्वारा यह शङ्का की जाती है कि अङ्गाङ्गिभाव के बोधक छः प्रमाण जैमिनि मीमांसा के तृतीय अध्याय में वर्णित हैं—(१) श्रुति, (२) लिङ्ग, (३) वाक्य, (४) प्रकरण, (५) स्थान और (६) समाख्या। इनमें से स्थान प्रमाण सन्निधिरूप होता है। यह भी उन्हीं पदार्थों का विनियोजक होता है, जिन का प्रकरणादिप्रमाणों के द्वारा सामान्य सम्बन्ध अवगत होता है, जैसे दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित प्रयाजादि कर्म—"समिधो यजति" "तनूनपातं यजति" इत्यादि। वैसे ही किसी विद्या के प्रकरण में पठित मन्त्र और कर्म भी सन्निधि ( स्थान ) प्रमाण से उस के अङ्ग माने जाते हैं। जिन पदार्थों का सामान्य सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता, उन का केवल सन्निधि के बल पर अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि तव उभयाकांक्षात्मक प्रकरण प्रमाण के द्वारा प्रधान को अङ्ग की और अङ्ग को प्रधान की आकांक्षा होती है, जब उन पदार्थों में सामान्य सम्बन्ध आपादित होता है। सामान्यतः सम्बन्धी पदार्थों में ही सन्निधिप्रमाण अङ्गाङ्गिभावरूप विशेष सम्बन्ध का गमक माना जाता है, प्रकृत में वैसा नहीं, अतः केवल सन्निधि से उक्त मन्त्रों और प्रवर्ग्यादि कर्मों का विद्याओं में विनियोग क्योंकर होगा ?

**सामाधान**—"वाढम्, अनुपलभमाना अपि"। अर्थात् यद्यपि कथित विद्याएँ सर्वाङ्गपूर्ण और फलवाली हैं, उनको अन्य किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं। तथापि कथित मन्त्रों में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—इस अध्ययन विधिके द्वारा प्रयोजनवत्ता संस्थापित है, उसी प्रकार प्रवर्ग्यादि कर्मों में उन-के विधि-वाक्यों के द्वारा पुरुषार्थ-साधनता आपादित है। इन मन्त्रों और कर्मों में पुरुषार्थ-साधनता क्योंकर उपपन्न होगी ? इस प्रकार की आकांक्षा में सन्निधिप्रमाण विद्यारूप अङ्गी पदार्थों में भी आकांक्षा का उत्थापन करके विद्याओं की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वत्यकस्मादसावनाश्रयितुं युक्तः। ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं

भामती

विद्यायाः सन्निधाने श्रुतमनाकाङ्क्षया साकाङ्क्षस्यापि सम्बद्धुमसामर्थ्यात्। तस्या अप्याकाङ्क्षामुत्थापयति। उत्थाप्य चैकवाक्यतामुपैति। असमर्थस्य चोपारकत्वानुपपत्तेः। प्रकरणिनं प्रति उपकारसामर्थ्यमात्मनः कल्पयति। न च सत्यपि सामर्थ्ये तत्र श्रुत्या अविनियुक्तं सदङ्गतामुपगन्तुमर्हतीत्यनया परम्परया सन्निधिः श्रुतिमर्थापत्त्या कल्पयति। आक्षिपति ॐननु नैषां मन्त्राणाम् इति॥। प्रयोगसंभवेतार्थप्रकाशनेन हि मन्त्राणामुपयोगो वर्णितोऽविशिष्टस्तु वाक्यार्थं इत्यत्र। न च विद्यासम्बद्धं कञ्चनार्थं मन्त्रेषु प्रतीमः। यद्यपि च प्रवर्ग्यो न किञ्चिदारभ्य श्रूयते, यथापि वाक्यसंयोगेन क्रतुसम्बन्धं प्रतिपद्यते। पुरस्तादुपसदां

भामती—व्याख्या

अङ्गता ( उपकारकता ) के रूप में उस प्रकार को प्रस्तुत करता है, जिससे कथित मन्त्रों और कर्मों में पुरुषार्थ-साधनता पर्यवसित होती है। [ अन्यतराकांक्षा के द्वारा जहाँ उभयाकांक्षा का सम्पादन किया जाता है, वहाँ रक्तपट-न्याय का व्यवहार किया जाता है—रक्त गुण और पट गुणी है 'पटो भवति'—ऐसा कहने पर पटरूप गुणी पदार्थ को गुणादि की कोई आकांक्षा नहीं होती, किन्तु 'रक्तः' ऐसा कहने पर 'कः ? इस प्रकार गुणो की आकांक्षा होती है। गुणो की आकांक्षा के विना उसके साथ गुण का अन्वय नहीं हो सकता, अतः गुणी में आकांक्षा उत्थापित होती है ]।

पिण्डपितृयज्ञादि अनारभ्याधीत कर्मों का फल जैसे स्वर्ग बताया गया है—"स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रति अविशिष्टत्वात्" ( जै.सू. ४।३।१५ )। वैसे ही प्रवर्ग्यादिकर्मों का स्वर्ग फल नहीं माना जा सकता, क्योंकि फलवाली विद्याओं की सन्निधि में पठित होने से उन कर्मो में स्वतन्त्र फलाकांक्षा रहती ही नहीं। यही भाष्यकार ने कहा है—"अनुमास्यामहे सन्निधिसामर्थ्यात्"। निराकांक्ष विद्या की सन्निधि में पठित प्रवर्ग्यादि कर्मों में साध्याकांक्षा के रहने पर भी उक्त विद्याओं में जब तक साधनाकांक्षा न हो, तब तक अन्वय सम्भव नहीं, अतः आकांक्षा उत्थापित की जाती है। उत्थापित आकांक्षा के द्वारा प्रवर्ग्यादि और विद्याओं के वाक्यों की ऐकवाक्यता ( वाक्यप्रमाण ) की कल्पना होती है, उस के द्वारा अङ्गों में उपकारकत्व-सामर्थ्य ( लिङ्ग प्रमाण ) और उस से विनियोजक वाक्य ( श्रुति प्रमाण ) की कल्पना की जाती है, क्योंकि समर्थ होने पर भी अङ्ग जब तक प्रकरणी ( विद्यारूप अङ्गी ) के प्रति विनियुक्त न हो, तब तक वास्तविक अङ्गता को प्राप्त नहीं करता ) [ श्री कुमारिल भट्ट का भी यही कहना है—

एकवाक्यतया यावत्सामर्थमनुमीयते।
सामर्थ्येन श्रुतिस्तावत्कल्प्यते विनियोजिका॥ ( तं. वा. पृ. ८३२ )]

शङ्का—"ननु नैषां मन्त्राणाम्" 'बर्हिर्देवसदनं दामि" ( मै. सं. १।१।३ ) इत्यादि मन्त्रों का विनियोग बर्हिर्लवन ( कुशा काटने ) में इस लिए होता है कि उक्त मन्त्र में बर्हिर्लवन के प्रकाशन का सामर्थ्य है, जो मन्त्र जिस अर्थ का प्रकाशन ( प्रतिपादन ) करता है, उसी अर्थ के अनुष्ठान में उस का उपयोग माना जाता है—अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" ( जै. सू. १।२।४४ ) अर्थात् लौकिक वाक्यों का उपयोग और सार्थक्य अपने अर्थ के प्रकाशन में होता है, वैसे ही वैदिक वाक्यों का भी। किन्तु "सर्वं प्रविश्य"—इत्यादि मात्रों में कथित विद्याओं से सम्बन्धित अर्थ के प्रकाशन का सामर्थ्य नहीं पाया जाता, तब उन मन्त्रों का का विनियोग विद्याओं में क्योंकर होगा ? प्रवग्यादि कर्म यद्यपि किसी विशेष कर्म के प्रकरण में पठित नहीं, तथापि "पुरस्ताद् उपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्ति"—इस वाक्य के द्वारा प्रवर्ग्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

पश्यामः । कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति ? नैष दोषः । सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुम्, हृदयादिसंकीर्तनात् । हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्द्वारेण च हृदयं प्रविश्यैतैर्यैवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम् ।

भामती

प्रवर्ग्येण प्रचरन्तीति । उपसदां जुहूवदभ्यभिचरितक्रतुसम्बन्धत्वात् । यद्यपि ज्योतिष्टोमविकृतावपि सन्त्युपसदः, तथापि तत्रानुमानिक्यो ज्योतिष्टोमे तु प्रत्यक्षविहितास्तेन क्षीघ्रप्रवृत्तितया ज्योतिष्टोमाङ्गतैव वाक्येनावगम्यते । अपि च प्रकृतौ विहितस्य प्रवर्ग्यस्य चोदकेनोपसद्वत्तद्विकृतावपि प्राप्तिः । प्रकृतौ वा अद्विरुक्तत्वादिति न्यायाज्ज्योतिष्टोमे एव विधानमुपसदा सह युक्तं, तदेतदाह ॐ कथं च प्रवर्ग्यादीनि इति ॐ । सन्निधानादर्थविप्रकर्षेण वाक्यं बलीय इति भावः ।

समाधत्ते ॐ नैष दोषः, सामर्थ्यं तावद् इति ॐ । यथा अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामीति मन्त्रे अग्नये निर्वपामीतिपदे कर्मसमवेतार्थप्रकाशके शिष्टानां तु पदानां तदेकवाक्यतया यथाकथञ्चिद् व्याख्यानमेवमिहाऽपि हृदयपदस्योपासनायां समवेतार्थत्वात्तदनुसारेण तदेकवाक्यतापन्नानि पदान्तराणि गौण्या लक्षणया च वृत्त्या कथञ्चिन्नेयानीति नासमवेतार्थता मन्त्राणाम् । न च मन्त्रविनियोगो नोपासनेषु दृष्टो

भामती-व्याख्या

कर्म में ज्योतिष्टोम की अङ्गता स्थिर होती है, क्योंकि जिन उपसत्संज्ञक होमकर्मों के अव्यवहित पूर्व में प्रवर्ग्य कर्म किया जाता है, उन उपसद् होमों का ज्योतिष्टोम से वैसा ही अव्यभिचरित सम्बन्ध है, जैसा जुहू पात्र का यज्ञ से । यद्यपि ज्योतिष्टोम के विकृति कर्मों में भी उपसद् होम किए जाते हैं, तथापि विकृति कर्मों में वे 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश वाक्य के द्वारा अनुमित होते हैं और प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में वे साक्षात् पठित होने के कारण शीघ्रतर ज्योतिष्टोम के उपस्थापक एवं प्रवर्ग्य में ज्योतिष्टोमाङ्गता के निर्णायक होते हैं । दूसरी बात यह भी है कि प्रकृति कर्म में विहित प्रवर्ग्य की प्राप्ति अतिदेश-वाक्य के द्वारा विकृति में भी हो सकती है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"प्रकृतौ वा अद्विरुक्तत्वात्" ( जै. सू. ३।६।२ ) अर्थात् अनारभ्याधीत पदार्थों का प्रकृति कर्मों में ही विनियोग होता है, अन्यथा [ विकृति में भी उन का विनियोग मानने पर ] द्विरुक्तत्वापत्ति होती है, क्योंकि विकृति में साक्षात् भी अनारभ्याधीत प्राप्त हैं और 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश से भी वे पदार्थ विकृति में प्राप्त होंगे, जो कि सर्वथा अनुचित है, अतः द्विरुक्तत्वापत्ति से बचने के लिए अनारभ्याधीत पदार्थों का सीधा निवेश प्रकृति में ही मानना चाहिए, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"कथं च प्रवर्ग्यादीनि" । सन्निधिरूप स्थान प्रमाण की अपेक्षा वाक्य प्रमाण प्रबल होता है, अतः "पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्ति"—इस वाक्य के द्वारा प्रवर्ग्यादि में ज्योतिष्टोम की अङ्गता ही स्थिर होती है ।

**समाधान**—"नैष दोषः" । "सामर्थ्यं तावत्" । जैसे "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" ( तै. सं. १।१।४:१ ) इस मन्त्र के घटकीभूत 'अग्नये' इत्यादि पद कर्म सम्बन्धी अग्निरूप देवता के प्रकाशक होने से उसी के अङ्ग हैं एवं शेष पद उन्हीं पदों के साथ एकवाक्यतापन्न हो कर कथञ्चित् उक्त अग्निदेवताक कर्म के ही अङ्ग होते हैं । वैसे ही "हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मन्त्रों के हृदयादि पदों का सहज सम्बन्ध उपासना से है, अतः शेष पदावली भी हृदयादि पदों से एकवाक्यतापन्न होकर गौणी या लक्षणा वृत्ति के द्वारा उसी उपासना से जुड़ जाती है, फलतः कथित मन्त्री में प्रक्रान्त उपासना में समवेत पदार्थों के प्रकाशन की क्षमता विद्यमान है । उपासनाओं में मन्त्रों का विनियोग कहीं नहीं देखा गया—ऐसा नहीं

 CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः—'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' ( छा० ३।१५।३ ) इत्येवमादिः। तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति।

भामती

येनात्यन्तादृष्टं कल्प्यत इत्याह ॐ दृष्टश्चोपासनेषु इति ॐ। यद्यपि वाक्येन बलीयसा सन्निधिर्दुर्बलो बाध्यते, तथापि विरोधे सति। न चेहाऽस्ति विरोधः। वाक्येन विनियुक्तस्यापि ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यस्य सन्निधिना विद्यायामपि विनियोगसम्भवात्। यथा ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेतेति ब्रह्मवर्चसफलोऽपि बृहस्पतिसवो वाजपेयाङ्गत्वेन चोद्यते—"वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेति।" अत्र हि क्त्वः समानकर्तृकत्वमवगम्यते धातुसम्बन्धे प्रत्ययविधानात्। धात्वर्थान्तरसम्बन्धश्च। कथं च समानः कर्त्ता स्यात्? यद्येकः प्रयोगो भवेत्। प्रयोगाविष्टं हि कर्तृत्वम्। तच्च प्रयोगभेदे कथमेकम्? तस्मात्समानकर्तृकत्वादेकप्रयोगत्वं वाजपेयबृहस्पतिसवयोर्धात्वर्थान्तरसम्बन्धाच्च। न च गुणप्रधानभावमन्तरेणैकप्रयोगता सम्बन्धश्च। तत्रापि वाजपेयस्य प्रकरणे समाम्नानाद्वाजपेयः प्रधानम्, अङ्गं बृहस्पतिसवः। न च दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेतेत्यत्राङ्गप्रधानभावप्रसङ्गः। नह्येतद्वचनं कस्यचिद्दर्शपूर्णमासस्य सोमस्य वा प्रकरणे समाम्नातम्। तथा च द्वयोः साधिकारतया अगृह्यमाणविशेषतया गुणप्रधानभावं

भामती—व्याख्या

कह सकते, क्योंकि "दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः"। अर्थात् पुत्र के दीर्घ आयुष्य के लिए 'त्रिलोकी की कोशरूप में उपासना विहित है, उस में पिता का प्रार्थना-मन्त्र है—"भूः प्रपद्येऽमुना" ( छां, ३।१५।३ ) [ पिता कहता है कि मैं इस पुत्र के साथ भूलोक और परलोक को प्राप्त करूँ पुत्र का वियोग मुझे कभी न हो ]।

यद्यपि प्रबलभूत वाक्य प्रमाण से सन्निधि (स्थानरूप) प्रमाण दुर्बल होने के कारण बाधित होता है, किन्तु दोनों प्रमाणों का परस्पर विरोध होने पर ही बाध्य-बाधकभाव होता है, यहाँ किसी प्रकार का विरोध नहीं, क्योंकि वाक्यप्रमाण के द्वारा प्रवर्ग्यादि कर्मों का ज्योतिष्टोम में विनियोग होने पर भी सन्निधिके द्वारा उपासना में भी विनियोग वैसे ही हो सकता है, जैसे ब्रह्मवर्चसफलक बृहस्पतिसव कर्म का वाजपेय में विनियोग होता है—"वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत" ( आप. श्रौ. १८।७।१७ )। यहाँ पर क्त्वा प्रत्यय से दो क्रियाओं में समानकर्तृकत्व की अवगति होती हैं, क्योंकि पूर्वकालिक क्रिया-वाचक धातु से क्त्वा विहित है और कालान्तर का सम्बन्ध भी स्थापित किया जाता है—"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा" ( पा. सू. ३।४।२१ )। दो क्रियाओं का कर्त्ता समान ( एक ) तभी होगा होगा, जब कि दोनों क्रियाओं का प्रयोग एक ही कर्म में हो। 'कर्तृत्व' धर्म से युक्त व्यक्ति को ही कर्त्ता कहा जाता है। प्रयोग का भेद होने पर एक कर्तृत्व नहीं बन सकता, अतः वाजपेय और बृहस्पतिसव इन दोनों क्रियाओं का एक ही प्रयोग मानना होगा। एक धात्वर्थ के कर्त्ता का अन्य धात्वर्थ के साथ सम्बन्ध भी यही सिद्ध करता है कि उन कर्मों का प्रयोग एक है। दोनों कर्मों में गुण-प्रधानभाव के विना उन का एक विशिष्टात्मक प्रयोग सम्भव नहीं। उन में भी वाजपेयके प्रकरण में बृहस्पतिसव पठित है, अतः प्रकरणीभूत वाजपेय कर्म को प्रधान और बृहस्पतिसब को अङ्ग मानना होगा। "दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत" इस वाक्य के द्वारा दर्शपूर्णमास की अङ्गता सोम याग में प्रसक्त नहीं की जा सकती, क्योंकि यह वाक्य किसी कर्म के प्रकरण में पठित नहीं, अतः दर्शपूर्णमास और सोमयाग—ये दोनों समप्रधानरूप से प्रतीयमान हैं, उन में गुण-प्रधानभाव का विनिगमक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं, फलतः 'दर्शपूर्णमास' पद अपने अधिष्ठानभूत काल का लक्षक है, उस के अनन्तर क्रिय-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैषामुपसंहारो विद्यास्विति। कस्मात्? वेधाद्यर्थभेदात्। हृदयं प्रविश्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्ना अनभिसम्बद्धा-श्रुत उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः। न तेषां ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति। ननु हृदयस्यो-पासनेष्वप्युपयोगात्तद्द्वारक उपासनासम्बन्ध उपन्यस्तः, नेत्युच्यते, हृदयमात्रसंकीर्त-नस्य ह्येवमुपयोगः कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत। नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः। हृदयं प्रविश्य

भामती

प्रति विनिगमनाभावेनाधिष्ठानमात्रविवक्षया लाक्षणिकं समानकर्तृकत्वमित्यदोषः। यदि तु कस्याञ्चि-च्छाखायामारभ्याधीतं दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वेति। तथाप्यनारभ्याधीतत्वेवारभ्याधीते प्रत्यभिज्ञानमिति युक्तम्। तथा सति द्वयोरपि पृथगधिकारतया प्रतीतं समप्रधानत्वमत्यक्तं भवेदितरथा तु गुणप्रधानभावेन तत्त्यागो भवेत्। तस्मात्कालार्थोऽयं संयोग इति सिद्धम्। सिद्धान्तमुपक्रमते ❀ एवं प्राप्ते इति ❀। हृदयं प्रविश्येत्ययं मन्त्रः स्वरसतस्तावदाभिचारिककर्मसमवेतं सकलैरेव पदैरर्थमभिदधदुपलभ्यते। तदस्याभिधानसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं वाक्यप्रकरणाभ्यां क्रमाद्बलीयोभ्यामपि बलवत्, किमङ्ग पुनः क्रमात्? तस्मात्लिङ्गेन सन्निधिमपोद्याभिचारिककर्मशेषत्वमेवापाद्यते। यद्यपि चोपासनासु हृदयपदमात्रस्य सम-वेतार्थत्वम्, तथापि तदितरेषां सर्वेषामेव पदानामसमवेतार्थत्वम्। आभिचारिके तु कर्मणि सर्वेषामर्थ-

भामती—व्याख्या

माण सोमयाग में समानकर्तृकत्व बन जाता है [जैसा कि "उत्पत्तिकालविशये कालः स्यात् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्" (जै. सू, ४।३।३७) इस सूत्र की व्याख्या में श्री माधवाचार्य ने कहा है—

दर्शादिलक्षिते काले सोमयागो विधीयते।
स्वतन्त्रफलवत्त्वेन न युक्ताङ्गाङ्गिता तयोः॥ (न्या. मा. पृ. २५१)

वार्तिककार भी यही कहते हैं—"तस्माद् दर्शपूर्णमासोत्तरकालः सोमः कर्त्तव्य इत्येतद्वि-धीयते" (दुप्. पृ. १२६५)]

यदि किसी शाखा में "दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत"—यह वाक्य सोमयाग के प्रकरण में पठित पाया जाता है, तब भी उसी अनारभ्याधीत वाक्य की प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः उसी वाक्य का पुनर्वाचनमात्र सोमयाग के प्रकरण में मानना अधिक युक्ति-युक्त है। इस प्रकार ज्योतिष्टोम और दर्शपूर्णमास—इन दोनों कर्मों का अपना भिन्न-भिन्न प्रकरण प्रतीयमान है, इनको समप्रधानता सिद्ध होती है। इन में गुण-प्रधानभाव मानने पर समप्रधानता भंग हो जाती है, फलतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि इन दोनों कर्मों के केवल पौर्वापर्य काल का संयोग उक्त वाक्य के द्वारा किया जाता है, अङ्गाङ्गिभाव ज्ञापित नहीं किया जाता।

सिद्धान्त—"एवं प्राप्ते ब्रूमः"। "हृदयं प्रविश्य" यह मन्त्र अपने घटकीभूत पदों के द्वारा स्वरसतः आभिचारिक कर्म (मारण कर्म) की विषयवस्तु प्रस्तुत कर रहे हैं, अतः उस के अभिधान का सामर्थ्य (लिङ्ग प्रमाण) वाक्य और प्रकरण से प्रबल उपलब्ध हो रहा है, वाक्य और प्रकरण अपने उत्तरभावी क्रम (स्थान) प्रमाण से प्रबल माने जाते हैं, अतः क्रम से लिङ्ग की प्रबलता में सन्देह ही क्या? फिर तो सन्निधि (स्थान प्रमाण) का बाध करके उक्त मन्त्र का सामर्थ्य मन्त्र में आभिचारिक कर्म की शेषता (अङ्गता) ही आपादित करता है।

यद्यपि उक्त मन्त्र का एक 'हृदय' पद उपासना-सम्बन्धी अर्थ का प्रकाशक है, तथापि उससे भिन्न प्रायः सभी पद उपासना से जोड़-मेल न खानेवाले अर्थों का ही अभिधान करते हैं, किन्तु आभिचारिक कर्म में उन सभी पदों का सामञ्जस्य हो जाता है, अतः उपासना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धमनोः प्रबृज्येत्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसम्बध्यते। आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थः। तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिसम्बन्धः। तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणा सम्बन्धः, तद्विशेषसम्बन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः। एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन, केषाचिद्वचनेन, केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न संनिधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः। दुर्बलो हि संनिधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इत्यत्र। तथा कर्मणामपि

भामती

समवाय इति किमेकपदसमवेतार्थता करिष्यति? न च सन्निध्युपगृहीतासूपासनासु मन्त्रमवस्थापयतीति युक्तम्। हृदयपदस्याभिचारेऽपि समवेतार्थस्येतरपदैकवाक्यतापन्नस्य वाक्यप्रमाणसहितस्याभिचारिकात् कर्मणः सन्निधिना चालयितुमशक्यत्वादेवं देव सवितः प्रसुव यज्ञमित्यादेरपि यज्ञप्रसवलिङ्गस्य यज्ञाङ्गत्वे सिद्धे जघन्यो विद्यासन्निधिः किं करिष्यति? एवमन्येषामपि श्वेताश्व इत्येवमादीनां केषाञ्चिल्लिङ्गेन केषाञ्चित् श्रुत्या केषाञ्चित्प्रमाणान्तरेण प्रकरणेनेति कस्मात्पुनः सन्निधिर्लिङ्गादिभिर्बाध्यते इत्यत आह ॐ दुर्बलो हि सन्निधिः इति ॐ। प्रथमतन्त्रगतोऽर्थः स्मार्यते। तत्र तु श्रुतिलिङ्गयोः समवाये समानविषयत्वलक्षणे विरोधे किं बलीय इति चिन्ता।

भामती—व्याख्या

में केवल एक (हृदय) पद का समन्वय क्या कर लेगा? 'वह एक पद सन्निधि-गृहीत उपासनाओं में अपने पूरे मन्त्र का बिनियोग कर देगा'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस (हृदय) पद का आभिचारिक कर्म में भी समन्वय हो जाता है, अतः उस पद के साथ एकवाक्यतापन्न सभी पदों का वाक्य प्रमाण के द्वारा आभिचारिक कर्म के साथ जो अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वह सन्निधि के द्वारा हिलाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार "देव सवितः प्रसुव यज्ञम्" (छां. ब्रा. १।१) [हे सविता देवता! इस यज्ञ को सफल कीजिए] इत्यादि मन्त्रों का जब यज्ञप्रसवरूप सामर्थ्य (लिङ्ग प्रमाण) के द्वारा यज्ञ में विनियोग हो जाता है, तब उक्त मन्त्र की उपासना-सन्निधि क्या कर सकेगी? इसी प्रकार "श्वेताश्वः" (जै. उ. ब्रा. ४।१।१।१) इत्यादि मन्त्र भी उपासना की सन्निधि में पठित होने पर भी सन्निधि के द्वारा उपासनाओं में विनियुक्त नहीं होते, क्योंकि उन मंत्रों में से कुछ लिङ्गप्रमाण से, कुछ वचन (श्रुति) से और कुछ वाक्यादि अन्य प्रमाणों से अन्यत्र विनियुक्त होते हैं।

सन्निधि का लिङ्गादि से बाध क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर है—"दुर्बलो हि सन्निधिः श्रुत्यादिभ्यः"। पूर्वमीमांसा-मीमांसित पदार्थों का यहां केवल स्मरण दिलाया जाता है। वहाँ कहा गया है कि "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्, अर्थविप्रकर्षात्" (जै. सू. ३।३।१३)। अर्थात् श्रुत्यादि छः प्रमाणों में पूर्व-पूर्व प्रमाण से उत्तरोत्तर का तब बाध हो जाता है, जब वे एक ही विषय में समवेत (एकत्र) हो जाते हैं। [श्रुति-लिङ्गादि का विरोध देखने से पहले श्रुत्यादि का स्वरूप जान लेना आवश्यक है—

१—श्रुति प्रमाण—यहाँ इतर प्रमाण-निरपेक्ष स्वार्थाभिधायक शब्द को श्रुति कहा गया है। श्रुति के तीन भेद होते हैं—(१) विधात्री, (२) अभिधात्री और (३) विनियोक्त्री, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

अभिधात्री श्रुतिः काचिद्विनियोक्त्र्यपरा तथा।
विधात्री च तृतीयोक्ता प्रयोगो यन्निबन्धनः॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती—व्याख्या

प्रकृतिप्रत्ययश्रुत्योः स्वस्वार्थाभिधातृत्वम्। पदस्य कारकविभक्तीनां च विनियोजकत्वम्" ( तं. वा. पृ. ७०० )। अर्थात् अभिधात्री श्रुति पाँच प्रकार की है—( १ ) धातु, ( २ ) प्रातिपदिक, ( ३ ) प्रत्यय, ( ४ ) उपसर्ग और ( ५ ) निपात। इन्हीं पाँचों का संग्रह वार्तिककार ने दो रूपों में किया है-प्रकृति और प्रत्यय। 'यजति' आदि पद भावना और यागादि में अङ्गाङ्गिभाव के एवं प्रायः सभी कारक विभक्तियाँ शेष-शेषिभाव की गमक होती हैं। अङ्गाङ्गिभाव का बोधन ही विनियोग कहा जाता है। लिङ्, लोट्, लेट्, तव्य आदि को विधात्री श्रुति कहा जाता है। अङ्गाङ्गिभाव के बोधन में एकमात्र श्रुति ही मुख्य प्रमाण है, लिङ्गादि पाँचों प्रमाण अपने पूर्वभावी प्रमाणों की कल्पना के द्वारा श्रुति के कल्पक होने के कारण गौण प्रमाण माने जाते हैं—श्रुतिरेव ह्येकं प्रमाणम्' सा तु ग्रहणोपायषट्कानुरोधेन षोढाऽवतिष्ठते" ( तं. वा. पृ. ८३० )।

२—लिङ्ग प्रमाण—शब्दों की शक्ति और पदार्थों की योग्यता को लिङ्ग प्रमाण माना जाता है, जैसा कि पुरातन (मी. न्या. प्रकाश में उद्धृत) श्लोकांश है—"सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते"। श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी ऐसा ही कहा है—"सर्वभावगता शक्तिर्लिङ्गमित्यभिधीयते" ( न्या. र. मा. २।१ )। बर्हिर्देवसदनं दामि"—इस मन्त्र की अभिधा शक्ति बर्हि ( कुशा ) के काटने में है, अतः यह मन्त्र बर्हिर्लवन क्रिया का अङ्ग है। भाष्यकार ने इसी लिङ्ग की परिभाषा की है—"यत्तावच्छब्दस्यार्थसामर्थ्यं, तल्लिङ्गम्" ( शाबर. पृ. ८२५ )। स्रुवा (लकड़ी के गोलमुखी चम्मच) में घृतादि के निकालने, हस्त में पुरोडाश-पिण्ड से छोटा टुकड़ा तोड़ने तथा स्वधिति ( लोहे की छूरी ) में मांसादि के काटने का सामर्थ्य है, अतः स्रुवादि पदार्थ अपनी-अपनी व्यवस्थित क्रिया के अङ्ग है—इसका नाम अर्थ-सामर्थ्य है।

३—वाक्य प्रमाण—सममिव्याहृत पदों का समूह वाक्य कहलाता है, भाष्यकार भी कहते हैं—"एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्" ( शाबर. पृ. ४४६ )। "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति" ( तै. सं. ३।५।७।६ ) यहाँ पर पर्णता और जुहू का अङ्गाङ्गिभाव वाक्य प्रमाण से सिद्ध होता है, क्योंकि दोनों पद एक वाक्य में ही पठित है। 'पर्णः' शब्द पलाश वृक्ष का वाचक है, अतः पलाश की लकड़ी को छील-छाल कर जुहू पात्र ( लगभग एक हाथ लम्बा तिकोने मुखवाला चम्मच ) बनाया जाता है।

४—प्रकरण प्रमाण—'कि भावयेत्' और 'कथं भावयेत्' इन दोनों आकांक्षाओं के पूरक बचन को प्रकरण कहते हैं। भाष्यकार ने कहा है—"कर्तव्यस्येतिकर्तव्यताकांक्षस्य वचनं प्रकरणम्। प्रारम्भो हि सः, तस्याः वचनं क्रियायाः। स एव विध्यादि विध्यन्तापेक्षः"। ( शाबर. पृ. ८५१ )। अर्थात् 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है—आरम्भ और 'करण' का अर्थ है—'क्रिया'। आरभ्यमाण दर्शपूर्णमासादि क्रिया का वचन-समूह प्रकरण है। इसमें "यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति"—इन विध्यादि वाक्यों से लेकर प्रयाजानुयाजादि अङ्गों के विधायक ( विध्यन्त ) वाक्य संगृहीत हो जाते हैं। अत एव आपदेवादि आचार्यों ने संक्षिप्त लक्षण किया है—'उभयाकांक्षा प्रकरणम्'।

५—स्थान प्रमाण—एक साथ अनुष्ठीयमान पदार्थों में से किसका प्रथम स्थान? किसका द्वितीय, तृतीयादि स्थान है? इस प्रकार क्रम की आकांक्षा के निर्णायक प्रमाण को स्थान प्रमाण कहते हैं, अत एव इस का दूसरा नाम 'क्रम' है, जैसा कि श्री आपदेव ने कहा है—"स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्" ( मी. न्या. प्र. पृ. ७४ )। क्रम दो प्रकार है—(१) शब्द-क्रम और अर्थ-क्रम। अध्वर्यवादि के समय "समिधो यजति," "तनूनपातं यजति"—इत्यादि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

अत्रोदाहरणम् — अस्त्यैन्द्री ऋक् कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र इत्यादिका । श्रुतिर्विनियोक्त्री— ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति । अत्र हि सामार्थ्यलक्षणाल्लिङ्गादिन्द्रे विनियोगः प्रतिभाति । श्रुतेश्च गार्हपत्यमिति द्वितीयातो गार्हपत्यस्य शेषित्वं ऐन्द्रचेति च तृतीयाश्रुतेरैन्द्रचा ऋचः शेषत्वमवगम्यते ।

यद्यपि गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुतेराग्नेयीमृचं प्रति गार्हपत्यस्य शेषित्वेनोपपत्तेः । यद्यपि चैन्द्रचेति च तृतीयाश्रुतेरैन्द्रचा इन्द्रं प्रति शेषत्वेनोपपत्तेरविरोधः । पदान्तरसम्बन्धे तु वाक्यस्यैव लिंगेन विरोधो न तु श्रुतेः । तत्र च विपरीतं बलाबलम् । तथापि श्रुतिवाक्ययो रूपतो

भामती–व्याख्या

वाक्य जिस क्रम से पढ़े जाते है, अनुष्ठान-काल में उन वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित समिदादि कर्मों का अनुष्ठान उसी क्रम से किया जाता है । पार्थसारथि मिश्र ने यही कहा है—"पाठानुष्ठानसादेश्यभेदेन द्विविधः क्रमः" ( न्या. र. मा. २।२ ) ।

६—**समाख्या**—यौगिक शब्द की परिभाषा समाख्या है, वह लौकिक और वैदिकरूप से दो प्रकार की होती है, पार्थसारथि मिश्र कहते हैं—"समाख्या यौगिकी संज्ञा लौकिकी वैदिकी तथा" ( न्या. र. मा. २।३ ) । पद्धतिकारों ने अपनी सुविधा के लिए अध्वर्यु और यजमान आदि के कार्यों का वर्गीकरण करके जो आध्वर्यवम् याजमानम् इत्यादि सँज्ञाएँ बना रखी हैं, वे लौकिकी ( पौरुषेयी ) समाख्याएँ हैं, उनके द्वारा अध्वर्यु आदि में तत्तत्काण्ड-पठित पदार्थोंका कर्तृत्व सिद्ध होता है । "होतृचमसं च मैत्रावरुणचमसं च" (तै. सं. ६।४।३।४) इत्यादि वैदिक समाख्याएँ हैं, इनके द्वारा तत्तत् चमस में अवस्थित शेष द्रव्य के भक्षण की अङ्गता होता आदि में प्राप्त होती है ] ।

[ १—श्रुति और लिङ्ग का विरोध ]

**उदाहरण**—'इन्द्र' पद से घटित ऋचा है—

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यये ।। ( ऋ० ८।५१।७ )

[ हे इन्द्र ! तू दानशील यजमान का घातक कभी नहीं होता, अपितु यजमान पर प्रसन्न होता है । हे मघवन् ! यजमान पुनः पुनः हविरादि का दान तुझे अर्पित करता है ] । ऋचा का विनियोग करनेवाली तृतीया विभक्तिरूप श्रुति है—"ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते" ( मै. सं. १।५।११ ) अर्थात् ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य अग्निका उपस्थान [ 'उपान्मन्त्रकरणे" ( पा. सू. १।३।२) इस सूत्र से निष्पन्न 'उपतिष्ठते' शब्द का अर्थ है—मन्त्रकरणक स्तुति या गुण-गान ] करना चाहिए । उक्त ऋचा का सामर्थ्य इन्द्र देवता के प्रकाशन में है, अतः सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के द्वारा ऋचा का विनियोग इन्द्र देवता के उपस्थान में प्रतीत होता है किन्तु 'गार्हपत्यम्'—इस द्वितीया श्रुति के द्वारा 'गार्हपत्य' अग्नि में शेषिता (अङ्गिता) और 'ऐन्द्रचा' इस तृतीया श्रुति के द्वारा ऋचा में अङ्गत्व अवगत होता है ।

यद्यपि 'गार्हपत्यम्'—यहाँ द्वितीया विभक्तिरूप श्रुति प्रमाण केवल 'गार्हपत्य' को अङ्गी बताता है, किस अङ्ग का ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता, अतः योग्यता के आधारपर किसी आग्नेयी ( अग्नि-प्रकाशक ) ऋचा का विनियोग किया जा सकता है—'आग्नेय्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' । एवं 'ऐन्द्रचा'–इस तृतीयारूप श्रुतिप्रमाण के द्वारा ऐन्द्री ऋचा से केवल अङ्गत्व प्रतीत होता है, वह इन्द्र देवता के प्रति माना जा सकता है—'ऐन्द्रचा इन्द्रमुपतिष्ठेत' । इस प्रकार उक्त द्वितीय और तृतीया विभक्ति के द्वारा 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठेत'—ऐसा बोध पर्यवसित हो नहीं होता कि श्रुति और लिङ्ग का टकराव हो जाता । यदि

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

व्यापारभेवाददोषः। द्वितीयातृतीयाश्रुती हि कारकविभक्तितया क्रियां प्रति प्रकृत्यर्थस्य कर्मकरणभावमवगमयत इति विनियोजिके। क्रियां प्रति हि कर्मणः शेषित्वं करणस्य च शेषत्वमिति हि विनियोगः। पदान्तरानपेक्षे च क्रियां प्रति शेषशेषित्वे श्रुतिमात्रात् प्रतीयेते इति श्रौते। सोऽयं श्रुतितः सामान्यावगतो विनियोगः पदान्तरवशाद्विशेषेऽवस्थाप्यते। सोऽयं विशेषणविशेष्यभावलक्षणः सम्बन्धो वाक्यगोचरः शेषशेषिभावस्तु श्रौतः, तस्माद्वाक्यलभ्यं विशेषमपेक्ष्य श्रौतः शेषशेषिभावो लिंगेन विरुध्यत इति।

श्रुतिलिङ्गविरोधे किं लिङ्गानुगुणेन गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुतिः सप्तम्यर्थे व्याख्यायतां गार्हपत्य-

भामती—व्याख्या

'ऐन्द्री' पद के साथ 'गार्हपत्य' पद का ही सम्बन्ध किया जाता है, तब वह दोनों पदों की एकवाक्यता मानने पर वाक्य प्रमाण का ही लिङ्ग प्रमाण के साथ विरोध प्रसक्त होता है, श्रुति प्रमाण का नहीं। [ वार्तिकार के शब्दों में यह तथ्य अधिक स्पष्ट है—"यद् ऐन्द्रयेति तृतीयाश्रुत्या शेषत्वमात्रमनवगतविशेषिविशेषं प्रतीयते। यत्तु गार्हपत्यमिति द्वितीयया किमपि प्रति शेषित्वमात्रम्, न तस्य लिङ्गेन सह कश्चिद् विरोधः, पदान्तरसम्बन्धे ह्यसति यथार्थमेव ( यत्प्रभिधानमिन्द्रोपस्थानं प्रत्येव ) ऐन्द्र्याः करणत्वं स्यात्। गार्हपत्यस्य वा यां कांचिदाग्नेयीं प्रति शेषत्वं भवेत्। परस्परसन्निधानं तूभयोरिन्द्रोपस्थानं बाधते, तच्च वाक्यम्" ( तं. वा. पृ. ८२७ ) अत एव भाष्यकार कहते हैं—"एवं तर्हि लिङ्गवाक्ये विरुध्यमाने इह संप्रधार्ये, न श्रुतिलिङ्गे" ]। श्रुति से विरुद्ध लिङ्ग बाधित होता है किन्तु वाक्य से विरुद्ध होने पर उसके विपरीत ( बाधक ) होता हैं, वार्तिककार भी कहते हैं—"अतश्च विपरीतबाधप्रसङ्गः" ( तं. वा. पृ. ८२९ )।

तथापि यहाँ श्रुति और वाक्य—इन दोनों प्रमाणों के रहने पर भी दोनों का व्यापार (अभिधान) भिन्न होने के कारण उन का भेद स्पष्ट है, क्योंकि कथित द्वितीया और तृतीया श्रुति कारक विभक्ति होने के कारण प्रकृत ( उपस्थान ) क्रिया के प्रति गार्हपत्य को कर्म और ऐन्द्री ऋचा को करण बता रही है, अतः श्रुति को ही यहाँ विनियोजक माना जाता है, वाक्य को नहीं। किसी क्रिया के प्रति कर्मकारक को शेषी (अङ्गी) और करण को शेष बताना ही 'विनियोग' पद का अर्थ है। द्वितीया श्रुति तृतीयान्त पद की एवं तृतीया श्रुति द्वितीयान्त पद की अपेक्षा किए विना सामान्यतः अङ्गित्व एवं अङ्गत्व का अभिधान करती है और पदान्तर-सापेक्ष वाक्य प्रमाण उन सामान्य धर्मों को विशेषार्थ में उपसंहृत कर देता है। 'ऐन्द्रीकरणकोपस्थाने गार्हपत्यमङ्गि, गार्हपत्यकर्मकोपस्थाने ऐन्द्री करणम्'—इस प्रकार का विशेषण-विशेष्य-युक्त सम्बन्ध वाक्य प्रमाण का विषय हैं, किन्तु अङ्गाङ्गिभाव श्रुति प्रमाण से ही अवगत होता है। फलतः यहाँ वाक्यावगत विशेषरूप की आकांक्षा करनेवाला सामान्य अङ्गाङ्गिभाव ही लिङ्ग प्रमाण से विरुद्ध है। [ यदि यहाँ श्रुति और वाक्य—दोनों प्रमाण हैं, तब लिङ्ग से केवल श्रुति का ही विरोध क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वार्तिककार ने कहा है कि वाक्य की अपेक्षा श्रुति शीघ्रगामिनी है, अतः वही विरोध-पट पर आ जाती है—"कथं पुनर्यथोक्तेन न्यायेनोभयथा विरोधसम्भवे श्रुतिलिङ्गविरोध एव परिगृह्यते, न वाक्यविरोधः? उच्यते—

यथा शीघ्रप्रवृत्तित्वाल्लिङ्गादेर्बाधिका श्रुतिः।
तथैव विनियोगेऽपि सैव पूर्वं प्रवर्तते॥

यच्च शीघ्रतरं विनियुङ्क्ते, तस्यैव प्रतियोगिना विरोधो लक्ष्यते। तत्र श्रुतिरेवं वदति—वाक्यलभ्यस्य विशेषस्यैवविधं शेषशेषित्वमिति। लिङ्गं तु शेषशेषिसम्बन्धेनैव सह विरुध्यते,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

समीपे ऐन्द्रयेन्द्र उपस्थेय इति । आहो श्रुत्यनुगुणतया लिंगं व्याख्यायताम् ? प्रभवति हि स्वोचितायां क्रियायां गार्हपत्य इतीन्द्र इन्धतेरैश्वर्य्यवचनत्वादिति । किन्तावत्प्राप्तं श्रुतेर्लिङ्गं बलीय इति । नो खलु यद् यत्रासमर्थं तत् श्रुतिसहस्रेणापि तत्र विनियोक्तुं शक्यते । यथा अग्निना सिञ्चेत् पायसा वहेदिति । तस्मात् सामर्थ्यं पुरोधाय श्रुत्या विनियोक्तव्यम् । तच्चास्या ऋचः प्रमाणान्तरतः शब्दतश्च इन्द्रे प्रतीयते । तथाहि— विदितपदतदर्थः कदाचनेत्यृचः स्पष्टमिन्द्रमवमच्छन्ति । शब्दतश्चैन्द्रचेत्यतः, तस्माद्दारुवहनस्येव वहनस्य सलिलवहने विनियोगे गार्हपत्ये विनियोग ऐन्द्र्याः । न च श्रुत्यनुरोधाज्जघन्यामास्थाय वृत्तिं सामर्थ्यकल्पनेति साम्प्रतम् । सामर्थ्यस्य पूर्वभावितया तदनुरोधेनैव श्रुतिव्यवस्थापनात् । तस्मादैन्द्र्यर्चेन्द्र एव गार्हपत्यसमीप उपस्थातव्य इति प्राप्ते अभिधीयते—

लिङ्गज्ञानं पुरोधाय न श्रुतेर्विनियोक्तृता ।
श्रुतिज्ञानं पुरोधाय लिङ्गन्तु विनियोजकम् ॥

यदि हि सामर्थ्यमवगम्य श्रुतेर्विनियोगमवधारयेत् प्रमाता , ततः श्रुतेर्विनियोगं प्रति लिङ्गज्ञानापेक्षत्वात् दुर्बलत्वं भवेद् , न त्वेतदस्ति । श्रुतिर्विनियोगाय सामर्थ्यमपेक्षते न।पेक्षते सामर्थ्यविज्ञानम् ।

भामती—व्याख्या

न वाक्यगम्येन विशेषणविशेष्यभावेन" ( तं वा. पृ. ८२८ ) ] ।

**संशय**—श्रुति और लिङ्ग का विरोध उपस्थित होने पर क्या लिङ्ग के अनुरोध पर द्वितीया श्रुति को सप्तम्यर्थक मान कर "गार्हपत्यसमीपे ऐन्द्र्याः"—ऐसा अर्थ किया जाय ? अथवा श्रुति के अनुसार लिङ्ग की व्याख्या की जाय ? अर्थात् 'इदि ऐश्वर्ये' इस धातु से निष्पन्न 'इन्द्र' शब्द ऐश्वर्य-सम्पन्न गार्हपत्याग्नि का बोधक माना जाय ?

**पूर्वपक्ष**—श्रुति प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण प्रबल होता है, क्योंकि सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण की अपेक्षा कर के ही श्रुति समर्थ अङ्गों का विनियोग करती है, जो अङ्ग जिस कार्य के साधन में समर्थ नहीं, ऐसे असमर्थ अङ्ग का विनियोग एक श्रुति क्या, हजारों श्रुति प्रमाण मिल कर भी नहीं कर सकते , जैसे सिञ्चन कर्म में अग्नि और दाह कर्म में जल का विनियोग नहीं किया जा सकता—"अग्निना सिञ्चेत्,' 'पयसा दहेत्' । फलतः सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण को आगे रख कर ही श्रुति के द्वारा विनियोग करना चाहिए । वह ( सामर्थ्य ) उक्त ऋचा के शक्ति-ग्राहक वृद्धव्यवहाररूप प्रमाणान्तर एवं 'ऐन्द्री' रूप तद्धिान्त शब्द के द्वारा इन्द्रदेवता में ही प्रतीत होता है, क्योंकि जिस व्यक्ति ने वृद्ध-व्यवहार के आधार पर शब्दों का शक्तिग्रह कर रखा है, वह "कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र"—इस ऋचा का इन्द्र-प्रकाशन में तात्पर्य समझ लेता है । इतना ही नहीं, 'ऐन्द्री'—इस शब्द के द्वारा भी वैसा ही निश्चय कर लेता है । फलतः ऐन्द्री ऋचा का गार्हपत्य में विनियोग वैसा ही असंगत है, जैसा कि काष्ठ-दाहक अग्नि का जल के दहन में विनियोग । 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यम्'—इस द्वितीया तृतीया विभक्तिरूप श्रुति के अनुरोध पर 'इन्द्र' शब्द की गार्हपत्याग्नि में गौणी वृत्ति से सामर्थ्य की कल्पना उचित नहीं, क्योंकि सामर्थ्य पूर्वभावी है, अतः सामर्थ्य के अनुरोध पर श्रुति की व्यवस्था करनी चाहिए । वह व्यवस्था इस प्रकार है कि गार्हपत्याग्नि के समीप देश में ऐन्द्री ऋचा के द्वारा इन्द्र का उपस्थान करना चाहिए ।

**सिद्धान्त**– यह जो कहा गया कि लिङ्ग-ज्ञान को आगे करके श्रुति प्रमाण के द्वारा विनियोग होता है । वह कहना असत्य है, सत्य तो यह है कि श्रुति-ज्ञान के अनुसार ही लिङ्ग के द्वारा विनियोग किया जाता है । यदि पहले सामर्थ्य का ज्ञान करके प्रमाता पुरुष श्रुति प्रमाण में विनियोजकत्व निर्धारित करता है, तब श्रौत विनियोग के प्रति लिङ्ग-ज्ञान

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

अवगते तु ततो विनियोगे नासमर्थस्य स इति तन्निर्वाहाय सामर्थ्यं कल्प्यते । तत् श्रुतिविनियोगात् पूर्वमस्ति सामर्थ्यम्, न तु पूर्वमवगम्यते । विनियोगे तु सिद्धे तदन्यथानुपपत्त्या पश्चात् प्रतीयत इति श्रुतिविनियोगात् पराचीना सामर्थ्यप्रतीतिस्तदनुरोधेनावस्थापनीया । लिंगं तु न स्वतो विनियोजकमपि तु विनियोक्त्रीं कल्पयित्वा श्रुतिम् । तथाहि– न स्वरसतो लिङ्गावनेनेन्द्र उपस्थातव्य इति प्रतीयते, किन्त्वीदृगिन्द्र इति तस्य तु प्रकरणाम्नानसामर्थ्यात् सामान्यतः प्रकरणापादितैवमर्थ्यस्य तदन्यथानुपपत्त्या विनियोगकल्पनायामपि श्रौताद्विनियोगात् कल्पनीयस्य विनियोगस्यार्थविप्रकर्षात् श्रुतिरेव कल्पयितुमुचिता न तु तदर्थो विनियोगः । नहि श्रुतमनुपपन्नं शक्यमर्थेनोपपादयितुम् । नहि त्रयोऽत्र ब्राह्मणाः कठकौण्डिन्याविति वाक्यं प्रमाणान्तरोपस्थापितेन माठरेणोपपादयन्ति उपपादयतो वा नोपहेसन्ति शाब्दाः ।।माठरश्चेति तु श्रावयन्तमनुमन्यन्ते । तस्मात् श्रुतार्थसमुत्थानानुपपत्तिः श्रुतेनैवार्थान्तरे-

भामती–व्याख्या

की अपेक्षा होने के कारण श्रुति में दुर्बलता हो सकती थी किन्तु वैसा नहीं, क्योंकि श्रुति प्रमाण किसी पदार्थ का विनियोग करने के लिए स्वरूपतः विद्यमान सामर्थ्य की अपेक्षा करता है, सामर्थ्य-ज्ञान की नहीं । श्रुति के द्वारा विनियोग होने के पश्चात् सामर्थ्य की कल्पना की जाती है, क्योंकि असमर्थ पदार्थ का विनियोग नहीं किया जा सकता । इस से यह सिद्ध होता है कि श्रौत विनियोग से पूर्व वस्तु में सामर्थ्य है किन्तु पहले उस का ज्ञान नहीं होता । विनियोग हो जाने पर विनियोग की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा सामर्थ्य की अवगति होती है । श्रुति-विनियोग की परभावी सामर्थ्य-प्रतीति श्रुति के अनुसार ही मुख्य या गौण व्यवस्थापित की जाती है । जैसे श्रुति स्वयं विनियोजिका होती है, वैसे लिङ्ग प्रमाण स्वतः विनियोजक नहीं होता, अपितु विनियोजिका श्रुति की कल्पना करके ही विनियोजक माना जाता है, अर्थात् 'अनेन (मन्त्रेण) इन्द्र उपस्थातव्यः'—ऐसा विनियोग केवल लिङ्ग प्रमाण से नहीं होता, अपितु इन्द्र उपस्थातव्य—इतना ही ज्ञान होता है । उस (मन्त्र) का प्रकरण में पाठ देख कर प्रकरण प्रमाण के द्वारा सामान्यतः प्रकृतार्थोपयोगित्व कल्पित होता है । इन्द्र के स्वरूप का अभिधान अन्यथोपपन्न नहीं होता, अतः इन्द्र के उपस्थान में मन्त्र के विनियोग की कल्पना की जाती है । इस प्रकार उक्त ऋचा का विनियोग गार्हपत्य में श्रुति से और इन्द्र में लिङ्ग प्रमाण से अवगत होता है । इस श्रौत विनियोग की अपेक्षा लिङ्ग के द्वारा कल्पनीय विनियोग में अर्थ–विप्रकर्ष है, [ जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"पारदौर्बल्यम् , अर्थविप्रकर्षात्:' ( जै. सू. ३।३।१३ ) । भाष्यकार ने इस का अर्थ किया है—'अर्थस्य विप्रकर्षोऽर्थविप्रकर्षः । कः पुनरर्थः ? श्रुत्यर्थः—गार्हपत्यमुपतिष्ठते इति सन्निकृष्टः । 'इन्द्र उपस्थेयः' इति विप्रकृष्टः" (शाबर. पृ. ८४४) । शब्दतः उपस्थिति सन्निकृष्ट या साक्षात् होती है और अनुमानतः उपस्थिति विप्रकृष्ट (व्यवहित) या आनुमानिक मानी जाती है ] । फलतः लिङ्ग प्रमाण के द्वारा श्रुति की ही कल्पना करनी चाहिए, विनियोग की नहीं, क्योंकि अर्थतः प्राप्त पदार्थ के द्वारा श्रुत पदार्थ को अनुपपन्न नहीं ठहराया जा सकता, 'शब्दः शाब्देनैवान्वेति'—इस न्याय के अनुसार शब्दतः उपस्थापित पदार्थ का सदैव सम्बन्ध शाब्द पदार्थ से ही होता है, अन्य प्रमाण से उपस्थापित पदार्थ के साथ नहीं, जैसे कि 'त्रयोऽत्र ब्राह्मणाः कठकौण्डिन्यौ'—यहाँ प्रमाणान्तर से उपस्थापित माठररूप तृतीय ब्राह्मण का अन्वय नहीं हो सकता, अपितु 'त्रयोऽत्र ब्राह्मणा, कठकौण्डिन्यमाठराः'—ऐसा वाक्य अपेक्षित है, तभी ब्राह्मणत्रयी का समन्वय हो सकेगा, अन्यथा अधूरे वाक्य का प्रयोक्ता पुरुष उपहासास्पद ही होता है । जैसे उक्त अधूरे वाक्य की अनुपपत्ति 'माठर' पद के प्रयोग से ही


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

णोपपादनीया नार्थान्तरमात्रेण प्रमाणान्तरोपनीतेनेति लोकसिद्धम्। न च लोकसिद्धस्य नियोगानुयोगौ युज्येते शब्दार्थज्ञानोपायभूतलोकविरोधात्। तस्माद्विनियोजिका श्रुतिः कल्पनीया। तथाच यावल्लिङ्ग-द्विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयितुं प्रक्रान्तव्यापारस्तावत् प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्ये विनियोगः सिद्ध इति निवृत्ताकाङ्क्षं प्रकरणमिति कस्यानुपपत्त्या लिङ्गं विनियोक्त्रीं श्रुतिमुपकल्पयेत्? मन्त्रसमाम्नानस्य प्रत्यक्षयैव विनियोगश्रुत्योपपादितत्वात्। यथाहुः —

यावदज्ञातसन्दिग्धं ज्ञेयं तावत् प्रमित्स्यते।
प्रमिते तु प्रमातॄणां प्रमौत्सुक्यं विहन्यते॥ इति।

तस्मात्प्रतीतश्रौतविनियोगोपपत्त्यैव मन्त्रस्य सामर्थ्यं तदनुगुणत्वेन नीयमानं प्रथमां वृत्तिमज-हल्लक्षण्ययाऽपि नेयमिति सिद्धम्।

लिङ्गवाक्ययोरिह विरोधो यथा —'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेषं कल्पयामि। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमान' इति। किमयं कृत्स्न एव मन्त्रः सदनकरणे पुरो-

भामती—व्याख्या

दूर होती है वैसे ही श्रुतार्थ-जनित अनुपपत्ति का उपपादन श्रुतार्थ के द्वारा ही करना होगा, प्रमाणान्तरोपनीत पदार्थ के द्वारा नहीं—ऐसी ही लोक-प्रसिद्धि है। लोक प्रसिद्ध न्याय पर किसी प्रकार का नियोग (संशोधन) और अनुयोग (आक्षेप) नहीं कर सकते, अन्यथा शब्दार्थ-ज्ञान के उपायभूत लौकिक व्यवहार का विरोध होगा। फलस्वरूप लिङ्ग के द्वारा विनियो-जिका श्रुति की ही कल्पना करनी होगी, फिर तो लिङ्ग प्रमाण जब तक विनियोजक श्रुति की कल्पना करने के लिए सक्रिय होता है, तब तक "ऐन्द्रया गार्हपत्यम्"—इस प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा ऐन्द्री ऋचा का गार्हपत्याग्नि में विनियोग सिद्ध हो जाता है अतः दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित उक्त ऋचा की कैमर्थ्याकांक्षा निवृत्त हो जाती है, तब किस की अनु-पपत्ति को माध्यम बना कर लिंग प्रमाण विरुद्ध श्रुति की कल्पना करेगा? ऋचा के अभिधान-व्यापार का सामञ्जस्य प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा ही हो जाता है, जैसा कि कहा है—

यावदज्ञातसन्दिग्धं ज्ञेयं तावत् प्रमित्स्यते।
प्रमिते तु प्रमातॄणां प्रमौत्सुक्यं विहन्यते॥

[ जबतक कोई ज्ञेय पदार्थ अज्ञात या सन्दिग्ध रहता है, तब तक ही उस की प्रमित्सा (जिज्ञासा) रहती है और जब वह पदार्थ प्रमित हो जाता है, तब उस के जानने की उत्सुकता समाप्त हो जाती है ]। उक्त मन्त्र का श्रौत विनियोग जब निश्चित हो जाता है, तब मन्त्र के सामर्थ्य का समन्वय श्रुति के अनुसार गार्हपत्य में ही करना होगा। वह समन्वय यदि प्रथम ( मुख्य या अभिधा ) वृत्ति को लेकर सम्भव हो, तब उसी मुख्य वृत्ति से ही वह किया जाय। यदि वैसा सम्भव न हो, तब 'इन्द्र' शब्द का गौणी वृत्ति के द्वारा ( ऐश्वर्य रूप गुण से समन्वित ) गार्हपत्य में समन्वय किया जाय॥

[ २—लिंग और वाक्य का विरोध ]

**उदाहरण**—"स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि, तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः" ( तै. ब्रा. ३।७।५।२ )। [ हे पुरोडाश! तुम्हारे बैठने के लिए सुन्दर स्थान बना रहा हूँ, उस स्थान को घी के धारा से तर करके तुम्हारे सेवन ( बैठने ) के योग्य बना रहा हूँ। हे व्रीहि के सारभूत! तुम प्रसन्नचित्त होकर उस अमृत सदन में बैठो ]।

**संशय**—यहाँ दो क्रियाएँ हैं—(१) सदनकरण ( पुरोडाश को रखने के लिए

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

डाशासादने च प्रयोक्तव्यः, उत कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे तस्मिन् सीदेत्येवमादिस्तु पुरोडाशासादन इति। यदि वाक्यं बलीयः कृत्स्नो मन्त्र उभयत्र, सुशेवं कल्पयामीत्येतदपेक्षो हि तस्मिन् सीदेत्यादिः पूर्वेणैकवाक्यतामुपैति—यत्तत् कल्पयामि तस्मिन् सीदेति। अथ लिंगं बलीयस्ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे तत्प्रकाशने हि तत्समर्थम्, तस्मिन् सीदेति पुरोडाशासादने तत्र हि तत्समर्थमिति।

किं तावत् प्राप्तम् ? लिङ्गाद्वाक्यं बलीय इति, उभयत्र कृत्स्नस्य विनियोग इति। इह हि यत्तत्पदसमभिव्याहारेण विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वात् एकवाक्यतायां सिद्धायां तदनुरोधेन पश्चात्तदभिधानसामर्थ्यं कल्पनीयम्। यथा देवस्य त्वेतिमन्त्रेऽग्नये निर्वपामीति पदयोः समवेतार्थत्वेन तदेकवाक्यतया पदान्तराणां तत्परत्वेन तत्र सामर्थ्यकल्पना तदेवं प्रतीतैकवाक्यता निर्वाहाय तदनुगुणतया सामर्थ्यं कल्प्तं सन्न तद्वथापादयितुमर्हति, अपि तु विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयत्तदनुगुणमेव कल्पयेत्। तथा च वाक्यस्य लिङ्गतो बलीयस्त्वात्सदनकरणे च पुरोडाशासादने च कृत्स्न एव मन्त्रः प्रयोक्तव्य इति प्राप्तम्।

भामती-व्याख्या

तश्तरी में घृत चुपड़ कर स्थान बनाना ) और पुरोडाश का सादन (उस स्थान पर रखना)। वहाँ सन्देह होता है कि क्या यह पूरा मन्त्र तदन करण और सादन के समय बोला जायगा ? अथवा कल्पयामि तक का ( पूर्वार्ध ) भाग उपस्तरण ( सदनकरण ) में और 'तस्मिन सीद' से लेकर शेष ( उत्तरार्ध ) भाग पुरोडाश के रखते समय बोला जाय ? यदि लिङ्ग से वाक्य प्रबल है, तब पूरा-पूरा मन्त्र दोनों क्रियाओं में बोला जायगा, क्योंकि मध्य में अवस्थित 'तस्मिन्'—यह पद पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की एकवाक्यता कर के पूरे मन्त्र की एक इकाई सिद्ध करता है, मन्त्र-भेद नहीं होने देता। यदि वाक्य से लिङ्ग बलवान् माना जाता है, तब सदन और सादनरूप भिन्न अर्थों के प्रकाशक दोनों भागों के दो मन्त्र मानने होंगे, अतः पूर्वार्ध का सदनकरण और उत्तरार्धका सादन में व्यवस्थित विनियोग होगा।

**पूर्वपक्ष**—लिंग की अपेक्षा वाक्य बलीयान् है, अतः पूरे-पूरे मन्त्र का दोनों क्रियाओं में विनियोग होगा। 'यत्' और 'तत्' पद नित्य सापेक्ष होते हैं अर्थात् जहाँ केवल 'यत्' पद श्रुत है, वहाँ 'तत्' पद का और जहाँ केवल 'तत्' पद श्रुत है, वहाँ 'यत्' पद का अध्याहार हो जाता है। प्रकृत मन्त्र में 'तस्मिन् सीद'—इस प्रकार श्रुत 'तत्' पद के द्वारा 'यत् स्योनं ते सदनम्'—इस प्रकार 'तत्' पद का अध्याहार होता है। श्रुत और अध्याहृत पदों के समभिव्याहार ने पूरे मन्त्र की एकवाक्यता सुदृढ़ कर रखी है, अत एव पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का विभाग कर देने पर दोनों साकांक्ष हो जाते हैं, एकवाक्यता का यही लक्षण महर्षि जैमिनि ने किया है—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद्विभागे स्यात्' ( जै. सू. २।१।४६ ) [भाष्यकार ने इसकी व्याख्या में कहा है—"एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। यदि च विभज्यमानं साकांक्षं पदं भवति। किमुदाहरणम् ? "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्याम्, पूष्णो हस्ताभ्याम्, अग्नये जुष्टं निर्वपामि" ( तै. सं. १।१।४।२ )। धान्य-राशि से किसी देवता के लिए जो नियत मुट्ठी भर-भर कर व्रीहि आदि निकाले जाते हैं, उसका नाम निर्वाप है। उक्त पूरे मन्त्र का एकमात्र प्रयोजन निर्वाप है ]। 'अग्नये निर्वपामि'—इन पदों का विभाग कर देने पर आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है, अतः उक्त दोनों पदों की एकवाक्यता है, शेष पदों का भी उसी निर्वापरूप एक ही अर्थ में तात्पर्य है, फलतः पूरे मन्त्र की एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है। इस एकवाक्यता का निर्वाह करने के लिए ही सामर्थ्य की कल्पना होती है, एकवाक्यता भङ्ग करने के लिए नहीं। 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'—इस मन्त्र में सदनकरण भी सादन के लिए ही है, अतः पुरोडाश-सादन रूप एक ही अर्थ के अभिधान का सामर्थ्य पूरे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

एवं प्राप्ते उच्यते—भवेदेतदेवं यद्येकवाक्यतावगमपूर्वं सामर्थ्यावधारणमपि तु अवधृतसामर्थ्यानां पदानां प्रश्लिष्टपठितानां सामर्थ्यवशेन प्रयोजनैकत्वेनैकवाक्यत्वावधारणम्। यावन्ति पदानि प्रधानमेकमर्थमवगमयितुं समर्थानि विभागे साकाङ्क्षाणि, तान्येकं वाक्यम्। अनुष्ठेयश्चार्थो मन्त्रेषु प्रकाश्यमानः प्रधानम्, सदनकरणपुरोडाशासादने चानुष्ठेयतया प्रधाने, तथोश्च सदनकरणं कल्पयाम्यन्तो मन्त्रः समर्थः प्रकाशयितुं पुरोडाशासादनं च तस्मिन्सीदेत्यादिः। ततश्च यावदेकवाक्यतावशेन सामर्थ्यमनुमीयते, तावत्प्रतीतं सामर्थ्यमेकैकस्य भागस्यैकैकस्मिन्नर्थे विनियोजिकां श्रुतिं कल्पयति। तथाच श्रुत्यैवैकैकस्य भागस्यैकत्र विनियोगे सति प्रकरणपाठोपपत्तौ न वाक्यकल्पितं लिंगं विनियोजिकां श्रुतिमपरां कल्पयितुमर्हतीत्येकवाक्यताबुद्धिरुत्पन्नाप्याभासीभवति लिंगेन बाधनात्। यत्र तु विरोधकं लिंगं नास्ति तत्र समवेतार्थैकद्वित्रिपदैकवाक्यता पदान्तराणामपि सामर्थ्यं कल्पयतीति भवति वाक्यस्य विनियोजकत्वम्। यथाऽत्रैव स्योनन्त इत्यादीनाम्। तस्माद्वाक्यालिंगं बलीय इति सिद्धम्।

भामती—व्याख्या

मन्त्र में कल्पित होता है, इस प्रकार लिङ्ग प्रमाण पूरे मन्त्र का विनियोग सदनकरण एवं पूरे मन्त्र का ही विनियोग पुरोडाश-सादन में करता है।

**सिद्धान्त**—ऐसा विनियोग तभी सिद्ध हो सकता था, जब कि एकवाक्यता की प्रतीति के अनुसार सामर्थ्य का अवधारण किया जाता किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, प्रत्युत प्रश्लिष्ट-पठित (असन्निहित) पदों की शक्ति के अनुसार तब एकवाक्यता मान ली जाती है, जब उन पदों का अर्थ (प्रयोजन) एक ही हो। अर्थात् जो पद एक ही प्रधान पदार्थ की अवगति कराने में समर्थ एवं विभक्त होने पर साकांक्ष हो जाते हैं, वे पद मिलकर एक वाक्य कहलाते हैं। मन्त्रों के द्वारा प्रकाश्यमान एवं अनुष्ठेय अर्थ को प्रधान माना है। प्रकृत में सदनकरण और पुरोडाश का सादन (स्थापन) ये दोनों पदार्थ अनुष्ठेय होने के कारण प्रधान हैं। उनमें सदनकरण के प्रकाशन में कल्पयामि-पर्यन्त मन्त्र-भाग एवं पुरोडाश के सादन में 'तस्मिन् सीद'—इत्यादि मन्त्र-भाग समर्थ है। जितने भाग का सामर्थ्य एक पदार्थ के प्रकाशन में प्रतीत होता है, उसी के अनुरूप विनियोजिका श्रुति की कल्पना होती है। इस प्रकार प्रकृत में लिङ्ग-अनुमित श्रुति के आधार पर मन्त्र के एक-एक भाग का सदन और सादन में विनियोग हो जाता है। इस व्यवस्थित विनियोग के द्वारा कथित मन्त्रके दोनों अर्थों में उत्पन्न एकवाक्यता की बुद्धि बाधित हो जाती है, उसके माध्यम से अन्य श्रुति की कल्पना नहीं कर सकते, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

एकवाक्यतया यावत् सामर्थ्यमनुमीयते।
सामर्थ्येन श्रुतिस्तावत्कल्प्यते विनियोजिका॥ (तं. वा. पृ. ८३२)

जहाँ पर एकवाक्यता का विरोधक कर्म-समवेत अर्थ के प्रकाशन का सामर्थ्य सुलभ नहीं होता, वहाँ अवश्य ही एकार्थक दो, तीन या चार आदि पदों की एकवाक्यतासे सामर्थ्य की और सामर्थ्यसे विनियोजिका श्रुति की कल्पना अगत्या उचित मानी जाती है, वार्तिककार वैसा ही कहते हैं—

पदान्तराणि यत्रार्थं वदेयुः कर्मवर्तिनम्।
तत्रैवमितरेषां तु वाक्यमप्यगतेर्वरम्॥ (तं. वा. पृ. ८३३)

किन्तु "स्योनं ते सदनं कृणोमि" यहाँ पर वैसा सम्भव नहीं, अतः वाक्य प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण बलीय है—यह सिद्ध हो गया।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

वाक्यप्रकरणयोर्विरोधोदाहरणम् —अत्र च पदानां परस्परापेक्षावशात्कस्मिंश्चिद्विशिष्ट एकस्मिन्नर्थे पर्य्यवसितानां वाक्यत्वं, लब्धवाक्यभावानां च पुनः कार्य्यान्तरापेक्षावशेन वाक्यान्तरेण सम्बन्धः प्रकरणम् । कर्त्तव्यायाः खलु फलभावनाया लब्धधात्वर्थकरणाया इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षाया वचनं प्रकरणमाचक्षते वृद्धाः । यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति । एतद्धि वचनं प्रकरणम् । तदेतस्मिन् स्वपदगणेन कियत्यप्यर्थे पर्य्यवसिते करणोपकारलक्षणकार्य्यान्तरापेक्षायां समिधो यजतीत्यादिवाक्यान्तरसम्बन्धः । समिदादिभावना हि स्वविध्युपहिताः पुरुषे हितं भाव्यमपेक्ष्यमाणा विश्वजिन्न्यायेन वानुषङ्गतो वा अर्थवादतो वा फलान्तराप्रतिलम्भेन दर्शपूर्णमासभावनां निवारयितुमीशते । तस्मात्तदाकाङ्क्षायामुपनिपतितान्येतानि वाक्यानि स्वकार्य्यापेक्षाणि तदपेक्षितकरणोपकारलक्षणं कार्य्यमासाद्य निर्वृण्वन्ति च निवारयन्ति च प्रधानम् । सोऽयमनयोर्नष्टाश्ववद्रथवत्संयोगः । तदेवंलक्षणयोर्वाक्यप्रकरणयोर्विरो-

भामती–व्याख्या

[ ३—वाक्य और प्रकरण का विरोध ]

**वाक्य और प्रकरण का स्वरूप**—उन पदों के समूह को वाक्य कहते हैं जो परस्पर साकांक्ष होकर किसी एक विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन में पर्यवसित होते हैं। वाक्यभावापन्न एक पद-समूह ( करणगत व्यापाररूप ) कार्यान्तर की अपेक्षा से अन्य वाक्य के साथ सम्बंधित होकर प्रकरण कहा जाता है। श्री शबरस्वामी कहते हैं—"कर्त्तव्यस्येतिकर्त्तव्यताकांक्षस्य वचनं प्रकरणम्" ( शाबर. पृ. ८५१ )। जैसे कि दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" ( आप. श्रौ. ३।१४।८ )। इस वचन को प्रकरण कहते हैं, क्योंकि इस वाक्य के स्वकीय पदों के द्वारा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गापूर्वं भावयेत्"—ऐसा स्वर्गापूर्वरूप कर्त्तव्यार्थ का बोध होता है। यहाँ स्वर्गापूर्वं का करण दर्शपूर्णमास कर्म है, उसमें कथंभाव की आकांक्षा होती है—'कथं दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गापूर्वं कुर्यात् ? कथंभावाकांक्षा का अर्थ है—करणगत उपकारक व्यापार की आकांक्षा। लोक में जैसे कुठारादि करणों का सहायक व्यापार उद्यमन, निपातनादि होता है, वैसे ही दर्शपूर्णमासरूप करण का सहायक व्यापार होता है—प्रयाज, अनुयाज आदि अङ्ग कलाप। अतः वहाँ अङ्गापूर्वरूप कार्यान्तर की आकांक्षा में "समिधो यजति" (तै.सं.२।६।१।१) इत्यादि अन्य वाक्यों का उक्त प्रधान कर्म-विधायक वाक्य के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि जैसे प्रधान वाक्य में कथंभावाकांक्षा है, वैसे ही प्रयाजादि में साध्य की आकांक्षा होती है—समिदादिभिः किं भावयेत् ? इस प्रकार उभयाकांक्षा से परस्पर अन्वित वाक्यों को ही प्रकरण कहते हैं। समिदादि कर्मों का न तो विश्वजिन्न्या से स्वर्गरूप साध्य के साथ संबन्ध हो सकता है ( द्र. जै. सू. ४।३।१५ ) और न रात्रिसत्र-न्याय ( द्र. जै. सू. ४।३।१८ ) से अर्थवादोक्त फल के साथ, क्योंकि समिदादि-वाक्य दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित हैं, अतः दर्शपूर्णमासकरणक भावना के साथ समिदादि के सम्बन्ध का निवारण कोई नहीं कर सकता, फलतः दर्शपूर्णमास की कथंभावाकांक्षा में उपनिपतित "समिधो यजति", "तनूनपातं यजति"—इत्यादि वाक्य स्वाभिधेय प्रयाजादि से जनित अङ्गापूर्वरूप कार्य के द्वारा दर्शपूर्णमासरूप करण का उपकार सम्पादन करके उसकी कथंभावाकांक्षा को शान्त करते हैं और प्रधान कर्म ( दर्शपूर्णमास ) को स्वर्गापूर्वके साधन की पूर्ण क्षमता घदान करते हैं। दर्शपूर्णमासरूप प्रधान और समिदादि रूप अङ्ग कर्मों का परस्पर की आकांक्षा से वैसे ही परस्पर अन्वय होता है, जैसे युद्ध-भूमि में एक योद्धा के अश्व नष्ट हो गए और दूसरे का रथ ध्वस्त हो गया, दोनों ने अपने बचे हुए रथ में घोड़ों को जोड़ दिया।

**उदाहरण**—इस प्रकार के वाक्य और प्रकरण के विरोध का उदाहरण [ प्रस्तुत करते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

घोवाहरणं सूक्तवाकनिगदः । तत्र हि पौर्णमासीदेवताः अमावास्यादेवताः समाम्नाताः । ताश्च न मिथ एकवाक्यतां गन्तुमर्हन्तीति लिंगेन पौर्णमासीयागादिन्द्राग्नीशब्द उत्कृष्टव्यः, आमावास्यायां च समवेतार्थत्वात् प्रयोक्तव्यः ।

अथेदानीं सन्दिह्यते किं यदिन्द्राग्निपदैकवाक्यतया प्रतीयते अवीवृधेतां महोज्यायोक्रातामिति तन्नोत्कृष्टव्यमुतेन्द्राग्निशब्दाभ्यां सहोत्कृष्टव्यमिति । तत्र यदि प्रकरणं बलीयस्ततोऽपनीतदेवताकोऽपि शेषः प्रयोक्तव्योऽथ वाक्यं ततो यत्र देवताशब्दस्तत्रैव प्रयोक्तव्यः ।

किं तावत् प्राप्तम् ? अपनीतदेवताकोऽपि शेषः प्रयोक्तव्यः प्रकरणस्यैवाङ्गसम्बन्धप्रतिपादकत्वात् । फलवती हि भावना प्रधानेतिकर्त्तव्यतात्वमापादयति । तदुपजीवनेन श्रुत्यादीनां विशेषसम्बन्धापादकत्वात् । अतः प्रधानभावनावचनलक्षणप्रकरणविरोधे तदुपजीविवाक्यं बाध्यत इति प्राप्तम् ।

भामती–व्याख्या

हुए भाष्यकार श्री शबरस्वामी कहते हैं—"तयोर्विरोधे किमुदाहरणम् ? सूक्तवाकनिगदः । तत्र हि पौर्णमासीदेवता अमावास्यादेवताश्चाम्नाताः । ताः परस्परेणैकवाक्यतां नाभ्युपयन्ति । तत्र लिङ्गसामर्थ्यात् पौर्णमासीप्रयोगादिन्द्राग्निशब्द उत्कृष्टव्योऽमावास्यायां प्रयोक्तव्यः" ( शाबर. पृ. ८५२-५३ ) अर्थात् उदाहरण ] है सूक्तवाक निगद । प्रायः सम्बोधनात्मक पदों से घटित अत एव उच्च स्वर से बोले जानेवाले मन्त्रों को निगद कहते है—"नितरां गद्यमानत्वान्निगदो ह्येष गद्यते" ( तं. वा. पृ. ७६२ ) । वैसा ही यह सूक्तवाक दर्शपूर्णमास कर्म की समाप्ति पर आमन्त्रित देवताओं की तृप्ति का बखान करता है—] "अग्निरिदं हविरजुषत, अवीवृधत, महोज्यायोऽक्रत । प्रजापतिरिदं हविरजुषत, अवीवृधत, महोज्यायोऽक्रत । अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेतां, महोज्यायोऽक्राताम् । इन्द्राग्नीदं हविरजुषेताम्, अवीवृधेतां, महोज्यायोऽक्राताम् । इन्द्र इदं हविरजुषत, अवीवृधत, महोज्यायोऽक्रत" (त.ब्रा. ३।५।१०।२) । इस सूक्तवाक में पौर्णमासी के देवता ( अग्नि, प्रजापति और अग्नीषोम ) एवं अमावास्या के (अग्नि और इन्द्र) प्रतिपादित हैं । उन देवताओं का सांकर्य सम्भव नहीं, अतः पौर्णमासी याग में उक्त सूक्तवाक को बोलते समय उस से 'इन्द्राग्नी' यह पद निकाल देना चाहिए किन्तु अमावास्या में असोमयाजी के लिए इन्द्रदेता के दधि और दुग्ध का निषेध है—"नासोमयाजी सन्नयेत्" ( तै. सं २।५।५।३ ) । उस के स्थान पर "ऐन्द्राग्नमश्च"—इस प्रकार जो पुराडाश विहित है, उसका इन्द्राग्नी देवता होने के कारण 'इन्द्राग्नो' शब्द बोलना चाहिए ।

**संशय**—पौर्णमासी कर्म में प्रयुज्यमान सूक्तवाक में से केवल 'इन्द्राग्नी' पद निकाला जायगा ? अथवा उस से एकवाक्तापन्न 'अवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्'—यह वाक्य भी निकाला जाय ? प्रकरण दर्शपूर्णमास का है, अतः यदि प्रकरण वाक्य प्रमाण से बलवान् है, तब केवल इन्द्राग्नी पद को निकाल कर शेष भाग बोला जायगा और यदि वाक्य प्रमाण प्रबल है, तब देवता-वाचक पद के साथ-साथ शेष भाग भी निकाला जायगा ।

**पूर्वपक्ष**—देवता-वाचक 'इन्द्राग्नी' पद को छोड़ कर शेष भाग का प्रयोग पौर्णमासी में भी करना चाहिए, क्योंकि प्रकरण प्रमाण अङ्ग वाक्यों का सम्बन्ध प्रधान के साथ स्थापित करता है । 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्'—इस न्याय के अनुसार फलवती दर्शपूर्णमास-भावना प्रधान होकर सन्निधि-पठित सभी वाक्यों का सम्बन्ध अपने साथ आपादित करती है । उसी को आधार बनाकर श्रुत्यादि प्रमाण विशेष सम्बन्ध के आपादक माने जाते हैं, अतः प्रधानभूत भावना एवं अङ्गों के बोधक वचनरूप प्रकरण प्रमाण के द्वारा प्रकरणोपजीवी वाक्य बाधित होकर 'अवीवृधेताम्'—इत्यादि शेष भाग का उद्धरणीय 'इन्द्राग्नी'

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

एवं प्राप्त उच्यते भवेदेतदेवं यदि विनियोज्यस्वरूपसामर्थ्यमनपेक्ष्य प्रकरणं विनियोजयेत् । अपि तु विनियोगाय तदपेक्षतेऽन्यथा पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रस्य द्वादशोपसत्तायाश्च नोत्कर्षः स्यात् तद्रूपालोचनायाञ्च यद्यदेव शीघ्रं प्रतीयते तत्तद् बलवद्विप्रकृष्टं तु दुर्बलम् । तत्र यदि तद्रूपं श्रुत्या लिंगेन वाक्येन वाऽन्यत्र विनियुक्तं ततः प्रकरणं भङ्क्त्वोत्कृष्यते परिशिष्टंस्तु प्रकरणस्येतिकर्त्तव्यतापेक्षा पूर्य्यते । अथ स्वस्य शीघ्रप्रवृत्तं श्रुत्यादि नास्ति, ततः प्रकरणं विनियोजकम् । यथा समिदादेः । तदिह प्रकरणाद्वाक्यस्य शीघ्रप्रवृत्तत्वमुच्यते । प्रकरणे हि स्वार्थंपूर्णानां वाक्यानामुपकार्योपकारकाङ्क्षामात्रं दृश्यते । वाक्ये तु

भामती—व्याख्या

पद के साथ एकवाक्यता स्थापित नहीं कर सकता ।

**सिद्धान्त**—यहाँ "इदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्"—यह शेष भाग विनियोज्य है, इस विनियोज्य भाग के सामर्थ्य को न देख कर प्रकरण प्रमाण यदि विनियोजक होता तब अवश्य ही वह इस भाग का विनियोग पौर्णमास कर्म में कर सकता है किन्तु असमर्थ का विनियोग सम्भव नहीं, विनियोग के लिए विनियोज्यगत सामर्थ्य की अपेक्षा प्रकरण प्रमाण भी करता है, अन्यथा (१) पूषादि-अनुमन्त्रण मन्त्रों और (२) द्वादश उपसद् होमों का उत्कर्ष नहीं होगा । [ (१) पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्" ( का. सं.४।१६ ) इत्यादि पूषा देवता के अनुमन्त्रण मन्त्र दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित हैं किन्तु दर्शपूर्णमास कर्म में 'पूषा' देवता नहीं, अतः पूषार्थप्रकाशनरूप सामर्थ्य ( लिङ्ग प्रमाण ) के द्वारा प्रकरण का बाध करके पूषदेवताक कर्म में उक्त मन्त्रों का नयन करने का निर्णय सूत्रकार ने दिया है—"संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात्" ( जै. सू. ३।२।२ ) । भाष्यकार ने भी कहा है कि मन्त्र जिस पदार्थ के प्रकाशनरूप संस्कार का जनक है, वह तभी संगत होगा, जब कि पूषदेवताक कर्म हो, अतः उक्त मन्त्र का उत्कर्ष करना चाहिए—"संस्कारको हि मन्त्रः सोऽसति संस्कार्ये अनर्थक इति यत्रार्थवांस्तत्र नायविष्यते" ( शाबर. ५. ७५१ ) वार्तिककार ने भी वही कहा है—

यागानुमन्त्रणानीति समाख्या क्रतुयोजिनी ।
तस्माच्छक्त्यनुरोधेन प्राप्तिस्तद्देवते क्रतौ ॥

(२) "तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य" ( तै. सं, ६।२।५।१ ) । यह वाक्य ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित है किन्तु द्वादश उपसद नाम के होमों का विधान अहीन [ द्व्यह. त्र्यह आदि ] कर्मों में कर रहा है, अतः एकाहरूप ज्योतिष्टोम के प्रकरण से हटा कर द्वादशाह कर्म में उपसद् होमगत द्वादशत्व का विनियोग किया जाता है ( द्र. विगत पृ. ४४५ ) ]

श्रुत्यादि विनियोजक प्रमाणों के बाध्य-बाधकभाव की आलोचना से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि जो प्रमाण शीघ्र कार्यकारी है, वह बलवान् और जो विलम्बतः प्रवृत्त होता है, वह दुर्बल होता है । किसी प्रकरण में पठित अङ्गों का विनियोग यदि श्रुति लिङ्ग या वाक्य प्रमाण ने अन्यत्र कर रखा है, तब प्रकरण भङ्ग करके उन अङ्गों का अन्यत्र उत्कर्ष हो जाता है और शेष अङ्गों के द्वारा प्रकरणगत इतिकर्तव्यता की आकांक्षा पूरित की जाती है । जिन अङ्गों के अन्यत्र निनियोजक श्रुत्यादि प्रमाण नहीं होते, उन अङ्गों का विनियोजक प्रकरण प्रमाण ही होता है, जैसे—समिदादि कर्मों का । प्रकृत में प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रमाण को शीघ्र प्रवृत्तिशील कहा जाता है, क्योंकि प्रकरण में प्रधान को केवल उपकारक की और उपकारक को केवल उपकार्य की आकांक्षा ही होती है, इस उपकार्य का यही उपकारक है—ऐसा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

पदानां प्रत्यक्षतस्सम्बन्धः । ततश्च सह प्रस्थितयोर्वाक्यप्रकरणयोर्यावत्प्रकरणेनैकवाक्यता कल्प्यते तावद्वाक्येनाभिधानसामर्थ्यं, यावदितरत्र वाक्येन सामर्थ्यं तावदितरत्र सामर्थ्येन श्रुतिर्यावदितरत्र सामर्थ्येन श्रुतिस्तावदिह श्रुत्या विनियोगस्तावता च विच्छिन्नायामाकाङ्क्षायां श्रुत्यनुमाने विहते प्रकरणेनान्तरा कल्पिते विलीयन्त इति वाक्यबलीयस्त्वात् तद्देवताशेषाणामपकर्ष एवेति सिद्धम् ।

क्रमप्रकरणविरोधोदाहरणम् राजसूयप्रकरणे प्रधानस्यैवाभिषेचनीयस्य सन्निधौ शौनःशेपोपाख्यानाद्याम्नातं तत् किं समस्तस्य राजसूयस्याङ्गमुताभिषेचनीयस्य ? यदि प्रकरणं बलीयस्ततः समस्तस्य राजसूयस्य, अथ क्रमस्ततोऽभिषेचनीयस्यैवेति ।

भामती–व्याख्या

अङ्गाङ्गिभाव तब तक अवगत नहीं होता, जब तक "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" और "समिधो यजति" इत्यादि वाक्यों की प्रयोगविधि के रूप में एकवाक्यता न की जाय। इस से विपरीत यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति"—ऐसे वाक्य में पर्ण ( पलाश ) और जुहू का विकार-विकारिभाव शब्दतः प्रतिपादित है, अतः प्रकारण प्रमाण से जब तक वाक्य, वाक्य से लिङ्ग और लिङ्ग से श्रुति की कल्पना होती है, तब तक वाक्य प्रमाण से केवल लिङ्ग और श्रुति की कल्पना करके विनियोग सिद्ध हो जाता है, फलतः वाक्य की प्रबलता के कारण पूषदेवताक मन्त्रों का दर्शपूर्णमास-प्रकरण से विच्छेद और पूषदेवताक कर्म से योग होना अत्यन्त न्याय-संगत है।

[ ४—प्रकरण और क्रम ( स्थान ) का विरोध ]

**उदाहरण**—[ राजसूयप्रकरणेऽभिषेचनीयक्रमे शौनःशेपाख्यानादि आम्नातम् । यदि प्रकरणं बलवत्, समेषां तदङ्गम् । यदि क्रमः, अभिषेचनीयस्यैव" (शाबर. पृ. ८५४) ] । अनेक इष्टि, सोम और पशु यागों का समूह राजसूय याग विहित है–"राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" ( आप. श्रौ. १०।८।१–४ ) । [ इस याग में ४४९ इष्टियाँ, दो पशुयाग और आठ सोमयाग हैं [ (१) पवित्र, (२) अभिषेचनीय, (३) दशपेय, (४) केशवपनीय, (५) व्युष्टिद्विरात्र, (६) क्षत्रस्य धृति, (७) त्रिष्टोम और (८) अग्निष्टोम] । ये सभी कर्म समप्रधान हैं, इनमें अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता ] । अभिषेचनीयसंज्ञक सोमयाग भी एक प्रधान कर्म है । इसकी सन्निधि में शुनःशेप के आख्यानादि अंग पठित हैं—"शौनःशेपमाख्यापयति" ( तै. ब्रा. १।७।१०।६ ), राजन्यं जिनाति" ( तां. ब्रा. १।७।९।३ ), "पष्ठीही दीव्यति" । [ महाराज हरिश्चन्द्र के एक सौ रानियाँ थीं, पुत्र का लाभ किसी से भी न हुआ, महर्षि नारद के उपदिष्ट वरुण-याग के सङ्कल्प से हरिश्चन्द्र को 'रोहित' नाम का पुत्र प्राप्त हुआ । वरुणदेव ने अपने यज्ञ की माँग की, बहुत हीला-हवाली करने पर भी जब हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी न की, तब उन्हें भयङ्कर जलोदर रोग हो गया, तब यज्ञ आरम्भ किया । रौहित वन में एक वर्ष बिताकर घर लौटा । इन्द्र ने उसे 'चरैवेति चरैवेति' ( ऐत. ब्रा. ३३।२ ) की महत्ता का उपदेश किया, वह फिर वन में विचरण करने लगा । इसी प्रकार पाँच बार आया-गया । छठी बार वन में अजीगर्त नाम के ऋषि से उसके मँझले पुत्र शुनःशेप को क्रयण कर, उसे रोहित ने अपने स्थान पर यज्ञ में पशुरूपेण प्रस्तुत किया। राजा हरिश्चन्द्र ने आरब्ध राजसूय यज्ञ के अभिषेचनीय कर्म में शुनःशेप को पशु बनाया । बधार्थ यूप में बँधे शुनःशेप के गिड़गिडाने पर वरुणदेव प्रसन्न हो गये और यूप-बन्धन से मुक्त करके शुनः शेप को विश्वामित्र का पुत्र बना दिया ]।

यदि प्रकरण बलवान् है, तब ये सभी अङ्ग समस्त राजसूय के अंग होंगे और यदि क्रम ( स्थान या सन्निधि ) प्रबल है, तब ये केवल अभिषेचनीय के अंग होंगे ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

किं तावत् प्राप्तम् ? नाकाङ्क्षामात्रं हि सम्बन्धहेतुः । गामानय प्रासादं पश्येति गामित्यस्य क्रियामात्रापेक्षिणः पश्येत्यनेनापि सम्बन्धसम्भवाद्विनिगमनाभावप्रसङ्गात् । तस्मात् सन्निधानं सम्बन्धकारणम् । तथा चानयेत्यनेनैव गामित्यस्य सम्बन्धो विनिगम्यते । न च सन्निधानमपि सम्बन्धकारणम् । अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्य्यतामित्यत्र राज्ञ इत्यस्य पुत्रपुरुषपदसन्निधानाविशेषान्मा भूद्विनिगमना । तस्मादाकाङ्क्षा निश्चयहेतुर्वक्तव्या । अत्र पुत्रशब्दस्य सम्बन्धिवचनतया समुत्थिताकाङ्क्षस्यान्तिके यदुपनिपतितं सम्बन्ध्यन्तराकाङ्क्षापदं तस्य तेनैवाकाङ्क्षापरिपूर्त्तेः पुरुषपदेन पुरुषरूपमात्राभिधायिना स्वतन्त्रेणैव न सम्बन्धः किन्तु परेणापसार्य्यतामित्यनेनापसरणीयापेक्षेणेति । सत्यपि सन्निधाने आकाङ्क्षाभावादसम्बन्धः । तथा चाभाणकः—'तप्तं तप्तेन सम्बध्यते' इति । तथा चाकाङ्क्षितमपि न यावत्सन्निधाप्यते तावन्न सम्बध्यते । तथा सन्निहितमपि यावन्नाकाङ्क्ष्यते न तावत्सम्बध्यत इति द्वयोः सम्बन्धं प्रति समानबलत्वात् क्रमप्रकरणयोः समुच्चयासम्भवाच्च विकल्पेन राजसूयाभिषेचनीययोर्विनियोगः शौनःशेपोपाख्यानादीनामिति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्ते उच्यते—राजसूयके कथम्भावापेक्षा हि पवित्रादारभ्य क्षत्रस्य धृतिं यावदनुवर्त्तते, तथा

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—प्रकरण आकांक्षात्मक और क्रम या स्थान सन्निधिरूप है जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—"सन्निध्यात्मकः क्रम इत्युच्यते" ( तं. वा. पृ. ८५१ ) । दो पदार्थों का सम्बन्ध केवल आकांक्षा से नहीं होता, अन्यथा 'गामानय प्रासादं पश्य'—यहाँ पर 'गाम्'—इस पद का 'पश्य' के साथ भी अन्वय हो जायगा, क्योंकि 'गाम्' को केवल क्रिया की आकांक्षा है, क्रियाएँ 'आनय' और 'पश्य'—ये दोनों ही है, अतः आकांक्षा को विनिगमक नहीं माना जा सकता । पदों की सन्निधि ( स्थान ) को सम्बन्ध का नियामक मानना होगा, 'आनय' की सन्निधि 'गाम्' और 'पश्य' की सन्निधि प्रासाद से है, अतः निश्चित अन्वय सम्पन्न हो जाता है । इसी प्रकार सन्निधि को भी सर्वत्र सम्बन्ध का कारण नहीं मान सकते, अन्यथा 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्'—यहाँ पर 'अपसार्यताम्' इस क्रिया का सन्निधान 'पुत्र' और 'पुरुष' दोनों के साथ होने के कारण 'राज्ञः पुत्रोऽपसार्यताम्'—ऐसा अन्वय होगा ? अथवा 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्'—ऐसा अन्वय ? सन्निधि के आधार पर किसी प्रकार की विनिगमना सम्भव नहीं, अतः आकांक्षा को निर्णायक मानना होगा । उक्त वाक्य में 'पुत्र' शब्द कस्य पुत्रः ? इस प्रकार अपने पिता की अपेक्षा करता है और 'राज्ञः' शब्द भी साकांक्ष और 'पुत्र' शब्द की आकांक्षा का पूरक है । 'पुरुष' शब्द निरपेक्ष है, अतः 'राज्ञः' शब्द का 'पुत्रः के साथ अन्वय न्याय-प्राप्त है, जैसा कि कहावत प्रचलित है—'तप्तः तप्तेन सम्बध्यते' [साकांक्ष पदार्थ का साकांक्ष के साथ सम्बन्ध होता है ]। इस प्रकार पुरुष' पद का अपने पूर्ववर्ती 'राज्ञः' पद से अन्वय न होकर परवर्ती 'अपसार्यताम्' पद के साथ अन्वय होता है किन्तु 'अपसार्यताम्' पद की आकांक्षा जब तक न हो, तब तक सन्निहित होने पर भी 'पुरुष' पद का उसके साथ अन्वय न हो सकेगा, अतः 'अपसार्यताम्' पद में भी आकांक्षा उत्थापित की जाती है । प्रकृत में शुनःशेपाख्यानादि का सम्बन्ध राजसूय एवं अभिषेचनीय—इन दोनों के साथ सम्भव नहीं, विकल्पतः ही दोनों के साथ सम्बन्ध हो सकता है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—"विकल्पः, समुच्चयपक्षासम्भवात्" ( तं. वा, पृ. ८५४ )।

**सिद्धान्त**- अभिषेचनीय की कथंभावाकांक्षा जब तक उत्थापित की जाती है, तब तक राजसूय की कथम्भावाकांक्षा के द्वारा पवित्र से लेकर क्षत्र-धृति पर्यन्त सभी अङ्ग कर्मों का विनियोग राजसूय में हो जाता है [ जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—"निराकांक्षस्य हि सतः


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

च अविच्छिन्ने कथम्भावे यत्प्रधानस्य पठ्यते अनिर्ज्ञातफलं कर्म तस्य प्रकरणाङ्गतेति न्यायात् राजसूयाङ्गता शौनःशेपोपाख्यानादीनाम् । अभिषेचनीयस्य तु स्ववाक्योपात्तपदार्थनिराकाङ्क्षस्य सन्निधिपाठेनाकाङ्क्षोत्थापनीया यावत्तावत्सिद्धाकाङ्क्षेण राजसूयेनैकवाक्यता कल्प्यते । यावच्चाभिषेचनीयाकाङ्क्षया तदेकवाक्यता कल्प्यते, तावत् क्लृप्तया राजसूयैकवाक्यतया तदुपकारकतया सामर्थ्यलक्षणं लिंगं यावच्चाभिषेचनीयैकवाक्यतया लिंगं कल्प्यते तावत् क्लृप्तलिंगं विनियोक्त्रीं श्रुतिं कल्पयति, यावद्वाक्यकल्पितेन लिंगेन श्रुतिरितरत्र कल्प्यते तावत् क्लृप्तया श्रुत्या विनियोगे सति प्रकरणपाठोपपत्तौ सन्निधानपरिकल्पितमन्तरा विलीयते, प्रमाणाभावेऽप्रतिभातत्वात् । प्रकरणिनश्च राजसूयस्य सर्वदा बुद्धिसान्निध्येन तत्सन्निधेरकल्पनीयत्वात् । तस्मात्प्रकरणविरोधे क्रमस्य बाध एव न च विकल्पो दुर्बलत्वादिति सिद्धम् ।

क्रमसमाख्ययोर्विरोधोदाहरणम्—पौरोडाशिक इति समाख्याते काण्डे सान्नाय्यक्रमे च शुन्धत्वं दैव्याय कर्मण इति शुन्धनार्थो मन्त्रः समाम्नातः, तत्र सन्दिह्यते किं समाख्यानस्य बलीयस्त्वात्

भामती—व्याख्या

आकांक्षा यावदभिषेचनीयस्योत्पाद्यते, तावद राजसूयकर्थभावेन प्रत्यक्षेण सिद्धो विनियोगः, तदीयौ हि कर्थभावः पवित्रादारभ्य क्षत्रस्य धृति यावदनुसृतः शवनोति विदेयनादीनि संस्प्रष्टुम्" ( तं. वा. पृ. ८५५ ) ]। शौनःशेपाख्यानादि पदार्थों में प्रकरण प्रमाण के द्वारा राजसूय की अङ्गता का निर्णय वार्तिककार ने स्पष्ट शब्दों में किया है—

अविच्छिन्ने कथम्भावे यत्प्रधानस्य पठ्यते ।
अनिर्ज्ञातफलं कर्म तस्य स्यात्प्रकरणाङ्गता ।। ( तं. वा. पृ. ८१७ )

[ राजसूयादि प्रधान कर्मों की कथम्भावाकांक्षा जब तक विच्छिन्न ( शान्त ) नहीं होती, तब तक उसके प्रकरण में पठित अनिर्दिष्टफलक अङ्गों का प्रकरण प्रमाण से प्रधान में विनियोग किया जाता है ] ।

प्रकरण की गति तीव्र और स्थान ( क्रम ) की मन्थर है, अतः स्थान प्रमाण जब तक पूर्व-पूर्व प्रमाणों की कल्पना के द्वारा विनियोजिका श्रुति की कल्पना करता है, तब तक वाक्य प्रमाण विनियोग सम्पन्न कर डालता है और स्थान के द्वारा कल्पित श्रुति तुरन्त विलीन हो जाती है, क्योंकि कल्पक प्रमाण के अभाव में उसकी प्रतिभा ( प्रतीति ) नहीं हो सकती । जैसे स्थान को प्रकरण की कल्पना करनी पड़ती है, वैसे प्रकरण को स्थान की नहीं, क्योंकि प्रकरणी ( राजसूय ) सदा बुद्धि में सन्निहित है, अतः उसकी सन्निधि ( स्थान ) कल्पनीय नहीं, फलतः प्रकरण प्रमाण से क्रम ( स्थान ) का बाध हो जाता है और विकल्प-पक्ष भी दुर्बल होने के कारण समाप्त हो जाता है ।

[ ५—क्रम और समाख्या का विरोध ]

**उदाहरण**—याज्ञिकों ने अपनी सुविधा के लिए यज्ञीय पदार्थों का वर्गीकरण एवं प्रत्येक वर्ग ( काण्ड ) की प्रायः यौगिक संज्ञाएं बनाई हैं, उन्हीं में एक काण्ड है—"पौरोडाशिकम्' । [ उसकी व्याख्या करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि 'पौरोडाशिकम्'—यह संज्ञा केवल पुरोडाश-सम्बन्धी पदार्थों की ही नहीं, अपितु पूरे दर्शपूर्णमास-काण्ड की है—"पौरोडाशिकमिति समस्तमेव दर्शपूर्णमासकाण्डमभिधीयते" ( तं. वा. पृ. ८५५ ) ] । दर्शगत सान्नाय ( दुग्ध और दधि ) के पात्रों की शुद्धि के प्रसङ्ग में यह मन्त्र पठित है—"शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै" ( तै. सं. १।१।३।१ ) ।

**संशय**—क्या 'पौरोडाशिकम्'—इस समाख्या को प्रबल मान कर पुरोडाश बनाने के

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

पुरोडाशपात्राणां शुन्धने विनियोक्तव्य आहो सान्नाय्यपात्राणां शुन्धने, क्रमो बलीयानिति ।

किन्तावत् प्राप्तम् ? समाख्यानं बलीय इति । पौरोडाशिकशब्देन हि पुरोडाशसम्बन्धीनीत्युच्यन्ते तान्यधिकृत्य प्रवृत्तं काण्डं पौरोडाशिकम् । ततश्च यावत्क्रमेण प्रकरणाद्यनुमानपरम्परया सम्बन्धः प्रतिपादनीयः तावत्समाख्यया श्रुत्येव साक्षादेव स प्रतिपादित इति अर्थविप्रकर्षेण क्रमात्समाख्यैव बलीयसीति पुरोडाशपात्रशुन्धने मन्त्रः प्रयोक्तव्यः न सान्नाय्यपात्रशुन्धन इति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—समामाख्यानात् क्रमो बलवानर्थविप्रकर्षादिति । तथाहि - समाख्या न तावत्सम्बन्धस्य वाचिका किन्तु पौरोडाशविशिष्टं काण्डमाह । तद्विशिष्टत्वान्यथानुपपत्त्या तु सम्बन्धः काण्डस्यानुमीयते न तु साक्षान्मन्त्रभेदस्य । तद्द्वारेण च तन्मध्यपातिनो मन्त्रभेदस्यापि तदनुमानम् । न चासौ सम्बन्धोऽपि श्रुत्येव शेषशेषिभावः प्रतीयते, अपि तु सम्बन्धमात्रम् । तस्मात् श्रुतिसादृश्यमस्य दूरापेतमिति क्रमेण नास्य स्पर्द्धोचिता । तत्रापि च सामान्यतो दर्शपूर्णमासप्रकरणापादितेदमर्थ्यस्य शौनःशेषोपाख्यानादिवच्चारादुपकारकतया प्रकृतमात्रसम्बन्धानुपपत्तिः, मन्त्रस्य प्रयोगसमवेतार्थस्मारणेन

भामती—व्याख्या

पात्रों की शुद्धि में उक्त मन्त्र का विनियोग किया जाय ? अथवा क्रम ( स्थान ) को प्रबल मान कर सान्नाय पात्रों के शोधन में उक्त मन्त्र विनियुक्त किया जाय ?

**पूर्वपक्ष**—समाख्या बलवती है, पौरोडाशिक शब्द का अर्थ है—पुरोडाश से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ, उन पदार्थों का संग्रह जिस काण्ड में है, उसे पौरोडाशिक कहा गया है। स्थान ( सन्निधि ) प्रमाण जब तक अपने पूर्वभावी प्रकरणादि प्रमाणों की अनुमान-परम्परा का सहारा लेकर उक्त मन्त्र का सान्नाय-पात्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, तब तक समाख्या के द्वारा उक्त मन्त्र का पुरोडाश-पात्रों के साथ वैसे ही साक्षात् सम्बन्ध प्रतिपादित हो जाता है, जैसे श्रुति प्रमाण के द्वारा। इस प्रकार क्रम ( स्थान ) प्रमाण से अर्थविबोध में विप्रकर्ष ( व्यवधान या विलम्ब ) होने के कारण क्रम से समाख्या प्रबल है, अतः पुरोडाश-पात्र शोधन करते समय उक्त मन्त्र का उच्चारण किया जाय।

**सिद्धान्त**—समाख्या से क्रम प्रमाण बलवान् है, क्योंकि समाख्या की प्रवृत्ति में विप्रकर्ष होता है, समाख्या साक्षात् सम्बन्ध-वाचिका नहीं, होती अपितु 'पौरोडाश ( पुरोडाश-सम्बन्धी ) पदार्थों के काण्ड की वाचिका है। काण्डगत मन्त्रादि-विशिष्टत्व की उपपत्ति अन्यथा ( पुरोडाश-पात्र-सम्बन्ध के बिना ) नहीं हो सकती, अतः मन्त्र-सम्बन्ध का अनुमान-मात्र होता है, प्रत्यक्षतः मन्त्र-विशेष का पात्र-विशेष से सम्बन्ध अवगत नहीं होता। सामान्य सम्बन्ध के द्वारा विशेष सम्बन्ध की भी कल्पना हो जाती है। जैसा श्रुति प्रमाण के द्वारा अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है, वैसा समाख्या से नहीं, अपितु सामान्य सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है, अतः समाख्या में श्रुति प्रमाण की सदृशता तो दूर की बात है, स्थान प्रमाण की बरा-बरी करने की भी क्षमता नहीं।

दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित शोधन-मन्त्र की सामान्यतः इदमर्थता ( किंभावाकांक्षा की पूर्ति ) प्रकरण प्रमाण से ही निश्चत हो जाती है किन्तु जैसे ज्योतिष्टोम की आरादुपकारकत्वरूप अङ्गता शुनःशेपाख्यानादि में होती है, वैसे दर्शपूर्णमास की आरादुपकारकता शोधन-मन्त्र में सम्भव नहीं, क्योंकि प्रयोग-समवेत अर्थ के स्मारक ( संस्कारक ) मन्त्रों को सन्निपत्योपकारक ही माना जाता है, आरादुपकारक नहीं। [ प्रधान कर्म के उपकारक अङ्ग दो प्रकार के होते हैं—(१) तन्निपत्य उपकारक और (२) आराद् उपकारक।

(१) **सन्निपेत्योपकारक**—'सन्निपत्य' शब्द का अर्थ है—समीपमागत्य। व्रीहि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

सामवायिकाङ्गत्वात् । तथा च यं कञ्चित्प्रकृतप्रयोगगतमर्थं प्रकाशयतोऽस्य प्रकरणाङ्गत्वमविरुद्धमिति विशेषापेक्षायां सान्नाय्यक्रमः साम्नाय्यं प्रति प्रकरणाद्यनुमानद्वारेण विनियोगं कल्पयितुमुत्सहते, न तु समाख्यानम् , तस्य दुर्बलत्वात् । तथाहि - समाख्या सम्बन्धनिबन्धना सती तत्सिद्ध्यर्थं सन्निधिमुपकल्पयति यावत्तावद्दैदिकेन प्रत्यक्षदृष्टेन सन्निधानेनाकाङ्क्षा कल्प्यते, यावच्च क्लृप्तेन सन्निधानेनाकांक्षा कल्प्यते, तावदितरत्र क्लृप्तयाकांक्षयैकवाक्यता यावच्च क्लृप्तयाकाङ्क्षयैकवाक्यता तावदितरत्रैकवाक्यतया क्लृप्तयोपकारसामर्थ्यम् । यावच्चात्रैकवाक्यतयोपकारसामर्थ्यं तावदितरत्र लिंगेन विनियोजिका श्रुतिः, यावदत्र लिंगेन विनियोजिका श्रुतिस्तावदितरत्र क्लृप्तया श्रुत्या विनियोग इति तावतैव प्रकरणपाठोपपत्तेः । सर्वं समाख्यानकल्पितं विच्छिन्नमूलत्वात् लूयमानस्यमिव निर्बीजं भवति पुरोडाशाभिधायक-

भामती–व्याख्या

आदि द्रव्यों से सटे हुए अवघातादि कर्मों और बर्हिर्लवनादि अर्थों के प्रकाशक मन्त्रों को सन्निपत्योपकारक कहते हैं। गुणीभूत ( अङ्ग ) कर्म की परिभाषा है—"यँस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत" ( जै० सू० २।१।८)। द्रव्य को संस्कृत करने की इच्छा रखनेवाले अवघातादि कर्म गुण कर्म हैं। यही चिकीर्षा ही सन्निपतन पदार्थ है। जडस्वरूप कर्मों में चिकीर्षादि का व्यवहार 'कूलं पिपतिषति' के समान औपचारिकमात्र है। सन्निपतन को समवाय भी कह दिया जाता है, अतः सन्निपत्योपकार का दूसरा नाम सामवायिकोपकारक है। आरादुपकारक से सन्निपेत्योपकारक की प्रबलता दिखाते हुए वार्तिककार कहते हैं—"आरादुपकारकत्वं सामवायिकत्वेन बाध्यते" ( त. वा. पृ. ८६० )।

(२) **आरादुपकारक** –"यँद्रव्यं न चिकीर्ष्यते" ( जै. सू. २।१।७ ) इस प्रकार द्रव्य से आरात् ( दूर ) रह कर साक्षात् उपकारक कर्म आरादुपकारक है, जैसे दर्शपूर्णमासादिरूप प्रधान कर्म के साक्षात् उपकारक प्रयाजादि कर्म आरादुपकारक हैं—"आरादुपकारकाणि तु प्रयाजादीनि उत्पत्त्यपूर्वेभ्यः फलापूर्वनिष्पत्तौ साक्षादेव व्याप्रियन्ते" ( न्या. मा. वि. २।१।२ ) अर्थात् दर्शपूर्णमास-घटकीभूत आग्नेयादि कर्मों से जनित उत्पत्त्यपूर्व के द्वारा फलापूर्व ( परमापूर्व ) की उत्पत्ति में आरादुपकारक कर्म सहायक होते हैं ]।

प्रक्रान्त शोधन-मन्त्र भी प्रयोग-समवेत शोधनरूप अर्थ का प्रकाशक होने के कारण सन्निपत्योपकारक है, अतः दर्शपूर्णमास-प्रकारण की मन्त्र में अङ्गता विरुद्ध नहीं। 'किस पदार्थ के शोधन का यह मन्त्र अङ्ग है?' इसप्रकार की विशेषाकांक्षा में सान्नाय-पात्र का क्रम ( सन्निधान या स्थान ) ही सान्नाय पात्रों की अङ्गता का कल्पक है, समाख्या नहीं, क्योंकि समाख्या स्थान प्रमाण से दुर्बल होती है। अकेली 'पौरोडाशिकम्'–यह समाख्या पुरोडाश-पात्र एवं उक्त मन्त्र का सम्बन्ध तब तक नहीं सिद्ध कर सकती, जब तक सम्बन्ध-निर्वाहक सन्निधि की कल्पना न करे। समाख्या जब तक सन्निधि की कल्पना करती है, तब तक प्रत्यक्ष दृष्ट वैदिक सन्निधि के द्वारा आकांक्षारूप प्रकरण की कल्पना हो जाती है। जब तक समाख्या-कल्पित सन्निधि के द्वारा आकांक्षा की कल्पना होती है, तब तक स्थान-कल्पित आकांक्षा के द्वारा एकवाक्यता ( वाक्य प्रमाण ) की कल्पना हो जाती है। जब तक समाख्या-पंक्ति-कल्पित आकांक्षा के द्वारा एकवाक्यता की कल्पना होती है, तब तक क्रम-परम्परा की एकवाक्यता के द्वारा सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण की कल्पना हो जाती है। जब तक सामाख्या-सन्तति की एकवाक्यता के द्वारा सामर्थ्य की कल्पना होती है, तब तक स्थान-माला के सामर्थ्य से विनियोजिका श्रुति की कल्पना हो जाती है। जब तक समाख्या-रेखोल्लिखित सामर्थ्य के द्वारा विनियोजिका श्रुति की कल्पना होती है, तब तक दूसरी ओर क्लृप्त श्रुति के द्वारा विनियोग सम्पन्न हो जाता है, मन्त्र का प्रकरण-पाठ उतने मात्र

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

मन्त्रबाहुल्यात् काण्डस्य पौरोडाशिकसमाख्येति मन्तव्यम् ।

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चवस्त्वन्तरयकारितम् ।
श्रुत्यर्थं प्रति वैषम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयते ॥

इत्यर्थविप्रकर्षं उक्तः । तत्रापि च

बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा ।
मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया ॥

इति विशेष उक्त वृद्धैः । तदयं विस्तरादिभ्यतोऽपि प्रथमतन्त्रानभिज्ञानुकम्पया निघ्ना विस्तरे पतिताः स्म इत्युपरम्यते । तस्माद्यथानुज्ञापनानुज्ञयोः प्रज्ञातक्रमयोरुपहूत उपह्वयस्वेत्येवं मन्त्रावाम्नातौ

भामती–व्याख्या

से उपपन्न हो जाता है और समाख्या-कल्पित समस्त प्रमाण-परम्परा उन्मूलित हो जाने के कारण कटे वृक्ष के समान धराशायी हो जाती है । कथित मन्त्र का पुरोडाश के साथ सम्बन्ध न होने पर भी उस काण्ड के अधिकतर पदार्थों का सम्बन्ध पुरोडाश के साथ होने के कारण पौरोडाशिक' समाख्या की उपपत्ति हो जाती है ।

श्रुत्यादि विनियोजक छहों प्रमाणों का सूक्ष्म अन्तर वार्तिककार के शब्दों में इस प्रकार चित्रित है—

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चवस्त्वन्तरयकारितम् ।
श्रुत्यर्थं प्रति वैषम्यं लिङ्गादीनां प्रतीयते ॥ ( तं. वा. पृ ८३१ )

[ विनियोग ( अङ्गाङ्गिभावावगति ) एक मात्र श्रुति प्रमाण का अर्थ है, श्रुति और विनियोग में किसी प्रकार का अन्तरय ( व्यवधान ) नहीं किन्तु लिङ्गादि प्रमाणों का वैषम्य इस प्रकार है कि लिङ्ग प्रमाण और विनियोग के मध्य में एक ( श्रुति ) प्रमाण का, वाक्य और विनियोग के मध्य में दो ( श्रुति और लिङ्ग ) प्रमाणों का, प्रकरण और विनियोग के मध्य में तीन (श्रुति, लिङ्ग और वाक्य) प्रमाणों का, स्थानप्रमाण और विनियोग के मध्य में चार ( श्रुति, लिङ्ग, वाक्य और प्रकरण ) प्रमाणों का एवं समाख्या और विनियोग के मध्य में पाँच ( श्रुति लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण और स्थान ) प्रमाणों का व्यवधान होता है ] । इसी व्यवधान का सूत्रकार ने विप्रकर्ष' शब्द से उल्लेख किया है—"पारदौर्बल्यम्, अर्थविप्रकर्षात्" ( जै. सू, ३।२।१४ ) । इन छः प्रमाणों में अन्य प्रमाणों का केवल बाधकत्व श्रुति में, सामाख्या में सभी प्रमाणों का केवल बाध्यत्व एवं मध्यपाती प्रमाणों में बाध्यत्व-बाधकत्व [ पूर्व-पूर्व प्रमाण का बाध्यत्व और उत्तरोत्तर का बाधकत्व ] दोनों रहते हैं—

बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं सामाख्या बाध्यते सदा ।
मध्यगानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया ॥ ( तं. वा. पृ. ८५८ )

पूर्वमीमांस में सूत्रकार, भाष्यकार और वार्तिककारने इस विषय पर पुष्कल प्रकाश डाला है, यहाँ तो उस विषय से अनभिज्ञ व्यक्तियों को कुछ बोध कराने के लिए दिग्दर्शनमात्र कराया गया है ॥

जैसे [ सोमयाग से बचे सोम-रस को एक पात्र में रख कर सभी ऋत्विज उसी से क्रमशः घूंट-घूंट भरते जाते हैं किन्तु पीनेवाला व्यक्ति अगले व्यक्ति से आज्ञा लेकर ही पीता है—"तस्मात् सोमो नानपहूतेन पेयः" ( काठ. २१। १ ) । यहाँ ] आज्ञा माँगना और आज्ञा देना—इन दोनों क्रियाओं के लिए उन की सन्निधि में मन्त्र पठित हैं—"उपहूतः", "उपह्वयस्व" ( काठ. १।१० ) । ये दोनों मन्त्र देश-सामान्यरूप स्थान प्रमाण के द्वारा दोनों क्रियाओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

देशसामान्यात्तथैवाङ्गतया प्राप्नुतः। उपहूत इति लिङ्गतोऽनुज्ञामन्त्रो नानुज्ञापने, उपह्वयस्येति च लिङ्गतोऽनुज्ञापने च मन्त्रो नानुज्ञायाम। तदिह लिंगेन क्रमं बाधित्वा विपरीतं शेषत्वमापाद्यते। यावद्धि स्थानेन प्रकरणमुपाद्यैकवाक्यत्वं कल्प्यते तावल्लिंगेन श्रुतिं कल्पयित्वा साधितो विनियोग इति 'अकल्पितलिंगश्रुतेः क्रमस्य बाधः। तद्वदिहापि विनियोगे प्रत्येकान्तरितेन लिंगेन चतुरन्तरितस्य विद्याक्रमस्य बाध इति। यद्यपि प्रथमतन्त्र एवायमर्थ उपपादितस्तथापि विरोधे तदुपपादनमिह स्वविरोधो नहिं लिंगेनाभिचारिककर्मसम्बन्धो विद्यासम्बन्धेन क्रमकृतेन विरुध्यते। न च विनियुक्तविनियोगलक्षणोऽत्र विरोधो बृहस्पतिसवेऽपि तत्प्रसङ्गात्। अथैष प्रतीतिविरोधो न च वस्तुविरोधः, स विद्यायां विनियोगेऽपि तुल्यः। तस्मादविरोधाद्वैधादिमन्त्रस्योपासनाङ्गत्वमित्यस्त्यभ्यधिका शङ्का। तत्रोच्यते —

नहिं लिङ्गविरोधेन क्रमबाधोऽभिधीयते।
किन्तु लिंगपरिच्छिन्ने न क्रमः कल्पनाक्षमः॥

प्रकरणपाठोपपत्त्या हि श्रुतिर्लिंगवाक्यप्रकरणैरविनियुक्तः क्रमेण प्रकरणवाक्यलिंगश्रुतिकल्पनाप्रणालिकया

भामती–व्याख्या

में उसी क्रम से प्राप्त होते हैं [ अर्थात् अनुज्ञा माँगने में 'उपहूतः' और अनुज्ञा देने में 'उपह्वयस्व'—ऐसा बोलना चाहिए ]। किन्तु उपहूतः का अर्थ है—'आज्ञा देदी' और उपह्वयस्व का अर्थ है—'आज्ञा दीजिए'। अतः लिङ्ग प्रमाण के द्वारा 'उपह्वयस्व' और उपहूतः'—इस प्रकार विपरीत प्रयोग होता है—"तदुपहूत उपह्वयस्वत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात्" ( जै. सू. ३।३।४१ )। लिङ्ग प्रमाण क्रम से प्रबल होता है, अतः अनुज्ञा-मन्त्र ( उपहूतः ) का प्रयोग अनुज्ञापन ( अनुज्ञा मांगने ) और अनुज्ञापन मन्त्र ( उपह्वयस्व ) का प्रयोग अनुज्ञा में नहीं हो सकता, क्योंकि जब तक स्थान प्रमाण के द्वारा अपने पूर्वभावी आकांक्षा और एकवाक्यता की कल्पना होती है, तब तक लिङ्ग प्रमाण के द्वारा श्रुति की कल्पना से विनियोग सम्पन्न हो जाता है और उस क्रम ( स्थान ) प्रमाण का बाध हो जाता है, जो कि लिङ्ग और श्रुति की कल्पना नहीं कर पाया था।

वैसे ही प्रक्रान्त "हृदयं प्रविध्य" इत्यादि मन्त्र की विद्या-सन्निधिरूप स्थान का उस लिङ्ग प्रमाण से बाध हो जाता है, जो विनियोग में केवल एक श्रुति से अन्तरित ( व्यवहित ) है।

**शङ्का**—पूर्व मीमांसा में विनियोजक प्रमाणों का जो बाध्य-बाधकभाव वर्णित है, वह उनका परस्पर-विरोध होने पर ही होता है, किन्तु प्रकृत में किसी प्रकार का विरोध ही नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र का लिङ्ग प्रमाण से सम्बन्ध आभिचारिक कर्म के साथ और क्रम प्रमाण से विद्या ( उपासना ) के साथ किया जाता है। अन्यत्र विनियुक्त वस्तु का अन्यत्र विनियोग विरुद्ध नहीं माना जाता, जैसे स्वर्गफलक अग्निहोत्र कर्म में विहित दधि का इन्द्रियरूप अवान्तर फल के लिए विधान—"दध्नेन्द्रियकामस्य जुहूयात्" ( तै. ब्रा. २।१।५।६ )। यदि यहाँ विरोध माना जाता है, तब कथित बृहस्पतिसब में भी विरोध प्रसक्त होगा। यदि अन्य पदार्थ के अङ्ग में अन्य के अङ्गत्व की प्रतीति ही विरुद्ध है, वस्तु-विरोध नहीं। तब उक्त मन्त्रगत विद्याङ्गत्व की प्रतीति में भी वस्तु-विरोध नहीं हो सकता। विरोध न होने के कारण बाध्य-बाधकभाव क्यों होगा ?

**समाधान**—[ यहाँ लिङ्ग से विरुद्ध होने के कारण क्रम ( स्थान ) का बाध नहीं किया जाता, अपितु लिङ्ग प्रमाण द्वारा मन्त्र का आभिचारिक कर्म में शीघ्र विनियोग हो जाने पर विलम्बतः प्राप्त क्रम निरर्थक होकर रह जाता है ]। जो पदार्थ किसी कर्म के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः । न ह्येषां विद्याभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति । वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति । अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्न तु बलवदबलवतोः प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता सम्भवति, बलवदबलवत्त्वविशेषादेव । तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न सन्निधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम् । अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्तु सन्निधिपाठ इति सन्तोष्टव्यम् ॥ २५ ॥

---

भामती

विनियुज्यते । तदविनियुक्तस्य प्रकरणपाठानर्थक्यप्रसङ्गात् । उपपादिते तु श्रुत्यादिभिः प्रकरणपाठे क्षीणस्वार्थापत्तेः क्रमो न स्वोचितां प्रमामुत्पादयितुमर्हति प्रमित्साभावादिति । बृहस्पतिसवस्य तु क्त्वाश्रुतिरेव धातुसम्बन्धाधिकारात्समानकर्तृकतायां विहिता संयोगपृथक्त्वेन विनियुक्तत्वमपि विनियोजयन्ती न शक्या श्रुत्यन्तरेण निरोद्धुं स्वप्रमामिति वैषम्यम् । तदिदमुक्तम् ॐ वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम् इति ॐ । ॐ अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः इति ॐ । तुल्यप्रबलतया बृहस्पतिकवस्य तुल्यताशङ्कापाकरणद्वारेण समुच्चयो न तु पृथग्युक्तितया परस्परापेक्षत्वादिति । सन्निधिपाठमुपपादयति ॐ अरण्यादिवचनवादी इति ॐ ॥ २५ ॥

---

भामती—व्याख्या

प्रकरण में पठित है, किन्तु श्रुति, लिङ्ग, वाक्य और प्रकरण उस पदार्थ का कहीं विनियोग नहीं करते, ऐसे पदार्थ का विनियोग क्रम प्रमाण से किया जाता है, क्योंकि क्रम से भी उस पदार्थ का विनियोग न करने पर प्रकरण-पाठ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। जहाँ पर श्रुत्यादि प्रमाणों के द्वारा ही उस पदार्थ का विनियोग करके प्रकरण-पाठ की उपपत्ति कर दी जाती है, वहाँ प्रकरणपाठान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति चरितार्थ हो चुकी होती है, वहाँ क्रम प्रमाण अपने विषय की प्रमा उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी प्रमित्सा ही समाप्त हो जाती है। "वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत" यहां पर तो क्त्वा प्रत्ययरूप श्रुति ही समानकर्तृता में विहित होकर संयोगपृथक्त्व-न्याय से विनियुक्त का भी विनियोग कर देती है, उसके मार्ग का अवरोध अन्य श्रुति भी नहीं कर सकती, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्"। [ अर्थात् "एकस्य तूभयत्वे संयागपृथक्त्वम्" (जै. सू. ४।३।५) इस सूत्र के अनुसार एक ही कर्म का विभिन्न फलों के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न विधान माना जाता है, यदि उसके विधायक संयोग (वाक्य) भिन्न हैं। बृहस्पतिसव के भी विधायक वाक्य दो हैं—( १ ) "ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत" और ( २ ) "वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत"। अतः बृहस्पतिसव का विनियोगान्तर माना जाता ]। "अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः" इस भाष्य के द्वारा प्रवर्ग्यगत बृहस्पतिसव की तुल्यता की शङ्का का निराकरण किया गया है, क्योंकि बृहस्पतिसव-प्रापक प्रमाणों में समानबलता और प्रवर्ग्यप्रापक ( सन्निधि ) प्रमाण में दुर्बलभाव है, अतः दोनों कर्मों में तुल्यता का सन्देह नहीं कर सकते। [भाष्य में प्रयुक्त 'अपिच' शब्द समुच्चयपरक है, समुच्चयरूपता का सामञ्जस्य इस प्रकार है कि जैसे प्रबल प्रमाण के द्वारा अन्यत्र विहित होने के कारण प्रविध्यादि मन्त्र विद्या के अङ्ग नहीं, वैसे ही अनाकांक्षित एवं दुर्बल प्रमाण-प्रापित होने के कारण बृहस्पतिसव और प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग नहीं हो सकते]। यदि उक्त मन्त्र और कर्म विद्या के अङ्ग नहीं,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १५ हान्यधिकरणम् । सू० २६ )

**हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥**

अस्ति ताण्डिनां श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि' ( छा० ८।१३।१ ) इति। तथाऽऽथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ( मुण्ड० ३।२।८ ) इति। तथा शाठ्यायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। तथैव कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' ( कौ० १।४ ) इति। तदिह क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते, क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनम्, क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च। तत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति। यत्राप्युपायनमेव श्रूयते, न हानं, तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति। अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात्तद्धानस्य। यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं

भामती

यत्र हानोपायने श्रुयेते तत्राविवादः सन्निपाते, यत्राप्युपायनमात्रश्रवणं तत्राऽपि नान्तरीयकतया हानमाक्षिप्तमित्यस्ति सन्निपातः। यत्र तु हानमात्रं सुकृतदुष्कृतयोः श्रुतं न श्रूयते उपायनं, तत्र किमुपा-

भामती—व्याख्या

तब विद्या की सन्निधि में उनका पाठ क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्"। अर्थात् जैसे विद्या का अनुवचन अरण्य में होता है, वैसे ही प्रविद्यादि आभिचारिक मन्त्रों का अनुवचन भी अरण्य में ही होता है, बहुजनाकीर्ण आपणादि में नहीं ॥२५॥

---

[ प्रथम वर्णक ]

**विषय**—ताण्डिशाखा की श्रुति है—"अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्, चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" ( छां. ८।१३।१ ) [ जैसे अश्व अपने शरीर को झकझोर कर पुराने लोम और घट्टा-मिट्टी झाड़ कर साफ-सुथरा हो जाता है, वैसे ही मैं (जीव) अपने धर्माधर्मरूप पाप कर्मों का त्याग करके राहु के मुख से मुक्त चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता हूँ। इतना ही नहीं, प्रारब्ध के क्षीण होनेपर इस शरीर का त्याग कर अकृत नित्य ) ब्रह्म का स्वरूप होकर कृतकृत्य हो जाता हूँ ]। अथर्ववेदीय मुण्डक का वाक्य है—"तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ( मुण्ड. ३।२।८ )। शाटचोयनीय शाखा का वाक्य है—"तस्या पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" [ विद्वान् के शरीर त्याग देने पर पुत्रगण उसका धन लेते हैं, सुहृद्गण साधुकृत्या ( पुण्य कर्म ) और शत्रुगण पापकृत्या ( पाप कर्म ) पाते हैं ]। कौषीतकि-शाखा में कहा है—"तत्सुकृतेदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति, अप्रिया दुष्कृतम्" ( कौ. १।४ )।

**संशय**—उदाहृत वाक्यों में दो पदार्थों का उल्लेख हुआ है—( १ ) विद्वान् के द्वारा मरने पर धनादि का त्याग और ( २ ) त्यक्त धनादि का पुत्रादि के द्वारा उपायन ( ग्रहण )। जहाँ हान ( त्याग ) और उपायन ( ग्रहण ) इन दोनों का उल्लेख है, वहाँ किसी प्रकार संशय और विवाद ही नहीं, जहाँ केवल ग्रहण का निर्देश है, वहाँ भी त्याग नान्तरीयक (अव्यभिचरित या अवश्यंभावी ) है, क्योंकि त्याग के बिना ग्रहण उपपन्न ही नहीं होता, अतः अन्यथानुपपत्ति के आधार पर त्याग का आक्षेप ( कल्पना ) हो जाता है। इस प्रकार त्याग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रोपायनं सन्निपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसन्निपातः। विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शाखान्तरीयस्य श्रवणस्य। अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानम्, परकर्तृकं तूपायनम्, तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत? तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति।

अस्यां प्राप्तौ पठति – हानौ त्विति। हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति, तच्छेषत्वात्। हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषी-

भामती

यनमुपादानं सन्निपतेन्न वेति संशयः।

अत्र पूर्वपक्षं गृह्णाति ❀ असन्निपात इति ❀। स्यादेतत् – यथा श्रूयमाणमेकत्र शाखायामुपासनाङ्गं तस्मिन्नेव वोपासने शाखान्तरेऽश्रूयमाणमङ्गमुपसंह्रियते, एवं शाखान्तरश्रुतमुपायनमुपसंहरिष्यत इत्यत आह ❀ विद्यान्तरगोचरत्वाच्च इति ❀। एकत्वे ह्युपासनकर्मणामन्यत्र श्रुतानामप्यन्यत्र समवायो घटते। न त्विहोपासनानामेकत्वं, सगुणनिर्गुणत्वेन भेदादित्यर्थः। ननु यथोपायनं श्रुतं हानमुपस्थापयत्येव हानमपि उपायनमित्यत आह ❀ अपि चात्मकर्तृकम् इति ❀। ग्रहणं हि न स्वामिनोऽपगममन्तरेण भवतीति ग्रहणादपगमसिद्धिरवश्यम्भाविनी। अपगमस्त्वसत्यप्यन्येन ग्रहणे दृष्टो यथा प्रायश्चित्तेनापगतिरेनस इति। कर्तृभेदकथनं त्वेतदुपोद्बलनार्थं न पुनरनवश्यम्भावस्य प्रयोजकमुपायनेनानैकान्त्यादिति।

सिद्धान्तमुपक्रमते ❀ अस्यां प्राप्तौ इति ❀। अयमस्यार्थः— कर्मान्तरे विहितं हि न कर्मान्तर उपसंह्रियते, प्रमाणाभावात्। यत् पुनर्न विधीयते किन्तु स्तुत्यर्थं सिद्धतया सङ्कीर्त्यते, तदसति बाधके

भामती–व्याख्या

और ग्रहण–दोनों का सन्निपात ( संग्रह ) हो जाता है किन्तु जहाँ पुण्य सौर पाप-राशि का केवल त्याग ही श्रुत है, उपायन ( ग्रहण ) श्रुत नहीं, वहाँ पर क्या उपायन ( उपादान या ग्रहण ) का उपसंहार होता है? अथवा नहीं?

**पूर्वपक्ष**—"असन्निपातः"। जैसे किसी भी शाखा में श्रुत उपासनाङ्ग का सभी शाखाओं में उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उपायन ( ग्रहण ) का उपसंहार क्यों न होगा? इस शङ्का का समाधान है—"विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शास्त्रान्तरीयस्य श्रवणस्य"। अर्थात् अन्य शाखा में पठित अङ्गों का उपसंहार तभी होता है, जब अङ्गी या प्रधानतत्त्व एक हो, प्रकृत में उपासनाओं का भेद होने के कारण अङ्गों का उपसंहार सम्भव नहीं। सगुण और निर्गुणरूप उपास्य के भेद से से यहाँ उपासनाओं का भेद है। जैसे श्रुत उपायन ( ग्रहण ) हान ( त्याग ) का उपस्थापक है, वैसे ही श्रुत हान उपायन का उपस्थापक क्यों नहीं? इस प्रश्न का उत्तर है—"अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानम्"। अर्थात् ग्रहण किसी पदार्थ का तभी होगा, जब उस का स्वामी त्याग करेगा, अतः ग्रहण के द्वारा अपगमन (त्याग) की सिद्धि अवश्यंभाविनी हो जाती है किन्तु स्वामी का त्याग अन्य व्यक्ति के ग्रहण के विना भी देखा जाता है, जैसे कि प्रायश्चिन्त के अनुष्ठान से पाप की अपगति होती है। भाष्यकार ने जो त्याग और ग्रहण के कर्त्ता पुरुषों का भेद प्रतिपादित किया है, वह उक्त अनैकान्तिकत्व का ही उपोद्बलक ( समर्थक ) है, अनावश्यकत्व ( हानगत उपायन के व्याप्त्यभाव ) का प्रयोजक नहीं, क्योंकि 'यद् येन भिन्नकर्तृकम्, तत् तेनानियतम्'—यह व्याप्ति परकर्तृक हान से नियत स्वकर्तृक उपायन में व्यभिचरित है।

**सिद्धान्त**—"अस्यां प्राप्तौ पठति हानौ तु"। इसका तात्पर्य यह है कि कर्मान्तर में विहित अङ्गों का कर्मान्तर में उपसंहार नहीं होता, क्योंकि उस में कोई प्रमाण नहीं, किन्तु जिस पदार्थ का विधान नहीं होता, केवल स्तुति के लिए अनुवादमात्र किया जाता है, उस पदार्थ


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्किरहस्ये। तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः। यदुक्तमश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादनावश्यकत्वाच्चासंनिपात इति, तदुच्यते-भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत। नत्विह हानमुपायनं वानुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते। विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम्—इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते ते चास्य सुहृद्द्विषत्सु निविशेते इति। स्तुत्यर्थं चास्मिन् संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय। प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तरप्रवृत्तिः—'एकविंशो वा इतोऽसावादित्यः' (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु। कथं

भामती

देवताधिकरणन्यायेन शब्दतः प्रतीयमानं परित्यक्तुमशक्यम्। तथा च विधूतयोः सुकृतदुष्कृतयोर्निर्गुणायां विद्यायामश्वरोमादिवत्किं भवत्वित्याकाङ्क्षायां न तावत् प्रायश्चित्तेनेव तद्विलयसम्भवस्तथा सत्यश्वरोमराहुवृत्तान्तानुपपत्तेः, न जात्वश्वरोमराहुमुखयोर्विलयनमस्ति। अपि त्वश्वचन्द्राभ्यां विभागः। न च नष्टे विधूननप्रमोचनार्थसम्भवः। तस्मादर्थवादस्यापेक्षायां शब्दसन्निधिकृतोऽपि विशेष उपायनं बुद्धौ सन्निधापयितुं शक्नोत्यपेक्षां पूरयितुमिति। निर्गुणापि विद्या हानोपायनाभ्यां स्तोतव्या। स्तुतिप्रकर्षस्तु प्रयोजनं न प्रमाणम्, अप्रकर्षेऽपि स्तुत्युपपत्तेः। न चार्थवादान्तरापेक्षार्थवादान्तराणां न दृष्टा। न च तैर्नं पूरणमित्याह ❀ प्रसिद्धा च इति ❀। ❀ स्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य इति ❀। यद्यप्यन्यदीये

भामती—व्याख्या

का जब कि कोई बाधक नहीं और वह शब्दतः प्रतीयमान है, तब उस का परित्याग वैसे ही नहीं किया जा सकता, जैसे देवताधिकरण (ब्र. सू. १।३।२६) में निर्णीत देवता के विग्रह और विद्याधिकारादि का परित्याग नहीं किया जाता। विद्वान् पुरुष के द्वारा परित्यक्त पुण्य-पाप का निर्गुण-विद्या में अश्व-रोमादि के समान क्या होगा? ऐसी आकांक्षा में प्रायश्चित्त के द्वारा जैसे पाप का विलयन होता है, वैसा तो विलयन हो नहीं सकता, क्योंकि वैसा मानने पर अश्व-रोम और राहु का दृष्टान्त संगत नहीं होता—न तो अश्व के त्यक्त रोमों का विलयन होता है और न राहु के मुख का, अपि तु रोमों का अश्व से एवं राहु-मुख का चन्द्रमा से विभागमात्र हो जाता है। पापादि का नाश मान लेने पर 'विधूय पापम्', 'मुखात् प्रमुच्य'—यहाँ विधूनन और प्रमोचन का मुख्यार्थ अनुपपन्न हो जाता है। निर्गुणोपासना-विधान अर्थवाद की अपेक्षा करता है। निर्गुण-विद्या की प्रशंसा में प्रवृत्त वाक्य है—"तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति" (कौ. १।४) यहाँ हान की सन्निधि में उपायन (ग्रहण) श्रुत है, अतः जहाँ केवल हान श्रुत है, वहाँ भी हान-समभिव्याहृत उपादान बुद्धिस्थ हो जाता है। केवल हान के द्वारा क्रियमाणविद्या-स्तुति जब हान और उपादान-दोनों के द्वारा सम्पन्न की जाती है, तब उस में उत्कर्ष आ जाता है। फलतः निर्गुण विद्या की भी कथित हान और उपायन के द्वारा स्तुति की जाती है कि 'यह विद्या अत्यन्त प्रशस्त है, जिस की प्राप्तिमात्र से विद्वान् के पुण्य और पाप कर्मों का परिहाण हो जाता है, वे पुण्य मित्रों को और पाप शत्रुओं को प्राप्त हो जाते हैं'।

**शंङ्का**—सुकृतादि का त्यागवाद भी अर्थवाद है और उपायनवाद भी, एक अर्थवाद दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा करके प्राशस्त्य में उत्कर्षाधायक तभी हो सकता है, जब एक अर्थवाद दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा करता हो, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि अर्थवाद सदैव विधिवाक्य की अपेक्षा करता है, अन्य अर्थवाद की नहीं।

**समाधान**—"प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षा"। सगुणोपासना का अर्थवाद है—

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही हैकविंशतादित्यस्याभिधीयेतानपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' इत्येतस्मिन् ? तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय' इत्येवमादिवादेषु इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते। विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम्। उपायनशब्दशेषत्वादिति तु शब्दशब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थमेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति। गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानानुवृत्तिं ब्रूयात्। तस्माद् गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्। कुशाछन्दस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्। तद्यथा भाल्लविनाम्—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता

भामती

अपि सकृतदुष्कृते अन्यस्य फलं प्रयच्छतः, यथा पुत्रस्य श्राद्धकर्म पितुः तृप्तिं यथा च पितुः वैश्वानरीयेष्टिः पुत्रस्य। नार्य्याश्च सुरापानं भर्तुर्नरकम्। तथाऽप्यन्यदीये अपि सुकृतदुष्कृते साक्षादन्यस्मिन्न सम्भवत इत्याशयेन शङ्का, फलतः प्राप्त्या स्तुतिरिति परिहारः। गुणोपसंहारविवक्षायामित्यपि न स्वरूपतः सुकृतदुष्कृतसञ्चाराभिप्रायम्। ननु विद्यागुणोपसंहाराधिकारे कोऽयमकाण्डे स्तुत्यर्थविचार इति शङ्कामुपसंहरन्नपाकरोति। ॐ तस्माद् गुणोपसंहारविचारप्रसंगेन इति ॐ। विद्यागुणोपसंहारप्रसक्तः स्तुतिगुणोपसंहारो विचारितः प्रयोजनं चोपासके सौहार्दमाचरितव्यम्, न त्वसौहार्दमिति। छन्द एवाच्छन्द

भामती—व्याख्या

'एकविंशत्यादित्यमाप्नोति, इतो एकविंश आदित्यः" ( छां. २।१०।५ ) [ अर्थात् साम की सात भक्तियों में जो सब बाईस अक्षर गिनाए गए, उन में इक्कीस संख्या के द्वारा इक्कीसवां आदित्यलोक और बाईसवीं संख्या के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ]। आदित्यलोक की बाईसवी संख्या के सम्पादनार्थ अन्य अर्थवाद अपेक्षित है—"द्वादश मासाः, पञ्च ऋतवः, त्रय इमे लोकाः, असावादित्य एकविंशः" [ अर्थात् १२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक—ये सब मिला कर बीस और आदित्य इक्कीसवां है ]।

"विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य, कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरुपेयेते"। यद्यपि अन्य व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठित पुण्य-पाप कर्मों का फल अन्य व्यक्ति को क्योंकर प्राप्त होगा ? ऐसी भाष्यकार को शङ्का उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि पिता के द्वारा अनुष्ठीयमान वैश्वानरीय इष्टि का फल पुत्र को, पुत्र के द्वारा किए जानेवाले श्राद्ध का फल पिता को तथा पत्नी के द्वारा किए गए सुरा-पान का फल ( नरक ) पति को प्राप्त होता है।

तथापि अन्य-समवेत सुकृत और दुष्कृत का समवाय अन्य व्यक्ति मे नहीं हो सकता—इस आशय से उक्त शङ्का की गई है और उस के फल की प्राप्ति अन्य में मान कर उक्त शङ्का का परिहार किया गया है। गुणोपसंहारविवक्षायाम्"—यह भाष्य भी सुकृत-दुष्कृत का स्वरूपतः सञ्चार ( अन्य व्यक्ति में संक्रमण ) मान कर प्रवृत्त नहीं हुआ। विद्या में गुणोपसंहार का यह प्रकरण है, इस स्तुत्यर्थता का अप्रासङ्गिक विचार क्यों ? इस शङ्का का उपसंहार करते हुए अपाकरण किया जाता है—"तस्माद् गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्" अर्थात् विद्या-सम्बन्धी गुणोपसंहार के प्रसङ्ग से श्रुति के उपयोगी गुण सुकृतादि के परत्र संचार या उपसंहार विचारित हुआ है। इस का प्रयोजन यह है कि उपासक के लिए सभी को सुहृद्भाव रखना चाहिए, असौहार्द नहीं।

हान-स्थल पर उपायन का श्रुत्यन्तर के आधार पर उपसंहार कैसे होता है ? इस प्रश्न का सूत्रकार ने उत्तर दिया है—"कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्" अर्थात् (१) कुशावत्, (२) छन्दोवत्, (३) स्तुतिवत् (स्तोत्रगानवत्), (४) उपगानवत्—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिना-मौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते । यथा च क्वचिद् देवासु-रच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इति पैङ्ग्याम्नानात् प्रतीय-न्ते । यथा च षोडशिस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये' इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः । यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्ल-विनः । यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयः, एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः ।

भामती

आच्छादनाच्छन्वो भवति । ❀ यथैव चाविशेषेणोपगानमात्र इति ❀ । ऋत्विज उपगायन्तीत्यविशेषेणो-पगानमृत्विजाम् । भाल्लविनस्तु विशेषेण नाध्वर्युरुपगायतीति । तदेतस्माद्भाल्लविनां वाक्यमृत्विज उपगायन्तीत्येतच्छेषं विज्ञायते । एतदुक्तं भवति अध्वर्युवर्जिता ऋत्विज उपगायन्तीति । कस्मात्पुनरेवं

भामती—व्याख्या

(१) **कुशावत्**—सामगान करते समय स्तोत्रीय ऋचाओं की गणना में प्रयुक्त होने वाली, उदुम्बर की लकडी से बनाई गई, लगभग छः-छः इञ्च की लम्बी शलाकाओं का यहाँ नाम 'कुशा' है । यह 'कुशा' शब्द स्त्री लिङ्ग है [ किन्तु वाचस्पति मिश्र ने यहाँ पुंल्लिङ्ग 'कुश' शब्द का ही सम्भवतः ग्रहण किया है, अत एव सूत्र के कुशाच्छन्द' शब्द में 'आच्छन्द' शब्द का छेद किया है । इस की आलोचना करते हुए प्रकटार्थकार कहते हैं—"कुशाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वापरिज्ञानात् छन्द एवाच्छन्द ? इति पदं चिच्छेद वाचस्पतिः, " (प्रकटा. पृ. ८५६ ) । कल्पतरुकार ने उक्त आलोचना की एक तीखी प्रत्यालोचना की है ] ।

"कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात" [ हे कुशाओ ! तुम दारुमयी हो, हमारी रक्षा करो ] । यहाँ किसी ऐसे विशेष काष्ठ का निर्देश नहीं, जिससे उक्त कुशा बनाई जाती है, अतः शाट्यायनिशाखा का यह वाक्य निर्णायक माना जाता है—"औदुम्बराः कुशाः" ।

(२) **छन्दोवत्**—"छन्दांसि छादनात्" ( निरु० ७।२ ) इस प्रकार निरुक्तकार ने कहा है कि देवगणों ने मृत्यु से बचने के लिए गायत्र्यादि छन्दों से अपने को आच्छादित कर लिया, अतः उन्हें छन्द कहते हैं । "छन्दोभिः स्तुवते"—इस वाक्य में सामान्यतः छन्द का उल्लेख है, इसकी विशेषाकांक्षा "दैवच्छन्दांसि पूर्वाणि"—इस वाक्यान्तर से शान्त होती है । [ नव अक्षरों के छन्दों को 'असुर-छन्द' और शेष छन्दों को दैव-छन्द कहा जाता है । पार्थसारथिमिश्र ने तन्त्ररत्न (१०।५।२५।) में कहा है—"दैवच्छन्दांसि सप्त गायत्र्या-दीनि जगत्यन्तानि" ।

(३) **स्तोत्र गान**—ज्योतिष्टोम याग में सोम-रस भरने के लिए जो डमरू के आकार के छोटे-छोटे दारुमय गिलास होते हैं, उन्हें ग्रह कहते हैं । उन्हीं ग्रहों में एक 'षोडशी' नाम का ग्रह है, उसमें सोम-रस का ग्रहण 'उक्थ्य' स्तोत्र के पश्चात् किया जाता है—"पराञ्चमु-क्थ्याग्निगृह्णन्ति षोडशिनम्" । उसी समय 'षोडशी' नाम के स्तोत्र से स्तुति का गान किया जाता है, किन्तु उसके समय का निर्देश वाक्यान्तर में किया गया है—"समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" ( तै. सं. ६।६।२१ ) । समयाध्युषित वह क्षण है, जिस में न सूर्य रहे और न तारे निकल पाएं । श्रीमाधवाचार्य व्याख्या करते हैं—"समयोऽस्तसमयः तं प्राप्ते सूर्ये स्तोत्रप्रारम्भकालः" ( न्या. मा. वि. पृ. २७७ ) ।

(४) **उपगानवत्**—ज्योतिष्टोम में सामके मुख्य गायक हैं—(१) उद्गाता, (२) प्रस्तोता, (३) प्रतिहर्त्ता और (४) सुब्रह्मण्य । मुख्य गायक के जैसे पार्श्व-गायक सहायक होते हैं, वैसे ही साम के मुख्य गायकों के सहायक उपगाता उपगाता कहलाते हैं, वे

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात्। स चान्याय्यः सत्यां गतौ। तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम्—'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' इति।

भामती

व्याख्यायते ? ननु स्वतन्त्राण्येव सन्तु वाक्यानीत्यत आह ❀ श्रुत्यन्तरकृतम् इति ❀। अष्टदोषदुष्टविकल्पप्रसङ्गभयेन वाक्यान्तरस्य वाक्यान्तरशेषत्वमत्रभवतो जैमिनेरपि सम्मतमित्याह ❀ तदुक्तम् ❀ द्वादशलक्षण्याम्—"अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यादिति"। एतदेव सूत्रमर्थद्वारेण पठति ❀ अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ❀ स चान्याय्य इति शेषः। एवं किल श्रूयते - एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञे यज्ञेऽन्वायत्त इति। ततो नानुयाजेषु येयजामहं

भामती—व्याख्या

ऋत्विज ही होते हैं, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"उपगाश्च लिङ्गदर्शनात्" (जै. सू. ३।७।३०)। किसी शाखा में कहा गया है कि सभी ऋत्विज उपगाता होते हैं—"ऋत्विज उपगायन्ति"। किन्तु भाल्लवि-शाखा में अध्वर्यु का निषेध किया गया है—"नाध्वर्युरुपगायति" (तै० सं० ६।३।१।५)। इससे यह स्पष्ट है कि भाल्लवि-शाखा का वाक्य उक्त सामान्य विधि का शेष है। सारांश यह है कि अध्वर्यु को छोड़ कर शेष ऋत्विज उपगान करेंगे। उक्त सामान्य विधि का ऐसा संकुचित अर्थ क्यों किया गया? इस प्रश्न का उत्तर है—"श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयः"। यदि विशेष शास्त्र की सहायता न लेकर सामान्य विधि का स्वतन्त्र अर्थ किया जाता है, तब विकल्प प्रसक्त होता है, विकल्प में आठ दोष विहित होते हैं—

["व्रीहिभिर्यजेत" (आप. श्रौ. ६।२१।१३) एवं "यवैर्यजेत" इन दोनों वाक्यों के द्वारा एक ही याग के उद्देश्य से व्रीहि और यव—इन दोनों द्रव्यों का विधान होने से विकल्प माना जाता है, अतः कभी व्रीहि से और कभी यव से हवि का निर्माण किया जाता है। उक्त दोनों वाक्य स्वतःप्रमाणभूत हैं, अतः जब व्रीहि-पक्ष का ग्रहण किया जाता है, तब "यवैर्यजेत"—इस वाक्य में (१) प्राप्त प्रामाण्य का परित्याग और (२) अप्राप्त अप्रामाण्य का स्वीकार। जब द्वितीय प्रयोग में यव से हवि का निर्माण होता है, तब यव-शास्त्र में ही (३) परित्यक्त प्रामाण्य का अभ्युपगम और (४) स्वीकृत अप्रामाण्य का परित्याग। इस प्रकार यव-वाक्य में चार दोष होते हैं। इसी प्रकार यव-कल्प अपनाने पर व्रीहि-वाक्य में चार दोष प्रसक्त होते हैं, सब मिलाकर आठ दोष हैं। न्यायमालाविस्तर (४।१।१५) में ये दोष गिनाए हैं। वार्तिककार भी कहते हैं—

"एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद् व्रीहियववाक्ययोः।
विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते॥" (तं. वा. पृ. १७५)]

इस प्रकार के विकल्प से बचने के लिए जहाँ तक सम्भव हो सके विशेष शास्त्र को सामान्य शास्त्र का वाक्यशेष मानना चाहिए, समबल या प्रतिषेधक नहीं मानना चाहिए, जैसा कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—"अपितु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद् विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्" (जै. सू. १०।८।४)। इसी सूत्र के समानार्थक सूत्र को भाष्यकार उद्धृत करते हैं—"अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' (जै. सू. १०।८।१५)। इस अधिकरण के विषयादि इस प्रकार हैं—

विषय—"आश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम्, ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः—एष 'वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

करोतीति तदत्रानारभ्य कञ्चिद्यज्ञं यज्ञेषु येयजामहःकरणमुपदिष्टम् । तदुपदिश्य चाम्नातं नानुयाजेष्विति । तत्र संशयः किं विधिप्रतिषेधयोर्विकल्प उत पर्युदासः ? अनुयाजवर्जितेषु येयजामहः कर्त्तव्य इति । मा भूदर्थप्राप्तस्य शास्त्रीयेण निषेधेन विकल्पः । वृष्टं हि तादात्मिकीमस्य सुन्दरतां गमयति नायतौ बाधवत्तां निषेधति । तस्य तत्रौदासीन्यात् । निषेधशास्त्रं तु तादात्मिकं सौन्दर्य्यमवाधमानमेव प्रवृत्त्युन्मुखं नरं निवारयदायत्यामस्य दुःखफलत्वमवगमयति । यथाह – अकर्त्तव्यो दुःखफल इति । ततो रागतः प्रवृत्तमप्यायत्यां दुःखतो बिभ्यतं पुरुषं शक्नोति निवारयितुमिति बलीयान् शास्त्रीयः प्रतिषेधो रागतः प्रवृत्तेरिति न तया विकल्पमर्हति । शास्त्रीयौ तु विधिनिषेधौ तुल्यबलतया षोडशिग्रहणवद्विकल्प्येते । तत्र हि विधिदर्शनात् प्रधानस्योपकारभूयस्त्वं कल्प्यते । निषेधदर्शनाच्च वैगुण्येऽपि फलसिद्धिरवगम्यते । यथाह – "अर्थप्राप्तवदिति चेन्न तुल्यत्वात् । उभयं शब्दलक्षणमिति" । न च वाच्यं यावद्यजतिषु

भामती–व्याख्या

( तै० सं० १।६।११।१ ) । [ उक्त मन्त्रगण के सभी सत्तरह अक्षर हैं । सत्तरह अक्षरों के इस मन्त्र-समूह की प्रजापति के रूप में स्तुति की गई है कि यह प्रजापति ऐसा है, जो कि अपने सप्तदशक सूक्ष्म शरीर के द्वारा सभी यज्ञों में उपस्थित रहता है ] । इस प्रकार जब सभी यागों में "ये यजामहे' का उच्चारण प्राप्त है, तब अनुयाज में भी प्राप्त है किन्तु वहाँ यह निषेध भी निर्दिष्ट है—"नानुयाजेषु येयजामहं करोति" ( आप. श्रौ. २४ १३।६ ) ।

**संशय**—क्या विधि और प्रतिषेध का विकल्प माना जाता है ? अथवा पर्युदास मान कर अनुयाज से भिन्न यागों में 'ये यजामहे' की विधि मानी जाती है ?

**पूर्वपक्ष**—'ये यजमाहे' की प्राप्ति अर्थात् और निषेध शास्त्रीय है, अतः विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि समबलवाले प्रमाणों के द्वारा प्राप्त न होने के कारण विधि और निषेध का कोई विरोध ही नहीं, जैसे कि कोई क्रिया वर्तमान में सुखद है किन्तु वह सुखदरूपता भविष्य के दुःखप्रदातृत्व का निषेध नहीं कर सकती, क्योंकि वह उस अंश में तटस्थ है । इस के विपरीत निषेध शास्त्र जिस क्रिया में तात्कालिक इष्ट-साधनता का बाध करता हुआ पुरुष को उस क्रिया से हटाता है, इतना ही नहीं, अपितु भविष्य में भी उस क्रिया को दुःख-फलक ही अवबोधित करता है, जैसा कि कहा है—"अकर्तव्यो दुःखफलः" [ जो कर्म अकर्त्तव्य या निषिद्ध है, वह भविष्य में दुःखफलक होता है ] । फलतः शास्त्रीय निषेध जो रागतः निषिद्धाचरण में प्रवृत्त है और भविष्य में दुःख झेलने से डरता है, उस पुरुष को निषिद्धाचरण से वर्जित कर सकता है । इस प्रकार प्रतिषेध प्रबल है और रागतः प्रवृत्ति दुर्बल अतः प्रवृत्ति के साथ प्रतिषेध का विकल्प क्योंकर होगा ?

शास्त्रीय विधि और शास्त्रीय निषेध अवश्य ही समान बलवाले होते हैं, जैसे अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" ( मै. सं ४।७।६ ) और 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—इस प्रकार के विधि-निषेधों का विकल्प माना जाता है, क्योंकि वहाँ पर विधि को देखकर षोडशिग्रहण में प्रधान कर्म की उपकारकता और निषेध को देखकर षोडशि-ग्रहण न करने पर भी प्रधान कर्म से फल की सिद्धि अवगत होती है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"अर्थप्राप्तवदिति चेत्" ( जै. सू. १०।८।२ ) । "न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम्" ( जै० सू० १०।८।३ ) [ प्रथम सूत्र में जो विकल्प आपादित है, वह उचित नहीं, क्योंकि लोक में जहाँ प्रतिषेध्य अर्थ प्राप्त होता है, वहाँ 'न विषं भक्षयितव्यम्', 'न सर्पायाङ्गुलिर्देया', 'न कण्टकः पादेनाधिष्ठेयः'—ऐसे निषेधों के होने पर विकल्प नहीं होता, अपि तु प्राप्त अर्थ का प्रतिषेध ही हो जाता है । इस आक्षेप का समाधान है "न तुल्यहेतुत्वात्" । अर्थात् प्राप्ति और प्रति-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

येयजामहकरणं यावद्यजतिसामान्यद्वारेणानुयाजं यजतिविशेषमुपसर्पति तावदनुयाजगतेन निषेधेन तन्निषिद्धमिति शीघ्रप्रवृत्तेः सामान्यशास्त्राद्विशेषनिषेधो बलवानिति । यतो भवत्वेव विधिषु ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति तत्र तक्रविधिर्न दधिविधिमपेक्षते प्रवर्त्तितुमिह तु प्राप्तिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधस्य येयजामहस्य चान्यतोऽप्राप्तेस्तन्निषेधेन निषेधाप्राप्त्यै तद्विधिरपेक्षणीयः । स च सापेक्षतया निषेधा द्विधिरेव बलीयानित्यतुल्यशिष्टतया न विकल्पः किन्तु निषेधस्यैव बाधनमिति साम्प्रतं, तथा सति निषेधशास्त्रं प्रमत्तगीतं स्यात् । न च तद्युक्तं तुल्यं हि साम्प्रदायिकम् । न च न तौ पशौ करोतीतिवदर्थवादता, असमवेतार्थत्वात् । पशौ हि नाज्यभागौ स्त इत्युपपद्यते । न चात्र तथा येयजामहाभावः,

भामती—व्याख्या

षेध—ये दोनों समानरूप से शब्दप्रमाणक हैं, अतः "ये यजामहे"—इस मन्त्र के प्रयोग और अप्रयोग का विकल्प ही न्यायसंगत है ]।

**शङ्का**—"यजतिषु ये यजामहं करोति"—यह सामान्य शास्त्र जब तक सामान्य यजति ( याग ) के द्वारा अनुयाजरूप विशेष याग में पदार्पण करता है, तब तक अनुयाज के प्रकरण में विद्यमान "नानुयाजेषु ये यजामहं करोति" यह विशेष शास्त्र शीघ्र प्रवृत्त होकर उक्त मन्त्र का बाधक वैसे ही हो जाता है, जैसे "ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्"—इस सामान्य वाक्य का बाधक "तक्रं कौण्डिन्याय"—यह विशेष वाक्य होता है।

**समाधान**—कौण्डिन्य को तक्र की विधि दधि विधान की अपेक्षा नहीं करती, अतः निरपेक्ष होने के कारण विशेष वाक्य सामान्य का बाधक हो जाता है किन्तु अनुयाज में "ये यजामहे"—इसके निषेधक शास्त्र को उसकी प्राप्ति के लिए "यजतिषु ये यजामहं करोति"—इस सामान्य शास्त्र की अपेक्षा है, अतः सापेक्ष विशेष शास्त्र अपने उपजीव्यभूत सामान्य शास्त्र का बाधक नहीं हो सकता।

यदि यहाँ विधिशास्त्र अपेक्षित ( उपजीव्य ) हैं, तब वही प्रबल हो जाता है, अतः विकल्प क्यों होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तब तो निषेध-शास्त्र अत्यन्त निरर्थक प्रमत्त-गीत के समान स्वाध्याय विधि से भी गृहीत न हो सकेगा, किन्तु ऐसे शास्त्रों का भी अध्ययनाध्यापन-परम्परारूप सम्प्रदाय समानरूप से अङ्गीकृत है—"तुल्यं च साम्प्रदायिकम्" ( जै. सू. १।२।८ )।

**शङ्का**—'नानुयाजेयु'—यह वाक्य "यजतिषु ये यजामहं करोति"—इस विधि-वाक्य से दुर्बल अर्थवादमात्र वैसे हो है, जैसे "न तौ पशौ करोति"—यह वाक्य। [ "अपूर्वं चार्थवादः स्यात्" ( जै. सू. १०।८।५ ) इस अधिकरण का विषय वाक्य है—"न तौ पशौ करोति, न सोमे"। अर्थात् आज्यभागसंज्ञक दो अङ्ग कर्म पशुयाग में न किए जायँ और न सोमयाग में। इस वाक्य को अर्थवादमात्र सिद्ध करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"सम्भवति चायं तौ न पशौ करोतीत्यस्यार्थवादत्वेन । कः पुनरत्र प्रशंसार्थः ? सोमे आज्यभागौ न क्रियेते, पशावपीति"। अर्थात् यह पशुयाग वैसा ही महान् है, जैसा सोमयाग. क्योंकि आज्यभाग नाम के कर्म जैसे सोमयाग में नहीं किए जाते, वैसे पशुयाग में भी नहीं किए जाते ]।

**समाधान**—आज्यभागसंज्ञक कर्म दर्शपूर्णमासरूप इष्टि के अङ्ग होते हैं, पशुयाग में उनकी प्राप्ति ही नहीं, अतः अप्राप्त-प्रतिषेधक होने के कारण "नान्तरिक्षे न दिवि" ( तै० सं० ५।२।७।१ ) इस वाक्य के समान ही "न तौ पशौ करोति"—इस वाक्य को भी अर्थवादमात्र माना जा सकता है किन्तु "नानुयाजेषु"—यह वाक्य अप्राप्त-प्रतिषेधक नहीं, क्योंकि "यजतिषु ये यजामहं करीति"—इस विधि वाक्य से अनुयाज कर्मों में भी "ये यजामहे"—इसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

यजतिषु येयजामहविधानात् । अनुयाजानाञ्च तद्भावात् । न च पर्युदासस्तदाऽननुयाजेष्विति कात्यायनमतेन नियमप्रसक्तेः । तस्माद्विहितप्रतिषिद्धतया विकल्प इति प्राप्तम् ।

एवं प्राप्त उच्यते — ॐ उक्तं षोडशिग्रहणाग्रहणयोर्विकल्पः इति ॐ । न हि तत्रान्या गतिरस्ति । तेनाष्टदोषदुष्टोऽपि विकल्प आस्थीयते पक्षेऽपि प्रामाण्यान्मा भूत् प्रमत्तगीततेति । इह तु पर्युदासेनाप्युपपत्तौ सम्भवन्त्यामन्याय्यं विकल्पाश्रयणमयुक्तम् । एवं हि तदा नञः सम्बन्धोऽननुयाजेषु यजतिष्वनुयाजवर्जितेषु येयजामहः कर्त्तव्य इति किमतो यद्येवमेतदतो भवति । नानुयाजेष्वित्येतद्वाक्यमपरिपूर्णं साकाङ्क्षं पूर्ववाक्यैकदेशेन सम्भन्त्स्यते यदेतद्येयजामहङ्करोतीति एतन्नानुयाजेषु यावदुक्तः स्यादनुयाजवर्जितेष्विति तावदुक्तं भवति नानुयाजेष्विति । तथा च यजतिविशेषणार्थत्वादननुयाजविधिरेवाय-

भामती—व्याख्या

बोला जाना प्राप्त है, क्योंकि अनुयाज भी 'यजति' पद के द्वारा विधीयमान हैं ।

"नानुयाजेषु"—यहाँ पयुदास मानने पर 'अननुयाजेषु'—इस प्रकार समस्त पद का प्रयोग प्रसक्त होता है, [ भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं—"अनुयाजसम्बन्धे नशब्दस्य समासः प्राप्नोति, नित्यो ह्यस्य नशब्दस्य सुबन्तसम्बन्धेन समास इति वार्तिककारो भगवान् कात्यायनो मन्यते स्म—'वावचनानर्थक्यं च स्वभावसिद्धत्वात्' । नेति भगवान् पाणिनिः, स हि "विभाषा" ( पा. सू. २।१।११ ) इति प्रकृत्येदशं समासमुक्तवान्" ( शाबर. पृ. २०६०-६१ )। अर्थात् "विभाषा"—इस अधिकार सूत्र के द्वारा समास का विकल्पतः बिधान किया है, अतः पक्षान्तर में 'नानुयाजेषु'—ऐसा वाक्य सम्पन्न हो जाता है, किन्तु वार्तिककार महर्षि कात्यायन ने 'वावचनानर्थक्यम्'—इस वार्तिक के द्वारा विभाषा का निषेध करके नित्य समास किया है, अतः 'नानुयाजेषु'—यह वाक्य उपपन्न नहीं होता ]। फलतः विहित 'ये यजामहे'—इस वाक्य का 'नानुयाजेषु'—इस वाक्य के द्वारा प्रतिषेध होने के कारण विकल्प मानना अनिवार्य है ।

**सिद्धान्त**—उदाहरण में षोडशी पात्र में सोमरस के ग्रहण और अग्रहण का जो विकल्प दिखाया गया, वह उचित ही है, क्योंकि वहाँ अन्य कोई गति नहीं, अतः आठ दोषों-वाला विकल्प भी माना जाता है । विकल्प मान लेने पर एक पक्ष में तो प्रामाण्य बन जाता है, अन्यथा प्रमत्त-गीत के समान अत्यन्त अप्रमाणता आ जाती है । प्रकृतमें तो 'नानुयाजेषु'—इस वाक्य को पर्युदास मान कर 'अनुयाजव्यतिरिक्तेषु ये यजामहं करोति'—ऐसा विधि का पर्यवसान हो जाता है, विकल्प का आश्रयण आवश्यक नहीं । पर्युदासार्थक नञ् का सम्बन्ध अनुयाजरूप उत्तर पद के साथ होता है, जिसका अर्थ यह पर्यवसित होता है कि अनुयाज-भिन्न यागों में 'ये यजामहे'—यह प्रयोक्तव्य है । यदि ऐसा है, तब क्या लाभ ? लाभ यह है कि 'नानुयाजेषु'—यह वाक्य अधूरा अत एव साकांक्ष होने के कारण पूर्व वाक्यस्थ यजति के एक भाग ( अनुयाज-भिन्न यजति ) के साथ सम्बन्धित हो जाता है फलतः 'नानुयाजेषु' का अर्थ अनुयाजवर्जितेषु'—ऐसा हो जाता है । पूर्व वाक्य में जो 'यजतिषु' यह पद है, उसका अनुयाज-वर्जित रूप विशेषण प्रस्तुत करने के लिए ही अननुयाज का विधान किया गया है । उक्त वाक्य में विधिरूपता आ जाने से प्रतिषेधरूपता न रहने के कारण विकल्पापादकता समाप्त हो जाती है । पर्युदास-पक्ष में जो वार्तिककार महर्षि कात्यायन का बिरोध प्रस्तुत किया गया था, वह उचित नहीं, क्योंकि उनसे भी बढ़कर महर्षि पाणिनि अभियुक्ततर हैं, उन्होंने "विभाषा" सूत्र के द्वारा विकल्पतः समास का विधान किया है, अतः उनके मतानुसार 'नानुयाजेषु'—यह वाक्य अनुपपन्न नहीं, अतः एव भाष्यकार शबरस्वामी ने कात्यायन

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा—एतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम्—किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति ? तत्र चैवं प्रापयितव्यम्—न ह्यानं विधूननमभिधीयते, 'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात्, 'धूयन्ते ध्वजाग्राणी'ति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात्, तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते। चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्रापय्य प्रतिवक्तव्यम्। हानावेवैष विधूनशब्दो वर्तितुमर्हति, उपायनशब्दशेषत्वात्। नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति।

यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाशसं संभाव्यते, तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते। क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाछन्दस्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्रापेक्षमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते। नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं

भामती

मिति प्रतिषेधाभावान्न विकल्पः, न चाभियुक्ततरपाणिनिविरोधे कात्यायनस्य सद्वादित्वं नित्यसमासवादिनः सम्भवति। स हि विभाषाधिकारे समासं शास्ति। तस्मादनुयाजवर्जितेषु येयजामहविधानमिति सिद्धम्।

वर्णकान्तरमाह ❀ अथवैतासु इति ❀। यथा हि सुकृतदुष्कृतयोरमुर्त्तयोः कम्पनं नाशसं मूर्त्यनुविधायित्वात् कम्पस्य। तथाऽन्यदीययोरन्यत्र सञ्चारोऽप्यनुपपन्नोऽमूर्त्तत्वादेव। तस्मान्नात्र विधूननमात्रं श्रुतं तत्र कम्पनेन वरं स्वकार्यारम्भाच्चालनमात्रमेव लक्ष्यतां न तु ततोऽपगत्यान्यत्र सञ्चारः, कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। तस्मात् स्वकार्यारम्भाच्चालनं विधूननमिति प्राप्तेऽभिधीयते—यत्र तावदुपायनश्रुतिस्तत्रावश्यं त्यागो विधूननं वक्तव्यम्। क्वचिदपि चेद्विधूननं त्यागे वर्त्तते, तथा सत्यन्यत्रापि तत्रैव

भामती—व्याख्या

को असद्वादी और पाणिनि को सद्वादी कहा है—"सद्वादित्वाच्च पाणिनेर्वचनं प्रमाणम्, असद्वादित्वाच्च कात्यायनवचनस्य" ( शाबर. पृ. २०३१ )। इस प्रकार अनुयाज-भिन्न यागों में 'ये यजामहे' का विधान सिद्ध हो जाता है।

[ द्वितीय वर्णक ]

"अथवा एतास्वेव विधूननश्रुतिषु'—इत्यादि भाष्य वर्णकान्तर का उपस्थापक है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

**संशय**—क्या इस विधूनन-वचन के द्वारा सुकृत और दुष्कृत का हान ( परित्याग ) अभिहित है ? अथवा कोई अन्य पदार्थ ?

**पूर्वपक्ष** - जैसे सुकृत और दुष्कृत पदार्थ अमूर्त [ निष्क्रिय ) पदार्थ हैं, अतः ध्वज आदि के समान उनका विधूनन ( कँपाना ) सम्भव नहीं। वैसे ही अन्य पुरुष के सुकृत और दुष्कृत का संचार अन्य व्यक्ति में नहीं किया जा सकता, क्योंकि संचार या प्रवेश करना एक क्रिया है, वह अमूर्त ( निष्क्रिय ) पदार्थ में क्योंकर होगी ? अतः जहाँ केवल विधूनन श्रुत है, वहाँ कम्पन के द्वारा अपने कार्यभूत चालनमात्र में लक्षणा करना अत्यन्त उचित है, अन्यत्र संचार के अर्थाभिधान में महान् गौरव है, फलतः यहां चालन ही विधूनन है।

**सिद्धान्त**—जहाँ उपायन ( ग्रहण ) श्रुत है, वहाँ त्याग को ही विधूनन कहना आवश्यक है। कहीं पर भी यदि 'विधूनन' शब्द त्याग में प्रवृत्त है, तब अन्यत्र भी उसी अर्थ


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभवति, अद्रव्यत्वात् । अश्वश्च रोमाणि विधुन्वानस्त्यजन् रजःसहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' ( छा० ८।१३।१ ) इति च ब्राह्मणम् । अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः । तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

---

## ( १६ सांपरायाधिकरणम् । सू० २७-२८ )

### सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' ( कौ० १।३ ) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' ( कौ० १४ ) इति । तत्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुतिप्रा-

भामती

वर्त्तितुमर्हति । एवं हि न वर्त्तेत यदि विधूननमिह मुख्यं लभ्येत । न चैतदस्ति । तत्रापि स्वकार्याच्चालनस्य लक्ष्यमाणत्वात् । न च प्रामाणिकं कल्पनागौरवं लोहगन्धितामाचरति अपिधानेकार्थत्वाद् धातूनां, त्यागेऽपि विधूयेति मुख्यमेव भविष्यति । प्राचुर्येण त्यागेऽपि लोके प्रयोगदर्शनात् । विनिगमनाहेतोरभावात् । गणकारस्य चोपलक्षणत्वेनाप्यर्थनिर्देशस्य तत्र दर्शनात् । तस्माद्धानार्थं एवात्रेति युक्तम् ॥२६॥

---

ननु पाठक्रमावद्धंपथे सुकृतदुष्कृततरणे प्रतीयेते । विद्यासामर्थ्याच्च प्रागेवावगम्येते । तथा शाठ्यायनिनां ताण्डिनाञ्च श्रुतेः, श्रुत्यर्थौ च पाठक्रमाद् बलीयांसौ, 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति' इत्यत्र यथा । तस्मात् पूर्वपक्षाभावावनारभ्यमेतदत्रोच्यते । गैतत्पाठक्रममात्रमपि तु श्रुतिस्तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुत इति । तदिति हि सर्वनाम, तस्मादर्थं सन्निहितपरामर्शकं तस्य हेतुभावमाह । सन्निहितं च

भामती-व्याख्या

में प्रवृत्त होगा । यदि 'विधूनन' शब्द त्यागरूप अर्थ में प्रवृत्त न होता, तब अपने कम्पनरूप मुख्य अर्थ का अभिधान करता, किन्तु वैसा नहीं, अतः प्राप्तार्थ के त्याग एवं त्याग-जनित चालन ( अन्यत्र संचार ) में विधूनन को लक्षणा होती है । यह जो कहा था कि ऐसा करने में गौरव है, वह कहना सत्य है, किन्तु प्रामाणिक गौरव भी दुर्गन्ध के समान त्याज्य नहीं माना जाता । दूसरी बात यह भी है कि एक ही 'धातु' के अनेक अर्थ होते हैं, अतः 'धूञ्' धातु का त्याग भी मुख्य अर्थ ही माना जा सकता है, क्योंकि त्याग में भी प्रचुर प्रयोग देखा जाता है' जैसे—"विधूतकल्पनाजालम्" ( प्र. वा. पृ. ३२६ ), "अवधूतत्वनियमः" ( ना. प. ५।५ ), "त्यक्तं हीनं विधुतं समुज्झितं धूतमुत्सृष्टम्" ( अमर. पृ. ३८४ ) इत्यादि । प्रकृत में ऐसा कोई विनिगमक हेतु भी उपलब्ध नहीं कि त्यागार्थ का ग्रहण न किया जा सके । धातुगण में कम्पनार्थ-निर्देश उपलक्षणार्थमात्र है, फलतः यहाँ हान ( त्याग ) अर्थ ही उपादेय है ॥ २६ ॥

---

**संशय**—पूर्वाधिकरण में जो विद्वान् के सुकृत और दुष्कृत का त्याग प्रतिपादित है, वह क्या ब्रह्मलोक जाते समय मार्ग में होता है ? अथवा उससे पहले मरण-काल में ?

**पूर्वपक्ष**—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् का वाक्य है—"स आगच्छति विजरां नदीं तां मनसैवात्येति । तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते । तस्य प्रिया ज्ञातय सुकृतामुपयन्ति, अप्रिया दुष्कृतम्"

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


माण्याद्यथाश्रुति प्रतिपत्तिप्रसक्तौ पठति—सांपराय इति। सांपराये गमन एव देहा-

भामती

प्रदनन्तरं श्रुतम्। तच्चार्द्धपथवर्त्ति विरजानदीमनोऽभिगमनमित्यर्द्धपथ एव सुकृतदुष्कृतत्यागः। न च श्रुत्यन्तरविरोधः। अर्द्धपथेऽपि पापविधूनने ब्रह्मलोकसम्भवात् प्राक्कालतोपपत्तेः। एवं शाटयायनिना-मप्यविरोधः। नहि तत्र जीवन्निति वा जीवत इति वा श्रुतम्। तथा चार्द्धपथ एव सुकृतदुष्कृतवि-मोकः। एवञ्च न पर्यङ्कविद्यातस्तत्प्रक्षय इति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु विद्यासामर्थ्यविधूतकल्मषस्य

भामती—व्याख्या

(कौ. ब्रा १।४)। [ब्रह्म-लोक के मार्ग में विजरा नाम की नदी आती है (मुद्रित उपनिषत् में नदी का नाम विजरा ही मिलता है, ठीक भी यही प्रतीत होता है, क्योंकि इससे पहले (१।३ में) विजरा की व्युत्पत्ति भी दी गई है—"विजरां वाऽय नदीं प्रापन्न वा अयं जरयिष्यतीति")। विजरा नदी को विद्वान् संकल्पमात्र से पार कर जाता है, सुकृत और दुष्कृत का परित्याग कर देता है]। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मध्यमार्ग में सुकृतादि का परिहाण होता है।

**शङ्का**—[जैसे जैमिनि दर्शन के तृतीयाध्याय में विनियोग-बोधक श्रुति, लिङ्गादि छः प्रमाण वर्णित हैं, वैसे ही प्रथम अध्याय में क्रम (पौर्वापर्य) के निर्णायक छः प्रमाण निरूपित हैं—(१) श्रुति, (२) अर्थ, (३) पाठ, (४) स्थान, (५) मुख्य और (६) प्रवृत्ति। क्त्वान्तादि शब्दों को श्रुति कहते हैं, जैसे 'वेदं कृत्वा वेदि करोति') प्रयोजन का नाम अर्थ है और पदार्थ-प्रतिपादक वाक्यों का पाठ-क्रम पाठ प्रमाण है]। कथित कौषीतकि-वाक्य में विद्या-लाभ और मरण के अनन्तर ब्रह्म-लोक जाते समय मध्यमार्ग में सुकृत और दुष्कृत का परित्याग पाठ प्रमाण से अवगत है किन्तु विद्या-लाभ का प्रयोजन सुकृतादि की निवृत्ति मरण-समय में ही सिद्ध होती है। शाटयायनि-वाक्यगत क्त्वाप्रत्ययान्त के प्रयोग से भी मरण के समय ही सुकृतादि का परित्याग प्रतीत होता है—"अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्" (छां० ८।१३।१)। श्रुति प्रमाण और अर्थप्रमाण दोनों ही पाठ प्रमाण से प्रबल होते हैं—"क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च" (जै सू. ५।४।१)। इसकी व्याख्या में शबरस्वामी कहते हैं—"पाठक्रमो हि बाध्यते श्रुत्या अर्थेन च। अर्थक्रम का उदाहरण है—"अग्निहोत्रं जुहोति। यवागूं पचति"। यवागू पकाकर अग्निहोत्र कर्म को हवि बनाई जाती है, अतः जैसे यवागू-पाक का प्रयोजनीभूत अग्निहोत्र उसके अनन्तर ही किया जाता है, वैसे ही प्राणान्त के समय ही सुकृतादि का परिहाण न्याय-प्राप्त है, अतः पूर्वपक्ष के अभाव में इस अधिकरण की रचना का क्या प्रयोजन?

**समाधान**—मध्यमार्ग में सुकृतादि का परित्याग केवल पाठक्रम से अवगत नहीं होता, अपितु श्रुतिप्रमाण भी है—"तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते"। यहाँ 'तत्' पद 'तस्मात्'—इस अर्थ का बोधक सर्वनाम है, सन्निहित पदार्थ का परामर्श और उसमें सुकृतादि के परित्याग की हेतुता का बोधक भी 'तत्' पद है। सन्निहित वही है, जो अव्यवहित पूर्व में चर्चित है, वह है मध्यमार्ग में विजरादि नदी की प्राप्ति, अतः विजरादि नदी को संकल्प मात्र से पार करते ही सुकृतादि का त्याग होता है। "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्···ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" (छां. ८।१३।१) इस श्रुत्यन्तर का भी विरोध नहीं होता, क्योंकि अर्चपथ में पापादि का त्याग ब्रह्मलोक-संभवन के पूर्व ही है। इसी प्रकार शाटयायनि-वाक्य से भी विरोध नहीं, क्योंकि उस वाक्य में 'जीवन्' या 'जीवतः' ऐसा उल्लेख नहीं। फलतः अर्चपथ में ही सुकृतादि का परित्याग होता है और पर्यङ्कविद्या से सुकृतादि का प्रक्षय नहीं होता।

**सिद्धान्त**—विद्या के सामर्थ्य से जिस व्यक्ति के पापादि विगत हो जाते हैं, ऐसे शाव-

CC-0. Kanchi Kamakoti Kalya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


दपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात्सुकृतदुष्कृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते । हेतुं व्याचष्टे—तर्तव्याभावादिति । नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किंचित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्पेयाताम् । विद्याविरुद्धफलत्वाच्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति । तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते । तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानमामनन्ति—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' ( छा० ८।१३।१ ) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽ

भामती

ज्ञानवत उत्तरेण पथा गच्छतो ब्रह्मप्राप्तिर्न चाप्रक्षीणकल्मषस्योत्तरस्यागंगमनं सम्भवति । यथा यवागूपाकात् प्राङ्नाग्निहोत्रम् । यमनियमाद्यनुष्ठानसहितायां विद्यायां उत्तरेण मार्गेण पर्यङ्कस्थब्रह्मप्राप्त्युपायत्वश्रवणात् । अप्रक्षीणपाप्मनश्च तदनुपपत्तेः । विद्यैव तादृशी कल्मषं क्षपयति । क्षपितकल्मषं चोत्तरमार्गं प्रापयति इति कथमर्धपथे कल्मषक्षयः । तस्मात्पाठक्रमबाधेनार्थक्रमोऽनुसर्त्तव्यः । ननु न पाठक्रममात्रमत्र तदिति सर्वनामश्रुत्या सन्निहितपरामर्शादित्युक्तम् । तदयुक्तं बुद्धिसन्निधानमात्रमत्रोपयुज्यते नान्यत्, तच्चानन्तरस्येव विद्याप्रकरणाद्विद्याया अपीति समाना श्रुतिरुभयत्रापीति । अर्थपाठौ परिशिष्येते तत्र चार्थो बलीयानिति । न च ताण्डयाविश्रुत्यविरोधः पूर्वपक्षे । अश्व इव रोमाणि विधूयेति हि स्वतन्त्रस्य पुरुषस्य व्यापारं ब्रूते न च परेतस्यास्ति स्वातन्त्र्यम्, तस्मात् तद्विरोधः ॥ २७ ॥

केभ्यश्चित्पदेभ्य इदं सूत्रम् । ननु यथा परे तस्योत्तरेण पथा ब्रह्मप्राप्तिर्भवतीति विद्याफलमेवं

भामती—व्याख्या

वान् को ही उत्तर मार्ग से प्रस्थान करने पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है । जिसके कल्मष प्रक्षीण नहीं होते, उसका उत्तर मार्ग से गमन वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे यवागू-पाक से पहले अग्निहोत्र कर्म का अनुष्ठान नहीं होता, क्योंकि यम नियमाद्यनुष्ठान-सहित विद्या में उत्तर मार्ग गमनपूर्वक पर्यङ्कस्थ ब्रह्म-प्राप्ति की कारणता श्रुत है, अतः जिसके कल्मष क्षीण नहीं हुए होते, उसको वह फल नहीं मिलता । यमादि-सहित विद्या ही कल्मष नाश करती है और कल्मष-रहित व्यक्ति को ही उत्तर मार्ग प्राप्त कराती है, अतः अर्धपथ में कल्मष-नाश क्योंकर होगा ? इस प्रकार पाठ क्रम का बाध करके अर्थक्रम के अनुसार प्राणान्त-समय में ही सुकृतादि का प्रक्षय सिद्ध होता है ।

यह जो कहा था कि केवल पाठक्रम से ही अर्धपथ में सुकृतादि का नाश सिद्ध नहीं होता अपितु 'तत्' -- यह सर्वनाम श्रुति भी सन्निहित ( अर्धपथ ) का परामर्श करती है । वह कहना अयुक्त है, क्योंकि पाठतः सन्निहित पदार्थ का परामर्श न हो सकने पर बुद्धिस्थ सन्निधान का परामर्श किया जाता है, विद्यारूप प्रधान तत्त्व बुद्धिस्थ है, अतः 'तत्'—यह श्रुति दोनों के परामर्श में प्रयुक्त हो जाने के कारण समान है, किसी एक पक्ष का निर्णायक नहीं, शेष रह जाते हैं—अर्थ और पाठ । इन में अर्थ-क्रम प्रबल है—यह कहा जा चुका है । कथित ताण्ड्य-श्रुति भी पूर्वपक्ष के अनुकूल नहीं, क्योंकि वह "अश्व इव रोमाणि विधूय"—ऐसा स्वतन्त्र पुरुष का व्यापार प्रदर्शित करती है किन्तु मरण के अनन्तर ब्रह्मलोक की ओर ले जाया जानेवाला पुरुष स्वतन्त्र नहीं होता, अतः ताण्ड्य श्रुति भी पूर्वपक्ष की विरोधिनी है ॥ २७ ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


भ्युपगम्येत, ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासात्मकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात्। तस्मात्पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात्। तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम्। एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च संगतिरिति ॥ २८ ॥

---

भामती

तस्यैवार्द्धपथे सुकृतदुष्कृतहानिरपि भविष्यतीति शङ्कापदानि तेभ्य उत्तरमिदं सूत्रम्। तद्व्याचष्टे ❀ यदि च देहादपसृप्तस्य इति ❀। विद्याफलमपि ब्रह्मप्राप्तिर्नापरेतस्य भवितुमर्हति शङ्कापदेभ्यः। यथाहुः—नाजनित्वा तत्र गच्छन्तीति। सुकृतदुष्कृतप्रक्षयस्तु सत्यपि नरशरीरे सम्भवतीति समर्थस्य हेतोर्यमनियमादिसहितायाः विद्यायाः विद्यमानायाः कार्यक्षयायोगाद्युक्तो जीवत एव सुकृतदुष्कृतक्षय इति सिद्धम्। छन्दतः स्वेच्छन्दतः स्वेच्छयेति यावत्। स्वेच्छयानुष्ठानं यमनियमादिसहितायाः विद्यायास्तस्य जीवतः पुरुषस्य स्यान्न मृतस्य। तत्पूर्वकञ्च सुकृतदुष्कृतहानं स्याज्जीवत एवासमर्थस्य क्षेपायोगात्। एवं कारणानन्तरङ्कार्योत्पादे सति निमित्तनैमित्तिकयोस्तद्भावस्योपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च सङ्गतिरितरथा स्वातन्त्र्याभावेनासङ्गतिरुक्ता स्यात्। तदनेनोभयाविरोधो व्याख्यातः। ये तु परस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते कथं

---

भामती—व्याख्या

**शंङ्का**—कतिपय शङ्का-पदों को मन में रख कर यह सूत्र रचा गया है। वे शङ्का-पद इस प्रकार हैं कि जैसे विद्वान् को मरणानन्तर उत्तर मार्ग के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वैसे ही अर्धपथ में सुकृतादि की हानि भी विद्या का ही फल क्यों न माना जाय?

**समाधान**—"छन्दत उभयाविरोधात्"। [ अर्थात् स्वच्छन्दतः ( स्वेच्छातः ) जीवन-काल में ही विद्या का अनुष्ठान होता है, अतः जीवन-काल में सुकृतादि का प्रक्षयरूप फल उत्पन्न होता है ]। उक्त सूत्र की 'व्याख्या की जाती है—"यदि च देहादपसृप्तस्य।" विद्या का ब्रह्म-प्राप्तिरूप फल भी जीवन-काल में ही होना चाहिए, जैसा कि कहा है—"नाजनित्वा तत्र गच्छन्ति"। अर्थात् ब्रह्म-लोक में विना जन्म लिए जा नहीं सकते। सुकृतादि का अपक्षय तो मनुष्य-शरीर में रहने पर भी हो सकता है, क्योंकि उसकी हेतुभूत यमनियमादि-सहित विद्या के विद्यमान रहने पर कार्य की उत्पत्ति में विलम्ब नहीं हो सकता, फलतः जीवन-काल में सुकृत-दुष्कृत का क्षय सिद्ध होता है। सूत्रस्थ 'छन्दतः' शब्द का अर्थ है—स्वच्छन्दतः ( स्वेच्छा से )। यमादि-सहित विद्या का अनुष्ठान स्वेच्छा से होता है। "छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात्"। यहाँ 'तस्य' का अर्थ है—जीवतः पुरुषस्य न मृतस्य। विद्यानुष्ठान-हेतुक सुकृतादि का परिहाण जीवन काल में ही होगा, क्योंकि जब उसका समर्थ हेतु विद्यमान है, तब कार्य का क्षेप ( विलम्ब ) नहीं हो सकता। भाष्यस्थ एवं शब्द का अर्थ है—'कारणानन्तरं कार्योत्पादे सति'। जीवन-काल में सुकृतादि का नाश मान लेने पर विद्या और सुकृतादि के नाश का निमित्त-नैमित्तिकभाव एवं ताण्डि और शाट्यायनि-वाक्यों का अविरोध संगत हो जाता है, अन्यथा मध्यमार्ग में सुकृतादि का नाश मानने पर स्वातन्त्र्य भङ्ग हो जाता है और "अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्"—इस प्रकार के स्वातन्त्र्य मूलक प्रयोग असंगत हो जाते हैं। अर्थक्रम के आधार पर दोनों श्रुतियों का अविरोधापादन किया जा चुका है।

[ आचार्य भास्कर ने इस सूत्र का अवतरण एवं व्याख्यान इस प्रकार किया है कि "कथं पुनः परकीययोः परसंक्रान्तिरिति? छन्दतः संकल्पतो हि विदुषः। यः शुभं सङ्कल्प-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १७ गतेरर्थवत्त्वाधिकरणम् । सू० २९--३० )

### गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते, क्वचिन्न । तत्र संशयः--किं हानावविशेषेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत् क्वचिन्नेति । यथा तावद्धानावविशेषेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे । गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति-क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति, नाविशेषेण । अन्यथा ह्यविशेषेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात् । 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' ( मु०

भामती

परत्र संक्रामत इति शङ्कोत्तरतया सूत्रं व्याचक्ष्युः । छन्दतः सङ्कल्पत इति श्रुतिस्मृत्योरविरोधादेव । न स्वत्रागमगम्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण युक्तिर्निवेशनीयेति । तेषामधिकरणशरीरानुप्रवेशे सम्भवत्यर्थान्तरोपवर्णनमसङ्गतमेवेति ॥ २८ ॥

---

यथा हानिसन्निधावुपायनमन्यत्र श्रुतमिति । यत्रापि सुकृतदुष्कृतहानिः केवला श्रुता तत्रापि देवयानं पन्थानमुपस्थापयितुमर्हति । न च निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीत्यनेन विरोधः । देवयानेन पथा ब्रह्मलोकप्राप्तौ निरञ्जनस्य परमसाम्योपपत्तेः । तस्माद्धानिमात्रे देवयानः पन्थाः सम्बध्यत इति प्राप्तम् । एवं प्राप्ते उच्यते । विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति हि विदुषो विधूतपुण्यपापस्य

भामती-व्याख्या

यति, तस्य सुकृतापत्तिर्यस्तु द्वेषादहितमिच्छति, तस्य दुष्कृतम् । शास्त्र प्रामाण्यादेतद् गम्यते । धर्माधर्मव्यवस्थायां तदेव प्रमाणम्, न युक्तयः क्रमन्ते" ( भास्कर. पृ. १८५ ) अर्थात् ] अन्य पुरुष के सुकृत-दुष्कृत का अन्य व्यक्ति में संक्रमण क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने दिया है—"छन्दतः" । 'छन्द' शब्द का अर्थ यहाँ सङ्कल्प है, विद्वान् पुरुष के सङ्कल्प से मित्रों में सुकृत और शत्रु में दुष्कृत संक्रान्त हो जाता है—ऐसा जिन आचार्यों ने इस सूत्र का व्याख्यान किया है, वह प्रक्रान्त अधिकरण से संगत नहीं । जब प्रकृत-संगत व्याख्यान सम्भव है, तब अर्थान्तरपरक उपवर्णन सर्वथा असङ्गत ही माना जायगा ॥ २८ ॥

---

**संशय**—सुकृतादि की हानि के समीप कहीं-कहीं देवयान मार्ग श्रुत है—'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्य" ( कौ. ब्रा. १।३ ) । वहाँ संशय होता है कि देवयान मार्ग का सर्वत्र उपसंहार होगा ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—जैसे सुकृत की हानि के समीप कहीं श्रुत उपायन ( ग्रहण ) का सर्वत्र उपसंहार होता है, वैसे ही हानोपायन के समीप किसी एक शाखा में श्रुत देवयान मार्ग का वहाँ भी सम्बन्ध कर लेना चाहिए, जहाँ केवल सुकृतादि के हानोपायन श्रुत हैं । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"—इस वाक्य से विरोध है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि देवयान मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाने पर निरञ्जन तत्त्व का साम्य उपपन्न हो जाता है, अतः जहाँ सुकृतादि की केवल हानि श्रुत है, वहाँ देवयान मार्ग का सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।

**सिद्धान्त**—"विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" ( मुण्ड. ३।१।३) यहाँ कहा गया है कि विद्वान् के सभी पुण्य-पाप समाप्त हो जाते हैं, अतः वह विद्या के द्वारा क्षेम ( मोक्ष ) की प्राप्ति कर लेता है, क्योंकि आत्मा में अब्रह्मरूपता के भ्रम से ही अमुक्तता

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३।१।३ ) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत । कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत् ? गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥ २९ ॥

## उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः- क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति; तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते । यत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहु देशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते तत्रार्थवती गतिः । नहि सम्यग्दर्शने तल्लक्षणार्थोपलब्धिरस्ति । न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं किंचिदस्ति, तत्रानर्थिका गतिः । लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यः— यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते, नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति । भूयश्चैनं विभागं चतुर्थाध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥ ३० ॥

---

भामती

विद्यया क्षेमप्राप्तिमाह । भ्रमनिबन्धनोऽक्षेमो याथात्म्यज्ञानलक्षणया विद्यया विनिवर्त्तनीयः । नासौ देशविशेषमपेक्षते । नहि जातु रज्जौ सर्पभ्रमनिवृत्तये समुत्पन्नं रज्जुतत्त्वज्ञानं देशविशेषमपेक्षते, विद्योत्पादस्यैव स्वविरोध्यविद्यानिवृत्तिरूपत्वात् । न च विद्योत्पादाय ब्रह्मलोकप्राप्तिरपेक्षणीया । यमनियमादिविशुद्धसत्त्वस्यैहैव श्रवणादिभिर्विद्योत्पादात् । यदि परमारब्धकार्यं कर्मक्षपणाय शरीरपातावध्यपेक्षेति न देवयानेनास्तीहार्थः इति श्रुतिदृष्टविरोधात् नापेक्षितव्य इति । अस्ति तु पर्यङ्कविद्यायां तस्यार्थ इत्युक्तं द्वितीयेन सूत्रेणेति । ये तु यदि पुण्यमपि निवर्त्तते किमर्था तर्हि गतिरित्याशङ्क्य सूत्र-

---

भामती—व्याख्या

अध्यस्त होती है, भ्रम की निवृत्ति याथात्म्य-ज्ञान से करनी होगी, ज्ञान-प्राप्ति के लिए ब्रह्मलोकादि देशान्तर की प्राप्ति अपेक्षित नहीं, क्योंकि सर्प-भ्रम की निवृत्तके लिए समुत्पन्न रज्जुतत्त्व-ज्ञान किसी देश-विशेषकी अपेक्षा नहीं करता, केवल विद्या उत्पन्न होकर अपनी विरोधिनी अविद्या की निवृत्ति का रूप धारण कर लेती है । विद्या की उत्पत्ति करने के लिए भी ब्रह्मलोक की प्राप्तिअपेक्षित नहीं, केवल यम-नियमादि के अनुष्ठान से विशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष को श्रवणादि के द्वारा विद्या का लाभ हो जाता है । यदि प्रारब्धकार्यक कर्म की निवृत्ति के लिए शरीर-पात की अवधि अपेक्षित है, तब भी देवयान से कोई प्रयोजन नहीं । इस प्रकार निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"-इस श्रुति एवं रज्जुतत्त्व-साक्षात्कार से सर्प-भ्रान्ति-निवृत्तिरूप दृष्ट न्याय से विरुद्ध होने के कारण देवयान मार्ग उपेक्षणीय है । पर्यङ्क-विद्या में देवयान की उपयोगिता है— ऐसा इसी पाद के द्वितीय सूत्र में कहा जा चुका है

भास्कराचार्य ने जो कहा है कि "यदि पुण्यमपि निवर्तते, किमर्था गतिरित्याशङ्क्योच्यते 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथा' दुष्कृतनिवृत्त्या सुकृतनिवृत्त्या चोभाभ्यां प्रकाराभ्याम् । यदि पुण्यमनुवर्तेत तत्फलमनुभूयावृत्तिः स्यात्, ततश्च 'एतेन मार्गेण प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' इत्यनावृत्तिश्रुतिविरोधः स्यात्, तस्माद् दुष्कृतस्येव सुकृतस्यापि प्रक्षयः" ( भास्कर. पृ. १०६ ) अर्थात्] 'यदि विद्वान् के पुण्य की भी निवृत्ति हो जाती है, तब लोकान्तर में गमन किस लिए ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अर्थवत्त्वमुभयथा" । सुकृत और दुष्कृत दोनों की निवृत्ति से ही कृतकृत्यता होती है । यदि पुण्य को शेष मान लिया जाता है, तब लोकान्तर में उस का उपभोग करके इस मनुष्यलोक में पुनरावर्तन होगा, जो कि "इमं मानवं नावर्तन्ते"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १८ अनियमाधिकरणम् । सू० ३१ )

**अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥**

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती, न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम् । सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद् गतिः श्रूयते, यथा—पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां दहरविद्यायामिति । नान्यासु, यथा—मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति । तत्र संशयः—किं यास्वेवैषा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवंजातीयकाभिर्विद्याभिरभिसंबध्येतेति । किं तावत्प्राप्तम् ? नियम इति । यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति; प्रकरणस्य नियामकत्वात् । यद्यन्यत्राश्रूयमाणापि गतिर्विद्यान्तरं गच्छेच्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत; सर्वस्य सर्वार्थत्वप्रसङ्गात् । अपि

भामती

भवतारयन्ति । गतेरर्थवत्त्वमुभयथा दुष्कृतनिवृत्त्या सुकृतनिवृत्त्या च यदि पुनः पुण्यमनुवर्तेत ब्रह्मलोकगतस्यापीह पुण्यफलोपभोगायावृत्तिः स्यात् । तथा चेतेन प्रतिपद्यमाना इत्यनावृत्तिश्रुतिविरोधः । तस्माद् दुष्कृतस्येव सुकृतस्यापि प्रक्षय इति । तेः पुनरनाशङ्कनीयमेवाशङ्कितम् । विद्याक्षिप्तायां हि गतौ कैयमाशङ्का यदि क्षीणसुकृतः किमर्थमयं यातीति । नह्येषा सुकृतनिबन्धना गतिरपि तु विद्यानिबन्धना । तस्माद् वृद्धोक्तमेवोपवर्णनं साध्विति ॥ २९–३० ॥

---

प्रकरणं हि धर्माणां नियामकम् । यदि तु तन्नाद्रियते ततो दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिधर्माः सङ्कीर्येरन् । न तेषां विकृतिषु सौर्य्यादिषु द्वादशाहादिषु चोदकतः प्राप्तिः, सर्वत्रौपदेशिकत्वात् । न च दर्विहोमस्याप्रकृतिविकारभूतस्याधर्मकत्वम् । न च सर्वधर्मयुक्तं कर्म किञ्चिदपि शक्यमनुष्ठातुम् । न

भामती—व्याख्या

( छा. ४।१५।६ ) इस श्रुति से विरुद्ध है।' वह आचार्य भास्कर की शङ्का ही अनुचित है, क्योंकि पर्यङ्कस्थ ब्रह्म की उपासना ही नियामिका है। 'यदि क्षीणसुकृतः किमर्थमयं याति ?' इस प्रकार की शङ्का ही नहीं बनती, क्योंकि उक्त गति उपासनाहेतुक मानी जाती है, सुकृत हेतुक नहीं", अतः भाष्यकार-वर्णित अधिकरण का स्वरूप ही युक्ति-युक्त है ॥ २९, ३० ॥

---

**संशय**– सगुण विद्याओं में देवयान-गति का सार्थक्य सिद्ध किया गया किन्तु सभी सगुण- विद्याओं के प्रकरण में गति श्रुत नहीं, अपितु किसी-किसी विद्या में ही निर्दिष्ट है, अतः सन्देह होता है कि उक्त गति जिस सगुण-विद्या में श्रुत है, उसी में वह नियत है ? अथवा सभी सगुण-विद्याओं में उस का उपसंहार होगा ?

**पूर्वपक्ष**—किस प्रधान के कौन धर्म हैं ? इस विषय का नियामक प्रकरण प्रमाण होता है, जिसके प्रकरण में जो धर्म पठित है, उसी के वे अङ्ग हैं, अन्य प्रधान के नहीं। यदि प्रकरण प्रमाण का आदर नहीं किया जाता, तब दर्शपूर्णमासरूप इष्टि के धर्म ज्योतिष्टोमरूप सोम में और सोम याग के धर्म इष्टि में प्राप्त हो जाएँगे। अतिदेश के द्वारा न तो दर्शपूर्णमास के धर्म उसकी सौर्यादि विकृतियों में और न ज्योतिष्टोम के धर्म उस की द्वादशाहादि विकृतियों में प्राप्त कराए जा सकेंगे, क्योंकि प्रकरण की सीमा को तोड़ कर यदि सर्व धर्मों का सर्वत्र उपसंहार माना जाता है, तब सभी धर्म सर्वत्र औपदेशिक ( श्रुत ) माने जाएँगे, अतः अतिदेशतः उन के लाने की आवश्यकता ही नहीं। दर्विहोम में भी सर्व धर्मों का उपसंहार मानने पर कोई दोष नहीं, क्योंकि दर्विहोम में अतिदेश के द्वारा कहीं से धर्म नहीं आता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

चार्चिरादिकंकंच गतिरुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात् ।

तस्मान्नियम इत्येवं प्राप्ते पठति—अनियम इति । सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलानां सगुणानां विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति । नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्तः । नैषोऽस्ति विरोधः, शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः ।

भामती

एवं सति श्रुत्यादयोऽपि विनियोजकास्तेषामपि हि प्रकरणेन सामान्यसम्बन्धे सति विनियोजकत्वात् । अत्रापि विना प्रकरणं श्रुत्यादिभ्यो विनियोगोऽवगम्यते तत्रापि तन्निर्वाहाय प्रकरणस्यावश्यंकल्पनीयत्वात् । तस्मात् प्रकरणं विनियोगाय तन्नियमाय चावश्याभ्युपेतव्यमन्यथा श्रुत्यादीनामप्रामाण्यप्रसक्तेः । तस्माद्यास्वेवोपासनासु देवयानः पितृयाणो वा पन्था आम्नातस्तास्वेव न तूपासनान्तरेषु तदनाम्नानात् । न च ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत इति सामान्यवचनात् सर्वविद्यासु तत्पथप्राप्तिः । श्रद्धातपःपरायणानामेव तत्र तत्पथप्राप्तिः श्रूयते, न तु विद्यापरायणानाम् । अपि च एवं सत्येकस्यां विद्यायां मार्गोपदेशः सर्वासु विद्यास्वित्येकत्रैव मार्गोपदेशः कर्त्तव्यो न विद्यान्तरे । विद्यान्तरे च श्रूयते । तस्मान्न सर्वोपासनासु पथिप्राप्तिरिति प्राप्तम् ।

भामती—व्याख्या

करते, वह अधर्मक नहीं, औपदेशिक धर्म तो वहाँ भी होते हैं । [ "यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात्" ( तै. सं. ३।४।१० ) यहाँ दर्विहोम' शब्द कर्म की संज्ञा है—"दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात्" (जै. सू. ८।४।१) । इसमें और कर्मों के समान पुरोऽनुवाक्या और याज्या—ये दो ऋचाएँ नहीं बोली जातीं, अपितु एक ही ऋचा से होम होता है । सभी श्रौत कर्म चार प्रकार के होते हैं—(१) इष्टि, (२) सोम, (३) पशु और (४) दर्विहोम । जिस कर्म के प्रकरण में सभी अङ्ग-कलाप पठित होते हैं, उसे प्रकृति कर्म कहते हैं । 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इस अतिदेश-वाक्य के द्वारा प्रकृति के सभी अङ्ग विकृति कर्मों में प्राप्त होते हैं । इष्टिकर्मों की प्रकृति दर्शपूर्णमास, सोम कर्मों की प्रकृति ज्योतिष्टोम और पशुयागों की प्रकृति अग्नीषोमीय पशुयाग है । दर्विहोम की न कोई प्रकृति होती है और न विकृति ] ।

सभी धर्मों का सर्वत्र उपसंहार मानने पर सभी धर्मों से युक्त किसी कर्म का करना सम्भव नहीं हो सकेगा । सर्व धर्मों के विनियोजक श्रुत्यादि प्रमाण भी सम्भव नहीं, क्योंकि प्रकरण प्रमाण के द्वारा सामान्य सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने पर ही श्रुत्यादि प्रमाण विनियोजक होते हैं । जहाँ पर प्रकरण के विना ही श्रुत्यादि प्रमाण विनियोजक होते हैं, वहाँ भी सामान्य सम्बन्ध का ज्ञान करने के लिए प्रकरण की कल्पना की जाती है । फलतः विनियोग एवं अङ्गाङ्गिभाव के नियम का निर्वाह करने के लिए प्रकरण का होना आवश्यक है, अन्यथा श्रुति-लिङ्गादि का प्रामाण्य अनुपपन्न हो जायगा । प्रकरण प्रमाण के आधार पर यही निश्चित होता है कि जिन विद्याओं के प्रकरण में देवयान अथवा पितृयाण मार्ग श्रुत है, उन्हीं में वह नियत है, अन्य उपासनाओं में उस मार्ग का उपसंहार न होगा । "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तपः इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" (छां. ५।१०।१) इस सामान्य-वाक्य के द्वारा सभी विद्याओं में मार्ग-प्राप्ति होती है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रद्धा-तपः-परायण व्यक्तियों के लिए ही वह मार्ग-प्राप्ति निर्दिष्ट है, न कि विद्या-परायण पुरुषों के लिए । दूसरी बात यह भी है कि यदि एक विद्या में पठित धर्मों का उपसंहार सर्वत्र अभीष्ट होता, तब पर्यङ्क-विद्या और उपकोसलादि-विद्याओं में मार्ग-प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं थी, अतः सभी विद्याओं में पथ-प्राप्ति अभिमत नहीं ।

 CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा हि श्रुतिः—'तद्य इत्थं विदुः' ( छा० ५।१०।१ ) इति पञ्चाग्निविद्यावतां देवयानं पन्थानमवतारयन्तो 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' ( का० ५।१०।१ ) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां गमयति । कथं पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामियं गतिरिति ? ननु श्रद्धातपःपरायणानामेव स्यात्, तन्मात्रश्रवणात् । नैष दोषः, नहि केवलाभ्यां श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते, 'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न यत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम् । वाजसनेयिनस्तु

भामती

एवं प्राप्ते उच्यते – ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत इति न श्रद्धातपोमात्रस्य पथिप्राप्तिमाहापि तु विद्यया तदारोहन्तीत्यत्र नाविद्वांसस्तपस्विन इति केवलस्य तपसः श्रद्धायाश्च तत्प्राप्तिप्रतिषेधाद् विद्यासहिते श्रद्धातपसी तत्प्राप्त्युपायतया वदन् विद्यान्तरशीलानामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भिः समानमार्गतां दर्शयति । तथान्यत्रापि पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽभिधीयते—य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासत इति । सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्येवानपेक्षप्रवृत्तित्वात् । तदेव हि सत्यमन्यस्य मिथ्यात्वेन कथञ्चिदापेक्षिकसत्यत्वात् । पञ्चाग्निविदां चेत्थंवित्त्वयैवोपात्तत्वात् । विद्यासंहचर्य्याच्च विद्यान्तरपरायणानामेवेदमुपादानं न्याय्यम् । मार्गद्वयभ्रष्टानां चाधोगतिश्रवणात् । तत्रापि च योग्यतया देवयानस्यैवेहाध्वनोऽभिसम्बन्धः । एतदुक्तम्भवति - भवेत् प्रकरणं नियामकं यद्यनियमप्रतिपादकं वाक्यं श्रौतं स्मार्तं वा न स्यादस्ति तु

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त**—"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते"—यह श्रुति केवल श्रद्धा-तपोनिष्ठ व्यक्तियों को ही मार्ग की प्राप्ति नहीं कहती, अपितु केवल श्रद्धा और तप से मार्ग-प्राप्ति का निषेध किया गया है—

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥

[ विद्या ( उपासना ) के द्वारा ब्रह्मलोक में आरूढ होते हैं, जहाँ पर कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, केवल कर्मपरायण, अविद्वान् और तपस्विगण नहीं जाते ] । इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या-सहित श्रद्धा और तप मार्ग-प्राप्ति के उपाय हैं । इससे यह भी अवगत हो जाता है कि विद्यान्तर का अनुशीलन करनेवाले पञ्चाग्नि-विद्या के विद्वान् पुरुषों को समान मार्ग-प्राप्ति होती है । अन्यत्र भी पञ्चाग्निविद्या के अधिकार में कहा गया है—"य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते" ( बृह० उ० ६।२।१५ ) [ जो एवंविद् ( पंचाग्निविद्या के जानकार ) हैं और आरण्य में सत्य तत्त्व की उपासना करते हैं, वे अर्चिमार्ग की प्राप्ति करते हैं ] । 'सत्य' शब्द मुख्यरूप से ब्रह्म को कहता है, क्योंकि वही एक सत्य तत्त्व है, अन्य सभी पदार्थ वस्तुतः असत्य ( मिथ्या ) हैं, कथंचित् आपेक्षिक सत्य मान लिए जाते हैं । श्रुति में 'एवंविदः' कहा गया है और 'इत्थं' शब्द से अग्निसमिद्धूमादिप्रकारेण, अतः पूर्व-चर्चित पंचाग्नि-वेत्ताओं का परामर्श 'ये' शब्द से किया है । पंचाग्नि-विद्या के सन्निधान से ब्रह्मोपासना का ही ग्रहण किया जाना सर्वथा न्यायोचित है, क्योंकि दक्षिण और उत्तर इन दोनों मार्गों से हीन व्यक्तियों की अधोगति प्रतिपादित है—"अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्" ( बृह० उ० ६।२।१६ ) । अर्थात् जो कथित दोनों मार्गों से वञ्चित हैं, वे कीट, पतङ्ग और दन्दशूक ( सर्प ) बनते हैं । "विद्यया तदारोहन्ति"—यहाँ योग्यता के आधार पर विद्या का देवयान के साथ सम्बन्ध किया जाता है । सारांश यह है प्रकरण प्रमाण को तब नियामक माना जा सकता था, जब कि अनियम का प्रतिपादक श्रौत

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Collection. Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते—'य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति। तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम्, सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्। पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंचित्तयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम्। 'अथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् (बृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति। तत्रापि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः स्मृतिरपि—'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः' (भ. गी. ८।२६) इति। यत्पुनर्देवयानस्य पथो द्विरास्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च, तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम्। तस्मादनियमः॥ ३१॥

---

## ( १९ यावदधिकाराधिकरणम्। सू० ३२ )

### यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्॥ ३२॥

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते। ननु विद्यायाः साधनभूतायाः संपत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति नेयं चिन्तोपपद्यते, नहि पाकसाधनसंपत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता संभवति, नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते, उपपन्ना त्वियं चिन्ता, ब्रह्मविदामपि केषांचिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथाहि—अपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापारयोः संधौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः

भामती

तत्तस्य च प्रकरणाद् बलीयस्त्वम्। तस्मादनियमो विद्यान्तरेष्वपि सगुणेषु देवयानः पन्था असकृन्मार्गोपदेशस्य च प्रयोजनं वर्णितं भाष्यकृतेति॥ ३१॥

---

सगुणायां विद्यायां चिन्तां कृत्वा निर्गुणायां चिन्तयति। निर्गुणायां विद्यायां नापवर्गः फलं भवितुमर्हति। श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु विदुषामपि अपान्तरतमःप्रभृतीनां तत्तद्देहपरिग्रहपरित्यागौ

भामती—व्याख्या

या स्मार्त वाक्य न होता, किन्तु वैसे दोनों वाक्य सुलभ है—"ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते" (छां० ५।१०।१), "शुक्लकृष्णे गती ह्येते" (गी० ८।२६)। वाक्य प्रमाण प्रकरण से प्रबल होता है, अतः प्रकरण के आधार पर नियम न होकर अनियमतः अन्य सगुण-विद्याओं में भी देवयान मार्ग प्राप्त होता है। तब दो विद्याओं में देवयान के उपदेश की क्या आवश्यकता? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने अनुचिन्तनरूप प्रयोजन का निर्देश कई बार किया है—तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम्"॥ ३१॥

---

**संशय**—तत्त्ववेत्ता पुरुष के वर्तमान शरीर का पात हो जाने पर देहान्तर की प्राप्ति होती है? अथवा नहीं?

**पूर्वपक्ष**—सगुण-विद्या का विचार करके निर्गुण विद्या का विचार किया जाता है—निर्गुण-विद्या का अपवर्ग फल नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि में अन्तरतम आदि तत्त्ववेत्ताओं के विविध शरीरों के ग्रहण और परित्याग की प्रचुर चर्चा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव । एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ । श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते । ते च केचित्पतिते पूर्वदेहे देहान्तरमाददते, केचित्तु स्थित एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन । सर्वं चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते । तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं,—ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति ।

अत्र उत्तरमुच्यते—न, तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थि-

भामती

भूयेते । तदपवर्गफलत्वे नोपपद्यते । अपवृक्तस्य तदनुपपत्तेः । उपपत्तौ वा तल्लक्षणायोगात् । अपुनरावृत्तिर्हि तल्लक्षणम् । तेन सत्यामपि विद्यायां तदनुपपत्तेर्न मोक्षः फलं विद्यायां विभूतयस्तु तास्तास्तस्याः फलम् । अपुनरावृत्तिश्रुतिः पुनस्तत्प्रशंसार्थेति मन्यते । न च तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति श्रुतेर्विदुषो देहपातावधिप्रतीक्षावद्वसिष्ठादीनामपि प्रारब्धकर्मफलोपभोगप्रतीक्षेति साम्प्रतम् । येन हि कर्मणा वसिष्ठादीनामारब्धं शरीरं तत्प्रतीक्षा स्यात् । तथा च न शरीरान्तरं ते गृह्णीयुः । न च तावदेव चिरमित्येतदप्यार्जवेन घटते, समर्थहेतुसन्निधौ क्षेपायोगात् । तस्मादेतदपि विद्यास्तुत्यैव गमयितव्यम् । तस्मान्नापवर्गो विद्याफलम् । तथा चापवर्गाक्षेपेण पूर्वः पक्षः । अत्र च पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमित्यापाततः, अहेतुत्वं वेति तु पूर्वपक्षतत्त्वम् ।

राद्धान्तस्तु —

भामती—व्याख्या

उपलब्ध होती है, वह समस्त चर्चा निराधार हो जाती है, यदि उनको मुक्त माना जाता है। अपवृक्त (मुक्त) पुरुष का पुनर्जन्म संभव नहीं। यदि तत्त्ववेत्ता पुरुष का पुनर्जन्म माना जाता है, तब अपवर्ग ( मोक्ष ) का लक्षण ही असम्भव-ग्रस्त हो जाता है, क्योंकि अपुनरावृत्ति ही तो मोक्ष का लक्षण है। विद्या के रहने पर यदि मोक्ष का लक्षण उपपन्न नहीं होता, तब मोक्ष को विद्या का फल नहीं कह सकते, व्यासादि की प्रसिद्ध विभूतियाँ अवश्य ही विद्याजनित मानी जा सकती हैं, "तेषां न पुनरावृत्तिः" ( बृह. उ. ६।२।१५ ) इत्यादि श्रुतियाँ विद्या का फल नहीं कह रही हैं, अपितु विद्या की केवल प्रशंसक हैं।

**शङ्का**—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्ये" ( छां. ६।१४।२ ) [ जीवन्मुक्त पुरुष की विदेह मुक्ति में उतना ही विलम्ब है, जब तक इस शरीर का पात नहीं होता, शरीर-पात होते ही ब्रह्मरूपता की सम्पत्ति हो जाती है ] इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जैसे विद्वान् अपने प्रारब्ध कर्म की समाप्ति की प्रतीक्षा करता है, वैसे वसिष्ठादि महर्षियों को भी अपने प्रारब्ध कर्म के फलोपभोग की प्रतीक्षा है।

**समाधान**—जिस कर्म ने वसिष्ठादि के शरीर का आरम्भ किया है, उसके उपभोग की प्रतीक्षा यदि है, तब शरीरान्तर का ग्रहण नहीं करना चाहिए था, क्योंकि प्रारब्ध कर्म शरीरान्तर का हेतु नहीं। उन लोगों के जीवन में "तस्य तावदेव चिरम्"—यह श्रुति भी सीधे-सीधे नहीं घटती, क्योंकि मोक्ष का कारणीभूत सक्षम तत्त्वावबोध जब उनमें विद्यमान है, शरीरान्तर-निवृत्तिरूप कार्य क्यों नहीं उत्पन्न होता ? अतः "तस्य तावदेव चिरम्"—यह श्रुति भी विद्या की स्तुति के लिए ही सिद्ध होती है, अतः अपवर्ग विद्या का फल क्योंकर माना जा सकेगा ? इस प्रकार अपवर्ग पर आक्षेप करने के लिए ही पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है। भाष्यकार ने जो कहा है—"प्राप्तं ब्रह्मविद्याया पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वा"—वहाँ विद्या में मोक्ष की वैकल्पिक हेतुता का अभिधान आपाततः कह दिया गया है, वास्तविक पूर्वपक्ष तो अहेतुवाद का ही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः। यथाऽसौ भगवान्सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसान उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति—'अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।११।१) इति श्रुतेः, यथा च वर्तमाना ब्रह्मविद आरब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।४।२) इति श्रुतेः, एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः

भामती

विद्याकर्मस्वनुष्ठानतोषितेश्वरचोदितम्।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्॥

निर्गुणायां विद्यायामपवर्गलक्षणं श्रूयमाणं न स्तुतिमात्रतया व्याख्यातुमुचितम्। पौर्वापर्य्यपर्य्यालोचने भूयसीनां श्रुतीनामत्रैव तात्पर्य्यावधारणात्। न च यत्र तात्पर्य्यं तदन्यथयितुं युक्तम्। उक्तं हि—न विधौ परः शब्दार्थः इति। न च विदुषामवान्तरतमःप्रभृतीनां तत्तद्देहसञ्चारात्सत्यामपि ब्रह्मविद्यायामनिर्मोक्षाद् न ब्रह्मविद्या मोक्षस्य हेतुरिति साम्प्रतम्। हेतोरपि सति प्रतिबन्धे कार्य्यानुपजनो न हेतुभावमपाकरोति। न हि वृन्तफलसंयोगप्रतिबद्धं गुरुत्वं न पतनमजीजनदिति प्रतिबन्धापगमे तत्कुर्वन्न तद्धेतुः।

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—"यावदधिकारमवस्थिराधिकारिकाणाम्" अर्थात्—

विद्याकर्मस्वनुष्ठानतोषितेश्वरचोदितम्।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम्॥

[ अपान्तरतमा आदि महर्षियों के स्वनुष्ठित ( सुष्ठु अनुष्ठित विद्या और कर्म से परितुष्ट होकर परमेश्वर ने उनको जिन आधिकारिक पदों पर वियुक्त किया, वे लोग अपने दायित्व-पूर्ण कार्यों को सम्पन्न कर परम पद में समा जाते हैं। महाभारतकार ने अपान्तरतमा की ही चर्चा में कहा है—

ततस्तुतोष भगवान् हरिस्तेनास्य कर्मणा।
तपसा च सुतप्तेन यमेन नियमेन च॥
मन्वन्तरेषु पुत्रत्वमेवमेव प्रवर्तकः।
भविष्यस्यचलो ब्रह्मन्नधृष्यश्च नित्यशः॥ ( भा. १२।३४९ ) ]

निर्गुण-विद्या में श्रूयमाण अपवर्गरूप फल केवल आर्थवादिक या गौण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पूर्वापर की पर्यालोचना करने पर बहुत-सी प्रधान श्रुतियों का तात्पर्य मोक्ष में ही निश्चित होता है। जिस सन्दर्भ का जिस अर्थ में परम तात्पर्य होता है, उसका अन्यथाकरण नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्रसिद्ध न्याय है—"न विधौ परः शब्दार्थः" [ विधिवाक्य-जैसे प्रधान वाक्यों का शब्दार्थ पर ( गौण ) नहीं होता। शबरस्वामी भी कहते हैं—"विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते"। कार्तिककार ने इसके अवतरण में कहा है—"विधानं हि अत्यन्तानवगतार्थविषयम्, तत्र यथाश्रुतादन्यथाकरणं निष्प्रमाणकम्" (तं.वा.पृ. १४१) ]।

अपान्तरतमा आदि तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्म-विद्या के रहने पर भी शरीरों का धारण करते हैं, तब ब्रह्म विद्या को मोक्ष का हेतु क्योंकर कह सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तविक कारण भी प्रबल प्रतिबन्धक के आ जाने से अपना कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता, फिर भी उस कारणतत्त्व में कारणता का अभाव वैसे ही नहीं माना जाता, जैसे गुरुत्व गुण पतन का कारण है, किन्तु सुदृढ़ वृन्त ( डण्ठल ) के सहारे बडा-सा कटहल वृक्ष में लटक रहा है, उसका गुरुत्व पतन को जन्म नहीं दे पाता, फिर भी उस गुरुत्व में पतन की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम्। सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते फलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान्युगपत्क्रमेण वाऽधितिष्ठन्ति। न चेते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते, 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः। यथा हि सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामाऽन्युदस्य स्वं देहं, जानकं देहमाविश्य, व्युह्य तेन,

भामती

न च न सेतुप्रतिबन्धानामपां निम्नदेशानभिसर्पणमिति सेतुभेदे न निम्नमभिसर्पन्ति। तद्वदिहापि विद्याकर्माराधनावर्जितेश्वरविहिताधिकारनवप्रतिबद्धा ब्रह्मविद्या यद्यपि न मुक्तिं दत्तवती, तथापि तत्परिसमाप्तौ प्रतिबन्धविगमे दास्यति। यथा हि प्रारब्धविपाकस्य कर्मणः प्रक्षयम्प्रतीक्षमाणश्चरमदेहसमुत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि म्रियतेऽथ तत्प्रक्षयान्मोक्षं प्राप्नोति। एवं प्रारब्धाधिकारलक्षणफलविद्याकर्मा पुरुषो वसिष्ठादिर्विद्वानपि तत्क्षयं प्रतीक्षमाणो युगपत्क्रमेण वा तत्तद्देहपरिग्रहपरित्यागौ कुर्वन्मुक्तोऽप्यनाभोगात्मिकया प्रख्यया सांसारिक इव विहरति। तदिदमुक्तम् ॐ सकृत्प्रवृत्तमेव हि ते कर्माशयमधिकारफलदानाय इति ॐ। प्रारब्धविपाकानि तु कर्माणि वर्जयित्वा व्यपगतानि ज्ञानेनेवातिवाहितानि ॐ न चेते जातिस्मरा इति ॐ। यो हि परवशो देहं परित्याज्यते देहान्तरं च नीतः पूर्वजन्मानुभूतस्य स्मरति स जन्मवान् जातिस्मरश्च। गृहादिव गृहान्तरे स्वेच्छया कायान्तरं सञ्चरमाणो न जातिस्मर आख्यायते। व्युह्य विवादं

भामती-व्याख्या

अकारणता नहीं आती। प्रतिबन्धक पदार्थ की निवृत्ति हो जाने पर कारण अपने कार्य को जन्म देता है। जैसे कि सेतु ( बाँध ) बना देने पर जल ढलान की ओर नहीं जाता और बाँध तोड़ देने पर उधर बहने लग जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी विद्या और कर्म के द्वारा परितोषित ईश्वर ऋषियों को जो अधिकार प्रदान करता है, उससे प्रतिबद्ध होकर ब्रह्म-विद्या यद्यपि सद्यः मुक्ति नहीं देती, तथापि उक्त अधिकार के पूरा हो जाने पर प्रतिबन्ध-रहित हो जाने के कारण विद्या मोक्षरूप फल देगी। जैसे प्रारब्ध कर्म के प्रक्षय की प्रतीक्षा करनेवाला विद्वान् मुक्त होता है, वैसे ही ईश्वर द्वारा प्रदत्त अधिकार भी विद्या का प्रतिबन्धक है, ऋषिगण अनासक्त भावना से सांसारिक पुरुष के समान ही अधिकार का उपयोग समाप्त करके मुक्त हुआ करते हैं, यही कहा जाता है—"सकृत् प्रवृत्तयेव हि ते कर्माशयमधिकारफलदानाय"। जिन कर्मों ने अपना फल-प्रसव आरम्भ कर दिया है उनसे भिन्न निखिल कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं।

"नचैते जातिस्मराः"। आधिकारिक पुरुष जातिस्मर ( पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण करनेवाले ) नहीं होते, क्योंकि जो व्यक्ति अपनी इच्छा से शरीर-त्याग नहीं करता, अपितु बलपूर्वक जिसके शरीर का अन्त किया जाता है, वह व्यक्ति अपना कहीं जन्म लेकर अपने पूर्व जन्म में अनुभूत पदार्थों का स्मरण किया करता है, अत एव जातिस्मर कहलाता है किन्तु जो पुरुष अपनी इच्छा से शरीरान्तर में वैसे ही सञ्चार करता है, जैसे कोई एक घर से दूसरे घर में जाता है, उस पुरुष को जातिस्मर नहीं कहा जाता। भाष्यस्थ 'व्युह्य' शब्द का अर्थ है—'विवादं कृत्वा'। [ महाभारत के शान्तिपर्व ( अ. ३२० ) में सुलभा और जनक का विवाद आया है—ब्रह्मवादिनी सुलभा राजा जनक की सभा में उपस्थित हुई। दोनों का संवाद आरम्भ हो गया। बात-बात में जनक उत्तेजित हो उठे अत्यन्त तीखी एवं मर्म-भेदिनी भाषा में प्रश्नों की झड़ी लगा दी किन्तु सुलभा का दुर्लभ धैर्य धन्य है, संयत भाषा में सभी प्रश्नों का सक्षम उत्तर दिया. भीष्मपितामहा

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri Foundation, Chennai and eGangotri

पश्चात्स्वमेव देहमाविवेशेति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वा शङ्क्येत, नत्वियमाशंका, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। तथा हि श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (मुण्ड० २।२।८) इति। 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (भ० गी० ४।३७) इति, 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः' इति चैवमाद्या। न चाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते, नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते। प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षया-

भामती

कृत्वा व्यतिरेकमाह ❀यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते प्रारब्धविपाके कर्मणि कर्मान्तरमप्रारब्धविपाकम् इति❀। स्यादेतत्—विद्ययाऽविद्यादिक्लेशनिवृत्तौ नावश्यं निःशेषस्य कर्माशयस्य निवृत्तिरनादिभव-परम्पराहितस्यानियत-विपाककालस्यासङ्ख्येयत्वात् कर्माशयस्येत्यत आह ❀ न चाविद्यादिक्लेशदाहे सति इति❀। न हि समाने विनाशहेतौ कस्यचिद्विनाशो नापरस्येति शक्यं वक्तुम्। तत्किमिदानीं प्रवृत्तफलमपि कर्म विनश्येत्। तथा च न विदुषो वसिष्ठादेर्देहधारणेत्यत आह ❀ प्रवृत्तफलस्य तु कर्मणः इति❀। तस्य

भामती—व्याख्या

के शब्दों में—

इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरुक्तैरसमञ्जसैः ।
प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ॥
उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना ।
ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुम् ॥

अन्ततोगत्वा महाराज जनक की बोली बन्द हो गई। ]

आधिकारिक पुरुष भी अपने प्रारब्ध कर्मों का ही उपभोग करते हैं, सञ्चित कर्मों का नहीं—यही भाष्यकार, व्यतिरेक-शैली में कह रहे हैं—"यदि हि उपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते (प्रारब्धविपाके) कर्मणि कर्मान्तरम् (आरब्धविपाकम्"। अर्थात् तत्त्ववेत्ता पुरुष के अपने एक प्रारब्ध कर्म का उपभोग करते-करते यदि कोई दूसरा प्रारब्ध कर्म आविर्भूत होता, तब उसका भी उपभोग करना पड़ता, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार समस्त सञ्चित कर्मों का बीजभाव भस्मसात् कर दिया करता है।

शंका - विद्या के द्वारा अविद्यादि क्लेशों की निवृत्ति हो जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि निःशेष कर्माशय की निवृत्ति हो जाय, क्योंकि अनादिकाल से जो विपुल कर्म-राशि सञ्चित होती आ रही है, जिसके फल-प्रदान की सीमा समूचे ब्रह्माण्ड अनन्तकाल तक को छूती हुई फैली हुई है, उसका एक क्षण में नाश क्योंकर होगा ?

समाधान—"न चाविद्यादिक्लेशदाहे सति"। जिस महान् वन के दहन में एकमात्र चिनगारी सक्षम है, उसके विकराल रूप धारण कर लेने पर वन का कुछ ही भाग दग्ध हो और कुछ शेष रहे—ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि तत्त्व-ज्ञान से समग्र प्रारब्ध दग्ध हो जाता है, तब वसिष्ठादि तत्त्व-ज्ञान-सम्पन्न मनीषियों का शरीर-धारण क्योंकर सम्भव होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"प्रवृत्तफलस्य तु कर्मणः"। "तस्य तावदेव चिरम्" (छां.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्तिः, 'तस्य तावदेव चिरम्' ( छा० ६।१४।२ ) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात्। तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः। नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता। तथा च श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' ( बृ० १।४।१० ) इति। ज्ञानान्तरेषु चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षयः। ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः केवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते, 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मरणात्। प्रत्यक्षफलत्वाच्च

भामती

तावदेव चिरमिति श्रुतिप्रामाण्यादनागतफलमेव कर्म क्षीयते न प्रवृत्तफलमित्यवगम्यते। अपि च नाधिकारवतां सर्वेषामृषीणामात्मतत्त्वज्ञानं तेनाव्यापकोप्ययं पूर्वपक्ष इत्याह ❀ ज्ञानान्तरेषु च इति ❀। तत्किं तेषामनिर्मोक्ष एव, नेत्याह ❀ ते पश्चादैश्वर्य्यक्षयः इति ❀। निर्विण्णा विरक्ताः। प्रतिसञ्चरः, प्रलयः। अपि च स्वर्गादावनुभवपथमनारोहति शब्दैकसमधिगम्ये विचिकित्सा स्यादपि मन्दधियामामुष्मिकफलत्व प्रति यथा चार्थवादः। को हि तद्वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वेति। अद्वैतज्ञानफलत्वे मोक्षस्यानुभवसिद्धे विचिकित्सागन्धोऽपि नास्तीत्याह ❀ प्रत्यक्षफलत्वाच्च इति ❀। अद्वैततत्त्वसाक्षात्कारो

भामती—व्याख्या

६।१४।२ ) इस श्रुति का प्रामाण्य यह सिद्ध कर रहा है कि भविष्य में फल देनेवाली कर्मराशि ही तत्त्व-ज्ञान से दग्ध होती है, प्रारब्धफलक कर्म क्षीण नहीं होता, सिद्धान् के शरीरधारण का वही आधार है।

दूसरी बात यह भी है कि सभी आधिकारिक पुरुषों को आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता भी नहीं, अतः 'विद्या नाविद्यानिवर्तिका, आधिकारिकेषु व्यभिचारात्'—इस पूर्वपक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विद्या की सत्ता आधिकारिक पुरुषों को व्याप्त नहीं करती, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"ज्ञानान्तरेषु च"। आधिकारिक पुरुषों में ऐश्वर्यफलक ज्ञान ही होता है, ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता। तब क्या आधिकारिक पुरुषों को मोक्ष-लाभ कभी नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है—"ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन"। ऐश्वर्यरूप फल को नश्वर देखकर उससे निर्विण्ण ( विरक्त ) होकर जब वे परमात्मनिष्ठ हो जाते हैं, तब उन्हें कैवल्य का लाभ होता है [ जैसा कि पुराणकारों ने कहा है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ (कूर्म. १।१२।२६९)

परम पुरुष (हिरण्यगर्भ) का अन्त होने पर प्रतिसंचर ( प्रलय ) की अवस्था में आधिकारिकगण भी कृतात्मा ( आत्मनिष्ठ ) होकर ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं ]।

"को हि तद्वेद यदमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वेति ? दिक्षु अतीकाशान् करोद्रि" (तै. सं. ६।१।१।१)। [यज्ञ-मण्डप बनाते समय अतीकाश ( धुआँ निकलने के लिए वातायन या खिड़कियाँ अवश्य रख दी जाएँ, नहीं तो दम यहीं घुट जायगा, परलोक देखने कौन गया है—है ? या नहीं ?]। यहाँ अर्थवाद में जो धर्मानुष्ठान-जनित स्वर्गादि फलों के विषय में सन्देह किया गया है कि हैं ? अथवा नहीं ? वह सन्देह उचित है, क्योंकि धर्म और उसका फल—दोनों केवल शब्द प्रमाण से अधिगत होते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं, किन्तु 'अद्वैत-ज्ञान का फल मोक्ष होता है'—यह तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है, अतः इस सन्देह की गन्ध भी नहीं, यह कहा गया है—"प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य"। अद्वैततत्त्व का साक्षात्कार अविद्या-समारोपित निखिल प्रपञ्च का समूल उन्मूलन करके जीव के परितापक धधकते हुए संसाररूपी अङ्गारों का

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 

ज्ञानस्य फलविरहाशंकानुपपत्तिः। कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशंका भवेद्वा न वेति। अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम्, 'यत्साक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' (६।८।७) इति च सिद्धवदुपदेशात्। नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः। 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेव. प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' (बृ० १।४।१०) इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति। तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः॥ ३२॥

---

## ( २० अक्षरध्यधिकरणम्। सू० ३३ )

**अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्याम् औपसदवत्तदुक्तम्॥ ३३॥**

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मण अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्व मदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादि। तथाऽऽथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु० १।१।५) इत्यादि; तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये, श्रुतिविभागाद्व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेध-

---

भामती

हि अविद्यासमारोपितं प्रपञ्चं समूलघातं निघ्नन् घोरं संसाराङ्गारपरितापमुपशमयति पुरुषस्येत्यनुभवादपि स्फुटमुपपत्तिद्रढिम्नश्च श्रुतिर्दर्शिता। तच्चानुभवाद् वामदेवादीनां सिद्धम्। ननु तत्त्वमसि वर्तस इति वाक्यं कथमनुभवमेव द्योतयतीत्यत आह ॐ न हि तत्त्वमसीत्यस्य इति ॐ। वर्तमानापदेशस्य भविष्यदर्थतामृतशब्दाध्याहारश्चाशक्य इत्यर्थः॥ ३२॥

—:०:—

अक्षरविषयाणां प्रतिषेधधियां सर्ववेदशाखीनामवरोध उपसंहारः प्रतिषेधसामान्याद् अक्षरस्य

---

भामती—व्याख्या

शमन करता है—यह अनुभव-सिद्ध है, युक्ति और श्रुति के द्वारा इसकी दृढ़ता की गई हैं। वामदेवादि ऋषियों के अनुभव श्रुति-विश्रुत हैं। "तत्त्वमसि"—यह वाक्य अनुभव का अवद्योतक क्योंकर है? इसका उत्तर है—"न हि तत्त्वमसि इत्यस्य"। आशय यह है कि जैसे भावी देवभाव की प्राप्ति का उपदेश किया जाता है—'मृतस्त्वं देवो भविष्यसि' [मर कर तू देवता बनेगा] ऐसा उपदेश सुनकर श्रोता को अपने में देवभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लो० वा० पृ० १६०) यहाँ वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है कि इन्द्रिय-सम्बद्ध वर्तमान विषय का ही प्रत्यक्ष अनुभव होता है। 'तत् त्वमसि', 'तत् त्वं वर्तसे'—इत्यादि उपदेशों के श्रोता पुरुष को ब्रह्मात्मता की प्रत्यक्ष अनुभूति ही होती है, क्योंकि यह वर्तमान ब्रह्मरूपता का उपदेश है, 'तत्त्वं मृतो भविष्यसि' [तू मरकर ब्रह्मरूप होगा] ऐसा भावी ब्रह्मरूपता का नहीं। "तत् त्वमसि" इस श्रुति में वर्तमानार्थक प्रत्यय का भावी अर्थ एवं 'मृतः' या 'मृत्वा' आदि शब्दों का अध्याहार करना सर्वथा अनुचित है॥ ३२॥

---

**संगति**—इस सूत्र में जो कहा गया है कि अक्षरतत्त्वविषयक शाखान्तरीय-प्रतिषधों का सर्वत्र अवरोध (उपसंहार) होता है, क्योंकि सभी प्रतिषेधों में प्रतिषेधत्वरूप सामान्य एवं

 CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः; सामान्यतद्भावाभ्याम्-समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः । तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते । तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः ? तथा च 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम् । तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः । प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः । औपसदवदिति निदर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्होत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसंबन्धो भवति;

भामती

तद्भावप्रत्यभिज्ञानात् । आनन्दादयः प्रधानस्येत्यत्रायमर्थो यद्यपि भावरूपेषु विशेषणेषु सिद्धस्तन्न्यायतया च निषेधरूपेष्वपि सिद्ध एव । तथापि तस्यैवैष प्रपञ्चोऽवगन्तव्यः । निदर्शनं जामदग्न्येऽहीन इति । यद्यपि शावरे दत्तोत्तरमत्रोदाहरणान्तरम् । तथापि तुल्यन्यायतयैतदपि शक्यमुदाहर्तुमित्युदाहरणान्तरं दर्शितम् । तत्र शावरमुदाहरणमस्त्याधानं यजुर्वेदविहितम्— य एवं विद्वानग्निमाधत्त इति । तदङ्गत्वेन यजुर्वेद एव य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति, य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति । य एवं विद्वान् वामदेव्यं गायति इति विहितमेतानि च सामानि सामवेदेषूत्पन्नानि । तत्रेदं सन्दिह्यते—किमेतानि यत्रोत्पद्यन्ते तत्रत्यनेनैवोच्चैष्ट्वेन स्वरेणाधाने प्रयोक्तव्यान्यथ यत्र विनियुज्यन्ते तत्रत्येनोपांशुत्वेन स्वरेण ? उच्चैः साम्नोपांश यजुषेति श्रुतेः, किं तावत् प्राप्तम् ? उत्पत्तिविधिनैवापेक्षितोपायत्वात्मना विहितत्वा-

भामती-व्याख्या

प्रतिषेधाधार ब्रह्म में सर्वत्र एकत्व प्रत्यभिज्ञात होता है। यद्यपि यह उपसंहार-प्रक्रिया "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र सू, ३।३।११) इस सूत्र से ही गतार्थ हो जाती है, क्योंकि वहाँ आनन्दत्वादि विधिरूप धर्मों का उपसंहार प्रतिपादित है, उस को अस्थूलत्वादि धर्मों का उपलक्षक माना जा सकता है। तथापि उसी सूत्र का प्रपञ्च (विस्तार) इस सूत्र को माना जा सकता है।

**सिद्धान्त**—पूर्वपक्षी ने कहा था कि प्रतिषेधक [ "अस्थूलमनणु" (बृह. ३,३।८।८), "अदृश्यम्" (मुण्ड. १।१।५) इत्यादि ] श्रुतियों के भेद से प्रतिषेध भी व्यवस्थित ही रहेगा, उस का सर्वत्र उपसंहार अनुचित है। वह कहना संगत नहीं, प्रतिषेध ज्ञानों का सर्वत्र अवरोध ( उपसंहार ) होना ही न्यायोचित है, क्योंकि द्वैत प्रतिषेध के द्वारा जिस अद्वैततत्त्व का ज्ञान कराना अभीष्ट है, वह सर्वत्र एक है। यहाँ सूत्रकार ने दृष्टान्त दिया है—"उपसद्वत्"। व्याख्या की गई है—"जामदग्न्येऽहीने"। इस विषय में शवरस्वामी ने अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसका विषयादि-निर्देश ( शावर. ३।३।९ में ) इस प्रकार है—

**विषय**—"अस्त्याधानम्"—'य एवंविद्वानग्निमाधत्ते' (मै. सं. १।६।३)। तद् याजुर्वैदिकम्। तत्र सामागानमामनन्ति—"य एवंविद्वान् वारवन्तीयं गायति" (मै. सं. १।६।७), "य एवंविद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति", "य एवंविद्वान् वामदेव्यं गायति" [ अग्न्याधानारूप प्रधान कर्म यजुर्वेद में विहित है किन्तु उसके अङ्गभूत वारवन्तीयादि ("अश्वं नत्वा वारवन्तम्" इस ऋचा में गेय) साम मन्त्र सामवेद में पठित हैं।

**संशय**—"उच्चैः साम्ना" इस विधि के आधार पर क्या सामवेदीय साममन्त्रों का ऊँचे स्वर में गान किया जाय ? अथवा" उपांशु यजुषा"—इस वाक्य के अनुसार यजुर्वेदीय आधान के अङ्गभूत साम का गान उपांशु ( धीमे ) स्वर में किया जाय ?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि आधानरूप प्रधान कर्म की उत्पत्ति (प्रथम प्रतीति) का जनक वाक्य

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

वङ्गानां तस्यैव प्राथम्यात् तन्निबन्धन एवोच्चैःस्वरे प्राप्त उच्यते—गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः। अयमर्थः—उत्पत्तिविधिर्गुणो विनियोगविधिस्तु प्रधानं, तदनयोर्व्यतिक्रमे विरोधे उत्पत्तिविध्यालोचनेनोच्चैष्ट्वं विनियोगविध्यालोचनेन चोपांशुत्वं सोऽयं विरोधो व्यतिक्रमस्तस्मिन् व्यतिक्रमे मुख्येन प्रधानेन नियुज्यमानत्वरूपेण तस्य वारवन्तीयादेर्वेदसंयोगो ग्राह्यो नोत्पद्यमानत्वेन गुणेन। कुतः? विनियुज्यमानत्वस्य मुख्यत्वेनोत्पद्यमानत्वस्य गुणत्वेन तदर्थत्वाद् विनियुज्यमानार्थत्वाद् उत्पद्यमानत्वस्य। एतदुक्तं भवति—यद्यप्युत्पत्तिविधावपि चातूरूप्यमस्ति विधित्वस्याविशेषात्। तन्मात्रनान्तरीयकत्वाच्च चातूरूप्यस्य। तथापि वाक्यानामैदम्पर्यं भिद्यते। एकस्यैव विधेरुत्पत्तिविनियोगाधिकारप्रयोगरूपेषु चतुषु मध्ये किञ्चिदेव रूपं केनचिद्वाक्येनोल्लिख्यते यदन्यतोऽप्राप्तम्। तत्र यद्यपि सामवेदे सामानि विहितानि। तथापि तद्वाक्यानां तदुत्पत्तिमात्रपरता, विनियोगस्य याजुर्वेदिकैरेव वाक्यैः प्राप्तत्वात्। तथाचोत्पत्तिवाक्येभ्यः समीहितार्थाप्रतिलम्भात् विनियोगवाक्येभ्यश्च तदवगतेस्तदर्थान्येवोत्पत्तिवाक्यानि भवन्तीति तत्र येन वाक्येन विनियुज्यन्ते तस्यैव स्वरस्य साधनत्वसंस्पर्शिनो ग्रहणं न तु रूपमात्रस्पर्शिन इति। भाष्यकारीयमप्युदाहरणमेवमेव योजयितव्यम्। उद्गातृवेदोत्पन्नानां मन्त्राणामुद्गात्रा प्रयोगे

भामती—व्याख्या

यजुर्वेदीय है, तथापि उस को अपने जिन सामगानादि अङ्गों की अपेक्षा है, वे सामवेदीय हैं, अतः सामवेदीय उच्च स्वर में साम-गान करना चाहिए।

**सिद्धान्त**—"गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः" (जै. सू. ३।३।९)। इस सूत्र की व्याख्या शबरस्वामी के शब्दों में इस प्रकार है—"गुणो व्यतिक्रमितव्यो न्याय्यः, मुख्यश्चानुग्रहीतव्यः। कुतः? मुख्यार्थत्वाद् गुणस्य। गुणश्च सामगानं, प्रधानम्" (शाबर. पृ. ८१०) [अर्थात् आधान प्रधान और सामगान गुण (आधान का अङ्ग) है। प्रधान के अनुसार ही अङ्गों का धर्म माना जाता है, अतः यजुर्वेद विहित आधान के अङ्गभूत सामगान उपांशु स्वर में किया जाय, क्योंकि अङ्ग कर्म प्रधान कर्म के लिए ही होते हैं]। सभी विधिवाक्य चार प्रकार के होते हैं—(१) उत्पत्तिविधि (कर्म-स्वरूप-बोधक), (२) विनियोग विधि (अङ्गाङ्गिभाव-बोधक), (३) प्रयोगविधि (सभी विधियों का एकवाक्यतापन्न) और (४) अधिकार (फल-स्वाम्य-प्रतिपादक वाक्य)। इन में उत्पत्तिवाक्य गौण और विनियोगवाक्य प्रधान होता है। सामगान की उत्पत्ति सामवेद में हुई, अतः सामवेदीय उच्च स्वर प्राप्त है किन्तु सामगान का विनियोग यजुर्वेदीय आधान में है, अतः यजुर्वेदीय उपांशु स्वर प्राप्त होता है—इस प्रकार का व्यतिक्रम (विरोध) उपस्थित होने पर मुख्य विनियुज्यमान सामगान के साथ यजुर्वेदीय उपांशु स्वर का संयोग न्यायोचित माना जाता है, क्योंकि सामगानगत विनियुज्यमानत्व मुख्य और उत्पद्यमानत्व गौण माना जाता है। सूत्रस्थ 'तदर्थत्वात्' पद का अर्थ है—'विनियुज्य-मानार्थत्वात्'। प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति उसके विनियोग के लिए ही होती है।

सारांश यह है कि यद्यपि उत्पत्ति विधि में भी (१) उत्पत्तित्व (अनुष्ठेयत्व), (२) विनियोगत्व (अङ्गाङ्गिभावत्व), (३) प्रयोगत्व (प्रधानाङ्गैकवाक्यत्व) और (४) अधिकारत्व (फलस्वामित्व) ये चारों रूप उपलब्ध होते हैं। तथापि सभी वाक्यों का ऐदंपर्य (उद्देश्य) भिन्न होता है। कथित चारों रूपों में जो रूप वाक्यान्तर से उल्लिखित नहीं होता, वही उद्देश्य माना जाता है। साममन्त्र सामवेद में विहित होने पर भी उस विधि का तात्पर्य केवल उत्पत्ति में माना जाता है, विनियोग में नहीं, क्योंकि विनियोग यजुर्वेदीय वाक्य से प्राप्त है। फलतः उत्पत्तिवाक्य के द्वारा समीहितार्थत्व (अभीष्टप्रयोजनकत्व) की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम् । एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' ( जै० सू० ३।३।८ ) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

## ( २१ इयदधिकरणम् । सू० ३४ )

### इयदामननात् ॥ ३४ ॥

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' ( मु० ३।१।१ ) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति । तथा कठाः 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' ( क० ३।१ ) इति । किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? विद्यानानात्वमिति । कुतः ? विशेषदर्शनात् । द्वा सुपर्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते एकस्य चाभोक्तृत्वं दृश्यते । 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्व-

भामती

प्राप्ते अध्वर्युप्रदानकेऽपि पुरोडाशे विनियुक्तत्वात् प्रधानानुरोधेनाध्वर्युणैव तेषां प्रयोगो नोद्गात्रेति दार्ष्टान्तिके योजयति ॐ एवमिहापि इति ॐ ॥ ३३ ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानावित्यत्र सिद्धोऽप्यर्थः प्रपञ्च्यते । एकत्र भोक्तृभोक्त्रोर्वेद्यता अन्यत्र भोक्त्रोरेवेति वेद्यभेदाद्विद्याभेद इति । न च सृष्टीरूपदधातीतिवत् पिबदपिबल्लक्षणापरं पिबन्ताविति नेतुमुचितम् , सति मुख्यार्थसम्भवे तदाश्रयणायोगात् । न च वाक्यशेषानुरोधात्तदाश्रयणम् । सन्देहे हि वाक्यशेषान्निर्णयो न च मुख्यलाक्षणिकग्रहणविषयो विशयः सम्भवति, तुल्यबलत्वाभावात् । प्रकरणस्य च ततो

भामती—व्याख्या

अवगति न होकर विनियोगवाक्य से होती है, अतः उत्पत्तिवाक्यों को विनियोगार्थक माना जाता है । इस प्रकार जिस वाक्य के द्वारा विनियोग सम्पन्न किया जाता है, उसी वाक्य के वेद का स्वर ही गृहीत होता है, उत्पत्ति-सम्बन्धी वेद का स्वर नहीं ।

अत्रत्य भाष्यकारीय उदाहरण की योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिए—उद्गातृवेद ( सामवेद ) में उत्पन्न साममन्त्रों का उद्गाता के द्वारा प्रयोग प्राप्त होने पर अध्वर्यु के द्वारा ही उनका प्रयोग निर्णीत होता है, क्योंकि अध्वर्यु के द्वारा किए जानेवाले पुरोडाशप्रक्षेपरूप कर्म में ही उक्त मन्त्र विनियुक्त है । दार्ष्टान्त में वही घटाया जाता है—"एवमिहापि" । अर्थात् कथित उदाहरण के समान ही ब्रह्म के निरूपण में सर्वत्र अस्थूलत्वादि धर्मों का सम्बन्ध पर्यवसित होता है ॥ ३३ ॥

**संशय**—"द्वा सुपर्णा" ( मुण्ड. ३।१।१ ) और "ऋतं पिबन्तौ" ( कठो. ३।१ ) इन दोनों स्थलों पर विद्यैकत्व है ? अथवा विद्या-नानात्व ?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि यह विषय "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" (ब्र. सू. १।२।११) यहाँ पर विचारित है, तथापि उसी का विस्तार यहाँ किया जाता है । यहाँ मुण्डक-वाक्य-द्वारा प्रतिपादित विद्या के वेद्य भोक्ता और अभोक्ता पुरुष हैं किन्तु कठ-वाक्य-स्थल पर दो भोक्ता पुरुष ही वेद्य हैं, अतः वेद्य का भेद हो जाने से विद्या-भेद निश्चित होता है । विगत पृ. २८१ पर चर्चित "सृष्टीरूपदधाति" के समान 'पिबन्तौ' इस पद की भोक्ता और अभोक्ता

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेव दृश्यते तद्वैद्यरूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादित्येवं प्राप्ते ब्रवीति विद्यैकत्वमिति । कुतः ? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति । ननु दर्शितो रूपभेदः,—नेत्युच्यते, उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतः, नार्थान्तरम् । 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते । वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते—'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति । ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे विवक्षितेऽशनायाद्यतीतः परमात्मापि साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते, परमात्मप्रकरणं ह्येतत्—अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' ( क० २।१४ ) इत्युपक्रमात् । तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति—'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२ ) इति । 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि—' ( ब्र० सू० १।२।११ ) इत्यत्र चैतत् प्रपञ्चितम् । तस्मान्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम् । अपि च त्रिष्वप्येतेषु

भामती

बलीयसा वाक्येन बाधनात् । तस्माद्वेद्यभेदाद्विद्याभेद इति प्राप्त उच्यते—द्वासुपर्णेत्यत्र ऋतं पिबन्तावित्यत्र च द्वित्वसङ्ख्योत्पत्तौ प्रतीयते । तेन समानतौत्सर्गिकी पिबन्ताविति द्वयोः पिबत्ता या सा बाधनीया, सा चोपक्रमोपसंहारानुरोधेन न द्वयोरपि तु छत्रिन्यायेन लाक्षणिकी व्याख्येया । येन ह्युपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते तदनुरोधेन मध्यं ज्ञेयम् । यथा जामित्वदोषसङ्कीर्त्तनोपक्रमे तत्प्रतिसमाधानोपसंहारे च सन्दर्भे मध्यपातिनो विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वायेत्याद्यः पृथग्विधित्वमलभमाना विधित्वमविवक्षित्वा अर्थवादतया नीतास्तत्कस्य हेतोरेकवाक्यता हि साधीयसी वाक्यभेदादिति । तथेहापि तदनुरोधेन पिबदपिबत्समूहपरं लक्षणीयं पिबन्ताविस्यनेन । तथाच वेद्याभेदाद्विद्याऽभेद इति । अपि च त्रिष्वप्येतेषु

भामती—व्याख्या

में लक्षणा नहीं की जा सकती, क्योंकि मुख्यार्थ का लाभ हो सकने पर गौणार्थ का आश्रयण उचित नहीं माना जाता । "यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्" ( कठो. ३।२ ) इस वाक्यशेष के आधार पर भी लक्षणा का आश्रयण सम्भव नहीं, क्योंकि सन्देह होने पर ही वाक्यशेष को निर्णायक माना जाता है, प्रकृत में मुख्यार्थ का ग्रहण किया जाय ? अथवा लाक्षणिक अर्थ का ? ऐसा कोई संशय ही नहीं होता, क्योंकि प्रकरण प्रमाण से ईश्वर और वाक्य प्रमाण से भोक्ता की अवगति होती है, प्रकरण और वाक्य दोनों समान नहीं कि संशय के जनक हो जाएँ, वाक्य प्रमाण से प्रकरण का सदैव बाध हो जाता है । फलतः दोनों स्थलों पर वेद्य का भेद हो जाने से विद्या का भेद मानना चाहिए ।

सिद्धान्त "द्वा सुपर्णा" एवं 'ऋतं पिबन्तौ'—इन दोनों वाक्यों में विषयवस्तु ( वेद्य ) की प्रतीति के साथ-साथ द्वित्व संख्या का भान समानरूप से होता है, अतः वेद्य एवं विद्याओं की एकता स्वतः सिद्ध है । "पिबन्तौ"—इस पद के द्वारा जो दोनों में पान-कर्तृता प्रतीत होती है, वह बाधनीय होने के कारण उपक्रम और उपसंहार के आधार पर जीव और ईश्वर—दोनों में वैसे ही लाक्षणिकी है, जैसे 'छत्रिणो यान्ति'—यहाँ पर छत्रवत्ता । उपक्रम और उपसंस्थान ( उपसंहार ) के अनुसार ही मध्यपाती पदार्थ का स्वरूप स्थिर होता है, जैसे—उपक्रम में शङ्कित जामित्व ( आलस्य या उकताहट ) दोष का समाधान करने के लिए निर्दिष्ट मध्यपाती "विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय"—इत्यादि वाक्यों में अर्थवादता विगत पृ. १३६ पर ) निश्चित की गई है । वह क्यों ? वाक्य-भेद की अपेक्षा एकवाक्यता श्रेष्ठ मानी जाती है । वैसे ही प्रकृत में उपक्रमादि के अनुसार 'पिबन्तौ'—इस पद की भोक्ता और अभोक्ता—इन दोनों में लक्षणा मानी जाती है । इस प्रकार उक्त दोनों स्थलों पर वेद्य वस्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते। तदात्म्यविवक्षयैव जीवोपादानं नार्थान्तरविवक्षया। नच परमात्मविद्यायां भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम्। तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः। तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥

---

## ( २२ अन्तराधिकरणम्। सू० ३५-३६ )

### अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' ( बृ० ३।४।१-३।५।१ ) इत्येवं द्विरुशस्तकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिनः समामनन्ति। तत्र संशयः—विद्यैकत्वं वा स्याद्विद्यानानात्वं वेति? विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम्, अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थं द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्माद्यथाऽभ्यासात्कर्मभेद

---

भामती

वेदान्तेषु प्रकरणत्रयेऽपि पौर्वापर्यपर्यालोचनया परमात्मविद्यैवावगम्यते। यद्येवं कथं तर्हि जीवोपादानमस्त्वित्यत आह ❀ तादात्म्यविवक्षया इति ❀। नास्यां जीवः प्रतिपाद्यते किन्तु परमात्मनोऽभेदं जीवस्य दर्शयितुमसावनूद्यते। परमात्मविद्यायाश्चाभेदविषयत्वान्न भेदाभेदविचारावतारः। तस्मादेकविद्यमत्र सिद्धम् ॥ ३४ ॥

---

कौषीतकेयकहोलचाक्रायणोषस्तत्प्रश्नोपक्रमयोर्विद्ययोर्नैरन्तर्येणाम्नातयोः किमस्ति भेदो न वेति विशये भेद एवेति ब्रूमः। कुतः? यद्यप्युभयत्र प्रश्नोत्तरयोरभेदः प्रतीयते, तथापि तस्यैवैकस्य पुनश्रुतेरविशेषादानर्थक्यप्रसङ्गाद् यजत्यभ्यासवद्भेदः प्राप्तः। न चैकस्यैव ताण्डिनां नवकृत्व उपदेशेऽपि

---

भामती—व्याख्या

का अभेद होने के कारण विद्या का अभेद स्थिर होता है।

दूसरी बात यह भी है कि कथित मुण्डक, कठ और श्वेताश्वर के तीनों वाक्यों में पौर्वापर्य की आलोचना से एक ही परमात्मविद्या का प्रतिपादन अवगत होता है। यदि परमात्मविद्या का प्रतिपादन है, तब जीव का उल्लेख किस लिए? इस प्रश्न का उत्तर है—"तादात्म्यविवक्षया"—आशय यह है कि प्रकरण ब्रह्म का ही है, जीव का नहीं, फिर भी परमात्मा से अभेद दिखाने के लिए जीव का अनुवादमात्र कर दिया गया है। परमात्मविद्या अभेदविषयिणी है, अतः भेदाभेद विषय का विचार नहीं किया गया। उक्त स्थलों पर विद्या की एकता सिद्ध होती है ॥ ३४ ॥

---

**विषय**—याज्ञवल्क्य से चक्रसंज्ञक ऋषि के पौत्र उषस्त ने पूछा—"यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व" ( बृह. उ. ३।४।१ )। इसी प्रकार कुषीतक के पौत्र कहाल ने प्रश्न किया—"यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व" ( बृह. उ. ३।५।१ )।

**संशय**—उक्त दोनों वाक्यों में एक ही विद्या का प्रतिपादन है? अथवा भिन्न-भिन्न विद्याओं का?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि उभयत्र प्रश्नों और उत्तरों का अभेद प्रतीत होता है, तथापि यदि दोनों स्थलों पर एक ही विद्या का प्रतिपादन माना जाता है, तब एक-जैसे दो वाक्यों का उच्चारण निरर्थक हो जाता है, अतः विगत पृ. ९७९ पर प्रदर्शित अभ्यास ( अविशेष पुनः श्रुति ) के आधार पर वैसे ही विद्या-भेद माना जाता है, जैसे "समिधो यजति", "तनूनपातं यजति"—यहाँ पर याग-भेद।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवमभ्यासाद्विद्याभेद इत्येवं प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराम्नानाविशेषात्खात्मनो विद्यैकत्वमिति। सर्वान्तरो हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्टः पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरौ संभवतः। तदा ह्येकस्याञ्जसं सर्वान्तरत्वमवकल्प्येत। एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्वं स्यात्। यथा च पञ्चभूतसमूहे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्यं सर्वान्तरत्वं भवति, तथेहापीत्यर्थः। अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरं निदर्शयति। यथा—'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे. ६।११) इत्यस्मिन् मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माम्नायते, एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थः। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥ ३५ ॥

भामती

यथा भेदो न भवति स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्यत्र तथेहाप्यभेद इति युक्तम्। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति हि तत्र श्रूयते तेनाभेदो युज्यते। न चेह तथास्ति। तेन यद्यपीह वेद्याभेदोऽवगम्यते तथाप्येकत्र तत्रैव अशनायादिमात्रात्ययोपाधेरुपासनावैकल्य च कार्यकरणविरहोपाधेरुपासनाद्विद्याभेद एवेति प्राप्ते प्रत्युच्यते। नैतदुपासनाविधानपरमपि तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादनपरं प्रश्नप्रतिवचनालोचनेनोपलभ्यते। किमतो यद्येवमेतदतो भवति विधेरप्राप्तप्रापणार्थत्वात् प्राप्तावनुपपत्तिः। वस्तुस्वरूपं तु पुनःपुनरुच्यमानमपि न दोषमावहति। शतकृत्वोऽपि हि पथ्यं वदन्त्यार्ताः। विशेषतस्तु वेदः पितृभ्यामप्यभ्यर्हितः। न च सर्वथा पौनरुक्त्यम्, एकत्राशनायाद्यत्ययादन्यत्र च कार्यकारणप्रविलयात् तस्मादेका विद्या, प्रत्यभिज्ञानात्। उभाभ्यामपि विद्याभ्यां भिन्न आत्मा प्रतिपाद्यते इति यो मन्यते

भामती—व्याख्या

**शङ्का**—ताण्डिशाखा की उपनिषत् में "तत्त्वमसि", "तत्त्वमसि" ( छां. ६।८।७ ) इस प्रकार नौ बार अभ्यास होने पर भी जैसे विद्या-भेद नहीं माना जाता, वैसे ही प्रकृत में भी विद्या का अभेद क्यों न माना जाय ?

**समाधान**—छान्दोग्य में तो "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्'—इस प्रकार पुनः पुनः प्रतिपादन का आग्रह किया गया, तब अभ्यास का अवलम्बन किया गया किन्तु प्रकृत में वैसा कोई आग्रह या अनुरोध उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि अपरोक्षत्वादिरूपेण वेद्यतत्त्व का अभेद प्रतीत होता है, तथापि उपाधि के भेद से वेद्य का भेद हो जाता है, क्योंकि उषस्ति-ब्राह्मण में कार्यकरण के अभाव और कहोल-ब्राह्मण में अशनायादि के अभाव का उपाधि के रूप में प्रतिपादन किया गया है, इस प्रकार उपास्यतावच्छेदक धर्मों के भेद से उपास्य-भेद और उपास्य-भेद से उपासना ( विद्या ) का भेद निश्चित होता है।

**सिद्धान्त**—उक्त वाक्य उपासना के विधायक नहीं, अपितु वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादक हैं—ऐसा ही कथित प्रश्नों और उनके प्रतिवचनों की आलोचना से उपलब्ध होता है। यदि एक ही वस्तुस्वरूप का सर्वत्र प्रतिपादन है, तब अभ्यास का सार्थक्य कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अभ्यास के द्वारा कर्म का भेद अवश्य हो जाता है, क्योंकि एक बार विहित क्रिया का पुनः विधान सम्भव नहीं, अतः वाक्यान्तर के द्वारा कर्मान्तर का ही विधान होगा किन्तु एक ही वस्तुस्वरूप के पुनः-पुनः प्रतिपादन में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। माता-पिता अपने नीरोग बालक को बार-बार पथ्य का उपदेश करते हैं। भगवान् वेद तो माता-पिता से भी बढ़ कर मानवमात्र का हितैषी और पूज्यतम है। उक्त स्थल पर वैदिक वाक्यों को सर्वथा पुनरुक्त भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एकत्र ब्रह्मगत अशनायादि का अत्यय ( अभाव ) एवं अन्यत्र कार्य-करण-व्यतिरेक का प्रतिपादन किया गया है किन्तु उसका

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अथ यदुक्तम्—अनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति, तत्परिहर्तव्यम्। अत्रोच्यते नायं दोषः, उपदेशान्तरवद्युपपत्तेः। यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति। कथं च नवकृत्वोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति? उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात्, 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात्, आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः। एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२-३।५।१) इति च परिसमाप्तयविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते। 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इति द्वितीये प्रश्न एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति। पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते, उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते, इत्येकार्थतोपपत्तिः तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

---

( २३ व्यतिहाराधिकरणम् । सू० ३७ )

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

तथा—'तद्योऽहं सोऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्य ऐतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबालाः—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति। तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योतैकरूपैवेति? एकरूपैवेति तावदाह। न ह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वाऽन्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं

भामती

पूर्वपक्षैकदेशी तं प्रति सर्वान्तरत्वविरोधो दर्शितः ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्। इत्यस्य तु पूर्वपक्षतत्त्वाभिप्रायो दर्शितः। सुगममन्यत् ॥ ३६ ॥

---

उत्कृष्टस्य निकृष्टरूपापत्तेनोभयत्रोभयरूपानुचिन्तनम्। अपि तु निकृष्टे जीव उत्कृष्टरूपाभेद-

भामती—व्याख्या

आधार तत्त्व एक होने के कारण विद्या की एकता ही प्रत्यभिज्ञात होती है। जो पूर्वपक्षी दोनों विद्याओं में भिन्न-भिन्न आत्मा का निर्देश मानता था, उसका निराकरण करने के लिए कहा गया है—"अन्तराम्नानानाविशेषात्"। अर्थात् दोनों विद्याओं में सर्वान्तरत्वेन स्वात्मा का समान निर्देश होने के कारण एक ही आत्मा का दोनों विद्याओं में निर्देश किया गया है, अतः उभयत्र एक ही आत्मा का प्रतिपादन किया गया है, भिन्न-भिन्न आत्मा का नहीं। अभ्यासमूलक विद्याभेद-विषयक पूर्वपक्ष का निरास-प्रकार प्रदर्शित किया जा चुका है ॥ ३५-३६ ॥

---

संशय—"तद्योऽहम्, सोऽसौ। योऽसौ सोऽहम्" इत्यादि स्थलों पर जीव में ब्रह्मरूपता और ब्रह्म में जीवरूपता की द्विविध भावना करनी चाहिए? अथवा केवल जीव में ब्रह्मभावना उपादेय है?

पूर्वपक्ष - ब्रह्म में जीवभावना करना उत्कृष्ट वस्तु में निकृष्टत्वापादन करना है, अतः

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत, संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्व उत्कर्षो भवेद्, ईश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्, तस्मादेकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते, इतरवत्। यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते, तद्वत्। तथा हि विशिषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति। तच्चोभरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति। अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात्। ननूभयाम्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम्। नैष दोषः, ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात्। नन्वेवं सति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत। न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः, किं तर्हि? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या, वचनप्रामाण्यात्, नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः। फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति। यथाऽऽध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति, तद्वत्। तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषय उपसंहर्तव्यो भवतीति॥ ३७॥

---

भामती

चिन्तनमेवं हि निकृष्ट उत्कृष्टो भवतीति प्राप्तम्। एवं प्राप्त उच्यते—इतरेतरानुवादेनेतरेतररूपविधानादुभयत्रीभयचिन्तनं विधीयते। इतरथा तु योऽहं सोऽसावित्येतावदेवोच्येत। जीवात्मानमनूद्येश्वरत्वमस्य विधीयेत। न त्वीश्वरस्य जीवात्मत्वं योऽसौ सोऽहमिति। यथा तत्त्वमसीत्यत्र। तस्मादुभयरूपमुभयत्राध्यानायोपदिश्यते। नन्वेवमुत्कृष्टस्य निकृष्टत्वप्रसङ्ग इत्युक्तं तत्किमिवानीं सगुणे ब्रह्मण्युपास्यमानेऽस्य वस्तुतो निर्गुणस्य निकृष्टता भवति। कस्मैचित् फलाय तथा ध्यानमात्रं विधीयते न त्वस्य निकृष्टतामापादयतीति चेत्, इहापि व्यतिहारानुचिन्तनमात्रमुपदिश्यते फलाय, न तु निकृष्टता भवत्युत्कृष्टस्य। अन्वाचयशिष्टं तु तादात्म्यदार्ढ्यं भवन्नोपेक्षामहे। सत्यकामादिगुणोपदेश इव तद्गुणेश्वरसिद्धिरिति। सिद्धमुभयत्रोभयात्मत्वाध्यानमिति॥ ३७॥

---

भामती—व्याख्या

केवल जीव में ब्रह्मभावना अपेक्षित है।

सिद्धान्त—व्यतिहार (जीव का अनुवाद करके ब्रह्मरूपता और ब्रह्म का अनुवाद करके जीवरूपता—इस प्रकार का द्विविध अनुचिन्तन) का जैसा उपदेश किया गया है, वैसा ही करना चाहिए। यदि द्विविध अनुचिन्तन अपेक्षित न होता, तब "योऽहम्, सोऽसौ" इतना ही कहा जाता अर्थात् केवल जीव का अनुवाद करके ब्रह्मरूपता का ही विधान किया जाता, न कि "योऽसौ, सोऽहम्"—इस प्रकार का ब्रह्म में जीवभाव का, जैसा कि "तत्त्वमसि" में किया गया है। उभयत्र उभयरूपता का विधान उभयरूपता के अनुचिन्तन का साधक है। ऐसा अनुचिन्तन उत्कृष्ट (ब्रह्म) में निकृष्टत्व का प्रसञ्जक होगा—यह कहना संगत नहीं, क्योंकि किसी प्रकार का ध्यान ध्येय वस्तु के स्वरूप पर कोई अन्तर नहीं डालता, अन्यथा निर्गुण ब्रह्म में सगुणता के अनुचिन्तन से सगुणता प्रसक्त हो जायगी। किसी फलविशेष के लिए विधीयमान उत्कृष्ट में निकृष्टता का अनुचिन्त केवल उस फल का जनक होता है, न कि उत्कृष्ट वस्तु में निकृष्टत्व का आपादक। यह जो कहा गया है कि व्यतिहारोपदेश से जीव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( २४ सत्याद्यधिकरणम् । सू० ३८ )

### सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

'स यो हैतं महद् यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।४।१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्यां सनामाक्षरोपासनां विधायानन्तरमाम्नायते—'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' ( बृ० ५।५।२)

भामती

"तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । जयतीमान् लोकान् जित इन्वसावसद् भवेद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म" । अत्र पूर्वोक्तस्य हृदयाख्यस्य ब्रह्मणः सत्यमित्युपासनमनेन सन्दर्भेण विधीयते । तदिति हृदयाख्यं ब्रह्मैकेन तदा परामृशति । एतदेवेति वक्ष्यमाणं प्रकारान्तरमस्य परामृशति । तत्तदाऽग्रे आस बभूव । किं तदित्यत आह—सत्यमेव । सच्च मूर्त्तं त्यच्चामूर्त्तं च सत्य । तदुपासकस्य फलमाह—स यो हैवमेतमिति । यः प्रथमजं यक्षं पूज्यं वेद । कथं वेदेत्यत आह—सत्यं ब्रह्मेतीति । स जयतीमान् लोकान् । किञ्च जितो वशीकृत इनुशब्द इत्थं शब्दस्यार्थे वर्त्तते । विजेतव्यत्वेन बुद्धिसन्निहितं शत्रुं परामृशति—असाविति । असद्भवेन्नश्येत् । उक्तमर्थं निगमयति—य एवमेतदिति । एवं विद्वान् कस्माज्जयतीत्यत आह—सत्यमेव यस्माद् ब्रह्मेति । अतस्तदुपासनात् फलोत्पादोऽपि सत्य इत्यर्थः । तद्यत्तत्सत्यं किमसौ ? अत्रापि तत्पदाभ्यां रूपप्रकारौ परामृष्टौ । कस्मिन्नालम्बने तदुपासनीयमित्यत उत्तरम् ❀ स आदित्यो य एषः ❀ इत्यादिना । तस्योपनिषदहरहमिति ।

भामती—व्याख्या

और ब्रह्म का एकत्व दृढ़ होता है, वह अन्वाचय ( अर्थात् सिद्ध ) के रूप में स्वीकृत है। सूत्रस्थ 'इतरवत्' का अर्थ है—"सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः सिध्यति, तद्वत्"। अर्थात् जैसे सर्वात्मत्व, सत्यकामत्वादि गुणों का ध्यान किया जाता है, वैसे ही उभयत्र उभयरूपता का ध्यान करना चाहिए ॥ ३७ ॥

———

विषय—"तद्वै तद् एवदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद् यक्षं प्रथमजं वेद—'सत्यं ब्रह्मेति', जयतीमाँल्लोकान् जित इनु असावसद् य एवमेतं महद् यक्षं प्रथमजं वेद—'सत्यं ब्रह्मेति, सत्यं ह्येव ब्रह्म" ( बृह० उ० ५।४।१ )। इस चतुर्थ ब्राह्मण में तृतीय-ब्राह्मणोक्त हृदयाख्य ब्रह्म की ही 'सत्य' नाम से उपासना विहित है। 'तद्वै तत्'—यहाँ पर एक (प्रथम) 'तद्' पद के द्वारा पूर्वोक्त हृदयसंज्ञक ब्रह्म का एवं 'एतत्' पद के द्वारा वक्ष्यमाण बुद्धिस्थ प्रकारान्तर ( सत्यरूपेण उपास्यमान् ) का परामर्श किया जाता है। 'तदा' का अर्थ 'अग्रे' और 'आस' का अर्थ 'बभूव' है। वह उपास्य तत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर है—सत्त्यम्। अर्थात् 'सत्' ( मूर्त्त या व्यक्त ) और 'त्यत्' ( अमूर्त्त या अव्यक्त ) का मिलितरूप 'सत्त्यम्' है। उसकी उपासना का फल है—"स यो ह एतम्"। जो प्रथमज यक्ष ( पूज्य ) तत्त्व को 'सत्यं ब्रह्म'—ऐसा मानता है, वह इन लोकों को जीत लेता है और उसका इनु (इस प्रकार) जित ( पराजित ) शत्रु असत् ( नष्ट ) हो जाता है। उक्तार्थ का निगमन किया गया हैं—"य एवमेतन्महद् यक्षम्"। ऐसा उपासक क्यों विजयी होता है ? इसका समाधान है—"सत्यमेव यस्माद् ब्रह्म"। ब्रह्म सत्य है, अतः उसका उपासक मिथ्या पर सत्य विजय प्राप्त कर लेता है, सत्य की उपासना का फल भी सत्य होता है।

"तद् यत् तत् सत्यम्" ( बृह० उ० ५।५।२ ) यहाँ पर भी दोनों 'तत्' पदों के द्वारा रूप और प्रकार का परामर्श किया गया है। उस सत्यतत्त्व की उपासना किस आलम्बन

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि। तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किं वैकैवेति ? द्वे इति तावत्प्राप्तम्। वेदेन हि फलसंयोगो भवति—'जयतीमाँल्लोकान्' ( बृ० ५।४।१ ) इति पुरस्तात्, 'हन्ति पाप्मानं जहाति च' ( बृ० ५।५।३।४ ) इत्युपरिष्टात्। प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति। कुतः ? 'तद्यत्तत्सत्यम्' ( बृ० ५।५।२ )

भामती

हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेदेत्यन्तेन। उपनिषद्रहस्यं नाम तस्य निर्वचनं हन्ति पाप्मानं जहाति चेति हन्तेर्जहातेर्वा रूपमेतत्। तथा च निर्वचनं कुर्वन् फलं पापहानिमाहेति। तमिमं विषयमाह भाष्यकारः ॐ यो वै हैतम् इति ॐ। ॐ सनामाक्षरोपासनाम् इति ॐ। तथाच श्रुतिः—तदेतत् अक्षरं सत्यमिति। स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यम्। मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतं सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति। नैवं विद्वांसमनृतं हिनस्तीति। तीवीकारानुबन्ध उच्चारणार्थः। निरनुबन्धस्तकारो द्रष्टव्यः। अत्र हि प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्य मृत्युरूपाभावात्। मध्यतो मध्येऽनृतमनृतं हि मृत्युः। मृत्यवनृतयोस्तकारसाम्यात्। तदेतदनृतं मृत्युरूपमुभयतः सत्येन परिगृहीतम्। अन्तर्भावित सत्यरूपाभ्याम्। अतोऽकिञ्चित्करं तत् सत्यभूयमेव सत्यबाहुल्यमेव भवति। शेषमतिरोहितार्थम्। सेयं सत्यविद्यायाः सनामाक्षरोपासनता। यद्यपि तद्यत्सत्यमिति प्रकृतानुकर्षणाभेदः प्रतीयते तथापि फलभेदेन भेदः साध्यभेदेनेव नित्यकाम्यविषययोर्दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति शास्त्रयोः सत्यप्यनुबन्धाभेदेऽभेद इति प्राप्ते प्रत्युच्यते ॐ एकैवेयं

भामती—व्याख्या

( आधार ) में करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर है—"स आदित्यो य एषः"—यहाँ से "तस्योपनिषद् अहरिति। हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवंवेद" ( बृह० उ० ५।५।३ ) यहाँ तक। यहाँ रहस्य-वाचक 'उपनिषत्' शब्द से संज्ञा अभिप्रेत है। आदित्य-पुरुष की जो 'अहर्' और चाक्षुष पुरुष की 'अहम्' संज्ञा रखी गई, उसका निर्वचन है—"हन्ति पाप्मानं जहाति च" अर्थात् 'हन्ति' या 'जहाति' धातु से वे संज्ञाएं निष्पन्न हुई हैं, अत एव उपासना का फल है—'पाप-हानि'। भाष्यकार ने इस अधिकरण का यही विषय प्रस्तुत किया है—"यो वै हैतम्"। "सनामाक्षरोपासनम्"। नाम ( सत्य ) के घटकीभूत अक्षरों को ध्यान में रखते हुए यह उपासना कही गई है। स-त्-य को मिलाकर 'सत्य' शब्द बना है। श्रुति में जो द्वितीय (त्) अक्षर को 'ति' कहा गया है, वहाँ 'ईकार' केवल उच्चारण के लिए प्रयुक्त है। प्रथम (स) और अन्तिम (य) अक्षर 'सत्य' है, क्योंकि वे सस्वर होने से गतिशील जीवित है और 'त्' गति-रहित मृत या अनृत ( असत्य ) है, क्योंकि 'मृत्यु' और 'अनृत' शब्दों म तकार समान है। 'संज्ञाक्षरों में अनृत या मृत्युरूप तकार अपने पूर्वतन (स) और पश्चात्तन (य) सत्य से परिगृहीत ( संदष्ट ) होने के कारण अकिञ्चित्कर ( प्रभावहीन ) है, अतः उपासना का फल सत्य है, असत्य नहीं। यह स्वरूप है उस सत्यविद्या की सनामाक्षरोपासनता का।

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि "सत्यं ब्रह्म" ( बृह. उ. ५।४।१ ) और "तद् यत् तत्सत्यम्" ( बृह. उ. ५।५।२ ) इन दोनों सन्दर्भों में प्रतिपादित दोनों तत्यविद्याओं में एकता प्रतीत होती है, क्योंकि "तद् यत् तत्सत्यम्"—यहाँ तदादि पदों के द्वारा पूर्व-प्रकृतार्थ का ही परामर्श किया जाता है। तथापि फलों का भेद होने से वैसे ही दोनों विद्याओं का भेद हो जाता है, जैसे "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत", "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत"—इन दोनों वाक्यों में यजतिरूप अनुबन्ध की एकता होने पर भी स्वर्गादि फलों के भेद से भिन्नार्थकत्व माना जाता है।

**सिद्धान्त**—उक्त दोनों सन्दर्भों में एक ही सत्य विद्या का प्रतिपादन है, क्योंकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति प्रकृताकर्षणात्। ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्युक्तम्। नैतदेवम्, यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात्। अत्र तूभयथा संभवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासंबद्धमेवसत्यमुत्तरत्राकृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः। यत्पुनरुक्तं – फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति, अत्रोच्यते—तस्योपनिषद्हरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपि चार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति। तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताम्नातेत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोग उपसंहर्तव्याः।

केचित्पुनरस्मिन्सूत्र इदं च वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यम्, छान्दोग्ये च—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६), 'अथ य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इत्युदाहृत्य संवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयशाकवैति कृत्वा सत्यादीन् गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुप-

भामती

विद्या तत् सत्यमिति ॐ प्रकृतपरामर्शादभेदेन प्रत्यभिज्ञानात्। न च फलभेदः तस्योपनिषदहरहमिति। तस्यैव यदङ्गान्तरं रहस्यनाम्नोपासनं तत्प्रशंसार्थोऽर्थवादोऽयं न फलविधिः। यदि पुनर्विद्याविषावधिकारश्रवणाभावात्तत्कल्पनायामार्थवादिकं फलं कल्प्येत ततो जातेष्टाविवागृह्यमाणविशेषतया संबलिताधिकारकल्पना ततश्च समस्तार्थवादिकफलयुक्तमेकमेवोपासनमिति सिद्धम्। परकीयं व्याख्यानमुपन्यस्यति ॐ केचित् पुनः इति ॐ। वाजसनेयकमक्ष्यादित्यविषयं छान्दोग्यमपीत्युपास्याभेदावभेदः। ततश्च वाजसनेयोक्तानां सत्यादीनामुपसंहार इत्यत्रार्थे सैव हि सत्यादय इति सूत्रं व्याख्यातं तदेतद् दूषयति

भामती—व्याख्या

'तत्सत्यम्'—इस प्रकार प्रक्रान्त अर्थ का ही परामर्श किया जाता है, अतः दोनों की एकता प्रत्यभिज्ञात हो रही है। फल-भेद को उपासना का भेदक नहीं मान सकते, क्योंकि "जयतीमान् लोकान्"—यह प्रधान उपासना का फल है। अहरादि नामोपासना उसी का अङ्ग है, प्रधान का फल ही अङ्ग का फल माना जाता है, अतः अङ्गोपासनाका यह फल-निर्देश (हन्ति पाप्मानम्) वैसे ही अर्थवादमात्र है, जैसे "वर्म वा यज्ञस्य क्रियते. यत्प्रयोजानुयाजाविज्येते" (तै. सं. २।६।१।५) यह प्रयाजादि का फल-निर्देश।

**शङ्का**—जहाँ पर किसी कर्म के विधिवाक्य में 'एवंकामः'—इस प्रकार विशिष्ट कामनारूप अधिकार (फल-स्वामित्व) का श्रवण नहीं होता, वहाँ आर्थवादिक फल के द्वारा अधिकार-विशेष की कल्पना की जाती है तब उस अधिकार से युक्त व्यक्ति की उस कर्म में प्रवृत्ति मानी जाती है, अतः प्रकृत में अर्थवादोक्त फल ही उक्त उपासना का माना जा सकता है और फल-भेद से उपासना-भेद होना चाहिए।

**समाधान** जहाँ अर्थवाद-वाक्यों के द्वारा विविध फलों का निर्देश होता है, वहाँ समस्त फलों से युक्त एक ही प्रधान कर्म का वैसे ही निधान माना जाता है, जैसे—"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते। यदष्टाकपालो भवति, गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति। यन्नवकपालस्त्रिवृतैवाऽस्मिन् तेजो दधाति" (तै. सं. २।२।५।३) इस इष्टि में पुत्र-पूतत्वादिविशिष्ट एक ही इष्टि का विधान माना जाता है।

अन्य आचार्यों के द्वारा की गई इस अधिकरण की व्याख्या प्रदर्शित की जाती है—"केचित पुनः"। अर्थात् वाजसनेय उपासना भी अक्षि और आदित्यविषयिणी है और छान्दोग्योक्त उपासना भी, अतः उपास्य का अभेद होने के कारण दोनों उपासनाओं का अभेद है,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संहार्यान्मन्यन्ते। तत्र साधु लक्ष्यते। छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसंबन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते। तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसंबन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च शरीरौ तस्मादुद्गीथः' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छ० १।७।९) इत्युपसंहारे। नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसम्बंधि चिह्नमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

---

## ( २५ कामाद्यधिकाराधिकरणम् । सू० ३९ )

### कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा. ८।१।५) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च, किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति।

---

भामती

❀ तन्न साधु इति ❀। ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रयेत्यनुबन्धाभेदेऽपि साध्यभेदाद्भेद इति विद्याभेदादनुपसंहार इति ॥ ३८ ॥

---

छान्दोग्यवाजसनेयविद्ययोर्यद्यपि सगुणनिर्गुणत्वेन भेदः। तथाहि—छान्दोग्ये अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति एतांश्च सत्यान् कामानित्यात्मवत् कामानामपि वेद्यत्वं श्रूयते। वाजसनेये तु निर्गुणमेव

---

भामती—व्याख्या

है, अतः वाजसनेयोक्त सत्यादि धर्मों का उपसंहार छान्दोग्य में भी कर लेना चाहिए। इसी अर्थ में "सत्यादयः"—इस सूत्र का तात्पर्य बताया गया है। इस व्याख्या का निरास किया जाता है—"तन्न साधु"। ज्योतिष्टोम कर्म सम्बन्धनीयमुद्गीथव्यपाश्रया"। अर्थात् उपासना के अक्ष्यादित्यादि विषयरूप अनुबन्ध ( अवच्छेदक ) का अभेद होने पर भी कर्मसमृद्धि और लोक-जयादिरूप साध्य ( फल ) के भेद से उपासना का भेद है, अतः सत्यादि का उपसंहार नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

---

**संशय**—छान्दोग्य में दहराकाश की आत्मत्वेन उपासना का विधान करके उपास्य तत्त्व के गुण कहे हैं—"सत्यकामः सत्यसंकल्पः" ( छां. ८।१।५ )। इसी प्रकार बृहदारण्यक में हृदयाकाश में ज्ञेय आत्मा के स्तुत्यर्थक सर्ववशित्वादि गुण बताए हैं—"सर्वस्य वशी" ( बृह, उ. ४।४।२५ )। यहाँ यह सन्देह होता है कि इन दोनों में एकता है ? अथवा अनेकता ? अत एव गुणों का उपसंहारानुसंहार भी सन्दिग्ध हो जाता है।

**वस्तुस्थिति**—यद्यपि छान्दोग्य में सगुणविषयिणी और बृहदारण्यक में निर्गुणविषयिणी विद्या का प्रतिपादन है अतः उनका भेद स्वाभाविक है, क्योंकि "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति, एतांश्च सत्यान् कामान्" (छां. ८।१।६) इस प्रकार छान्दोग्य में आत्मा के समान ही सत्यकामादि पदार्थों को भी उपास्य कोटि में रखा गया है किन्तु बृहदारण्यक में निर्गुण ब्रह्म का ही उपदेश किया गया है—"विमोक्षाय ब्रूहि" ( बृह. उ. ४।३।१४ ),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रेदमुच्यते कामादीति, सत्यकामादीत्यर्थः। यथा देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते, तदितरत्र वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र संबध्यते, यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष आत्माऽपहतपप्मा' ( छा० ८।१।५ ) इत्यत्र संबध्यते। कुतः ? आयतनादिसामान्यात्। समानं ह्युभयत्रापि हृदयमायतनं समानश्च वेद्य ईश्वरः समानं च तस्य सेतुत्वं लोकासंभेदप्रयोजनमित्येवमादि बहु सामान्यं दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति। न, 'दहर उत्तरेभ्यः ( ब्र० सू० १।३।१४ ) इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्दं ब्रह्मवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अयं त्वत्र विद्यते विशेषः—सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते, 'अथ य इहा-

भामती

परं ब्रह्मोपदिश्यते विमोक्षाय ब्रूहीति। तथापि तयोः परस्परगुणोपसंहारः। निर्गुणायां तावद्विद्यायां ब्रह्मस्तुत्यर्थमेव सगुणविद्यासम्बन्धिगुणोपसंहारः सम्भवी। सगुणायां च यद्यप्याध्यानाय न वशित्वादिगुणोपसंहारसम्भवः। नहि निर्गुणायां विद्यायामाध्यातव्यत्वेनेते चोदिता येनात्राध्येयत्वेन सम्बध्येरन्नपि तु सत्यकामादिगुणनान्तरीयकत्वेनेतेषां प्राप्तिरित्युपसंहार उच्यते। एवं व्यवस्थित एष संक्षेपोऽधिकरणार्थस्य साम्यबाहुल्येऽप्येकत्राकाशाधारत्वस्यापरत्र चाकाशतादात्म्यस्य श्रवणाद् भेदे विद्ययोर्न परस्परगुणोपसंहार इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्तु सर्वसाम्यमेवोभयत्राप्यात्मोपदेशादाकाशशब्देनैकत्रात्मोक्तोऽन्यत्र च बहराकाशाधारः स एवोक्त इति सर्वसाम्याद् ब्रह्मण्युभयत्रापि सर्वगुणोपसंहारः। सगुणनिर्गुणत्वेन तु विद्याभेदेऽपि गुणोपसंहारव्यवस्था वर्णिता। तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ ३९ ॥

---

भामती—व्याख्या

असङ्गो ह्ययं पुरुषः" ( बृह. उ. ४।३।१५ )।

तथापि इन दोनों विद्याओं में परस्पर गुणोपसंहार उचित माना जाता है, क्योंकि निर्गुण-विद्यामें ब्रह्म की स्तुति करने के लिए सगुण-विद्या-वर्णित गुणों का उपसंहार सम्भव है। सगुण-विद्या में यद्यपि वशित्वादि गुणों का उपसंहार ध्यान के लिए संभव नहीं, क्योंकि निर्गुण-विद्या में वशित्वादि का ध्यातव्यत्वेन विधान नहीं किया गया है। तथापि सत्यकामादि गुणों से व्याप्त होने के कारण वशित्वादि धर्मों का उपसंहार हो जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति में इस अधिकरण का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

**पूर्वपक्ष**—दोनों विद्याओं में समानरूपता का बाहुल्य होने पर भी एकत्र [ "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिञ्छेते" ( बृह. उ. ४।४।२२ ) यहाँ पर ] आकाशाधारकत्व का उल्लेख एवं अपरत्र [ "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" ( छां. ८।१।१ ) यहाँ पर ] आकाशतादात्म्य का निर्देश होने के कारण दोनों विद्याओं का भेद प्रतीत होने के कारण परस्परगुणोपसंहार सम्भव नहीं।

**सिद्धान्त**—दोनों सन्दर्भों में प्रायः एकरूपता है, क्योंकि दोनों में एक आत्मा का ही उपदेश है, अन्तर केवल इतना है कि कहीं आत्मा का अभिधान 'आकाश' शब्द से किया गया है और कहीं दहराकाश में उसी आत्मा की अवस्थिति बताई गई है, फलतः उभयत्र कथित एक ब्रह्म में सर्व गुणों का उपसंहार न्यायोचित है। सगुणता और निर्गुणता का भेद रहने पर भी गुणोपसंहार की व्यवस्था स्तुति और आध्यान को लेकर की जा चुकी है ॥ ३९ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्' ( छा० ८।१।१६ ) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात् । वाजसनेयके तु निर्गुणमेव परं ब्रह्मोपदिश्यमानं दृश्यते, 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४ ), 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' ( बृ० ४।३।१५ ) इत्यादिप्रश्न-प्रतिवचनसमन्वयात् । वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजातं वाजसनेयके संकीर्त्यते । तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृ० ३।९।२६ ) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसंहरति । गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायायं गुणोपसंहारः सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

---

## ( २६ आदराधिकरम् । सू० ४०-४१ )

### आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' ( छा० ५।१९।१ ) इत्यादि तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः—'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' ( छा० ५।२४।२ ) इति, यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते' (छा. ५।२४।५ इति च । तत्रेदं विचार्यते-किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति । तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च

भामती

अस्ति वैश्वानरविद्यायां तदुपासकस्यातिथिभ्यः पूर्वभोजनम् । तेन यद्यपीयमुपासनागोचरा न चिन्ता साक्षात्तथापि तत्सम्बद्धप्रथमभोजनसम्बन्धादस्ति सङ्गतिः । विचारगोचरं दर्शयति ❀ छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्येति ❀ । विचारप्रयोजकं सन्देहमाह ❀ किं भोजनलोप इति ❀ । अत्र पूर्वपक्षाभावेन संशयमाक्षिपति ❀ तद्यद्भक्तम् इति ❀ ❀ भक्तागमनसंयोगाद् इति ❀ । उक्तं खल्वेतत् प्रथम

भामती—व्याख्या

**संगति**—वैश्वानर-विद्या में अतिथियों से पहले उपासक का जो भोजन विहित है—"तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्" ( छां. ५।१९।१ ), उस भोजन का विचार यद्यपि प्रक्रान्त उपासना के विचार से साक्षात् संगति नहीं रखता, तथापि उपासना-सम्बन्धी प्रथम भोजन का विचार परम्परया संगत है।

**विषय**—"छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य" अर्थात् छान्दोग्य में वैश्वानर-विद्या का प्रकरण आरम्भ करके उपासक के लिए प्रथम भोजन का विधान किया गया है—"तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयम्" ( छां. ५।१९।१ ) [ वह भक्त ( भात या भोजन ) प्रथम ग्रास के रूप में प्राप्त होता है, वह होमीय ( होम का द्रव्य ) ] है।

**संशय**—"किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्य" अर्थात् क्या भोजन का किसी कारण से अभाव हो जाने पर भोजनद्रव्यक प्राणाग्निहोत्र का अभाव हो जाता है? अथवा नहीं?

**पूर्वपक्ष**—इस चालीसवें सूत्र के द्वारा निराकरणीय पक्ष का प्रस्तुतीकरण नहीं किया गया, अतः संशय के द्वारा उस पक्ष का आक्षेप ( प्रकल्पन ) किया जाता है—"तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणात्"। अर्थात् प्राणाहुति तभी होगी, जब कि उपासक के सामने भक्त ( भोजन ) आए, भोजन के लिए भात लाया जाता है, अतः भोजन का लोप होने पर प्राणाहुति का लोप होना चाहिए। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य, यह बात है कि यह निराकरणीय पक्ष पूर्वपक्ष नहीं, अपितु सिद्धान्त ही है। बहुत-से अधिकरणों में पूर्वपक्ष-सूत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति । एवं प्राप्ते न लुप्यतेति तावदाह । कस्मात् ? आदरात् । तथा हि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः—'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात् । यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्र आदरं करोति । या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते । ननु भोजनार्थमक्तागमनसंयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः न, तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात् । प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यैकतागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं तद्यद्भक्तमिति । अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम्, भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

भामती

एव तन्त्रे पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् इत्यनेन । यथा सोमक्रयार्था नीयमानैकहायनी सप्तमपदपांशुग्रहणमप्रयोजकम् । न पुनरेकहायन्या नयनं प्रयोजयति । तत् कस्य हेतोः ? सोमक्रयेण तन्नयनस्य प्रयुक्तत्वात् तदुपजीवित्वात्सप्तमपदपांशुग्रहणस्येति । तथेहापि भोजनार्थभक्तागमनसंयोगात् प्राणाहुतेर्भोजनाभावे भक्तं प्रत्यप्रयोजकत्वमिति नास्ति पूर्वपक्ष इत्यपूर्वपक्षमिदमधिकरणमित्यर्थः । पूर्वपक्षमाक्षिप्य समाधत्ते ❀ एवं प्राप्ते, न लुप्यतेति तावदाह ❀ । तावच्छब्दः सिद्धान्तशङ्कानिराकरणार्थः । पृच्छति कस्मात् । उत्तरम् आदरात् । तदेव स्फोरयति ❀ तथाहि इति ❀ । जाबाला हि श्रावयन्ति पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति । अश्नीयादिति च प्राणाग्निहोत्रप्रधानं वचः ॥ ४० ॥

भामती—व्याख्या

नहीं होता, केवल सिद्धान्त-सूत्र ही होता है, जैसा कि पूर्वमीमांसा में आया है—

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात्" ( जै. सू. ४।१।२५ ) । ज्योतिष्टोम में सोमलता खरीदने के लिए मूल्यरूप में एक वर्ष की गौ दी जाती है । उसे गोष्ठ से यज्ञ-मण्डप में लाते समय उसका अगला दाहना पद ( खुर ) जहाँ सातवें बार पृथिवी पर पड़ता है, वहाँ घृत डाल देते हैं, इसका नाम पद-होम है—"सप्तमे पदे जुहोति" ( तै. सं. ६।१।८।१ ) । सातवाँ पद जहाँ पड़ता है, उस स्थान की धूलि अपनी अञ्जलि में अध्वर्यु भर लेता है, उस धूलि का अञ्जन हविर्धाननामक उस बैल-गाड़े के पहिए की नाभि ( अक्ष ) में किया जाता है, जिस पर सोम-लता विक्रयार्थ लाई जाती है । यहाँ विचारणीय यह है कि गवानयन का मुख्य उद्देश्य अक्षाभ्यञ्जन है ? अथवा सोम-क्रयण ? सिद्धान्त-सूत्र ने निर्णय दिया है कि पद-कर्म ( पद-चिह्न की धूलि से अक्षाभ्यंजन ) गवानयन का प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि गवानयन का उद्देश्य सोम-क्रयण है—"अरुणया पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" ( तै. सं. ६।१।६।७ ) । इस प्रकार जैसे सोम-क्रयण-प्रयुक्त गवानयन के सप्तम पद की धूलि का ग्रहण आनुषङ्गिक है, वैसे ही प्रकृत में भोजनार्थ आनीत भात से आनुषङ्गिक प्राणाहुति सम्पन्न होती और किसी कारण भोजन का अभाव हो जाने पर प्राणाहुति भात की प्रयोजिका नहीं होती । यह सिद्धान्त-पक्ष ही है, पूर्वपक्ष के विना ही यह अधिकरण प्रवृत्त हुआ है ।

आक्षेप से लब्ध ( अर्थादवगत ) पूर्वपक्ष का समाधान पूर्वपक्षी कर रहा है—"न लुप्येतेति तावदाह" । पूर्वपक्ष के रूप में आक्षिप्त सिद्धान्त-पक्ष के निराकरणार्थ 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया गया है । निराकरण के हेतु की जिज्ञासा की जाती है—"कस्मात् ?" उसका उत्तर है—"आदरात्" । उत्तर का स्पष्टीकरण किया जाता है—"तथा हि" । जाबाल-श्रुति कहती है—"पुरोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्" [ अतिथि को भोजन कराने से पहले ही भोजन करे । ]

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

यथा हि क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासते ।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥

इति वचनाद् अग्निहोत्रस्यातिथीन् भूतानि प्रत्युपजीव्यत्वेन श्रवणात्तदेकवाक्यतयेहापि पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयादिति प्राणाहुतिप्रधानं लक्ष्यते । तदेवं सति यथा वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादित्येवं तदित्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं स्वामिनः प्राणाग्निहोत्रं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रादरं करोति । नन्वाद्रियतामेषा श्रुतिः प्राणाहुतिं किन्तु स्वामिभोजनपक्ष एव नाभोजनेऽपीत्यत आह ❀ या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते❀ । ईदृशः खल्वयमादरः प्राणाग्निहोत्रस्य यदतिथिभोजनोत्तरकालविहितं स्वामिभोजनं समयादपकृष्यातिथिभोजनस्य पुरस्ताद्विहितम् । तद् यदाग्निहोत्रस्य धर्मिणः प्राथम्यधर्मलोपमपि न सहते श्रुतिस्तदास्याः कैव कथा धर्मिलोपं सहत इत्यर्थः । पूर्वपक्षाक्षेपमनुभाष्य दूषयति ❀ ननु भोजनार्था इति ❀ । यथा हि कौण्डपायिनामयनगते अग्निहोत्रे प्रकरणान्तरान्नैयमिकाग्निहोत्राद्भिन्ने द्रव्यदेवता-

भामती—व्याख्या

यहाँ अश्नीयात्' पद का अर्थ है—'प्राणाग्निहोत्रं कुर्यात्', क्योंकि—

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते ।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥ ( छां. ५।२४।५ )

[ जैसे भूके बालक माता की उपासना करते हैं, वैसे ही अतिथि आदि सभी प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं ] इस वचन के द्वारा अतिथि आदि भूतों ( प्राणियों ) की उपजीव्यता ( उपादेयता ) अग्निहोत्र में प्रतीत होती है, अतः अतिथि-भोजन के पूर्वभावी उपासक के भोजन में प्राणाग्निहोत्ररूपता अवगत होती है । अतिथि के भोजनरूप प्राणाग्निहोत्र की अपेक्षा स्वामी के भोजनरूप प्राणाग्निहोत्र में प्राथम्य-विधान से आदर ( प्राशस्त्य ) प्रस्फुटित होता है । इतना ही नहीं, अपितु अतिथि-भोजन के प्राथम्य की निन्दा भी की गई है—"यथा वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादित्येवं तत्" ( स्वामी के भोजन करने से पहले अतिथि को भोजन कराना वैसा ही है, जैसा कि स्वयं अग्निहोत्र न करके अन्य व्यक्ति से अग्निहोत्र कराना ] ।

**शङ्का**—उक्त श्रुति प्राणाग्निहोत्र का आदर उसी पक्ष में कर सकती है, जब कि स्वामी का भोजन प्राप्त है, किन्तु भोजन के लोप-पक्ष में क्यों करेगी ?

**समाधान**—"या हि न प्राथम्यलोपं सहते" [ अर्थात् जो श्रुति स्वामिभोजनरूप धर्मी के प्राथम्यरूप धर्म का लोप सहन नहीं करती, वह स्वामिभोजनरूप धर्मी का विलोप-पक्ष कभी नहीं सहन कर सकती—ऐसा पूर्वपक्षी मानता है । शास्त्रकारों ने सामान्यतः अतिथि को पहले भोजन करागे का विधान किया है—"संभोज्यातिथिभृत्यांश्च दम्पत्योः शेषभोजनम्" ( याज्ञ. पृ. ३६ ) । किन्तु उपासक के लिए वह समय खींच कर अतिथि-भोजन के प्रथम ( पहले ) ही स्थिर किया गया । इस प्रकार प्राथम्यरूप धर्म का समादर स्वामी के प्राणाग्निहोत्र के अलोप में पर्यवसित होता है, यदि भत्त सुलभ नहीं, तब दुग्धादि द्रव्य से उसका सम्पादन किया जा सकता है । आक्षिप्त ( ऊहित ) पूर्वपक्ष का स्मरण दिलाकर निरास किया जाता है—"ननु भोजनार्थभक्तागमनसंयोगात् ।" जैसे कुण्डपायी शाखावाले पुरुषों के अयन ( सत्र ) कर्म में एक अग्निहोत्र कर्म विहित है—"मासमग्निहोत्रं जुहोति" (ता. ब्रा. २५।४।१) । यह अग्निहोत्र कर्म उस नित्य अग्निहोत्र से प्रकरणांतर के आधार पर भिन्न है जो कि "अग्निहोत्रं जुहोति" ( तै० सं० १।५।९।१ ) इस वाक्य से विहित है । दोनों कर्मों का नाम एक होने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

रूपधर्मान्तररहिततया तदाकाङ्क्षे साध्यसादृश्येन नैयमिकाग्निहोत्रसमाननामतया तद्धर्मातिदेशेन रूपधर्मान्तरप्राप्तिरेवं प्राणाग्निहोत्रेऽपि नैयमिकाग्निहोत्रगतपयःप्रभृतिद्रव्यो भोजनागतभक्तद्रव्यता विधीयते । न चैतावता भोजनस्य प्रयोजकत्वम् । उक्तमेतद् यथा भोजनकालातिक्रमात् प्राणाग्निहोत्रस्य न भोजनप्रयुक्तत्वमिति । न चैकदेशद्रव्यतयोत्तरार्द्धात् स्विष्टकृते समवद्यतीतिवदप्रयोजकत्वमेकदेशद्रव्य-साधनस्यापि प्रयोजकत्वात् । यथा जाघन्या पत्नीः संयाजयन्तीति पत्नीसंयाजानां जाघन्येकदेशद्रव्य-जुषां जाघनीप्रयोजकत्वम् । स हि नामाप्रयोजको भवति यस्य प्रयोजकग्रहणमन्तरेणार्थो न ज्ञायते । यथा न प्रयोजकपुरोडाशग्रहणमन्तरेणोत्तरार्द्धं ज्ञातुं शक्यम् । शक्यं तु जाघनीवद्भक्तं ज्ञातुम् । तस्माद्

भामती—व्याख्या

के कारण नामातिदेश के द्वारा नित्य अग्निहोत्र के दुग्धादि द्रव्य और अग्नि आदि देवता कुण्डपायी अयनगत अग्निहोत्र में प्राप्त कराए जाते हैं, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"नैयमिकस्याग्निहोत्रस्य ये धर्मास्तेऽस्मिन्ननेन नाम्नाऽतिदिश्यन्ते" ( शाबर. पृ. १५४९ ) । इसी प्रकार प्राणाग्निहोत्र में भी नैयमिक ( नित्य ) अग्निहोत्र के अङ्गभूत दुग्धादि द्रव्यों की सहज प्राप्ति है, उसका अपवाद करके भोजनार्थं आगत भक्त द्रव्य का विधान किया गया है । एतावता भोजन में प्राणाग्निहोत्र की प्रयोजकता नहीं सिद्ध होती है कि भोजन का अभाव होने पर प्राणाग्निहोत्र का विलोप हो जाता, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि स्वामी के भोजन में प्राक्कालतामात्र के कथन से प्राणाग्निहोत्र में भोजनप्रयुक्तत्व नहीं आता, अर्थात् यह कहा जा चुका है कि भोजन-काल के अतिक्रमणमात्र [ जो भोजन अतिथि-भोजन के पश्चात् होना चाहिए था, उसके पहले कर देने मात्र ] से भोजन अग्निहोत्र का प्रयोजक नहीं हो सकता ।

**शङ्का**—यद्यपि दर्शपूर्णमासगत आग्नेय पुरोडाशके एकदेश (भाग) को लेकर जो स्विष्टकृत् याग विहित है—"उत्तरार्धात् स्विष्टकृतेऽवद्यति" (तै० सं० २।६।६।५) । वह स्विष्ट-कृत् याग अङ्गार्थक पुरोडाश के एकदेश को विषय करने के कारण पुरोडाशद्रव्य का जैसे प्रयोजक नहीं माना जाता—"एकदेशद्रव्यं चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात्" ( जै. सू. ४।१।२८ ) अर्थात् पुरोडाश का एकदेश है द्रव्य जिसका, ऐसा स्विष्टकृत् याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि "यदाग्नयोऽष्टाकपालः" ( तै. सं. २।६।३।३) इस उत्पत्ति विधि में जिस आग्नेय याग का संयोग प्रतिपादित है, वही पुरोडाश का प्रयोजक है, स्विष्टकृत् याग नहीं । वैसे ही भोजनार्थक भक्तरूप एकदेशद्रव्यवाला प्राणाग्निहोत्र कर्म भोजनगत भक्त का प्रयोजक नहीं कि भक्ताभाव में प्राणाग्निहोत्र का अभाव हो जाता ।

तथापि जैसे "जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति" [अग्नीषोमीय पशु (छाग) की जाघनी (पूँछ) से पत्नि-संयाज कर्म विहित है—"जाघन्या पत्नीसंयाजनम्" ( का. श्रौ. ६।९।१४ ) । यह कर्म एकदेशद्रव्यक होने पर भी पशु का प्रयोजक अर्थ कर्म माना जाता है—"द्रव्य-विकारं तु पूर्ववदर्थकर्म" ( जै. सू. १२।४।१० ) । वैसे ही भक्तैकदेशद्रव्यक प्राणाग्निहोत्र भी भक्त का प्रयोजक माना जा सकता है ।

**समाधान**—वह पदार्थ अप्रयोजक होता है, जिसका प्रयोजकीभूत अर्थ के ग्रहण के बिना (निराकांक्ष) अर्थावबोध नहीं होता । जैसे कि प्रयोजकीभूत पुरोडाश के ग्रहण के बिना 'उत्तरार्द्धात्'—यहाँ उत्तरार्द्ध शब्द का अर्थावबोध ही नहीं होता, क्योंकि वहाँ 'कस्योत्तरा-र्द्धात् ?' ऐसी आकाङ्क्षा बनी रहती है किन्तु जैसे पशु-ग्रहण के बिना ही 'जाघनी' का अर्थ-ज्ञान होता है, वैसे ही भोजन-ग्रहण के बिना ही भक्त का ज्ञान हो जाता है, अतः भक्त

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत उत्तरं पठति—

**उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥**

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितात्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम् । कस्मात् ? तद्वचनात् । तथा हि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' ( छा० ५।१९।१ ) इति । सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्यसाध्यतां प्राणाहुतीनां विदधाति । ता अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः । न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति । कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्रं

भामती

यथा जाघन्यन्तरेणापि पशूपादानं परप्रयुक्तपशूपजीवनं वा खण्डशो मांसविक्रयिणो मुण्डाविवदाकृतिरूपादीयते । एवं भक्तमपि शक्तमुपादातुम् । तस्मान्न भोजनस्य लोपे प्राणाग्निहोत्रलोप इति मन्यते पूर्वपक्षी । अद्भिरिति तु प्रतिनिध्युपादानमावश्यकत्वसूचनार्थं भाष्यकारस्य ॥ ४० ॥

तद्धोमीयमिति हि वचनं किमपि सन्निहितद्रव्यं होमे विनियुङ्क्ते तदः सर्वनाम्नः सभिहितावगममन्तरेणाभिधानापर्य्यवसानात्तदनेन स्वाभिधानपर्य्यवसानाय तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेदिति सन्निहितमपेक्ष्य निर्वर्तितव्यम् । तच्च सन्निहितं भक्तं भोजनार्थमित्युत्तरार्द्धात् स्विष्टकृते समवद्यतीतिवन्न भक्तं वापो वा द्रव्यान्तरं वा प्रवोक्तुमर्हति । जाघन्यास्ववयवभेदस्य नाग्नीषोमीयपश्वधीनं निरूपणं स्वतन्त्रस्यापि तस्य सूनास्थस्य दर्शनात्तस्मादस्त्येतस्य जाघनीतो विशेषः । यच्चोक्तं चोदकप्राप्तद्रव्यबाधया भक्तद्रव्यविधानमिति । तदयुक्तम्, विध्युद्देशगतस्याग्निहोत्रनाम्नस्तथाभावादार्थवादिकस्य तु सिद्धं किञ्चित्सादृश्यमुपादाय स्तावकत्वेनोपपत्तेर्न तद्भावं विधातुमर्हतीत्याह ॐ न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरिति ॐ । अपि चाग्निहोत्रस्य चोदकतो धर्मप्राप्तावभ्युपगम्यमानायां बहुतरं प्राप्तं बाध्यते ।

भामती—व्याख्या

प्राणाग्निहोत्र का प्रयोजक नहीं, अतः भोजन का लोप हो जाने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप नहीं हो सकता—ऐसा पूर्वपक्षी मानता है । भाष्यकार ने जो कहा है 'अद्भिः' उसका अर्थ है—भक्त के अभाव में उसके प्रतिनिधिभूत किसी द्रव्यान्तर से कर्म किया जा सकता है ॥ ४० ॥

सिद्धान्त'—तद्धोमीयम्' यह वचन सन्निहित द्रव्य का होम में विधान करता है, क्योंकि 'तत्'—इस सर्वनाम पद का पर्यवसान तब तक नहीं हो सकता, जब तक सन्निहित अर्थ का अवगम नहीं होता, अतः अपने अभिधान-व्यापार का पर्यवसान करने के लिए 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्'—यहाँ 'तत्' पद जिस सन्निहित अर्थ की अपेक्षा करता है, वह है—भोजनार्थं प्राप्त भक्त द्रव्य, अतः "उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति" के समान स्वतन्त्र भक्त या जलादिरूप द्रव्यान्तर का प्रयोजक उक्त कर्म नहीं हो सकता । 'जाघनी' तो सामान्य पशु का एक अवयव-विशेष है, अतः अग्नीषोमीय पशु के अधीन जाघनी का निरूपण नहीं, क्योंकि सूना गृह ( वध-शाला ) में स्वतन्त्र ( पशु से विलग ) पूँछ देखी जा सकती है ।

यह जो कहा है कि नामातिदेशतः प्राप्त दुग्धादि द्रव्यों का बाध करके स्वतन्त्र भक्तरूप द्रव्य का विधान उक्त वाक्य से किया जाता है । वह कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि विधिवाक्यगत 'अग्निहोत्र' शब्द अवश्य ही नामातिदेश के द्वारा प्राकृत धर्मवत्ता का उपस्थापक होता है किन्तु यह 'अग्निहोत्र' शब्द अर्थवाद-वाक्य का घटकीभूत होने के कारण केवल स्तावक है, प्रकृति कर्म के धर्मों ( दुग्धादि द्रव्यों ) का उपस्थापक ही नहीं, उनका बाधक क्योंकर होगा ? भाष्यकार यही कह रहे हैं—'न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिः' । दूसरी बात यह भी है कि यहाँ नामातिदेश के द्वारा प्राकृत धर्म की प्राप्ति मानने पर बहुत-से धर्मों का बाध मानना होगा किन्तु समवाय हो सकने पर बाध-सञ्चय समुचित नहीं ।

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुहोति' इति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्धर्मावं विधापयेदिति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्धर्मावं विधापयितुमर्हति। तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणाद्योऽपि प्राप्येरन्। न चास्ति संभवः। अग्न्युद्धरणं तावद्होमाधिकरणभावाय। न चायमग्नौ होमः, भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्। भोजनोपनीतद्रव्यसंबन्धाच्चास्य पवैष होमः। तथा च जावालश्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यस्याधारामेवेमां होमनिर्वृत्तिं दर्शयति। अत एव चेहापि सांपादिकान्येवाग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५। १८।२) इति। वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह संपिपादयिषितत्वात्। भोजनेनैव च कृतकालेन संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसंभवः। एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते। तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः। यत्त्वादरदर्शनवचनं, तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम्। न ह्यस्ति वचनस्यातिभारः। नत्वनेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम्। तस्माद्भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

---

भामती

न च सम्भवे बाधनिचयो न्याय्यः। कृष्णलचरौ खल्वगत्या प्राप्तबाधोऽभ्युपेयत इत्याह ❀ धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायाम् इति ❀। चोदकाभावमुपोद्बलयति ❀ अत एव चेहापि इति ❀। यत एवोक्तेन क्रमेणातिदेशाभावोऽत एव साम्पादिकत्वमग्निहोत्राङ्गानाम्। तत्प्राप्तौ तु साम्पादिकत्वं नोपपद्यते। कामिन्यां किल कुचवदनाद्यसता चक्रवाकनलिनादिरूपेण सम्पाद्यते। न तु नद्यां चक्रवाकादय एव चक्रवाकादिना सम्पाद्यन्ते। अतोऽप्ववगच्छामो न चोदकप्राप्तिरिति। यत्त्वादरदर्शनमिति तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम्। यस्मिन् पक्षे धर्मानवलोपस्तस्मिन् धर्मिणोऽपि न त्वेतावता धर्मिनित्यता सिध्यतीति भावः। नन्वतिथिभोजनोत्तरकालता स्वामिभोजनस्य विहितेति कथमसौ वाध्यत इत्यत आह ❀ नास्ति

भामती—व्याख्या

कृष्णल-चरु में प्राप्त अवघातादि धर्मों का बाध तो अगत्या करना पड़ता है ["प्राजापत्यं चरुं निर्वपेच्छतकृष्णलमायुष्कामः"—इस वाक्य के द्वारा सोने के चावलों का विधान किया गया है। वहाँ "व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि वाक्यों से विहित अवघातादि धर्मों की अतिदेश से प्राप्ति होने पर उनका बाध किया गया है—"अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यमर्थे क्रियेत तादर्थ्यात्" (जै. सू. १०।१।२) अर्थात् तुष-विमोकादि प्रयोजन का अभाव होने के कारण सुवर्ण-कणों में अवघातादि नहीं किए जाते]। भाष्यकार ने यही कहा है—"तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायाम्"। यह अग्निहोत्र आरोपित है, वास्तविक नहीं, अतः उसके अङ्ग भी वास्तविक नहीं, आरोपित ही होते हैं—"अत एव चेहापि"। जब कि वास्तविक अङ्गों का अतिदेश संभव नहीं, तब यह अग्निहोत्र भी साम्पादिक (आरोपितमात्र) है, क्योंकि कामिनी कुचों में चक्रवाकरूपता और मुख में कमलरूपता वस्तुतः नहीं, अत एव उनका आरोप किया जाता है, किन्तु नदी में जहाँ वास्तविक चक्रवाक और कमल होते हैं, वहाँ उनका आरोप नहीं किया जाता। फलतः इस अग्निहोत्र में अतिदेश के द्वारा वास्तविक धर्मों की प्राप्ति नहीं होती। जो अग्निहोत्र में आदर-प्रदर्शन किया गया, वह भोजन-पक्ष में केवल प्राथम्य-विधानार्थ है। जिस पक्ष में प्राथम्यरूप धर्म का लोप नहीं होता, उस पक्ष में भोजनरूप धर्मी का भी लोप नहीं माना जाता, इतने मात्र से धर्मी की नित्यता नहीं सिद्ध होती। शास्त्रों में अतिथि-भोजन

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( २७ तन्निर्धारणरधिकरम् । सू० ४२ )

### तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग् हि अप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ( छा० १।१।१ ) इत्येवमादीनि । किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु, पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि, गोदोहनादिवदिति विचिारयामः किं तावत्प्राप्तम् ?—नित्यानीति । कुतः ? प्रयोगवचनपरिग्रहात् । अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसंबन्धात्क्रतुप्रयोगवचनेनैवाङ्गान्तरवत्संस्पृश्यन्ते । यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम्—'आपयिता ह वै कामानां भवति' ( छा० १।१।७ ) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधानम् । तस्माद्यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्

भामती

वचनस्यातिभारः ॥ । सामान्यशास्त्रबाधायां विशेषशास्त्रस्यातिभारो नास्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

---

यथैव यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीति एतदनारभ्याधीतमन्यभिचरितक्रतुसम्बन्धं जुहूद्वारा क्रतुप्रयोगवचनगृहीतं क्रत्वर्थं सत्फलानपेक्षम् । सिद्धवर्त्तमानापदेशप्रतीतं न रात्रिसत्रवत् फलतया स्वीकरोतीति । एवमन्यभिचरितकर्मसम्बन्धोद्गीथगतमुपासनं कर्मप्रयोगवचनगृहीतं

भामती—व्याख्या

के पश्चात् स्वामी का भोजन विहित है, उसका बाध क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"नास्ति वचनस्यातिभारः" अर्थात् विशेष शास्त्र के लिए सामान्य शास्त्र का बाध करना कोई अतिभार ( बोझिल या बड़ी बात ) नहीं ॥ ४१ ॥

---

**संशय**—ज्योतिष्टोमादि धर्मों में अनुष्ठीयमान सामादि अङ्गों को आधार बनाकर जो उपासनाएँ विहित हैं, वे क्या कर्म के अनुष्ठाता पुरुष को नियमतः ( सदैव ) करनी होंगी ? अथवा अनियमतः ( कदाचित् ) ?

**पूर्वपक्ष**—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" ( छां. १।१।१ ) गीयमान सामस्तोत्र के एक भाग का नाम उद्गीथ है, उसका आरम्भ 'ओम्' अक्षर से किया जाता है, अतः 'ओम्' अक्षर की परमात्मबुद्धया उपासना सोम-याग के अनुष्ठाता यजमान को नित्य करनी होगी, क्योंकि ऐसी उपसनाओं का क्रतु ( याग ) के साथ वैसे ही अव्यभिचरित (नित्य) सम्बन्ध है, जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति" ( तै. सं० ३।५।७।२ ) [ जिस यजमान का जुहू पात्र पर्ण ( पलाश वृक्ष ) की लकड़ी से बना होता है, वह अपनी अपकीर्ति कभी नहीं सुनता ] इस वाक्य से विहित जुहूगत पर्णता ( पलाशमयता ) का याग के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध होता है, क्योंकि किसी भी कर्म में जुहू के बिना होम हो ही नहीं सकता । जुहू नियमतः क्रतु का अङ्ग है, अतः क्रतु का निर्दिष्ट फल ही जुह्वादि का भी माना जाता है, उससे भिन्न कोई स्वतन्त्र फल नहीं माना जाता । "न स पापं श्लोकं शृणोति"—इत्यादि रूपों में फल-श्रुति केवल अर्थवादमात्र है, क्योंकि यागादि का फल प्रायः भविष्य में ही होता है, वर्तमान में नहीं किन्तु यहाँ "न शृणोति"—इस प्रकार वर्तमान का ही प्रयोग किया गया है, अतः फल-निर्देश केवल स्तावक है । "प्रतितिष्ठन्ति ह वै एता रात्रीरुपयन्ति" ( तां. ब्रा. २३।२०।४ ) [ उनकी लोक में प्रतिष्ठा होती हैं, जो लोग इन रात्रिसंज्ञक देवताओं के लिए याग करते हैं ] इस प्रकार रात्रिसत्र का जो अर्थवादिक प्रतिष्ठाख्य फल माना जाता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकरणपठितवन्नित्यतैवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति । यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन् । कुतः ? तद्दृष्टेः । तथा ह्यनियतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' ( छा० १।१।१० ) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात् । प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाभ्यनुज्ञानदर्शनात् 'प्रस्तोतर्यां देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' ( छा० १।१०।९ ), 'तां चेदविद्वानुद्गास्यति' ( छा० १।१०।१० ) 'तां चेदविद्वान्प्रति-

भामती

न सिद्धवत्संमानापदेशावगतसमस्तकामावापकत्वलक्षणफलकल्पनायालम्, परार्थत्वात् । तथा च पारमर्षं सूत्रम्—द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादिति । एवं च सति क्रतौ पर्णतानियमवदुपासनानियम इति प्राप्ते उच्यते—युक्तं पर्णतायां फलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वम् । नहि पर्णताऽनाश्रया यागादिवत् फलसम्बन्धमनुभवितुमर्हति, अव्यापारत्वात् । व्यापारस्यैव च फलवत्त्वात् । यथाहुरुत्पत्तिमतः फलदर्शनादिति । नापि खादिरतायामिव प्रकृतक्रतुसम्बन्धो यूप आश्रयस्तदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति अनारभ्याधीतत्वात् पर्णमयतायाः । तस्माद्वाक्येनैव जुहूसम्बन्धद्वारेण पर्णतायाः क्रतुराश्रयो ज्ञापनीया । न चातत्परं वाक्यं ज्ञापयितुमर्हतीति तत्र वाक्यतात्पर्य्यमवश्याश्रयणीयम् । तथा च तत्परं सन्न पर्णतायाः

भामती-व्याख्या

है, वह अगत्या मानना पड़ता है। जुहू के समान ही उद्गीथ का भी क्रतु के साथ अव्यभिचरित ( नित्य ) सम्बन्ध है, अतः ज्योतिष्टोमरूप प्रधान कर्म के विधायक वाक्य से ही उद्गीथ का भी विधान सम्पन्न हो जाता है, और ज्योतिष्टोम का स्वर्गरूप फल ही उद्गीथ का हो जाता है, "आपयिता ह वै कामानां भवति" ( छां. १।१।७ ) इस वर्तमानोल्लेखी वाक्य को फल-विधि न मानकर अर्थवादमात्र मानना ही समुचित है, क्योंकि जब उद्गीथ में ज्योतिष्टोमाङ्गत्व निश्चित हो जाता है, तब उसमें स्वतन्त्र फल की आकांक्षा ही नहीं रहती, अत एव महर्षि जैमिनि ने अपना निर्णय दिया है—"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" ( जै. सू. ४।३।१ ) [ अर्थात् पर्ण ( पलाश-काष्ठ ) आदि द्रव्य, अञ्जनादिरूप संस्कार एवं प्रयाजादिरूप अङ्ग कर्म—ये सभी परार्थ (याग के अङ्ग) हैं, स्वतन्त्र फलाकांक्षा से रहित हैं, अतः इनके फलों का निर्देश करनेवाला वाक्य अर्थवादमात्र हैं—"यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोमि" ( तै. सं. ३।५।७।२ ), "यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते" (तै. सं. ६।१।१।५), "वर्म वैतद् यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते" (तै.सं. २।६।१।५)] । क्रतु में पर्णता-नियम के समान ही उद्गीथोपासना भी यजमान को नियमतः ( नित्य ) करनी होगी ।

**सिद्धान्त**—पर्णतादि में फल-श्रुति को अर्थवादरूप मानना उचित ही है, क्योंकि पर्णरूप द्रव्य किसी क्रिया से युक्त होकर ही फल का जनक हो सकता है, साक्षात् नहीं। साक्षात् फल की जनक क्रिया ही होती है, द्रव्यादि नहीं, जैसा कि कहा है—"उत्पत्तिमतः फलदर्शनात्" [ अर्थात् उत्पद्यमान क्रिया ही साक्षात् फल उत्पन्न करती है ]। खदिर-काष्ठ-निर्मित यूप जैसे क्रिया का आश्रय होकर फल-जनक होता है, पर्णमयी जुहू वैसा नहीं, क्योंकि "खादिरो यूपो भवति"—यह वाक्य प्रकरणाधीत और "पर्णमयी जुहूः"—यह वाक्य अनारभ्याधीत है। फलतः वाक्य प्रमाण से उपस्थापित जुहू के साथ ही पर्णता का सम्बन्ध करना होगा, फल के साथ नहीं। अतः वाक्य का तात्पर्य जुहू में पर्णताश्रयता के बोधन में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिष्यसि' ( छा० १।१०।११ ) इति च। अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्धयप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशय-विशेषः कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' ( छा० १।१।१० ) इति। तत्र 'नाना तु' इति विद्वद्विद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते। नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चादित्यत्वे विद्याया उपपद्यते। नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुद्घायेत। सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति

भामती

फलसम्बन्धमपि गमयितुमर्हति, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। उपासनानां तु व्यापारात्मत्वेन स्वत एव फल-सम्बन्धोपपत्तेः। उद्गीथाश्रयणं फले विधानं न विरुध्यते। विशिष्टविधानात् फलाय खलूद्गीथसाधन-कर्मोपासनं विधीयमानं न वाक्यभेदमावहति। ननु कर्माङ्गोद्गीथसंस्कार उपासनं प्रोक्षणादिवत् द्वितीयाश्रुतेरुद्गीथमिति तथा चाञ्जनादिविधिव संस्कारेषु फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। मैवम्, नह्यत्रोद्गीथ-स्योपासनं किन्तु तदवयवस्योङ्कारस्येत्युक्तमधस्तात्। न चोङ्कारः कर्माङ्गमपि तु कर्माङ्गोद्गीथावयवः। न चानुपयोगमीप्सितम्ः तस्मात् सक्तून् जुहोतीतिवद्विनियोगभङ्गेनोङ्कारसाधनादुपासनात् फलमिति

भामती—व्याख्या

ही मानना होगा, फल-जनकता में नहीं। यदि एक ही वाक्य का पर्णता-जुहू-सम्बन्ध और पर्णता-फल-सम्बन्ध—इन दोनों अर्थों में तात्पर्य माना जाता है, तब वाक्य-भेदरूप दोष प्रसक्त होता है। उद्गीथादि उपासनाएँ स्वयं व्यापारात्मक हैं, अतः उनका फल के साथ सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है, किसी विशिष्ट फल के उद्देश्य से उनका विधान विरुद्ध नहीं। ज्योतिष्टोम कर्म में ही उद्गीथसाधनक उपासना का विधान वाक्य-भेदापादक भी नहीं होता।

**शङ्का**—उक्त उपासना कर्म अङ्गीभूत उद्गीथ का वैसा ही संस्कार कर्म है, जैसे प्रोक्षणादि कर्म व्रीहि का संस्कार, क्योंकि "व्रीहीन् प्रोक्षति" के समान ही "उद्गीथमुपासीत"—इस प्रकार उद्गीथ पदोत्तर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है। अञ्जनादि संस्कारों में फल-प्रतिपादक श्रुति को अर्थवाद कहा जा चुका है, तब फलाय गुण-विधि के समान उद्गीथ उपासना का विधान विरुद्ध क्योंकर न होगा?

**समाधान**—उद्गीथोपासना को संस्कार कर्म नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ उद्गीथ-रूप अङ्ग की उपासना विहित नहीं, अपितु उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार की उपासना विहित है—ऐसा पहले कहा जा चुका है—"व्याप्तेश्चासमञ्जसम्" ( ब्र. सू. ३।३।९ )। ओंकार कर्म ( ज्योतिष्टोम ) का अङ्ग नहीं, अपितु अङ्गरूप उद्गीथ भाग का एक अवयव है। कर्माङ्गत्वेन विहित एवं भूत या भावी काल में उपयोगी व्रीह्यादि द्रव्य ही संस्कार्यत्वेन ईप्सित ( अभीष्ट ) होते हैं ओंकार कर्माङ्ग न होने के कारण संस्कार्यत्वेन ईप्सित ही नहीं, तब उसकी उपासना को संस्कार कर्म क्योंकर कहा जा सकेगा? फलतः ईप्सितार्थक द्वितीया विभक्ति का यहाँ तृतीया विभक्ति में वैसे ही विपरिणाम होता है, जैसे—"सक्तून् जुहोति"—यहाँ पर सक्तु ( भूने जौ ) किसी कर्म में उपयोगी न होने के कारण 'सक्तुभिर्जुहोति'—ऐसा वाक्य निष्पन्न होता है, [ जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

भूतभाव्युपयोगं हि संस्कार्यं द्रव्यमिष्यते।
सक्तवो नोपयोक्ष्यन्ते नोपयुक्ताश्च ते क्वचित्॥ (तं. वा. पृ. ४११) ]

'सक्तुभिः' के समान ही 'अक्षीरेण' ऐसा तृतीयान्त प्रयोग करके ओंकारसाधक उपासना

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितिः। तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते—'कल्पन्ते ह्यस्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्येवमादीनि। नचेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्। तथा हि गुणवाद आपद्येत। फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः। प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। तथानारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसंबन्धोऽवकल्पते। गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बैल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, नतु पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति। वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्। उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते। तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम्। अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥

---

## ( २८ प्रदानाधिकरणम् । सू० ४३ )

### प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

वाजसनेयके 'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे (बृ० १।५।२१) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः श्रेष्ठोऽवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—

भामती

सम्बन्धः। तस्माद् यथाक्रत्वाश्रयाण्यपि गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यानि एवमुद्गीथाद्युपासनानीति द्रष्टव्यम्। शेषमुक्तं भाष्ये।

❀ न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रम् इति ❀। अर्थवादमात्रत्वेऽत्यन्तपरोक्षा वृत्तिर्यथा न तथा फलपरत्वेन तु वर्त्तमानापदेशात् साक्षात्फलं प्रतीति। अत एव प्रयाजादिषु नार्थवादाद्वर्त्तमानापदेशात् फलकल्पना। फलपरत्वे त्वस्य न शक्यं प्रयाजादीनां पारार्थ्येनाफलत्वं वक्तुमिति ॥ ४२ ॥

---

भामती—व्याख्या

का फल के साथ सम्बन्ध किया जाता है। सारांश यह है कि जैसे क्रतु में अपेक्षित गोदोहनादि पात्रों के द्वारा पशुरूप विशेष फल की इच्छा होने पर ही जल-प्रणयन किया जाता है—"गोदोहनेन पशुकामस्य" (आप. श्रौ. १।१६।२)। विशेष फल की इच्छा न होने पर चमस पात्र में आचमनादि के लिए जल भर कर रखा जाता है—"चमसेनापः प्रणयति" (आप. श्रौ. १।१५।३) गोदोहन पात्र में जल-प्रणयन के समान ही ओंकारोपासन भी अनियत (अनित्य) कर्म पर्यवसित होता है। शेष वक्तव्य भाष्य में प्रदर्शित है—"न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रम्"। अर्थात् उक्त वाक्य को अर्थवादमात्र मानने पर अत्यन्त गौणार्थकता आ जाती है और फल-विधि मानने पर वैसा नहीं होता। वहाँ वर्तमानार्थक पद का प्रयोग होने से साक्षात् फल-सम्बन्ध की प्रतीति होती भी नहीं, अत एव प्रयाजादि में वर्तमानार्थक पद से घटित अर्थवाद-वाक्य ("वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते"—इस वाक्य) के द्वारा फल की कल्पना नहीं की जाती, क्योंकि प्रयजादि को फलपरक मानने पर यह नहीं कहा जा सकेगा कि प्रयाजादि परार्थ (दर्शपूर्णमास के अङ्ग) होने के कारण स्वतन्त्र फल के जनक नहीं ॥४२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वायुर्वाव संवर्गः' ( छा० ४।३।१ ) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारितः 'प्राणो वाव संवर्गः' ( छ० ४।३।२ ) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः—किं पृथगेवैमौ वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति। अपृथगेवेति तावत्प्राप्तम्, तत्त्वाभेदात्। न ह्यभिन्ने तत्त्व पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' ( ऐ० २।४ ) इत्यारभ्य। तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' ( बृ० १।५।१३ ) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति। तथाऽन्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति। क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति स्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति। तथोदाहृतेऽपि बाजसनेयिब्राह्मणे यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणाद्धा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' ( बृ० १।५।२३ ) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति। 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३ ) इति च प्राणव्रतेनैकेनोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति। तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' ( छा० ४।३।६ ) इत्येकमेव संवर्गं गमयति, न ब्रवीत्येक एकेषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति। तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति।

भामती

तत्तत्श्रुत्यर्थालोचनया वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदे सिद्धे तदधीननिरूपणतया सद्विषयोपासनाप्यभिन्ना। न चाध्यात्माधिदैवगुणभेदाद् भेदः। नहि गुणभेदे गुणवतो भेदः, नह्यग्निहोत्रं जुहोतीति उत्पन्नस्याग्निहोत्रस्य तण्डुलादिगुणभेदाद् भेदो भवति। उत्पद्यमानकर्मसंयुक्तो हि गुणभेदः कर्मणो भेदकः। यथामिक्षावाजिनसंयुक्तयोः कर्मणोर्नोत्पन्नकर्मसंयुक्तः। अध्यात्माधिदैवोपदेशेषु चोत्पन्नोपासनासंयोगः। तथोपक्रमोपसंहारालोचनया विद्यैकत्वविनिश्चयादेकैव सकृत्प्रवृत्तिरिति पूर्वपक्षः।

भामती—व्याख्या

**संशय**—संवर्ग-विद्या में 'वायु' और 'प्राण' शब्द अभिन्नार्थक हैं ? या नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—कथित श्रुत्यर्थों की पर्यालोचना करने पर वायु और प्राण—इन दोनों पदार्थों का एक ही स्वरूप सिद्ध होता है, अतः वायु और प्राण की उपासना भी अभिन्न ही सिद्ध होती है, क्योंकि उन दोनों पदार्थों के अधीन ही उपासनाएँ हैं। अध्यात्म ( शरीर-सम्बन्धी ) पदार्थ को प्राण और अधिदेव ( देवान्तर्गत ) पदार्थ को वायु कहते हैं—इस प्रकार का गुण-भेद-प्रयुक्त भेद सिद्ध करना भी सम्भव नहीं, क्योंकि गुणों का भेद रहने पर भी गुणी पदार्थों का अभेद देखा जाता है, जैसे कि "अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य से विहित अग्निहोत्र कर्म का उसके दधि, तण्डुलादि गुणों ( अङ्ग द्रव्यों ) के भेद से भेद नहीं होता, क्योंकि उत्पद्यमान कर्म से सम्बन्धित ( उत्पत्ति-शिष्ट ) गुणों का भेद ही कर्म का भेदक होता है, जैसे "तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्"—यहाँ दो समान-उत्पत्ति-वाक्य हैं—एक में आमिक्षा और दूसरे में वाजिन गुण प्रतिपादित है, दोनों गुण अपने अपने कर्म को एक-दूसरे से भिन्न सिद्ध करते है, जैसा कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—"गुण-श्चापूर्वसंयोगे वाक्यैः समत्वात्" ( जै. सू. २।२।२३ )। जैसे उत्पत्ति वाक्य में उत्पद्यमान कर्म-सम्बन्धी गुण कर्म का भेदक होता है, वैसे उत्पन्न कर्म-सम्बन्धी गुण कर्म का भेदक नहीं होता। अध्यात्मिक और आधिदैविक उपासनाओं में आध्यात्मिकत्वादि गुण उत्पन्न उपासना के हैं एवं उपक्रम और उपसंहार की पर्यालोचना से विद्या ( उपासना ) की एकता सिद्ध होती है, अतः एक साथ ही प्राण और वायुरूप उभयका अनुचिन्तन करना चाहिए।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति। कस्मात्? पृथगुपदेशात्। आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः, सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात्। ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति, नैष दोषः, तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः। श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात्। 'स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात्। एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः। 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः। भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे, (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः। न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १।५।२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात्। 'एकमेव व्रतं चरेत्' (बृ० १।५।२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इति वायुप्राप्ति फलं ब्रुवन्वायुव्रतनिवर्तितं दर्शयति। देवतेत्यत्र वायुः स्यात्, अपरिच्छिन्नात्मकत्वस्य प्रेप्सितत्वात्। पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति। तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४।३।८) इति च भेदेनोपसंहरति। तस्मात्पृथगेवोपगमनम्। प्रदानवत्—यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ सर्वेषामभिगमयन्नवच-

भामती

राद्धान्तस्तु—सत्यं विद्यैकत्वम्। तथापि गुणभेदात् प्रवृत्तिभेदः। सायंप्रातःकालगुणभेदाद्यथैकस्मिन्नपि अग्निहोत्रे प्रवृत्तिभेदः। एवमिहापि अध्यात्माधिदैवगुणभेदादुपासनस्यैकस्यापि प्रवृत्तिभेद इति सिद्धम्। ❀ आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः इति ❀। अग्निहोत्रस्येवाध्यानस्य कृते वधितण्डुलादिवदयं पृथगुपदेशः। ❀ एतेन व्रतोपदेशः इति ❀। एतेन तत्त्वाभेदेन। एवकारश्च वागादिव्रतनिराकरणार्थः। नन्वेतस्यै देवतायै इति देवतामात्रं श्रूयते, न तु वायुस्तत्कथं वायुप्राप्तिमाह इत्यत आह ❀ देवतेत्यत्र वायुः इति ❀। वायुः खल्वग्न्यादीन् संवृणुत इत्यग्न्यादीनपेक्ष्यानवच्छिन्नोऽग्न्यावयस्तु तेनैवावच्छिन्ना इति संवर्गगुणतया वायुरनवच्छिन्ना देवता। ❀ सर्वेषामभिगमयन् इति ❀। मिलितानां

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—यह सत्य है कि प्रक्रान्त विद्या की एकता स्थिर है। तथापि गुणों के भेद से प्रवृत्ति या प्रयोग का भेद मानना होगा। जैसे सायं और प्रातः रूप गुणों के भेद से एक ही अग्निहोत्र कर्म का प्रयोग-भेद माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी अध्यात्म और अधिदेवरूप गुणों के भेद से एक ही उपासना का प्रयोग भिन्न सिद्ध होता है। "आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः"—इस भाष्य का आशय यह है कि जैसे अग्निहोत्र कर्म का अभेद होने पर भी उत्पन्न-शिष्ट दध्यादि गुणों के द्वारा प्रयोग-भेद होता है, वैसे ही अनुचिन्तन के लिए आध्यात्मादि-भेद का उपदेश किया गया है। "एतेन व्रतोपदेशः"—यहाँ 'एतेन' का अर्थ है—तत्त्वाभेदेन। "एकमेव व्रतम्" (बृह. उ. १।५।२३) यहाँ एवकार वागादि-व्रतों की व्यावृत्ति करके प्राण-व्रत, का बोधक है। "एतस्यै" (बृह. उ. १।५।२३) यहाँ सामान्यतः देवता का उल्लेख है विशेषतः (वायु के रूप में) उपदेश नहीं, तब वायु देवता की प्राप्ति क्योंकर होगी? इस प्रश्न का उत्तर है—देवतेत्यत्र वायुः स्यात्"। वायु देव अग्न्यादि का संवरण (आच्छादन) करता है, अतः अग्न्यादि वायु से आच्छन्न हैं और

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यछंवट्कारमिति। अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायां राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्वासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति। एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः। तदुक्तं संकर्षे—'नाना वा देवता पृथग् ज्ञानात्' इति। यत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते, नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविधानप्रतीतेः। विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकालभेदात्। इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ॥ ४३ ॥

---

## ( २९ लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम् । सू० ४४–५२ )

### लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे

भामती

श्रवणाविशेषाद् इन्द्रस्य देवताया अभेदात्। त्रयाणामपि पुरोडाशानां सहप्रदानाशङ्कायामुत्पत्तिवाक्य एव राजाधिराजस्वराजगुणभेदात्। याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च। यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात् प्रदानपृथक्त्वं भवति। सहप्रदाने हि व्यत्यासविधानमनुपपन्नम्। क्रमवति प्रदाने व्यत्यासविधिरर्थवान्। तथाविधस्यैव क्रमस्य विवक्षितत्वात्। सुगममन्यत् ॥ ४३ ॥

---

इह सिद्धान्तेनोपक्रम्य पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तयति। तत्र यद्यपि भूयांसि सन्ति लिङ्गानि मनश्चि-

भामती—व्याख्या

वायु अनाच्छन्न। संवर्ग गुण का आश्रय होने के कारण वायु अनवच्छिन्न देवता है। "सर्वेषामभिगमयन्" [ तीन पुरोडाशवाली इस इष्टि में सभी अर्थात् राजा इन्द्र, अधिराजा इन्द्र और स्वराजा इन्द्र—इन तीनों देवताओं को हवि की प्राप्ति कराने के लिए तीनों पुरोडाश पिण्डों से निर्धारित भाग का अवदान ( अवखण्डन ) करता है ] इस वाक्य के द्वारा तीनों देवताओं का मिलित एकरूप प्रतिपादित होने के कारण उक्त तीनों इन्द्र अभिन्न हैं, अतः तीनों पुरोडाशों का एकसाथ प्रदान किया जाय—ऐसी शङ्का उपस्थित होती है, किन्तु तीनों कर्मों के उत्पत्ति-वाक्यों में उपदिष्ट राजा, अधिराजा और स्वराजा—इन तीन गुणों के भेद से देवताओं और उन के तीनों कर्मों का भेद निर्णीत होता है। इतना ही नहीं उक्त तीनों पुरोडाश-खण्डों का क्रमशः प्रदान करते समय प्रथम प्रदान में जो याज्या मन्त्र बोला जाता है, वह द्वितीय प्रदान के अवसर पर पुरोऽनुवाक्या माना जाता है। इसी प्रकार प्रथम प्रदान के समय का पुरोऽनुवाक्याख्य मन्त्र द्वितीय प्रदान में याज्या मन्त्र हो जाता है—इस प्रकार का व्यत्यास सहप्रदान में सम्भव न हो कर क्रमिक प्रदान में ही घटता है—इस घटना को ध्यान में रखने पर भी उन तीनों कर्मों का भेद ही स्थिर होता है। शेष भाष्य सुगम है ॥४३॥

---

**विषय**—मनुष्य की पूर्ण आयु एक सौ वर्ष की होती है। सौ वर्षों में छत्तीस हजार दिन होते हैं। प्रत्येक दिन की मानस वृत्ति में अग्निरूपता का सम्पादन करना है।

**संशय**—चयन कर्म के प्रकरण में पठित अग्नियों की उपासना कर्म का अङ्ग है ? अथवा स्वतन्त्र ?

**पूर्वपक्ष**—यहाँ चौवालीसवें सूत्र में सिद्धान्त का उपक्रम, पैंतालीसवें और छियालीसवें सूत्र में पूर्वपक्ष और शेष सूत्रों में सिद्धान्त प्रदर्शित किया गया है।

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोऽधिकृत्याधीयते-'तत्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः, इत्यादि। तथैव 'वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः'

भामती

वादीनां स्वातन्त्र्यसूचकानि। तथापि न तानि स्वातन्त्र्येण स्वातन्त्र्यं प्रति प्रापकाणि। प्रमाणान्तरापितं तु स्वातन्त्र्यमुपोद्बलयन्ति। न चात्रास्ति स्वातन्त्र्यप्रापकं प्रमाणम्। न चेदं सामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं येनास्य स्वातन्त्र्येण प्रापकं भवेत्। तद्धि सामर्थ्यमभिधानस्य वार्थस्य वा स्याद्यथा पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रस्य पूषानुमन्त्रणे यथा वा पशुना यजेतेति एकत्वसंख्याया अर्थस्य संख्येयावच्छेदसामर्थ्यम्। न चेदमन्यस्यार्थदर्शनलक्षणं लिङ्गं तथा, स्तुत्यर्थत्वेनास्य विध्युद्देशेनैकवाक्यतया विधिपरत्वात्। तस्मादसति सामर्थ्यलक्षणे विरोद्धरि प्रकरणमप्रत्यूहं मनश्चिदादीनां क्रियाशेषतामवगमयति। न च ते हैते विद्याचित एवेत्यवधारणश्रुतिः क्रियानुप्रवेशं वारयति, येन श्रुतिविरोधे सति न प्रकरणं भवेत्; बाह्यसाधनतापाकरणार्थत्वादवधारणस्य। न च विद्यया हैवं विदश्चिता भवन्तीति पुरुषसम्बन्धमापादयद्वाक्यं प्रकरणमपबाधितुमर्हति। अन्यार्थदर्शनं खल्वेतदपि। न च तत्स्वातन्त्र्येण प्रापकमित्युक्तम्। तस्मात्तदपि न प्रकरणविरोधायालमिति साम्पादिका अप्येते अग्नयः प्रकरणात् क्रियानुप्रवेशिन एव मानसवत्। द्वादशाहे

भामती-व्याख्या

यद्यपि मनश्चिदादि अग्नियों में स्वातन्त्र्य (कर्यासम्बन्धित्व) के सूचक अनेक लिङ्ग प्रमाण हैं, तथापि वे (लिङ्ग प्रमाण) मनश्चिदादिगत स्वातन्त्र्य के प्रथम समर्पक नहीं, अपितु अन्य प्रमाणों से अवगमित स्वातन्त्र्य के उपोद्बलक (पोषक) होते हैं किन्तु यहाँ प्रथमतः स्वातन्त्र्य-समर्पक कोई अन्य प्रमाण सुलभ नहीं। यह लिङ्ग प्रमाण भी जैमिनि-सूत्र (३।२) में वर्णित सामर्थ्यात्मक नहीं कि मनश्चिदादि के स्वातन्त्र्य का गमक हो जाता, क्योंकि यदि वह सामर्थ्यात्मक है, तब वह या तो शब्द का सामर्थ्य होगा या पदार्थ का सामर्थ्य, जैसे कि पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्" (का. सं. ४।१६) इत्यादि पूषादि देवताओं के अनुमन्त्रण मन्त्रों का पूषादि देवताओं के प्रकाशन एवं "पशुना यजेत"—यहाँ एकत्व संख्यारूप अर्थ का पशुरूप संख्येय द्रव्य के अवच्छेदकत्व में सामर्थ्य माना जाता है। प्रकृत में लिङ्ग प्रमाण वैसा नहीं, अपितु अन्यार्थदर्शनरूप माना जाता है [श्री कुमारिल भट्ट ने भी इन दोनों का स्वरूप दिखाया है—"द्वे हि तत्र लिङ्गे—परस्परैकवाक्यतागमनसामर्थ्यमेकम्, अर्थाभिधानशक्तिरूपमपरम्। यान्यन्यार्थदर्शनान्यनन्यगतीनि, तेषामपि लिङ्गत्वमभिधास्यते" (तं. वा. पृ. ८४१)]। अन्यार्थदर्शनरूप लिङ्ग स्तुतिपरत्वेन विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता स्थापित करके विधिपरक माना जाता है। फलतः प्रकरण प्रमाण के विरोधी सामर्थ्यात्मक लिङ्ग प्रमाण के न रहने पर प्रकरण प्रमाण अबाधगति से मनश्चिदादि अग्नियों में चयन कर्म का अङ्गत्व सिद्ध करता है। "ते हैते विद्याचितः"—यहाँ एवकारात्मक अवधारण श्रुति कथित अग्निक्रियाङ्गत्व का निराकरण नहीं करती कि श्रुति प्रमाण से विरुद्ध हो जाने के कारण प्रकरण प्रमाण अकिञ्चित्कर हो जाता। मानस वृत्ति से भिन्न इष्टकादि बाह्य साधनों का निराकरण करने के लिए अवधारण का प्रयोग किया गया है।" विद्यया हैवै त एवंविदश्चिता भवन्ति" [एवंविद् पुरुष की अग्नियाँ केवल मानस वृत्ति के द्वारा चित(सम्पादित) होती है] इस प्रकार जब इन अग्नियों का किसी पुरुष के द्वारा चयन किया जाता है, तब अपौरुषेय वेद के चयन-प्रकरण से इन का सम्बन्ध क्या? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह पुरुष-सम्बन्ध-प्रतिपादन भी अन्यार्थ-दर्शन रूप लिङ्ग प्रमाण है, जो कि किसी अन्य प्रमाण की सहायता के विना स्वतन्त्र पुरुष-सम्बन्ध प्रापक नहीं हो सकता, अतः वह भी प्रकरण प्रमाण का विरोध नहीं कर सकता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति पृथगग्नीनामनन्ति सांपादिकान्। तेषु संशयः—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूताः, उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका इति। तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते—लिङ्गभूयस्त्वादिति। भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन् ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते-'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः इति, 'तान् हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः, तदप्युक्तं पूर्वस्मिन् काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इति ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तम्—स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता इति। पूर्वस्य क्रियामय-

---

भामती

तु श्रूयते—अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनो ग्रहं गृह्णामीति।

तत्र संशयः—किं मानसं द्वादशाहावहरन्तरमुत तन्मध्यपातिनो दशमस्याह्नोऽङ्गमिति। तत्र वाग्वै द्वादशाहो मनो मानसमिति मानसस्य द्वादशाहाद् भेदेन व्यपदेशाद् वाङ्मनसभेदवद्भेदः। निर्धूतानि द्वादशाहस्य गतरसानि छन्दांसि तानि मानसेनैवाप्यायन्तीति च द्वादशाहस्य मानसेन स्तूयमानत्वाद्भेदे च सति स्तुतिस्तुत्यभावस्योपपत्तेः। द्वादशाहावहरन्तरं न तवङ्गं पत्नीसंयाजान्तत्वाच्चाह्ना पत्नीः संयाज्य मानसाय प्रसर्पन्तीति च मानसस्य पत्नीसंयाजस्य परस्तात् श्रुतेः। त्रयोदशाहेऽ-

---

भामती—व्याख्या

प्रक्रान्त अग्नियों साम्पादिक (आरोपित) हो कर भी प्रकरण के अनुसार अग्निचयनरूप कर्म से सम्बन्धित, वैसे ही हैं, जैसे मानसाह। पूर्वमीमांसा में मानसाहरधिकरण के विषयादि इस प्रकार है—

विषय—द्वादशाह के प्रकरण में श्रुति है—"अनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णामि" [ यहाँ प्रजापति देवता के लिए समुद्ररूपी सोम-रस का ग्रहण पृथिवीरूपी पात्र में करना है। रूपक की कल्पना मानसी है, अतः इस ग्रहण को मानस ग्रहण या मानसाह कहा जाता है ]।

संशय—उक्त मानस अहर् क्या द्वादशाह से भिन्न है? अथवा द्वादशाह के अन्तिम दिन का अङ्ग है।

पूर्वपक्ष—"वाग् वै द्वादशाहो मनो मानसम्"—यहाँ यह प्रस्फुटित हो जाता है कि जैसे वाक् से मन भिन्न होता है, वैसे ही द्वादशाह से मानसाह भिन्न है। इतना ही नहीं, अपितु "निर्धूतानि द्वादशाहस्य गतरसानि छन्दांसि, तानि मानसेनैवाप्यायन्ति"—इस वचन में कह दिया गया कि द्वादशाह के रस-रहित छन्द मानस से रसाप्लावित हो जाते हैं, अतः मानसाह कभी द्वादशाह का अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि मानस के द्वारा द्वादशाह की जो स्तुति की गई है, वह अभेद-पक्ष में कभी नहीं बन सकती, अतः स्तुति-स्तुत्यभाव की उपपत्ति के लिए यह मानना आवश्यक है कि मानस द्वादशाह से भिन्न है, द्वादशाह का अङ्ग नहीं। अहर्गण कर्म पत्नीसंयाज-पर्यन्त माने जाते हैं किन्तु मानस के लिए कहा गया है कि "पत्नीः संयाज्य मानसाय प्रसर्पन्ति"—इस प्रकार पत्नीसंयाज कर्म के अनन्तर मानस का अनुष्ठान सिद्ध होता है। तेरहवें दिन भी द्वादशत्व संख्या का समवाय मान कर 'द्वादशाह' संज्ञा की प्रवृत्ति गौणी वृत्ति से की जा सकती है, अतः वस्तुतः द्वादशाह से सर्वथा भिन्न मानसाह भी कथंचित द्वादशाह संज्ञा का संज्ञी हो सकता है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यान्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः, सत्यमेवमेतत्, लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्बलीयो भवति। अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं कं प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः, मानसवत्। यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्य-

भामती

प्यवयुत्य द्वादशसख्यासमवायात् कथञ्चिज्जघन्ययापि वृत्त्या द्वादशाहे संज्ञाविरोधाभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते—प्रमाणान्तरेण हि त्रयोदशत्वेऽह्नां सिद्धे द्वादशाह इति जघन्यया वृत्त्योक्षीयेत। न त्वस्ति तादृशं प्रमाणान्तरम्। न च व्यपदेशभेदोऽहरन्तरत्वं कल्पयितुमर्हति, अङ्गाङ्गिभेदेनापि तदुपपत्तेः। अतएव च स्तुत्यस्तावकभावस्याप्युपपत्तिः। देवदत्तस्येव दीर्घैः केशैः। पत्नीसंयाजान्तता तु यद्यप्यौत्सर्गिकी तथापि दशमस्याह्नो विशेषवचनान्मानसानि ग्रहणासादनहवनादीनि पत्नीसंयाजात्पराञ्चि भविष्यन्ति। किमिव हि न कुर्याद् वचनमिति। एष वै दशमस्याह्नो विसर्गो यन्मानसमिति वचनात्। दशमाहरङ्गता गम्यते विसर्गोऽङ्गतोऽङ्गवतो धर्मो न स्वतन्त्र इति। दशमेऽहनि मानसाय प्रसर्पन्तीति दशमस्याह्न आधारत्वनिर्देशाच्च तदङ्गं मानसं नाहरन्तरमिति सिद्धम्। तदिह द्वादशाहसम्बन्धिनो दशमस्याह्नोऽङ्गं मानसमिति धर्ममीमांसासूत्रकृतोक्तम्। दशरात्रस्यापि दशमस्याह्नोऽङ्गमिति भगवान् भाष्यकारः। श्रुत्य-

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त**—यदि किसी प्रमाणान्तर से यह निर्णीत हो जाता कि द्वादशाह से भिन्न मानसाह तेरहवें दिन का कृत्य है और जघन्य (गौणी) वृत्ति के द्वारा उसे द्वादशाह शब्द कहता है, किन्तु वैसा कोई प्रमाणान्तर सुलभ नहीं। केवल शब्द (मानसाह) का व्यवहार तेरहवें दिन की कल्पना नहीं करा सकता, क्योंकि द्वादशाह का अङ्ग मान लेने पर भी उसका प्रतिपादन शब्दान्तर के द्वारा हो सकता है, अत एव स्तुत्यस्तावकभाव भी उपपन्न हो जाता है, क्योंकि अङ्ग की स्तुति के द्वारा अङ्गी की वैसे ही स्तुति हो सकती है, जैसे लम्बे-लम्बे सुन्दर केशों के द्वारा देवदत्त की स्तुति की जाती है—"शोभनो देवदत्तः" (शाबर. पृ. २००७)। यह जो कहा गया कि पत्नीसंयाज कर्म-पर्यन्त ही द्वादशाह कर्म पूर्ण माना जाता है, वहाँ यद्यपि पत्नीसंयाज-पर्यन्तता औत्सर्गिक है, तथापि वचन-विशेष के द्वारा बारहवें दिन ही पत्नीसंयाज कर्म के पश्चात् मानस ग्रहण, आसादन और हवनादि किए जाते हैं, क्योंकि वचन-विशेष क्या नहीं कर सकता?

"एष वै दशमस्याह्नो विसर्गो यन्मानसम्"—इस वचन के द्वारा मासाह को बारहवें दिन का विसर्ग (समापन) कहा गया है, विसर्ग (समाप्ति) एक ऐसा धर्म है, जो अपने धर्मीभूत कर्म की पूर्णाहुति के समान अङ्ग ही होता है, स्वतन्त्र नहीं। "दशमेऽहनि मानसाय प्रसर्पन्ति"—इस प्रकार बारहवें दिन को ही मानस कर्म का आधार काल माना गया है, फलतः द्वादशाह का अङ्ग ही मानसाह सिद्ध होता है, अहरान्तर नहीं। धर्म-मीमांसा-सूत्रकार महर्षि जैमिनि ने भी यही निर्णय दिया है कि मानसाह द्वादशाह का अङ्ग है—"अहरङ्गं वांऽशुवच्चोदनाभावात्" (जै. सू. १०।६।३८) [मानसाह द्वादशाह का अङ्ग कर्म है, क्योंकि अंशु और अदाभ्य ग्रहों (पात्रों) के समान उसका पृथक् विधान नहीं किया गया है]। भाष्यकार श्री शबरस्वामी ने भी कहा है कि "विशेषेण तु दशमस्याह्नो मानसान्ततोच्यते—पत्नीः संयाज्य प्राञ्च उदेत्य मानसाय प्रसर्पन्तीति। नास्ति वचनस्यातिभारः" (शाबर. पृ. २००७) [अर्थात् द्वादशाह कर्म की दशरात्र कर्म प्रकृति है। दशरात्र के दशम दिन में मानसाह का विधान किया गया है, अतः अतिदेश वाक्य के द्वारा द्वादशाहान्तर्गत दशम दिन में भी मानस कर्म

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सीमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

## अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशश्चैषामग्नीनां क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति । सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तते । ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्निना साम्पादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेवैषां द्योतयति ॥ ४६ ॥

## विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेषभूताः । तथा हि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव' इति, 'विद्यया हैवत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति च ॥ ४७ ॥

## दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम् । तत्पुरस्तादर्शितम्—'लिङ्गभूयस्त्वात्' ( ब्र० सू० ३।३।४४ ) इत्यत्र ॥ ४८ ॥

---

भामती

न्तरबलेनाह ॐ यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्य इतिॐ अविवाक्य इति दशमस्याह्नो नाम ॥४४-४५॥

नहि साम्पादिकानामग्नीनामिष्टकासु चितेनाग्निना किञ्चिदस्ति सादृश्यमन्यत्र क्रियानुप्रवेशात् । तस्मादपि न स्वतन्त्र इति प्राप्ते, अभिधीयते ॥ ४६ ॥

मा भूदन्येषां श्रुतिविध्युद्देशानामन्यार्थदर्शनानामप्राप्तप्रापकत्वमेतेषु त्वश्रुतविध्युद्देशेषु वचनानि स्वपूर्वत्वादिति न्यायाद् विधिरुन्नेतव्यस्तथा चैतेभ्यो यादृशोऽर्थः प्रतीयते तदनुरूप एव स भवति । प्रतीयते चैतेभ्यो मनश्चिदादीनां सातत्यं चावधारणं च फलभेदसमन्वयश्च पुरुषसंबन्धश्च । न चास्य गोदोहनादिवत् क्रत्वर्थाश्रितत्वं येन पुरुषार्थस्य कर्मपारतन्त्र्यं भवेत् । न च विद्याचित एवेत्यवधारणं

---

भामती—व्याख्या

की प्राप्ति होती है ]। शाबर भाष्योदाहृत श्रुति के ही बल पर कहा जाता है—"यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये" । 'अविवाक्यम्'—यह दशम दिन की संज्ञा है ( सत्याषाढ़ १६।४।२-७ ) इस मानसाह में विस्पष्ट या विविध वाक्यों का प्रयोग नहीं होता, अतः यह विवाक्य-रहित है ॥ ४४, ४५ ॥

"तावान् यावानसौ पूर्वः"—इस प्रकार इन मानस अग्नियों में इष्टका-चयन-सम्पादित अग्नियों का जो सादृश्य प्रतिपादित है, वह केवल क्रियानुप्रवेशित्वेन ही सम्भव है, अतः क्रियाननुप्रवेशित्वरूप स्वातन्त्र्य इन अग्नियों में सम्भव नहीं ॥ ४६ ॥

**सिद्धान्त**—जिनके प्रकरण में विधि-वाक्य श्रुत है, ऐसे अन्यार्थदर्शनरूप ( अन्य प्रयोजनक कर्म के बोधक ) वचन अप्राप्त ( अपूर्व ) अर्थ के विधायक यदि नहीं होते, तब न सही किन्तु जिनके प्रकरण में विधायक वाक्य श्रुत नहीं, ऐसे वचन अप्राप्त-प्रापक माने जाते हैं, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"वचनानि त्वपूर्वत्वात् तस्माद् यथोपदेशं स्युः" ( जै. सू. ३।५।२१ ) अर्थात् मनश्चिदादि के बोधक वचन अप्राप्तार्थ के प्रापक होने के कारण स्वतन्त्र ( क्रियाननुप्रवेशी ) अग्नियों के प्रापक है, अतः इन वाक्यों का जैसा अर्थ प्रतीत होता है, वैसा ही मानना होगा । इन वचनों से मनश्चिदादि अग्नियों की उपासना में सातत्य (निरन्तरता), अवधारण, फल-भेद एवं पुरुष-सम्बन्ध । 'गोदोहन' पात्र में जल-प्रणयन करना

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु लिङ्गमप्यसत्यामनस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्प्रकरण-सामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसितमित्यत उत्तरं पठति—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेषत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो बाधितव्यः, श्रुत्यादेर्बलीयस्त्वात्। बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्ग-सूत्रे। तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते। कथम्? श्रुतिस्तावत्—'ते हैते विद्याचित एव' इति। तथा लिङ्गम्—'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। तथा वाक्यमपि—'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति। 'विद्याचित एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात्। नन्ववाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति। नेत्युच्यते, तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्। स्वरूपमेव ह्येषामबाह्यसाधनमिति। अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति। तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते। यथा साम्पादिके वाक्यप्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति चोक्त्वोच्यते—'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौषी० २।५) इति, तद्वत्। क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्यालपकालत्वेन न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत। न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम्। यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङ्गादिरुपलभ्यते युक्तं तत्र संकीर्तनमात्रस्यार्थवादत्वम्, इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः संकीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्पनीयम्। तच्च यथा-संकीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव कल्प्यते। ततश्च

भामती

बाह्यसाधनापाकरणार्थम्, स्वभावत एव विद्याया बाह्यानपेक्षत्वसिद्धेः। तस्मात् परिशेषान्मानसग्रहवत् क्रियानुप्रवेशशङ्कापाकरणार्थमवधारणम्। न चैवमर्थत्वे सम्भवति द्योतकत्वमात्रेण निपातश्रुतिः पीडनीया। तस्मात् श्रुतिलिङ्गवाक्यानि प्रकरणमपोह्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनामवगमयन्तीति सिद्धम्। अनुबन्धातिदेशश्रुत्यादिष्वप्येवमेव विज्ञेयम्। ते च भाष्य एव स्फुटाः।

भामती—व्याख्या

क्रतु के अङ्गभूत गोदोहन के आश्रित होने से क्रतु-सम्बन्धी है किन्तु मनश्चिदादि अग्नियाँ क्रतु की अङ्ग नहीं, अतः उनकी विद्या (उपासना) का क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, अतः वह स्वतन्त्र पुरुषार्थ है, स्वतन्त्र है, परतन्त्र नहीं। 'विद्याचित एव' यहाँ पर एवकाररूप अवधारण के द्वारा इष्टकादि बाह्य साधनों का अपाकरण नहीं किया जाता, क्योंकि साम्पादिक उपासनाएँ निसर्गतः बाह्य निरपेक्ष होती हैं। परिशेषतः मानस ग्रह के समान क्रिया-प्रवेश की शङ्का का निराकरण करने के लिए एवकार का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार जब एवकार की सार्थकता हो जाती है, तब निपात पदों में अन्यतः प्राप्त पदार्थ की द्योतकता में पर्यवसान मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फलतः श्रुति, लिङ्ग और वाक्य प्रमाण प्रकरण प्रमाण का बाध करके मनश्चिदादि में क्रिया-प्रवेश-निरपेक्षत्वरूप स्वातन्त्र्य की अवगति कराते हैं यह सिद्ध हो गया।

पचासवें सूत्र में अनुबन्ध, छियालीसवें में अतिदेश और उनचासवें में श्रुत्यादि के द्वारा भी स्वातन्त्र्य ही सिद्ध किया गया है। उनका स्फुटीकरण भाष्य में सम्यक् किया जा चुका है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः। एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि—व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि 'एवंविदे' इति पुरुषविशेषसंबन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसंबन्धं मृष्यते। तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

इतश्च प्रकरणमुपसृत्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्। यत्क्रियावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबध्नाति—'ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव क्रियते' इत्यादिना। संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः। न च प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः संपदा लिप्सितव्याः। न चात्रोद्गीथोपासनवत्क्रियाङ्गसंबन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यम्, श्रुतिवैरूप्यात्। नह्यत्र क्रियाङ्गं किंचिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यवसितव्यमिति वदति। षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति, पुरुषयज्ञादिवत्। संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्संबन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम्। एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासंभवं योजयितव्यम्। तथा हि—'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्यातिदिशन्क्रियायामनादरं दर्शयति। नच सत्येव क्रियासंबन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति, तेनोत्तर उपकर्तुं शक्नुवन्ति। यत्तु पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं—सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत इति—तदस्मत्पक्षेऽग्नित्वसामान्येनातिदेशसंभवात्प्रत्युक्तम्। अस्ति हि सांपादिकानामप्यग्नीनामग्नित्वमिति। श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि। एवमनुबन्धादिभ्यः कारणेभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबन्धेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्यः प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति। दृष्टश्चावेष्टे

---

भामती

यदुक्तं पूर्वपक्षिणा क्रत्वङ्गत्वे पूर्वेणेष्टकाचितेन मनश्चिदादीनां विकल्प इति। तदतुल्यकार्यत्वेन दूषयति ॥ न च सत्येव क्रियासम्बन्धे इति ॥। अपि च पूर्वापरयोर्भागयोर्विद्याप्राधान्यदर्शनात् तन्मध्यपातिनोऽपि तत्सामान्याद् विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते न कर्माङ्गत्वमित्याह सूत्रेण—"परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः"। स्फुटमस्य भाष्यम्।

---

भामती—व्याख्या

पूर्वपक्षी यदि कहना चाहे कि मनश्चिदादि अग्नियाँ भी क्रतु का अङ्ग हैं और इष्टका-चित अग्नियाँ भी, इन दोनों अग्नियों का विकल्प होता है। तो उस विकल्प का यह दिखा कर निरास किया जाता है कि विकल्प सदैव समानार्थक व्रीहि-यवादि पदार्थों का होता है किन्तु दोनों प्रकार की अग्नियाँ तुल्यार्थक नहीं—"न च सत्येव क्रियासम्बन्धे"। दूसरी बात यह भी है कि मनश्चिदादि अग्नियों के पूर्वापर सन्दर्भ को देखते हुए विद्या का प्राधान्य ही प्रतीत होता है, क्रियाङ्गत्व नहीं, अतः मध्यपाती मनश्चिदादि अग्नियों में विद्या-प्राधान्य ही स्थिर होता है, कर्माङ्गत्व नहीं—"परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात् त्वनुबन्धः" इस सूत्र का भाष्य अत्यन्त सुगम है।

[ पचासवें सूत्र में निर्दिष्ट "दृष्टश्च" पद की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं—"दृष्टश्चा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राजयङ्क्त्वाच्च राजसूयस्य। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्' (जै० सू० ११।४।७) इति ॥ ५० ॥

---

भामती

अस्ति राजसूयः—राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेतेति। तं प्रकृत्यामनन्ति। अवेष्टिं नामेष्टिम्—आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणेत्येवमादि, तां प्रकृत्याधीयते—यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाभिघारयेद्यदि वैश्यो वैश्वदेवं यदि राजन्य ऐन्द्रमिति। तत्र सन्दिह्यते किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणमुत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयत इति। अत्र यदि प्रजा-पालनकण्टकोद्धरणादि कर्म राज्यं तस्य कर्त्ता राजेति राजशब्दस्यार्थः। ततो राजा राजसूयेन यजेतेति राज्यस्य कर्त्तृ राजसूयेऽधिकारः। तस्मात् सम्भवन्त्यविशेषेण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या राज्यस्य कर्त्तार इति सिद्धम्। सर्व एवैते राजसूये प्राप्ता इति। यदि ब्राह्मणो यजेतेत्येवमादयो निमित्तार्थाः श्रुतयः। अथ

---

भामती—व्याख्या

वेष्टे राजसूयप्रकरणपठितायाः प्रकरणादुत्कर्षः"। अर्थात् जब मनश्चिदादि का प्रकरण प्रमाण बाधित हो गया, तब इनका अपने प्रकरण से वैसे ही उत्कर्ष (विच्छेद) समझ लेना चाहिए, जैसे कि 'अवेष्टि' कर्म का देखा गया है] अवेष्ट्यधिकरण का स्वरूप इस प्रकार है—

विषय—"अस्ति राजसूयः 'राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति। तत्प्रकृत्यामनन्ति अवेष्टिं नामेष्टिम् 'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा'। तां प्रकृत्य विधीयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत् बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्" (शाबर. पृ. ५७८) अर्थात् "राजा रासूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" (आप. श्री. १।८।१।४) इस वाक्य के द्वारा विहित राजसूय यज्ञ के प्रकरण में अवेष्टिसंज्ञक पाँच इष्टियाँ विहित हैं—(१) "आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा", (२) "ऐन्द्रमेकादशकपाल-मृषभो दक्षिणा", (३) "वैश्वदेवं चरुं पिषङ्गी पष्ठौही दक्षिणा", (४) "मैत्रावरुणीयामिक्षां वशा दक्षिणा", (५) "बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा"। इन इष्टियों का विधान करने के अनन्तर एक नियम व्यवस्थित किया है—"यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं चरुं मध्ये निधाया-हुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेद्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्"। अर्थात् यदि ब्राह्मण इन अवेष्टियों को करे, तब बार्हस्पत्य चरु द्रव्य को मध्य में रखकर प्रत्येक आहुति डालने के पश्चात् शेष घृत से उस चरु का अभिघारण करता (बघार लगाता) जाय, यदि वैश्य करे तब वैश्वदेव चरु को और यदि राजन्य करे तब ऐन्द्र पुरोडाश को मध्य में रखकर अभिघारण करे।

संशय—"किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणम्? उत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयते? (शाबर. पृ. २७८)। [अर्थात् क्या राज्यकर्तृत्वरूप निमित्त को लेकर ब्राह्मणादि में प्राप्त राजत्व और राजत्व-प्रयुक्त प्राप्त राजसूय एवं अवेष्ट्यादि के सम्बन्ध को उद्देश्य करके हविर्कर्मक मध्यनिधानमात्र का विधान किया जाता है? अथवा ब्राह्मणादि के लिए अवेष्टिसंज्ञक स्वतन्त्र कर्म का विधान किया जाता है?]

यहाँ यदि प्रजा-पालन और कण्टकोद्धरणादिरूप कर्म ही राज्य पदार्थ है, उस राज्य के कर्त्ता को राजा कहा जाता है, तब तो राज्य के कर्त्ता ब्राह्मणादि का भी राजसूय में अधिकार प्राप्त हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये सभी समानरूप से राज्य के कर्त्ता हो सकते हैं, अतः राजसूय में सभी प्राप्त हैं। इस पक्ष में "यदि ब्राह्मणो यजेत"—इत्यादि श्रुतियाँ निमित्तार्थक हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

यदुक्तं—मानसवदिति, तत्प्रत्युच्यते। न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम्, पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। नहि किंचित्कस्यचित्केनचित्सामान्यं न संभवति। न च तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते। मृत्युवत्। यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' ( बृ० ३।२।१० ) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः। यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' ( छा० ५।४।१ ) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

भामती

तु राज्ञः कर्म राज्यमिति राजकर्तृयोगात् तत्कर्म राज्यं ततः को राजेत्यपेक्षायामार्य्येषु तत्प्रसिद्धेरभावात् पिकनेमतामरसादिशब्दार्थावधारणाय म्लेच्छप्रसिद्धिरिवान्ध्राणां क्षत्रियजातौ राजशब्दप्रसिद्धिस्तदवधारणकारणमिति क्षत्रिय एव राजेति न ब्राह्मणवैश्ययोः प्राप्तिरिति राजसूयप्रकरणं भित्त्वा ब्राह्मणादिकर्तृकाणि पृथगेव कर्माणि श्राव्यन्त इति न नैमित्तिकानि। तत्र किं तावत् प्राप्तं ? नैमित्तिकानीति। राज्यस्य कर्त्ता राजेति। आर्य्याणामान्ध्राणाञ्चाविवादः। तथाहि—ब्राह्मणादिषु प्रजापालनकर्तृषु कनकदण्डातपत्रश्वेतचामरादिलाञ्छनेषु राजपदमान्ध्राश्चार्य्याश्चाविवादं प्रयुञ्जाना दृश्यन्ते। तेनाविप्रतिपत्तेर्विप्रतिपत्तावप्यार्य्यान्ध्रप्रयोगयोर्यत्ववराहवदार्य्यप्रसिद्धेरान्ध्रप्रसिद्धितो बलीयसीत्वात्। बलवदार्य्यप्रसिद्धिविरोधे त्वतन्मूलायाः पाणिनीयप्रसिद्धेर्विरोधे त्वनपेक्षं स्यादिति न्यायेन बाधनात्तदनुगुणतया वा

भामती—व्याख्या

यदि 'राज्ञः कर्म राज्यम्'—इस प्रकार राजात्मक कर्त्ता के कर्मकारक को राज्य कहा जाय, तब यह जिज्ञासा होती है कि 'को राजा ?' आर्यजाति में किसी अर्थ में 'राजा' शब्द की प्रसिद्धि नहीं, अतः जैसे 'पिक', 'नेम' एवं 'तामरस' आदि शब्दों के अर्थों का निश्चय करने के लिए म्लेच्छों के व्यवहार को प्रामाणिक माना गया है—"चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन" ( जै. सू. १।३।१० )। वैसे ही आन्ध्र जाति में क्षत्रियार्थक 'राजा' पद की प्रसिद्धि को समादर देना होगा। इस प्रकार 'राजा' शब्द क्षत्रिय में रूढ़ होने के कारण राजसूय में ब्राह्मण और वैश्य की प्राप्ति नहीं होती। फलतः राजसूय के प्रकरण से विच्छेद कर के अवेष्टि का ब्राह्मणादि के लिए स्वतन्त्र विधान मानना होगा।

**पूर्वपक्ष**—अवेष्टि को नैमित्तिक कर्म ही मानना चाहिए, क्योंकि 'राज्यस्य कर्त्ता राजा'—ऐसी व्युत्पत्ति में आन्ध्रों और आर्यों का कोई विवाद नहीं, क्योंकि प्रजा-पालनरूप राज्य के कर्त्ता ब्राह्मणादि पुरुषों को आर्य एवं आन्ध्र समानरूप से राजा कहते हैं, सुवर्णदण्ड, छत्र और चामरादि चिह्नों को देखकर ही लोग 'राजा' शब्द का प्रयोग करते देखे जाते हैं। जहाँ कहीं आर्य-प्रसिद्धि और आन्ध्र-प्रसिद्धि में मत-भेद है, वहाँ यववराहाधिकरण ( जै. सू. १।३।९ ) के अनुसार आर्य-प्रसिद्धि बलीयसी मानी गई है। निर्बल प्रसिद्धिमूलक पाणिनि-स्मृति भी आर्य प्रसिद्धि से बाधित होती है, अतः "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि" ( पा. सू. ५।१।१२४ ) इस सूत्र के अनुसार 'राज्ञः कर्म राज्यम्'—ऐसा ष्यञ्प्रत्ययान्त 'राज्य' शब्द साधु नहीं माना जा सकता, महर्षि जैमिनि ने स्पष्ट कहा है—"विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" ( जै. सू. १।३।६ )। अर्थात् स्मृति का प्रामाण्य तभी तक है, जब तक कि वह प्रमाणान्तर से विरुद्ध न हो, उक्त पाणिनि-स्मृति प्रमाण-विरुद्ध होने से प्रमाणभूत नहीं मानी जा सकती। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार 'राज्ञः कर्म राज्यम्'—इस विग्रह का कथञ्चित् सामञ्जस्य वैसे ही किया जा सकता है, जैसे नख, नकुलादि रूढ शब्दों की 'नं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे, ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते, न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम्। तत्र हि—'विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः' इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन्विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति। तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते, 'सोऽमृतो

भामती

कथञ्चिन्नखनकुलादिवदन्वाख्यानमात्रपरतया नीयमानत्वाद्राज्यस्य कर्त्ता राजेति सिद्धे निमित्तार्थाः श्रुतयः। तथाच यदिशब्दोऽप्यांजसः स्यादिति प्राप्तम्, एवं प्राप्ते उच्यते—

रूपतो न विशेषोऽस्ति ह्यार्यम्लेच्छप्रयोगयोः।
वैदिकाद्वाक्यशेषात् तु विशेषस्तत्र दर्शितः॥

तदिह राजशब्दस्य कर्मयोगाद्वा कर्त्तरि प्रयोगः, कर्तृप्रयोगाद्वा कर्मणीति विशये वैदिकवाक्यशेषवदभियुक्ततरस्यात्र भवतः पाणिनेः स्मृतेर्निर्णायते। प्रसिद्धिराम्ध्राणामनादिरादिमती चार्याणां प्रसिद्धिः, गोगव्याविशब्दवत्। न च सम्भावितादिमद्भावा प्रसिद्धिः पाणिनिस्मृतिप्रपोद्यानादिप्रसिद्धिमादिमतीं कर्तुमुत्सहते। गव्यादिशब्दप्रसिद्धेरनादित्वेन गत्वादिपदप्रसिद्धेरप्यादिमत्त्वापत्तेः। तस्मात्पाणिनीयस्मृत्यनुमतान्ध्रप्रसिद्धिबलीयस्त्वेन क्षत्रियत्वजातौ राजशब्दे मुख्ये तत्कर्त्तव्यंतज्जातौ राजशब्दो गौण

भामती—व्याख्या

न भवति, नखम्, कुलं न भवति नकुलम्'—ऐसी व्युत्पत्ति अपना कर प्रकृतिभाव का विधान किया है—"नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या" (पा. सू. ६।३।७५)। प्रकृत में 'राज्यस्य कर्त्ता राजा'—इस निर्दोष व्युत्पत्ति के अनुसार अवेष्टि में निमित्त-नैमित्तिकभाव का उपपादन ही संगत है, अत एव 'यदि' शब्द का प्रयोग भी समञ्जस हो जाता है।

सिद्धान्त—रूपतो न विशेषोऽस्ति ह्यार्यम्लेच्छप्रयोगयोः।
वैदिकाद्वाक्यशेषात्तु विशेषस्तत्र दर्शितः॥

आर्य और म्लेच्छ के शब्द-प्रयोग अनादि वृद्ध-व्यवहार से निरूढ हैं, उनके स्वरूपों में कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती, प्रयोग (शब्द-व्यवहार) नाना देशों और विभिन्न पुरुषों के द्वारा निर्मित होते हैं, अतः उन में अव्यवस्था एवं उपप्लव (कुछ दोषों का आजाना) सम्भावित है किन्तु स्मृति शास्त्र शिष्ट पुरुषों के द्वारा परिगृहीत होने के कारण व्यवस्थित है, अतः स्मृति से अनुगृहीत म्लेच्छ-प्रयोग आर्य-प्रयोग से बलवान् होता है। प्रकृत में 'राजा' शब्द कर्म (राज्य) के सम्बन्धी कर्त्ता का बोधक माना जाय? अथवा 'राज्य' शब्द कर्त्ता के सम्बन्धी कर्म (राज्ञः कर्म) का बोधक माना जाय? ऐसा संशय होने पर वैदिक वाक्य-शेष के समान अभियुक्ततर भगवान् पाणिनि की व्याकरण स्मृति के द्वारा निर्णय दिया जा सकता है। आन्ध्रगणों की प्रसिद्धि अनादि और आर्य-प्रसिद्धि वैसे ही आदिमती है, जैसे गो, गावी आदि की प्रसिद्धि। जैसे शक्ति-भ्रम से प्रयुक्त 'गावी' शब्द 'गो' शब्द को गौण नहीं बना सकता, वैसे ही क्षत्रिय में 'राजा' शब्द की प्रसिद्धि पाणिनि-विधान का बाध करके मुख्य प्रसिद्धि को गौण नहीं बना सकती, अन्यथा गावी आदि शब्दों की प्रसिद्धि अनादि होने के कारण गो आदि साधु शब्दों की प्रसिद्ध भी आदिमती मानी जा सकती है। फलतः "राज्ञः कर्म राज्यम्"—इस प्रकार पाणिनीय व्युत्पत्ति से अनुमोदित आन्ध्र-प्रसिद्धि बलवती ठहरती है, उसके आधार पर क्षत्रियत्व जाति में 'राजन्' शब्द मुख्य और राज्यरूप कर्म के

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोपसंहारान्न कर्मप्रधानता। तत्सामान्यादिहापि तथात्वम्। भूयांसस्त्वङ्ग्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात् कारणादग्निनाऽनुबध्यते विद्या, न कर्माङ्गत्वात्। तस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः॥ ५२॥

---

## [ ३० ऐकात्म्याधिकरणम्। सू० ५३-५४ ]

### एक आत्मनः शरीरे भावात्॥ ५३॥

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये। न ह्यसति देहव्यतिरिक्ते आत्मनि परलोकफलाश्रोदना उपपद्येरन् कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत? ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्या-

भामती

इति। क्षत्रियस्यैवाधिकारःद् राजसूये तत्प्रकरणमपोद्यावेष्टेरुत्कर्षः। अन्वयानुरोधी यविशब्दो न त्वपूर्वविधौ सति तमन्यथयितुमर्हति। अत एवाहुर्यविशब्दपरित्यागो रुच्यध्याहारकल्पनेति। इयं च राजसूयादधिकारान्तरमेतयान्नाद्यकामं याजयेदिति नास्तीति कृत्वाचिन्ता। एतस्मिंस्त्वधिकारेऽन्नाद्यकामस्य त्रैवर्णिकस्य सम्भवात् प्राप्तेर्निमित्तार्थता ब्रह्मणादिश्रवणस्येति दुर्वारैवेति॥ ४७-५२॥

---

अधिकरणतात्पर्यमाह ❀ इह इति ❀। समर्थनप्रयोजनमाह ❀ बन्धमोक्ष इति ❀। असमर्थने बन्धमोक्षाधिकाराभावमाह ❀ न ह्यसति इति ❀। अघस्तनतन्त्रोक्तेन पौनरुक्त्यं चोदयति ❀ननु इति❀।

भामती-व्याख्या

कर्त्ता पुरुषों में गौण निर्णीत होता है, इस प्रकार राजसूय यज्ञ में केवल क्षत्रिय का ही अधिकार सिद्ध होता है, अतः राजसूय के प्रकरण से ब्राह्मणादिकर्तृक अवेष्टि कर्म का विच्छेद करना आवश्यक है। जब कि वाक्य के द्वारा अवेष्टि में अप्राप्त ब्राह्मणादि की प्राप्ति परिलक्षित होती है, तब प्राप्तचर्थक 'यदि' शब्द का भङ्गाबधारण करना चाहिए, क्योंकि वह अप्राप्तप्रापकरूप अपूर्व-विधि का अन्यथाकरण कभी नहीं कर सकता, अत एव श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

आदिशब्दपरित्यागो रुच्यध्याहारकल्पना। (तं. वा. पृ. ५७४) [ अर्थात् "यदि ब्राह्मणो यजेत"—यहाँ 'यदि' शब्द का परित्याग करके "ब्राह्मणो यजेत"—इन दो पदों को ही अपूर्व विधि मानना चाहिए। अथवा 'रुचि' पद का अध्याहार करके 'यदि रोचयेत' फलम्—ऐसी संगर्मानिका कर लेने पर विधित्व सुरक्षित रह जाता है ]।

एतयान्नाद्यकामं याजयेत्"—यह अधिकार-विधि नहीं है—एसा मान कर यह निमित्तनैमित्तभाव के अभाव की चिन्ता (विचारणा) की गई, है क्योंकि इस अधिकार-वाक्य के रहने पर तीनों वर्णों में अन्नाद्य-कामना सम्भव है, अतः यहाँ अप्राप्त-प्राप्ति न होकर निमित्तार्थता ब्राह्मणादि-श्रवण में दुर्वार है॥ ४७-५२॥

---

**संगति**—पूर्व ग्रन्थ से संगति दिखाने के लिए इस अधिकरण का तात्पर्य कहा जाता है—"इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः समर्थ्यते"। समर्थन का प्रयोजन दिखाते हैं—बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये"। आत्मतत्त्व का समर्थन न होने पर बन्ध-मोक्ष में अधिकार ही नहीं रहता—"न ह्यसति देहव्यतिरिक्त आत्मनि"। इसी शास्त्र के आरम्भ में कथित आत्मतत्त्व से इस अधिकरण की पुनरुक्ति-शङ्का करते हैं—"ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे"।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मनोऽस्तित्वमुक्तम्। सत्यमुक्तं भाष्यकृता, नतु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति, इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाकृष्याऽऽचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्र आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते, कृत्स्नाशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय। अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितम्, कोऽसौ पुरुषः? यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमादिमं सूत्रम्। आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयति।

अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः। न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, यत्कृतं

---

भामती

परिहरति ❀ उक्तं भाष्यकृता इति ❀। न सूत्रकारेण तत्रोक्तं येन पुनरुक्तं भवेदपि तु भाष्यकृतेति अत्रत्यस्यैवार्थस्यापकर्षः प्रमाणलक्षणोपयोगितया तत्र कृत इति। यत इह सूत्रकृदक्ष्यत्यत एव भगवतोपवर्षेणोद्धारोऽपकर्षस्य कृतः। विचारस्यास्य पूर्वोत्तरतन्त्रशेषमाह ❀ इह च इति ❀। पूर्वाधिकरणसङ्गतिमाह ❀ अपि च इति ❀। नन्वात्मास्तित्वोपपत्तय एवात्रोच्यन्तां किं तदाक्षेपेणेत्यत आह ❀ आक्षेपपूर्विका हि इति ❀। आक्षेपमाह ❀ अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनः इति ❀। यद्यपि समस्तव्यस्तेषु पृथिव्यप्तेजोवायुषु न चैतन्यं दृष्टं तथापि कायाकारपरिणतेषु भविष्यति। न हि किण्वादयः समस्तव्यस्ता न मदना दृष्टा इति मदिराकारपरिणता न मदयन्ति। अहमिति चानुभवे देह एव गौराद्याकारः प्रथते।

---

भामती—व्याख्या

उक्त शङ्का का परिहार किया जाता है—"उक्तं भाष्यकृता न तु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति"। शास्त्र के उपक्रम में सूत्रकार ने इस विषय का कोई सूत्र नहीं बनाया कि इस सूत्र में पुनरुक्तता आती, भाष्यकार ने जो आरम्भ में कहा है, वह इसी सूत्र से प्रकाश पाकर प्रमाण-लक्षण (प्रथमाध्याय) में उपयोगी होने के कारण आत्मास्तित्व की वहाँ चर्चा भाष्यकार ने की है किन्तु वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ने वहाँ इसी लिए कोई चर्चा नहीं कि स्वयं सूत्रकार आत्मास्तित्व का प्रतिपादन करेगा। आत्मविचार में पूर्वोत्तर उभयमीमांसा की अङ्गता दिखाते हैं—"इह चेदं चोदनालक्षणेषु"।

पूर्वाधिकरण की संगति दिखाते हैं—"अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे"। आत्मास्तित्व की उपपत्तियों से अतिरिक्त आक्षेपोक्तियों की क्या आवश्यकता? इस प्रश्न का उत्तर है—"आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिः"। "स्थूणानिखननन्यायेन" [ लकड़ी की बल्ली को रेतीली भूमि में जैसे हिला हिला कर जड़ में रेत भरते जाते हैं, इससे वह सुदृढ हो जाती है, वैसे ही किसी अभीष्ट सिद्धान्त को विविध आक्षेपों के द्वारा हिला कर समाधान किया जाता है कि सिद्धान्त सुदृढ हो जाय। श्री शबरस्वामी भी यही कहते हैं—"यदि स एव निर्णयः, किमर्थं आक्षेपः? दार्ढ्यार्थः, स्थूणानिखननवत्" ( शाबर. पृ. १४५१ ) ]।

आक्षेप—"अत्रैके देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिकाः"। यद्यपि चैतन्य न तो पृथिव्यादि प्रत्येक भूत में देखा जाता है और न पृथिव्यादि के मिलित पिण्ड में, तथापि देह के रूप में परिणत पृथिव्यादि भूत ही चेतन हो जाते हैं, क्योंकि अंगूरादि में विद्यमान किण्व

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैतन्यं देहे स्यात्। देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते। हेतुं चाचक्षते—शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्म-

भामती

न तु तदतिरिक्तः तदधिष्ठानः कुण्ड इव दधीति। अत एवाहं स्थूलो गच्छामीत्यादिसामानाधिकरण्योपपत्तिरहमः स्थूलादिभिः। न जातु दधिसमानाधिकरणानि मधुरादीनि कुण्डस्यैकाधिकरण्यमनुभवन्ति—सितं मधुरं कुण्डमिति। न चाप्रत्यक्षमात्मतत्त्वमनुमानादिभिः शक्यमुन्नेतुम्। न खल्वप्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति। उक्तं हि—

देशकालाविरूपाणां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा॥ इति।

यदा च उपलब्धिसाध्यानान्तरीयकभावस्य लिङ्गस्येयं गतिः, तदा कैव कथा दृष्टव्यभिचारस्य शब्दस्य, अर्थापत्तेश्चात्यन्तपरोक्षार्थगोचरायाः, उपमानस्य च सर्वैकदेशसादृश्यविकल्पितस्य? सर्वसारूप्ये तत्त्वात्, एकदेसमारूप्ये चातिप्रसङ्गात्, सर्वस्य सर्वेणोपमानात्। सौत्रस्तु हेतुर्भाष्यकृता व्याख्यातः। चेष्टा हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था व्यापारः। स च शरीराधीनतया दृश्यमानः शरीरधर्म एव। इच्छा-

भामती—व्याख्या

(मादक कण) अलग-विलग या मिल कर मादक नहीं होते, किन्तु मदिरा के रूप में परिणत होकर मादक हो जाते हैं। चैतन्य की अनुभूति जिस 'अहम्' के रूप में होती है, वह 'अहम्' अपने गौर या श्याम शरीर को ही विषय करता है, उस से अतिरिक्त अन्य कोई चैतन्य का वैसा आधार प्रतीत नहीं होता, जैसा दधि आदि का आधार कूंडा। अत एव 'अहं स्थूलो गच्छामि'—इस प्रकार स्थूलता और गमनादि क्रिया का आधार भूत शरीर ही अहम्पदार्थ (आत्मा) अनुभूत होता है। आत्मवादियों का जो कहना है कि अहमर्थरूप आत्मा का अपने आधारभूत शरीर के साथ तादात्म्याध्यास होता है, अतः अहमर्थरूप आत्मा एवं आत्मा के ज्ञानादि धर्मों का शरीर में भान हो जाता है—'एष गच्छाम्यहं ज्ञानवान्'। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि आधार और आधेय का यदि तादात्म्याध्यास होता है, तब दधि एवं उस के मधुरादि धर्मों का कुण्ड में भान होना चाहिए—'श्वेतं मधुरमिदं कुण्डम्', किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः 'स्थूलोऽहं जानामि' ऐसी प्रतीति मुख्य है और शरीररूप आत्मा की प्रत्यक्षता सिद्ध करती है, क्योंकि अनुमानादि प्रत्यक्षेतर प्रमाणों के द्वारा आत्मा की सिद्धि नहीं की जा सकती। जब प्रत्यक्षेतर अनुमानादि प्रमाणों की ही सिद्धि नहीं होती, तब उनसे किसी पदार्थ की सिद्धि क्योंकर होगी? अत एव वाक्यपदीयकार कहते हैं—

अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा॥ (वाक्यप. १।३२)

[अवस्था, देश और काल के भेद से पदार्थों की शक्तियों में भेद आता रहता है। जैसे कि अङ्गारादि अवस्था की अग्नि अभ्रादि देशों में अवस्थित अग्नि एवं उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न अग्नि धूम उत्पन्न नहीं करती, अतः व्यभिचार की सम्भावना में धूम और अग्नि की व्याप्ति निश्चित न होने के कारण धूम से अग्नि की सिद्धि अत्यन्त दुर्लभ है, इसी प्रकार किसी भी पदार्थ से किसी का अनुमान सम्भव नहीं]। जब कि प्रत्यक्षोपलब्धि के द्वारा साध्य है नान्तरीयकभाव (व्याप्ति) जिसका ऐसे लिङ्ग प्रमाण की यह दुर्दशा है, तब शतशः जिसका अपने अर्थ से व्यभिचार दृष्ट है, ऐसे शब्द, अत्यन्तपरोक्षार्थक अर्थापत्ति एवं विवादास्पद • सादृश्यमूलक उपमान प्रमाण से क्या आशा की जा सकती है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादिनां तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति, तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

नत्वेतदस्ति यदुक्तम्—अव्यतिरेक देहादात्मन इति, व्यतिरेक एवास्य देहाद्-

---

भामती

प्रयत्नादयश्च यद्यप्यान्तराः तथापि शरीरातिरिक्तस्य तदाश्रयानुपलब्धेः सति शरीरेऽभावात् अन्तः-शरीराश्रया एव, अन्यथा दृष्टहानादृष्टकल्पनाप्रसङ्गात् । शरीरातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात् शरीरे च सम्भवात् शरीरमेवेच्छादिमदात्मेति प्राप्ते, ॥ ५३ ॥ उच्यते—

नाप्रत्यक्षं प्रमाणमिति ब्रुवाणः प्रष्टव्यो जायते कुतो भवान् अनुमानादीनामप्रामाण्यमवधारितवान् इति । प्रत्यक्षं हि लिङ्गादिरूपमात्रग्राहि नाप्रामाण्यमेषां विनिश्चेतुमर्हति । न हि धूमज्ञानमिवैषामिन्द्रियार्थसन्निकर्षादप्रामाण्यज्ञानमुदेतुमर्हति । किन्तु देशकालावस्थारूपभेदेन व्यभिचारोत्प्रेक्षया । न चैतावान् प्रत्यक्षस्य व्यापारः सम्भवति । यथाहुः—नहीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबले-

---

भामती-व्याख्या

उपमान में सादृश्य यदि सर्वथा अपेक्षित है, तब गौ का सर्वथा सादृश्य तो गौ में ही है, तत्त्वाभेद में साध्य-साधकभाव क्योंकर होगा ? एक देश का सादृश्य तो प्रायः सभी पदार्थों में सम्भावित है, तब तो सब से सब को सिद्धि प्रसक्त होगी, केवल गोसादृश्य से ही गवय की सिद्धि क्यों ?" शरीरे भावात्" इस सौत्र हेतु की व्याख्या स्वयं भाष्यकार ने ही कर दी है—"प्राणचेष्टाचैतन्यादयः" । इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार करने के लिए प्रवृत्त व्यापार को चेष्टा कहते हैं, वह शरीर के अधीन होने के कारण शरीर का ही धर्म है । इसी प्रकार श्वास-प्रश्वासादिरूप प्राण भी शरीर का ही धर्म है । इच्छा, प्रयत्नादि यद्यपि आन्तरिक हैं, तथापि शरीर से भिन्न उनका और कोई आश्रय उपलब्ध नहीं होता । शरीर के रहने पर ही इच्छादि का सद्भाव होता है, अतः आन्तरिक शरीर के आश्रित ही इच्छादि को मानना होगा, अन्यथा दृष्ट की हानि और अदृष्ट की कल्पना करनी होगी । शरीर से भिन्न आत्मा के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं, शरीर में इच्छादि धर्म रह सकते हैं, अतः शरीर ही इच्छादि का आश्रयीभूत आत्मा सिद्ध होता है ॥ ५३ ॥

सिद्धान्त—चार्वाक का जो कहना है कि प्रत्यक्ष से अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं, वहाँ यह जिज्ञासा होती है कि आप ( चार्वाक ) ने अनुमानादि में अप्रामाण्य का निश्चय किसके बल पर किया ? अत्यक्ष प्रमाण के बल पर ? अथवा अनुमानादि के बल पर ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो लिङ्गादिरूप अनुमान के केवल स्वरूप का ग्राहक है, उनके अप्रामाण्य का निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के द्वारा जैसे धूमादि का ज्ञान होता है, वैसे अप्रामाण्य का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता । वाक्यपदीय-निर्दिष्ट अवस्था, देश और काल के भेद के साध्य और साधन की व्यभिचारोत्प्रेक्षा के द्वारा ही अनुमानादिगत अप्रामाण्य का विश्चय हो सकता है, किन्तु ऐसी उत्प्रेक्षा प्रत्यक्ष की शक्ति के बाहर हैं, जैसा कि कहा गया है—"न हीदमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहितविषयबलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात्" । वर्तमान एवं सन्निहित अग्नि-धूम व्यक्तियों में व्यभिचार सम्भव नहीं, असन्निहित अतीतानागत पदार्थों में ही व्यभिचार की शङ्का हो सकती है, किन्तु वैसे पदार्थों का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं, अतः इच्छा न रहने पर भी अनुमानादिरूप प्रमाणान्तर मानना अनिवार्य है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वितुमर्हति, तद्भावाभावित्वात् । यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत,

भामती

नोत्पत्तेरविचारकत्वादिति । तस्मादस्मिन्ननिच्छतापि प्रमाणान्तरमभ्युपेयम् । अपि च प्रतिपन्नं पुमांसमपहायाप्रतिपन्नसन्दिग्धाः प्रेक्षावद्भिः प्रतिपाद्यन्ते । न चैषामित्थम्भावो भवत्प्रत्यक्षगोचरः । न खल्वेते गौरत्वादिवत् प्रत्यक्षगोचराः । किन्तु वचनचेष्टादिलिङ्गानुमेयाः । न च लिङ्गं प्रमाणं यत एते सिध्यन्ति । न पुंसामित्थम्भावमविज्ञाय यं कञ्चन पुरुषं प्रतिपिपादयिषतोऽनवद्यवचनस्य प्रेक्षावत्ता नाम । अपि च पशवोऽपि हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थिनः कोमलशष्पश्यामलायां भुवि प्रवर्तन्ते, परिहरन्ति चाश्यानतृणकण्टकाकीर्णाम् । नास्तिकस्तु पशोरपि पशुरिष्टानिष्टसाधनमविद्वान् । न खल्वस्मिन्ननुमानगोचरप्रवृत्तिनिवृत्तिगोचरे प्रत्यक्षं प्रभवति । न च परप्रत्यायनाय शब्दं प्रयुञ्जीत शाब्दस्यार्थस्याप्रत्यक्षत्वात् । तदेव मा नाम भून्नास्तिकस्य जन्मान्तरमस्मिन्नेव जन्मन्युपस्थितोऽस्य मूकत्वप्रवृत्तिनिवृत्तिविरहरूपो महाप्ररकः । पराक्रान्तं चात्र सूरिभिः । अत्यन्तपरोक्षगोचरार्थान्यथानुपपद्यमानार्थप्रभवार्थापत्तिः । भूयः सामान्ययोगेन चोपमानमुपपादितं प्रमाणलक्षणे, तदत्रास्तु तावत्प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षमेवाहम्प्रत्ययः शरीरातिरिक्तमालम्बत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधार्यते । योगव्याप्रवत् स्वप्नदशायाञ्च शरीरान्तरपरिग्रहाभिमानेऽप्यहङ्कारास्पदस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वमित्युक्तम् ।

भामती—व्याख्या

दूसरी बात यह भी है कि प्रेक्षावान् प्रतिपन्न ( अभिज्ञ ) व्यक्ति को छोड़कर अज्ञानवान्, विपरीतज्ञानवान् और संशयवान् पुरुषों के अज्ञानादि को जान कर उनको ही व्युत्पत्ति ( यथार्थ ज्ञान ) कराया करता है किन्तु अन्य पुरुषमें विद्यमान् अज्ञान, विपर्यय और संशयादि का ज्ञान अत्यक्षमात्र के आधार पर सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे अन्य शरीरगत गौरादि वर्णों का प्रत्यक्ष होता है, वैसे अन्य पुरुष के अज्ञानादि प्रत्यक्ष नहीं होते, अपितु अन्य पुरुष के वचन एवं चेष्टादिरूप लिङ्गों के द्वारा अनुमेय ही होते हैं । चार्वाकगण लिङ्गादि को प्रमाण नहीं मानते कि उनके द्वारा दूसरे के अज्ञानादि का बोध हो जाता । यदि किसी व्यक्ति के अज्ञान विपर्यय और संशय को न समझकर उसको कोई असंगत उपदेश देने लगता है, तब वह उपदेष्टा केवल उपेक्ष्य ही नहीं, उसकी प्रेक्षावत्ता उपहासास्पद भी हो जाती है ।

पशु भी अपने हित की प्राप्ति और अहित को निवृत्ति को जानते-पहचानते हैं, अत एव वे लहलहाती हरियाली की ओर दौड़ते और आश्यान ( सूखी ) कण्टकाकीर्ण भूमि का परित्याग करते हैं किन्तु नास्तिक ( चार्वाक ) तो पशु का भी पशु है, जो अपने हिताहित-साधनों की जानकारी नहीं रखता । अनुमान-विषयीभूत प्रवृत्ति-निवृत्ति की इस भूमि में प्रत्यक्ष प्रमाण का सञ्चार सम्भव नहीं । दूसरे को पदार्थ का प्रत्यक्ष कराने के लिए कभी शब्द प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि शब्दार्थ प्रत्यक्षात्मक नहीं होता । इस प्रकार भले ही चार्वाक को परलोक न मिले, किन्तु उसको इसी जन्म में मूकत्व और प्रवृत्ति-निवृत्ति का विरहरूप नरक मिल रहा है [ अर्थात् अनुमान प्रमाण न मानने से प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्भव नहीं और शब्द प्रमाण न मानने से शब्द-प्रयोग का सार्थक्य नहीं रह जाता फलतः मूकीभाव प्रसक्त होता है] । अनुमान और शब्द प्रमाण के समर्थन में विद्वानों ने बहुत कुछ कह डाला है, विशेष कहने की आवश्यकता नहीं । अर्थापति यद्यपि अत्यन्त परोक्षवृत्तिक है, तथापि अर्थानुपपद्यमानता के बल पर जो वह कार्य सम्पन्न करती है, वह अन्य किसी प्रमाण से सम्भव नहीं । भूयःसामान्य-योगरूप सादृश्य के आधार पर प्रवृत्त उपमान प्रमाण का उपपादन पूर्वमीमांसा के प्रमाणाध्याय में किया गया है । प्रकृत में आत्मतत्त्व के साधक सभी अनुमानादि प्रमाणान्तर है, विशेषतः अहम्-अहम् ऐसा प्रत्यभिज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण ही


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत ? देहधर्मवैलक्षण्यात्। ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देहं भवन्ति, प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति। देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते, न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः।

भामती

सूत्रयोजना तु न स्वव्यतिरिक्तः किन्तु व्यतिरिक्त आत्मा देहात्। कुतः ? तद्भावाभावित्वात्। चैतन्यादि-यंदि शरीरगुणः ततोऽनेन विशेषगुणेन भवितव्यम्। न तु संख्यापरिमाणसंयोगादिवत् सामान्यगुणेन। तथा च ये भूतविशेषगुणास्ते यावद्भूतभाविनो दृष्टा यथा रूपादयः। नह्यस्ति सम्भवः भूतञ्च रूपादि-रहितञ्चेति। तस्माद् भूतविशेषगुणरूपाविवैधर्म्यात् न चैतन्यं शरीरगुणः। एतेनेच्छादीनां शरीरविशेष-गुणत्वं प्रत्युक्तम्। प्राणचेष्टादयो यद्यपि देहधर्मा एव। तथापि न देहमात्रप्रभवाः। मृतावस्थायामपि प्रसङ्गात्। तस्माद् यस्यैते अधिष्ठानाद्देहधर्मा भवन्ति, स देहातिरिक्त आत्मा। अदृष्टकारणत्वेऽभ्युपगम्य-माने तस्यापि देहाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मैवाभ्युपेतव्य इति। वैधर्म्यान्तरमाह ॐ देहधर्माश्च इति ॐ। स्वपरप्रत्यक्षा हि देहधर्मा दृष्टा यथा रूपादयः। इच्छादयस्तु स्वप्रत्यक्षा एवेति देहधर्म्यवैधर्म्यम्। तस्मादपि देहातिरिक्तधर्मा इति। तत्र यद्यपि चैतन्यमपि भूतविशेषगुणः तथापि यावद्भूतमनुवर्त्तत। न च मदशक्त्या व्यभिचारः। सामर्थ्यस्य सामान्यगुणत्वात्। अपि च मदशक्तिः प्रतिमदिरावयवं

भामती—व्याख्या

शरीरादि से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर करता है।

सूत्र की योजना इस प्रकार है—आत्मा देह से अव्यतिरिक्त ( अभिन्न ) नहीं, अपितु व्यतिरिक्त है, क्योंकि मृतावस्था में तद्भाव ( शरीर का भाव ) होने पर भी तदभावित्व ( चैतन्यरूप आत्मा का अभाव ) है। चैतन्यादि यदि शरीर के गुण होते, तब मृतावस्था में भी शरीर को चैतन्यादि गुणों से युक्त होना चाहिए किन्तु संख्या, परिमाण, संयोगादिरूप सामान्य गुणों से युक्त होने पर भी शरीर अपने चैतन्यरूप विशेष गुण से युक्त नहीं होता, अतः चैतन्य शरीर का गुण नहीं है। पृथिव्यादि भूतों के जो सामान्य गुण है, वे यावद्भूतभावी ( जब तक भूत वस्तु है, तब तक उसमें रहनेवाले ) होते हैं, जैसे रूपादि गुण, क्योंकि ऐसा कभी सम्भव नहीं कि भूत पदार्थ कभी रूपादि से रहित हो। अतः भूतों के रूपादि विशेष गुणों से विधर्मा ( विपरीत स्वभाव वाला ) होने के कारण चैतन्य शरीर का गुण नहीं। इसी प्रकार इच्छादि में भी शरीर-गुणत्व निराकृत हो जाता है। प्राणन और चेष्टादि क्रियाएँ भी यद्यपि देह के धर्म हैं, तथापि केवल देह से वे प्रभूत ( उत्पन्न ) नहीं होते, अन्यथा मृत शरीर में भी उनकी उपलब्धि होनी चाहिए, अतः जिस ( आत्मतत्त्व ) के अधिष्ठान ( सम्बन्ध ) से शरीर में प्राणनादि व्यापार उत्पन्न होता है, वह शरीर से अतिरिक्त आत्मा है। प्राण और चेष्टादि व्यापार यदि अदृष्ट-जन्य माने जाते है, तब भी वह देह के आश्रित नहीं रह सकता अदृष्टाश्रयत्वेन आत्मा ही मानना होगा।

आत्मा के अन्य धर्मों में भी देहवृत्तित्व सम्भव नहीं—"देहधर्माश्च"। देह के रूपादि धर्मों का प्रत्यक्ष अन्य पुरुषों को भी होता है, किन्तु इच्छादि का सभी व्यक्तियों को प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु जिसको प्रत्यक्ष होता है, वह देह से भिन्न आत्मा है। रूपादि के समान चैतन्य भी यदि भूतों का विशेष गुण होता, तब वह भी रूपादि के समान यावद्भूतभावी होता। यदि कहा जाय कि 'यत्र यत्र भूतविशेषगुणत्वम्, तत्र तत्र यावद्भूतभावित्वम्'—इस नियम का मद-शक्ति में व्यभिचार है, क्योंकि वह भूतों का विशेष गुण होने पर भी यावद्भूत-भावी नहीं, अपितु कादाचित्क है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामर्थ्यरूप मद-शक्ति को सामान्य गुण माना जाता है, विशेष गुण नहीं। दूसरी बात यह भी है कि यदि किण्वों

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपि च सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं, न त्वसत्यभावः। पतितेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा अनुवर्तेरन्। संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते। किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते, यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्यनुयोक्तव्यः। नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकः किंचित्तत्त्वं प्रत्येति। यदनुभवनं भूतभौतिकानाम्, तच्चैतन्यमिति चेत्, तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। न ह्यग्निरुष्णः सन्स्वात्मानं दहति।

भामती

मात्रयावतिष्ठते। तद्वद्देहेऽपि चैतन्यं तदवयवेष्वपि मात्रया भवेत्। तथा चैकस्मिन् देहे बहवः चेतयेरन्। न च बहूनां चेतनानामन्योन्याभिप्रायानुविधानसम्भव इति एकपाशनिबद्धा इव बहवो विहङ्गमाः विरुद्धदिक्क्रियाभिमुखाः समर्था अपि न हस्तमात्रमपि देशमतिपतितुमुत्सहन्ते। एवं शरीरमपि न किञ्चित्कर्त्तुमुत्सहते। अपिच नान्वयमात्रात्तद्धर्मधर्मिभावः शक्यो विनिश्चेतुम्, मा भूदाकाशस्य सर्वो धर्मः सर्वेष्वन्वयात्। अपि त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। संदिग्धश्चात्र व्यतिरेकः। तथा च न साधकत्वमन्वयमात्रस्येत्याह ❀ अपि च सति हि तावद् इति ❀। दूषणान्तरं विवक्षुराक्षिपति ❀ किमात्मकं च इति ❀। स एवैकग्रन्थेनाह ❀ नहि इति ❀। नास्तिक आह ❀ यदनुभवनम् इति ❀। यथा हि भूतपरिणामभेदो रूपादिर्न तु भूतचतुष्टयादर्थान्तरम्। एवं भूतपरिणामभेद एव चैतन्यम्, न तु भूतेभ्योऽर्थान्तरम्। येन पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानीति प्रतिज्ञाव्याघातः स्यादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति—चतुर्णामेव भूतानां

भामती—व्याख्या

(यवादि द्रव्यों के कणों) में मद-शक्ति के समान ही शरीर में चैतन्य गुण माना जाता है, तब एक शरीर में अनेक चैतन्य मानने होंगे, क्योंकि पूरी मदिरा में एक मद-शक्ति नहीं मानी जाती, अपितु मदिरा के प्रत्येक अवयव में मद-शक्ति अवयवशः रहती है। इस प्रकार तो एक शरीर में ऐसे अनेक चैतन्य मानने होंगे, जो परस्पर एक-दूसरे के अभिप्राय से अनभिज्ञ हैं। ऐसे अनेक चैतन्य शरीर का वैसे ही सुचारु संचालन नहीं कर सकते, जैसे एक जाल में फँसे अनेक पक्षी जाल को किसी दिशा में भी उड़ाकर नहीं ले जा सकते। यद्यपि वे पक्षी समर्थ हैं, तथापि न तो उन सबके मुख एक दिशा में हैं और न उनकी क्रियाओं में तालमेल है, अतः वे किसी एक दिशा में एक हाथ भी नहीं उड़ सकते, ठीक उसी प्रकार अनेक चैतन्योंवाला शरीर भी कुछ नहीं कर सकता।

दूसरी बात यह भी है कि केवल अन्वय के आधार पर धर्म-धर्मिभाव का विनिश्चय नहीं किया जा सकता, अन्यथा आकाश का सभी के साथ अन्वय होने के कारण आकाश सर्वधर्मवान् हो जायगा। परिशेषतः धर्मधर्मिभाव का निर्णय अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर करना होगा। 'शरीराभावे चैतन्याभावः' इस प्रकार का व्यतिरेक निश्चित नहीं, सन्दिग्ध है। अन्वयमात्र साधक नहीं ऐसा भाष्यकार कह रहे हैं—"अपि च सति"।

दूषणान्तर की विवक्षा से शङ्का की जाती है—"किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते"। शङ्कावादी ही सामूहिकरूपेण दोषाभिधान करता है—"नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण"। चार्वाक चैतन्य-स्वरूप का निरूपण करता है—"यदनुभवनं भूतभौतिकानाम्, तच्चैतन्यम्"। जैसे भूतों का परिणाम-विशेष रूपादि भूत-चतुष्टय से भिन्न नहीं, वैसे ही चैतन्य भी भूतों का ही एक विशेष परिणाम है, भूतों से व्यतिरिक्त नहीं कि "पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि"—इस प्रतिज्ञा-सूत्र का व्याघात होता। चार्वाकों का कहना यह है कि पृथिव्यादि चार भूतों का समस्त जगत् परिणाम है, चार भूतों से भिन्न तत्त्वान्तर नहीं, जिसका परिणाम रूपादि या और कोई परिणाम माना जाता। यद्यपि सिद्धान्ती ने कथित

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहि नटः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति । नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन् । नहि रूपादिभिः स्वरूपं वा विषयीक्रियते । विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन । अतश्च यथैवास्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते, एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः । उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मेत्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम् । नित्यत्वं चोपलब्धेरेकरूप्यात्, अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्,

भामती

समस्तं जगत्परिणामो न त्वस्ति तत्त्वान्तरं यस्य परिणामो रूपादयोऽन्यद्वा परिणामान्तरमिति । अत्रोक्ताभिस्तावदुपपत्तिभिर्देहधर्मत्वं निरस्तम् । तथाप्युपपत्त्यन्तराभिधित्सयाह ॐ चेत्तर्हीति ॐ । भूतधर्मा रूपादयो जडत्वाद्विषया एव दृष्टा न तु विषयिणः । न च केषाञ्चिद्विषयाणामपि विषयित्वं भविष्यतीति वाच्यम्, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । न चोपलब्धावेष प्रसङ्गः, तस्या अजडायाः स्वयम्प्रकाशत्वाभ्युपगमात् । कृतोपपादनं चैतत् पुरस्तात् । उपलब्धिवदिति सूत्रावयवं योजयति ॐ यथैवास्या इति ॐ । उपलब्धिग्राहिण एव प्रमाणात् शरीरव्यतिरेकोऽप्यवगम्यते । तस्यास्ततः स्वयम्प्रकाशप्रत्ययेन भूतधर्मेभ्यो जडेभ्यो वैलक्षण्येन व्यतिरेकनिश्चयात् । अस्तु तर्हि व्यतिरेकोपलब्धिभूतेभ्यः स्वतन्त्रा, तथाप्यात्मनि प्रमाणाभाव इत्यत आह ॐ उपलब्धिस्वरूपमेव च न आत्मा इति ॐ । आजानतस्तावदुपलब्धिभेदो नानुभूयत इति विषयभेदादभ्युपेयः । न चोपलब्धिव्यतिरेकिणां विषयाणां प्रधा सम्भवतीत्युपपादितम् । न च विषयभेदग्राहि प्रमाणमस्तीति चोपपादितं ब्रह्मतत्त्वसमीक्षायामस्माभिः । एवं च सति विषयरूपतद्भेदावेव सुदुर्लभाविति दूरनिरस्ता विषयभेदादुपलब्धिभेदसंबन्धकथा । तेनोपलब्धेरुपलब्धृत्वमपि न तात्त्विकम्, किन्त्वविद्याकल्पितम् । तत्राविद्यावशायामप्युपलब्धेरभेद इत्याह ॐ अहमिदमद्राक्षमिति च

भामती—व्याख्या

युक्तियों के द्वारा चैतन्य में देह-धर्मता का निरास किया, तथापि युक्त्यन्तर का प्रदर्शन करने के लिए कहते हैं– तर्हि विषयत्वात्" । अर्थात् भूतों के रूपादि गुण जड़ होने के कारण विषय ही होते है, विषयी नहीं । 'कतिपय विषयों को विषयी माना जा सकता है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जैसे कुठार स्वयं अपने को नहीं काट सकता, वैसे ही कोई विषय अपने को विषय नहीं कर सकता । तब स्वयप्रकाश उपलब्धि अपने को विषय क्योंकर कर लेगी ? इस का उत्तर यह है कि उपलब्धि जड़ नहीं, चेतन है, अतः उसमें स्वविषयकत्व माना जा सकता है । इसका उपपादन पहले किया जा चुका है । सूत्र के 'उपलब्धिवत्'—इस भाग की योजना करते हैं—"यथैवास्याः" । उपलब्धि के ग्राहक प्रमाण के द्वारा ही उपलब्धि में शरीर-व्यतिरिक्तत्व भी अवगत होता है, अतः स्वयंप्रकाशत्व-प्रतीति के द्वारा भूतों के जडात्मक रूपादि धर्मों से वैलक्षण्य सिद्ध होने के कारण व्यतिरेक निश्चित हो जाता है । यद्यपि उपलब्धि को भूतों से भिन्न और स्वतन्त्र माना जा सकता है, तथापि आत्मा में प्रमाण क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है—"उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मा" । उपलब्धि का स्वतः भेद अनुभूत नहीं होता, अतः विषय के भेद से औपाधिक भेद मानना होगा किन्तु अध्यास-भाष्य में यह कहा जा चुका है कि उपलब्धि से व्यतिरिक्त विषयों की प्रतीति ही नहीं हो सकती और ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा में यह भी निरूपित हो चुका है कि विषय-भेद का ग्राहक कोई प्रमाण भी नहीं । इस प्रकार जब विषय और विषय-भेद—ये दोनों ही दुर्लभ हैं तब विषय-भेद से उपलब्धि की कथा ही समाप्त हो जाती है, अतः उपलब्धि में उपलब्धृत्व ( विषयित्व ) भी तात्त्विक सिद्ध नहीं, अपितु अविद्या-कल्पित ही पर्यवसित होता है । इस प्रकार अविद्या-दशा में भी उपलब्धि का भेद न होकर अभेद ही रहता है—"अहमिदमद्राक्षम्" । अर्थात् केवल तात्त्विक अभेद को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृत्याद्युपपत्तेश्च । यत्तूक्तं—शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिरिति, तद्गर्हितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् । अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति । न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति । एवं सति देह उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति, उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद्देहोपयोगोपपत्तेः । न चात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते, निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात् । तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥

---

## ( ३१ अङ्गावबद्धाधिकरणम् । सू० ५५–५६ )

### अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, सम्प्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तामहे—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत (छा० १।१।१) 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्', 'इयमेव पृथिवी', 'अयं वाव लोकः' 'एषोऽग्निश्चितः' इत्येवमाद्या य उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धाः प्रत्यया: प्रतिवेदं

भामती

इति ॐ । न केवलं तात्त्विकाभेदान्नित्यत्वमतात्त्विकादपि नित्यत्वमेवेति तस्यार्थः । स्मृत्याद्युपपत्तेश्च नानात्वे हि नान्येनोपलब्धेऽन्यस्य पुरुषस्य स्मृतिरुपपद्यत इत्यर्थः । निराकृतमप्यर्थं निराकरणान्तरायानुभाषते ॐ यत्तूक्तम् इति ॐ । यो हि देहव्यापारादुपलब्धिरुत्पद्यते तेन देहधर्म इति मन्यते, तं प्रतीदं दूषणम् । ॐ न चात्यन्तं देहस्य इति ॐ । प्रकृतमुपसंहरति । ॐ तस्मादनवद्यम् इति ॐ ॥ ५४ ॥

---

स्वरादिभेवात्प्रतिवेदमुद्गीथादयो भिद्यन्ते । तदनुबद्धास्तु प्रत्ययाः प्रतिशाखं विहिता भेदेन । तत्र संशयः—किं यस्मिन्वेदे यदुद्गीथादयो विहितास्तेषामेव तद्वेदविहिताः प्रत्ययाः, उतान्यवेदविहिता-

भामती—व्याख्या

लेकर ही उपब्धि नित्य नहीं होती, अतात्त्विक अभेद को लेकर भी वह नित्य ही होती है। "स्मृत्याद्युपपत्तेश्च" । नित्य होने पर भी उपलब्धि को यदि नाना माना जाता है, तब अन्य व्यक्ति के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण अन्य व्यक्ति को नहीं हो सकता, अतः स्मृत्यादि की उपपत्ति के लिए उपलब्धि को एकात्मक ही मानना होगा। निराकृत पदार्थ में निराकरणान्तर दिखाते हैं—"यत्तूक्तम्" । अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर यदि उपलब्धि को देह-धर्म माना जाता है, तब प्रदीपादिरूप भी मानना होगा । जो व्यक्ति देह-व्यापार से उत्पन्न होने के कारण उपलब्धि को देह का धर्म मानता है, इसके लिए दूषणोद्भावन करते हैं—"न चात्यन्तं देहस्य" । स्वप्नादि अवस्थाओं में देह के निर्व्यापार रहने पर भी अनेक प्रकार की उपलब्धि देखी जाती है, अतः देह-व्यापार से उसकी उत्पत्ति नहीं कह सकते। प्रकृत सन्दर्भ का उपसंहार किया जाता है—"तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम्" ॥ ५४ ॥

---

**विषय**—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छां. १।१।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उद्गीथरूप कर्माङ्ग की उपासना विहित है। यद्यपि 'उद्गीथ' शब्द सभी शाखाओं में समान है, तथापि प्रत्येक शाखा में स्वरादि का भेद है, अतः संशय होता है—

**संशय**—जिस वेद में उद्गीथादि उपास्यत्वेन विहित हैं क्या उसी वेद में विहित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथवा सर्वशाखागतेष्विति विशयः। प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानुपादायायमुपन्यासः। किं तावत्प्राप्तम्? स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति। कुतः? संनिधानात्, 'उद्गीथमुपासीत' (छा॰ १।१।१) इति हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः। तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति। तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—अङ्गावबद्धास्त्विति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्। अपितु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन्। कुतः? उद्गीथादि-

भामती

नामप्युद्गीथादीनां ते प्रत्यया इति। किं तत्प्राप्तम्? ओमित्यक्षरमुद्गीथमुपासीतेति उद्गीथशब्देनोद्गीथसामान्यमवगम्यते। निर्विशेषस्य च तस्यानुपपत्तेर्विषयाकाङ्क्षायां स्वशाखाविहितस्य विशेषस्य सन्निधानात् तेनैवाकाङ्क्षाविनिवृत्तेर्न शाखान्तरीयमुद्गीथान्तरमपेक्षते। न चैवं सन्निधानेन श्रुतिपीडा, यदि हि श्रुतिसमर्पितमर्थमपबाधेत ततः श्रुतिं पीडयेत्, न चैतदस्ति। नह्युद्गीथश्रुत्यभिहितलक्षितौ सामान्यविशेषौ बाधितौ, स्वशाखागतयोः तयोः स्वीकरणात् शाखान्तरीयास्वीकारेऽपि। यथाहुः—

जातिव्यक्ती गृहीत्वेह वयं तु श्रुतिलक्षिते।
कृष्णादि यदि मुञ्चामः का श्रुतिस्तत्र पीड्यते॥

एवं प्राप्तम्, एवं प्राप्ते, उच्यते—उद्गीथाङ्गावबद्धास्तु प्रत्यया नानाशाखासु प्रतिवेदमनुवर्तेरन् न प्रतिशाखं व्यवतिष्ठेरन्। उद्गीथमित्यादिसामान्यश्रुतेरविशेषात्। एतदुक्तं भवति—युक्तं शुक्लं

भामती—व्याख्या

उपासना प्रत्येक शाखा में उचित है? अथवा अन्य वेद में विहित उपासनाओं का भी ग्रहण किया जाय?

**पूर्वपक्ष**—"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छां॰ १।१।१) यहाँ 'उद्गीथ' शब्द के द्वारा सामान्य उद्गीथ की अवगति होती है। "निर्विशेषं न सामान्यं भवेत्" (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ५४८) इस न्याय के आधार पर सामान्य का किसी-न-किसी विशेष में ही पर्यवसान होगा वह विशेष कौन है? ऐसी आकांक्षा में स्वकीय शाखा में विहित उद्गीथ सन्निहित है, अतः उसी से आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, शाखान्तरीय उद्गीथान्तर की अपेक्षा नहीं रहती। सन्निहित के अन्वय से उद्गीथरूप सामान्य श्रुति का पीडन असमञ्जस होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति-पीडन तब होगा, जबकि श्रुति-समर्पित अर्थ का सन्निधि से बाध हो किन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि 'उद्गीथ' शब्द के द्वारा अभिहित सामान्य और लक्षित विशेष अर्थ बाधित नहीं होते, अपितु शाखान्तरीय सामान्य और विशेष का स्वीकार न होने पर भी स्वकीय शाखागत सामान्य और विशेष स्वीकृत हैं, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

जातिव्यक्ती गृहीत्वेह वयं तु श्रुतिलक्षिते।
कृष्णादि यदि मुञ्चामः का श्रुतिस्तत्र पीड्यते॥ (श्लो॰ वा॰ पृ॰ ९४४)

['शुक्लं पटमानय' इस प्रकार के प्रयोग में श्रुति (अभिधा) और लक्षणा के द्वारा उपस्थित सामान्य और विशेष (शुक्ल पद) का ग्रहण करके कृष्णादि का परित्याग करते हैं, तब श्रुति की पीडा (बाधा) क्यों होगी?] फलतः प्रकृत में स्वकीय वेद-विहित उद्गीथोपासना का ही ग्रहण होता है, वेदान्तरीय का नहीं।

**सिद्धान्त**—कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ से सम्बन्धित उपासनाओं का सम्बन्ध प्रत्येक वेद की नाना शाखाओं में उपसंहृत होता है, प्रत्येक शाखा में व्यवस्थित नहीं, क्योंकि

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुत्यविशेषात्। स्वशाखान्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात्। न चैतन्याय्यम्, संनिधानात्तु श्रुतिर्बलीयसी। नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते। तस्मात् स्वैरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥ ५५ ॥

## मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

अथवा नैवात्र विरोधः शङ्कितव्यः-कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्यशाखा-

भामती

पटमानयेत्यादौ पटश्रुतिमविशेषप्रवृत्तामपि सन्निधानात् शुक्लश्रुतिर्बाधत इति। विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तत्वात् पदानां समभिव्याहारस्य। अन्यथा तदनुपपत्तेः। न च स्वार्थमस्मारयित्वा विशिष्टार्थप्रत्यायनं पदानामिति विशिष्टार्थप्रयुक्तं स्वार्थस्मारणं न स्वप्रयोजकमपबाधितुमुत्सहते। मा च बाधि प्रयोजकाभावेन स्वार्थस्मारणमपीति युक्तमविशेषप्रवृत्तायाः अपि श्रुतेरेकस्मिन्नेव विशेषे अवस्थापनम्। इह तूद्गीथश्रुतेरविशेषेण विशिष्टार्थप्रत्यायकत्वात्, सङ्कोचे प्रमाणं किञ्चिन्नास्ति। न च सन्निधिमात्रमपबाधितुमर्हति। श्रुतिसामान्यद्वारेण च सर्वविशेषगामिन्याः श्रुतेरेकस्मिन्नवस्थानं पीडैव। तस्मात्सर्वोद्गीथविषयाः प्रत्यया इति ॥ ५५ ॥

विरुद्धमिति नः सम्प्रत्ययो यत्प्रमाणेन नोपलभ्यते। उपलभ्यं च मन्त्रादिषु शाखान्तरीयेषु

भामती–व्याख्या

'उद्गीथम्'—इस प्रकार के सामान्य शब्द में कोई विशेषार्थ कहने की शक्ति नहीं। आशय यह है कि 'शुक्लं पटमानय'—इत्यादि प्रयोगों में 'पट' पद के सामान्य अर्थ में प्रवृत्त होने पर भी सन्निहित विशेषार्थक शुक्ल श्रुति के द्वारा बाधित हो जाता है। पदों का समभिव्ययहार (विविधार्थक अनेक पदों का उच्चारण) विशिष्टार्थ का बोधन कराने के लिए ही होता है अन्यथा (एक ही पद से विशिष्टार्थका बोध हो जाने पर) पद समभिव्याहाररूप वाक्य-प्रयोग ही अनुपपन्न हो जायगा। वाक्य का घटकीभूत प्रत्येक पद अपने अर्थ का स्मरण दिलाकर ही विशिष्टार्थ में पर्यवसित होता है, अतः स्वार्थ-स्मारण अपने प्रयोजकीभूत विशिष्टार्थ का बाध नहीं कर सकता। यदि स्वार्थस्मारण अपने उद्देश्य अत एव प्रयोजकीभूत विशिष्टार्थ का भी बाध कर देता है, तब स्वार्थस्मारण निरर्थक हो जाता है, अतः सामान्यार्थक पद का किसी विशेषार्थ में अव्यवस्थापन युक्त ही है, उदाहरणस्थल पर समभिव्याहृत शुक्ल पद के प्रभाव से पटरूप सामान्य श्रुति कुण्ठित हो जाती है किन्तु "उद्गीथमुपासीत" यहाँ पर विशेषार्थक पद का समभिव्याहार न होने के कारण 'उद्गीथ' पद अपने व्यापकीभूत सामान्यार्थ को कहता है, संकोच में कोई प्रमाण नहीं। यह जो कहा था कि "स्वशाखाविहितस्य विशेषस्य सन्निधानात्" अर्थात् स्वकीय शाखागत उद्गीथोपासना सन्निहित है, अतः सन्निधि (स्थान) प्रमाण के द्वारा उद्गीथरूप सामान्य श्रुति का बाध क्यों नहीं किया जाता? उसका उत्तर यह है कि सन्निधिरूप दुर्बल प्रमाणमात्र से सर्वतः प्रबल श्रुति का बाध नहीं किया जा सकता। यह भी जो कहा था कि सन्निधि के द्वारः सामान्य श्रुति का बाध नहीं किया जाता अपि सामान्य का विशेष में व्यवस्थापनमात्र है, वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि जो श्रुति अबाध गति से सामान्यार्थ का समर्पण करती है, उसको किसी विशेषार्थ में संकुचित करना श्रुति का पीडन या बाध ही है। श्रुति-सामान्य के आधार पर यही सिद्ध होता है कि समस्त उद्गीथ-विद्या का सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए ॥ ५५ ॥

किसी एक शाखा में विहित उद्गीथोपासना का सर्वत्र उपसंहार विरुद्ध नहीं, क्योंकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहिताः प्रत्यया भवेयुरिति ? गन्त्रादिवदविरोधोपपत्तेः । तथा हि—मन्त्राणां कर्मणां गुणानां च शाखान्तरोत्पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते । येषामपि हि शाखिनां कुटरुरसीत्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते—'कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसोति वा' इति । येषामपि समिदादयः प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—'ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः' इति । तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीयः' इति जातिविशेषोपदेशो नास्ति तेषामपि तद्विषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति । तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्नेर्वैहोत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः । तथा बह्वृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' ( ऋ० सं० २।६।७ ) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः । तस्माद्यथाऽऽश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥

---

## ( ३२ भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् । सू० ५७ )

**भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥**

'प्राचीनशाल औपमन्यवः' ( छां० ५।११।१ ) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते । व्यस्तोपासनं तावत्—'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' ( छा० ५।१२।१ ) इत्यादि, तथा समस्तोपासनमपि

---

भामती

शाखान्तरीयकर्मसम्बन्धित्वम् । तद्विहापीति दर्शनादविरोधः । एतच्च दर्शितं भाष्येण सुगमेनेति ॥५६॥

---

वैश्वानरविद्यायां छान्दोग्ये किं व्यस्तोपासनं समस्तोपासनञ्च उत समस्तोपासनमेवेति । तत्र दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचेति प्रत्येकमुपासनश्रुतेः प्रत्येकं च फलनत्वाम्नानात् समस्तोपासने च

---

भामती—व्याख्या

'विरुद्धमेतत्'—ऐसा व्यवहार किस पदार्थ के लिए होता हैं ? जो पदार्थ किसी प्रमाण से उपलब्ध न हो किन्तु अन्यशाखीय मन्त्रादि अङ्गों का सभी कर्मों में उपसंहार प्रामाणिक है, अतः अङ्गावबद्ध उपासनाओं का सर्वत्र उपसंहार उचित ही है, भाष्यकार ने पुष्कल उदाहरणों का प्रदर्शन कर इस सिद्धान्त को सुदृढ़ किया है ॥ ५६ ॥

---

**विषय**—"प्राचीनशाल औपमन्यवः" ( छां. ५।११।१ ) इस उपमन्यु-पुत्र प्राचीनशाल की आख्यायिका में वैश्वानर ( विराट पुरुष ) की उपासना के सन्दर्भ में विराट् पुरुष का मूर्धा ( शिर ) द्युलोक, चक्षु. सूर्य, प्राण वायु, धड़ आकाश, बस्ती ( मूत्रस्थान ) जल और पाद पृथिवी प्रतिपादित है । उपासना के दो प्रकार प्रदर्शित हैं—(१) व्यस्तोपासना- प्रत्येक अवयव में वैश्वानर-भावना और (२) समस्तोपासना—द्यु आदि अवयवों से सम्पन्न अवयवी ( विश्व ) में वैश्वानर-भावना ।

**संशय**—क्या यहाँ व्यस्त और समस्त उभयविध उपासना अनुष्ठेय है ? अथवा समस्तोपासनामात्र ?

**पूर्वपक्ष**—"दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच" ( छां. ५।१२।१ )। [ हे राजन् ! द्युलोकरूप वैश्वानर की उपासना करता हूँ ] इस प्रकार प्रत्येक की उपासना और उसका

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्माऽऽत्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः-किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद् व्यस्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति ? किं तावत्प्राप्तम् ? प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपास्त इति क्रियापदश्रवणात्, 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' ( छा० ५।१२।१ ) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च, व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम्।

भामती

फलवत्त्वश्रुतेा उभयथाप्युपासनम्। न च यथावैश्वानरीयेष्टौ यदष्टाकपालो भवतीत्यादीनामवयुत्यवादानां प्रत्येकं फलश्रवणेऽपि अर्थवादमात्रत्वं वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदित्यस्यैव तु फलवत्त्वमेवमत्रापि भवितुमर्हति। अत्र हि द्वादशकपालं निर्वपेदिति विधिभक्तिश्रुतिर्यदष्टाकपालो भवतीत्यादिषु वर्त्तमानापदेशः। न च वचनानि स्वपूर्वत्वादिति विधिकल्पना, अवयुत्यवादेन स्तुत्याप्युपपत्तेः, इह तु समस्ते व्यस्ते च वर्त्तमानापदेशस्याविशेषात्। अगृह्यमाणविशेषतया उभयत्रापि विधिकल्पनाया. फलकल्पनायाश्च भेदात्। निन्दायाश्च समस्तोपासनारम्भे व्यस्तोपासनेऽप्युपपत्तेः। श्यावो वा श्वाहुतिमभ्यवहरतीतिवद्

भामती-व्याख्या

फल श्रुत है। उसी प्रकार समस्तोपासना और उसका फल निर्दिष्ट है, अतः उभयविध उपासना उपादेय है।

**शङ्का**—वैश्वानरीय इष्टि का विधायक वाक्य है—"वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते। यदष्टाकपालो भवति, गायत्रियैवेनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति" ( तै० सं. २।२।५।३ ) [ पुत्र के उत्पन्न होने पर पिता एक इष्टि करता है, जिसका देवता वैश्वानर, द्रव्य द्वादशकपालों में संस्कृत ( पकाया गया ) पुरोडाश और पुत्रगत पुनीतत्वादि फल है ] "यदष्टाकपालो भवति"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा 'शते पञ्चाशत्'—न्यायतः प्राप्त आठ-नवादि कपालों के संस्कार का जो पृथक् फल बताया गया, वह अर्थवादमात्र है—"तस्मादष्टत्वादयोऽर्थवादाः" (शाबर पृ. ३५४)। वैसे ही प्रकृत में व्यस्तोपासना का फल-निर्देश अर्थवादमात्र क्यों नहीं ?

**समाधान**—दृष्टान्त में "द्वादशकपालं निर्वपेत्"—यहाँ विधि-विभक्ति श्रुत है और "यदष्टाकपालो भवति" इत्यादि वाक्यों में अर्थवादत्व-प्रयोजक वर्तमान काल का निर्देश है, अतः समस्तार्थक वाक्य को विधि-वाक्य और व्यस्तार्थक वाक्य को अर्थवाद मानना उचित है। "विधिर्वा वाऽपूर्वत्वाद् वादमात्रमनर्थकम्" ( जै. सू. १।२।१९ ) इस सूत्र के अनुसार उक्त अर्थवाद-वाक्यों को आनर्थक्यापत्ति के भय से विधि-वाक्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि अर्थवाद-पक्ष में भी अत्यन्त आनर्थक्य प्रसक्त नहीं होता, समस्त-विधान-स्तावकत्वेन सार्थक हो जाता है। किन्तु प्रकृत में वैश्वानर के समस्त और व्यस्त का निर्देश करनेवाले उभय-विध वाक्यों में समानरूप से वर्तमान फल का उल्लेख है, अन्य किसी प्रकार की विशेषता का निर्देश नहीं, अतः उभयत्र बिधि-कल्पना या फल-कल्पना की विनिगमना सम्भव नहीं। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" ( छां. ५।१३।२ ) इस प्रकार की निन्दा भी किसी एक पक्ष की नहीं, अपितु समस्त उपासना के आरम्भ में निर्दिष्ट निन्दा का अन्वय व्यस्तोपासना में भी वैसे ही हो जाता है, जैसे कि उदित-होम और अनुदित-होम दोनों की निन्दा की गई है—"श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति। शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति" ( न्या. भा. २।१।५८ में अद्धृत ) [ ऋ. सं. १०।१४।१० में यम के चार-चार आँख वाले श्याव और शबल नाम के दो कुत्तों का उल्लेख है। 'अग्निहोत्र' कर्म में काल का विकल्प है, अतः कुछ लोग उदित ( सूर्योदय होने पर ) होम अपनाते हैं और कुछ लोग अनुदित

CC-0. Kamini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततोऽभिधीयते—भूम्नःपदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्यमस्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि। क्रतुवत्—यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु सामस्त्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते, न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम्। नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य तद्वत्। कुत एतद्भूमैव ज्यायानिति? तथा हि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति, एकवाक्यतावगमात्। एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते। तथा हि—प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षड् ऋषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुरित्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति। पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' छा० ५।१८।१) इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति। यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवं सत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम्। तथोपास्स्व इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम्। तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयनिति। केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववच-

---

भामती

उभयविधमुपासनमिति प्राप्ते उच्यते समस्तोपासनस्यैव ज्यायस्त्वं न व्यस्तोपासनस्य। यद्यपि वर्त्तमानापदेशत्वमुभयत्राप्यविशिष्टं तथापि पौर्वापर्य्यालोचनया समस्तोपासनपरत्वस्यावगमः। यत्परं हि वाक्यं तदस्यार्थः। तथाहि—प्राचीनशालप्रभृतयो वैश्वानरविद्यानिर्णयायाश्वपतिं कैकेयमाजग्मुः। ते च तत्तदेकदेशोपासनमुपन्यस्तवन्तः। तत्र कैकेयस्तत्तदुपासननिन्दापूर्वं तन्निवारणेन समस्तोपासनमुपसञ्जहार। तथा चैकवाक्यतालाभाय वाक्यभेदपरिहाराय च समस्तोपासनपरतैव सन्दर्भस्य लक्ष्यते। तस्माद् बहुफल-

---

भामती—व्याख्या

(सूर्योदय से पहले होम करते हैं। स्वीकृत पक्ष का उल्लङ्घन होने पर उनकी निन्दा की गई है कि उदित होम करनेवाले यजमान की हवि श्याव कुत्ता खा जाता है और अनुदित होम करनेवाले यजमान की आहुति शबल नाम का कुत्ता खा जाता है—

श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ।
ताभ्यां पिण्डं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ॥

इस प्रकार उन्हीं कुत्तों को पिण्डदान दिया जाता है]। जैसे अव्यवस्थित उभय-विध की निन्दा से व्यवस्थित उभय-विध का विधान माना जाता है। वैसे ही "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्"—यह उपासना की निन्दा भी उभय-विध उपासना में पर्यवसित होती है।

**सिद्धान्त**—समस्तोपासना का औचित्य ज्यायान् है। यद्यपि फल-निर्देश में वर्तमानता का उल्लेख दोनों पक्षों में ही समान है, तथापि पौर्वापर्य की पर्यालोचना से प्रकृत सन्दर्भ समस्तोपासना में ही पर्यवसित होता है। जो वाक्य यत्परक होता है, वही उसका अर्थ माना जाता है, जैसे कि प्राचीनशाल आदि ऋषिगण वैश्वानर-विद्या का निर्णय जानने के लिए कैकेयराज अश्वपति के पास गए। उन ऋषियों में प्रत्येक ने एकदेश की उपासना प्रस्तुत की। कैकेयराज ने अवयवोपासना की निंदा करके समस्तोपासना का उपसंहार किया। फलतः वाक्य-भेद से बचने और एकवाक्यता की सम्पत्ति के लिए पूरे सन्दर्भ का तात्पर्य समस्तोपासना में ही मानना आवश्यक है, अतः "स सर्वेषु लोकेषु" (छां. ५।१८।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा फलगत पुष्कलता का निर्देश प्रधानभूत समस्तोपासना की प्रशंसा और फलवत्ता का गमक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नादेव किल व्यस्तोपासनपक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यत इति कथयन्ति। तदयुक्तम्, एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात्, 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१२।२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात्, स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात्, सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥ ५७ ॥

—— ——

## ( ३३ शब्दादिभेदाधिकरणम् । सू० ५८ )

### नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि श्रुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्। अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपाशिष्यन्त इति। अपि च नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते। वेद्यभेद एवेश्वरः श्रुति-

भामती

सङ्कीर्त्तनं प्रधानस्तवनाय। समस्तोपासनस्यैव तु फलवत्त्वमिति सिद्धम्। एकदेशिव्याख्यानमुपन्यस्य दूषयति ❀ केचित्त्वत्र इति ❀। सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वात्। नेदृशं सूत्रव्याख्यानं समञ्जसमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

सिद्धं कृत्वा विद्याभेदमधस्तनं विचारजातमभिनिवर्त्तितम्। सम्प्रति तु सर्वासामीश्वरगोचराणां विद्यानां किमभेदो भेदो वा एवं प्राणादिगोचरास्विति विचारयितव्यम्। ननु यथा प्रत्ययाभिधेयाया अपूर्वभावनाया आजानतो भेदाभावेऽपि धात्वर्थेन निरूप्यमाणत्वात् तस्य च यागादेर्भेदात् प्रकृत्यर्थयागादिधात्वर्थानुबन्धभेदाद्भेदः। तवनुरक्ताया एव तस्याः प्रतीयमानत्वात्। एवं विद्यानामपि रूपतो वेद्यस्येश्वरस्याभेदेऽपि तत्तत्सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणोपधानभेदाद्विद्याभेद इति नास्त्यभेदाशङ्का। उच्यते—युक्तमनुबन्धभेदात्कार्यरूपाणामपूर्वभावनानां भेद इति। इह ब्रह्मणः सिद्धरूपत्वाद् गुणानामपि सत्यसङ्कल्पत्वा-

भामती—व्याख्या

है। एकदेशी आचार्य के मत का उपन्यास करके निरास करते हैं—"केचित् तु"। एकदेशी के मतानुसार प्रकृत सन्दर्भ में एकवाक्यता सुरक्षित नहीं रहती किन्तु जहाँ तक एकवाक्यता की उपपत्ति हो सकती हो वहाँ तक वाक्य-भेद से वचना आवश्यक है—"सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्तु नेष्येत" (श्लो. वा. पृ. १३५)॥ ५७॥

———

**संशय**—पूर्वतन अधिकरण में भिन्न शब्द-प्रतिपादित भिन्न फलक व्यस्त-विद्याओं का अभेद मानकर विचार किया गया, अब ईश्वरविषयक सभी उपासनाओं का क्या अभेद है? अथवा भेद? इसी प्रकार प्राणादिविषयक विद्याओं का भेदाभेद विचारणीय है।

**शंका**—जैसे 'यजेत'—यहाँ 'त' प्रत्यय से अभिहित पुरुष-प्रवृत्तिरूप अपूर्व भावना का स्वभावतः कोई भेद नहीं होता, अपितु जिस यागादिरूप धात्वर्थ से निरूपित होती हैं, वह स्वतः भिन्न होता है, अतः प्रकृत्यर्थभूत धात्वर्थरूप अनुबन्ध के भेद से भावना का भेद माना जाता है, क्योंकि धात्वर्थ से अनुबन्धित होकर ही भावना की प्रतीति होती है। वैसे ही सभी विद्याओं के वेद्यरूप ब्रह्म का स्वतः भेद न होने पर भी तत्तत्सत्यसङ्कल्पत्वादि गुणात्मक उपाधि के भेद से ईश्वर का भेद हो जाता है, अतः अभेद की आशङ्का क्योंकर होगी?

**समाधान**—भावना सिद्ध नहीं, साध्यरूप है, अतः धात्वर्थरूप अनुबन्ध के भेद से अपूर्व भावना का भेद सर्वथा उचित है, किन्तु प्रकृत में ब्रह्म सिद्ध पदार्थ है, तदाश्रित सत्य-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमादिषु। तथा 'एक एव प्राणः' 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७।१५।१) इत्येवमादिषु। गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम्। तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवेद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकार्त्स्न्यायेति।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—नानेति। वेद्याभेदेऽप्येवंजातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति, कुतः? शब्दादिभेदात्। भवति हि शब्दभेदः—'वेद' 'उपासीत' 'स कृतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिः। शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्ताच्छन्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादिति। आदिग्रहणाद् गुणादयोऽपि यथासंभवं भदहेतवो योजयितव्याः। ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते, न यजतीत्यादिवदर्थभेदः सर्वेषामेवैषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात्, अर्थान्तरासंभवाच्च। तत्कथं शब्दभदाद्विद्याभद इति? नैष दोषः, मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभदोपपत्तेः। एकस्यापीश्वरस्योपास्यस्य प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः

भामती

दीनां तदाश्रयाणां सिद्धतया सर्वत्राभेदो विद्यासु। नहि विशालवक्षाश्चकोरेक्षणः क्षत्रिययुवा दुश्चयवनधर्मेति एकत्रोपविष्टोऽन्यत्र सिंहास्यो वृषस्कन्धः स एवोपविश्यमानश्चकोरेक्षणत्वाद्यपजहाति। न खलु प्रत्युपदेशं वस्तु भिद्यते। तस्य सर्वत्र तादवस्थ्यात्। अतादवस्थ्ये वा तदेव न भवेत्। नहि वस्तु विकल्प्यत इति। तस्माद्वेद्याभेदाद् विद्यानां भेद इति प्राप्तम्। एवं प्राप्ते उच्यते—भवेदेतदेवं यदि वस्तुनिष्ठान्युपासनवाक्यानि किन्तु तद्विषयामुपासनाभावनां विदधति। सा च कार्यरूप यद्यपि चोपासनाभावना उपासनाधीननिरूपणोपासनं चोपस्याधीननिरूपणमुपास्यं वेश्वरादि व्यवस्थितरूपम्। तथाप्युपासनाविषयीभावोऽस्य कदाचित् कस्यचित् केनचिद् रूपेणेत्यपरिनिष्ठित एव। यथैकः स्त्रीकायः केन-

भामती—व्याख्या

संकल्पत्वादिरूप गुण भी सिद्धरूप है, अतः गुणादि के भेद से विद्याओं का भेद सम्भव नहीं, क्योंकि किसी क्षत्रिय युवा पुरुष की प्रशंसा में एक स्थान पर कहा गया—'विशालवक्षः, चकोरेक्षणः, दुश्च्यवनधर्मा' [ विशाल वक्षःस्थलवाला, चकोर-जैसे नेत्रवाला, इन्द्र-जैसा पराक्रमी ]। उसी युवा पुरुष के लिए दूसरे स्थान पर कहा गया—'सिंहास्यः, वृषस्कन्धः' [ सिंह-जैसे मुखवाला, वृषभ-जैसे कन्धेवाला ] इतना ही कहा गया। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जाता कि पहले के विशालवक्षःस्थलत्वादि गुण नहीं रहे, क्योंकि उपदेश-भेद से वस्तु में भेद नहीं आया करता, उपदिश्यमान पदार्थ सर्वत्र जैसे-का-तैसा ही रहता है। कुछ अन्तर मानने पर तदवस्थता नहीं रह सकती। फलतः वेद्य का अभेद होने पर विद्याओं का भेद कभी नहीं हो सकता।

सिद्धान्त—ऐसा तब हो सकता था, जब कि उपासनाएँ वस्तुनिष्ठ (वस्तु के आश्रित) होतीं। उपासना का सम्बन्ध वस्तु से न होकर तद्विषयक (वस्तुविषयक) भावना से होता है। उपासना-भावना कार्यरूप (साध्यात्मक) है, एक ही वस्तु की उपासना अनेक भावों (रूपों) में की जा सकती है, अत एव यद्यपि उपासना को उपास्य की अपेक्षा है और उपास्य ईश्वर एक ही है। तथापि उसकी कदाचित् उपासना सत्यकामत्वरूपेण, कदाचित् संयद्वामत्वेन और कदाचित् अन्यरूपेण हो सकती है, अतः एक वस्तु में अनेक उपासनाएँ पर्यवसित होती हैं। जैसे कि एक ही स्त्री-शरीर शृगालादिके द्वारा भक्ष्यत्वेन, कामी पुरुष के द्वारा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिष्यन्ते। तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्याद्गुणोऽन्यत्रोपास्तव्योऽन्याद्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद्बध्नभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते। न चात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम्, विनिगमनायां हेत्वभावात्, अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन विधानानुपपत्तेः। न चास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रावयितव्याः। प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदंकामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नैकवाक्यतापत्तिः। न चात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनापरास्ति यद्बलेन प्रतिप्रकरणवर्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामियुः। वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्येकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत। तस्मात्सुष्ठूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति। स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम्॥ ५८॥

---

भामती

चिद्रूपतया केनचिदुपगन्तव्यतया केनचिदपत्यतया केनचिन्मातृतया केनचिदुपेक्षणीयतया विषयीक्रियमाणः पुरुषेच्छातन्त्रः। एवमिहापि उपासनानि पुरुषेच्छातन्त्रतया विधेयतां नातिक्रामन्ति। न च तत्तद्गुणतयोपासनानि गुणभेदान्न भिद्यन्ते। न चाग्निहोत्रमिवोपासनं विधाय दधितण्डुलादिगुणवदिह सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणविधिर्येनैकशास्त्रत्वं स्यात्। अपि तूत्पत्तावेवोपासनानां तत्तद्गुणविशिष्टानामवगमात्। तत्रागृह्यमाणविशेषतया सर्वासां भेदस्तुल्यः। न च समस्तशाखाविहितसर्वगुणोपसंहारः शक्यानुष्ठानः। तस्माद् भेदः। न चास्मिन् पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादय इति। केचित् खलु गुणाः कासुचित् विद्यासु समानास्तेनैकविद्यात्वे आवर्त्तयितव्याः, एकत्रोक्तत्वात्। विद्याभेदे तु न पौनरुक्त्यमेकस्यां विद्यायामुक्ता विद्यान्तरे नोक्ता इति विद्यान्तरस्यापि तद्गुणत्वाय वक्तव्या अनुक्तानामप्राप्तेरिति॥५८॥

---

भामती—व्याख्या

भोग्यत्वेन, माता के द्वारा पुत्रीत्वेन, पुत्री-द्वारा मातृत्वेन और तटस्थ भिक्षु के द्वारा उपेक्ष्यत्वेन देखा जाता है। प्रत्येक द्रष्टा की भावना और इच्छा पर आश्रित वस्तु के रूप भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वैसे ही उपासनाएँ भी पुरुष की इच्छा का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। एक ही वस्तु की विभिन्नगुण-युक्तत्वेन क्रियमाण उपासनाएँ गुण-भेद से भिन्न नहीं होतीं—ऐसा नहीं हो सकता, अपितु अवश्य भिन्न होती हैं। यह कहा जा चुका है कि उत्पन्न-शिष्ट गुणों का विधान कर्म का भेदक नहीं होता, "अत एव अग्निहोत्रं जुहोति"—इस उत्पत्ति-विधि के द्वारा विहित अग्निहोत्र कर्म के उद्देश्य से "दध्ना जुहोति", "पयसा जुहोति"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा दधि, पय, तण्डुलादि, दश गुणों का विधान होने पर भी 'अग्निहोत्र' कर्म एक ही रहता है, आमिक्षा, वाजिन के समान कर्म-भेद नहीं होता। किन्तु प्रकृत में उपासना के उत्पत्ति-वाक्य में ही सत्यसंकल्पत्वादि गुणों का विधान किया गया है, अतः आमिक्षा और वाजिन गुणों के भेद से जैसे कर्म-भेद होता है, वैसे ही प्रकृत उपासनाओं का भेद सिद्ध होता है। नाना गुणों से विशिष्ट यदि सभी उपासनाओं को एक माना जाता है, तब ऐसी उपासना के अनुष्ठान का सामर्थ्य किसी व्यक्ति में सम्भव नहीं हो सकता, अतः उपासनाओं का भेद मानना आवश्यक है।

"न चास्मिन् पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणाः"। इस भाष्य का आशय यह है कि कतिपय गुण कुछ उपासनाओं में समान हैं, उनके एकविद्यात्व-पक्ष में आवृत्ति करनी होगी, क्योंकि किसी एक शाखा में कथित हैं किन्तु जब उपासना-भेद मानते हैं, तब पुनरुक्ति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ३४ विकल्पाधिकरणम् । सू० ५९ )

### विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते—किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात्, अथवा विकल्प एव नियमेनेति ? तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचित्कारणमस्ति । ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते । नैष दोषः । नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणं नैवं विद्यानां कचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति । तस्मान्न समुच्चयनियमः । नापि विकल्पनियमः, विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तरा-प्रतिषेधात् । पारिशेष्याद्याथाकाम्यमापद्यते । नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः । तथाहि 'मनोमयः प्राणशरीरः' ( छा० ३।१४।२ ) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' ( छा० ४।१०।५ ) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' ( छा० ८।१।५ ) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्ति-फला लक्ष्यन्ते । नैष दोषः, समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु याथाकाम्य-दर्शनात् । तस्माद्याथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प एवासां भवितुमर्हति, न समुच्चयः ।

भामती

अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिषु पृथगधिकाराणामपि समुच्चयो दृष्टो नियमवान् तेषां नित्यत्वादु-पासनास्तु काम्यतया न नित्यास्तस्मान्नासां समुच्चयनियमः । तेन समानफलानां दर्शपौर्णमासज्योतिष्टो-मादीनामिव न नियमवान्विकल्पः फलभूमार्थिनः समुच्चयस्यापि सम्भवादिति पूर्वः पक्षः । उपासनानाम-मूषामुपास्यसाक्षात्करणसाध्यत्वात् फलभेदस्यकेनोपासनेनोपास्यसाक्षात्करणे तत एव फलप्रतिलाभे तु कृतमुपासनान्तरेण । न च साक्षात्करणस्यातिशयसम्भवः, तस्योपायसहस्रैरपि तावत्त्वस्यात् । तन्मात्रसाध्य-त्वाच्च फलावाप्तेः । उपासनान्तराभ्यासे च चित्तैकाग्र्यव्याघातेन कस्यचिदुपासनानिष्पत्तेरिह विकल्प

भामती-व्याख्या

नहीं होती, क्योंकि एक ही विद्या में वे विहित हैं, अन्यत्र नहीं, अतः विद्यान्तर की अङ्गता के लिए वहाँ भी विधान करना होगा, बिना विधान के उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ५८ ॥

---

**संशय**—अहंग्रह ( 'सोऽहम्'—इस प्रकार की जीव में ब्रह्माभेद की) उपासनाओं का विचार आगे चलकर चौथे अध्याय में किया जायगा । उनके लिए यहाँ सन्देह किया जाता है कि वैसी अनेक उपासनाओं में समुच्चय या विकल्प का कोई नियम नहीं ? अथवा नियम है ?

**पूर्वपक्ष**—कर्मानुष्ठान में यद्यपि 'अग्निहोत्र', और 'दर्शपूर्णमास' आदि नित्य कर्मों का नियमतः समुच्चय देखा जाता है, तथापि उपासनाएँ काम्य कर्म हैं, इनके अनुष्ठान में समु-च्चय का नियम सम्भव नहीं । जैसे समानफलक अग्निहोत्रादि काम्य कर्मों के अनुष्ठान में कोई विकल्प नहीं, क्योंकि अधिक फल की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति समानफलक अनेक कर्मों का भी अनुष्ठान कर लेता है । वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्काररूप समान फलवाली अनेक अहंग्रह उपासनाओं का भी अनुष्ठान हो सकता है, अतः इनमें विकल्प का भी कोई नियम नहीं ।

**सिद्धान्त**—सभी अहंग्रह उपासनाओं का एक ही फल है—ब्रह्मात्मसाक्षात्कार । इसमें स्वर्गादि के समान कोई अल्पीयस्त्व-भूयस्त्व सम्भव नहीं, अतः जब किसी एक अहंग्रह उपासना से उसी फल का प्रतिलाभ हो जाता है, तब पुनः उसी फल के लिए अन्य उपासना कौन करेगा ? दो नहीं, सहस्रों उपासनाओं से भी ब्रह्मसाक्षात्काररूप फल में कोई उत्कर्ष सम्भव नहीं, प्रत्युत एक उपासना के परित्याग और उपासनान्तर के ग्रहण में उपासक को असह्य विक्षेप ही होगा, फलतः अहंग्रह उपासनाओं में विकल्प-पक्ष ही नियमतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कस्मात् ? अविशिष्टफलत्वात्। अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम्। एकेन चोपासनेन साक्षात्कृत उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम्। अपि चासंभवः, साक्षात्करणस्य समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वात्। साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्याद्धा च विचिकित्सास्ति' (छा० ३।१४।४) इति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४।१।२) इति चैवमाद्याः। स्मृतयश्च—'सदा तद्भावभावितः' (भ० गी० ८।६) इत्येवमाद्याः। तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥

---

## ( ३५ काम्याधिकरणम्। सू० ६० )

**काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥**

'अविशिष्टफलत्वादित्यस्य प्रत्युदाहरणम्। यासु पुनः काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदं रोदिति' (छा० ३।१५।२) 'स यो नाम ब्रह्मत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) इति चैवमाद्यासु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीयं फलं साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति। ता यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्, पूर्वहेत्वभावात्। पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥ ६० ॥

---

## ( ३६ यथाश्रयभावाधिकरणम्। सू० ६१-६६ )

**अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥**

कर्माङ्गेष्वद्गीथादिषु य अश्रिताः प्रत्यया वेदत्रयविहिताः किं ते समुच्चीयेरन्

भामती

एव नियमवानिति सिद्धान्तः ॥ ५९ ॥

---

यासूपासनासु * विनोपास्यसाक्षात्करणमदृष्टेनैव काम्यसाधनं तासां काम्यदर्शपौर्णमासादिवत् पुरुषेच्छावशेन विकल्पसमुच्चयाविति साम्प्रतम् ॥ ६० ॥

---

तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग् हि अप्रतिबन्धः फलमित्यत्रोपासनासु फलश्रुतेः पर्णमयीन्यायेनार्थवादतयोपासनानां क्रत्वर्थत्वेन समुच्चयनियममाशङ्क्य पुरुषार्थतयैकप्रयोगवचनग्रहणाभावेन समुच्चय-

भामती—व्याख्या

उपादेय है ॥ ५९ ॥

---

**संशय**—प्रतीकात्मक काम्य उपासनाओं में कोई विकल्प का नियम है ? अथवा नहीं ?

**सिद्धान्त**—जो उपासनाएँ उपास्य-साक्षात्कार के बिना ही अदृष्ट के माध्यम से काम्य फलों की साधनीभूत हैं, उनके विषय में काम्यात्मक दर्शपूर्णमासादि के समान ही पुरुष की इच्छा के अनुसार विकल्प और समुच्चय अपनाए जा सकते हैं ॥ ६० ॥

---

**संशय**—कर्माङ्ग-सम्बन्धी प्रतीकोपासनाओं में कोई समुच्चयादि का नियम है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—[ जैसे कर्म के अङ्गीभूत स्तोत्रादि का समुच्चयरूप से अनुष्ठान किया

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किं वा यथाकामं स्युरिति संशये यथाश्रयभाव इत्याह। यथैवैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्त्येवं प्रत्या अपि आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम् ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

यथा वाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिषु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः। नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥ ६२ ॥

भामती

नियमो निरस्तः। इह तु सत्यपि पुरुषार्थत्वे कस्मान्नैकप्रयोगवचनग्रहणं भवतीति पूर्वोक्तमर्थमाक्षिपन् प्रत्यवतिष्ठते। यद्यपि हि काम्या एता उपासनास्तथापि न स्वतन्त्रा भवितुमर्हन्ति। तथा सति हि क्रत्वर्थानाश्रिततया क्रतुप्रयोगाद्बहिरप्यमूषां प्रयोगः प्रसज्यते। न च प्रयुज्यन्ते। तत् कस्य हेतोः? क्रत्वर्थाश्रितानामेव तासां तत्तत्फलोद्देशेन विधानादिति। एवं चाश्रयतन्त्रत्वादाश्रितानां प्रयोगवचनेनाश्रयाणां समुच्चयनियमेनाश्रितानामपि समुच्चयनियमो युक्त, इतरथा तदाश्रितत्वानुपपत्तेः। स क प्रयोगवचन उपासनाः समुच्चिन्वन् तत्तत्फलकामनानामवश्यम्भावमाक्षिपति। तदभावे तासां समुच्चयनियमाभावादिति मन्वानस्य पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु यथाविहितादिष्टपदार्थानुरोधी प्रयोगवचनो न पदार्थस्वभावानन्यथयितुमर्हति। किन्तु तदविरोधेनावतिष्ठते। तत्र क्रत्वर्थानां नित्यवदाम्नानात्। तथाभावस्य च

भामती—व्याख्या

जाता है, वैसे ही तदाश्रित उपासनाओं का नियमतः समुच्चय होना चाहिए ]। "तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग् हि अप्रतिबन्धः फलम्" ( ब्र. सू. ३।३।४२ ) इस सूत्र में कहा गया था कि उपासनाओं में स्वतन्त्र फलश्रुति वैसे ही अर्थवाद है, जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति" ( तै. सं. ३।५।७।२ ) यहाँ पर जुहूगत पर्णता की फल-श्रुति अर्थवादमात्र है, क्योंकि उपासनाएँ जुहू आदि के समान यज्ञ की अङ्ग है, अतः समुच्चय का नियम मानना चाहिए—ऐसी शङ्का उठाकर उसका निरास यह कहकर किया गया है कि उपासनाएँ स्वतन्त्र पुरुषार्थ हैं, क्रत्वर्थ नहीं, अतः कर्मविषयिणी प्रयोग विधि के द्वारा उपासनाओं का ग्रहण न होने के कारण समुच्चय का नियम सम्भव नहीं, किन्तु प्रकृत में उक्त सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपासनाओं के पुरुषार्थ होने पर भी प्रयोग-विधि के द्वारा अन्य अङ्गों के समान अङ्गावबद्ध उपासनाओं का ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ?

यद्यपि ये उपासनाएँ काम्य हैं, तथापि स्वतन्त्र ( कर्म-सम्बन्ध-निरपेक्ष ) नहीं हो सकतीं, अन्यथा क्रत्वङ्गों के आश्रित होने के कारण क्रतु-प्रयोग से बाहर भी इन उपासनाओं का प्रयोग प्रसक्त होगा, किन्तु क्रतु से बाहर इनका प्रयोग नहीं होता। वह क्यों ? वह इसलिए कि यहां क्रत्वङ्गाश्रित उपासनाओं का ही विधान विशिष्ट फल के उद्देश्य से किया गया है। इस प्रकार आश्रित पदार्थ सदैव अपने आश्रय के अधीन होने के कारण आश्रयीभूत अङ्गों के समान ही तदाश्रित उपासनाओं का भी समुच्चय-नियम उचिततर है, अन्यथा इन उपासनाओं में अङ्गाश्रितत्व अनुपपन्न हो जायगा। कर्म-प्रयोगविधि ही उपासनाओं का समुच्चय कराती हुई तत्तत्फल-कामनाओं की अवश्यंभावता की कल्पना कराती है, क्योंकि उनके न होने पर उपासनाओं का समुच्चय-नियम ही अक्षुण्ण नहीं रहता—ऐसा मान कर ही पूर्वपक्ष किया गया है।

**सिद्धान्त**—जो पदार्थ जैसा विहित और उद्दिष्ट है, प्रयोगविधि उसका अन्यथाकरण कभी नहीं कर सकती, अपितु उसके अनुरूप ही अपना स्वरूप गठित करती है। क्रतु के उद्गीथादि अङ्ग नित्यतया विहित हैं, अतः प्रयोगविधि का समुच्चय करती है, किन्तु

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाहारात् ॥ ६३ ॥

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' ( छा० १।५।५ ) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमाद्धातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदितपदार्थसंबन्धसामान्यात्सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोंकारं वेदत्रयसाधारणं श्रावयति—'तेनेयं त्रयी

भामती

सम्भवात् । नियमेनैतान् समुच्चिनोतु । कामावबद्धास्तूपासनाः कामानामनित्यत्वान्न समुच्चयेन नियन्तुमर्हति । नहि कामा विधीयन्ते येन समुच्चीयेरन् अपि तूद्दिश्यन्ते । मानान्तरानुसारी चोद्देशो न तद्विरोधेनोद्देश्यमन्यथयति । तथा सत्युद्देशानुपपत्तेः । तस्मात् कामानामनित्यत्वात्तदवबद्धानामुपासनानामप्यनित्यत्वम् । नित्यानित्यसंयोगविरोधात्सत्यपि तदाश्रयाणां नित्यत्वे इवमेव चाश्रयतन्त्रत्वमाश्रितानां यदाश्रये सत्येव वृत्तिर्नासतीति । न तु तत्र वृत्तिरेव नावृत्तिरिति तदिदमुक्तम् ॐ आश्रयतन्त्राण्यपि हि इति ॐ ॥ ६१–६२ ॥

ॐ होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति इति ॐ । अपिर्भिन्नक्रमो दुरुद्गीथमपीति वेदान्तरोदितप्रणवोद्गीथैकत्वप्रत्ययसामर्थ्याद्धोतृकर्मणः शंसनाद् उद्गाता प्रतिसमादधाति । किं तदित्यत आह दुरुद्गीथमपि । वेदान्तरोदिते चोद्गात्रे कर्मणि उत्पन्नं क्षतम् । एवं ब्रुवन्वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्येत्यादि योजनीयम् ॥ ६३ ॥

भामती—व्याख्या

तत्तत्कामना से अनुष्ठीयमान उपासनाओं का समुच्चय इसलिए नहीं हो सकता कि कथित कामनाएँ नियत नहीं। समुच्चय सदैव विधेय पदार्थों का ही होता है, काम ( फल ) विधेय नहीं होते किन्तु उनके उद्देश्य से साधनों का विधान किया जाता है। प्रमाणान्तर से अधिगत होने के कारण उद्देश सदैव प्रमाणान्तर का अनुसरण ही करता है, प्रमाणान्तर के विरोध में उद्देश अपने उद्देश्य का अन्यथाकरण नहीं कर सकता, अन्यथा उद्देश्यता ही अनुपपन्न हो जाती है। फलतः उपासनाओं का काम (फल) के साथ संयोग अनित्य होने के कारण उपासनाएँ अनित्य और कर्माङ्गों का कर्म के साथ सम्बन्ध नित्य होने के कारण अङ्ग नित्य होते हैं। उपासनाओं का अनित्य फलों के साथ सम्बन्ध अनित्य और नित्यभूत उद्गीथादि अङ्गों के साथ सम्बन्ध नित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि नित्य संयोग और अनित्य संयोग का परस्पर-विरोध है। नित्य अङ्गों में यही उपासनाओं की आश्रयता है कि अङ्गों के होने पर ही उपासनाओं का अस्तित्व है, अङ्गों में सदा अस्तित्व नहीं। पैंसठवें सूत्र में भाष्यकार यही कह रहे हैं—"आश्रयतन्त्राण्यपि हि उपासनानि" ॥ ६१, ६२ ॥

[ "होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" ( छां. १।५।५ ) यहाँ पर 'अपि' शब्द का स्थान-परिवर्तन करके 'दुरुद्गीथमपि'—ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए, ऋग्वेद की होत्र, सामवेद की औद्गात्र एवं यजुर्वेद की आध्वर्यव परिभाषा याज्ञिकों ने बना रखी है, क्योंकि होता ऋग्वेदीय शस्त्रों ( सामगान-रहित ऋङ्मन्त्रों ) का पाठ करता है, उद्गाता सामवेदीय स्तोत्रों ( सामगान-युक्त ऋङ्मन्त्रों ) का गान करता है एवं अध्वर्यु यजुर्वेद-विहित विधि-विधानों का अनुष्ठान किया करता है। ऋग्वेदीय प्रणव और सामवेदीय उद्गीथ की एकत्वोपासना का यह फल है कि उद्गाता द्वारा उद्गीथ-गान में जो स्वरादि की अशुद्धि आ जाती


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधा वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' (छा० १।१।९) इति च। ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव। अथवा गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति। यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः। ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्गग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते। ततश्चाश्रयसहभावात्प्रत्ययसहभाव इति ॥ ६४ ॥

## न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

न वेति पक्षव्यावर्तनम्। न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवितुमर्हति। कुतः? तत्सहभावाश्रुतेः। यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रादीनां सहभावः श्रूयते—'अहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तोत्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेतद्यज' इत्यादिना। नैवमुपासनानां सहभावश्रुतिरस्ति। ननु प्रयोगवचनैषां सहभावं प्रापयेत्। नेति ब्रूमः, पुरुषार्थत्वादुपासनानाम्। प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयेत्। उद्गीथाद्युपासनानि क्रत्वर्थाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृथग् हि अप्रतिबन्धः फलम्' (ब्र. सू. ३।३।४२) इत्यत्र। अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति। परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात्। नच प्रतियोगमाश्रयकात्स्न्र्योपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्। अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम्। आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि कामम्माश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावेन सहभावनियममर्हन्ति, तत्सहभावाश्रुतेरेव। तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

## दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वाऋत्विजोऽभिरक्षति' (छा. ४।१७।१०) इति। सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि सर्वे सर्वविदः इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत। तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
श्रीच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

---

भामती

अस्य सूत्रस्यान्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन च व्याख्या, शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां
तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥

---

भामती—व्याख्या

है, वह होतृषदन ( होतृस्थानोपलक्षित होता के सम्यक् प्रयोग ) के अनुसार उद्गाता शुद्ध कर लिया करता है—"दुरुद्गीथमपि" ॥ ६३ ॥

"गुणसाधारण्यश्रुतेश्च"—इस सूत्र की अन्वयमुखेन और व्यतिरेकमुखेन व्याख्या भाष्यकार ने प्रस्तुत की है। शेष सूत्र और उसका भाष्य अत्यन्त सुगम है ॥ ६४–६६ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां भामतीव्याख्यायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ।

### [ अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः ]

### ( १ पुरुषार्थाधिकरम् । सू० १–१७ )

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित् स्वन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते– पुरुषार्थोऽत इति । अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते ? शब्दादित्याह । तथा हि—'तरति शोकमात्मवित्' ( छा. ७।१।३ ), स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' ( मु. ३।२।९ ), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ( तै. २।१।१ ) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' ( छा. ६।१४।२ ) इति, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ( छा. ८।७।१ ) इत्युपक्रम्य 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति ( छा. ८।७।१ ) इति, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ( बृ ४।५।६ ) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतम्' ( बृ. ४।५।।५ ) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥ १ ॥

भामती

स्थितं कृत्स्नौपनिषदामपवर्गाख्यपुरुषार्थसाधनात्मज्ञानपरत्वमुपासनानां च तत्तत्पुरुषार्थसाधनत्वमधस्तनं विचारजातमभिनिर्वर्त्तितम् । सम्प्रति तु किमौपनिषदात्मतत्त्वज्ञानमपवर्गसाधनतया पुरुषार्थमाहो क्रतुप्रयोगापेक्षितकर्तृप्रतिपादकतया क्रत्वर्थमिति मीमांसामहे । यदा च क्रत्वर्थं तदा यावन्मात्रं क्रतुप्रयोगविधिनापेक्षितं कर्तृत्वमामुष्मिकफलोपभोक्तृत्वं च । न चैतदनित्यत्वे घटते कृतविप्रणाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । अतो नित्यत्वमपि तावन्मात्रमुपनिषत्सु विवक्षितम् । इतोऽन्यत्वमनपेक्षितविपरीतं च नोपनिषदर्थः स्यात्, यथा शुद्धत्वादि । यद्यपि जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनपरत्वमुपनिषदामिति महता

भामती–व्याख्या

**संगति**—अभी तक जो विचार किया गया, वह यह मान कर कि उपनिषत् ग्रन्थ अपवर्गरूप परम पुरुषार्थ के साधनीभूत आत्मज्ञान के प्रतिपादक हैं और विविध उपासनाएँ तत्तत् अपर पुरुषार्थ की साधन हैं । उपासनाओं का विचार पूरा हो गया, अब आत्मज्ञान पर विचार आरम्भ किया जाता है ।

**संशय**—उपनिषत्प्रतिपादित आत्मतत्त्वज्ञान साक्षात् अपवर्ग-साधनतया पुरुषार्थ है ? अथवा कर्मानुष्ठान में अपेक्षित कर्त्ता भोक्तात्मक आत्मा का प्रकाशक होकर क्रत्वङ्गत्वेन पुरुषार्थ है ?

**प्रयोजन**—आत्मज्ञान यदि क्रत्वङ्ग है, तब जितना अंश क्रतु की प्रयोग-विधि में अपेक्षित है—'आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व', वह आत्मा को अनित्य मानने पर सम्भव नहीं होता, क्योंकि आत्मा यदि शरीर के समान नश्वर है, तब कृत-प्रणाश [ किसी भोक्ता के न रहने पर उपार्जित धर्म की निरर्थकता ] और अकृताभ्यागम [ नूतन उत्पन्न भोक्ता आत्मा उपभोग देने के लिए उसके द्वारा अनुपार्जित धर्म का अभ्युपगम ] की प्रसक्ति होती है, अतः उपनिषदों में आत्मा की नित्यता विवक्षित है, यह मानना होगा । इससे भिन्न आत्मा की अनित्यता को अनपेक्षित होने के कारण उपनिषत् का अर्थ वैसे ही नहीं माना जा सकता,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथात्र प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्ध्येवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते, यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति। यदक्रुक्ते चक्षुरेष भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते। यत्प्रयाजानुयाजा यज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः, तद्वत्। कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते? कर्तृद्वारेण वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसंबन्ध इति चेत्—न, वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः। अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसंबन्धोऽवकल्पते। कर्ता तु व्यभिचारि द्वारम्, लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्। तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसंबन्धसिद्धिरिति—न, व्यतिरेकविज्ञानस्य वादकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात्। नहि देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते, सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः। वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिनोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम्। नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्यङ्गं स्यात्, न, प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादि विशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमेतदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति। सत्यं प्रसाधितम्, तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय ॥ २ ॥

---

भामती

प्रबन्धेन तत्र तत्र प्रतिपादितं तथाप्यत्र केषाञ्चित् पूर्वपक्षशङ्कावीजानां निराकरणे तदेव स्थूणानिखननन्यायेन निश्चलीक्रियत इत्यस्ति विचारप्रयोजनम्। तत्र यद्यपि व्रीक्षणादिवद् आत्मज्ञानं न किञ्चित्

---

भामती—व्याख्या

जैसे भोक्तृत्वानुपयोगी शुद्धत्वादि। यद्यपि जीव का अनुवाद करके ब्रह्मत्व के विधान में सभी उपनिषदों का परम तात्पर्य स्थापित करने के लिए महान् प्रयत्न किया गया है। तथापि इस विषय में कुछ लोगों की ओर से पूर्वपक्ष का उत्थापन सिद्धान्त की स्थूणा ( बल्ली ) को हिला-हिला कर सुदृढ़ करना है। इस प्रकार प्रस्तुत विचार सार्थक है।

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि जैसे प्रोक्षण आदि अङ्ग कर्म प्रधान क्रतु के प्रकरण में पठित हैं, वैसे आत्मज्ञान किसी क्रतु के प्रकरण में पठित नहीं। अनारभ्याधीत पर्णता के समान अव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धी भी नहीं, क्योंकि केवल कर्त्ता का लौकिक कर्मों के साथ भी सम्बन्ध है, केवल वैदिक कर्मों के साथ ही सम्बन्ध नहीं।

तथापि जैसा आत्मा कर्त्ता और आमुष्मिक स्वर्गादि फलों का भोक्ता वेदान्त-प्रतिपादित है, वैसे आत्मा का लौकिक कर्मों में उपयोग नहीं, क्योंकि लौकिक कर्म केवल ऐहिक फल के जनक हैं, उनके लिए शरीरातिरिक्त आत्मा ही पर्याप्त है, किन्तु आमुष्मिकफलक वैदिक कर्मों की प्रवृत्ति शरीरातिरिक्त आत्मा के विना सम्भव नहीं। वही औपनिषद कर्त्ता आत्मा है, उसका कर्मों के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध है, अतः जैसे धूम अग्नि का स्मारक है, वैसे ही

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३।१।१), 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' ( छा० ५।११।५ ) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसंबन्धदर्शनानि भवन्ति । तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद् गार्हस्थ्यसंबन्धोऽवगम्यते । केवलाच्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः ? 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात् ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' ( बृ० ४।४।२ ) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ ५ ॥

भामती

क्रतुमारभ्याधीतम् । यद्यपि च कर्त्तृमात्रं नाव्यभिचरितक्रतुसम्बद्धं कर्तृमात्रस्य लौकिकेष्वपि कर्मसु दर्शनात् , येन पर्णतादिवदनारभ्याधीतमप्यव्यभिचरितक्रतुसम्बद्धं जुहूद्वारेण वाक्येनैव क्रत्वर्थमापद्यते । तथापि यादृश आत्मा कर्त्तामुष्मिकस्वर्गादिफलभोगभागो देहाद्यतिरिक्तो वेदान्तैः प्रतिपाद्यते न तादृशस्यास्ति लौकिकेषु कर्मसूपयोगः । तेषामैहिकफलानां शरीरानतिरिक्तेनापि यादृशतादृशेन कर्त्तोपपत्तेः । आमुष्मिकफलानान्तु वैदिकानां कर्मणां तमन्तरेणासम्भवात् तत्सम्बन्ध एवायमौपनिषदः कर्त्तेति तदव्यभिचारात्तान्यनुस्मारयज्जुह्वादिवद् वाक्येनैव तज्ज्ञानं पर्णतावत् क्रत्वैदमर्थ्यमापद्यत इति फलश्रुतिरर्थवादः । तदुक्तम् —'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' इति । औपनिषदात्मज्ञानसंस्कृतो हि कर्त्ता पारलौकिकफलोपभोगयोग्योऽस्मीति विद्यावान् श्रद्धावान् क्रतुप्रयोगाङ्गं नान्यथा प्रोक्षिता इव व्रीहयः क्रत्वङ्गमिति । प्रियादिसूचितस्य च संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेन प्रतिज्ञापनात् । अपहतपाप्मत्वादयस्तु तद्विशेषणानि तस्यैव स्तुत्यर्थम् , न तु तत्परत्वमुपनिषदाम् । तस्मात् क्रत्वर्थमेवात्मज्ञानं कर्तृसंस्कारद्वारा न पुनः पुरुषार्थमिति । एतदुपोद्बलनार्थञ्च ब्रह्मविदामाचारादिः श्रुत्यवगत

भामती-व्याख्या

यह आत्मा वैदिक कर्मों का स्मारक है । फलतः पर्णता के समान ही आत्मज्ञान क्रतु का वाक्य-विनियुक्त अङ्ग है, स्वतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र फलश्रुति अर्थवादमात्र है, जैसा कि महर्षि जैमिनि ने कहा है—"द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः" ( जै. सू. ४।३।१ ) । इसकी चर्चा विगत पृ० १०९६ पर आचुकी है । औपनिषद आत्मज्ञानरूप संस्कार से संस्कृत कर्त्ता पारलौकिक फलोपभोग के योग्य होकर वैसे ही क्रतु का अङ्ग हो जाता है, जैसे प्रोक्षणरूप संस्कार से संस्कृत व्रीहि । "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" ( बृह० उ० २।४।५ ) इत्यादि वाक्यों के द्वारा सूचित संसारी आत्मा ही द्रष्टव्यत्वेन प्रतिज्ञात है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" ( बृह० उ० २।४।५ ) । "य आत्माऽपहतपाप्मा" ( छां० ८।७।१ ) इत्यादि वाक्यों में निर्दिष्ट आत्मा के कर्मकालुष्याभावत्वादि विशेषणों के द्वारा उसी आत्मा की केवल स्तुति की गई है, उसमें उपनिषदों का तात्पर्य कदापि नहीं, अतः आत्मज्ञान कर्तृसंस्कार के द्वारा क्रतु का ही अङ्ग है, स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं । इसी पक्ष का पोषण करने के लिए सूत्रकार ने तृतीय सूत्र में जनकादि तत्त्ववेत्ताओं के यज्ञादिविषयक श्रुत्यवगत आचारों का उपन्यास किया है । केवल वाक्य प्रमाण के द्वारा ही आत्मज्ञान में क्रत्वङ्गत्व सिद्ध नहीं होता, अपितु

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' ( छा० ८।१५।१ ) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्त-वेदार्थविज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति । तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फल-हेतुत्वम् । नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते, नार्थविज्ञानम् । नैष दोषः, दृष्टार्थ-त्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे' ( ईशा० २ ) इति, तथा 'एतद्ध जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवा-स्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥७॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३।४।२)

---

भामती

उपन्यस्तः । न केवलं वाक्यादात्मज्ञानस्य क्रत्वर्थत्वम् , तृतीयाश्रुतेश्च । न त्वेतत् प्रकृतोद्गीथविद्याविषयं मदेव विद्येति सर्वनामावधारणाभ्यां प्राप्तेरधिगमात् । यथा य एव धूमवान् देशः स वह्निमानिति । समन्वारम्भवचनञ्च फलारम्भे विद्याकर्मणोः साहित्यं दर्शयति । तच्च यद्यप्याग्नेयादियागषट्कवत् समप्रधानत्वेनापि भवति, तथाप्युक्तया युक्त्या विद्यायाः कर्म प्रत्यङ्गभावेनैव नेतव्यम् । वेदार्थज्ञानवतः कर्मविधानाद् उपनिषदोऽपि वेदार्थ इति तज्ज्ञानमपि कर्माङ्गमिति ॥ १–६ ॥

सुगमम् ॥ ७ ॥

सिद्धान्तयति – अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् यदि शरीराद्यतिरिक्तः कर्त्ता भोक्तात्मेत्येतन्मात्र उपनिषदः पर्य्यवसिताः स्युस्ततः स्यादेवं, न त्वेतदस्ति । तास्त्वेवम्भूतजीवानुवादेन

---

भामती–व्याख्या

तृतीया श्रुति से भी अङ्गत्व अवगमित है—"तदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" ( छां० १।१।१० ) यह श्रुति केवल प्रक्रान्त उद्गाथ-विद्या में ही सीमित नहीं, क्योंकि यत्तद्रूप सर्वनाम और एवकाररूप अवधारण के द्वारा 'यदेव कर्म विद्यया सहितं करोति, तदेव कर्म वीर्यवत्तरं भवति'—ऐसी सामान्य व्याप्ति उसी प्रकार सिद्ध होती है, जिस प्रकार 'य एव धूमवान् देशः, स एव वह्निमान् भवति" । "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" ( बृह० उ० ४।४।२ ) यह वचन फलोत्पादन में विद्या और कर्म का साहित्य प्रदर्शित कर रहा है । वह यद्यपि अङ्गाङ्गित्वेन ही हो यह आवश्यक नहीं, दर्शपूर्णमासगत आग्नेयादि (आग्नेयद्वय, उपांशु, आग्नीषोमीय, ऐन्द्रद्वय ) छः कर्मों के समान समप्रधानत्वेन भी हो सकता है । तथापि आत्मज्ञान में दृष्टाइष्टद्वारक कर्म के उपयोगित्व-प्रदर्शन की कथित युक्ति से विद्यागत कर्माङ्गत्व-साधन परम आवश्यक है । वेदार्थ-ज्ञानवाले पुरुष के प्रति ही कर्म का विधान किया गया है, औपनिषद आत्मा भी वेदार्थ है, अतः उस ( आत्मा ) का ज्ञान भी कर्म का अङ्ग सिद्ध होता है ॥ १–६ ॥

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्" (ईशा. २) इस प्रकार कर्मानुष्ठान के नियम से भी आत्मज्ञान में कर्माङ्गत्व पर्यवसित होता है ॥ ७ ॥

सिद्धान्त—यदि शरीरादि से अतिरिक्त कर्त्ता-भोक्ता आत्मा के प्रतिपादन में ही उपनिषदों का तात्पर्य पर्यवसित होता, तब अवश्य ही आत्मज्ञान कर्म का अङ्ग हो जाता,

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kanchi Mahaswamy Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति, तन्नोपपद्यते, कस्मात् ? अधिकोपदेशात् । यदि संसार्येवात्मा शरीरः कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् । अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु । न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति, प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' ( ब्र० सू० ३।४।१६ ) इत्यत्र । तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' ( ब्र० सू० ३।४।१ ) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति, न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते । तथा हि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' ( मुण्ड० १।१।९ ) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' ( तै० २।८।१ ) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' ( कठ० ६।२ ) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' ( बृ० ३।८।९ ) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' ( छा० ६।२।३ ) इत्येवमाद्याः । यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् —'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ( बृ० २।४।५ ) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१)-'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' ( छा० ८।७।४ ) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' ( छा० ८।९।३ ) इति चैवमादि तदपि 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' ( बृ० २।४।१० ) 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३।५।१ ) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' ( छा० ८।१२।३ ) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः । पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम्, तत्त्वमसि' ( छा० ६।८।७ ) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' ( बृ० ३।८।११ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम् ॥ ८ ॥

भामती

तस्य शुद्धबुद्धोदासीनब्रह्मरूपताप्रतिपादनपरा इति तत्र तत्रासकृदावेदितम् । अनधिगतार्थबोधनस्वरसता हि शब्दस्य प्रमाणान्तरसिद्धानुवादेन । तथा चोपनिषदात्मज्ञानस्य क्रत्वनुष्ठानविरोधिनः क्रतुसम्बन्ध एव नास्ति । किमङ्ग पुनः तदव्यभिचारस्ततश्च क्रतुशेषता । तथा च नापवर्गफलश्रुतेरर्थवादमात्रत्वमपि तु फलपरत्वमेव । अत एव प्रियादिसूचितेन संसारिणात्मनोपक्रम्य तस्यैवात्मनोऽधिकोपदिदिक्षायां परमात्मनोऽत्यन्ताभेद उपदिश्यते । यथा समारोपितस्य भुजगस्य रज्जुरूपादत्यन्ताभेदः प्रतिपाद्यते—योऽयं सर्पः सा रज्जुरिति ॥ ८ ॥

भामती—व्याख्या

किन्तु ऐसा नहीं, अपितु इस प्रकार के कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त संसारी आत्मा (जीव) का अनुवाद करके शुद्ध, बुद्ध उदासीन ब्रह्मरूपता के विधान में उपनिषदों का तात्पर्य निहित है—ऐसा कई बार कहा जा चुका है । शब्द प्रमाण यह स्वभाव है कि वह प्रमाणान्तर-सिद्ध पदार्थ का अनुवाद करके अनधिगतार्थरूपता का विधान किया करता है, अतः उपनिषत्प्रमाण से प्रतिपादित नित्य, शुद्ध, असङ्गस्वरूप आत्मा का ज्ञान कर्मानुष्ठान का विरोधी होने के कारण कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता, फिर वह अव्यभिचरित क्रतु-सम्बन्धी होकर क्रतु का अङ्ग क्योंकर होगा ? इस प्रकार आत्मज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थ है, उसको अपवर्गफल-श्रुति अर्थवाद नहीं, अपितु फलपरक है । अत एव प्रियादि शब्दों से सूचित संसारी आत्मा जीव) का अनुवाद करके उसके अनधिगत स्वरूप की विवक्षा से उपनिषत् शास्त्र जीव में ब्रह्म के अत्यन्त अभेद का उपदेश वैसे ही करता है, जैसे रज्जु में सर्प-भ्रमवाले व्यक्ति का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

यत्तूक्तम् आचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति, अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः। तथा हि श्रुतिर्भवति 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः काक्षसेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे', 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' ( बृ० ३।५।१ ) इत्येवंजातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते—'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रव्रव्राज' ( बृ० ४।५।१५ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपि च 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' ( छा० ५।१।१।५ ) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। संभवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्यदर्शनम्। न त्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति, प्रकरणाद्यभावात् ॥ ९ ॥

यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' ( ब्र० सू० ३।४।४ ) इति, अत्र ब्रूमः—

## असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

'यदेव विद्यया करोति' ( छा० १।१।१० ) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया, प्रकृतविद्याभिसंबन्धात्। प्रकृता चोद्गीथविद्या—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ( छा० १।१।१ ) इत्यत्र ॥ १० ॥

## विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

यदप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' ( बृ० ४।४।२ ) इत्येतत्समन्वारम्भवचनमस्वातन्त्र्ये विद्याया लिङ्गमिति, तत्प्रत्युच्यते। विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्याऽन्यं,

---

भामती

यथा विद्यायाः कर्माङ्गत्वे दर्शनमुपन्यस्तमेवमकर्माङ्गत्वे न दर्शनमुक्तम्। तत्र कर्माङ्गत्वदर्शनानामन्यथासिद्धिरुक्ता केवलविद्यादर्शनानान्तु नान्यथासिद्धिः ॥ ९ ॥

न सार्वत्रिकी व्याप्तिरप्युद्गीथविद्यापेक्षया तस्या एव प्रकृतत्वात् न त्वशेषापेक्षया। यथा सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्तामिति निमन्त्रितापेक्षया तेषामेव प्रकृतत्वात् ॥ १० ॥

---

भामती—व्याख्या

भ्रम दूर करने के लिए 'योऽयं सा रज्जुः'—ऐसा उपदेश किया जाता है ॥ ८ ॥

जैसे विद्या की कर्माङ्गता में लिङ्ग (सामर्थ्य) आदि प्रमाणों का प्रदर्शन किया गया—"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे" ( बृह. उ. ३।१।१ )। वैसे ही विद्या की कर्मानङ्गता में भी लिङ्गादि प्रमाणों का प्रदर्शन किया गया—"एतद्ध वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं त जुहवांचक्रिरे" (बृह, उ. ३।५।१)। विशिष्ट ब्रह्म-विद्या में जो कर्माङ्गत्व प्रदर्शित किया गया, वह सार्वत्रिक नहीं, अपितु असार्वत्रिक होने के कारण अन्यथासिद्ध कहा गया—"यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्ति"—इत्येतल्लङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्"। केवल ( शुद्ध ) ब्रह्म की विद्या में स्वातन्त्र्य-प्रदर्शन अन्यथासिद्ध कहा गया है—"सम्भवति च सोपाधिकायां ब्रह्मविद्यायां कर्मसाहित्य दर्शनम्, नत्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति" ॥ ९ ॥

"यदेव विद्यया करोति" ( छां. १।१।१० ) यह व्याप्ति प्रदर्शन सर्वविद्याविषयक नहीं, अपि तु केवल उद्गीथ-विद्या को विषय करती है, क्योंकि वही प्रक्रान्त है, जैसे 'सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्' यह वाक्य केवल निमन्त्रित ब्राह्मणों को ही विषय करता है, क्योंकि वे ही प्रकृत हैं ॥ १० ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषमन्वारभते, कर्मान्यमिति। शतवत्-यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै, तद्वत्। न चेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम्, 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति संसारिविषयत्वोपसंहारात्, अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पृथगुपक्रमात्। तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते, विशेषाभावात्। कर्मापि विहितं प्रतिषिद्धं च, यथाप्राप्तानुवादित्वात्। एवं सत्यविभागेनापीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥ ११ ॥

यच्चैतत्—'तद्व्रतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इति, अत उत्तरं पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१५।१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणाद्ध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः। नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत—नैष दोषः, न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्हि? औपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येण प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः। यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत, एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥

भामती

सुगमम्। अविभागेऽपि न दोष इत्याह ॐ न चेदं समन्वारम्भवचनम् इति ॐ। संसारिविषया विद्या विहिता यथोद्गीथविद्या प्रतिषिद्धा च यथाऽसच्छास्त्राधिगमनलक्षणा ॥ ११ ॥

अध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिर्न तूपनिषदध्ययनवतः। एतदुक्तं भवति—यदध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तं कर्मसूपयुज्यते। यथा कर्मविधिवाक्यानां तन्मात्रवत एवाधिकारः कर्मसु नोपनिषदध्ययनवतः, तदध्ययनस्य कर्मस्वनुपयोगादिति। अध्ययनमात्रवत एवेति मात्रग्रहणेनार्थज्ञान वा व्यवच्छिन्नमिति मन्वानो भ्रान्तश्चोदयति ॐ नन्वेवं सति इति ॐ। स्वाभिप्रायमुद्घाटयन् समाधत्ते ॐ न वयम् इति ॐ। उपनिषदध्ययनापेक्षं मात्रग्रहणं नार्थावबोधापेक्षमित्यर्थः ॥ १२ ॥

भामती—व्याख्या

यह जो कहा था कि "विद्याकर्मणी समन्वारभेते" (बृह, ४।४।२) यहाँ विद्या और कर्म का साहित्य प्रतीत होता है, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि यहाँ विद्याकर्मणी एकमेव पुरुषं समन्वारभेते" [विद्या और कर्म दोनों मिल कर परलोकगामी एक ही पुरुष का अनुगमन करते हैं] ऐसा अर्थ विवक्षित नहीं, अपितु 'विद्या अन्यं पुरुषमन्वारभते कर्मान्यं पुरुषमन्वारभते—'इस प्रकार विभागशः अन्वय विवक्षित है। अविभागतः अन्वय करने पर भी कोई दोष नहीं, ऐसा कहते हैं—"नचेदं समन्वारम्भवचनं मुमुक्षुविषयम्"। यहाँ 'इदम्' शब्द का अर्थ है—"समन्वारम्भवचनम्'। संसारी जीव के लिए विहित विद्या है उद्गीथादि विद्या और प्रतिषिद्ध विद्या है—चार्वाकादि असच्छास्त्रों का अध्ययन—"असच्छास्त्राधिगमनम्" (मनु. पृ. ३६१, याज्ञ. स्मृ. पृ. ४१३ ॥ ११ ॥

"अध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिः"—इस भाष्य में 'मात्र' पद के द्वारा उपनिषदध्ययन की व्यावृत्ति की गई है। आशय यह है कि अर्थज्ञान-पर्यन्त जिस भाग (पूर्व काण्ड) का अध्ययन कर्मानुष्ठान का उपयोगी है, उतने अध्ययन का सम्पादन कर लेनेवाले व्यक्ति का अधिकार कर्म में हो जाता है, उपनिषद् भाग का अध्ययन अपेक्षित नहीं, क्योंकि वह कर्मानुष्ठान का अनुपयोगी है। "अध्ययनमात्रवतः"—यहाँ पर 'मात्र' पद से जिसने अर्थज्ञान का व्यवच्छेद समझ लिया, ऐसा व्यक्ति शङ्का करता है—"नन्वेवं सति"। सिद्धान्ती अपना अभिप्राय प्रकट करता है—"न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः"।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदप्युक्तम्—'नियमाच्च' ( ब्र० सू० ३।४।७ ) इति, अत्राभिधीयते—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' ( ईशा० २ ) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति, अविशेषेण नियमविधानाद् ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' ( ईशा० २ ) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते । यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्येत, तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद् द्रष्टव्यम् । 'न कर्म लिप्यते नरे' ( ईशा० २ ) इति हि वक्ष्यति । एतदुक्तं भवति—यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति, विद्यासामर्थ्यादिति तदेवं विद्या स्तूयते ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति । कामकारेणेति श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम्—'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' ( बृ० ४।४।२२ ) इति । अनुभवारूढमेव च विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तराभावीत्यसकृदवोचाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्या-

---

भामती

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यविद्यावद्विषयमित्यर्थः ॥ १३ ॥

विद्यावद्विषयत्वेऽपि अविरोधो विद्यास्तुत्यर्थत्वादित्याह ❀ स्तुतयेऽनुमतिर्वा ❀ ॥ १४ ॥

अपि च विद्याफलं प्रत्यक्षं दर्शयन्ती श्रुतिः कालान्तरभाविफलकर्माङ्गत्वं विद्याया निराकरोतीत्याह ❀ कामकारेण चैके ❀ कामकार इच्छा ॥ १५ ॥

अधिकोपदेशादित्यनेनात्मन एव शुद्धबुद्धोदासीनत्वादय उक्ताः । इह तु समस्तक्रियाकारकफल-

---

भामती—व्याख्या

अर्थात् उक्त 'मात्र' पद के द्वारा उपनिषदध्ययन की व्यावृत्ति की जाती है, अर्थज्ञान की नहीं ॥ १२ ॥

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"—ऐसा नियम अविद्यावान् पुरुष के लिए किया गया है, अविशेषतः सब के लिए नहीं—"नाविशेषात्" ॥ १३ ॥

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि"—यह नियम यदि विद्यावान् के प्रति भी मान लिया जाय, तब भी कोई विरोध प्रसक्त नहीं होता—"स्तुतयेऽनुमतिर्वा" । अर्थात् ब्रह्मविद्या का ही यह सामर्थ्य है कि विद्वान् यदि अपने पूर्वाभ्यास के आधार पर जन्म भर कर्म करता रहे, तब भी उस से किसी प्रकार का बन्धन नहीं हो सकता—"न कर्म लिप्यते नरे" ( ईशा. २ ) ॥ १४ ॥

ब्रह्मविद्या का ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक फल प्रत्यक्ष है, अतः वह परोक्षफलक कर्म का अङ्ग नहीं हो सकती, अत एव तत्त्ववेत्ताओं ने अपनी इच्छा से ही कर्म-फलों का त्याग किया है—"कामकारेण चैके" । 'कामकार' शब्द का यहाँ इच्छा अर्थ है ॥ १५ ॥

"अधिकोपदेशात्"—इस आठवें सूत्र के द्वारा आत्मा के ही शुद्धत्व, बुद्धत्व और

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्' ( बृ० २।४।१४ ) इत्यादिना। वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत। तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १६ ॥

## ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते। न च तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते, कर्माभावात्। न ह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति। स्यादेतत्—ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति तदपि नास्ति। तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' ( छा० २।२३।१ ), 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' ( छा० ५।१०।१ ), 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' ( मुण्ड० १।२।११ ), 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' ( बृ० ४।४।२२ ), 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ( जा० ४ ) इत्येवमादिषु। प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १७ ॥

---

## ( २ परामर्शाधिकरणम्। सू० १८–२० )

## परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' ( छा० २।२३।१ ) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति। यतः परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते, न विधिम्। कुतः ? न ह्यत्र लिङादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति। अर्थान्तरपरत्वं चैषु प्रत्येकमुपलभ्यते। त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावच्छ्रोऽ-

भामती

विभागोपमर्दञ्चेति ॥ १६ ॥
सुबोधम् ॥ १७ ॥

---

सिद्ध ऊर्ध्वरेतसामाश्रमित्वे तद्विधानामकर्माङ्गतयापवर्गार्थता स्यात्। आश्रमित्वेन त्वेषामन्यार्थपरामर्शमात्रान्न सिध्यति, विध्यभावात्। स्मृत्याचारप्रसिद्धिश्च तेषां प्रत्यक्षश्रुतिविरोधादप्रमाणम्।

भामती—व्याख्या

उदासीनत्वादि धर्मों का अभिधान किया गया किन्तु इस सोलहवें सूत्र में समस्त क्रिया, कारक और फलादि विभाग एवं उस के उपमर्दन ( बाध ) का प्रदर्शन किया गया है॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेता सन्यासियों में ब्रह्मविद्या विश्रुत है, कर्मप्रधान संस्थानों में नहीं, इस लिए भी विद्या में स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है, कर्माङ्गत्व नहीं॥ १७ ॥

---

**संगति**—ब्रह्म-विद्या में पूर्व-प्रतिपादित कर्मानङ्गता और अपवर्ग-साधनता तभी होगी, जब कि ब्रह्मसंस्थारूप सन्यास आश्रम की सिद्धि होगी, अतः उस का विचार किया जाता है।

**पूर्वपक्ष**—"त्रयो धर्मस्कन्धाः" इत्यादि सन्दर्भ में प्रक्रान्त प्रणवद्वारक ब्रह्मोपासना की स्तुति की जाती है—"ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" ( छां. २।२३।१ )। यह वाक्य सन्यासाश्रम का भी परामर्शक (अनुवादक) हो सकता है, किन्तु एतावता इस अन्यार्थपरक वाक्य के द्वारा सन्यास का विधान सम्भव नहीं, क्योंकि वैसा कोई विधि-वाक्य उपलब्ध नहीं होता। स्मृति-वाक्यों और आचार्यों में अवश्य सन्यास की रूप-रेखा देखी जाती है, किन्तु उनकी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ( छा० २।२३।१ ) इति। ननु परामर्शेऽप्याश्रमा गम्यन्त एव। सत्यं गम्यन्ते, स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः। अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति, अनधिकृतविषया वा। ननु गार्हस्थ्यमपि सैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति। सत्यमेवम्, तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम्। तस्मात्स्तुत्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः। अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम्—'वीरहा वा एव देवानां योऽग्निमुद्वासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' ( तै० १।११।१ ), 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या। तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' ( छा० ५।१०।१ ) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' ( मुण्ड० १।२।११ ) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरोपदेशः। संदिग्धं चाश्रमान्तरा-

भामती

निन्दति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरं वीरहा वा एष देवानामित्यादिका। प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे च स्मृत्याचारयोरप्रामाण्यमुक्तं 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' इति तदेतत्सर्वमाह ॐ त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिनानधिकृतविषया चेति ॐ। अन्धपङ्ग्वादयो हि ये नित्यनैमित्तिककर्मानधिकृतास्तान् प्रत्याश्रमान्तरविधिरिति। ॐअपि चापवदति हि ॐ। न केवलमन्यपरतया परामर्शस्याश्रमान्तरं न लभ्यते, अपि त्वाश्रमान्तरनिन्दाद्वारेणापवादावपीत्यर्थः। स्यादेतत् - भवत्वेष परामर्शोऽन्यार्थः। ये चेमेऽरण्य इत्यादिभ्यस्त्वाश्रमान्तरं सेत्स्यतीत्यत आह ॐ ये चेमेऽरण्ये इति ॐ। अस्यापि देवपथोपदेशपरत्वात् नेतरपरत्व-

भामती—व्याख्या

बाधिका प्रत्यक्ष श्रुति है—"वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" ( तै. सं. १।५।१।१ ) [ वह व्यक्ति देवताओं में पुत्रघाती माना जाता है, जो अग्नि का उद्वासन ( त्याग ) कर देता है ]। श्रुति से विरुद्ध स्मृति और आचार किसी अर्थ के प्रमापक नहीं हो सकते—"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" ( जै. सू. १।३।३ ) [ श्रुति का विरोध रहने पर स्मृति का प्रमाण्य अपेक्षित ( आदरणीय ) नहीं होता। हाँ, विरोध के न होने पर अवश्य स्मृति के द्वारा मूलभूत श्रुति प्रमाण का अनुमान किया जा सकता है ]। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"त्रयो धर्मस्कन्धाः"। "अनधिकृतविषया वा"। अर्थात् कर्मानुष्ठान के अनधिकारी अन्धादि व्यक्तियों के लिए सन्यास आश्रम का स्मृतिकारों ने प्रतिपादन किया है। "अपि चापवदति"। अर्थात् केवल अन्ध-परम्परा-प्राप्त सन्यासाश्रम का "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" ( छां. २।२३।२ ) यह श्रुति परामर्शमात्र ( अनुवादमात्र ) करके ही उसकी अविहितता ध्वनित नहीं करती, अपितु आश्रमान्तर ( सन्यासाश्रम ) की निन्दा करके श्रुति उसका अपवाद ( बाध ) प्रस्तुत कर रही है—"वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" ( तै. सं. १।५।२।१ )।

यदि "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति"—यह वाक्य केवल अनुवादपरक ही माना जाय, तब भी "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" ( छां. ५।१०।१ ) इत्यादि वाक्यों के द्वारा सन्यासाश्रम की सिद्धि क्यों न मान ली जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"ये चेमेऽरण्ये", "तपःश्रद्धे" इति च देवयानोपदेशः"। अर्थात् "ये चेमे"— इत्यादि वाक्य देवमार्ग का उपदेश करते हैं, सन्याश्रम का नहीं। अन्यपरक वाक्य से अन्यार्थ का निश्चय नहीं किया जा सकता—

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिधानम्—'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः। ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम्। सत्यमेवमेतत्, अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम्॥ १८॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः॥ १९॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते, वेदे श्रवणात्। अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमिति हीमां मतिं निराकरोति, गार्हस्थ्यवदेवाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः। कुतः? साम्यश्रुतेः। समा हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम्। यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श उपवीत-

भामती

मित्यर्थः। न चान्यपरादपि स्फुटतराश्रमान्तरप्रत्यय इत्याह ❀ सन्दिग्धं च इति ❀। नहि तप एव द्वितीय इत्यत्राश्रमान्तराभिधायी कश्चिदस्ति शब्द इति। नन्वेतमेव प्रव्राजिन इति वचनाद् आश्रमान्तरं सेत्स्यतीत्यत आह ❀ तथैतमेव इति ❀। ❀ एतदपि लोकसंस्तवनपरम् इति ❀। अधिकरणारम्भमाक्षिप्य नास्ति प्रत्यक्षवचनमिति कृत्वाचिन्तेयमिति समाधत्ते ❀ ननु ब्रह्मचर्यादेव इति ❀॥ १८॥

भवत्वन्यार्थः परामर्शः तथाप्येतस्मादाश्रमान्तराणि प्रतीयमानानि च नापाकरणमर्हन्ति। एवं तान्यपाक्रियेरन्यद्यस्मान्न प्रतीयेरन्। प्रतीयमानानि वा श्रुत्या बाध्येरन्। न तावन्न प्रतीयन्ते। तथाहि—त्रयो धर्मस्कन्धा इति स्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। तत्र स्कन्धशब्दो यद्याश्रमपरो न स्यात् अपि तु समूहवचनस्ततो धर्माणां यज्ञादीनां प्रातिस्विकोत्पत्तीनां किमपेक्ष्य त्रित्वसंख्या सुव्यवस्थाप्येत? एकैकाश्रमोपसंगृहीतास्त्वाश्रमाणां त्रित्वाच्छक्यास्त्रित्वे व्यवस्थापयितुमित्याश्रमत्रित्वप्रतिज्ञोपपत्तिस्तत्र

भामती-व्याख्या

"सन्दिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम्"। "तप एव द्वितीयः"—यहाँ पर सन्यासाश्रम का अभिधायक कोई शब्द ही नहीं, तब उसका निश्चय क्योंकर होगा? "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति"* (बृह. उ. ४।४।२२) इस वाक्य से भी सन्यास की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः"—यह वाक्य अभिलषित आत्मलोक की स्तुतिमात्र करता है, सन्यास की विधि नहीं—"आत्मलोको महीयान् यदर्थमशक्यां प्रव्रज्यामपि कुर्वन्ति'। सन्यास-विधायक "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" (जाबाल. ४) इस वाक्य के रहते पर महर्षि जैमिनि ने कैसे कह दिया—"अचोदना"? इस प्रश्न का उत्तर है—"ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजन्ति"—"अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचारः"॥ १८॥

सिद्धान्त—यद्यपि कथित परामर्श (अनुवाद) अन्यार्थक हो सकता है, तथापि इसके द्वारा प्रतीयमान आश्रमान्तर (सन्यासाश्रम) का अपाकरण नहीं किया जा सकता। तब उसका अपाकरण किया जा सकता था, जबकि उक्त वाक्य से प्रतीति न होती। अथवा प्रतीयमान होकर श्रुति के द्वारा बाधित होता। प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः'—यहाँ तीन स्कन्धों की प्रतिज्ञा की गई। वहाँ 'स्कन्ध' शब्द यदि आश्रम का बोधक न होकर 'समूह' का वाचक होता, तब यज्ञादिरूप धर्मों के समूह में त्रित्व संख्या का व्यवहार किस-किस इकाई की अपेक्षा होता? गृहस्थ, ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमों का त्रित्व तो सुस्पष्ट है। उनमें यज्ञादिलिङ्गक गृहाश्रम एक धर्मस्कन्ध है, 'ब्रह्मचारी' इत्यादि से प्रतिपादित ब्रह्मचर्याश्रम द्वितीय धर्मस्कन्ध तथा तपःप्रधान वानप्रस्थ आश्रम तृतीय धर्मस्कन्ध

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधिपरे वाक्ये। तस्मात्तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' ( बृ० ४।४।२२ ) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' ( छा० ५।१०।१ ) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया। यत्तूक्तम् –'तप एव द्वितीयः' ( छा० २।२३।१ ) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धमिति, नैष दोषः, निश्चयकारणसद्भावात्। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१ ) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। न च यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्नाः सन्तोऽन्यत्राश्रमसंबन्धात् त्रित्वेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते। तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्येत ? 'ये चेमेऽरण्ये' ( छा० ५।१०।१ ) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः। तस्मात्परामर्शोऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

---

भामती

यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो ब्रह्मचारीति द्वितीयस्तप इति च तपःप्रधानात्तु वानप्रस्थाश्रमान्यः ब्रह्मसंस्थ इति च पारिशेष्यात् परिव्राडिति वक्ष्यति। तस्मादन्यपरादपि परामर्शादाश्रमान्तराणि प्रतीयमानानि देवताधिकरणन्यायेन न शक्यन्तेऽपाकर्तुम्। न च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधो वीरहा वेत्यादेः प्रतिपन्नगार्हस्थ्यं प्रमादादज्ञानाद्वाग्निमुद्वासयितुं प्रवृत्तं प्रत्युपपत्तेः। एवञ्च अविरोधे सिद्धवत्परामर्शादाश्रमान्तराणां शास्त्रान्तरसिद्धिं वा कल्पयिष्यामो यथोपवीतविधिपरे वाक्ये उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते इत्यत्र निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामपि शास्त्रान्तरसिद्धयोर्निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श इति ॥ १९ ॥

---

भामती–व्याख्या

है। "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति"—इस वाक्य के द्वारा चतुर्थ सन्यासाश्रम का पृथक् अभिधान किया गया है। फलतः अन्यपरक वाक्य के द्वारा प्रतीयमान सन्यासाश्रम का वैसे ही निरास नहीं किया जा सकता, जैसे कि अन्यपरक ( कर्मप्रशंसापरक ) वाक्य के द्वारा प्रतीयमान देवता के विग्रहादि का अपलाप नहीं किया जा सकता।

प्रत्यक्ष श्रुति का जो विरोध प्रदर्शित किया, वह भी सम्भव नहीं, क्योंकि "वीरहा वा"—यह वाक्य उस ग्रहस्थ पुरुष की निन्दा में प्रवृत्त हुआ है, जो अज्ञान या भ्रम के कारण अग्नि का परित्याग करने के लिए उद्यत हो जाता है। इस प्रकार श्रौत विरोध के न रहने पर यह शास्त्र शास्त्रान्तर-सिद्ध सन्यासाश्रम का परामर्श कर सकता है। सन्यासाश्रम के साधक शास्त्रान्तर की वैसे ही सिद्धि हो जायगी, जैसे उपवीत-विधायक वाक्य में निवीत और प्राचीनावीत का परामर्श होता है। इन दोनों की सिद्धि "निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणाम्"—इन वाक्यों के द्वारा होती है। [ "निवीतं मनुष्याणाम्, प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानाम्। उपव्ययते दैवलक्ष्ममेव तत्कुरुते" (तै. सं. २।५।११।१)। जो जनेऊ, वस्त्र या मृगचर्म की पट्टी माला के समान गले में लटकाई जाती है, उसे निवीत कहते हैं। अतिथि-सत्कारादि मनुष्य-सम्बन्धी कार्यों में निवीत प्रशस्त माना जाता है। जिसको दाहने कन्धे पर रखकर बाईं भुजा के नीचे लटकाते हैं, वह प्राचीनावीत है। पितृगणों के श्राद्धादि कार्यों में विहित है और बाएं कन्धे पर रखकर दाहिनी भुजा के नीचे जिसे लटकाते हैं, वह उपवीत है। यज्ञादि देव-कार्यों में उसी का प्राशस्त्य है। उक्त वाक्य में उपवीत का विधान एवं निवीत-प्राचीनावीत का अनुवाद किया गया है, अतः यह प्रकृतार्थ की सिद्धि में उपयोगी दृष्टान्त बनाया गया है ]॥ १९ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम्। ननु विधित्वाभ्युपगम एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत, प्रतीयते चात्रैकवाक्यता—पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वमृतत्वफलेति। सत्यमेतत्, सतीमपि त्वेकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्यः, अपूर्वत्वात्, विध्यन्तरस्यादर्शनात्, विस्पष्टाच्चाश्रमान्तरप्रत्यया‌द् गुणवादकल्पनयैकवाक्यत्वयोजनानुपपत्तेः। धारणवत् यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरिधारणम्, अपूर्वत्वात्। तथा चोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति, तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते॥ यदापि परामर्शं

भामती

यद्यपि ब्रह्मसंस्थत्वस्तुतिपरतयाऽस्य सन्दर्भस्यैकवाक्यता गम्यते। सम्भवन्त्याञ्चैकवाक्यतायां वाक्यभेदोऽन्यायः। तथाप्याश्रमान्तराणां पूर्वसिद्धेरभावात् परामर्शानुपपत्तेः, अपरामर्शे च स्तुतेरसम्भवेन किम्परतया एकवाक्यतास्तु इति तां भङ्क्त्वा धारणावद् वरमपूर्वत्वाद्विधिरेवास्तु। यथा अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयतीत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरि धारणमपूर्वत्वात्। यथोक्तम्—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति। तथेहाप्याश्रमान्तरपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते। सम्प्रति परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां ब्रह्मसंस्थतासंस्तवसामर्थ्यादेव विधातव्या। न ह्यल्पविधेयं संस्तूयते तदर्थत्वात् संस्तवस्येत्याह ❀ यदापि इति ❀। अत्रावान्तरविचारमारभते ❀ सा च

भामती—व्याख्या

यद्यपि उक्त पूरे सन्दर्भ का ब्रह्मसंस्थत्व की स्तुति में तात्पर्य मानने पर एकवाक्यता बनी रहती है। जहाँ तक एकवाक्यता सम्भव हो, वहाँ तक वाक्य-भेद मानना न्याय-संगत नहीं होता। तथापि सन्यासाश्रम की पहले सिद्धि नहीं हुई, अतः उसका परामर्श (अनुवाद) नहीं हो सकता, परामर्श के बिना स्तुति सम्भव नहीं, तब एकवाक्यता किस लिए मानी जाय? अतः एकवाक्यता का भङ्ग स्वीकार करके सन्यासाश्रम परामर्शक वाक्य को अज्ञातार्थ-ज्ञापक होने के कारण विधिरूप वैसे ही माना जाता है, जैसे समिधा का धारण—"अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेद् उपरि हि देवेभ्यो धारयति" (आप. श्रौ. ६।८।५) [अग्निहोत्री के मर जाने पर अन्तिम अग्निहोत्र कर्म उसका पुत्र या शिष्य किया करता है। उस समय का यह विशेष विधान है कि अग्निहोत्रहवणी नाम के पात्र में हवि भर कर होमार्थ जाता हुआ एक समित् (पलाश की एक पतली एक बीत की छोटी लकड़ी) को अग्निहोत्रहवणी के नीचे सटा कर ले जाय, क्योंकि जीवित अवस्था में वह समित् अग्निहोत्र हवणी के ऊपर रख कर ले जाई जाती है, उस समित का अग्नि में प्रक्षेप कर दिया जाता है]। यद्यपि उक्त वाक्य में समित् के अधोधारण और उपरि धारण—इन दोनों का विधान मानने पर वाक्य-भेद प्रसक्त होता है, तथापि अपूर्व (अप्राप्त) होने के कारण उपरि धारण का भी विधान माना जाता है—विधिस्तु धारणेऽपूर्ववत्वात्" (जै. सू. ३।४ ५)। इसी प्रकार प्रकृत में सन्यासाश्रम का परामर्शक "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति"—यह वाक्य विधिवाक्य ही सिद्ध होता है।

उक्त वाक्य में अन्य आश्रमों का परामर्श (अनुवाद) ब्रह्मसंस्थता की स्तुति के लिए ही मानना होगा, किन्तु अविधेय पदार्थ की स्तुति नहीं होती, क्योंकि 'यद् विधेयम् तत् स्तुत्यं भवति'—इस नियम के आधार पर विधेय पदार्थ की ही स्तुति होती है' ऐसा कहा जा रहा है—"यदापि परामर्शं"। प्राप्त विधेयता चारों आश्रमों में किसी एक की मानी

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवायमाश्रमान्तराणां, तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत्संस्तवसामर्थ्यादवश्यं विधेयाऽभ्युपगन्तव्या। सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम्। यदि च ब्रह्मचार्यन्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वाश्रमेषु ब्रह्मसंस्थो भविष्यति। अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति। तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित्। तद-

भामती

किं चतुर्षु इति ❀। विचारप्रयोजनमाह ❀ यदि च इति ❀। ननु अनाश्रम्येव ब्रह्मसंस्थो भविष्यतीत्यत आह ❀ अनाश्रमित्वे इति ❀। तत्र पूर्वपक्षमाह। ❀ तत्र तपःशब्देन इति ❀। अयमभिसन्धिः—न तावद् ब्रह्मसंस्थ इति पदं प्रत्यस्तमितावयवार्थपरिव्राजकेऽश्वकर्णादिपदवद्रूढम्। तदाश्रमप्राप्तिमात्रेणैव अमृतीभाव इति न तद्भावाय ब्रह्मज्ञानमपेक्षेत। तथा च नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति विरोधः। न च सम्भवत्यवयवार्थे समुदायशक्तिकल्पना। तस्माद् ब्रह्मणि संस्थास्येति ब्रह्मसंस्थः। एवं चतुर्षु आश्रमेषु यस्यैव ब्रह्मणि निष्ठत्वमाश्रमिणः स ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेतीति युक्तम्। तत्र तावद् ब्रह्मचारिगृहस्थौ स्वशब्दाभिहितौ तपःपदेन च तपःप्रधानतया भिक्षुवानप्रस्थावुपस्थापितौ। भिक्षुरपि हि समधिकशौचाष्टग्रासोभोजननियमाद् भवति वानप्रस्थस्तपःप्रधानः। न च गृहस्थादेः कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठत्वासम्भवः। यदि

भामती–व्याख्या

जाय? अथवा परिव्राजक की ही—इस प्रकार का अवान्तर विचार किया जा रहा है—"सा च", अवान्तर-विचार का प्रयोजन बताते हैं—"यदि च"। ब्रह्मसंस्थ को गृहस्थादि चारों आश्रमों से भिन्न अनाश्रमी ही क्यों न मान लिया जाय? इस प्रश्न का उत्तर है—"अनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च"।

**पूर्वपक्ष**—"तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा"। आशय यह है कि यदि 'ब्रह्मसंस्थ पद अपने अवयवार्थ से निरपेक्ष हो कर 'परिव्राजक' में वैसे ही रूढ है, जैसे कि 'अश्वकर्ण' शब्द शाल वृक्ष में रूढ है। तब सन्यासाश्रम को प्राप्त कर लेनेमात्र से अमृतत्व (मोक्ष) का लाभ हो जाता है, उस के लिए ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा नहीं रह जाती। यदि ब्रह्मज्ञान के बिना ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, तब ब्रह्मज्ञान को मोक्ष का एक मात्र साधन बतानेवाले "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता. ६।१५) इत्यादि प्रमाणों का विरोध उपस्थित होता है। अवयवार्थ में समुदाय की शक्ति नहीं मानी जा सकती, अतः 'ब्रह्मणि संस्था अस्य'—इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार चारों आश्रमों में से जिस भी आश्रमवाले व्यक्ति की ब्रह्मनिष्ठा हो जाती है, वही ब्रह्मसंस्थ है और वही अमृतत्व की प्राप्ति करता है। उन में ब्रह्मचारी और गृहस्थ—ये दो तो अपने-अपने वाचक शब्दों के द्वारा ही अभिहित हैं। 'तपः' पद के द्वारा तपःप्रधान होने के कारण भिक्षु और वानप्रस्थ—ये दोनों उपस्थापित हैं। भिक्षु भी समधिक शौच और केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करने के कारण वानप्रस्थ के समान ही तपःप्रधान होता है। [ गृहस्थ की अपेक्षा यतिगणों का शौच चतुर्गुण होता है—"यतीनां तु चतुर्गुणम्" (मनु. ५।१३७)। यति का भोजन आठ ग्रास से अधिक नहीं होना चाहिए—"अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः" (बोधा. ध. सू. ८।२।१०१८।१५)]। गृहस्थादि कर्मी (कर्मकाण्डी) हैं, उन में ब्रह्मनिष्ठत्व सम्भव नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्मनिष्ठत्व की विरोधिनी कर्मिता क्या है? यदि कर्म-सम्बन्धवत्ता का नाम कर्मिता है, तब तो भिक्षु भी कर्मी कहलाएगा, क्यों कि उस में भी कायिक, वाचनिक और मानसिक कर्मों का सम्बन्ध है। भिक्षु जो कर्म करता है, यह सब ईश्वरार्पण कर देता है, अतः वह कर्मी नहीं, जो व्यक्ति कर्म-फल की कामना

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

तावत् कर्मयोगः कर्मिता । सा भिक्षोरपि कायवाङ्मनोभिरस्ति । अथ ये न ब्रह्मार्पणेन कर्म कुर्वन्ति किन्तु कामार्थितया ते कर्मिणः, तथा सति गृहस्थादयोऽपि ब्रह्मार्पणेन कर्म कुर्वाणा न कर्मिणः । तस्माद् ब्रह्मणि तात्पर्यं ब्रह्मनिष्ठता, न तु कर्मत्यागः, प्रमाणविरोधात् । तपसा च द्वयोराश्रमयोरेकीकरणेन त्रय इति त्रित्वमुपपद्यते । एवं च त्रयोऽप्याश्रमा अब्रह्मसंस्थाः सन्तः पुण्यलोकभाजो भवन्ति, यः पुनरेतेषु ब्रह्मसंस्थः सोऽमृतत्वभागिति । न च येषां पुण्यलोकभागित्वं तेषामेवामृतत्वमिति विरोधः, यथा देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावभूतां सम्प्रति तयोर्यज्ञदत्तस्तु शास्त्राभ्यासात् पटुप्रज्ञो वर्त्तते इति, तथेहापि य एवाब्रह्मसंस्थाः पुण्यलोकभाजस्त एव ब्रह्मसंस्था अमृतत्वभाज इत्यवस्थाभेदादविरोधः । तथाच ब्रह्मसंस्थ इति यौगिकं पदं प्रकृतविषयं भविष्यति । यथा आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठत इत्यत्र विनियुक्तापि प्रकृतैवाग्नेयी गृह्यते । न च विनियुक्तविनियोगविरोधः, यदि ह्यत्राग्नेय्युपदिश्येत ततो यथा प्रतीता तथोद्दिश्यते । विनियुक्ता च प्रतीतिर्भवेद् इति विनियुक्तविनियोगविरोधः । इह तु आग्नीध्रोपस्थाने सा

भामती–व्याख्या

से कर्म करता है, वह कर्मी है, किन्तु गृहस्थादि भी ब्रह्मार्पण बुद्धया कर्म करने पर कर्मी नहीं होंगे । फलतः ब्रह्मगत तात्पर्य को ही ब्रह्मनिष्ठता कहना होगा, कर्म-त्याग को नहीं, क्योंकि भिक्षु को कर्म-त्यागी कहना प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है । वानप्रस्थ और सन्यास का तपः-प्राधानिकत्वेन एकत्व मानने पर गृहस्थ, ब्रह्मचर्य और तापस—आश्रमों में त्रित्व उपपन्न हो जाता है, जैसा कि उपक्रम में कहा गया है—"त्रयो धर्मस्कन्धाः" (छां २।२३।१) । ये तीनों आश्रम निसर्गतः अब्रह्मसंस्थ होते हुए पुण्यलोकभागी हैं और इन तीनों में से जो ब्रह्मसंस्थ हो जाता है, वह अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। जब तीनों आश्रमों को पुण्यलोक का भागी कहा गया, तब उन्हीं को अमृतत्व का अधिकारी मानना अत्यन्त विरुद्ध क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावभूताम्, संप्रति तयोर्यज्ञदत्तस्तु शास्त्राभ्यासात् पटुप्रज्ञो जातः'—ऐसा कहना विरुद्ध नहीं, वैसे ही प्रकृत में 'ये एवाब्रह्मसंस्थाः, ते एव ब्रह्मसंस्था अमृतत्वभाजः'—ऐसा कहना विरुद्ध नहीं, क्योंकि अवस्था के भेद से अवस्थावान् का भिन्न हो जाना स्वभाव-सिद्ध है। इस प्रकार 'ब्रह्मसंस्थ' पद यौगिक और प्रकृत-संगत हो जाता है । जैसे "आग्नेय्याऽग्नीध्रमुपतिष्ठते" (तै. सं. ३।१।६।१) [ अग्नि-प्रकाशक ऋचा का उच्चारण करते हुए अग्नीध्रसंज्ञक मण्डप में पदार्पण करे ] इस प्रकार अग्नीध्र के उपस्थान में विनियुक्त आग्नेयी ऋचा वही गृहीत होती है, जो प्रकृत (ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित) है—'तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम्" (जै. सू. ३।२।२१) [ प्रकरण प्रमाण और युक्तियों के आधार पर यही सिद्ध होता है कि तदाख्यात (ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित "अग्न आ यहि वीतये" ऋ. सं. ४।५।२२ इस आग्नेयी ऋचा का ही ग्रहण किया जाय, ऋग्वेदीय दशम मण्डलस्थ आग्नेयी ऋचा का नहीं ] ।

**शङ्का**—प्रकृत आग्नेयी ऋचा ज्योतिष्टोम के प्रकरण में स्तोत्राङ्गत्वेन उपदिष्ट है, अतः उसका आग्नीध्रोपस्थान में विनियोग नहीं हो सकता, क्योंकि विनियुक्त पदार्थ का विनियोग करना अत्यन्त विरुद्ध है ।

**समाधान**—यदि स्तोत्रार्थत्वेन विनियुक्त आग्नेयी ऋचा ही ज्योतिष्टोम-प्रकरण में उपदिष्ट होती, तब अवश्य ही स्तोत्रार्थत्वेन विनियुक्त आग्नेयी ही प्रतीयमान होने के कारण उपदिष्ट होती, तब उसका अग्नीध्रोपस्थान में विनियोग विरुद्ध हो जाता किन्तु वैसा नहीं, अपितु अग्नीध्रोपस्थान में विनियुक्त आग्नेयी स्तोत्रार्थत्वेन परामृष्ट न होकर स्वरूपतः


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युक्तम्, नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति, यथाऽत्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानाम्, कायक्लेशप्रधानत्वात्, तपः-

भामती

विधेयत्वेन विनियुज्यते न तूद्दिश्यते। विधेयत्वेन च विनियोगे आग्नेयोपदार्थापेक्षणात् प्रकृतातिक्रमे प्रमाणाभावात्। तावता च शास्त्रोपपत्तेर्नाप्रकृतानामपि ग्रहणसम्भवः। न च यातयामतया न विनियोगः। वाचस्तोमे सर्वेषामेव मन्त्राणां विनियोगादन्यत्राप्यविनियोगप्रसङ्गात्। तथेहापि प्रकृता एवाश्रमा बुद्धिविपरिवर्त्तिनः परामृश्यन्ते नानुक्तः परिव्राडेयेति पूर्वः पक्षः।

राद्धान्तमुपक्रमते ॐ तदयुक्तम्। नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन इति ॐ। यथोपक्रान्तं तथैव परिसमापनमुचितम्। यत्सङ्ख्याकाश्च ये प्रसिद्धास्ते तत्सङ्ख्याका एव कीर्त्यन्ते इति चोचितम्। न तु सत्यां गतावुत्सर्गस्यापवादो युज्यते। असाधारणेनैकैकेन लक्षणेनैकैक आश्रमो वक्तुमुपक्रान्त इति तथैव समापनमुचितम्। न तु साधारणासाधारणाभ्यामुपक्रमसमाप्ती श्लिष्येते। न च तपो नाम नासाधारणं वानप्रस्थानामित्यत आह ॐ तपश्चासाधारण इति ॐ। न खलु पराकादिभिः कायक्लेश-

भामती—व्याख्या

उपदिष्ट है—"आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते"। आग्नेयपदार्थत्वेन उपदिष्ट आग्नेयी प्रकृत ही गृहीत होगी, प्रकृत का अतिक्रमण करने में कोई प्रमाण नहीं। प्रक्रान्त का ग्रहण कर लेने मात्र से उक्त विधिवाक्य की उपपत्ति हो जाती है, अप्राकृत ऋचा का ग्रहण अपेक्षित नहीं।

**शङ्का**—यद्यपि 'आग्नेयी' शब्द स्वरूपतः आग्नेयी का ग्राहक है, स्तोत्रार्थत्वेन विनियुक्त आग्नेयी का नहीं, तथापि उससे प्रकृत आग्नेयी का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह प्रक्रान्त ज्योतिष्टोमीय स्तोत्रोपकार-सम्पादन कर चुकने के कारण यातयाम (यामान्तरित या सार-हीन, नीरस) द्रव्य के समान अग्राह्य है।

**समाधान**—अन्यत्रानुपयुक्त तो कोई भी मन्त्र सुलभ नहीं, क्योंकि समग्र वैदिक वाङ्मय का विनियोग किसी-न-किसी कर्म में किया गया है, जैसा कि महर्षि जैमिनि कहते हैं—"सर्वेषां चोपदिष्टत्वात्" (जै. सू. २।२।२३)। वाचस्तोम नाम के एकाह कर्म में सभी का उपदेश किया गया है—'सर्वा ऋचः, सर्वाणि सामानि, सर्वाणि यजूंषि प्रयुज्यन्ते" (आप. श्रौ. सू. १२।१।३)। यदि एकत्र-विनियुक्त मन्त्रों का विनियोग अन्यत्र नहीं होता, तब वाचस्तोम में विनियुक्त ऋगादि का अन्यत्र कहीं विनियोग क्योंकर होगा? इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे 'आग्नेयी' आदि शब्द प्रकृत ऋचा के ही ग्राहक हैं, वैसे ही 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द भी बुद्धिस्थ गृहस्थादि तीन आश्रमों का ही परामर्श करता है, किसी चतुर्थ परिव्राट् का नहीं।

**सिद्धान्त**—"तदयुक्तम्, न हि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति"। अर्थात् किसी सन्दर्भ का उपक्रम जैसा किया जाता है, परिसमापन भी वैसा ही करना उचित होता है। जिन पदार्थों की जितनी संख्या लोक और वेद में प्रसिद्ध है, उनकी उतनी ही संख्या का कीर्तन करना उचित है, जहाँ तक सम्भव हो सके इस औत्सर्गिक नियम का अपवाद नहीं करना चाहिए। उपक्रम में प्रत्येक आश्रम अपने असाधारण धर्मों के परिवेश में निरूपित हुआ, अतः वैसा ही उनका समापन होना न्यायोचित है। साधारण धर्म से उपक्रम और असाधारण लक्षण के द्वारा उपसंहार अथवा असाधारण धर्म से उपक्रम और साधारण धर्म के द्वारा उपसंहार कदापि श्लिष्ट (संगत) नहीं माना जाता। 'तपः' शब्द के द्वारा सन्यास आश्रम का संग्रह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'तप' वानप्रस्थ का असाधारण धर्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दस्य तत्र रूढेः। भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते। चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम्। अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति—'त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक्' इति। पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते। न ह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञावन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञः इति। भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ, विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति। तस्मात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः, परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्वभाक्। कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र संभवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत? रूढ्यभ्युपगमे चाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति। अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्माणि

भामती

प्रधानो यथा वानप्रस्थस्तथा भिक्षुः सत्यप्यष्टग्रासादिनियमे। न च शौचसन्तोषशमदमादयस्तपःपक्षे वर्त्तन्ते, तत्र वृद्धानां तपःप्रसिद्धेरसिद्धेः। अत एव वृद्धाः तपसो भेदेन शौचादीनाचक्षते—"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इति। सिद्धसङ्ख्याभेदेषु च सङ्ख्यान्तराभिधानमविलष्टमित्याह ❀ चतुष्ट्वेन च इति ❀। ❀ अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र इति ❀। त्रय एत इति किं भिक्षुरपि परामृश्यते किंवा भिक्षुवर्जं त्रय एव? न तावत्तप इति भिक्षुसंग्रहे, तद्वर्जनमेते त्रय इत्यत्र कर्तुं शक्यम्। एत इति प्रकृतानां साकल्येन परामर्शाद् भिक्षुसंग्रहे च न तस्य पुण्यलोकत्वमब्रह्मसंस्थत्वाभावाद् भिक्षोः। तेन तस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य सदा पुण्यलोकत्वममृतत्वं चेति विरोधः। त्रिषु च ब्रह्मसंस्थपदे यदेति सम्बन्धनीयम्। भिक्षौ च सदेति वैषम्यम्। तदिदमुक्तम् ❀ पृथक्त्वे च इति ❀। पूर्वपक्षाभासं स्मारयति ❀ कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगाद् इति ❀। तन्निराकरोति ❀ अत्रोच्यते इति ❀। अयमभिसन्धिः—सत्यं

भामती—व्याख्या

है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानाम्"। कायक्लेशप्रधान क्रिया का नाम तप है, भिक्षु को केवल आठ ग्रास आहार लेने पर उतना कायक्लेश नहीं होता, जितना कि वानप्रस्थ को पराकसंज्ञक कृच्छ्र व्रत के पालन में होता है [ 'पराक' व्रत में लगातार बारह दिन तक भोजन ही नहीं किया जाता—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः॥ ( मनु. ११।२१५ ) ]।

भिक्षु के द्वारा अनुष्ठीयमान शौच, सन्तोष, शम, दम आदि को वृद्धगण तप नहीं मानते, अतः एव वे शौचादि को 'तप' से भिन्न कहते हैं—"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः" ( यो. सू. २।३२ )। शास्त्रों में आश्रमों की चार संख्या प्रसिद्ध है, उसे न्यूनाधिक करना उचित नहीं—"चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमाः"। "अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति"। "त्रय एते पुण्यलोकभाजः"—यहाँ पर क्या भिक्षु का भी परामर्श किया जाता है? अथवा भिक्षु को छोड़कर गृहस्थादि तीन का ही परामर्श किया जाता है? यदि भिक्षु का भी ग्रहण किया जाता है, तब 'तपः' शब्द से उस की व्यावृत्ति नहीं कर सकते। दूसरी बात यह भी है कि 'एते'—इस पद के द्वारा समस्त आश्रमों के परामर्श में भिक्षु का भी संग्रह हो जाता है, किन्तु भिक्षु में पुण्यलोकभागित्व सम्भव नहीं, क्योंकि वह अब्रह्मसंस्थ नहीं। फलतः 'त्रय' पद के द्वारा उसका संग्रह करने पर भिक्षु में पुण्यलोकभागित्व और अमृतत्वभागित्व—दोनों विरुद्ध धर्म प्रसक्त होते हैं। उसी प्रकार 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'—इस का गृहस्थादि के साथ अन्वय करने पर 'यदा ब्रह्मसंस्थः, तदाऽमृतत्वमेति'—ऐसा अर्थ करना होगा और भिक्षु के साथ अन्वय करने पर सदा ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वयेति—ऐसा अर्थ करना होगा, एक ही वाक्य के अर्थों में ऐसा वैरूप्य भी प्रसक्त होता है। भाष्यकार यही कह रहे हैं—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते। तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न सम्भवति, स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्, परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न संभवत्यननुष्ठाननिमित्तः। शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म, यज्ञादीनि चेतरेषां, तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः। तथा च न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा। तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत् ( नारा० ७८ ), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' ( मुण्ड० ३।२।६; नारा० १२।३; कैवल्य० ३ ) इत्याद्याः श्रुतयः। स्मृतयश्च—'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' ( गी० ५।१७ ) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति। तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नावतरति। तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां

भामती

यौगिकः शब्द सति प्रकृतसम्भवे न तदतिपत्त्याऽप्रकृते वर्त्तितुमर्हति। असति तु सम्भवे सा भूत्प्रमादपाठ इत्यप्रकृते वर्त्तयितव्यः। दर्शितश्चात्रासम्भवोऽवस्तादिति। एष हि ब्रह्मसंस्थतालक्षणो धर्मो भिक्षोरसाधारणः, आश्रमान्तराणि तत्संस्थान्यतत्संस्थानि च भिक्षुस्तत्संस्थ इत्येव। तत्संस्थता हि स्वाभावं व्यवच्छिन्दन्ती विरोधाद् यस्तत्संस्थ एव तत्राञ्जसी नान्यत्र। ॐशमदमादिस्तु तदीय इतिॐ स्वाङ्गमव्यवधायकमित्यर्थः। ब्रह्मसंस्थत्वमसाधारणं परिव्राजकधर्मं श्रुतिरादर्शयतीत्याह ॐ तथा च न्यास इति ब्रह्मा इति ॐ। सर्वसङ्गपरित्यागो हि न्यासः, स ब्रह्मा, कुत इत्यत आह ॐ ब्रह्मा हि परः ॐ। अतः परो न्यासो ब्रह्मेति। किमपेक्ष्य परः संन्यास इत्यत आह ॐ तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयद् इति ॐ। एतदुक्तं भवति—ब्रह्मपरतया सर्वेषणापरित्यागलक्षणो न्यासो ब्रह्मेति। तथा चेदृशं

भामती–व्याख्या

"पृथक्त्वे च"। पूर्वपक्षाभास का स्मरण दिलाते हैं—"अयं पुनः ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात् प्रवर्तमानः"। उस का निराकरण करते हैं—"अत्रोच्यते"। सारांश यह है कि यौगिक शब्द को प्रकृतार्थ का लाभ हो जाने पर वह अप्रकृत अर्थ का अभिधान नहीं किया करता। प्रकृतार्थ का परामर्श असम्भव हो जाने पर वह अप्राकृत अर्थ का ग्रहण इस लिए किया करता है कि उसे प्रमाद पाठ न समझ लिया जाय। 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द अपने पूर्व किसी प्रकृतार्थ का परामर्श नहीं कर सकता—यह पहले कहा जा चुका है। ब्रह्मसंस्थता भिक्षु का असाधारण धर्म है और गृहस्थादि आश्रम ब्रह्मसंस्थ भी हो सकते हैं और अब्रह्मसंस्थ भी किन्तु भिक्षु केवल ब्रह्मसंस्थ है। ब्रह्मसस्थता अपने विरोधीभूत अभाव (ब्रह्मसंस्थत्वाभाव) का व्यवच्छेद करती हुई ब्रह्मसंस्थ में ही पूर्णरूपेण विश्रान्त होती है, अन्यत्र नहीं। "शमादिस्तु तदीयो धर्मः"। अर्थात् शम-दम आदि का पालन करने पर ब्रह्मसंस्थ भिक्षु से दूर या व्यवहित नहीं होती, क्योंकि शम-दमादि ब्रह्मसंस्थता के अङ्ग हैं, अङ्ग कभी भी अपने अङ्गी का व्यवधायक नहीं होता। ब्रह्मसंस्थता परिव्राजक का असाधारण धर्म है, यह श्रुति दिखा रही है—"तथा च न्यास इति ब्रह्मा"। [ आचार्य भास्कर ने 'न्यास' पद की कर्म-त्यागपरता का खण्डन किया है—"न्यास इति ब्रह्मेति निर्वचनाद् ब्रह्माभिधीयते, न कर्मत्यागः" ( भास्कर. पृ. २०६ )। इस का निरास करते हुए मिश्रजी ने कहा है—"सर्वसङ्गपरित्यागो हि न्यासः" ]। समस्त आसक्तियों का परित्याग सन्यास कहलाता है, वह सन्यास ही ब्रह्मा ( हिरण्यगर्भ ) है, क्योंकि ब्रह्मा सब से पर ( उत्कृष्ट ) है—"अतः परो न्यासो ब्रह्मा"। न्यास किस की अपेक्षा पर है यह दिखाते हैं—"तानि वा एतान्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारिव्राज्यं तावद् ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्येतैव। अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः। विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति। न चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम्, अविशेषश्रवणात्। पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादिना। ब्रह्मदानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जाबा० ५) इति। तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः। सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥ २० ॥

---

## ( ३ स्तुतिमात्राधिकरणम्। सू० २१-२२ )

### स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः (छा० १।१।३) 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) 'अयं वाव लोक ऋषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोकथमियमेव पृथिवी' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये, स्तुत्यर्था इति युक्तम्, उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपा-

भामती

न्यासलक्षणं ब्रह्मसंस्थत्वं भिक्षोरेवासाधारणं नेतरेषामाश्रमिणाम्। ब्रह्मज्ञानस्य शब्दजनितस्य यः परीपाकः साक्षात्कारोऽपवर्गसाधनं तदङ्गतया पारिव्राज्यं विहितम्। न त्वनधिकृतं प्रतीत्यर्थः ॥ २० ॥

---

यद्यत्र सन्निधान उपासनाविधिर्नास्ति, ततः प्रदेशान्तरस्थितोऽपि विधिरव्यभिचरितसम्बन्धेनोद्गीथेनोपस्थापितः स एष रसानां रसतम इत्यादिना पदसन्दर्भेणैकवाक्यभावमुपगतः स्तूयते।

भामती—व्याख्या

वशणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्"। आशय यह है कि 'न्यास' शब्द का वाच्यार्थ है—समस्त एषणाओं (इच्छाओं) का त्याग और 'न्यास' का तात्पर्य ब्रह्म में है, अतः न्यास ब्रह्म है। इस प्रकार का न्यास ही ब्रह्मसंस्थता है और ब्रह्मसंस्थता भिक्षु का ही असाधारण धर्म है, अन्य आश्रमियों का नहीं। शब्द-जनित ब्रह्मज्ञान का जो परीपाक है—ब्रह्मसाक्षात्कार, वही अपवर्ग का साधन है, तदङ्गत्वेन परिव्रज्या विहित है, वह भी अनधिकारी के लिए नहीं ॥ २० ॥

---

**संशय**—उद्गीथ के अवयवभूत ओंकार के रसतमत्वादि गुण श्रुत हैं—"एष रसानां रसतमः परमः" (छा. २।१।३)। यहाँ रसतमत्वादि का प्रतिपादन क्या उद्गीथादि की स्तुति के लिए है? अथवा उपासना के लिए?

**पूर्वपक्ष**—"स एष रसानां रसतमः" यह वाक्य दो प्रकार के विधि-वाक्यों का स्तुति-वाक्य हो सकता है—(१) उद्गीथ-विधि का अथवा (२) उद्गीथोपासना का। (१) उद्गीथ-विधि वाक्य यद्यपि इस स्तुति-वाक्य से बहुत दूर कर्मकाण्ड में अवस्थित है, तथापि उस का अव्यभिचरितसम्बन्धी होने के कारण उद्गीथ यहाँ उस का उपस्थापक है। उद्गीथ से उपस्थापित उद्गीथ-विधि के साथ इस स्तुति-वाक्य की एकवाक्यता हो जायगी, स्तुत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दाय श्रवणात्। यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत्, नेत्याह, नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तम्, अपूर्वत्वात्। विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति, स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात्। विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्येत इत्युक्तम्—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र। प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानाऽनर्थिकैव स्यात्। इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसन्निधावेवाम्नातमिति वैषम्यम्। तस्माद्विध्यर्था एवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

'उद्गीथमुपासीत' ( छा० १।१।१ ), 'सामोपासीत' ( छा० २।२।१), 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दाः श्रूयन्ते। ते च स्तुतिमात्रप्रयोजन-

भामती

नहि समभिव्याहृतैरेवैकवाक्यता भवतीति कश्चिन्नियमहेतुरस्ति, अनुषङ्गातिदेशलब्धैरपि विध्वसमभिव्याहृतैरर्थवादैरेकवाक्यताभ्युपगमात्। यदि तूद्गीथमुपासीत सामोपासीतेत्यादिविधिसमभिव्याहृतः श्रुतस्तथापि तस्यैव विधेः स्तुतिः। न तूपासनविषयसमर्पणपरः, ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्यनेनैवोपासनाविषयसमर्पणादिति प्राप्तेऽभिधीयते—न तावद् दूरस्थेन कर्मविधिवाक्येनैकवाक्यतासम्भवः, प्रतीतसमभिव्याहृतीनां विधिनैकवाक्यतया स्तुत्यर्थत्वमर्थवादानां रक्तपटन्यायेन भवति, न तु स्तुत्या विना काचिदनुपपत्तिर्विधेः। यथाहुः—"अस्ति तु तदित्यतिरेके परिहार" इति। अत एव विधेरपेक्षाभावात्

भामती—व्याख्या

उद्गीथ का विधान सम्पन्न हो जायगा। समभिव्याहृत ( सन्निहित ) वाक्यों की ही एकवाक्यता होती है—ऐसा कोई नियम प्रमाण-सिद्ध नहीं, क्योंकि अनुषङ्ग और अतिदेश के द्वारा लब्ध दूरस्थ अर्थवाद-वाक्यों की भी विधि-वाक्य के साथ एकवाक्यता मानी जाती है। अथवा (२) उद्गीथमुपासीत" ( छां. १।१।१ ), "सामोपासीत" ( छां. २।२।१ ) इत्यादि विधि-वाक्यों का समभिव्याहार यदि श्रुत है, तब उसी ( उपासना ) की ही स्तुति इस वाक्य से मानी जा सकती है। रसतमत्वेन ध्यातव्य ( उद्गीथ ) का यह वाक्य सम्पक कदापि नहीं, क्योंकि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्" ( छां. १।१।१ ) इस वाक्य के द्वारा ही उपासना के विषय का समर्पण कर दिया गया है।

सिद्धान्त—न तो दूरस्थ कर्म-विधि-वाक्य के साथ इस वाक्य की एकवाक्यता सम्भव है, क्योंकि विधि-वाक्य के समभिव्याहृत अर्थवाद-वाक्यों की विधि-वाक्य के साथ उत्थाप्य आकांक्षया एकवाक्यता मान कर ही स्तुत्यर्थता वैसे ही सम्पादित की गई है, जैसे 'रक्तः पटः' यहाँ पर [ जब 'रक्त' पद नहीं होता 'पटोऽस्ति' इतना ही वाक्य होता है, तब 'रक्त' पद की आकांक्षा भी नहीं होती, किन्तु जब 'रक्तः पटः' ऐसा वाक्य होता है, तब रक्त की आकांक्षा हो जाती है। वैसे ही जहाँ केवल विधि-वाक्य ही होता है, अर्थवाद-वाक्य नहीं, तब कोई आकांक्षा नहीं होती, किन्तु अर्थवाद के सन्निहित होने पर 'कीदृशं कर्म ?' ऐसी आकांक्षा उठा कर अर्थवाद-वाक्य से एकवाक्यता सम्पादित कर 'प्रशस्तं कर्म' ऐसा अभिमत बोध सम्पन्न किया जाता है। [शबरस्वामी ने यहाँ कहा है—"यथा पटो भवति—इति निरवांक्षं च पदद्वयम्। यदा च तस्मिन्नेव रक्तः इत्यपरं श्रूयते, तदा रागसम्बन्धो भवति, भवति च रक्तं प्रति आकांक्षा। एवं यदा न स्तुतिपदानि, विधिशब्देनैव तदा प्ररोचना। यदा स्तुतिवचनं तदा प्ररोचनेन" ( शाबर. पृ. ११७ )]। इससे यह स्पष्ट है कि स्तुति के विना विधि-वाक्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तायां व्याहन्येरन्। तथा च न्यायविदां स्मरणम्—'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्। एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्' इति लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति। प्रतिप्रकरणं च फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७), 'एष ह्येव कामागानस्येष्टे' (छा० १।७।९), 'कल्पन्ते हास्मै

भामती

प्रवर्तनात्मकस्यानुषङ्गातिदेशादिभिरर्थवादप्राप्त्यभिधानमसमञ्जसम्। न हि कर्त्रपेक्षितोपायतायामवगतायां प्राशस्त्यप्रत्ययस्यास्ति कश्चिदुपयोगः। तस्माद् दूरस्थस्य कर्मविधेः स्तुतावानर्थक्यम्, तेनैकवाक्यतानुपपत्तेः। सन्निहितस्य तूपासनाविधेः किं विषयसमर्पणेनोपयुज्यतामुत स्तुत्येति विशये विषयसमर्पणेन यथार्थवत्त्वं नैवं स्तुत्या बहिरङ्गत्वात्। अगत्या हि सा। तस्मादुपासनार्था इति सिद्धम्।

कुर्यात् क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्।
एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥

भावनायाः खलु कर्तृसमीहितानुकूलत्वं विधिनिषेधयश्च कर्तृरहितानुकूलत्वम्। यथाहुः—"कर्तव्यश्च सुखफलोऽकर्तव्यो दुःखफल" इति। एतच्चास्माभिरुपपादितं न्यायकणिकायाम्। क्रिया च

भामती—व्याख्या

को अनुपपत्ति नहीं, हाँ, उसके होने पर अन्वय-मार्ग की गवेषणा की जाती है, जैसा कि "अस्ति तु तत् (स्तुतिवचनम्)" इस शबरस्वामी के वाक्य (शाबर० पृ० ११८) की व्याख्या में प्रभाकर मिश्र ने कहा है—"अस्ति तु तदित्यतिरेके परिहारः"। अर्थात् जब स्तुतिवचन के विना ही अकेला विधि-वाक्य ही अपेक्षित अर्थावबोध सम्पन्न कर लेता है, तब स्तुति-वचन निरर्थक क्यों नहीं? इस आक्षेप का परिहार भाष्यकार ने विधि से व्यतिरिक्त (पृथक्) स्तुति-वचन को देख कर किया है—"अस्ति तु तत्"। जब विधि-वाक्य अर्थवाद की अपेक्षा के विना ही अपने पुरुष-प्रवर्तनरूप व्यापार का जनक हो जाता है, तब दूरस्थ अर्थवाद वाक्यों का अनुषङ्ग और अतिदेश के द्वारा परामर्श करना निरर्थक है। विधि-वाक्य के द्वारा कर्त्ता पुरुष की इष्ट-साधनता के बोधन में प्राशस्त्य-ज्ञान का कोई उपयोग नहीं, अतः दूर (कर्मकाण्ड में) अवस्थित उद्गीथ-विधि के साथ इस स्तुति-वाक्य की एकवाक्यता सर्वथा अनुपपन्न है।

शेष रहा द्वितीय प्रकार। वहाँ सन्देह होता है कि सन्निहित उपासना-विधि में प्रकृत वाक्य का क्या विषय-समर्पकत्वेन उपयोग है? अथवा स्तावकत्वेन? विषय-समर्पकत्वेन जैसा सार्थक्य है, वैसा स्तावकत्वेन नहीं, क्योंकि स्तुति तो बहिरङ्ग है, अनुष्ठान का विषय नहीं, अतः स्तुति अगत्या मानी जाती है। रसतमत्वेन उपास्योपस्थाकता ही उचिततर है। यहाँ 'रसतमत्वेनोद्गीथमुपासीत'—ऐसा विधि-वाक्य पर्यवसित होता है, श्री शबरस्वामी ने जैमिनि-सूत्रों के अपने भाष्य (पृ० १२४७) में पुरातन आचार्यों का विधि-लक्षण उद्धृत किया है—

कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्।
एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥

विधिविवेक की "पुंसो नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः" (विधि० पृ० २४३) की व्याख्या (न्यायकणिका) में इस विषय का स्पष्टीकरण किया गया है कि विधि प्रत्यय का अर्थ है—इष्ट-साधनत्व, उसका अन्वय आर्थीभावना में होता है। निषेध-स्थल पर उसी इष्ट-साधनत्व में नञर्थ का अन्वय ही अहित-साधनत्वरूप निषेधार्थ का गमक हो जाता है, जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"कर्तव्यश्च सुखवान्, अकर्तव्यो दुःखवान्" (शाबर० पृ० १३४९)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' ( छा० २।२।३ ) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

---

## ( ४ पारिप्लवाधिकरणम् । सू० २३-२४ )

### पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' ( बृ० ४।५।१ ), 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' ( कौषी० ३।१ ), 'जानश्रुतिर्ह

भामती

भावना तद्वचनाश्च करोत्यादयः, यथाहुः—"कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः" इति। अत एव कृभ्वस्तीनुदाहृतवान्। सामान्योक्तौ तद्विशेषाः पचेदित्यादयोऽपि गम्यन्त इति तत्र कुर्यादित्याक्षिप्तकर्तृका भावना। क्रियेतेति आक्षिप्तकर्मिका भावना, कर्त्तव्यमिति तु कर्मभूतद्रव्योपसर्जनभावना। एवं दण्डी भवेद्दण्डिना भवितव्यं दण्डिना भवेतेत्येकधात्वर्थविषया विध्युपहिता भावना उदाहार्य्याः। भवतिश्चैष जन्मनि। यथा कुलालव्यापाराद् घटो भवति बीजादङ्कुरो भवतीति प्रयुञ्जते। न च बीजादङ्कुरोऽस्तीति प्रयुञ्जते। तस्मादस्तिः सत्तायां न जन्मनीति ॥ २२ ॥

---

यद्यपि उपनिषदाख्यानामपि विद्यासन्निधौ श्रुतावि। तथापि सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लव इति

भामती—व्याख्या

इसका भी उपपादन न्यायकणिका में किया गया है। भावनाख्य क्रिया की वाचकता 'करोति' आदि धातुओं में मानी जाती है, जैसा कि कहा गया है—कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः" अर्थात् 'डुकृञ् करणे', 'भू सत्तायाम्' और 'अस् भुवि'—इन धातुओं को सामान्य क्रिया का वाचक माना जाता है, अत एव शाबर भाष्य में उद्धृत श्लोक में भावना-वाचित्वेन कृ, भू और अस्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। सामान्य क्रिया का प्रतिपादन करने पर 'पचेत्' इत्यादि विशेषार्थों की भी अवगति हो जाती है। कृतिरूप भावना के वाचक लकार के द्वारा कर्तृकारक का आक्षेप से लाभ हो जाता है। उसका भेद होने पर भी भावना में किसी प्रकार का भेद नहीं आता। 'कुर्यात्' में जैसे कर्त्ता का आक्षेप से लाभ होता हैं, वैसे ही 'क्रियेत' में कर्म का आक्षेप होता है 'कपालं कर्त्तव्यम्'—इत्यादि स्थलों पर कर्मभूत कपालादि द्रव्यों की उपसर्जनीभूत ( विशेषणीभूत ) भावना का अभिधान किया जाता है। इसी प्रकार 'दण्डी भवेत्'—यहाँ आक्षिप्तकर्तृका भावना, 'दण्डिना भवितव्यम्'—यहाँ धात्वर्थ की उपसर्जनीभूत भावना, 'दण्डिना भूयेत'—यहाँ आक्षिप्तकर्मिका भावना [ अकर्मक क्रियाएँ भी विवक्षा-वैचित्री के व्यूह में आकर सकर्मक बना ली जाती हैं, अतः 'भू' आदि अकर्मक धातुओं में सकर्मकता का व्यवहार असाम्प्रदायिक नहीं ] इस प्रकार की विविध विध्युपहित (इष्टसाधनीभूत ) भावनाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यहाँ यह 'भवति' धातु जननार्थक है, जैसा कि लोग प्रयोग किया करते हैं—'कुलालव्यापाराद् घटो भवति', 'बीजाद् अङ्कुरोऽस्ति'—ऐसा प्रयोग नहीं करते, अतः 'अस्ति' धातु सत्तार्थक है, जन्मार्थक नहीं ॥ २१-२२ ॥

---

संशय—वेदान्त-ग्रन्थों में पठित याज्ञवल्क्यादि के आख्यान पारिप्लवार्थ हैं ? अथवा औपनिषद विद्या की प्रशंसा के लिए ?

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' ( छा० ४।१।१ ) इत्येवमादिषु वेदान्त-पठितेष्वाख्यानेषु संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्या-प्रतिपत्त्यर्थानीति । पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः, आख्यानसामान्यात्, आख्या-नप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात् । ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात्, मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत् । तन्न, कस्मात् ? विशेषितत्वात् । 'पारिप्लवमाच-क्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते । आख्यानसामान्याच्चेत्सर्वगृहीतिः स्यादनर्थकमेवेदं विशेषणं भवेत् । तस्मान्न पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतयः ॥ २३ ॥

भामती

सर्वश्रुत्या भिःशेषार्थतया दुर्बलस्य सन्निधेर्बाधितत्वात् पारिप्लवार्थान्येवाख्यानानि । न च सर्वा दाशत-यीरनुब्रूयादिति विनियोगेऽपि दाशतयीनां प्रातिस्विकविनियोगात्तत्र तत्र कर्मणि यथा विनियोगो न विरुध्यते तथेहापि सत्यपि पारिप्लवे विनियोगो सन्निधानाद् विद्याङ्गत्वमपि भविष्यतीति वाच्यम्, दाशतयीषु प्रातिस्विकानां विनियोगानां समुदायविनियोगस्य च तुल्यबलत्वादिह तु सन्निधानात् श्रुतेर्ब-लीयस्त्वात् । तस्मात् पारिप्लवार्थान्येवाख्यानानीति प्राप्ते ।

उच्यते—नैषामाख्यानानां पारिप्लवे विनियोगः । किन्तु पारिप्लवमाचक्षीतेत्युपक्रम्य यान्याम्ना-तानि मनुर्वैवस्वतो राजेत्यादीनि तेषामेव तत्र विनियोगः तान्येव हि पारिप्लवेन विशेषितानि । इतरथा पारिप्लवे सर्वाण्याख्यानानीत्येतावतैव गतत्वात् पारिप्लवमाचक्षीतेत्यनर्थकं स्यात् । आख्यानविशेषकत्वे त्वर्थवत् । तस्माद्विशेषणानुरोधात् सर्वशब्दस्तदपेक्षो न त्वशेषवचनः । यथा सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि उपनिषत् ग्रन्थों में पठित आख्यान वेदान्त विद्या की सन्निधि में स्थित हैं, तथापि "सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे" यहाँ सर्वपदात्मक श्रुति प्रमाण के द्वारा सन्निधिरूप प्रमाण का बाध करके पारिप्लव में समस्त वेद-वेदाङ्गों के आख्यानों का विनियोग हो जाता है, जैसा कि महर्षि जैमिनि का सूत्र दिखाया जा चुका है—"सर्वेषां चोपदिष्टत्वात्" ( जै० सू० ३।२।२३ ) । पारिप्लव की चर्चा विगत २० वे सूत्र में आ चुकी है ।

**शङ्का**—जैसे "सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात"—इस प्रकार ऋग्वेद के दशम मण्डल की समस्त ऋचाओं का सामूहिक विनियोग हो जाने पर भी प्रत्येक ऋचा का अपने-अपने विभिन्न कार्यों में भी विनियोग देखा जाता है । वैसे ही वेदान्त-पठित आख्यानों का सामूहिक विनियोग पारिप्लव में हो जाने पर भी सन्निधि प्रमाण के द्वारा वेदान्त-विद्या में भी विनियोग क्यों न हो सकेगा ?

**समाधान**—दृष्टान्त में सामूहिक और प्रातिस्विक उभय प्रकार का विनियोग श्रुति-प्रमाण के द्वारा ही होता है, जिनमें बाध्य-बाधकभाव सम्भव नहीं, किन्तु प्रकृत में सामूहिक विनियोग श्रुति प्रमाण और प्रातिस्विक विनियोग सन्निधि प्रमाण से होता है, अतः सन्निधि का श्रुति प्रमाण से बाध सम्भव हो जाता है, फलतः याज्ञवल्क्यादि के आख्यानों में परिप्लवाङ्गत्व ही सिद्ध होता है ।

**सिद्धान्त**—इन आख्यानों का पारिप्लव में विनियोग नहीं हो सकता, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में पारिप्लव का उपक्रम कर मनु के उपाख्यान का विधान किया है—"पारिप्लव-माचक्षीत, मनुर्वैवस्वतो राजा" ( शत. ब्रा. १३।४।३ ) । यदि समस्त आख्यानों का पारिप्लव में विनियोग अभिमत होता, तब मन्वादि के विशेष आख्यानों का उल्लेख व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि 'सर्व' पद के द्वारा उनका भी ग्रहण हो जायगा । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

असति च पारिप्लवार्थत्व आख्यानानां सन्निहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या, एकवाक्यतोपबन्धात् । तथा हि—तत्र तत्र सन्निहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते, प्ररोचनोपयोगात्प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाच्च । मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ( बृ० ४।५।६ ) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते । प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया । जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्गः' ( छा० ४।३।१ ) इत्याद्यया । यथा 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीनां कर्मश्रुतिगतानामाख्यानानां सन्निहितविधिस्तुत्यर्थता, तद्वत् । तस्मान्न पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

---

( ५ अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् । सू० २५ )

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' ( ब्र० सू० ३।४।१ ) इत्येतद्व्यवहितमपि सम्भवादत इति परामृश्यते । अत एव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥ २५ ॥

---

भामती

इत्यत्र निमन्त्रितापेक्षः सर्वशब्दः । तथा चोपनिषदाख्यानानां विद्यासन्निधिरप्रतिद्वन्द्वी विध्येकवाक्यता सोऽरोदीदित्यादीनामिव विध्येकवाक्यत्वं गमयतीति सिद्धम् । प्रतिपत्तिसौकर्याच्चेत्युपाख्यानेन हि बाला अप्यवधीयन्ते, यथा तत्राख्यायिकयेति ॥ २३, २४ ॥

---

विद्यायाः क्रत्वर्थत्वे सति तथा क्रतूपकरणाय कार्य्याय क्रतुरपेक्षितः । तदभावे कस्योपकारो विद्येति । यदा तु पुरुषार्था तदा नानया क्रतुरपेक्षितः, स्वकार्य्ये निरपेक्षाया एव तस्याः सामर्थ्यात् । अग्नीन्धनादिना चाश्रमकर्माण्युपलक्ष्यन्ते । यथाहुः—अग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ

---

भामती—व्याख्या

उक्त विनियोग-वाक्य मे 'सर्व' पद निःशेषार्थक नहीं, अपितु 'सर्वे ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्'—इत्यादि प्रयोगों के समान प्रक्रान्त कतिपय पदार्थों का ही ग्राहक होता है। वेदान्त-पठित आख्यानों की विद्या-सन्निधि बाधित न होकर वैसे ही विद्या के साथ एकवाक्यता की गमक है, जैसे "सोऽरोदीत्"—इत्यादि अर्थवाद की एकवाक्यता 'बर्हिषि रजतं न देयम्'—इस निषेध वाक्य के साथ होती है। वेदान्त-विद्या नितान्त दुरूह है, उपाख्यानों की सहायता से एक अबोध व्यक्ति भी उसका ग्रहण कर लेता है॥ २३-२४ ॥

---

संशय—ब्रह्मविद्या अपने मोक्षरूप कार्य के सम्पादन में आश्रम-कर्मों (अग्निहोत्रादि) की अपेक्षा करती है ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—ब्रह्मविद्या अपने कार्यभूत मोक्ष की सिद्धि के लिए कर्मानुष्ठान की सहायक व्यापार के रूप में अपेक्षा करती है।

सिद्धान्त—ब्रह्मविद्या क्रत्वर्थ नहीं, अपितु पुरुषार्थ है, उसको कर्म की अपेक्षा नहीं, अपना मोक्षरूप कार्य-सम्पादन करने का उसमें पूर्ण सामर्थ्य है, अतः अग्नीन्धनादि पद से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ६ सर्वापेक्षाधिकरणम् । सू० २६–२७ )

## सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते—किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति । तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापे-

भामती–व्याख्या

नापेक्षितव्यानीति । स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानि न तु स्वसिद्धाविति । एतच्चाधिकमुपरिष्टाद्वक्ष्यते । ॐ तद्विवक्षया च इति ॐ । एतत् प्रयोजनं पूर्वतनस्याधिकरणस्योक्तम् ॥ २५ ॥

---

अधिकविवक्षयेति यदुक्तं तदधिकमाह–सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् । यथा स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते आश्रमकर्माणि एवमुत्पत्तावपि नापेक्षेरन्निति शङ्का स्यात् । न च विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिविधिरयः । नह्येष विधिः, अपि तु वर्त्तमानापदेशः । स च स्तुत्याद्युपपद्यते । अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयः ब्रह्मणि—प्रथमा तावत् उपनिषद्वाक्यश्रवणमात्राद्भवति, यां किलाचक्षते श्रवणमिति । द्वितीया मीमांसासहिताात् तस्मादेवोपनिषद्वाक्याद्यामाचक्षते मननमिति । तृतीया चिन्तासन्ततिमयी यामाचक्षते निदिध्यासनमिति । चतुर्थी साक्षात्कारवती वृत्तिरूपा नान्तरीयकं हि तस्याः कैवल्यमिति । तत्राद्ये तावत् प्रतिपत्ती विदितपदतदर्थस्य विदितवाक्यगतिगोचरन्यायस्य च पुंस उपपद्यते एवेति न तत्र कर्मापेक्षा । ते एव च चिन्तामयीं तृतीयां प्रतिपत्तिं प्रसुवाते इति न तत्रापि कर्मापेक्षा । सा चावरनैरन्तर्य्यदीर्घकाल-

भामती

विवक्षित कर्मानुष्ठान की अपेक्षा ब्रह्मविद्या को नहीं, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"अग्नीन्धनादीनि आश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानि" । ब्रह्मविद्या को अपने कार्यभूत मोक्ष की सिद्धि में ही कर्मों की अपेक्षा नहीं, न कि अपनी सिद्धि में । ब्रह्मविद्या को अपनी सिद्धि में अन्तःकरण-शोधनार्थ कर्म की अपेक्षा होती है—यह सब कुछ आगे कहा जायगा, अतः कुछ अधिक कहने के लिए ही इस अधिकरण की स्थापना की गई है ॥ २५ ॥

---

**संगति**—पूर्वतन अधिकरण में जो कहा था—"अधिकविवक्षया" । उसी का प्रदर्शन किया जाता है—"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" ।

**पूर्वपक्ष**—ब्रह्मविद्या को जैसे मोक्ष-साधनार्थ आश्रम-कर्मों की अपेक्षा नहीं, वैसे ही अपनी उत्पत्ति में भी ब्रह्मविद्या को कर्मों की अपेक्षा नहीं । "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" ( बृह. उ. ४।४।२२ ) इस श्रुति के द्वारा कर्मों की अपेक्षा सिद्ध नहीं की जा सकती, क्योंकि यह श्रुति कोई विध्यात्मक नहीं, अपितु वर्तमान लट् का प्रयोग है, जो कि स्तुतिमात्र का द्योतक माना जाता है ।

दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्मविषयिणी चार प्रतिपत्तियाँ ( ज्ञान ) होती हैं—(१) प्रथम उपनिषत् शास्त्र के श्रवण से जनित, जिसको मनीषिगण 'श्रवण' नाम से अभिहित किया करते हैं । (२) द्वितीय प्रतिपत्ति मीमांसा-सहकृत उपनिषद्-वाक्यों से समुत्पादित होती है, जिसकी परिभाषा 'मनन' है । (३) तृतीय 'निदिध्यासन' नाम से प्रसिद्ध प्रतिपत्ति सतत चिन्ता-प्रसूत होती है । (४) चतुर्थी साक्षात्कारमयी प्रज्ञा, जिसके अनन्तर ही कैवल्य का लाभ होता है । इनमें प्रथम और द्वितीय–दोनों प्रतिपत्तियाँ तो पद-पद और अभिज्ञ वाक्यार्थ-निर्णायक विचार में चतुर चिन्तक पुरुष को अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं, उनके लिए कर्म की अपेक्षा नहीं होती । वे दोनों प्रतिपत्तियाँ ही 'चिन्तामयी' नाम की तृतीय प्रतिपत्ति को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्ष्यन्ते। एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते—सर्वापेक्षा चेति। अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि, नात्यन्तमनपेक्षैव। ननु विरुद्धमिदं वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति। नेति ब्रूमः—उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षते, उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते। कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। तथा हि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति। विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते। 'अथ यदयज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८।५।१) इत्यत्र च विद्यासाधनभूतस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि' (कठ० २।१५) इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्र-

भामती

सेविता साक्षात्कारवतीमाधत्त एव प्रतिपत्तिं चतुर्थीमिति न तत्राप्यस्ति कर्मापेक्षा। तन्नान्तरीयकञ्च कैवल्यमिति न तस्यापि कर्मापेक्षा। तदेवं प्रमाणतश्च प्रमेयतः उत्पत्तौ च कार्ये च न ज्ञानस्य कर्मापेक्षेति बीजं शङ्कायाम्, एवं प्राप्ते उच्यते—उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षा विद्यते विविविषोत्पादद्वारा विविदिषन्ति यज्ञेनेति श्रुतेः। न चेदं वर्त्तमानापदेशत्वात् स्तुतिमात्रमपूर्वत्वावधर्थस्य यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवतीति पर्णमयताविधिरपूर्वत्वात् न त्वयं वर्त्तमानापदेशः, अनुवादानुपपत्तेः। तस्मादुत्पत्तौ विद्यया शमादिवत् कर्माण्यपेक्ष्यन्ते। तत्राप्येवविदिति विद्यास्वरूपसंयोगादन्तरङ्गाणि विद्योत्पादे शमादीनि बहिरङ्गानि कर्माणि विविदिषासंयोगात्तथा ह्याश्रमविहितनित्यकर्मानुष्ठानाद्धर्मसमुत्पादस्ततः पाप्मा विलीयते। स हि तत्रतोऽनित्याशुचिदुःखानात्मनि संसारे सति नित्यशुचिसुखादिलक्षणेन विभ्रमेण मलिनयति चित्तमस्वम-

भामती—व्याख्या

जन्म दे डालती हैं, उसके लिए भी कर्मानुष्ठान अपेक्षित नहीं। यह तृतीय प्रतिपत्ति ही अकेली निरन्तर दीर्घकाल-तक आसेवित होकर साक्षात्कारात्मक चतुर्थी प्रतिपत्ति का प्रसव कर डालती है, वहाँ भी कर्म की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान अपने शब्दादि प्रमाणों और अपने साक्षादपरोक्षात्मक प्रमेयके बल पर अभिजात होकर अपना मोक्षरूप कार्य सम्पन्न कर डालता है, उसे कर्म की अपेक्षा कहीं भी नहीं होती।

**सिद्धान्त**—ज्ञान को अपनी उत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा है, क्योंकि यज्ञादि के अनुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होता है—"कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात्" (बृह. भा. पृ. ६९)। शुद्ध अन्तःकरण में ही विविदिषा उत्पन्न होती है—"विविदिषन्ति यज्ञेन" (बृह. ४।४।२२)। इस विधि श्रुति का अर्थ है—'यज्ञादिभिर्विविदिषां भावयेत्'। यहाँ 'विविदिषन्ति'—ऐसा वर्तमानार्थक फल-पद का प्रयोग होने पर भी स्तुतिमात्रता नहीं मानी जाती, क्योंकि विविदिषा के उद्देश्य से यज्ञादिरूप अपूर्व (अज्ञात) पदार्थ का विधान वैसे ही किया जाता है, जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति"—यहाँ जुहू के उद्देश्य से पर्णमयतारूप अपूर्व (अज्ञात) अर्थ का विधान माना जाता है। ऐसे स्थलों पर वर्तमान-प्रयोग नहीं, अपितु पञ्चम लकार का प्रयोग माना जाना चाहिए, क्योंकि वर्तमान-प्रयोग अनुवादकमात्र है किन्तु प्रकृत में अनुवाद सम्भव नहीं। फलतः विद्या को अपनी उत्पत्ति में शमादि के समान कर्मों की अपेक्षा सिद्ध होती है। इतना अन्तर अवश्य है कि "एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः" (बृह. उ. ४।४।२३) यहाँ पर 'एवंवित्' पद के द्वारा विद्यास्वरूप का संयोग शमादि के साथ स्थापित किया जाने के कारण विद्या की उत्पत्ति में शमादि अन्तरङ्ग और यज्ञादि कर्म बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि कर्म साक्षात् साधन न होकर विविदिषा-समुत्पादन के द्वारा परम्परया साधन कहे गए हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकर्मणां विद्यासाधनभावं सूचयति। स्मृतिरपि—'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इत्येवमाद्या। अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम्। यथा च योग्यत्वाभावेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते, रथचर्यायां तु युज्यते। एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते, उत्पत्तौ चापेक्ष्यन्त इति ॥ २६ ॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया
तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

यदि कश्चिन्मन्येत—यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यः, विध्यभावात्। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा, न यज्ञादिविधिपरा—इत्थं यद्दाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेतामवाप्तुमिच्छन्तीति। तथापि तु शमदमाद्युपेतः स्याद्विद्यार्थी, 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४।४।२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानाद्विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वात्। नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति

भामती

धर्मनिबन्धनत्वाद् विभ्रमाणाम्। अतः पाप्मनः प्रक्षये प्रत्यक्षोपपत्तिद्वारापावरणे सति प्रत्यक्षोपपत्तिभ्यां संसारस्य तात्त्विकीमनित्याशुचिदुःखरूपतामप्रत्यूहं विनिश्चिनोति। ततोऽस्मिन्ननभिरतिसंज्ञं वैराग्यमुपजायते। ततस्तज्जिहासाऽस्योपावर्तते। ततो हानोपायं पर्य्येषते पर्य्येषमाणश्चात्मतत्त्वज्ञानमस्योपाय इति शास्त्रादाचार्यवचनाच्चोपश्रुत्य तज्जिज्ञासत इति विविदिषोपहारमुखेनात्मज्ञानोत्पत्तावस्ति कर्मणामुपयोगः। विविदिषुः खलु युक्त एकाग्रतया श्रवणमनने कर्तुमुत्सहते। ततोऽस्य तत्त्वमसीति वाक्यान्निर्विचिकित्सज्ञानमुत्पद्यते। न च निर्विचिकित्सं तत्त्वमसीति वाक्यार्थमवधारयतः कर्मण्यधिकारोऽस्ति। येन भावनायां वा भावनाकार्ये वा साक्षात्कारे कर्मणामुपयोगः। एतेन वृत्तिरूपसाक्षात्कारकार्येऽपवर्गे

भामती—व्याख्या

उसकी परिपाटी यह है कि आश्रम-विहित नित्य कर्मों के अनुष्ठान से धर्म का समुत्पाद होता है, उससे पाप विलीन हो जाते हैं। पाप-पुञ्ज ही तत्त्वतः अनित्य, अशुचि और दुःखात्मक संसार में नित्यत्व, शुचित्व और सुखादिरूपता का भ्रम उत्पन्न कर चित्तगत सत्त्व गुण को मलिन कर देता है। यह ध्रुव सत्य है कि पाप-पुञ्ज ही सभी भ्रमों का मूल कारण होता है। उस पाप-पुञ्ज का प्रक्षय हो जाने पर प्रत्यक्ष और उपपत्ति का द्वार उद्घाटित हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष और उपपत्ति के द्वारा संसार की तात्त्विकी अनित्यता अशुचिता और दुःखरूपता का निश्चय हो जाता है, तब पुरुष को संसार से अनभिरतिसंज्ञक (अरुचि) वैराग्य उत्पन्न होता है, संसार से विरक्त व्यक्ति को संसार की जिहासा (त्याग करने की इच्छा) होती है, अतः संसार-त्याग के मार्ग की खोज जागरित होती है, जब शास्त्र और आचार्य के मुख से यह सुनता है कि आत्मज्ञान ही संसार-बन्धनों से सदा-सदा के लिए उन्मुक्त करता है, तब आत्मज्ञान की इच्छा (जिज्ञासा) का उदय होता है, इस प्रकार जिज्ञासा (विविदिषा) की उपहार-प्रस्तुति के माध्यम से कर्मों का आत्मज्ञान की उत्पत्ति में उपयोग होता है। सच्चा विविदिषु (जिज्ञासु) ही अपने एकाग्र मन से श्रवण और मनन में सक्षम होता है। श्रवणादि का सम्यक् अनुष्ठान कर लेने पर मुमुक्षु को "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों से संशयादि-रहित आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसा तत्त्व-साक्षात्कार कर लेने पर ज्ञानी पुरुष का कर्मानुष्ठान में अधिकार ही नहीं रहता कि शाब्दज्ञान-जनित भावना अथवा भावना-जनित आत्मसाक्षात्कार में कर्मों का उपयोग होता। इस प्रकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमानापदेश उपलभ्यते न विधिः। नेति ब्रूमः, तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विधित्वप्रतीतेः। पश्येदिति च माध्यंदिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते। तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि। यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानीति यज्ञादिश्रुतेरेव। ननूक्तं—यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीत्यत्र न विधिरुपलभ्यत इति। सत्यम्, तथापि त्वपूर्वत्वात्संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते। न ह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानूद्येत। 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य, पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः। तथा चोक्तम्—'विधिर्वा धारणवत्' (ब्र० सू० ३।४।२०) इति। स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीति च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि। तत्राप्येवंविदिनि विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम्॥ २७॥

---

भामती

कर्मणामुपयोगो दूरनिरस्तो वेदितव्यः। तस्माद्यथैव शमदमादयो यावज्जीवमनुवर्तन्ते एवमाश्रमकर्मण्यपीत्यसमीक्षिताभिधानम्, विदुषस्तत्रानधिकारादित्युक्तम्। दृष्टार्थेषु तु कर्मसु प्रतिषिद्धवर्जमनधिकारेऽपि असक्तस्य स्वारसिकी प्रवृत्तिरुपपद्यत एव। न हि तत्रान्वयव्यतिरेकसमधिगमनीयफलेऽस्ति विध्यपेक्षा। अतश्च भ्रान्त्या चेल्लौकिकं कर्म वैदिकं च तथास्तु त इति प्रलापः: शमदमादीनां तु विद्योत्पादायोपात्तानामुपरिष्टादवस्थास्वाभाव्यादनपेक्षितानामप्यनुवृत्तिः। उपपादितं चैतदस्माभिः प्रथमसूत्र इति

---

भामती—व्याख्या

वृत्तिरूप साक्षात्कार के कार्यभूत अपवर्ग (मोक्ष) में कर्मों का उपयोग दूरतः ही निरस्त हो जाता है। अतः आचार्य भास्कर ने जो कहा है—"यथैव शमादयो यावज्जीवमनुवर्तन्ते विदुषामपवर्गप्राप्तये, तथाश्रमकर्माणीति नान्तराले परित्यागः" (भास्कर. पृ. २०७) अर्थात् शमादि के समान आश्रम-कर्म भी विद्वान् के जीवन-पर्यन्त कर्त्तव्य बने रहते हैं—ऐसा कहना बिना सोच-समझ का प्रलापमात्र है, क्योंकि विद्वान् का कर्मों में अधिकार ही नहीं रहता—यह कहा जा चुका है। भास्कराचार्य ने जो कहा है—"यदि च सर्वं त्यक्तं कथं शौचाचमनभिक्षाटनादिषु प्रवृत्तिः?" (भास्कर. पृ. २०९) अर्थात् सभी कर्मों का त्याग हो जाने पर भिक्षाटनादि की भी समाप्ति हो जानी चाहिए। वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि आश्रम-कर्मों के लिए कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि की जैसी आसक्ति अपेक्षित है, वैसी भिक्षाटनादि दृष्टार्थक कर्मों में नहीं, अतः विद्वान् की अनासक्त भाव से उनमें प्रवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि दृष्टार्थक कर्मों का फल केवल अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही जाना जाता है, उनमें विधि-वाक्य की अपेक्षा ही नहीं रहती। भास्कराचार्य ने ही जो (भास्कर. पृ. २०९ पर) कहा है—

भ्रान्त्या चेल्लौकिकं कर्म वैदिकं तु तथाऽस्तु ते।
विद्यापनीतत्वाच्च कुतोऽधुना भ्रान्तिसम्भवः॥

[अर्थात् विद्वान् यदि भ्रान्ति के आधार पर लौकिक कर्म करता रहता है, तब वैदिक कर्म भी क्यों नहीं कर सकता?]। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि शम-दमादि का तो विद्या की उत्पत्ति के लिए ग्रहण किया गया था, विद्या के उत्पन्न हो जाने पर भी अवस्था-स्वाभाव्य के कारण उनकी अनुवृत्ति हो सकती है, भ्रान्ति के कारण नहीं, अतः किसी

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## [ ७ सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् । सू० २८-३१ ]

### सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति ( छा० ५।२।१ ) इति। तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' ( बृ० ६।१।१४ ) इति। सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः। किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं संकीर्त्यत इति संशये—विधिरिति तावत्प्राप्तम् तथा हि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवति, अतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेनेयं नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते। नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्य-

भामती

नेह पुनः प्रत्याख्यते। तस्माद्विविदिषोत्पादद्वाराश्रमकर्मणां विद्योत्पत्तावुपयोगो न विद्याकार्य्ये इति सिद्धम्। शेषमतिरोहितार्थम् ॥ २६, २७ ॥

---

प्राणसंवादे सर्वेन्द्रियाणां श्रूयते। एष किल विचारविषयः सर्वाणि खलु वागादीन्यवजित्य प्राणो मुख्य-उवाचैतानि किं मेऽन्नं भविष्यतीति तानि होचुः—यदिदं लोकेऽन्नमा च श्वभ्य आ च शकुनिभ्य-सर्वप्राणिनां यदन्नं तत्तवान्नमिति। तदनेन सन्दर्भेण प्राणस्य सर्वमन्नमिति अनुचिन्तनं विधायाह श्रुतिः। न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति। सर्वं प्राणस्यान्नमित्येवं विदितम्। किञ्च नानान्नं भवतीति। तत्र संशयः—किमेतत्सर्वान्नाभ्यनुज्ञानं शमादिवदेतद्विद्याङ्गतया विधीयते उत स्तुत्यर्थं सङ्कीर्त्यत इति। तत्र यद्यपि भवतीति वर्त्तमानापदेशान्न विधिः प्रतीयते। तथापि यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवतीति वर्तमानापदेशादपि पलाशमयीत्वविधिप्रतिपत्तिः पञ्चमलकारापत्त्या, तथेहापि प्रवृत्तिविशेष-

भामती—व्याख्या

प्रकार की भ्रान्ति ( अध्यास ) न रहने पर आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान क्योंकर हो सकेगा? इसका उपपादन प्रथम सूत्र में किया जा चुका है, अतः यहाँ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। यह निश्चित है कि आश्रम-कर्मों का विविदिषोत्पादन के द्वारा विद्या की उत्पत्ति में ही उपयोग है, विद्याजन्य मोक्ष में नहीं। शेष भाष्य सुगम है ॥ २६, २७ ॥

---

**विषय**—वागादि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर के मुख्य प्राण ने इन्द्रियों से पूछा—"किं मेऽन्नं भविष्यति" ( छा० ५।२।१ ) अर्थात् मेरा अन्न ( भक्ष्य ) क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में इन्द्रियों ने कहा—"यत्किञ्चिदिदमाश्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुः" (छां. ५।२।१) अर्थात् कुत्तों और पक्षियों तक सभी प्राणियों का जो अन्न प्रसिद्ध है, वह आप ( प्राणों ) का अन्न होगा। इस सन्दर्भ के द्वारा 'मैं प्राण हूँ और प्राण का सब कुछ अन्न ( अदनीय ) है—इस प्रकार की उपासना का विधान करके श्रुति कहती है—" न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति" (छां० ५।२।१) अर्थात् मैं प्राण हूं—ऐसी उपासना करनेवाले के लिए संसार में कुछ अनन्न (अनदनीय या अभक्ष्य ) नहीं रहता, क्योंकि प्राण सर्वभक्षी है।

**संशय**—यह सर्व-भक्षण की अभ्यनुज्ञा क्या शमादि के समान विद्याङ्गत्वेन विहित है? अथवा केवल स्तुति के लिए संकीर्तित है?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि 'भवति' इस प्रकार के वर्तमान प्रयोग से विधि की प्रतीति नहीं होती, तथापि जैसे "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति"—यहाँ वर्तमानापदेश के परिधान में पञ्चम लकार ( लेट् ) की अवस्थिति मानकर ( पर्णमयत्व ( पलाशमयत्व ) की विधि स्वीकार की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभागशास्त्रव्याघातः स्यात्—नैष दोषः, सामान्यविशेषभावाद् बाधोपपत्तेः। यथा प्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः। यथा च 'न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम्' (छा० २।१३।२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्रं बाध्यते। एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रं बाध्येतेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति। न ह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते, 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा. ५।२।१) इति वर्तमानापदेशात्। नचासत्यापि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते। अपि च श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति' इति।

भामती

करतालाभे विधिप्रतिपत्तिः। स्तुतौ हि अर्थवादमात्रं न तथार्थवद्यथा विधौ। भक्ष्याभक्ष्यशास्त्रं च सामान्यतः प्रवृत्तमनेन विशेषशास्त्रेण बाध्यते। गम्यागम्यविवेकशास्त्रमिव सामान्यतः प्रवृत्तं वामदेवविद्याङ्गभूतसमस्तस्त्र्यपरिहारशास्त्रेण विशेषविषयेणेति प्राप्त उच्यते—

अशक्तेः कल्पनीयत्वात् शास्त्रान्तरविरोधतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति चिन्तनसंस्तवः॥

न तावत् कौलेयमर्यादमन्नं मनुष्यजातिना युगपत् पर्यायेण वा शक्यमत्तुम्। इभकरभकादीनामन्नस्य शमीकरीरकण्टकवटकाष्ठादेरेकस्यापि अशक्यादनत्वात्। न चात्र लिङ इव स्फुटतरा विधिप्रतिपत्तिरस्ति। न च कल्पनीयो विधिरपूर्वत्वाभावात्। स्तुत्यापि च तदुपपत्तेः। न च सत्यां गतौ सामान्यतः प्रवृत्तस्य शास्त्रस्य विषयसङ्कोचो युक्तः। तस्मात्सर्वं प्राणस्यान्नमित्यनुचिन्तनविधानस्तुतिरिति

भामती—व्याख्या

जाती है, वैसे ही प्रकृत में भी सर्वान्नत्व का विधान प्रतिपन्न होता है। विधि-वाक्य जैसे पुरुष-प्रवृत्ति में विशेष सहायक होता है, वैसा अर्थवाद-वाक्य नहीं। यह विधि-वाक्य विशेष शास्त्र है और भक्ष्याभक्ष्य-विवेचक-शास्त्र सामान्यशास्त्र। विशेष शास्त्र सदैव सामान्य शास्त्र का बाधक होता है, अतः वामदेवविद्या में जैसे विशेष शास्त्र है—"न कांचन परिहरेत्" (छा० २।१३।२) अर्थात् अपने विस्तरे पर जो भी स्त्री सो जाय, उसको न छोड़े। जैसे यह विशेष शास्त्र गम्यागम्य-निर्णायक सामान्य शास्त्र का बाध करके अपरिहाण का विधान करता है, वैसे ही "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति"—यह विशेष शास्त्र भी भक्ष्याभक्ष्य-निर्णायक सामान्य शास्त्र का बाध करके सर्व भक्षण का विधान करता है।

सिद्धान्त—

अशक्तेः कल्पनीयत्वाच्छास्त्रान्तरविरोधतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति चिन्तनसंस्तवः॥

[ समस्त अन्न के भक्षण को पुरुष में शक्ति नहीं, "भवति" में विधित्व कल्पनीय है, कल्प्य नहीं, भक्ष्याभक्ष्य-निर्णायक शास्त्रों के द्वारा सर्व-भक्षण का विरोध है, अतः 'प्राणस्य सर्वमिदमन्नम्'—इस प्रकार के चिन्तन (उपासना) की स्तुति ही यहाँ प्रस्तुत की गई है ]। आशय यह है कि कौलेयक (कुत्तों) तक के सभी प्राणियों का जो भक्ष्य है, उस समस्त भक्ष्य के युगपत् या क्रमशः भक्षण की मनुष्य-जाति में शक्ति ही नहीं। विशेषतः इभ (हाथी), करभ (ऊँट) आदि के आहारभूत शमी (जण्ड), करीर, कण्टक, वट-काष्ठादि में से किसी एक का भी भक्षण सम्भव नहीं। यहाँ लिङ्, लोट्, तव्य आदि विधि-प्रत्ययों का प्रयोग भी नहीं। विधि की कल्पना भी नहीं कर सकते, क्योंकि अभिमत अन्न लोक-प्रसिद्ध है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न च श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते। शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्। तस्मात्प्राणान्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः। तदर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति। एतदुक्तं भवति - प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते, तदर्शनात्। तथा हि—श्रुतिश्चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति-'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० १।१०।१) इत्यस्मिन्ब्राह्मणे। चाक्रायणः किलर्षिरापन्नत इभ्येन सामिखादितान्कुल्माषांश्चखाद। अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचचक्षे। कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १।१०।४) इति 'कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च। पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुल्माषान्भक्षयांबभूवेति। तदेत-

भामती

साम्प्रतम्। शक्यत्वे च प्रवृत्तिविशेषकरतोपयुज्यते नाशक्यविधानत्वे प्राणात्यय इति चावधारणपरं प्राणात्यय एव सर्वान्नत्वम्। तत्रोपाख्यानाच्च स्फुटतरविधिस्मृतेश्च सुरावर्जं विद्वांसमविद्वांसं प्रति विधानात्, न स्वन्यत्रेति। इभ्येन हस्तिपकेन सामिखादितानर्द्धभक्षितान्। स हि चाक्रायणो हस्तिपकोच्छिष्टान् कुल्माषान् भुञ्जानो हस्तिपकेनोक्तः—कुल्माषानिव मदुच्छिष्टमुदकं कस्मान्नानुपिबसीति। एवमुक्तस्तदुदकमुच्छिष्टदोषात् प्रत्याचचक्षे। कारणञ्चात्रोवाच—न वाऽजीविष्यं न जीविष्यामीतीमान् कुल्माषानखादम्। कामो म उदकपानमिति स्वातन्त्र्य मे उदकपाने नदीकूपतडागप्रपादिषु यथाकामं प्राप्नोमीति नोच्छिष्टोदकाभावे प्राणात्यय इति तत्रोच्छिष्टभक्षणदोष इति मटचीहतेषु कुरुषु ग्लायन्नशना-

भामती—व्याख्या

अपूर्व (अप्रसिद्ध) नहीं। स्तुति-पक्ष में भी प्राण के सर्वान्नत्व की उपपत्ति हो जाती है। यह जो कहा था कि भक्ष्याभक्ष्य-विवेचक शास्त्र सामान्य शास्त्र है, उसका बाध हो जाता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि जहाँ तक सम्भव हो, वहाँ तक सामान्यतः प्रवृत्त शास्त्र का विषय-संकोच उचित नहीं माना जाता, अतः प्राण के सर्वान्नत्व की चिन्ता-विधि का संस्तवन मात्र है – प्रक्रान्त सन्दर्भ। विधित्व-पक्ष में जो प्रवृत्ति-विशेषकरता का प्रदर्शन किया गया, वह विधित्व को सम्भावना होने पर ही उचित होता है, असम्भव होने पर प्रवृत्ति-विशेषकरता को उपयोगी नहीं माना जाता। सूत्रस्थ प्राणात्यये' पद सावधारण है, अतः प्राणात्यय (प्राण का अन्त) उपस्थित होने पर ही सर्वान्नत्व ग्राह्य होता है। भाष्य-प्रदर्शित चाक्रायणादि के उपाख्यानों, "जीवितात्ययमापन्नः" (मनु १०।१०४) इत्यादि स्मृति-वाक्यों तथा "लुप्तायस्य ब्राह्मणस्य" इत्यादि स्फुटतर विधि-वाक्यों के आधार पर विद्वान् एवं अविद्वान् सब के लिए सुरा का छोड़ कर सर्वान्न-ग्राह्यता का विधान किया गया है। वह केवल प्राणों की संकटापन्न अवस्था में ही है, अन्यदा नहीं। 'इभ्येन' का अर्थ है—हस्तिपकेन (पीलवान के द्वारा)। 'सामिखादितान्'—यहाँ 'सामि' शब्द अर्द्धार्थक है। हस्तिपक के उच्छिष्ट कुल्माष (कुल्थी) का भक्षण करनेवाले चाक्रायण से हस्तिपक ने कहा कि जैसे आपने हमारे जूठे कुल्माष खा लिए, वैसे हमारा जूठा पानी क्यों नहीं पिया? उसके उत्तर में चाक्रायण ऋषि ने कहा—'न वा अजीविष्यमिमानखादन्" (छां. १।१०।४) अर्थात् कुल्माष न खाने से मैं मर सकता था किन्तु जूठा पानी न पीने से वह संकट नहीं, अतः उच्छिष्ट जल का ग्रहण नहीं किया, क्योंकि पानी तो अन्यत्र वापी, कूप तड़ागादि में भी सुलभ है इस प्रकार जब कुरुदेश की समग्र खेती मटची-दल (टिड्डी-दल) के द्वारा खा ली गई थी, भयङ्कर दुर्भिक्ष के समय जब प्राण संकट में पड़ गए थे, तभी ऋषि ने अग्राह्य अन्न का ग्रहण


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते—प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसंधारणायाभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति। स्वस्थावस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद् गम्यते। तस्मादर्थवादो 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्येवमादिः ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

एवं च सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥ २९ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषेण—'जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति। तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः', सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

शब्दश्चान्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति। सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति। तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधय इति ॥ ३१ ॥

---

## ( ८ आश्रमकर्माधिकरणम् । सू० ३२-३६ )

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

'सर्वापेक्षा च—' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्, इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्त्यते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२)

भामती

यया मुनिर्निरपत्रप इम्पेन सामिजग्धान् खादयामास ॥ २८-३१ ॥

---

नित्यानि ह्याश्रमकर्माणि यावज्जीवश्रुतेर्नित्येहितोपायतयाऽवश्यं कर्त्तव्यानि। विविविषन्तीति च विद्यासंयोगात्। विद्यायाश्चावश्यम्भावनियमाभावादनित्यता प्राप्नोति। नित्यानित्यसंयोगश्चैकस्य न सम्भवति, अवश्यानवश्यम्भावयोरेकत्र विरोधात्। न च वाक्यभेदाद्वास्तवो विरोधः शक्योऽपनेतुम्।

भामती—व्याख्या

किया ॥ २८-३२ ॥

---

संशय—"सर्वापेक्षा च" (ब्र. सू. ३।४।२६) इस सूत्र के द्वारा आश्रम-कर्मों में विद्या की साधनता अवधारित है। विद्या की कामना जिन व्यक्तियों में नहीं, उन के लिए वे आश्रम-कर्म अनुष्ठेय हैं ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—अग्निहोत्रादि आश्रम-कर्म नित्य कर्म हैं, उनका जीवन-पर्यन्त अनुष्ठान विहित है—"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" (बह्वृचब्राह्मण)। ये कर्म इष्ट-साधन होने के कारण अवश्य अनुष्ठेय हैं। यदि "विविदिषन्ति यज्ञेन"—इस वाक्य के द्वारा इन कर्मों में विद्या की अङ्गता मानी जाती है, तब विद्या की सब के लिए अवश्यंभाविता न होने के कारण आश्रम-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिनाश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्ह्येषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति। अस्यां प्राप्तौ पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात्। नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥

भामती

तस्मादनध्यवसाय एवात्रेति प्राप्तम्। एतेनैकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमित्याक्षिप्तमेवं प्राप्तेऽभिधीयते—

सिद्धे हि स्याद्विरोधोऽयं न तु साध्ये कथञ्चन।
विध्यधीनात्मलाभेऽस्मिन् यथाविधि मता स्मितिः ॥

सिद्धं हि वस्तु विरुद्धधर्मयोगेन बाध्यते, न तु साध्यरूपं यथा षोडशिन एकस्य ग्रहणाग्रहणे। ते हि विध्यधीनत्वाद् विकल्प्येते एव। न पुनः सिद्धे विकल्पसम्भवः। तदिहैकमेवाग्निहोत्राख्यं कर्म यावज्जीवश्रुतेर्निमित्तेन युज्यमानं नित्येहितोपात्तदुरितप्रक्षयप्रयोजनमवश्यकर्त्तव्यं, विद्याङ्गतया च विद्यायाः कादाचित्कतयानवश्यम्भावेऽपि काम्यो वा नैमित्तिको वा नित्यमर्थं विकृत्य निविशते इति न्यायान्नित्याधिकारेण निविशमानमपि न नित्यमनित्ययति। तेनापि तत्सिद्धेरिति संयोगपृथक्त्वान्न

भामती—व्याख्या

कर्मों में अनित्यकर्मता प्राप्त होती है। आश्रम, कर्मों में नित्यकर्मता और अनित्यकर्मता—दोनों मानने पर विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि अवश्यंभाविता और अनवश्यंभाविता का एकत्र रहना सम्भव नहीं। वाक्य-भेद मान कर भी वास्तविक विरोध का परिहार नहीं किया जा सकता, अतः किसी एक कोटि का निश्चय करना संभव नहीं। महर्षि जैमिनि ने जो कहा है—"एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" (जै. सू. ४।३।५) अर्थात् आश्रमकर्मों में समान रूपसे उभयार्थकत्व ( विद्याङ्गत्व और यावज्जीवनार्थत्व ) सम्भव है, क्योंकि उन के विनियोजक संयोग ( वाक्य ) पृथक्-पृथक् हैं—"विविदिषन्ति यज्ञेन"—इस वाक्य के द्वारा आश्रमकर्मों में विद्याङ्गत्व तथा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"—इस वाक्य के द्वारा नित्यकर्मत्व सिद्ध होता है। वह कहना भी प्रक्रान्त वास्तविक विरोध को दूर नहीं कर सकता।

सिद्धान्त—

सिद्धे हि स्याद्विरोधोऽयं न तु साध्ये कथंचन।
विध्यधीनात्मलाभेऽस्मिन् यथाविधि मता स्थितिः ॥

अर्थात् सिद्ध वस्तु ही विरुद्ध धर्मों के योग से बाधित होती है, साध्यस्वरूप नहीं, जैसे कि एक ही षोडशि पात्र का ग्रहण और अग्रहण, क्योंकि ग्रहण और अग्रहण दोनों क्रियाओं के विधायक वाक्य भिन्न-भिन्न हैं—"अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"। इन दोनों विधिवाक्यों के आधार पर ग्रहण और अग्रहण का विकल्प हो जाया करता है। सिद्ध पदार्थ में विकल्प सम्भव नहीं होता। प्रकृत में एक ही अग्निहोत्र कर्म यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"—इस श्रुति के आधार पर जीवनरूप निमित्त को लेकर नित्य कर्म के रूप में व्यवस्थित हो कर अकरणनिमित्तक प्रत्यवाय-प्रक्षयरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए अवश्य कर्त्तव्य होता है। वह कर्म विद्या का अङ्ग होने से काम्य है, क्योंकि विद्या की कामना नित्य नहीं कादाचित्क है, अतः वह अवश्यम्भावी न होने पर भी आश्रमकर्मों की नित्यकर्मता समाप्त नहीं करती "कामसंयोगात्" ( जै. सू. १०।५।८१ ) की व्याख्या में श्री शबरस्वामी कहते हैं—"काम्यो वा नैमित्तिको वा नित्यमर्थं विकृत्य निविशते"। अर्थात् जैसे यूप० अपने रूप में काष्ठ को विकृत कर के उस की काष्ठमयता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथ यदुक्तं—नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादिति, अत उत्तरं पठति—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' ( बृ० ४।४।२२ ) इत्यादिना । तदुक्तम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' ( ब्र० सू० ३।४।२६ ) इति । न चेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम् , अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः, असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य । विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते, नैवं विद्या । तथा चोक्तम् - 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति । तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववचोयुक्तिः । न चात्र नित्यानित्य-

भामती

नित्यानित्यसंयोगविरोध एकस्य कार्यस्येति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

सहकारित्वञ्च कर्मणां न कार्ये विद्यायाः किं तूत्पत्तौ । कोऽर्थो विद्यासहकारीणि कर्माणीति ? अयमर्थः—सत्सु कर्मसु विद्यैव स्वकार्ये व्याप्रियते । यथा सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभीति सत्स्वेव दशपुत्रेषु सैव भारस्य वाहिकेति । ❀ अविधिलक्षणत्वाद् इति ❀ । विहितं हि दर्शपौर्णमासाद्यङ्गैर्युज्यते न त्वविहितम् । ग्राहकग्रहणपूर्वकत्वादङ्गभावस्य विधेश्च ग्राहकत्वात् । अविहिते च तदनुपपत्तेः । चतसृणामपि च प्रतिपत्तीनां ब्रह्मणि विधानानुपपत्तेरित्युक्तं प्रथमसूत्रे । द्रष्टव्यो निदिध्यासितव्य इति च विधिसरूप न विधिरित्यप्युक्तम् । उत्पत्ति प्रति हेतुभावस्तु सत्त्वशुद्धया विविदिषोपजननद्वारेत्यवस्ता-

भामती—व्याख्या

को समाप्त नहीं करता । वैसे ही काम्य या नैमत्तिक कर्म अपने रूप में नित्य कर्मों को विकृत करके भी उन का नित्यकर्मता भङ्ग नहीं करते या यूँ कह दिया जाय कि नित्य कर्मों को आनित्य कर्म नहीं बनाते । काम्य प्रयोग के तुरन्त अनन्तर नित्य प्रयोग के रूप में उस कर्म का आवृत्त भी नहीं होता, क्योंकि उस ( काम्य प्रयोग ) से ही नित्य प्रयोग की सिद्धि हो जाती है । अग्निहोत्रादि आश्रम-कर्मों का काम्य कर्म के रूप में विधायक वाक्य है—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" ( बृ० उ० ४।४।२२ ) और नित्य कर्म के रूप में विधायक वाक्य "यावज्जीवमाग्निहोत्रं जुहोति" है । इस प्रकार का संयोग-पृथक्त्व न्याय ऊपर दिखाया जा चुका है, अतः एक ही कर्म में नित्यता और अनित्यता का कोई विरोध नहीं ॥ ३२ ॥

विद्या को अपनी उत्पत्ति में ही कर्मों की सहकारिता अपेक्षित है, अपने कार्यभूत मोक्ष के साधन में नहीं । 'कर्म विद्या के सहकारी हैं'—इस का तात्पर्य क्या ? तात्पर्य यह है कि कर्मों के रहने पर भी विद्या ही अपने कार्य-साधन में प्रवृत्त होती है । जैसे "सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी"—यहाँ दश पुत्रों के रहने पर भी भार को वाहिका अकेली गर्दभी होती है, वैसे ही अकेली विद्या ही मोक्ष-साधिका है । "अविधिलक्षणत्वात्" इस भाष्य का आशय यह है कि दर्शपूर्णमासादि विहित कर्म ही अपने अङ्गों से जुड़ते हैं, अविहित नहीं, क्योंकि अङ्गभाव ( अङ्गता ) उसी पदार्थ में मानी जाती है, जो पदार्थ प्रधान कर्म के ग्राहक वाक्य ( प्रयोगविधि ) के द्वारा प्रधानसम्बन्धित्वेन गृहीत हो । विधि वाक्य ही ग्राहक कहे जाते हैं । अविहित पदार्थों में ग्राहकग्रहणभाव सम्भव नहीं होता । ब्रह्मविषयक चार प्रतिपत्तियाँ (ज्ञान) होती हैं—(१) श्रवणमयी, (२) मननमयी, (३) निदिध्यासनमयी तथा (४) साक्षात्काररूपा । इन का विधान सम्भव नहीं—यह प्रथमसूत्र के "न पुरुषबोधे नियुज्यते"—इस भाष्य की व्याख्या में कहा जाएगा । द्रष्टव्यो', 'निदिध्यासितव्यः'—ये विधिवाक्य नहीं, अपितु केवल विधिसरूप हैं । विद्या की उत्पत्ति में कर्म की उपयोगिता सत्त्वशुद्धिपूर्वक विविदिषा-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्मभेदेऽपि संयोगभेदात्। नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम्। अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम्। यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं तद्वत्॥ ३३॥

## सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः। त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति? कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः। यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते, नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः। कुतः? उभयलिङ्गात्, श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तावत्—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते, नतु जुहोतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृतिलिङ्गमपि—'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (गी० ६।१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति। यस्यैतेऽष्टाच-

भामती

दुपपादितम्। असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्यापवर्गस्य स्वरूपावस्थानलक्षणो हि सः। न च स्वं रूपं ब्रह्मणः साध्यं नित्यत्वात्। शेषमतिरोहितार्थम्॥ ३३॥

यथा मासमग्निहोत्रं जुहोतीति प्रकरणान्तरात् कर्मभेव एवमिहापि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इतिक्रतुप्रकरणमतिक्रम्य श्रवणात् प्रकरणान्तरात्तद्बुद्धिव्यवच्छेदे सति कर्मान्तरमिति प्राप्त उच्यते—सत्यपि प्रकरणान्तरे तदेव कर्म, श्रुतेः स्मृतेश्च संयोगभेदः परं यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामो यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति तदेवाग्निहोत्रमुभयसंयुक्तम्। नहि प्रकरणान्तरं साक्षाद्भेदकम्। किन्तु अज्ञातज्ञापनस्वरसो विधिः प्रकरणैक्ये स्फुटतरप्रत्यभिज्ञाबलेन स्वरसं जह्यात्। प्रकरणान्तरेण तु विघटितप्रत्यभिज्ञानः स्वरसमजहत् कर्म भिनत्ति। इह तु सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि

भामती—व्याख्या

जनन के द्वारा है, यह भी कहा जा चुका है। विद्या का फलभूत अपवर्ग भी साध्य (जन्य) पदार्थ नहीं, क्योंकि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो. सू. १।३) इस सूत्र के अनुसार जीव का ब्रह्मरूप में अवस्थान ही अपवर्ग है। सिद्ध ब्रह्म का स्वरूप साध्य नहीं, अपितु नित्य है। शेष भाष्य सुबोध है॥ ३३॥

**शङ्का**—जैसे नित्य अग्निहोत्र की अपेक्षा "मासमग्निहोत्रं जुहोति"—इस वाक्य से विहित आग्नहात्र कर्म भिन्न माना जाता है, क्योंकि दोनों का प्रकरण-भेद है। वैसे ही नित्य आग्नहात्ररूप आश्रम-कर्म की अपेक्षा "विविदिषन्ति यज्ञेन"—इस वाक्य से विहित आग्नहात्रादि कर्म भिन्न हैं, क्योंकि यह वाक्य कर्मकाण्ड के प्रकरण में न होकर प्रकरणान्तर में पठित है।

**समाधान**—यद्यपि प्रकरणान्तर है, तथापि कर्मान्तर नहीं, क्योंकि श्रुति और स्मृति के द्वारा उन की एकता सिद्ध होती है। केवल संयोगों (वाक्यों) का भेद है। जैसे "अग्निहात्र जुहुयात् स्वर्गकामः", "यावज्जीवमग्निहोत्र जुहुयात्" इन दोनों वाक्यों के साथ एक ही अग्निहात्र कर्म संयुक्त है। प्रकरणान्तर साक्षात् कर्म का भेदक नहीं होता, अपितु अज्ञातज्ञापनरूप विधि-वाक्य एक ही प्रकरण में स्फुटतर प्रत्यभिज्ञा के बल पर अपना विधायकत्वात्मक स्वभाव त्याग देता है और प्रकरणान्तर में प्रत्यभिज्ञा का विघटन हो जाने के कारण अपने स्वारसिक विधायकत्व स्वभाव का परित्याग न करके कर्मान्तरता का समर्पक होता है। प्रकृत में विहित यज्ञादि का विविदिषा में विनियोग करता हुआ विधि-वाक्य नित्य कर्मों की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति। तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम् ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसंपन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८।५।३) इत्यादिना। तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

---

## ( ९ विधुराधिकरणम् । सू० ३६-३९ )

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसंपद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति, किं वा नास्तीति संशये, नास्तीति तावत्प्राप्तम्, आश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासंभवाच्चैतेषामिति। एवं प्राप्ते इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमित्वेन वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते। कुतः? तद्दृष्टेः। रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यते इतिहासे ॥ ३७ ॥

---

भामती

विविदिषायां विनियुञ्जानो न जुह्वतीत्यादिवत्पूर्वमेषां रूपमुत्पादयितुमर्हति। न च तत्रापि नैयमिकाग्निहोत्रे मासविधिर्नापूर्वाग्निहोत्रोत्पत्तिरिति साम्प्रतम्, होम एव साक्षात् विधिश्रुतेः। कालस्य चानुपादेयस्याविधेयत्वात्। काले हि कर्म विधीयते न कर्मणि काल इत्युत्सर्गः। इह तु विविदिषायां विधिश्रुतिः न यज्ञादौ। तानि तु सिद्धान्येवानूद्यन्त इत्येककर्म्यात् संयोगपृथक्त्वं सित्क्वम्। स्मृतिरुक्ता लिङ्गदर्शनमुक्तम् ॥ १४,१५ ॥

यदि विद्यासहकारीण्याश्रमकर्माणि हन्त भो विधुरादीनामनाश्रमिणामनधिकारो विद्यायामु, अभावा-

---

भामती—व्याख्या

अपेक्षा रूपान्तर का अवद्योतन नहीं कर सकता। 'मासमग्निहोत्र जुह्वति''—यहाँ मासरूप काल का ही विधान है, अपूर्व कर्म का नहीं''—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि होमरूप धात्वर्थ में ही साक्षात् विधि श्रुति विश्रान्त है, काल में नहीं, क्योंकि काल अनुपादेय होने के कारण विधेय नहीं। काल में कर्म का विधान होता है, कर्म में काल का नहीं यह औत्सर्गिक नियम है। यहाँ विविदिषा में विधि-श्रुति है, यज्ञादि में नहीं। यज्ञादि तो सिद्धात्मक होने के कारण केवल अनुवादित हैं, अतः एक ही कर्म का दो भिन्न, संयोगों (वाक्यों) से सम्बन्ध किया गया है। सूत्रस्थ 'उभयलिङ्गात्' पद की व्याख्या में भाष्यकार ने श्रुति दिखाई है—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" (बृह. उ. ४।४।२२)। स्मृति भी प्रदर्शित की है—अनाश्रित कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः" (गी. ६।१) ॥ २४–३५ ॥

---

संशय—विधुरादि (अनाश्रमी) पुरुषों का ब्रह्मविद्या में अधिकार क्या नहीं है? अथवा है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते —

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसंबन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्विशेषैरनुग्रहो विद्यायाः संभवति। तथा च स्मृतिः 'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' इत्यसंभवदाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति। जन्मान्तरानुष्ठितैरपि चाश्रमकर्मभिः संभवत्येव विद्याया अनुग्रहः। तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' ( गी० ६।४५ ) इति जन्मान्तरसंचितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतॄन्विद्यायां दर्शयति। दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु। तस्माद्विधुरादी-

भामती

स्सहकारिणामाश्रमकर्मणामिति प्राप्त उच्यते—नात्यन्तमकर्माणो विधुररैक्ववाचक्नवीप्रभृतयः। सन्ति हि तेषामनाश्रमित्वे जपोपवासदेवताराधनादीनि कर्माणि। कर्मणां च सहकारित्वमुक्तम्। आश्रमकर्मणामुपलक्षणत्वादिति न तेषामनधिकारो विद्यासु। ॐ जन्मान्तरानुष्ठितैरपि च इति ॐ। न खलु विद्याकार्य्ये कर्मणामपेक्षा। अपि तु उत्पादे उत्पादयन्ति च विविदिषोपहारेण कर्माणि विद्याम्। उत्पन्नविविदिषाणां पुरुषधौरेयाणां विधुरसवर्त्तप्रभृतीनां कुतं मर्मभिः। यद्यपि चेह जन्मनि कर्माण्यननुष्ठितानि, तथापि विविदिषातिशयदर्शनात् प्राचि भवेऽनुष्ठितानि तैरिति गम्यत इति। ननु यथाधीतवेद एव धर्मजिज्ञासायामधिक्रियते नानधीतवेद इह जन्मनि। तथेह जन्मन्याश्रमकर्मोत्पादितविविदिष एव विद्यायामधिकृतो नेतर इत्यनाश्रमिणामनधिकारो विधुरप्रभृतीनामित्यत आह ॐ दृष्टार्था च इति ॐ अविद्यानिवृत्तिर्विद्याया दृष्टोऽर्थः। स

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—यदि आश्रम-कर्म विद्या के सहकारी कारण हैं, तब विधुर ( अनाश्रमी ) व्यक्तियों का विद्या में अधिकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सहकारिकारणरूप आश्रम-कर्मों का वे अनुष्ठान नहीं करते।

**सिद्धान्त**—वेदान्त-विश्रुत रैक्व वाचक्नवी आदि विधुर व्यक्ति अत्यन्त अकर्मा नहीं, क्योंकि वे अनाश्रमी होने पर भी जप, उपवास, देवता-आराधनादि कर्मों का अनुष्ठान करते थे। आश्रम-कर्म कर्ममात्र के उपलक्षक हैं, अतः उनका विद्या में अनधिकार नहीं। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वजन्मार्जित आश्रम कर्मों के आधार पर भी विद्या में उनका अधिकार सिद्ध होता है—"जन्मान्तरानुष्ठितैरपि आश्रमकर्मभिः"। यह कहा जा चुका है कि विद्या को अपने मोक्षरूप कार्य के साधन में कर्मों की अपेक्षा नहीं, अपितु विद्या की उत्पत्ति में कर्म अपेक्षित हैं—वे विविदिषोपहार के द्वारा विद्या का उत्पादन करते हैं। जब संवर्त आदि विधुर-धौरेय पुरुषों को विद्या का लाभ हो गया, तब कर्मों की क्या आवश्यकता ? यद्यपि उन लोगों ने इस जन्म में आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया, तथापि तीव्र विविदिषा को देखकर यह जाना जाता है कि पूर्व जन्म में उन्होंने आश्रम-कर्मों का अनुष्ठान किया था।

**शङ्का**—जैसे इस जन्म में ही वेदाध्ययन-सम्पन्न कर लेनेवाला व्यक्ति ही धर्म-जिज्ञासा में अधिकृत होता है, वैसे ही इसी जन्म में अनुष्ठित आश्रम-कर्मों के द्वारा जिस व्यक्ति में विविदिषा उत्पन्न होती है, वही व्यक्ति विद्या में अधिकृत होता है, अन्य नहीं, अतः विधुरादि अनाश्रमियों को विचार में अधिकार क्योंकर प्राप्त होगा ?

**समाधान**—"दृष्टार्था च विद्या" आशय यह है कि अविद्या की निवृत्ति विद्या का दृष्ट फल है, वह केवल अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर सिद्ध हो जाता है, इस जन्म और जन्मान्तर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामप्यधिकारो न विरुध्यते ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम्, श्रुतिस्मृतिसंदृष्टत्वात्, श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तेजसश्च' (बृ० ४।४।९) इति, 'अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः। संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत्' इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥

---

## ( १० तद्भूताधिकरणम् । सू० ४० )

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि
नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम्। तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः। पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावादिति। एवं प्राप्त उच्यते-तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात्। कुतः ? नियमातद्रूपाभावेभ्यः। तथा

भामती

चान्वयव्यतिरेकासिद्धो न नियममपेक्षत इत्यर्थः। प्रतिषेधो विधातस्तस्याभाव इत्यर्थः ॥ ३६-३८ ॥

यद्यनाश्रमिणामप्यधिकारो विद्यायां कृतं तर्ह्याश्रमैरतिबहुलायासैरित्याशङ्क्याह ❀ अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च ❀ स्वस्थेनाश्रमित्वमास्थेयम्, दैवात् पुनः पत्न्यादिवियोगतःसत्यनाश्रमित्वे भवेदधिकारो विद्यायामिति श्रुतिस्मृतिसम्बन्धेना विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिना ज्यायस्त्वावगतेः श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्चावगम्यते। तेनेति पुण्यकृदिति श्रुतिलिङ्गम्, अनाश्रमी न तिष्ठेतेत्यादि च स्मृतिलिङ्गम् ॥ ३९ ॥

---

आरोहवत् प्रत्यवरोहोऽपि कदाचिदूर्ध्वरेतसां स्यादिति मन्वाशङ्कानिवारणार्थमिदमधिकरणम्। पूर्वधर्मे यागहोमादिषु रागतो वा गृहस्थोऽहं पत्न्यादिपरिवृतः स्यामिति। नियमं व्याचष्टे ❀ तथाह्यस्यन्त-

भामती—व्याख्या

के नियम की उसे अपेक्षा नहीं। विद्या में विधुर का प्रतिषेध न होनेमात्र से वह अधिकारी मान लिया जाता है ॥ ३६-३८ ॥

यदि अनाश्रमियों का भी विद्या में अधिकार माना जाता है, तब क्लेशबहुल आश्रमपद्धति की क्या आवश्यकता ? इस शङ्का का समाधान है-"अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च"। सारांश यह है कि पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति को आश्रमी होना चाहिए, दैवात् पत्नी आदि का वियोग हो जाने पर यदि अनाश्रमी हो जाता है, तब भी विद्या में उसका अधिकार है। "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि श्रुतियों और 'अनाश्रमी न तिष्ठेत" इत्यादि स्मृतियों के आधार पर आश्रमित्व की श्रेष्ठता प्रमाणित है ॥ ३९ ॥

---

**संगति**—जैसे ब्रह्मचारी से गृही, गृही से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से सन्यासी होने का आरोहक्रम वर्णित है, वैसे ही ऊर्ध्वरेता सन्यासियों का अवरोह भी कदाचित् वैध क्यों न होगा ? इस प्रकार की मन्द पुरुषों की शङ्का का निवारण करने के लिए इस अधिकरण की रचना की गई है।

**पूर्वपक्ष**—वर्णाश्रम के याग, होमादि धर्मों के अनुष्ठान की चिकीर्षा अथवा 'गृहस्थोऽहं

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' ( छा० २।२३।१ ) इति 'अरण्यमियादिति पदं ततो न पुनरेयादित्युपनिषद्' इति, 'आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् । आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि' इति चैवंजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति । यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' ( जा० ४ ) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ( जा० ४ ) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते, नैवं प्रत्यवरोहरूपणि । न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते । यत्तु—पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति, तदसत्, 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' ( गी० ३।३५ ) इति स्मरणात्, न्यायाच्च । यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो नतु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते, चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य । नच रागादिवशात्प्रच्युतः, नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात् । जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय ॥ ४० ॥

---

## ( ११ अधिकाराधिकरणम् । सू० ४१–४२ )

### न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत, किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति ? नेत्युच्यते, यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' ( जै० सू० ६।८।२१ ) इति, तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति । किं कारणम् ? 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते

---

भामती

मात्मानम् इति ॐ । अतद्रूपतामवरोहतुल्यताभावं व्याचष्टे ॐ तथा च ब्रह्मचर्यं समाप्य इति ॐ । अभावं शिष्टाचाराभावं विभजते ॐ न चैवमाचाराः शिष्टाः इति ॐ । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ ४० ॥

---

प्रायश्चित्तं न पश्यामीति नैष्ठिकं प्रति प्रायश्चित्ताभावस्मरणात् नैर्ऋतंगर्दभालम्भः प्रायश्चित्तमुप-

---

भामती—व्याख्या

पत्न्यादिपरिवृतः स्याम्'—इस प्रकार के राग से प्रेरित होकर सन्यासाश्रम से प्रच्युत भी हो सकता है ।

**सिद्धान्त**—सन्यासाश्रम में दीक्षित हो जाने पर अतद्भाव ( सन्यास का परित्याग ) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि ( १ ) नियम, ( २ ) अतद्रूप और ( ३ ) अभाव—इन तीन कारणों से सन्यासाप्रच्युति ही सिद्ध होती है। ( १ ) नियम की व्याख्या है—"अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" । अर्थात् या तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में जीवन-पर्यन्त आचार्य-कुल में रहकर कठिन व्रतों का अनुष्ठान करता रहे अथवा परिव्रज्या का ग्रहण कर पुनः पीछे पग न रखे ( २ ) अतद्रूप की व्याख्या है—"यथा च ब्रह्मचर्यं समाप्य" । अर्थात् जैसे ब्रह्मचारी से गृही, गृही से वानप्रस्थ और वानप्रस्थ से सन्यास के ग्रहण की विधि उपलब्ध होती है, वैसी सन्यास से प्रच्युत होने की कोई विधि उपलब्ध नहीं। ( ३ ) अभाव का शिष्टाचाराभाव अर्थ किया जाता है—"न चैवमाचाराः" । शिष्ट पुरुष सन्यास-प्रच्युति करते कहीं नहीं देखेजाते । शेष भाष्य सुगम है ॥ ४० ॥

---

**संशय**—नैष्ठिक ब्रह्मचारी यदि प्रमाद-वश ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाता है, तब उसका कोई प्रायश्चित नहीं है ? अथवा है ] ?


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः, उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते, यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत, न तन्महापातकं भवति, गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात् । तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति, ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च । अशनवत्—यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनः संस्कारश्चैवमिति । ये हि प्रायश्चित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमु-

भामती

फुर्वाणकं प्रति । तस्माच्छिन्नशिरस इव पुंसः प्रतिक्रियाभाव इति पूर्वः पक्षः । सूत्रयोजना तु—न चाधिकारिकमधिकारलक्षणे प्रथमकाण्डे निर्णीतम् अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वादित्यनेन यत्प्रायश्चित्तं तन्न नैष्ठिके भवितुमर्हति । कुतः ? आरूढो नैष्ठिकमिति स्मृत्या पतनश्रुत्यनुमानात् तत्प्रायश्चित्तायोगात् ॥ ४१ ॥

श्रुतिस्तावत् स्वरस्वतोऽसङ्कुचद्वृत्तिर्ब्रह्मचारिमात्रस्य नैष्ठिकस्योपकुर्वाणस्य चाविशेषेण प्रायश्चित्तमुपदिशति साक्षात्प्रायश्चित्तं न पश्यामीति तु स्मृतिस्तस्यामपि च साक्षात्प्रायश्चित्तं न कर्त्तव्यमिति प्रायश्चित्तनिषेधो न गम्यते, न पश्यामीति तु दर्शनाभावेन सोऽनुमातव्यः । तथा च स्मृतिर्निषेधार्थेति अनुमाय तदर्था श्रुतिरनुमातव्या । श्रुतिस्तु सामान्यविषया विशेषमुपसर्पन्ती शीघ्रप्रवृत्तिरिति । स्मार्त्तं

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—"प्रायश्चित्तं न पश्यामि" इत्यादि स्मृति-वाक्यों के द्वारा जो प्रायश्चित्ताभाव का प्रतिपादन किया गया है—जैसे कटे हुए शिर का प्रत्यारोपण किसी भी उपाय से नहीं हो सकता, वैसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी का पतन किसी भी प्रायश्चित्त से दूर नहीं हो सकता। निर्ऋतिदेवता के लिए जो गर्दभालम्भनरूप प्रायश्चित्त कर्म का विधान किया गया है । वह उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के लिए है । जो ब्रह्मचारी वेदाध्ययन पूरा करके गृहस्थाश्रम में जानेवाला है, उसे उपकुर्वाण ब्रह्मचारी कहते हैं । सूत्र की योजना इस प्रकार है—जो प्रायश्चित्त आधिकारिक ( पूर्वमीमांसा के अधिकाराख्य छठे अध्याय में वर्णित है—"अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्" (जै. सू. ६।८।२१) [ जैसे उपनयन कर्म लौकिक अग्नि में ही किया जाता है, क्योंकि आहवनीय अग्नि का उस समय अभाव होता है, वैसे ही अवकीर्णी ब्रह्मचारी का प्रायश्चित्तभूत पशु (गर्दभ) का भी लौकिक अग्नि में ही होम होता है ] । वह प्रायश्चित्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी का नहीं हो सकता, क्योंकि "आरूढो नैष्ठिकं कर्म"—इस स्मृति-वाक्य के द्वारा ऐसे पतन की श्रुति का अनुमान हो जाता है, जिसका प्रतीकार सम्भव नहीं ॥ ४१ ॥

**सिद्धान्त**—"ब्रह्मचार्यवकीर्णी"—इस श्रुति में किसी प्रकार संकोच सम्भव नहीं, अतः वह कथित प्रायश्चित्त-विधान सभी ब्रह्मचारियों के लिए प्रतिपादित करती है, चाहे वह नैष्ठिक हो या उपकुर्वाण । "प्रायश्चित्तं न पश्यामि"—यह स्मृति-वाक्य है, यह साक्षात् प्रमाण नहीं, अपितु अपने अनुरूप श्रुति की कल्पना कराता है । श्रुति यद्यपि सामान्यविषयिणी है और स्मृति नैष्ठिकब्रह्मचारीरूप विशेष विषय को विषय करती है, तथापि श्रुति से प्रबल नहीं हो सकती, क्योंकि "न पश्यामि"—इस स्मृति को अपनी प्रामाणिकता के लिए निषेध-श्रुति की कल्पना करनी है किन्तु श्रुति को श्रुत्यन्तर की कल्पना नहीं करनी है, अतः वह

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पलभ्यते, ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम्। तस्मादुभावो युक्ततरः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १।३।८) 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।३।९) इति। प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम्। एवं भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्', 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवृद्धिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम्॥ ४२॥

## ( १२ बहिरधिकरणम्। सू० ४३ )

**बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥**

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापतकं, यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते बहिष्कर्तव्याः। 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः। प्रायश्चित्तं न

भामती

प्रायश्चित्तादर्शनन्तु यत्नगौरवार्थम्। एतदुक्तं भवति कृतनिर्णेजनैरपि एतैर्न सङ्ख्यानं कर्तव्यमिति। सूत्रार्थस्तूपपूर्वमपि पातकं नैष्ठिकस्यावकीर्णित्वं न महापातकम्। अपिरेवकारार्थे अत एके प्रायश्चित्तभावमिच्छन्तीति। आचार्याणां विप्रतिपत्तौ विशेषाभावात्साम्यं भवेत्। शास्त्रस्था या प्रसिद्धिः सा ग्राह्या शास्त्रमूलत्वात्। उपपादितं च प्रायश्चित्तभावप्रसिद्धेः शास्त्रमूलत्वमिति। सुगमन्तरत्॥ ४२॥

यदि नैष्ठिकादीनामस्ति प्रायश्चित्तं तत्किमेतैः कृतनिर्णेजनैः संव्यवहर्तव्यमुत नेति। तत्र दोषकृतत्वादसंव्यवहारस्य प्रायश्चित्तेन तन्निवर्हणात् अनिवर्हणे वा तत्करणवैयर्थ्यात्संव्यवहार्य्या एवेति प्राप्त उच्यते—बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च निषिद्धकर्मानुष्ठानजन्यमेनो लोकद्वयेऽप्यशुद्धिमापादयति द्वैधम्—

भामती—व्याख्या

शीघ्र प्रवृत्त होकर विशेष विषय में अवतीर्ण हो जाती है, अतः नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए भी वह गर्दभालम्भन का प्रायश्चित्त निश्चित होता है। स्मृति-प्रतिपादित प्रायश्चित्तादर्शन का तात्पर्य यत्न-गौरव में माना जा सकता है अर्थात् अवकीर्णी नैष्ठिक ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त-द्वारा निर्णेजन ( परिशुद्धि ) कर लेने पर भी उसके साथ भद्रपुरुषों को घनिष्ठ व्यवहार चिरकाल-तक नहीं करना चाहिए। सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—उपपूर्वक पातक ( उपपातक ) भी अवकीर्णी नैष्ठिक के लिए महापातक है। 'अपि' का अर्थ 'एव' है, अत एव कतिपय आचार्य प्रायश्चित्त का निषेध करते हैं। आचार्यों के मत-भेद में कोई विशेषता न होने के कारण समानता समझनी चाहिए—"समा विप्रतिपत्तिः स्यात्" ( जै. सू. १।३।८ )। अथवा शास्त्रीय प्रसिद्धि को वरीयता देनी चाहिए—"शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्" (जै. सू. १।३।९ )। इस सूत्र में तन्निमित्तत्वात्' का अर्थ है—'शास्त्रमूलत्वात्'। प्रायश्चित्त के सद्भाव-पक्ष में शास्त्रमूलत्व का उपपादन किया जा चुका है॥ ४२॥

**संशय**—यदि नैष्ठिकादि के महापातक का प्रायश्चित्त है, तब प्रायश्चित्तानुष्ठान से अपनी शुद्धि कर लेने पर भी नैष्ठिकादि के साथ शिष्ट पुरुषों को पूर्ववत् संव्यवहार करना चाहिए ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—जिस दोष के कारण असंव्यवहार आ गया था, 'गधा-मार' प्रायश्चित्त के द्वारा उस दोष के दूर हो जाने पर संव्यवहार निसर्ग-सिद्ध हो जाता है। उक्त प्रायश्चित्तानुष्ठान से भी यदि वह दोष दूर नहीं होता, तब प्रायश्चित्त-करण व्यर्थ हो जाता है।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्यामि येन शुच्येत्स आत्महा' इति, 'आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम्। उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्' इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः, शिष्टाचाराच्च। नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाचरन्ति शिष्टाः ॥ ४३ ॥

## ( १३ स्वाम्यधिकरणम् । सू० ४४-४६ )

### स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

अङ्गेषूपासनेषु संशयः—किं तान्न यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति।

भामती

कस्यचिदेनसो लोकद्वयेऽपि अशुद्धिरपनीयते प्रायश्चित्तेरेनोनिबर्हणं कुर्वाणैः, कस्यचित्तु परलोकाशुद्धिमात्रमपनीयते प्रायश्चित्तेरेनोनिबर्हणं कुर्वाणैरिहलोकाशुद्धिस्त्वेनसापादिता न शक्यापनेतुम्। यथा स्त्रीबालाविघातिनाम्। यथाहुः—विशुद्धानपि धर्मतो न संपिबेदिति। यथा च, प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्। कामतः कृतमपि बालघ्नावित्तु कृतनिर्णेजनोऽपि वचनादव्यवहार्य्य इह लोके जायत इति वचनञ्च बालघ्नांश्चेत्यादि। तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ ४३ ॥

प्रथमे काण्डे शेषलक्षणे तथाकाम इत्यत्रर्त्विक्सम्बन्धे कर्मणः सिद्धे किं कामो याजमान उतार्त्विज्य इति संशय्यार्त्विज्येऽपि कर्मणि याजमान एव कामो गुणफलेष्विति निर्णीतमिह त्वेवंजातीयकानि चाङ्ग-

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—"बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च"। निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से जनित पाप दोनों लोकों में अशुद्धि के आपादक दो प्रकार के होते हैं—(१) किसी पाप से जनित दोनों लोकों में अशुद्धि पाप-नाशक प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से अपनीत ( दूर ) हो जाती है। (२) किसी-किसी पाप से आपादित परलोक की अशुद्धि प्रायश्चित्तानुष्ठान से दूर हो जाती है किन्तु इस लोक में आपादित अशुद्धि प्रायश्चित्तानुष्ठान से भी दूर नहीं की जा सकती, जैसे—स्त्री और बालकादि के घात से जनित पाप। मनुस्मृति में स्पष्ट प्रतिपादित है—

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ ( मनु. ११।१९० )

[ बालक-घाती, कृतघ्न, शरणागतघाती और स्त्रीहन्ता पुरुषों के साथ कभी सहवास न करे भले ही वे अपने पाप का प्रायश्चित्त कर चुके हों ]। याज्ञवल्क्य स्मृति भी यही कहती है—

प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत्।
कामतोऽव्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ ( याज्ञ. पा. २२६ )

[ जो पाप अज्ञान-कृत होता है, प्रायश्चित्तानुष्ठान से वह पाप दूर हो जाता है, किन्तु कामतः कृत ( जान-बूझ कर किया गया ) पाप प्रायश्चित्तानुष्ठान से भी निवृत्त नहीं होता और पापी पुरुष के साथ किसी प्रकार का व्यवहार न करने का मनु-वचन है—"कामतस्तु कृतं मोहात् प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः" ( मनु. ११।४६ )] ॥ ४३ ॥

**संशय**—उद्गीथादिरूप अङ्गों के आश्रित उपासनाओं में सन्देह कि क्या उनका कर्त्ता यमान होता है ? अथवा ऋत्विग्गण ?

पूर्वमीमांसा के शेष-लक्षण ( तृतीयाध्याय ) में "यदि कामयेत् वर्षेत् पर्जन्यः" ( मै सं. ३।८।९ ) इस वाक्य को लेकर विचार किया गया है कि यहाँ कामना ( इच्छा ) किसकी अपेक्षित है—ऋत्विक् की ? अथवा यजमान् की ? सिद्धान्ती ने व्यवस्था दी है—"तथाकामोऽर्थसंयोगात्" ( जै. सू. ३।८।१२ ) अर्थात् यहाँ काम ( इच्छा ) यजमान की

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किं तावत्प्राप्तम् ? यजमानकर्माणीति । कुतः ? फलश्रुतेः, फलं हि श्रूयते-'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' ( छा० २।३।२ ) इत्यादि । तच्च स्वामिगामि न्याय्यम् , तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात् , अधिकृताधिकारत्वाच्चैवं जातीयकस्य । फलं च कर्तर्युपासनानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' इत्यादि । नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम्—'आत्मने वा यं कामं कामयते तमागायति' (बृ० १।३।२८) इति । न, तस्य वाचनिकत्वात् । तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि
परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

नैतदस्ति—स्वामिकर्माण्युपासनानीति, ऋत्विक्कर्माण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । किं कारणम् ? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक्परिक्रीयते, तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात् । तस्माद् गोदोहनादिनियमबदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्यरन् । तथा च 'तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव' (छा० १।२।१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति । यत्तूक्तं—कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत इति, नैष दोषः, परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात्फल-

भामती

सम्बद्धानि उपासनानि किं यजमानान्येवोतार्त्विज्यानीति विचार्य्यंत इति न पुनरुक्तम् । तत्रोपासकानां फलश्रवणादनधिकारिणस्तदनुपपत्तेर्यजमानस्य च कर्मजनितफलोपभोगभाजोऽधिकारादृत्विजां च तदनुपपत्तेर्वचनाच्च राजाज्ञास्थानीयात् क्वचिदृत्विजां फलश्रुतेरसति वचने यजमानस्य फलवदुपासनं तस्य फलश्रुतेः तं ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकारेत्यादेरुपासनस्य च सिद्धविषयतया न्यायापवादसामर्थ्याभावाद् यजमानमेवोपासनाकर्मेति प्राप्ते

उच्यते—आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते । उपाख्यानात्तावद् उपासनमौद्गात्रमवगम्यते । तद्गलवति सति बाधकेऽन्यथोपपादनीयम् । न चार्त्विक्यकर्तृकं उपासने यजमानगामिता फलस्या-

भामती—व्याख्या

अपेक्षित है [ यजमान की यदि ऐसी इच्छा हो कि मेघ वर्षा करे, तब अध्वर्यु सदः नाम के मण्डप को नीचा बनाए ]। जैसे "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्"—यहाँ इन्द्रिय-कामना यजमान की गृहीत होती है, वैसे ही वर्षा की कामना भी यजमान की ही अपेक्षित है। यहाँ प्रकृत में अङ्ग-सम्बद्ध उपासनाएँ यजमानकर्तृक मानी जाती हैं ? अथवा ऋत्विक्कर्तृक ? यह विचार किया गया है, अतः पुनरुक्ति नहीं ।

**पूर्वपक्ष**—उपासना का फल उपासक को ही प्राप्त होता है, अतः फल के अनधिकारी पुरुष ( ऋत्विक् ) की उपासना विशेष वचन के विना गृहीत नहीं हो सकती । कर्म जनित फल का भोक्ता यजमान ही अधिकारी होता है—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" (जै. सू ३।७।१८)। अतः अङ्गावबद्ध उपासनाओं का कर्तृत्व यजमान में ही पर्यवसित होता है। 'तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार" ( छा. १।२।१३ ) इस उपाख्यान में जो दाल्भ्य-पुत्र दाल्भ्य नाम के उद्गाता को उपासक कहा है, वह सिद्धविषयक होने के कारण नैसर्गिक नियम का अपवादक नहीं हो सकता, अतः उपासन कर्म का कर्त्ता यजमान ही है—ऐसा आत्रेय ऋषि का मत है।

**सिद्धान्त**—कथित उपाख्यान के आधार पर उपासन कर्म का कर्त्ता उद्गाता ही सिद्ध होता है, उसका अपवाद तभी हो सकता है, जब कि कोई बलवान् बाधक उपलब्ध हो। ऋत्विक्कर्तृक उपासना का फल यजमान को क्योंकर मिलेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबन्धानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

'यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाच' इति, 'तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' ( छा० १।०।८-९ ) इति । तच्चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति । तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

---

## ( १४ सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् । सू० ४७-४९ )

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' ( बृ० ३।५।१ ) इति बृहदारण्यके श्रूयते । तत्र संशयः—मौनं विधीयते न वेति । न विधीयत इति तावत्प्राप्तम् , बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात् । न ह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते,तस्मादयमनुवादो युक्तः । कुतः प्राप्तिरिति चेत् , मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येवं प्राप्तं मौनम् । अपि च—'अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' इत्यत्र

भामती-व्याख्या

सम्भविनी तेन हि स परिक्रोतस्तद्गामिने फलाय घटते । तस्मान्न व्यसनितामात्रेणोपाख्यानमन्यथयितुं युक्तमिति सिद्धान्तः ॥ ४५, ४६ ॥

---

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इति । यत्र हि विधिविभक्तिः श्रूयते स विधेयो बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्र च सा श्रूयते न श्रूयते तु मौने । तस्माद्यथाथ ब्राह्मण इत्येतदश्रूयमाणविधिकमविधेयमेवं मौनमपि । न चापूर्वत्वाद् विधेयं तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्येति पाण्डित्यविधानादेव मौनसिद्धेः

भामती

ऋत्विग्गण वैसा कर्म करने के लिए यजमान के द्वारा दक्षिणा देकर खरीद लिए जाते हैं, अतः कथित उपाख्यान-सिद्ध ऋत्विक्कर्तृता का केवल किसी दुराग्रह के आधार पर अन्यथाकरण नहीं किया जा सकता—ऐसा औडुलोमि आचार्य की व्यवस्था है ॥ ४५, ४६ ॥

---

**संशय**—"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" ( बृह. उ. ३।५।१ ) यहाँ संशय होता है कि मौन का विधान किया जाता है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—उक्त श्रुति में 'पाण्डित्यं निर्विद्य' का अर्थ है—'निश्चयेन लब्ध्वा'। [अर्थात् ब्राह्मण पाण्डित्य ( श्रवण-ज्ञान ) का पूर्णतया लाभ करके बाल-सुलभ दम्भ-दर्पादि-रहित शुद्धभाव से अवस्थित रहने की इच्छा करे । बाल्य और पाण्डित्य का लाभ करके मुनि ( मनन-निदिध्यासन-परायण ) होता है । इसके अनन्तर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है ]। जहाँ विधि-विभक्ति प्रयुक्त होती है, वह विधेय होता है, 'बाल्येन तिष्ठासेत्'—यहाँ विधि-विभक्ति श्रुत हैं, 'अथ मुनिः'—यहाँ श्रुत नहीं । अतः जैसे 'अथ ब्राह्मणः'—यहाँ विधि-

CC-0. Chinmaya Mission Trust Vishakhapatnam. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते, प्रागेव प्राप्तत्वात्। तस्मात् 'अथ ब्राह्मणः' इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति, समाननिर्देशत्वादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः - सहकार्यन्तरविधिरिति। विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाश्रयितव्यः, अपूर्वत्वात्। ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्यावगतत्वमुक्तम्। नैष दोषः, मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात्, मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसंभवात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०।३७) इति च प्रयोगदर्शनात्। ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते—'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र, न, 'वाल्मीकिर्मुनिपुंगवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात्। इतराश्रमसंनिधानात्तु पारिशेष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य। तस्माद् बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते। यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति, तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते—मुनिः स्यादिति। निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम्। तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः। कथं च विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते? तदधिकारात्, 'आत्मानं

---

भामती

पाण्डित्यमेव मौनमिति। अथवा भिक्षुवचनोऽयं मुनिशब्दस्तत्र दर्शनात्। गार्हस्थ्यमाचार्य्यकुलं मौनवानप्रस्थमित्यत्र तस्यान्यतो विहितस्यायमनुवादः। तस्माद् बाल्यमेवात्र विधीयते। मौनन्तु प्राप्तं प्रशंसार्थमनूद्यत इति युक्तम् भवेदेव यदि पण्डितपर्य्यायो मुनिशब्दो भवेदपि तु ज्ञानमात्रं पाण्डित्यं ज्ञानातिशयसम्पत्तिस्तु मौनम्। तत्रैव तत्प्रसिद्धेराश्रमभेदे तु तत्प्रवृत्तिर्गार्हस्थ्यादिपदसन्निधानात्तस्मादपूर्वत्वान्मौनस्य बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते। एवं च निर्वेदनीयत्वमपि विधानाश्रयं स्यात् इत्याह ❀ निर्वेदनीयत्वनिर्देशाद् इति ❀। कस्येदं मौनं विधीयते विद्यासहकारितयेत्यत आह ❀ तद्वतः ❀। विद्यावतः सन्न्यासिनो भिक्षोः। पृच्छति ❀ कथम् इति ❀। विद्यावत्ता प्रतीयते

---

भामती—व्याख्या

विभक्ति श्रुत न होने से ब्राह्मणत्व विधेय नहीं, वैसे ही मौन भी विधेय नहीं है। विधि-विभक्ति न रहने पर भी यदि पदार्थ अपूर्व (अज्ञात) होता है, तब भी विधेय मान लिया जाता है, मौन वैसा अज्ञात पदार्थ नहीं, क्योंकि पाण्डित्य ही तो मौन है, अतः पाण्डित्य का विधान होने से ही मौन भी विहित हो जाता है। अथवा भिक्षु का वाचक यह 'मुनि' शब्द है, क्योंकि भिक्षु में ही 'मुनि' शब्द का प्रयोग देखा जाता है—"गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्" [ यहाँ चारों आश्रमों का अभिधान करते हुए 'आचार्यकुल' शब्द से ब्रह्मचर्याश्रम और 'मौन' शब्द से परिव्राजक का प्रतिपादन किया जाता है ] इस प्रकार मौन का विधान नहीं, अपितु अन्यत्र विहित का अनुवादमात्र किया जाता है, केवल बाल्य का विधान है, उसकी प्रशंसा करने के लिए मौन का अनुवाद किया जाता है।

सिद्धान्त—यह व्यवस्था तब मानी जा सकती थी, जब कि 'मुनि' शब्द पाण्डित्य का पर्याय होता किन्तु ऐसा नहीं, अपितु ज्ञानमात्र को पाण्डित्य और ज्ञानातिशय-सम्पत्ति को मौन कहते हैं। इसी अर्थ में 'मौन' शब्द प्रसिद्ध है। आश्रम-विशेष (सन्यास) का वाचक नहीं, केवल गार्हस्थ्यादि पदों की सन्निधि से वैसा उपचार हो गया है। फलतः बाल्य और पाण्डित्य की अपेक्षा इस तृतीय मौन पदार्थ का विधान किया जाता है, क्योंकि यह अपूर्व (अज्ञात) है। अत एव बाल्य और पाण्डित्य के समान मौन के लिए 'निर्विद्य'—ऐसा प्रयोग समञ्जस हो जाता है—"निर्वेदनीयत्वनिर्देशात्"। अर्थात् जैसे 'बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य' ऐसा कहा गया है, वैसे ही 'मौनं च निर्विद्य'—ऐसा भी कहा गया है, इस प्रकार यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति। ननु सति विद्यायत्वे प्राप्तेत्येव तत्रातिशयः किं मौनविधिनेत्यत आह—पक्षेणेति। एतदुक्तं भवति—यस्मिन्पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति, तस्मिन्नेष विधिरिति। विध्यादिवत्—यथा—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्यन्वाधानादिकमङ्गजातं विधीयते। एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

एवं बाल्यादिविशिष्टे केवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१५।१) इत्यत्र ? तेन ह्युपसंहरंस्तद्विषयमादरं दर्शयतीति। अत उत्तरं पठति—

भामती

न सन्न्यासितेत्यर्थः। उत्तरं तदधिकारात्। भिक्षोस्तदधिकारात्। तद्दर्शयति ❀ आत्मानं विदित्वा इति ❀। सूत्रावयवं योजयितुं शंक्यते ❀ ननु इति ❀। परिहरति ❀ अत आह—पक्षेणेति ❀। विद्यावानिति न विद्यातिशयो विवक्षितोऽपि तु विद्योदयाभ्यासे प्रवृत्तो न पुनरुत्पन्नविद्यातिशयस्तथा चास्य पक्षे कदाचिद् भेददर्शनात्सम्भव इत्यर्थः। विध्यादिवद्विधिमुख्यः प्रधानमिति यावत्। अत एव समिदादिविध्यन्तः स हि विधिः प्रधानविधेः पश्चादिति। तत्राश्रूयमाणविधित्वेऽपूर्वत्वाद्विधिरास्थेय इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

ननु यद्ययमाश्रमो बाल्यप्रधानः कस्मात् पुनर्गार्हस्थ्येनोपसंहरतीति चोदयति ❀ एवं बाल्यादि-

भामती—व्याख्या

अनुमान फलित होता है—'मौनं विधेयम् विर्वेद्यत्वात्, पाण्डित्यवत्'। यह मौन विद्या-सहकारित्वेन किसके लिए विहित है? इस प्रश्न का उत्तर है—"तद्वतः"। 'तद्वान्' शब्द का अर्थ है—विद्यावान् सन्यासी। प्रश्न उठाया जाता है—"कथं च विद्यावतः सन्यासिन इत्यवगम्यते ?" अर्थात् 'तद्वतः' इस सौत्र पद के द्वारा विद्यावत्ता की तो प्रतीति होती है, किन्तु सन्यासिता की प्रतीति कैसे होती है ? उत्तर दिया जाता है—'तदधिकारात्"। भिक्षु का अधिकार होने के कारण सन्यासिता की प्रतीति हो जाती है। कथित अधिकार का प्रदर्शन किया जाता है—"आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृह० उ० ३।५।१)। "पक्षेण"—इस सूत्रावयव की योजना करने के लिए शङ्का करते हैं—"ननु"। उसका परिहार करते हैं—"अत आह पक्षेणेति"। 'विद्यावान्' इस पद के द्वारा विद्या का अतिशयवान् पुरुष विवक्षित नहीं, अपितु विद्या के उदयार्थ अभ्यास में प्रवृत्त पुरुष ही विवक्षित है, अतः ऐसे व्यक्ति को पक्षान्तर में भेद-दर्शन सम्भव है, उस पक्ष में मौन अप्राप्त है, अतः उसकी प्राप्ति कराई जाती है। सूत्रकार ने दृष्टान्त-वाक्य प्रयुक्त किया है—"विध्यादिवत्"। वहाँ 'आदि' शब्द मुख्यार्थक है, अतः 'विध्यादि' शब्द का अर्थ है—मुख्य या प्रधान विधि। ] दर्शपूर्णमास कर्म में आग्नेयादि छः कर्म प्रधान हैं, अतः उनका विधायक "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" यह वाक्य विध्यादि या प्रधान विधि कहलाता है और प्रयाजादि कर्म अङ्ग कर्म हैं, उनके विधायक "समिधो यजति" इत्यादि वाक्य अङ्ग-विधि या विध्यन्त कहे जाते हैं, क्योंकि ये वाक्य प्रधान विधि के अन्त में (पश्चात्) व्यवस्थित हैं। मौन-वाक्य में विधि-प्रत्यय का श्रवण न होने पर भी अपूर्व (अज्ञात) होने के कारण मौन विधेय है ॥ ४७ ॥

यदि यह बाल्यप्रधान सन्याश्रम प्रमाण-सिद्ध है, तब छान्दोग्य में गृहस्थाश्रम में जीवन का पर्यवसान क्यों किया गया है, ऐसा आक्षेप किया जाता है—"एवं बाल्यादिविशिष्टे"। अर्थात् 'वेदाध्ययन का समावर्तन करके गृहस्थाश्रम में रहता हुआ ब्रह्मलोक की

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते। बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टानि, आश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभवमहिंसेन्द्रियसंयमादीनि तस्य विद्यन्ते। तस्माद् गृहमेधिनोपसंहारो न विरुध्यते ॥४८॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

यथा मौनं गार्हस्थ्यं चैतावाश्रमौ श्रुतिमन्तावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलावासौ। दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुतिः—'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः (छा० २।२३।१) इत्याद्या। तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्यवद्विकल्पसमुच्चयाभ्यां प्रतिपत्तिः। इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया वेति द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

---

( १५ अनाविष्कराधिकरणम्। सू० ५० )

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३।५।१) इति बाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते। तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादमूत्रपुरीषत्वादिबालचरितमन्तर्गता

---

भामती

विशिष्ट इति ॐ। उत्तरं पठति—कृत्स्नभावात् तु गृहिणोपसंहारः। छान्दोग्ये बहुलायाससाध्यकर्मबहुलत्वाद् गार्हस्थ्यस्य चाश्रमान्तरधर्माणाञ्च केषाञ्चिदहिंसादीनां समवायात् तेनोपसंहारो न पुनस्तेन समापनादित्यर्थः ॥ ४८ ॥

एतदाश्रमद्वयोपन्यासेन क्वचित् कदाचिदितराभावशङ्का मन्दबुद्धेः स्यादिति तदपाकरणार्थं सूत्रम्—"मौनवदितरेषामप्युपदेशात्"। वृत्तिर्वानप्रस्थानामनेकविधा, एवं ब्रह्मचारिणोऽपीति वृत्तिभेदोऽनुष्ठातारो वा पुरुषा भिद्यन्ते। तस्माद् द्वित्वेऽपि बहुवचनमविरुद्धम् ॥ ४९ ॥

---

भामती—व्याख्या

प्राप्ति करता है'—ऐसा उपसंहार करने से सन्यासाश्रम का अस्तित्व नगण्य हो जाता है। उक्त आक्षेप का समाधान किया जाता है—"कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः"। आशय यह है कि छान्दोग्य में बहुलायास-साध्य कर्मप्रधानक गृहस्थाश्रम में प्रायः सभी आश्रमों के कर्मों का समवाय (समावेश) है, अतः गृहस्थाश्रम का उपसहार किया गया है, जीवन धारा का समापन वहीं किया गया है ॥ ४८ ॥

मौन और गार्हस्थ्य—इन दो आश्रमों का उपन्यास देख कर किसी मन्दप्रज्ञ व्यक्ति को शेष आश्रमद्वय के अभाव की शङ्का हो सकती है, उसका अपाकरण करने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है—"मौनवदितरेषामप्युपदेशात्"। यद्यपि वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य—ये दो ही आश्रम हैं, तथापि उनके अवान्तर भेदों को दृष्टि में रख कर सूत्रकार ने बहुवचन का प्रयोग कर दिया है—"इतरेषाम्"। अथवा आश्रम धर्मों के अनुष्ठाता पुरुषों के बहुत्व को ध्यान में रख कर बहुवचन का प्रयोग किया गया है ॥ ४९ ॥

---

संशय—"बाल्येन तिष्ठासेत्" ( बृह० उ० ३।५।१ ) यहाँ 'बाल्य' पद के द्वारा बालक का समस्त उन्मुक्त आचार विवक्षित है ? अथवा दम्भ-दर्पादि-रहित ऋजुभावमात्र ?


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा भावविशुद्धिरप्ररूढेन्द्रियत्वं दम्भदर्पादिरहितत्वं वा बाल्यं स्यादिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम्। ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारतायाश्रयणम्, न, विद्यावतः संन्यासिनो वचनसामर्थ्यादोषनिवृत्तिः, पशुहिंसादिष्विवेति। एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न, वचनस्य गत्यन्तरसंभवात्। अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन्बाल्यशब्दाभिलप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता। प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते। ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्। नच सकलायां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः संभाव्यते। तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति। ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविष्कापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत्। यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेषामात्मानमाविष्कर्तुमीहते, तद्वत्। एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। तथा चोक्तं स्मृतिकारैः 'यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद क्षत्रियस्स ब्राह्मणः॥ गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्। अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥ अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः इति चैवमादि॥ ५०॥

---

## ( १६ ऐहिकाधिकरणम्। सू० ५१ )

### ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्॥ ५१॥

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' ( ब्र० सू० ३।४।२६ ) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासाधनमवधारितम्, तत्फलं विद्या सिध्यन्ती किमिहैव जन्मनि सिध्यत्युत कदा-

भामती

बाल्येनेति यावद्बालचरितश्रुतेः कामचारवादभक्षतायाश्चात्यन्तबाल्येन प्रसिद्धेः शौचादिनियमविधायिनश्च सामान्यशास्त्रस्यानेन विशेषशास्त्रेण बाधनात्सकलबालचरितविधानमिति प्राप्तेऽभिधीयते—विद्याङ्गत्वेन बाल्यविधानात् समस्तबालचर्य्यायां च प्रधानविरोधप्रसङ्गाद्यत्तदनुगुणमप्रौढेन्द्रियत्वादि भावशुद्धिरूपं तदेव विधीयते। एवं च शास्त्रान्तराबाधेनाप्युपपत्तौ न शास्त्रान्तरबाधनमन्याय्यं भविष्यतीति॥ ५०॥

---

सङ्गतिमाह ❀ सर्वापेक्षा च इति ❀। किं श्रवणादिभिरिहैव वा जन्मनि विद्या साध्यते, उता-

भामती—व्याख्या

पूर्वपक्ष—उक्त श्रुति में 'बाल्य' पद से समस्त बाल-चरित विवक्षित है, जिसके अन्तर्गत यथेच्छाचार [ उन्मुक्त खाना-पीना, उठना-बैठना, मल-मूत्र-त्यागादि ] आता है। इसके विपरीत शौचादि-विधायक शास्त्र सामान्य शास्त्र है, अतः उसका बाध "बाल्येन"—इस विशेष शास्त्र से हो जाता है।

सिद्धान्त—विद्याङ्गत्वेन विहित बाल्य पदार्थ में समस्त उन्मुक्त बाल-चर्या का ग्रहण करने पर विद्यारूप प्रधानार्थ के साथ विरोध प्रसक्त होता है, अतः तदनुगुण दम्भ-दर्पादि-राहित्यरूप भाव-शुद्धि का 'बाल्य' पद से ग्रहण करना चाहिए, अतः शौचादि-विधायक शास्त्र का बाधरूप अन्याय प्रसक्त नहीं होता॥ ५०॥

---

संगति—"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्"। कथित विद्या-साधनों पर विचार करके साध्य पदार्थ पर विचार किया जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिदमुत्रापीति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम् ? इहैवेति । किं कारणम् ? श्रवणादिपूर्विका हि विद्या । नच कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसंधाय श्रवणादिषु प्रवर्तते । समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसंधायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते । यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति, प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः । तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति । एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति अप्रस्तुतप्रतिबन्ध इति । एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियत

भामती

नियम इह वामुत्र वेति । यद्यपि कर्माणि यज्ञादीन्यनियतफलानि तेषां च विद्योत्पादसाधनत्वेन विद्योत्पादस्यानियमः प्रतिभाति । तथा च गर्भस्थस्य वामदेवस्यात्मप्रतिबोधश्रवणात् । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमिति च स्मरणाद् आमुष्मिकत्वमप्यवगम्यते । तथापि यज्ञादीनां प्रमेयाणामप्रमाणत्वाच्छ्रवणादेश्च प्रमाणत्वात्तेषामेव साक्षाद्विद्यासाधनत्वम् । यज्ञादीनां सत्त्वशुद्ध्याधानेन वा विद्योत्पादकश्रवणादिलक्षणप्रमाणप्रवृत्तिविघ्नोपशमेन वा विद्यासाधनत्वम् । श्रवणादीनां त्वनपेक्षाणामेव विद्योत्पादकत्वम् । न च प्रमाणेषु प्रवर्त्तमानाः प्रमातार ऐहिकमपि चिरभाविनं प्रमोत्पादं कामयन्ते किन्तु तादात्विकमेव, प्रागेव तु पारलौकिकम् । न हि कुम्भविदृक्षुश्चक्षुषी समुन्मीलयति कालान्तरीयाय कुम्भदर्शनाय किन्तु तादात्विकाय । तस्मादैहिकमेव विद्योत्पादो नानियतकालः । श्रुतिस्मृती च पारलौकिकं विद्योत्पादं स्तुत्या ब्रूतः । इत्थम्भूतानि नाम श्रवणादीन्यावश्यकफलानि यत्कालान्तरेऽपि विद्यामुत्पादयन्तीति ।

एवं प्राप्त उच्यते—यत एवात्र विद्योत्पादे श्रवणादिभिः कर्त्तव्ये यज्ञादीनां सत्त्वशुद्धिद्वारेण वा

भामती—व्याख्या

**संशय**—क्या श्रवणादि अङ्गों के द्वारा इसी जन्म में विद्या सिद्ध की जाती है ? अथवा कोई नियम नहीं—विद्या इस लोक में भी सिद्ध हो सकती है, परलोक में भी ?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि यज्ञादि कर्म अनियतफलक हैं । वे यदि विद्योत्पाद के साधन हैं, तब विद्या उत्पत्ति में भी अनियम ही प्राप्त होता है । गर्भस्थ वामदेव के ज्ञानोत्पाद की प्रतिपादिका श्रुति तथा "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" ( गी. ६।४५ ) इत्यादि स्मृतिवाक्यों के आधार पर विद्योत्पाद में आमुष्मिकत्व भी प्रतीत होता है । तथापि यज्ञादि-प्रमेय हैं, प्रमाण नहीं किन्तु विद्या की साक्षात् उत्पत्ति प्रमाणों से ही होती है । श्रवणादि प्रमाण हैं, विद्या के साक्षात् उत्पादक हैं यज्ञादि विद्या के साक्षात् साधन नहीं, अपितु अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा विद्योत्पादक श्रवणादि के प्रवर्तक अथवा विघ्नोपशामक होकर विद्या के उपकारक माने जाते हैं । श्रवणादि निरपेक्ष होकर विद्या के उत्पादक हैं । प्रमाणों के द्वारा प्रमोत्पादन में प्रवृत्त प्रमाता ऐहिक भी चिरभावी प्रमा के उत्पादन की कामना नहीं किया करते, अपितु तात्कालिक प्रमा की ही उत्पत्ति चाहते हैं, आमुष्मिक प्रमा की कामना तो कभी भी नहीं होती । ऐसा कभी नहीं होता कि घट-दिदृक्षु पुरुष अपनी आँख भविष्य में होनेवाले घट-साक्षात्कार के लिए खोलता हो । प्रत्येक दर्शक तत्काल दर्शन के लिए ही दृश्य के साथ अपनी इन्द्रियों को जोड़ता है । फलतः श्रवणादि के द्वारा जो विद्योत्पाद होता है, वह ऐहिक और तात्कालिक ही होता है, अनियतकालिक या पारलौकिक कभी नहीं । श्रुति और स्मृति के वाक्य जो पारलौकिक प्रमोत्पाद का प्रतिपादन करते हैं, वे केवल श्रवणादि की स्तुति के लिए ही वैसा करते हैं कि श्रवणादि प्रमाण ऐसे अमोघ साधन हैं कि भविष्य में भी विद्या का उत्पादन कर सकते हैं ।

**सिद्धान्त**—श्रवणादि के द्वारा विद्या की उत्पत्ति करने में यज्ञादि का उपयोग दो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण, तदैहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदामुत्रेति। उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति। यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि, तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते। यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितम्, न देशकालानामत्तविशेषमपि संकीर्तयति। साधनवीर्यविशेषात्खल्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति, तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति। न चाविशेषेण विद्यार्थमभिसंधिर्नोत्पद्यते, इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसंधेर्निरङ्कुशत्वात्। श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते। तथा च श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (क० २।७) इति। गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनाज्जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति। नहि गर्भस्थस्यैवंविधं किंचित्साधनं संभाव्यते। स्मृतावपि—'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति' (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान्वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' (गी० ६।४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले संभूतिं चाभिधायानन्तरम्—'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्' (गी० ६।४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६।४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम्॥ ५१॥

---

भामती

विघ्नोपशमद्वारा वोपयोगोऽत एव तेषां यज्ञादीनां कर्मान्तरप्रतिबध्यप्रतिबन्धाभ्यामनियतफलत्वेन तदपेक्षाणां श्रवणादीनामप्यनियतफलत्वं न्याय्यमनपहतविघ्नानां श्रवणादीनामनुत्पादकत्वादविशुद्धसत्त्वाद्वा पुंसः प्रत्यनुत्पादकत्वात्। तथा च तेषां यज्ञाद्यपेक्षाणां तेषां चानियतफलत्वेन श्रवणादीनामप्यनियतफलत्वं युक्तमेवं श्रुतिस्मृतिप्रतिबन्धो न स्तुतिमात्रत्वेन व्याख्येयो भविष्यति। पुरुषाश्च विद्यार्थिनः साधनसामर्थ्यानुसारेण तदनुरूपमेव कामयिष्यन्ते तदिदमुक्तमभिसन्धेर्निरङ्कुशत्वादिति॥ ५१॥

---

भामती—व्याख्या

प्रकार से होता है—या तो सत्त्व-शुद्धि के द्वारा अथवा विघ्नोपशमन के द्वारा, अत एव यज्ञादि का कर्मान्तर से प्रतिबन्धाप्रतिबन्ध अनियत होने के कारण यज्ञादि का उपकार-सम्पादन भी अनियत होता है, इतना ही नहीं यज्ञादि से उपकृत श्रवणादि भी अनियतफलक हो जाते हैं, क्योंकि जिनके विघ्नों का अपघात नहीं होता, ऐसे श्रवणादि अपने कार्य के उत्पादक नहीं होते। अथवा अशुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्ति में श्रवणादि कार्यकारी नहीं होते। इस प्रकार अनियतफलक यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा करनेवाले श्रवणादि में भाविफलकत्व के अभिधायक श्रौत-स्मार्त वाक्यों को केवल स्तुतिपरक कहना नितान्त असंगत है। विद्या की कामना करने वाले पुरुष अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही साधनों का चयन किया करते हैं—"अभिसन्धेर्निरङ्कुशत्वात्"। अर्थात् 'ऐहिलौकिक फल की ही सबको लिप्सा होती है'—ऐसी इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता, अतः भावी फल की इच्छा से श्रवणादि में प्रवृत्त पुरुष को विद्या का लाभ भविष्य में हो सकता है॥ ५१॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १७ मुक्तिफलाधिकरणम् । सू० ५२ )

### एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फल ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः । एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफलानियम इति । न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः । कुतः ? तदवस्थावधृतेः मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते । ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, नच ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति, एकलिङ्गत्वावधारणात्, 'अस्थूलमनणु ( बृ० ३।८।८ ), 'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृ० ३।९।२६ ), 'यत्र नान्यत्पश्यति' ( छा० ७।२४।१ ), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' ( मुण्ड० २।२।११ ), 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' ( बृ० ४।४।२५ ), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० ४।५।१५ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अपि च विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात्स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ । तद्धयसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म । न च तस्यामप्युत्कर्षनिक-

भामती

यज्ञाद्युपकृतविद्यासाधनश्रवणादिवीर्यविशेषात्किल तत्फले विद्यायामैहिकामुष्मिकत्वलक्षण उत्कर्षो वर्णितः । तथा च यथा साधनोत्कर्षनिकर्षाभ्यां तत्फलस्य विद्याया उत्कर्षनिकर्षावेवं विद्याफलस्यापि मुक्तेरुत्कर्षनिकर्षौ सम्भाव्येते । न च मुक्तावैहिकामुष्मिकत्वलक्षणो विशेष उपपद्यते ब्रह्मोपासनापरिपाकफलब्धजन्मनि विद्यायां जीवतो मुक्तेरवश्यम्भावनियमात् सत्यप्यारब्धविपाककर्मप्रक्षये । तस्मान्मुक्तावेव रूपतो निकर्षापकर्षौ स्याताम् । अपि च सगुणानां विद्यानामुत्कर्षनिकर्षाभ्यां तत्फलानामुत्कर्षनिकर्षौ दृष्टाविति मुक्तेरपि विद्याफलत्वाद्रूपतश्चोत्कर्षनिकर्षौ स्यातामिति प्राप्त उच्यते—न, मुक्तेस्तत्र तत्रैकरूप्यश्रुतेरुपपत्तेश्च । साध्यं हि साधनविशेषाद्विशेषवद् भवति । न च मुक्तिर्ब्रह्मणो नित्यस्वरूपावस्थानलक्षणा नित्या सती साध्या भवितुमर्हति । न च सवासननिःशेषक्लेशकर्माशयप्रक्षयो विद्याजन्म

भामती—व्याख्या

**संशय**—ब्रह्मसाक्षात्काररूप विद्या में जैसे ऐहिकत्व-आमुष्मिकत्व सिद्ध किया गया, वैसे ही मुक्तिरूप फल में कुछ विशेषता है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—यज्ञादि से उपकृत श्रवणादि साधनों के सामर्थ्य-विशेष से विद्यारूप फल में भी ऐहिकत्व-आमुष्मिकत्वरूप उत्कर्ष दिखाया गया, वैसे ही विद्यारूप साधन के उत्कर्ष से मुक्तिरूप फल में उत्कर्ष मानना होगा किन्तु मुक्ति में ऐहिकत्व और आमुष्मिकत्व उपपन्न नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मोपासना के परिपाक से विद्या के उत्पन्न हो जाने पर जीवन-काल में ही मुक्ति की अवश्यम्भाविता निश्चित है, भले ही प्रारब्धकार्य-जनक कर्म का प्रक्षय न हुआ हो । फलतः मुक्ति में स्वरूपतः सातिशयत्व सिद्ध होता है—'मुक्तिः सातिशया, ऐहिकामुष्मिकसाधनसाध्यत्वात् कर्मफलवत्' । दूसरी बात यह भी है कि सगुण-विद्या के उत्कर्षापकर्ष से उसके फलों में उत्कर्षापकर्ष प्रसिद्ध है, अतः विद्या का फल होने से विद्या में उत्कर्षापकर्ष सिद्ध होते हैं—'मुक्तिः सातिशया, विद्याजन्यत्वात्, सगुणविद्याजन्यफलवत्' ।

**सिद्धान्त**—मुक्ति की एकरूपता निरतिशयता श्रुति और उपपत्ति के आधार पर सिद्ध होती है, क्योंकि साध्य ( क्रिया-जनित ) पदार्थ ही अपने जनक की सातिशयता से सातिशय हुआ करता है, किन्तु मुक्ति कोई साध्य ( जन्य ) पदार्थ नहीं, अपितु ब्रह्म के नित्यस्वरूप में अवस्थितिरूप होने से नित्य पदार्थ है । वासना-सहित निःशेष क्लेशात्मक कर्माशय का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्थात्मकोऽतिशय उपपद्यते, निकृष्टाया विद्यात्वाभावादुत्कृष्टैव हि विद्या भवति। तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्, नतु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति। विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः, कर्मफलवत्। नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति। सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद् भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः, कर्मफलवत्। तथा च लिङ्गदर्शनम्—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति। नैवं निर्गुणायां विद्यायाम्, गुणाभावात्। तथा च स्मृतिः—'नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम्' इति। तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति॥ ५२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥ ४॥

---

भामती

विशेषवान् येन तद्विशेषान्मोक्षो विशेषवान् भवेत्। न च सावशेषः क्लेशादिप्रक्षयो मोक्षाय कल्पते। न च चिराचिरोत्पादानुत्पादावन्तरेण विद्यायामपि रूपतो भेदः कश्चिदुपलक्ष्यते, तस्या अप्येकरूपत्वेन श्रुतेः। सगुणायास्तु विद्यायास्तत्तद्गुणावापोद्वापाभ्यां तत्कार्यस्य फलस्योत्कर्षनिकर्षौ युज्येते। न चात्र विद्यात्वं सामान्यतो दृष्टं भवति। आगमतःप्रभवयुक्तिबाधितत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। तस्मात्तस्यां मुक्त्यवस्थायाम् ऐकरूप्यावधृतेर्मुक्तिलक्षणस्य फलस्याविशेषो युक्त इति॥ ५२॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पाद॥ अध्यायश्च समाप्तः॥

---

भामती—व्याख्या

प्रक्षयात्मक विद्योत्पाद भी सातिशय नहीं कि उसकी सातिशयता से मोक्षतत्त्व भी सातिशय हो जाता। सविशेष कर्म-प्रक्षय मोक्ष का उद्भावक नहीं हो सकता। विद्या में चिरोत्पादानुत्पाद को छोड़ कर कोई स्वरूपतः भेद नहीं होता, क्योंकि श्रुति से विद्या में एकरूपता ही सिद्ध होती है। सगुण-विद्या में तो गुणों के आवापोद्वाप के द्वारा उत्पकर्षापकर्ष सम्भव हो जाते हैं। यह जो सामान्यतो दृष्ट अनुमान किया था—मोक्षः सातिशयः, विद्याजन्यत्वात्, सगुणविद्याजन्यफलवत्'। वह सगुणविषयत्वरूप उपाधि से व्याप्यत्वासिद्ध एवं विद्यागत निरतिशयत्व-साधक श्रुति और तदनुकूल युक्तियों से कालत्ययापदिष्ट (बाधित) है। फलतः मुक्ति में एकरूपता प्रमाणित होने के कारण निरतिशयता पर्यवसित होती है॥ ५२॥

स्वामिवरश्रीऋषिरामशिष्यस्वामियोगीन्द्रानन्दविरचितायां भामतीव्याख्यायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।
समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः

---

तृतीयेऽध्याये
अधिकरणानां सूत्राणां च संख्या

| पाद सं० | १ | २ | ३ | ४ | योगः |
|---|---|---|---|---|---|
| अधिकरण सं० | ६ | ८ | ३६ | १७ | ६७ |
| सूत्र सं० | २७ | ४१ | ६६ | ५३ | १८६ |

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

[ अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम् । ]

## ( १ आवृत्त्यधिकरणम् । सू० १--२ )

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात् । अथेह चतुर्थे फलाश्रय आगमिष्यति । प्रसङ्गागतं चान्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्यते ।

भामती

नाभ्यर्थ्या इह सन्त. स्वयं प्रवृत्ता न चेतरे शवयाः ।
मत्सरपित्तनिबन्धनमचिकित्स्यमरोचकं येषाम् ॥ १ ॥
शङ्के सम्प्रति निर्विशङ्कमधुना स्वाराज्यसौख्यं वह-
न्नेन्द्रः सान्द्रतपःस्थितेषु कथमप्युद्वेगमभ्येष्यति ।
यद्वाचस्पतिमिश्रनिर्मितमितव्याख्यानमात्रस्फुट-
द्वैवान्तार्थविवेकवञ्चितभवाः स्वर्गेऽप्यमी निस्पृहाः ॥ २ ॥

साधनानुष्ठानपूर्वकत्वात् फलसिद्धेर्विषयक्रमेण विषयिणोरपि तद्विचारयोः क्रममाह ॐ तृतीयेऽध्याये इति ॐ । मुक्तिलक्षणस्य फलस्यात्यन्तपरोक्षत्वात् तदर्थानि दर्शनश्रवणमननविध्यासनानि चोद्यमाना-

भामती—व्याख्या

[ इस चतुरध्यायी वेदान्त मीमांसा का साधनान्त विशेष विचार समाप्त हो गया, फलाध्याय में कुछ अधिक मीमांसनीय नहीं, अतः सम्भव है आचार्य वाचस्पति के शिष्य-मण्डल में ग्रन्थ-समाप्ति की चर्चा चल पड़ी हो, किसी सनातन नाम के प्रिय शिष्य ने ग्रन्थान्त में रखने के लिए दो श्लोक रच दिए होंगे, आचार्य ने उसकी भावना का मान रखने के लिए वे श्लोक यहीं रख दिए हैं ] ।

इस भामती नाम की व्याख्या के अध्ययनाध्यापनार्थ सत्पुरुषों से अभ्यर्थना करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे स्वयं ही ऐसे ग्रन्थों में प्रवृत्त हो जाते हैं, जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—"सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः" ( श्लो. वा. पृ. २) । दूसरे प्रकार के ईर्ष्यालु विद्वानों को तो इस ग्रन्थ में प्रवृत्त ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसे ज्वरग्रस्त प्राणी को पित्त-प्रकोप के कारण मधुर मिसरी भी कढ़वी लगती है, वैसे ही ईर्ष्यालु विद्वानों को अन्य विद्वानों के ग्रंथों में जो नैसर्गिक अरुचि रोग होता है, उसका कोई उपचार नहीं ॥ १ ॥

घोर तपस्या में निरत तापसों से पहले इन्द्र को भयङ्कर उद्वेग ( भय ) होता था कि ये लोग स्वर्ग में आकर अपने तपःप्रभाव से मेरा यह स्वाराज्य छीन न लें किन्तु जब से श्रीवाचस्पति मिश्र की यह द्वैतवन की दुर्दान्त दावाग्नि वेदान्त-व्याख्या भामती प्रकट हुई है, तब से वेदान्तार्थ-विचार में चतुर होकर तापसगण भव (संसार) के भव्यतम वैभवों को तुच्छ मानने लगे हैं, स्वर्ग में जाकर भी नितान्त निस्पृह हो गये हैं, उन्हें स्वाराज्य सुख की कोई लालसा नहीं रही, अतः इन्द्रदेव निर्भीक भाव से स्वाराज्य का उपभोग कर सकेंगे ॥ २ ॥

**संगति** --श्रवणादि साधन पदार्थों का तृतीय अध्याय में निरूपण किया गया, अब चतुर्थ अध्याय में मुक्ति रूप साध्यपदार्थ का निरूपण किया जाता है । साधन ( श्रवणादि ) और फल ( मुक्ति ) ये दो विषय हैं और इनके क्रमशः विषयी हैं—तृतीय और चतुर्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसराभः। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ( बृ० ४।५।६ ), 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' ( बृ० ४।४।२१ ), 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' ( छा० ४।७।१ ), इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्यः, आहोस्विदावृत्त्येति। किं तावत्प्राप्तम्? सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत्, तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात्। अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत्। नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवमाद्यः। एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति, नातिरिक्तम्। सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या। कुतः? असकृदुपदेशात्, 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति। ननूक्तं—यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति, न, दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम्। दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति। यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि हि तद्वत्। अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते। तथा हि—लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च

भामती

न्यदृष्टार्थानीति यावद्विधानमनुष्ठेयानि न तु ततोऽधिकभावर्त्तनीयानि प्रमाणाभावात्। यत्र पुनः सकृदुपदेशादुपासीतेत्यादिषु तत्र सकृदेव प्रयोगं प्रयाजादिवदिति प्राप्ते उच्यते—यद्यपि मुक्तिरदृष्टचरी तथापि सवासनाविद्योच्छेदेनात्मनः स्वरूपावस्थानरूपाया मुक्तेः श्रुतिसिद्धत्वात् अविद्यायाश्च विद्योत्पादविरोधितया विद्योत्पादेन समुच्छेदस्याहिविभ्रमस्येव रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारेण समुच्छेदस्योपपत्तिसिद्धत्वात्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां च श्रवणमननिदिध्यासनाभ्यासस्यैव स्वगोचरसाक्षात्कारफलत्वेन लोकसिद्धत्वात् सकलदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्यपरोक्षरूपानुभवस्यापि श्रवणाद्यभ्याससाधनत्वेनानुमानात्तदर्थानि श्रवणादीनि दृष्टार्थानि भवन्ति। न च दृष्टार्थत्वे सत्यदृष्टार्थत्वं युक्तम्। न चैतान्यावृत्तानि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्येण साक्षात्कारवते तादृशानुभवाय कल्पन्ते। न चात्रासाक्षात्कारवद्विज्ञानं

भामती—व्याख्या

अध्याय, अतः विषयों के क्रम से विषयी पदार्थों का क्रम अत्यन्त उचित है।

**पूर्वपक्ष**—मुक्तिरूप फल अत्यन्त परोक्ष है, उसके लिए विधीयमान दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन अदृष्टार्थक हैं। उनका सकृत् विधान किया गया, अतः सकृत् ही अनुष्ठान करना चाहिए, अधिक आवृत्ति करने में कोई प्रमाण नहीं। जहाँ 'उपासीत'—इत्यादि स्थलों पर सकृत् उपदेश किया गया है, वहाँ सकृत् ही प्रयाजादि के समान प्रयोग होता है।

**सिद्धान्त**—यद्यपि मुक्ति अदृष्टचरी है, तथापि वासना-सहित अविद्या का उच्छेद हो जाने पर आत्मा की स्वरूपावस्थानरूप मुक्ति श्रुति-सिद्ध है। अविद्या विद्योत्पाद की विरोधिनी है, अतः विद्या की उत्पत्ति से अविद्या का वैसे ही समुच्छेद हो जाता है, जैसे रज्जुतत्त्व के साक्षात्कार से सर्प-भ्रम का उच्छेद हो जाता है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर आत्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन आत्मविषयक साक्षात्कार के जनक होते हैं। 'सकल दुःख-विनिर्मुक्ताखण्डचैतन्यात्मकोऽहम्'—इस प्रकार का अपरोक्षरूप अनुभव भी श्रवणादि के अभ्यास से साध्य है—ऐसा अनुमान किया जाता है, इस प्रकार श्रवणादि साधन दृष्टार्थक सिद्ध होते हैं। दृष्टार्थकत्व के सम्भव होने पर अदृष्टार्थकत्व मानना युक्ति-युक्त नहीं कहलाता। श्रवणादि की जबतक आदरपूर्वक दीर्घकाल-तक निरन्तर आवृत्ति

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा, सैवमभिधीयते। विद्युपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपासिनोपसंहरति, यथा—'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ४।१।४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ५।२।२) इति। क्वचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति. यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३।१८।३) इति। तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति। तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः' (छा० १।५।१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० १।५।२) इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति। तस्मात्तत्सामान्यात्सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिः।

अत्राह—भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः, तेष्वावृत्तिसाध्यस्यातिशयस्य संभवात्। यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति, तत्र किमर्थावृत्तिरिति ?

भामती

साक्षात्कारवतीमविद्यामुच्छेत्तुमर्हति। न खलु पित्तोपहतेन्द्रियस्य गुडे तिक्ततासाक्षात्कारोऽन्तरेण माधुर्य्यसाक्षात्कारं सहस्रेणाप्युपपत्तिभिर्निवर्तितुमर्हति। अतद्वतो नरान्तरवचांसि वोपपत्तिसहस्राणि वा परामृशतोऽपि थूत्कृत्य गुडत्यागात्। तदेवं दृष्टार्थत्वाद्ध्यानोपासनयोश्चान्तर्नीतावृत्तिकत्वेन लोकतः प्रतीतेरावृत्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १, २ ॥

अधिकरणार्थमुक्त्वा निरुपाधिब्रह्मविषयत्वमस्याक्षिपति ❀ अत्राह भवतु नाम इति ❀। साध्ये ह्यनुभवे प्रत्ययावृत्तिरर्थवती नासाध्ये, न हि ब्रह्मानुभवो ब्रह्मसाक्षात्कारो नित्यशुद्धस्वभावाद् ब्रह्मणोऽतिरिच्यते। तथा च नित्यस्य ब्रह्मणः स्वभावो नित्य एवेति कृतमत्र प्रत्ययावृत्त्या। तदिदमुक्तम्

भामती—व्याख्या

(अभ्यास) न किया जाय, तब तक वैसे साक्षात्कारात्मक अनुभव को जन्म देने में वे सक्षम नहीं हो सकते। असाक्षात्कारात्मक ज्ञान साक्षात्कारवती अविद्या का समुच्छेद कभी नहीं कर सकता। ऐसा कभी सम्भव नहीं कि पित्ताक्रान्त रसनावाला व्यक्ति गुड़गत तिक्तता की अपनी साक्षात्कारात्मक प्रतीति को गुड़ की वास्तविक मधुरता का साक्षात्कार किए बिना ही केवल वचनों और युक्तियों के द्वारा निवृत्त कर दे, क्योंकि माधुर्यानुभव करनेवाले व्यक्ति के अनन्त माधुर्योपदेशों और उपपत्तियों का अनुग्रहण करने के पश्चात् भी खाए गुड़ को थूक कर उसकी तिक्तता प्रकट करता है। फलतः दृष्टार्थक होने के कारण ध्यान और उपासनाएँ आवर्तनीय हैं, भले ही उनका सकृत् विधान किया गया हो, उसमें भी आवृत्ति अन्तर्निहित होती है, लोक-प्रतीति वैसी ही देखी जाती है ॥ १–२ ॥

**आक्षेप**—अधिकरणार्थ का प्रतिपादन करके इस अधिकरण के निर्गुण ब्रह्मविषयकत्व पर आक्षेप किया जाता है—"अत्राह भवतु नाम"। अभिमत ब्रह्मानुभव यदि साध्य (जन्य) होता, तब प्रत्ययों (श्रवणादि साधनों) की आवृत्ति (अभ्यास) सार्थक हो सकती थी, किन्तु यहाँ निर्गुण ब्रह्म का अनुभव साध्य (जन्य) नहीं, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्काररूप अनुभव नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। नित्य ब्रह्म का स्वरूप भी नित्य ही है, अतः यहाँ


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत्, न, आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः। यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवंजातीयकं वाक्यं सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्, ततस्तदेवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात्? अथोच्येत—न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति, तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव। साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति। अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्य

भामती

@ आत्मभूतम् इति @। आक्षेप्तारं प्रति शङ्कते @ सकृच्छ्रुतौ इति @। अयमभिसन्धिः न ब्रह्मात्मभूतस्तत्साक्षात्कारोऽविद्यामुच्छिनत्ति, तया सहानुवृत्तेरविरोधात्। विरोधे वा तस्य नित्यत्वान्नाविद्योच्छेद्येत, कुत एव तु तेन सहानुवर्त्तेत? तस्मात्तन्निवृत्तये आगन्तुकस्तत्साक्षात्कार एषितव्यः। तथा च प्रत्ययानुवृत्तिरर्थवती। आक्षेप्ता सर्वपूर्वोक्ताक्षेपेण प्रत्यवतिष्ठते @ नावृत्तावपि इति @। न खलु ज्योतिष्टोमवाक्यार्थप्रत्ययः शतशोऽप्यावर्त्तमानः साक्षात्कारप्रमाणं स्वविषये जनयति। उत्पन्नस्यापि तादृशो दृष्टव्यभिचारत्वेन प्रातिभत्वात्। ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारम्। पुनः शङ्कते @ न केवलं वाक्यम् इति @। आक्षेप्ता दूषयति @ तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यम् इति @। वाक्यं चेद् युक्त्यपेक्षं साक्षात्काराय प्रभवति। तथा सति कृतमावृत्त्या? सकृत्प्रवृत्तस्यैव तस्य सोपपत्तिकस्य यावत्कर्त्तव्यकरणादिति। पुनः शङ्कते @अथापि स्याद् इति@। न युक्तिवाक्ये साक्षात्कारफले, प्रत्यक्षस्यैव प्रमाणस्य तत्फलत्वात्।

भामती-व्याख्या

श्रवणादि साधनों की आवृत्ति से क्या लाभ? भाष्यकार यही कह रहे हैं—"आत्मभूतं परब्रह्म"।

**शङ्का**—आक्षेपवादी से कोई शङ्का करता है—"सकृच्छ्रुतौ च"। आशय यह है कि ब्रह्मस्वरूप अनुभव अविद्या का उच्छेद नहीं कर सकता, क्योंकि ब्रह्म और अविद्या—दोनों अनादि काल से साथ-साथ रहते आए हैं, सहवृत्ति (सहावस्थित) पदार्थों का विरोध ही नहीं होता, अतः उच्छेद्य-उच्छेदकभाव क्योंकर होगा? इस प्रकार विद्या का उच्छेद करने के लिए वृत्तिरूप साक्षात्कार अपेक्षित है, जिसके लिए प्रत्ययावृत्ति करनी होगी।

**समाधान** आक्षेपवादी पूर्वोक्त आक्षेप पर की गई शङ्का का समाधान करता है—"न, आवृत्तावपि"। जो शब्द एक बार के श्रवण से प्रत्यक्षात्मक बोध नहीं उत्पन्न कर सकता, वह बार-बार श्रवण से भी नहीं करता, जैसे "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—यह वाक्य शतशः आवर्त्यमान होकर भी स्वार्थविषयक साक्षात्कार उत्पन्न नहीं करता। यदि कामिनी आदि विषय का बार-बार ध्यान प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न करता है, तब वह ज्ञान विषय से व्यभिचरित होने के कारण, प्रमाणभूत न होकर केवल प्रातिभ ही माना जाता है। भाष्य के 'ब्रह्मात्मत्वप्रतीति' शब्द का अर्थ ब्रह्मात्मवत्साक्षात्कार है।

**शङ्का**—"न केवलं वाक्यम्"। केवल वाक्य आवर्त्यमान होकर साक्षात्कार ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, अपितु युक्ति-सहकृत होकर अपने विषय का प्रत्यक्ष करा देता है।

**समाधान**—"तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव"। युक्ति-सापेक्ष वाक्य यदि अपने विषय का साक्षात्कार कराने का सामर्थ्य रखता है, तब सकृत् प्रवृत्त होकर ही साक्षात्कार करा देगा और यदि सामर्थ्य नहीं रखता, तब आवृत्ति से भी अपना कार्य क्योंकर कराएगा?

**शङ्का**—"अथापि स्यात्"। युक्ति और वाक्य प्रत्यक्ष प्रमा को उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमा प्रत्यक्षप्रमाण का ही फल है। वे (युक्ति और वाक्य) दोनों परोक्ष ज्ञान को ही उत्पन्न करते हैं और सामान्यार्थ को ही विषय करते हैं, विशेषार्थ को नहीं। विशेषार्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयमेव विज्ञानं क्रियते, न विशेषविषयम्। यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद् गात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव परः प्रतिपद्यते, न विशेषमनुभवति। यथा स एव शूली, विशेषानुभवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थावृत्तिरिति चेत्, न, असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसंभवात्। नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते। तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्येत यदि वा सामान्यमेव, उभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः। नच सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुम्, विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तृणाम्। अपि

भामती

ते तु परोक्षार्थविगाहिनी सामान्यमात्रमभिनिविशेते, न तु विशेषं साक्षात् कुरुत इति तद्विशेषसाक्षात्कारायावृत्तिरुपास्यते। सा हि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्य्यसेविता सती दृढभूमिर्विशेषसाक्षात्काराय प्रभवति, कामिनीभावनेव स्त्रैणस्य पुंस इति। आक्षेप्ताह ॐ नासकृदपि इति ॐ। स खल्वयं साक्षात्कारः शास्त्रयुक्तियोनिर्वा स्याद्भावनामात्रयोनिर्वा। न तावत् परोक्षाभासविज्ञानफले शास्त्रयुक्ती साक्षात्कारलक्षणं प्रत्यक्षप्रमाणफलं प्रसोतुमर्हतः। न खलु कुटजबीजाद्वटाङ्कुरो जायते। न च भावना प्रकर्षपर्य्यन्तजमपरोक्षावभासमपि ज्ञानं प्रमाणं व्यभिचारादित्युक्तम्। आक्षेप्ता स्वपक्षमुपसंहरति ॐ तस्माद्यदि इति ॐ। आक्षेप्ता आक्षेपान्तरमाह ॐन च सकृत् प्रवृत्ते इति ॐ कश्चित् खलु शुद्धसत्त्वो गर्भस्थ इव वामदेवः श्रुत्वा च मत्वा च क्षणमवधाय जीवात्मनो ब्रह्मात्मतामनुभवति। ततोऽप्यावृत्तिरनर्थिकेति। अतश्चावृत्तिरनर्थिका यन्निरंशस्य ग्रहणमग्रहणं वा न तु व्यक्ताव्यक्तत्वे सामान्यविशेषवत् पद्मरागवदित्यत आह ॐ अपि चानेकांश इति ॐ। समाधत्ते ॐ अत्रोच्यते भवेदावृत्त्यानर्थक्यम् इति ॐ। अयमभिसन्धिः—सत्यं

भामती—व्याख्या

का साक्षात्कार करने के लिए युक्ति और वाक्य को आवृत्ति अपेक्षित है, आवृत्ति सत्कार पूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक आसेवित होकर वह दृढ़ता प्राप्त कर लेती है कि साक्षात्कार के जन्म देने में युक्ति और वाक्य वैसे ही सक्षम हो जाते हैं, जैसे स्त्रैण पुरुष की कामिनी-भावना स्त्री का प्रत्यक्ष कराने में सक्षम होती है।

**समाधान**—"न, असकृदपि"। अर्थात् वह साक्षात्कार शास्त्र और युक्ति से जनित है? अथवा भावनामात्र से उत्पादित? शास्त्र और युक्ति जब परोक्ष ज्ञान को ही जन्म देते हैं, तब साक्षात्कार का उत्पादन क्योंकर कर सकेंगे? अक्षम साधन से कार्य कभी नहीं होता, जैसे कुटज (इन्द्रजो) के बीज से वट वृक्ष अंकुरित नहीं होता। 'भावना-प्रकर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर साक्षात्कारात्मक ज्ञान को उत्पन्न कर देता है, वह प्रमात्मक है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसे ज्ञानों का विषय-व्यभिचार दिखाया जा चुका है।

आक्षेपवादी अपने आक्षेप का उपसंहार कर रहा है—"तस्माद् यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः"। अर्थात् आवृत्ति का सार्थक्य किसी भी पक्ष में सम्भव नहीं। आक्षेप्ता अन्य आक्षेप का प्रदर्शन करता है—"न च सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती"। जब वामदेव के समान शुद्धसत्त्वक व्यक्ति गर्भ में स्थित होता हुआ भी केवल एक बार के ही श्रवण और मनन से ब्रह्मात्मता का अनुभव प्राप्त कर लेता है, तब आवृत्ति अनर्थक क्यों नहीं? इस लिए भी आवृत्ति निरर्थक है कि प्रकृत में जिस तत्त्व का ग्रहण अपेक्षित है, वह निरवयव और निरंश है, निरंश पदार्थ के ग्रहण में आवृत्ति अपेक्षित नहीं। लम्बे सूक्तादि सांश पदार्थों का ग्रहण अवश्य ही एक बार में नहीं होता, कई बार आवर्तन और मनन से वह कण्ठस्थ होता है किन्तु निरंश वस्तु का आंशिक ग्रहण सम्भव नहीं कि आवृत्ति सार्थक हो। पद्मरागादि रत्न कई बार निहारने से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु, ननु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति ॥

अत्रोच्यते - भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात्। यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः। तथा हि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशंकाकारणं निराकृत्य तत्त्वमसीत्येवासकृदुपदिशति। तथा च 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम्। ननूक्तं-सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति, तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्ष्यतीति, नैषदोषः, नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। दृश्यन्ते हि

भामती

न ब्रह्मसाक्षात्कारः साक्षादागमयुक्तिफलमपि तु युक्त्यागमसार्थज्ञानाहितसंस्कारसचिवं चित्तमेव ब्रह्मणि साक्षात्कारवतीं बुद्धिवृत्तिं समाधत्ते। सा च नानुमितभावितवह्निसाक्षात्कारवत्प्रातिभत्वेनाप्रमाणं, तदानीं वह्नेस्वलक्षणस्य परोक्षत्वात्सदातनन्तु ब्रह्मस्वरूपस्योपाधिरूषितस्य जीवस्यापरोक्षत्वम्। नहि शुद्धबुद्धत्वादयो वस्तुतस्ततोऽतिरिच्यन्ते। जीव एव तु तत्तदुपाधिरहितः शुद्धादिस्वभावो ब्रह्मेति गम्यते। न च तत्तदुपाधिविरहोऽपि ततोऽतिरिच्यते। तस्माद्यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिवेन श्रोत्रेण षड्जादिस्वरग्राममूर्च्छनाभेदमव्यक्षणेक्षते एवं वेदान्तार्थज्ञानाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मस्वभावमन्तःकरणेनेति। ❀ यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव इति ❀। श्रुत्वा मत्वा क्षणभवधाय प्राग्भवीयाभ्यासजातसंस्कारादित्यर्थः। ❀ यस्तु न शक्नोति इति ❀। प्राग्भवीयब्रह्माभ्यासरहित इत्यर्थः। ❀ नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम इति ❀। यत्र परोक्षप्रतिभासिनि वाक्यार्थेऽपि व्यक्ताव्यक्तत्वतारतम्यम् तत्र मननोत्तर-

भामती—व्याख्या

व्यक्त होते हैं, वह अपना सांशता के कारण—"अपि चानेकांशोपेते"।

समाधान—"अत्रोच्यते, भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति"। यह अकाट्य सत्य है कि ब्रह्मसाक्षात्कार साक्षात् आगम और युक्ति का फल नहीं, अपितु तात्पर्यग्राहक युक्तियों की सहायता से प्रसूत वेदार्थ-ज्ञान के संस्कारों का वर्चस्व पाकर चित्त ही ब्रह्मविषयक साक्षात्कारात्मिका बुद्धि-वृत्ति को जन्म देता है। वह वृत्ति प्रमारूप होती है, अनुमित, भावित वह्निःसाक्षात्कार के समान प्रातिभ और अप्रमा नहीं, क्योंकि उस समय (अनुमान-काल में) वह्नि व्यक्ति परोक्ष है किन्तु ब्रह्म जीव के रूप में सदैव अपरोक्ष है। शुद्धत्व-बुद्धत्वादि धर्म वस्तुतः ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं, उस समय जीव में जो शुद्धत्वादि का अभाव है, वह भी उससे भिन्न नहीं कि उसे परोक्ष माना जा सके। फलतः जैसे गान्धर्व शास्त्रीय अर्थ-ज्ञान के अभ्यास से आहित संस्कारों का साहाय्य पाकर श्रोत्र सूक्ष्म एवं दुर्ज्ञेय षड्जादि स्वरों के आरोह-अवरोहों का प्रत्यक्ष कर लेता है, वैसे ही वेदान्तार्थ-ज्ञान-जनित संस्कारों से संवलित मन जीवगत ब्रह्मस्वरूपता का साक्षात्कार कर लेता है। "यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव"। आशय यह है कि जो व्यक्ति अपने पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के बल पर केवल एक बार के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसके लिए आवृत्ति का कोई उपयोग नहीं, किन्तु "यस्तु न शक्नोति"। अर्थात् जो अधिकांशी पूर्वजन्मार्जित उक्तसंस्कारों से रहित है, उसके लिए श्रवणादि की आवृत्ति सार्थक है। "न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम"। अर्थात् जब कि परोक्षार्थक वाक्य में भी श्रवणोत्तर ध्यानाभ्यास के उत्कर्षापकर्ष से अर्थज्ञानगत व्यक्ताव्यक्तत्व है, तब साक्षात्कारावधिक प्रत्यय-प्रवाह में अभिव्यक्ति का तारतम्य आवृत्ति से क्यों नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः। अपि च 'तत्त्वमसि' इत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे। तत्पदेन च प्रकृतं सद् ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'अदृष्टं द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११), 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११), 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः। अस्थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः। विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशात्मकत्वमुक्तम्। एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः। यथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोता देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वनावधारितः। तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां 'तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति, पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थस्येत्यतस्तान् प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः। यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणम्। तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते। तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः। येषां पुनर्नि-

भामती

कालव्यानाभ्यासनिकर्षप्रकर्षक्रमजन्मनि प्रत्ययप्रवाहे साक्षात्कारावधौ व्यक्तितारतम्यं प्रति कैव कथेति भावः। तदेवं वाक्यमात्रस्यार्थेऽपि न द्रागित्येव प्रत्यय इत्युक्तम्। तत्त्वमसीति तु वाक्यमत्यन्तदुर्ग्रहपदार्थं न पदार्थज्ञानपूर्वके स्वार्थे ज्ञाने द्रागित्येव प्रवर्तते, किन्तु विलम्बिततमपदार्थज्ञानमतिविलम्बेनेत्याह ❀ अपि च तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वम्पदार्थस्य इति ❀। स्यादेतत्—पदार्थसंसर्गात्मा वाक्यार्थः पदार्थज्ञानक्रमेण तदधीननिरूपणीयतया क्रमवत्प्रतीतिर्युज्यते। ब्रह्म तु निरंशत्वेनासंसृष्टनानात्वपदार्थांशमिति कस्यानुक्रमेण क्रमवती प्रतीतिरिति सकृदेव तद् गृह्येत न वा गृह्येतेत्युक्तमित्यत आह ❀ यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशः इति ❀। निरंशोऽप्यहमपरोक्षोऽप्यात्मा तत्तद्देहाद्यारोपव्युदासाभ्यामंसवानिवात्यन्तपरोक्ष इव। ततश्च वाक्यार्थतया क्रमवत्प्रत्यय उपपद्यते। तत् किमियमेव वाक्यजनिता प्रतीतिरात्मनि तथा च न साक्षात्प्रतीतिरात्मन्यनागतफलत्वादस्या इत्यत आह ❀ तत्तु पूर्वरूपमेवात्म-

भामती—व्याख्या

होगा ? इससे यह स्पष्ट हो गया कि वाक्यमात्र के अर्थ का ज्ञान एकबार के सुनने मात्र से तुरन्त नहीं होता, "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के घटकीभूत पदों का अर्थ तो दुर्ग्रह है, पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, पदार्थ-ज्ञान के विलम्ब से वाक्यार्थ ज्ञान में विलम्ब अनिवार्य है, अतः उक्त वाक्य सहसा अपना अर्थ-बोध नहीं करा सकता, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"अपि च तत्त्वमसीत्येतद् वाक्यं त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे"।

यह जो कहा गया कि पदार्थ-संसर्गात्मक वाक्यार्थ की पदार्थ-ज्ञान के क्रम से क्रमवती प्रतीत होती है, किन्तु ब्रह्म निरंश है, अतः किस के क्रम से उसकी प्रतीति क्रमवती होगी ? वह तो सकृत् प्रयत्न से या तो गृहीत होगा या अगृहीत। उसका अनुवाद करके निरास किया जाता है—"यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशः"। अर्थात् यह आत्मा निरंश और अपरोक्ष होने पर भी देह इन्द्रियादि के आरोप और अपवाद से अंशवान् एवं अत्यन्त परोक्ष के समान प्रतीत होता है, अतः वाक्यार्थरूप हो जाने के कारण उसकी प्रतीति में क्रमवत्ता उपपन्न हो जायगी। यदि देह, इन्द्रियादि की निषेधात्मिका प्रतीति ही आत्मज्ञान है, तब तो इसे महावाक्यरूप आगम प्रमाण से जनित नहीं कह सकते, क्योंकि यह इन्द्रिय-जनित है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति, ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति, तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव। सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति, नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते। सत्यमेवं युज्येत, यदि कस्यचिदेवं प्रतिपत्तिर्भवेत्। बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः। अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत्, न; देहाद्यभिमानवद्दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभिमानत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्य इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः। तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु सन्तप्यमानेष्वहमेव सन्तप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः। तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात्। देहादिवदेव चैतन्याद् बहिरुपलभ्यमानत्वाद् दुःखित्वादीनाम्, सुषुप्तादिषु

भामती

प्रतिपत्तेः साक्षात्कारवत्याः ॥। एतदुक्तं भवति --वाक्यार्थश्रवणमननोत्तरकाला विशेषणत्रयवती भावना ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पत इति वाक्यार्थप्रतीतिः साक्षात्कारस्य पूर्वरूपमिति। शङ्कते ॥ सत्यमेवम् इति ॥। समारोपो हि तत्त्वप्रत्ययेनापोह्यते न तत्त्वप्रत्ययः। दुःखित्वादिप्रत्ययश्चात्मनि सर्वेषां सर्वदोत्पद्यत इत्यबाधितत्वात्समीचीन इति बलवान्न शक्योऽपनेतुमित्यर्थः। निराकरोति ॥ न देहाद्यभिमानवत् इति ॥। नहि सर्वेषां सर्वदोत्पद्यत इत्येतावता तात्त्विकत्वम्। देहात्माभिमानस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात् सोऽपि सर्वेषां सर्वदोत्पद्यते। उक्तं चास्य तत्र तत्रोपपत्त्या बाधनमेवं दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि। तथा नहि नित्यशुद्धबुद्धस्वभावस्यात्मन उपजनापायधर्माणो दुःखशोकादय आत्मनो भवितुमर्हन्ति। नापि धर्मास्तेषां ततोऽत्यन्तभिन्नानां तद्धर्मत्वानुपपत्तेः। नहि गोरश्वस्य धर्मः सम्बन्धस्यापि व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यां सम्बन्धासम्बन्धाभ्यां च विचारासहत्वात्। भेदाभेदयोश्च परस्परविरोधेनैकत्रासम्भवादिति। सर्वमेतदुपपादितं द्वितीयाध्याये। तदिदमुक्तं ॥ देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरुपलभ्यमानत्वाद् इति ॥।

भामती—व्याख्या

[ प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय से ही निषेध का भान माना जाता है, देहादि निषेध्य पदार्थ ऐन्द्रियक हैं, अतः उनका अपवाद या निषेध भी ऐन्द्रियक ही होगा ]। भाष्यकार यही कह रहे हैं—"तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः साक्षात्कारवत्याः"। आशय यह है कि वाक्यार्थविषयक श्रवण और मनन के उत्तर काल में होनेवाली 'दीर्घकाल, आदर और नैरन्तर्य'—इन तीन विशेषणों से युक्त भावना ही ब्रह्मसाक्षात्कार को जन्म देती है, अतः वाक्यार्थ-प्रतीति को साक्षात्कार का पूर्वरूप कहा गया है।

शङ्का—"सत्यमेवं युज्येत"। समारोप ( अध्यास ) का ही तत्त्व-प्रत्यय से बाध होता है, तत्त्वप्रत्यय का नहीं, दुःखित्वादि-प्रत्यय तो आत्मा में सभी को सदा होता रहता है, अतः अबाधित होने के कारण प्रमात्मक है, अतः बलवान् होने से बाधित क्योकर होगा ?

समाधान—"न देहाद्यभिमानवद् दुःखित्वाद्याभिमानस्य" अर्थात् दुःखित्वादि का अभिमान सभी को सर्वदा होता है—एतावता वह तात्त्विक नहीं हो सकता, क्योंकि देहादि का अभिमान भी वैसा ही है। आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वभाव है, 'उत्पत्तिविनाशशील दुःख, शोक और मोहादि आत्मा के स्वरूप नहीं हो सकते और न धर्म ही हो सकते हैं, क्योंकि वे आत्मा से अत्यन्त भिन्न होने के कारण उसके धर्म क्योंकर होंगे ? बैल अश्व का कभी धर्म नहीं होता। यदि कहा जाय कि गो और अश्व का कोई सम्बन्ध न होने से धर्म-धर्मिभाव नहीं हो सकता, किन्तु दुःखित्वादि धर्मों का आत्मा में समवाय सम्बन्ध है। तो वैसा कहना संगत नहीं, क्योंकि वह सम्बन्ध दो भिन्न पदार्थों का है ? अथवा अभिन्न पदार्थों का ? एवं सम्बन्ध का सम्बन्धान्तर है ? अथवा नहीं ? इत्यादि विकल्पों का समाधान सुलभ नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाननुवृत्तेः। चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति—'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः। न चैवमात्मानमनुभवतः किञ्चिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते। तथा च श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४।४।२२) इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्शयति। स्मृतिरपि—'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' (गी० ३।१७) इति। यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थं एवावृत्त्यभ्युपगमः। तत्रापि न तत्त्वमसि-

भामती

इतश्च दुःखित्वादीनां न तादात्म्यमित्याह ❀ सुषुप्तादिषु च इति ❀। स्यादेतत्—कस्मादनुभवार्थं एवावृत्त्यभ्युपगमो यावता द्रष्टव्यः श्रोतव्य इत्यादिभिस्तत्त्वमसिवाक्यविषयादन्यविषयेवावृत्तिर्विधास्यत इत्यत आह ❀ तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थाद् इति ❀। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्याद्यात्मविषयं दर्शनं विधीयते। न च तत्त्वमसिवाक्यविषयादन्यदात्मदर्शनमाम्नातं येनोपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते स वाक्यार्थः। सदेव सोम्येदमिति चोपक्रम्य तत्त्वमसीत्युपसंहृत इति स एव वाक्यार्थः। ततः प्रत्याव्यावृत्तिमन्यत्र विदधानः प्रधानप्रक्रमेण विहन्ति वरो हि कर्मणाभिप्रेयमाणत्वात् सम्प्रदानं प्रधानम्। तमुद्वाहेन कर्मणाङ्गेन न विघ्नन्तीति। ननु विधिप्रधानत्वाद्वाक्यस्य न भूतार्थप्रधानत्वं भूतस्त्वर्थस्तदङ्ग-

भामती—व्याख्या

धर्मों का धर्मी से भेद भी माना जाय और अभेद भी ऐसा कभी सम्भव नहीं। इस विषय का उपपादन विशेषरूप से द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। इन सभी असंगतियों को ध्यान में रख कर भाष्यकार कह रहे हैं—"देहादिवदेव चैतन्याद् बहिरुपलभ्यमानत्वात्"। दुःखित्वादि का आत्मा के साथ तादात्म्य न होने में यह भी एक कारण है—"सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः"। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में चेतन्य की अनुवृत्ति होने पर भी दुःखित्वादि का भान नहीं होता, अतः दोनों का तादात्म्य क्योंकर होगा?

शङ्का—यह जो कहा गया कि यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते, तं प्रत्यनुभवार्थं एवावृत्त्यभ्युपगमः" अर्थात् आवृत्ति का उपयोग केवल अभेदानुभव (अभेद-साक्षात्कार) में है—ऐसा नियम नहीं कर सकते, क्योंकि "द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि पदों के द्वारा "तत्त्वमसि" इस वाक्य के विषयीभूत अभेद से भिन्न संपदादिरूप विषय में भी आवृत्ति का विधान किया जाता है।

समाधान—"तत्रापि न तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थात्"। अर्थात् 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्मविषयक दर्शन का विधान किया जाता है। "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों के विषय से अन्य कोई आत्मदर्शन प्रतिपादित नहीं, क्योंकि जिस विषय का उल्लेख उपक्रम और उपसंहार में किया जाता है, उसी विषय में वाक्य का तात्पर्य निहित होता है। प्रकृत में "सदेव सोम्येदं" (छां. ६।१।२) इस प्रकार एक सत्तत्त्व का उपक्रम में उल्लेख करके "तत्त्वमसि" (छां. ६।१।६) ऐसा उपसंहार किया गया है, अतः वही (जीवात्मभावरूप अभेद) ही वाक्यार्थ माना जाता है। इस अभेद साक्षात्कार से वृत्ति को हटा कर अन्यत्र (संपदादिरूप में) नियुक्त करना वैसा है, जैसा कि वर का घात करने के लिए कन्या का विवाह किया जाय। अङ्ग-विधान के द्वारा प्रधान का बाध करना सर्वथा अनुचित है। कन्यादानरूप क्रिया में अभिप्रेयमाण होने के कारण वर सम्प्रदान अत एव प्रधान है, उसका विवाहकर्मरूप अङ्ग के द्वारा घात करना अत्यन्त जघन्य अपराध है।

शङ्का—भावनाविशेष्यक शाब्दबोध-वाद में भावनारूप विध्यर्थ का ही प्राधान्य रहता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यार्थात्प्रत्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत्। न हि वरघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति। नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते। यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचोयुक्त्याऽभ्युपेयते। तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये तदुपायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः ॥ २ ॥

---

## २ आत्मत्वोपासनाधिकरणम्। सू० ३ )

## आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः, किं वा मदन्य इत्ये

भामती

तया प्रत्याय्यते। यथाहुः चोदना हि भूतं भवन्तमित्यादि शाबरं वाक्यं व्याचक्षाणाः—कार्यमर्थमवगमयन्ती चोदना तच्छेषतया भूतादिकमवगमयतीत्याशङ्क्याह ❀ नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहम् इति ❀। यथा तावद् भूतार्थपर्य्यवसिता वेदान्ता न कार्य्यविधिनिष्ठास्तथोपपादितं तत्तु समन्वयादित्यत्र। प्रत्युत विधिनिष्ठत्वे मुक्तिविरुद्धप्रत्ययोत्पादान्मुक्तिविहन्तृत्वमेवास्येत्यभ्युच्चयमात्रमत्रोक्तमिति ॥ २ ॥

---

यद्यपि तत्त्वमसीत्याद्याः श्रुतयः संसारिणः परमात्मभावं प्रतिपादयन्ति, तथापि तयोरपहतपा-

भामती—व्याख्या

है, भूतार्थ का नहीं। भूतार्थ तो भावना का सदैव अङ्ग रहता है, जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमेवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्" ( जै. सू. १।१।२ ) [ चादना ( विधि-वाक्य ) ही अतीत, वर्तमान, भावी, सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ-जसे विषयों का ज्ञान करा सकती ]। इस भाष्य की व्याख्या ( बृहती ) में कहा गया है—"कार्यमर्थंवगमयन्ती चोदना तच्छेषतया भूतादिकमप्यवगमयति"। अर्थात् कार्य ( अपूर्व ) अर्थ को मुख्यरूप से प्रतिपादित करती हुई चोदना (विधि) भूत ( सिद्ध ) अर्थ का कार्याङ्गत्वेन बोध कराती है। ब्रह्म एक सिद्ध पदार्थ है, अतः मुख्यविशेषरूप से उसका प्रतिपादन वेदान्त वाक्य क्योंकर कर सकेगा ? भाष्यकार ने यही कहा है—"नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहम्"।

**समाधान**-वेदान्त-शास्त्र में विधि के अर्थ का प्राधान्य नहीं, अपितु भूतार्थ को ही है—इस विषय पर पुष्कल प्रकाश "तत्तु समन्वयात्" ( ब्र० सू० १।१।३ ) इस सूत्र में डाला जा चुका है। [ मीमांसा मूर्धन्य श्री कुमारिल भट्ट ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि पूर्वमीमांसा में भाष्यकार श्री शबरस्वामी ने नास्तिकों को मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए केवल आत्मा की सत्ता प्रबल युक्तियों के द्वारा सिद्ध की है किन्तु आत्मा का प्रबोध ( साक्षात्कार ) तो वेदान्त के निषेवण से ही होता है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥
(श्लो० वा० पृ० ७२७) ॥ २ ॥

---

**संशय**—श्रवणादि के द्वारा ब्रह्म का ग्रहण क्या जीव 'अहं ब्रह्म'—इस रूप में करे ? अथवा 'मत्तो भिन्नं ब्रह्म'—इस रूप में ?

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

तद्विचारयति। कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति ? उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसम्भव इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते। किं तावत्प्राप्तम् ? नाहमिति ब्राह्मः। न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं, विपरीतगुणो वाऽपहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन। अपहतपाप्मादिगुणश्च परमेश्वरः, तद्विपरीतगुणस्तु शारीरः। ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्व ईश्वराभावप्रसङ्गः। ततः शास्त्रानर्थक्यम्। संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव प्रत्यक्षादिविरोधश्च। अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादिदर्शनमिति चेत्, काममेवं भवतु; ननु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्नः प्रापयितव्यम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः तथा हि—परमेश्वरप्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै

भामती

प्मत्वानपहतपाप्मत्वादिविलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गेण नानात्वस्य विनिश्चितत्वात् श्रुतेश्च तत्त्वमसीत्याद्या या मनो ब्रह्म आदित्यो ब्रह्मेत्यादिवत्प्रतीकोपदेशपरतयाप्युपपत्तेः प्रतीकोपदेश एवायम्। न च यथा समारोपितं सर्पत्वमनूद्य रज्जुत्वं पुरोवर्त्तिनो द्रव्यस्य विधीयत एवं प्रकाशात्मनो जीवभावमनूद्य परमात्मत्वं विधीयत इति युक्तम्। युक्तं हि पुरोवर्त्तिनि द्रव्ये द्राघीयसि सामान्यरूपेणालोचिते विशेषरूपेणागृहीते विशेषान्तरसमारोपणमिह तु प्रकाशात्मनो निर्विशेषसामान्यस्यापराधीनप्रकाशस्य नागृहीतमस्ति किञ्चिद्रूपमिति कस्य विशेषस्याग्रहे किं विशेषान्तरं समारोप्यताम् ? तस्माद् ब्रह्मणो जीवभावारोपासम्भवाज्जीवो जीवो ब्रह्म च ब्रह्मेति तत्त्वमसीति प्रतीकोपदेश एवेति प्राप्तम्। एवं प्राप्तेऽभिधीयते—श्वेतकेतोरात्मैव परमे-

भामती—व्याख्या

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि "तत्त्वमसि" ( छां० ६।८।७ ) इत्यादि श्रुतियाँ संसारी पुरुष (जीव) में ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन करती हैं। तथापि ब्रह्म में अपहतपाप्मत्वादि धर्म हैं, किन्तु जीव में उससे विरुद्ध पापमत्वादि धर्म हैं, अतः जीव और ब्रह्म का भेद निश्चित हो जाने के कारण "तत्त्वमसि" आदि अभेदार्थक श्रुतियों का तात्पर्य प्रतीकोपदेश में वैसे ही माना जा सकता है, जैसे—"मनो ब्रह्म", "आदित्यो ब्रह्म" इत्यादि स्थल पर होता है, अतः पाषाणादि की प्रतिमाओं में जैसे विष्णु आदि देवताओं के तादात्म्य का ध्यान किया जाता है, वैसे ही जीव में ब्रह्म-तादात्म्य का ध्यान करना चाहिए।

**शङ्का**—जैसे रज्जु में अध्यस्त सर्प का अनुवाद करके रज्जुत्व का पुरोवर्ती द्रव्य में विधान किया जाता है, वैसे ही प्रकाशात्मक वस्तु में जीवत्व का अनुवाद करके ब्रह्मत्व का विधान "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्यों से क्यों न मान लिया जाय ?

**समाधान**—दृष्टान्त और दार्ष्टान्त का महान् वैषम्य है, क्योंकि रज्जु एक सावयव और साकार द्रव्य है, उसका सामान्याकारमात्र गृहीत और त्रिवृतत्वादि विशेषाकार अगृहीत होने के कारण सर्परूप अन्य विशेषाकार का समारोप हो जाता है किन्तु सामान्य-विशेषभाव से रहित स्वतःप्रकाश तत्त्व का ग्रहण होने पर उसका कोई अगृहीत भाग रहता ही नहीं, तब अन्य विशेषाकार का आरोप वहाँ सम्भव न होने के कारण, उसका अनुवाद करके रूपान्तर का विधान वहाँ क्योंकर होगा ? फलतः जीव जीव रहेगा और ब्रह्म ब्रह्म, जीव को प्रतीक बनाकर ब्रह्म का ध्यान ही महावाक्यों के द्वारा विहित है, अभेदोपदेश नहीं।

**सिद्धान्त**—उद्दालक ऋषि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को मार्मिक उपदेश किया—"तत्त्वमसि श्वेतकेतो ?" ( छां. ६।८।७ )। इस उपदेश के द्वारा श्वेतकेतु को ब्रह्मरूप कहा गया है,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वमसि भगवो देवते' इति । तथाऽन्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवमादय आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः । ग्राहयन्ति चात्मत्वेनवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि—'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१), 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३), 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि । यदुक्तं—प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यतीति, तदयुक्तम्, गौणत्वप्रसङ्गात्, वाक्यवैरूप्याच्च । यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते, सकृदेव तत्र वचनं भवति । यथा—'मनो ब्रह्म' (छा० ३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३।१९।१) इत्यादि, इह पुनस्त्वमहमस्म्यहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेदप्रतिपत्तिः, भेददृष्टयपवादाच्च । यथा हि—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद' (बृ० १।४।१०), 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९, कठ० ४।१०), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४।५।७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति । यत्तूक्तं—न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसंभव इति, नायं दोषः, विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्तेः । यत्पुनरुक्तम्—ईश्वराभावप्रसङ्ग इति, तदसत्, शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च । नह्यीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छामः, किं तर्हि ? संसारिणः संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति । एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते । यदप्युक्तम्—अधिकार्यभावः प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति, तदप्यसत्, प्राक्प्रबोधात्संसारित्वा-

---

भामती

श्वरः प्रतिपत्तव्यो न तु श्वेतकेतोर्व्यतिरिक्तः परमेश्वरः । भेदे हि गौणत्वापत्तिर्न च मुख्यसम्भवे गौणत्वं युक्तम् । अपि च प्रतीकोपदेशे सकृद्वचनं तु प्रतीयते भेददर्शननिन्दा च । अभ्यासे हि भूयस्त्वमर्थस्य भवति, नाल्पत्वमतिदेश एवोपचरितत्वम् । तस्मात्पौर्वापर्य्यालोचनया श्रुतेस्तावज्जीवस्य परमात्मता वास्तवीत्येतत्परता लक्ष्यते । न च मानान्तरविरोधादत्राप्रामाण्यं श्रुतेः । न च मानान्तराविरोध इत्यादि तु सर्वमुपपादितं प्रथमेऽध्याये । निरंशस्यापि चानाद्यनिर्वाच्याविद्यातद्वासवासनारोपितविविधप्रपञ्चात्मनः

---

भामती—व्याख्या

श्वेतकेतु से भिन्न ब्रह्म नहीं। ब्रह्म को भिन्न मानने पर उक्त अभेदोपदेश वैसे ही गौणोपदेशमात्र होकर रह जाता है, जैसे माणवक को 'त्वं सिंहः'—ऐसा सिंहरूपता का गौणोपदेश। मुख्यरूपता सम्भव होने पर गौणरूपता युक्त नहीं मानी जाती।

दूसरी बात यह भी है कि जहाँ प्रतीकोपासना का उपदेश होता है, वहाँ अभीष्ट वाक्य का उच्चारण एक ही बार किया जाता है, बार-बार नहीं, किन्तु प्रकृत में "तत्त्वमसि" का उपदेश नौ बार किया गया है। इतना ही नहीं, भेद-दर्शन की निन्दा भी की गई है—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति" (बृह. उ. ४।४।१९) [अर्थात् जो जीव अपना ब्रह्म से भेद समझता है, वह एक मृत्यु के भँवर से निकल कर दूसरी मृत्यु के भँवर में पड़ता रहता है। अभ्यास (बार-बार के कहने) से प्रतिपाद्य वस्तु के निखार में भूयस्त्व (आधिक्य) ही आता है, अल्पत्व नहीं, औपचारिकता तो दूर रही। निरुक्त भी कहता है—"अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" (निरु. १०।४२)। ब्रह्मसिद्ध (पृ. ६) में भी ऐसा ही कहा है]। इस प्रकार पूर्वापर की आलोचना से यह तथ्य स्थिर हो जाता है कि श्रुति-प्रतिपादित जीव की ब्रह्मरूपता वास्तविक है। प्रमाणान्तर के विरोध से श्रुति में अप्राभाण्य नहीं आ सकता और प्रमाणान्तर का विरोध है भी नहीं—यह सब कुछ प्रथम अध्याय में सिद्ध किया जा चुका है। यद्यपि ब्रह्म निरंश और नीरूप है, तथापि अनादि-अनिर्वचनीय अविद्या से जनित

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्युपगमात्, तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' ( बृ० २।४।१४ ) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति। प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत्, न, इष्टत्वात्। 'अत्र पिताऽपिता भवति' ( बृ० ४।३।२२ ) इत्युपक्रम्य 'वेदा अवेदाः' ( बृ० ४।३।२२ ) इति वचनादिष्यत एवास्माभिः श्रुतेरप्यभावः प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रबोध इति चेत्, यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदामः। नन्वहमीश्वर एवोक्तः श्रुत्या, यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि, नास्ति कस्यचिदप्रबोधः। योऽसि दोषश्चोद्यते कैश्चित्—अविद्यया किलात्मनः सद्वितीयत्वादद्वैतानुपपत्तिरिति, सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः। तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत ॥ ३ ॥

---

## ( ३ प्रतीकाधिकरणम्। सू० ४ )

### न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' ( छा० ३।१८।१ ) तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश' ( छा० ३।१९।१ ) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' ( छा० ७।१।५ ) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः—किं तेष्वप्यात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति। किं तावत्प्राप्तम्? तेष्वप्यात्माग्रह एव युक्तः कर्तुम्। कस्मात्? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन

भामती

सांशस्येव कस्यचिदंशस्याग्रहणाद्विभ्रम इव परमार्थस्तु न विभ्रमो नाम कश्चिन्न च संसारो नाम किन्तु सर्वमेतत्सर्वानुपपत्तिभाजनत्वेनानिर्वचनीयमिति युक्तमुत्पश्यामः। तदनेनाभिसन्धिनोक्तम् ॐ यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि नास्ति कस्यचिदप्रतिबोधः इति ॐ। अन्येऽप्याहुः—

यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वदेति। अतिरोहितार्थमन्यदिति ॥ ३ ॥

---

यथा हि शास्त्रोक्तं शुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मात्मत्वेनैव जीवेनोपास्यतेऽहं ब्रह्मास्मि तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्यादिषु तत् कस्य हेतोर्जीवात्मनो ब्रह्मरूपेण तात्त्विकत्वादद्वितीयत्वमिति श्रुतेश्च। जीवात्मानश्चा-

भामती—व्याख्या

संस्कारों के द्वारा ब्रह्म में समस्त प्रपञ्च आरोपित होने के कारण ब्रह्म सांश-जैसा प्रतीत होता है, अतः उसका आनन्दत्व-असङ्गत्वादि अंश अगृहीत है—ऐसा भ्रम सम्भव है, वस्तुतः न तो कोई भ्रम ही है और न संसार, किन्तु समस्त अनुपपत्तियों का भाजन यह जगत् अनिर्वचनीयमात्र है। इस आशय से कहा है—"यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि, नास्ति कस्यचिद् प्रबोधः"। आचार्य प्रज्ञाकर ने भी ऐसा ही कहा है—"यद्यद्वैतेन तोषोऽस्ति मुक्त एवासि सर्वदा" (प्र. वा. पृ. ५७) अर्थात् हे शिष्य! यदि इस अद्वैतवाद से तुझे सन्तोष है, तब तू निश्चित रूप से मुक्त है, क्योंकि तीनों कालों में द्वैत के न होने पर द्वैतप्रतियोगिक अभावरूप अद्वैत की उपपत्ति सन्तोष-जनक हो जाती है ॥ ३ ॥

---

**संशय**—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" ( छां. १।१८।१ ) इत्यादि प्रतीकोपासनाओं में अहं-ग्रह भावना करनी चाहिए? अथवा नहीं?

**पूर्वपक्ष**—जैसे शास्त्रोक्त शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप ब्रह्म की आत्मतया उपासना "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित है। वह क्यों? वह इसलिए कि "अद्वितीयम्" ( छां. ६।२।१ ] इत्यादि श्रुतियों ने जीव ब्रह्म का तादात्म्य सिद्ध किया है। जीवगण अविद्यारूप दर्पण में प्रतीयमान ब्रह्म के प्रतिबिम्ब हैं। वैसे ही जहाँ-जहाँ "मनो 'ब्रह्म'

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति ।
एवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममति ब्रूयात् । न हि स उपासकः प्रतीकानि

भामती

विद्यादर्पणा ब्रह्मप्रतिबिम्बकाः यथा, तथा यत्र यत्र मनो ब्रह्मादित्यो ब्रह्मेत्यादिषु ब्रह्मदृष्टेरुपदेशस्तत्र सर्वत्राहं मन इत्यादि द्रष्टव्यम् । ॐ ब्रह्मणो मुख्यमात्मत्वम् इति ॐ । उपपन्नञ्च मनःप्रभृतीनां ब्रह्मविकारत्वेन तादात्म्यम् । घटशरावोदञ्चनादीनामिव मृद्विकाराणां मृदात्मकत्वम् । तथा च तादृशानां प्रतीकोपदेशानां क्वचित् कस्यचिद्विकारस्य प्रविलयावगमाद्भेदप्रपञ्चप्रविलयपरत्वमेवेति प्राप्ते ।

उच्यते—न तावदह ब्रह्मेत्यादिभिर्यथाहङ्कारास्पदस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते एवं मनो ब्रह्मेत्यादिरहङ्कारास्पदत्वं मनःप्रभृतीनां, किन्त्वेषां ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वमहङ्कारास्पदस्य ब्रह्मतया ब्रह्मत्वेनोपासनीयेषु मनःप्रभृतिष्वपि अहङ्कारास्पदत्वेनोपासनमिति चेत्, न, एवमादिष्वहमित्यश्रवणात् । ब्रह्मात्मतया त्वहङ्कारास्पदत्वकल्पने तत्प्रतिबिम्बस्येव तद्विकारान्तरस्याप्याकाशादेर्मनःप्रभृतिषूपासनप्रसङ्गः । यस्माद्यस्य यन्मात्रात्मतयोपासन विहितं तस्य तन्मात्रात्मतयैव प्रतिपत्तव्यं यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायान्नाधिकमध्याहृत्तव्यमतिप्रसङ्गात् । न च सर्वस्य वाक्यजातस्य प्रपञ्चस्य विलयः प्रयोजनं तदर्थत्वे हि मन इति प्रतीकग्रहणमनर्थक विश्वमिति वाच्यम्, यथा सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति । न च सर्वोपलक्षणार्थं मनोग्रहणं युक्तम्, मुख्यार्थसम्भवे लक्षणाया अयोगात् । आदित्यो ब्रह्मेत्यादीनां चानर्थक्यापत्तेः । ॐ नह्युपासकः प्रतीकानि इति ॐ । अनुभवद्वारा प्रतीकानां मनःप्रभृतीनामात्मत्वे-

भामती—व्याख्या

"आदित्यो ब्रह्म" -इस प्रकार ब्रह्मदृष्टि का उपदेश है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र 'सहं मनः'—इत्यादि रूप में ब्रह्माभिन्न जीव का तादात्म्य विवक्षित है । मन आदि पदार्थ ब्रह्म के विकार होने के कारण वैसे ही ब्रह्म से तादात्म्यापन्न हैं, जैसे घट, शराब, उदञ्चनादि मृन्मय पात्र मृत्तिका से तादात्म्यापन्न होते हैं । प्रतीकोपदेशों का परम प्रयोजन यह है कि मन आदि प्रतीकोलक्षित समस्त प्रपञ्च का प्रविलापन परम प्रकृति में करके 'तत्त्वमसि' आदि मुख्य उपदेशों का मार्ग प्रशस्त करना ।

**सिद्धान्त**—जैसे "अहं ब्रह्म" इत्यादि उपदेशोंके द्वारा अहङ्कारास्पद ( जीव ) पदार्थ में ब्रह्मात्मत्व अभिहित है, वैसा "मनो ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों के द्वारा मन आदि प्रतीकों में अहङ्कारास्पदत्व स्पष्ट प्रतिपादित नहीं, अपितु मन आदि में ब्रह्मत्वेन उपास्यता अभिहित है । यद्यपि अहङ्कारास्पदीभूत जीव ब्रह्मरूप ही है, अतः मन आदि की ब्रह्मत्वेन उपासना का पर्यवसान मन आदि की जीवत्वेन उपासना में हो सकता है । तथापि मन आदि के लिए 'अहम्'—ऐसा कहीं श्रुत नहीं । ब्रह्मात्मत्व के माध्यम से अहङ्कारास्पदत्व की कल्पना करने पर घटादि विकारान्तरोंमें भी वैसे ही उपासना प्रसक्त होगी, अतः जिस पदार्थ की जिस रूप में उपासना श्रुत है, उसी पदार्थ को उसी रूप में उपासना करनी चाहिए, अधिक अध्याहार करना उचित नहीं, जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"यावद्वचनं वाचनिकं भवति" (शाबर. पृ. १०१४) । अर्थात् विधि-वचन की सीमा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए, अन्यथा अतिप्रसङ्ग हो जाता है ।

यह जो कहा था कि सभी वाक्यों का प्रयोजन प्रपञ्च का प्रविलय है । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वैसा प्रयोजन मानने पर मन का प्रतीक के रूप में ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता है, मन के स्थान पर 'विश्वम्'—ऐसा कहना चाहिए था, जैसे कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" । सर्व-वाचक विश्वादि पदों के द्वारा जब मुख्यरूप से सर्वार्थ की उपस्थिति कराई जा सकती है, तब 'मनः' पद को सर्व का उपलक्षक मानना व्यर्थ है, तब 'मनः' पद की सर्वार्थ में लक्षणा करने पर 'आदित्यो ब्रह्म' इत्यादि वाक्य अनर्थक हो

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत् । यत्पुनः—ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति, तदसत्, प्रतीकाभावप्रसङ्गात् । विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति । स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुत प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा ? नच ब्रह्मण आत्मत्वाद् ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या, कर्तृत्वाद्यनिराकरणात् । कर्तृत्वादिसर्वसंसारधर्मनिराकरणे हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः । तदनिराकरणेन चोपासनविधानम् । अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते । नहि रुचक स्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति, सुवर्णात्मत्वेनेव तु ब्रह्मात्मत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवो-

भामती

नाकलनं श्रुतेर्वा, न त्वेतदुभयमस्तीत्यर्थः । ❀ प्रतीकाभावप्रसङ्गाद् इति ❀ । ननु यथावच्छिन्नस्याहङ्कारास्पदस्यानवच्छिन्नब्रह्मात्मतया भवत्यभाव एवं प्रतीकानामपि भविष्यतीत्यत आह ❀ स्वरूपोपमर्दे च नामादीनाम् इति ❀ । इह हि प्रतीकान्यहङ्कारास्पदत्वेनोपास्यतया प्रधानत्वेन विवक्षितानि न तु तत्त्वमसीत्यादावहङ्कारास्पदमुपास्यमवगम्यते किन्तु सर्पत्वानुवादेन रज्जुतत्त्वज्ञापन इवाहङ्कारास्पदस्यावच्छिन्नस्य प्रविलयोऽवगम्यते । किमतो यद्येवम् ? एतवतो भवति । प्रधानीभूतानां न प्रतीकानामुच्छेदो युक्तो न च तदुच्छेदे विधेयस्याप्युपपत्तिरिति । अपि च ❀ न च ब्रह्मण आत्मत्वाद् इति ❀ । नह्युपासनविधानानि जीवात्मनो ब्रह्मस्वभावप्रतिपादनपरैस्तत्त्वमस्यादिसन्दर्भैरेकवाक्यभावमापद्यन्ते येन तदेकवाक्यतया ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्पेत भिन्नप्रकरणत्वात्तथा च तत्र यथा लोकप्रतीतिव्यवस्थितो जीवः कर्त्ता भोक्ता च संसारी न ब्रह्मेति कथं तस्य ब्रह्मात्मतया ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिरुपदिश्येतेत्यर्थः । ❀ अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वाद् इति ❀ । यद्यप्युपासको जीवात्मा न ब्रह्मविकारः, प्रतीकानि तु मनःप्रभृतीनि ब्रह्मविकारस्त-

भामती—व्याख्या

जाते हैं । "न हि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तानि" । इस भाष्य का आशय यह है कि मन आदि प्रतीकों का आत्मत्वेन आकलन अनुभव के द्वारा किया जाता है ? अथवा श्रुति के द्वारा ? ये दोनों पक्ष सम्भव नहीं । "प्रतीकाभावप्रसङ्गात्", जैसे अवच्छिन्न जीव का अनवच्छिन्न ब्रह्मरूपता की अवस्था मे अभाव हो जाता है, वैसे ही मन आदि प्रतीकों का अभाव क्यों न मान लिया जाय ? इस शङ्का को दूर करने के लिए कहा है—'स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वम्" । यहाँ मन आदि प्रतीकों और अहङ्कारास्पदीभूत जीव का यह महान् अन्तर है कि प्रतीकोपासनाओं में प्रतीकों का प्राधान्य विवक्षित है, अतः यथानिर्दिष्ट प्रतीक के स्वरूप की रक्षा करनी होगी, किन्तु 'तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्यों में अहङ्कारस्पद (जीव) उपास्यत्वेन अवगमित नहीं, अपितु भ्रम-स्थल पर जैसे सर्पत्वादि धर्मों का अनुवाद करके रज्जुतत्त्व का विधान किया जाता है, वैसे ही महावाक्यों के द्वारा अवच्छिन्न जीव का अनवच्छिन्न ब्रह्म में विलापन किया जाता है । इससे क्या हुआ ? हुआ यह कि प्रधानीभूत प्रतीकों का उच्छेद उचित नहीं, उनका उच्छेद होने से उपासना-विधान भी अनुपपन्न हो जाता है । "न च ब्रह्मण आत्मत्वात्" । अर्थात् उपासना-विधायकों के साथ अभेदार्थक "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों के साथ एकवाक्यता भी नहीं कि जिसके आधार पर ब्रह्म का अभेद मान कर जीवरूपेण प्रतीकोपासना की कल्पना हो जाती । वस्तु-स्थिति यह है कि उन दोनों के प्रकरण ही भिन्न हैं, अतः उपासना-काल में लोक-प्रतीति के अनुसार जीव को कर्त्ता, भोक्ता, संसारी मानना होगा, ब्रह्मरूप नहीं, फलतः ब्रह्मरूपेण उपासनाओं के विधायक वाक्यों का तात्पर्य जीवरूपेण उपासना में स्थिर नहीं किया जा सकता । "अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वात्" । यद्यपि उपासक जीवात्मा ब्रह्म का विकार नहीं और मन आदि प्रतीक-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाम । अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥

---

## ( ४ ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम् । सू० ५ )

### ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः, किं वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति । कुतः संशयः ? सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात् । अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते, आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म विद्युद् ब्रह्मेत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात् । न चात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते, अर्थान्तरवचनत्वाद् ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम् । नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम् । ननु प्रकृतिविकारभावाद् ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यं स्यात्,—नेत्युच्यते, विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात् । ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम । परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्, ततश्चोपासनाधिकारो वाध्येत । परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम् । तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यत्रान्यदृष्ट्यध्यासे सति क्व किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः । तत्रानियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम् । अथवाऽऽदित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येव प्राप्तम् । एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति, ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा । तस्मान्न ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति । कस्मात् ? उत्कर्षात् ।

---

भामती

याप्यवच्छिन्नतया जीवात्मनः प्रतीकैः साम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ४ ॥

---

यद्यपि सामानाधिकरण्यमुभयथापि घटते, तथापि ब्रह्मणः सर्वाध्यक्षतया फलप्रसवसामर्थ्येन फलवत्त्वात् प्राधान्येन तदेवादित्यादिदृष्टिभिः संस्कर्तव्यमित्यादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्येव कर्तव्या न तु ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिषु । न चैवंविधेऽवधृते शास्त्रार्थे निकृष्टदृष्टिर्नोत्कृष्ट इति लौकिको न्यायोऽपवादाय प्रभवत्यागमावरोधेन तस्यैवापोदित्वादिति पूर्वपक्षसंक्षेपः । सत्यं सर्वाध्यक्षतया फलदातृत्वेन ब्रह्मण

---

भामती—व्याख्या

पदार्थ ब्रह्म के विकार हैं, अतः दोनों की समता नहीं बनती । तथापि अवच्छिन्न होने के कारण जीवों का प्रतीकों के साथ साम्य सुलभ है ॥ ४ ॥

---

**संशय**—कथित उदाहरणों में सन्देह होता है कि क्या ब्रह्म में आदित्यादि-भावनाओं का अध्यास अभिमत है ? अथवा आदित्यादि प्रतीकों में ब्रह्म-दृष्टि का अध्यास ?

**पूर्वपक्ष**—यद्यपि 'आदित्यो ब्रह्म'—ऐसा सामानाधिकरण्य तो दोनों पक्षों में घट जाता है । तथापि ब्रह्म सर्वाध्यक्ष होने के कारण सभी फलों के देने का सामर्थ्य रखता है, अतः वही ( ब्रह्म ही ) आदित्यादि-दृष्टियों के द्वारा संस्कार्य है । इस प्रकार ब्रह्म में ही आदित्यादि-दृष्टि करनी चाहिए, आदित्यादि में ब्रह्म-दृष्टि नहीं । यद्यपि आदित्यादि निकृष्ट और ब्रह्म उत्कृष्ट है, अतः ब्रह्म में आदित्यादि की दृष्टि करने पर 'निकृष्टदृष्टिर्नोत्कृष्टे कार्या'—इस लौकिक न्याय का उल्लङ्घन होता है । तथापि आगम के द्वारा उसका अपवाद अपने क्षेत्र में हो जाता है ।

**सिद्धान्त**—यद्यपि सर्वाध्यक्ष और फल-दाता होने के कारण सर्वत्र वास्तविक

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति, उत्कृष्टदृष्टेष्वध्यासात्। तथा च लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति। उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः। यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि। स चानुसर्तव्यः, विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात्। नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात्। ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गः, न च लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति। अत्रोच्यते निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात्, संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते। तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन् प्रत्यवेयादिति शिलष्यते। प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद् ग्रहीतव्यम्। तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ, पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या

भामती

एव सर्वत्र वास्तवं प्राधान्यं तथापि शब्दगत्यनुरोधेन क्वचित् कर्मण एव प्राधान्यमवसीयते। यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः, चित्रया यजेत पशुकाम इत्यादौ। अत्र हि सर्वत्र यागाद्याराधिता यद्यपि देवतैव फलं प्रयच्छतीति स्थापितं, तथापि शब्दतः कर्मणः करणत्वावगमेन फलत्वप्रतीतेः प्राधान्यम्। क्वचिद् द्रव्यस्य यथा व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यादौ। तदुक्तम्—"येस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत" इति। तदिह यद्यपि सर्वाध्यक्षतया वस्तुतो ब्रह्मैव फलं प्रयच्छति, तथापि शास्त्रं ब्रह्म बुद्ध्यादित्यादौ प्रतीक उपास्यमाने ब्रह्म फलाय कल्पते इति अभिवदति किं त्वादित्यादिबुद्ध्या ब्रह्मैव विषयीकृतं फलायेत्युभयथापि ब्रह्मणः सर्वाध्यक्षस्य फलदानोपपत्तेः शास्त्रार्थसन्देहे लोकानुसारतो निश्चीयते। तदिदमुक्तम् ॐ निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्याद् इति ॐ। न केवलं लौकिको न्यायो निश्चये हेतुरपि तु आदित्यादिशब्दानां प्राथम्येन मुख्यार्थत्वमपीत्याह ॐ प्राथम्याच्च इति ॐ। इतिपरत्वमपि ब्रह्मशब्दस्यामुमेव न्यायमवगमयति। तथाहि—स्वरसवृत्त्या आदित्यादिशब्दा यथा स्वार्थे वर्त्तन्ते तथा

भामती-व्याख्या

प्राधान्य ब्रह्म का ही है। तथापि शाब्दिक मर्यादा के अनुसार कहीं-कहीं कर्म का प्राधान्य माना जाता है, जैसे "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः" "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादि स्थलों पर। यद्यपि यागादि के द्वारा आराधित इन्द्रादि देवता ही फल देते हैं, तथापि शब्दतः दर्शादि कर्मों में करणता-व्याप्त फलवत्ता अवगत होती है, अतः कर्मों का प्राधान्य पर्यवसित होता है। क्वचित् व्रीहि आदि द्रव्य का प्राधान्य होता है, जैसे "व्रीहीन् प्रोक्षति"—इत्यादि में। महर्षि जैमिनि ने कहा है—"येस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रनीयते" (जै. सू २।१८) [ अर्थात् जिन कर्मों के द्वारा प्रधानभूत व्रीहि आदि द्रव्यों का संस्कार किया किया जाता है, ऐसे प्रोक्षणादि कर्म गुण कर्म कहलाते हैं ]।

प्रकृत में यद्यपि सर्वाध्यक्ष होने के कारण ब्रह्म ही फल-दाता है, तथापि (सिद्धान्त) शास्त्र यह कहता है कि आदित्यादि प्रतीकों की ब्रह्मबुद्धया उपासना करने पर ब्रह्म फल देता है अथवा (पूर्वपक्ष के अनुसार) आदित्यादि-भावना से भाव्यमान ब्रह्म फल देता है, उभयथा ब्रह्म सर्वाध्यक्ष है, अतः उसमें फलदातृत्व उपपन्न हो जाता है। शास्त्र में सन्देह हो जाने पर लौकिक न्याय के अनुसार निश्चय किया जाता है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात्, सन्दिग्धे तु"। केवल लौकिक न्याय ही निश्चय का हेतु नहीं, अपितु आदित्यादि शब्दों का प्राथम्योपस्थान-प्रयुक्त मुख्यार्थत्व भी निर्णायक है—"प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानाम्"। जिस शब्द के उत्तर 'इति' शब्द का प्रयोग होता है, वह भी उसी न्याय का गमक होता है, क्योंकि स्वरसतः 'आदित्यादि' शब्द जैसे स्वार्थ-बोधन में प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही 'ब्रह्म' शब्द भी स्वार्थाभिधान में प्रवृत्त होगा, यदि उसका स्वार्थ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामानाधिकरण्यासंभवाद् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठते । इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः । तथा हि 'ब्रह्मन्यादेशः', 'ब्रह्मेत्युपासीत', 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेतिपरं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति, शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान् । ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र, शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः । प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति, नतु तत्र रजतमस्ति । एवमत्राप्यादित्यादीन् ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते । वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान् दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' ( छा० ३।१९।४ ), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' ( छा० ७।२।२ ), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' ( छा० ७।४।३ ) इति च । यत्तूक्तम्—ब्रह्मोपासनमेवात्रादरणीयं फलत्वायेति,—तदयुक्तम्, उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवोपास्यत्वावगमात् । फलं त्वतिथ्याद्युपासन इव आदित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति, सर्वाध्यक्षत्वात् । वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्तेः' ( ब्र० सू० ३।२।३८ ) इत्यत्र । ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं, यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं—प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम् ॥ ५ ॥

---

## ( ५ आदित्यादिमत्यधिकरणम् । सू० ६ )

### आदित्यादिमतयश्च ङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' ( छा० १।३।१ ), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' ( छा० २।२।१ ), 'वाचि सप्तविधं सामोपसीत' ( छा० २।८।१ ), 'इयमेवर्गग्निः साम' ( छा० १।६।१ ) इत्येवमादिष्वङ्गावबद्धेषूपासनेषु संशयः—किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते, किं वोद्गीथादिष्वेवादित्यादिदृष्टय इति ।

भामती

ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थे वर्त्स्यति, यदि स्वार्थोऽस्य विवक्षितः स्यात् । तथा चेतिपरत्वमनर्थकं तस्मादितिना स्वार्थात् प्रच्याव्य ब्रह्मपदं ज्ञानपरं स्वरूपपरं वा कर्तव्यम् । न च ब्रह्मपदमादित्यादिपदार्थ इति प्रतीतिपर एवायमितिपरः शब्दो यथा गौरिति मे गवयोऽभवदिति । तथाच आदित्यादयो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्या इत्यर्थो भवतीत्याह ॐ इति परत्वादपि ब्रह्मशब्दस्य इति ॐ । शेषमतिरोहितार्थम् ॥ ५ ॥

---

भामती—व्याख्या

विवक्षित है । तब 'इति' शब्द का प्रयोग निरर्थक हो जाता है, अतः 'इति' शब्द 'ब्रह्म' पद को अपने स्वार्थाभिधान से च्युत ( निवृत्त ) करके ज्ञानपरक या स्वरूपमात्रपरक सिद्ध करेगा । जैसे 'गौरिति मे गवयः'—यहाँ इतिपरक 'गो' पद गवयार्थक है, वैसे इतिपरक 'ब्रह्म' पद आदित्यार्थक होगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंजि तब तो 'आदित्यादयो ब्रह्म इति प्रतिपत्तव्याः' ऐसा अर्थ होगा—' इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैव एवार्थो न्याय्यः'' । शेष भाष्य स्पष्टार्थक है ॥ ५ ॥

---

**संशय**—"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" ( छां. १।३।१ ) इत्यादि अङ्गावबद्ध उपासना-स्थलों पर क्या आदित्यादि में उद्गीथादि की भावना करनी चाहिए? अथवा उद्गीथादि में आदित्यादि की दृष्टि ?

**पूर्वपक्ष**—उद्गीथादि और आदित्यादि में किसी प्रकार का उत्कर्षापकर्ष न होने के कारण कोई नियम नहीं किया जा सकता, अतः अनियम ही प्राप्त होता है ।

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रानियमः, नियमकारणभावादिति प्राप्तम्। नह्यत्र ब्रह्मण इव कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते। ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादिगुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुम्, न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति। अथवा—नियमेनोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्। कस्मात्? कर्मात्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः। उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति। तथा च 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इत्यृक्शब्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निम्, तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते, न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम्। क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते, न राजनि क्षत्तृशब्दः। अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इत्यधिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते। 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इति चैतदेवं दर्शयति। प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम्—'आदित्यो

भामती

॥ अथवा नियमेनोद्गीथादिमतयश्चादित्यादिष्वध्यस्येरन् इति ॥। सत्स्वपि आदित्यादिषु फलानुत्पादादुत्पत्तिमतः कर्मण एव फलवत्तथा चादित्यादिमतिभिर्यद्युद्गीथादिकर्माणि विषयीक्रियेरन् तत आदित्यादिदृष्टिभिः कर्मरूपाण्यभिभूयेरन्। एवञ्च कर्मरूपेष्वसत्कल्पेषु कुतः फलमुत्पद्येत? आदित्यादिषु पुनरुद्गीथादिदृष्टावुद्गीथबुद्धथोपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलाय कल्पिष्यन्त इति। अत एव च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोग उपपन्नो यतः पृथिव्यामृग्दृष्टिरध्यस्ताग्नौ च सामदृष्टिः। साग्नि पुनरग्निदृष्टौ ऋचि च पृथिवीदृष्टौ विपरीतं भवेत्। तस्मादप्येतदेव युक्तमित्याह ॥ तथा चेयमेव इति ॥। उपपत्त्यन्तरमाह ॥ अपि च लोकेषु इति ॥। एवं खल्वधिकरणनिर्देशो विषयत्वप्रतिपादनपर उपपद्यते, यदि लोकेषु सामदृष्टिरध्यस्येत नान्यथेति। पूर्वाधिकरणसिद्धान्तोपपत्तिमत्रैवार्थे ब्रूते ॥ प्रथमनिर्दिष्टेषु च इति ॥। सिद्धान्तमत्र प्रक्रमते ॥ आदित्यादिमतय एव इति ॥।

भामती—व्याख्या

"अथवा नियमेनैवोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्" आदित्यादि के रहने पर भी फल की उत्पत्ति नहीं होती, उत्पत्तिमान् कर्म से ही फल होता है, अतः कर्म ही फलवान् है। यदि आदित्यादि-दृष्टि के द्वारा उद्गीथादि कर्मों को षिषय किया जाता है, तब आदित्यादि-दृष्टियों से कर्म अभिभूत हो जाता है, कर्म के अभिभूत या असत्प्राय हो जाने के कारण फल किससे उत्पन्न होगा? किन्तु आदित्यादि में उद्गीथादि-दृष्टि करने पर आदित्यादि भी उद्गीथादि-भावना के द्वारा उपास्यमान् होकर कर्मरूपेण फल की उत्पत्ति कर सकते हैं। अत एव पृथिवी और अग्नि में ऋक् और साम शब्दों का प्रयोग उपपन्न हो जाता है, क्योंकि पृथिवी में ऋक्-दृष्टि और अग्नि में साम-दृष्टि अध्यस्त होती है। यदि साम में अग्नि-दृष्टि तथा ऋचा में पृथिवी-दृष्टि की जाती है, तब विपरीत हो जायगा, इस लिए भी यही युक्ततर है—"तथा चेयमेव ऋग्, अग्निः साम"। अन्य उपपत्ति दिखाई जाती है—"अपि च लोकेषु पञ्चविधं साम"। इस प्रकार लोकेषु—इत्यादि सप्तम्यन्त पदों के द्वारा लोकादि का अधिकरणरूप में निर्देश उपपन्न हो जाता है, क्योंकि अधिकरणता का पर्यवसान विषयता में हो जाता है। यदि लोकों में साम-दृष्टि का अध्यास किया जाता है, तभी यह उपपत्ति संगत होती है, अन्यथा नहीं। पूर्वाधिकरण के सिद्धान्त की उपपत्ति इसी अर्थ में बताई जाती है—"प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु"।


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मेत्यादेशः' ( छा० ३।१९।१ ) इत्यादिषु। प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिश्रुतिषु। अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमतिनिक्षेप इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्। कुतः? उपपत्तेः। उपपद्यते ह्येवमपूर्वसन्निकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१० ) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम्—'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिषु? तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसन्निकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता, गोदोहनादिनियमवत्। फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षो-

भामती

यद्युद्गीथादिमतय आदित्यादिषु क्षिप्येरन् तत आदित्यादीनां स्वयमकार्य्यत्वादुद्गीथादिमतेस्तत्र वैयर्थ्यं प्रसज्येत। नह्यादित्यादिभिः किञ्चित् क्रियते यद्विद्यया वीर्य्यवत्तरं भवेत्, आदित्यादिमत्या विद्ययोद्गीथादिकर्मसु कार्य्येषु यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्य्यवत्तरं भवतीत्यादित्यमतीनामुपपद्यते उद्गीथादिषु संस्कारकत्वेनोपयोगः। चोदयति ॐभवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवम् इतिॐ। यत्र हि कर्मणः फलं तत्रैव भवतु यत्र तु गुणात् फलं तत्र गुणस्य सिद्धत्वेनाकार्य्यत्वात् करोतीत्येव नास्तीत्यत्र विद्यायाः क उपयोग इत्यर्थः। परिहरति ॐतेष्वपि इतिॐ। न तावद्गुणः सिद्धस्वभावः कार्य्याय फलाय पर्य्याप्तो मा भूत् सर्वदा फलोत्पादो मा च भूत् प्रकृतकर्मानिवेशिनो यत्किञ्चित् फलोत्पादः। तस्मात् प्रकृतापूर्वसन्निवेशितः फलोत्पाद इति। तस्य क्रियमाणत्वेन विद्यया वीर्य्यवत्तरत्वोपपत्तिरिति। ॐ फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनाम् इति ॐ।

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—"आदित्यादिमतय एव"। यदि आदित्यादि में उद्गीथादि-दृष्टियों का अध्यास होगा, तब आदित्यादि स्वयं कर्मात्मक न होने के कारण उनमें उद्गीथादि-दृष्टि निष्फल हो जाती है, क्योंकि आदित्यादि स्वयं फलोत्पादक नहीं कि उनकी विद्या (उपासना) से वीर्यवत्तरता प्राप्त होती। उद्गीथादि कर्म फल-प्रद हैं, अतः उनमें आदित्यादि-दृष्टिरूप विद्या ( भावना ) से वीर्यवत्तरता ( सामर्थ्यातिशयता ) आती है, अतः आदित्यादि-भावना का उद्गीथादिगत संस्कार की जनकता में उपयोग हो जाता है।

शङ्का—"भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवम्"। जहाँ कर्म ( उद्गीथादि ) से फल उत्पन्न होता है, वहाँ संस्कारक दृष्टियों का उपयोग हो सकता है, किन्तु जहाँ "लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" ( छां० २।२।१ ) इत्यादि श्रुतियों से विहित पञ्चविधत्वरूप गुण का फल बताया गया है—"कल्पन्ते हास्मै लोकाः, य एतदेवं विद्वान् लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" ( छां० २।३।३ ) [अर्थात् पञ्चविध साम के उपासक पुरुष को सभी लोक गमनागमन से लेकर समस्त भोगों के प्रदान में समर्थ होते हैं ]। ऐसे फल-प्रद गुण क्रियात्मक ( कर्मरूप ) न होने से न तो पुरुष-कृति के द्वारा साध्य हैं और न संस्कार्य, अतः संस्कारक दृष्टियों का क्या उपयोग?

समाधान—तेष्वप्यधिकृताधिकारात्"। अर्थात् गुणपदार्थ सिद्धस्वभाव के होकर फल के जनक नहीं माने जाते, क्योंकि सिद्ध पदार्थ यदि फल का जनक है, तब फल का उत्पादन सदैव होता रहेगा। प्रकृत कर्म-प्रविष्ट गुण को फल-जनक मानने पर कर्मानिवेशी गुण को निष्फल मानना होगा। फलतः प्रकृतापूर्व के जनकीभूत गुण को ही फल का उत्पादक मानना न्यायोचित है, ऐसा गुण तो सिद्धरूप न होकर साध्य या क्रियमाण होने के कारण विद्या ( उपासना ) में वीर्यवत्तरत्व का उपपादक हो जाता है। "फलात्मत्वाच्चादित्यादीनाम्"।

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पपत्तिः । आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं श्रुतिषु । अपि 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'एतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति । यत्तूक्तम्—उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूयं भूत्वा फलं करिष्यन्तीति । तदयुक्तम्, स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः, आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामुद्गीथादीनां कर्मात्मकत्वानपायात् । 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' ( छा० १।६।१ ) इति तु लाक्षणिक एव पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः । लक्षणा च यथासम्भवं सन्निकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसम्बन्धेन प्रवर्तते । तत्र यद्यप्यृक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा, तथापि प्रसिद्धयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च सन्निधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोग ऋक्सामसम्बन्धादिति निश्चीयते । क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते । 'इयमेवर्क्' (छा० १।६।१ )

भामती

यद्यपि ब्रह्मविकारत्वेनादित्योद्गीथयोरविशेषस्तथापि फलात्मकत्वेनादित्यादीनामस्त्युद्गीथादिभ्यो विशेष इत्यर्थः । द्वितीयानिर्देशादप्युद्गीथादीनां प्राधान्यमित्याह ॐअपि चोम् इतिॐ । स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात् फलवत्त्वोपपत्तेः । ननूक्तं सिद्धरूपैरादित्यादिभिरध्यस्तैः साध्यभूतत्वमभिभूतं कर्मणामित आह ॐ आदित्यादिभावेनापि दृश्यमानानाम् इति ॐ । भवेदेतदेवं यद्यध्यासेन कर्मरूपमभिभूयेतापि तु माणवक इवाग्निदृष्टिः केनचित्तीव्रत्वादिना गुणेन गौण्यनभिभूतमाणवकत्वात्तयेहापि । नहीयं शुक्तिकायां रजतधीरिव वह्निधीर्येन माणवकत्वमभिभवेत् किन्तु गौणी । तथेयमप्युद्गीथादावादित्यदृष्टिर्गौणीति भावः । ॐ तदेतस्यामृच्यध्यूढं सामेति तु इति ॐ । अन्यथापि लक्षणोपपत्तौ न ऋक्सामेत्यध्यासकल्पना पृथिव्यग्न्योरित्यर्थः । अक्षरन्यासालोचनया तु विपरीतमेवेत्याह ॐ इयमेव ऋक् इति ॐ । लोकेषु पञ्चविधं

भामती—व्याख्या

अर्थात् यद्यपि आदित्य और उद्गीथ—दोनों ही ब्रह्म के विकार होने से समान हैं। तथापि फलात्मक होने के कारण आदित्यादि में उद्गीथादि से विशेषता आ जाती है, क्योंकि उद्गीथादि कर्मों के द्वारा आदित्यादि लोकों की प्राप्ति श्रुत है। द्वितीया विभक्ति के निर्देश से भी उद्गीथादि का प्राधान्य सिद्ध होता है—"अपि च ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्"। उपासना स्वयं कर्म है, अतः उसमें फलवत्त्व उपपन्न हो जाता है। यह जो कहा गया कि सिद्धात्मक आदित्यादि पदार्थों का अध्यास होने पर उद्गीथादि का साध्यरूपत्व अभिभूत हो जाता है, उसका निरास है— 'आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानाम्'। भाव यह है कि जैसे "अग्निर्माणवकः" यहाँ पर माणवक के किसी चमकीले गुण को देख कर उसमें अग्निरूपता का जो अध्यास होता है, उससे उसका माणवकत्व अभिभूत नहीं होता। वैसे ही आदित्यादिरूपता के अध्यास से उद्गीथादि की कर्मरूपता अभिभूत नहीं होती, क्योंकि जैसे शुक्ति में रजत-बुद्धि होती है, वैसे यहाँ माणवक में अग्नि-बुद्धि नहीं होती कि माणवकत्व अभिभूत हो जाता। माणवक में अग्नि-ज्ञान केवल गौण है, वैसे ही उद्गीथादि में आदित्यादि-दृष्टि गौणी है। "तदेतस्यामृचि अध्यूढं साम"। [ अर्थात् यह जो द्वितीय पूर्वपक्ष में कहा गया था कि पृथिवी के लिए 'ऋक्' शब्द और अग्नि के लिए 'साम' शब्द का प्रयोग अन्यथानुपपन्न होकर यह सिद्ध करता है कि पृथिवी में ऋक् और अग्नि में साम का अध्यास करना चाहिए। वह उचित नहीं, क्योंकर अन्यथा ( अध्यास के विना ) ही लक्षणा के द्वारा ऋगादि शब्दों का प्रयोग पृथिवी आदि के लिए उपपन्न हो जाता है। [ फलतः पृथिवी पर अग्नि की स्थिति वैसी ही हो जाती है, जैसे ऋचा पर साम-गान किया जाता है—"ऋचि अध्यूढं साम गीयते"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति च यथाक्षरन्यासमृच एव पृथिवीत्वमवधारयति । पृथिव्या ऋक्त्वेऽवधार्यमाण इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात् । 'य एवंविद्वान् साम गायति' (छा० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति, न पृथिव्याद्याश्रयम् । तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकाः, तथापि साम्न्येव तेऽध्यस्येरन्द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात् । सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति । अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः । एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इत्यादि व्याख्यातम् । यत्रापि तुल्यो द्वितीयानिर्देशः - 'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।९।१) इति, तत्रापि समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्चविधस्य' (छा० २।७।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।८।१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्त-

भामती

सामोपासीतेति द्वितीयानिर्देशात् साम्नामुपास्यत्वमवगम्यते । तत्र यदि सामधीरध्यस्येत ततो न सामान्युपास्येरन् अपि तु लोकाः पृथिव्यादयः । तथा च द्वितीयार्थं परित्यज्य तृतीयार्थः परिकल्प्येत साम्नेति । लोकेष्विति सप्तमी द्वितीयार्थे कथञ्चिन्नीयते । अगारे गावो वास्यन्तां प्रावारे कुसुमानीतिवत् । तेनोक्तन्यायानुरोधेन सप्तम्याश्चोभयथाप्यवद्यं कल्पनीयार्थत्वाद् वरं यथाश्रुतद्वितीयार्थानुरोधाय तृतीयार्थे सप्तमी व्याख्यातव्या । लोकपृथिव्यादिबुद्धया पञ्चविधं हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारनिधनप्रकारं सामोपासीतेति निर्णीयते । ननु यत्रोभयत्रापि द्वितीयानिर्देशो यथा खल्वमुमेवादित्यं सप्तविधं हिङ्कारप्रस्तावोद्गीथप्रतीहारोपद्रवनिधनप्रकारं सामोपासीतेति, तत्र को विनिगमनायां हेतुरित्यत आह ॐ तत्रापि इति ॐ । तत्रापि समस्तस्य सप्तविधस्य साम्न उपासनमिति साम्न उपास्यत्वश्रुतेः । साध्विति पञ्चविधस्य

भामती—व्याख्या

( छां० १।६।१ ) ]।

अक्षर-न्यास [ श्रुति—पदों के क्रम ] को ध्यान में रखने पर भी विपरीत ही आधाराधेयभाव सिद्ध होता है—"इयमेव ऋक्" । [ यही ( पृथिवी ही ) ऋचा है—ऐसा कहने से ऋचा में ही पृथिवीत्व का अध्यास ध्वनित होता है, पृथिवी में ऋक्त्व का अध्यास विवक्षित होने पर 'इयम् ऋगेव'—ऐसा पद-क्रम होना चाहिए था ] । "लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत"—इस प्रकार द्वितीया विभक्ति के निर्देश से भी साम की उपास्यता अवगमित होती है । वहाँ यदि साम-दृष्टि का अध्यास होता, तब साम की उपासना प्राप्त नहीं होती, अपितु पृथिव्यादि लोकों में उपास्यता प्रसक्त होती, तब द्वितीयार्थ का परित्याग करके तृतीयार्थ की कल्पना की जाती—'साम्ना' । 'लोकेषु'—यह सप्तमी विभक्ति द्वितीयार्थ में वैसे ही कथंचित् प्रयुक्त हो सकती है, जैसे 'अगारे गावो वास्यन्ताम्', 'प्रावारे कुसुमानि' [ गृह को गोप्रवेश से संस्कृत ( पवित्रीकृत ) और प्रावार ( विस्तरे की चादर ) को फूलों से वासित ( सुगन्धित ) करना अभीष्ट है, अतः गृह और प्रावाररूप कर्मकारक की उपस्थिति सप्तमी विभक्ति से की गई है]। फलतः 'सामोपासीत'—यहाँ द्वितीया विभक्ति का भङ्ग प्रसक्त न हो, इस लिए लोकपदोत्तर सप्तमी का पर्यवसान तृतीयार्थ में कर लेना चाहिए । पृथिव्यादि लोकदृष्ट्या (१) हिङ्कार, (२) प्रस्ताव, (३) उद्गीथ, (४) प्रतीहार और (५) निधनरूप पंचविध साम की उपासना निर्णीत होती है । जहाँ उद्देश्य और विधेय—दोनों का समानरूप से द्वितीया विभक्ति के द्वारा निर्देश किया जाता है, वहाँ भी विनिगमना का निर्देश किया जाता है—"तत्रापि" । अर्थात् वहाँ भी "समस्तस्य ( सप्तविधस्य ) खलु साम्न उपासनं साधु" ( छां० २।१।१ ), "पंचविधस्य" ( छां० २।७।२ ) इत्यादि श्रुतियों में साम को ही उपास्यत्वेन

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः, एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वावगमात् 'पृथिवी हिंकारः' ( छा० २।२।१ ) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारादिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः । तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥ ६ ॥

---

## ( ६ आसीनाधिकरणम् । सू० ७—१० )

### आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

कर्माङ्गसम्बद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वाद्यासनादिचिन्ता, नापि सम्यग्दर्शने, वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य । इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतोत नियमेनासीन एवेति चिन्तयति । तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति । एवं प्राप्ते ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति । कुतः ? सम्भवात् ।

भामती

साधुत्वं चास्य धर्मत्वम् । तथा च श्रुतिः 'साधुकारी साधुर्भवति इति । हिङ्कारानुवादेन पृथिवीदृष्टिविधाने हिङ्कारः पृथिवीति प्राप्ते विपरीतनिर्देशः पृथिवी हिङ्कारः ॥ ६ ॥

---

कर्माङ्गसम्बन्धिषु यत्र हि तिष्ठतः कर्म चोदितं तत्र तत्सम्बद्धोऽसनापि तिष्ठतैव कर्त्तव्या । यत्र वासीनस्य तत्रोपासनाप्यासीनेनैवेति । नापि सम्यग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वात् प्रमाणतन्त्रत्वाच्च प्रमाणतन्त्रा च वस्तुव्यवस्था प्रमाणं नापेक्षत इति तत्राप्यनियमः । यन्महता प्रयत्नेन विनोपासितुमशक्यम् । यथा प्रतीकादि यथा वा सम्यग्दर्शनमपि तत्त्वमस्यादि तत्रैषा चिन्ता । तत्र चोदकशास्त्राभावादनियमे प्राप्ते यथा शक्यत इत्युपबन्धादासीनस्यैव सिद्धम् । ननु यस्यामवस्थायां ध्यायतिरुपचर्य्यते किमसौ तदा तिष्ठतो

भामती-व्याख्या

प्रस्तुत किया गया है । यहाँ 'साधु' शब्द का अर्थ है—धर्म (सुकृत) । श्रुति ने इष्ट के साधनीभूत धर्मतत्त्व को ही 'साधु' शब्द से अभिहित किया है—"साधुकारी साधुर्भवति" ( बृह० उ० ४।४।५ ) । यदि हिङ्कार का अनुवाद करके पृथिवी-दृष्टि का विधान अभिमत होता, तब 'हिङ्कारः पृथिवी'—ऐसे पाठ के स्थान पर 'पृथिवी हिङ्कारः'—ऐसा विपरीत पाठ होना चाहिए ॥ ६ ॥

---

**संशय**—कर्माङ्ग-सम्बन्धी उपासनाओं में यह संशय नहीं होता कि यह उपासना खड़े-खड़े की जाय ? अथवा बैठ कर ? क्योंकि जो अङ्ग कर्म खड़े होकर किए जाते हैं, उनकी उपासना भी खड़े होकर और जो अङ्गकर्म बैठ कर किए जाते हैं, उनकी उपासना भी बैठ कर की जायगी । अतः स्वतन्त्र उपासनाओं में यह संशय होता है कि उनका अनुष्ठान करने के लिए कोई नियम नहीं ? अथवा बैठ कर ही करने का नियम है ?

**पूर्वपक्ष**—उपासना मानस कर्म है, उसमें शरीर के खड़े होने और बैठने का कोई नियम अपेक्षित नहीं । तत्त्व-ज्ञान के लिए भी कोई नियम नहीं, क्योंकि "तत्त्व-ज्ञान प्रमाण और वस्तु पर निर्भर है, शरीर के बैठने-उठने पर नहीं, आसन की अपेक्षा न तो प्रमाण को है और न वस्तु-स्थिति को । महान् प्रयत्न के विना जो उपासना नहीं हो सकती, जैसे—प्रतीकोपासना या "तत्त्वमसि'—इत्यादि वाक्यों से जनित सम्यक् ज्ञान । ऐसे स्थलों पर जिज्ञासा होती है कि अभ्यास में कोई नियम है ? अथवा नहीं ? विशेष नियामक शास्त्र न होने के कारण अनियम ही प्राप्त होता है ।

**सिद्धान्त**—ऐसी दीर्घकाल और नैरन्तर्य-युक्त उपासनाएँ न खड़े-खड़े हो सकती हैं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्, न च तद्गच्छतो धावतो वा सम्भवति, गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति। शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयेत। आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति सम्भवति तस्योपासनम् ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अपि च ध्यायत्यर्थं एषः, यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्। ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति। आसीनश्चानायासो भवति। तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम् ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६।११) इत्यादिना। अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥

---

## ( ७ एकाग्रताधिकरणम्। सू० ११ )

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति। प्रायेण वैदिकेष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत, प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्, एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—'समे शुचौ

---

भामती

न भवति, न भवतीत्याह ❀ आसीनश्चाविद्यमानायासो भवतीति ❀। अतिरोहितार्थमितरत् ॥७-१०॥

---

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जितं इत्याविवचनान्नियमे सिद्धे दिग्देशादिनियममवाचनिकमपि प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेतिवद्वैदिकारम्भसामान्यात् क्वचित् कश्चिदाशङ्कते। तमनुगृहीतमाचार्यः

---

भामती—व्याख्या

और न सोते-सोते, अपितु स्थिर-सुख आसन पर बैठ कर ही हो सकती है। भाष्यकार ने जिस बक-ध्यानादि में 'ध्यायति' शब्द का औपचारिक प्रयोग माना है, वहाँ भी मुख्य प्रयोग होता है। वह ध्यान क्या खड़े-खड़े नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है, किन्तु बैठ कर अनायास ही हो जाता है। शेष भाष्य स्पष्ट है ॥ ७-१० ॥

---

संशय—उपासनाओं में पूर्वादि दिशा, गंगा-तटादि देश और दर्शादि काल का कुछ नियम है? अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष—यद्यपि "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकादिविवर्जिते" (श्वेता० २।१०) इत्यादि वचनों के आधार पर 'समतल, पवित्र, कंकड़-पत्थर-अग्नि-बालुका आदि से रहित देशादि का नियम सिद्ध है। ऐसे वाचनिक (वचन-प्रतिपादित) नियमों को छोड़ कर सामान्यतोदृष्ट के आधार पर भी नियम सिद्ध हो सकता है—'उपासनं दिग्देशादिनियमयुक्तम्, वैदिकारम्भत्वात्, यथा "प्राचीनप्रवणे विश्वेदेवैर्यजेत" (मै० सं० १।१०।७) इतिवाक्यारु-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शर्कराबर्हिर्वालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोनुकूले नतु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' ( श्वे० २।१० ) इति यथेति । उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः । सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाऽऽचार्य आचष्टे । 'मनोनुकूले इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति ॥ ११ ॥

---

## ( ८ आ प्रायणाधिकरणम् । सू० १२ )

### आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे । तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम् । नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किंचिच्छासितुं शक्यम् , अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात् । यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता—किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति । किं ताव-

---

भामती

सुहृद्भूत्वेनैव तदाह स्म ❀यत्रैकाग्रता मनसस्तत्रैव भावनां प्रयोजयेत् ❀ । अविशेषात् । नह्यत्रास्ति वैश्वदेवादिवद्वचनं विशेषकं तस्मादिति ॥ ११ ॥

---

अधिकरणविषयं विवेचयति ❀ तत्र यानि तावद् इति ❀ । अविद्यमाननियोज्या या ब्रह्मात्मप्रतिपत्तिस्तस्याः शास्त्रं हि नियोज्यस्य कार्यरूपनियोगसम्बन्धमवबोधयति तस्यैव कर्मण्येश्वर्यलक्षणमधिकारं तच्चैतदुभयमतीन्द्रियत्वाद्भवति शास्त्रलक्षणं प्रमाणान्तराप्राप्ये शास्त्रस्यार्थवत्त्वाद् ब्रह्मात्मत्वप्रतीतेस्तु जीवन्मुक्तेन दृष्टत्वान्नास्तीह तिरोहितमिव किञ्चनेति किमत्र शास्त्रं करिष्यति ? नन्येवमभ्युदयफलान्युपासनानि तत्र नियोज्यनियोगलक्षणस्य च कर्मणि स्वामितालक्षणस्य च सम्बन्धस्यातीन्द्रि-

---

भामती—व्याख्या

ब्धवैश्वदेवकर्म' [ चातुर्मास्य इष्टि का वैश्वदेव कर्म ऐसी भूमि पर किया जाता है, जो पूर्व दिशा की ओर ढालू हो ]

**सिद्धान्त**—उपासनाओं के लिए दिग्देशादि का नियम किसी वचन से प्राप्त नहीं, अतः जहाँ भी एकाग्रता सम्भव हो, वहाँ ही भावना का अभ्यास करना चाहिए ॥ ११ ॥

---

**विषय**—"तत्र यानि तावत्" । "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" ( बृह. उ. २।४।५ ) इत्यादि ब्रह्मात्मबोधाभिधायी वाक्यों में कोई नियोज्य ( अधिकारी ) श्रुत नहीं, अतः ऐसी प्रतिपत्ति शास्त्र की विषय नहीं—"शास्त्रस्याविषयत्वात्" । क्योंकि शास्त्र नियोज्य के कार्यापरपर्याय नियोग के साथ सम्बन्ध का बोधक होता है—"यजेत स्वर्गकामः" एवं उसी कर्म में नियोज्य के स्वामित्वरूप अधिकार का भी बोध कराता हैं । ये दोनों पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा अनधिगत होने के कारण शास्त्र के विषय हैं, क्योंकि 'प्रमाणान्तरानधिगतार्थबोधकत्वम्'—यही तो शास्त्र का लक्षण है । जब कि ब्रह्मात्मता जीवन्मुक्त पुरुष के द्वारा दृष्टचर है, तब न तो वह अनधिगत है और न शास्त्र का विषय, शास्त्र वहाँ क्या करेगा ?

**पूर्वपक्ष**—इस प्रकार अभ्युदयफलक उपासनाएँ हैं, जिनमें नियोज्य-नियोगरूप स्वामिता ( कर्मफल-भोक्तृता ) अतीन्द्रिय है, दृष्ट नहीं, अतः उनकी आवृत्ति न करके केवल सकृत् ( एक बार के ) अनुष्ठान से शास्त्र की आज्ञा चरितार्थ हो जाती है । यद्यपि 'उपासना' शब्द में आवृत्ति निहित है, तथापि आवृत्ति का एकबार मात्र कर लेना पर्याप्त है ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्प्राप्तम्? किं कियन्तंचित्कलं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनाशब्दार्थस्य कृतत्वादिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः-आ प्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्ययम्, अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः। कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाल आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति', 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति', प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः, तृणजलूकानिदर्शनाच्च। प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन्। तस्माद्ये प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः। तथा च श्रुतिः—'स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति। स्मृतिरपि—'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः' (गी० ८।६) इति, 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८।१०) इति च। 'सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति॥ १२॥

---

भामती

प्रत्यात्तत्र सकृत्करणादेव शास्त्यार्थसमाप्तौ प्राप्तायामुपासनपदवेदनीयावृत्तिमात्रमेव कृतवत उपरमः प्राप्तस्तावतैव कृतशास्त्रार्थत्वात्।

इति प्राप्तेऽभिधीयते—सविज्ञानो भवतीत्यादिश्रुतेर्यत्र स्वर्गादिफलानामपि कर्मणां प्रायणकाले स्वर्गादिविज्ञानापेक्षकत्वं तत्र कैव कथाऽतीन्द्रियफलानामुपासनानाम्? तानि खलु आ प्रायणं तत्तदुपास्यगोचरबुद्धिप्रवाहवाहितया दृष्टेनैव रूपेण प्रायणसमये तद्बुद्धिं भावयिष्यन्ति। किमत्र फलवत्प्रायणसमये बुद्ध्याक्षेपेण न हि दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना युक्ता। तस्मादाप्रायणं प्रत्ययावृत्तिरिति। तदिदमुक्तम् ॐ प्रत्ययास्त्वेते इति ॐ। तथा च श्रुतिः 'सर्वातीन्द्रियविषया स यथा क्रतुरस्माल्लोकात् प्रैति तावत् क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति' इति। क्रतुसङ्कल्पविशेषः। स्मृतयश्चोदाहृता इति॥ १२॥

---

भामती—व्याख्या

**सिद्धान्त**—"सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति" इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्ट कहती हैं कि उपासक को अपना विज्ञान (उपासन कर्म) स्व-जनित स्वर्गादि फलों का अन्त में साक्षात्कार करा देता है। उपासक अपनी भावी रूप-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर ही प्रयाण करता है। अतः अतीन्द्रियफलक उपासनाओं के लिए कहना ही क्या? क्योंकि उनमें मरणपर्यन्त उपास्याकारता बनी रहती है, इसके लिए प्रत्ययावृत्तिरूप दृष्ट उपाय ही अपनाया जाता है। प्रयाणकाल में स्वर्गादि फलों के समान प्रत्ययावृत्ति की कल्पना किस लिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहाँ तक दृष्ट सम्भव हो, वहाँ तक अदृष्ट की कल्पना युक्त नहीं कही जाती, फलतः प्रायण-पर्यन्त ध्यानाभ्यास आवश्यक है। भाष्यकार ने यही कहा है—"प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा"। श्रुति भी सभी अतीन्द्रिय फलों के विषय में वैसा ही कहती है—"स यथाक्रतुरस्माल्लोकात् प्रैति तावत्क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसंभवति" (शत. १०।६।३।१) अर्थात् मनुष्य अपने क्रतु (संकल्प) के अनुरूप रूपवान् होकर ही प्रयाण करता है। अपने भावी संकल्पित रूप को इसी लोक में प्राप्त कर लेता है। "यं यं वापि स्मरन् भावं" (गी. ८।६) इत्यादि स्मृतियाँ भी उसी प्रत्ययावृत्ति का समर्थन करती हैं॥ १२॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ९ तदधिगमाधिकरणम् । सू० १३ )

## तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

गतस्तृतीयशेषः । अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते । ब्राह्मधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते, न क्षीयते वेति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? फलार्थत्वात्कर्मणः फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षयः । फलदायिनी ह्यस्य शक्तिः श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत, श्रुतिः कदर्थिता स्यात् । स्मरन्ति च— 'नहि कर्म क्षीयते' इति । नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थकः प्राप्नोति, नैष दोषः,

भामती

गतस्तृतीयशेषः साधनगोचरो विचारः । इदानीयेतदध्यायगतफलविषया चिन्ता प्रतन्यते । तत्र तावत्प्रथममिदं विचार्यते किं ब्रह्माधिगमे ब्रह्मज्ञाने सति ब्रह्मज्ञानफलान्मोक्षाद्विपरीतफलं दुरितं बन्धनफलं क्षीयते न क्षीयत इति संशयः । किं तावत् प्राप्तं ? शास्त्रेण हि फलाय यद्विहितं प्रतिषिद्धं चानर्थपरिहारायाश्वमेधादि ब्रह्महत्यादि चापूर्वावान्तरव्यापारं किन्तवपूर्वमुपरतेऽपि कर्मण्यत्र सुखदुःखोपभोगात्प्राक् न विरन्तुमर्हति । स हि तस्य विनाशहेतुस्तदभावे कथं विनश्येदिति । तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात् , शास्त्रव्याकोपाच्चेति । अदत्तफलञ्चेत् कर्मापूर्वं विनश्यति कर्मण एव फलप्रसवसामर्थ्यबोधकशास्त्रमप्रमाणं भवेत् । न च प्रायश्चित्तमिव ब्रह्मज्ञानमदत्तफलान्यपि कर्मापूर्वाणि क्षिणोतीति साम्प्रतम् , प्रायश्चित्तानामपि तदप्रक्षयहेतुत्वात्तद्विघातस्य चैनस्विनराधिकारिप्राप्तिमात्रेणोपपत्तावुपात्तदुरितनिबर्हणफलाक्षेपकत्वायोगात् । अत एव स्मरन्ति—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इति । यदि पुन-

भामती—व्याख्या

**संगति**—तृतीय अध्याय का साधनविषयक शेष विचार समाप्त हो गया । अब मुक्तिरूप फल के विषय की चिन्ता प्रतानित की जाती है ।

**संशय**—ब्रह्मभाव-प्रापक तत्त्वज्ञान का उदय हो जाने पर ब्रह्मज्ञान से विपरीत फलवाले ( बन्धनफलक ) पाप का प्रक्षय होता है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—शास्त्र के द्वारा जो कर्म किसी फल के उद्देश्य से विहित है, जैसे अश्वमेधादि अथवा जो कर्म अनर्थ-परिहारार्थ प्रतिषिद्ध है, जैसे ब्रह्महत्यादि । जैसे कुठारादि का उद्यमन-निपातन अवान्तर व्यापार होता है, वैसे ही उन अश्वमेधादि यागों का अवान्तर व्यापार है—अपूर्व ( अदृष्ट ) । अश्वमेधादि कर्मों के नष्ट हो जाने पर भी उन का अपूर्व तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक वह अपना इष्ट या अनिष्टरूप फल उपभोग न करा ले । फलोपभोग ही अपूर्व का नाशक होता है, भोग सम्पन्न न होने पर वह (अपूर्व) नष्ट क्योंकर होगा ? अपूर्व के नष्ट हो जाने पर उत्पन्न भोग आकस्मिक ( कारण के बिना ही ) उत्पन्न माना जायगा । इतना ही नहीं कर्म और उसके फल का साध्य-साधनभाव प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र भी विरुद्ध पड़ जायगा, क्योंकि जिस कर्म का अपूर्व बिना फल दिए ही नष्ट हो जाता है, उस कर्म में फलोत्पादन-सामर्थ्य का बोधक शास्त्र प्रमाण क्योंकर हो सकेगा ?

जैसे प्रायश्चित्त कर्म उस अपूर्व ( अदृष्ट ) का भी नाशक होता है, जो अपने फल का जनन नहीं कर पाता । वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी अदत्तफलक पाप को क्षीण क्यों न कर देगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रायश्चित्त भी अकृतार्थ अपूर्व के प्रक्षय का हेतु नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित्त का विधान पाप-क्षय के उद्देश्य से नहीं किया जाता, अपितु वह एक ऐसा नैमित्तिक कर्म है, जो एनस्वी नर ( पापी पुरुष ) को अपना अधिकारी मान कर उसके विधिमात्र से विहित है, पाप-क्षय का आक्षेपक नहीं होता । अत एव शास्त्र का उद्घोष है


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्गृहदाहेष्ट्यादिवत्। अपि च प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता, नत्वेवं ब्रह्मविद्यायां विधानमस्ति। नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविदः कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यंभोक्तव्यत्वादनिर्मोक्षः स्यात्। नेत्युच्यते—देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भविष्यति। तस्मान्न ब्रह्माधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवत, उत्तरस्याश्लेषः पूर्वस्य विनाशः। कस्मात्? तद्व्यपदेशात्। तथा हि—ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसंबन्धं विदुषो

भामती

रपेक्षितोपायतात्मा प्रायश्चित्तविधिर्न नियोज्यविशेषप्रतिलम्भमात्रेण निर्वृणोतीत्यपेक्षिताकांक्षायां दोषसंयोगेन श्रवणात्तन्निबर्हणफलः कल्पेत। तथापि ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षवत् तत्संयोगेनाश्रवणान्न दुरितनिबर्हणसामर्थ्ये प्रमाणमस्ति। तस्यापि स्वर्गादिफलवद् देशकालनिमित्तापेक्षयोपपत्तेः। शास्त्रप्रामाण्यात् सम्भविष्यति असाववश्यं यस्यामुपभोगेन समस्तकर्मक्षये ब्रह्मज्ञानं मोक्षं प्रसोष्यति। योगद्धचैव वा विवि भुव्यन्तरिक्षे बहूनि शरीरेन्द्रियाणि निर्माय फलान्युपभुज्यद्धेन योगसामर्थ्येन योगी कर्माणि क्षपयित्वा मोक्षी सम्पत्स्यते। स्थिते चैतस्मिन्नर्थे न्यायबलाद्यथा पुष्करपलाश इत्यादिव्यपदेशो ब्रह्मविद्यास्तुतिमात्रपरतया व्याख्येयः।

इति प्राप्ते उच्यते—व्याख्यायतैवं व्यपदेशो यदि कर्मविधिविरोधः स्याद्न त्वयमस्ति। शास्त्रं हि फलोत्पादनसामर्थ्यमात्रं कर्मणामवगमयति न तु कुतश्चिदागन्तुकान्निमित्ततः प्रायश्चित्तादेस्तदप्रतिबन्धमपि तस्य तत्रौदासीन्यात्। यदि शास्त्रबोधितफलप्रसवसामर्थ्यमप्रतिबद्धमागन्तुकेन केनचित् कर्मणा ततस्तत्फलं प्रसूत एवेति न शास्त्रव्याघातः। नाभुक्तं क्षम क्षीयत इति च स्मरणमप्रतिबद्धसाम-

भामती—व्याख्या

कि कोई भी कर्म (अपूर्व) अपना फलोपभोग कराए बिना क्षीण नहीं होता—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" (ब्र. वै. उत्तर. ४।८१।१५५)। यद्यपि इष्ट-साधनीभूत अर्थ की बोधिका प्रायश्चित-विधि केवल नियोज्य-विशेष (अधिकारी) का लाभ कर लेने से ही शान्त नहीं होती, अपितु कैमर्थ्याकांक्षा में पाप-क्षय को प्रायश्चित्त का फल घ्वनित करती है। तथापि ब्रह्मज्ञान का जैसे मोक्षरूप फल के साथ सम्बन्ध श्रुत है, वैसे पाप-क्षय के साथ नहीं, अतः ब्रह्मज्ञान की पाप-नाशकता में कोई प्रमाण नहीं। पाप-क्षय का अजनकीभूत ब्रह्मज्ञान भी स्वर्गादि फलों के समान ही मोक्षरूप फल को अपने देश-काल-निमित्त की अपेक्षा जन्म दे सकता है। ब्रह्मज्ञानी अपने योग-बल से द्यु, पृथिवी और अन्तरिक्ष में अपने बहुत से शरीर और इन्द्रियों का निर्माण करके अनन्त फलों के उपभोग से अपने समस्त कर्मों को चरितार्थ कर मुक्त हो सकता है। जब ब्रह्मज्ञान का पाप के साथ कोई विरोध ही नहीं, तब 'विरोधे सति' इस न्याय के आधार पर उसका बाध आवश्यक नहीं और "यथा पुष्करपलाशः" (छां. ४।१४।३) इत्यादि विरोधार्थक श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्मविद्या की स्तुति में पर्यवसित हो जाता है।

सिद्धान्त—यह पर्यवसान तब सम्पन्न हो सकता था, जबकि कर्म-विधि का विरोध होता। शास्त्र तो कर्मों में केवल फलोत्पादन-सामर्थ्य की अवगति कराता है, किसी आगन्तुक प्रायश्चित्तादि निमित्त के द्वारा प्रतिबन्धित न होने का बोध नहीं कराता, क्योंकि इस विषय में उदासीन (तटस्थ) है। यदि शास्त्र-बोधित फल-जनन-सामर्थ्य किसी आगन्तुक कर्म के द्वारा प्रतिबद्ध नहीं, तब उससे अवश्य ही फलोत्पाद होता है। अतः शास्त्र व्याहत नहीं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' ( छा० ४।१४।३ ) इति। तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'यद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' ( छा० ५।२४।३ ) इति। अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' ( मु० २।२।८ ) इति। यदुक्तम्—अनुपभुक्तफलस्य कर्मणः क्षयकल्पनायां शास्त्रं कदर्थितं स्यादिति,—नैष दोषः, नहि वयं कर्मणः फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदामः। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्रं व्याप्रियते, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि। 'नहि कर्म क्षीयते' इत्येतदपि स्मरणमौत्सर्गिकं न भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति। इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना तस्य क्षयः—'सर्वं पाप्मानं तरति,' 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' 'य उ चैनमेवं वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। यत्तूक्तम्—नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति,—तदसत्, दोषसंयोगेन चोद्यमानानामेषां दोषनिर्घातफलसंभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्तेः। यत्पुनरेतदुक्तम्—न प्रायश्चित्तबहोषक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति, अत्र ब्रूमः—सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यत एव विधानम्, तासु च वाक्यशेष ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते। तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति, तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेष इति चागामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति। अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव, तथापि विद्यासा-

भामती

र्थ्यकर्माभिप्रायम्। दोषक्षयोद्देशेन चापरविद्यानामस्ति प्रायश्चित्तवद्विधानमैश्वर्य्यफलानामप्युभयसंयोगाविशेषात्। यत्रापि निर्गुणायां परविद्यायां दोषोद्देशो नास्ति, तत्रापि तत्स्वभावालोचनादेव तत्प्रक्षयप्रसवसामर्थ्यमवसीयते। नहि तत्त्वमसिवाक्यार्थपरिभावनाभुवा प्रसंख्यानेन निर्मृष्टनिखिलकर्तृभोक्तृत्वादिविभ्रमो जीवः फलोपभोगेन युज्यते। नहि रज्ज्वां भुलङ्गसमारोपनिबन्धना भयकम्पादयः सति रज्जुतत्त्वसाक्षात्कारे प्रभवन्ति, किन्तु संस्कारशेषात् किञ्चित्कालमनुवृत्त्यापि निवर्त्तन्त एव। अमुमेवार्थमनुवदन्तो यथा पुष्करपलाश इत्यादयो व्यपदेशाः समवेतार्थाः सन्तो न स्तुतिमात्रतया कथञ्चिद्व्याख्यान-

भामती—व्याख्या

होता। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म"—यह स्मृति-वाक्य उस कर्म को विषय करता है, जिसका सामर्थ्य अप्रतिबद्ध है। प्रायश्चित्त के समान ही अपरविद्याओं का दोष-क्षय के उद्देश्य से विधान होता है, संयोगपृथक्त्व-न्याय से अपरविद्या के ही दोनों ( दोष-क्षय और ऐश्वर्य ) फल माने जाते हैं।

जहाँ पर निर्गुण ब्रह्मविषयक परा विद्या का विधान दोष-क्षय के उद्देश्य से नहीं किया जाता, वहाँ भी उस परा विद्या के स्वभाव की आलोचना से दोष के प्रक्षय का सामर्थ्य परविद्या में पर्यवसित होता है, क्योंकि "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यार्थ की भावना से प्रादुर्भूत प्रसंख्यान ( विवेक प्रज्ञा ) के द्वारा जिस जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि समस्त भ्रम विनष्ट हो जाता है, वह जीव कदापि फलोपभोग नहीं किया करता। रज्जुतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर सर्प-भ्रम-जनित भय-कम्पादि की अनिवृत्ति कदापि नहीं होती। संस्कार-शेष के आधार पर कुछ समय के लिए अनुवृत्ति हो जाने पर भी शीघ्र ही भयादि निवृत्त हो ही जाते हैं। इसी अर्थ का अनुवदन करनेवाले "यथा पुष्करपलाशः" इत्यादि वाक्य मुख्या-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्थान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्त इत्याह—विनाश इति। पूर्वसिद्धकर्तृत्व-भोक्तृत्वविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वरूपं ब्रह्माहमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाऽहमासं नेदानीं नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्मविदवगच्छति। एवमेव च मोक्ष उपपद्यते। अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात्। नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। परोक्ष-त्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य। तस्माद् ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थितम्॥ १३॥

---

भामती

महंन्ति। ननूक्तं सम्भविष्यति सावस्था जीवात्मनो यस्यां पर्य्यायेणोपभोगाद्वा योगर्द्धेः प्रभावतो युग-पन्नैकपिधकायनिर्माणेनापर्य्यायेणोपभोगाद्वा जन्तुः कर्माणि क्षपयित्वा मोक्षी सम्पत्स्यत इत्यत आह ॐएवमेव च मोक्ष उपपद्यत इतिॐ। अनादिकालप्रवृत्ता हि कर्माशया अनियतकालविपाकाः क्रमवता तावद्भोगेन क्षेतुमशक्याः। भुञ्जानः खल्वयमपरानपि सञ्चिनोति कर्माशयानिति। नाप्यपर्यायमुपभोगेनासक्तः कर्मान्तराण्यसञ्चिन्वानः क्षेप्स्यतीति साम्प्रतम्, कल्पशतातिक्रमकालभोग्यानां सम्प्रति भोक्तुमसामर्थ्यात्। दीर्घकालफलानि च कर्माणि कथमेकपदे क्षेष्यन्ति। तस्मान्नान्यथा मोक्षसम्भवः। ननु सत्स्वपि कर्मा-शयान्तरेषु सुखदुःखफलेषु मोक्षफलत्वात् कर्मणः समुदाचरतो ब्रह्मभावमनुभूयाय लब्धविपाकानां कर्मान्त-राणां फलानि भोक्ष्यन्त इत्यत आह ॐ न च देशकालनिमित्तापेक्ष इतिॐ। न हि कार्यः सन् मोक्षो मोक्षो भवितुमर्हति ब्रह्मभावो हि सः। न च ब्रह्म क्रियते नित्यत्वादित्यर्थः। परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञान-फलस्य, ज्ञानफलं खलु मोक्षोऽभ्युपेयते। ज्ञानस्य चानन्तरभाविनि ज्ञेयाभिव्यक्तिः फलं सैवाविद्योच्छेद-मात्रवती ब्रह्मस्वभावस्वरूपावस्थानलक्षणाय मोक्षाय कल्पते। एवं हि दृष्टार्थता ज्ञानस्य स्यात्। अपूर्वा-

---

भामती—व्याख्या

र्थक ही हो जाते हैं, उनकी स्तुतिमात्रपरक व्याख्या उचित नहीं। यह जो शङ्का की गई थी कि जीवात्मा की ऐसी अवस्था संभव है कि जिसमें पहुँचकर जीव या तो क्रमशः अपने सभी भोगों का उपभोग करके अथवा योग-ऋद्धि के बल पर एक साथ अपने अनेक शरीरों का निर्माण करके उनके द्वारा युगपत् सभी भोगों को भोग कर मुक्त हो सकता है। उस शङ्का का समाधान है—"एवमेव च मोक्षः उपपद्यते"। अर्थात् अनादि सञ्चित कर्माशयों के उपभोग के देश-काल-निमित्तादि अनियत हैं, अतः समस्त कर्म-फलों का क्रमशः उपभोग सम्भव नहीं। दूसरी बात यह भी है कि सञ्चित कर्मों का उपभोग करता हुआ जीव अन्य कर्माशयों को उत्पन्न करता जाता है, जिनकी इयत्ता नहीं। योग-ऋद्धि के बल पर भी सभी कर्माशयों का उपभोग सम्भव नहीं, क्योंकि जिन कर्मों का फल सैकड़ों कल्पों और भविष्य में उत्पत्स्यमान देशों में मिलनेवाला है, उनका अभी उपभोग क्योंकर होगा? फलतः ब्रह्मज्ञान से कर्माशयों का विनाश माने बिना मोक्ष-सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि अपने उत्पादक कर्मों से उत्पन्न मोक्ष में जीव ब्रह्मरूपता अनुभव करता हुआ शेष कर्मों का भी समय पर उपभोग करता जायगा, कर्मों का ज्ञान से प्रक्षय मानने की आवश्यकता ही क्या? उस शङ्का का समाधान है—"न च देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः"। अर्थात् मोक्ष कभी कार्य (कर्म-जन्य) नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मभाव का नाम मोक्ष है, ब्रह्म जन्य नहीं, अपितु नित्य है। ज्ञान का फल कभी परोक्ष नहीं होता, मोक्ष ज्ञान का फल माना जाता है। ज्ञान के अनन्तरभावी ज्ञेयाभिव्यक्ति (ब्रह्मसाक्षात्कार) अविद्या का उच्छेद करती हुई स्वरूपाव-स्थानरूप मोक्ष के लिए सक्षम होती है। इस प्रकार तो ज्ञान में दृष्टार्थता सुरक्षित होती है। यदि ज्ञान भी कर्म के समान अपूर्वजननपूर्वक मोक्ष का जनक हैं, तब ज्ञान में परोक्षफलकत्व

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १० इतरासंश्लेषाधिकरणम् । सू० १४ )

### इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरधस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौ। धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते—इतरस्यापि पुण्यस्य

भामती

ध्यानपरम्परया ज्ञानस्य मोक्षफले कल्प्यमाने ज्ञानस्य परोक्षफलत्वमदृष्टार्थत्वं भवेत्। न च दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना युक्तेत्यर्थः। तस्माद् ब्रह्माधिगमे ब्रह्मज्ञाने सत्यद्वैतसिद्धौ दुरितक्षय इति सिद्धम् ॥ १३ ॥

---

अधर्मस्य स्वाभाविकत्वेन रागादिनिबन्धनत्वेन शास्त्रीयेण ब्रह्मज्ञानेन प्रतिबन्धो युक्तः। धर्मज्ञानयोऽस्तु शास्त्रीयत्वेन ज्योतिष्टोमदर्शपौर्णमासवदविरोधान्नोच्छेद्योच्छेत्तृभावो युज्यते। पाप्मनश्च विशेषतो ब्रह्मज्ञानोच्छेद्यत्वश्रुतेर्धर्मस्य न तदुच्छेद्यत्वम्। विशेषविधानस्व शेषप्रतिषेधनान्तरीयकत्वेन लोकतः सिद्धेः। यथा देवदत्तो दक्षिणेनाक्षणा पश्यतीत्युक्ते न वामेन पश्यतीति गम्यते। उभे ह्येवैष एते तरतीति च यथासम्भवं ब्रह्मज्ञानेन दुष्कृतं भोगेन सुकृतमिति। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इति च सामान्यवचनं सर्वे पाप्मान इति विशेषश्रवणात् पापकर्माणीति विशेषे उपसंहरणीयम्। तस्माद् ब्रह्मज्ञानाद् दुष्कृतस्यैव क्षयो न सुकृतस्येति प्राप्ते पूर्वाधिकरणसिद्धान्तोऽतिदिश्यते। नो खलु ब्रह्मविद्या

भामती—व्याख्या

और अदृष्टार्थत्व प्रसक्त होता है। दृष्टार्थकत्व के सम्भव होने पर अदृष्टार्थत्व नहीं माना जाता। फलतः ब्रह्माधिगमरूप ब्रह्मज्ञान के सम्पन्न हो जाने पर अद्वैत-सिद्धि और दुरितनिवृत्ति निश्चितरूप से सिद्ध होती है ॥ १३ ॥

---

**संशय**—ब्रह्मज्ञान के द्वारा पाप के समान ही पुण्य का विनाश और अश्लेष होता है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—अधर्म स्वभावतः ज्ञान से विरुद्ध है, रागादिरूप अज्ञान का कार्य है, अतः शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान के द्वारा अधर्म का प्रतिबन्ध युक्ति-युक्त है। धर्म और ज्ञान—दोनों शास्त्रीय हैं, अतः जैसे ज्योतिष्टोम और दर्शपूर्णमास का कोई परस्पर विरोध नहीं, वैसे ही ब्रह्मज्ञान और धर्मादि का कोई विरोध नहीं, अतः इनमें उच्छेद्य-उच्छेदकभाव सम्भव नहीं। पाप के लिए तो विशेषतः यह श्रुत है कि वह ब्रह्मज्ञान के द्वारा उच्छेद्य है। इस प्रकार अधर्म के उच्छेद-विधान से धर्म के उच्छेद का निषेध न्याय-प्राप्त है, क्योंकि 'विशेषविधानं शेषप्रतिषेधनान्तरीयकम्'—यह लोक-प्रसिद्ध न्याय है, जैसे किसी ने कहा कि 'देवदत्त दाहनी आँख से देखता है' इससे यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि देवदत्त बायीं आँख से नहीं देखता। "उभे ह्येवैष एते तरति" ( बृह० उ० ४।४।२२ ) इस वाक्य का यह अर्थ नहीं कि सुकृत और दुष्कृत—इन दोनों का ब्रह्मज्ञान से नाश होता है, अपितु जीव ब्रह्मज्ञान से दुष्कृत और उपभोग के द्वारा सुकृत को समाप्त करता है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" ( मुं० २।२।८ ) यह वचन यद्यपि सामान्यतः धर्म और अधर्म का ब्रह्मज्ञान से प्रक्षय प्रतिपादित करता है, तथापि "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" ( छां० ८।४।२ ) इस विशेष वचन के अनुरोध पर 'कर्म' पद का तात्पर्य पाप कर्म के बोधन में ही पर्यवसित होता है। फलतः ब्रह्मज्ञान से दुष्कृत ( पाप ) का ही प्रक्षय होता है, सुकृत का नहीं।

**सिद्धान्त**—पूर्वाधिकरण के सिद्धान्त का ही यहाँ अतिदेश किया जाता है—"इतरस्या-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। कुतः? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात्, 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात्। अकृत्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात्, 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २।२।८) इति चाविशेषश्रुतेः। यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते, तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम्, ज्ञानफलापेक्षया निकृष्टफलत्वात्। अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः, 'गैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८।४।१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात्। पाते त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः। एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥ १४ ॥

---

## ( १२ अनारब्धाधिकरणम् । सू० १५ )

**अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥**

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः। स किमवि-

---

भामती

केनचिदवृष्टेन द्वारेण दुष्कृतमपनयत्यपि तु दृष्टेनैव भोक्तृभोक्तव्यभोगादिप्रविलयद्वारेण तच्चैतत्तुल्यं सुकृतेऽपीति कथमेतदपि नोच्छिद्यात्। एवञ्च सति न शास्त्रीयत्वसाम्यमात्रमविरोधहेतुर्नहि प्रत्यक्षत्वसामान्यमात्रावविरोधो जलानलादीनाम्। न च सुकृतशास्त्रमनर्थकमब्रह्मविदं प्रति तद्विधेरर्थवत्त्वात्। एवमवस्थिते च पाप्मश्रुत्या पुण्यमपि ग्रहीतव्यम्। ब्रह्मज्ञानमपेक्ष्य पुण्यस्य निकृष्टफलत्वात्तत्फलं हि क्षयातिशयवत्। नह्येवं मोक्षो निरतिशयत्वान्नित्यत्वाच्च। दृष्टप्रयोगश्चायं पाप्मशब्दो वेदे पुण्यपापयोः। तद्यथा पुण्यपापे अनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्त इत्यत्र तस्मादविशेषेण पुण्यपापयोरश्लेषविनाशाविति सिद्धम् ॥ १४ ॥

---

भामती–व्याख्या

प्येवम्"। आशय यह है कि ब्रह्मज्ञान किसी अदृष्ट के माध्यम से दुष्कृत का अपनयन नहीं करता, अपितु दृष्टरूप भोक्ता भोक्तव्य भोगों का प्रविलय करके ही, भोगरूपता तो सुकृत और दुष्कृत—इन दोनों में समान है, अतः ब्रह्मज्ञान से सुकृत (धर्म) का भी उच्छेद क्यों न होगा? यह जो कहा गया था कि ब्रह्मज्ञान और धर्म—इन दोनों में शास्त्रीयत्व होने से परस्पर कोई विरोध नहीं। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जल और अग्नि में प्रत्यक्षत्वादि धर्मों के समान होनेमात्र से परस्पर-विरोध की निवृत्ति नहीं होती। यदि ब्रह्मज्ञान से सुकृत का भी बाध होता है, तब उसका विधायक शास्त्र निरर्थक है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अब्रह्मज्ञानी के लिए सुकृत का विधान सार्थक माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ केवल पाप का निवर्त्यत्वेन श्रवण है, वहाँ पुण्य का भी लक्षणा के द्वारा ग्रहण कर लेना चाहिए। ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा सुकृत कर्मों का स्वर्गादिरूप फल निकृष्ट ही होता है, क्योंकि स्वर्गादि क्षयी और सातिशय है किन्तु ब्रह्मज्ञान अक्षयी और निरतिशय है। वेद में भी "पाप्मन्" शब्द का प्रयोग पुण्य और पाप—दोनों के लिए देखा जाता है—"सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" (छां० ८।४।२)। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से संचित पुण्य-पाप का नाश तथा क्रियमाण का अश्लेष (अलेप या नैरर्थक्य) सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते। तत्र 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति।

भामती

यद्यद्वैतज्ञानस्वभावालोचनयोत्तरपूर्वसुकृतदुष्कृतयोरश्लेषविनाशौ हन्त आरब्धानारब्धकार्ययोश्चाविशेषेणैव विनाशः स्यात्। कर्तृकर्मादिप्रविलयस्योभयत्राविशेषात्। तन्निबन्धत्वाच्च विनाशस्य। न च संस्कारशेषात् कुलालचक्रभ्रमणवदनुवृत्तिः, वस्तुनः खल्वनुवृत्तिः। मायानिवृत्तौ न पुण्यापुण्येन तत्संस्कारो वस्तुसन्तीति कस्यानुवृत्तिः? न च रज्जौ सर्पाविविभ्रमजनिता भयकम्पादयो निवृत्तेऽपि विभ्रमे यथानुवर्त्तन्ते तथेहापीति युक्तम्, तत्रापि सर्पासत्त्वेऽपि तज्ज्ञानस्य सत्त्वे तज्जनितभयकम्पादीनां तत्संस्काराणाञ्च वस्तुसत्त्वेन निवृत्तेऽपि विभ्रमेऽनिवृत्तेः। अत्र तु न माया न तज्जः संस्कारो न तद्गोचर इति तुच्छत्वात् किमनुवर्त्तेत? न संस्कारशेषो न कर्मेत्यविशेषेणारब्धकार्याणामनारब्धकार्याणां च निवृत्तिः। न च तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति श्रुतेर्देहपातप्रतीक्षारब्धकार्यं युक्ता। नह्येषा श्रुतिरवधिभेदविधायिन्यपि तु क्षिप्रतापरा। यथा लोक एतावन्मे चिरं यत् स्नातो भुञ्जानश्चेति। नहि तत्र स्नानभोजने अवधित्वेन विधीयेते किन्तु क्षेपीयस्ता प्रतिपाद्यते। उभयविधाने हि वाक्यं भिद्येतावधिभेदः चिरता चेति प्राप्तेऽभिधीयते—यद्यप्यद्वैतब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारोऽनाद्यविद्यो-

भामती-व्याख्या

**संशय**—ब्रह्मज्ञान के द्वारा सामान्यतः सभी आरब्धफलक और सञ्चित) कर्म-राशि का प्रक्षय होता है? अथवा केवल संचित कर्मों का?

**पूर्वपक्ष**—यदि अद्वैत-ज्ञान के स्वभाव की आलोचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मज्ञान से संचित कर्म का नाश और क्रियमाण का अश्लेष हो जाता है, तब प्रारब्धफलक और अप्रारब्धफलक उभय-विध कर्माशयों का विनाश हो जायगा, क्योंकि कर्त्ता और कर्म आदि का विलय समानरूप से कथित उभय-विध कर्मों का नाशक है। जैसे कुलाल-व्यापार के उपरत हो जाने पर भी संस्कार-शेष के बल पर चाक कुछ समय के लिए घूमता रहता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान के द्वारा सभी कर्मों का नाश हो जाने पर संस्कार-शेष के बल पर जगत् की अनुवृत्ति क्यों न हो सकेगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि समस्त द्वैत प्रपंच के मूलभूत मायातत्त्व को ही मायावादी पुण्य-पापादि संस्कारों का भी उपादान कारण मानते हैं। उस माया के निवृत्त हो जाने पर संस्कार भी क्योंकर शेष रहेंगे? रज्जु में आरोपित सर्प की निवृत्ति हो जाने पर भी सर्प का ज्ञान बना रहता है, अतः तत्प्रयुक्त भय-कम्पादि की भी अनुवृत्ति होती रहती है किन्तु माया-जनित संस्कार भी माया के समान ही तुच्छ और निस्तत्त्व हैं, अतः माया के समाप्त होने पर मायिक पदार्थों की अनुवृत्ति कैसे होगी? कर्मों का संस्कार-शेष भी कर्म ही है, समस्त कर्मों का नाश होने पर संस्कार-शेष भी नहीं रह सकता। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छां० ६।१४।२) इस श्रुति के आधार पर प्रारब्ध कर्मों की देह-पात-प्रतीक्षा भी युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उक्त श्रुति यद्यपि प्रारब्ध कर्म की परा अवधि बता रही है—शरीर-पात, किन्तु उसका तात्पर्य क्षिप्रता में वैसे ही माना जाता है, जैसे लोक-व्यवहार है—'एतावन्मे चिरं यत्स्नातो भुञ्जानश्च' अर्थात् इतनी ही मुझे देरी है कि नहाया और खाया। इस प्रकार के व्यवहारों का पर्यवसान शीघ्रतामात्र में होता है, वैसे ही उक्त श्रुति का। श्रुति के द्वारा क्षिप्रता और देहपातरूप अवधि—इन दोनों का विधान मानने पर वाक्य-भेद प्रसक्त होता है, फलतः प्रारब्ध कर्म का शेष रहना सम्भव नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवंप्राप्ते प्रत्याह—अनान्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते, अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः संचिते, सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते, नत्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले, याभ्यामेतद् ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम्। कुत एतत्? 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिकरणात्क्षेमप्राप्तेः। इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत। तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत। ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोधः कर्माणि क्षपयन्कथं कानिचित्क्षपयेत् कानिचिच्चोपेक्षेत? नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद्बीजशक्तिः क्षीयते, केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति। उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते

भामती

प्रदर्शितप्रपञ्चमात्रविरोधितया तन्मध्यपतितसकलकर्मविरोधी। तथाप्यनारब्धविपाकं कर्मजातं द्राग्भित्येव समुच्छिनत्ति न त्वारब्धविपाकं सम्पादितजात्यायुर्वितपूर्वापरीभूतसुखदुःखोपभोगप्रवाहं कर्मजातं, तद्धि समुदाचरद्वृत्तितयेतरेभ्यः प्रसुप्तवृत्तिभ्यो बलवदन्यथा देवर्षीणां हिरण्यगर्भमनूद्दालप्रभृतीनां विगलितनिखिलक्लेशजालावरणतया परितः प्रद्योतमानबुद्धिसत्त्वानां न ज्योग्जीविता भवेत्। श्रूयते चैषां श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु तत्त्वज्ञता च महाकल्पकल्पमन्वन्तराद्यजीविता च। न चैते महाधियो न ब्रह्मविदोऽब्रह्मविदश्चाल्पपुण्यमेधसो मनुष्या इति श्रद्धेयम्। तस्मादागमानुसारतोऽस्ति प्रारब्धविपाकानां कर्मणां प्रशमाय तदीयसमस्तफलोपभोगप्रतीक्षा सत्यपि तत्त्वसाक्षात्कारे। तावदेव चिरमिति न चिरता विधीयते अपि तु श्रुत्यन्तरसिद्धा चिरतामनूद्य देहपातावधिमात्रविधानं तदेतदभिसन्धायौचित्यमात्रतयाह स्म भगवान् भाष्यकारः ॥ न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयम् इति ॥।

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—यद्यपि अद्वैत ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार अनादि अविद्या के द्वारा आरोपित प्रपंचमात्र का विरोधी होने के कारण प्रपंचान्तर्गत सकल कर्मों का प्रतिपक्षी है। तथापि वह संचित कर्मों का तो तुरन्त समुच्छेद कर डालता है किन्तु जिस आरब्धफलक कर्म ने प्राणी की जाति (जन्म), आयु और देश-देशान्तर काल-कालान्तर तक फैले सुख-दुःखोपयोग-प्रवाह को इयत्ता स्थिर की है, उस कर्म का सहसा उच्छेद नहीं हो सकता, क्योंकि वह (प्रारब्ध) कर्म अपने कार्योत्पादन में प्रवृत्त हो जाने के कारण प्रसुप्तवृत्तिक (अनारब्धकार्यक) कर्म की अपेक्षा प्रबल होता है, अतः शेष रहता है। अन्यथा हिरण्यगर्भ, मनु, उद्दालकादि देवर्षियों का इतना लम्बा जीवन नहीं हो सकता था, क्योंकि उनका सकलक्लेशावरण कब का विनष्ट हो चुका था, निर्धूम अग्नि के समान उनका बुद्धि-सत्त्व परितः प्रस्फुरित और जाज्वल्यमान था। ऐसे महापुरुषों की प्रखर तत्त्वज्ञता और महाकल्प-कल्पान्तर-पर्यन्त जीवनी से श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। ऐसे महानुभावों के लिए अज्ञानी कहना कदापि श्रद्धेय नहीं। अतः आगमादि प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि प्रारब्ध कर्म को अपने प्रक्षय के लिए समस्तफलोपभोग की प्रतीक्षा निश्चित है, भले ही तत्त्व-साक्षात्कार हो चुका हो। "तावदेव चिरम्" (छां० ६।१४।२) इस श्रुति के द्वारा चिरता का विधान नहीं किया जाता, अपितु उद्दालकादि तत्त्वज्ञानियों के चिरजीवन की प्रतिपादिका श्रुति से प्राप्त चिरता का अनुवाद करके देह-पातरूप अवधिमात्र का विधान किया जाता है, अतः कथित वाक्यभेद प्रसक्त नहीं होता [जैसा कि श्री मण्डनमिश्र ने भी कहा है—"अथवा चिरत्वमनूद्य देहपातावधित्वमत्रोच्यते, चिरत्वेऽवधिविशेषे चोच्यमाने वाक्यं भिद्येत" (ब्र० सि० पृ० १३०)। आशय यह होगा कि यदि किसी तत्त्वज्ञानी की विदेहमुक्ति में कुछ विलम्ब होता है, तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासंभवाद्भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्। अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति। बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव। अपि च नैवात्र विवदितव्यम्—ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं म्रियते न वा म्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरूप्यते। तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः॥ १५॥

---

भामती

न चेदं न जातु इष्टं यद्विरोधिसमवाये विरोध्यन्तरमनुवर्त्तत इत्याह ❀ अकर्त्रात्मबोधोऽपि इति ❀। यदा लोकेऽपि विरोधिनोः कञ्चित् कालं सहानुवृत्तिरुपलब्धा तदेहागमबलादीर्घकालमपि भवतीति न शक्या निवारयितुम्। प्रमाणसिद्धस्य नियोगपर्यनुयोगानुपपत्तेः। तदेवं मध्यस्थान् प्रतिपाद्य ये भाष्यकारमाप्तं मन्यन्ते तान् प्रत्याह ❀ अपि च नैवात्र विवदितव्यम् इति ❀। स्थितप्रज्ञश्च न साधकस्तस्योत्तरोत्तरध्यानोत्कर्षेण पूर्वप्रत्ययानवस्थितत्वात्। निरतिशयस्तु स्थितप्रज्ञः। स च सिद्ध एव। न च ज्ञानकार्या भयकम्पादयो ज्ञानमात्रादनुत्पादात्। सर्पावच्छेदो हि तस्य भयकम्पादिहेतुः। स चासन्ननिर्वचनीय इति कुतो वस्तुसतः कार्योत्पादः। न च कार्यमपि भयकम्पादि वस्तु सत्, तस्यापि विचारासहत्वेनानिर्वाच्यत्वात्। अनिर्वाच्याच्चानिर्वाच्योत्पत्तौ नानुपपत्तिः। यादृशो हि यक्षस्तादृशो बलिरिति सर्वमवदातम्॥ १५॥

---

भामती-व्याख्या

उतना ही, जब तक शरीर-पात नहीं होता]। इन युक्तियों को मन में रख कर भाष्यकार ने उन्हीं का औचित्य ठहराने के लिए कहा है—"न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयम्"। दो विरोधी पदार्थों का सहावस्थान कभी नहीं देखा जाता—ऐसी बात नहीं—"अकर्त्रात्मबोधोऽपि"। अर्थात् जब कि लोक में भी दो विरोधी पदार्थों की सहानुवृत्ति कुछ समय के लिए उपलब्ध होती है, तब सर्व-श्रेष्ठ आगम प्रमाण के द्वारा जो दीर्घकालीन सहानुवृत्ति सिद्ध होती है, उसका अपलाप कभी नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि जो पदार्थ प्रमाण से सिद्ध है, उसके विषय में 'ऐसा क्यों? ऐसा नहीं, ऐसा होना चाहिए'—इस प्रकार का पर्यनुयोग और नियोग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मध्यस्थ पुरुषों के लिए वस्तु-स्थिति का प्रतिपादन करके अपने श्रद्धालुओं को भाष्यकार समझाते हैं—"अपि च नैवात्र विवदितव्यम्"। अर्थात् शास्त्रों में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष के द्वारा यह नितान्त स्पष्ट किया जा चुका है कि तत्त्वज्ञानी का शरीर कुछ समय के लिए अवस्थित रहता है। [आचार्य मण्डनमिश्र ने जो कहा है—"स्थितप्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः, किन्तु साधक एवावस्थाविशेषं प्राप्त स्यात्" (ब्र० सि०पृ० १३०)। अर्थात् स्थितप्रज्ञ पूर्णतया तत्त्ववेत्ता नहीं होता, अपितु साधक-कोटि का एक उत्कृष्ट व्यक्ति है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि] स्थितप्रज्ञ साधक नहीं, अपितु वह उत्तरोत्तर ध्यानोत्कर्ष के द्वारा पूर्वप्रत्ययरूप साधना-क्षणों से उत्तीर्ण हो चुका है, ध्यान की निरतिशय कक्षा में स्थित हो गया है, वह सिद्ध है। भय-कम्पादि केवल ज्ञान के कार्य नहीं, क्योंकि ज्ञानमात्र से उत्पन्न नहीं होते। ज्ञानगत सर्पविषयकत्वरूप अवच्छेद ही भय-कम्पादि का हेतु है, वह असत् और अनिर्वचनीय है, अतः उससे सद्रूप कार्य का उत्पाद क्योंकर होगा? भय-कम्पादि कार्य भी वस्तु-सत् नहीं, क्योंकि वह भी सत् और असत् रूप से विचारणीय


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १२ अग्निहोत्राद्यधिकरणम् । सू० १६--१७ )

**अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥**

पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशयोरन्यायोऽतिदिष्टः, सोऽतिदेशः सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति—तन्नित्यमग्निहोत्रादि त्विति । तुशब्द आशङ्कामपनुदति, तन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि, तत्तुत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः ? कुतः ? 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' ( बृ० ४।४।२२ ) इत्यादिदर्शनात् । ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैक्यानुपपत्तिः, नैष दोषः, ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्, तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षकार्योपपत्तेः । नन्वनारभ्यो मोक्षः, कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते ? नैष दोषः, आरादुपकारकत्वात्कर्मणः । ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या

भामती

यदि पुण्यस्याप्यश्लेषविनाशौ हन्त नित्यमप्यग्निहोत्रादि न कर्त्तव्यं योगमारुरुक्षुणा । तस्यापीतरपुण्यवद्विद्यया विनाशात् । प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति न्यायात् । न च विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेति मोक्षलक्षणैककार्यतया विद्याकर्मणोरविरोधः । सहासम्भवेनैककार्यत्वासम्भवात् । नह्येकमात्मानं विदुषो विगलिताखिलकर्तृभोक्तृत्वादिप्रपञ्चविभ्रमस्य पूर्वोत्तरे नित्ये क्रियाजन्ये पुण्ये सम्भवतः । तस्माद्विविदिषन्ति यज्ञेनेति वर्त्तमानापदेशो ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञादीनां वा स्तुतिमात्रं न तु मोक्षसाधनयज्ञादिविधिरिति प्राप्ते

उच्यते—सत्यं न विद्ययैककार्यत्वं कर्मणां परस्परविरोधेन सहासम्भवात् । विद्योत्पादकतया तु

भामती—व्याख्या

नहीं, अतः अनिर्वचनीय है । अनिर्वचनीय कारण से अनिर्वचनीय कार्य की उत्पत्ति होने में कोई अनुपपत्ति नहीं, क्योंकि 'जैसा यक्ष वैसी उसकी बलि' ॥ १५ ॥

---

संशय—अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों का ज्ञान से नाश होता है ? अथवा नहीं ?

पूर्वपक्ष—यदि पाप के साथ-साथ पुण्य कर्म का भी अश्लेष और विनाश होता है, तब अग्नि-होत्रादि नित्य कर्मों का अनुष्ठान योग-शिखरारोहण की अभिलाषा से नहीं करना चाहिए, क्योंकि दूसरे पुण्य कर्म के समान ही वह भी ज्ञान से नष्ट हो जाता है । कीचड़ लगाकर धोने से कीचड़ न लगाना ही अच्छा है । "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन"—इस श्रुति के द्वारा जो ज्ञान और कर्म में मोक्षरूप एक ही कार्य की साधनता प्रतीत होने के कारण अविरोध है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जिन दो पदार्थों का सहावस्थान नहीं, उनका एक कार्य कभी नहीं हो सकता, क्योंकि एकात्मता या अभेदतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने के कारण जिस विद्वान् का निखिल कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का अभिमान विगलित हो जा चुका है, उसके द्वारा पूर्वानुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्मों से जनित पुण्य तो विद्योत्पत्ति के समय ही नष्ट हो जाता है और ज्ञानोत्पत्ति के उत्तर काल में अनुष्ठित अग्निहोत्र से पुण्य उत्पन्न होता ही नहीं, अतः कौन पुण्य ज्ञान के साथ रह कर मोक्षरूप कार्य को जन्म देगा ? फलतः "विविदिषन्ति यज्ञेन"—यह वाक्य ज्ञान के साथ कर्म के साहित्य का विधायक नहीं, अपितु "शूर्पेण जुहोति" इत्यादि वाक्यों के समान वर्तमान-व्यपदेश से युक्त होने के कारण ब्रह्मज्ञान या यज्ञादि का स्तावकमात्र है ।

सिद्धान्त—यह सत्य है कि विद्या और कर्म—इन दोनों में एककार्य-कारित्व नहीं बन सकता, क्योंकि दोनों का परस्पर-विरोध होने के कारण सहभाव सम्भव नहीं । कर्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अत एव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम्। नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति, अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्। सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानतिवृत्तेः संभवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि। तस्यापि निरभिसंधिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासंगत्युपपत्तिः॥ १६॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं, किंविषयं वाऽदो विनियोगवचनमेकेषां शाखिनाम्—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम् इति? अत उत्तरं पठति—

अतोऽन्यापि हि एकेषामुभयोः॥ १७॥

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यस्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या, या फलमभिसंधाय

भामती

कर्मणामारादुपकारकाणामस्तु मोक्षोपयोगः। न च कर्मणां विद्यया विरुध्यमानानां न विद्याकारणत्वं स्वकारणविरोधिनां कार्याणां बहुलमुपलम्भेः। तथा च विद्यालक्षणकार्योपायतया कार्यविनाश्यानामपि कर्मणामुपादानमर्थवत्। तदभावे तत्कार्यस्यानुत्पादेन मोक्षस्यासम्भवात्। एवञ्च विविदिषन्ति यज्ञेनेति यज्ञसाधनत्वं विद्याया अपूर्वमर्थं प्रापयतः पञ्चमलकारस्य नात्यन्तपरोक्षवृत्तितया ज्ञानस्तुत्यर्थतया कथञ्चिद्व्याख्यानं भविष्यति। तदनेनाभिसन्धिनोक्तं ॐ ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते ॐ। यत एव न विद्योदयसमये कर्मास्ति नापि परस्तात्। अपि तु प्रागेव विद्यायाः। अत एव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम्। एतदेव स्फोरयति ॐ नहि ब्रह्मविदः इति ॐ॥ १६॥

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति ॐ किंविषयं पुनरिदम् इति ॐ। अस्योत्तरं सूत्रम्—अतोऽन्यापि

भामती—व्याख्या

अन्तःकरण-शुद्धि के द्वारा विद्या के उत्पादक होकर मोक्ष के उपयोगी वैसे ही होते हैं, जैसे दर्शपूर्णमास कर्म के प्रयाजादि आरादुपकारक अङ्ग। परम्परया उपकारक अङ्गों को आरादुपकारक कहते हैं। कर्म जब विद्या के विरोधी हैं, तब विद्या के जनक क्योंकर होंगे? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कार्य के विरोधी कारणों से कार्य की उत्पत्ति के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं, जैसे दावाग्नि बाँसों की रगड़ से उत्पन्न होकर बाँस-वन को भस्मसात् कर डालती है। फलतः अपने विद्यारूप कार्य के द्वारा नष्ट हो जानेवाले कर्मों का अनुष्ठान सार्थक है, क्योंकि उनका अनुष्ठान न होने पर उनके कार्यभूत तत्त्वज्ञान का उत्पाद न होने के कारण मोक्ष का लाभ न हो सकेगा। इस प्रकार "विविदिषन्ति यज्ञेन"—इस वाक्य के द्वारा यज्ञादि में विद्या की साधनता का विधान किया जाता है। "विविदिषन्ति"—इस पद में लट् लकार नहीं, 'लेट्' है, अतः विधित्व अनुपपन्न नहीं, विधि-पक्ष में अपूर्वार्थ की प्राप्ति होती है और ज्ञान की स्तुति मानने पर स्तुति में परोक्षवृत्ति (लक्षण) की कल्पना होती है, जो कि निषिद्ध है—"न विधौ परः शब्दार्थः" (शाबर. पृ. १४१)। इस आशय को मन में रख कर भाष्यकार ने कहा है—"ज्ञानस्यैव प्रापकं सत् कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते"। कर्म न तो विद्या की उत्पत्ति के समय रहता है और न विद्योत्पत्ति के पश्चात् किन्तु विद्योत्पत्ति के पहले ही रहता है, अतः जो ज्ञान और कर्म की एककार्यता का अभिधान है, वह पूर्वकालिक कर्म के विषय में ही कहा गया है। इसी भाव का स्फोरण किया जा रहा है—"न हि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि संभवति"॥ १६॥

अग्रिम सूत्र के अवतरणार्थ प्रश्न किया जाता है—"किंविषयं पुनरिदम्"। अर्थात् पूर्वोक्त अश्लेष और विनाश किस कर्म के विषय में कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर-सूत्र

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियते, तस्या एष विनियोग उक्त 'एकेषां शाखिनाम्-सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति। तस्या एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति। तथाजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥

---

## ( १३ विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् सू० १८ )

### यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

समधिगतमेतदनन्तराधिकरणे—नित्यमग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति। तत्राग्निहोत्रादि कर्माङ्गत्वेनाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति। 'य एवं विद्वान्यजति', 'य एवं विद्वाञ्जुहोति', 'य एवं विद्वाञ्छंसति', 'य एवं विद्वान्गायति', 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवं विदं' ( छा० ४।१७।१० ), 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' ( छा० १।१।१० ) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति, केवलमप्यस्ति। तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते, न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति। कुतः संशयः ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्। विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात्। किं तावत्प्राप्तम् ? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते, न विद्याहीनम्, विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात्, 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्, इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' ( गी० २।३९ ), 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ( गी० २।४९ ) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति।

---

भामती

ह्येकेषामुभयोः। काम्यकर्मविषयमश्लेषविनाशवचनं शाखान्तरीयवचनं च तस्य पुत्रा दायमुपयन्तीति ॥१७॥

---

अस्ति विद्यासंयुक्तं यज्ञादि य एवं विद्वान् यजेतेत्यादिकम्। अस्ति च केवलम्। तत्र यथा ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात्युक्ते विदुषे ब्राह्मणाय दद्यान्न ब्राह्मणब्रुवाय मूर्खायेति विशेषप्रतिलम्भः। तत् कस्य हेतोस्तस्यातिशयवत्त्वात्। एवं विद्यारहिताद् यज्ञादेर्विद्यासहितमतिशयवदिति तस्यैव परविद्या-

---

भामती-व्याख्या

है—"अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः"। अर्थात् नित्यकर्म से भिन्न जो काम्य क्रिया है, उसके विषय में अश्लेष-विनाश का अभिधान जैमिनि और बादरायण—इन दोनों को सम्मत है। अन्य ( काण्व ) शाखावालों का कहना है—"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" ( कौ. १।४ )। अर्थात् मरनेवाले विद्वान् की चलाचल सम्पत्ति पुत्र पाते हैं, पुण्य-राशि मित्रों और पाप-राशि शत्रुओं को मिलती है ॥ १७ ॥

---

**संशय**—अङ्गोपासना-सहित नित्य कर्म ही विद्या का साधन है ? अथवा उपासना-रहित कर्म भी विद्योपयोगी है ?

**पूर्वपक्ष**—"य एवंविद्वान् यजेत" इत्यादि वाक्यों से विहित उपासना-विशिष्ट कर्म भी हैं और शुद्ध कर्म भी। उनमें जैसे "ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात्" इस वाक्य में 'ब्राह्मण' पद से विद्वान् ब्राह्मण का ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि मूर्ख ब्राह्मण की अपेक्षा विद्वान् ब्राह्मण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—यदेव विद्ययेति हि। सत्यमेतत्, विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्राद्विशिष्टम्, विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद् ब्राह्मणात्, तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम्। कस्मात्? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात्। ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम्, नैतदेवम्, विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कञ्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति, न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम्, नतु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्। तथा हि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति। कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तत्, यत्स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम्। तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्, तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धातात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम्॥ १८॥

———

भामती

साधनत्वमुपात्तदुरितक्षयद्वारा नेतरस्य। तस्माद्विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यविशेषश्रुतमपि विद्यासहिते यज्ञादावुपसंहर्त्तव्यमिति प्राप्ते।

अभिधीयते—यदेव विद्यया करोति तदेवास्य वीर्यवत्तरमिति तरबर्थश्रुतेर्विद्यारहितस्य वीर्यवत्तामात्रमवगम्यते। न च सर्वथाऽकिञ्चित्करस्य तदुपपद्यते। तस्मादस्त्यस्यापि कयापि मात्रया परविद्योत्पादोपयोग इति विद्यारहितमपि यज्ञादि परविद्यार्थिनाऽनुष्ठेयमिति सिद्धम्॥ १८॥

———

भामती—व्याख्या

श्रेष्ठ है। वैसे ही उपासना-रहित कर्म की अपेक्षा उपासना-सहित कर्म श्रेष्ठ है, अतः वही परविद्या-साधनत्वेन ग्राह्य है, केवल कर्म नहीं। अतः यद्यपि "विविदिषन्ति यज्ञेन"—यहाँ पर सामान्य कर्म संकीर्तित है, तथापि उसका उपसंहार (पर्यवसान) उपासना-विशिष्ट कर्म में कर लेना चाहिए।

सिद्धान्त—"यदेव विद्यया करोति तदेवास्य वीर्यवत्तरं भवति" (छां० १।१।१०) यहाँ 'तरप्' प्रत्यय के द्वारा उपासना-सहित कर्म में वीर्यवत्तरता मात्र का अभिधान किया गया है, इससे विद्या-रहित कर्म में वीर्यवत्ता की तो प्रतीति हो ही जाती है, विद्या-सहित कर्म वीर्यवत्तर है—यह दूसरी बात है। विद्या-रहित कर्म की वीर्यवत्ता भी तभी सार्थक होगी, जब परविद्या में उसका भी किसी-न-किसी प्रकार उपयोग माना जाय। फलतः ज्ञानार्थी के लिए उक्त उभय-विध कर्मों का अनुष्ठान विसर्ग-सिद्ध है॥ १८॥

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( १४ इतरक्षपणाधिकरणम् । सू० १९ )

**भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥**

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः, इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म संपद्यते, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' ( छान्दो० ६।१४।२ ) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः। ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद् भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेवं पश्चादप्यनुवर्तेत, - न, निमित्ताभावात्। उपभोगशेषक्षपणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तम्, नच तादृशमत्र किंचिदस्ति। नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते, न, तस्य दग्धबीजत्वात्। मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपात उपभोगान्तरमारभते, तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

---

भामती

अनारब्धकार्यं इत्यस्य नञः फलं भोगेन निर्वृत्ति दर्शयत्यनेन सूत्रेणास्य तूपन्यासं पुरस्तादपकृष्य कृतमिति नेह क्रियते पुनरुक्तिभयात् ॥ १९ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभगवत्पादभाष्यविभागे भामत्यां
चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

---

भामती-व्याख्या

**सन्देह**—तत्त्वसाक्षात्कार कर लेने पर तत्त्ववेत्ता की मुक्ति होती है ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—तत्त्वसाक्षात्कार से केवल संचित कर्मों का नाश होता है, आरब्धकार्यक कर्मों का नहीं, अतः बन्धन शेष रहने के कारण मुक्ति क्योंकर होगी ?

**सिद्धान्त**—जैसे संचित कर्मों का तत्त्वसाक्षात्कार से नाश होता है, वैसे प्रारब्ध कर्म का भोग से, अतः किसी प्रकार का बन्धन शेष न रहने से विद्वान् मुक्त हो जाता है। "अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः" ( ब्र. सू. ४।१।१५ ) इस सूत्र में 'नञ्' के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का जो तत्त्वसाक्षात्कार से अनाश प्रतिपादित किया, वह भोग के द्वारा प्रारब्ध में नाश्यता का पर्यवसान करने के लिए। इसका उपपादन उस सूत्र की व्याख्या में ही कर दिया गया है, अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति निरर्थक है ॥ १९ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां भामतीव्याख्यायां
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ।

### [ अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम् ]

### ( १ वागधिकरणम् । सू० १–२ )

### वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयानं पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथमं तावद्यथा-शास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे । समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति । अस्ति प्रायणविषया श्रुतिः 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' ( छा० ६।८।६ ) इति । किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि संपत्तिरुच्यते उत वाग्वृत्तेरिति विशयः । तत्र वागेव तावन्मनसि संपद्यत इति प्राप्तम् । तथा हि—श्रुतिरनुगृहीता भवति । इतरथा लक्षणा

भामती

अथास्मिन् फलविचारलक्षणे वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्याविविचारोऽसङ्गत इत्यत आह ❀ अथा-परासु विद्यासु फलप्राप्तये इति ❀ । अपरविद्याफलप्राप्त्यर्थंदेवयानमार्गार्थंत्वादुत्क्रान्तेस्तद्गतो विचारः पारम्पर्येण भवति फलविचार इति नासङ्गत इत्यर्थः । नन्वयमुत्क्रान्तिक्रमो विदुषो नोपपद्यते न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्त इति श्रवणात् तत् कथमस्य विद्याधिकार इत्यत आह ❀ समाना हि विद्वदविदुषोः इति ❀ । विषयमाह ❀ अस्ति इति ❀ । विमृशति ❀ किमिह इति ❀ । विशयः संशयः ।

भामती–व्याख्या

**संगति**—इस फलाध्याय में "वाङ्मनसि सम्पद्यते"—ऐसा लयाभिधान असंगत क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है—"अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये" । अर्थात् परा विद्या का फल ( मोक्ष ) पूर्वपाद में कहा गया, अपरा विद्या का ब्रह्मलोकादि-प्राप्तिरूप फल इस पाद में कहना है । यह फल देवयान के द्वारा प्राप्य है । अर्चिरादि मार्गों का अवलम्बन जीव तभी करेगा, जब कि शरीर से उसकी उत्क्रान्ति हो, अतः उत्क्रान्ति-क्रम का विचार परम्परया उपयोगी होने से असंगत नहीं । तत्त्ववेत्ता पुरुष के समान उपासक का भी यह उत्क्रान्ति-क्रम संभव नहीं, क्योंकि श्रुति ने विद्वान् की उत्क्रान्ति का निषेध किया है—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवनीयन्ते" ( बृह० उ० ४।४।६ ) अर्थात् विद्वान् के प्राण शरीर से उत्क्रमण नहीं करते, अपितु यहाँ ही महावायु में विलीन हो जाते हैं । इस प्रकार इस प्राणोत्क्रमण-क्रम का विद्या या विद्वान् से क्या सम्बन्ध ? इस शङ्का का समाधान है—"समाना हि विद्वदविदुषो-रुत्क्रान्तिः" । अर्थात् विद्वान् ( उपासक ) और अनुपासक—इन दोनों की उत्क्रान्ति समानरूप से होती हैं ।

**विषय**—"अस्य सोम्य ! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते" ( छां० ६।८।६ ) उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहते हैं—हे सोम्य ! इस प्रयत ( म्रियमाण ) पुरुष की वाक् मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में विलीन हो जाता है ।

**संशय**—इस श्रुति के द्वारा वागादि इन्द्रियों का लय प्रतिपादित है ? अथवा वागादि की वृत्तियों का ? 'विशय' शब्द का अर्थ 'संशय' है ।

**पूर्वपक्ष**—"तत्र वागेव" । श्रुतिगत वागादि पद मुख्य वृत्ति से वागादि इन्द्रियों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्माद्वाच एवायं मनसि प्रलय इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यत इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते? यावता वाङ्मनसेत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्, पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षा। वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः। कस्मात्? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्, नतु वाच एव वृत्तिमत्त्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम्, नेत्याह, अतत्प्रकृतित्वात्।

भामती

पूर्वपक्षमाह ❀ तत्र वागेव इति ❀। श्रुतिलक्षणा। विषये संशये। सिद्धान्तसूत्रं पूरयित्वा पठति ❀ वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यते इति ❀। वृत्त्यध्याहारप्रयोजनं प्रश्नपूर्वकमाह ❀ कथम् इति ❀। उत्तराधिकरणपर्यालोचनेनैवं पूरितमित्यर्थः। तत्त्वस्य धर्मिणो वाचः प्रलयविवक्षायां त्विह सर्वत्रैव परत्रेह चाविभागसाम्यात् किं परत्रैव विशिष्यादविभाग इति न त्वत्रापि। तस्माविहाविभागेनाविशिष्यतोऽत्र वृत्त्युपसंहारमात्रविवक्षा सूत्रकारस्येति गम्यते। सिद्धान्तहेतुं प्रश्नपूर्वकमाह ❀ कस्माद् इति ❀। सत्यामेव मनोवृत्तौ वाग्वृत्तेरुपसंहारदर्शनात्। वाचस्तूपसंहारमदृष्टं नागमोऽपि गमयितुमर्हति। आगमप्रभवयुक्तिविरोधाच्च आगमो हि दृष्टानुसारतः प्रकृतौ विकाराणां लयमाह। न च वाचः प्रकृतिर्मनो येना-

भामती—व्याख्या

ही कहते हैं। वृत्ति का लाभ करने के लिए वागादि पदों की लक्षणा करनी पड़ेगी। श्रुति (अभिधा) का ग्रहण किया जाय? अथवा लक्षणा का? ऐसा जहाँ विशय (संशय) हो, वहाँ अभिधावृत्ति का ग्रहण ही उचित माना जाता है।

सिद्धान्त—"वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यते"। यहाँ 'वृत्ति' पद के अध्याहार (अश्रुताक्षेप) का प्रयोजन प्रश्नपूर्वक दिखाते हैं—"कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते?" अर्थात् उत्तरभावी "अविभागो वचनात्" (ब्र. सू. ४।२।१६) इस अधिकरण के अनुरोध पर यहाँ वाग्वृत्ति का ग्रहण किया गया है। "तत्त्वप्रलयविवक्षायाम्"—इस भाष्य में 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है—वागिन्द्रियरूप धर्मी। अर्थात् यदि वाग् इन्द्रिय का लय विवक्षित होता, तो वह इस सूत्र तथा परत्र (उत्तरभावी सोलहवें सूत्र में) समान होता, किन्तु यहाँ किसी विशेष पद से लय का अभिधान नहीं किया गया, जब कि सोलहवें सूत्र में 'अविभाग' पद के द्वारा प्रलय प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार विशेष पद (अविभाग) का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि विकारभूत वागादि इन्द्रियों का प्रलय उनकी ब्रह्मरूप प्रकृति में समुचित विलय सोलहवें सूत्र में ही कहा जायगा, यहाँ वाग् इन्द्रिय की वृत्ति (व्यापार) का ही उपशम मानस वृत्ति में विवक्षित है। यह अनुभव-सिद्ध है कि मरते हुए पुरुष का बोलना बन्द हो जाता है किन्तु संकल्प-विकल्पात्मक मानस व्यापार बना रहता है, यही वाग्वृत्ति का मनोवृत्ति में उपसंहार या उपशम है। यही सूत्रस्थ 'दर्शनात्' पद का अवतरण है—"कस्मात्?" "दर्शनात्"। अर्थात् वाग्वृत्ति का ही लय देखा गया है, वागिन्द्रिय का नहीं। जो पदार्थ अनुभव-सिद्ध नहीं, उसको आगम (शास्त्र) भी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि वैसा करना केवल अनुभव-विरुद्ध ही नहीं, आगममूलक युक्तियों से भी विरुद्ध है। आगम दृष्टानुसार मृदादि प्रकृति में घटादि विकारों का लय कहता है—वाङ्मनस्यभिसंविशन्ति (तै० उ० ३।१।१)। इसके

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य। नच मनसो वागुत्पद्यत इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तेजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि सम्पद्यत इति? अत आह—शब्दाच्चेति। शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः॥ १॥

अत एव च सर्वाण्यनु॥ २॥

'तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' (प्रश्न० ३।९) इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणां मनसि सम्पत्तिः श्रूयते। तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलयासंभवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। सर्वेषां करणानां मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाचः पृथग् ग्रहणं वाङ्मनसि सम्पद्यत इत्युदाहरणानुरोधेन॥ २॥

---

(२ मनोधिकरणम्। सू० ३)

तन्मनः प्राण उत्तरात्॥ ३॥

समधिगतमेतद्—'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (छा० ६।८।६) इत्यत्र वृत्तिसंपत्तिवि-

---

भामती

स्मिन्नियं लीयेत तस्माद् वृत्तिमतोरभेदविवक्षया वाक्पदं तद्वृत्तौ व्याख्येयम्। सम्भवति च वाग्वृत्तेर्वागप्रकृतावपि मनसि लयः। तथा तत्र तत्र दर्शनादित्याह ❀ वृत्त्युद्भवाभिभवौ इति ❀॥ १॥

यत एव प्रकृतिविकारभावाभावान्मनसि न स्वरूपलयो वाचोऽपि तु वृत्तिलयः। अत एव सर्वेषां चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां सत्येव सवृत्तिके मनसि वृत्तेरनुगतिर्लयो न स्वरूपलयः। वाचस्तु पृथक् ग्रहणं पूर्वसूत्रे उदाहरणापेक्षं न तु तदेवेह विवक्षितमित्यर्थः॥ २॥

---

यदि स्वप्रकृतौ विकारस्य लयस्ततो मनः प्राणे सम्पद्यते इत्यत्र मनःस्वरूपस्यैव प्राणे सम्पत्त्यां

---

भामती—व्याख्या

अनुसार वाक् इन्द्रिय का मन में लय नहीं हो सकता, क्योंकि मन वागिन्द्रिय की प्रकृति (उपादानकारण) नहीं। वागिन्द्रिय का 'वदन' व्यापार (वृत्ति) वागिन्द्रिय से अभिन्न होने के कारण "वाग्वृत्तिर्मनसि" के स्थान पर "वाङ्मनसि"—ऐसा कह दिया गया है। जैसे अग्नि की दाहादि वृत्ति अपनी अप्रकृतिभूत जल में उपशान्त हो जाती है, वैसे ही वाग्वृत्ति मन में, भले ही मन उसकी प्रकृति नहीं—ऐसा ही देखा जाता है—'वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते"॥ १॥

जैसे प्रकृति-विकारभाव का मन में अभाव होने के कारण वागिन्द्रिय का मन में स्वरूपतः लय न होकर कार्यतः लय व्यवहृत होता है, वैसे ही सभी चक्षुरादि इन्द्रियों की वृत्ति का ही मन में लय माना जाता है। मन में सभी इन्द्रियों का विवक्षित वृत्ति-विलय केवल इस द्वितीय सूत्र से जब प्रतिपादित हो जाता है, तब प्रथम सूत्र में वागिन्द्रिय का पृथक् ग्रहण क्यों? इस प्रश्न का उत्तर है—"वाचः पृथक् ग्रहणम्"। अर्थात् "वाङ्मनसि"—इस श्रुति के अनुरोध पर सूत्रकार ने उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वाक् का पृथक् ग्रहण किया है, वाक् का लय इस सूत्र में प्रतिपिपादयिषित नहीं॥ २॥

---

यदि विकारतत्त्व का अपनी प्रकृति में लय होता है, तब मन का प्राण में स्वरूपतः

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्ष्येति । अथ यदुत्तरवाक्यम्—'मनः प्राणे' ( छा० ६।८।६ ) इति, किमत्रापि वृत्तिसंपत्तिरेव विवक्ष्यत उत वृत्तिमत्सम्पत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्, श्रुत्यनुगृहीतत्वात्प्रकृतिकत्वोपपत्तेश्च । तथा हि—'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' ( छा० ६।५।४ ) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम् । 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः । अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । तथा हि सुषुप्तोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परिस्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते । नच मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे संभवति, अतत्प्रकृतित्वात् । ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम्, नैतत्सारम्, न हीदृशेन प्राणादिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे संपत्तुमर्हति । एवमपि ह्यन्ने मनः संपद्यताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः । न ह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायत इति किंचन प्रमाणमस्ति तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः । वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते, वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम् ॥ ३ ॥

---

भामती

भवितव्यम् । तथाहि मन इति नोपचारतो व्याख्यानं भविष्यति । सम्भवति हि प्रकृतिविकारभावः प्राणमनसोरन्नमयं हि सोम्य मन इत्यत्राप्यात्मतामाह मनसः श्रुतिरापोमयः प्राण इति च प्राणस्यावात्मताम् । प्रकृतिविकारयोस्तावात्म्यात्तथा च प्राणो मनसः प्रकृतिरिति मनसो वृत्तिमतः प्राणे लय इति प्राप्तेऽभिधीयते— सत्यमापोऽन्नमसृजन्त इति श्रुतेरबन्नयोः प्रकृतिविकारभावोऽवगम्यते । न तु तद्विकारयोः प्राणमनसोः स्वयोनिप्रणाडिकया तु मिथो विकारयोः प्रकृतिविकारभावाभ्युपगमे सङ्करावतिप्रसङ्गः स्यात् । तस्माद् यो यस्य साक्षाद्विकारस्तस्य तत्र लय इत्यन्नस्याप्सु लयो न त्वब्विकारे प्राणेऽन्नविकारस्य मनसस्तथा चान्नापि मनोवृत्तेर्वृत्तिमति प्राणे लयो न तु वृत्तिमतो मनस इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

---

भामती—व्याख्या

लय प्रतिपादित होना चाहिए, 'मनः' पद का मनोवृत्तिरूप औपचारिक अर्थ नहीं करना चाहिए, क्योंकि मन और प्राण का प्रकृति-विकारभाव सम्भव है—"अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राण" ( छां. ६।५।४ ) यह श्रुति मन को अन्नमय ( पृथिवीरूप ) तथा प्राण को आपोमय ( जलात्मक ) प्रतिपादित करती है, पृथिवी और जल का प्रकृति-विकारभाव प्रसिद्ध है, अतः मन और प्राण का भी प्रकृति-विकारभाव पर्यवसित होता है, अत. वृत्तमान् मन का प्राण में लय बन जाता है ।

सिद्धान्त—यह सत्य है कि "ताः ( आपः ) अन्नमसृजन्त" ( छां. ६।२।४ ) इस श्रुति से जल और पृथिवी का ही प्रकृति-विकारभाव अवगत होता है, उनके विकारभूत प्राण और मन का नहीं । प्रकृति के माध्यम से विकारों का लय मानने पर घट का शराव में लय प्रसक्त होता है । अतः जो पदार्थ जिस वस्तु का साक्षात् विकार होता है, उस पदार्थ का ही उस वस्तु में लय होता है । इस प्रकार अन्न ( पृथिवी ) का जल में लय होता है, जल के विकारभूत प्राण में अन्न के विकारभूत मन का लय कभी नहीं हो सकता । प्रकृत में मनोवृत्ति का ही प्राण में लय होता है, न कि मन का—यह सिद्ध हो गया ॥ ३ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ३ अध्यक्षाधिकरणम् । सू० ४--६ )

## सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स्थितमेतत्—यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति । इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्युपसंहारः, किं वा देहेन्द्रियपञ्चराध्यक्षे जीव इति । तत्र श्रुतेरनतिशङ्कथत्वात् प्राणस्य तेजस्येव संपत्तिः स्यात्, अश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति । एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—सोऽध्यक्ष इति । स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते । तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः । 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणान्विशेषेण दर्शयति । विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' ( बृ० ४।४।२ ) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' ( बृ० ४।४।२ ) इति । 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति । ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते, कथं प्राणो-

भामती

प्राणस्तेजसीति तेजःशब्दस्य भूतविशेषवचनत्वाद्विज्ञानात्मनि चाप्रसिद्धेः प्राणस्य जीवात्मन्युपगमानुगमनावस्थानश्रुतीनां च तेजोद्वारेणाप्युपपत्तेस्तेजसि समापन्नवृत्तिः खलु प्राणस्तेजस्तु जीवात्मन्यवतिष्ठते । तद्द्वारा जीवात्मसमापन्नवृत्तिः प्राण इत्युपपद्यते । तस्मात्तेजस्येव प्राणवृत्तिप्रविलय इति प्राप्तेऽभिधीयते—स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षे विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते तत्तन्त्रवृत्तिर्भवति । कुतः ? उपगमानुगमनावस्थानेभ्यो हेतुभ्यस्तत्रोपगमश्रुतिमाह । ❀एवमेवेममात्मानमिति❀ । अनुगमनश्रुतिमाह ❀तमुत्क्रामन्तम् इति❀ । अवस्थानश्रुतिमाह ❀ सविज्ञानो भवतीति च इति ❀ । विज्ञायतेऽनेनेति विज्ञानं पञ्चवृत्तिप्राणसहित इन्द्रियग्रामस्तेन सहावतिष्ठत इति सविज्ञानः । चोदयति ❀ ननु प्राणस्तेजसीति श्रूयते इति ❀ । अधिकावापोऽ-

भामती- व्याख्या

**संशय**—प्राण का लय तेज में होता है ? अथवा जीव में ?

**पूर्वपक्ष**—"प्राणस्तेजसि" ( छां. ६।८।६ ) इस श्रुति में 'तेजः' शब्द एक भूत-विशेष का ही वाचक है, जीव का वाचक नहीं, अतः प्राण का लय तेज में होना चाहिए । यह जो श्रुति ने जीव में प्राण के उपगमन ( प्राप्ति ), अनुगमन और अवस्थान का अभिधान किया है—"एवमेवेममात्मानं सर्वे प्राणाः" (बृ. उ. ४।४।२) उसका तेज के द्वारा परम्परया जीव में लय मान कर सामञ्जस्य हो जाता है अर्थात् प्राण की वृत्ति तेज में और तेज की वृत्ति जीवात्मा में समाप्त होती है ।

**सिद्धान्त**—"सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः" । 'सः' पद से प्रकृत प्राण का एवं 'अध्यक्ष' पद से विज्ञानात्मा (जीव) का ग्रहण किया गया है । प्राण की वृत्ति जीव में समाप्त होती है, क्योंकि प्राण का उपगम, अनुगमन और अवस्थान जीव में ही होता है । उपगम-श्रुति का प्रदर्शन करते हैं—"एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति" (बृह. उ. ४।३।३८) [ कहीं यात्रा के लिए उद्यत राजा के पास जैसे सभी परिजन अपने-आप पहुँच जाते हैं, वैसे ही मुमूर्षु जीवात्मा को सभी प्राण चिपट जाते हैं ]। अनुगमन-श्रुति प्रस्तुत करते हैं—"तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" ( बृह. उ. ४।४।२ )। [ इस शरीर से जीव के उत्क्रमण करने पर प्राण भी अनुगमन करता है ]। अवस्थान-श्रुति उद्धृत करते हैं—"सविज्ञानो भवति" ( बृह. उ. ४।४।२ )। यहाँ 'विज्ञायतेऽनेन'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विज्ञान' पद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऽध्यक्ष इत्यधिकारापः क्रियते ? नैष दोषः, अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य, श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

कथं तर्हि 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम्, 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति, न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य। नैष दोषः, सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तराल उपसंख्यातत्वात्। योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुरायाः पाटलिपुत्रं व्रजति, सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम्। तस्मात् 'प्राणस्तेजसी'ति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

भामती

शब्दार्थव्याख्यानम्। परिहरति ❀ नैष दोष इति ❀। यद्यपि प्राणस्तेजसीत्यतस्तेजसि प्राणवृत्तिलयः प्रतीयते, तथापि सर्वशाखाप्रत्ययत्वेन विद्यानां श्रुत्यन्तरालोचनया विज्ञानात्मनि लयोऽवगम्यते। न च तेजसस्तत्र लय इति साम्प्रतम्। तस्यानिलाकाशक्रमेण परमात्मनि तत्त्वलयावगमात्। तस्मात्तेजोग्रहणेनोपलक्ष्यते तेजःसहचरितदेहबीजभूतपञ्चभूतसूक्ष्मपरिवाराध्यक्षो जीवात्मा तस्मिन् प्राणवृत्तिरध्येतीति ॥ ४ ॥

चोदयति ❀ ननु चेयं श्रुतिः इति ❀। तेजःसहचरितानि भूतान्युपलक्ष्यन्तां तेजःशब्देनाध्यक्षे तु किमायातं तस्य तदसाहचर्यादित्यर्थः। परिहरति ❀सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्यापि इति❀। यदा ह्ययं प्राणोऽन्तरालेऽध्यक्षं प्राप्याध्यक्षसम्पर्कवशादेव तेजःप्रभृतीनि भूतसूक्ष्माणि प्राप्नोति तदोपपद्यते प्राणस्तेजसीति। अत्रैव दृष्टान्तमाह ❀ योऽपि स्रुघ्नात् इति ॥ ५ ॥

भामती—व्याख्या

से पञ्चप्राण-सहित इन्द्रिय-समूह विवक्षित है, उसके साथ अवस्थित जीव सविज्ञान है]।

शङ्का—"ननु प्राणस्तेजसीति श्रूयते"। अर्थात् श्रुति में प्राण का तेज में लय श्रुत है, तब "प्राणोऽध्यक्षे"—इस प्रकार का अधिकारापः [ऐसा व्याख्यान जो श्रुति-पदों की अभिधा से परे या अधिक हो] क्यों किया जाता है ?

समाधान—"नैष दोषः"। यद्यपि 'प्राणस्तेजसि'—इस वाक्य के द्वारा प्राण की वृत्ति का लय तेज में प्रतीत होता है, तथापि उपासनाओं के स्वरूप की अवगति में सभी शाखाओं का समानरूप से आदर किया जाता है, अतः उत्क्रमणादि-श्रुतियों में वर्णित जीवात्मा में ही प्राण-वृत्ति का लय माना जाता है। तेजस्तत्त्व का भी लय जीव में नहीं हो सकता, क्योंकि तेज का वायु में, वायु का आकाश एवं आकाश का ब्रह्म में—इस प्रकार का तात्त्विक लय श्रुति-प्रतिपादित है, अतः प्राणस्तेजसि'—यहाँ पर 'तेजः' पद की जीव में लक्षणा की जाती है, क्योंकि तेजःसहचरित देह के बीजरूप पञ्च सूक्ष्मभूत के परिवार का वह अध्यक्ष है, उसी में प्राण-वृत्ति का लय होता है ॥ ४ ॥

शङ्का—"ननु चेयं श्रुतिः"। अर्थात् 'छत्रिणो यान्ति' के समान तेजःसहचरित भूतपञ्चक में 'तेजः' पद की लक्षणा हो सकती है किन्तु उसके अध्यक्ष (जीव) का ग्रहण क्योंकर होगा ?

समाधान—"सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्यापि अन्तराले उपसंख्यातत्त्वात्"। जब कि यह प्राणतत्त्व अन्तराल (मध्य) में जीव को प्राप्त होकर उसके सम्पर्क से ही तेज आदि सूक्ष्म भूतों को प्राप्त करता है, तब 'प्राणस्तेजसि'—ऐसा व्यवहार असंगत नहीं, जैसे कि "योऽपि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते ? यावतैकमेव तेजः श्रूयते 'प्राणस्तेजसी'ति । अत आह—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते, कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' ( छा० ५।३।३ ) इति । तद्व्याख्यातम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' ( ब्र० सू० ३।१।२ ) इत्यत्र । श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः । श्रुतिः—'पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या । स्मृतिरपि—'अण्व्यो मात्राविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः' इत्याद्या । ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' ( बृ० ३।२।१३ ) इत्युपक्रम्य

भामती

सूत्रान्तरमवतारयितुं पृच्छति ❀ कथं तेजःसहचरितेषु इति ❀ ।

अत्र भाष्यकारोऽनुमानदर्शनमाह ❀ कार्यस्य शरीरस्य इति ❀ । स्थूलशरीरानुरूपमनुमेयं सूक्ष्ममपि शरीरं पञ्चात्मकमित्यर्थः । दर्शयत इति सूत्रावयवं व्याचष्टे ❀ दर्शयतश्चैतमर्थम् इति ❀ । प्रश्नप्रतिवचनाभिप्रायं द्विवचनं श्रुतिस्मृत्यभिप्रायं वा । अण्व्यो मात्राः सूक्ष्मा दशार्धानां पञ्चानां भूतानामिति । श्रुत्यन्तरविरोधं चोदयति । ❀ ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु इति ❀ । कर्माश्रयतेति प्रतीयते न भूताश्रयतेत्यर्थः । परिहरति ❀ अत्रोच्यते इति ❀ ग्रहा इन्द्रियाणि अतिग्रहास्तद्विषयाः । कर्मणां प्रयोजकत्वेनाश्रयत्वं भूतानां तूपादानत्वेनेत्यविरोधः । प्रशंसाशब्दोऽपि कर्मणां प्रयोजकतया प्रकृष्टमाश्रयत्वं

भामती—व्याख्या

स्रुघ्नात्" अर्थात् जो व्यक्ति स्रुघ्न ( आगरा ) से मथुरा के अन्तराल ( मार्ग ) से पाटलिपुत्र जाता है, उसके लिए स्रुघ्नात् पाटलिपुत्रं याति'—ऐसा व्यवहार किया जा सकता है ॥ ५ ॥

छठे सूत्र का अवतरण प्रस्तुत करने के लिए प्रश्न उठाते हैं—"कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते ?" अर्थात् श्रुति में जब 'तेजसि' इस प्रकार एकवचन प्रयुक्त है, तब सूत्रकार ने 'भूतेषु' ऐसा बहुवचन प्रयोग कैसे किया ? इसके उत्तर में भाष्यकार अनेक भूतों का अनुमान दिखाते हैं—"कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात्" । अर्थात् स्थूल शरीर के अनुरूप ही सूक्ष्म शरीर भी पञ्चभूतात्मक है, अतः 'भूतेषु' ऐसा सौत्र प्रयोग संगत हो जाता है । सूत्र के 'दर्शयतः' इस पद की व्याख्या करते हैं—"दर्शयतश्चैतमर्थम्"' । अर्थात् सूक्ष्म शरीर की पञ्चभूतात्मकता को प्रश्न और प्रतिवचन अथवा श्रुति और स्मृति दोनों से दिखाते हैं । उक्त मनु-वाक्य में 'अण्व्यो मात्राः' का अर्थ है—'सूक्ष्माः' और 'दशार्धानाम्' का अर्थ है—'पञ्चानां भूतानाम्' ।

शङ्का—"ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु" । अर्थात् जब जीव अपनी वागादि इन्द्रियों को समेट कर दूसरे शरीर में प्रवेश की इच्छा से पहले शरीर को छोड़ देता है, तब किसके आश्रित रहता है, ऐसा प्रश्न उठाया गया—"क्वायं तदा पुरुषो भवति" ( बृह० उ० ३।२।१३ ) । उस प्रश्न के उत्तर में दूसरी कर्माश्रयता कही है, भूताश्रयता नहीं—"तो यदूचतुः, कर्म हैव तदूचतुः" ( बृह० उ० ३।२।१३ ) अर्थात् याज्ञवल्क्य और आर्तभाग ने कर्म को जीव का आश्रय कहा है ।

समाधान—"अत्रोच्यते" । 'ग्रह' पद से इन्द्रियों और 'अतिग्रह' पद से उनके विषयों का ग्रहण किया गया है । आशय यह है कि सूक्ष्म शरीर के प्रयोजक ( प्रवर्तक ) होने के कारण कर्मों ( अदृष्टों ) को आश्रय तथा उपादान कारण होने से पाँच भूतों को आश्रय कहा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति-'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' ( बृ॰ ३।२।१३ ) इति, अत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहाति-ग्रहसंज्ञकस्येन्द्रियविषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता, इह पुनर्भूतोपादानाद् देहान्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम् । प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितम्, नत्वाश्रयान्तरं निवारितम् , तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥

---

## ( ४ आसृत्युपक्रमाधिकरणम् । सू॰ ७ )

**समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥**

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, किं वा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम् । भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा । पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते । नच विदुषः पुनर्भवः सम्भवति । 'अमृतत्वं हि विन्दानश्नुते' इति स्थितिः । तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः । ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा भवेत्—न, स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात् । यथा हि—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम', 'अशिशिषति नाम', 'पिपासति नाम' ( छा॰ ६।८।१,३,५ ) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन, नतु विदुषो

भामती

ब्रूते, सति निकृष्ट आश्रयान्तरे तदुपपत्तरित्याह ❀ प्रशंसाशब्दादपि तत्र इति ❀ ॥ ६ ॥

---

अत्रामृतत्वप्राप्तिश्रुतेः परविद्यावन्तं प्रत्येतदिति मन्वानस्य पूर्वः पक्षः । विशयानानां सन्दिहानानां पुंसां । चोदयति ❀ ननु विद्याप्रकरणे इति ❀ । परिहरति । ❀ न स्वापादिवत् इति ❀ । परविद्ययैवामृतत्वप्राप्त्यवस्थामाख्यातुं तत्सधर्माश्च तद्विधर्माश्चान्या अप्यवस्थास्तवनुगुणतया व्याख्यायन्ते ।

भामती—व्याख्या

गया है, अतः किसी प्रकार का विरोध प्रसक्त नहीं होता । "कर्म हैव प्रशशंसतुः" ( बृह॰ उ॰ ३।२।१३) इस प्रकार याज्ञवल्क्य और आर्तभाग ने कर्म की प्रशंसा भी इसीलिए की वह प्रयोजक होने के कारण प्रकृष्ट आश्रय है । प्रकृष्टता की उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि कोई निकृष्ट आश्रय हो, भाष्यकार यही दिखाते हैं—"प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितम्" ॥ ६ ॥

---

**संशय**—विद्वान् और अविद्वान्—दोनों की उत्क्रान्ति समान होती है ? अथवा कुछ अन्तर है ?

**पूर्वपक्ष**—"अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते" यह श्रुति परविद्यावाले विद्वान् को विषय करती है—ऐसा माननेवाले व्यक्ति का यह पूर्वपक्ष है । 'विशयानानाम्' का अर्थ है-सन्दिहानानां पुंसाम् [ अर्थात् ऐसे संशयालुओं के रहने पर पूर्वपक्षी का कहना है—विशेषवती ] । उत्क्रान्ति जब विद्या के प्रकरण में पठित है, तब विद्वान् की उत्क्रान्ति क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर है-"न स्वापादिवद् यथाप्राप्तानुकीर्तनात्" । [ यह आवश्यक नहीं कि प्रकरण-पठित पदार्थों का सम्बन्ध प्रकरणी पदार्थ से ही होता है, अपितु अन्य-संबंधी पदार्थों का भी उल्लेख पाया जाता है, जैसे विद्या के प्रकरण में पठित "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति" ( छां॰ ६।८।१ ) इस प्रकार स्वापादि सर्वपुरुषसाधारण चर्चित हैं ] । आशय यह है कि परविद्या के द्वारा ही प्रापणीय अमृतत्व ( मुक्ति ) अवस्था का प्रतिपादन अभीष्ट है । उसके लिए कुछ

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषवन्तो विधित्स्यन्ते। एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते, यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेज सम्पद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम्। प्रतिषिद्धा चैषा विदुष—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' ( बृ० ४।४।६ ) इति। तस्माद-विदुंष एवैषेति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरा-सृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति, अविशेषश्रवणात्। अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्मा-ण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति, विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षना-डीद्वारमाश्रयते। तदेतत्—आसृत्युपक्रमादित्युक्तम्। नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यम्, नच तद्देशान्तरायत्तम्, तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति? अत्रोच्यते—अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासाम'र्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते सम्भवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च। नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरु-पपद्यते। तस्माददोषः॥ ७॥

———

भामती

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां हि स्फुटतरः प्रतिपिपादयिषिते च वस्तुनि प्रत्ययो भवतीति। न तु विदुषः सकाशाद्वि-शेषवन्तोऽविद्वांसो विद्योयन्ते येन विद्याप्रकरणव्याघातो भवेदपि तु विद्यां प्रतिपादयितुं लोकसिद्धानां तदनुगुणतया तेषामनुवाद इति।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ॐ समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोः ॐ। कुतः? ॐ आसृत्यु-पक्रमात् ॐ। सृतिः सरणं देवयानेन पथा कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिरासृतेराकार्यब्रह्मलोकप्राप्तेः, अयं विद्यो-पक्रम आरम्भः प्रयत्न इति यावत्। तस्मादेतदुक्तं भवति—नेयं परा विद्या यतो न मोक्षनाडीद्वारमाश्र-यते। अपि त्वपरविद्येयम्। न चास्यामात्यन्तिकः क्लेशप्रदाहो यतो न तत्रोत्क्रान्तिर्भवेत्। तस्मादपर-विद्यासामर्थ्यादापेक्षिकमाभूतसंप्लवस्थानममृतत्वं प्रेप्सते पुरुषार्थाय सम्भवत्येष उत्क्रान्तिभेदवान् सृत्युपक्रमोपदेशः। उपपूर्वादुष दाह इत्यस्मादुपोष्येति प्रयोगः॥ ७॥

———

भामती—व्याख्या

सुषुप्त्यादि सजातीय एवं जाग्रदादि विजातीय अवस्थाओं का प्रकृतानुगुण व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा जैसा स्फुटीकरण प्रतिपिपादयिषित वस्तु का होता है, वैसा ऋजु व्याख्या से नहीं होता। विद्वान् की अपेक्षा अविद्वान् की उत्क्रान्तिरूप विशेषता का प्रदर्शन यहाँ अभिमत नहीं कि विद्या के प्रकरण का व्याघात ( विरोध ) होता। प्रकृत में विद्या का सुचारु प्रतिपादन करने के लिए लोक-सिद्ध पदार्थों का उसके अनुगुण अनुवादमात्र किया गया है।

**सिद्धान्त**—"समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोः"। अर्थात् वाङ्म-नसि'—इत्यादिरूपेण प्रतिपादित उत्क्रान्ति विद्वान् ( उपासक ) और अविद्वान् ( अनुपासक ) की समान है "आसृत्युपक्रमात्" अर्थात् देवयानादि सृति ( मार्ग ) पर आरूढ़ होने तक। सारांश यह है कि यह परा विद्या नहीं है, क्योंकि इसका विद्वान् नाडी-द्वार का अवलम्बन करता है, अतः यह अपर विद्या है। इसमें अविद्यादि क्लेशों का आत्यन्तिक ओषण ( दाह ) नहीं होता कि उत्क्रान्ति नहीं होती, अतः अपर विद्या के सामर्थ्य से आपेक्षिक अमृतत्व ( भूत-प्रलय-पर्यन्त स्थायित्व ) चाहनेवाले पुरुष के लिए यह मूर्धन्यनाडि-निष्क्रमणरूप उत्क्रमण का उपदेश है। उपपूर्वक 'उष दाहे' धातु का ल्यबन्त रूप है—'उपोष्य'॥ ७॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ५ संसारव्यपदेशाधिकरणम् । सू० ८-११ )

### तदऽऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' ( छा० ६।८।६ ) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तद्यथाप्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां सम्पद्यत इत्येतदुक्तं भवति । कीदृशी पुनरियं सम्पत्तिः स्यादिति चिन्त्यते । तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम्, तत्प्रकृतित्वोपपत्तेः । सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम् । तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेजआदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽऽपीतेरा संसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते । 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्तेऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' ( क० ५।७ ) इत्यादिसंसारव्यपदेशात् । अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म सम्पद्येत । तत्र

---

भामती

सिद्धां कृत्वा बीजभावावशेषां परमात्मसम्पत्तिं विदुषोऽपि उत्क्रान्तिः समर्थिता । सैव सम्प्रति चिन्त्यते । किमात्मनि तेजःप्रभृतीनां भूतसूक्ष्माणां तत्त्वप्रविलय एव सम्पत्तिराहोस्विद्बीजभावावशेषेति । यदि पूर्वः पक्षः, नोत्क्रान्तिः । अथोत्तरः, ततः सेति । तत्राप्रकृतौ न विकारतत्त्वप्रविलयो यथा मनसि न वागादीनाम् । सर्वस्य च जनिमतः प्रकृतिः परा देवतेति तत्त्वप्रलय एवात्यन्तिकः स्यात्तेजः प्रभृतीनामिति प्राप्तेऽभिधीयते—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

इत्यविद्यावतः संसारमुपदिशति श्रुतिः सेयमात्यन्तिके तत्त्वलये नोपपद्यते । न च प्रायणस्यैवेष महिमा विद्वांसमविद्वांसं वा प्रतीति साम्प्रतमित्याह ॥ अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एव इति ॥ ।

---

भामती—व्याख्या

**संगति**—विद्वान् की उत्क्रान्ति का समर्थन यह सिद्ध-जैसा मानकर किया गया कि विद्वान् की ब्रह्मरूपता की सम्पत्ति सावशेष होती है किन्तु वैसी सम्पत्ति अभी तक सिद्ध नहीं की गई, अतः उस पर विचार किया जाता है ।

**संशय**—क्या तेज आदि सूक्ष्म भूतों का आत्मा में लय स्वरूपतः होता है ? अथवा बीजभाव शेष रहते हुए तेज आदि का लय होता है ? यदि पूर्वपक्ष माना जाता है, तब उत्क्रान्ति न हो सकेगी और यदि सिद्धान्त माना जाता है, तब उत्क्रान्ति हो सकेगी ।

**पूर्वपक्ष**—विकारों का तात्त्विक लय अपनी प्रकृति ( उपादान कारण ) में ही होता है, आत्मा (जीव) तेज आदि की प्रकृति नहीं, अतः उसमें तात्त्विक लय वैसे ही नहीं हो सकता, जैसे वागादि का मन में । समस्त कार्य-वर्ग की प्रकृति पर देवता (ब्रह्म) है, अतः तेज आदि तत्त्वों का लय ब्रह्म में प्राप्त होता है, अतः उत्क्रान्ति सिद्ध नहीं होती ।

**सिद्धान्त**—' योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्" ( कठो० ५।७ ) [ अज्ञानी पुरुष शरीर-ग्रहण करने के लिए विविध योनियों को प्राप्त होते हैं । उनमें अत्यन्त निकृष्ट प्राणी अपने कर्मों के अनुरूप स्थावरादि शरीरों को ग्रहण किया करते हैं ] । इस प्रकार श्रुति अविद्यावान् पुरुष के लिए ही संसार का उपदेश करती है, यह उपदेश आत्यन्तिक तत्त्व-विलय मानने पर उपपन्न नहीं होता । यदि केवल प्रायण ( मृत्यु ) का ही यह प्रभाव मान लिया जाता है कि विद्वान् और अविद्वान् सभी प्राणियों के प्राणादि का तात्त्विक लय हो जाता है, तब मरणमात्र से सभी प्राणियों की

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च । मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति । तस्मात्तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद् बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति ॥ ८ ॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति । तथा हि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्य

भामती

विधिशास्त्रं ज्योतिष्टोमादिविषयमनर्थकं प्रायणादेवात्यन्तिकप्रलये पुनर्भवाभावात् । मोक्षशास्त्रं चाप्रयत्नलभ्यात् प्रायणादेव जन्तुमात्रस्य मोक्षप्राप्तेः । न केवलं शास्त्रानर्थक्यमयुक्तश्च प्रायणमात्रान्मोक्ष इत्याह ❀ मिथ्याज्ञाने इति ❀ । नासति निदानप्रशमे प्रशमस्तद्वतो युज्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथेतरभूतसहितं तेजो जीवस्याश्रयभूतमुत्क्रामद्देहाद्देहान्तरं वा सञ्चरत् कस्मादस्माभिर्न निरीक्ष्यते । तद्धि महत्त्वाद्बानेकद्रव्यत्वाद्वा रूपवदुपलब्धव्यम् । कस्मान्न मूर्त्तान्तरैः प्रतिबध्यत इति शङ्कामपाकर्तुमिदं सूत्रम् ।

चकारो भिन्नक्रमः । न केवलमापीतेस्तदवतिष्ठते । तच्च सूक्ष्मं स्वरूपतः परिमाणतश्च स्वरूपमेव हि तस्य तादृशमदृश्यम् । यथा चाक्षुषस्य तेजसो महतोऽपि । अदृष्टवशादनुद्भूतरूपस्पर्शं हि तत् । परिमाणतः सौक्ष्म्यं यतो नोपलभ्यते यथा त्रसरेणवो जालसूर्य्यमरीचिभ्योऽन्यत्र प्रमाणतस्तथोपलब्धेरिति व्याचष्टे ❀ तथाहि नाडीनिष्क्रमणे इति ❀ । आदिग्रहणेन चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीर-

भामती—व्याख्या

मुक्ति हो जायेगी—"अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एव ब्रह्म सम्पद्येत" । ऐसा ही मान लेने पर "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधि-शास्त्र और "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि विद्या-शास्त्र सभी निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि इन सभी शास्त्रों का परम्परया या साक्षात् मुक्ति-मार्ग के उपदेश मे तात्पर्य माना जाता है किन्तु मुक्ति-लाभ में उपायानुष्ठान की अपेक्षा ही नहीं, प्रायणमात्र से उपाधि का आत्यन्तिक लय हो जाने से पुनः संसार होता ही नहीं । केवल शास्त्र का आनर्थक्य प्रसक्त नहीं होता, अपितु मरणमात्र से मोक्ष-प्राप्ति अयुक्त भी है—"मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धः' । मिथ्याज्ञानादिरूप कारण की निवृत्ति के बिना बन्धादि कार्यों की निवृत्ति कभी युक्ति-युक्त नहीं मानी जा सकती ॥ ८ ॥

सूक्ष्मशरीर के घटकीभूत अन्य भूतों स युक्त तेजस्तत्त्व जो कि जीव का आश्रय माना जाता है,अपने एक स्थूल शरीर से निष्क्रमण कर दूसरे शरीर में प्रवेश करता हुआ मनुष्यों के द्वारा देखा क्यों नहीं जाता ? वह महत्त्व परिमाण, अनेक द्रव्यत्व तथा उद्भूत रूप से मण्डित है, अतः उसके न दिख सकने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसके साथ-साथ यह भी एक शङ्का होती है कि उस तेजस्तत्त्व के मार्ग में अन्य मूर्त्त द्रव्यों के द्वारा अवरोध क्यों नहीं खड़ा किया जाता ? इन सभी शङ्काओं का अपाकरण करने के लिए इस सूत्र की रचना की गई—"सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः" । सूत्रस्थ चकार को अपने क्रम से तोड़कर इस प्रकार जोड़ लेना चाहिए—'न केवलमापीतेः तदवतिष्ठते, तत् च सूक्ष्मं स्वरूपतः प्रमाणतश्च [ अर्थात् वह केवल मुक्ति-पर्यन्त अवस्थित रहता है—इतना ही नहीं, अपितु वह स्वरूप एवं प्रमाण की दृष्टि से सूक्ष्म ( अणु ) होने के कारण न वह दिखता है और न अन्य मूर्त द्रव्यों के द्वारा रोका जा सकता है ] जैसे चक्षु का प्रकाश महत्त्व गुणवाला होने पर भी अदृष्टवश अनुद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्शवाला होने से न दिखता है और न स्पर्श से जाना जाता है । वैसे ही लिङ्ग शरीर परिमाणतः सूक्ष्म ( अणु परिमाण ) है, क्योंकि दिखता नहीं । जैसे त्रसरेणु वातायनागत सौर किरणों में ही देखे जाते हैं, अन्यत्र नहीं, क्योंकि उनका परिमाण सूक्ष्म होता है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुपलभ्यते। तत्र तनुत्वात्संचारोपपत्तिः। स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः। अत एव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत्सूक्ष्म शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शारीरस्यैव ऊष्मा, यमेतस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति। तथा हि—मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते, जीवद्वस्थायामेव तूपलभ्यत इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीर-व्यतिरिक्तव्यपाश्रय एवेष ऊष्मेति। तथा च श्रुतिः—'उष्ण एव जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥ ११ ॥

---

भामती

वेशेभ्य इति संगृहीतम्। अप्रतिघाते हेतुमाह ❀ स्वच्छत्वाच्च इति ❀। एतदपि हि सूक्ष्मत्वेनैव संगृहीतम्। यथा हि काचाभ्रपटलं स्वच्छस्वभावस्य न तेजसः प्रतिघातकम्। एवं सर्वमेव वस्तुजातमस्येति ॥ ९ ॥

अत एव च स्वच्छतालक्षणात्सौक्ष्म्यादसक्तत्वापरनाम्नः ॥ १० ॥

उपपत्तिः प्राप्तिः। एतदुक्तं भवति—दृष्टश्रुताभ्यामूष्मणोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामस्ति स्थूलाद्देहाद्व्यतिरिक्तं किञ्चिच्चागमात् सूक्ष्मं शरीरमिति ॥ ११ ॥

---

भामती-व्याख्या

वैसे ही लिङ्ग शरीर—"तथा हि नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्यमुपलभ्यते"। यहाँ 'आदि' शब्द के द्वारा चक्षु, मूर्धा और शरीर के अन्य भागों से भी सूक्ष्मशरीर का निष्क्रमण संगृहीत होता है [ इस भामती-निर्देश के अनुसार यहाँ भाष्य का पाठ ऐसा होना चाहिए—"नाडीसञ्चारात् निष्क्रमणाच्च श्रवणादिभ्योऽस्य सौक्ष्म्यमुपलभ्यते"। यहाँ श्रवण का अर्थ श्रोत्र है, श्रुति-प्रतिपादन नहीं ] मूर्तद्रव्यों से सूक्ष्म शरीर के अप्रतिघात का हेतु दिखाते हैं—"स्वच्छत्वाच्च"। उद्भूतस्पर्श का न होना ही स्वच्छता है। सूत्रस्थ 'सूक्ष्म' पद के द्वारा ही स्वच्छता का भी लाभ हो जाता है। जैसे काँच ( शीशा ), अभ्र-पटल ( मेघ ) स्वच्छ है, अतः वह चाक्षुष तेज का प्रतीघातक ( अवरोधक ) नहीं होता। वैसे ही इस सूक्ष्म शरीर का कोई भी वस्तु प्रतीघात नहीं करती ॥ ९ ॥

अतएव ( इसी स्वच्छतारूप सूक्ष्मता के कारण ) असक्तत्वरूप अनुपमर्द भी लिङ्ग शरीर में सिद्ध होता है, अत एव स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी सूक्ष्मशरीर नष्ट नहीं होता ॥ १० ॥

सूत्रस्थ 'उपपत्ति' शब्द का अर्थ है—प्राप्ति। [ 'प्राप्ति' शब्द का अर्थ श्री अमलानन्द ने किया है—लाभ। 'लाभ' शब्द का श्री अप्पय दीक्षित ने अर्थ किया है—सद्भावावगम। इससे यह अत्यन्त स्फुट है कि हमारे प्रख्यात व्याख्याताओं की परम्परा कितनी निष्ठा और जागरूकता से अपने कर्तव्य का पालन कर रही है ]। आशय यह है कि स्थूल शरीर में ऊष्मा का त्वाच प्रत्यक्ष और बन्द कानों के द्वारा उत्पादित आन्तरनाद का श्रावण प्रत्यक्ष—ये दोनों ज्ञान स्थूल शरीर से भिन्न ऐसे लिङ्ग शरीर के सद्भाव का अवगम करा रहे हैं,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ६ प्रतिषेधाधिकरणम् । सू० १२–१४ )

### प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः । तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' ( बृ०४।४।६ ) इत्यतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत् , नेत्युच्यते, यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां, न शरीरात् । कथमवगम्यते ? 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात् । संबन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या संबन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते । तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही संबध्यते,

भामती

अधिकरणतात्पर्यमाह ❀ अमृतत्वञ्चानुपोष्येत्यतो विशेषणात् इति ❀ । विषयमाह ❀ अथाकामयमान इति ❀ । सिद्धान्तिमतमाशङ्क्य तन्निराकरणेन पूर्वपक्षी स्वमतमवस्थापयति ❀ अतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधाद् इति ❀ । यदि हि प्राणोपलक्षितस्य सूक्ष्मशरीरस्य जीवात्मनः स्थूलशरीरादुत्क्रान्ति प्रतिषेधेत् श्रुतिः तत एतदुपपद्यते । न त्वेतदस्ति । न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्तीति हि तदा सर्वनाम्ना प्रधानवामर्शिनाभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही प्रधान परामृश्यते । तथाच तस्माद्देहिनो न प्राणाः सूक्ष्मं

भामती—व्याख्या

जो कि अन्वय-व्यतिरेक द्वारा ऊष्मादि का जनक है और आगमों में जो सूक्ष्मशरीर के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

---

**संगति**—"अमृतत्वं चानुपोष्य" ( ब्र. सू ४।२।७ ) इस सूत्र में 'अनुपोष्य' विशेषण के द्वारा आपेक्षिक अमृतत्व की प्राप्ति में उत्क्रान्ति का प्रतिपादन करके आत्यन्तिक अमृतत्व की प्राप्ति में "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"—ऐसे उत्क्रान्ति-निषेध पर विचार किया जाता है ।

**विषय**—"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" ( बृह. उ. ४।४।६ ) । अर्थात् विद्वान् अकामयमान है । वह अकाम इसलिए कहा जाता है कि उसकी सभी कामनाएँ उसके अन्तःकरण से निकल चुकी हैं । वह आप्तकाम हो जाने के कारण निष्काम है । आत्मा से भिन्न कोई आप्तव्य ( प्रापणीय ) पदार्थ नहीं, आत्मा सदैव प्राप्त है, अतः आप्तकाम ब्रह्मवेत्ता का जन्मान्तर नहीं होता, उस के प्राण इस शरीर से उत्क्रान्ति ही नहीं करते ] । इस श्रुति में प्रतिपादित उत्क्रान्ति-निषेध विचारणीय है ।

**संशय**—विद्वान् के प्राणों की उत्क्रान्ति जीव से नहीं होती ? अथवा शरीर से नहीं होती ?

**पूर्वपक्ष**—"अतः परविद्याविषयात् प्रतिवेधात्" । यदि प्राणोपलक्षित सूक्ष्मशरीर की शरीर से उत्क्रान्ति का निषेध होता, तब 'न तस्य प्राणाः' यहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग संगत था किन्तु ऐसा नहीं, अपितु शाखान्तर में "न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति"—ऐसा पञ्चमी का प्रयोग किया गया है, अतः सामान्यार्थक षष्ठी का पर्यवसान पञ्चम्यर्थ में ही मानना होगा । 'तस्मात्'—यहाँ सर्वनाम 'तत्' पद से प्रधानभूत मोक्षाधिकारी जीव का परामर्श न्याय-प्राप्त है, फलतः जीव से प्राणाख्य सूक्ष्मशरीर उत्क्रमण नहीं करता, अपितु उसके साथ जीवात्मा ही उत्क्रमण करता है—ऐसा ही सिद्ध होता । यह जीव ब्रह्म-नाड़ी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न देहः। न तस्मादुच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति, सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः ॥१२॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

नैतदस्ति, यदुक्तम् - परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वादिति। यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषां समाम्नातॄणां स्पष्ट उपलभ्यते। तथा हि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति' ( बृ० ३।२।११ ) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः' ( बृ० ३।२।११ ) इत्यनुत्क्रान्तिपक्षं परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम्—'अत्रैव समवनीयन्त' इति प्रविलयं प्राणानां प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते' ( बृ० ३।२।११ ) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति। देहस्य चैतानि स्युर्न देहिनः। तत्सामान्यात्, 'न तस्मात्प्राणा

भामती

शरीरमुत्क्रामन्त्यपि तु तत्सहितः क्षेत्रज्ञ एवोत्क्रामतीति गम्यते। स पुनरतिक्रम्य ब्रह्मनाडया संसारमंडलं हिरण्यगर्भपर्यन्तं सलिङ्गो जीवः परस्मिन् ब्रह्मणि लीयते। तस्मात्परामपि देवतां विदुष उत्क्रान्तिरत एव मार्गश्रुतयः, स्मृतिश्च मुमुक्षोः शुकस्यादित्यमण्डलप्रस्थानं दर्शयतीति प्राप्तम् ॥ १२ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्युच्यते—

स्पष्टो ह्येकेषाम् नायं देह्यपादानस्य प्रतिषेधः। अपि तु देहापादानस्य। तथाह्यार्तभागप्रश्नोत्तरे ह्येकस्मिन् पक्षे संसारिण एव जीवात्मनोऽनुत्क्रान्ति परिगृह्य न तर्ह्येष मृतः प्राणानामनुत्क्रान्तेरिति स्वयमाशंक्य प्राणानां प्रविलयं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धयर्थमुत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनाध्माने ब्रुवन्त्योच्छ्वयनाध्माने तस्य तदवधित्वमाह। शरीरस्य च ते इति शरीरमेव तदपादानं गम्यते। नन्वेवमप्यस्त्वविदुषः संसारिणो विदुषस्तु किमायातमित्यत आह ॐ तत्सामान्याद् इति ॐ। ननु तदा सर्वनाम्ना प्रधानतया देही परा-

भामती—व्याख्या

( सुषुम्ना ) के द्वारा संसार-मण्डल का अतिक्रमण कर हिरण्यगर्भ-पर्यन्त लिङ्ग शरीर के सहित जाता है, वहाँ परब्रह्म में लीन हो जाता है। इस प्रकार परदेवता-पर्यन्त विद्वान् की उत्क्रान्ति होती है, अत एव मार्ग-प्रतिपादक श्रुतियों और स्मृतियों ने मुमुक्षु शुकदेव का आदित्यमण्डल-प्रस्थान दिखाया है—

"नारदेनाभ्यनुज्ञातः शुको द्वैपायनात्मजः।
अभिवाद्य पुनर्योगमास्थायाकाशमाविशत्॥" ( भारत. ११।३३२।९) ॥१२॥

सिद्धान्त—"स्पष्टो ह्येकेषाम्"। जीवापादानक उत्क्रान्ति का यह निषेध नहीं, अपितु शरीरापादनक उत्क्रान्ति का ही निषेध किया गया है, क्योंकि आर्तभाग के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—"नेति होवाच याज्ञवल्क्यः" ( बृह उ. ३।२।११ ) अर्थात् विद्वान् के प्राण शरीर से उत्क्रमण नहीं करते। इस पर यह सन्देह किया गया कि यदि इस शरीर से प्राण नहीं निकलते, तब इस शरीर को मरना नहीं चाहिए। इसके उत्तर में कहा गया कि यह शरीर निःसन्देह मर जाता है, क्योंकि प्राणों के निकल जाने से इस शरीर में बाह्य वायु भर जाती है, यह फूलकर नगाड़े-जैसा बजने लगता है। इस प्रकार जिससे प्राण विकलते हैं, उसी में उच्छ्वयन ( फूलना ) और आध्मान ( शब्दायमान होना ) होता है। वह शरीर ही है, अतः शरीर ही प्राणोत्क्रमण का अपादान है। अविद्वान् के प्राणों का ऐसा उत्क्रमण प्रतिपादित होने पर विद्वान् के प्राणों का क्या हुआ? इसका उत्तर दिया जाता है—"तत्सामान्यात्"। अर्थात् पूर्व श्रुति में षष्ठ्यन्त तस्य पदके द्वारा जैसे देही का ग्रहण

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहापादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेधः। यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येयं येषां पञ्चमीपाठः। येषां तु षष्ठीपाठस्तेषां विद्वत्संबन्धिन्युत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राप्ता न देहिनः। अपि च 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वं प्राणा अनूत्क्रामन्ति (बृ० ४।४।२) इत्येवमविद्वद्विषये सप्रपञ्चमुत्क्रमणं संसारगमनं च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम्, 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वांसं यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेशः स्यात्। तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येयम्, व्यपदेशार्थत्वाय। नच ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते, निमित्ताभावात्। 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥ १३ ॥

## स्मर्यते च ॥ १४ ॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः—'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः। देवा अपि मार्गं मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः' इति। ननु गतिरपि ब्रह्मविदः

भामती

मृष्टः तत्कथमत्र देहावगतिरित्यत आह ❀ अभेदोपचारेण देहदेहिनोर्देहिपरामर्शिना सर्वनाम्ना देह एव परामृष्ट इति ❀। पञ्चमीपाठेऽ याख्येयम्। षष्ठीपाठे तु नोपचार इत्याह ❀ येषां तु षष्ठी इति ❀। अपि च प्राप्तिपूर्वः प्रतिषेधो भवति नाप्राप्ते। अविदुषो हि देहादुत्क्रमणं दृष्टमिति विदुषोऽपि तत्सामान्यादेहादुत्क्रमणे प्राप्ते प्रतिषेध उपपद्यत न तु प्राणानां जीवावधिकं क्वचिदुत्क्रमणं दृष्टं येन तन्निषिध्यते। अपि चाद्वैतपरिभावनाभुवा प्रसंख्यानेन निर्मृष्टनिखिलप्रपञ्चावभासजातस्य गन्तव्याभावादेव नास्ति गतिरित्याह ❀ न च ब्रह्मविदः इति ❀। अपदस्य हि ब्रह्मविदो मार्गे पदैषिणोऽपि देवा इति

भामती—व्याख्या

किया जाता है, वैसे ही श्रुति में पञ्चम्यन्त 'तस्मात्' पद के द्वारा देह का ग्रहण किया जाता है, देह और देही का अभेदोपचार प्रसिद्ध है, उसी के आधार पर ऐसी व्यवस्था की जाती है, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"अभेदोपचारेण"। अर्थात् तदादि सर्वनाम पद प्रधान पदार्थ के ही परामर्शक होते हैं, इस प्रकरणमें देही (जीवात्मा) प्रधान है, अतः 'तस्मात्' पद जीव का परामर्शक होकर भी देह को ही विषय करता है, क्योंकि देह और देही का अभेद है। षष्ठ्यन्त 'तस्य' पाठ में अभेदोपचार की आवश्यकता नहीं—"येषां तु षष्ठीपाठः"।

दूसरी बात यह भी है कि जिस पदार्थ की जहाँ प्राप्ति होती है, उसी पदार्थ का वहाँ निषेध होता है। अविद्वान् के प्राणों का उत्क्रमण शरीर से देखा गया हैं, अतः उसी के समान विद्वान् के प्राणों का शरीर से उत्क्रमण प्राप्त है, अतः उसका प्रतिषेध उपपन्न हो जाता है। जीव से प्राणों का उत्क्रमण कहीं देखा ही नहीं गया कि उसका प्रतिषेध हो जाता। वस्तु-स्थिति तो यह है कि जिस विद्वान् को अद्वैत-भावना-भावित तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा सर्व-व्यापक ब्रह्मरूपता प्राप्त हो गई, अन्य प्राप्तव्य शेष ही नहीं रहा, उसकी कहीं गति ही नहीं हो सकती—"न च ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य" ॥ १३ ॥

महाभारत में विद्वान् की गति और उत्क्रान्ति का अभाव प्रतिपादित है—

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः ॥ (भारत. १२।२७०।२२)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते—'शुकः किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति। न, सशरीरस्यैवायं योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वकः शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम्, सर्वभूतदृश्यत्वाद्यपन्यासात्। न ह्यशरीरं गच्छन्तं सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्नुयुः। तथा च तत्रैवोपसंहृतम्—'शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षगः। दर्शयित्वा प्रभावं स्वं सर्वभूतगतोऽभवत्' इति। तस्मादभावः परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्योः। गतिश्रुतीनां तु विषयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः॥ १४॥

---

## ( ७ वागादिलयाधिकरणम् सू० १५ )

## तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते, कस्मात्? तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६।५) इति। ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' ( मु० ३।२।७ ) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म, न; सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः

भामती

योजना। चोदयति ❀ ननु पतिरपि इति ❀। परिहरति ❀ सशरीरस्यैवायं योगबलेन ❀। अपरविद्याबलेनेति॥ १३-१४॥

---

प्रतिष्ठा-विलयनश्रुत्योर्विप्रतिपत्तेर्विमर्शस्तमपनेतुमयमारम्भः। तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाण्येकादश सूचमाणि च भूतानि पञ्च ❀ ब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि इति ❀। आरम्भबीजं विमर्शमाह। ❀ ननु गताः कलाः इति ❀। घ्राणमनसोरेकप्रकृतित्वं विवक्षित्वा पञ्चदशत्वमुक्तम्। अत्र श्रुत्योर्विषयव्यवस्थया विप्रतिपत्त्यभावमाह ❀ सा खलु इति ❀। व्यवहारो लौकिकः सांव्यवहारिक-

भामती-व्याख्या

[जो विद्वान् सर्वभूतात्मक ब्रह्म का रूप हो गया, सर्वभूतों को अपना ही स्वरूप समझने लगा, ऐसे अपद ( गन्तव्य-रहित ) विद्वान् के मार्ग की इच्छा रखनेवाले देवगण भी विमुग्ध ( मार्ग ज्ञान से वञ्चित ) रह जाते हैं, क्योंकि मार्ग का सर्वथा अभाव हो जाता है ]। महाभारत ( १२।३३३।१९ ) में जो शुकदेव की देशान्तर-गति वर्णित है, वह उनके अपर विद्या-जनित योग-बल का चमत्कार है, अपने शरीर के साथ ही उन्होंने अन्तरिक्ष की लम्बी उड़ान भरी थी, शरीर से उनकी वह उत्क्रान्ति नहीं थी॥ १४॥

---

**संशय**—विद्वान् की इन्द्रियों का लय "गताः कलाः पंचदश प्रतिष्ठाः" ( मुं. ३।२।७ ) यह प्रतिष्ठा-श्रुति अपनी-अपनी प्रकृति में बताती है, किन्तु "षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यस्तं गच्छन्ति" ( प्रश्न. ६।५ ) यह लयन-श्रुति इन्द्रियों का ब्रह्म में विलयन कह रही है, अतः यह विमर्श (संशय) होता है कि विद्वान् की इन्द्रियों का लय उनकी प्रकृतिभूत भूतों में होता है? अथवा ब्रह्म में?

**सिद्धान्त**—प्राणशब्दोदित ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच सूक्ष्मभूत ( भौतिक तन्मात्राएँ ) सब मिलाकर ब्रह्मवेत्ता की ये सोलह कलाएँ ब्रह्म में ही विलीन होती हैं। घ्राण और मन—इन दोनों की एक पृथिवी प्रकृति है, अतः इन दोनों को एक मानकर पंचदश ( पन्द्रह )

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति, इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा, कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव संपद्यत इति । तस्माददोषः ॥ १५ ॥

---

## ( ८ अविभागाधिकरणम् । सू० १६ )

### अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति ? तत्र प्रलयसामान्याच्छुक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति । कुतः ? वचनात् । तथा हि—कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति—'भिद्यते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' ( प्र० ६।५ ) इति । अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः । तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

---

## ( ९ तदोकोऽधिकरणम् । सू० १७ )

### तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता । सम्प्रति त्वपरविद्याविषयामेव

---

भामती

प्रमाणापेक्षेयं श्रुतिः । न तात्त्विकप्रमाणापेक्षा इतरा तु एवमेवास्य परिव्रढ्दुरित्यादिका विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा तात्त्विकप्रमाणापेक्षा तस्माद्विषयभेदादविप्रतिपत्तिः श्रुत्योरिति ॥ १५ ॥

---

निमित्तापाये नैमित्तिकस्यात्यन्तिकोपायः । अविद्यानिमित्तश्च विभागो नाविद्यायां विद्यया समूलघातमपहतायां सावशेषो भवितुमर्हति । तथापि प्रविलयसामान्यात् सावशेषताशङ्कामतिमन्दामपनेतुमिदं सूत्रम् ॥ १६ ॥

---

भामती-व्याख्या

कलाएँ कही गई हैं । इन पंद्रहों कलाओं के अपनी प्रकृति में लयन की शंका करते हैं—"ननु गताः कलाः" । विषय-व्यवस्था के द्वारा श्रुतियों के विरोध का परिहार किया जाता है—"सा खलु व्यवहारापेक्षा" । यहाँ 'व्यवहार' पद से लौकिक व्यवहार विवक्षित है। अर्थात् यह श्रुति सांव्यवहारिक प्रामाण्य की अपेक्षा प्रवृत्त मानी जाती है और "पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"—यह श्रुति तात्त्विक प्रामाण्य की अपेक्षा। इस प्रकार दोनों श्रुतियाँ अपने-अपने क्षेत्र में व्यवस्थित हैं, उनका परस्पर कोई विरोध नहीं ॥ १५ ॥

---

**संशय**—ब्रह्म में विद्वान् को कलाओं का लय सावशेष होता है ? अथवा निरवशेष ?

**सिद्धान्त**—'निमित्तापाये नैमित्तिकस्यात्यन्तिकोऽपायः'—इस असिद्ध न्याय के अनुसार अविद्यारूप निमित्त का अभाव हो जाने वर नैमित्तिक (अविद्या-प्रयुक्त) कला-विभाग समूल समाप्त हो जाता है, अतः विद्या-प्रयुक्त लय के सावशेष होने का प्रश्न ही नहीं उठता ? तथापि अविद्वान् की कलाओं के सावशेष लय के समान ही विद्वान् की कलाओं के सावशेष लय की नितान्त मन्द शङ्का का निराकरण करने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है ॥ १६ ॥

---

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिन्तामनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं, तमिदानीं सृत्युपक्रमं दर्शयति, तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषतो विज्ञानात्मनः, ओक आयतनं हृदयम्। 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रप्रज्वलनपूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवति, अथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। कुतः? विद्यासामर्थ्यात्। यदि विद्वानपीतरवत्ततः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत। तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात्। तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च। विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसंबद्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता, तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठत इति युक्तम्।

भामती

अपरविद्याविदोऽविदुषश्चोत्क्रान्तिरुक्ता। तत्र किं विद्वानविद्वांश्चाविशेषेण मूर्धादिभ्य उत्क्रामत्याहो विद्वान्मूर्धस्थानादेव, अपरे तु स्थानान्तरेभ्य इति। अत्र विद्यासामर्थ्यमपश्यतः पूर्वपक्षः। तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योच्चिक्रमिषितो विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयं तस्याग्रं तस्य ज्वलनं यत् तत्प्रकाशितद्वारो विनिष्क्रमद्वारो विद्वान्मूर्धस्थानादेव निष्क्रामति नान्येभ्यश्चक्षुरादिस्थानेभ्यः। कुतः? विद्यासामर्थ्यात्। हार्दविद्यासामर्थ्यादुत्कृष्टस्थानप्रतिलम्भाय हि हार्दविद्योपदेशः मूर्धस्थानादनिष्क्रमणे च नोत्कृष्टदेशप्राप्तिरथ स्थानान्तरेभ्योऽप्युत्क्रामन् कस्माल्लोकमुत्कृष्टं न प्राप्नोतीत्यत आह ॐ तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्चॐ। हार्दविद्याशेषभूता हि मूर्धन्या नाडी गत्यै उपदिष्टा। तदनुशीलनेन खल्वयं जीवो हार्देन सूपासितेन ब्रह्मणानुगृहीतस्तस्यानुस्मरस्तद्भावमापन्नो मूर्धन्ययैव शताधिकया नाडया निष्क्रामति।

भामती—व्याख्या

**संशय**—अपर विद्या के विद्वान् (उपासक) और अविद्वान् की शरीर से जो उत्क्रान्ति कही गई है, वह क्या समानरूपेण मूर्धादि स्थानों से प्राणों की उत्क्रान्ति होती है? अथवा विद्वान् का उत्क्रमण मूर्धा स्थान से ही होता है और अविद्वान् का शरीर के अन्य भागों से?

**पूर्वपक्ष**—विद्या-सामर्थ्य की ओर ध्यान न देते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि श्रुतियों में किसी प्रकार की विशेषता प्रतिपादित न होने के कारण कोई नियम स्थिर नहीं किया जा सकता।

**सिद्धान्त**—"तदोकोऽग्रज्वलनम्"। 'तस्योकः तदोकः' यहाँ पर 'तत्' पद से ऐसे विद्वान् (उपासक) का ग्रहण किया गया है, जो अपनी वागादि इन्द्रियों को समेट कर उत्क्रमण करना ही चाहता है। ऐसे जीव का जो ओक (आयतन) हृदय है, उसका अग्रभाग प्रज्वलित हो जाता है, उसी प्रकाश में वह मूर्धं स्थान से ही निकलता है, अन्य स्थानों से नहीं, क्योंकि विद्या (उपासना) का सामर्थ्य ही ऐसा है। उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति के लिए ही हार्द तत्त्व की उपासना विहित है, मूर्धस्थान से उत्क्रमण न करने पर उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। शरीर के अन्य भागों से उत्क्रमण करने पर अभीष्ट उत्कृष्टलोक की प्राप्ति क्यों नहीं होती? इस प्रश्न का उत्तर है—"तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च"। हार्द-विद्या की अङ्गभूत मूर्धन्य नाड़ी इसीलिए उपदिष्ट है कि उपासक उसी के द्वारा गति (उत्क्रान्ति) करे। उसका अनुशीलन करने पर यह जीवात्मा सम्यक् उपासित हार्द ब्रह्म से

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तस्माद् हृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाडया निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथा हि—हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—'शतं चैका च हृदयस्य नाडयस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' ( छा० ८।६।६ ) इति ॥ १७ ॥

## ( १० रश्म्यधिकरणम् । सू० १८-१९ )

### रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

अस्ति हार्दविद्या - 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' ( छा० ८।१।१ ) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाडयः' ( छा० ८।६।१ ) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम्—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' ( छा० ८।६।५ ) इति। पुनश्चोक्तम्—'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति। तस्माच्छताधिकया नाडया निष्क्रामन् रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

### निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसम्बन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वम्, रात्रौ

भामती

हृदयादुद्गता हि ब्रह्मनाडी भास्वरा तालुमूलं भित्त्वा मूर्धानमेत्य रश्मिभिरेकीभूता आदित्यमण्डलमनुप्रविष्टा, तामनुशीलयतस्तयैवान्तकाले निर्गमनं भवतीति ॥ १७ ॥

रात्रावहनि चाविशेषेण रश्म्यनुसारी सन्नादित्यमण्डलं प्राप्नोतीति सिद्धान्तपक्षप्रतिज्ञा ॥ १८ ॥

पूर्वपक्षमाशङ्कते सूत्रावयवेन 'निशि नेति चेत्'।

सूत्रावयवान्तरेण निराकरोति—न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च। यावद्देहभावी

भामती—व्याख्या

अनुग्रह ( उसका सतत अनुस्मरण करने ) से तद्रूपापन्न-सा होकर मूर्धन्य नाडी के द्वारा ही निष्क्रमण करता है। हृदय देश से निकली ब्रह्म-नाडी नितान्त भास्वर है। तालु-मूल का भेद कर मूर्धदेश में पहुँचती है और वहाँ से सौर रश्मियों से तादात्म्य स्थापित कर आदित्य-मण्डल में प्रविष्ट हो जाती है। उस नाडी का ध्यान करते-करते अन्त-काल में उसी नाडी से निर्गमन होता है ॥ १७ ॥

**संशय**—दहराकाश विद्या का उपासक पुरुष क्या दिन में ही मरकर रश्मियों का अवलम्बन कर ब्रह्मलोक जाता है ? अथवा रात्रि में भी ?

**सिद्धान्त**—दिन हो या रात उपासक सदैव ही रश्मियों का आलम्बन कर आदित्य-लोक को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

पूर्वपक्ष की आशङ्का उठाते हैं सूत्रावयव के द्वारा—"निशि नेति चेत्"। अर्थात् मूर्धन्य नाड़ी का रश्मियों के साथ रात में सम्बन्ध नहीं रहता, अतः दिन मे मृत उपासक ही रश्मियों का अवलम्बन कर सकता है, रात में नहीं। सूत्र के ही अन्य अवयव के द्वारा उक्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेन्न, नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। यावद्देहभावी हि शिराकिरणसंपर्कः। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' ( छा० ८।६।२ ) इति। निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते, प्रतापादिकार्यदर्शनात्। स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तरराजनीषु, शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति। यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत्, न ह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते, यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति। अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्यां स्यात्, मृत्युकालानियमात्। अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत। अहराग-

भामती

हि शिराकिरणसम्पर्कः प्रमाणान्तरात्प्रतीयते। दर्शयति चैतमर्थं श्रुतिरप्यविशेषेण—अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते रश्मयस्त आसु नाडीषु सृप्ता भवन्ति य आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते विस्तार्य्यन्ते ते रश्मयोऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः प्रतापादिकार्य्यदर्शनादिति। आदिग्रहणेन चन्द्रातपः संगृह्यते। चन्द्रमसा खल्वम्मयेन सम्बध्यमानानां सौरीणां भासां चन्द्रिकात्वम्। तस्मादप्यस्ति निशि सौर्यरश्मिप्रचार इति। ये त्वाहुः—स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छेदिति निरपेक्षश्रवणाद्रात्रौ प्रयतो नास्ति रश्म्यपेक्षेति। तान् प्रत्याह ❀ यदि च रात्रौ प्रेते इति ❀। नह्येतद्विशिष्याधीयतेऽध्येतारः। ये तु मन्यन्ते विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधेन नोर्ध्वमाक्रमत इति, तान् प्रत्याह ❀ अथ तु विद्वानपि इति ❀। नित्यवत्फलसम्बन्धेन विहिता विद्या न पाक्षिकफला युक्तेति। ये तु रात्रौ प्रेतस्य विदुषोऽहरपेक्षां सूर्यमण्डलप्राप्तिमावक्षते तन्मतमाशङ्क्याह ❀ अथापि रात्रौ वा इति ❀। यावत्तावदुपबन्धेनानपेक्षा गतिः श्रुता न चापेक्षा शक्यावगमा,

भामती—व्याख्या

शङ्का का निराकरण करते हैं—"न, संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च"। रात्रि में भी ब्रह्म-नाड़ी का रश्मियों के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता, क्योंकि वह यावद्देहभावी है—ऐसा अन्य प्रमाणों से प्रतीत होता है। इसी अर्थ को श्रुति दिखा रही है—"अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्य प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" ( छां. ८।६।२ ) अर्थात् जो रश्मियाँ आदित्य-मण्डल से निकलती हैं, वे इन नाडियों में प्रविष्ट होती हैं और जो रश्मियाँ इन नाड़ियों से प्रसृत होती हैं, वे आदित्य-मण्डल में प्रवेश कर जाती हैं। रात्रि में भी सौर रश्मियों का अभाव नहीं होता, क्योंकि उनके ताप ( ऊष्मादि ) कार्य उपलब्ध होते हैं—"प्रतापादिकार्यदर्शनात्"। यहाँ 'आदि' पद के द्वारा चन्द्रमा के माध्यम से प्राप्त आतप का संग्रह कर लेना चाहिए, क्योंकि चन्द्रमा के शीतल कलेवर का आलिङ्गन करता हुआ जो सूर्य का रश्मि-मण्डल इस अचला-तल पर पहुँचता है, उसे ही हम चन्द्रिका कहा करते हैं, फलतः सौर्य रश्मियों का रात्रि में भी सञ्चार अवरुद्ध नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि "स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति" ( छां. ८।६।५ ) इस श्रुति के अनुसार मन की गति से यह जीव सीधा आदित्य-मण्डल में पहुँच जाता है, रश्मियों की अपेक्षा ही नहीं होती। उन लोगों के लिए कहा गया है—"यदि च रात्रौ प्रेते"। अर्थात् ऐसी विशेष व्यवस्था कहीं भी श्रुति नहीं कि 'दिन में मरने पर रश्मियों की अपेक्षा होती है, रात्रि में नहीं'। जो लोग मानते हैं कि विद्वान् भी रात्रि में मरने पर ऊर्ध्व-गमन नहीं करता। उनके प्रति यह भाष्य है—"अथ तु विद्वानपि"। यह निश्चित है कि हार्द-विद्या का अपने फल के साथ संबंध नित्य है, पाक्षिक नहीं। जो लोग कहते हैं कि रात्रि में मृत विद्वान् दिन तिक-

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेऽप्यस्य कदाचिदरश्मिसम्बन्धार्हं शरीरं स्यात्, पावकादिसम्पर्कात्। 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' ( छा० ८।६।५ ) इति च श्रुतिरुदीक्षां दर्शयति। तस्मात्तदविशेषेणैवेदं रात्रिदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

---

## (११ दक्षिणायनाधिकरणम्। सू० २०--२१ )

### अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अत एव चोदीक्षानुपपत्तेः, अपाक्षिकफलत्वाच्च विद्यायाः, अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम्। उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात्, आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्दङ्क्षेति मासांस्तान्' ( छा० ४।१५।५ ) इति च श्रुतेः, अपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया। भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं

भामती

उपबन्धविरोधादिति ॥ १९ ॥

---

अतएवेत्युक्तहेतुपरामर्शं इत्याह ॐअत एव चोदीक्षानुपपत्तेः इतिॐ। पूर्वपक्षबीजमाह ॐउत्तरायणमरणप्राशस्त्ये इति ॐ। अपनोदमाह ॐ प्राशस्त्यप्रसिद्धिरिति ॐ। अतःपदपरामृष्टहेतुबलादविदुषो मरणं प्रशस्तमुत्तरायणे विदुषस्तूभयत्राप्यविशेषो विद्यासामर्थ्यादिति। विदुषोऽपि च भीष्मस्योत्तरायणप्रतीक्षण-

भामती—व्याख्या

लने तक प्रतीक्षा करके सूर्य-मण्डल की प्राप्ति करता है। उनकी ओर से शङ्का उठाकर कहते हैं—"अथापि रात्रौ"। अर्थात् रात्रि में मृत विद्वान् दिन की प्रतीक्षा नहीं करता, क्योंकि "स यावत् क्षिप्येन्मनः, तावदादित्यं गच्छति"—इस श्रुति में 'यावत्-तावत्' के प्रयोग से जो क्षिप्रगति की प्रतीति होती है, दिन की प्रतीक्षा करने पर उसका बाध प्रसक्त होता है, अतः प्रतीक्षा सम्भव नहीं, फलतः रात्रि में भी वितत सौर्य रश्मियों के द्वारा अभीष्ट गति का लाभ होता है ॥ १९ ॥

---

**संशय**—दक्षिणायन में मरने पर उपासक को विद्या ( उपासना ) का फल प्राप्त होता है ? अथवा नहीं ?

**सिद्धान्त**—"अत एव" इस वाक्य के द्वारा परामृष्ट हेतु है—"उदीक्षानुपपत्तेः"। अर्थात् विद्या का फल प्राप्त करने के लिए जैसे दिन की प्रतीक्षा आवश्यक नहीं, वैसे ही उत्तरायण काल की अपेक्षा भी नहीं, दक्षिणायन में मरने पर भी उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। उत्तरायण की प्रतीक्षा आवश्यक है—ऐसे पूर्वपक्ष के उठने में हेतु का निर्देश है—"उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेः" [ अर्थात् "क्रमात्ते सम्भवत्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम्। अयनं देवलोकं च सवितारं स वै व्रजेत्" ( याज्ञ. पृ. ३९७ ) इत्यादि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित उत्तरायण का प्राशस्त्य उत्तरायण की प्रतीक्षा में हेतु प्रतीत होता है। [वर्ष में सूर्य छः मास उत्तरी और छः मास दक्षिणी गोलार्ध में रहता है। इन्हीं दोनों षाण्मासिक कालों को उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं। २१ जून से लेकर २२ दिसम्बर तक दक्षिणायन और शेष छः मास उत्तरायण के होते हैं। देवलोकों की स्थिति उत्तरी आकाश के विशाल प्राङ्गण में दूर-दूर तक फैली मानी जाती हैं। उत्तरायण में सूर्य के प्रखर आलोक से सभी देवलोक आलोकित रहते हैं, अतः प्रकाश के दिनों में यात्रा-मार्ग प्रशस्त रहता है ]।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च। श्रुतेस्त्वथ वक्ष्यति—'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' ( ब्र० सू० ४।३।४ ) इति ॥ २० ॥

ननु च—'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ' ( गी० ८।२३ ) इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावनावृत्तये नियमितः, कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायात्—इत्यत्रोच्यते—

## योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते। स्मार्ते चैते योगसांख्ये, न श्रौते। अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः। ननु 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्'। 'धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्' ( गी० ८।२४-२५ ) इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति। उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' ( गी० ८।२३ ) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः। यदा पुनः स्मृता-

---

भामती

मविदुष आचारं ग्राहयति 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इति न्यायात्। आपूर्य्यमाणपक्षादित्याद्या च श्रुतिर्न कालविशेषप्रतिपत्त्यर्था, अपि त्वातिवाहिकीर्देवताः प्रतिपादयतीति वक्ष्यति। तस्मादविरोधः ॥ २० ॥

सूत्रान्तरावतरणाय चोदयति ॐ ननु च यत्र काले तु इति ॐ। काल एवात्र प्राधान्येनोच्यते न त्वातिवाहिकी देवतेत्यर्थः।

स्मार्त्तोपासनां प्रत्ययं स्मार्त्तः कालभेदविनियोगः प्रत्यासत्तेः, न तु श्रौतीं प्रतीत्यर्थः। अत्र यदि स्मृतौ कालभेदविधिः श्रुतौ चाग्निज्योतिरादिविधिस्तत्राग्न्यादीनामातिवाहिकतया विषयव्यवस्थया विरोधाभाव उक्तः। अथ तु प्रत्यभिज्ञानं तथापि यत्र काल इत्यत्रापि कालाभिधानद्वारेणातिवाहिक्य

---

भामती—व्याख्या

इस प्रकार अविद्वान् का उत्तरायण में मरण प्रशस्त माना जाता है, विद्वान् के लिए तो दोनों अयन समान ही है, क्योंकि विद्या का सामर्थ्य किसी काल या देश से प्रभावित नहीं होता। विद्वान् भीष्मपितामह ने जो उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी, वह एक शिष्टाचार का आदर्श स्थापित करना था, जिसका अनुकरण आनेवाली जनता करती रहे। "आपूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासान्" ( छां. ४।१५।५ ) [ अर्थात् वे ( उपासक ) आपूर्यमाण ( शुक्ल ) पक्ष से उन छः मासों को प्राप्त होते हैं, जिन मासों में सूर्य उत्तर दिशा में अभिक्रमण करता रहता है ] यह श्रुति काल-विशेष का प्रतिपादन न करके उसके अभिमानी आतिवाहिक देवता की ग्राहिका है। अतः किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता ॥ २० ॥

सूत्रान्तर का अवतारण करने के लिए शङ्का करते हैं—"ननु च यत्र काले तु"। अर्थात् यहाँ काल विशेष ही मुख्यतः प्रतिपादित है, आतिवाहिक देवता नहीं। "योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगः"। यह काल-विशेष का विनियोग स्मार्त उपासना में किया गया है, श्रौत उपासना में नहीं। यदि स्मृति में काल-विशेष ( उत्तरायणादि ) का विधान माना जाता है, तब श्रुति में 'अग्नि' ( अर्चि ) पद से अर्चिरादि देवता और 'ज्योति' पद से आदित्य देवता का विधान मान कर विषय-व्यवस्था करके विरोध दूर किया जा सकता है। यदि श्रुति और स्मृति—इन दोनों की विषय-वस्तुओं में एकता प्रत्यभिज्ञात होती है, तब भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते, तदा न कश्चिद्विरोध इति ॥ २१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ शारीरक-मीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

---

भामती

एव देवता उक्ता इत्यविरोध एवेति ॥ २१ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शारीरकभाष्यविभागे भामत्यां चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

---

भामती—व्याख्या

"यत्र काले त्वनावृत्तिम्" ( गी. ८।२३ ) इस स्मृति-वाक्य में भी काल-विशेष के अभिधान-द्वारा आतिवाहिक देवता में तात्पर्य माना जा सकता है ॥ २१ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दविरचितायां भामतीव्याख्यायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

---

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः ।

[ अत्र पादे सगुणविद्यावतो मृतस्योत्तरमार्गाभिधानम् ]

### ( १ अर्चिराद्यधिकरणम् । सू० १ )

**अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥**

आसृत्युपक्रमात्समानोत्क्रान्तिरित्युक्तम्, सृतिस्तु श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते । नाडीरश्मिसम्बन्धेनैका 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते' ( छा० ८।६।५ ) इति । अर्चिरादिकैका 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः' ( बृ० ६।२।१५ ) इति । 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' ( कौ० १।३ ) इत्यन्या । यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति' ( बृ० ५।१०।१ ) इत्यपरा । 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' ( मुण्ड० १।२।११ ) इति चापरा । तत्र संशयः—किं परस्परं भिन्ना एताः सृतयः, किं वैकैवानेकविशेषणेति ? तत्र प्राप्तं तावत्—भिन्ना एताः सृतय इति, भिन्नप्रकरणत्वात्, भिन्नोपासनाशेषत्वाच्च । अपि च 'अथैतैरेव रश्मिभिः' ( छा० ८।६।५ ) इत्यवधारणमर्चिराद्यपेक्षायामुपरुध्येत । त्वरावचनं च पीड्येत 'स याव-

---

भामती

भिन्नप्रकरणस्थत्वाद्भिन्नोपासनयोगतः ।
अनपेक्षा मिथो मार्गास्त्वरातोऽवधृतेरपि ॥

गन्तव्यमेकं नगरं प्रति वक्रेणाध्वना गतिमपेक्ष्य ऋजुनाऽध्वना गतिस्त्वरावती कल्प्यते । एकमार्गत्वे तु किमपरमपेक्ष्य त्वरा स्यात् । अथ तैरेव रश्मिभिरित्यवधारणं नोपपद्यते पथ्यन्तरस्य निवर्त्त-

---

भामती-व्याख्या

**संशय**—ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए मार्ग अनेक हैं ? अथवा एकमात्र अर्चिरादि मार्ग ?

**पूर्वपक्ष**—

भिन्नप्रकरणस्थत्वाद् भिन्नोपासनयोगतः ।
अनपेक्षा मिथो मार्गाः त्वरातोऽवधृतेरपि ॥

[ अर्चिरादि नाना मार्ग परस्पर-निरपेक्ष हैं, क्योंकि (१) वे भिन्न-भिन्न प्रकरणों में वर्णित हैं, अतः प्रकरण-भेद से मार्गों का भिन्न होना अनिवार्य है। (२) उपासनाओं में मार्गों का अङ्गत्वेन योग ( विनियोग ) है, अतः उपासना के भेद से भी मार्गों का भेद सिद्ध होता है। (३) त्वरा ( शीघ्रता ) का जो प्रतिपादन किया गया है—"स यावत् क्षिप्येन्मनः" ( छां. ८।६।५ ) वह भी मार्गों का भेदक है, क्योंकि ] एक ही नगरादि गन्तव्य-स्थल तक जाने के लिए वक्र ( टेढे-मेढे ) मार्ग से जाने की अपेक्षा सीधे मार्ग से जावे पर शीघ्र पहुँचता है। यदि एक ही मार्ग हो, तब किस की अपेक्षा किस को सीधा और शीघ्र पहुँचानेवाला मार्ग कहा जायगा ? (४) "अथैतैरेव रश्मिभिः" ( छां. ८।६।५ ) इस श्रुति में जो कहा गया है कि इन रश्मियों के मार्ग से ही उद्गमन करे—यहाँ अवधारणार्थक ( अन्ययोग-व्यवच्छेदक ) एवकार के द्वारा अन्य मार्ग की व्यावृत्ति तभी की जा सकती है, जबकि मार्ग अनेक हों। फलतः एक ही ब्रह्मलोक तक जाने के लिए अनेक मार्गों का वैसे ही विकल्पतः विधान किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्क्षण्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति। तस्मादन्योन्यभिन्न एवैते पन्थान इति।

एवं प्राप्तेऽभिदध्महे - अर्चिरादिनेति। सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहतीति प्रतिजानीमहे। कुतः? तत्प्रथितेः। प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम्। तथा हि - पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे 'ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति विद्यान्तरशीलिनामप्यर्चिरादिका स्मृतिः श्राव्यते। स्यादेतत् - यासु विद्यासु न काचिद्गतिरुच्यते तास्वियमर्चिरादिकोपतिष्ठताम्, यासु त्वन्या श्राव्यते तासु किमित्यर्चिराद्याश्रयणमिति? अत्रोच्यते - भवेदेतदेवं यद्यत्यन्तभिन्ना एवैताः स्मृतयः स्युः। एकैव त्वेषा स्मृतिरनेकविशेषणा ब्रह्मलोकप्रपदनी क्वचित्केनचिद्विशेषणेनोपलक्ष्यतेति वदामः, सर्वत्रैकदेशप्रत्यभिज्ञानादितरेतरविशेषणविशेष्यभावोपपत्तेः। प्रकरणभेदेऽपि हि विद्यैकत्वे भवतीतरेतरविशेषणोपसंहारवद्गतिविशेषणानामप्युपसंहारः। विद्याभेदेऽपि तु गत्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद् गन्तव्याभेदाच्च गत्यभेद एव। तथा हि - 'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५), 'तस्मिन्वसन्ति शाश्वतीः समाः' (बृ० ५।१०।१), 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति

भामती

नीयस्याभावात् तस्मात्परस्परानपेक्षा एवैते पन्थान एकब्रह्मलोकप्राप्त्युपाया व्रीहियवाविव विकल्पैरिति प्राप्ते प्रत्युच्यते—

एकत्वेऽपि पथोऽनेकपर्वसंगमसम्भवात्।
गौरवान्नैव नानात्वं प्रत्यभिज्ञानलिङ्गतः॥

सपर्वा हि पन्था नगरादिकमेकं गन्तव्यं प्रापयति नाभागः। तत्र किमेते रश्म्यहर्वायुसूर्य्याख्या अध्वानः पर्वाणः सन्तोऽध्वनैकेन युज्यन्ते, आहो यथायथमध्वानमपि भिन्दन्तीति सन्देहेऽभेदेऽध्वनो भागभेदोपपत्तेर्न भागिभेदकल्पनोचिता, गौरवप्रसङ्गात्। एकदेशप्रत्यभिज्ञानाच्च विशेषणविशेष्यभावोपपत्तेर्नानेकाध्वकल्पना। अथैतैरेव रश्मिभिरित्येवावधारणं न तावदर्थान्तरनिवृत्त्यर्थं तत्प्रापकैरेव वाक्यान्तरैर्विरोधात्, तस्मादन्यानपेक्षामस्यावधारयतीति वक्तव्यम्। न चैकं वाक्यमप्राप्तमध्वानं प्राप-

भामती-व्याख्या

जाता है, जैसे याग की हवि का निर्माण करने के लिए यवादि का विकल्पतः विधान होता है।

सिद्धान्त—

एकत्वेऽपि पथोऽनेकपर्वसंगमसंभवात्।
गौरवान्नैव नानात्वं प्रत्यभिज्ञानलिङ्गतः॥

ब्रह्मलोक का मार्ग एक ही है किन्तु उसमें पर्वों (प्रखण्डों या पड़ावों) का अनेक होना सम्भव है—किसी नगर के एक लम्बे पथ को पथिक कई पड़ाव डालकर पार किया करता है। इस ब्रह्मलोकगामी मार्ग के रश्मि, अहर्, वायु और सूर्यादि पर्व क्या एक ही मार्गरूपी बाँस की पोरियाँ हैं? अथवा उनसे होकर जाने वाले मार्ग ही भिन्न हैं? ऐसा सन्देह होने पर अनेक पर्वों से घटित मार्ग को एकता ही उचित प्रतीत होती है, अनेकता नहीं। अन्यथा गौरव प्रसक्त होता है। विभिन्न प्रकरणों में वर्णित मार्ग के इन आदित्यादि भागों (विशेषणों) की एकता प्रत्यभिज्ञात होती है, अतः अनेक विशेषणों के साथ जब एक ही विशेष्य पदार्थ का अन्वय उपपन्न हो जाता है, तब अनेकत्व-कल्पना की क्या आवश्यकता? एक महावाक्य अपने खण्ड वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित भागों के भेद से न तो अनेक मार्गों की प्राप्ति करा सकता है और न भागों के परस्पर-अनपेक्षा की अवगति करा सकता है। इसका अन्य वाक्यों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तां व्युष्टिं व्यश्नुते' ( कौषी० १।४ ), 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' ( छा० ८।४।३ ) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते। यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति—नैष दोषः, रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य। न ह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम्। तस्माद्रश्मिसंबन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम्, त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शैघ्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते—यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति। अपि च 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' ( छा० ५।१०।८ ) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति। भूयांस्यर्चिरादिश्रुतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र। भूयसां चानुगुण्येनाल्पीयसां नयनं न्याय्यमिति, अतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेः इत्युक्तम्॥ १॥

---

## ( २ वाय्वधिकरणम्। सू० २ )

## वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्॥ २॥

**केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषणानामितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति ?**

भामती

यति। तस्य चानपेक्षतां प्रतिपादयतीत्यर्थद्वयाय पर्य्याप्तं, तस्माद्विधिसामर्थ्यप्राप्तमयोगव्यवच्छेदमेवकारोऽनुवदतीति युक्तम्। ❀त्वरावचनं च इति❀। न खल्वेकस्मिन्नेव गन्तव्ये पथि भेदमपेक्ष्य त्वराऽवकल्प्यते किन्तु गन्तव्यभेदावपि तदुपपत्तिः। यथा काश्मीरेभ्यो मथुरां क्षिप्रं याति चैत्र इति तथेहाप्यन्यतः कुतश्चिद्गन्तव्यादनेनोपायेन ब्रह्मलोकं क्षिप्रं प्रयातीति। ❀ भूयांस्यर्चिरादिश्रुतौ मार्गपर्वाणि इति❀। अयमर्थः—एकत्वात्प्राप्तव्यस्य ब्रह्मलोकस्याल्पपर्वणा मार्गेण तत्प्राप्तौ सम्भवन्त्यां बहुपर्वमार्गोपदेशो व्यर्थः प्रसज्यते। तत्र चेतनस्याप्रवृत्तेः। तस्माद् भूयसां पर्वणामविरोधेनाल्पानां तदनुप्रवेश एव युक्त इति॥१॥

---

भामती—व्याख्या

विरोध न हो इसलिए "एतैरेव रश्मिभिः' यहाँ पर एवकार को अन्ययोग-व्यवच्छेदक ही माना जाता है। "त्वरावचनं तु" इस भाष्य का आशय यह है कि एक ही गन्तव्य स्थल में मार्ग-भेद की अपेक्षा से शीघ्रता का अभिधान नहीं होता, अपितु गन्तव्य भेद को लेकर भी त्वराभिधान उपपन्न हो जाता है, जैसे काश्मीर की अपेक्षा मथुरा शीघ्र पहुँचा जा सकता है, वैसे ही दूरस्थ अन्य लोक की अपेक्षा ब्रह्मलोक शीघ्र पहुँचा जा सकता है। "भूयांस्यर्चिरादिश्रुतौ मार्गपर्वाणि"—इसका अर्थ यह है कि जिस ब्रह्मलोक को अल्पपर्ववाले मार्ग से प्राप्त किया जा सकता है, उसके अधिक पर्ववाले मार्ग का उपदेश व्यर्थ है, क्योंकि उस मार्ग में किसी जीव की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, अतः 'भूयोऽनुग्रहन्याय' को अपना कर सूत्रकार ने कहा है—"अर्चिरादिना"। [ भूयस्त्वानुग्रह की व्याख्या श्री कुमारिल भट्ट ने प्रस्तुत की है—

"गुणानां यत्र भूयस्त्वमितिकर्तव्यतात्मकम्।
तत्र तेनैव लिङ्गेन तस्य कर्तव्यतेष्यते॥" (तं. वा पृ. ८१५)

अर्थात् जिस प्रधान द्रव्य का कर्म में गुणों ( अङ्गों ) का भूयस्त्व ( आधिक्य ) होता है, उसे ही पहले अपनाया जाता है ]॥ १॥

---

**संशय**—अर्चिरादि मार्ग में वायुलोक का सन्निवेश होता है ? अथवा नहीं ? यदि होता है, तब कहाँ ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदेतत्सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यो ग्रथयति। 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते। तत्रार्चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः क्वचिदन्वेष्यः। वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि न श्रुतः कतमस्मिन् स्थाने निवेशयितव्य इति? उच्यते -'तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्दङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमा-

भामती

श्रुत्याद्यभावे पाठस्य क्रमं प्रति नियन्तृता।
ऊर्ध्वाक्रमणमात्रे च श्रुता वायोर्निमित्तता॥

स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमत इति हि वायुनिमित्तमूर्ध्वाक्रमणं श्रुतं न तु वायुनिमित्तमादित्यागमनम्। स आदित्यमागच्छतीत्यादित्यागमनमात्रप्रतीतेः। न च तेनेत्यनन्तरश्रुतोर्ध्वाक्रमणक्रियासम्बन्धे निराकाङ्क्षमादित्यगमनक्रिययापि सम्बन्धुमर्हति। न चादित्यागमनस्य तेनेति विना काचिदनुपपत्तिर्येनान्यसम्बद्धमप्यनुषज्यते। तत्राग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमित्यादिसम्बन्धंगतस्य पाठस्य क्वचिन्नियामकत्वेन कल्पसामर्थ्यात्। अग्निवायुवरुणक्रमनियामकश्रुत्याद्यभावादिति प्राप्ते प्रत्युच्यते—

भामती—व्याख्या

पूर्वपक्ष—

श्रुत्याद्यभावे पाठस्य क्रमं प्रति नियन्तृता।
ऊर्ध्वाक्रमणमात्रे च श्रुता वायोर्निमित्तता॥

[ अर्चिरादि मार्ग में आदित्यतक छः पर्व हैं—(१) अर्चिः, (२) अहः, (३) पक्ष, (४) उत्तरायण, (५) संवत्सर और (६) आदित्य। इनमें वायु का निवेश कहाँ किया जाय? यह निचारणीय है ]। "अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्" (कौ. १।३) इस वाक्य में निर्दिष्ट पाठ-क्रम के अनुसार अर्चिरात्मक अग्नि के पश्चात् द्वितीय स्थान में वायु का निवेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वायु में अर्चिरादि मार्ग की अङ्गता ही किसी श्रुति, लिङ्गादि विनियोजक प्रमाण से सिद्ध नहीं होती, तब पाठ प्रमाण में क्रम-नियामकता क्योंकर होगी? "स वायुं गच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते" (बृह. उ. ५।१०।१) यह श्रुति भी तो केवल इतना ही कहती है कि उपासक जब वायुलोक में जाता है, तब वायु में रथ-चक्र-नाभि-छिद्र के समान एक छिद्र बन जाता है और उपासक उस छिद्र से उत्क्रमण करता है। भले ही वह उससे निकलकर आदित्यलोक में जाता हो किन्तु अर्चिरादि मार्ग की घटकता वायु में सिद्ध नहीं होती। 'तेन (वायुच्छिद्रेण) स ऊर्ध्वमाक्रमते'—ऐसा अन्वय हो जाने से ही 'तेन' पद की आकांक्षा शान्त हो जाती है, तेन स आदित्यमागच्छति'—ऐसा अपेक्षित नहीं रह जाता। यदि 'तेन'—इस पद के साथ अन्वय न होने पर आदित्यलोक में उपासक के आगमन की अनुपपत्ति होती, तब भी 'तेन स आदित्यमागच्छति'—ऐसा अन्वय किया जा सकता था, किन्तु वैसी कोई अनुपपत्ति नहीं, अतः आक्रमण क्रिया से सम्बन्धित 'तेन' का अनुषङ्ग (सम्बन्ध) आदित्य के साथ कभी नहीं हो सकता। "अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्"—इत्यादि संदर्भ का पाठ-क्रम उत्तरभावी वरुणलोक के साथ क्रम-नियमन का निश्चित सामर्थ्य रखता है, अतः 'अग्नि-वायु-वरुण' क्रम के नियामक श्रुत्यादि प्रमाणों का अभाव है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसंभवन्ति। कस्मात् ? अविशेषविशेषाभ्याम्। तथा हि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति। एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः। कस्मात्पुनरग्नेः परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तरं वायुर्न निवेश्यते ? नैषोऽस्ति विशेष इति वदामः। ननूदाहृता श्रुतिः—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौषी० १।३) इति, उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते—एतमेतं चागच्छतीति। इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात्सूक्तम्—अविशेषविशेषाभ्यामिति। वाज-

---

भामती

ऊर्ध्वशब्दो न लोकस्य कस्यचित्प्रतिपादकः।
तद्भेदापेक्षया युक्तमादित्येन विशेषणम्॥

भवेदेतदेवं यद्यूर्ध्वशब्दात्कश्चिल्लोकभेदः प्रतीयेत, स तूपरिदेशमात्रवाची लोकभेदाद्विनाऽपर्य्यवस्यंल्लोकभेदवाचिभादित्यपदेनादित्ये व्यवस्थाप्यते। तथा चादित्यलोकागमनमेव वायुनिमित्तमिति श्रौतक्रमनियमे पाठः पदार्थमात्रप्रदर्शनार्थो न तु क्रमाय प्रभवति श्रुतिविरोधादिति सिद्धम्। वाजसनेयिनां संवत्सरलोको न पठ्यते छान्दोग्यानां देवलोको न पठ्यते तत्रोभयानुरोधादुभयपाठे मासस्सम्बन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोकः। नहि मासो देवलोकेन सम्बध्यते, किन्तु संवत्सरेण। तस्मात्तयोः परस्परसम्बन्धान्मासारभ्यत्वाच्च संवत्सरस्य मासानन्तर्य्ये स्थिते देवलोकः संवत्सरस्य परस्ताद्भवति। तत्रादित्यानन्तर्य्याय वायोः संवत्सरादित्यस्य स्थाने देवलोकाद्वायुमिति पठितव्यम्। वायुमब्दादिति तु सूत्रमत्रापि

---

भामती—व्याख्या

सिद्धान्त—

ऊर्ध्वशब्दो न लोकस्य कस्यचित्प्रतिपादकः।
तद्भेदापेक्षया युक्तमादित्येन विशेषणम्॥

अर्चिरादि मार्ग में वायु का अप्रवेश तब सिद्ध हो सकता था, जब कि "तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते"—यहाँ पर 'ऊर्ध्व' शब्द किसी विशेष लोक का बोधक होता, किन्तु वैसा नहीं, अपितु 'ऊर्ध्व' शब्द सामान्यतः ऊपर देश का वाचक है, सामान्य का पर्यवसान किसी विशेष अर्थ में ही हुआ करता है, अतः सन्निहित 'आदित्य' पद आदित्यरूप विशेष देश की उपस्थिति कराकर 'ऊर्ध्व' पद को उसी अर्थ में उपसंहृत करता है। फलतः 'तेन' इस क्रमार्थक श्रुति प्रमाण के द्वारा वायु और आदित्य का वैसे ही पौर्वापर्य स्थिर होता है, जैसे "वेदं कृत्वा वेदिं करोति"—यहाँ वेद-करण और वेदि-करण का। पाठ प्रमाण तो केवल अग्नि-वायु आदि पदार्थों का उपस्थापक होता है, उनके क्रम का बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि वायु और आदित्य के क्रम की बोधिका इस श्रुति से उसका बाध हो जाता है। वाजसनेयि-शाखा में संवत्सरलोक का पाठ नहीं और छान्दोग्य में देवलोक श्रुत नहीं, अतः उन दोनों के अनुरोध पर दोनों लोकों का निवेश करने के लिए संवत्सर का पहले और देवलोक का पश्चात् निवेश करना चाहिए, क्योंकि मास का संवत्सर से सम्बन्ध है, देवलोक के साथ नहीं, अतः मास के अनन्तर मासों के द्वारा आरब्ध संवत्सर का एवं संवत्सर के पश्चात् देवलोक का निवेश होता है। आदित्य से अव्यवहित पूर्व वायु का निवेश करने के लिए 'संवत्सरादि-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति। तत्रादित्यानन्तर्याद्य देवलोकाद्वायुमभिसम्भवेयुः। 'वायुमब्दात्' इति तु छन्दोगभ्रत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते, परत्र संवत्सरः। तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससम्बन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

---

## ( ३ तडिदधिकरणम् । सू० ३ )

### तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' ( छा० ४।१५।५ ) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स वरुणलोकमित्ययं वरुणः सम्बध्यते। अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयोः। 'यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रभृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। वरुणादधीन्द्रप्रजापती, स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च। आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेशो वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युच्चान्त्याऽर्चिरादौ वर्त्मनि ॥ ३ ॥

---

भामती

वाचकमेव। तथापि संवत्सरात्पराच्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्तीति छान्दोग्यपाठमात्रापेक्षयोक्तं, तदिदमाह ॐ वायुमब्दादिति तु इति ॐ ॥ २ ॥

---

तडिदन्तेऽर्चिराद्येऽध्वन्यप्पतिस्तडितः परः।
तत्सम्बन्धात् तथेन्द्रादिरप्पतेः पर इष्यते ॥
आगन्तूनां निवेशोऽन्ते स्थानाभावात् प्रसाधितः।
तथा चेन्द्रादिरागन्तुः पठ्यते चाप्पतेः परः ॥ ३ ॥

---

भामती-व्याख्या

त्यम्'—इसके स्थान पर 'संवत्सराद् देवलोकम्, देवलोकाद् वायुम्'—ऐसा पाठ कर लेना चाहिए। 'वायुमब्दात्—इस सूत्रांश में 'वायु' शब्द इस देवलोक का भी उपलक्षक है। भाष्यकार ने जो संवत्सर के पश्चात् और आदित्य से पहले वायु का पाठ स्थिर किया है, वह केवल छान्दोग्य-पाठ के अनुरोध पर, वही कह रहे हैं—"वायुमब्दादिति तु" ॥ २ ॥

---

**संशय**—अर्चिरादि मार्ग में वरुण का सन्निवेश होता है ? अथवा नहीं ?

**सिद्धान्त**—

तडिदन्तेऽर्चिराद्येऽध्वन्यप्पतिस्तडितः परः।
तत्सम्बन्धात् तथेन्द्रादिरप्पतेः पर इष्यते ॥
आगन्तूनां विवेशोऽन्ते स्थानाभावात् प्रसाधितः।
तथा चेन्द्रादिरागन्तुः पठ्यते चाप्पतेः परः ॥

[ अर्चिराद्य ( अर्चिरादि ) मार्ग में "आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्" ( छां. ४।१५।५ ) यहाँ पठित विद्युत् के अन्त में अप्पति ( वरुण ) का स्थान है, क्योंकि विद्युत् का जलाधिपति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ४ आतिवाहिकाधिकरणम् । सू० ४–६ )

### आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तृणामिति ? तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्प्राप्तम्, तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथा हि लोके कश्चिद्ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते—गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह । अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथा हि—लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' ( कौषी० १।३ ) इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' ( बृ० १।५।१६ ) इति च । तथा च ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सञ्जन्ते' इत्यादि । तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः । अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानु-

भामती

मार्गे चिह्नसरूपत्वाच्चिह्नान्येवार्चिरादयः ।
भर्तृभोगभुवो वा स्युर्लोकत्वान्नातिवाहिकाः ॥

अर्चिरादिशब्दा हि ज्वलनादिष्वचेतनेषु निरूढवृत्तयो लोके न चैषां स्वावधिकानामिव नियमवती संवहनस्वरूपा स्वतन्त्रक्रियाबुद्धिपूर्वा सम्भवत्यचेतनानाम् । तस्माल्लोकशब्दवाच्यत्वाद्भुतं जीवात्मनो भोगभूमय एवेति मन्यामहे ।

अपि चार्चिष इत्यस्मादपादानं प्रतीयते ।
न हेतुर्नागुणे हेतौ पञ्चमी दृश्यते क्वचित् ॥

जाड्याद्वह इत्यादिषु गुणवचनेषु जाड्यादिषु हेतुपञ्चमी दृष्टा । न चार्चिरादिशब्दा गुणवाचिनो

भामती–व्याख्या

(वरुण) के साथ आसाधारण सम्बन्ध है । वरुण के पश्चात् इन्द्रादि का निवेश माना जाता है, क्योंकि सभा-भवनादि में आगे का स्थान पहले आनेवाले व्यक्तियों से भर जाता है, अतः पश्चात् आगन्तुकों को पिछला स्थान ही मिलता है । इन्द्रादि आगन्तुक भी हैं और वरुण के पश्चात् ही पठित भी हैं ] ॥ ३ ॥

———

संशय—अर्चिः, अहर्, पक्षादि क्या उक्त मार्ग के चिह्न हैं ? या भोगभूमियाँ ? अथवा जीव को आगे-आगे ले जानेवाले देवगण ?

पूर्वपक्ष—

मार्गे चिह्नसरूपत्वाच्चिह्नान्येवार्चिरादयः ।
भर्तृभोगभुवो वा स्युर्लोकत्वान्नातिवाहिकाः ॥

लोक में अर्चिरादि शब्द अग्नि आदि मे रूढ़ हैं । जैसे किसी लम्बे पथ के पथिक को आवधिक ( अपने देश की सीमा में उठाकर ले जाने वाले ) आगे-से-आगे पहुँचाते रहते हैं, वैसी संवहन क्रिया किसी चेतन पुरुष की ही होती है, अर्चिरादि के साथ 'लोक' शब्द भी जुड़ता है, अतः अर्चिर्लोकादि स्थान जीव की भोगभूमियाँ हैं—ऐसा मानना ही अधिक संगत है ।

अपि चार्चिष इत्यस्मादपादानं प्रतीयते ।
न हेतुर्नागुणे हेतौ पञ्चमी दृश्यते क्वचित् ॥

दूसरी बात यह भी है कि "अर्चिषोऽहर्"—यहाँ पर 'अर्चिः' शब्द से पञ्चमी "हेतौ" ( पा. सू. २।३।२३ ) इस अधिकार में "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" ( पा. सू. २।३।२५ ) इस सूत्र

CC-0 Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पपत्तिः। चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः? तल्लिङ्गात्। तथा हि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति सिद्धेवद्गमयितृत्वं दर्शयति। तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत् - न, प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य। यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति॥ ४॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमकम्, न्यायाभावात्। नैष दोषः—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः॥ ५॥

ये तावदर्चिरादिमार्गास्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा

भामती

येन पञ्चम्या तेषां वहनं प्रति हेतुत्वमुच्येत। अपादानत्वं चाचेतनेष्वप्यस्तीति नातिवाहिकाः। न चामानवस्य पुरुषस्य विद्युदादिषु वोढृत्वदर्शनादर्चिरादीनामपि वोढृत्वमुन्नेयम्। यावद्वचनं हि वाचनिकं न तदवाच्ये सञ्चारयितुमुचितम्। अपि चार्चिरादीनां वोढृत्वे विद्युदादीनामपि वोढृत्वान्नामानवः पुरुषो वोढा श्रूयेत। यतस्तु श्रूयते ततोऽवगच्छामो विद्युदादिवन्नार्चिरादीनां वोढृत्वमिति। तस्माद्भोगभूमय एवार्चिरादयो नातिवाहिका इति प्राप्ते प्रत्युच्यते—

संपिण्डकरणानां हि सूक्ष्मदेहवतां गतौ।
न स्वातन्त्र्यं न चाग्न्याद्या नेतारोऽचेतनास्तु ते॥

ईदृशी हि नियमवती गतिः स्वयं वा प्रेक्षावतोऽप्रेक्षावतो वा प्रेक्षावत्प्रयुक्तस्य वा। न तावद्विगलितस्थूलकलेवराः सूक्ष्मदेहवतः सम्पिण्डितकरणग्रामा उत्क्रान्तिमन्तो जीवात्मानो मत्तमूर्च्छितवत्स्वयं

भामती-व्याख्या

के द्वारा जो पञ्चमी का विधान किया है, वह गुणवाचक शब्द से, जैसे—"जाड्याद् बद्धः, जाड्येन वा" [ द्रव्य के आश्रित रहनेवाला पदार्थ गुण कहलाता है, जड़ता ऐसा ही पदार्थ है किन्तु ] अर्चिरादि शब्द गुण-वाचक नहीं, अतः उनसे न हेतु-पञ्चमी हो सकती है और न अर्चिरादि पदार्थों में जीव के वहन की हेतुता सम्भव है। अपादान-पञ्चमी मानने पर कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि अपादानता तो जड़ पदार्थों में भी बन जानी है, फलतः अर्चिरादि जड़ पदार्थों को आतिवाहक ( जीव को ले जानेवाले ) नहीं कहा जा सकता और न विद्युदादि में अमानव पुरुषगत वाहकत्व देखकर अर्चिरादि में उसकी कल्पना ही की जा सकती है। यदि अर्चिरादि में वाहकत्व को कल्पना की जाती है, तब विद्युदादि में भी वाहकत्व की उपपत्ति हो जाने से अमानव पुरुष को कल्पना व्यर्थ हो जाती है किन्तु वह श्रुतिप्रतिपादित है, अतः यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि विद्युदादि के समान ही अर्चिरादि में वोढत्व नहीं होता। परिशेषतः अर्चिरादि स्थान जीव की भोग-भूमियाँ ही हैं, आतिवाहक नहीं।

सिद्धान्त—

सपिण्डकरणानां हि सूक्ष्मदेहवतां गतौ।
न स्वातन्त्र्यं न चाग्न्याद्या नेतारोऽचेतनास्तु ते॥

'गति' क्रिया का यह नियम है कि या तो यह किसी बुद्धिमान् चेतन के द्वारा सम्पादित होती है अथवा चेतन-प्रेरित किसी रथादि अचेतन में भी होती है। उपासक जीव ब्रह्मलोक की ओर गति करना चाहते हैं किन्तु वे स्थूल शरीर से रहित होते हैं, उनका इन्द्रिय-वर्ग संकुचित एवं क्रिया-हीन हो जाता है, वे मत्त और मूर्च्छित के समान संज्ञा-हीन से होकर स्वयं

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः सपिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति। अनवस्थितत्वाद्ध्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः। नहि रात्रौ प्रेतस्याहःस्वरूपाभिसम्भव उपपद्यते। न च प्रतिपालनमस्तीत्युक्तं पुरस्तात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिरादयभिमानादुपपद्यते। 'अर्चिषोऽहः' ( छा० ४।१५।५,५।१०।१ ) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते—अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवति। अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति। तथा च लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते। गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंहं ततः कृष्णगुप्तमिति। अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' ( बृ० ६।२।१५ ) इति सम्बन्धमात्रमुक्तम्, न सम्बन्धविशेषः कश्चित्। उपसंहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' ( छा० ४।१५।६ ) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवा-

भामती

ईक्षावन्तो यदेवं स्वातन्त्र्येण गच्छेयुस्तद्यर्चिरादयोऽपि मार्गचिह्नानि वा शमीकारस्करादिवद् भोगभूमयो वा सुमेरुशैलेलावृत्तादिवदुभयथाप्यचेतनतया न नयनं प्रत्येषामस्ति स्वातन्त्र्यम्। न चैतेभ्योऽन्यस्य चेतनस्य नेतुः कल्पना सति श्रुतानां चैतन्यसम्भवे। न च परमेश्वर एवास्तु नेतेति युक्तम्, तस्यात्यन्तसाधारणतया लोकपालग्रहादीनामकिञ्चित्करत्वात्। तस्माद् व्यवस्थित एव परमेश्वरस्य सर्वाध्यक्षत्वे यथायथात्वं लोकपालादीनां स्वातन्त्र्यम्। एवमिहाप्यर्चिरादीनामातिवाहिकत्वमेव दर्शनानुसाराच्छब्दार्थ इति युक्तम्। इममेवार्थमनवं पुरुषातिवाहनलक्षणं लिङ्गमुपोद्बलयतीत्युक्तम्। ॐ अनवस्थितत्वादर्चिरादीनाम् इति ॐ। अवस्थितं हि मार्गचिह्नं भवत्यव्यभिचारान्नानवस्थितं व्यभिचारादिति। अर्चिष इति च हेतौ पञ्चमी नापादाने। गुणत्वञ्चाश्रिततया। न च वैशेषिकपरिभाषया नियम आस्थेयो

भामती—व्याख्या

गति करने में अक्षम हो जाते हैं, अब यदि अर्चिरादि भी वाहक न होकर वैसे ही मार्ग के चिह्नमात्र हैं, जैसे—शमी, कारस्करादि वृक्ष। अथवा सुमेरु पर्वत, इलावृत्तादि देशों के समान अर्चिरादि भोग-भूमियाँ हैं, जड़ हैं। तब ये ( अर्चिरादि ) भी जीवात्मा को ले जाने में स्वतन्त्र सक्षम नहीं। यदि अर्चिरादि में चैतन्य सम्भव है, तब इनसे भिन्न नेता ( वाहक ) की कपल्ना नहीं की जा सकती। परमेश्वर को ही नेता ( वाहक ) मान लेना चाहिए—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि वह सर्व-साधारण है, ब्रह्मलोक ले जायगा तो सबको ले जायगा, कुछ ही जीवों को क्यों ले जायगा ? यदि ईश्वर को ही सभी कार्यों का कर्त्ता मान लिया जाता है, तब लोकपालादि देवगण किस लिए हैं ? वे सब अकिञ्चित्कर ( निकम्मे ) हो जाएँगे, अतः परमेश्वर की व्यवस्थापिक सर्वाध्यक्षता में ही लोकपालादि देवगणों का अपने-अपने कार्य में जैसे स्वातन्त्र्य है, वैसे ही अर्चिरादि के अभिमानी देवगणों को आतिवाहक मानना दृष्टानुसारी और युक्ततर है। इसी आशय की पुष्टि अमानव पुरुष के अतिवहन निर्देश रूप लिङ्ग ( सामर्थ्य ) के द्वारा की जाती है। "अनवस्थितत्वादर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः"—इस भाष्य का आशय यह है कि अवस्थित (अचल) वृक्षादि पदार्थ ही मार्ग के चिह्न होते हैं, क्योंकि वे अपने स्थान से व्यभिचरित ( टलते ) नहीं होते, किन्तु अर्चिरादि अनवस्थित ( इधर-उधर हो जाने वाले ) पदार्थ है। 'अर्चिषः'—यह हेतु-पञ्चमी 'धूमादग्निमान्' के समान योग-विभाग के द्वारा हो सकती है, अपादान-पञ्चमी वहीं मानी जाती। अर्चिरादि में गुणत्व भी उपपन्न हो जाता है, क्योंकि गौणरूपेण ( अन्याश्रितत्वेन ) रहने वाले पदार्थ को गुण कहा जाता है, अर्चिरादि भी किसी के आश्रित होने से गुण है। वैशेषिक शास्त्र में जो द्रव्य-गुण की परिभाषा की गई है, उसको सर्वत्र नहीं माना जा सकता, अन्यथा

CC-0. Prof. Satya Vrat Shastri Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तः। तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। सम्पिण्डितकरणत्वादेव च गन्तृणां न तत्रोपभोगसम्भवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते, वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्संभवः? विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपदिक्षिताः, विद्युतस्त्वनन्तरमाब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति। अत उत्तरं पठति—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततो विद्युदभिसम्भवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्। 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः स एतस्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यम्। तस्मात्साधूक्तम्—आतिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥ ६ ॥

---

भामती

लोकविरोधात्। अपि च तेऽर्चिरभिसम्भवन्तीति सम्बन्धमात्रमुक्तमिति।

सामान्यवचने शब्दे विशेषाकांक्षिणि स्फुटम्।
यद्विशेषपदं तेन तत्सामान्यं नियम्यते ॥

यथा ब्राह्मणमानय भोजयितव्य इति तद्विशेषापेक्षायां यदा तत्सन्निधावुपनिपतति पदं कठादि, तदा तेनैतन्नियम्यते। ❀ एवमिहापि इति ❀ ॥ ४-५ ॥

विद्युल्लोकमागतोऽमानवः पुरुषो वैद्युतस्तेनैव न तु वरुणादिना स्वयमुह्यते। तच्छ्रुतेस्तस्यैव स्वयं वोढृत्वश्रुतेः। वरुणादयस्तु तत्साहायके वर्त्तमाना वोढारो भवन्तीति च वैषम्यं न वोढृत्व इति सर्वमवदातम् ॥ ६ ॥

---

भामती—व्याख्या

लोक-व्यवहार का विरोध होता है। दूसरी बात यह भी है कि "तेऽर्चिरभिसंभवन्ति"—यहाँ पर सम्बन्धमात्र का अभिधान किया गया है, उसका उसी विशेष अर्थ में पर्यवसान होता है, जो प्रक्रान्त और सन्निहित हो—

सामान्यवचने शब्दे विशेषाकांक्षिणि स्फुटम्।
यद्विशेषपदं तेन तत्सामान्यं नियम्यते ॥

जैसे 'ब्राह्मणमानय भोजयितव्यः' [ ब्राह्मण को बुलाओ भोजन कराना है ] यहाँ सामान्यतः उच्चरित ब्राह्मण पद समीपस्थ कठादि विशेष ब्राह्मण का बोधक होता है, वैसे ही अर्चिरादि का सामान्य सम्बन्ध "स एतान् ब्रह्म गमयति" ( छां. ४।१५।६ ) इसके अनुरोध पर वाह्यवाहकरूप विशेष सम्बन्ध में पर्यवसित होता है ॥ ४-५ ॥

यद्यपि जैसे अर्चिरादि में अतिवाहकत्व प्रतीत होता है, वैसा वरुणादि में सम्भव नहीं, क्योंकि विद्युल्लोक से ऊपर अमानव पुरुष उपासक जीवों का ब्रह्मलोक तक वहन करता है, वरुणादि नहीं। तथापि वरुणादि उस अमानव पुरुष के सहायक माने जाते हैं, अतः अमानव पुरुष प्रधान अतिवाहक और वरुणादि उपातिवाह हैं, इस प्रकार वरुणादि में अतिवाहकत्व का अभाव नहीं माना जाता कि अर्चिरादि से वरुणादि का वैषम्य हो जाता ॥ ६ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

पाठक्रमावर्थक्रमो बलवानिति यथार्थक्रमं पठन्ते सूत्राणि—परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्। स एतान् ब्रह्म गमयतीति विचिकित्स्यते। किं परं ब्रह्म गमयत्याहोस्विदपरं कार्य्यं ब्रह्मेति।

मुख्यत्वादमृतप्राप्तेः परप्रकरणादपि।
गन्तव्यं जैमिनिर्मेने परमेवार्चिरादिना॥

ब्रह्म गमयतीत्यत्र हि नपुंसकब्रह्मपदं परस्मिन्नेव ब्रह्मणि निरूढत्वात् अनपेक्षतया मुख्ये सति सम्भवे न कार्ये ब्रह्मणि गुणकल्पनया व्याख्यातुमुचितम्। अपि चामृतत्वफलावाप्तिर्न कार्य्यब्रह्मप्राप्तौ युज्यते। तस्य कार्य्यत्वेन मरणधर्मवत्त्वात्। किञ्च तत्र तत्र परमेव ब्रह्म प्रकृत्य प्रजापतिसभाप्रतिपत्त्यादय उच्यमाना नापरब्रह्मविषया भवितुमर्हन्ति प्रकरणविरोधात्। न च परस्मिन् सर्वगते गतिर्नोपपद्यते प्राप्तत्वादिति युक्तम्। प्राप्तेति हि प्राप्तिफला गतिर्दृश्यते। यथैकस्मिन् न्यग्रोधपादपे मूलादग्रमग्राच्च मूलं गच्छतः शाखामृगस्यैकेनैव न्यग्रोधपादपेन निरन्तरं संयोगविभागा भवन्ति। न चैते तदवयवविषया न तु न्यग्रोधविषया इति साम्प्रतं तथा सति न शाखामृगो न्यग्रोधेन युज्यते। न्यग्रोधावयवस्य तदवयवयोगात्। एवं वृक्ष्यमाणानामपि तदवयवानां न योगः, तदवयवयोगात्तदनेन क्रमेण तदवयवेषु

भामती–व्याख्या

संशय—"स एनान् ब्रह्म गमयति" (छां. ४।१५।५) इस श्रुति में इतना ही कहा गया है कि वह (अमानव पुरुष) इन उपासकों को ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। यहाँ सन्देह होता है कि उपासकों को परं ब्रह्म की प्राप्ति होती है? अथवा अपर ब्रह्म (हिरण्यगर्भरूप कार्य ब्रह्म) की?

पूर्वपक्ष—"परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्"। यद्यपि पाठ-क्रम के अनुसार "कार्यं बादरिः"—इत्यादि सिद्धान्त सूत्र पहले पढ़े हैं और "परं जैमिनिः"—इत्यादि पूर्व-पक्ष-सूत्र पश्चात्, किन्तु "अर्थाच्च" (जै. सू. ५।१।२) यह अर्थ क्रम पाठ क्रम से प्रबल होता है, अतः "परं जैमिनिः" इत्यादि सूत्रों का उपन्यास पहले किया जाता है—

मुख्यत्वादमृतप्राप्तेः परप्रकरणादपि।
गन्तव्यं जैमिनिर्मेने परमेवार्चिरादिना॥

"ब्रह्म गमयति"—यहाँ पर नपुंसक 'ब्रह्म' पद परब्रह्म में रूढ़ है, अतः 'ब्रह्म' शब्द का मुख्य अर्थ परब्रह्म तथा गौण अर्थ कार्यब्रह्म है। मुख्यार्थ के सम्भव होने पर गौणार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता। दूसरी बात यह भी है कि "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" (छां. ८।६।६) इस श्रुति में प्रतिपादित अमृतत्वरूप फल की प्राप्ति कार्य ब्रह्म की प्राप्ति से नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य ब्रह्म मरणधर्मा है, अमृत नहीं। प्रकरण के आधार पर भी परब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जहाँ पर ब्रह्म का प्रकरण उठाकर "प्रजापतेः सभां वेश्य प्रपद्ये" (छां. ८।१४।१) इत्यादि वाक्यों में जो प्रजापति के सभा-भवन एवं महल की प्राप्ति का संकल्प वर्णित है, वह अपर ब्रह्म विषयक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकरण का विरोध है। यह कहना उचित नहीं कि पर ब्रह्म स्वतः सब कहीं प्राप्त है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए गति नहीं हो सकती, क्योंकि प्राप्त की प्राप्ति के लिए भी गति देखी जाती है, जैसे कि न्यग्रोध (वटवृक्ष) मूल से लेकर शाखा-प्रशाखा तक एक ही है, एक बानर मूल से शाखा और शाखा से मूल की ओर निरन्तर गतिशील रहता है, उसकी यह गति प्राप्त वृक्ष की प्राप्ति के लिए ही है। वानर के गतिसंज्ञक संयोग-विभाग न्यग्रोधीय अवयवों के अप्राप्त अवयवों को प्राप्त करने के लिए हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो वानर न्यग्रोध को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इतना ही नहीं अप्राप्त अवयवावयवों की खोज में न्यग्रोधीय परमाणुओं तक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ५ कार्याधिकरणम् । सू० ७--१४ )

### कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

'स एनान्ब्रह्म गमयति' ( छा० ४।१५।५ ) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति । कुतः संशयः ? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद् गतिश्रुतेश्च । तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः ? अस्य गत्युपपत्तेः । अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते,

भामती

परमाणुषु व्यवतिष्ठते । ते चातीन्द्रिया इति कस्मिन्नु नामायमनुभवपद्धतिमध्यास्तां संयोगतत्पत्री । तस्मादकामेनाप्यनुभवानुरोधेन प्राप्त एव प्राप्तिफलत्वावगतिरेषितव्या । तद् ब्रह्म प्राप्तमपि प्राप्तिफलाया गतेर्गोचरो भविष्यति । ब्रह्मलोकेष्विति च बहुवचनमेकस्मिन्नपि प्रयोगसाधुतामात्रेण गमयितव्यम् । लोकशब्दश्चालोकने प्रकाशे वर्त्तयितव्यो न तु सन्निवेशवति देशविशेषे । तस्मात् परब्रह्मप्राप्त्यर्थगत्युपदेशसामर्थ्यादयमर्थो भवति । यथा विद्याकर्मवशाद्विचराविना गतस्य सत्यलोकमतिक्रम्य परं जगत्कारणं ब्रह्म लोकमालोकं स्वयं प्रकाशकमिति यावत् । प्राप्तस्य तत्रैव लिङ्गं प्रलीयते न तु गतिमेवम्भूतां विना लिङ्गप्रविलय इति । अत एव श्रुतिः—पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति । तदनेनाभिसन्धिना परं ब्रह्म गमयत्वमानव इति मेने जैमिनिराचार्यः ॥

तत्त्वदर्शी बादरिर्दर्शं—

कार्यमप्राप्तपूर्वत्वादप्राप्तप्रापणी गतिः ।
प्रापयेद् ब्रह्म न परं प्राप्तत्वाज्जगदात्मकम् ॥

भामती—व्याख्या

पहुँचना होगा, परमाणु अतीन्द्रिय हैं, अतः उनके साथ वानर के संयोग-विभाग प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, अतः उस के दृश्यमान संयोग-विभागों का आधार कौन माना जायगा ? फलतः न्यग्रोध को ही उनका आधार मानना होगा, उससे प्राप्त की प्राप्ति के लिए गति सिद्ध हो जाती है । पर ब्रह्म सर्वगत है, फिर भी उसकी प्राप्ति के लिए अर्चिरादि मार्ग के द्वारा प्राप्ति की जा सकती है वानर की उछल-कूद नर न कर सके—यह दूसरी बात है ।

"ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा वरावतो वसन्ति" ( बृह. उ. ५।२।१५ ) इत्यादि श्रुतियों में लोकपदोत्तर बहुवचन वैसे ही अविवक्षित है, जैसे "ग्रहं सम्मार्ष्टि"—यहाँ एकवचन । केवल प्रकृति का प्रयोग साधु नहीं माना जाता, अतः लोकेषु कह दिया गया है । 'लोक' शब्द प्रकाशार्थक है, देशविशेष का बोधक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका कोई प्रकरण नहीं । परब्रह्म-प्राप्तयर्थक गति के उपदेश-सामर्थ्य से यही अर्थ निश्चित होता है कि विद्या और कर्म के बल पर सत्यलोक का अतिक्रमण कर ब्रह्मरूपी लोक ( स्वयंप्रकाशतत्त्व ) को उपासक प्राप्त होता है । ब्रह्मप्राप्त उपासक का लिङ्गशरीर वहीं प्रविलीन हो जाता है, अत एव श्रुति कहती है—"पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" (प्रश्न. ६।५) [ प्राणादि-घटित लिङ्गशरीर की परमगति ब्रह्म है, ब्रह्म को प्राप्त कर वे उसी में विलीन हो जाते हैं ] । इससे यही निष्कर्ष निकला कि अमानवपुरुष उपासकों को परब्रह्म की ही प्राप्ति कराता है—ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं ।

**सिद्धान्त**—"कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः" । तत्त्वदर्शी दार्शनिकवर बादरि का दर्शन है—

कार्यमप्राप्तपूर्वत्वादप्राप्तप्रापणी गतिः ।
प्रापयेद् ब्रह्म न परं प्राप्तत्वाज्जगदात्मकम् ॥


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदेशवत्त्वात्। ननु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते। सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम् ॥ ७ ॥

भामती

तत्त्वमसिवाक्यार्थसाक्षात्काराद् प्राक्किल जीवात्माऽविद्याकर्मवासनाद्युपाध्यवच्छेदाद्वस्तुतोऽनवच्छिन्नोऽप्यवच्छिन्नमिवाभिन्नोऽपि लोकेभ्यो भिन्नमिवात्मानमभिमन्यमानः स्वरूपादन्यानप्राप्तानर्चिरादीन् लोकान् गत्याप्नोतीति युज्यते। अद्वैतब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारवतस्तु विगलितनिखिलप्रपञ्चावभासविभ्रमस्य न गन्तव्यं न गतिर्न गमयितार इति किं केन सङ्गतम्। तस्मादनिदर्शनं न्यग्रोधसंयोगविभागा न्यग्रोधवानरतद्गतितत्संयोगविभागानां मिथो भेदात्। न च तत्रापि प्राप्तप्राप्तिः, कर्मजेन हि विभागेन निरुद्धायां पूर्वप्राप्तावप्राप्तस्यैवोत्तरप्राप्तेरुत्पत्तेः। एतदपि च वस्तुतो विचारासहतया सर्वमनिर्वचनीयं विजृम्भितमविद्यायाः समुत्पन्नाद्वैततत्त्वसाक्षात्कारो न विद्वानभिमन्यते। विदुषोऽपि देहपातात् पूर्वं स्थितप्रज्ञस्य तथाभासमात्रेण सांसारिकधर्मानुवृत्तिरभ्युपेयते एवमालिङ्गशरीरपातात् विदुषस्तद्धर्मानुवृत्तिः। तथा चाप्राप्तप्राप्तेर्गत्युपपत्तिस्तद्देशप्राप्तौ च लिङ्गदेहनिवृत्तेर्मुक्तिः श्रुतिप्रामाण्यादिति चेत्, न; परविद्यावत उत्क्रान्तिप्रतिषेधाद् 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्त' इति। यथा विद्याब्रह्मप्राप्त्योः समानकालता श्रूयते—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति' 'तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मीति तत्सर्वमभवत्' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यंत' इति पौर्वाप-

भामती—व्याख्या

"तत्त्वमसि"—इत्यादि महावाक्यार्थ के साक्षात्कार से पहले जीवात्मा अविद्या, कर्म और वासनादि उपाधि के अधीन होने के कारण वस्तुतः अनवच्छिन्न और समस्त लोकों से अभिन्न होने पर भी अपने को अवच्छिन्न और लोकों से भिन्न मानता है, अतः अप्राप्त अर्चिरादि लोकों को अपनी गमन क्रिया के द्वारा प्राप्त करता है—ऐसा मानना असंगत नहीं। जिस पुरुष ने अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है जिसका सकल प्रपञ्चावभास विगलित हो चुका है उसके लिए न कुछ गन्तव्य है, न गति है और न कोई गमयिता है, कौन किसे कैसे प्राप्त करेगा? ऐसे ब्रह्मीभूत पुरुष के लिए न्यग्रोध पर इधर से उधर उछलते-कूदते वानर का दृष्टान्त संगत नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का अत्यन्त वैषम्य है। न्यग्रोध-स्थल पर प्राप्त की प्राप्ति है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वानर की क्रिया से जनित विभाग के द्वारा पूर्व-संयोगरूप प्राप्ति नष्ट हो जाती है, अतः अप्राप्त (असंयुक्त) देश की ही प्राप्ति होती है। यह प्रापक, प्राप्य और प्राप्तव्यादि प्रपञ्च विचार की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, परिशेषतः अविद्या का कार्य एवं अनिर्वचनीयमात्र है, अत एव विद्या के द्वारा जिसकी अविद्या नष्ट हो जाती है, ऐसे विद्वान् को वैसा अभिमान नहीं होता। विद्वान् को भी देहपात से पूर्वतक स्थितप्रज्ञता की अवस्था में सांसारिक धर्मों की आभासमात्रतः अनुवृत्ति मानी जाती है। लिङ्गशरीर रहने तक विद्वान् को जब समस्त प्रपंच का यथावत् आभास होता है, तब अप्राप्त-प्राप्तिरूप गति भी उपपन्न हो जायेगी, ब्रह्म की प्राप्ति होने पर लिङ्गशरीर की निवृत्तिरूप मुक्ति श्रुति प्रमाण के आधार पर सिद्ध होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि परविद्या वाले विद्वान् के प्राण इस शरीर से उत्क्रान्ति नहीं करते—"ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवनीयन्ते" (बृह० उ० ४।४।६)। विद्या के उदय-काल में ही ब्रह्म की प्राप्ति श्रुत है—"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति"। "तदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि"। "तत्सर्वमभवत्"। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"—इन श्रुतियों में कहीं पर भी ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म-प्राप्ति का पौर्वापर्य प्रतिपादित नहीं। परविद्या वाले विद्वान् को उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रहती—ऐसा ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' ( बृ० ६।२।१५ ) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते । नहि बहुवचनेन

भामती

र्य्याश्रवणात् परविद्यावतो मुक्तिं प्रति नोपायान्तरापेक्षेति लक्ष्यते अभिसन्धिः श्रुतेः, उपपन्नं चैतत् । न खलु ब्रह्मैवेदं विश्वमहं ब्रह्मास्मीति परिभावनाभुवा जीवात्मनो ब्रह्मभावसाक्षात्कारेणोन्मूलितायामनवयवेनाविद्यायामस्ति गन्तव्यगन्तृविभागो विदुषस्तदभावे कथमयमर्चिरादिमार्गे प्रवर्त्तेत । न च छायामात्रेणापि सांसारिकधर्मानुवृत्तिस्तत्र प्रवृत्त्यङ्गम् । यादृच्छिकप्रवृत्तेः श्रद्धाविहीनस्य दृष्टार्थानि कर्माणि फलन्ति न फलन्ति च । अदृष्टार्थानां तु फलने का कथेत्युक्तं प्रथमसूत्रे । न चार्चिरादिमार्गभावनायाः परब्रह्मप्राप्त्यर्थमविदुषः प्रत्युपदेशस्तथा च कर्मान्तरेष्विव नित्यादिषु तत्रापि स्यात्तस्य प्रवृत्तिरिति साम्प्रतम् , विकल्पासहत्वात् । किमियं परविद्यानपेक्षा परब्रह्मप्राप्तिसाधनं तदपेक्षा वा ? न तावदनपेक्षा, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनायेति परब्रह्मविज्ञानादन्यस्याध्वनः साक्षात्प्रतिषेधात् । परविद्यापेक्षत्वे तु मार्गभावनायाः किमियं विद्याकार्य्ये मार्गभावना साहायकमाचरत्यथ विद्योत्पादे । न तावद्विद्याकार्य्ये, तया सह तस्याद्वैतगोचरतया मिथो विरोधेन सहासम्भवात् । नापि यज्ञादिवद्विद्योत्पादे साक्षाद् ब्रह्मप्राप्त्युपायत्वश्रवणादेतान् ब्रह्म गमयतीति । यज्ञादेस्तु विविदिषासंयोगेन श्रवणाद्विद्योत्पादाङ्गत्वम् ।

भामती—व्याख्या

श्रुति का तात्पर्य प्रतीत होता है। न्याय-संगत भी ऐसा ही है, क्योंकि जिस पुरुष के 'यह विश्व ब्रह्मरूप है और मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार की परिभावना से समुत्पादित जीव की ब्रह्मरूपता के साक्षात्कार ने अनन्त भेद-भिन्न प्रपंच-संचारिणी अविद्या का समूल उन्मूलन कर दिया है, ऐसे तत्त्ववेत्ता पुरुष के लिए गन्तव्य-गन्तृ-गमनादि का विभाग समाप्त हो जाता है, अतः ऐसा विद्वान् पुरुष अर्चिरादि-मार्ग में कैसे प्रवृत्त होगा ? विद्वान् पुरुष में दिखनेवाली केवल प्रवृत्ति की छाया उक्त मार्ग प्रवृत्ति का अङ्ग नहीं हो सकती । स्थितप्रज्ञ अनासक्त उदासीन श्रद्धा-विरहित पुरुष की दृष्टार्थक यादृच्छिक प्रवृत्तियों का फल होता भी है और नहीं भी, तब अदृष्टार्थक कर्मों के फल देने की बात ही क्या ? यह सब कुछ प्रथम सूत्र में कहा जा चुका है ।

**शङ्का**—अविद्वान् पुरुष को ब्रह्म-प्राप्त्यर्थ अर्चिरादि-मार्ग-भावना का उपदेश किया गया है, अतः उसकी जैसे नित्य कर्मों में प्रवृत्ति होती है, वैसे ही इस मार्ग में भी प्रवृत्ति हो जायगी ।

**समाधान**—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि अविद्वान् पुरुष की यह अर्चिरादि-मार्ग में प्रवृत्ति क्या पर-विद्या से निरपेक्ष होकर ही ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है ? अथवा पर विद्या-सापेक्ष ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ( श्वेता. ६।१५।३ ) इत्यादि श्रुतियों ने ब्रह्मज्ञान से भिन्न ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग का प्रतिषेध कर रखा है । द्वितीय पक्ष में जिज्ञासा होती है कि यह अर्चिरादि-मार्गभावना क्या पर-विद्या के मोक्षरूप कार्य में सहायक होती है ? अथवा पर-विद्या की उत्पत्ति में ? प्रथम कल्प नितान्त असंगत है, क्योंकि मार्ग-भावना द्वैतविषयिणी और पर-विद्या अद्वैतविषयिणी है, अतः इन दोनों का परस्पर-विरोध होने के कारण साहित्य सम्भव ही नहीं । यज्ञादि के समान पर-विद्या की उत्पत्ति में भी उक्त मार्ग-भावना सहायक नहीं हो सकती, क्योंकि "विविदिषन्ति यज्ञेन"—इत्यादि श्रुतियों ने यज्ञादि का विद्या की उत्पत्ति में विनियोग किया है किन्तु मार्ग-भावना का तो "एतान् ब्रह्म गमयति"—इत्यादि श्रुतियाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते। कार्यं त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम्। लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी, गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' इत्यादिषु। अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मण्यनाञ्जसः स्यात्। तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते, समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मति स्थापितमिति, अत्रोच्यते—

## सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्द-

---

भामती

तस्मादुपन्यस्तबहुश्रुत्यनुरोधादुपपत्तेश्च ब्रह्मशब्दोऽसम्भवन्मुख्यवृत्तिर्ब्रह्मसामीप्यादपरब्रह्मणि लक्षणया नेतव्यः। तथा च लोकेष्विति बहुवचनोपपत्तिः कार्यब्रह्मलोकस्य। परस्य त्ववयवतया तद्द्वारेणाप्यनुपपत्तेः। लोकत्वं चेलावृत्तादिवत् सन्निवेशविशेषवति भोगभूमिभागे निरूढं न कथञ्चिद्योगेन प्रकाशे व्याख्यातं भवति। तस्मात् साधुदर्शी स भगवान् बादरिरसाधुदर्शी जैमिनिरिति सिद्धम्।

अप्रामाणिकानां बहुप्रलापाः सर्वगतस्य द्रव्यस्य गुणाः सर्वगता एव चैतन्यानन्दादयश्च गुणिनः परमात्मनो भेदाभेदवन्तो गुणा इत्यादयो दूषणायानुभाष्यमाणा अपि अप्रामाणिकत्वमावहन्त्यस्माकमित्युपेक्षिताः। ग्रन्थयोजना तु—प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम्। प्रति प्रति अञ्चति गच्छतीति प्रत्यक् प्रतिभाववृत्ति ब्रह्म तदात्मत्वाद् गन्तृणां जीवात्मनामिति। ❀ गौणी त्वन्यत्र इति ❀। यौगिक्यपि हि

---

भाषती—व्याख्या

सीधे ब्रह्म की प्राप्ति में विधियोग करती हैं। अतः उदाहृत अनेक श्रुतियों के अनुरोध और युक्तियों को उपपत्ति को देखते हुए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि "ब्रह्म गमयति"—इस वाक्य में 'ब्रह्म' शब्द मुख्यार्थक न हो सकने के कारण अपर-ब्रह्म का लक्षक है। 'लोकेषु'—इस बहुवचन का सामञ्जस्य भी कार्यब्रह्म में हो जाता है, क्योंकि हिरण्यगर्भ के अवयव, अवस्थाएँ और व्यापार बहुत हैं। परब्रह्म अवयव-रहित है, अतः अवयवों के द्वारा भी उसमें बहुत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। 'लोक' शब्द भी सन्निवेश-विशेषवाले इलावृत्तादि भोगभूमिरूप देशों में रूढ़ है, अतः उसकी प्रकाशपरक व्याख्या समुचित प्रतीत नहीं होती। फलतः भगवान् बादरि का दर्शन साधु और जैमिनि-दर्शन असाधु सिद्ध होता हैं।

अप्रामाणिकाचार्य भास्कर ने कहा है—"यदि निर्गुणायां गतिरनुपपन्ना, सगुणास्वपि समानानुपपत्तिः, तत्रापि ब्रह्मैवोपास्यते। सर्वगतस्य ये गुणाः, ते गुणाः सर्वगता एव, यथाकाशस्य शब्दः परममहत्त्वम्। न निर्गुणं वस्तु विद्यते, न द्रव्यप्रत्याख्याने गुणो नामास्ति। उभयात्मकं तद्वस्तु" (भास्कर. पृ० २३८) [अर्थात् निर्गुण-विद्या में अर्चिरादि गति नहीं बनती, तब सगुण-विद्या में भी वह उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें भी तो वही ब्रह्म उपास्य है। व्यापक द्रव्य के गुण भी व्यापक होते हैं, जैसे आकाश के गुण। वस्तुतः निर्गुण नाम की वस्तु ही नहीं होती, क्योंकि द्रव्य से भिन्न गुण और गुण से भिन्न द्रव्य नहीं होता, द्रव्य और गुण उभयात्मक (भेदाभेदात्मक) पदार्थ हैं]। शांकरभाष्य पर दोषारोपण करने के लिए ऐसे प्रलापों का कोई मूल्य नहीं, इसलिए वे उपेक्षणीय हैं।

ग्रन्थ-योजना इस प्रकार है—गमन करनेवाले व्यक्तियों को प्रत्यगात्मा इसलिए कहा गया है कि 'प्रति प्रति अंचति गच्छति'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक भाव पदार्थ में वर्तमान ब्रह्म प्रत्यगात्मा है और गमन करनेवाले जीव ब्रह्मात्मक हैं। 'लोक' शब्द भी भोगभूमियों को मुख्यतः कहता है और प्रकाशतत्त्व को गौणरूपेण। 'यद्यपि लोक' शब्द ब्रह्म में

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोगो न विरुध्यते। परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते। नहि परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यतां संभावयन्ति। दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति, तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, कठ० ६।१६) इति चेत्, अत्र ब्रूमः—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्त इति। इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या। न ह्यज्ञस्यैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति। तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयत इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्ये बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्यादिनेति। स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते। कुतः? मुख्यत्वात्। परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं, गौणमपरम्। मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति। अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य। 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति प्रवचनात् परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते। नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति, 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति नायं कार्यविषयः

---

भामती

योगगुणापेक्षया गौण्येव। ॐ विशुद्धोपाधिसम्बन्धम् इति ॐ। मनोमयत्वादयः कल्पनाः कार्य्याः कार्य्यत्वात्। अविशुद्धा अपि श्रेयोहेतुत्वाद्विशुद्धाः। प्रतिसञ्चरो महाप्रलयः, प्रतिपत्त्यभिसन्धिः प्रतिपत्तिर्गतिः

---

भामती-व्याख्या

यौगिक है, तथापि प्रकाशरूप गुण की अपेक्षा प्रवर्तमान होने के कारण गौण कहा गया है। "विशुद्धोपाधिसम्बन्धम्" इस भाष्य का आशय यह है कि मनोमयत्वादि उपाधियाँ कार्यरूप होने से अविशुद्ध होने पर भी श्रेयः-साधन होने के कारण विशुद्ध कही जाती हैं। 'प्रतिसंचर' शब्द का अर्थ महाप्रलय है। यह जो चौदहवें सूत्र में कहा गया था कि—"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" (छां० ८।१४।१) यह वाक्य कार्यब्रह्मविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि "यशोऽहं भवामि" (छा० ८।१४।१) इस प्रकार उसी शुद्ध ब्रह्म का प्रकरण है,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपत्त्यभिसंधिः, 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' ( छा० ८।१४।१ ) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्, 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' ( छा० ८।१४।१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमणात्, 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' ( श्वेता० ४।१९ ) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता—'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' ( छा० ८।५।३ ) इत्यत्र। पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षताऽवसीयते। तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम्। तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः। तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनामाभासयितुं, नतु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातो द्वितीयस्तु पूर्वपक्षः। न ह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते—'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' ( छा० ८।६।६ ) इतिवत्। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' ( छां० ८।१४।१ ) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदर्थवत्कल्पते। तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः॥

केचित्पुनः—पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति, तदनुपपन्नं, गन्तव्यत्वानुपपत्तब्रह्मणः—'यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म,' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' ( बृ० ३।४।१ ), 'य आत्मा सर्वान्तरः' ( बृ० ३।४।१ ), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' ( मु० २।२।११ ) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेषं, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते। नाह गतमेव गम्यते। अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्धं लोके। ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टा दृष्टा। यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति। तथाऽनन्य-

---

भामती

पदैर्गत्यर्थत्वाद् अभिसन्धिस्तात्पर्यम्। यस्य ब्रह्मणो नामाभिधानं यश इति। ❀पूर्ववाक्यविच्छेदेन इति❀। श्रुतिवाक्ये बलीयसी प्रकरणात्। ❀सगुणे च ब्रह्मणि इति❀। प्रशंसार्थमित्यर्थः। चोदयति ❀ ननु लोके गतस्यापि पारमार्थिकी गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टस्य इति ❀। न्यग्रोधवानरदृष्टान्त उपपादितः। परि-

---

भामती—व्याख्या

जिसका नामकरण किया गया है—"महद्यशः" ( श्वेता० ४।१९ )। उस चौदहवें सूत्र के वक्तव्य का समाधान है—"पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि"। अर्थात् श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नाम के छः विनियोजक प्रमाणों में पूर्व-पूर्व प्रमाण उत्तरोत्तर से प्रबल होता है, अतः यहाँ श्रुति और वाक्य—ये दोनों प्रमाण प्रकरण प्रमाण से प्रबल हैं, इनके द्वारा शुद्ध ब्रह्म के प्रकरण से विच्छेद करके उक्त वाक्य की योजना कार्य ब्रह्म में की जा सकती है। "सगुणेऽपि ब्रह्मणि" अर्थात् "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छां० ८।१४।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा जो सगुण में सर्वात्मत्व का प्रतिपादन है, वह सगुण ब्रह्म की प्रशंसा करने के लिए है।

शङ्का—"ननु लोके गतस्यापि पारमार्थिकी गन्तव्यता"। प्राप्त ( सर्वगत ) ब्रह्म की प्राप्यता का उपपादन न्यग्रोध ( वटवृक्ष ) और वानर के दृष्टान्त से किया जा चुका है, अतः अर्चिरादि-मार्ग के द्वारा शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति क्यों नहीं की जा सकती ?

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्टं वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्यं दृष्टं तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथंचिद् गन्तव्यता स्यादिति, न, प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद्ब्रह्मणः। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' ( श्वेता० ६।१९ ) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' ( बृ० ३।८।८ ), 'सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' ( मु० २।१।२ ), 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' ( बृ० ४।४।२५ ), 'स एष नेति नेत्यात्मा' ( बृ० ३।९।२६ ) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोगः परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते। येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत्—न, विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्-न, तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति॥

कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषनिराकरणश्रुतिशेषत्वम्, न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति? उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वात्। न ह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते, पुरुषार्थसमाप्ति-

भामती

हरति ॐ न प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद् ब्रह्मणः इति ॐ। अयमभिसन्धिः—यथा तथा न्यग्रोधावयवी परिणामवानुपजनापायधर्मभिः कर्मजैः संयोगविभागैः संयुज्यतामयं पुनः परमात्मा निरस्तनिखिलभेदप्रपञ्च। कूटस्थनित्यो न न्यग्रोधवत्संयोगविभागभाग् भवितुमर्हति। काल्पनिकसंयोगविभागस्तु काल्पनिकस्यैव कार्यब्रह्मलोकस्योपपद्यते न परस्य। शङ्कते ॐ जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेः इति ॐ। नह्युत्पत्त्यादिहेतुभावोऽपरिणामिनः सम्भवति, तस्मात् परिणामीति। तथा च भाविकमस्योपपद्यते गन्तव्यत्वमित्यर्थः। निराकरोति ॐ न, विशेषनिराकरणश्रुतीनाम् इति ॐ। विशेषनिराकरणं समस्तशोकाविद्युःखशमनतया पुरुषार्थफलवत्। अफलं तूत्पत्त्यादिविधानम्। तस्मात् फलवतः सन्निधावाम्नायमानं तदर्थमेवोच्यत

भामती—व्याख्या

**समाधान**—"न, प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वात् ब्रह्मणः"। तात्पर्य यह है कि दृष्टान्तभूत न्यग्रोध अवयवी है, परिणामवान् है, अतः कर्मज ( वानर की क्रिया से जनित ) एवं उत्पत्ति विनाशवाले संयोग-विभागों से युक्त हो सकता है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म समस्त भेद-प्रपंच से रहित है, कूटस्थनित्य है, अतः न्यग्रोध के समान संयोग-विभाग का आश्रय नहीं बन सकता। काल्पनिक संयोग-विभाग तो काल्पनिक कार्य ब्रह्म में हो सकते हैं, पर ब्रह्म में नहीं।

**शङ्का**—"जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेः"। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारणस्वरूप उपादानत्व अपरिणामी ब्रह्म में नहीं बन सकता, अतः परिणामी मानना आवश्यक है, परिणामी पदार्थ में वास्तविक गन्तव्यत्व ( गमन क्रिया का कर्मत्व या कर्तृ संयोगित्व ) उपपन्न क्यों न होगा?

**समाधान**—"न, विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्"। सारांश यह है कि ब्रह्म में विशेष धर्मों के विधायक और प्रतिषेधक—दोनों प्रकार के श्रुति-वाक्य उपलब्ध होते हैं। उनमें विशेष-निराकरण-परक वाक्य अनन्यार्थक हैं, क्योंकि विशेष धर्मों का निराकरण समस्त शोक-मोहादि का उपशामक होने के कारण पुरुषार्थफलक है और उत्पत्ति का विधान निष्फल है। फलवाले पदार्थ की सन्निधि में पठित फल-रहित पदार्थ सफल पदार्थ का अङ्ग या समर्थक माना जाता है, फलतः उत्पत्ति-वाक्यों का तात्पर्य भी अद्वैत ब्रह्म की अवगति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध्यपपत्तेः, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ( ईशा० ७ ), 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' ( बृ० ४।२।४ ), 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। एतं ह वाव न तपति, किमहं साधु नाकरवं, किमहं पापमकरवम्' ( तैत्ति० २।९।१ ), इत्यादिश्रुतिभ्यः, तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति। अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यम्। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथा हि—'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' ( छा० ६।८।३ ) इत्युपन्यस्योदकं सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति' ( तै० ३।१।१ ) इति च। एवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनामेकात्म्यावगमपरत्वान्नानेकशक्तियोगो ब्रह्मणः। अतश्च गन्तव्यत्वानुपपत्तिः। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' ( बृ० ४।४।६ ) इति च परस्मिन्ब्रह्मणि गतिं निवारयति। तद्व्याख्यातम्—'दृष्टो ह्येकेषाम्' (ब्र० सू० ४।२।१३ ) इत्यत्र। गतिकल्पनायां च गन्ता जीवो गन्तव्यस्य ब्रह्मणोऽवयवो विकारो वाऽन्यो वा ततः स्यात्। अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः यद्येवं ततः किं स्यात्? अत उच्यते—यद्येकदेशस्तेनैकदेशिनो नित्यप्राप्तत्वान्न पुनर्ब्रह्मगमनमुपपद्यते, एकदेशैकदेशित्वकल्पना च ब्रह्मण्यनुपपन्ना निरवयवत्वप्रसिद्धेः विकारपक्षेऽप्येतत्तुल्यम्, विकारेणापि विकारिणो

भामती

इत्युपपत्तिः। तद्विजिज्ञासस्वेति च श्रुतिः। तस्माच्छ्रुत्युपपत्तिभ्यां निरस्तसमस्तविशेषब्रह्मप्रतिपादनपरोऽयमाम्नायो न तूत्पत्त्यादिप्रतिपादनपरः। तस्मान्न गतिस्तात्त्विकी। अपि चेयं गतिर्न विचारं सहत इत्याह ❀ गतिकल्पनायां च इति ❀। अन्यानन्यत्वाश्रयावयवविकारपक्षौ। अन्यो वात्यन्तम्। अथ कस्मादात्यन्तिकमनन्यत्वं न कल्पत इत्यत आह ❀ अत्यन्ततादात्म्ये इति ❀। मृदात्मतया हि स्वभावेन घटादयो भावास्तद्विकारा व्याप्ताः। तदभावे न भवन्ति शिंशपेव वृक्षत्वाभाव इति। विकारावयवापचयोश्च तद्वतः सह विकारावयवैः स्थिरत्वादचलत्वाद्ब्रह्मणः संसारलक्षणं गमनं विकारावयवयो-

भामती—व्याख्या

में ही पर्यवसित होता है क्योंकि "तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" ( तै० उ० ३।१।१ ) यह श्रुति स्पष्ट कह रही है कि इस जगत् की जिससे उत्पत्ति होती है, उसी की जिज्ञासा करो वही ब्रह्म है। इस श्रुति और युक्ति से यह सिद्ध होता है कि यह वेदान्त-सन्दर्भ निर्विशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादक है, उत्पत्ति आदि का नहीं। इसलिए प्रक्रान्त गति तात्त्विक नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, यह गति की कल्पना विचार की कसौटी पर खरी नहीं उतरती—"गतिकल्पनायां च"। गति की कल्पना में जिज्ञासा होती है कि गन्ता जीव अपने ब्रह्मरूप गन्तव्य पदार्थ का क्या अवयव है? या विकार? अथवा उससे अन्य? अवयव और अवयवी एवं विकार और विकारी का भेदाभेद माना जाता है, अतः एक ही भेदाभेद में दोनों पक्ष आ जाते हैं, तीसरा पक्ष अत्यन्त भेद का है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का भेदाभेद है? अथवा अत्यन्त भेद? ये दो ही विकल्प हुए। अत्यन्त अभेद का तृतीय कल्प क्यों नहीं उठाया गया? इस प्रश्न का उत्तर है—"अत्यन्ततादात्म्ये गमनानुपपत्तेः"। विकाररूप घटादि पदार्थ सदैव अपनी प्रकृतिभूत मृत्तिका से प्राप्त ( मृत्तिकात्मक ) हैं, मृदात्मता का अभाव होने पर घटादिरूपता का वैसे ही अभाव है, जैसे वृक्षत्व का अभाव होने पर शिंशपात्व का। विकार या अवयवरूप जीव भी अभिन्न हैं, अतः ब्रह्म स्थिररूपेण गन्तव्य और

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्यप्राप्तत्वात्। नहि घटो मृदात्मतां परित्यज्यावतिष्ठते, परित्यागे वाऽभावप्राप्तेः। विकारावयवपक्षयोश्च तद्वतः स्थिरत्वाद् ब्रह्मणः संसारगमनमप्यनवकल्पम्। अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः। सोऽणुर्व्यापी मध्यमपरिमाणो वा भवितुमर्हति। व्यापित्वे गमनानुपपत्तिः, मध्यमपरिमाणत्वे चानित्यत्वप्रसङ्गः, अणुत्वे कृत्स्नशरीरवेदनानुपपत्तिः। प्रतिषिद्धे चाणुत्वमध्यमपरिमाणत्वे विस्तरेण पुरस्तात्। परस्माच्चान्यत्वे जीवस्य 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिशास्त्रबाधप्रसङ्गः। विकारावयवपक्षयोरपि समानोऽयं दोषः। विकारावयवयोस्तद्वतोऽनन्यत्वाददोष इति चेत्—न, मुख्यैकत्वानुपपत्तेः। सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः। संसार्यात्मत्वानिवृत्तेः। निवृतौ वा स्वरूपनाशप्रसङ्गः ब्रह्मात्मत्वाभ्युपगमाच्च ॥

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते—नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्प-

भामती

नुपपन्नम्। नहि स्थिरात्मकमस्थिरं भवति। अन्यानन्यत्वेऽपि चैकस्य विरोधावसम्भवतीति भावः। अथान्य एव जीवो ब्रह्मणः। तथा च ब्रह्मण्यसंसरत्यपि जीवस्य संसारः कल्पत इति। एतद्विकल्प्य दूषयति ❀ सोऽणुरिति च। ❀ मध्यमपरिमाणत्वे इति ❀। मध्यमपरिमाणानां घटादीनामनित्यत्वदर्शनात्। ❀ न मुख्यैकत्वे इति ❀। भेदाभेदयोर्विरोधिनोरेकत्रासम्भवाद् बुद्धिव्यपदेशभेदादथंभेदोऽयुतसिद्धतयोपचारेणाभिन्नमुच्यत इत्यमुख्यमस्यैकत्वमित्यर्थः। अपि च जीवानां ब्रह्मावयवत्वपरिणामात्यन्तभेदपक्षेषु तात्त्विकी संसारितेति मुक्तौ स्वभावहानाज्जीवानां विनाशप्रसङ्गः। ब्रह्मविवर्तत्वे तु ब्रह्मैवैषां स्वभावः प्रतिबिम्बानामिव बिम्बं तच्चाविनाशीति न जीवविनाश इत्याह ❀ सर्वेष्वेतेषु इति ❀।

मतान्तरनुन्यस्यति दूषयितुम् ❀ यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते विनैव ब्रह्मज्ञानं नित्यनैमित्तिकानि इति ❀।

भामती—व्याख्या

जीव गतिशील ( अस्थिर ) हो—ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। जीव ब्रह्म से अन्य भी हो और अनन्य भी—ऐसा भी सम्भव नहीं। यदि जीव को ब्रह्म से अन्य माना जाता है, तब ब्रह्म में असंसरण ( स्थिरता ) रहने पर भी जीव में संसरण ( गति ) बन जाता है—इस कल्प को दिखाकर निराकृत किया जाता है—सोऽणुर्व्यापी"। अर्थात् ब्रह्म से भिन्न होकर जीव या तो अणु परिमाण का होगा, या व्यापक अथवा मध्यम परिमाण का। अणुत्व-पक्ष में सुखादि की शरीर-व्यापिनी अनुभूति न हो सकेगी, व्यापकत्व-पक्ष में गमन सम्भव नहीं और मध्यम परिमाण-पक्ष में अनित्यता प्रसक्त होती है, क्योंकि मध्यमपरिमाणवाले घटादि पदार्थों में अनित्यत्व ही देखा जाता है। "न, मुख्यैकत्वानुपपत्तेः" भेद और अभेद दोनों परस्पर-विरुद्ध होने के कारण एकत्र नहीं रह सकते। ज्ञान और शब्द-व्यवहार के भेद से पदार्थों का भेद सिद्ध होता है। अवयव और अवयवी अयुत-सिद्ध हैं, अतः औपचारिक एकत्व हो सकता है, मुख्य एकत्व नहीं। दूसरी बात यह भी है कि यदि जीव ब्रह्म का अवयव है, या परिणाम ( विकार ) है अथवा ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है, तब घटादि के समान उत्पत्ति-विनाशरूप संसार तात्त्विक होगा, मोक्षावस्था में स्वरूपतः जीव का विनाश हो जायगा। जीव को जब ब्रह्म का विवर्त माना जाता है, तब उसे वैसे ही ब्रह्मरूप मानना होगा, जैसे प्रतिबिम्ब को बिम्बरूप माना जाता है। ब्रह्म अविनाशी है, अतः जीव का नाश नहीं होता। भाष्यकार यही कहते हैं—"सर्वेष्वेतेषु पक्षेष्वनिर्मोक्षप्रसङ्गः"।

निराकरण करने के लिए मतान्तर का उपन्यास किया जाता है—"यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते।" अर्थात् ब्रह्मज्ञान के बिना ही इस प्रकार मोक्ष की सिद्धि हो जाती है कि जैसे कफनिमित्तक ज्वर को शान्त करने के लिए पूर्वतन कफ का शोषण और कफान्तर की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्तये, काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिहियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, सांप्रतदेहोपभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षिप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तरप्रतिसंधानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैवंवृत्तस्य सेत्स्यतीति,—तदसत्, प्रमाणाभावात्। न ह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। न चैतत्तर्कयितुमपि शक्यते, निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसंचितानीष्टानिष्टविपाकान्येकैकस्य जन्तोः संभाव्यन्ते। तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासंभवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते, कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां सांप्रतेनोपभोगेन क्षपणासंभवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम्। कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणाः', ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। स्यादेतत्—नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति, तन्न, विरोधाभावात्। सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति। नच जन्मान्तरसंचितानां

भामती

यथा हि कफनिमित्तो ज्वर उपात्तस्य कफस्य विशोषणादिभिः प्रक्षये कफान्तरोत्पत्तिनिमित्तदध्यादिवर्जने प्रशान्तोऽपि न पुनर्भवति। एवं कर्मनिमित्तो बन्ध उपात्तानां कर्मणामुपभोगात् प्रक्षये प्रशाम्यति। कर्मान्तराणाञ्च बन्धहेतूनामननुष्ठानात्कारणाभावे कार्य्यानुपपत्तेर्बन्धाभावाद् स्वभावसिद्धो मोक्ष आरोग्यमिव, उपात्तदुरितनिबर्हणाय च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानात् दुरितनिमित्तः प्रत्यवायो न भवति। प्रत्यवायानुत्पत्तौ च स्वस्थस्यान्तो न निषिद्धान्याचरेदिति। तदेतद् दूषयति ❀ तदसत् प्रमाणाभावाद् इति ❀। शास्त्रं खल्वस्मिन् प्रमाणं तच्च मोक्षमाणस्यात्मज्ञानमेवोपदिशति न तूक्तमाचारम्। न चात्रोपपत्तिः प्रभवति, संसारस्यानादितया कर्माशयस्याप्यसंख्येयस्यानियतविपाककालस्य भोगेनोच्छेत्तुमशक्यत्वादित्याह ❀ न चैतत्तर्कयितुमपि इति ❀। चोदयति ❀ स्यादित्येतच्चित्य इति ❀। परिहरति ❀ तन्न विरोधाभावाद् इति ❀। यदि हि नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि सुकृतमपि दुष्कृतमिव निर्हरेयुस्ततः काम्यकर्मोपदेशा वन्ध-

भामती—व्याख्या

अनुत्पत्ति की जाती है, वैसे ही कार्यनिमित्तक बन्धन को निवृत्त करने के लिए बन्धन-जनक कर्मों का उपभोग के द्वारा प्रक्षय एवं बन्धनान्तर की अनुत्पत्ति के लिए कर्मानुष्ठान न करना आवश्यक है। बन्धन की निवृत्तिमात्र से मोक्ष वैसे ही स्वतः सिद्ध होता है, जैसे रोग की निवृत्तिमात्र से आरोग्य। उपार्जित दुरित की निवृत्ति के लिए नित्य और नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से दुरितनिमित्तक प्रत्यवाय नहीं होता। प्रत्यवाय की निवृत्ति हो जाने पर कोई भी स्वस्थचित्त व्यक्ति निषिद्ध कर्मों का आचरण नहीं करता।

कथित मत का निराकरण किया जाता है—"तदसत्, प्रमाणाभावात्"। शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण होता है। वह तो मुमुक्षु पुरुष को आत्मज्ञान का ही उपदेश करता है, न कि कर्मानुष्ठानरूप आचार का। उपभोग के द्वारा समस्त कर्मों के क्षय होने में कोई युक्ति भी नहीं, क्योंकि संसार अनादि है, अतः अनादि काल से सञ्चित हो रहे कर्माशय असंख्येय हैं और उनके फलोपभोगों का काल और देश भी अनियत और भिन्न-भिन्न है, अतः भोग के द्वारा ऐसे कर्माशयों का क्षय करना सम्भव नहीं, यही भाष्यकार कह रहे हैं—"न चैतत् तर्कयितुमपि शक्यते"। अर्थात् संसार की निमित्तभूत कर्म-राशि एवं उसका अभाव दुर्ज्ञेय है। "स्यादेत्"—इत्यादि से यह शङ्का की गई कि नित्य और नैमित्तिक कर्मों को कथित सुकृत का नाशक क्यों न मान लिया जाय? इस शङ्का का परिहार किया गया—"तन्न,

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः, शुद्धिरूपत्वाविशेषात्। दुरितानि त्वशुद्धिरूपत्वात्सति विरोधे भवतु क्षपणं, नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः, सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः, दुश्चरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात्। नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं, न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति, फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः संभवात्। स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूपद्यन्ते' इति। न चासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम्, सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। संशयितव्यं तु भवति, तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्। अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहारार्यत्वात्। स्यादेतत्—कर्तृत्वभो-

भामती

जलाञ्जलयः प्रसज्येरन्। नह्यस्ति कश्चिच्चातुर्वर्ण्ये चातुराश्रम्ये वा यो न नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि करोति। तस्मान्नैषां सुकृतविरोधितेति। अभ्युच्चयमात्रमाह ❀ न च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानाद् इति ❀। ❀ न चासति सम्यग्दर्शने इति ❀। सम्यग्दर्शी हि विरक्तः काम्यनिषिद्धे वर्जयन्नपि प्रमादादुपनिपतिते तेनैव सम्यग्दर्शनेन क्षपयति। ज्ञानपरिपाके च न करोत्येवाज्ञस्तु निपुणोऽपि प्रमादात् करोति। कृते च न क्षपयितुं क्षमत इति विशेषः। ❀ न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्य ब्रह्मात्मत्वे इति ❀। कर्तृभोक्तृत्वे समाधिसक्रियाभोगे ते वेदात्मनः स्वभावावधारिते न त्वारोपिते ततो न शक्यावपनेतुम्। नहि स्वभावाद्भावोऽवरोपयितुं शक्यो भावस्य विनाशप्रसङ्गात्। न च भोगोऽपि सत्स्वभावः शक्योऽसत्कर्तुं, नो खलु नोलमनीलं शक्यं शक्रेणापि कर्तुम्, तदिदमुक्तं ❀ स्वभावस्यापरिहार्य्यत्वाद् इति ❀। ममारोपितस्य

भामती—व्याख्या

विरोधाभावात्"। यदि नित्य और नैमित्तिक कर्म दुष्कृत के समान सुकृत का भी नाश कर दें, तब काम्य कर्मों का उपदेश निरर्थक हो जाता है, क्योंकि उनसे जनित सुकृत का नित्य-नैमित्तिक कर्मों से नाश हो जाता है। चारों वर्णों और चारों आश्रमों में ऐसा कोई व्यक्ति सुलभ नहीं, जो नित्य-नैमित्तिक कर्म न करता हो, अतः नित्य-नैमित्तिक कर्मों में सुकृत की विरोधिता सम्भव नहीं। प्रदर्शित युक्ति को दृढिमा प्रदान करने के लिए एक युक्ति और दिखाते हैं—"न च नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात् प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रम्"। अर्थात् नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से फलान्तर की उत्पत्ति भी हो सकती है। फलान्तररूप-सुकृत का नाश किससे होगा, यदि ब्रह्मज्ञान नहीं—"न चासति सम्यग्दर्शने"। सम्यग् दर्शी विरक्त पुरुष काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग करके भी यदि प्रमादवश कुछ कर्म कर बैठता है, तो उसका नाश सम्यग्दर्शन से कर डालता है और ज्ञान की परिपक्व अवस्था में पहुँच कर तो कर्म नहीं ही करता। किन्तु अज्ञानी पुरुष कितना भी निपुण क्यों न हो, प्रमाद से कुछ-न-कुछ कर ही डालता है, उस कर्म से जनित फल का नाश नहीं कर पाता—यह है विशेषता ज्ञानी और अज्ञानी में। "न चानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे"। जिस कर्तृत्व-शक्ति से क्रिया और जिस भोक्तृत्व-शक्ति से भोग का आक्षेप होता है, ऐसी दोनों शक्तियाँ यदि आत्मा की स्वाभाविक हैं, आरोपित नहीं, तब उनका अपनयन ( नाश ) नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी भाव पदार्थ को अपने स्वभाव से वैसे ही च्युत नहीं किया जा सकता, जैसे नील पदार्थ को अनील नहीं किया जा सकता। यही कहा जा रहा है—"स्वभावस्यापरिहार्यत्वात्"। आरोपित अनिर्वचनीय स्वभाव का तत्त्वज्ञान के द्वारा अवरोप ( नाश ) वैसे ही किया जा सकता है, जैसे आरोपित सर्प का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति। तच्च न, शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात्। अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि, अत एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति, तच्च न, निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन नित्यसंबद्धत्वात्। तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागम्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति। श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति॥ परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः। प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत्—न, प्राकप्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः। श्रुत्यं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४,४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति। तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यापिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कयंचन गतिरुपपादयितुं शक्या। किंविषयाः पुनर्गतिश्रुतय इति? उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति। तथा हि—क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते, क्वचित्पर्यङ्कविद्यां, क्वचिद्वैश्वानरविद्याम्। यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते—'यथा प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति, 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इति च तत्रापि वामनीत्वादिभिः सत्यकामादिभिश्च गुणैः सगुणस्यैवोपास्यत्वात्संभवति गतिः न क्वचित् परब्रह्मविषया गतिः श्राव्यते, यथा गतिप्रतिषेधः श्रावितः—'न तस्य प्राणा

भामती

स्वनिर्वचनोयस्य तत्स्वभावस्य शक्यस्तत्त्वज्ञानेनापरोपः कर्तुं सर्पस्येव रज्जुतत्त्वज्ञानेनेति भावः। भावमिममविद्वान् परिचोदयति ❀ स्यादेतत् कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यम् इति ❀। अप्रकाशितभावो यथोक्तमेव समाधत्ते ❀ तच्च न इति ❀। कर्तृभोक्तृत्वयोर्निमित्तसम्बन्धस्य च शक्तिद्वारेण नित्यत्वाद्भविष्यति कदाचिदेषां समुदाचारो यतः सुखदुःखे भोक्ष्येते इति सम्भावनातः कुतः कैवल्यनिश्चय इत्यर्थः। भूयो निरस्तमपि मतिद्रढिम्ने पुनरुपन्यस्य दूषयति ❀ परस्मादनन्यत्वेऽपि इति ❀। शेषमतिरोहितार्थम्॥ ७-१४॥

---

भामती-व्याख्या

रज्जुतत्त्व के ज्ञान से विनाश किया जाता है। इस भाव से अनभिज्ञ व्यक्ति शङ्का करता है—'स्यादेतत्'। कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यम्"। अर्थात् कर्तृत्वादि की शक्ति का कार्य ही अनर्थरूप होता है, शक्ति अनर्थरूप नहीं होती। जैसी शङ्का, वैसा उसका समाधान किया जाता है—"तच्च न"। अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, निमित्त और इनका शक्तिरूप सम्बन्ध नित्य है, अतः समय पाकर इनका कभी समुदाचार (प्रवृत्ति) हो सकता है, जिससे सुख-दुःख का उपभोग कराया जा सकता है—ऐसी सम्भावना से कैवल्य-निश्चय क्योंकर होगा? पूर्व के कई अधिकरणों में निरस्त पक्ष का उपन्यास एवं उसका निराकरण इसलिए किया जाता है कि उसकी निःसारता का दृढ़ निश्चय हो जाय—"परस्मादनन्यत्वेऽपि"। अर्थात् ब्रह्म से जीव को अभिन्न मानने पर समस्त लोक-व्यवहार का विलोप हो जायगा—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि तत्त्व-साक्षात्कार होने से पहले सभी व्यवहार स्वाप्न व्यवहार के समान उपपन्न हो जाता है। शेष भाष्य सुबोध है॥ ७-१४॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्क्रामन्ति' ( बृ० ४।४।६ ) इति। 'ब्रह्म विदाप्नोति परम्' ( तै० २।१।१ ) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसंभवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेय मविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते—'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' ( बृ० ४।४।६ ) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम्। अपि च परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्रीतये वा स्यादनुचिन्तनाय वा ? तत्र प्रीतिनं तावद् ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते, स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः। नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिर्वेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते। तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः। तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते। किं द्वे ब्रह्मणी ? परमपरं चेति ? बाढं द्वे —'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात्। किं पुनः परं ब्रह्म, किमपरमिति ? उच्यते-यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते, तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' ( छा० ३।१४।२ ) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वेवमद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत,—न, अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य संनिधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' ( छा० ८।२।१ ) इत्यादि जगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगतत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने, बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म—'तद्गुणसारत्वात्' ( ब्र० सू० २।३।२९ ) इत्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२ ) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

---

## ( ६ अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् । सू० १५-१६ )

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं संदिह्यते—किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः—पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत कांश्चिदेवेति। किं

भामती

अब्रह्मकृतवो यान्ति यथा पञ्चाग्निविद्यया।
ब्रह्मलोकं प्रयास्यन्ति प्रतीकोपासकास्तथा ॥

सन्ति हि मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्याद्याः प्रतीकविषया विद्यास्तद्वन्तोऽप्यर्चिरादिमार्गेण कार्यंब्रह्मोपासका इव गन्तुमर्हन्त्यनियमः सर्वासामित्यविशेषेण विद्यान्तरेष्वपि गतेरवधारणात्। न चैवां परब्रह्म-

भामती—व्याख्या

**संशय**—क्या सभी प्रकार के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक ले जाता है ? अथवा कतिपय उपासकों को ही ?

**पूर्वपक्ष**—

अब्रह्मकृतवो यान्ति यथा पञ्चाग्निविद्यया।
ब्रह्मलोकं प्रयास्यन्ति प्रतीकोपासका तथा ॥

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" ( छां० ३।१८।१ ) इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित प्रतीकोपासना करनेवाले पुरुष भी अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक वैसे ही जा सकते हैं, जैसे कि

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तावत्प्राप्तम् ? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद् ब्रह्मणो गतिः स्यात् । तथा हि—'अनियमः सर्वासाम्—' ( ब्र० सू० ३।३।३१ ) इत्यत्राविशेषेणैवैषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति । प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्याग्निकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते । न ह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति, अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरेक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः । तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुद्रष्टव्यः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासोदेदिति श्लिष्यते, 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतिः, नतु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति, प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य । नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् -'स एनान् ब्रह्म गमयति' ( छा० ४।१५।५ ) इति, भवतु यत्रव-

भामती

विदामिव गत्यसम्भव इति । न च ब्रह्मक्रतव एव ब्रह्मलोकभाजो नातत्क्रतव इत्यप्येकान्तः, अतत्क्रतूनामपि पञ्चाग्निविदां तत्प्राप्तेः । न चैते न ब्रह्मक्रतवो मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादौ सर्वत्र ब्रह्मानुगमेन तत्क्रतुत्वस्यापि सम्भवात् । फलविशेषस्य ब्रह्मलोकप्राप्तावपि उपपत्तेः, तस्य सावयवतयोत्कर्षनिकर्षसम्भवादिति प्राप्ते प्रत्युच्यते —

उत्तरोत्तरभूयस्त्वादब्रह्मक्रतुभावतः ।
प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नामानवो नयेत् ॥

भवतु पञ्चाग्निविद्यायामब्रह्मक्रतूनामपि ब्रह्मलोकनयनं वचनात् । किमिव हि वचनं न कुर्य्यात् नास्ति वचनस्यातिभार इह तु तदभावात् । तं यथायथोपासते तदेव भवतीति श्रुतेः । औत्सर्गिक्या नासति विशेषवचनेऽपवादो युज्यते । न च प्रतीकोपासको ब्रह्मोपास्ते सत्यपि ब्रह्मेत्यनुगमे किन्तु नामा-

भामती—व्याख्या

पञ्चाग्निविद्यावाले जाते हैं, क्योंकि 'अनियमः सर्वासामविरोधः" ( ब्र० सू० ३।३।३१ ) इत्यादि सूत्रों के अनुसार सभी विद्याओं में समान गति निश्चित की गई है। परब्रह्मवेत्ताओं के समान प्रतीकोपासकों की गति नहीं होती--ऐसा नहीं, किन्तु इनकी भी गति होती है। ब्रह्म के उपासक ही ब्रह्मलोक जाते हैं, ऐसा भी कोई नियम नहीं, क्योंकि जो ब्रह्मक्रतु ( ब्रह्म के उपासक ) नहीं, वे भी ब्रह्मलोक जाते हैं, जैसे पंचाग्नि-विद्यावाले ब्रह्मलोक जाते हैं। प्रतीकोपासनावाले ब्रह्मोपासक नहीं—ऐसा भी नहीं, क्योंकि "मनो ब्रह्मत्युपासीत"—इत्यादि प्रतीकोपासना-विधायक वाक्यों में सर्वत्र ब्रह्मानुगमन करने से ब्रह्म-चिन्तकत्व भी सम्भव है। "तं यथा यथोपासते तदेव भवति"—ऐसा जो प्रतीकोपासना का फल तत्तदाकारतापत्ति प्रतिपादित है, वह ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाने पर भी हो सकता है। ब्रह्मलोक सावयव है, अतः उसमें "वाग् वाव नाम्नो भूयसी यावद्वाचो गतम्"—इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित उत्कर्षापकर्षरूपता का सामंजस्य हो जाता है।

सिद्धान्त—

उत्तरोत्तरभूयस्त्वादब्रह्मक्रतुभावतः ।
प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नामानवो नयेत् ॥

यद्यपि पञ्चाग्नि-विद्या के विद्वान् ब्रह्म-चिन्तक नहीं, तथापि "स एनान् ब्रह्म गमयति"—इस वचन के बल पर वे ब्रह्मलोक को प्राप्ति कर लेते हैं, वचन क्या नहीं कर सकता ? वचन के लिए यह कोई अतिभार नहीं, किन्तु प्रतीकोपासना के प्रकरण में कोई ऐसा वचन प्राप्त नहीं जो प्रतीकोपासकों की ब्रह्मलोक-प्राप्ति का प्रतिपादन करता हो। "तं यथा यथो-

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माहत्म्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥ १६ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारः' ( छा० ७।१।५ ) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' ( छा० ७।२।१ ) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' ( छा० ७।२।२ ), 'मनो वाव वाचो भूयः' ( छा० ७।३।१ ) इत्यादिना। स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते, ब्रह्मतन्त्रत्वे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात् ? तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

---

भामती

दिविशेषब्रह्मरूपतया तथा खल्वयं नामादितन्त्रो न ब्रह्मतन्त्र आश्रयान्तरप्रत्ययस्याश्रयान्तरे प्रक्षेपः प्रतीक इति हि वृद्धाः। ब्रह्माश्रयश्च प्रत्ययो नामादिषु प्रक्षिप्त इति नामतन्त्रः। तस्मान्न तदुपासको ब्रह्मक्रतुः किन्तु नामाविक्रतुः, न च ब्रह्मक्रतुत्वे नामाद्युपासकानामविशेषादुत्तरोत्तरोत्कर्षः सम्भवी। न च ब्रह्मक्रतुस्तदवयवक्रतुः, येन तदवयवापेक्षयोत्कर्षो वर्ण्येत। तस्मात्प्रतीकालम्बनान्विद्वषो वर्जयित्वा सर्वान्यान्विकारालम्बनान्नयत्यमानवो ब्रह्मलोकं न ह्येवमुभयथा भाव उभयथार्थत्वे कांश्चित्प्रतीकालम्बनान्न नयति विकारालम्बनान्विद्वषस्तु नयतीत्यभ्युगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति अनियमः सर्वासामित्यस्य न्यायस्येति सर्वमवदातम् ॥ १५-१६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते भगवत्पादभाष्य-
विभागे भामत्यां चतुर्थस्याध्यायस्य
तृतीयः पादः ।

---

भामती—व्याख्या

पासते तदेव भवति"—[ यह श्रुति ब्रह्म से भिन्न उपास्य देवताओं की ओर संकेत करती हुई कहती है कि जिस देव की जो उपासना करता है, उसी का रूप हो जाता है ] इस औत्सर्गिक श्रुति का बिना विशेष वचन के बाध नहीं हो सकता। प्रतीकोपासक को ब्रह्मोपासक नहीं माना जाता, भले ही उसकी उपासना में ब्रह्म का अनुगम हो, क्योंकि वे ब्रह्मरूपेण नामादि विशेष पदार्थों के उपासक माने जाते हैं, अतः उनकी उपासना ब्रह्मप्रधानक न होकर नामादि-प्रधानक मानी जाती है, क्योंकि अन्यविषयक प्रत्यय का अन्य विषय में प्रक्षेप प्रतीक कहलाता है, ब्रह्माश्रयक प्रत्यय नामादि में प्रक्षिप्त होने के कारण नामादिप्रधानक है, अत एव नामादि का चिन्तक नामक्रतुक कहलाता है, ब्रह्मक्रतुक नहीं। यदि प्रतीकोपासक को एक ब्रह्म का चिन्तक ( ब्रह्मक्रतु ) माना जाता है, तब नामादि के उपासक में उत्तरोत्तर-उत्कर्ष सम्भव न हो सकेगा। ब्रह्मोपासक ब्रह्म के अवयवों का उपासक नहीं कि अवयव की अपेक्षा उत्कर्षापकर्ष बन जाता, फलतः प्रतीकोपासकों को छोड़कर शेष सभी कार्य ब्रह्म के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक ले जाता है। "उभयथा अदोषात्" इस सूत्र-भाग का अर्थ यह है कि अमानव पुरुष कतिपय उपासकों को ही ब्रह्मलोक ले जाता है और कतिपय उपासकों को नहीं—इस प्रकार उभयार्थ-सामञ्जस्य-पक्ष में कोई दोष प्रसक्त नहीं होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती-व्याख्या

अर्थात् "अनियमः सर्वासाम्"—इस सामान्य नियम का विरोध उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वह सभी ब्रह्मोपासकों के नयन से चरितार्थ हो जाता है ॥ १५, १६ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृतायां भामतीव्याख्यायां
चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः
समाप्तः

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ।

[ अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थिति-निरूपणम् ]

### ( १ संपद्याविर्भावाधिकरणम् । सू० १--३ )

### संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति श्रूयते । तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यते, आहोस्विदात्ममात्रेणेति । किं तावत्प्राप्तम् ? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्, मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः, अभिनिष्पद्यत इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात् । स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत । तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति ।

भामती

प्रागभूतस्य निष्पत्तौ कर्तृत्वं न सतो यतः ।
फलत्वेन प्रसिद्धेश्च मुक्ते रूपान्तरोद्भवः ॥

अभूतस्य घटादेर्भवनं निष्पत्तिर्न पुनरत्यन्तसतोऽसतो वा—न जातु गगनतत्कुसुमे निष्पद्येते । स्वरूपावस्थानं चेदात्मनो मुक्तिर्न सा निष्पद्येत । तस्य गगनवदत्यन्तसतः प्रागसत्त्वाभावान्न चास्य बन्धाभावो निष्पद्यते, तस्य तुच्छस्वभावस्य कार्यत्वेनातुच्छत्वप्रसङ्गात् । फलत्वप्रसिद्धेश्च मोक्षस्याकार्य्यस्य

भामती—व्याख्या

विषय—"एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते "( छां. ८।१२।३ )। यह सन्प्रसाद [आत्मसाक्षात्कार-सम्पन्न अत एव प्रसन्न हो जानेवाला जीव ] इस शरीर की परिधि से निकल कर परब्रह्मरूप ज्योति का उपसम्पादन करते ही अपने वास्तविक स्वरूप में आविर्भूत हो जाता है ।

संशय—यह जीव आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर क्या देवलोकादि के समान किसी आगन्तुक स्वरूप की अभिनिष्पत्ति करता है ? अथवा अपने वास्तविक रूप में आविर्भूत होता है ?

पूर्वपक्ष—

प्रागभूतस्य निष्पत्तौ कर्तृत्वं न सतो यतः ।
फलत्वेन प्रसिद्धेश्च मुक्ते रूपान्तरोद्भवः ॥

अभूत घटादि पदार्थों का भवन ( उत्पाद ) निष्पत्ति कहलाता है । ऐसी निष्पत्ति न तो अत्यन्त सत् की होती है और न अत्यन्त असत् की, क्योंकि गगनादि के समान अत्यन्त सत् और गगनकुसुमादि के समान अत्यन्त असत् पदार्थों की निष्पत्ति किसी ने नहीं देखी । यदि आत्मा के स्वस्वरूप में अवस्थान को मुक्ति माना जाता है, तब उसकी प्राप्ति को निष्पत्ति ( उत्पत्ति ) नहीं कह सकते, क्योंकि वह गगन के समान अत्यन्त सत् स्वरूप की प्राप्ति है, प्राग् असत् का भवन नहीं । बन्धाभावात्मक मुक्ति की भी उत्पत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि बन्धाभाव तुच्छ पदार्थ है, यदि उसकी उत्पत्ति मानी जाती है, तब वह भी घटादि पदार्थों के समान कार्य (जन्य) होने के कारण अतुच्छ ( सत् ) हो जायगा । मोक्ष को ज्ञान का फल माना जाता है, स्वस्वरूप नित्य है, उसे फल नहीं कह सकते, अतः जीवरूपेण अवस्थित पदार्थ की जो ब्रह्मरूपेण अवस्थिति उत्पन्न होती है, उसका ही 'स्वरूप' शब्द से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्राप्त ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाऽऽविर्भवति, न धर्मान्तरेणेति। कुतः ? स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दात्। अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवकल्पं स्यात्। नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति—न, तस्यावचनीयत्वात्। येनैव हि केनचिद् रूपेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात्। आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते, नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थास्विह च स्वरूपानपायसाम्ये सतीत्यत आह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभिनिष्पद्यत इत्युक्तः, स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र त्वन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेना-

---

भामती

फलस्वानवकल्पनादागन्तुना रूपेण केनचिदुत्पत्तौ स्वेनेति प्राप्तमनूद्यत इति प्राप्तेऽभिधीयते—

सम्भवत्यर्थवत्त्वे हि नानर्थक्यमुपेयते।
बन्धस्य सदसत्त्वाभ्यां रूपमेकं विशिष्यते ॥

अनधिगतावबोधनं हि प्रमाणं शाब्दमगत्या कथञ्चिदनुवादतया वर्ण्यते। सकलसांसारिकधर्मापेतं तु प्रसन्नमात्मरूपमप्रसन्नात्तस्मादेव रूपाद् व्यावृत्तमनधिगतमवबोधयन्नानुवादो युज्यते। न चास्य निष्पत्त्यसम्भवः सत इव घटादेः सांव्यवहारिकेण प्रमाणेन बन्धविगमस्यापि निष्पत्तेर्लोकसिद्धत्वात्। विचारासहतया त्वसिद्धिरुभयत्रापि तुल्या न ह्यसदुत्पत्तुमर्हतीति असकृदावेदितम्। अन्धो भवतीति स्वप्नावस्था

---

भामती—व्याख्या

अनुवाद किया जाता है।

**सिद्धान्त**

सम्भवत्यर्थवत्त्वे हि नानर्थक्यमुपेयते।
बन्धस्य सदसत्त्वाभ्यां रूपमेकं विशिष्यते ॥

[ 'स्व' शब्द को अनुवादक मानना एक प्रकार से अनर्थक मानना है। जहाँ तक सार्थकता सम्भव हो अनर्थकता नहीं आने देनी चाहिए, अतः बन्धन-युक्त रूप को पररूप और बन्धन-रहित रूप को 'स्वरूप' शब्द से अभिहित करना चाहिए। बन्धन-रहित रूप यद्यपि नित्य है, तथापि उस के विशेषणीभूत बन्धन-राहित्य या बन्ध-ध्वंस पदार्थ की निष्पत्ति (उत्पत्ति) सम्भव है ]। अनधिगतार्थ के बोधक शब्द को ही प्रमाण माना जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—"सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यम्" (श्लो. वा. पृ. २११)। ऐसा प्रामाण्य जब सम्भव नहीं होता, तब शब्द को अगत्या अनुवादक माना जाता है। जीव का कर्तृत्वादि सकल सांसारिक धर्मों से अपेत (रहित) अत एव प्रसन्न रूप अनधिगत है, क्योंकि वह कर्तृत्वादि-युक्त आत्मा के अधिगत रूप से भिन्न है। वैसे अनधिगत रूप का 'स्व' शब्द से अवबोधन अनुवाद नहीं कहा जा सकता। ऐसे अनधिगत और सत् रूप की निष्पत्ति भी असम्भव नहीं, क्योंकि घटादिरूप सत् पदार्थों की निष्पत्ति (उत्पत्ति) प्रत्यक्षादि सांव्यवहारिक प्रमाणों से जैसे लोक-सिद्ध है, वैसे ही बन्ध-विगम (बन्ध-ध्वंस) की भी उत्पत्ति सम्भव हो जाती है। विकल्प की शैलि पर विचार करने से तो न घटादि सत् पदार्थों की निष्पत्ति सिद्ध होती है और न बन्ध-विगम की। असत् पदार्थ की तो उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती—ऐसा कई बार कहा जा चुका है। अज्ञान की अवान्तर अवस्थाओं को दिखाते हुए

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मनेत्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति ? प्रतिज्ञानादित्याह तथा हि—'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' ( छा० ८।९।३, ८।१०।४, ८।११।३ ) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय, अशरीरं वाव सन्तं न प्रिया प्रिये स्पृशतः' ( छा० ८।१२।१ ) इति चोपन्यस्य, 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' ( छा० ८।१२।३ ) इति चोपसंहरति। तथाऽऽख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' ( छा० ८।७।१ ) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्व-प्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा। यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं, तदपि पूर्वावस्थापेक्षम्—यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यत इति तद्वत्। तस्माददोषः ॥ २ ॥

## आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते ? यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्यते' ( छा० ८।१२।३ ) इति कार्यगोचरमेवैनं भावयति, ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात्। न चानतिवृत्तो विकारविषयात्कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति, विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति।

भामती

दर्शिता। बाह्येन्द्रियव्यापाराभावाद्रोदितीव जाग्रदवस्था दुःखशोकाद्यात्मकत्वाद्विनाशमेवापीत इति सुषुप्तिः। एवकारश्चेवार्थे नावधारणे ॥ १-२ ।

ननु ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति पौर्वापर्य्यश्रवणात् स्वरूपनिष्पत्तेरन्या ज्योति-रुपसम्पत्तिस्तथा च भौतिकत्वेऽपि न मोक्षव्याघातः। भवेदेतदेवं यदि ज्योतिरुपसम्पद्य तत् परित्यजे-दिति श्रूयेत। तदभ्याहारेऽपि तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यं तदपरित्यागे च ज्योतिषैव स्वेन रूपेणेति गम्यते।

सामती—व्याख्या

भाष्यकारने कहा है—"अन्धो भवति"। इस से स्वप्नावस्था दिखाई है, क्योंकि वहाँ चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों का व्यापार नहीं होता। "रोदितीव"—इस से जाग्रदवस्था सूचित की गई है, क्योंकि दुःख-शोकबहुल अवस्था में ही रोना-पीटना होता है। विनाशमेवापीति"—इस से सुषुप्ति अवस्था दिखाई गई है, क्योंकि वहाँ विशेष ज्ञान और क्रियाएँ समाप्त-सी हो जाती हैं। 'विनाशमेव'—यहाँ एवकार अन्ययोगादि का व्यवच्छेदक नहीं, क्योंकि विनाश से भिन्न सत्ता का व्यवच्छेद (निषेध) इस लिए सम्भव नहीं कि चैतन्य वस्तु (साक्षी की वहाँ नित्य सत्ता सिद्ध है। फलतः एवकार अवधारणार्थक न हो कर 'इव' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ॥ १,२ ॥

शंका—"ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छां ८।१२।३) इस श्रुति में ज्योतिरुपसंपत्ति के अनन्तर स्वरूप-निष्पत्ति के अनन्तर स्वरूप-निष्पत्ति का अभिधान किया गया है, अतः इन दोनों पदार्थों का भेद सिद्ध होता है। इस प्रकार 'ज्योतिः' शब्द से यदि भौतिक ज्योति का ग्रहण किया जाता है, तब भी उस के अनन्तर प्राप्त होनेवाली स्वरूप-निष्पत्तिरूप मुक्ति में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती, अतः "आत्मा प्रकरणात्"—इस सूत्र की क्या आवश्यकता ?

समाधान—यह शङ्का तक उठ सकती थी, जब कि "ज्योतिरुपसम्पद्य तत् परित्यज्य च स्वेन रूपेण निष्पद्यते"—ऐसी श्रुति होती अर्थात् इस जीव ने पहले भौतिक ज्योति को प्राप्त किया, फिर उस को त्यागकर स्वरूप-निष्पत्तिरूप मुक्ति का लाभ किया। यदि 'तत् परित्यज्य'—ऐसे अश्रुत पद का अध्याहार किया जाता है, तब "ज्योतिरुपसंपद्य"—ऐसा ज्योति की उपसम्पत्ति का प्रतिपादन व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि जिस पदार्थ का त्याग करना है, उस का ग्रहण कराना निरर्थक है। यदि भौतिक ज्योति की उपसम्पत्ति का त्याग नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैष दोषः, यत आत्मैवात्र ज्योतिःशब्देनावेद्यते, प्रकरणात्, 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः' ( छा० ८।७।१ ) इति हि प्रकृते परस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्, प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' ( बृ० ४।४।१६ ) इति। प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्दर्शनात्' ( ब्र० सू० १।३।४० ) इत्यत्र ॥ ३ ॥

---

## ( २ अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्। सू० ४ )

## अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव

---

भामती

तस्य च भूतत्वे विकारत्वान्मरणधर्मकत्वप्रसिद्धेरमुक्तित्वमिति प्राप्ते प्रत्युच्यते—

ज्योतिष्पदस्य मुख्यत्वं भौतिके यद्यपि स्थितम्।
तथापि प्रक्रमाद् वाक्यादात्मन्येवात्र युज्यते ॥

परं ज्योतिरिति हि परपदसमभिव्याहारात् परत्वस्य चानपेक्षस्य ब्रह्मण्येव प्रवृत्तेर्ज्योतिषि चापरे किञ्चिदपेक्ष्य परत्वात्परं ज्योतिरिति वाक्यादात्मैवात्र गम्यते प्रकरणाच्चोक्तम्। यत् सम्पद्य निष्पद्यत इति तन्मुखं व्यादाय स्वपितीतिवत्। तस्माज्ज्योतिरुपसम्पन्नो मुक्त इसि सूक्तम् ॥ ३ ॥

---

यद्यपि जीवात्मा ब्रह्मणो न भिन्न इति तत्र तत्रोपपादितं तथापि स तत्र पर्य्येतीत्याधाराधेय-

---

भामती—व्याख्या

किया जाता, तब भौतिक ज्योति के विकाररूप एवं अनित्य होने के कारण उसको तादात्म्यापत्तिरूप मुक्ति भी अनित्य हो जाती है, शास्त्रीय मुक्ति की परिभाषा से बहिर्भूत हो जाती है।

सिद्धान्त—

ज्योतिष्पदस्य मुख्यत्वं भौतिके यद्यपि स्थितम्।
तथापि प्रक्रमाद् वाक्यादात्मत्वेनात्र युज्यते ॥

यद्यपि अकेला 'ज्योतिः' पद भौतिक ज्योति में मुख्यतः प्रवृत्त होता है, तथापि यहाँ "परंज्योतिरुपसम्पद्य" ऐसा पाठ है। 'पर' पद स्वभावतः ऐसे व्यापक पदार्थ को कहता है, जिसकी अपेक्षा और कोई पर न हो, ऐसा अनपेक्ष परत्व ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है—"पुरुषान्न परं किञ्चित्, सा काष्ठा, सा परा गतिः" ( कठो. १।२।११ )। भौतिक ज्योति में जलादि की अपेक्षा ही परत्व है, सर्वापेक्षया नहीं, अतः 'परं ज्योतिः' पद से ब्रह्म अभिहित है। प्रकरण भी ब्रह्म का है, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"य आत्माऽपहतपाप्मा" ( छां. ८।७।१ )। 'त्वा' प्रत्यय पूर्वापरीभूत क्रियाओं को ही नहीं कहता अपितु समानकाल की क्रियाओं को भी कहता है, जैसे—'मुखं व्यादाय स्वपिति' [कोई अपना मुख खोल कर सोता है—यहाँ मुख फैलाना और सोना एक समय में देखा जाता है]। इसी प्रकार परज्योति की उपसम्पत्ति और स्वरूप-निष्पत्ति—इन दोनों पदों के द्वारा मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है, अतः सूत्रकार ने उस पुरुष को 'मुक्त' कहा है ॥ ३ ॥

---

संशय—मुक्त पुरुष ब्रह्म से भिन्न रहता है ? अथवा ब्रह्मरूप हो जाता है ?

सिद्धान्त—यद्यपि जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं ऐसा कई बार सिद्ध और प्रमाणित

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (छा० ८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः? दृष्टत्वात्। तथा हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७), 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०), 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति। यथादर्शनमेव च फलं युक्तम्, तत्क्रतुन्यायात्। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति। नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च। भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति चैवमादि दर्शनात् ॥ ४ ॥

---

## ( ३ ब्राह्माधिकरणम् । सू० ५--७ )

### ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

स्थितमेतत् स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४) इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते, नागन्तुकेनापररूपेणेति। अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते—स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च, तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात्। तथा हि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति। तथा 'स तत्र पर्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः' (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति।

---

भामती

भावव्यपदेशस्य सम्पत्तुसम्पत्तव्यभावव्यपदेशस्य च समाधानार्थमाह ॥ ४ ॥

---

उपन्यास उद्देशो ज्ञातस्य यथा य आत्माऽपहतपाप्मेत्यादिः। तथाऽज्ञातज्ञापनं विधिः। यथा

---

भामती—व्याख्या

किया जा चुका है, तथापि "स तत्र पर्येति" (छां. ८।१२।३) [ वह उस में समा जाता है ] इस प्रकार जीव और ब्रह्म के आधाराधेयभाव एवं "ज्योतिरुपसम्पद्य" (छां. ८।१२।३) इस प्रकार की उपसम्पत्ति क्रिया के कर्तृकर्मभाव के निर्देश से समुत्पन्न भेद-शङ्का को दूर करने के लिए कहा गया हैं—"अविभागेन दृष्टत्वात्"। जीव मुक्त होकर ब्रह्माभिन्नरूपेण अवस्थित होता है, श्रौत दर्शन का यही सार है—"यत्र नान्यत् पश्यति" (छो. ७।२४।१) ॥४॥

---

**संशय**—मुक्तपुरुष के लिए जो कहा गया है कि वह मोक्षावस्था में स्वरूपेण अवस्थित होता है। वहाँ स्वरूप' शब्द से क्या सर्वज्ञत्वादि सत्य धर्मों से युक्त चैतन्य विवक्षित है? या सर्वज्ञत्वादि धर्मों से रहित चैतन्य? अथवा कल्पित सर्वज्ञत्वादि से उपलक्षित चैतन्य?

**पूर्वपक्ष**—आचार्य जैमनि का कहना है कि पारमार्थिक सर्वज्ञत्वादि धर्मों से युक्त चैतन्य तत्त्व ही विवक्षित स्वरूप पदार्थ है, क्योंकि (१) उपन्यास, (२) विधि तथा (३) व्यपदेश—इन तीनों रूपों में उसी का निर्देश है। [ उद्देश्यरूपेण, विधेयरूपेण और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' ( छा० ७।२५।२ ) इति च । सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते, तथापि शब्दविकल्पजा

---

भामती

स तत्र पर्य्येति जक्षद् रममाण इति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्येतदज्ञातज्ञापनं विधिः । सर्वज्ञः सर्वेश्वर इति व्यपदेशः । नायमुद्देशो विधेयान्तराभावात् । नापि विधिरप्रतिपाद्यत्वात् । सिद्धवदव्यपदेशात्तन्निर्वचनसामर्थ्याद्यमर्थः प्रतीयते—त एते उपन्यासादयः । एतेभ्यो हेतुभ्यः ।

भावाभावात्मकै रूपैर्भाविकैः परमेश्वरः ।
मुक्तः सम्पद्यते स्वैरित्याह स्म किल जैमिनिः ॥

न च चित्स्वभावस्यात्मनोऽभावात्मानोऽपहतपाप्मत्वादयो भावात्मानश्च सर्वज्ञत्वादयो धर्मा अद्वैतं घ्नन्ति । नो खलु धर्मिणो धर्मा भिद्यन्ते । मा भूद् गवाश्ववद्धर्मिधर्मभावाभाव इति जैमिनिराचार्य्य उवाच ॥ ५ ॥

अनेकाकारतैकस्य नैकत्वान्नैकता भवेत् ।
परस्परविरोधेन न भेदाभेदसम्भवः ॥

---

भामती–व्याख्या

सामान्यरूपेण सर्वज्ञ तत्त्व का निर्देश यह सिद्ध करता है कि मुक्त जीव का वही स्वरूप है] ।

**उपन्यास**—किसी अन्वेष्टव्यत्वादि पदार्थ का विधान करने के लिए किसी ज्ञात पदार्थ का अनुवाद करना उद्देश या उपन्यास कहलाता है, जैसे—"य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" ( छां. ८।७।१ ) [ जो आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा और पिपासा से रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प पुरुष है, उसका अन्वेषण करना चाहिए ] ।

२. **विधि**—अज्ञात पदार्थ का ज्ञापन ( बोधन ) विधि पदार्थ है, जैसे—"स तत्र पर्येति जक्षद् रममाणः" ( छा. ८।१२।३ ) इस प्रकार ऐश्वर्यरूप अज्ञातार्थ का यहाँ ज्ञापन किया है । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" ( छां. ७।२५।२) इत्यादि वाक्य भी विधि के उदाहरण हैं ।

३. **व्यपदेश**—उद्देश और विधि से भिन्न सामान्यतः निर्देश को व्यपदेश कहा जाता है, जैसे—"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः" (सुबालो. ५।१५) । इस वाक्य को उद्देश नहीं कह सकते' क्योंकि यहाँ कोई उपासनान्तरादि का विधान नहीं किया गया । इसे विधि कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ किसी अज्ञात पदार्थ का विधान नहीं, अपितु सिद्ध-जैसा मानकर सर्वेश्वरत्वादि का व्यवहार किया गया है । मुक्त जीव सर्वेश्वरत्वादिरूपेण अवस्थित होता है—ऐसा इस वाक्य के निर्वचन ( तात्पर्य ) से पर्यवसित होता है—

भावाभावात्मकै रूपैर्भाविकः परमेश्वरः ।
सम्पद्यते स्वैरित्याह स्म किल जैमिनिः ॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा अपने अपहतपाप्मत्वादि अभावात्मक एवं सर्वज्ञत्वादि भावात्मक धर्मों से युक्त है । ये धर्म धर्मी से भिन्न न होने के कारण धर्मी के भेदक नहीं होते, अन्यथा गौ और अश्व के समान इनका धर्मधर्मिभाव उपपन्न न हो सकेगा ॥ ५ ॥

(२) **पूर्वपक्ष**—

अनेकाकारतैकस्य नैकत्वान्नैकता भवेत् ।
परस्परविरोधेन न भेदाभेदसम्भवः ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवैते । पत्प्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते । चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता । तथा च श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मान्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' ( बृ० ४।५।१३ ) इत्येवंजातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति । सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते—सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसंबन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः, अनेकाकारत्वप्रतिषेधात् ।, प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम्—'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' ( ब्र० सू० ३।२।११ ) इत्यत्र । अतएव च लक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत् । नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं, द्वितीयविषयत्वात्तेषाम् । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मना-

भामती

न ह्येकस्यात्मनः पारमार्थिकानेकधर्मसम्भवः । ते चेदात्मनो भिद्यन्ते द्वैतापत्तेरद्वैतश्रुतयो व्यावर्तेरन् । अथ न भिद्यन्ते तत एकस्मादात्मनोऽभेदान्मिथोऽपि न भिद्येरन्, आत्मरूपवत् । आत्मरूपं वा भिद्येत, भिन्नेभ्योऽनन्यत्वान्नीलपीतरूपवत् । न च धर्मिण आत्मनो न भिद्यन्ते मिथस्तु भिद्यन्त इति साम्प्रतम्, धर्म्यभेदेन तदनन्यत्वेन तेषामप्यभेदप्रसङ्गात् । भेदे वा धर्मिणोऽपि भेदप्रसङ्गादित्युक्तम् । भेदाभेदौ च परस्परविरोधादेकत्राभावान्न सम्भवत इत्युपपादितं प्रथमे सूत्रे । अभावरूपाणामद्वैतावितृत्वेऽपि तस्य पारमार्थिकत्वेन तदधीननिरूपणतया तेषामपि काल्पनिकत्वमिति न तात्त्विकी तद्धर्मता श्लिष्यते । एतेन सत्यकामसर्वज्ञसर्वेश्वरत्वादयोऽप्यौपाधिका व्याख्याताः । तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेनाव्यपदेश्येन चैतन्यमात्रात्मनाभिनिष्पद्यमानस्य मुक्तावात्मनोऽर्थशून्यैरेवापहतपाप्मसत्यकामादिशब्दैर्व्यपदेश इत्यौडुलोमिर्मेने । तदिदमुक्तं ॐ शब्दविकल्पजा एवैते ॐ अपहतपाप्मत्वादयो न तु सांव्य-

भाषती—व्याख्या

एक आत्मतत्त्व में सर्वज्ञत्वादि अनेक पारमार्थिक धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि वे धर्म यदि आत्मा से भिन्न माने जाते हैं, तब द्वैतापत्ति होती है और अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतियाँ अद्वैतप्रतिपादन से विरत हो जाएंगी। यदि वे धर्म आत्मा से भिन्न नहीं, तब वे भी परस्पर-भिन्न न रह सकेंगे, अपितु एक आत्मा से अभिन्न होने के कारण वैसे ही परस्पर-अभिन्न हो जाएंगे, जैसे आत्मा का स्वरूप अथवा आत्मा का स्वरूप भी वैसे ही भिन्न हो जायगा, जैसे घट-पटादि भिन्न पदार्थों से अभिन्न नील-पोतादि रूप भिन्न होते हैं। 'सर्वज्ञत्वादि धर्म आत्मरूप धर्मी से भिन्न नहीं किन्तु परस्पर भिन्न हैं'—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि धर्मी एक है, अभिन्न है, अतः उससे अभिन्न होने के कारण उन धर्मों में अभेद प्रसक्त होता है। धर्मों का धर्मी से भेद भी हो और अभेद भी—ऐसा मानना परस्पर-विरुद्ध होने के कारण सम्भव नहीं—ऐसा प्रथम सूत्र में कहा जा चुका है। अपहतपाप्मत्वादि अभावात्मक धर्म यद्यपि अद्वैतरूपता के विघातक नहीं होते, तथापि वे (अपहतपाप्मत्वादि) धर्म काल्पनिक हैं, अतः उनसे निरूपित भेदादि पदार्थ भी काल्पनिक सिद्ध होते हैं, काल्पनिक धर्मों को लेकर धर्मी को तद्धर्मवान् नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार सत्यकामत्व, सर्वज्ञत्वादि धर्म भी औपाधिक होने के कारण धर्मी के परिच्छेदक नहीं हो सकते। फलतः समस्त प्रपञ्चातीत अत एव अव्यपदेश्य चैतन्य मात्ररूपेण मुक्त जीव अभिनिष्पन्न होता है। मुक्त जीव के लिए जो 'अपहतपाप्मा, 'सत्यकामः' —आदि शब्दों का व्यवहार होता है, वह विकल्प मात्र है, जैसा कि पातञ्जल सूत्र में वर्णित है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो. सू. १।९)। अर्थात् वाच्यार्थ-रहित शब्द का प्रयोगमात्र है, सांव्यावहारिक भी नहीं—ऐसा आचार्य औडुलोमि कहते है भाष्यकार यही कह रहे हैं—"शब्दविकल्पजा एते"। 'एवैते' शब्द के द्वारा अपहत-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऽभिनिष्पद्यत इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्या-प्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥

---

## ( ४ संकल्पाधिकरणम् । सू० ८-९ )

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' ( छा. ८।२।१ ) इत्यादि । तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादि-समुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहित इति । तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोक-

भामती

वहारिका अपीति ॥ ६ ॥

तदेतदतिशौण्डीर्यमौडुलोमेर्न मृष्यते ।
बादरायण आचार्यो मृष्यन्नपि हि तन्मतम् ॥

एवमपीत्यौडुलोमिमतमनुजानाति । शौण्डीर्यं तु न सहत इत्याह ❀ व्यवहारापेक्षया इति ❀ । एतदुक्तं भवति—सत्यं तात्त्विकानन्दचैतन्यमात्र एवात्मापहतपाप्मसत्यकामत्वादयस्त्वौपाधिकतयाऽता-त्त्विका अपि व्यावहारिकप्रमाणोपनीततया लोकसिद्धा नात्यन्तासन्तो येन तच्छब्दा राहोः शिर इतिवद-वास्तवा इत्यर्थः ॥ ७ ॥

---

यत्नानपेक्षः सङ्कल्पो लोके वस्तुप्रसाधनः ।
न दृष्टः सोऽत्र यत्नस्य लाघवादवधारितः ॥

---

भामती—व्याख्या

पाप्मत्वादि धर्मों का ग्रहण किया गया है ॥ ६ ॥

सिद्धान्त—

तदेतदतिशौण्डीर्यमौडुलोमेर्न मृष्यते ।
बादरायण आचार्यो मृष्यन्नपि हि तन्मतम् ॥

सूत्रस्थ "एवमपि"—इस पद के द्वारा औडुलोमि के उक्त मत से आंशिक सहमति ध्वनित की गई है अर्थात् आचार्य बादरायण ने औडुलोमि के कथित मत को आंशिकरूप में मानते हुए भी औडुलोमि का अतिशौण्डीर्य ( अतिप्रागल्भ्य ) मानने से स्पष्ट नकार कर दिया है। सारांश यह है कि तात्त्विक आनन्द चैतन्यरूप यह आत्मा है और अपहतपाप्मत्वादि धर्म भी व्यावहारिक प्रमाणों के द्वारा प्रसाधित होने के कारण अत्यन्त असत् नहीं, अतः उक्त धर्मों का आत्मा में व्यवहार 'राहोः शिरः' के समान अवास्तविक नहीं ॥ ७ ॥

---

संशय—ब्रह्मलोक में गये उपासक के संकल्पमात्र से उसके पितर उपस्थित हो जाते हैं ? अथवा उसके लिये कारणान्तर की भी अपेक्षा होती है ?

पूर्वपक्ष—

यत्नानपेक्षः संकल्पो लोके वस्तुप्रसाधनः ।
न दृष्टः सोऽत्र यत्नस्य लाघवादवधारितः ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

वह्निमित्तान्तरापेक्षता युक्ता। यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पाद् गमनादिभ्यश्च हेतुभ्य पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात्। एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति। संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनानन्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते। नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः-संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादि-

भाषती

लोके हि कश्चिदर्थं चिकीर्षुः प्रयतते प्रयतमानः समीहते समीहानस्तमर्थं प्राप्नोतीति क्रमो दृष्टः। न त्विच्छानन्तरमेवास्येष्यमाणमुपतिष्ठते। तेन श्रुत्यापि लोकवृत्तमनुरुध्यमानया विदुषस्तादृश एव क्रमोऽनुमन्तव्यः। अवधारणं तु सङ्कल्पादेवेति लौकिकं यत्नगौरवमपेक्ष्य विद्याप्रभावतो विदुषो यत्नलाघवात्। यल्लघु तदसत्कल्पमिति। स्यादेतद्—यथा मनोरथमात्रोपस्थापिता स्त्री स्त्रैणानां चरमधातुविसर्गहेतुः, एवं पित्रादयोऽप्यस्य सङ्कल्पोपस्थापिताः कल्पिष्यन्ते स्वकार्य्यायेत्यत आह ॐ न च सङ्कल्पमात्रसमुत्थाना इति ॐ। सन्ति हि खलु कानिचिद्वस्तुरूपसाध्यानि कार्य्याणि यथा स्त्रीवस्तुसाध्यानि दन्तक्षतमणिमालादीनि। कानिचित्तु ज्ञानसाध्यानि यथोक्तचरमधातुविसर्गरोमहर्षादीनि। तत्र मनोरथमात्रोपनीते पित्रादौ भवन्तु तज्ज्ञानमात्रसाध्यानि कार्याणि न तु तत्साध्यानि भवितुमर्हन्ति। न हि स्त्रैणस्य रोमहर्षादिवद्वस्तुवन्ति स्त्रीवस्तुसाध्या मणिमालादयस्तदिदमुक्तं पुष्कलभोगमिति प्राप्तेऽभिधीयते—

भामती-व्याख्या

[ लोक में ऐसा देखा गया है कि अकेला संकल्प किसी वस्तु का प्रसाधक नहीं होता, अपितु अनुकूल प्रयत्न-सहित संकल्प वस्तु का साधक होता है, क्योंकि ] पहले-पहले घटादि कार्यों के करने की इच्छा होती है, उसके अनन्तर प्रयत्न, प्रयत्न के अनन्तर समीहा ( क्रिया, चेष्टा या बाह्य व्यापार ) और समीहा के अनन्तर ही घटादि की उत्पत्ति या प्राप्ति होती है, केवल संकल्प ( इच्छामात्र ) से कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती। श्रुति भी इस क्रम की उपेक्षा नहीं कर सकती, अतः ब्रह्मलोकस्थ उपासक के लिये भी वही क्रम अपनाना होगा। श्रुति में 'संकल्पादेव'—वहाँ एवकार के द्वारा यत्नादि अन्य पदार्थों का जो व्यवच्छेद किया गया है, वह लौकिक गुरुतर प्रयत्न का व्यावर्तक है। ब्रह्मलोक में स्वल्प प्रयत्नमात्र से पितर समुपस्थित हो जाते हैं। स्वल्प प्रयत्न नहीं के बराबर है।

**शङ्का**—जैसे स्त्रैण ( कामी ) पुरुष के संकल्पमात्र से उपनीत स्वाप्न स्त्री बीर्यस्खलनरूप भोग की साधिका होती है, वैसे ही ब्रह्मलोकस्थ उपासक के संकल्पमात्र से उपस्थित पितृगण उपासक के भोग-साधक क्यों न होंगे ?

**समाधान**—"न च संकल्पमात्रसमुत्थानाः"। अर्थात् कतिपय भोग पदार्थ वस्तु के द्वारा जनित होते हैं", जैसे—दन्तक्षतमणिमाला [ नायक के शरीर पर नायिका के द्वारा किए गए दाँत काटने के चिह्न, कण्ठदेश-स्थित उन्हीं चिह्नों को मणिमाला कहते हैं ] आदि और कपिय भोग केवल वस्तु के ज्ञान से जन्य होते हैं, जैसे उक्त स्वाप्न स्त्री के ज्ञान (स्मरण) से जनित वीर्य-स्खलन, रोम-हर्ष आदि। इन में संकल्पमात्र से उपनीत पितृगणादि के द्वारा ज्ञानमात्र साध्य कार्य तो उत्पन्न होते हैं, किन्तु वस्तु-साध्य कार्य नहीं हो सकते, क्योंकि स्त्रैण ( कामुक ) पुरुष की मनोराज्यमयी स्त्री से वीर्यस्खलन, रोमहर्षादि के समान नखक्षत, दन्तक्षत, मणिमालादि कार्य उत्पन्न होते नहीं देखे जाते, भाष्यकार यही कह रहे हैं—"पुष्कलं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युः"। अर्थात् केवल संकल्प-रचित पदार्थ पर्याप्त भोग-प्रदान नहीं कर सकते, अतः ब्रह्मलोक में उपासक के प्रयत्नविशेष-सहकृत संकल्प के द्वारा भोग-प्रद पदार्थों की रचना होती है, अतः प्रकृत श्रुति का बाधक यह अनुमान पर्यवसित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुत्थानमिति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्येत । निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधाय्येव स्याद्भवतु न तु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमिष्यते । प्राक्तत्संकल्पवैलक्षण्यप्रसङ्गात् । नच श्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतो दृष्टं क्रमते । संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः । प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति-नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः । नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति । श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' ( छा० ८।१।६ ) इति ॥ ९ ॥

---

भामती

पित्रादीनां समुत्थानं सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ।
न चानुमानबाधोऽत्र श्रुत्या तस्यैव बाधनात् ॥

प्रमाणान्तरानपेक्षा हि श्रुतिः स्वार्थं गोचरयन्ती न प्रमाणान्तरेण शक्या बाधितुम् । अनुमानमेव तु स्वोत्पादाय पक्षधर्मत्वादिवन्मानान्तराबाधितविषयत्वं स्वसामग्रीमध्यपातेनापेक्ष्यमाणं सामग्रीखण्डनेन तद्विरुद्धया श्रुत्या बाध्यते । अत एव नरशिरःकपालादिशौचानुमानमागमबाधितविषयतया नोपपद्यते । तस्माद्विद्याप्रभावाद्विदुषां सङ्कल्पमात्रादेव पित्राद्युपस्थानमिति साम्प्रतम् । तथाहुरागमिनः—"को हि योगप्रभावाद्दृतेऽगस्त्य इव समुद्रं पिबति स इव दण्डकारण्यं सृजति ।" तस्मात्सर्वमवदातम् ॥ ८–९ ॥

---

भामती—व्याख्या

होता है—'विमतः प्रयत्नसापेक्षसंकल्पजन्यः, भोगत्वाद, घटपटादिभोगवत्' ।

सिद्धान्त—

पित्रादीनां समुत्थानं संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।
न चानुमानबाधोऽत्र श्रुत्या तस्यैव बाधनात् ॥

[ ब्रह्मलोक में उपासक के केवल संकल्प से पित्रादि पदार्थों की रचना होती है, क्योंकि श्रुति वैसा ही कहती है—"संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" ( छां. ८।२।१) । पूर्वपक्ष की ओर से सप्रयत्न संकल्प-साध्यता का अनुमान किया गया था—'विमतः प्रयत्नसापेक्षसंकल्पजन्यः, भोगत्वाद, घटपटादिवत्' । वह ] 'अनुमान प्रकृत श्रुति का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति प्रमाणान्तर से निरपेक्ष हो कर स्वार्थ का अवबोधन कराती है किन्तु अनुमान प्रमाण अपनी उत्पत्ति के लिए जिस सामाग्री की अपेक्षा करता है, उस में पक्षधर्मतादिके समान अबाधित्व, असत्प्रतिपक्षितत्व भी प्रविष्ट है । प्रबल श्रुति से जब अबाधितविषयकत्व का खण्डन हो जाता है, तब उक्त अनुमान श्रुति के द्वारा वैसे ही बाधित हो जाता है, जैसे 'नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खादिवत्'—यह अनुमान "नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सचेलं जलमाविशेत्" (मनु. ५।८७) इस आगम प्रमाण के द्वारा बाधित है । फलतः उपासक की उपासना का यह प्रभाव है कि उसके संकल्पमात्र से पित्रादि का समुत्थान हो जाता है। उपासना ( ध्यान या योग ) का यह प्रभाव है कि अगस्त्य जैसे महर्षियों ने पूरे समुद्र को एक चुल्लू में भर कर पी लिया था और दण्डकारण्य को जनावास-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ५ अभावाधिकरणम् । सू० १०—१४ )

### अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' ( छा० ८।२।१ ) इत्यादिश्रुतेर्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम्। शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति, न वा सन्तीति समीक्ष्यते । तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते । कस्मात्? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते' ( छा० ८।१२।५ ) 'य एते ब्रह्मलोके ( छा० ८।१३।१ ) इति । यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात् । तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥ १० ॥

### भावं जैमिनिविकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते। यतः 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' ( छा० ७।२६।२ ) इत्यादिनाऽनेकधाभाव-

---

भामती

अन्ययोगव्यवच्छित्त्या मनसेति विशेषणात् ।
देहेन्द्रियवियोगः स्याद्विदुषो बादरेर्मतम् ॥

अनेकधाभावश्चर्द्धिप्रभावभुवो मनोभेदाद्वा स्तुतिमात्रं वा कथञ्चिद् भूमविद्यायां निर्गुणायां तदसम्भवाद् असतापि हि गुणेन स्तुतिर्भवत्येवेति ॥ १० ॥

शरीरेन्द्रियभेदे हि नानाभावः समंजसः ।
न चार्थसम्भवे युक्तं स्तुतिमात्रमनर्थकम् ॥

न हि मनोमात्रभेदे स्फुटतरोऽनेकधाभावो यथा शरीरेन्द्रियभेदे । अत एव सौभरेरभिविनिर्मित-

---

भामती—व्याख्या

उपयोगी बना दिया था ॥ ८,९ ॥

———

**संशय**—ब्रह्मलोकगत उपासक के शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं ? अथवा नहीं ?

**पूर्वपक्ष**—

अन्ययोगव्यवच्छित्त्या मनसेति विशेषणात् ।
देहेन्द्रियवियोगः स्याद्विदुषो बादरेर्मतम् ॥

[ "मनसा एतान् कामान् पश्यति" ( छां ८।१२।५ ) यहाँ मनसा' विशेषण पद है, विशेषण अन्य-योग का व्यावर्तक होता है, अतः मन से भिन्न शरीरादि का व्यवच्छेद सिद्ध होता है]। आचार्य जैमिनि ने जो कहा है कि "स एकधा भवति, त्रिधा भवति" ( छां, ७।२६।२ ) इस प्रकार का विकल्प शरीर के बिना असम्भव है—वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वह केवल योग-बल का प्रदर्शन है।

योग-ऋद्धि के द्वारा अनेक अन्तःकरणों का निर्माण अथवा स्तुतिमात्र माना जा सकता है, क्योंकि 'भूमा' तत्त्व निर्गुण है, उसकी उपासना में शरीर-सम्पत्ति सम्भव नहीं, तथापि स्तुति के लिए शरीरादि का सद्भाव अपेक्षित नहीं ॥ १० ॥

**२. पूर्वपक्ष**—

शरीरेन्द्रियभेदे हि नानाभावः समञ्जसः ।
न चार्थसम्भवे युक्तं स्तुतिमात्रमनर्थकम् ॥

केवल मन के भेद ( अनेकत्व ) से वैसा स्फुटतर अनेकधा-भवन सम्पन्न नहीं होता जैसा कि शरीर और इन्द्रियों के भेद से शरीरादि के भेद को लेकर पुराणों का यह कथानक

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्पमामनन्ति । न ह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात् । यद्यपि निर्गुणायां भूमविद्यायामयमनेकधाभावविकल्पः पठ्यते, तथापि विद्यमानमेवेदं सगुणावस्थायामैश्वर्यं भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यत इत्यतः सगुणविद्याफलभावेनोपतिष्ठत इति ॥ ११ ॥

भामती

विविधदेहस्यापर्य्यायेण मान्धातृकन्याभिः पञ्चाशता विहारः पौराणिकैः स्मर्य्यते । न चार्थसम्भवे स्तुतिमात्रमनर्थकमवकल्पते । सम्भवति चास्यार्थवत्त्वम् । यद्यपि निर्गुणायामिदं भौमविद्यायां पठ्यते तथापि तस्याः पुरस्तादनेन सगुणावस्थागतेनैश्वर्येण निर्गुणैव विद्या स्तूयते । न चान्ययोगव्यवच्छेदेनैव विशेषणम् , अयोगव्यवच्छेदेनापि विशेषणात् । यथा - चैत्रो धनुर्धरः । तस्मान्मनःशरीरेन्द्रियवियोग ऐश्वर्यशालिनां नियमेनेति मेने जैमिनिः ॥ ११ ॥

मनसेति केवलमनोविषयां च स एकधा भवति त्रिधा भवतीति शरीरेन्द्रियभेदविषयां च श्रुतिमुपलभ्यानियमवादी खलु बादरायणो नियमवादौ पूर्वयोर्न सहते, द्विविधश्रुत्यनुरोधात् । न चायोगव्यवच्छेदेनैव विधेषु विशेषणमवकल्पते, कामेषु हि रमणं समनस्केन्द्रियेण शरीरेण पुरुषाणां सिद्धमेवेति नास्ति शङ्का मनोयोगस्येति तद्व्यवच्छेदो व्यर्थः सिद्धस्य तु मनोयोगस्य तदन्यपरिसंख्यानेनार्थवत्त्वमवकल्पते । तस्माद्वामेनाक्ष्णा पश्यतीतिवदत्रान्ययोगव्यवच्छेद इति साम्प्रतम् । ॐ द्वादशाहवद् इति ॐ ।

भामती-व्याख्या

उपपन्न होता है कि महर्षि सौभरि अनेक शरीर-धारण कर महाराज मान्धाता की पचासों कन्याओं के साथ एक ही समय रमण करते थे। समय पाकर डेढ़ सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे—"कालेन गच्छता तस्य तासु राजकन्यासु पुत्रशतं सार्द्धमभवत्" ( विष्णुपु. ४।१।११२ )।

शरीरादि-भेद को लेकर जब अनेकधा-भवन उपपन्न हो सकता है, तब उक्त वाक्य को स्तुतिपरक मान कर निरर्थक मानना अनुचित है। यद्यपि निर्गुण भूमा की उपासना में यह अनेकधा भवन पठित है, तथापि उस की सगुणावस्थारूप पूर्वसन्ध्या का यह फल है, जो निर्गुण-विद्या की स्तुति के लिए उसकी फलश्रुति है। यह जो कहा था कि 'मनसा' यह विशेषण अन्य-योग का व्यवच्छेद करता है, वह कहना उचित नहीं, क्योंकि स्वायोग- व्यवच्छेदक पदार्थ को भी विशेषण कहा जाता है, जैसे "चैत्रो धनुर्धर एव"—यहाँ पर धनुर्धरता के अयोग का व्यवच्छेदक 'धनुर्धरः' विशेषण है, अन्य के अयोग का व्यवच्छेदक नहीं अतः ब्रह्मलोकस्थ ऐश्वर्य-सम्पन्न उपासक मन, शरीर और इन्द्रियों से युक्त रहता है—ऐसी महर्षि जैमिनि की मान्यता है ॥ ११ ॥

सिद्धान्त—"मनसैतान् कामान्" ( छां. ८।१२।५ ) इस श्रुति का शरीर और इन्द्रियों की अनेकता में सामञ्जस्य देख कर अनियमवादी भगवान् बादरायण न तो एकधा-वाद को उचित समझते हैं और न अनेकधा-वाद को, अपि तु उभयविध श्रुतियों के अनुरोध पर उभयविधता को मानते हैं, क्योंकि ब्रह्मलोकस्थ जीव योग ऋद्धि से सम्पन्न होने के कारण अपनी इच्छा के अनुसार शरीरी और अशरीरी होता रहता है। ऐसे स्थलों पर 'मनसा'—यह विशेषण स्वायोग ( मन के अयोग ) का व्यवच्छेदक नहीं हो सकता, क्योंकि 'रमते' पद के द्वारा प्रतिपादित रमण ( विषयोपभोग ) मन और इन्द्रियों से युक्त शरीर के द्वारा ही, होता है. अतः मन का अयोग प्रसक्त या सम्भावित ही नहीं, जिसका व्यवच्छेद सनसा' विशेषण के द्वारा किया जाता। परिशेषतः मन से अन्य शरीरादि का व्यवच्छेद करके ही विशेषण पद को वैसे ही सार्थक किया जा सकता है जैसे 'वामेनाक्ष्णा पश्यति' [ बाएँ नेत्र से देखता है ] इस 'विशेषण के द्वारा अन्य योग [ दक्षिण नेत्र रूप अन्य पदार्थ के सम्बन्ध ]

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्यते—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मान्यते, यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति, यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति; सत्यसंकल्पत्वात्। संकल्पवैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति। उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥ १२ ॥

तन्नभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

यदा तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा संध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषयेष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मोक्षेऽपि स्युरेवं ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

भामती

द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदने ।
अहीनत्वं च यजतिचोदने सति गम्यते ॥

द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुरित्युपायिचोदनेन य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्तीति च द्वादशाहस्य सत्रत्वं बहुकर्तृकस्य गम्यते। एवं तस्यैव द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति यजतिचोदनेन नियतकर्तृपरिमाणत्वेन द्विरात्रेण यजेतेत्यादिवदहीनत्वमपि गम्यत इति सम्प्रति शरीरेन्द्रियाभावेन मनोमात्रेण विदुषः स्वप्नवत् सूक्ष्मो भोगो भवति। कुतः ? उपपत्तेः। मनसैतानिति श्रुतेः। यदि पुनः सुषुप्तवदभोगो भवेत्। नैषा श्रुतिरुपपद्येत। न च सशरीरवदुपभोगः, शरीराद्युपादानवैयर्थ्यात्। सशरीरस्य तु पुष्कलो भोग इहाप्यु-

भामती—व्याख्या

की व्यावृत्ति की जाती है।

"द्वादशाहवत्"—

द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदने ।
अहीनत्वं च यजतिचोदने सति गम्यते ॥

'द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः" एवं "य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति" इस प्रकार 'उपायि' (उपपूर्वक इण् गतौ० धातु) तथा 'आसन' (आस् उपवेशने धातु) के द्वारा विहित होने के कारण द्वादशाह' कर्म को सत्र संज्ञा है [ सत्र कर्म में सत्तरह से लेकर चौबीस तक अनियत ऋत्विक् होते हैं। सभी ऋत्विक् कर्म-कर्त्ता (यजमान) माने जाते हैं ]। इसी प्रकार "द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्यादि वाक्यों की घटकीभूत 'यजति' धातु के द्वारा भी उसी कर्म का विधान होता है जिस में कर्त्ता (यजमान) एक ही होता है [ इस विषय का विचार जैमिनि-सूत्र (१०।६।५९, ६०) में किया गया है ]। अहर्गण-साध्य होने के कारण द्वादशाह अहीन कर्म है। जैसे 'द्वादशाह' कर्म उभयात्मक है, वैसे ही ब्रह्मलोकस्थ उपासक शरीर-युक्त भी होता है और शरीर-वियुक्त भी। दोनों रूपों का काल-भेद से समन्वय हो जाता है, अतः किसी प्रकार का विरोध प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि जिस समय शरीर और इन्द्रियों का अभाव है, उस समय उपासक को स्वप्न के समान सूक्ष्म भोग प्राप्त होता है, "मनसैतान"—इस श्रुति की उपपत्ति हो जाती है। यदि सुषुप्त पुरुष के समान उपासक के भोगों का अभाव माना जाता है, तब "मनसैतान्"—यह श्रुति अनुपपन्न हो जाती है। मनोमात्र से वैसा पुष्कल भोग नहीं माना जा सकता जैसा कि सशरीर पुरुष को प्राप्त होता है, अन्यथा शरीर का ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जाता है। फलतः अशरीरी उपासक को सूक्ष्म और अपुष्कल भोग प्राप्त होता है। इस प्रतिज्ञा में भी 'उपपत्तेः'—इस हेतु का अनुषङ्ग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

---

( ६ प्रदीपाधिकरणम् । सू० १५--१६ )

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

'अभावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' ( ब्र० सू० ४।४।११ ) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम् । तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्राणीव सृज्यन्ते, किं वा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा । तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति । एवं

भामती

पपत्तेरित्यनुषंजनीयम् । तदिदमुक्तं सूत्राभ्याम्–तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः । भावे जाग्रद्वदिति ॥१२–१४॥

---

वस्तुतः परमात्मनोऽभिन्नोऽप्ययं विज्ञानात्माऽनाद्यविद्याकल्पितप्रादेशिकान्तःकरणावच्छेदेनानादिजीवभावमापन्नः प्रादेशिकः सन्न देहान्तराणि स्वभावनिर्मितान्यपि नानाप्रदेशवर्त्तीनि सान्तःकरणो युगपदावेष्टुमर्हति । न चात्मान्तरं स्रष्टुमपि सृज्यमानस्य स्रष्टृतिरेकेणानात्मत्वादात्मत्वे वा कर्तृकर्मभावाभावाद्वैवाश्वस्त्वादस्य । नाप्यन्तःकरणान्तरं तत्र सृजन्ति, सृज्यमानस्य तदुपाधित्वाभावात् । अनादिना खल्वन्तःकरणेनोत्पत्तिकेनायमवरुद्धो नेदानीन्तनेनान्तःकरणेनोपाधितया सम्बद्धुमर्हति । तस्माद् यथा दारुयन्त्रं तत्प्रयोक्त्रा चेतनेनाधिष्ठितं सकृदिच्छामनुरुध्यते । एवं निर्माणशरीराण्यपि सेन्द्रियाणीति प्राप्ते

भामती–व्याख्या

कर लेना चाहिए, यही विषय इन दो सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित है–"तन्वभावे (शरीराभावे) सन्ध्यवत् ( स्वप्नवत् सूक्ष्मो भोगः ), उपपत्तेः" । ( शरीरस्य ) भावे जाग्रद्वत् स्थूलो भोगः, उपपत्तेः" ॥ १२–१४ ॥

---

संशय—जैमिनि महर्षि ने जो मुक्त पुरुष को जिन शरीरों का लाभ बताया है, वे शरीर निरात्मक होते हैं ? या सात्मक ?

पूर्वपक्ष—वस्तुतः परमात्मा से जीव अभिन्न है, किन्तु अनादि अविद्या कल्पित प्रादेशिक अन्तःकरण से अवच्छिन्न परमात्मा जीवभाव को प्राप्त होना है, अतः वह प्रादेशिक ( परिच्छिन्न ) होने के कारण सभी शरीरों को युगपत् व्याप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वे स्वभावतः निर्मित होने पर भी विभिन्न और विप्रकृष्ट देशों में अवस्थित हैं । विभिन्न शरीरों में अन्यान्य आत्माओं की उत्पत्ति भी नहीं की जा सकती, क्योंकि उत्पद्यमान आत्माओं को उत्पादक आत्मा से भिन्न मानने पर उन में अनात्मत्व प्रसक्त होता है । उन्हें आत्मा मानने पर कर्तृकर्मभाव सम्भव नहीं, क्योंकि कर्तृत्व और कर्मत्व भिन्न-भिन्न पदार्थों में रहनेवाले धर्म हैं, एक ही आत्मा में क्योंकर रहेंगे ? आत्मा की अपने दूसरे शरीरों में अन्य अन्तःकरणों की सर्जना भी निरर्थक ही है, क्योंकि सृज्यमान अन्तकरण इस जीव की उपाधि नहीं बन सकते, उन में आत्मा का आविर्भाव नहीं हो सकता और न वे अपने धर्मों का प्रत्यारोपण ही आत्मा में कर सकते हैं । इसका कारण यह है कि अनादि अन्तः करण का आत्मा के साथ औत्पत्तिक (अनादि ) सम्बन्ध है, अतः अनादि अन्तः करणरूप उपाधि के द्वारा आत्मा अवरुद्ध ( अवच्छेदित ) है, आधुनिक नवरचित अन्तःकरण आत्मा की उपाधि नहीं बन सकते,

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्ते प्रतिपद्यते प्रदीपवदावेश इति । यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते; विकारशक्तियोगात् , एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति । कुतः ? तथा हि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' ( छा० ७।२६।२ ) इत्यादि । नैतद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते, नापि जीवान्तरावेशे । नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः संभवति । यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासंभव इति,—नैष दोषः, एकमनोऽनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसंकल्पत्वात्स्रक्ष्यति । सृष्टेषु च तेषूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरप्रयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

भामती

प्रत्यभिधीयते—

शरीरत्वं न जातु स्याद्भोगाधिष्ठानतां विना ।
स त्रिधेति शरीरत्वमुक्तं युक्तं च तद्विभौ ॥

स त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधेत्यादिका श्रुतिर्विदुषो नानाभावमाचक्षाणा भिन्नशरीरेन्द्रियोपाधिसम्बन्धेऽवकल्पते । नादेहहेतुभेदे, न हि यन्त्राणि भिन्नानि निर्माय वाहयन्यन्त्रवाहो नानात्वेनापविश्यते । भोगाधिष्ठानत्वञ्च शरीरत्वं नाभोगाधिष्ठानेषु यन्त्रेष्विव युज्यते । तस्माद् देहान्तराणि सृजति । न चाचेतनाधिष्ठितानि देहपक्षे वर्त्तन्ते । न च सर्वगतस्य वस्तुतो विगलितप्रायाविद्यस्य विदुषः पृथग्जनस्येवोत्पत्तिकान्तःकरणवश्यता येन तदौत्पत्तिकमन्तःकरणमागन्तुकान्तःकरणान्तरसम्बन्धमस्य वारयेत् । तस्माद्विद्वान् सर्वस्य वशी सर्वेश्वरः सत्यसङ्कल्पः सेन्द्रियमनांसि शरीराणि निर्माय तानि चैकपदे प्रविश्य तत्तद्विन्द्रियमन्तःकरणैस्तेषु लोकेषु मुक्तो विहरतीति साम्प्रतम् । प्रदीपवदिति तु निदर्शनं प्रदीपैक्यं प्रदीपव्यक्तिषूपचर्य्यते भिन्नवर्त्तिवर्त्तिनीनां भिन्नव्यक्तीनां भेदात् । एवं विद्वान् जीवात्मा-

भामती—व्याख्या

फलतः जैसे कठ-पुतलियाँ सूत्रधार के द्वारा नियन्त्रित और संचालित होती हैं वैसे ही निर्माणशरीर और इन्द्रियाँ चेतन अधिष्ठाता के द्वारा सञ्चालित हैं ।

सिद्धान्त—

शरीरत्वं न जातु स्याद् भोगाधिष्ठानतां विना ।
स त्रिधेति शरीरत्वमुक्तं युक्तं च तद्विभौ ॥

[ किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित पदार्थों को शरीर मानना अनिवार्य हैं, अन्यथा ] "स एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा" ( छां. ७।२६।२ ) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा विभु आत्मा का भेद किस के भेद से सम्पन्न होगा ? देहरूप भूतों के भेद से ही आत्मा का औपाधिक भेद उपपन्न हो सकता है, अदेहरूप भूतों के भेद से नहीं, क्योंकि अनेक दारु-यन्त्रों का निर्माण करके सञ्चालन करनेवाला एक यान्त्रिक अनेक नहीं होता । फलतः आत्मा विविध देहों और इन्द्रियों का निर्माण करता है । जो पदार्थ भोग के साधन न हो कर चेतन के द्वारा केवल अधिष्ठित होते हैं, उन्हें भी देह नहीं कहा जाता । सर्वगत ( विभु ), निखिलोपाधि-विनिर्मुक्त विद्वान् बद्ध जीवों के समान अन्तःकरणरूप उपाधि के वश में नहीं आता कि उपाधि के भेद से वस्तुतः उस का भेद हो जाता । फलतः विद्वान् पुरुष सर्ववशी सर्वेश्वर, सत्यसंकल्प होकर इन्द्रियों और अन्तःकरणों के सहित शरीरों का निर्माण करता है और एक ही समय उन में प्रविष्ट हो कर मुक्तरूपेण विहरण करता है । 'प्रदीपवत्'—यह उदाहरण अनेक प्रदीप व्यक्तियों में सादृश्य-निबन्धन एकत्व का औपचारिक व्यवहार देख कर प्रस्तुत किया गया है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते ? यावता 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५), 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' ( बृ० ४।३।३० ), 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' ( ब्र० ४।३।३२ ) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वाप्ययः सुषुप्तम्, 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' ( छा० ६।८।१) इति श्रुतेः । संपत्तिः कैवल्यम् 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः । तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम् । क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते, क्वचित्कैवल्यावस्थाम् । कथमवगम्यते ? यतस्तत्रैवैतदधिकारवशादाविष्कृतम्—एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' ( बृ० २।४।१४ ), 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' ( बृ० २।४।१४ ), 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' ( बृ० ४।३।१९, माण्डू० ५ ) इत्यादिश्रुतिभ्यः । सगुणविद्याविपाकस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरम् यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, तस्माददोषः ॥ १६ ॥

---

भामती

देहभेदेऽप्येक इति परामर्शार्थः । एकमनोवर्त्तीनीत्येकाभिप्रायवर्त्तीनीत्यर्थः ॥ १५ ॥

सम्पन्नः केवलो मुक्त इत्युच्यते । न चैतस्येत्थम्भावसम्भवः श्रुतिविरोधादित्युक्तमर्थजातमाक्षिपति ❀ कथं पुनर्मुक्तस्य इति ❀ । ❀ सलिल इति ❀ । सलिलमिव सलिलः सलिलप्रातिपदिकात्सर्वप्रातिपदिकेभ्य इत्युपमानादाचारे क्विपि कृते पचाद्यचि च कृते रूपम् । एतदुक्तं भवति— यथा सलिलमम्भोनिधौ प्रक्षिप्तं तदेकीभावमुपयाति, एवं द्रष्टापि ब्रह्मणेति । अत्रोत्तरं सूत्रम्— स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि आसु काश्चिच्छ्रुतयः सुषुप्तिमपेक्ष्य काश्चित्तु सम्पत्तिं, तद्विकारात् । ऐश्वर्यश्रुतयस्तु सगुण-

---

भामती-व्याख्या

क्योंकि विभिन्न वत्तियों में जलनेवाली दीप-शिखाएँ वस्तुतः भिन्न-भिन्न होती हैं, एक नहीं। प्रदीपगत औपचारिक अभिन्नता के समान विद्वान् जीवात्मा की सभी शरीरों में अभिन्नता ही है। "एकमनोवर्तीनि"—इस वाक्य का अर्थ एकाभिप्रायवर्तिनि है [ अर्थात् अन्यान्य शरीरों में जीवात्मा वस्तुतः एक है किन्तु मन अनेक रचे जाते हैं। वे सभी मन आदि मन के समानाभिप्राय के होते हैं, अतः उनका संकल्प-भेद नहीं होने पाता ] ॥ १५ ॥

'सम्पन्न' शब्द का अर्थ है—मुक्त या केवल ( बन्धन-रहित )। वह तो ब्रह्मरूप है, उसमें ऐसा ( अनेकशरीरावेशरूप ) ऐश्वर्य सम्भव नहीं, क्योंकि श्रुतियों का ऐश्वर्यवत्ता में विरोध है, ऐसा आक्षेप किया जाता है—"कथं पुनरुक्तस्य"। "सलिल एको द्रष्टा" (बृह. उ. ४।३।३२ ) इस श्रुति में जो पुँल्लिङ्ग 'सलिल' शब्द है, उसकी व्युत्पत्ति है—"सलिलमिव सलिलः" अर्थात् जल के समान व्यापक आत्मा। 'सलिल' प्रातिपदिक से "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः" इस वार्तिक के द्वारा 'क्विप्' प्रत्यय और "नन्दिग्रहिपचादिभ्यः" इस सूत्र के द्वारा 'अच्' प्रत्यय करने पर वह सम्पन्न हुआ है। आशय यह है कि जैसे सलिल (जल) समुह में डाल देने परएकीभूत हो जाता है, वैसे ही द्रष्टा (जीव) ब्रह्म के साथ मिलकर तद्रूप हो जाता है। व्यापक ब्रह्म शरीर में प्रविष्ट या शरीरावच्छिन्न क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है—"स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि"। भाष्योदाहृत श्रुतियों में कतिपय श्रुतियाँ सुषुप्ति को और कतिपय सम्पत्ति ( मोक्ष ) को लक्ष्य करके प्रवृत्त हुई हैं, क्योंकि वे उसी अधिकार में पठित हैं। ऐश्वर्य-प्रतिपादक श्रुतियाँ सगुण-विद्या की विपाकावस्थाओं को अखिलक्ष्य करती हैं

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ७ जगद्व्यापाराधिकरणम् । सू० १७--२२ )

### जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति, किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः । किं तावत्प्राप्तम् ? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति; 'आप्नोति स्वाराज्यम्' ( तै० १।६।२ ), 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' ( तै० १।५।३ ), 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' ( छा० ७।२५।२,८।१।६ )

---

भामती

विद्याविपाकावस्थापेक्षाः, मुक्त्यभिसन्धानन्तु तदवस्थासत्तेयंथाऽरुणदर्शने सन्ध्यायां दिवसाभिधानम् ॥१६॥

---

स्वाराज्यकामचाराविश्रुतिभ्यः स्यान्निरङ्कुशः ।
स्वकार्ये ईश्वराधीनसिद्धिरप्यत्र साधकः ॥

आप्नोति स्वाराज्यं सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति । सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवतीत्याविश्रुतिभ्यो विदुषः परब्रह्मण इवान्यानधीनत्वमैश्वर्यमवगम्यते । नन्वस्य ब्रह्मोपासनालब्धमैश्वर्यं कथं ब्रह्मानधीनं न तु स्वभावः ? न हि कारणाधीनजन्मानो भावाः स्वकार्ये स्वकारणमपेक्षन्ते । किं त्वत्र ते स्वतन्त्रा एव, यथाहुः—

मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते ॥

न च विदुषां परमेश्वराधीनैश्वर्यसिद्धित्वादूनमैश्वर्यं येन लौकिका इव राजानो महाराजा-

---

भामती—व्याख्या

और वहाँ मोक्षावस्था का अभिधान वैसे ही सन्निधि-प्रयुक्त है, जैसे प्रातः सन्ध्या में अरुणोदय को देख कर दिवस-व्यवहार हो जाता है ॥ १६ ॥

---

संशय—सगुण ब्रह्म की उपासना से जो साधक मन के साथ ही सायुज्य को प्राप्त होते हैं, उनका ऐश्वर्य ( उपासना-सामर्थ्य ) सीमित होता है ? अथवा असीम ?

पूर्वपक्ष—

स्वाराज्यकामचारादिश्रुतिभ्यः स्यान्निरङ्कुशः ।
स्वकार्ये ईश्वराधीनसिद्धिरप्यत्र साधकः ॥

"आप्नोति स्वाराज्यम्" ( तै. उ. १।३।२ ), सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति" ( तै. उ. १।५।३ ), सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ( छां ७।२४।२ ) इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि उपासक स्वर्ग का राज्य पा जाता है, सभी देवता उस की भेट-पूजा करते हैं । वह सभी लोकों में यथेच्छ विहरण करता है । इस से यह स्पष्ट है कि विद्वान् का ऐश्वर्य परब्रह्मके समान ही अन्यानधीन निरंकुश होता है । ब्रह्म की उपासना से प्राप्त ऐश्वर्य ब्रह्म के अधीन क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वस्तु की उत्पत्ति ही कारण कलाप के अधीन होती है, वस्तु की कार्य-सम्पादना ( कार्य-सम्पादन-शक्ति) कारण के अधीन नहीं होती, अपितु वह स्वतन्त्र होती है, जैसा कि श्रीकुमारिल भट्ट का वचन शान्तरक्षित ने उद्धृत किया है—

मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते ॥ ( त. सं. २४५० )

[ घटादि कार्यवर्ग को अपने जन्म (उत्पादन ) में ही मृत्तिका, दण्ड और चक्र आदि कारण-कलाप की अपेक्षा होती है, जलाहरण आदि अपने कार्य के सम्पादन में नहीं ] ।


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादिश्रुतिभ्य इति। एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसन्निहितत्वाच्चेतरेषाम्। परव होश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः; तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात्, नित्यशब्दनिबन्धन-

भामती

धीनाः स्वव्यापारे विद्वांसः परमेश्वराधीना भवेयुर्नं खलु यदधीनोत्पादं यस्य रूपं तत्तद्रूपादूनं भवतीति कश्चिन्नियमः। तत्समानां तदधिकानाञ्च दर्शनात्तथा ह्यन्तेवासी गुर्वधीनविद्यः तत्समस्तदधिको वा दृश्यते। दुष्टसामन्ताश्च पार्थिवाधीनैश्वर्याः पार्थिवान् स्पर्धमानास्तान्विजयमाना वा दृश्यन्ते। तविह निरतिशयैश्वर्य्यत्वात् परमेश्वरस्य मा नाम भूवन् विद्वांसस्ततोऽधिकास्तत्समास्तु भविष्यन्ति। तथा च न तदधीनाः। न हि समप्रधानभावानामस्ति मिथोऽपेक्षा। तदेते स्वतन्त्राः सन्तस्तद्व्यापारे जगत्सर्जनेऽपि प्रवर्त्तेरन्निति प्राप्ते प्रत्यभिधीयते—

नित्यत्वादनपेक्षत्वात् श्रुतेस्तत्प्रक्रमादपि।
ऐकमत्याच्च विदुषां परमेश्वरतन्त्रता॥

जगत्सर्गलक्षणं हि कार्यं कारणैकस्वभावस्यैव हि भवतु आहो कार्यकारणस्वभावस्य। तत्रो-

भामती—व्याख्या

**शंका**—जैसे चक्रवर्ती महाराज के द्वारा अधीनस्थ (माण्डलिक) राजाओं को जो अधिकार प्रदान किया जाता है, उन अधिकारों के कार्यान्वयन में महाराजा की अपेक्षा रहती है, क्योंकि माण्डलिक का अधिकार महाराजा के अधिकार से न्यून ही रहता है। वैसे ही ईश्वर के द्वारा प्रदत्त जीवगत ऐश्वर्य ईश्वर के अधीन क्यों न रहेगा?

**समाधान**—महाराजा के द्वारा प्रदत्त अधिकार न्यून ही होता है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि कहीं-कहीं वह समान और कहीं-कहीं अधिक देखा जाता है, यद्यपि अन्तेवासी (शिष्य) अपने गुरु से विद्या प्राप्त करता है, तथापि किसी-किसी अन्तेवासी की विद्या गुरु की विद्या के समान और कहीं अधिक भी देखी जाती है। महाराजा से ही अधिकार प्राप्त कर के उसके सामन्त ( माण्डलिक या सूबेदार ) अपने को महाराजा से भी अधिक मान कर उस पर चढ़ाई कर के विजय प्राप्त कर लेते हैं किन्तु यहाँ परमेश्वर निरतिशय ऐश्वर्यवान् है, अतः जीव का ऐश्वर्य उस से अधिक नहीं तो समान ही सही। फिर भी वह अन्यानधीन है, क्योंकि समप्रधान पदार्थों में परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं देखी जाती, फलतः ईश्वर और विद्वान् जीव का जब ऐश्वर्य समान है, तब ऐसे जीवगण जगत् की सृष्टि करने में भी प्रवृत्त और सफल हो सकते हैं।

**सिद्धान्त**—

नित्यत्वादनपेक्षत्वात् श्रुतेस्तत्प्रक्रमादपि।
नैकमत्याच्च विदुषां परमेश्वरतन्त्रता॥

[ जगत्सर्जन तो परमेश्वर का ही कार्य है, क्योंकि उस का ऐश्वर्य नित्य एवं निरपेक्ष है, मायिनं तु महेश्वरम्" [ इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर को ही जगत् का स्रष्टा मानती हैं एवं ईश्वर के प्रकरण में ही सृष्टि वर्णित है। सृष्टि-संहार आदि का अधिकार यदि जीवों को प्राप्त होता है, तब उन का ऐकमत्य न होने के कारण कोई सृष्टि करना चाहेगा तो कोई संहार, तब क्या होगा? ]। जगत्सर्जनरूप कार्य तो एक ही कर्त्ता के अधीन होना चाहि। जब कि जीव और ईश्वर—दोनों को जगत् का कारण मानने पर उनमें मूलकारण की जिज्ञासा होती है, तब तो पूर्व-सिद्ध एक परमेश्वा को ही कारण मानना उचित है। जगत्-रचना का सामर्थ्य परमेश्वर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

त्वाच्च । तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते । तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे । समनस्कत्वादेव तेषामनेकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात् । अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्यते, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तम्—'आप्नोति स्वाराज्यम्' ( तै० १।६।२ ) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२ ) इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोतीत्येतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः । श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' ( तै० १।६।२ ) इत्याह । एवमन्यत्रापि यथासंभवं नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

भामती

भयस्वभावस्य स्वोत्पत्तौ मूलकारणापेक्षस्य पूर्वसिद्धः परमेश्वर एव कारणमभ्युपेतव्य इति स एवैकोऽस्तु जगत्कारणम् तस्यैव नित्यत्वेन स्वकारणानपेक्षस्य कल्पसामर्थ्यात् । कल्प्यसामर्थ्यास्तुः जगत्सर्जनं प्रति विद्वांसः । न च जगत्स्रष्टृत्वमेषां श्रूयते, श्रूयते त्वत्रभवतः परमेश्वरस्यैव । तमेव प्रकृत्य सर्वासां तच्छ्रुतीनां प्रवृत्तेः । अपि च समप्रधानानां हि न नियमवदैकमत्यं दृष्टमिति यदेकः सिसृक्षति तदेवेतरः सञ्जिहीर्षतीत्यपर्य्यायेण सृष्टिसंहारौ स्याताम् । न चोभयोरपीश्वरत्वव्याघातादेकस्य तु तदाधिपत्ये तदभिप्रायानुरोधिनां सर्वेषामेकमत्योपपत्तेरदोषः । तत्रागन्तुकानां कारणाधीनजन्मैश्वर्य्याणां गृह्यमाणाविशेषतया समत्वान्नित्यैश्वर्य्यशालिनो गृह्यते तेभ्यो विशेष इति स एव तेषामधीश इति तत्तन्त्रा विद्वांस इति परमेश्वरव्यापारस्य सर्गसंहारस्य नेशते ॥ १७ ॥

पूर्वपक्षिणोऽनुशयबीजमाशङ्क्य निराकरोति—प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।

भामती—व्याख्या

में कल्प्य है किन्तु विद्वान् जीवों में कल्पनीय है । इतना ही नहीं, जीवों में जगद्-रचयितृत्व का प्रतिपादन किसी श्रुति ने नहीं किया, जब कि परमेश्वर के प्रकरण में सभी सृष्टि-श्रुतियाँ पठित हैं । समान सामर्थ्य रखनेवाले जीवों के कार्य-करण में कोई ऐकमत्य नियत नहीं, अतः जब एक जीव की सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) होती है, तब दूसरे जीव की संजिहीर्षा ( संहार करने की इच्छा ) हो सकती है, फलतः एक ही समय सृष्टि और संहार प्रसक्त होते हैं, क्योंकि दोनों का सामर्थ्य अव्याहत है । जब एक परमेश्वर को ही अधिपति माना जाता है, तब उस का शासन अनुल्लङ्घनीय होने के कारण सभी का ऐकमत्य सुलभ हो जाता है । दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर का ऐश्वर्य अनादि एवं विद्वान् जीवों का आगन्तुक है, अतः दोनों (जीव और ईश्वर ) समप्रधान नहीं, अपितु अनादि अनतिशय ऐश्वर्य को लेकर ईश्वर में वैशिष्ट्य निहित है, वही जगत् का मूलकारण एवं सभी जीव उसी के अधीन सिद्ध होते हैं, जतः सृष्टि, संहारादि का कर्तृत्व केवल ईश्वर में पर्यवसित होता है, अतः जगत्कर्तृत्व को छोडकर अन्यविध ऐश्वर्य जीवों में हो सकते हैं ॥ १७ ॥

पूर्वपक्षी का आशय था कि जब "आप्नोति स्वाराज्यम्" (तै. उ. १।६।२) इस श्रुति में विद्वान् पुरुष का 'स्वाराज्य' पद के द्वारा निरङ्कुश स्वातन्त्र्य प्रदान किया गया है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकारावर्तिं च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं, न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाम्नायः–'तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादिः । नच तन्निर्विकारं रूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुम् ; अतत्क्रतुत्वात्तेषाम् । अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्ते, एवं सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती । 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' ( कठ० ५।१५; श्वेता० ६।१४; मुण्ड० २।२।१० ) इति । 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' ( गी० १५।६ ) इति च । तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

---

भामती

यतः परमेश्वराधीनमैश्वर्यं तस्मात्ततो न्यूनमणिमादिमात्रं स्वाराज्यं न तु जगत्स्रष्टृत्वम् । उक्तान्यायात् ॥ १८ ॥

एतावानस्य महिमेति विकारवर्त्ति रूपमुक्तम् । ततो ज्यायांश्चेति निर्विकारं रूपम् । तथा 'पादोऽस्य विश्वा भूतानीति विकारवर्त्ति रूपं त्रिपादस्यामृतं दिवीति निर्विकारमाह रूपम् ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चापरे श्रुतिस्मृती निर्विकारमेव रूपं भगवतस्ते च पठिते । एतदुक्तं भवति—यदि ब्रूषे सगुणे ब्रह्मण्युपास्यमाने यथा तद्गुणस्य निरवग्रहत्वमपि वस्तुतोऽस्तीति निरवग्रहत्वञ्च विदुषा प्राप्तव्य-

---

भामती–व्याख्या

तब वह जगत्सर्जन भी क्यों न कर सकेगा ? इस शंका का अनुवाद कर के निरास किया जाता है–"प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः" अर्थात् प्रकृत सूर्यमण्डलस्थ पुरुष ( परमेश्वर ) के अधीन ही यह स्वाराज्यरूप ऐश्वर्य विद्वान् को प्राप्त कराया गया है, अतः ईश्वर के निरङ्कुश ऐश्वर्य से यह न्यून ऐश्वर्य है, इसके आधार पर जगत्स्रष्टृत्व विद्वान् में नहीं आ सकता, क्योंकि यत्प्रयुक्तं यत्, तस्मात् तन्न्यूनम्"—इस न्याय के अनुसार वह ऐश्वर्य ईश्वरीय ऐश्वर्य के न समान हो सकता है और न अधिक ॥ १८ ॥

"एतावानस्य महिमा" ( छां. ३।१२।६ ) यह ईश्वर का सूर्यमण्डलादि विकारों में अवस्थित रूप प्रदर्शित किया और "ततो ज्यायांश्च पूरुषः" ( छां. ३।१२।६ ) यह निर्विकार रूप है । उसी प्रकार "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" ( छां. ३।१२।६ ) यह विकारवर्तिरूप और "त्रिपादस्यामृतं दिवि" ( छां. ३।११।६ ) यह निर्विकार रूप कहा गया है । जैसे सगुण रूप में अवस्थित उपासक निर्गुण (विकारवर्ति) रूप को नहीं प्राप्त कर सकता, वैसे ही सगुण में अवस्थित निरङ्कुश ऐश्वर्य नहीं प्राप्त कर सकता ॥ १९ ॥

"दर्शयतश्च" अर्थात् अन्य श्रुति और स्मृति दोनों प्रमाण ईश्वर के निर्विकार रूप को प्रदर्शित करते हैं । वे प्रमाण भाष्य में पठित हैं । सारांश यह है कि पूर्वपक्षी का जो कहना है कि विद्वान् सगुण ब्रह्म की उपासना करता है, तब निरवग्रह ऐश्वर्यरूप गुण भी ब्रह्म में वस्तुतः स्थित है । पूर्वपक्षी के इस वक्तव्य का व्यभिचार प्रदर्शित किया जाता है कि जैसे सविकार ब्रह्म का उपासक वस्तुतः ब्रह्म में अवस्थित निर्विकार रूप को नहीं प्राप्त करता, क्योंकि उपासक उस रूप की उपासना ( ध्यान ) नहीं करता । वैसे ही सगुण की उपासना से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतश्च न निरङ्कुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' ( बृ० १।५।२३ ) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्; ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

भामती

मिति तदनेन व्यभिचार्यते । यथा सविकारे ब्रह्मण्युपास्यमाने वस्तुतः स्थितमपि निर्विकाररूपं न प्राप्यते तत्कस्य हेतोरतत्कर्तृत्वादुपासकस्य । तथा तद्गुणोपासनया वस्तुतः स्थितमपि निरवग्रहत्वं नाप्यते, तत्त्वोपासनासु हि पुरुषकर्तृत्वात् । उपासकस्य तदकर्तृत्वञ्च निरवग्रहत्वस्योपासनविध्यगोचरत्वाद्विध्यधीनत्वाच्चोपासनासु पुरुषस्वातन्त्र्याभावात् स्वातन्त्र्ये वा प्रातिभत्वप्रसङ्गाविति ॥ २० ॥

न केवलं स्वाराज्यस्येश्वराधीनतया जगत्सर्जनम् साक्षाद्भोगमात्रेण तेन परमेश्वरेण साम्याभिधानादपि व्यपदेशलिङ्गादिति । भूतान्यवन्ति प्रीणयन्तीति भोजयन्तीति यावत् ॥ २१ ॥

सूत्रान्तरावतारणाय शङ्कते ❀ नन्वेवं सति सातिशयत्वाद् इति ❀ । सह परमेश्वरस्यातिशयेन वर्त्तत इति विदुष ऐश्वर्यं सातिशयम् । यच्च सातिशयं तच्च कार्यं यथा लौकिकमैश्वर्यम् । तदनेन कार्यत्वमुक्तम् । तथा च कार्यत्वादन्तवत्प्राप्तमिति तच्च न युक्तमानन्त्येन तद्विदुषां तत्र प्रवृत्तेरिति । अत

भामती—व्याख्या

वस्तुतः उपास्य में अवस्थित भी निरंकुश ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि पुरुष उपासना में स्वतन्त्र नहीं, अपितु उपासना-विधि के अधीन है, उपासना-विधि "निरङ्कुश-सत्यकामत्वादिगुणकमीश्वरमुपासीत"—ऐसी नहीं, अपितु "सत्यकामत्वादिगुणकमुपासीत"—इतनी ही है। फलतः विधि के अविषयीभूत धर्म की प्राप्ति क्योंकर होगी ? विधि की उपेक्षा करके यदि पुरुष स्वतन्त्र रूपेण उस का उपास्य कक्षा में प्रवेश करता है, तब वह स्वकपोल-कल्पित और अवैध हो जाता है ॥ २० ॥

उक्त ऐश्वर्य केवल ईश्वर के अधीन होने से ही सांकुश ( जगद्व्यापार-वर्जित ) है—ऐसी बात नहीं, अपितु भोग-विषय में ही सीमिताभिधान होने के कारण भी निरंकुश नहीं। [ अर्थात् ब्रह्मलोक में गए विद्वान् के लिए श्रुति कहती है—"तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ"। "स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतानि अवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति। तेन उ एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति" ( बृह. उ. १।५।२३ ) [ ब्रह्मलोक-प्राप्त उपासक को हिरण्यगर्भ कहता है कि अमृतरूप जल का उपभोग मैं करता हूँ, आप भी इसी अमृतमय ( जलमय ) लोक का उपभोग करें ]। इस प्रकार भोग-साम्य को लेकर ही ईश्वर-साम्य प्रतिपादित है, ऐश्वर्य-साम्य को लेकर नहीं। "भूतानि अवन्ति" अर्थात् सभी भूत भोग-प्रदान के द्वारा उपासक की रक्षा करते हैं और उपासकगण अपने उपासन कर्म के द्वारा हिरण्यगर्भ के लोक की ही प्राप्ति नहीं करते, अपितु सायुज्य ( समान शरीर ) प्राप्त कर लेते है ॥ २१ ॥

बाइसवें सूत्र का अवतरण प्रस्तुत किया जाता है—"नन्वेवं सति सातिशयत्वात्"। 'सातिशय' शब्द की व्युत्पत्ति है—'सह परमेश्वरस्यातिशयेन वर्तते'। ऐश्वर्य सातिशय होने से कार्यरूप ( जन्य ) है, क्योंकि 'यत् सातिशयं तत् कार्यं यथा लौकिकमैश्वर्यम्'—ऐसी व्याप्ति है और कार्य होने के कारण अन्तवान् है, अतः ऐश्वर्य की समाप्ति होने पर विद्वान् की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२॥

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति 'यस्मिन्नरश्च ह वै प्यश्चार्णवो ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते ते तं प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः? तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' ( छा० ८।६।६, कठ० ६।१६ ), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' ( बृ० ६।२।१५ ), 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' ( छा० ४।१५।६ ), 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' ( छा० ८।१५।१ ), 'न च पुनरावर्तते' ( छा० ८।१५।१ ) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम् (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र। सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः तदाश्रयणेनैव हि

---

भामती

उत्तरं पठति—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

किमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तानामैश्वर्यस्यान्तवत्त्वं त्वया साध्यते, आहोस्विच्चन्द्रलोकादिवद् ब्रह्मलोकादेतल्लोकप्राप्तिर्मुक्तेरन्तवत्त्वम्? तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे सिद्धसाधनम्। उत्तरत्र तु श्रुतिस्मृतिविरोधः, तद्विधानां च क्रममुक्तिप्रतिपादनादिति। तत्त्वमसिवाक्यार्थैकोपासनापरान् प्रत्याह ॐ सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसाम् इति ॐ। द्विधाविद्यातमः निरुपाधिब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्त्वदर्शनम्। न चेतन्निर्वाणं स्वरूपावस्थानलक्षणं कार्यं येनानित्यं स्यादित्याह ॐ नित्यसिद्ध इति ॐ ॥ २२ ॥

भङ्क्त्वा वाद्यसुरेन्द्रवृन्दमखिलाविद्याप्रधानातिगं
येनाम्नायपयोनिधेर्नयमथा ब्रह्मामृतं प्राप्यते।
सोऽयं शाङ्करभाष्यजातविषयो वाचस्पतेः सादरं
सन्दर्भः परिभाव्यतां सुमतयः स्वार्थेषु को मत्सरः ॥ १ ॥

---

भामती-व्याख्या

इस मनुष्य-लोक में आवृत्ति क्यों न होगी? इस शङ्का का समाधान है—"अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्"। शङ्कावादी से पूछा जा सकता है कि क्या आप 'अर्चिरादि-मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक गए हुए विद्वानों के ऐश्वर्य में अन्तवत्त्व सिद्ध करना चाहते हैं? अथवा चन्द्रलोक के समान ब्रह्मलोक से इस लोक में आने के कारण मुक्ति में अन्तवत्त्व सिद्ध कर रहे हैं? पूर्व कल्प मे सिद्ध-साधनता और द्वितीय कल्प में श्रुतियों और स्मृतियों का विरोध प्रसक्त होता है, क्योंकि ऐसे विद्वानों के लिए क्रम-मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है—"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्" ( ब्र. सू. ४।३।१० )। "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के लक्ष्यार्थभूत निर्गुण ब्रह्म के उपासकों को अभिलक्ष्य करके कहा गया है—"सम्यग्दर्शन विध्वस्ततमसाम्"। 'तमः' शब्द से मूला और तूला द्विविध अविद्या का ग्रहण किया गया है। निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार तत्त्वदर्शन है। यह स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष कार्यरूप नहीं कि अनित्य हो, अत एव कहा गया है—"नित्यसिद्ध"। [ सारांश यह है कि मुमुक्षावान् पूताधिकारियों में जो (३) केवल सन्यासाश्रम-धर्मपरायण हैं, वे ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं, वे विद्या-सम्पन्न नहीं होते, अतः उनका बन्ध-विध्वंस न होने के कारण उनकी ब्रह्मलोक से आवृत्ति होती है। ( २ ) जो सगुण ब्रह्म के उपासक अपनी उपासना के बल पर ब्रह्मलोक जाते हैं, उनका उपासन-फल ब्रह्मलोक यद्यपि क्षयी है, तथापि क्रममुक्ति को ध्यान में रखकर अनावृत्ति का सिद्धान्त स्थिर है। ( ३ ) निर्गुण ब्रह्म-वेत्ताओं की अना-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति । अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-
श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
समाप्तमिदं ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् ॥

---

भामती

अज्ञानसागरं तीर्त्वा ब्रह्मतत्त्वमभीप्सताम् ।
नीतिनौकर्णधारेण मयाऽपूरि मनोरथः ॥ २ ॥
यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः ।
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां निबन्धनैः ॥ ३ ॥
समर्चेषं महत् पुण्यं तत्फलं पुष्कलं मया ।
समर्पितमथैतेन प्रीयतां परमेश्वरः ॥ ४ ॥

---

भामती—व्याख्या

वृत्ति का क्या कहना ? वह तो स्वतः सिद्ध है ] ॥ २२ ॥

[ मन्दराचल के द्वारा समुद्र-मन्थन कर अमृत निकाला गया । देवगणों ने अपने अदम्य पौरुष से असुरों का व्यूह भंग कर अमृत का पान किया और अमर बन गए । यही कथानक यहाँ रूपक के रूप में प्रस्तुत किया गया है—[ सुमतयः ! येनाम्नायपयोनिधेः नयमथा ( सन्दर्भेण ) वाद्यसुरेन्द्रवृन्दं भङ्क्त्वा अखिलाविद्यापिधानातिगं ब्रह्मामृतं प्राप्यते । सोऽयं शाङ्करभाष्यविषयः वाचस्पतेः सन्दर्भः सादरं परिभाव्यताम् । स्वार्थेषु मत्सरः कः ? ] सद्बुद्धि के धनी विद्वानो ! जिस ( भामतीसन्दर्भ ) ने अपनी तीखी युक्तियों के द्वारा दानवेन्द्र ( बृहस्पति ) के समान वादिगणों के व्यूह को भङ्ग करके अपने मीमांसित न्यायरुपी मन्था (मथनी) से वेदरूपी समुद्र का मन्थन कर कारण और कार्यात्मक उभयविध अविद्यावरण-रहित ( अनावृत ) ब्रह्मरूपी अमृत सर्वसुलभ कराया । यह वही ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य का व्याख्यानात्मक वाचस्पति-रचित भामती ग्रन्थ है । इसका सादर अनुशीलन करें । स्वार्थ की सिद्धि जिस साधन से होती हो, उस से द्वेष करना किस काम का ? [ यहाँ (१) आम्नायपयोनिधेर्नयमथा', (२) 'अविद्यापिधानातिगम्', (३) 'येन प्राप्यते' तथा (४) ब्रह्मामृतम्'—इन चारों वाक्यों के द्वारा ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों के क्रमशः (१) समन्वय (·) अविरोध, (३) साधन और (४) फलरूप विषयों का संकलन सूचित किया गया है ] ॥ १ ॥

जो लोग अज्ञानरूपी महासागर को पार करके ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहते हैं, उनका मनोरथ मैं (वाचस्पतिमिश्र) ने नीतिरूपी नौका का कर्णधार (मल्लाह) बन कर पूरा कर दिया है ॥ २ ॥

(१) न्यायकणिका (श्रीमण्डनमिश्र के विधिविवेक की व्याख्या), (२) तत्त्वसमीक्षा (ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या), (३) तत्त्वबिन्दु (भाट्टपक्षीय शाब्दबोध-ग्रन्थ), (४) न्याय-निबन्ध (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका), (५) सांख्य-सन्दर्भ ( सांख्यकारिका की व्याख्या सांख्यतत्त्व-कौमुदी ), (६) योग ग्रन्थ ( योग-भाष्य की व्याख्या तत्त्ववैशारदी ) तथा वेदान्त-निबन्ध (यही भामती) इन ग्रन्थरत्नों के प्रणयन और दान के द्वारा समुपार्जित पुण्य-राशि परमेश्वर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामती

नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्त्तिम् ।
कार्त्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविवक्षणश्च ॥ ५ ॥
नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्त्तुं न च पारयन्ति ।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्त्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ॥ ६ ॥
इति श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिते शङ्करभगवत्पादभाष्यविभागे
भामत्यां चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

---

भामती–व्याख्या

के चरणों में समर्पित की जाती है कि वह हम सब पर प्रसन्न हो ॥ ३-४ ॥

जिस महान् कीर्ति के उपार्जन की बात अन्य नृपतिगण मन से भी नहीं सोच पाए थे, ऐसी कीर्ति महाराज नृग ने अपने केवल भ्रू-क्षेप (एक इशारे) से प्राप्त कर ली कि याचकों पर सुवर्ण-मुद्राओं की अपार वर्षा करके उनकी साध पूरी कर दी । वह नृपति केवल विद्वानों का आश्रयदाता ही नहीं, स्वयं भी महान् विचक्षण है। नरेशगण जिसके समुदार चरित्रों का अनुकरण करना चाहते हैं किन्तु कर नहीं पाते, ऐसे नृपति महान् नृग के शासन-काल में यह भामती निबन्ध रचा गया है ॥ ६ ॥

या श्रुत्यनुगता शक्तिः, यच्छासनमबाधितम् ।
करुणा साधनं तस्याः, दर्शनं परमं फलम् ॥ १ ॥
प्रसन्नं ब्रह्मवद् भाष्यं, माया मत्तेव भामती ।
वेदान्तविश्वमैतावद्, अन्यास्त्वस्यैव दीप्तयः ॥ २ ॥
श्रीरामशर्मापरनामधेयः,
गुरुर्यशस्वान् ऋषिरामपादः ।
सीलोंजनुर्बोधविधानदक्षः,
औदास्यदीक्षां व्यदधान्मदीयाम् ॥ ३ ॥
स्वामिस्वयंप्रकाशादेः, हरनारायणाद् गुरोः ।
अध्यगीषि शब्दब्रह्म व्याकरणं सनैषधम् ॥ ४ ॥
अधीतवान्नवन्यायं वामाचरणशर्मणः ।
मीमांसां पूर्वकाण्डस्य श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिणः ॥ ५ ॥
शेषमशेषमध्यैषि हरिहरकृपालुतः ।
श्रीविश्वनाथकारुण्यात् सप्ताब्दं निरन्तरम् ॥ ६ ॥
वाचस्पतेर्वचांसीव, कर्णधारस्य कस्यचित् ।
परिभाव्यैव सन्तीर्णः, गम्भीरोऽयं महार्णवः ॥ ७ ॥
अद्यापि सन्ति भाष्येऽस्मिन् सुप्रसन्नेऽपि चक्रिकाः ।
यासु केचिन्निमज्जन्ति भास्करश्येव रश्मयः ॥ ८ ॥

परमहंसपरिव्राजकाचार्योदासीनवर्यश्रीमद्ऋषिरामस्वामिशिष्य-
स्वामियोगीन्द्रानन्दविरचिता
भामतीव्याख्या
सम्पूर्णा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थेऽध्याये

अधिकरणानां सूत्राणां च संख्या

| पादसं० | १ | २ | ३ | ४ | योगः |
|---|---|---|---|---|---|
| अधिकरणसं | १४ | ११ | ६ | ७ | ३८ |
| सूत्रसं० | १९ | २१ | १६ | २२ | ७८ |

———

समग्रे ग्रन्थेऽस्मिन्

अधिकरणानां सूत्राणां च संख्या

| अध्यायसं० | १ | २ | ३ | ४ | योगः |
|---|---|---|---|---|---|
| अधिकरणसं० | ३६ | ४७ | ६७ | ३८ | १९१ |
| सूत्रसं० | १३४ | १५७ | १८६ | ७८ | ५५५ |

———


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

अविनयमपनय विष्णो ! दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥ १ ॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥ २ ॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥ ३ ॥
उद्धृतवग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे ।
दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः ॥ ४ ॥
मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवताऽवता सदा वसुधाम् ।
परमेश्वर ! परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम् ॥ ५ ॥
दामोदर ! गुणमन्दिर ! सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द !
भवजलधिमथनमन्दर ! परमं दरमपनय त्वं मे ॥ ६ ॥
नारायण ! करुणामय ! शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ।
इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु ॥ ७ ॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

# परिशिष्टानि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

( १ )

## ऋषिनामघटितानि सूत्राणि

१. आत्रेयः— (१) स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः

२. आश्मरथ्यः—(१) प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः

३. औडुलोमिः—(१) आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै परिक्रीयते
(२) उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः
(३) विति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः

४. काष्णाजिनिः—(१) चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्णाजिनिः

५. काशकृत्स्नः—(१) अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः

६. जैमिनिः— (१) अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके
(२) तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः
(३) धर्मं जैमिनिरत एव
(४) परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्
(५) परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि
(६) ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः
(७) मध्यादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः
(८) शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः
(९) सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति
(१०) साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः

७. बादरायणः—(१) अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्
(२) अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः
(३) एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः
(४) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्
(५) द्वादशाहवदुभयं बादरायणोऽतः
(६) पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः
(७) पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्
(८) अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च
(९) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि

८. बादरिः— (१) अनुस्मृतेर्बादरिः
(२) अभावं बादरिराह ह्येवम्
(३) सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

( २ )

# बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमः ।

| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा. | २ | ३ | ४३ |
| अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि | २ | ४ | ११ |
| अक्षरधियां त्ववरोधः सामा. | ३ | ३ | ३३ |
| अक्षरमम्बरान्तधृतेः | १ | ३ | १० |
| अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव. | ४ | १ | १६ |
| अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न | ३ | १ | ४ |
| अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि | ३ | ३ | ५५ |
| अङ्गित्वानुपपत्तेश्च | २ | २ | ८ |
| अङ्गेषु यथाश्रयभावः | ३ | ३ | ६१ |
| अचलत्वं चापेक्ष्य | ४ | १ | ९ |
| अणवश्च | २ | ४ | ७ |
| अणुश्च | २ | ४ | १३ |
| अत एव च नित्यत्वम् | १ | ३ | २९ |
| अत एव च सर्वाण्यनु | ४ | २ | २ |
| अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा | ३ | ४ | २५ |
| अत एव चानन्याधिपतिः | ४ | ४ | ९ |
| अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् | ३ | २ | १८ |
| अत एव न देवता भूतं च | १ | २ | २७ |
| अत एव प्राणः | १ | १ | २३ |
| अतः प्रबोधोऽस्मात् | ३ | २ | ८ |
| अतश्चायनेऽपि दक्षिणे | ४ | २ | २० |
| अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च | ३ | ४ | ३९ |
| अतिदेशाच्च | ३ | ३ | ४६ |
| अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् | ३ | २ | २६ |
| अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः | ४ | १ | १७ |
| अत्ता चराचरग्रहणात् | १ | २ | ९ |
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा | १ | १ | १ |
| अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः | १ | २ | २१ |
| अदृष्टानियमात् | २ | ३ | ५१ |
| अधिकं तु भेदनिर्देशात् | २ | १ | २२ |
| अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्य | ३ | ४ | ८ |
| अधिष्ठानानुपपत्तेश्च | २ | २ | ३९ |
| अध्ययनमात्रवतः | ३ | ४ | १२ |

| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| अनभिभवं च दर्शयति | ३ | ४ | ३५ |
| अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः | १ | २ | १७ |
| अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे. | ४ | १ | १५ |
| अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् | ३ | ४ | ५० |
| अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः | ४ | ४ | २२ |
| अनियमः सर्वासामविरोधः | ३ | ३ | ३१ |
| अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतं. | ३ | १ | १२ |
| अनुकृतेस्तस्य च | १ | ३ | २२ |
| अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धात् | २ | १ | ४८ |
| अनुपपत्तेस्तु न शारीरः | १ | २ | ३ |
| अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृ. | ३ | ३ | ५० |
| अनुष्ठेयं बादरायणः साम्य. | ३ | ४ | १९ |
| अनुस्मृतेर्बादरिः | १ | २ | ३० |
| अनुस्मृतेश्च | २ | २ | २५ |
| अनेन सर्वगतत्वमायाम. | ३ | २ | ३७ |
| अन्तर उपपत्तेः | १ | २ | १३ |
| अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः | ३ | ४ | ३६ |
| अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः | ३ | ३ | ३५ |
| अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण | २ | ३ | १५ |
| अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्य. | १ | २ | १८ |
| अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा | २ | २ | ४१ |
| अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् | १ | १ | २० |
| अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वा. | २ | २ | ३६ |
| अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् | २ | २ | ५ |
| अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्ना. | ३ | ३ | ६ |
| अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवि. | २ | २ | ६ |
| अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चे. | १ | ३ | ३६ |
| अन्यभावव्यावृत्तेश्च | १ | ३ | १२ |
| अन्यथाधिष्ठितेषु पूर्ववदभिला. | ३ | १ | २४ |
| अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्न. | १ | ४ | १८ |
| अन्यार्थश्च परामर्शः | १ | ३ | २० |
| अन्वयादिति चेत्स्यादवधार. | ३ | ३ | १७ |
| अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा | २ | २ | १७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| अपि च सप्त | ३ | १ | १५ |
| अपि च स्मर्यते | १ | ३ | २३ |
| ,, ,, | २ | ३ | ४५ |
| ,, ,, | ३ | ४ | ३० |
| ,, ,, | ३ | ४ | ३७ |
| अपि चैनमेके | ३ | २ | १३ |
| अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमाना. | ३ | २ | २४ |
| अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् | २ | १ | ८ |
| अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बा. | ४ | ३ | १५ |
| अबाधाच्च | ३ | ४ | २९ |
| अभावं बादरिराह ह्येवम् | ४ | ४ | १० |
| अभिध्योपदेशाच्च | १ | ४ | २४ |
| अभिमानिव्यपदेशस्तु विशे. | २ | १ | ५ |
| अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः | १ | २ | २९ |
| अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् | २ | ३ | ५२ |
| अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् | २ | २ | ६ |
| अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् | ३ | २ | १९ |
| अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् | ३ | २ | १४ |
| अर्चिरादिना तत्प्रथितेः | ४ | ३ | १ |
| अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च | १ | ३ | ७ |
| अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् | १ | ३ | २१ |
| अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्ना. | २ | ३ | २४ |
| अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः | १ | ४ | २२ |
| अविभागेन दृष्टत्वात् | ४ | ४ | ४ |
| अविभागो वचनात् | ४ | २ | १६ |
| अविरोधश्चन्दनवत् | २ | ३ | २३ |
| अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् | ३ | १ | २५ |
| अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः | २ | १ | २३ |
| अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिका. | ३ | १ | ६ |
| असति प्रतिज्ञोपरोधो यौग. | १ | २ | २१ |
| असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्र. | २ | १ | ७ |
| असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मा. | २ | १ | १७ |
| असंततेश्चाव्यतिकरः | २ | ३ | ४९ |
| असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः | २ | ३ | ९ |
| असार्वत्रिकी | ३ | ४ | १० |
| अस्ति तु | २ | ३ | २ |
| अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति | १ | १ | १९ |
| अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा | ४ | २ | ११ |

आ.

| | | | |
|---|---|---|---|
| आकाशस्तल्लिङ्गात् | १ | १ | २२ |
| आकाशे चाविशेषात् | २ | २ | २४ |
| आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदे. | १ | ३ | ४१ |
| आचारदर्शनात् | ३ | ४ | ३ |
| आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् | ४ | ३ | ४ |
| आत्मकृतेः परिणामात् | १ | ४ | २६ |
| आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् | ३ | ३ | १६ |
| आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि | २ | १ | २८ |
| आत्मशब्दाच्च | ३ | ३ | १५ |
| आत्मा प्रकरणात् | ४ | ४ | ३ |
| आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह. | ४ | १ | ३ |
| आदरादलोपः | ३ | ३ | ४० |
| आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः | ४ | १ | ६ |
| आधानाय प्रयोजनाभावात् | ३ | ३ | १४ |
| आनन्दमयोऽभ्यासात् | १ | १ | १२ |
| आनन्दादयः प्रधानस्य | ३ | ३ | ११ |
| आनर्थक्यमिति चेन्न तदपे. | ३ | १ | १० |
| आनुमानिकमप्येकेषामिति | १ | ४ | १ |
| आपः | २ | ३ | ११ |
| आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् | ४ | १ | १२ |
| आभास एव च | २ | ३ | ५० |
| आमनन्ति चैनमस्मिन् | १ | २ | ३२ |
| आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि | ३ | ४ | ४५ |
| आवृत्तिरसकृदुपदेशात् | ४ | १ | १ |
| आसीनः संभवात् | ४ | १ | ७ |
| आह च तन्मात्रम् | ३ | २ | १६ |

इ.

| | | | |
|---|---|---|---|
| इतरपरामर्शात्स इति चेन्ना. | १ | ३ | १८ |
| इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादि. | २ | १ | २१ |
| इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते | ४ | १ | १४ |
| इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नो. | २ | २ | १९ |
| इतरे त्वर्थसामान्यात् | ३ | ३ | १३ |
| इतरेषां चानुपलब्धेः | २ | १ | २ |
| इयदामननात् | ३ | ३ | ३४ |

ई.

| | | | |
|---|---|---|---|
| ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सा | १ | ३ | १३ |
| ईक्षतेर्नाशब्दम् | १ | १ | ५ |

उ.

| | | | |
|---|---|---|---|
| उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौ. | १ | ४ | २१ |
| उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् | २ | ३ | १ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु | १ | ३ | १९ |
| उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् | २ | २ | २० |
| उत्पत्त्यसंभवात् | २ | २ | ४२ |
| उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः | २ | २ | २७ |
| उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभय. | १ | १ | २७ |
| उपपत्तेश्च | ३ | २ | ३५ |
| उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च | २ | १ | ३६ |
| उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेः | ३ | ३ | ३० |
| उपपूर्वमपि त्वेके भावमशन. | ३ | ४ | ४२ |
| उपमर्दं च | ३ | ४ | १६ |
| उपलब्धिवदनियमः | २ | ३ | ३७ |
| उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न | २ | १ | २४ |
| उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेष. | ३ | ३ | ५ |
| उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् | ३ | ३ | ४१ |
| उपादानात् | ३ | ३ | ३५ |
| उभयथा च दोषात् | २ | २ | १६ |
| ,, ,, | २ | २ | २३ |
| उभयथापि न कर्मातस्त | २ | २ | १२ |
| उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् | ३ | २ | २७ |
| उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः | ४ | ३ | ५ |
| **ऊ.** | | | |
| ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि | ३ | ४ | १७ |
| **ए.** | | | |
| एक आत्मनः शरीरे भावात् | ३ | ३ | ५३ |
| एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः | २ | ३ | ८ |
| एतेन योगः प्रत्युक्तः | २ | १ | ३ |
| एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि | २ | १ | १२ |
| एतेन सर्वे व्याख्याताः | १ | ४ | २८ |
| एवं चात्मा कात्स्न्र्यम् | २ | २ | ३४ |
| एवं मुक्तिफलानियमस्तदव. | ३ | ४ | ५२ |
| एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावाद. | ४ | ४ | ७ |
| **ऐ.** | | | |
| ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे त. | ३ | ४ | ५१ |
| **क.** | | | |
| कम्पनात् | १ | ३ | ३९ |
| करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः | २ | २ | ४० |
| कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् | २ | ३ | ३३ |
| कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च | १ | २ | ४ |
| कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद | १ | ४ | १० |
| कामकारेण चैके | ३ | ४ | १५ |
| कामाच्च नानुमानापेक्षा | १ | १ | १८ |
| कामादीतरत्र तत्र चायत. | ३ | ३ | ३९ |
| काम्यास्तु यथाकामं समुच्ची. | ३ | ३ | ६० |
| कारणत्वेन चाकाशादिषु | १ | ४ | १४ |
| कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः | ४ | ३ | ७ |
| कार्याख्यानादपूर्वम् | ३ | ३ | १८ |
| कार्यात्यये तदध्यक्षेण | ४ | ३ | १० |
| कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित. | २ | ३ | ४२ |
| कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृ | ३ | १ | ८ |
| कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द. | २ | १ | २६ |
| कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः | ३ | ४ | ४८ |
| क्षणिकत्वाच्च | २ | २ | ३१ |
| क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररः | १ | ३ | ३५ |
| **ग.** | | | |
| गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं | १ | ३ | १५ |
| गतिसामान्यात् | १ | १ | १० |
| गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि. | १ | १ | २९ |
| गुणसाधारण्यश्रुतेश्च | ३ | ३ | ६४ |
| गुणाद्वा लोकवत् | २ | ३ | २५ |
| गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि त. | १ | २ | ११ |
| गौणश्चेन्नात्मशब्दात् | १ | १ | ६ |
| गौण्यसंभवात् | २ | ३ | ३ |
| ,, ,, | २ | ४ | ४ |
| **च.** | | | |
| चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्या | २ | ४ | १० |
| चमसवदविशेषात् | १ | ४ | ८ |
| चरणादिति चेन्नोपलक्षणा. | ३ | १ | ९ |
| चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्य. | २ | ३ | १६ |
| चितितन्मात्रेण तदात्मक. | ४ | ४ | ६ |
| **छ.** | | | |
| छन्दत उभयाविरोधात् | ३ | ३ | २८ |
| छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा | १ | १ | २५ |
| **ज.** | | | |
| जगद्वाचित्वात् | १ | ४ | १६ |
| जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसं. | ४ | ४ | १७ |
| जन्माद्यस्य यतः | १ | १ | २ |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चे. | १ | १ | ३१ |
| ,, ,, ,, | १ | ४ | १७ |
| ज्ञेयत्वावचनाच्च | १ | ४ | ४ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| ज्ञोऽत एव | २ | ३ | १८ |
| ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदाम. | २ | ४ | १४ |
| ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीय. | १ | ४ | ९ |
| ज्योतिर्दर्शनात् | १ | ३ | ४० |
| ज्योतिश्चरणाभिधानात् | १ | १ | २४ |
| ज्योतिषि भावाच्च | १ | ३ | ३२ |
| ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने | १ | ४ | १३ |
| **त.** | | | |
| त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्य. | २ | ४ | १७ |
| तच्छ्रुतेः | ३ | ४ | ४ |
| तडित्तोऽधि वरुणः संबन्धात् | ४ | ३ | ३ |
| तत्तु समन्वयात् | १ | १ | ४ |
| तत्पूर्वकत्वाद्वाचः | २ | ४ | ४ |
| तत्प्राक्श्रुतेश्च | २ | ४ | ३ |
| तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः | ३ | १ | १६ |
| तथा च दर्शयति | २ | ३ | २७ |
| तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् | ३ | ४ | २४ |
| तथाऽन्यप्रतिषेधात् | ३ | २ | ३६ |
| तथा प्राणाः | २ | ४ | १ |
| तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोर. | ४ | १ | १३ |
| तदधीनत्वादर्थवत् | १ | ४ | ३ |
| तदनन्यत्वमारम्भणशब्दा. | २ | १ | १४ |
| तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संप. | ३ | १ | १ |
| तदभावनिर्धारणे च | १ | ३ | ३७ |
| तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरा. | ३ | ३ | ७ |
| तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः | २ | ३ | १३ |
| तदव्यक्तमाह हि | ३ | २ | २३ |
| तदाऽऽपीतेः संसारव्यपदेशात् | ४ | २ | ८ |
| तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् | १ | ३ | २६ |
| तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशित. | ४ | २ | १७ |
| तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः | २ | ३ | २९ |
| तद्धेतुव्यपदेशाच्च | १ | १ | १४ |
| तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिने. | ३ | ४ | ४० |
| तद्वतो विधानात् | ३ | ४ | ६ |
| तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथ. | ३ | ३ | ४२ |
| तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् | १ | १ | ७ |
| तन्मनः प्राण उत्तरात् | ४ | २ | ३ |
| तत्त्वभावे संध्यवदुपपत्तेः | ४ | ४ | १३ |

| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयः | २ | १ | ११ |
| तस्य च नित्यत्वात् | २ | ४ | १६ |
| तानि परे तथा ह्याह | ४ | २ | १५ |
| तुल्यं तु दर्शनम् | ३ | ४ | ६ |
| तृतीयशब्दावरोधः संशोक | ३ | १ | २१ |
| तेजोऽतस्तथा ह्याह | २ | ३ | १० |
| त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्र. | १ | ४ | ६ |
| त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् | ३ | १ | २ |
| **द.** | | | |
| दर्शनाच्च | ३ | १ | २० |
| ,, | ३ | २ | २१ |
| ,, | ३ | ३ | ४८ |
| ,, | ३ | ३ | ६६ |
| ,, | ४ | ३ | १३ |
| दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने | ४ | ४ | २० |
| दर्शयति च | ३ | ३ | ४ |
| ,, ,, | ३ | ३ | २२ |
| दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते | ३ | २ | १७ |
| दहर उत्तरेभ्यः | १ | ३ | १४ |
| दृश्यते तु | २ | १ | ६ |
| देवादिवदपि लोके | २ | १ | २५ |
| देहयोगाद्वा सोऽपि | ३ | २ | ६ |
| द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् | १ | ३ | १ |
| द्वादशाहवदुभयविधं बादरा. | ४ | ४ | १२ |
| **ध.** | | | |
| धर्मं जैमिनिरत एव | ३ | २ | ४० |
| धर्मोपपत्तेश्च | १ | ३ | ९ |
| धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपल | १ | ३ | १६ |
| ध्यानाच्च | ४ | १ | ८ |
| **न.** | | | |
| न कर्माविभागादिति चेन्नाना. | २ | १ | ३५ |
| न च कर्तुः करणम् | २ | २ | ४३ |
| न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः | ४ | ३ | १४ |
| न च पर्यायादप्यविरोधो वि. | २ | २ | ३५ |
| न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापा. | १ | २ | १९ |
| न चाधिकारिकमपि पतनानु. | ३ | ४ | ४१ |
| न तु दृष्टान्तभावात् | २ | १ | ९ |
| न तृतीये तथोपलब्धेः | ३ | १ | १८ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| न प्रतीकेन हि सः | ४ | १ | ४ |
| न प्रयोजनवत्त्वात् | २ | १ | ३२ |
| न भावोऽनुपलब्धेः | २ | २ | ३० |
| न भेदादिति चेन्न प्रत्येकम् | ३ | २ | १२ |
| न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेत् . | १ | १ | २९ |
| न वा तत्सहभावाश्रुतेः | ३ | ३ | ६५ |
| न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयः | ३ | ३ | ७ |
| न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् | २ | ४ | ९ |
| न वा विशेषात् | ३ | ३ | ११ |
| न वियदश्रुतेः | २ | ३ | १ |
| न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं. | २ | १ | ४ |
| न संख्योपसंग्रहादपि नाना. | १ | ४ | ११ |
| न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्यु. | ३ | ३ | ५१ |
| न स्थानतोऽपि परस्योभयलि. | ३ | २ | ११ |
| नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतरा. | २ | ३ | २१ |
| नातिचिरेण विशेषात् | ३ | १ | २३ |
| नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ता | २ | ३ | १७ |
| नाना शब्दादिभेदात् | ३ | ३ | ५८ |
| नानुमानमतच्छब्दात् | १ | ३ | ३ |
| नाभाव उपलब्धेः | २ | २ | २८ |
| नाविशेषात् | ३ | ४ | १३ |
| नासतोऽदृष्टत्वात् | २ | २ | २६ |
| नित्यमेव च भावात् | २ | २ | १४ |
| नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो. | २ | ३ | ३२ |
| नियमाच्च | ३ | ४ | ७ |
| निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च | ३ | २ | २ |
| निशि नेति चेन्न संबन्धस्य. | ४ | २ | १९ |
| नेतरोऽनुपपत्तेः | १ | १ | १६ |
| नैकस्मिन्दर्शयतो हि | ४ | २ | ६ |
| नैकस्मिन्नसंभवात् | २ | २ | ३३ |
| नोपमर्देनातः | ४ | २ | १० |

**प.**

| | | | |
|---|---|---|---|
| पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते | २ | ४ | १२ |
| पटवच्च | २ | १ | १९ |
| पत्यादिशब्देभ्यः | १ | ३ | ४३ |
| पत्युरसामञ्जस्यात् | २ | २ | ३७ |
| पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि | २ | २ | ३ |
| परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् | ४ | ३ | १२ |

| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| परमतः सेतून्मानसंबन्धभेद. | ३ | २ | ३१ |
| परात्तु तच्छ्रुतेः | २ | ३ | ४१ |
| पराभिध्यानात्तु तिरोहितं | ३ | २ | ५ |
| परामर्शं जैमिनिरचोदना चा. | १ | ४ | १८ |
| परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं | ३ | ३ | ५२ |
| पारिप्लवार्था इति चेन्न | ३ | ४ | २३ |
| पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभि. | २ | ३ | ३१ |
| पुरुषविद्यायामिव चेतरेषाम् | ३ | १ | २४ |
| पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बा. | ३ | ४ | १ |
| पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि | २ | २ | ७ |
| पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यप. | ३ | २ | ४१ |
| पूर्ववद्वा | ३ | २ | २९ |
| पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्. | ३ | ३ | ४५ |
| पृथगुपदेशात् | २ | ३ | २८ |
| पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्त. | २ | ३ | १२ |
| प्रकरणाच्च | १ | २ | १० |
| प्रकरणात् | १ | ३ | ६ |
| प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् | ३ | २ | १५ |
| प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं. | ३ | २ | २५ |
| प्रकाशादिवन्नैवं परः | २ | ३ | ४६ |
| प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् | ३ | २ | २८ |
| प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुप. | १ | ४ | २३ |
| प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति. | ३ | २ | २२ |
| प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः | १ | ४ | २० |
| प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छ. | २ | ३ | ६ |
| प्रतिषेधाच्च | ३ | २ | ३० |
| प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् | ४ | २ | १२ |
| प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधा. | २ | २ | २२ |
| प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधि. | ४ | ४ | १८ |
| प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता ए. | ३ | १ | ५ |
| प्रदानवदेव तदुक्तम् | ३ | ३ | ४३ |
| प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्श. | ४ | ४ | १५ |
| प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् | २ | ३ | ५३ |
| प्रवृत्तेश्च | २ | २ | २ |
| प्रसिद्धेश्च | १ | ३ | १७ |
| प्राणगतेश्च | ३ | १ | ३ |
| प्राणभृच्च | १ | ३ | ४ |
| प्राणवता शब्दात् | २ | ४ | १५ |
| प्राणस्तथाऽनुगमात् | १ | १ | २८ |



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| प्राणादयो वाक्यशेषात् | १ | ४ | १२ |
| प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचया. | १ | ३ | १२ |
| **फ.** | | | |
| फलमत उपपत्तेः | ३ | २ | १८ |
| **ब.** | | | |
| बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेरा. | ३ | ४ | ४३ |
| बुद्धचर्थः पादवत् | ३ | २ | ३३ |
| ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् | ४ | १ | ५ |
| ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादि. | ४ | ४ | ५ |
| **भ.** | | | |
| भाक्तं वा नात्मवित्त्वात्तथा | ३ | १ | ७ |
| भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् | ४ | ४ | ११ |
| भावं तु बादरायणोऽस्ति हि | १ | ३ | ३३ |
| भावशब्दाच्च | ३ | ४ | २२ |
| भावे चोपलब्धेः | २ | १ | १५ |
| भावे जाग्रद्वत् | ४ | ४ | १४ |
| भूतादिपादव्यपदेशोपपत्ते. | १ | १ | २६ |
| भूतेषु तच्छ्रुतेः | ४ | २ | ५ |
| भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् | १ | ३ | ८ |
| भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि | ३ | ३ | ५७ |
| भेदव्यपदेशाच्च | १ | १ | १७ |
| भेदव्यपदेशाच्चान्यः | १ | १ | २१ |
| भेदव्यपदेशात् | १ | ३ | ५ |
| भेदश्रुतेः | २ | ४ | १८ |
| भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि | ४ | ३ | २ |
| भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोक | २ | १ | १३ |
| भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च | ४ | ४ | २१ |
| भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सं. | ४ | १ | १९ |
| **म.** | | | |
| मध्यादिष्वसंभवादनधिकारं | १ | ३ | ३१ |
| मन्त्रवर्णाच्च | २ | ३ | ४४ |
| मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः | ३ | ३ | ५६ |
| महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डला. | २ | २ | ११ |
| महद्वच्च | १ | ४ | ७ |
| मांसादि भौमं यथाशब्दमित. | २ | ४ | २१ |
| मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते | १ | १ | १५ |
| मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनना. | ३ | २ | ३ |
| मुक्तः प्रतिज्ञानात् | ४ | ४ | १ |

| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् | १ | ३ | २ |
| मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् | ३ | २ | १० |
| मौनवदितरेषामप्युपदेशात् | ३ | ४ | ४९ |
| **य.** | | | |
| यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् | ४ | १ | ११ |
| यथा च तक्षोभयथा | २ | ३ | ४० |
| यथा च प्राणादि | २ | १ | २० |
| यदेव विद्ययेति हि | ४ | १ | १८ |
| यावदधिकारमवस्थितिराधि | ३ | ३ | ३२ |
| यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः | २ | ३ | ३० |
| यावद्विकरं तु विभागो लोकवत् | २ | ३ | ७ |
| युक्तेः शब्दान्तराच्च | २ | १ | १८ |
| योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते | ४ | २ | २१ |
| योनिश्च हि गीयते | १ | ४ | २७ |
| योनेः शरीरम् | ३ | १ | २७ |
| **र.** | | | |
| रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् | २ | २ | १ |
| रश्म्यनुसारी | ४ | २ | १८ |
| रूपादिमत्त्वाच्च | २ | २ | १५ |
| रूपोपन्यासाच्च | १ | २ | २३ |
| रेतःसिग्योगोऽथ | ३ | १ | २३ |
| **ल.** | | | |
| लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयः | ३ | ३ | ४४ |
| लिङ्गाच्च | ४ | १ | २ |
| लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् | २ | १ | ३३ |
| **व.** | | | |
| वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रक | १ | ४ | ५ |
| वाक्यान्वयात् | १ | ४ | १९ |
| वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च | ४ | २ | १ |
| वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्यां. | ४ | ३ | २ |
| विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् | २ | १ | ३१ |
| विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् | ३ | ३ | ५९ |
| विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचु. | १ | १ | १३ |
| विकारावर्ति च तथा हि स्थि. | ४ | ४ | १९ |
| विज्ञानादिभावे वा तदप्रति. | २ | २ | ४४ |
| विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वा. | ३ | १ | १७ |
| विद्यैव तु निर्धारणात् | ३ | ३ | ४७ |
| विधिर्वा धारणवत् | ३ | ४ | २० |

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by eGangotri


| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपप. | २ | ३ | १४ |
| विप्रतिषेधाच्च | २ | २ | ४५ |
| विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् | २ | २ | १० |
| विभागः शतवत् | ३ | ४ | ११ |
| विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक, | १ | ३ | २७ |
| विवक्षितगुणोपपत्तेश्च | १ | २ | २ |
| विशेषं च दर्शयति | ४ | ३ | १६ |
| विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां | १ | २ | २२ |
| दिशेषणाच्च | १ | २ | १२ |
| विशेषानुग्रहश्च | ३ | ४ | ३८ |
| विशेषितत्वाच्च | ४ | ३ | ८ |
| विहारोपदेशात् | १ | ३ | ३४ |
| विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि | ३ | ४ | ३२ |
| वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावात् | ३ | २ | २० |
| वेद्याद्यर्थभेदात् | ३ | ३ | २५ |
| वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः | ४ | ३ | ६ |
| वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् | २ | १ | २९ |
| वैलक्षण्याच्च | २ | ४ | १९ |
| वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः | २ | ४ | २२ |
| वैश्वानरः साधारणशब्दविशे. | १ | २ | २४ |
| वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् | २ | १ | ३४ |
| व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न. | ३ | ३ | ५४ |
| व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्ष. | २ | २ | ४ |
| व्यतिरेको गन्धवत् | २ | ३ | २६ |
| व्यतिहारो विशिषन्ति हीतर. | ३ | ३ | ३७ |
| व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेत् | २ | ३ | ३६ |
| व्याप्तेश्च समञ्जसम् | ३ | ३ | ९ |
| **श.** | | | |
| शक्तिविपर्ययात् | २ | ३ | ३८ |
| शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्. | १ | ३ | २८ |
| शब्दविशेषात् | १ | २ | ५ |
| शब्दश्चातोऽकामकारे | ३ | ४ | ३१ |
| शब्दाच्च | २ | ३ | ४ |
| शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च | १ | २ | २६ |
| शब्दादेव प्रमितः | १ | ३ | २४ |
| शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि. | १ | ४ | ३७ |
| शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनं. | १ | २ | २० |
| शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदे. | १ | १ | ३० |
| शास्त्रयोनित्वात् | १ | १ | ३ |
| शिष्टेश्च | ३ | ३ | ६२ |
| शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा. | १ | ३ | ३४ |
| शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथा. | ३ | ४ | २ |
| श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृ. | १ | ३ | ३८ |
| श्रुतत्वाच्च | १ | १ | ११ |
| ,, | ३ | २ | ३९ |
| श्रुतेश्च | ३ | ४ | ४६ |
| श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् | २ | १ | २७ |
| श्रुतीपनिषत्कगत्यभिधानाच्च | १ | २ | १६ |
| श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः | ३ | ३ | ४९ |
| श्रेष्ठश्च | २ | ४ | ८ |
| **स.** | | | |
| संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः | ४ | ४ | ८ |
| संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि | ३ | ३ | ८ |
| संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वतः | २ | ४ | २० |
| संख्ये सृष्टिराह हि | ३ | २ | १ |
| संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि | १ | २ | ३१ |
| संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् | ४ | ४ | १ |
| संबन्धादेवमन्यत्रापि | ३ | ३ | २० |
| संबन्धानुपपत्तेश्च | २ | २ | ३८ |
| संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः | ३ | ३ | २३ |
| संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशे. | १ | २ | ८ |
| संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहा. | ३ | १ | १३ |
| संस्कारपरामर्शात्तदभावाभि. | १ | ३ | ३६ |
| स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्द. | ३ | २ | ९ |
| सत्त्वाच्चावरस्य | २ | १ | १६ |
| सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च | २ | ४ | ५ |
| समन्वारम्भणात् | ३ | ४ | ५ |
| समवायाभ्युपगमाच्च साम्या. | २ | २ | १३ |
| समाकर्षात् | १ | ४ | १५ |
| समाध्यभावाच्च | २ | १ | ३९ |
| समान एवं चाभेदात् | ३ | ३ | १९ |
| समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि | १ | ३ | ३० |
| समाना चासृत्युपक्रमाद. | ४ | २ | ७ |
| समाहाराद् | ३ | ३ | ६३ |
| समुदाय उभयहेतुकेऽपि | २ | २ | १८ |
| सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् | १ | २ | १ |
| सर्वथानुपपत्तेश्च | २ | २ | ३२ |
| सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् | ३ | ४ | ३४ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| सूत्रम् | अ० | पा० | सं० |
|---|---|---|---|
| सर्वधर्मोपपत्तेश्च | २ | १ | ३७ |
| सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्य. | ३ | ३ | १ |
| सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये | ३ | ४ | २८ |
| सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्व. | ३ | ४ | २६ |
| सर्वाभेदादन्यत्रेमे | ३ | ३ | १० |
| सर्वोपेता च तद्दर्शनात् | २ | १ | ३० |
| सहकारित्वेन च | ३ | ४ | ३३ |
| सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण | ३ | ४ | ४७ |
| साक्षाच्चोभयाम्नानात् | १ | ४ | २५ |
| साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः | १ | २ | २८ |
| सा च प्रशासनात् | १ | ३ | ११ |
| सामाव्यापत्तिरुपपत्तेः | ३ | १ | २२ |
| सामान्यात्तु | ३ | २ | २२ |
| सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः | ४ | ३ | ९ |
| सांपराये ततव्याभावास्तथा. | ३ | ३ | २७ |
| सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः | ३ | १ | ११ |
| सुखविशिष्टाभिधानादेव च | १ | २ | १५ |
| सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन | १ | ३ | ४१ |
| सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् | १ | ४ | २ |
| सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः | ४ | २ | ६ |
| सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च | ३ | २ | ४ |
| सैव हि सत्यादयः | ३ | ३ | ३८ |
| सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः | ४ | २ | ४ |
| स्तुतयेऽनुमतिर्वा | ३ | ४ | १४ |
| स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेत् | ३ | ४ | २१ |
| स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् | ३ | २ | ३४ |
| स्थानादिव्यपदेशाच्च | १ | २ | १४ |
| स्थित्यदनाभ्यां च | १ | ३ | २ |
| स्पष्टो ह्येकेषाम् | ४ | २ | १३ |
| स्मरन्ति च | २ | ३ | ४७ |
| स्मरन्ति च | ३ | १ | १४ |
| स्मरन्ति च | ४ | १ | १९ |
| स्मर्यते च | ४ | २ | १४ |
| स्मर्यतेऽपि च लोके | ३ | १ | १९ |
| स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति | १ | २ | २५ |
| स्मृतेश्च | १ | २ | ६ |
| स्मृतेश्च | ४ | ३ | ११ |
| स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति | २ | १ | १ |
| स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् | २ | ३ | ५ |
| स्वपक्षदोषाच्च | २ | १ | १० |
| स्वपक्षदोषाच्च | २ | १ | २९ |
| स्वशब्दोन्मानाभ्यां च | २ | ३ | २२ |
| स्वात्मना चोत्तरयोः | २ | ३ | २० |
| स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि | ३ | ३ | ३ |
| स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षम् | ४ | ४ | १६ |
| स्वाप्ययात् | १ | १ | ९ |
| स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः | ३ | ४ | ४४ |
| ह | | | |
| हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् | २ | ४ | ६ |
| हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् | ३ | ३ | २६ |
| हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्व | १ | १ | २५ |
| हेयत्वावचनाच्च | १ | १ | ८ |


———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

( ३ )

# भामत्याः श्लोकावलिः

| पृष्ठम् | श्लो० |
|---|---|
| १. | अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्य प्रभवतो<br>विवर्ता यस्यैते वियदनिलतेजोऽवनयः।<br>यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदम्,<br>नमामस्तद्ब्रह्मापरिमितसुखज्ञानममृतम् ॥ १ ॥ |
| २. | निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमस्य पञ्चभूतानि।<br>स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सृष्टं महाप्रलयः ॥ २ ॥ |
| ,, | षड्भिरङ्गैरुपेताय विविधैरव्ययैरपि।<br>शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च ॥ ३ ॥ |
| ,, | मार्तण्डतिलकस्वामिमहागणपतीन् वयम्।<br>विश्ववन्द्यान् नमस्यामः सर्वसिद्धिविधायिनः ॥ ४ ॥ |
| ३ | ब्रह्मसूत्रकृते तस्मै वेदव्यासाय वेधसे।<br>ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः ॥ ५ ॥ |
| ,, | कृत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करुणाकरम्।<br>भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते ॥ ६ ॥ |
| ,, | आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।<br>रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति ॥ ७ ॥ |
| १२६. | अज्ञातसङ्गतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थवत्तया।<br>मननादिप्रतीत्या च कार्यार्थाद् ब्रह्मनिश्चयः ॥ ८ ॥ |
| १४७. | विगलितपराग्वृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा,<br>त्वमिति हि पदेनैकार्थत्वे त्वमित्यपि यत्पदम्।<br>तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मता,<br>त्यजति सकलान् कर्तृत्वादीन् पदार्थमलाग्निजान् ॥ ९ ॥ |
| १५७. | कार्यबोधे यथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादयस्तथा।<br>सिद्धबोधेऽर्थवत्तैवं शास्त्रत्वं हितशासनात् ॥ १० ॥ |
| १८४. | कार्यान्वयं विना सिद्धरूपे ब्रह्मणि मानता।<br>पुरुषार्थे स्वयं तावद् वेदान्तानां प्रसाधिता ॥ ११ ॥ |
| १८६. | ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद् ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।<br>न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति सम्भवः ॥ १२ ॥ |
| १८७. | यत्प्राये श्रूयते यच्च तत्ताद्दगवगम्यते।<br>भाक्तप्राये श्रुतमिदमतो भाक्तं प्रतीयते ॥ १३ ॥ |
| १९०. | पौर्वापर्यपरामर्शाद् यदाम्नायोऽञ्जसा वदेत्।<br>जगद्बीजं तदेवेष्टं चेतने च स आञ्जसः ॥ १४ ॥ |
| २०८. | गौणप्रवाहपातेऽपि युज्यते मुख्यमीक्षणम्।<br>मुख्यत्वे तूभयोस्तुल्ये प्रायदृष्टिर्विशेषिका ॥ १५ ॥ |

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१०. चतुष्कोशान्तरत्वेन न सर्वान्तरतोचिता ।
प्रियादिभागी शारीरो जीवो न ब्रह्म युज्यते ॥ १६ ॥

२१७. ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठेति ब्रह्मशब्दात् प्रतीयते ।
विशुद्धं ब्रह्म विकृतं त्वानन्दमयशब्दतः ॥ १७ ॥

२१९. प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम्
पूर्वस्मिन्नुत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम् ॥ १८ ॥

२२४. मर्यादाधाररूपाणि संसारिणि परे न तु ।
तस्मादुपास्यः संसारी कर्मानधिकृतो रविः ॥ १९ ॥

२२५. सार्वात्म्यसर्वदुरितविरहाभ्याम् इहोच्यते ।
ब्रह्मैवाव्यभिचारिभ्यां सर्वहेतुविकारवत् ॥ २० ॥

२२९. प्रथमत्वात् प्रधानत्वादाकाशं मुख्यमेव नः ।
तदानुगुण्येनान्यानि व्याख्येयानीति निश्चयः ॥ २१ ॥

२३१. सामानाधिकरण्येन प्रश्नतत्प्रतिवाक्ययोः ।
पौर्वापर्यपरामर्शात् प्रधानत्वेऽपि गौणता ॥ २२ ॥

२३६. अर्थे श्रुत्यैकगम्ये हि श्रुतिमेवाद्रियामहे ।
मानान्तरावगम्ये तु तद्वशाद् तद्व्यवस्थितिः ॥ २३ ॥

२३७. पुंवाक्यस्य बलीयस्त्वं मानान्तरसमागमात् ।
अपौरुषेये वाक्ये तत्सङ्गतिः किं करिष्यति ॥ २४ ॥

२४२. औत्सर्गिकत्वाद् वाक्यस्थतेजोलिङ्गोपलम्भनात् ।
वाक्यान्तरेणानियमात् तदर्थाप्रतिसन्धितः ॥ २५ ॥

२४५. सर्वनामप्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविघातकृत् ।
प्रसिद्धयपेक्षि सत् पूर्ववाक्यस्थमपकर्षति ॥ २६ ॥

२४६. तद्बलात् तेन नेयानि तेजोलिङ्गान्यपि ध्रुवम् ।
ब्रह्मण्येव प्रधानं हि ब्रह्मशब्दो न तत्र तु ॥ २७ ॥

२५५. अनेकलिङ्गसन्दोहे बलवत्कस्य किं भवेत् ।
लिङ्गिनो लिङ्गमित्यत्र चिन्त्यते प्रागचिन्तितम् ॥ २८ ॥

१६१. तस्मादनन्यथासिद्धब्रह्म-लिङ्गानुसारतः ।
एकवाक्यबलात् प्राण-जीव-लिङ्गोपपादनम् ॥ २९ ॥

२६९. समासः सर्वनामार्थः सन्निकृष्टमपेक्षते ।
तद्धितार्थोऽपि सामान्यं नापेक्षाया निवर्तकः ॥ ३० ॥

,, तस्मादपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यमन्यपरादपि ।
तथा च सत्यसंकल्पप्रभृतीनां यथार्थता ॥ ३१ ॥

२७०. समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् ।
विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥ ३२ ॥

२८१. नियताधारता बुद्धिजीवसम्भविनी न हि ।
क्लेशात् कल्पयितुं युक्ता सर्वगे परमात्मनि ॥ ३३ ॥

१८३. ऋतपानेन जीवात्मा निश्चितोऽस्य द्वितीयता ।
ब्रह्मणैव सरूपेण न तु बुद्ध्या विरूपया ॥ ३४ ॥

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८३. प्रथमं सद्वितीयत्वे ब्रह्मणोऽवगते सति।
गुहाश्रयत्वं चरमं व्याख्येयमविरोधतः॥ ३५॥

२८७. एष दृश्यते इत्येतत् प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुज्यते।
परोक्षं ब्रह्म न तथा प्रतिबिम्बे तु युज्यते॥ ३६॥
" उपक्रमवशात् पूर्वमितरेषां हि वर्णनम्।
कृतं न्यायेन येनैव स खल्वत्रानुषज्यते॥ ३७॥

२८९. अनिष्पन्नाभिधाने द्वे सर्वनामपदे सती।
प्राप्य सन्निहितस्यार्थं भवेतामभिधातृणी॥ ३८॥

२९७. स्वकर्मोपार्जितं देहं तेनान्वच्च नियच्छति।
तक्षादिरशरीरस्तु नात्मान्तर्यामितां भजेत्॥ ३९॥
" देहेन्द्रियादिनियते नास्य देहेन्द्रियान्तरम्।
तत्कर्मोपार्जितं तच्चेत्तदविद्यार्जितं जगत्॥ ४०॥

३०३. परिणामो विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते।
चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते॥ ४१॥
" जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिः प्रतीयताम्।
योनिशब्दो निमित्तं चेत् कुतो जीवनिराक्रिया॥ ४२॥

३०५. अक्षरस्य जगद्योनिभावमुक्त्वा ह्यनन्तरम्।
यः सर्वज्ञ इति श्रुत्या सर्वज्ञस्य स उच्यते॥ ४३॥

३०६. तेन निर्देशसामान्यात्प्रत्यभिज्ञानतः स्फुटम्।
अक्षरं सवविद्विश्वयोनिर्नचितनं भवेत्॥ ४४॥
" अक्षरात्परत इति श्रुतिस्त्वव्याकृते मता।
अश्नुते यत्स्वकार्याणि ततोऽव्याकृतमक्षरम्॥ ४५॥

३०७. विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिह्रासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥ ४६॥

३२३. पारवत्त्वेन सेतुत्वाद्भेदे षष्ठ्याः प्रयोगतः।
द्युभ्वाद्यायतनं युक्तं नामृतं ब्रह्म कर्हिचित्॥ ४७॥

३२५. धारणाद्वाऽमृतत्वस्य साधनाद्वाऽस्य सेतुता।
पूर्वपक्षेऽपि मुख्यार्थः सेतुशब्दो हि नेष्यते॥ ४८॥

३३४. एतस्मिन् ग्रन्थसन्दर्भे यदुक्ताद् भूयसोऽन्यतः।
उच्यमानं तु तद् भूय उच्यते प्रश्नपूर्वकम्॥ ४९॥

३४६. कार्यब्रह्म जनप्राप्तिफलत्वादर्थभेदतः।
दर्शनध्यानयोर्ध्येयमपरं ब्रह्म गम्यते॥ ५०॥

३४७ ईक्षणध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः।
अर्थं औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः॥ ५१॥

३५०. आधेयत्वाद् विशेषाद्वा पुरं जीवस्य युज्यते।
देहो न ब्रह्मणो युक्तो हेतुद्वयवियोगतः॥ ५२॥

३५३. तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत्।
अगत्या भेदमारोप्य गतौ सत्यां न युज्यते॥ ५३॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३५४. उपलब्धेरधिष्ठानं ब्रह्मणो देह इष्यते ।
तेनासाधारणत्वेन देहो ब्रह्मपुरं भवेत् ॥ ५४ ॥

३७५. अभानं तेजसो दृष्टं सति तेजोऽन्तरे यतः ।
तेजो धात्वन्तरं तस्मादनुकाराच्च गम्यते ॥ ५५ ॥

३७६. ब्रह्मण्येव हि तल्लिङ्गं न तु तेजस्यलौकिके ।
तस्मान्न तदुपास्यत्वं ब्रह्म ज्ञेयं तु गम्यते ॥ ५६ ॥

३७९. नाञ्जसा मानभेदोऽस्ति परस्मिन् मानवर्जिते ।
भूतभव्येशिता जीवे नाञ्जसी तेन संशयः ॥ ५७ ॥

३८२. प्रश्नोत्तरत्वाद् ईशानश्रवणस्याविशेषतः ।
जीवस्य ब्रह्मरूपत्व-प्रत्यायनपरं वचः ॥ ५८ ॥

४१०. आगमाश्च भूयांसो भाष्यकारेण दर्शिताः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणाख्यास्तद्वचाकोपोऽन्यथा भवेत् ॥ ५९ ॥

४४९. आदिमध्यावसनेषु संसारिप्रतिपादनात् ।
तत्परे ग्रन्थसन्दर्भे सर्वं तत्रैव योज्यते ॥ ६० ॥

४९२. वाक्यानां कारणे कार्यं परस्परविशेषतः ।
समन्वयो जगद्योनौ न सिध्यति परमात्मनि ॥ ६१ ॥

४९३. सर्गक्रमविवादेऽपि न स स्रष्टरि विद्यते ।
सतस्त्वसद्वचौ भक्त्या निराकार्यतया क्वचित् ॥ ६२ ॥

५०१. मृषावादिनमापोद्य वालाकिं ब्रह्मवादिनम् ।
राजा कथमसम्बद्धं मिथ्या वा वक्तुमर्हति ॥ ६३ ॥

५२४. ईक्षापूर्वैककर्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता ।
निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥ ६४ ॥

५२५. न मुख्ये सम्भवत्यर्थे जघन्या वृत्तिरिष्यते ।
स चानुमानिकं युक्तमागमेनापबाधितम् ॥ ६५ ॥

" सर्गे हि तावद्वेदान्ताः पौर्वापर्येण वीक्षिताः ।
ऐकान्तिकमद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः ॥ ६६ ॥

५३१. प्रतिज्ञालक्षणं लक्ष्यमाणे पदसमन्वयः ।
वैदिकः स च तत्रैव नान्यत्रेत्यत्र साधितम् ॥ ६७ ॥

५४५. मानान्तरस्याविषयः सिद्धवस्त्ववगाहिनः ।
धर्मोऽस्तु कार्यरूपत्वाद् ब्रह्म सिद्धं तु गोचरः ॥ ६८ ॥

५४६. प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम् ।
जगद् ब्रह्मसरूपं च नेति नो तस्य विक्रिया ॥ ६९ ॥

५४७. विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगज्जडमशुद्धिभाक् ।
तेन प्रधानसारूप्यात् प्रधानस्यैव विक्रिया ॥ ७० ॥

९८७. कंचिद्विशेषमाशंक्य पूर्वतन्त्रप्रसाधितम् ।
वक्ष्यमाणार्थसिध्यर्थमर्थमाह स्म सूत्रकृत् ॥ ७१ ॥

१०१६. ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ।
ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणः स्पर्धितुं कः ॥ ७२ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Siddhanta eGangotri

१०३४. लिङ्गज्ञानं पुरोधाय न श्रुतेर्विनियोक्तृता ।
श्रुतिज्ञानं पुरोधाय लिङ्गं तु विनियोजकम् ॥ ७३ ॥

१०४८. न हि लिङ्गविरोधेन क्रमबाधोऽभिधीयते ।
किन्तु लिङ्गपरिच्छिन्ने न क्रमः कल्पनाक्षमः ॥ ७४ ॥

१०७१. विद्याकर्मस्वनुष्ठानतोषितेश्वरचोदितम् ।
अधिकारं समाप्यैते प्रविशन्ति परं पदम् ॥ ७५ ॥

१११०. रूपतो न विशेषोऽस्ति ह्यार्यम्लेच्छप्रयोगयोः ।
वैदिकाद् वाक्यशेषात् तु विशेषस्तत्र दर्शितः ॥ ७६ ॥

११६२. अशक्तेः कल्पनीयत्वात् शास्त्रान्तरविरोधतः ।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति चिन्तनसंस्तवः ॥ ७७ ॥

११६५. सिद्धे हि स्याद्विरोधोऽयं न तु साध्ये कथंचन ।
विध्यधीनात्मलाभेऽस्मिन् यथाविधि मता स्थितिः ॥ ७८ ॥

११८५. नाभ्यर्ह्या इह सन्तः स्वयं प्रवृत्ता न चेतरे शक्याः ।
मत्सरपित्तनिबन्धनमचिकित्स्यमरोचकं येषाम् ॥ ७९ ॥

११८५. शङ्के सम्प्रति निर्विशङ्कमधुना स्वाराज्यसौख्यं वह-
न्नेन्द्रः साम्प्रतपःस्थितेषु कथमप्युद्वेगमभ्येष्यति ।
यद्वाचस्पतिमिश्रनिर्मितमितव्याख्यानमात्रस्फुट-
द्वैदान्तार्थविवेकवञ्चितभवाः स्वार्थेऽप्यमी निःस्पृहाः ॥ ८० ॥

१२३४. योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ८१ ॥

११४८. भिन्नप्रकरणस्थत्वाद् भिन्नोपासनयोगतः ।
अनपेक्षा मिथो मार्गास्त्वरातोऽवधृतेरपि ॥ ८२ ॥

१२४९. एकत्वेऽपि पथोऽनेकपर्वसंगमसंभवात् ।
गौरवान्नैव नानात्वं प्रत्यभिज्ञानलिङ्गतः ॥ ८३ ॥

१२५१. श्रुत्याद्यभावे पाठस्य क्रमं प्रति नियन्तृता ।
ऊर्ध्वाक्रमणमात्रे च श्रुता वायोर्निमित्तता ॥ ८४ ॥

१२५२. ऊर्ध्वशब्दो न लोकस्य कस्यचित्प्रतिपादकः ।
तद्भेदापेक्षया युक्तमादित्येन विशेषणम् ॥ ८५ ॥

१२५३. तडिदन्तेऽर्चिराद्येऽब्वन्यप्पतिस्तडितः परः ।
तत्सम्बन्धात् तथेन्द्रादिरप्पतेः पर इष्यते ॥ ८६ ॥

१२५३. आगन्तूनां निवेशोऽन्ते स्थानाभावात्प्रसाधितः ।
तथा चेन्द्रादिरागन्तुः पठ्यते चाप्पतेः परः ॥ ८७ ॥

१२५४. मार्गे चिह्नसरूपत्वाच्चिह्नान्येवार्चिरादयः ।
भर्तृभोगभुवो वा स्युर्लोकत्वान्नातिवाहिकाः ॥ ८८ ॥
" अपि चार्चिष इत्यस्मादपादानं प्रतीयते ।
न हेतुर्नागुणे हेतौ पञ्चमी दृश्यते क्वचित् ॥ ८९ ॥

१२५५. सपिण्डकरणावां हि सूक्ष्मदेहवतां गतौ ।
न स्वातन्त्र्यं न चाग्न्याद्या नेतारोऽचेतनास्तु ते ॥ ९० ॥


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२५७. सामान्यवचने शब्दे विशेषाकांक्षिणि स्फुटम् ।
यद्विशेषपदं तेन तत्सामान्यं नियम्यते ॥ ९१ ॥

१२५८. मुख्यत्वादमृतप्राप्तेः परप्रकरणादपि ।
गन्तव्यं जैमिनिर्मेने परमेवार्चिरादिना ॥ ९२ ॥

१२५९. कार्यमप्राप्तपूर्वत्वादप्राप्तप्रापणी गतिः ।
प्रापयेद् ब्रह्म न परं प्राप्तत्वाज्जगदात्मकम् ॥ ९३ ॥

१२७१. अब्रह्मक्रतवो यान्ति यथा पञ्चाग्निविद्यया ।
ब्रह्मलोकं प्रयास्यन्ति प्रतीकोपासकास्तथा ॥ ९४ ॥

१२७२. उत्तरोत्तरभूयस्त्वादब्रह्मक्रतुभावतः ।
प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नामानवो नयेत् ॥ ९५ ॥

१२७५. प्रागभूतस्य निष्पत्तौ कर्तृत्वं न सतो यतः ।
फलत्वेन प्रसिद्धेश्च मुक्ते रूपान्तरोद्भवः ॥ ९६ ॥

१२७६. सम्भवत्यर्थवत्त्वे हि नानर्थक्यमुपेयते ।
बन्धस्य सदसत्त्वाभ्यां रूपमेकं विशिष्यते ॥ ९७ ॥

१२७८. ज्योतिष्पदस्य मुख्यत्वं भौतिके यद्यपि स्थितम् ।
तथापि प्रक्रमाद् वाक्यादात्मन्येव युज्यते ॥ ९८ ॥

१२८०. भावाभावात्मकै रूपैर्भाविकः परमेश्वरः ।
सम्पद्यते स्वैरित्याह स्म किल जैमिनिः ॥ ९९ ॥

१२८०. अनेकाकारतैकस्य नैकत्वान्नैकता भवेत् ।
परस्परविरोधेन न भेदाभेदसम्भवः ॥ १०० ॥

१२८२. तदेतदतिशोण्डीर्यमौडुलोमेर्न मृष्यते ।
बादरायण आचार्यो मृष्यन्नपि हि तन्मतम् ॥ १०१ ॥

१२८२. यत्नानपेक्षः संकल्पो लोके वस्तुप्रसाधनः ।
न दृष्टः सोऽत्र यत्नस्य लाघवादवधारितः ॥ १०२ ॥

१२८४. पित्रादीनां समुत्थानं संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।
न चानुमानबाधोऽत्र श्रुत्या तस्यैव बाधनात् ॥ १०३ ॥

१२८५. अन्ययोगव्यवच्छित्त्या मनसेति विशेषणात् ।
देहेन्द्रियवियोगः स्याद् विदुषो बादरेर्मतम् ॥ १०४ ॥

,, शरीरेन्द्रियभेदे हि नानाभावः समञ्जसः ।
न चार्थसम्भवे युक्तं स्तुतिमात्रमवार्थकम् ॥ १०५ ॥

१२८७. द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदने ।
अहीनत्वं च यजतिचोदने सति गम्यते ॥ १०६ ॥

१२८९. शरीरत्वं न जातु स्याद् भोगाधिष्ठानतां विना ।
स त्रिधेति शरीरत्वमुक्तं युक्तं च तद्विभौ ॥ १०७ ॥

१२९१. स्वाराज्यकामचारादिश्रुतिभ्यः स्यान्तिरंकुशः ।
स्वकार्ये ईश्वराधीनसिद्धिरप्यत्र साधकः ॥ १०८ ॥

१२९२. नित्यत्वादनपेक्षत्वात् श्रुतेः तत्प्रक्रमादपि ।
ऐकमत्याच्च विदुषां परमेश्वरतन्त्रता ॥ १०९ ॥

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२९६. भङ्क्त्वा वाद्यसुरेन्द्रवृन्दमखिलाविद्याप्रधानातिगं
येनाम्नायपयोनिधेर्नयमथा ब्रह्मामृतं प्राप्यते ।
योऽयं शाङ्करभाष्यजातविषयो वाचस्पतेः सादरम् ,
सन्दर्भः परिभाव्यतां सुमतयः स्वार्थेषु को मत्सरः ॥ ११० ॥

१२९७. अज्ञानसागरं तीर्त्वा ब्रह्मतत्त्वमभीप्सताम् ।
नीतिनौकर्णधारेण मयाऽपूरि मनोरथः ॥ १११ ॥

,, यन्न्यायकणिकातत्त्वसमीक्षातत्त्वबिन्दुभिः ।
यन्न्यायसांख्ययोगानां वेदान्तानां च निबन्धनैः ॥ ११२ ॥

,, समर्चैषं महत्पुण्यं तत्फलं पुष्कलं मया ।
समर्पितमथैतेन प्रीयतां परमेश्वरः ॥ ११३ ॥

१२९८. नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम् ।
कार्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥ ११४ ॥

,, नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति ।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ॥ ११५ ॥

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

( ४ )

# भाष्यभामत्पाद्युद्धृतवाक्यविवरणम्


| वाक्य | आकरः | पृष्ठम् |
|---|---|---|
| (अ) | | |
| अक्रोधः सर्वभूतेषु कर्मणा | ( ) | ८९४ |
| अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः | (अथर्वशि. ३) | ८६ |
| अक्षरात् परतः परः | (मुण्ड. २।१।२) | ३०४, ३०६ |
| अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् | (मुण्ड. १।१।७) | ३०६ |
| अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष | (भारत. ३।२६७।१७) | ३८१ |
| अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिव | (कठो. २।४।१३) | ३८० |
| अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा | (कठो २।६।१७) | ३८४ |
| अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि | (कठो. ४।२) | ३८० |
| अगृह्यो न हि गृह्यते | (बृह. ३।९।२६) | ३४ |
| अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि | (तै. सं. १।१।४।१) | १०२७ |
| अग्निः पादौ वायुः पादः | (छां. ३।१८।२) | ४१३ |
| अग्निरन्नादः | (बृह १।४।६) | २७७ |
| अग्निरिदं हविरजुषत | (तै. ब्रा. ३।५।१०।२) | १०४० |
| अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः | (गी. ८।२४) | २९५ |
| अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ | (मुण्ड. २।१।४) | ३१० |
| अग्निर्वा अकामयत | (तै. ब्रा. ३।१।४।१) | ४१० |
| अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् | (ऐ. आ. ३।४।२।४) | ८५९. ८६०, १०९९ |
| अग्निर्वै मृत्युः | (बृह. ३।२।१०) | ११०९ |
| अग्निलोकमागच्छति | (कौषी. १।३) | १२५४ |
| अग्निहोत्रं जुहुयात् | (मै. उ. ६।३६) | ८१, ११८ |
| अग्निहोत्रं जुहोति | (तै सं. १।५।९।१) | १२, ११७, १०९१ |
| अग्निहोत्रं जुहोतीति पूर्वमाम्नातं | (शाबर. ५।१।१) | ७५ |
| अग्निहोत्रे श्रूयते | (शाबर. १२५०) | ६४ |
| अग्नीषोमीयं पशुमालभेत | ( तै. सं. ६।१।११।१) | ८३३, ९०३, ९०६ |
| अग्नेरापः | (तै. २।१।१) | ७८७ |
| अग्नेरूर्ध्वज्वलनम् | (वै. सू. ५।२।१३) | ६७३ |
| अग्नेर्होत्रं वेरध्वरम् | (आप. श्रौ. २२।१९।१) | १०७६ |
| अग्नेस्तेजोभूयस्त्वम् | ( ) | ८७० |
| अचक्षुष्कमश्रोत्रम् | (बृह. ३।८।८) | ३४५ |
| अचिन्त्याः खलु ये भावाः | (भारत. भीष्म. ५।१२) | ५५३ |
| अजमजरममरम् | (बृह. ३।८।८) | ११९१ |
| अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं | (गौड़. का. १।१६) | ५५८ |
| अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां | (श्वेता. ४।५) | ९८ |
| अजोऽग्नीषोमीयः | ( ) | ११२२ |
| अजो नित्यः शाश्वतोऽयं | (कठ. २।१८) | ७९७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अजो ह्येको जुषमाणः | (श्वेता. ४।५) | ४७४ |
| अज्ञातसंगतित्वेन | ( ) | १२६ |
| अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् | (गी. ५।१५) | ८२७ |
| अज्ञो जन्तुरनीशोऽयम् | (भारत. वन. ३०।२८) | ८२७ |
| अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा | (छां. ३।१४।३) | ८१० |
| अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यः | (मनु. १।२७) | १२३१ |
| अतः ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि | (बृह. ४।३।१४) | ७९८, १०८७, १०८९ |
| अत एव प्राणः | (कौषी. ३) | २६० |
| अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव | (प्रशस्त. पृ. ७८५) | ६६८ |
| अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वम् | ( ) | ५३६ |
| अतश्च सम्प्रदाने च | (श्लो. वा. पू. ९१) | ११३ |
| अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च | (मुण्ड. २।१।९) | ३११ |
| अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति | (मै. सं. ४।७।६) | ३३५ |
| अतोऽन्यदार्तम् | (बृह. ३।४।२) | ७८१. ८७०, १०८२ |
| अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् | (छां. ५।१०।६) | ९०२ |
| अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन् | (छां. २।२३।१) | ११७१ |
| अत्र पिता अपिता भवति | (बृह. ४।३।२२) | ११९४ |
| अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति | (बृह. ४।३।२२) | ९३१ |
| अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति | (बृह. ४।३।९) | ८०० |
| अत्रैव मा भगवान् अमूमुहत् | (मुण्ड. २।४।१३) | ५१७ |
| अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति | (प्रश्न. ४।६) | ३३६ |
| अथ कोऽहम् | (ऐत. ३।११) | १००९ |
| अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः | (छां. ३।१४।१) | २६६ |
| अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा | (कौषी. ३।१) | २५६ |
| अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं | (छा. २।९।१) | १२०६ |
| अथ खल्वाहुर्जागरितदेश एव | (बृह. ४।३।१४) | ९१२ |
| अथ खल्वेतस्यैवाक्षरस्य | (छां. १।१।१०) | ९९१ |
| अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्य नैवोदेता | (छां. ३।११।१) | १०७१ |
| अथ तत्त्वदर्शनोपयोगो योगः | ( ) | ५४२ |
| अथ तस्य भयं भवति | (तै. २।७) | ३१७ |
| अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते | (मुण्ड. १।१।५) | १०७५ |
| अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डो | (जाबा. ५) | १०५१ |
| अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा | (जाब. ४) | ११५१ |
| अथ मर्त्योऽमृतो भवति | (बृह. ४।४।७) | ३२९ |
| अथ य आत्मा स सेतुः | (छां. ८।४।१) | ९५७ |
| अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते | (छां. ५।१०।६) | ८७८, ८८४ |
| अथ य इहात्मानमनुविद्य | (छां. ८।१।६) | १०८७, १०९, १२८४ |
| अथ य एतौ पन्थानौ न विदुः | (बृह. ६।२।१६) | १०६८, १०६९ |
| अथ य एष सम्प्रसादो | (छां. ८।३।४) | ३६१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अथ य एषोऽन्तरक्षिणि | (छां. १।७।५) | ९५८, १०८६, ११३७ |
| अथ य एषोऽन्तरादित्ये | (छां. १।६।६) | ९५८, १०८६ |
| अथ यत्राऽन्यत् पश्यति तदल्पं | (छां. ७।२४।१) | १२६३ |
| अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णम् | (छां. ८।१२।४) | ८६१ |
| अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामति | (छां. ८।६।५) | १२४३ |
| अथ यथास्यै प्रज्ञायै | (कौषी. ३।४) | २६३ |
| अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः | (छां. ३।१३।७) | २४१ |
| अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं | (छां. ८।५।१) | १०८७, १२४३, १२७० |
| अथ यदु चैवास्मिञ्छल्यं | (छां. ४।१५।५) | २९६ |
| अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते | (छां. ८।५।१) | ११५८ |
| अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं | (ऐत. आ. ३।२।४।१६) | ५८० |
| अथ या एता हृदयस्य नाड्य | (छां. ८।६।१) | १२४२ |
| अथ यानि चतुश्चत्वारिंशत् | (छां. ३।१३।३) | १०२२ |
| अथ ये शतं पितृणा | (बृह. ४।३।३३) | ८८७ |
| अथ योगानुशासनं | (यो. सू. १।१) | ५६, ५७ |
| अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते | (बृह. १।४।१०) | ८८६, ११९६ |
| अथ योऽयं शारीरः उपद्रष्टा | (पैङ्गि. र. ब्रा.) | २८५ |
| अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति | (छां. ८।१२।४) | ८०० |
| अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते | (बृह. ४।३।१०) | ९१०, ९११ |
| अथ सत्यवतः कायात् | (भारत. ३।२९७।१७) | ३८१ |
| अथ सप्तविधस्य | (छां. २।८।१) | १२०६ |
| अथ सोऽभयं गतो भवति | (तै. २।७) | २१७ |
| अथ ह प्राणा अहंश्रेयसे | (छां. ५।१।१) | ६५६ |
| अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् | (छां. ५।१०।१०) | ९८३ |
| अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणः | (छां. १।२।७) | ९९० |
| अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये | (बृह. ४।५।१) | ११५४ |
| अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्र- | (छां. ४।३।५) | ४३७ |
| अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः | (बृह. १।३।७) | ९९० |
| अथाकामयमानो योऽकामः | (बृह. ४।४।६) | ११३९ २३९ |
| अथात आदेशो नेति नेति | (बृह. २।३।६) | ९३७, ९४७, ९५२ |
| अथातो धर्मजिज्ञासा | (जै. सू. १।१।१) | ६०, ६१, १३३ |
| अथातो निःश्रेयसादानम् | (कौषी. २।१४) | १००० |
| अथातो रेतसः सृष्टिः | (ऐ. १।३।१) | १००७ |
| अथातो व्रतमीमांसा | (बृह. १।५।२१) | ११०० |
| अथाध्यात्मम् | (छां. १।७।१) | २२३ |
| अथास्मिन् प्राण एकैकधा | (कौषी. ४।२०) | ४९९ |
| अथास्य वेदमुपशृण्वतःत्रपु. | ( ) | ४४० |
| अथेममेव नाप्नोद्योऽयं | (बृह. १।५।२१) | ८६५ |
| अथैतयोः पथोर्वं कतरेणचन | (छां. ५।१०।८) | १२५० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अथैतैरेव रश्मिभिः | (छां. ८।६।५) | १२४९ |
| अथैव ज्योतिः | (तां. ब्रा. १६।८।१) | ५६ |
| अथैनमेते प्राणा अभि. | (बृह. ४।४।१) | ८७३ |
| अथो खल्वाहुर्जागरितदेशः | (बृह. ४।३।१४) | ९११ |
| अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण | (प्रश्न. १।१०) | २९५ |
| अथो य एवं विद्वान् प्राणे | (कौषी. २।१४) | १००० |
| अदृष्टं द्रष्टृ | (बृह. ३।८।११) | ११९१ |
| अदृष्टत्वाद्यविधानत्वात् | (तै. वा. पृ. ३५१) | ८४८ |
| अदृष्टो द्रष्टा | (बृह. ३।७।२३) | ३०१ |
| अदोऽम्भः परेण दिवम् | (ऐ. १।२) | १००६ |
| अद्रेश्यम् | (मुण्ड. १।१५) | १०७६ |
| अधस्तात् समिधं धारयति | (आप. श्रौ. ६।८।५) | ११४५ |
| अधीत्य विधिवद्वेदान् | (मनु. ६।३६) | ७५ |
| अधीहि भगव इति होपससाद | (छां. ७।१।१) | ४३८ |
| अध्यात्मयोगाधिगमेन | (कठो. १।२।१२) | २८४ |
| अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम् | ( ) | ११२२ |
| अनन्तमपारम् | (बृह. २।१४।१२) | १२३ |
| अनन्तरं च रजते | (प्र. पं. पृ. ४९) | २८ |
| अनन्तरोऽबाह्यः | (बृह ४।५।१३) | ८०० |
| अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवाः | (बृह. ३।१।९) | १४३ |
| अनन्यच्छब्दादिभ्या द्रव्यम् | (महाभाष्य. ५।१।११९) | ६६५ |
| अनन्यत्वेऽपि लोके | (तत्त्वार्थवा. पृ. ५००) | ६६६ |
| अनन्यापोहशब्दादौ | (तत्त्वसं. पृ ४३५) | ७२६ |
| अनन्वागतं पुण्येन | (बृह. ४।३।२२) | ४५२ |
| अनन्वागतस्तेन भवति | (बृह. ४।३।१५) | ४५२ |
| अनश्नन्नन्योऽभिचाकशतीति | (मुण्ड. ३।१।१) | २७७, २७८ |
| अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा | ( ) | ३९२ |
| अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् | (गी. १३।१२) | ९३७ |
| अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः | (गौड़. का. १।१५) | ५५८ |
| अनादिवासनासङ्गविधेयी कृत. | (प्र. वा. पृ. ३९७) | ७१८ |
| अनादिवासनोद्भूतविकल्प. | (प्र. वा. पृ. स्वार्था. २०८) | ७२५, ७२६ |
| अनाद्यनन्तं महतः परं | (कठो. २।३।१५) | ४६८ |
| अनाश्रमी न तिष्ठेत | ( ) | ११७० |
| अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं | (गी. ६।१) | ११६७, ११६८ |
| अनास्रवा मार्गसत्यं | (अभि. को. १।५) | ६९७ |
| अनित्यं चतुर्विधमपि | (प्रशस्त. पृ. ३१२) | ६४६ |
| अनित्यमिति च विशेषतः | (वै. सू. ४।१।४) | ६५९ |
| अनुपलब्धिः स्वभावः कार्यं | (न्या. वि. १।११) | ३ |
| अनु म एतां भगवो देवतां | (छां. ५।२।२) | ११८७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्य | (शाबर. पृ. ३६) | ३१ |
| अनेकजन्मसंसिद्धस्ततः | (गी. ६।४५) | १०६९ |
| अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य | (छा. ६।३।२) | ३९, ७९७, ९१८, ९३८ |
| अनैकान्तात्मकं वस्तु | (न्यायाव. १९) | ७४७ |
| अन्नमयं हि सोम्य मनः | (छा. ६।५।४) | ७९२, ७९३, ८४३, १२२८ |
| अन्नमशितं त्रेधा विधीयते | (छा. ६।५।१) | ८६९ |
| अन्नादो वसुदानो विन्दते | (वृह. ४।४।२४) | २४९ |
| अन्नेन सोम्य शुङ्गेन | (छा. ६।८।४) | ४९५ |
| अन्यत्परमस्ति | (वृह. २।३।६) | ९५२ |
| अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् | (कठ. १।२।१४) | ९११, १०७९, १२६३ |
| अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च | (कठ. १।२।१४) | ३८२ |
| अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम् | (वृह. १।५।३) | ८१३ |
| अन्यत्रायतनमलब्ध्वा | (छा. ६।८।२) | ९२१ |
| अन्यथाकरणे चास्य | (श्लो. वा. पृ. ९०) | ११३ |
| अन्यदेव तद्विदितादथो | (केन. १।३) | ९३७ |
| अन्यन्नवतरं कल्याणतरं | (बृह. ४।४।४) | ८७४ |
| अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व | (कठ. १।२१) | ४७२ |
| अन्यारादितर्ते | (पा. सू. २।३।२९) | ७८५ |
| अन्या वाचो विमुञ्चथ | (मुण्ड. २।२५) | ३२८ |
| अन्ये तु पुरुषसंस्कारतया | (ब्र. सि. पृ. २८) | ६३ |
| अन्ये तु मन्यन्तेऽनवाप्तकामा | (ब्र. सि. पृ. २७) | ६३ |
| अन्ये तु संयोगपृथक्त्वेन | (ब्र. सि. पृ. २७) | ६४ |
| अन्योऽन्तर आत्मा | (तै. २।२) | २१३ |
| अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः | (तै. २।५) | २१३ |
| अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः | (तै. २।३) | २१७ |
| अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञाममयः | (तै. २।४) | २१७ |
| अन्योऽन्याभिभव. | (सां. का. ९२) | ६२६ |
| अन्योऽसावन्योऽहमस्मि | (बृह. १।४।१०) | ५१९ |
| अपनयो वा विद्यमानत्वात् | (जै. सू. ६।५।२) | ९९४ |
| अपाकजरूपादयः कारणगुणपूर्वकाः | (न्या. कन्द. पृ. २३६) | ६४७ |
| अपागाद्दग्नीरग्नित्वं | (छा. ६।४।१) | ५६९ |
| अपाणिपादो जवनोग्रहीता | (श्वेता. ३।१९) | १९९ |
| अपादाने पञ्चमी | (पा. सू. २।३।२८) | ७८५ |
| अपाम सोममृता अभूम | (ऋ. ६।४।११) | ८६ |
| अपि तु वाक्यशेषत्वात् | ( जै. सू. २०।८।१५) | १०५५ |
| अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव | (मनु. १।५) | ३०१ |
| अप्रतिसमाधेयव्याधीनाम् | ( ) | ४९ |
| अप्रत्यक्षोपलम्भस्य | (तत्त्वसं. २०७४) | ७२८ |
| अप्राणो ह्यमवाः शुभ्रः | (मुण्ड. २।१।२) | ८५३ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अप्राप्तयोः प्राप्तिः | (प्रशस्त. पृ. ३४७) | ७५८ |
| अप्राप्य योगसंसिद्धिं | (मी. ६।३७) | ११८२ |
| अप्रामाण्यं त्रिधाभिन्नम् | (श्लो. वा. पृ. ६१) | १० |
| अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि | (बृह. ४।२।४) | १४१ |
| अभिज्ञाभिवदनोपादान— | (पं. पा. वि. पृ. ६२) | १५ |
| अभिधातृश्रुतिः काँचिद् | (तं. वा. पृ. ७००) | १०३० |
| अभिसमावृत्य कुटुम्बे | (छां. ८।१५।१) | ११७८ |
| अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते | (निरु. १०।४५) | ११९६ |
| अभ्यासे हि भूयस्त्वम् | (ब्र. सि. पृ. ६) | ९ |
| अभ्युदये कालापराधादि. | (जै. सू, ६।५।१) | ९९३ |
| अमावास्यायामपराह्णे | ( ) | १२९ |
| अमुष्मादादित्यात् व्रतायन्ते | (छां ८।६।२) | १२४४ |
| अमृतत्वस्य तु नाशास्ति | (बृह. २।४।२) | ५०७, ५१२ |
| अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते | (द्र. केनो. २।४) | १२३२ |
| अमृतस्यैष सेतुः | (मुण्ड. २।२।५) | ३२३, ३२८ |
| अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना | (बृह. ४।३।२१) | ४५० |
| अयमग्निर्वैश्वानरो यः | (बृह. ५।९।१) | ३१४ |
| अयमनियमः, नियमकारिणः | (भास्कर. पृ. १३३) | ७९१ |
| अयमात्मा ब्रह्म | (बृह. २।५।१९) | ११९ |
| अयं लोको नास्ति | (कट. २।६) | ८९७ |
| अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः | (श. ब्रा. १०।५।४।१) | १११० |
| अयं वै नः श्रेष्ठः | (बृह. १।५।२१) | ११९, ७९७, ८६५ |
| अयं शारीर आत्मा | (बृह. ४।३।३५) | ४५१ |
| अयुतसिद्धानामाधार्याधार. | (प्रशस्त. पृ. ७७३) | ६५१, ६५६, ७५९ |
| अरण्यमियात् | ( ) | ११७१ |
| अर्के चेन्मधु विन्देत | ( ) | ११३५ |
| अर्चिषोऽहः | (छा. ४।१५।५) | १२५६ |
| अर्जनरक्षणक्षयभोग. | (सां.त. कौ ५०) | ६४० |
| अर्थक्रियासमर्थं यत् | (प्र. वा. पृ. १७१) | ६९८ |
| अर्थप्राप्तवदिति चेन्न | (जै. सू. १०।८।२-३) | १०५६ |
| अर्थश्चैकोऽध्यासतः | (ज्ञानश्री. पृ. २०३) | १९ |
| अर्थस्य विप्रकर्षोऽर्थविप्रकर्षः | (शाबर. पृ. ८४४) | १०३५ |
| अर्थाच्च | (जै. सू. ५।१।१) | ७४ |
| अर्थैकत्वादेकं वाक्यम् | (जै. सू. २।१।४६) | ७२३, १०३७ |
| अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् | (जै. सू. १।४।३०) | ८४६ |
| अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् | (तै. सं. २।३।४।१) | ७८ |
| अर्वाग्विलश्चमसः | (बृह. २।२।३) | ४७७ |
| अर्हत्सिद्धसाधुषु | (पञ्चा. १३६) | ७४२ |
| अवकीर्णिपशुश्च | (जै. सू. ६।८।२१) | ११७१, ११७२ |



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अवस्थादेशकालानाम् | (वाक्यप. १।३२) | १११३ |
| अवागमनाः | (बृह. ३।८।८) | २५९ |
| अविच्छिन्ने कथंभावे | (तं. वा. पृ. ८१७) | १०४४ |
| अविज्ञातं विज्ञात् | (बृह. ३।८।११) | ५१४ |
| अविद्या च | (वै. सू. ४।१।५) | ६५९ |
| अविद्या मोहो विपर्यासो | (बो. च. पं. पृ. १७०) | १७ |
| अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः | (जै. सू. १।२।३२) | ५४ |
| अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां | (शाबर. १।२।३२) | ५४ |
| अवीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठम् | (यो. सू. भा. ३।२६) | १३३ |
| अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् | (भारत. १२।३३९।३१) | ७९२ |
| अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं | (गी. २।२५) | ९५३ |
| अशक्यसमयो ह्यात्मा | (प्र. वा. पृ. ३०७) | ७०५ |
| अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं | (कठ. १।३।१५) | २२७, ६३५ |
| अशरीरं वाव सन्तं | (छां. ८।१२।१) | १३६, १२७७ |
| अश्रद्धया हुतं दत्तं | (गी. १७।२८) | ७१ |
| अश्व इव रोमाणि विधूय | (छां. ८।१३।१) | १०५०, १०६०, १०६२ |
| अश्वघासादयः षष्ठीसमासाः | (महाभा. २।१।३६) | ८७ |
| अश्वघासादेकेषाम् | (शाबर. पृ. ६३२) | ९७९ |
| अष्टौ ग्रहाः, अष्टावतिग्रहाः | (बृह. ६।२।१) | ८४४ |
| अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः | (बोधा. ध. सू. ८।२।१०) | ११४६ |
| असंख्येयभागादिषु | (तत्त्वा. सू. ५।१५) | ७५१ |
| असङ्गो ह्ययं पुरुषः | (बृह. ४।३।१५) | १३६, १०८८ |
| असच्छास्त्राधिगमनं | (मनु. पृ. ३६१) | ११३९ |
| असदेवेदमग्र आसीत् | (छां. ३।१९।१) | ४९२ |
| असद्वा इदमग्र आसीत् | (तै. २।७।१) | ८३६ |
| असन्नेव स भवति | (तै. २।६।१) | २११, ९५० |
| असाधकं तु तादर्थ्यात् | (जै. सू. ६।१।२) | ७६७ |
| असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति | (बृह. ४।३।११) | ८०० |
| असौ वा आदित्यो देवमधु | (छां. ३।१।१) | ४११ |
| असौ वाव लोको गौतमाग्निः | (छां. ५।४।१) | ८८३, ११०९ |
| असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा | ( ) | ८८४ |
| अस्ति भगवो नाम्नो भूयः | (छां. ७।१।५) | ३३१, ३३४ |
| अस्ति भगवो वाचो भूयः | (छां. ७।२।२) | ३३४ |
| अस्ति यद्धि स्वभावेन | (मध्यमक. १५।११) | ७३५ |
| अस्तीत्येवोपलब्धव्यः | (कठ. ६।१३) | ९३९, ९४८ |
| अस्त्यप्रधाने वर्तते | (महाभाष्य. ५।१।११९) | ६६५ |
| अस्थूलमनणु (बृह. ३।८।८) | ७८०, ९३४, ९३६, १०७६, ११८३, १२६५ | |
| अस्मिन् कामाः समाहिताः | (छां. ८।१।४) | ३५७ |
| अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य | (बृह. वा. पृ. ५०५) | ११४ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| अस्य महतो भूतस्य | (बृह. २।४।१०) | २, १११, ११४, ११३७ |
| अस्य लोकस्य का गतिः | (छां. १।९।१) | २२८, २३१ |
| अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतः | (छा. ६।८।६) | १२२५ |
| अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष | (छा. ८।९।१) | २९६ |
| अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः | (गीं. ७।६) | ५३६ |
| अहं ब्रह्मास्मि (बृह. १।४।१०) | | ५३, ५७, ७९७, ८१०, ८३३, ९५४, १२७९ |
| अहमन्नमहमन्नादः | (तै. ३।१०।६) | ३१० |
| अहमादिर्हि देवानां | (गी. १०।२) | ५५३ |
| अहमुक्थमस्मीति | (ऐ. आ. २।१।२।६) | २०२ |
| अहमेवाधस्तात् | (छां. ७।२५।१) | ९६१ |
| अहरङ्गं वांशुवच्चोदनाभावात् | (जै. सू. १०।६।१८) | ११०४ |
| अहरेवैतद् रात्रौ दधाति | ( ) | १२४४ |
| अह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिः | (छा. ४।२।३) | ४३१, ४३५ |
| अहो बत ! महानेष प्रमादः | (प्र. पं. पृ. ४८) | २७ |
| अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते | ( ) | १२५४ |

(आ)

| | | |
|---|---|---|
| आकाश आत्मा | (तै. १।७।१) | ७७७ |
| आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति | (छां. १।९।१) | २२९ |
| आकाशं शब्दमात्रं तु | (विष्णुपु. १।२।३९) | ६६३ |
| आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः | ( ) | ७७०, ८६१ |
| आकाशशरीरं ब्रह्म | (तै. १।६।२) | ७७०, ७७२ |
| आकाशश्च प्रतिष्ठितः | (बृह, ४।४।१७) | ४५० |
| आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो | (छां. ५।१०।४) | ८७८ |
| आकाशाद् वायुः | (तै. २।१) | ७७४ |
| आकाशो वै नाम नामरूपयोः | (छां. ८।१४।१) | २३४, ९३६ |
| आकाशो ह्येवेभ्यो ज्यायान् | (छां. १।९।१) | ९९५ |
| आख्या प्रवचनात् | (जै. सू. १।१।३०) | ९८५ |
| आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते | (तै. सं. ३।१।६।१) | ११४७ |
| आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः | (वसिष्ठस्मृ. ६।३) | ८९५ |
| आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य | (छा. ८।१५।१) | ११३६, ११३९ |
| आचार्यवान् पुरुषो वेद | (छां. ६।१४।२) | २०१, ११३१ |
| आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता | (छां. ४।१४।१) | २८८, २९२ |
| आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य | (तै. १।११।१) | ११४२ |
| आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णाम् | (भारत० १२।२३४।२) | ११७१ |
| आण्डजं जीवमुद्भिज्जम् | (छा. ६।३।१) | ९०० |
| आत्मधर्मोपचारः | (विज्ञप्ति. पृ. ९६) | १९ |
| आत्मन आकाशः सम्भूतः | (तै. २।१) | २०५, ४९२ |
| आत्मन एवेदं सर्वम् | (छां. ७।२६।१) | २०५ |
| आत्मनः प्राणः | (छा. ७।२६।१) | २०५ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| आत्मनस्तु कामाय | (बृह. २।४।५) | ११३७ |
| आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते | (बृह. ४।५।१) | ७७१, ७९६ |
| आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं | (बृह. २।४।६) | ५१२ |
| आत्मने वा यं कामं | (बृह. १।३।२८) | ११७५ |
| आत्मने वा यजमानाय वा | (बृह. १।३।२८) | ११७५ |
| आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते | (बृह. ४।३।६) | ३७९ |
| आत्मनो वा अरे दर्शनेन | (बृह. २।४।५) | ८४१ |
| आत्मनो वै शरीराणि | (भारत. ) | ३८९ |
| आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य | (गी. ३।१७) | ११९३ |
| आत्मरतिरात्मक्रीडः | (छा. ७ २५।२) | १२७९ |
| आत्मलाभान्न परं विद्यते | ( ) | २१५ |
| आत्मान चेद्विजानीयात् | (बृह. ४।४।२२) | १५६ |
| आत्मानमन्विच्छेत् | (जाबा. ६) | २८३ |
| आत्मानमेव लोकमुपासीत | (बृह. १।४।५) | १२३, १३१ |
| आत्मानमेवेमं वैश्वानरम् | (छा. ५।११।६) | ३१२ |
| आत्मानं रथिनं विद्धि | (कठ. १।३।३) | २८४ |
| आत्मानं विदित्वा | (बृह. ३।५।९) | ११७८ |
| आत्माऽन्वेष्टव्यः | (छा. ८।७।१) | २१५ |
| आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः | (बृह. २।४।५) | ८२, १२७, ८१७, ११३३, ११८६ |
| आत्मा वा इदमेक एवाग्रे | (ऐ, १।१।१) | १९४, १००६ |
| आत्मेत्येवोपासीत | (बृह. १।४।७) | १२३, १३१, १३५, १५४ |
| आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता | (कठ. १।३।४) | ८१९ |
| आत्मेवाधस्तात् | (छां. ७।२५।२) | ९६१ |
| आत्मैवेदमग्र आसीत् | (बृह. १।४।१) | १००७, १००८ |
| आत्मैवेदं सर्वम् | (छां. ७।२५।२) | ४४७, ४५४, ७२७, ९९८ |
| आदिकर्त्ता स भूतानां | ( ) | ३१२ |
| आदित्य उद्गीथः | (छा. १।५।१) | ११८७ |
| आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीम् | ( ) | ४१८ |
| आदित्याच्चन्द्रमसं | (छा. ४।१५।५) | ३१२ |
| आदित्ये पुरुषः चन्द्रमसि पुरुषः | (मै. उ. ६।३५) | ४९९ |
| आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः | (छा. ३।१९।१) | ११९६, ११९७, १२०४ |
| आदित्यस्य सदा पूजां | (याज्ञ. स्मृ. १।२९४) | २ |
| आदिशब्दपरित्यागो | (तं. वा. पृ. ५७४) | १११९ |
| आद्यो ज्ञानदर्शनावरण. | (तत्त्व. सू. ८।५) | ७४३ |
| आनन्द आत्मा | (तं. २।५) | १००२ |
| आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् | (तै. २।९) | १४१ |
| आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि | (तै. ३।६) | १०८ |
| आनन्दोऽजरोऽमृतः | (कौषी. ३।९) | २५९ |
| आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् | (तै. ३।६) | १०८, २२० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| आनर्थक्यात्तदङ्गेषु | (जै. सू. ३।१।१७) | ७८५ |
| आनीदवातं स्वधया तदेकं | (ऋ. ८।७।१७) | ६३८ |
| आप एव तदशितं नयन्ते | (छा. ६।८।३ | २०४ |
| आपः पुरुषवचसो भवन्ति | (छा. ५।३।३) | १२३१ |
| आपयिता ह वै कामानां भवति | (छा. १।१।७) | ९९८, १०९५, ११५३ |
| आपश्चान्नमसृजन्त | (छा. ६।२।६) | १२२८ |
| आपूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति | (छा. ४।१५।९) | १२४५, १२४९ |
| आपोऽतस्तेजसो जायन्ते | | ७८७ |
| आपोऽब्रुवन् | (शत. ब्रा. ६।१।३।४) | ५४९ |
| आप्नोति मनसस्पतिम् | (तै. १।३।२) | १२६३ |
| आप्नोति स्वाराज्यम् | (तै. १।२।६) | १२९१, १२९३ |
| आप्यायस्व समेतु ते | (तै. सं. ३।२।५) | ८८५ |
| आभूतसंप्लवं स्थानम् | (विष्णु पु. २।८।९६) | ८६ |
| आम्नायतः प्रसिद्धि | (ब्र. सि. पृ. २३) | ९५१ |
| आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् | (जै. सू. १।२।१) | ११५, ११६, १२९, १६३ |
| आयुरमृतमुपास्स्वायुः | (कौषी. ३।२) | २६३ |
| आरण्यानाकाशेष्वालभेरन् | (शत. ब्रा. १३।५।१।१५) | ७७० |
| आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः | (श्वेता. ५।८) | ८०३ |
| आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् | (गी. ६।३) | ७३ |
| आरूढपतित विप्रं | ( ) | ११७४ |
| आरूढो नैष्ठिकं धर्मं | ( ) | ११७१, ११७३ |
| आर्षं धर्मोपदेशं च | ( मनु. १२।१०६ ) | ५६१ |
| आलोचनं ग्रहणम् | (युक्तिदी. पृ. १२२ ) | ६२९ |
| आलोचनमिष्यते वृत्तिः | ( सां. का. २८ ) | ६२९ |
| आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः | ( छा. ८।८।१ ) | ८०६ |
| आविद्धकुलालवत् | ( तत्त्वा. सू. १०।७) | ७४५ |
| आश्चर्योऽस्य वक्ता | ( कठ. २।७ ) | ११८२ |
| आसु तथा नाडीषु सृप्तः | ( छा. ८।६।३ ) | ९२४ |
| आस्तामियमालयविज्ञान. | ( प्रज्ञाकर. पृ. ४५७ ) | ७३४ |
| ( इ ) | | |
| इति तु पञ्चम्यामाहुतौ | ( छा. ५।९।१ ) | ८७५, ८९९ |
| इति तु पञ्चविधस्य | ( छा. २।७।२ ) | १२०६ |
| इति नु कामयमानः | ( बृह. ४।४।६ ) | ११३९ |
| इति प्रधानेश्वरकर्तृवाद. | ( प्र. वा. पृ. ३९७ ) | ६१८ |
| इति ह स्मोपाध्यायः कथयति | ( ) | ९९७ |
| इत्याह नास्तिक्यानिराकरिष्णुः | ( श्लो. वा. पृ. ७२७ ) | ११९४ |
| इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तिः | ( भारत. १२।३२०।७६ ) | १०७३ |
| इत्थंभूतलक्षणे | ( पा. सू. २।३।२१ ) | ५१ |
| इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विलः | ( बृह. २।२।३ ) | ४७७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| इदं तेजः. इमा आपः, इदमन्नम् | ( ) | ८७० |
| इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम् | ( ) | १००४ |
| इदं महद्भूतमनन्तमपारं | ( बृह. २।४।१२ ) | ५११ |
| इदं वस्तुबलायातं | ( प्र. वा. ३।२१० ) | ७३५ |
| इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नतः | ( छा. ३।१३।७ ) | २४२ |
| इदं सर्वं यदयमात्मा | ( बृह. २।४।६ ) | ७७३, ११८३ |
| इदं सर्वमसृजत् | ( तै. २।६ ) | २२२ |
| इदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नं | ( न्या. भा. पृ. १२ ) | ७२४ |
| इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादश. | ( ) | ११०० |
| इन्द्रियं वै त्रिष्टुप् | ( ) | १०५३ |
| इन्द्रियाणां ग्रहत्वम् | (बृह. ३।२।१-९) | ४५८ |
| इन्द्रियाणामुपरमे मनोनुपरतं | ( ) | ८२२ |
| इन्द्रियार्थास्त एवेष्टाः | (अभि' को. १।१३) | ३८१ |
| इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु | (कठ. १।३।४) | ४५७ |
| इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः | (कठ. १।३।१०) | १००३ |
| इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज | (छा. ८।७ २) | ४१७ |
| इमं शरीरं परिगृह्य | (कौषी. ३।३) | २६१ |
| इमावेव गौतमभरद्वाजा वयमेव | (बृह. २।२।४) | ४१३ |
| इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः | (छा. ८।३।२) | ३५७, ९३० |
| इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य | (छा, ६।९।२) | ५५८ |
| इमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य | (छा. ६।४।७) | ८६६ |
| इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृत् | (छा. ६।३।४) | ८६९ |
| इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो | (छां | ११५२ |
| इयमेवर्गग्निः साम | (छां. १।६।१) | १०८७, १२०२, १२०५ |
| इयं विसृष्टिर्यत आबभूव | (ऋ. १०।१२९।६) | ५५३ |
| इषे त्वा ऊर्जे त्वा | (माध्यन्दिन. १।१) | ११७ |
| इष्टापूर्ते दत्तम् | (छां. ५।१०।३) | ८९८ |

( ई )

| | | |
|---|---|---|
| ईशानो भूतभव्यस्य | (कठ. २।४।१३) | ३८० |
| ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन | (गी. १८।६१) | २७३ |

( उ )

| | | |
|---|---|---|
| उक्तवाक्ये तु नृपतौ सुलभा | (भारत. १२।३२०।७७) | १०७३ |
| उक्थमुक्थमिति वै प्रजाः | (छा. १।१।१) | १११९ |
| उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं | (छा. ६।१।२) | २०३ |
| उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानः | (बृह. ७।३।१३) | ८२२ |
| उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृतेऽवद्यति | ( तै. सं. २।६।६।५) | १०९२ |
| उत्पत्तिकालविशये कालः स्यात् | (जै. सू. ४।३।३७) | ७९, १०२९ |
| उत्पत्तिर्वा विनाशो द्रव्यस्य च | (पञ्चा. ११) | ७५१ |


CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| उत्पादात्यन्तविघ्नोऽभ्यः | (अभि. को. १।६) | ६९८ |
| उत्पादाद्वा तथागतानाम् | (मध्यमक. पृ. २) | ६८५ |
| उदगं जह मच्छानां | (पञ्चा. ८५) | ७४१ |
| उदधेः परिणामोऽसौ | (लङ्का. २।१०३) | ६८३ |
| उदवासं समादत्ते | (अभि. को. ४।२८) | ७३८ |
| उदविन्दौ च सिन्धौ च | ( ) | ६९९ |
| उदिते जुहोति | (आप. श्रौ. ६।४।१०) | १०५ |
| उद्गीथमुपासीत | (छा. १।१।१) | ११५२ |
| उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदकः | (न्या. भा १।१।३) | १०९ |
| उद्बद्धं कृमिदष्टं च | ( ) | ११७४ |
| उद्भिदा यजेत | (तां बा. २१।७।२) | ४९० |
| उपयोगः खलु द्विविधः | (पञ्चा. ४०) | ७४० |
| उपलभ्याप्सु चेत्गन्धं | (भारत ) | ८०८ |
| उपांशुयाजमन्तरा यजति | (तै. सं. २।६।६।४) | १३६ |
| उपाधिना क्रियत भेदरूपः | (ब्र. बि. १२) | ९३७ |
| उपायः सोवताराय नास्ति भेदः | (गौड़. का ३।१५) | ४९६ |
| उभे ह वैष एते तरति | (बृह. ४।४।२२) | १२१६ |
| उरु एव वेदिर्लोमानि बर्हिः | (छा. ५।१८।२) | १०९४ |
| उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन् | (द्र. छा. ३।१३।७) | १२३६ |

(ऋ)

| | | |
|---|---|---|
| ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् | (ऋ. १।१६४।३९) | २३४ |
| ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य | (मनु. ६।३५) | ११४१ |
| ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके | (कठ. १।३।१) | २७९ |
| ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः | ( ) | ११२२ |
| ऋतौ भार्यामुपेयात् | ( ) | ८३३ |
| ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे | (श्वेता. ५।२) | ५३५ |
| ऋषीणां नामधेयानि | (वायुपु. ९।५७) | ४११ |

(ए)

| | | |
|---|---|---|
| एक एव प्राणः | | ११२६ |
| एक एव हि भूतात्मा भूते भूते | (ब्र. बि. १२) | ९३८ |
| एकधा बहुधा चैव दृश्यते | (ब्र. बि. १२) | ९३८ |
| एकं बीजं बहुधा यः करोति | (श्वेता. ६।१२) | ५८४ |
| एकमेव व्रतम् | (बृ. १।५।२१) | ११०० |
| एकमेवाद्वितीयम् | (छा. ६।२।१) | ११९, १९४ |
| एकया यात्यनावृत्तिमन्यया | (गी. ८।२६) | १०६९ |
| एकविंशो वा इतावसावादित्यः | (छा. २।१०।५) | १०५२ |
| एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् | (छा. ८।११।३) | ९८५ |
| एकश्चरति भूतेषु स्वैरचारी | (भारत. १२।३५१।५) | ५३८ |
| एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा | (कठ. ५।११) | ८३२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| एकीभवति न पश्यतीत्याहुः | (बृह. ४।४।२) | ८४९ |
| एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं | (छा. ६।१।६) | ५२६ |
| एकेन लोहमणिना सर्वं | (छा. ६।१।५) | ५२६ |
| एको देवः सर्वभूतेषु गूढः | (श्वेता. ६।११) | १५२ |
| एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजत | ( ) | ३९२ |
| एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः | (मुण्ड. १।२।७) | ३०९ |
| एतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न | (छा. ५।१०।८) | ८९९ |
| एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि | (छा. ८।९।३) | ३६४, ३७२ |
| एतत्सर्वं मन एव | (बृह. १।५।३) | ८४७ |
| एतत् स्यात्सर्ववेदेषु नियतं | (उद्धृत. शाबर. पृ. १२४७) | ११५३ |
| एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म | (छा. ८।११।१) | ३६६ |
| एतद् गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् | (छा. २।११।१) | १२०३ |
| ऐतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न | (कौषी. २।५) | ११३८ |
| ऐतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांस प्रजां | (बृह. ४।४।२२) | ११४० |
| एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः | ( ) | ११३८ |
| एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् | (गी. १५।२०) | १५७ |
| एतद् ब्रह्म | (छा. ३।१४।४) | २६९ |
| एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म | (प्रश्न. ५।२) | ३४६ |
| एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं | (कठ. १।१।२०) | २८० |
| एतद्वैतत् | (कठ. २।४।१३) | ३८२ |
| एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं | (महाना. २५।१) | ११३६ |
| एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः | (बृह. ३।८।८) | १०७५ |
| एतमानन्दमयमात्मानम् | (तै. २।८) | २११ |
| एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तः | (बृह. ६।१।१४) | १०१३ |
| एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः | बृह. ४।४।२२) | ११४१ ११४३ |
| एतं वै तमात्मानं विदित्वा | (बृह. ३।५।१) | ११३८ |
| एतं संयद्वाम इत्याचक्षते | (छा. ४।१५।२) | ९९० |
| एतस्माज्जायते प्राणो मनः | (मुण्ड. २।१।३) | ७८५ |
| एतस्मादात्मनः प्राणः यथायतनं | (कौषी ४।२०) | ५०५ |
| एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः | (बृह. २।१।२०) | ८४० |
| एतस्मिन्नु खल्वरे गार्गि आकाशः | (बृह. ३।८।११) | ४६४ |
| एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने | (बृह. ३।८।७) | ३४४, ३५९, ६६० |
| एतस्य वाऽक्षरस्योपव्या. | (छा. १।१।१०) | १२०५ |
| एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि | (बृह. ४।३।३२) | २१८ |
| एतं ह वाव न तपति | (तै. २।९।१) | १२६६ |
| एतं ह्येव बहवृचा महत्युक्थे | (ऐ. आ. ३।२।३।१२) | २५२ |
| एतावदरे खल्वमृतत्वम् | (बृह. ४।५।१५) | ११३८ |
| एतावानस्य महिमा | (छा. ३।१२।६) | १२९४ |
| एता ह वै देवता अहंश्रेयसे | (कौषी. २।९) | १००० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| एते अनन्ते अमृते आहुती | (कौषी. २।५) | ११०६ |
| एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते | (वै. सू. ७।१।१७) | ६५० |
| एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवम् | (छां. ४।१५।६) | १२६३, १२९६ |
| एतेन वै चित्ररथं कापेयाः | (तां. ब्रा. २०।१२।५) | ४१७ |
| एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय | (बृह. २।४।१२) | १२९० |
| एवं च रागादिनिबन्धन. | (ब्र. सि. पृ. २७) | ६२ |
| एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति | (ईशा. २) | ११३६ |
| एवमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि | (छां. ३।१४।४) | २६८, २७३ |
| एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति | (कठ. ४।१५) | १ ७९ |
| एवमेवास्य परिद्रष्टृरिमाः | (प्रश्न. ६।५) | १२४० |
| एवमेवेममात्मानमन्तकाले | (बृह. ४।३।३८) | १२२९ |
| एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरः | (बृह. २।५।१३) | १२८१ |
| एवंविच्छान्तो दान्त उपरतः | (बृह. ४।४ २३) | ११५८, ११५९ |
| एवं विद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं | (छां. ४।१७।१०) | ११३२ |
| एवं सर्वाणि भूतानि | (छां. ५।२५।२) | १०८९ |
| एवमाध्यात्मिकोऽपि | (मध्यमक. पृ. २४५) | ७०० |
| एवमेषोऽष्टदोषोऽपि | (तं. वा. पृ. १७५) | ९२१, १०५५ |
| एवं ह्यस्य सर्वे पाप्मानः | (छां. ५।२४।३) | ३१४ |
| एष आत्माऽपहतपाप्मा | (छां. ८।१।५) | १०८७, १०८८ |
| एष उ एव भामनीरेष हि | (छां. ४।१५।४) | २९०, १०२० |
| एष उ एवासाधु कर्म कारयति | (कौषी. ३।८) | ९७० |
| एष उ वा उद्गीथः | (बृह. १।३।२३) | ९९१ |
| एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः | (बृह. ३।७।३) | २२७, ९५४, ११९६ |
| एष त आत्मा सर्वान्तरः | (बृह. ३।४।१) | ९५४ |
| एष तु वाऽतिवदति | (छां. ७।१६।१) | ३३८ |
| एष नेति नेत्यात्मऽगृह्यः | (बृह. ३।९।२६) | ९५३ |
| एष ब्रह्मैष इन्द्र. | (ऐ. ५।३) | १००९ |
| एष म आत्माऽन्तर्हृदये | (छां. ३।१४।३) | १०२० |
| एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः | (कौषी. ३।८) | २५६, २५९ |
| एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् | (छां. ८।१२।३) | ३६६ |
| एष सर्वभूतान्तरात्मा | (मुण्ड. २।१।४) | ३१० |
| एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा | (कठ. ३।१२) | १००५ |
| एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः | (बृह. ४।४।२२) | २२५ |
| एष सोमो राजा | (छां. ५।१०।४) | ८८४ |
| एव हि द्रष्टा श्रोता मन्ता | (प्रश्न. ५।९) | ८१४ |
| एषह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येण | (छां० ८।५।३) | ११६८ |
| एष ह्येव कामागानस्येष्टे | (छां १।७।९) | ११५३ |
| एष ह्येव साधु कर्म कारयति | (कौषी. ३।८) | २५६, ८२५, ८२८ |
| एष ह्येवानन्दयाति | (तै. २।७) | २११, २१३ |



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| एष ह्येवासाधु कर्म कारयति | (बृह. ४।३।३२) | ८२६ |
| एषा सोम्य तेऽस्मद्विद्या | (छां. ४।१४।१) | २९३ |
| एषाऽस्य परमा गतिः | (बृह. ४।३।३२) | ८२० |
| एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः | (मुण्ड. ३।१।९) | ८००, ८०३, ८०९ |
| एषोऽस्य परम आनन्द | (बृह. ४।३।३१) | ३४० |
| (ऐ) | | |
| ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् | (छां. ६।८।७) | ५६९, ७७३ |
| (ओ) | | |
| ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म | (छां ४ १०।५) | २३४ |
| ओंकार एवेदं सर्वम् | (छां. २।२३।३) | ३४२ |
| ओंकारश्चाथशब्दश्च | ( ) | ५८ |
| ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम् | (छां. १।१।१) | ९९१, १११९, ११२० |
| ओमित्येवं ध्यायथ | (मुण्ड. २।२।६) | ८१७ |
| ओषधीर्लोमानि | (बृह. ३.२।१३) | ८८३ |
| (औ) | | |
| औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य | (जै. सू. १।१।५) | ११५ |
| औपमन्यव कं त्वमात्मानं | (छां ५।१२।१) | ११२२ |
| (क) | | |
| कं ब्रह्म खं ब्रह्म | (छां. ४।१०।५) | ११२६, ११२८, १२७० |
| कंवर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव | (छां. ४।१।३) | ४३४ |
| क इत्था वेद यत्र सः | (कठ. १।२।२५) | २७९ |
| कः पुनरयं विपर्ययः | (न्या. वा. १।१।२) | १९ |
| कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः | (बृह. ४।३।७) | ८०४, ८१० १००९ |
| कतम एको देव इति | (बृह. ३।९।९) | ४९९ |
| कतम एको देव इति प्राणः | (बृह. ३।९।९) | ३८८ |
| कतमच्चास्य स्थानं भवतीति | (जाबा. १) | ३२१ |
| कतमा सा देवतेति | (छां. १।११।५) | २२५, २४१ |
| कतमे ते | (बृह. ३।९।१) | ३८७ |
| कति ग्रहाः कत्यतिग्रहाः | (बृह. २।२।१) | ४५८ |
| कति देवाः | (बृह. ३।९।१) | ३८७ |
| कथं तस्य संसारित्वमिति चेत् | (भास्कर. पृ. ८२) | ५१९ |
| कथं ग्विदं मद्दते स्यात् | (ऐ. ३।११) | १००९ |
| कथमविनिर्भाग भूतानां | (अभि. को. भा. पृ. १८१) | ३८० |
| कथमसतः सत् जायेत | (छां ६।२।२) | ५९७ |
| कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र | (ऋ. ८।५१।७) | १०३२ |
| कदाचित्सुकृतं कर्म | ( ) | ८९३ |
| करणं त्रयोदशविधं | (सां. का. ३२) | १९१ |
| करणं प्रत्याचार्यविप्रतिपत्तेः | (युक्तिदी. पृ. १३२) | ६३८ |
| करणाधिकरणयोश्च | (पा. सू. ३।३।११७) | ६२२ |
| कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं | (मुण्ड. ३।१।३) | ५२९ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः | (मध्यमक. १८।५) | ८४ |
| कर्मक्लेशविपाकाशयैरपरामृष्टः | (यो. सू. १।२४) | ६१४ |
| कर्मजं लोकवैचित्र्यं | (अभि. को. ४।१) | ६१४. ८८९ |
| कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात् | (बृह. भा. पृ. ६९) | ११५८ |
| कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया | (विज्ञप्ति. त्रि. ९) | ८८० |
| कर्मभ्यः फलसम्बन्धः | (श्लो. वा. पृ. २१७) | ७३९ |
| कल्पन्ते हास्मै लोकाः | (छां. २।२।३) | १०९८, ११५३ |
| कषायपक्तिः कर्माणि | ( ) | ११५९ |
| कषाये कर्मभिः पक्वे | ( ) | ११५९ |
| कस्मात् पुनरयं शुक्लो | (ता. टी. १।२।१) | २२ |
| कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतः | (बृह. ३।८।७) | ३४० |
| कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते | (मुण्ड. १।१।३) | ७७३ |
| कस्मिन् ग्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तः | (प्रश्न. ६।३) | ८१० |
| काकेभ्यो रक्ष्यताम् | (तं. वा. पृ. ७१३) | ४६७ |
| कानन्यान् वस्वादीन् | ( ) | ४१३ |
| कामः संकल्पो विचिकित्सा | (बृह. १।५।३) | ८१३ |
| कामसंयोगात् | (जै. सू. १०।५।८१) | ११६५ |
| कामानां त्वा कामभाजं करोमि | (कठ. १।२४) | ९१० |
| कामो म उदपानम् | (छां. १।१०।४) | ११७१ |
| कायवाङ्मनस्कर्म | (तत्त्वा. वा. ५०५) | ७४२ |
| कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य | (सां. का. १४) | ५३५ |
| कारणबहुत्वात्कारणमहत्त्वात् | (वै. सू. ७।१।९) | ६५० |
| कारणमस्त्यव्यक्तम् | (सां. का. १६) | ४५५ |
| कारणस्यानन्तरो निरोधः | (मध्यमक. पृ. २६) | ७०७ |
| कारीर्या यजेत वृष्टिकामः | ( ) | १३४ |
| कार्यत्वात्सकलं कार्यं | (प्र. वा. पृ. ३९७) | ७१८ |
| कार्यत्वेन नियोज्यं च | (प्र. पं. पृ. ४४१) | १२७ |
| कालः स्वभावः | (श्वेता. १।२) | ९८ |
| किं तदत्र विद्यते | (छां. ८।१।२) | ३५२ |
| किं पुनस्तत्त्वम् | (न्या. भा. पृ. २) | ७३६ |
| किं प्रजया करिष्यामः | (बृह. ४।४।२२) | ११९३ |
| किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां | (शाबर. पृ. २७८) | ११०८ |
| किमव्यभिचारितैव प्रामाण्यम् | (न्या. वा. पृ. १६२) | ३३ |
| कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते | ( ) | ११२२ |
| कुञ्जरारोहणादीनि | ( ) | ९१६ |
| कुत एतदागात् | (बृह. २।१।१६) | ९२७ |
| कुतस्तु खलु सोम्यैवं | (छां. ६।२।२) | ४९२ |
| कुर्यात् क्रियेत् कर्त्तव्यम् | ( उद्धृत. शाबर. पृ. १२४७) | ११५३ |
| कुर्वन्नेवेह कर्माणि | (ईशा. २) | ११३६, ११४० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| कुलं जनपदे गोत्रे सजातीयगणे | (मेदिनी) | ७७१ |
| कुसुमे बीजपूरादेः | (प्रज्ञाकर. पृ. ३५८) | १४९ |
| कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात | ( ) | १०५३ |
| कृञ्वस्तियोगे | (पा. सू. ५।४।१०) | १७ |
| कृष्णसारस्तु चरति | (मनु २।२३) | १०० |
| कृतार्थं प्रति नष्टमनष्टम् | (यो. सू. २।२२) | ६२५ |
| कृमिकीटवयोहत्या | (मनु. ११।७०) | ५० |
| केनचित्पाशुपतेन सर्वंजरत्याः | (न्या. सु. पृ १३५) | २१७ |
| केशगोलकदीपादावपि | प्र वा. पृ. ४५३) | ७०३ |
| के शास्त्रस्थाः ? शिष्टाः | (शाबर. १।३।९) | ११० |
| को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् | ऋ. १।३०।६) | ५५३ |
| को न आत्मा किं ब्रह्म | (छां. ५।११।१) | ३१२ |
| को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् | (तै. २।७) | २११ |
| कौकृत्यं स्त्यानमिद्धं | (अभि. को. ५।४७) | ७३८ |
| क्रत्वर्थायामिति चेन्न | (जै. सू. ११।४।७) | ११०८ |
| क्रमात् ते सम्भवत्यचिरहः | (याज्ञ पृ. ३९७) | १२४५ |
| क्रियादिभिन्नं यत्कार्यं | (प्र. पं. पृ. ४४१) | १२७ |
| क्लेशकर्मविपाकानुभव. | (यो. भा. २।१३) | २२६ |
| क्लेशकर्महेतुकं जन्म | (अभि. को. भा. पृ. १३०) | ६१६ |
| क्वचिदर्थेऽपि धातुमिक् श्तिबन्तं प्रयुज्जते | (तं. वा. पृ. ३७९) | १९५ |
| क्वायं तदा पुरुषो भवति | (बृह. ३।२।१३) | १२३१ |
| क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट | (कौषी. ४।१९) | ५०५ |
| क्षणिकं विज्ञानमिति | (प्रज्ञाकर. पृ. ३१८) | ७२५ |
| क्षणिकाः सर्वसंस्काराः | (उपदेश. पृ. ९९) | ६९३ |
| क्षीयन्ते चास्य कर्माणि | (मुण्ड. २।२।८) | १२१९ |
| क्षीरनीरवदविवेचितानि | (ता. परि. पृ. ४९९) | ५७२ |
| क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि | (गी. १३।२) | २७४ |

(ख)

| | | |
|---|---|---|
| खं पुराणम् | (बृह. ५।१) | २३४ |
| खं वायुर्ज्योतिरापः | (मुण्ड. २।१।३) | ३११ |
| खराश्वोष्ट्रमृग. | (मनु. १०।६८) | ५० |
| खादिरं वीर्यकामस्य | ( ) | ६४ |
| खादिरे बध्नाति | ( ) | ६४ |
| खादिरो यूपो भवति | ( ) | १२८ |
| खे वायुः प्रलयं याति | (भारत. १२।३३९।३०) | ७९२ |

(ग)

| | | |
|---|---|---|
| गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः | (मुण्ड. ३।२।७) | १२४० |
| गन्धाय घ्राणम् | ( ) | ८०० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| गम्भीरोत्तानभेदेन | (बोधिचि.) | ६७७ |
| गायत्री वा इदं सर्वं | (छा. ३।१२।१) | २४३, २४५, २४९. २५१ |
| गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं | ( ) | ११७७ |
| गुडञ्जिह्विका मधुरोक्तिः | (कल्पतरु ३।१।८) | ५५९ |
| गुणपर्यायवद् द्रव्यम् | (तत्त्वा. सू ५।३७) | ६६६ |
| गुणमुख्यव्यतिक्रमे | (जै. सू. ३।३।९) | १०७७, १०७८ |
| गुणवैचनब्राह्मणादिभ्यः | (पा. सू. ५।१।१२४) | ११०९ |
| गुणवादस्तु | (जै. सू. १।२।१०) | ४२१ |
| गुणश्चापूर्वसंयोगे | (जै. सू. २।२।२३) | १०९६ |
| गुणस्तु विशिनष्टि साधनं | (शाबर. पृ. ६९५) | ४८५ |
| गुणानां यत्र भूयस्त्वं | (तं वा. पृ. ८१५) | १२५० |
| गुणे त्वन्यायकल्पना | (जै. सू. ९।३।१७) | १७०, २२१, ४९५ |
| गुणे शुक्लादयः पुंसि | (अमरकोषः) | ६६८ |
| गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत् | ( ) | ८३३ |
| गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् | (कठ. १।२।१२) | २८३ |
| गूढधर्माश्रितो विद्वान् | ( ) | ११८० |
| गृहस्थः सदृशीं भार्याम् | (गौतमस्मृ. ४) | ४९ |
| गृही भूत्वा वनी भवेत् | (जाबा. ४) | ७५ |
| गोत्वानुषङ्गो वाहीके | (वाक्यप. २।२५५) | १८२ |
| गोदोहनेन पशुकामस्य | (आप. श्रौ. १।१६।३) | ७८, ८३३, १०९८ |
| गोभिः श्रीणीत मत्सरम् | (ऋ. ९।४६।४) | ४६१ |
| गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे | (सुन्दरपाण्डय) | १८१ |
| गौणमुख्ययोर्मुख्ये | (परिभाषेन्दु. पृ. ६८) | २४२ |
| ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं | (तै. सं. ३।१।२।४) | ११३२ |
| ग्रहणस्मरणे चेमे | (प्र. पं. पृ. ४९) | २९ |
| ग्रहेऽनेकस्य चैकेन | ( ) | ७१४ |
| (घ) | | |
| घनशब्दो जात्यन्तरप्रतिषेधार्थः | (बृह. भा. २।४।१२) | ५१० |
| (च) | | |
| चक्षुरादिग्रहणनिमित्तत्वात् | (तत्त्वा. वा. पृ. ५०५) | ७४२ |
| चक्षुश्च द्रष्टव्यं च | (प्रश्न. ४।८) | ८५० |
| चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा | (बृह. ४।४।२) | ८०२, १२३९ |
| चत्वारः प्रत्यया उक्ताः | (अभि. को. २।६१) | ६९५ |
| चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चा. | (मध्यमक. १।४) | ६९५ |
| चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषः | (छां. ४।१५।५) | १२५५ |
| चमसेनापः प्रणयति | (आप. श्रौ. १।१५।३) | ७८, ७९, १०९८ |
| चरिया पमादबहुला | (पच्चा. १३९) | ७४२ |
| चरैवेति चरैवेति | (ऐ. ब्रा. ३।३।२) | १०४२ |
| चालनेन ह्यसि योद्धा | (श्लो. वा. पृ. ७१०) | १७७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| चित्रया यजेत पशुकामः | (तै. सं. २।४।६।१) | १३४ |
| चैत्यमभिवन्देत स्वर्गकामः | ( ) | १२१ |
| चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः | (जै. सू. १।१ २) | ११४ |
| चोदना हि भूतं भवन्तं | (शाबर. पृ. १३) | ८०, १६४, ११९४ |
| चोदनेति क्रियाया. प्रवर्तकं | (शाबर. पृ. १२) | ८१. १२९ |
| चोदनेत्यब्रवीच्चात्र | (श्लो. वा. पृ. ४७) | ८० |
| (छ) | | |
| छन्दांसि द्वादनात् | (निरु. ७।२) | १०५४ |
| छागस्य वपाया मेदसा | (शत. ब्रा. ३।८।२।२६) | ८५७ |
| छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति | (कठ. १।३।१) | २७९ |
| (ज) | | |
| जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे | (भारत १२।३३६।२९) | ७९१ |
| जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन | (बृह. ३।१।१) | ११३५ |
| जनिकर्तुः प्रकृतिः | (पा. सू. १।४।३०) | ७८५ |
| जयतीमान् लोकान् | (बृह. ५।४।१. | १०८५ |
| जरामर्यं वा एतत् सत्रम् | (तै. आ. १०।६४।१) | ७८ |
| जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात् | (तै. सं. ५।४।३) | ९४२ |
| जह हवदि धम्मदब्बं | (पञ्चा. ८६) | ७४१ |
| जातपुत्रः कृष्णकेशः | ( ) | ४९ |
| जातिगोचरविज्ञानसामान्यात् | (अभि. को. १।१९) | ८४८ |
| जातिव्यक्ती गृहीत्वेह वयं | (श्लो. वा. पृ. ९४४) | ११२० |
| जातुकर्णोऽभवत् | (विष्णुपु. ३।३।१९) | २ |
| जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः | (छा. ४।१।१) | ११५५ |
| जामि वा एतद् यज्ञस्य | (तै. सं. २।६।६) | ११९, १३५, १३६ |
| जायतेऽस्ति वर्धते | (नि. १।१) | १०१ |
| जायमानो ह वै ब्राह्मणः | (तै. सं. ६।३।१०।५) | ६३, ७३ |
| जायस्व म्रियस्व | (छां. ४।१।१) | ८४, ८९७, ८९९ |
| जीवाजीवौ भावौ | (पञ्चा. १०८) | ७३९ |
| जीवाः पुग्गलकायाः | (पञ्चा. ४) | ७४० |
| जीवापेतं वाव किलेदं | (छां. ६।११।३) | ७६४ |
| जीवितात्ययमापन्नो यः | (मनु. १०।१०४) | ११६३ |
| जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं | (श्वेता. ४।७) | १०७६ |
| ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः | (श्वेता. १।११) | ९१८ |
| ज्ञानं विरागमैश्वर्यं | (वायु पु. ) | २ |
| ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैः | ( ) | १०७३ |
| ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः | (मुण्ड. ३।१।८) | ९५४ |
| ज्ञानमात्मनि महति | (छां. १।३।११) | ४६१ |
| ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्य. | (अहिर्बु. पृ. ५२७) | ७६४ |
| ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि | (गी. ४।३७) | १०७३ |
| ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि | (गी. १३।१२) | ९३७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| ज्यायान् दिवः | (छा. ३।१४।३) | ९६२, १०२० |
| ज्यायान् पृथिव्याः | (छा. ३।१४।३) | २३२ |
| ज्यायानाकाशात् | (शत. ब्रा. १०।६।३।२) | ३५३ |
| ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति | (बृह. ६।१।१) | ९८२ |
| ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः | (भारत, १२।४७।५४) | ९५४ |
| ज्योतिर्दीप्यते | ( ) | २४७ |
| ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते | (भारत. १२।३३९।२९) | ७९१ |
| (त) | | |
| तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति | (छा. ८।६।३) | ९२४ |
| तं प्रेतं दृष्टमितोऽग्नय एव | (छा. ५।९।२) | ९८१ |
| तं यथा यथोपासते, तदेव भवति | (मुद्गलो. ३।३) | २०७ |
| तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते | (बृह. ४।४।२) | ११३५, ११३८, ११३९ |
| तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार | (छा. १।२।१३) | ११७५ |
| त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा | (छा. ६।९।३) | ९३० |
| त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयः | (छा. ५।१०।६) | ९०३ |
| त इह एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् | (बृह १।५।२१) | ८६५ |
| त एते सर्वे एव समाः | (बृह. १।५।१३) | १०९९ |
| तच्च वर्तते स्रोतसौघवत् | (त्रिंशि. ४) | ६८४ |
| तच्च सर्वसांक्लेशिकधर्म. | (त्रिंशि १३६, १३७) | ६८५ |
| तच्चौदकेषु मन्त्राख्या | (जै. सू. २।१।३२) | २१३, ५०९ |
| तज्जलानिति शान्त उपासीत | (छा. ६।२।३) | ५७५ |
| ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमः | (यो. सू. १।२९) | ४१, १९८ |
| ततः स्वभावो भूतात्मा | (प्र. वा. पृ १४४) | ४३ |
| ततस्तु तं पश्यते निष्कलं | (मुण्ड. ३।१।८) | ९५४ |
| ततस्तुतोष भगवान् हरिः | (भारत. १२।३४९।४२) | १०७१ |
| ततोऽपि यावदुक्तं स्यात् | (जै. सू. १०।७।२४) | ९८८ |
| तत्केन कं पश्येत् | (बृह. २।४।१३) | १२० |
| तत्केन कं विजानीयात् | (बृह. २।४।१४) | १२९० |
| तत्तेज ऐक्षत | (छा. ६।२।३) | १८७, २०० |
| तत्तेजोऽसृजत् | (छा. ६।२।३) | ५१५, ७६७, १०८८ |
| तत्त्वप्रतिपत्तिरेष्वपि | (ब्र. सि. पृ. ७८) | ८४१ |
| तत्त्वमसि (छा. ६।८।७) | ५३, ६७, ९२, १२०, ७९३, ९९७, १२६७ | |
| तत्प्रकृतवचने मयट् | (पा. सू. ५।४।२१) | २०९ |
| तत्प्रयत्यभिसंविशन्ति च | (तै. उ. ३।१) | २७९ |
| तत्र को मोहः कः शोकः | (ईशा. ७) | १२६६ |
| तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते | (गी. ६।४१) | ११८२ |
| तत्र दुःखमनुभूय | (भास्कर. पृ. १५६) | ८९९ |
| तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजं | (यो. सू. १।२५) | १८८ |
| तत्र यः परमात्मा हि सः | (भारत. १२।२५३।१५) | ८३२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| तत्र लोकेऽयमयशब्दः | (शाबर. १।१।१) | ६० |
| तत्रैश्वरबुद्धिमपेक्ष्य | (प्रशस्त. पृ. ३२४) | ६४६ |
| तत्रतच्छुङ्गमुत्पतितुं सोम्य ! | (छां ६।८।३) | १२६६ |
| तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि | (बृह. ३।९।२६) | १६३ |
| तत् षट्त्रिंशत् सहस्राणि | ( ) | ११०२ |
| तत्सत्यमित्याचक्षते | ( ) | ४९७ |
| तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि | (छा. ६।८।७) | ९१८, ९४१ |
| तत् सदासीत् | (छां. ३।१९।१) | ४९७ |
| तत्समवेतेति कोऽर्थः | (प्र. वा. भा. पृ. ८०) | ३७१ |
| तत्सिद्धिः | (जै सू. १।४।२३) | ४२१ |
| तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते | (कौषी. १।४) | १०५०, १०५२ |
| तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् | (तै २।६।१) | ७९७ |
| तथाऽक्षराद्विविधाः | (मुण्ड. २।१।१) | ७९६ |
| तथागतो यत्स्वभावः | (मध्यमक. २२।१६) | ७७८ |
| तथा तं पुरुषं विश्वम् | (भारत १२।३५०।२६) | ५३८ |
| तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय | (मुण्ड. ३।२।८) | १०५०, १०६४ |
| तथा हि सम्यक् लक्ष्यन्ते | (प्र वा. पृ. ४५३) | ७०३ |
| तदक्षरमधिगम्यते | ( ) | ३०६ |
| तदनन्तरं नामवचनम् | (तत्त्वा वा. पृ. ५७०) | ७४४ |
| तदन्यस्य विकल्पादेः | (तत्त्वसं. पृ. ४३५) | ७२६ |
| तदंशो जीवोऽस्ति | (भास्कर पृ. १४१) | ५२१ |
| तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः | (छां. ८।५।३) | १२६४ |
| तदपोऽसृजत | (छां. ६।२।३) | ७१८ |
| तदप्येष श्लोको भवति | (तै. २।६) | २२० |
| तदाकाशमसृजत | ( ) | ७६८ |
| तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्यां | (जै. सू. ३।२।२१) | ११४७ |
| तदात्मानमेवावेदहं | (बृह. १।४।१०) | १४१ |
| तदात्मानं स्वयमकुरुत | (त. २।५) | ५२८ |
| तदाश्रितः तत्प्रतिष्ठश्चैत्रो भवति | (छां. भा. पृ. ४३१) | २९६ |
| तदाहुः किं तदसदासीत् | ( ) | ८३९ |
| तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी | ( ) | ११५१ |
| तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं | (कठ. १।२।१२) | २८४ |
| तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति | ( ) | २८५ |
| तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम | (छां. १।६।१) | १२०५, १२११ |
| तदेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं | (छां. २।११।१) | १२०३ |
| तदेतद् दृष्टं च श्रुतं च | (छां. ३।१३।८) | २४३ |
| तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम् | (बृह. २।५।१९) | ११९, ९३६, ९४० |
| तदेतेषां प्राणानां विज्ञानेन | (बृह. २।१।१७) | ८०६, ८१४ |
| तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि | (केन. १।५) | १४७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म | (कठ. ५।८) | ९११ |
| तदेवार्थमात्रनिर्भासं | (यो. सू. ३।३) | ८।७ |
| तदेषां प्राणानां विज्ञानेन | (बृह. २।१।१७) | ८१४, ८१५, ८२२ |
| तदैक्षत ब्रहु स्यां प्रजायेय | (छां. ६।२।३) | १८७, १९०, ११३७ |
| तद्गुणास्तु विधीयेरन् | (जै. सू. १।४।९) | २६३ |
| तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः | (बृह. ४।४।१६) | १२७८ |
| तद्ध देवा उद्गीथमाजगमुः | (छां. १।२।१) | ९९० |
| तद्धास्य विजज्ञौ | (छां. ६।१६।३) | ५८१ |
| तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतं | (बृह, १।४।७) | ४६२ |
| तद्धक आहुरसदेवेदमग्रे | (छां. ६।२।१) | ५९७ |
| तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः | (बृह. १।४।१०) | १४१, १०७५ |
| तद् ब्रह्म | (तै. ३।१।१) | १२६६ |
| तद् ब्रह्म तदमृतं स आत्मा | (छां ८।१४) | ४४९ |
| तद्भाविताः प्रपद्यन्ते | (विष्णुपु. १।५।६१) | ४१० |
| तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः | (जै. सू. १।१।२५) | १२९ |
| तद्य इत्थं विदुः | (छां. ५।१०।१) | ८९८, १०६८ |
| तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं | (छां. १।७।६) | २२७ |
| तद्य इह रमणीयचरणाः | (छां. ५।१०।७) | ८८८, ९०७, १२६८ |
| तद्य एवंतं ब्रह्मलोकं | (छां. ८।४।३) | १२५० |
| तद्यत्किंचेमानि भूतानि | ( ) | ११०३ |
| तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यः | (बृह. ५।५।२) | १०१७, १०८४ |
| तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः | (छां. ८।६।३) | ९१९ |
| तद्यथा तृणजलायुका | (बृह. ४।४।३) | ८७६ |
| तद्यथा महारजनं वासः | (बृह. २।३।६) | ९४७ |
| तद्यथाम्रे फलार्थे द्विमित्ते | ( ) | १२६९ |
| तद्यथा रथस्यारेषु | (कौषी. ३।९) | २६० |
| तद्यथा शंकुना सर्वाणि | (छां. २।२३।३) | ३४१ |
| तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते | (कौषी. ४।२०) | ५०० |
| तद्यथाहिनिर्ल्वयनी बल्मीके | (वृह. ४।४।७) | १७९ |
| तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं | (छां. ५।२४।३) | १२१३ |
| तद्यथेह कर्मचितो लोकः | (छां. ८।१।६) | ८६, ८७ |
| तद्यदपां शर आसीत् | (बृह. १।२।२) | ७८८ |
| तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् | (छां. ५।१९।१) | १०८९ |
| तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदक वा | (छां. ४।१५।१) | २९० |
| तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत | (बृह. १।४।१०) | २६० |
| तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ | (ऐ. २।४।३) | १०८२ |
| तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् | (वै. सू. १०।२।९) | ७५९ |
| तद्वा अस्य तदाप्तकामम् | (बृह. ४।३।२१) | ८२० |
| तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टम् | (बृह. ३।८।११) | ३४५ |
| तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म | (तै. ३।१) | ८१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेव | (मुण्ड. १।२।१२) | ३०९ |
| तद्विद्वांसः श्रोत्रियाः | (बृह. ६।१।१४) | १०११ |
| तद्विपरीतमणु | (वै. सू. ७।१।१०) | ६५० |
| तद्विपरीतमव्यक्तम् | (सां. का. १०) | ६०६ |
| तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति | (छां, ८।६।३) | ९२४ |
| तन्तुपटयोरनित्ययोः | (प्रशस्त. पृ. ३८०) | ६७० |
| तप एव द्वितीयः | (छां. २।२३।१) | ११४३, ११४४ |
| तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये | (मुण्ड. १।२।११) | ११४१, ११४२ |
| तपसा चीयते ब्रह्म | (मुण्ड. १।१।८) | १९२ |
| तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व | (तै. ३।२) | ७७१ |
| तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नयः | (छां. ५।९।२) | ९८३ |
| तप्ते पयसि दध्यानयति | ( ) | १३१ |
| तमजातशत्रुर्मृषा वै खलु | ( ) | ५०१ |
| तं मा भगवान् शोकस्य पारं | (छां. ७।१।३) | ३३९ |
| तमाहापो वै खलु मीयन्ते | (बृह. १ ५।२३) | १२९५ |
| तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति | (बृह. ४।४।२) ८४९, ८६१, ८८२, | १२२१ |
| तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे | (छां. १।२।७) | ९९० |
| तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति | ( ) | १२२२ |
| तमेतं वेदानुवचनेन | (बृह. ४।४।२२) | ११५८ |
| तमेव धीरो विज्ञाय | (बृह. ४।४।२१) ६३, | ११८६ |
| तमेव भान्तमनुभाति सर्वं | (कौषी. २।५।१५) | २४८ |
| तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् | (बृह. ४।४।१७) | ४८० |
| तमेव विदित्वातिमृत्युमत्येति | (श्वेता ६।१५) | २५८ |
| तमेवैकं जानथ आत्मानम् | (मुण्ड. २।२।५) | ३२३ |
| तं यथा यथोपासते | (मुद्गलो. ३।३) | २०७ |
| तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति | (श्वेता. ४।६) ७६०, ८३२, | ८३३ |
| तयोर्ध्वंपायन्नमृतत्वमेति | (छा. ८।६।६) १२४३, १२४८, १२६३. | १२९६ |
| तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन | (तै. सं. ५।३।१२।२) | १२१३ |
| तरति शोकमात्मवित् | (छां ७।१।३) | ११३३ |
| तर्कोऽप्रतिष्ठः | (भारत. ३।३१३।११७) | ३४७ |
| तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते | (बृह. ४।४।२) | ११३५ |
| तं विद्याच्छुक्रममृतम् | (कठ. २।६।१७) | ३८४ |
| तस्माच्चैत्ररथिर्नामेकः | ( ) | ४३७ |
| तस्माच्छान्तो दान्तः | (बृह. ४।४।२३) | ८५ |
| तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः | (तै. सं. ७।१।१।६) | ४२८ |
| तस्माज्जुगुप्सेत | ( ) | ८७३ |
| तस्मात् कायाः प्रभवन्ति | (आष. ध. सू, १।८।२३।२) | ५३६ |
| तस्मात् तव सुतं प्रसुतं | (छा. ५।१२।१) | ११२३ |
| तस्मात् पञ्चगुणा भूमिः | ( ) | ६६२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागः (तै. सं. २:६।८।५) ११६०
तस्मादग्निः समिधो यस्य (मुण्ड. २।१।५) ३११
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षं (सां. का. ६) ५६१
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं ( ) ५३६
तस्मादुपशान्ततेजाः (प्रश्न. २·९) १२२७
तस्मादु ह्येवंविदुद्गाता (छा. १)७।९) ११७६
तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् (बृह. १।५।२३) १०९९
तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः (बृह. १।५।२१) ८६५
तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात् ( ) ४०९
तस्मादेवंवित्प्रशान्तो दान्तः (बृह. ४।४।२३) ११५९
तस्मादेवंविदमेव ब्राह्मणं (छां ४।१७।१०) १२२२
तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेत् ( ) १०११
तस्माद् दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यः (शाबर. पृ. ९५५) ४३२
धस्माद्धर्मार्थिभिः (श्लो. वा. पृ. २१७) ७३९
तस्माद् ब्राह्मणऽ पाण्डित्यं (बृह. ३।५।१) ११७६, ११७९
तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिवेत् (बृह. ३।५।१) ११६४
तस्माद् यत्र क्वचन वर्षति ( ) ७८७
तस्माद् ययोः समो दोषः (श्लो. वा. पृ. ३४१) ५५९
तस्माद् वा एतदशिष्यन्तः (छा. ५।२।२) १०११
तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात् (छा. ५।२।२) २१७
तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः (तै. २।१) २२०, ७०१, ७६८ ७६७. ७७३, ७७४, ७७७, ७८१. ७८३, ७८५-७८९, ७९२, ८३९, १००७
तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयात् (तै. २।३) २०९
तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात् (तै. ३।२।२) २०९
तस्माद् वा एतस्माद्विज्ञानमयात् (तै. २।५) २०९
तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयात् (तै २।४) २०९
तस्मान्वार्थेषु (प्र. वा, ३।२१२) ७२३
तस्मान्नियोज्यसम्बन्धः (प्र. पं. पृ. ४३६) १२१
तस्माल्लोकात्पुनरेति (बृह. ४)४।६) ८०१
तस्माल्लोकानुसारेण (प्र. पं. पृ. ४८) १२१
तस्मिन् तस्मिंस्तु तन्मात्रं (विष्णुपु. १।२।४४) ६६३
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः (छां. ५।४।२) ८८३, ८८४
तस्मिन् यदन्तः (छा. ८।१।१) ३५२
तस्मिन् यावत्सम्पातम् (छा. ५।१०।१५) ८८७
तस्मिन् वसन्ति शाश्वतीः समाः (बृह. ५।१०।१) १२४९
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे (कठ. ५।८) ९११
तस्मै बलिहरणम् (बृह. ६।१।१३) ५५१
तस्मै मृदितकषायाय (छा. ७।२६।२) १४२
तस्य ज्ञानमुपदेशः (जं. सू. १।१।५) ८१, १२०, १२९, ९६६


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| तस्य तस्याचलां श्रद्धां | (गीं. ७।२०) | ६७० |
| तस्य तावदेव चिरम् | (छा. ५।१४।२) | १०७१ |
| तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति | (कौषी. १।४) | १०५० |
| तस्य प्रियमेव शिरः | (तै. २।५) | २१० |
| तस्य भासा सर्वमिदं विभाति | ( मुण्ड. २।२।१०) | ३१९ |
| तस्य भूरिति शिरः | (बृह. ५।५।३) | २४२ |
| तस्य मे तत्र लोम च न | ( ) | २६० |
| तस्य य आत्मानमाविस्तरां | (ऐ. आ. २।३।२) | २०८ |
| तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकं | (छा. १।६।७) | २२३ |
| तस्यर्क्चं साम च गौष्णी | (छा. १।६।८) | १०८७ |
| तस्य तावदेव चिरं | (छा. ६।१४।२) १०७०, १०७४, १२१८ १२२४ | |
| तस्य प्रसङ्गतया पारतन्त्र्येण | (तात्पर्य. पृ. ६१) | ६५८ |
| तस्य प्रियमेव शिरः, मोदः | (तै. २।५) | २१०, २११, १००२ |
| तस्य श्रद्धैव शिरः | (तै. २।४) | ८२३ |
| तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारः | (छा. ७।२४।२) | १२८० |
| तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य | (छा. ५।१८।२) | ११२३ |
| तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते | (बृह. ४।४।२) | १२४३ |
| तस्याग्निरेवाग्निर्भवति | (बृह. ६।२।१४) | ९८३ |
| तस्यापत्यम् | (पा. सू. ४।१।९२) | ३७५ |
| तस्याभिध्यानात् तृतीयं | (श्वेता. १।११) | ९१७ |
| तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य | (छां. १।७।५) | ९५८, १०१९ |
| तस्यैवंविदुषो यज्ञस्यात्मा | (म. वारा. ८०) | १०२१ |
| तस्यैष एव शारीर आत्मा | (तै. २।३) | २१० |
| एस्यैवा दृष्टिः | (छा. ३।१३।७) | २४२ |
| तस्यैषा श्रुतः | (छा. ३।१३।८) | २४२ |
| तस्योदिति नाम | (छा. १।६।७) | २२५ |
| तस्योपनिषदहमिति | (बृह. ५।५।४) | १०१७ |
| तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जाद् | (कठ. १।६।१७) | ३८४ |
| तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं | (श्वेता. ६।१८) | ४०९ |
| तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार | (छा. १।२।१३) | ११७५ |
| तं होपनिन्ये | (शत. ब्रा. ११।५।३।१३) | ४३८ |
| ता अन्नमसृजन्त | (छा. ६।२।४) | ७६७ |
| ता आप ऐक्षन्त | (छा. ६।२।४) | १८७, २०० |
| तां चेद्विद्वानुद्गास्यति | (छा. १।१०।१०) | १०१६ |
| तादर्थ्यसमासे प्रकृति. | (महाभाष्य. २।१।३६) | ८७ |
| तादर्थ्यात् कटार्थेषु | (न्या. सू. २।२।६१) | ५९३ |
| तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा | (बृह. १।५।२१) | ११०० |
| तान्येव ते प्रपद्यन्ते | (विष्णुपु. १।५।६०) | ४१० |
| तान् वरिष्ठः प्राण उवाच | (प्रश्न. २।३) | २६१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| तान् वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः | ( ) | १२५७ |
| तान् ह्यानुपनीयैव | (छा. ५।११।७) | ४३८ |
| तान ह्येतानेवंविदे | ( ) | ११०३ |
| तापक्लस्य रजसः सत्त्वमेव | (यो. भा. २।१७) | ६३८ |
| ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति | (बृह. २।१।९) | ९१९, ९२०, ९२५ |
| ताभिः सार्धमिदं सर्वं | (मनु. १।२७) | १२३१ |
| ताभ्यामग्नीषोमीयमेकादश. | (तै. सं. २।५।२) | ९०३ |
| ताभ्यो गामानयत | (ऐत. १।२) | १००७ |
| तां योगमिति मन्यन्ते | (कठ. २।६।११) | ५४२ |
| ता वा एता दशैव भूतमात्राः | (कौषो. २।१४) | २६३ |
| ता वा एताः सर्वा देवता | (कौषी. २।१४) | ५५० |
| तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च | (छां. ३।१२(६) | २५०, १२९४ |
| तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ | ( ) | २८५ |
| तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां | (छां. ६।३।२) | १९५, ८६६ |
| तासु यदा भवति. तदा सुप्तः | (कौषी. ४।१९) | ९१९, ९२४ |
| तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्र. | (सां. का. ६७) | ७४५ |
| तिस्र एव साह्नस्योपसदः | (तै. सं. ६।२।५।१) | ४४५ |
| तीर्थे स्नाति | (तै. सं. ६।१।१) | ८९५ |
| तुविग्रीवो वपोदर' सुबाहुः | (ऋ. ८।१७।८) | ४१४ |
| तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया | ( ) | ४१५ |
| ते चन्द्रं प्राप्य | (बृह. ६।२।१६) | ८८५ |
| तेज एव तत्पीतं नयति | (छां. ६।८।५) | २०४ |
| तेजः परस्यां देवतायां | (छां. ६।८।६) | १२३४ |
| तेजसा हि तदा सम्पन्नः | (छां. ८।६।३) | ९२४ |
| तेजोऽतो मातरिश्वनो जायते | ( ) | ७८६ |
| ते तृप्ताः तर्पयन्त्येनं | ( ) | ४१५ |
| ते तेषु ब्रह्मलोकेषु | (बृह. ६।२।१५) | १२४९ |
| ते ध्यानयोगानुगताः | (श्वेता. १।३) | ३४७ |
| ते न ज्ञाता अभिभवात् | (प्र. पं. पृ. ४९) | २८ |
| तेन बद्धस्य वै बन्धो | ( ) | ८४९ |
| तेन भूतिषु कर्तृत्वम् | (तं वा. पृ. ३८२) | ५०४ |
| तेन यत्प्रार्थ्यते जातेः | (श्लो. वा. पृ. ५१६) | ३६८ |
| तेन यदश्नाति यत्पिबति | ( ) | ८५६ |
| तेन रक्तं शगात् | (पा. सू. ४।२।२) | ३७५, ३७८ |
| तेन ह्यन्तं क्रियते | (शत.ब्रा. २।४।३।२३) | २६७ |
| तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते | (छां. १।१।९) | ११३२ |
| तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत् | (बृह. ४।४।९) | ११७० |
| तेनो एतस्यै देवतायै | (बृह. १।५।२३) | ११०० |
| तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं | (छां. ४।१।१०) | १०७६, १२२२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| ते मनसैवाधीयन्त | ( ) | ११०७ |
| ते यदन्तरा तद् ब्रह्म | (छां. ८।१४।१) | ८४८ |
| तेऽर्चिरभिसंभवन्ति | (बृह. ६।२।१५) | १२५६ |
| तेऽर्चिषमभिसंवन्ति | (बृह. ६।२।१५) | १२४८, १२५१, १२५६ |
| तेऽर्चिषमेवाभिसंभवन्ति | (छां. ५।१०।१) | १२५१ |
| ते वा एते आहुती हुते | (शत. ब्रः. ११।६।२।६) | ८८५ |
| ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः | (छां. ३।१।३।६) | ४८९ |
| ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये | (छा. ४।३।८) | २५३ |
| तेषां खल्वेषां भूतानां | (छा. ६।३।१) | ९०० |
| तेषां न पुनरावृत्तिः | (बृह. ६।५।१५) | १०७०, १२९६ |
| तेषामेकैक एव तावान् | ( ) | ११०७ |
| तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां | (मुण्ड. ३।२।१०) | ९८४ |
| तेषां यदा तत्पर्यवैति | (बृह. ६।२।१६) | ८८८ |
| तेषां ये यानि कर्माणि | (विष्णुपु. १।५।६०) | ४१० |
| तेषां सर्वेषु लोकेषु | (छा ७।२५।२) | १२९१ |
| ते ह देवा ऊचुर्हन्त | (बृह. १।३।१) | ९८९ |
| ते ह प्राणाः प्रजापतिं | (छा. ५।१।७) | ५५० |
| ते ह वाचमूचुः | (बृह. १।३।२) | ८६४. ९९० |
| ते ह्यैमे प्राणाः | (बृह. ६।१।७) | ५४९ |
| ते ह्येते विद्याचितः | ( ) | ११०५ |
| ते होचुर्हन्त | (छा. ८।६।२) | ४१७ |
| तौ यदूचतुः कर्म हैव | (बृह. ३।२।१३) | १२३१, १२३२ |
| तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ | (छा. ४।३।४) | ११०० |
| तौ ह पुरुषं सुप्तं | (बृह. २।१।१४) | ४९९ |
| त्यजेदेकं कुलस्यार्थे | (तं. वा. पृ. ११६) | २३३ |
| त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः | (कैव. ३) | ३२८ |
| त्रय एते पुण्यलोकभाजः | ( ) | ११४९ |
| त्रयश्च त्री च शता च | (बृह. ३।९।१) | ३८७ |
| त्रयं सुविदितं कार्यं | (मनु १२।१०५) | ५६१ |
| त्रयो धर्मस्कन्धाः | (छा. २।२३।१) | ११४१, ११४४, ११४७ |
| त्रिपादस्यामृतं दिवि | (छा. ३।१२।१) | २४६, २४७, २४९ |
| त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं | (श्वेता. २।८) | ५४२ |
| त्रिविधं हि योगाचरणं | (स्फुटा. ६।४) | ७२६ |
| त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम् | ( ) | २५९ |
| त्रिष्टुभो भवतः | ( ) | १०५३ |
| त्रीन् वृणीते इति त्रित्वं | (शावर पृ. १३८४) | २३९ |
| त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् | (तै. सं. २।५।५।२) | ९९२ |
| त्वं जातो भवसि | ( श्वेता. ४।३) | ७८२ |
| त्वं न उद्गाय | (बृह. १।३।२८) | ९९०, ९९१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| त्वग्वै ग्रहः | (बृह. २।२।९) | ४५८ |
| त्वमहमस्मि. अहं च त्वमसि | (ऐ. ) | ११९५ |
| त्वं स्त्री त्वं पुमान् | (श्वेता. ४।३) | ८२९ |
| त्वमेवम्मे बृणीष्व | ( ) | २५८ |
| त्वं बा अहमस्मि भगवो देव | (वराहो. २।३४) | ११९५ |
| त्वं हि नः पिता | (प्रश्न. ३।८) | १४२ |
| द | | |
| दण्डी प्रैषान् अन्वाह | ( ) | ५६ |
| दध्ना जुहोति | (आप. श्रौ. ६।२५) | ६४, ११८ |
| दध्नेन्द्रियकामस्य | (तै. ब्रा. २।१।५।६) | ६४ |
| दर्विहोमं कुर्यात् | (जै. सू. ८।४।१९) | १२४ |
| दर्विहोमो यज्ञाभिधानं | (जै. सू. ८।४।१) | १०६७ |
| दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः | (आप. श्रौ. ३।१४।८) | ९८, ७९, ८३४ |
| दर्शयित्वा प्रभावं स्वं | (भारत. १२।३३९।१९) | १२४० |
| दर्शाल्लक्षिते काले सोम. | (न्या. मा. पृ. २५१) | १०२९ |
| दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्ति | ( ) | १००४ |
| दशेमे पुरुषे प्राणाः | (बृह. ३।९।४) | ४४५ |
| दहरं पुण्डरीकं वेश्म | (छां. ८।१।१) | १०२० |
| दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः | (छां. ८।१।१) | ३५९ |
| दिक्षु अतीकाशान् | (तै. सं. ६।१।१।१) | १०७४ |
| दिक्संख्ये संज्ञायाम् | (पा. सू. २।१।५०) | ४८० |
| दिवं च पृथिवीं च | (ऋ. १०।१९०।३) | ४१० |
| दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः | (मुण्ड. २।१।२) | ९३६ |
| दिशः श्रोत्रे विद्धि | (बृह. ३।२।१३) | ३१५ |
| दीक्षादि सद्यः सर्वं क्रियते | (कात्या. श्रौ. २२।३।२७) | ७६ |
| दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष. | (न्या. सू. १।१।२) | १४२ |
| दुष्टेषु हि ज्ञातं मिथ्या | (शाबर. पृ. २८) | ५३९ |
| दूरेण ह्यवरं कर्म | (गी. २।४९) | १२२२ |
| दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मता | (यो. सू. २।६) | ६३५ |
| दृश्यते त्वग्रया बुद्धया | (कठ. १।३।१२) | ७९२, ८१७, १००५ |
| दृष्टं च श्रुतं च | (छां. ३।१३।८) | २४८ |
| दृष्टा चाभिन्नेऽप्यर्थे | (विज्ञप्ति. पृ. २६४) | ६७७ |
| दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मवि. | (शाबर. पृ. ६) | १२९ |
| देवछन्दांसि पूर्वाणि | ( ) | १०५४ |
| देवता वा प्रयोजयेत् | (जै. सू. ९।१।६) | ४२८ |
| देवतासम्बन्धिनः शब्दस्यैव | (संकर्ष. पृ. २०५) | ४२६ |
| देवतोद्देशेन स्वत्वत्यागमात्रं | (तं. वा. पृ. ९८१) | ४२५ |
| देवदत्तादिशब्देन | (ता. री. पृ. २३०) | ३४२ |
| देव सवितः प्रसुव यज्ञं | ( ) | १०२४ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| देवस्य त्वा सवितुः | (तै. सं. १।१।४।२) | १०३७ |
| देवा अपि मार्गे मुह्यन्ति | (भारत. १२।२७०।२२) | १२३९ |
| देवानां मोदनात्मध्विव | (छा. भा. पृ. १३९) | ४१२ |
| देवा ह वै सत्रं निषेदुः | ( ) | १०५५ |
| देवो भूत्वा देवानप्येति | (बृह. ४।१।२) | ११२९ |
| देशना लोकनाथानां | (बोधि. चि. वि.) | ६७७ |
| देशना हि यदन्यस्य | (लङ्का. पृ. १३४) | ६७८ |
| देशबन्धश्चित्तस्य धारणा | (यो. सू. ३।१) | ८१७ |
| द्यां मूर्धानं यस्य | ( ) | ३१५ |
| द्युलोकादीनां चानग्नीनां | (बृह. ८।२।९) | ४५० |
| द्रव्यं देवतामुद्दिश्य | (जै. सू. ४।२।७७) | ४२५ |
| द्रव्यक्रियागुणादीनां | (श्लो. वा. पृ. ४९) | १०३ |
| द्रव्यविकारं तु पूर्ववद् | (जै. सू. १२।४।१०) | १०९२ |
| द्रव्यसंस्कारकर्मसु | (जै. सू. ४।३।१) | १०९६, ११३५ |
| द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते | (वै. सू. १।१।१०) | ७६७, ७६८ |
| द्रव्याश्रयी अगुणवान् | (वै. सू. १।१।१६) | ६६५ |
| द्रव्याश्रितत्वं चान्यत्र | (प्रशस्त. पृ. ४८) | ६६७ |
| द्वापरे द्वापरे | (विष्णुपु. ३।३।५) | २ |
| द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया | (मुण्ड, ३।१।१) | ९३८, १०७९ |
| द्विगोः | (पा. सू. ४।१।२१) | ४८५ |
| द्विजातीनामध्ययनमिज्या | ( ) | ४४० |
| द्विधा हि क्रिया | (युक्तिदी. पृ. ९०) | ६३१ |
| द्विबहुभिर्महद्भिश्चारब्धे | (प्रशस्त. पृ. ३२४) | ६४६ |
| द्विविधो हि विषयः | (धर्मोत्तर. पृ. ७१) | ९१५ |
| द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिः | (प्रज्ञाकर. पृ. ४) | ५९१ |
| द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे | (बृह. २।३।१) | ९४५ |
| द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी | (गौ. ध. २।१।१) | ८४८ |
| द्वे सत्ये समुपाश्रित्य | (मध्यमक. २४।८) | १७ |
| द्वे हि तत्र लिङ्गे | (तं. वा. पृ. ८०१) | ११०२ |
| द्व्यहप्रभृतयो द्वादशाहपर्यन्ताः | (कात्या. श्रो. २३।१।३) | ९२९ |
| द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने | (पा. सू. १।४।२२) | ६२६, ६४८ |

(ध)

| | | |
|---|---|---|
| धर्मग्रहणं चोपलक्षणार्थम् | (शास्त्रदी. पृ. १५) | ९१ |
| धर्मशब्दश्च वेदार्थमात्र. | (बृहतीयं. पृ. २०) | ६१ |
| धातोः कर्मणः समानकर्तृक. | (पा. सू. ३।१।७) | ५८ |
| धान्यकुप्यपशुस्तेयं | (मनु. ११।६६) | ५० |
| धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः | (गी. ८।२५) | १२४६ |
| ध्यायतीव लेलायतीव | (बृह. ४।३।७) | ८१०, ८१९ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(न)


| | | |
|---|---|---|
| न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात् | (जै. सू. ६।१।७) | ३८५ |
| न कतरेणचन | (छां. ५।१०।८) | ८९७ |
| न कर्तृत्वं न कर्माणि | (गी. ५।१४) | ५८५ |
| न कर्मणा न प्रजया | (महाना. ८।१५) | ७१ |
| न कर्मणा वर्धते नो | (कौषी. ३।९) | २८२ |
| न कर्मफलसंयोगं | (गी. ५।१४) | ५८५ |
| न कर्म लिप्यते नरे | (ईशा. २) | ११४० |
| न कांचन परिहरेत् | (छां. २।१३।२) | ११६२ |
| न काचन मद्बहिर्धा | ( ) | ७७३ |
| न किञ्चिदेकमेकस्मात् | (प्र. वा. पृ. ४६१) | ६८९ |
| न कुर्वीत वृथा चेष्टाम् | (मनु. ४ ६३) | ६१० |
| न चक्षुषा गृह्यते नापि | (मुण्ड. ३।१।८) | ९५३ |
| न च पुनरावर्तते | (छां. ८।१।५) | १२९६ |
| न च प्रधानं प्रतिगुणं | (शाबर. पृ. ६९७) | ४१४ |
| न च शीघ्रहृतेऽर्थेऽस्ति | (तं. वा. पृ. १७७) | ५४० |
| न चासौ संयोगः सम्बन्धिनां | (प्रशस्त. पृ. ७७५) | ६६९ |
| न चिरमिव जीविष्यति | ( ) | ५८० |
| न चेदन्येन शिष्टा स्युः | (तं. वा. पृ. ३४०) | २६३ |
| न चैकं प्रति शिष्यते | (जै. सू. २।४।१९) | ९८६ |
| न जायते म्रियते | (कठ. १।२।१८) | २७७ |
| न जीवो म्रियते | (छां. ६।११।३) | ७९७ |
| न तत्र दक्षिणा यन्ति | ( ) | १०६८ |
| न तत्र रथा न रथयोगाः | (बृह. ४।३।१०) | ९१०, ९११, ९१६ |
| न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं | (मुण्ड. २।२।१०) | १२९४ |
| न तदेकं न चानेकं | (विशि. ११) | ६७९ |
| न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्कः | (गी. १५।६) | १२९४ |
| न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि | (जै. मू. ६।४।२३) | ३३५ |
| न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति | ( ) | १२३७ |
| न तस्य कार्यं करणं च | (श्वेता. ६।८) | १९९ |
| न तस्य किञ्चिद् भवति | (प्र.,वा. स्वार्था. २८१) | ५७० |
| न तस्य प्रतिमा अस्ति | (श्वेता. ४।१९) | ७८१ |
| न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति | (बृह. ४।४।६) | ४४४, १२६६, १२७० |
| न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः | (श्वेता. २।१४) | ४२७ |
| न तु तद्द्वितीयमस्ति | (बृह. ४।३।२३) | १२७९, १२९० |
| न त्वेनयोस्त्वमुत्क्रान्ति | (शत. ब्रः. ११।६।२।४) | ८८५ |
| न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः | (बृह. ३।४।२) | १४८ |
| न देवानां देवतान्तराभावात् | (जै. सू. ६।१।६) | ३८५ |
| न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति | (कठ. २।५।५) | २६२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| न मातृवधेन न पितृबधेन | (कौषी. ३।१) | २५६ |
| न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि | (ऋ. ८।७।१७) | ८५२ |
| न मे विदुः सुरगणाः | (गी. १०।२) | ५५३ |
| नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे | (लिंगपु. १।१।१) | ७५५ |
| न रूपमस्येह तथोपलभ्यते | (गी १५।३) | ६१७ |
| नव वै पुरुषे प्राणाः | (तै. ब्रा. २।१।७) | ८४४, ८४८ |
| न वा अजीविष्यमिमानखादयन् | (छां. १।१०।४) | ११६३ |
| न वा अरे पत्युः कामाय | (बृह. ४:५।६) | ५०७ |
| न वा अरे सर्वस्य कामाय | (बृह. ४।५।६) | ५०७ |
| न वा अरे अहं मोहं ब्रवीमि | (बृह. ४।५।१४) | ५११, ५१७, ७९८ |
| न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं | (कौषी. ३।८) | २५७ |
| न विज्ञातेर्विज्ञातारं | (बृह. ३।४।२) | १४८ |
| न विधौ परः शब्दार्थः | (शाबर. पृ. १४१) | १२२१ |
| न शूद्राय मतिं दद्यात् | (मनु. ५:८०) | ४४० |
| न शू द्रेपातकं किञ्चिन्न च | (मनु. १०।१२६) | ४३९ |
| न शृणोति न पश्यति | ( ) | ३३६ |
| न सन्नासन्न सदसन्न | (बो. च. पं. पृ. १७४) | ७३५ |
| न स पुनरावर्तते | (छां ८।१५।१) | १३५ |
| न सांपरायः प्रतिभाति | (कठ. २।६) | ८९७ |
| न सुरां पिबेत् | ( ) | ४८ |
| न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं | (वसिष्ठस्मृ पृ. ४६४) | ११८० |
| न ह वा अस्यानन्नं | (बृह ६।१।१४) | ११६१ |
| न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं | (छां. ५।२।१) | ११६१, ११६२ |
| न ह वै देवा अश्नन्ति | (छां. ३।६।१) | ८८६ |
| न ह वै सशरीरस्य सतः | (छां. ८।१२।१) | १३६ |
| न हि कर्म क्षीयते | (वसिष्ठस्मृ. २२।४) | १२१३ |
| न हि कल्याणकृत् कश्चित् | (गी. ६।४०) | ११८२ |
| न हि खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं | ( ) | ३७१ |
| न हि गतिरधिकास्ति कस्यचित् | ( ) | ११८४ |
| न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो | (बृह. ४।३।२३) | ८०० |
| न हि मायायां काचिदनुपपत्तिः | (ब्र. सि. पृ. १०) | ५२३, ७५८ |
| न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपः | (बृह. ४।३।३०) | ८०० |
| न हिंस्यात् सर्वा भूतानि | (भारत. वन. २१२।३४) | २७९, ९३ |
| नाडीषु सृप्तो भवति | (छां. ८।६।३) | ९२० |
| नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति | ( ) | ४१८, ८४१, ४८९ |
| नादत्ते कस्यचित्पापं | (गी. ५।१५) | ५८५ |
| नादवृद्धिपरा | (जै. सू. १।१।१७) | ३९९, ५७८ |
| नाना तु विद्या चाविद्या च | (छां. १।१।१०) | १०९७ |
| नाना वा देवता पृथक् ज्ञानात् | (संकर्ष. १।१५६) | ११०१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| नानुध्याद् बहून् शब्दान् | (वृह. ४।४।२१) | ३२९ |
| नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् | ( ) | ७०८ |
| नानुपलब्धे न निर्णीते | ( ) | ५२९ |
| नानुयाजेषु गे यजामहं करोति | (आप. श्रौ. २४।१३।६) | १०५६ |
| नान्तरिक्षे न दिवि | (तै. सं. ५।२।७।१) | १०५३ |
| नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ | (बृह. ३।८।८) | ८१०, ११३७ |
| नान्यः पन्था विद्यते | (श्वेता. ६।११) | ११४५, १२७० |
| नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा | (बृह. ३।७।२३) | ३००, ७९०, ८५६ |
| नान्योऽनुभाव्यस्तेनास्ति | (प्र. वा. पृ. ३५३) | ७१२ |
| नापुत्रस्य लोकोऽस्ति | ( ) | ११४२ |
| नाभुक्तं क्षीयते कर्म | (ब्र. वै. पु. उत्तर. ४।८१।५५) | १२१२ |
| नाम ब्रह्मेत्युपास्स्व | (छां. ७।१।४) | ३३३ |
| नाम ब्रह्मेत्युपासते | (छां ७।१।५) | २४८ |
| नामरूपधर्मविशेष. | (जै. सू. २।४।२) | ९७३ |
| नाम रूपं च भूतानां | (मनु. १।२१) | ३९३ |
| नामरूपयोर्निर्वहिता | (छां. ७।१४।१) | १२६४ |
| नामरूपे व्याकरवाणि | (छां. ६।३।२) | ५८४ |
| नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि | (मनु. ५।८७) | ८६, १०५ |
| नारदेनाभ्यनुज्ञात. | (भारत. ११।३३२।९) | १२३८ |
| नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं | (तै. ब्रा. ३।१२।९।७) | ५४५ |
| नाह खल्वयमेवं | (छां. ८।११।२) | ३६६ |
| निचाय्य तं मृत्युमुखात् | (कठ. ३।१५) | १००५ |
| नित्यं तमाहुर्विद्वांसः | (प्र. वा. पृ. १४१) | ६३७ |
| नित्यं न भवनं यस्य | (तं. वा. पृ. ३७७) | २६४ |
| नित्यः सर्वगतः स्थाणुः | (गी. २।२४) | ९६२ |
| निन्दितेभ्यो धनादीनां | (मनु. ११।६९) | ५० |
| निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां | (यो. सू. ४।३) | ६३२ |
| नियमार्था वा पुनः श्रुतिः | (जै. सू. ४।२।२४) | १३५ |
| निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य | (प्र वा पृ. १४४) | ४२ |
| निर्विशेषं परं ब्रह्म | (कल्पतरु पृ. १९२) | २२३ |
| निष्फलं निष्क्रियं शान्तं | (श्वेता. ६।१९) | १२६५ |
| नीलादिरूपस्तस्यासौ | (प्र. वा. पृ. ३५३) | ७१२ |
| नेति नेति न ह्येतस्यामिति | (बृह. २।३।६) | ९४८ |
| नेति होवाच याज्ञवल्क्यः | (बृह. ३।२।११) | १२३८ |
| नेह नानास्ति किंचन | (बृह. ४।४।१९) | ९६१ |
| नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति | (छां. ४।४।५) | ४३९ |
| नैतदचीर्णव्रतोऽधीते | (मुण्ड. ३।२।११) | ९८१, ९८४ |
| नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः | (छां. ८।४।१) | ९१३ |
| नैव वा इदमग्रे सदासीत् | ( ) | ११०१ |
| नैव श्येनादयः कर्तव्याः | (शाबर. पृ. १९) | ८१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| नैषा तर्केण मतिरापनेया | (कठ. १।२।९) | १०३ |
| न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः | (म. नारा. ७८) | ११५० |
| न्यासेति ब्रह्मेति | (भास्कर. पृ. २०६) | ११५० |
| न्यूनमन्यत् स्थानं | ( ) | २०६ |
| (प) | | |
| पक्षपातश्च चित्तस्य | (प्रज्ञाकर. पृ. १४४) | ४२ |
| पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः | (साधारण. पृ. १७०४) | ६३१ |
| पंग्वन्धवदुभयोरपि | (सां. का. २१) | ६३६ |
| पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः | (बाल्मी. रा. कि. १७।३९) | २७८ |
| पंच ब्रह्मपूरुषाः | (छां. ३।१३।६) | २५०, २५१ |
| पंचम्यामाहुतौ | (छां. ५।१।३) | ८८३ |
| पंच सप्त च वर्षाणि | ( ) | ४८३ |
| पंचानां त्वा पंचजनानां | (तै. सं. १।६।२।२) | ४८४ |
| पटिसंख्या निरुद्धा संखारा | (कथावत्थु. पृ २०६) | ६९७ |
| पण्डितो मेधावी गन्धारानेव | (छां. ६।१४।२) | १०३ |
| पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति | ( ) | १४५ |
| पत्युर्नो यज्ञसंयोगे | (पा. सू. ४।१।३३) | ३०९ |
| पदपदार्थविभागाधीनः | (ब्र. सि. पृ. ३९) | १० |
| पदान्तराणि यथार्थं वदेयुः | (तं. वा. पृ. ८३३) | १०३८ |
| पदार्थानां च गुणः क्रमः | (शाबर. पृ. १९९) | ७७६ |
| पद्मु ह वा एतत् श्मसानं | (ब्र. वसिष्ठस्मृ. १८।३) | ४४० |
| परं च कारणात्मनाऽवरं च | (मुण्ड० भा० पृ० ३१) | ३२९ |
| परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः | ( ) | ३४९ |
| परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन | (छा० ८।१२।३) | ११३८, १२७७, १२७९ |
| परतन्त्रं बहिर्मनः | (विधि० पृ० ११४) | ४० |
| परमाणुमनःसु तत् परिमाण्डल्यम् | (प्रशस्त० पृ० ३१८) | ६४७ |
| परमाणु पोग्गले सिय | (भगवती० १४।४।५१२) | ६७९ |
| परस्परानुप्रवेशात् | ( ) | ६६२ |
| परस्यान्ते कृतात्मानः | (कूर्म० १।१२।२६९) | १०७४ |
| परांचि खानि व्यतृणत् | (कठ० २।१।१) | १०७, ९५३ |
| परा चैवापरा च | (मुण्ड. १।१।४) | ३०७ |
| परात्परं पुरुषमुपैति | (मुण्ड. ३।२।८) | ९५४ |
| परास्य शक्तिर्विविधैव | (श्वेता. ६।८) | ६०२ |
| परिशेषादन्तेऽन्तरायवचनं | (तत्त्वा. वा. पृ. ५७०) | ७४५ |
| परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् | (मुण्ड. १।२।१२) | ३०९ |
| परैरभिमतः पूर्वं | (तत्त्वसं. पृ. ४३५) | ७२६ |
| पशो दिवो ज्योतिः | (छां. ३।१३।७) | २४१ |
| पलाशे किंशुकः पर्णः | (अमरकोष) | १४६ |
| पश्यंश्चक्षुः शृण्वन् | (बृह. १।४।७) | ४९७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| पश्वादिभिश्चाविशेषात् | (ब्रह्म. शांकर. पृ. ४६) | १३ |
| पाठानुष्ठानसादेश्यभेदेन | (न्या. र. पा. २।२) | १०३२ |
| पादोऽस्य विश्वा भूतानि | (छा. ३।१२।५) | ८२९ |
| पादोऽस्य सर्वा भूतानि | (छा. ३।१२६) | २४३ |
| पानव्यापच्च तद्वत् | (जै. सू. ३।४।१५) | ८४० |
| पारदौर्बल्यमर्थादिप्रकर्षात् | (जै. सू. ३।३।१३) | १०३५ |
| पारिप्लवमाचक्षीत | (शत. वा. १३।४।३) | ११५५ |
| पिण्डपितृज्ञः स्वकालत्वात् | (जै. सू. ४।४।१९) | १२९ |
| पिपासति नाम | (छा. ६।८।५) | १२३२ |
| पुण्यपापक्रिया न स्यात् | ( आप्तमी. ३।४०) | ७४९ |
| पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः | (मुण्ड ३।१।३) | १०६४ |
| पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै | (बृह. १।५।३) | ८६१ |
| पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा | (बृह. ३।२।१३) | ६१३ |
| पुद्गलवेदकप्रदेशादिषु | (तत्त्वा. वा. पृ. ४५९) | ७५१ |
| पुनः पुनर्वंशमापद्यते नः | (कठ २।६) | ८९८ |
| पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या | (बृह ४।३।१६) | ९३० |
| पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि | (प्रश्न. ३।९) | १२२७ |
| पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे | (बृह. २।५।१८) | ९३८ |
| पुरः सपक्षी भूत्वा पुरः | (बृह. २।५।१८) | ९३८ |
| पुरीतति शेते | (बृह. २।१।१९) | ९२०, ९२५ |
| पुरुष एवेदं विश्वं कर्म | (मुण्ड. २।१।१०) | ३१२ |
| पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं | (ऐत. आ. ३।२।४।१६) | ९१६ |
| पुरुषविधः | (बृह. १।४।१) | १००७ |
| पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं | ( ) | ३१५ |
| पुरुषान्न परं किञ्चित् | (कठ १।३।११) | १६३ |
| पुरुषायणाः पुरुषं | (प्रश्न. ६।५) | १२५९ |
| पुरुषार्थ एव हेतुः | (सां. का. ३१) | १८६, ६२२ |
| पुरुषो वा यज्ञः, तस्य यानि | (छा. ३।१६।१) | १०२१, १०२२ |
| पुरुषो वाव गौतमाग्निः | (छा. ५।७।८) | १५३ |
| पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन | (ब्र. पु.) | ८४९ |
| पुष्करपलाश आपो न | (छां. ४।१४।३) | २९३ |
| पूर्वक्लेशदशाविद्या | (अभि. को. ३।२१) | ७२६ |
| पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव | (तं. वा. पृ. ८५९) | ११, ९१४ |
| पूर्वात् परबलीयस्त्वं | (तं. वा. पृ. ८५९) | ११ |
| पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेन | (निरु. १।१) | १६७ |
| पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिः | (श्लो. वा. पृ. ६२) | ११ |
| पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात् | (जाबा.) | १२०४, १२०७ |
| पृथिवी देवता ह्यहमस्मि | ( ) | ३०० |
| पृथिवी भगवः किंसन्निश्रया | ( ) | ७०१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| पृथिवी हिंकारः | (छा. २।२।१) | १२०४, १२०७ |
| पृथिव्या ओषधयः | (तै. २।१।१) | ७०६ |
| पृथिव्यादिभ्य इमनिज्वा | (पा. सू. ५।१।१२२) | ३३४ |
| पृथिव्यामेव तं विद्यात् | ( ) | ८०८ |
| पृथिव्येव यस्यायतनम् | (बृह. ३।९।१०) | २६७ |
| पृथिवीमय आपोमयः | ( ) | १२३१ |
| पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे | (श्वेता. ५।१४) | ४२७ |
| पोषं तद्याति | (अभि. दी. पृ. ६२३) | ७३८ |
| पौर्वापर्यं पूर्वदौर्बल्यं | (जै. सू. ३।५।५४) | ११ |
| प्रकृतिभ्यः परं यच्च | ( ) | ६०५ |
| प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् | (जै सू. ३।६।२) | १०२७ |
| प्रकृत्यर्थातिरेकेण | (बृह. वा. पृ. १६७८) | २५ |
| प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य | ( ) | ९५१ |
| प्रजापतिर्वा इदमग्रे | ( ) | ७९३ |
| प्रजापतेः सभां वेश्म | (छा. ८।१४।१) | १२६३ |
| प्रज्ञया शरीरं | (कौषी. ३।६) | ८०६ |
| प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः | (बृह. ४।५।१३) | ७९८ |
| प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव | ( ) | ४५९ |
| प्रतर्दनो ह वै देवोदासिः | (कौषी. ३।१) | ११५४ |
| प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय. | (न्या. सू. १।१।३२) | ३१ |
| प्रतितिष्ठन्ति ह वै एता रात्रीः | (तां. ब्रा. २३।२०।४) | ११९, १०९५ |
| प्रतिसंख्यानिरोधः कतमः | (ज्ञानप्र. पृ. ३०) | ६९७ |
| प्रतिसंख्यानिरोधोऽन्यः | (अभि. को. १।६) | ६९६ |
| प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्तः | (माध्यमक. पृ. २) | ६८५ |
| प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च | (मनु. १२।१०५) | ५६१ |
| प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम् | (न्यायावतार. पृ. ७३) | ७०६ |
| प्रत्यक्षादीनां तु व्यावहारिकं | (ब्र. सि. पृ. ४०) | १० |
| प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् | (वै. सू. ४।२।२) | ६५० |
| प्रत्यक्षात्मवृत्तीनि | (न्या. भा. पृ. १६१) | ७५७ |
| प्रत्यासन्नतयोत्पन्न. | (प्रज्ञाकर. पृ. ९५) | ६७३ |
| प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः | (श्लो. वा. पृ. ६६) | ८४५ |
| प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् | (तत्त्वा. सू. ५।१६) | ७५० |
| प्रधानमपीश्वरः | (प्र. वा. पृ. ३९७) | ७१० |
| प्रधानानां प्रधानं तत् | (प्र. वः. पृ. ३९७) | ७१८ |
| प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे पुण्यपापादि | (श्लो. वा. २१७) | ७३९ |
| प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि | (तै. वा. पृ ३९६) | ७५७ |
| प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः | (यो. सू. १।१।६) | ८५८ |
| प्रमाणानि च शास्त्राणि | (बृह. वा. पृ. ५१५) | ११५ |
| प्रमोद उत्तरः पक्षः | (तै. २।५) | १००२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| प्रयाजशेषेण हवींषि | ( ) | ७७ |
| प्रयाणकाले मनसाचलेन | (गी. ८।२३) | १२१० |
| प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयात् | (सां. का. १६) | ६२६ |
| प्रवर्तनालक्षणा दोषाः | (न्या. सू. १।१।१८) | ७५८ |
| प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा | (श्लो वा. पृ ४०६) | १२७ |
| प्रशंसायां रूपप् | (पा. सू. ५।३।६६) | २० |
| प्रस्ताब्रोद्गीथप्रतिहार. | (छा. भा. पृ. ७१) | २३९ |
| प्रस्तोतर्या देवता | (छां १।११।४) | १०९६ |
| प्राचीनशाल औपमन्यवः | (छां. ५।११।१) | ११२२ |
| प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति | ( ) | ९१७ |
| प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न | (बृह. ४।३।२१) | २०४ |
| प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं | (कौषी. ३।३) | २६० |
| प्राण एव ब्रह्मणः चतुर्थः पादः | (छा. ३।१८।४) | ८५४ |
| प्राणं तदा वाचि जुहोति | (कौषी. २।५) | ११०६ |
| प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः | (छा. ६।८।२) | २३५ |
| प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणाः | (बृह. ४।४।२) | १२२९ |
| प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे | (छां. १।२।२) | ९९१ |
| प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना | (प्रश्न. ३।१०) | १२१० |
| प्राणस्तेजसि | (छा. ६।८।६) | १२३० |
| प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः | (बृह. ४।४।१८) | २३५, ४८८ |
| प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त | (मुण्ड २।१।८) | ८८५ |
| प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे | (प्रश्न. ४।२।३७) | ३३६ |
| प्राणाद्वा एष उदेति | (बृह. १।५।२३) | १०९९ |
| प्राणान् गृहीत्वा च | (बृह. २।१।१८) | ८१४ |
| प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम् | (बृहः ४।३।१२) | ८५६ |
| प्राणोऽपानो व्यान उदानः | (बृह. १।५।३) | ८५७ |
| प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म | (छा. ४।१०।५) | २९२ |
| प्राणो वा अमृतम् | (कौषी. ३.२) | ३३७ |
| प्राणो वा आशाया भूयान् | (छा. ७।१५।१) | ३३४ |
| प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च | (छा. ५।१।१) | ८५३ |
| प्राणो वाव संवर्गः | (छा. ४।३।३) | १४४ |
| प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा | (कौषी. ३।२) | ११५६ |
| प्राणो ह पिता प्राणो माता | (छा. ७।१५।१) | ३३७ |
| प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः | ( ) | ३२१ |
| प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् | ( ) | ३८९ |
| प्राप्यान्नं कर्मणस्तस्य | (बृह० ४।४।६) | ८८८ |
| प्रायश्चित्तं न पश्यामि | ( ) | ११७२ |
| प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः | (मुण्ड० १।२।७) | ३०८ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब


| | | |
|---|---|---|
| बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो | (भारत. १२।३५०।१) | ५३८ |
| बहवः पुरुषा राजन् सांख्य. | (भारत. १२।३५०।१२) | ५३८ |
| बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा | (बृह. ४।३।१२) | ९१२ |
| बहु स्यां प्रजायेय | (तै. २।६) | ४९५ |
| बहूनां पुरुषाणां हि यथैका | (भारत. १२।३५०।१३) | ५ ८ |
| बहोर्लोपो भू च बहोः | (पा. सू. ६।४।१५८) | ३३४ |
| बीजानि अग्न्युपदग्धानि | ( ) | १०७३ |
| बुद्धिं तु सारथिं विद्धि | (कठ. १।३।३) | ४५७ |
| बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः | (गी. १०।४) | ७८६ |
| बुद्धेरात्मा महान् परः | (कठ. १।३।१०) | ४७३ |
| बुद्धेर्गुणानात्मगुणेन चैव | (श्वेता. ६।८) | ८०९ |
| बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ | (गी. २।३९) | १२२२ |
| ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् | (जाबा. ४) | ११५१ |
| ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् | (जाबा. ४) | ११४१ |
| ब्रह्मचार्यवकीर्णी | ( ) | ११७१ |
| ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि | (राणायनीय.) | १०१९ |
| ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते | (कूर्मपु. १।१२।२५९) | १०७४ |
| ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति | (म. नारा. ८०) | १०२३ |
| ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः | (बृह. ४।५।७) | ५१२ |
| ब्रह्म ते ब्रवाणि | (बृह. २।१।१) | ५०१ |
| ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे | (पैप्पलाद. ८।९।१०) | ८२९ |
| ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्म | (प्रश्न. १।१) | ४३८ |
| ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा | (तै. २।५) | २१८ |
| ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते | (छा. ८।१५।१) | १२९६ |
| ब्रह्मलोकान् गमयति | (बृह. ६।२।१५) | १२६१ |
| ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव | ( ) | १०२४ |
| ब्रह्मवादिनो वदन्ति | (श्वेता. १।१) | ४७८ |
| ब्रह्मविदाप्नोति परं | (तै. २।१) | ८७ |
| ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति | (मुण्ड. ३।२।९) | १३१ |
| ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति | (छां. २।२३।१) | ११४२ |
| ब्रह्मेत्यादेशः | (छा. ३।१९।१) | १२०२ |
| ब्रह्मेत्युपासीत | (छा. ३।१८।१) | १२०२ |
| ब्रह्मेत्युपास्ते | (छा. ३।१९।४) | १२०२ |
| ब्रह्मैव तेज एव | (बृह. ४।४।७) | ९२४ |
| ब्रह्मैव लोक एव सम्राट् | ( ) | १२६२ |
| ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति | (बृह. ४।४।६) | ९५४ |
| ब्रह्मैवेदममृतम् | (मुण्ड. २।२।११) | ११९ |
| ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् | (मुण्ड. २।२।११) | ८४१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| ब्रह्मैवेदं सर्वं | (मुण्ड. २।२।११) | ५१९ |
| ब्राह्मणो नं हन्तव्यः | ( ) | १७० |
| (भ) | | |
| भयादस्याग्निस्तपति | (कठ. २।६।३) | ४४२ |
| भवन्ति भावा भूतानाम् | (गौ. १०।५) | ७८६ |
| भागो जीवः स विज्ञेयः | (श्वेता. ६।८) | ८०३, ८०९ |
| भाति च तपति च कीर्त्या | (छा. ३।१८।३) | ११८७ |
| भारूपः सत्यसंकल्पः | (छा. ३।१४।२) | ३७६ |
| भिक्षुर्वानप्रस्थवत् सोमवल्लिवर्जं | ( ) | ११७३ |
| भिद्यते हृदयग्रन्थिः | (मुण्ड. २।२।८) | १४४ |
| भिद्येते तासां नामरूपे | (प्रश्न. ६।५) | १२४१ |
| भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च | (तै. २।८) | २९६ |
| भूः प्रपद्येऽमुना | (छां. ३।१५।३) | १०२८ |
| भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः | (छा. ७।२३।१) | ३३४ |
| भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु | (छा. ६।५।४) | १०८२ |
| भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरम् | (तै. ३।१) | ३८५ |
| भोक्ता भोग्य प्रेरितारं च | (श्वेता. १।१२) | ९३६ |
| भ्रामयन् सर्वभूतानि | (गी. १८।६१) | २७३ |
| (म) | | |
| मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरं | (छा. ८।१२।१) | ३७२ |
| मज्जमानस्य संसारे यावद् | ( ) | ८९३ |
| मटचीहतेषु कुरुषु | (छा. १।१०।१) | ११६३ |
| मद्यं नित्यं ब्राह्मणः | ( ) | ११६४ |
| मनः प्राणे | (छा. ६।८।६) | १२२८ |
| मनसस्तु परा बुद्धिः | (कठ. १।३।१०) | ४५७ |
| मनसा ह्येव पश्यति | (बृह. १।५।३) | ८१३ |
| मनसैतान् कामान् पश्यन् | (छा. ८।१२।५) | १२८५ |
| मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति | (कठ. ४।९१) | ९३६ |
| मनुर्वैवस्वतो राजा | ( ) | ११५५ |
| मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः | (बृह. १।५।१६) | १२५४ |
| मनोज्योतिर्जुषताम् | (तै. ब्रा. १।६।३।३) | २४८ |
| मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने | (श्वेता. २।१०) | १२०६ |
| मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति | (वराहो. १।४) | ८४६ |
| मनो ब्रह्मेत्युपासीत | (छा. ३।१८।१) | १४३ |
| मनोमयः प्राणशरीरः | (छा. ३।१४।२) | २६३ |
| मनोमयोऽयं पुरुषो भाः | (बृह. ५।६।१) | १०१५ |
| मनो महान् मतिर्ब्रह्मा | ( ) | ४५९ |
| मनो वाचं प्राणं | (बृह. १।५।३) | ८६४ |
| मनो वाव वाचो भूयः | (छा. ७।३।१) | ३३४ |



CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| ममान्तरात्मा तव च ये | (भारत. १२।३५१।४) | ५३८ |
| ममैवांशो जीवलोके | (गी. १५।७) | ६२९ |
| महतः परमव्यक्तं | (कठ. १।३।११) | ४६४ |
| महद्भयं वज्रमुद्यतम् | (कठ. ६।२) | ९८६ |
| महात्मनश्चतुरो देवः | (छां. ४।३।६) | १०९९ |
| महान्तं विभुमात्मानं मत्वा | (कठ. २।४।४) | ४७३ |
| महिमान एवैषामेते | (बृह ३।९।२) | ३८८ |
| मा भगवान् मोहान्तम् | (वृह. ४।५।१४) | ७९८ |
| मामेव विजानीहि | (कौषी. ३।१) | २५७ |
| मायां तु प्रकृतिं विद्यात् | (श्वेता ४।१०) | ४६४ |
| माया ह्येषा मया सृष्टा | ( ) | ९३७ |
| मासमग्निहोत्रं जुह्वति | (तां. ब्रा. २५।४।१) | ११६७ |
| मासेभ्यो देवलोकम् | (बृह. ६।२।१५) | १२५३ |
| मुनीनामप्यहं व्यासः | (गी. १७।३७) | ११७७ |
| मूर्धा त्वेष आत्मनः | (छा. ५।१२।२) | ११२४ |
| मूर्धा ते व्यपतिष्यद् | (छा ५।१२।२) | ११२४ |
| मूलप्रकृतिरविकृतिः | (सां. का. ३) | ४७४ |
| मृत्तिकेत्येव सत्यं | (छा. ६।१।१) | ५७२ |
| मृत्योः स मृत्युमाप्नोति | (कठ. २।४।११) | ५७४ |
| मृदब्रवीत् | (शत. ब्रा. ६।१।३।२४) | ५४९ |
| मृल्लोहविस्फुलिंगाद्यैः | (गौड़ का. ३।१५) | ४९६ |
| मेधातिथि ह काण्वायनं | (षड्विंशब्रा. १।१) | ४१८ |
| मोदो दक्षिणः पक्षः | (तै. २।५) | १००२ |

(य)

| | | |
|---|---|---|
| य आत्मनि तिष्ठन् | (शत. ब्रा. १४।५।३०) | ३०१ |
| य आत्माऽपहतपाप्मा | (छां ८।७।१३) ११३३, १२७७, १२७८, १ ७९ | |
| य आत्मा विजरो विमृत्युः | (छा. ८।७।१) | ७९५ |
| य आत्मा सर्वान्तरः | (वृह. ३।४।१) | १२६४ |
| य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः | (बृह. ३।७।९) | १९६ |
| य इमं लोकं परं च लोकं | (बृह. ३।७।१) | २९७ |
| य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिं | (छा ५।१०।७) | ८।६ |
| य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति | (छा. ५।२४।२) | १०८९ |
| य एतदेवं विद्वान् लोकेषु पंचविधं | (छा. २।२।३) | १२०५ |
| य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद | (छा. ३।११।३) | २५१ |
| य एते ब्रह्मलोके | (छा. ८।१३।१) | १२८५ |
| य एवमेतद्विदुर्यं चामी अरण्ये | (बृह. ६।२।१५) | १०६९ |
| य एव लौकिकाः शब्दाः | (शाबर. पृ. २९१) | १६५, ४५६ |
| य एवं विद्वानमावास्यायां यजते | (तै. सं. १।६।९।६) | १२९, १६९ |
| य एवं विद्वान् गायति | ( ) | १२२२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| य एवं विद्वान् जुहोति | ( ) | १२२२ |
| य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते | (तै. सं. १।६।९।१) | १६९, ३६१ |
| य एवं विद्वान् शंसति | ( ) | १२२२ |
| य एवं विद्वान् साम गायति | (छा. १।७।९) | १२०६ |
| य एवासौ तपति तमुद्गीथं | (छा. १।३।१) | १२०२ |
| ए एव एतस्मिन् मण्डले | (बृह. ५।५।३) | १०१८ |
| य एष विज्ञानमयः पुरुषः | (बृह. २।१।१६) | ५०६ |
| य एष सुप्तेषु जागर्ति | (कठ. ५।८) | ९१०, ९११ |
| य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते | (छः. ४।१५।१) | २८८, १०२० |
| य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा | (जाबा. १) | ३२१ |
| य एषोऽन्तरादित्ये | (छां. १।६।६) | २२४, २२७ |
| य एषोऽन्तरक्षिणि | (छां. ४।१५।१) | २२४ |
| य एषोऽन्तर्हृदये आकाशः | (बृह. २।१।१७) | ५०६, ९१९, ९२५ |
| यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि | (छां. ५।११।५) | ११३८ |
| यच्चित्तस्तेनैव प्राणमायाति | (प्रश्न. ३।१०) | १२१० |
| यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञः | (कठ. १।१।१३) | १००५ |
| यजतिचोदना. | (जै. सू. ४।२।२७) | ४२५ |
| यजमानः प्रस्तरः | (तै. सं. २।६।५।३) | ३८६, ४२०, ५२६ |
| यजेत स्वर्गकामः | (आप. श्रौ. १०।२।८) | ६४, ८१ |
| यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् | (ऋ. १०।७१।३) | ४०५ |
| यज्ञेन विविदिषन्ति | ( ) | ११५९ |
| यत एव पिण्डस्योदयः | (प्र. पं. पृ. ६२) | ६५७ |
| यत्रश्चोदेति सूर्यः | (बृह. १।५।२३) | १०९९ |
| यतात्मानोऽप्रमत्तस्य | (मनु. ११।२१५) | ११४९ |
| यतीनां तु चतुर्गुणम् | (मनु. ५।१३७) | ११४६ |
| यतो वा इमानि भूतानि | (तै. ३।१) | ८९, ९८, १०१, ५२६, ७९० |
| यतो वाचो निवर्तन्ते | (तै. २।४।२१) | २२१, ६३७, ९५१ |
| यत्कृष्णं तदन्नस्य | (छां. ६।४।१) | ७८७ |
| यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम् | ( ) | ५३६ |
| यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम् | (मुण्ड. १।१।६) | ९५३ |
| यत्नतः प्रतिषेध्या नः | (श्लो. वा पृ. ८०२) | ११२ |
| यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः | (वाक्य प. १।३४) | ५६० |
| यत्परो दिवः | (छां. ३।१३।७) | २४७ |
| यत्पाञ्चजन्यया दिशा | (ऋ. ८।५३।७) | ४९१ |
| यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति | (तै. ३।१।१) | १०२५, १२२६ |
| यत्प्रातर्मध्यन्दिनं सायं च | (म. नारा. ८०) | १०२२ |
| यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते | (तै. सं. २।६।१।५) | ११३४ |
| यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधौ | (जै. ४।४।३४) | १०२५ |
| यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं | (गी. ८।२३) | १९४६ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| यत्र क्वचन वर्षति | (छां. ६।२।४) | ७८७ |
| यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् | (बृह. ४।५।१५) | ८१०, ११४१, १२७६ |
| यत्र नान्यत् पश्यति | (छा. ७।२४।१) | ३३३, ११८३, १२७९ |
| यत्र परा संख्या कीर्त्यते | (जै. सू. शाबर. १।४।३५) | २३८, ८४७ |
| यत्र लौकिकपरीक्षकाणां | (न्या. सू. १।१।२५) | ५७१ |
| यत्र वा अन्यदिव स्यात् | (बृह. ४।३।२१) | २८७ |
| यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् | (बृह. २।४।१४) | ११४१ |
| यत्र सुप्तो न कंचन कामं | (माण्डू. ५) | १२९० |
| यत्र हि द्वैतमिव भवति | (बृह. ४।५।१५) | ८२०, १२७० |
| यत्रावं पुरुषो म्रियते | (बृह. ३।२।११) | १२३७ |
| यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि | (बृह. ३।२।१३) | ८८२ |
| यत्रैतत्पुरुषस्य स्वापिति नाम | (छा. ६।८।१) | १२३२ |
| यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म | (बृह. ३।४।१) | १०७५, १०८०, १०८२ |
| यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः | (न्या. सू. १।१।३०) | २६५ |
| यथर्तुंष्वृतुलिङ्गानि | (वायुपु. ९।५८) | ४११ |
| यथा आदित्यस्यामधुनो मधुत्वं | (छा. ३।१) | ४८० |
| यथाकारी यथाचारी तथा भवति | (बृह. ४।४।५) | ८८८, ८९५ |
| यथा क्रतुरस्मिं लोके पुरुषो भवति | (छा. ३।१४।१) | २०७ |
| यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः | (बृह. २।१।२०) | ५१६, ५९५, ५९६, ८३९, ९२० |
| मथाग्नेर्ज्वलतः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः | (बृह. २।१।२०) | ८३९ |
| यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो | (कौषी. ३।३) | २०५ |
| यथा च मरणं प्राप्य | (कठ. २।५।६) | |
| यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि | (सां. त. कौ. ६२) | ६४१ |
| यथा पुष्करपलाश आपो न | (छा. ४।१४।३) | १२१३ |
| यथा नद्यः स्यन्दमानाः | (मुण्ड. ३।२।८) | ५१४ |
| यथा पादोदरस्त्वचः विनिर्मुच्यते | (प्रश्न. ५।५) | ३४९ |
| यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति | (मुण्ड १।१।७) | ५२६ |
| यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य | (महाभाष्य. १।१।३) | ४४१ |
| यथा यथा विनेयानां | (प्रज्ञाकर पृ. ३१) | ६७७ |
| यथा रजःसंपर्ककलुषितं | (ब्र. सि. पृ. १२) | ६९ |
| यथा वा अरा नाभौ | (छा. ७।१५।१) | ३३७ |
| यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते | (षड्विंश. ३।८) | ४८८ |
| यथा व्रीहिर्वा यवो वा | (शत. ब्रा. १०।६।३।२) | २६८ |
| यथा शीघ्रप्रवृत्तित्वात् | (तै. वा. पृ. ८२८) | १०३३ |
| यथा श्रुतिरिति चेत् | (जै. सू. ६।४।२२) | ३३५ |
| यथा सतः पुरुषात् | (मुण्ड. १।१।७) | ३०६ |
| यथा सुदीप्तात्पावकात् | (मुण्ड. २।१।१) | ५९६ |
| यथा सोम्येकेन मृत्पिण्डेन | (छां. ६।१।४) | १९४, ५२५ |
| यथा ह वै स्वयमहुत्वाग्निहोत्रं | ( ) | १०९० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा | ( ) | ९३७ |
| यथेतमाकाशमाकाशात् | (छा. ५।१०।५) | ९०१ |
| यथेह क्षुधिता बाला मातरं | (छा. ५।२४।५) | १०८९, १०९१ |
| यथैधांसि समिद्धोऽग्निः | (गी. ४।३७) | १०७३ |
| यथैषोऽग्निहोत्री यः | ( ) | ३३८ |
| यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं | (कठ. ४।१५) | १२७९ |
| यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च | (मुण्ड. १।१।७) | ३०४ |
| यदग्ने रोहितं रूपम् | (छा. ६।४।१) | ४७७, ८६९ |
| यदतः परो दिवो ज्योतिः | (छा. ३।१३।७) | २४९ |
| यदविज्ञातमिवाभूत् | (छा. ६।४।७) | ८६९ |
| यदहरेव जुहोति तदहः | (बृह. १।५।२) | १२२२ |
| यदहरेव विरजेत् | (जाबा. ४) | ७६ |
| यदा कर्मसु काम्येषु | (छा. ५।२।९) | ९१६ |
| यदाग्नेयोऽष्टाकपालः | (तै. सं. २।६।३) | ११७, २४६, ३६१ |
| यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य | (तै. सं. ६।१।१।५) | ११३४ |
| यदा तु द्वाभ्यामपि | (सन्मति. पृ. ४४२) | ७४९ |
| यदादित्यगतं तेजो जगत् | (गी. १५।६।२२) | ३७९ |
| यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् | (बृह. ५।१०।१) | १२४८, १२५२ |
| यदा वै पुरुषः स्वपिति | (शत. ब्रा. १०।३।३।६) | १२४८ |
| यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | (बृह. ४।४।७) | ३२९ |
| यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन | (कौषी. ३।३) | ५०० |
| यदाहवनीये जुह्वति | (तै. ब्रा. १।१।१०।५) | ४२६ |
| यदाहवनीये जुहोति | (तै. ब्रा. १।१।१२) | १२८ |
| यदा हि विशाला विद्युतः | (छा. ७।११।१) | १२५३ |
| यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरम् | (तै. २।७।१) | ९८६ |
| या ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये | (तै. २।७) | ९५३ |
| यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति | (कठ. २।१५) | ११५८ |
| यदिदं किंच जगत् सर्वं | (कठ. २।६।२) | ४४० |
| यदिदं किंच तत्सृष्ट्वा | (तै. २।६) | ४९५ |
| यदिदं किंचाश्वभ्यः | (बृह. ६।१।१४) | १०१४ |
| यदि वर्षेत् तावत्येव होतव्यम् | ( ) | १३४ |
| यदि वाचाभिव्याहृतं | (ऐ. ३।११) | १००९ |
| यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव | (जाबा. ४) | ७३, ७४, ७६ |
| यदि स एव निर्णयः | (शाबर. पृ. १४५१) | १११२ |
| यदु रोहितमिवाभूत | (छा. ६।४।६) | ८६९ |
| यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं | (तै. सं. ३।४।१०) | १०६७ |
| यदेतन्मण्डलं तपति | ( ) | १११० |
| यदेव विद्यया करोति | (छा. १।१।१०) | ११३५, १२०४, १२२३ |
| यदेवेह तदमुत्र | (कठ. २।४।१०) | ४७२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| यदेषु आकाश आनन्दः | (तै. २।७) | २११ |
| यद्गत्वा न निवर्तन्ते | (गी. १५।६) | ३७९ |
| यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति | (मुण्ड. १।१।६) | ५२९ |
| यद्यथेषीकातूलमग्नौ | (छा. ५।२४।३) | १२१३ |
| यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं | (यी. १०।४१) | २०८ |
| यद्यदपां शर आसीत् | (बृह. १।२।२) | ७८८ |
| यद्वा अहं वसिष्ठोऽस्मि | (बृह. ६।१।१४) | १००० |
| यद्वाचानभ्युदितं | (कैत. १।४) | २५६ |
| यद्वाव कं तदेव खं | (छा. ४:१०।५) | २९२ |
| यद्वै किं च मनुरवदत् | (तै. सं. २.२।१०।२) | ५३८ |
| यद्वैतद् ब्रह्म | (छा. ३।१२.६) | २५३ |
| यद्वै तन्न पश्यति | (बृह. ४।३।२३) | ११९३ |
| यन्नवकपालस्त्रिवृतैव | (तै सं. २।२।५।३) | १०८६ |
| यन्न सन्त न चासन्तं | (वविष्ठस्मृ. पृ ४६४) | ११८० |
| यन्नाम तन्नाम | (छा. १।७।५) | २२६ |
| यन्नु म इमं भगोः | (बृह. ४।५।३) | ५०७ |
| यन्मरणं तदवभृथः | (तै. ६।५२।१) | १०२२ |
| यः पुनरेतं त्रिमात्रेण | (प्रश्न. ५।५) | ३४६ |
| यं पृथिवी न वेद | (बृह. ३।७।३) | ३०० |
| यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः | (बृह. ३।७।३) | २९१, ८८९ |
| यः प्राणः स वायुः | ( ) | ८५३ |
| यः प्राणेन प्राणिति | (बृह. ३।४।१) | ११३७ |
| यमात्मानमन्विष्य | (छा. ८।७।२) | ३६२ |
| यं यं वापि स्मरन् भावं | (गी. ८।६) | १२१० |
| यया तदक्षरमधिगम्यते | (मु. २।१।२) | ३०४ |
| यशोऽहं भवानि | (छा. ८।१४।१) | १२६३, १२६४ |
| यश्चास्यां पृथिव्यां | (बृह. २।५।१) | ९३५, ९३६ |
| यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते | (छा. ७।४।३) | १२०२ |
| यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य | (मुण्ड. १।१।९) | १९५, १९६, ११३७ |
| यः सर्वाणि भूतानि | ( ) | ९५४ |
| यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म | (कठ ३।२) | १०७९ |
| यस्तद्वेद यत्स वेद स | (छा. ४।१।४) | ११८७ |
| यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद | (मनु० १२।१०६) | ५६१ |
| यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् | (गी. ३।१७) | ११९३ |
| यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रं | (छा. ५।१८।१) | ९८६ |
| यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् | (बृह. १।३।१९) | ८५६ |
| यस्मात्परं चापरमस्ति किंचित् | (श्वेता. ३।९) | ९६१ |
| यस्मिन् द्यौः पृथिवी | (मुण्ड. २।२।५) | ३२३, ३७८ |
| यस्मिन् पंच पंचजनाः | (बृह. ४।४।१७) | ८२८ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं | (छा. ५।१।६) | ८५६ |
| यस्मिन्नयं पुरुषो नियुज्यते | (बृहती. पृ. ३९) | १२८ |
| यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य | (जै. सू. ४।१।२) | ७८ |
| यस्मिन् सर्वाणि भूतानि | (ईशा. ७) | ५३८ |
| यस्य तेजः शरीरम् | (बृह. ३।७।१४) | ३०२ |
| यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति | (तै. सं. ३।५।७।२) | १४६, ४३०, १००० |
| यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च | (कठ. १।२।२४) | २७६ |
| यस्य वै तत्कर्म | (कौषी. ४।१९) | ४९९ |
| यस्य स्यादद्धा न | (छा. ३।१४।४) | ११२९ |
| यस्याग्निशास्यं द्यौर्मूर्द्धा | ( ) | ३१५ |
| यस्यामतं तस्य मतं | (केन. २।३) | १४७ |
| यस्याहिताग्नेरग्निः | (तै. सं. २.२।२।५) | २४६ |
| यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं | (ऐत ब्रा. ३।८।१) | १५३ |
| यस्यैते चत्वारिंशत् | (गौ. ध सू ८।२२) | ६३, ७२ |
| यस्योभयं हविरार्तिमृच्छेत् | (तै ब्रा. ३।७।१।७) | ९९४ |
| यागानुमन्त्रणानीति | (तं वा पृ. ७५१) | १०४१ |
| याज्या देवतोपलक्षणार्था | (जै. सू. २।१।१५) | १४५ |
| या तत्र तथता वितथता | (सं. निकाय. २।२१) | ६८४ |
| यान्यनवद्यानि कर्माणि | (तै. १।११।२) | ८९५ |
| यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति | (वृद्धवृचबा.) | ११६५ |
| यावत्सम्पातमुषित्वा | (छा. ५।१०।५) | १३३, ८८०, ९०० |
| यावदज्ञातसन्दिग्धं तावत् | ( ) | १०३६ |
| यावदाकांक्षापूर्वकम् | (तं. वा. पृ. ८३९) | २४० |
| यावद्वाचो गतं | (छा. ७।२।२) | १२७३ |
| यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य | (छा. ७।१।५) | १२७३ |
| यावन्तो यादृशा ये च | (श्लो. वा. पृ. ५२७) | ४०३ |
| यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ | (छा. १।७।५) | २२७ |
| यावान् वा अयमाकाशः | (छा. ८।१।३) | ९६१, १०२० |
| युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश | (बृह. २।५।१९) | ९४० |
| युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् | ( ) | ४०५ |
| यूपं छिनत्ति | ( ) | ४९० |
| यूपं तक्षति | ( ) | १२८ |
| यूपमष्टाश्रीकरोति | ( ) | १२८ |
| यूपे पशुं बध्नाति | ( ) | १२८ |
| ये चामी अरण्ये श्रद्धां | (बृह. ६।२।१५) | १२४९ |
| ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकाः | (छा. १।६।८) | ९५८ |
| ते चेमेऽरण्ये श्रद्धा तपः | (छा. ५।१०।१) | १०६७, १०६८ |
| ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकाः | (छा. १।७।६) | ९५८१ |
| येन जातानि जीवन्ति | (तै. ३।१।१) | १२६६ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| येन यस्याभिसंबन्धः | (बृहट्टीका) | ९४८ |
| येन सूर्यस्तपति | (तै. ब्रा. ३।१२।९।७) | २४८ |
| येनाक्षरं पुरुषं वेद | (मुण्ड. १।२।१३) | ३०६ |
| येनाश्रुतं श्रुतं भवति | (छा. ६।८।७) | ७७२, ८४३, १०१० |
| येनाहं नामृता स्यां | (बृह. २।४।३) | ५१२ |
| येनेदं सर्वं विजानाति | (बृह. २।४।१३) | १४७ |
| ये पुनः सतो ब्रह्मणः | (भास्कर. पृ. १३२) | ७८२ |
| ये यथा मां प्रपद्यन्ते | (गी. ४।११) | ६१४ |
| येयं प्रेते विचिकित्सा | (कंठ. १।१।३०) | २ ७ |
| ये विनिद्रा जितश्वासाः | (भारत. १२।४७।५४) | ९५४ |
| ये वै के चास्माल्लोकात् | (कौषी. ३।३) | ८०१, ८९६ |
| येषां जीवस्वभावो नास्ति | (पञ्चा. १५) | ७४१ |
| योगिनस्तं प्रपश्यन्ति | (भारत. १२।४७ ५) | ९।४ |
| योगी कुर्याद् बलं प्राप्य | ( ) | ३८९ |
| यो जात एव प्रथमो मनस्वान् | (ऋ. २।६।७) | ११२२ |
| यो नाम क्रतुमध्यस्थः | (तै. वा. पृ. ९१३) | ९०४ |
| योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय | (कठ. ५।७) | १२३४ |
| योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि | (ऋ. १।१०४।१) | ५२१ |
| योऽप्सु तिष्ठन् योऽपोऽन्तरः | (बृह. ३।७।४) | ६३० |
| यो ब्रह्माणं विदधाति | (श्वेता. ६।१८) | ४०९ |
| यो भानुना पृथिवीं द्याम् | (ऋ. १०।८८।३) | ३१९ |
| योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः | (बृह. ५।५।४) | १०१७ |
| योऽयं बहिर्धा पुरुषादाशः | (छा. ३।१२।७) | ९६० |
| योऽयमन्तः पुरुष आकाशः | (छा. ३।१२।८) | ९६१ |
| योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु | (बृह. ३।१२।९) | ४५० |
| यो योनिं योनिं | (श्वेता. ४।११) | ४७८ |
| यो यो यां यां तनुं | (गी. ७।२१) | ९७० |
| यो यो ह्यन्नमत्ति | (छा. ५।१०।९) | ६०७ |
| यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते | (छा. ७।२।२) | १२०२ |
| यो वासुदेवो भगवान् | (भारत १२।३३९।४०) | ७६३ |
| यो विज्ञाने तिष्ठन् | (बृह. ३।७।२२) | ३०१ |
| यो वेद निहितं गुहायां | (तै. २।१) | २८३ |
| यो वै प्राणः सा प्रज्ञा | (कौषी. ३।३,४) | २५८ |
| यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां | (कौषी. ४।१९) | ४९८ |
| यो वै भूमा तत्सुखम् | (छा. ७।२३।१) | ३३६, ३४० |
| यो वै भूमा तदमृतम् | ( ) | ३४० |
| योऽशनायापिपासे | (बृह. ३।५।१) | ११३७ |
| योषा वाव गौतमाग्निः | (छा. ५।७।१) | १५३ |
| यो ह वाऽविदितार्षेयछन्दः | ( ) | ४०९ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च | (बृह ६।१।१) | ५३, ९८२ |
| (र) | | |
| रजतं गृह्यमाणं हि | ( ) | ९१४ |
| रजतं निषयीकृत्य | (प्र. पं. पृ. ४९) | २९ |
| रश्मिभिरेषोऽस्मिन् | (बृह. ५।५।२) | २८८ |
| रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात् | (छा. १।५।२) | ११८७ |
| रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति | (तै. २।६) | २११ |
| रसासृङ्मांसमेदोऽस्थि. | (अष्टाङ्ग पृ. ६) | ८८१ |
| रागो यस्य प्रशस्तः | (पञ्चा. १३५) | ७४२ |
| राजन्यं जिनाति | (तै. ब्रा. १।७।९।३) | १०४२ |
| राजा राजसूयेन | (आप. श्रौ. १०।८।१,४) | ४९, १०४३ |
| राजा सन्निधिमात्रेण | (श्लो. वा. पृ. ७१०) | १७७ |
| राश्यायद्वारगोत्रार्थाः | (आमि. को. १।२०) | ६८१ |
| रूपस्कन्धो वेदनास्कन्धो | (विशुद्धि. १४।३३) | ६८१ |
| रूपणाद् रूपम् | (अभि को. १।१३) | ६८० |
| रूपादिव्यतिरेकेण द्रव्यं | (प्रज्ञाकर. पृ. १८७) | ६६६ |
| रेतो वै प्रजापतिः | (बृह. ६।१।६) | ९८३ |
| (ल) | | |
| लक्षणं खलु लक्ष्यं पदार्थं | (न्या. वा. १।१।३) | १०९ |
| लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् | (तं. वा. पृ. ३५४) | १२, ९०१ |
| लघूनि सूचितार्थानि | पराशरोपपु. १८ ) | ५६ |
| लभते च ततः कामान् | (गी. ७।२१) | ९७० |
| लब्धरूपे क्वचित् किंचित् | (ब्र. सि. पृ. ४४) | ६५९ |
| लिप्यते न स पापेन | (मनु. १०।१०४) | ११६३ |
| लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञातां | ( ) | ४०५ |
| लोकसामान्यमनतीतुाः | (न्या. भा. ४९७) | ५७२ |
| लोकादिमग्नि तमुवाच | (कठ. १।१।१५) | २७७ |
| लोकावगतसामर्थ्यः | (ब्र. सि. ३।२३) | २३०, ३६०, ४९० |
| लोकेषु पञ्चविधं साम | (छा. २।२।१) | १२०२, १२०६, १२११ |
| (व) | | |
| वक्तव्यमधिभूतं तु | (भारत. १२।३११।५) | ८६० |
| वक्तारं विदध्यात् | (कौषी. ३।८) | २६१ |
| वचनानि त्वपूर्वत्वात् | (जै.-सू. ३।५।२१) | २४८, ११०५ |
| वत्सविवृद्धिनिमित्तं | (सां. का. ५७) | १८६ |
| वदिष्याम्येवाहमिति | (बृह. १।५।२१) | ८६५ |
| ववरः प्रावाहणिरकामयत | (तै. सं. ५।१।१०) | ५३८ |
| वरं वृणीष्व | (कौषी. ३।१) | २५८ |
| वराणामेष वरस्तृतीयः | (कठ. १।१।२०) | ५७१ |
| वर्णा आश्रमाश्च | ( ) | ८९० |
| वर्णा एव तु शब्दः | (शाबर. पृ. ४७) | ३९७ |
| वर्म वा यज्ञस्य क्रियते | (तै. सं. २।६।१।५) | १०६८ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| वर्षति हास्मै वर्षयति | (छा. २।३।२) | ११७५ |
| वर्षत्यस्मै य उपास्ते | ( ) | ११७५ |
| वर्षातयाभ्यां किं व्योम्नः | ( ) | ७०९ |
| वशीकृते मनत्येषां | (कल्पतरु. पृ. १९२) | २२३ |
| वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत | (तै. ब्रा. १।१।२।६) | १२८, ४२९ |
| वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत | (आप. श्रौ. १०।२।५) | २११, २४० |
| वस्तुतो ह्लादपरितापतदुभय. | (अभि, को पृ. ४८) | ६८१ |
| वाक्चितः प्राणचितः | ( ) | ११०२ |
| वाक्यार्थमितये तेषां | (श्लो. वा. पृ. ९४३) | १६४, ४१९ |
| वाक्वेष्वनैकान्तद्योती | (आप्त. १०।१०३) | ७४३ |
| वागध्यात्ममिमिति प्राहुः | (भारत. १२।३१३।५) | ८६० |
| वागादिपञ्चकं श्रवणादि. | (विवेक. ९८) | ८५० |
| वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः | (छा. ३।१८।३) | ८६० |
| वाग्वा अग्निः | (ऐत. १।२।४) | २५४ |
| वाग्वाव नाम्नो भूयसी | (छा. ७.२।१) | ३३३ |
| वाग्वै गायत्री | (छा. ३।१२।१) | २५१ |
| वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्रहेण | (बृह २।२।३) | ७५८ |
| वाङ्मनसि सम्पद्यते | (छा. ६।८।६) | १२२७ |
| वाचं धेनुमुपासीत | (बृह. ५।८।१) | ८२ |
| वाचश्चाधेनोर्धेनुत्वम् | (बृह. ५।८) | ८३ |
| वाचा च ह्येव स प्राणेन | (बृह. १।३।२४) | ९९१ |
| वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् | (छा.६।१।६) | ३४१ |
| वाचि सप्तविधं सामोपासीत | (छा. २।८।१) | १२०२ |
| वाचैवायं ज्योतिषास्ते | (बृह. ४।३।५) | २४८ |
| वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन | (आप. श्रौ. १८।७।८) | १०४९ |
| वानप्रस्थो दोक्षाभेदे कृच्छ्रं | ( ) | ११७३ |
| वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः | (तै. सं २।१।१) | ४२० |
| वायुः किंसन्निश्रयः | ( ) | ७०१ |
| वायुः पित्तं कफश्चेति | (अष्टाङ्ग. पृ. ३) | ८८१ |
| वायुः प्राणो भूत्वा नासिके | (ऐत. २।४) | ८६० |
| वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य | (मुण्ड. २।१।४) | ३१० |
| वायुराकाशसन्निश्रयः | ( ) | ७०१ |
| वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः | ( ) | ४४१ |
| वायुर्वाव संवर्गः | (छा. ४।३।१) | ४३१. १०९९, ११५६ |
| वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता | (तै. सं. २।१।१) | ४१६, ४२० |
| वायुर्वै गोतम तत्सूत्रम् | (बृह. ३।७।२) | ३२५ |
| वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम् | (बृह. २।३।३) | ७८१ |
| वायोरग्निः | (तै. २।१) | ७६६ |
| वालाग्रशतभागस्य | (श्वेता. ५।८) | ८०३ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गव. | (रामायण. १।१।१) | ११७७ |
| वासुदेवः सर्वमिति | (गी. ७।१९) | ५१९ |
| बासुदेवात्मको यः | (अहिर्बुध्न्य. पृ. ५२७) | ७६४ |
| विकल्पः समुच्चयपक्षासम्भवात् | (तं. वा. पृ. ८५४) | १०४३ |
| विगलितपराग्वृत्त्यर्थत्वम् | ( ) | १४७ |
| विजानाम्यहं यैत्प्राणो | (छां. ४।१०।५) | २९२ |
| विज्ञातारमरे केन विजानीयात् | (बृह. २।४।४) | ५१७ |
| विज्ञानं चाविज्ञानं च | (तै. २।६) | ५५० |
| विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म | (तै. २।५।१) | ८२३ |
| विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः | (अभिको. १।१६) | ६८० |
| विज्ञानमयो मनोमयः | ( ) | ८१० |
| विज्ञानमानन्दं ब्रह्म | (बृह. ३।९।२८) | ८००, १००१, ११९१ |
| विज्ञानं यज्ञं तनुते | (तै. २।५।१) | ८१४, ८१५, ८२३ |
| विज्ञप्तिः प्राक् मैथुनात् | (अभि. को. ३।२३) | ७२६ |
| विदुषां निवहैरिहैकमत्यात् | (दीधि. बाधप्र. ) | ५६० |
| विद्यया तदारोहन्ति | ( ) | १०६८ |
| विद्यया ह्येवैते एवं | ( ) | ११०५ |
| विद्यां चाविद्यां च | (ईशा. ११) | १८४ |
| विद्याचित एव | ( ) | ११०६ |
| विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं | (कठ. १।२।४) | ४७२ |
| विद्यामेतां योगविधिं | (कठ. २।६।१८) | ५४२ |
| विद्योतते स्तनयति | (छा. ७।११।१) | १२५१ |
| विद्वान्न विभेति कुतश्चन | (तै. २।१।१) | १२६६ |
| विधानं हि अत्यन्तानवगतार्थं. | (तै. वा. १४१) | १०७१ |
| विधिना तु एकवाक्यत्वात् | (जै. सू. १।२।७) | ११६, ११७, ४१६ |
| विधिर्वाऽपूर्वत्वाद् | (जै. सू. १।२।१९) | ११२३ |
| विधिस्तु धारणे तदपूर्वत्वात् | (जै. सू. ३।४।५) | ११४५ |
| विधूतकल्पनाजालं | (प्र. वा. पृ. ३२६) | १०६० |
| विधौ न परः शब्दार्थः | (शाबर. पृ. १४१) | ११ |
| विनाशमेवापीतो भवति | ( ) | ३७२ |
| विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता | (मध्यमक. पृ. २१६) | ६७८ |
| विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् | (यो. सू. १।८) | ८५७ |
| विपाकतो वा आगमतो वा | (अभि. समु. पृ. ६) | ६९७ |
| विपाको मननाख्यश्च | (त्रिंशि. २) | ६८३ |
| विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते | (शाबर. पृ. १४) | ५३९ |
| विभाषा | (पा. सू. २।१।११) | १०५८ |
| विरोधे त्वनपेक्षं स्याद् | (जै. सू. १।३।६) | ५३४, ५३६, ११०९ |
| विविदिषन्ति यज्ञेन | (बृह. ४।४।२२) | ६१, ६४, ७१, ११५८, ११६८ |
| विशये प्रायदर्शनात् | (जै. सू. ३।३।२) | १८७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु | (मुण्ड ३।१।८) | ७२ |
| विशेषेण तु दशमस्याह्नः | (शाबर. पृ. २००७) | ११०४ |
| विश्वतः पृष्ठेषु | (छा. ३।१३।७) | २४८ |
| विश्वमूर्धा विश्वभुजः | (भारत. १२।३५१।५) | ५३८ |
| विश्वस्मा अग्निं भुवनाय | (ऋ. १०।८८।१२) | ३१४ |
| विषयसारूप्यात् | (युक्तिदी. पृ. १२२) | ६२९ |
| बिषयो विशयश्चैव | ( ) | ५४ |
| विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं | (गी. १०।४२) | २५४ |
| विष्णुरुपांशु यष्टव्यः | (तै. सं. २।६।६) | १३५, १३६ |
| विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे | (छा. ८।६।६) | १२६४ |
| वीरहा वा एष देवानां | (तै. सं. १।११।१) | ११४२ |
| बुद्धिशब्दस्येहाकांक्षावशात् | (प्रदीपकारः) | ४४१ |
| वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतौ | (छा ५।३।३) | ४६६, ८७५, ८८३ |
| वेत्थ यथासौ लोको न | (छा. ५।३।३) | ८९८ |
| वेदशब्देभ्य एवादौ | (मनु. १।२१) | ३९१, ५१० |
| वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः | (मुण्ड. ३।२।६) | ११५० |
| वेदा अवेदाः | (बृह. ४।३।२२) | ११९७ |
| वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं | (श्वेता. ३।८) | ८११ |
| वेदिं करोति | (आप. श्रौ. ८।१३।२) | ४९० |
| वेदोदितं स्वकं कर्म | (मनु. ४।१४) | १७० |
| वैचित्र्यं च समस्य व | (कुसु. १।७) | ८८९ |
| वैदिकं जैमिनीयं च | (श्लो. वा. पृ. १५) | २२१ |
| वैदिकैः कर्मभिः | (मनु. २।२६) | १०९ |
| वैवस्वतं संगमनं | ( ) | ४९८ |
| वैश्वदेव्यामिक्षा | (तै. सं. १।१०।१) | ९७५ |
| वैश्वानरं द्वादशकपालं | (तै. सं. २।२।५।३) | ९९, २३९, ८४७ |
| वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम | (ऋ. १।९८।१) | ३१४ |
| व्यपगतलेपालाबुवत् | (तत्त्वा. वा. पृ. ६४६) | ७५२ |
| व्यवसायो बुद्धिधर्मः | (सां. का. २३) | ६२९ |
| व्यापकविरुद्धोपलब्धिः | (न्या. बिं. २।३८) | ३ |
| व्याप्तेश्च हृश्यमानाया | (श्लो. वा. पृ. ३५१) | ६२३ |
| व्रीहिभिर्यजेत | (आप. श्रौ. ६।३१।१३) | १०५५ |
| व्रीहीनवहन्ति | (आप. श्रौ १।१६।११) | १३५ |
| व्रीहीन् प्रोक्षति | ( ) | ६५, १४१ |
| (श) | | |
| शक्तत्वादर्थित्वाद् | (जै. सू ६।१) | ३८३ |
| शङ्कितसमारोपितोपाधि. | (सां. त. कौ. ५) | ६२१ |
| शतं चैका हृदयस्य नाड्यः | (छा. ८।६।६) | १२४३ |
| शतायुष. पुत्रपौत्रान् वृणीष्व | (कठ. १।२३) | ९१० |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| शं वो मित्रः शं वरुणः | (तै. १।१।१) | १०२४ |
| शब्दज्ञानानुपाती | (यो. सू. १।९) | ५६९, ८५७, १२८१ |
| शब्दज्ञाने विकल्पेन | (प्र. वा. पृ. ९५) | ३७२ |
| शब्दस्तु सम्पातायातः | (ता. टी. पृ. २३०) | ३४२ |
| शब्दस्पर्शादीनां गुणानाम् | (भास्कर. पृ. १३२) | ७८४ |
| शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारण. | (प्रशस्त. पृ. १४४) | ७०१ |
| शब्दस्य परिणामोऽयं | (वाक्यप. १।२०) | ३४१ |
| शब्दः स्पर्शं च रूपं च रसमात्रं | ( ) | ६६२ |
| शब्दाच्च नित्यादस्य | (ब्र. सि. पृ. १४) | ११ |
| शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन् | (विष्णु पु. १।२।५३) | ६६३ |
| शरीरेन्द्रियमनोभिः | (कठ. भा. पृ. ६२) | ७५७ |
| शरीरस्थोऽपि कौन्तेय | (गी. १३।३१) | ३७० |
| शरीरमनुसंज्वरेत् | (बृह. भा. पृ. ६७७) | १५७ |
| शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्यात् | (कठ. १।१०) | ४६९ |
| शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना | (बृह. ४।३।३५) | ९५७ |
| शास्त्रफलं प्रयोक्तरि | (जै. सू. ३।७।१८) | ४७ |
| शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् | (जै. सू. १।३।८) | ११७३ |
| शास्त्राचार्योपदेशमनुविद्य | (छा. भा. पृ. ४४६) | ३५५ |
| शास्त्रं पुनः प्रमाणादिवाचक. | (न्या. वा. १।१।१) | ५७६ |
| शिक्षा कल्पो व्याकरणम् | (मुण्ड. १।१।५) | २, ११० |
| शिरःकपालध्वजवान् | (याज्ञ. स्मृ. ३।२४२) | १०५ |
| शुकः किल बैयासकिर्मुमुक्षुः | (भारत. १२।३३३) | १२४० |
| शुकस्तु मारुताच्छीघ्रां गतिं | (भारत. १२।३३३।१९) | १२४० |
| शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम् | (बृह. ४।३।११) | ८०२ |
| शुक्लकृष्णे गती ह्येते | (गीता. ८।२६) | १०६९ |
| शुक्तिकाया विशेष. | (प्र. पं. पृ. ४९) | २८ |
| शुचेर्दश्च | (उणादि. सू. २।१९) | ४३६ |
| शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य | (गी. ६।११) | १२०८ |
| शूद्रश्चतुर्थो वर्णः | (मनु. १०।४) | ४३९ |
| शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः | ( ) | ४२८ |
| शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः | ( ) | ४२९ |
| शूर्पसाधनता श्रौती नाश्रौतैः | (जै. न्या. मा. पृ. २५) | २६८ |
| शूर्पेण जुहोति | (मै. सं. १।१०।११) | २६७ |
| शेषः परार्थत्वात् | (जै. सू. ३।१।१) | ७७ |
| शेषलक्षणमात्रोक्तावर्थात् | (तै. वा. पृ. ६५३) | ७७ |
| शेषस्य हि परार्थत्वात् | (जै. सू. ११।१।४) | ४२४ |
| शेषे ब्राह्मणशब्दः | (जै. सूः २।१।३३) | ११३, ५०९ |
| शौनकादयो मधुच्छन्दः | ( ) | ४०९ |
| शौनःशेपमाख्यापयति | (तै. ब्रा. १।७।१०।६) | १०४१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| श्यावो वाऽस्याहुतिमभ्यवहरति | (न्या. भा. २।१।५८) | ११२३ |
| श्येनेनाभिचरन् यजेत | (षड्विंश. १।८) | ४८, ३७३, ४८८ |
| श्रद्धां जुह्वति | (वृह. ६।२।२) | ८७८ |
| श्रद्धा वा आपः | (तै. ब्रा. ३।२।४।१) | ८८४ |
| श्रवणायापि बहुभिः | (कठ. २।७) | ११८२ |
| श्रावयेच्चतुरो वर्णान् | (भारत. १२।३२७।४९) | ४४० |
| श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृश्येभ्यः | (छा. ७।१।३) | १४२ |
| श्रुतिरेव ह्येकं प्रमाणं | (तं. वा. पृ. ८३०) | १०३१ |
| श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण. | (जै. सू. ३।३।१३) | २४०, ७७४, ११०३ |
| श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् | (श्लो. वा पृ. ४९) | १०१ |
| श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः | (गी. ३।३५) | ११७१ |
| श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः | (बृह. २।४।५) | १८३, १३२, ११९० |
| श्रोत्रं वै ग्रहः, स शब्दातिग्रहेण | (बृह. २।२।६) | ४५८ |
| श्रोत्रेण सृष्टा दिशश्चन्द्रमाश्च | (ऐत. १।७।५) | २५४ |
| श्लेषः प्रसादः | (काव्या. १।४१) | ३ |
| श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ | ( ) | ११२४ |
| श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं | (छा. ६।१।१) | ७७७ |
| श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि | ( ) | १०२४ |
| (ष) | | |
| षट्केन युगपद् योगाद् | (विंशति. १२) | ६०७, ६५४ |
| षट्त्रिंशत्सहस्राण्यर्काः | ( ) | ११०५ |
| षड् भावविकारा भवन्ति | (निरुक्त. १।१) | १०० |
| षोडशकश्च विकारो | (सां. का ३) | ४८२ |
| (स) | | |
| स आगच्छति विरजां नदीं | (कौषी. १।४) | १०६० |
| स आत्मनो वपामुदक्खिदत् | (तै. सं. २.१।१) | ११५६ |
| स आत्मा तत्त्वमसि | (छां. ६।१४।३) | २०२ २०३ |
| स आत्मानमुपासीत | ( ) | १०१५ |
| स इमान् लोकानसृजत | (ऐत. ६।१४।३) | ४९२ |
| स ईक्षत लोकान्नु सृजै | (ऐत. ४।१।२) | १००७ |
| स ईक्षांचक्रे स प्राणमसृजत | (प्रश्न. ६।३।१४) | १९५ |
| स ईयतेऽमृतो यत्र कामं | (बृह. ४।३।१२) | ८१४ |
| स उच्छ्वयत्याछमायति | (बृह. ३।२।११) | १२३८ |
| स उत्तमः पुरुषः | (छा. ८।१२।३) | ४४५ |
| स एकधा भवति त्रिधा | (छा. ७।२६।२) | २९८, १२८५, १२८९ |
| स एतं देवयानं पन्थानम् | (कौषी. १।३) | १०६०, १०६४, १२५२ |
| स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः | (तै. ब्रा. ३।१।४।१) | ४१० |
| स एतमेव पुरुषं ब्रह्म | (ऐत. ३।१३) | १००९ |
| स एतमेव सीमानं विदार्य | (ऐत. ३।१२) | १००९ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| स एतस्माज्जीवघनात् | (प्रश्न. ५।५) | ३४७ |
| स एतास्तेजोमात्राः | (बृह. ४।४।१) | ६५६, ८०१, ८७४ |
| स एनान् ब्रह्म गमयति | (छां. ४।१५।६) | १२५६, १२५९, १२७२ |
| स एवाधस्तात् | (छां. ७।२५।१) | ९६१ |
| स एष इह प्रविष्टः | (बृह. १।४।७) | ७९७ |
| स एष नेति नेति | (बृह. ३।९।२६) | १०८९, ११८३, १२६५ |
| स एष परोवरीयानुद्गीथः | (छा. १।९।२) | ९९५ |
| स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा | (कौषी. ३।८) | २६२ |
| स एष ये चामुष्मान् | (छां. १।६।८) | २२४, २२७ |
| स एष ये चैतस्मात् | (छां. १।७।६) | २२४ |
| स एष रसानां रसतमः | (छां. १।१।३) | ११५१ |
| स एष सर्वस्येशानः | (बृह. ५।६।१) | १०१६ |
| स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः | (छां. १।६।७) | २२५, २२६ |
| स एष सर्वेश्वरः | (सुबाल ५।१५) | १२८० |
| स एषोऽग्निर्वैश्वानरः | (शत. ब्रा १०।६।१।११) | ३१७ |
| संकर्षणाच्च प्रद्युम्नः | (भारत. १२।३३९।४१) | ७६४ |
| संकल्पादेवास्य पितरः | (छां ८।२।१) | १२८५ |
| संकल्पाभिमानाध्यवसाय. | (युक्तिदी. पृ. १०८) | ६३८ |
| स कारणं करणाधिपाधिपः | (श्वेता. ६।१) | १८८ |
| स क्रतुं कुर्वीत | (छां. ३।१४।१) | ९४०, १२२६ |
| स खल्वयं प्रसादो | (पञ्चास्ति. पृ. ५९) | ७५२ |
| संक्षिपेच्च पुनस्तानि | ( ) | ३८९ |
| सचक्षुरचक्षुरिव | ( ) | १७९ |
| स च त्रिविधः | (प्रशस्त. पृ. ३४७) | ६७१ |
| सच्च त्यच्चाभवत् | (तै. २।६।१) | ७८६, ७९० |
| सच्छब्दनिमित्ते हि | (अभि. प्र. पृ. ९) | २४ |
| सत आगम्य न विदुः | (छां. ६।१०।२) | ९२८ |
| स तत्र पर्येति | (छां. ८।१२।२) | १२७९ |
| स तपस्तप्त्वा | (तै. ३।६।१) | ७८५ |
| स तया श्रद्धया | (गी. ७।२१) | ९७० |
| सता सोम्य तदा सम्पन्नः | (छां. ६।८।१) | ८१। |
| सति सम्पद्य न विदुः | (छां. ६।९।२) | ८११ |
| स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः | (प्रश्न. ५।५) | ३४६ |
| सत्यकामः सत्यसंकल्पः | (छां. ८।१।५) | ११२६, ११२८, १२७९ |
| सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म | (तै. २।१।१) | ३४, ८१, १३०. ३३९ |
| सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यं | (छां. ७।१६) | ३३८ |
| सत्यं ब्रह्म | (बृह. ५।५।१) | १०१७ |
| सत्यस्य सत्यमिति प्राणाः | (बृह. २।१।२०) | ९५३ |
| सत्याकारमते युक्ता | (ज्ञानश्री. पृ. ४०८) | ७१३ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि | (कठ. १।१।१३) | २७७ |
| सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टं | (सां. का. १३) | १९० |
| सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं | (गी. १४।१७) | १८८ |
| सदकरणवन्नित्यं | (वै. सू. ४।१।१) | ६५९ |
| सदसद्वेद्ये | (तत्त्वा. सू. ८।९) | ७४४ |
| सदा तद्भावभावितः | (गी. ८।६) | ११२९ |
| स दाधार पृथिवीं | (ऋ. १०।१२१।१) | ३११ |
| सदेव सोम्येदं | (छा. ६।२।१) | ६९, ९२, ११९, ११९६ |
| सद्वादित्वाच्च पाणिवैः | (शाबर. पृ २०६१) | १०५९ |
| सधीः स्वप्नो भूत्वेमं | (बृह. ४।३।७) | ८२२ |
| स न साधुना कर्मणा | ( ) | २५९ |
| सन्तः प्रणयिवाक्यानि | (श्लो. वा. पृ. २) | ११८२ |
| सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं | (बृह. ४।३।९) | ९०९ |
| सन्ध्यां मनसा ध्यायेत् | (ऐत ब्राः ३।८।१) | १५३ |
| सन्निध्यात्मकः क्रमः | (तं वा पृ. ८५१) | १०४३ |
| सन्मूला सोम्येमाः प्रजाः | (छां ६।८।४) | ३२६ |
| स पर्यगाच्छुक्रमकायं | (ईशा. ८) | १५२ |
| संपश्यन्नात्मयाजी | (मनु. १२।९१) | ५३८ |
| सप्तदश प्राजापत्यान् | (तै. ब्रा. ३।४:३) | ७७ |
| सप्तद्वीपा वसुमती | (महाष्य ) | १३२ |
| सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य | (शत. ब्रा. ३।५।३।३६) | ७८५ |
| सप्त प्राणाः प्रभवन्ति | (मुण्ड. २।१।८) | ८३९, ८४५ |
| सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः | (तै. सं. ५।१।७।१) | ८४४ |
| स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां | (प्रश्न. ६।४) | ८१०, ८४३, ८५२ |
| स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः | (मुण्ड. २।१।२) | १२६५ |
| स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या. | (मुण्ड. १।१।१) | ३०८ |
| स ब्रूयाद् यावान् वा अयमाकाशः | (छां. २।१।३) | ३५२ |
| स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः | (छा. ७।२४।१) | ९९५, १२१० |
| स भूरिति व्याहरत् | (तै. ब्रा. २।२।४।२) | ३९३ |
| स मनसा वाचं मिथुनं | (बृह. १।२।४) | ३९२ |
| समा प्लुषिणा समो | (बृह. १।३।२२) | ८५९ |
| समयाध्युषिते सूर्ये | (तै. सं. ६।६।२।३) | १०५४ |
| समयोऽस्तमयः तं प्राप्ते | (न्या. मा. वि. पृ. २७७) | १०५४ |
| समर्थः पदविधिः | (पा. सू. २।१।१) | ४८७ |
| समं सर्वेषु भूतेषु | (गी. १३।२७) | ५१९ |
| समस्तस्य खलु साम्न उपासनं | (छां. २।१।१) | १२०६ |
| समानकर्तृकयोः | (पा. सू. ३।४।२१) | १५, ४२४, ८६८ |
| समानः सन् | (बृह. ४।३।७) | ८११ |
| समानाधिकधर्मोपपत्तेः | (न्या. सू. १।१।३३) | ९५, १७८ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| समानासमानजातीय. | (प्रशस्त. पृ. १५१) | ७६९ |
| समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः | (मुण्ड. ३।१।२) | २८५ |
| समाग्निवच्च | (जै. सू. २।४।२०) | ९८६ |
| समा विप्रतिपत्तिः स्यात् | (जै. सू. १।३।८) | ११७३ |
| समासस्य | (पा. सू. ६।१।२२३) | ४८४ |
| समासेऽनञ्पूर्वे | (पा. सू ७।१।३७) | १६ |
| समिधो यजति | (तै. सं. २।६।१।१) | ७६, ६७९ |
| समृद्धिं तत्र जानीयात् | (छा. ५।२।९) | ५८६ |
| समे शुचौ शर्करावह्नि· | (श्वेता. २।१०) | १२०९ |
| सम्बद्धं वर्तमानं च | (श्लो. वा. पृ. १६०) | ९१४, १०७५ |
| सम्भवत्येकवाक्यत्वे | (श्लो. वा. पृ. १३५) | २४८, ४६६, ११२५ |
| सम्भोज्यातिथि. | (याज्ञ. स्मृ. पृ. ३६) | १०९१ |
| स य एतमेव वायुं | (छा. ३।१५।२) | ११२९ |
| स य एतमेव विद्वानादित्यं | (छा. ३।१५।४) | १२०२ |
| स य एषोऽणिमैतदात्म्यम् | (छा. ६।१४।३) | २०१ |
| स एतदेवममृतं वेद | ( ) | ४१२ |
| स यत्र प्रस्वपिति | (बृह. ४।३।९) | ९०९ |
| स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः | (बृह. ४।४।१) | ८४९ |
| स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य | (बृह. ७।५।८) | ५०९ |
| स यथाऽनन्तोऽयमाकाशः | ( ) | ७७० |
| स यथार्द्रेन्धनाग्नेरभ्याहितस्य | (बृह. ४।२।११) | ५०९ |
| स यथाऽश्मानमृत्वा | (बृह. १।३।७) | ८६३ |
| स यथा सर्वासामपां | (बृह. ४।५।१२) | ५१० |
| स यथा सैन्धवघनो | (बृह. ४।५।१३) | ९३७ |
| स यथैतां देवतां | (बृह. १।५।२३) | १२९५ |
| स यथैषां प्राणानां | (बृह. १।५।२२) | ११०० |
| स यदास्माच्छरीरात् | (कौषी. ३।३) | ८००, ८०० |
| स यदि पितृलोककामः | (छा. ८।२।१) | १२७१, १२८३, १२८४ |
| स यावत्क्रतुरयमस्मात् | (शत. १०।६।३।१) | १२१० |
| स यावत्क्षिप्येन्मनः | (छा. ८।६।५) | १२४४, १२४५, १२४८ |
| स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते | (छा. ७।१।५) | ११२९ |
| स यो मां वेद न ह वै तस्य | (कौषी. ३।१) | २५९ |
| स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म | (मुण्ड. ३।२।९) | ९५४, ११३३ |
| स यो ह्येतं महद् यक्षं | (बृह. ५।४।१) | १०८४ |
| सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति | ( ) | ५०६ |
| सर्वकर्मार्थं वाधानम् | (शाबर. १०३८) | ४२९ |
| सर्वकर्मा सर्वकामा | (छा. ३।१४।२) | २२६, २६८, ९३४ |
| सर्वं खल्विदं ब्रह्म | (छा. ३।१४।१) | २४७, ७७५ |
| सर्वज्ञं सर्वशक्ति महामायं | (नृसिंहो. ५।६) | ६१७ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः | (शिवपू. विद्ये. १६।१२) | २ |
| सर्वज्ञः सर्वेश्वरः | (शाण्डि. २।१।४) | १२८० |
| सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं | (ऐत. ५।३) | १००९ |
| सर्वतन्त्राविरुद्धः | (न्या. सू. १।१।२८) | ३३ |
| सर्वं तत्परादाद् योऽन्यत्रात्मनः | (बृह. ४।५।७) | ९६१, ११९६ |
| सर्वतः पाणिपादं | (गी. १३।१३) | २७२ |
| सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु | ( ) | २४२ |
| सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् | (तं. वा. पृ. ६३५) | ९८२ |
| सर्वथा लक्षणं नाम | (तं. वा. पृ. ७४६) | १०९ |
| सर्वं पाप्मानं तरति | (बृह. ४।४।२३) | १२१३ |
| सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् | (सां. का. २६) | ४७३ |
| सर्वं प्रविश्य हृदयं प्रविश्य | ( ) | १०२४ |
| सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूता. | ( ) | १२३९ |
| सर्वभूतेषु चात्मानं | (मनु. १२।९१) | ५३८ |
| सर्वमिदं | (मुण्ड. २।२।१०) | ३७७ |
| सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय | (तै. ब्रा. ३।३।५।५) | १४५ |
| सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः | (बृह. ४।४।२२) | ४५२ |
| सर्वस्यैवानुपलब्धेर्स्थे | (श्लो. वा. पृ. २११) | १२७६ |
| सर्वा ऋचः सर्वाणि सामानि | (आप. श्रौ. सू. १२।१।३) | ११४८ |
| सर्वाणि रूपाणि विचित्य | (तै. आ. ३।१२।७) | २०६ |
| सर्वाणि ह वा इमानि | (छा. १।११।५) | २३१ |
| सर्वात्मगतवृत्तिलब्धाद्दृष्ट | (न्यायकं. पृ. १२७) | ६५३ |
| सर्वात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि | (भारत. १२।२७०।२२) | १२३९ |
| सर्वात्मश्रुतयश्च | (प्र. पं. पृ. ३३९) | ९५ |
| सर्वान् ह पाप्मनोऽपहत्य | (कौषी. ४।२०) | ५०४ |
| सर्वांश्च लोकानाप्नोति | (छा. ८।७।१) | ११३३ |
| सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्यः | (छा. ८।३।२) | ९३० |
| सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते | (छा. ८।४।२) | ८२५, १२१५ |
| सर्वे प्रत्यया अनालम्बनाः | (प्रज्ञाकर. पृ. ३५९) | ७३१ |
| सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति | (कठ. २।१५) | ९८५, ११५८ |
| सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् | (जै. सू. २।२।२३) | ११४८. ११५५ |
| सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि | (मनु. १।२१) | ३९३ |
| सर्वेषामभिगमयन् | ( ) | ११०० |
| सर्वेषां साक्षीभूतोऽसौ | (भारत. १२।३५१।४) | ५३८ |
| सर्वेषां स्पर्शानां | (बृह. २।४।११) | ८४४ |
| सर्वेषु लक्ष्मणेष्वेव | (श्लो. वा. पृ. २१७) | ७३९ |
| सर्वेऽस्मै देवा वलिं | (तै. १।५।३) | १२९१ |
| सलिल एको द्रष्टा | (बृह. ४।३।३२) | १२९० |
| संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा | ( ) | ११७० |
| संवत्सरयोगाभ्यां युक्तः | ( पञ्चा. १४४) | ७४३ |
| स वा अयं पुरुषः | ( बृह. २।५।१८) | ७९४ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| स वा अयमात्मा | (बृह. ४।४।५) | ७९८ |
| स वा एष आत्मा | (छा. ८।३।३) | ८०४ |
| स वा एष महानजः | (बृह. ४।४।२५) | ७९७, १००९, १२६५ |
| स वायुलोकं | (कौषी. १।३) | १२५२ |
| सविज्ञानो भवति | (बृह. ४।४।२) | १२१० |
| संवित्तयैव संवित् | (बृहती. पृ. ८२) | ७२९ |
| संवृतिर्नाम विकल्पविज्ञानम् | (प्रज्ञाकर. पृ. १८५) | १७ |
| स वै वाचमेव प्रथमां | (बृह. १।३।१२) | ८६० |
| स वै शरीरी प्रथमः | (मार्कण्डेयपु. ४५।६४) | १००६ |
| संशयात्मा विनश्यति | (गी. ४।४०) | ३९७ |
| स समानः सन्नुभौ लोकौ | (बृह. ४।३।७) | ८१० |
| स सर्गकाले च करोति | ( ) | ५३६ |
| स सर्वदा सर्वाणि भूतानि | ( ) | ११०६ |
| स सर्वेषु लोकेषु | (छा. ५।१८।१) | ११२४ |
| संसर्गरसनिष्पत्तेः | (जै. सू. ४।१।२३) | १३१ |
| स सामभिरुन्नीयते | (प्रश्न. ५।५) | ३४६ |
| संसारिणो मुक्ताश्च | (तत्त्वा. सू. २।१०) | ७४० |
| स सोमलोके विभूतिमनुभूय | (प्रश्न. ५।६) | ८८७ |
| स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रति | (जै. सू. ४।३।१५) | १२९, १०२६ |
| सह पशूनालभते | (कात्या. श्रौ. सू. २२।३।२८) | ७६ |
| संहरणाद्वा संवरणाद्वा | ( ) | १४४ |
| स ह वा आत्मयाजी | ( शत. ब्रा. ११।२।६।१३) | ७२ |
| स ह वै तत्परमं ब्रह्म | (मुण्ड. २।२।९) | ३७० |
| सहस्रसंवत्सरं | (जै. सू. ३।७।३१) | ५६४ |
| सह ह्येतावस्मिन् शरीरे | (कौषी. ३।४) | २६२ |
| सहोपलम्भनियमादभेदः | (प्रमाणसमु. ) | ७१६ |
| स होवाचैतद्वै तदक्षरं | (बृह. ३।८।८) | ३४० |
| स ह्यन्तरात्मा भूतानाम् | ( ) | ५३६ |
| सा अस्य देवता | (पा. सू. ४।२।२४) | ९७७ |
| साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति | (श्लो. वा. पृ. ९४३) | १६४, ७१९ |
| साधर्म्यमुपमा भेदे | (काव्यप्र. पृ. ४४३) | ३५३ |
| साधारणं भवेत् तन्त्रं | (शाबर. पृ. २९६) | ३२६ |
| सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य | (प्रशस्त. पृ. ३७८) | ६६७ |
| सापेक्षमसमर्थं भवति | (महाभाष्य. ३।१।८) | ९ |
| सामर्थ्यं सर्वभावानां | (तं. वा. पृ. २७७) | ७७४ |
| सामान्यकरणवृत्तिः | (सां. का. २९) | ८५३ |
| सामान्यतो दृष्टं नाम | (न्यायमा. १।१।५) | १०७ |
| सामान्यं द्विविधं | (प्रशस्त. पृ. २९) | २४ |
| सामोपासीत | (छा. २।२।१) | ११५२ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri


| | | |
|---|---|---|
| सा यदिदमस्मिन् पुरुषे | ( छा. ३।१२।३) | ८५० |
| सा या ब्रह्मणो जितिः | (कौषी. १।४) | १२४९ |
| सा येयं पृथिवी | (छा. ३।१२।२) | २५० |
| सावयवं परतन्त्रम् | (सां. का. १०) | ६०६ |
| सिय अत्थि णत्थि | (पञ्चा. १४) | ७४६ |
| सिंहो माणवकः. गोर्वाहीकः | (कैयट.) | १८३ |
| सुकृतस्य स्वयंकृतस्य | (कठ. भा. नृ. ५९) | २८२ |
| सुरापाः कृमयो भवन्ति | ( ) | ११६४ |
| सुवर्णं भार्यं | (तै. ब्रा. २।२।४।५) | ४३० |
| सुहृदः साधुकृत्याम् | ( ) | १२२१ |
| सूत्रे राश्यर्थः स्कन्धार्थः | (अभि. को. १।२०) | ७२५ |
| सूर्यद्वारेण ते विरजाः | (मुण्ड. १।२।११) | ९८६ |
| सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं | ( ) | ३१५ |
| सूर्याचन्द्रमसौ धाता | (ऋ. १०।१९०।३) | ४१० |
| सृजते स हि कर्त्ता | (बृह. ४।३।१०) | ९११ |
| सृष्टोरुपदधाति | (तै. सं. ५।३।४।७) | २८१ |
| सेतुं तीर्त्वा | (छा. ८।४।२) | ९५७ |
| सेयं देवतैक्षत | (छा. ६।३।२) | ७८८, ९१८ |
| सेवते विषयानेव | ( ) | ८२२ |
| सैवर्क् तत्साम तदुक्थं | ( ) | २२६ |
| सैषा चतुष्पदा षड्विधा | (छा. ३।१२।५) | २५०. २५१, २५३ |
| सैषानन्दस्य मीमांसा | (तै. २।८) | २११ |
| सैषानस्तमिता देवता | (बृह, १।५।२२) | ७८१. ११०० |
| सैषा भार्गवी वारुणी विद्या | (तै. ३।६) | २१४ |
| सैषा विराडन्नादी | (छा. ४।३।८) | २५३ |
| सोऽकामयत बहु स्याम् | (तै. २।६) | २२०, ७८९ |
| सोऽध्वनः पारमाप्नोति | (कठ. ३।९) | १००६ |
| सोऽन्वेष्टव्यः | ( छा. ८।७।१) | १३१, ८२८, ८२९ |
| सोमेन यजेत | (तै. ३।२।२) | १६८, २६९, ३६१ |
| सोऽरोदीत् | (तै. सं. १।५।१) | ११६, १२३ |
| सौत्येऽहनि अग्नीषोमीयं | (कात्या. श्रो. सू. २२।३।२८) | ७७ |
| सौर्यं चरुं निर्वपेत | (तै. सं. २।३।२।३) | ७८ |
| स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिः | (शाबर. पृ. २९) | ७३३ |
| स्तुतशस्त्रयोस्तु | (जै. सू. २।१।१३) | १४४ |
| स्तेनोऽस्तेनो भवति | (बृह. ४।३।२२) | ९३३ |
| स्त्रियाः क्तिन् | (पा. सू. ३।३।९४) | ३५९ |
| स्थपतिर्निषादः | (जै. सू. ६।१।५१) | ३५८, ४३३ |
| स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति | (कठ. २।५।७) | ४७० |
| स्थानं क्रमश्चेत्यर्थान्तरम् | (मी. न्या. मा. पृ. ७४) | १०३१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



| | | |
|---|---|---|
| स्थितप्रज्ञस्य का भाषा | (गी. २।५४) | १७९ |
| स्पर्शादिव्यतिरेकेण | (प्रज्ञःकर. पृ. ५१२) | ६६५ |
| स्पष्टावभासां प्रत्यक्षां | (प्र. वा. पृ. ४५३) | ७०३ |
| स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां | (छा. ७।२६।२) | १०७३ |
| स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् | (आप्त. १०।१०४) | ७४६ |
| स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं | (श्लो. वा. पृ. ५९) | ७३३ |
| स्वतन्त्रः कर्त्ता | (पा. सू. १।४।५४) | ४३, १९१, ८१५ |
| स्वपते जाग्रते चैवंविदे | (प्रज्ञाकर. पृ. ३५९) | ७३२ |
| स्वप्नमाथे यथा दृष्टं | (आगम. २।३२) | ६१८ |
| स्वप्नान्तं जागरितान्तं | (कठ. २।४।४) | ४७१ |
| स्वमपीतो भवति | (छां. ६।८।१) | १८१, ९६८, १२९० |
| स्वमसाधारणं लक्षणम् | (धर्मोत्तर. पृ. ७०) | ७२५ |
| स्वयं विहृत्य स्वयं विनिर्माय | (बृह. ४।३।९) | ९१७ |
| स्वरूपपररूपाभ्यां | (श्लो. वा. पृ. ४७६) | २३ |
| स्वरूपमनिष्टप्रसङ्गः | (परिशुद्धि. पृ. ५८७) | ६५८ |
| स्वर्गकामो यजेत | (आप. श्रौ. १०।२।१) | १२१ |
| स्वाध्यायोऽध्येतव्यः | (शत ब्रा. ११।५।७।२) | ५४, १२४, १५५, ९२७ |
| स्वाध्यायादिष्टदेवता. | (यो. सू. २।४४) | ४२६ |
| स्वापोत्तरकालं हि | (न्यायकणि. पृ. ४१४) | ३७० |
| स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व | (तै. सं. १।५) | ११३ |
| स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते | (छः. १।१२।३) | १२७७, १२७९ |
| स्वे महिम्नि | (छा. ७।२४।१) | २९९ |
| स्वे शरीरे | (बृह. २।१।१८) | ८१४ |
| (ह) | | |
| हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि | (कठ. २।५।६) | २७७ |
| हन्तास्यैव सर्वे रूपमसाम | (बृह. १।५।२१) | ८३२ |
| हन्ति पाप्मानं जहाति च | (बृह. ५।५।३) | १०८५ |
| हस्तौ वै ग्रहः, स कर्मणा | (बृह. ३।२।८) | ४१८, ८४५, ८४९ |
| हिरण्मये परे कोशे | (मुण्ड. २।२।९) | ३७८ |
| हिरण्यगर्भः समवर्तनाग्रे | (ऋ. १०।१२१।१) | ३११ |
| हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता | (भारत. १२।३४९।६५) | ५४१ |
| हिरण्यश्मश्रुः | (छा. १।६।६) | २२७ |
| हिस्राहिस्रे | (विष्णुपु. १।५।६१) | ४१० |
| हृदयं गार्हपत्यः | (छा. ५।१८।२) | ३१५ |
| हृदयस्याग्रेऽवद्यति | (आप. श्रौ. सू. २४।२) | ७५ |
| हृदि ह्येष आत्मा | (प्रश्न. ३।६) | ८०४ |
| हेतुर्निर्वचनं निन्दाः | (लाबर. पृ. ४३६) | ५०९ |
| होतृषदनाद्धैवापि | (छा० १।५।१) | ११३१ |


CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

## ( ५ )
## संकेतविवरणम्

| | |
|---|---|
| अथर्वशिख. | अथर्वशिखोपनिषत् [सर्वहितैषी, काशी] |
| अथर्वशिर. | अथर्वशिरउत्पनिषत् [ ,, ,, ] |
| अभि. को. | अभिधर्मकोशः [बौद्ध भारती, वाराणसी] |
| अमर. | अमरकोशः [निर्णयसागर, बम्बई] |
| अहिर्बु. | अहिर्बुध्न्यसंहिता [जडचार, मद्रास] |
| आप. ध. सू. | आपस्तम्बधर्मसूत्रम् [रिसर्च संस्थान, नई देहली] |
| आप. श्रौ. सू. | आपस्तम्ब श्रौतसूत्र [गायकवाड़, बड़ौदा] |
| आप्त. | आप्तमीमांसा [सनातनजैन, काशी] |
| ईशा. | ईशावास्योपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| ऋ. | ऋग्वेदसंहिता [तिलकस्मारक, पूना] |
| ऐत. | ऐतरेयोपनिषत् [आन्दाश्रम, पूना] |
| ऐ. आ. | ऐतरेयारण्यकम् [पूना] |
| कठ. | कठोपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| कल्पतरु. | भामतीव्याख्यानं कल्पतरुः [निर्णयसागर, बम्बई] |
| कात्या. वा. | कात्यायनवार्तिकम् [वाराणसी] |
| कात्या. श्रौ. | कात्यायनश्रौतसूत्रम् [वाराणसी] |
| कूर्मपु. | कूर्मपुराणम् [कलकत्ता] |
| केन. | केनोपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| कौषी. | कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् [सर्वहितैषी, काशी] |
| गी. | भगवद्गीता [गोरखपुर] |
| गौड़. का. आगमशा. | माण्डूक्योपनिषदो गौडपादीयकारिका [कलकत्ता] |
| गौ. ध. सू. | गौतमधर्मसूत्रम् [ ] |
| छा. | छान्दोग्योपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| जाबा. | जाबालोपनिषत् [सर्वहितैषी, काशी] |
| ज्ञानश्री. | ज्ञानश्रीनिबन्धावली [जायसवाल, पटना] |
| तत्त्वसंग्र. | तत्त्वसंग्रहः [गायकवाड़, बडौदा] |
| तत्त्वा. वा. | तत्त्वार्थवार्तिकम् [ज्ञानपीठ, वाराणसी] |
| तत्त्वा. सू. | तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् [भारतजैन, वर्धा] |
| तं. वा. | शाबरभाष्यव्याख्या तन्त्रवार्तिकम् [आनन्दाश्रम पूना] |
| ता. टी. | न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका [चौ. वाराणसी] |
| ता. परि. | तात्पर्यपरिशुद्धि [मिथिला. वैशाली] |
| तां. ब्रा. | ताण्डयमहाब्राह्मणं [बम्बई] |
| तै. | तैत्तिरीयोपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| तै. ब्रा. | तैत्तिरीयब्राह्मण [पूना] |
| तै. वा. | तैत्तिरीयभाष्यस्य सुरेश्वरवार्तिकम् [नई देहली] |
| तै. सं. | तैत्तिरीयसंहिता [निर्णयसागर, बम्बई] |

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

| | |
|---|---|
| त्रिंशि० | त्रिंशिका [सं० वि०, वाराणसी[ |
| धर्मोत्तर० | न्यायविन्दुव्याख्या धर्मोत्तरप्रदीपः [जायसवाल० पटना ] |
| निरु० | यास्कमुनिनिर्मितं निरुक्तशास्त्रम् [असृतसर] |
| न्या० वा० | न्यायभाष्यस्योद्योतकरीयं वार्तिकम् [चौ० वाराणसी] |
| न्या० बिं० | धर्मकीर्तेः न्यायबिन्दु [जायसवाल, पटना] |
| न्या० वि० | न्याय विनिश्चयः [ज्ञानपीठ, कलकत्ता] |
| न्यासा० | न्यायावतार [बम्बई] |
| पं० पा० वि० | पञ्चपादिकाःविवरणम् [गवर्नमेण्ट, मद्रास] |
| पञ्चा० | पञ्चास्तिकायसारः [मैसोर विश्वविद्यालय] |
| पा० सू० | पाणिनीयसूत्रम् [निर्णयसागर, बम्बई] |
| पैङ्गिर० ब्रा० | पैङ्गिरहस्यब्राह्मणम् |
| प्र० पं० | प्रकरणपञ्जिका [हिन्दू विश्वविद्यालय] |
| प्रज्ञाकर० | प्रज्ञाकरीयं प्रमाणवार्तिकभाष्यम् [पटना] |
| प्र० वा० | प्रमाणवार्तिकम् [जायसवाल, पटना] |
| प्रशस्त० | वैशेषिकसूत्राणां भाष्यम् [वाराणसेयविश्व०] |
| प्रश्न० | प्रश्नोपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| बहृबृच० | वहृवृचब्राह्मण |
| बाल्मीकि० | बाल्मीकिरामायणम् [निर्णयसागर, बम्बई] |
| बृह० | बृहदारण्यकोपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| बृहती० | शाबरभाष्यस्य व्याख्या बृहती [मद्रास] |
| बृहती पं० | बृहती पञ्जिका [मद्रास] |
| बो० च० पं० | बोधिचर्यावतारपञ्जिका [मिथिला, दरभंगा] |
| बोधिवि० | बोधिचित्तविवरणम् [ |
| बोधा० ध० सू० | बोधायनधर्मसूत्रम् [ नई दिल्ली ] |
| ब्र० वि० | ब्रह्मविन्दूपनिषत् [ सर्वहितैषी, काशी] |
| ब्र. वै. पु. | ब्रह्मवैवर्तपुराणम् [जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता] |
| ब्र सि. | ब्रह्मसिद्धिः [मद्रास] |
| भारत. | महाभारत [गीताप्रेस, गोरखपुर] |
| भास्कर. | ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य [वाराणसी] |
| मध्यमक. | मध्यमकशास्त्र [नागार्जुनकारिका, दरभंगा] |
| मनु. | मनुस्मृति [चौ वाराणसी] |
| महाना. | महानारायणोपनिषत् [सर्वहितैषी, काशी] |
| महाभाष्य. | पाणिनीयसूत्रपातञ्जलभाष्य [वाराणसी] |
| माध्यन्दिन. | माध्यन्दिनसंहिता [निर्णयसागर, बम्बई] |
| मुण्ड. | मुण्डकोपनिषत् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| मुद्गलो. | मुद्गलोपनिषत् [सर्वहितैषी, काशी] |
| मै. उ. | मैत्रायण्युपनिषत् [ ,, ,, ] |
| याज्ञ. स्मृ. | याज्ञवल्क्यस्मृति [बम्बई] |
| युक्तिदी. | सांख्यकारिका-व्याख्या युक्तिदीपिका [कलकत्ता] |

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

| | |
|---|---|
| योग. सू. | पातञ्जलयोगसूत्र [चौ. वाराणसी] |
| लङ्का. | लङ्कावतारसूत्र [मिथिला, दरभंगा] |
| लिङ्गपु. | लिङ्गपुराणम् [कलकत्ता] |
| वराहो. | वराहोपनिषत् [सर्वहितैषी, काशी] |
| वसिष्ठस्मृ. | वसिष्ठस्मृति [खेमराज, बम्बई] |
| वाक्यप. | वाक्यपदीयम् [विद्यापीठ, पूना] |
| वायुपु. | वायुपुराणम् [बम्बई] |
| विज्ञप्ति. | विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः [सं. विश्वविद्यालय, वाराणसी] |
| विधि० | विधिविवेको न्यायकणिकायुतः [वाराणसी] |
| विष्णुपु० | विष्णुपुराणम् [गीताप्रेस, गोरखपुर] |
| वै० सू० | वैशेषिकसूत्रम् [चौ० वाराणसी] |
| शत० ब्रा० | शतपथब्राह्मणम् [बम्बई] |
| शाबर० | जैमिनिसूत्रशाबरभाष्यम् [आनन्दाश्रम, पूना] |
| शास्त्रदी० | शास्त्रदीपिका [निर्णयसागर, बम्बई] |
| श्लो० वा० | शाबरभाष्यतर्कपादव्याख्या श्लोकवार्तिकं [चौ० वाराणसी] |
| श्वेता० | श्वेताश्वतरोपनिषत् [ सर्वहितैषी, काशी[ |
| संकर्ष. | जैमिनीयं संकर्षकाण्डम् [मद्रासविश्वविद्यालय] |
| सं० निकाय० | संयुत्तनिकाय [वाराणसी] |
| सम्मति० | सम्मतितर्कः [पुरातत्त्वमन्दिर, अहमदाबाद] |
| सां० का० | साङ्ख्यकारिका [चौ० वाराणसी] |
| साधारण० | न्यायतत्त्वचिन्तामणेः साधारणप्रकरणम् [चौ० वाराणसी] |
| स्फुटा० | अभिधर्मकोशव्याख्या स्फुटार्थाः [वाराणसी] |

———

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.